भगवती आराधना

अपराजितसूरिकृता
विजयोदया टीका सहिता

दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधनाया स्वरूप, विकल्पं, तदुपाय, साधकान्, सहायान्, फल च प्रतिपादयितुमुद्यतस्यास्य शास्त्रस्यादौ मङ्गल स्वस्य श्रोतॄणा च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकृतौ क्षमं शुभपरिणाम विदधता तदुपायभूतेयमरचि गाथा—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणाफलं पत्ते ।
वदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणं कमसो ॥ १ ॥

सिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादिका । **अत्रान्ये कथयन्ति**—"निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य क्षीणायुषस्साधकस्याराधनाविधानावबोधनार्थमिद शास्त्र" तस्याविघ्नप्रसिद्ध्यर्थमिदं मङ्गलस्य कारिका गाथेति। असयतसम्यग्दृष्टिसयतासयतप्रमत्तसयताप्रमत्तसयतादयोऽप्याराधका एव । तत्किमुच्यते निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्येति । न ह्यसयतसम्यग्दृष्टे सयतासंयतस्य वा निवृत्तविषयरागता, सकलग्रन्थपरित्यागो वास्ति । क्षीणायुष इति चानुपपन्न । अक्षीणायुषोऽप्याराधकता दर्शयिष्यति सूत्र **'अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स'** इति ।

शास्त्रान्तरे पञ्चाना गुरूणा नमस्क्रिया प्रारभ्यते । तत्र चार्हतामेवोपादानमादौ । इह तु पुनर्द्वयोरेव

इस शास्त्रमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र और सम्यक् तपकी आराधनाका स्वरूप, भेद, उसके उपाय, साधक, सहायक और फलका कथन किया जायगा। अत अपने और उसको सुनने वालोके प्रारब्ध कार्यमे आने वाले विघ्नोको दूर करनेमे समर्थ मङ्गलस्वरूप शुभ परिणामको करते हुए आचार्यने उसके उपायभूत 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' इत्यादि गाथा रची है।

इसके सम्बन्धमे अन्य टीकाकार कहते हैं कि विषयोमे रागसे निवृत्त और समस्त परिग्रहके त्यागी जिस साधककी आयु समाप्त होनेवाली है, उसको आराधनाके विधानका सम्यक् बोध करानेके लिये यह शास्त्र रचा है तथा उसकी निर्विघ्न प्रसिद्धिके लिये यह मगलकारक गाथा है।

(इसपर हमारा कहना है कि) असयत सम्यग्दृष्टि, संयतासयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत आदि भी आराधक ही है। तब यह क्यो कहते है कि विषयोके रागसे निवृत्त, समस्त परिग्रहके त्यागी साधकके लिये यह ग्रन्थ रचा है। असंयत सम्यग्दृष्टि और सयतासयत न तो विषयानुरागसे निवृत्त होते हैं और न समस्तपरिग्रहके त्यागी ही होते है। तथा 'जिनकी आयु समाप्त होनेवाली है' यह कथन भी यथार्थ नही है क्योंकि आगे 'अणुलोमा वा सत्तू' इत्यादि गाथासूत्रके द्वारा ग्रन्थकार, जिनकी आयु समाप्त होनेवाली अभी नही है उनकी भी आराधकता दिखलायेगे।

शङ्का—अन्य शास्त्रोके प्रारम्भमें पाँचो गुरुओको नमस्कार किया गया है और उनमे

नमस्कारो विपर्ययश्च । तत्किं कृत वैधर्म्यमिति ? अत्रोच्यते—अन्यथाप्रवृत्तावस्ति कारण । इह द्विप्रकारा सिद्धसाधकभेदेन जीवा । अर्हता सिद्धाना चाप्ताराधनाफलत्वात्, आचार्यादीना त्रयाणा साधकानामनुग्रहायेद शास्त्रं प्रस्तूयत इति सिद्धाना मङ्गलत्वेनोपादान युक्त, नेतरेषामधिक्रियमाणत्वात्तेषामिति **भाष्यपरिहारौ केषांचित्** । तावसङ्गताविव लक्ष्येते । तत्र चाद्यस्य निवेद्यतेऽयुक्तता । किमर्थं नमस्कार क्रियते शास्त्रादिषु ? अविघ्नप्रसिद्धये । कथं निहन्ति विघ्नमसौ ? स हि वक्तु श्रोतुर्वा भवेत् ? उभयस्यापि निबन्धनमन्तराय, **'विघ्नकरणमन्तरायस्य'** [त सू] **इति वचनात्** । पञ्चप्रकारोऽसौ **दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां** विघ्नकारणभेदेन, तत्र वक्तुर्दानान्तरायस्सम्पादयति प्रत्यूह, त्रिविधस्य हि दानस्य प्रतिबाधको दानान्तराय । ज्ञानलाभ विहन्ति श्रोतुर्लाभान्तरायस्तदायत्तो विघ्न कथ तस्मिन्सति न भवेत् सत्यपि नमस्कारे, यथा बीजसलिलवसुन्धराघर्मरश्मिकरसघाताधीनजन्मा व्रीह्याद्यङ्कुर. स्वहेतुसामग्र्या भवत्यन्यूनाया सन्निहितेऽपि सालतमालादौ तथेहापि । अथैव ब्रूषे अन्तरायोऽशुभप्रकृति । स च **शुभपरिणामोन्मूलितरसप्रकर्ष**. स्वकार्यं निष्पादयितु नालमिति । यद्येव शुभपरिणाममात्रस्यात्रोपयोगस्तथा सति सिद्धादिगुणानुराग सव एवोपयोगी [1]विघ्नतिर-

प्रारम्भमे अरहन्तोको ही ग्रहण किया है। किन्तु यहाँ सिद्ध और अरहन्त दो का ही ग्रहण किया है और वह भी विपरीत क्रमसे किया है अर्थात् सिद्धोका ग्रहण प्रथम और अरहन्तोका पश्चात् किया है। इस प्रकारकी विपरीतताका क्या कारण है ?

इसका कोई इस प्रकार उत्तर देते है—अन्य प्रकारसे प्रवृत्ति करनेका कारण है। यहाँ सिद्ध और साधकके भेदसे जीवोके दो प्रकार है। अरहन्त और सिद्ध तो आराधनाका फल प्राप्त कर चुके है अत' आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन साधकोके अनुग्रहके लिये यह शास्त्र रचा गया है, इसलिये सिद्धोका मगल रूपसे ग्रहण युक्त है, आचार्य आदिका नही, क्योकि उन्हीके लिये यह ग्रन्थ रचा गया है। ऐसा कोई आचार्य भाष्य और उसका परिहार करते है। किन्तु वे दोनो ही असगत जैसे प्रतीत होते है। उनमेसे प्रथमकी अयुक्तताके सम्बन्धमे निवेदन करते है—

शास्त्रादिमे नमस्कार क्यो किया जाता है ? निर्विघ्नताकी प्रसिद्धिके लिये। वह विघ्नोको कैसे दूर करता है ? विघ्न वक्ता या श्रोताको होता है। दोनोका भी कारण अन्तराय कर्म है। तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है—'विघ्न करनेसे अन्तराय कर्मका आस्रव होता है।' दान, लाभ, उपभोग और वीर्यके विघ्न करनेमें कारण होनेके भेदसे अन्तरायके पाँच भेद है। उनमेसे दानान्तराय वक्ताके दानमे विघ्न करता है क्योकि दानान्तराय तीन प्रकारके दानमे बाधक होता है। लाभान्तराय श्रोताके ज्ञान लाभमे रुकावट डालता है, क्योकि जब विघ्न अन्तराय कर्मके अधीन है तो उसके होते हुए विघ्न क्यो नही होगा, भले ही नमस्कार किया गया हो। जैसे धान्य आदिके अकुरकी उत्पत्ति बीज, जल, पृथ्वी और सूर्यकी किरणोके समूहके अधीन है। अत अपनी कारण सामग्रीके परिपूर्ण होनेपर उसकी उत्पत्ति साल, तमाल आदिके रहते हुए भी अवश्य होती है। उसी तरह यहाँ भी जानना।

यदि आप कहे कि अन्तराय अशुभ कर्म है, शुभ परिणामके द्वारा उसकी अनुभाग शक्ति क्षीण कर दिये जानेपर वह अपना कार्य करनेमे समर्थ नही होता, तब तो यहाँ शुभपरिणाम मात्र उपयोगी हुआ। और ऐसा होनेपर विघ्नोको दूर करनेकी इच्छा करने वालेको सिद्ध आदिके गुणोंमें अनुराग आदि सब उपयोगी हुए। तब विचारशील पुरुषके द्वारा अपनाया गया क्रम

१. विघ्ननिराचि–मु० ।

दिचकीर्षतस्तत्र कस्मात् प्रेक्षापूर्वकारिण क्रमाश्रयणमन्याय्य ? उपेयात्मलाभहेतुत्वमात्रनिबन्धनमुपायानामुपायत्व, तद्यत्र यत्रास्ति तस्य तस्योपायता। तेन सर्व एवार्हदादिगोचरा गुणानुरागास्तत्पुर सरवाक्कायक्रिया अनादृतक्रमा भवन्ति वाञ्छितफलप्रसाधना एकैकरूपा बहवोऽपि। इमामानुपूर्वीमन्तरेणैषा सिद्धि साध्यस्यान्यथा न विद्यत इति यत्र तत्राश्रीयते उपायक्रम। यथा घट सिसाधयिषतो मृन्मर्दनपिण्डकरणचक्रारोपणाद्य'। युगपदनेकवचनप्रवृत्तिरसंभविन्येकस्य वक्तुरिति नान्तरीयकतया क्रमाश्रयणं तत्र च कामचार। तथाहि, **'सिद्धं सिद्धट्ठाण ठाणमणोवमसुहगयाणमिति'** (–सन्मति १।१)। शासनगुणानुस्मरणमेव केवलं। क्वचित्तीर्थकृत्स्वपि वीरस्वामिन एव प्रथम नमस्क्रिया—

> **'एस सुरासुरमणुसिंदवंदिद धोदघादिकम्ममलं। पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥**
> **सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे। समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे॥ इति**
>
> —प्रव० सा० १।१-२।

> क्वचिदेकप्रघट्टेन,
> **'इंदसदवंदियाण तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणमिति।'** —पञ्चास्ति० १।
> क्वचिज्जीवगुण एवानाश्रितार्हदादिस्वामिविशेषो निरूपित **"धम्मो मङ्गलमुक्किट्ट"** इति।

अन्याय्य कैसे है ? उपेय अर्थात् कार्यके आत्म लाभमें हेतु होना मात्र उपाय अर्थात् कारणोके उपायपनेका निबधन है। अर्थात् कारणोमे कारणपना इसीसे होता है कि उनसे कार्य उत्पन्न होना है। वह जहाँ-जहाँ है वहाँ-वहाँ कारणपना है। अत अर्हन्त आदि विषयक सभी गुणानुराग और उस पूर्वक वचन और कायकी क्रिया, विना क्रमके भी इच्छित फलकी साधक होती है चाहे वह एक-एक रूप हो या बहुत हो। किन्तु जहाँ कार्यकी सिद्धि क्रमको अपनाये विना नही होती वहाँ उपायोका क्रम अपनाना होता है। जैसे जो घडा बनाना चाहता है। वह पहले मिट्टीको मलता है, फिर उसका पिण्ड बनाता है, फिर उसे चाक पर रखता है आदि। इस क्रमके विना घडा नही बन सकता। इसलिए यहाँ क्रम आवश्यक है। किन्तु सर्वत्र क्रम आवश्यक नही है।

तथा एक वक्ता एक साथ अनेक वचन व्यवहार नही कर सकता, इसलिए नमस्कार करनेमे क्रमका आश्रय लेना होता है। किन्तु उसमे यह अपेक्षित नही है कि पहले किसे नमस्कार करना। नमस्कार करनेवाला अपनी अपनी इच्छानुसार नमस्कार करता है। जैसे सन्मतिसूत्रके प्रारम्भमे 'सिद्ध सिद्धट्ठाणं' आदिसे केवल जिनशासनके गुणोका ही स्मरण किया है। कही पर तीर्थंकरोमे से भी वीर स्वामीको ही प्रथम नमस्कार किया है। जैसे प्रवचनसारके प्रारम्भमे कहा है—'यह मै सुरेन्द्रो, असुरेन्द्रो और नरेन्द्रोसे वन्दित तथा घाति कर्ममलको धो डालनेवाले और धर्मके कर्ता वर्धमान तीर्थकरको नमस्कार करता हूँ। तथा विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थंकरोको, समस्त सिद्धोके साथ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारसे युक्त श्रमणोको नमस्कार करता हूँ।'

कही एक साथ सब जिनोको नमस्कार किया है। जैसे पचास्तिकायके प्रारम्भमे कहा है—'सौ इन्द्रोके द्वारा वन्दित और तीनो लोकोका हित करनेवाले मिष्ट और स्पष्ट वचन बोलनेवाले, अनन्तगुणशाली भवजेता जिनोको नमस्कार हो।'

कही अर्हन्त आदि स्वामीविशेषका आश्रय न लेकर जीवके गुणका ही कथन किया है जैसे दशवैकालिकसूत्रके प्रारम्भमे 'धर्म उत्कृष्ट मगल है' आदि कहा है।

एवं सति वैचित्र्ये का विपर्ययाशङ्का ? यच्चोक्तं साधकानुग्रहाधिकारे सिद्धात्मनामेव मङ्गलत्वेनाधिकारो युक्त इति । इद पर्यनुयोज्योऽत्र श्रुतसाधकार्थमुत (?) यद्येव सकलस्य श्रुतस्य **सामायिकादेर्लोकबिन्दुसारान्तस्यादौ** मङ्गलं **कुर्वद्भिर्गणधरैः 'णमो अरहंताणमित्यादिना कथ पञ्चानां नमस्कारः कृतः** ? तेन सूत्रविरोधिनी व्याख्या अनेनापि च सूत्रेण विरुध्यते, 'वदित्ता अरहते' इति अर्हतामुपादानात् । तेऽपि सिद्धा इति चेत् पृथगुपादानानर्थक्य । अथैकदेशसिद्धास्त इति पृथगुपात्ता आचार्यादयोऽपि किन्नोपात्तास्तेषामप्येकदेशसिद्धतास्ति । एकदेशसिद्धताया अर्हतामप्याराधकत्वे सत्युपादानं स्वव्याख्याविरोधमाधत्त इति ॥ 'सिद्धे' सिद्धान् **''जगप्पसिद्धे'** जगति प्रसिद्धान् **'चदुव्विधाराधणाफल'** चतुर्विधाराधनाफल **'पत्ते'** प्राप्तान्, **वदित्ता** वन्दित्वा **'अरहंते' 'वोच्छं'** वक्ष्यामि **'आराधण'** आराधना **'कमसो'** क्रमश ॥

सिद्धशब्दस्य चत्वारोऽर्था नामस्थापनाद्रव्यभावा इति । तत्र नामसिद्ध क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मता, अतिशयवतीमवगाहना, सकलबाधारहितता चानपेक्ष्य सिद्धशब्दप्रवृत्तेर्निमित्त कस्मिंश्चित्प्रवृत्त सिद्धशब्द ।

ननु स्वरूपनिष्पत्ति सिद्धशब्दस्य प्रवृत्तेर्निमित्त न सम्यक्त्वादय इति चेत् सत्य, व्यावर्णितयत्किंचिन्न्यूनात्मरूपनिष्पत्तिर्निमित्तत एष्यत एव । पूर्वभावप्रज्ञप्तिनयापेक्षया चरमशरीरानु**प्रविष्टो य आत्मा क्षीरानु-**

इस प्रकारकी विविधताके होते हुए विपरीतता की—अर्हन्तोसे पहले सिद्धोको क्यो नमस्कार किया—इस प्रकारकी आशङ्का कैसी ?

तथा यह जो कहा है कि साधकोके अनुग्रहके लिए रचे गये इस ग्रन्थमे मगल रूपसे सिद्धोका ही अधिकार उचित है। इस विषयमे यह प्रश्न है कि ये साधक क्या श्रुत के है ? यदि ऐसा है तो सामायिकसे लेकर लोकबिन्दुसार पर्यन्त सकल श्रुतके आदिमे मंगल करनेवाले गणधर देवने 'णमो अरहताण' इत्यादि रूपसे पाँचोको नमस्कार क्यो किया ? इसलिए आपकी व्याख्या सूत्र विरोधिनी है। तथा इसी गाथासूत्रसे भी विरुद्ध है; क्योकि इसी गाथामे 'वदित्ता अरहते' कहकर अर्हन्तोका भी ग्रहण किया है। यदि कहोगे कि वे भी सिद्ध है तो उनका पृथक् ग्रहण व्यर्थ है। यदि कहोगे कि वे एकदेश सिद्ध है इसलिए उनका पृथक् ग्रहण किया है तो आचार्य आदिका ग्रहण क्यो नही किया, क्योकि वे भी एकदेश सिद्ध है। एकदेश सिद्ध होने पर अर्हन्तोका भी आराधक रूपसे ग्रहण अपनी ही व्याख्याके विरुद्ध जाता है। अस्तु,

गा०—'जगत्मे प्रसिद्ध और चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्धो और अर्हन्तोंको नमस्कार करके क्रमसे आराधनाको कहूँगा ॥१॥'

टीका—सिद्ध शब्दके चार अर्थ है—नाम सिद्ध, स्थापना सिद्ध, द्रव्य सिद्ध और भावसिद्ध । क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, सूक्ष्मता, अतिशयवती अवगाहना और सकलबाधारहितता अर्थात् अव्याबाधत्व, ये गुण सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिमे निमित्त है अर्थात् जिनमें ये गुण होते है उन्हे सिद्ध कहते है। इन गुणोकी अपेक्षा न करके किसीमे प्रवृत्त सिद्ध शब्द नाम सिद्ध है ।

शका—सिद्ध शब्दको प्रवृत्तिका निमित्त उसके स्वरूपकी निष्पत्ति है, सम्यक्त्व आदि गुण नही ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ है, पूर्व शरीरके आकारसे किंचित् कम जो आत्म रूप कहा है सिद्ध का, उसकी निष्पत्तिके निमित्तको हम स्वीकार करते है। पूर्व भाव प्रज्ञापन नयकी

प्रविष्टोदकमिव सस्थानवत्तामुपगत, शरीरापायेऽपि तमात्मान चरमशरीरात् किंचिन्न्यूनात्मप्रदेशसमवस्थान बुद्धावारोप्य तदेवेदमिति स्थापिता मूर्ति स्थापनासिद्ध। सिद्धस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानपरिणतिसामर्थ्याध्यासित आत्मा आगमद्रव्यसिद्ध। नोआगमद्रव्यसिद्धस्त्रेधा ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदात्। ज्ञायकशरीरसिद्ध सिद्धप्राभृतज्ञस्य शरीरं भूत भवत् भावि वा। भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो जीवो भाविसिद्ध। तद्व्यतिरिक्तम-सभवि, कर्मनोकर्मणो सिद्धत्वस्य कारणत्वाभावात्। सिद्धप्राभृतगदितस्वरूपसिद्धज्ञानमागमभावसिद्ध। क्षायिकज्ञानदर्शनोपयुक्त परिप्राप्ताव्याबाधस्वरूपस्त्रिविष्टपशिखरस्थो नोआगमभावसिद्ध। स इह गृह्यते।

ननु सामान्यशब्दस्यान्तरेण प्रकरण विशेषण वाऽभिमतार्थवृत्तिता दुरवगमा ? अत एव विशेषणमुपात्त चतुर्विधाराधनाफल प्राप्तानिति। सम्यक्त्व केवलज्ञानदर्शने सकलकर्मविनिर्मुक्ततेति चतुर्विध, चतुर्विधाया आराधनाया फल साध्य तत्प्राप्तिरात्मन सम्यग्दर्शनादिरूपेण समवस्थानम्। ततोऽयमर्थ —'फल पत्ते' इत्यस्य क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानदर्शननिरवशेषकर्मविनिर्मुक्तत्तारूपेणावस्थितानिति। जगति आसन्नभव्यजीवलोके समीचीनश्रुतज्ञानलोचने प्रसिद्धान् प्रतीतान् विदितान्। 'अरहंते' इत्यत्र च शब्दमन्तरेणापि समुच्चयार्था गति। '**पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति' द्रव्याणीत्येव** यथा। निहतमोहनीयतयाऽस्तज्ञान-

---

अपेक्षा अन्तिम शरीरमे प्रविष्ट हुआ जो आत्मा दूधमे मिले पानीकी तरह आकारवत्ताको प्राप्त हुआ, शरीरके नष्ट हो जानेपर भी उस आत्माको अन्तिम शरीरसे किञ्चित् न्यून आकार वाला बुद्धिमे स्थापित करके 'यह वही है' इस प्रकारसे स्थापित मूर्तिको स्थापना सिद्ध कहते है।

सिद्धो के स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी परिणतिकी सामर्थ्यसे युक्त आत्मा आगम-द्रव्यसिद्ध है। नोआगम-द्रव्यसिद्धके तीन भेद है—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। सिद्ध विषयक शास्त्रके ज्ञानाके भूत, भावि और वर्तमान शरीरको ज्ञायक शरीर सिद्ध कहते है। भविष्य-मे सिद्ध पर्यायको प्राप्त करनेवाले जीवको भाविसिद्ध कहते है। इसमे तद्व्यतिरिक्त भेद सम्भव नही है क्योकि कर्म और नोकर्म सिद्धत्वके कारण नही होते।

सिद्ध प्राभृतमे कहे गये सिद्ध स्वरूपके ज्ञानमे उपयुक्त आत्मा आगम भावसिद्ध है। क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनमे उपयुक्त तथा अव्याबाध स्वरूपको प्राप्त और लोकके शिखर पर विराजमान सिद्ध परमेष्ठी नो आगमभावसिद्ध है। यहाँ उसीका ग्रहण किया है।

शङ्का—प्रकरण अथवा विशेषणके बिना सामान्यसे अभिमत अर्थका बोध होना कठिन है अत यहाँ सिद्धसे नो आगम भावसिद्धका ग्रहण कैसे सभव है ?

समाधान—इसीलिये आचार्यने 'चतुर्विध आराधनाके फलको प्राप्त' यह विशेषण दिया है। सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मोसे सर्वथा मुक्तता ये चार, चार प्रकारकी आराधनाके फल है। आत्माका सम्यग्दर्शन आदि रूपसे सम्यक् अवस्थान ही उनकी प्राप्ति है। अत 'फल पत्ते' का अर्थ है—जो क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मो से विनिर्मुक्तता रूपसे स्थित है उन सिद्धोको। 'जगत्' अर्थात् निकट भव्य जीवरूपी लोकमे, जिनकी आँख समीचीन श्रुतज्ञान है, उनमे जो प्रसिद्ध हे जाने माने है।

'अरहंते' यहाँ यद्यपि 'च' शब्द नही है फिर भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है। जैसे 'पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि' इस सूत्रमे 'च' शब्द नही होने पर भी पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये द्रव्य है इस प्रकारसे समुच्चयका ज्ञान होता है उसी प्रकार जानना।

दर्शनावरणात् अतिशयितपूजाभाज इत्ययमर्थोऽनेन '**अरहंते**' इत्यनेनोक्त । अनुगतार्थत्वादर्हन्निति संज्ञाया यथा सर्वनामशब्दोऽङ्गीकृतशब्दार्थसज्ञाभावमुपयाति । अथवा '**जगप्पसद्धि**' इति अर्हता विशेषण, यत पञ्चमहा कल्याणस्थानेपु विष्टपत्रयेणाधिगता महात्मान , नैवमितरे सिद्धा । सर्वस्यैव हि वस्तुन कथचित्प्रतीतत्वे सति अप्रतीतस्य कस्यचिदभावात् प्रसिद्धग्रहणमुपात्तप्रकर्षमिति गम्यते । **यथाऽभिरूपाय कन्या देयेति** । तेनायमर्थो जगति प्रसिद्धतमानिति । अर्हतामेव च प्रतीततरत्वमुक्तेन क्रमेण ।

अनधिगतप्रयोजन श्रोता न यतते श्रवणेऽध्ययने वा । परोपकारसपादनाय चेद प्रस्तूयते मया तत प्रयोजन प्रकटयामीत्याह '**वोच्छ आराहणं**' मिति । एतेनाराधनास्वरूपावगमन प्रयोजन शास्त्रश्रवणाद्भवता **भवतीत्यावेदितम् ।**

नत्वाराधनास्वरूपावगमन तु पुरुपार्थ । पुरुषार्थो हि प्रयोजन, पुरुषार्थश्च सुख दु खनिवृत्तिर्वा, न चानयोरन्यतरताऽस्य । अयमस्याभिप्राय , यो येनार्थेनार्थी स तत्प्राप्तये तदीयोपायमधिगतुमुपादेय वा यतते येन प्रयुक्त क्रियाया प्रवर्तते तत्प्रयोजन, ज्ञानेन प्रयुज्यते श्रवणादिक्रियायामुपयोगिवस्तुपरिज्ञान प्रयोजन भवतु, आराधना तु कथमपयोगिनी ? सकलसुखरूपकेवलज्ञानपरमाव्याबाधता जनयतीत्युपयोगिनी । तथा चोक्त— 'चतुर्विधाराधनाफल प्राप्तानिति' । ततोऽयमर्थ , अनन्त ज्ञानादिफलनिमित्ताराधनाऽवबोधनार्थमिद शास्त्रमा-

---

मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेसे तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणके चले जानेसे जो अतिशय युक्त पूजाके भाजन है, यह अर्थ 'अरहते' पदसे वहाँ कहा गया है; क्योकि 'अर्हन्' यह नाम सार्थक है। जैसे सर्वनाम शब्द स्वीकार किये गये शब्दार्थोके सज्ञापनेको अपनानेसे सार्थक है।

अथवा 'जगत् प्रसिद्ध' यह पद अर्हन्तोका विशेषण है, क्योकि ये महात्मा पाँच महा-कल्याणक स्थानोंमे तीनो लोकोके द्वारा जैसे प्रख्यात होते है वैसे अन्य सिद्ध नही होते। सभी वस्तु किसी न किसी रूपमे प्रतीत होती है, सर्वथा अप्रतीत कोई नही है। अत यहाँ प्रसिद्ध' पदका ग्रहण प्रकर्षताका परिचायक है। जैसे 'रूपवानको कन्या देना'। यहाँ रूपवान् शब्द विशिष्ट रूपका बोधक है। अत 'जगत मे सबसे' अधिक प्रसिद्ध यह अर्थ यहाँ लेना। और उक्त प्रकारसे अर्हन्त ही सबसे अधिक या सिद्धोसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

प्रयोजनको जाने बिना श्रोता श्रवण या अध्ययनमे प्रयत्न नही करता। और मै (ग्रथकार) परोपकार करनेके लिये यह ग्रन्थ बनाता हूँ, अत प्रयोजन प्रकट करता हूँ—'वोच्छ आराहण' इससे यह प्रयोजन सूचित किया है कि शास्त्रश्रवणसे आराधनाके स्वरूपका ज्ञान होता है।

शंका—आराधनाके स्वरूपको जानना तो पुरुषार्थ नही है, क्योकि पुरुषार्थ प्रयोजन है और पुरुषार्थ है सुख अथवा दु खनिवृत्ति। आराधनाके स्वरूपको जानना न तो सुख है और न दु'ख निवृत्ति है। हमारे इस कथनका अभिप्राय यह है कि जो जिस अर्थका इच्छुक होता है वह उसकी प्राप्तिके लिये उसके उपाय या उपादेयको जाननेका प्रयत्न करता है। जिसके द्वारा प्रेरित होकर, मनुष्य क्रियामे लगता है वह प्रयोजन हैं। ज्ञानके द्वारा श्रवण आदि क्रियामे लगता है अत उपयोगी वस्तुका ज्ञान प्रयोजन हो सकता है परन्तु आराधना कैसे उपयोगी है ?

समाधान—समस्त सुख रूप केवलज्ञान और परम अव्याबाधताको उत्पन्न करनेसे आराधना उपयोगी है। कहा है 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त।'

अत. अभिप्राय यह है कि अनन्त ज्ञानादि रूप फलकी प्राप्तिमे निमित्त आराधनाके स्वरूप-

रम्यत इति साध्यमाराधनास्वरूपज्ञानं साधनमिदं शास्त्रमिति साध्यसाधनरूपसम्बन्धोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरत एव वाक्याल्लभ्यते। अभिधेयभूतास्तु चतस्र आराधना। ग्राह्यमिदं शास्त्रं प्रयोजनादित्रयसमन्वितत्वात् व्याकरणादिवदिति। एवमनया **मङ्गलं प्रयोजनादित्रयं च सूचितं 'कमसो'** क्रमेण पूर्वशास्त्रनिगदितेन। एतेन स्वमनीषिकार्चितमिदं न भवति। आप्तवचनानुसारितया प्रमाणमिदमित्याख्यातं भवति। '**पुव्वसुत्ताणं**' इति वाक्यशेषादित्थं लभ्यते ॥१॥

का आराधना कस्य वा ? न ह्याराध्यापरिज्ञानेनात्मभूताराधना शक्या प्रतिपत्तुं इत्यारेकायामाह—

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्ततवाणमाराहणा भणिया ॥ २ ॥

उज्जोवणमुज्जवणमित्यादिकं। '**उज्जोवणं**' उद्योतनं शङ्कादिनिरसनं सम्यक्त्वाराधना श्रुतनिरूपिते वस्तुनि किमित्थं भवेन्न भवेदिति समुपजातायाः शङ्कायाः संशयप्रतिसंज्ञितायाः अपाकृतिः। कथं ? हेतुबलेन आप्तवचनेन वा समुपजातायाः इत्थमेवेदमिति निश्चित्य। यद्धि यस्य विरोधि यत्रोपजातं तत्र नेतरदास्पदं बध्नाति, यथा शीतस्पर्शेनाक्रान्ते शिशिरकरे उष्णता। विरोधि च निश्चयज्ञानं। संशीतेर्विरोधता च नियोगतस्तद्भावे तत्रेतरस्य तदा अभवनात्। वक्ष्यामः काङ्क्षादीनां स्वरूपं तन्निरासक्रमं च प्रस्तावे। अनिश्चयो

का ज्ञान करानेके लिये इस शास्त्रको प्रारम्भ करते है। आराधनाके स्वरूपका ज्ञान साध्य है और उसका साधन यह शास्त्र है। इस प्रकार शास्त्र और प्रयोजनमे साध्य साधनरूप सम्बन्ध है यह भी इसी वाक्यसे ज्ञात होता है। इस शास्त्रका अभिधेयभूत अर्थात् जो इसके द्वारा कहा गया है वह है चार आराधना। अतः प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयसे युक्त होनेसे यह शास्त्र उसी तरह उपादेय है जैसे व्याकरणशास्त्र उपादेय है।

इस प्रकार इस गाथासे मंगल प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयको सूचित किया है।

'कमसो' का अर्थ है क्रमसे अर्थात् पूर्व शास्त्रोमे जैसा कहा है वैसा ही कहूँगा। इससे यह सूचित किया है कि यह ग्रन्थकारकी अपनी बुद्धिकी उपज नही है किन्तु आप्त पुरुषोके वचनोके अनुसार होनेसे प्रमाण है। 'कमसो' के साथ 'पुव्व सुत्ताण' पूर्व शास्त्रोके इस वाक्यांशका अध्याहार करनेसे उक्त अर्थ निकलता है ॥१॥

आराध्यको जाने बिना उसकी आत्मभूत आराधनाको जानना शक्य नही है। अतः आराधना किसे कहते है और वह किसके होती है इस शंकाके समाधानके लिये आचार्य कहते है—

गाथा—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्त्वके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और (णिच्छरण) निस्तरणको (आराहणा) आराधना कहा है ॥२॥

टीका—'उज्जोवण' का अर्थ है उद्योतन अर्थात् शंका आदि दोषोको दूर करना। यह सम्यक्त्व आराधना है। शास्त्रमे कही गई वस्तुके विषयमे 'क्या ऐसा है अथवा नही है' इसप्रकार से उत्पन्न हुई शंकाको, जिसका दूसरा नाम संशय है, दूर करना सम्यक्त्वाराधना है। युक्तिके बलसे अथवा आप्त वचनके द्वारा यह इसी प्रकार है ऐसा निश्चय करके उत्पन्न हुई शंकाको दूर करना सम्यक्त्वका उद्योतन है। जिसका विरोधी जहाँ होता है वहाँ वह ठहर नही सकता। जैसे शीत स्पर्शसे व्याप्त चन्द्रमामें उष्णता नही ठहरती। निश्चयात्मक ज्ञान संशयका विरोधी है अतः इन दोनोमे नियमसे विरोध है; क्योंकि एकके रहते हुए वहाँ उस समय दूसरा नही रहता।

वैपरीत्य वा ज्ञानस्य मलं, निश्चयेनानिश्चयव्युदास । यथार्थतया वैपरीत्यस्य निरासो ज्ञानस्योद्योतन । भावना-विरहो मल चारित्रस्य, तासु भावनासु वृत्तिरुद्योतन चारित्रस्य । तपसोऽसयमपरिणाम कलङ्कतया स्थितस्त स्यापाकृति सयमभावनया तपस उद्योतनम् । उत्कृष्ट यवन उद्यवन ।

ननु मिश्रणं युप्रकृतेरर्थ , मिश्रण च सयोगता । तथा हि गुडमिश्रा धाना इति कथिते गुडेन सयुक्ता इति प्रतीयते । सयोगश्च विभिन्नयोरर्थयोरप्राप्तयो प्राप्तिर्न च दर्शनादयोऽर्थान्तरभूता आत्मनस्तद्रूपविकल-रूपाभावात् । तत्कथ दर्शनादिभिरात्मनो मिश्रणमिति ? उच्यते-विशेषवाच्योऽपि सामान्योपलक्षणतया वर्तते, यथा काकेभ्यो रक्ष्यता सर्पिरित्यत्रोपघातकमामान्यमेवार्थ काकशब्दस्य प्रतीतस्तद्वत्सम्बन्धसामान्यमत्र यवन-शब्दाभिधेय । असकृद्दर्शनादिपरिणतिरुद्यवन ।

निराकुल वहन धारण निर्वहण, परिषहाद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनादिपरिणतौ वृत्ति । उप-योगान्तरेणान्तर्हिताना दर्शनादिपरिणामाना निष्पादन साधनम् । भवान्तरप्रापण दर्शनादीना निस्तरणम् । एवमाराधनाशब्दस्यानेकार्थवृत्तिताया यथावसर तत्र तत्र व्याख्या कार्या ।

आगे हम काक्षा आदिका स्वरूप और उनके निरासका क्रम कहेगे । अनिश्चय अथवा विपरीतता ज्ञानका मल वा दोष है । निश्चयके द्वारा अनिश्चयका परिहार होता है । और यथा-र्थतासे विपरीतताका निरास होता है । यह ज्ञानका उद्योतन है अर्थात् ज्ञानका निश्चयात्मक और विपरीततारहित होना ही ज्ञानका उद्योतन है ।

भावनाका न करना चारित्रका मल है । अत उन भावनाओमे लगना चारित्रका उद्यो-तन है । असयमरूप परिणाम तपका कलक है । सयमकी भावनाके द्वारा उसको दूर करना तप-का उद्योतन है ।

उत्कृष्ट यवनको उद्यवन कहते है ।

शंका—'यु' धातुका अर्थ मिश्रण है । सयोगपनेको मिश्रण कहते हैं । जैसे 'गुडमे मिश्रित धान' कहने पर गुडसे सयुक्त धानकी प्रतीति होती है । दो विभिन्न पदार्थ जो एक दूसरेसे अलग है उनके मिलनेको सयोग कहते है । किन्तु दर्शन आदि तो आत्मासे भिन्न पदार्थ नही हैं क्योकि दर्शन आदिसे रहित आत्माका अभाव है । तब दर्शन आदिके साथ आत्माका मिश्रण कैसे सभव है ?

समाधान—जिस शब्दका जो विशेष अर्थ होता है वह भी उपलक्षणसे सामान्य रूप लिया जाता है । जैसे 'कौओसे घी को बचाओ' यहाँ काक शब्दका अर्थ उपघातक सामान्य ही है अर्थात् जो घी को हानि पहुँचा सकते है उन सबसे घी को बचाओ । इसी तरह यहाँ 'यवन' शब्दका अर्थ सम्बन्ध मात्र है, कोई विशेष सम्बन्ध नही । अत बार बार आत्माका दर्शन आदि रूप परि-णत होना उद्यवन है । निराकुलतापूर्वक 'वहन' अर्थात् धारण करनेको 'निर्वहण' कहते है । परी-षह आदि आने पर भी आकुलताके बिना सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणतिमे संलग्न होना निर्वहण है । अन्य कार्योमे उपयोग लगनेसे तिरोहित हुए सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणामोको पुन उत्पन्न करना साधन है । और सम्यग्दर्शन आदिको दूसरे भवमे भी साथ ले जाना निस्तरण है ।

इस प्रकार आराधना शब्दके अनेक अर्थ होने पर अवसरके अनुसार व्याख्या करना चाहिये ।

अत्रान्ये व्याचक्षते—निस्तरणशब्द. सामर्थ्यवाची स प्रत्येक सम्बध्यते उद्योतनादिभिरुद्योतनादीना-तद्दर्शनादिभिश्चतुर्भिरपि यथासख्येन सबन्ध । उद्योतन मरणकाले प्रागवस्थाया उत्कर्षेण निर्मलीकरण अविघ्नेन दर्शनाराधनेत्यादिना क्रमेण । त एव पर्यनुयोज्या किमत्र ज्ञानादीना निर्मलीकरणमिष्टमनिष्ट वा । इष्ट चेद्दर्शनेनैव किमिति सम्बध्यते निर्मलीकर ? उत्कर्षेण यवनमपि सर्वेषामिष्यते । अनाकुल वहनमपि साधारण किमुच्यते व्रतगुप्तिसमितीना निश्चयेनानाकुल वहनमिति ? न च निस्तरणशब्दात्सामर्थ्य प्रतीयते । उद्योतन सामर्थ्यमित्यादिषु न च कश्चिदर्थ , अविघ्नेनेति कथमयमर्थो लभ्यते उज्जोवणादिशब्दैरनुपात्तो । मरणकालश्च क ? मनुष्यभवपर्यायविनाशसमयो मरणकालसमयेन यद्युच्यते, न तत्र भावनोत्कर्ष , मारणान्तिकसमुद्घाते परिणाममान्द्यात् । अत्र भावनाकालो मरणकालशब्देनोच्यते सोऽनुपात्तोऽप्रकृतश्च कथमिह लभ्यते । भावना-कालगतव्यापारकथनायेद शास्त्र प्रस्तुतमिति लभ्यत इति चेत्, न तथाऽसूत्रितत्वात् । 'दसणणाणचरित्ततवाण-मुज्जोवणमाराहणा भणिया' 'दंसणणाणचरित्ततवाणुज्जवणमाराधणा' इति, इति प्रत्येकमभिसबन्धोऽत्र कार्य । अन्यथा असमासेन निर्देश कुर्यात् ॥२॥

यहाँ अन्य व्याख्याकार कहते हैं—निस्तरण शब्द सामर्थ्यवाचक है । अतः उद्योतन आदि-मेसे प्रत्येकके साथ उसका सम्बन्ध होता है । और उद्योतन आदिका दर्शन आदि चारोके साथ क्रमसे सम्बन्ध होता है । जैसे मरणकालमे पूर्वकी अवस्थाका उत्कृष्ट रूपसे निर्मल करना सम्यग्दर्शनका उद्योतन है अर्थात् निर्विघ्नतापूर्वक सम्यग्दर्शनकी आराधना उद्योतन है, इस प्रकार-क्रमसे करना चाहिये ।

उनसे पूछना चाहिए कि क्या यहाँ ज्ञानादिका निर्मल करना इष्ट है या अनिष्ट ? यदि इष्ट है तो निर्मल करनेका सम्बन्ध अकेले दर्शनके साथ ही क्यो जोडा जाता है ? उत्कृष्ट रूपसे यवन भी सभी दर्शन आदिका इष्ट है । निराकुलतापूर्वक धारण करना भी सामान्य है ! तब आप व्रत, गुप्ति और समितिके निश्चयपूर्वक निराकुल धारणाकी बात क्यो कहते है ? तथा निस्तरण शब्दसे सामर्थ्यकी प्रतीति भी नही होती । उसे उद्योतन आदिके साथ जोडने पर उद्योतन सामर्थ्य, उद्यवन सामर्थ्य इत्यादिसे कोई अर्थ सिद्ध नही होता । तथा उद्योतन आदिसे तो निर्विघ्नता अर्थ नही निकलता । तब यह अर्थ आप कैसे लेते हैं ? तथा मरणकालसे आपका क्या अभिप्राय है ? यदि मरणकाल समयसे मनुष्य पर्यायके विनाशका समय लेते है तो उस समय तो भावनाकी उत्कृष्टता सम्भव नही है क्योकि मारणान्तिक समुद्घातमे परिणामोमे मन्दता होती है । यदि यहाँ मरणकाल शब्दसे भावना काल लेते हो तो उसका तो यहाँ ग्रहण नही है । तब जिसका प्रकरण नही है उसे कैसे लिया जा सकता है ?

शंका—भावना कालमे होनेवाले व्यापारका कथन करनेके लिए यह शास्त्र रचा जाता है ?

समाधान—नही, ऐसा ग्रन्थकारने नही कहा है । ग्रन्थकारने तो 'दसणणाणचरित्ततवाण उज्जोवणं आराहणा भणिया'—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्योतनको आराधना कहा है । 'उज्जवणं आराहणा भणिया'—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्यवनको आराधना कहा है अत प्रत्येकके साथ सम्बन्ध यहाँ करना चाहिए । यदि ग्रन्थकारको ऐसा इष्ट न होता तो वे 'दसण' इत्यादिका निर्देश समासपूर्वक न करते ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन आदिके उद्योतनको चार प्रकार की आराधना कहा है । सम्यग्दर्शन आदिके निर्मल करनेको उद्योतन कहते है । उत्कृष्ट यवन अर्थात् मिश्रणको—बार बार दर्शनादि-

किं चतुर्विधैवाराधनेत्याशङ्कायामाह—

दुविहा पुण जिणवयणे भणिया आराहणा समासेण ।
सम्मत्तम्मि य पढमा विदिया य हवे चरित्तंमि ।। ३ ।।

'दुविहा पुण जिणवयणे समासेण दुविधा आराधणा भणिया' इति पदसबन्ध । आवरणमोहजयाज्जिना । ज्ञानदर्शनावरणजयात्सर्वज्ञा सर्वदर्शिन । मोहपराजयाद्वीतरागद्वेषा । **सर्वज्ञानां सर्वदर्शिनां वीतरागद्वेषाणां वचन जिनवचनं** । एतेन असत्यवचनकारणाभावात् प्रामाण्यमाख्यातमागमस्य । वक्तुरज्ञानाद्रागद्वषाभ्या वा प्रवृत्तं वच अयथार्थविबोधनादप्रामाण्यमास्कन्दति । तत्र च **'समासेण'** सक्षेपेण **'दुविधा'** द्विप्रकारा **'भणिदा'** कथिता **'आराहणा'** आराधना । का प्रथमा आराधना का द्वितीयेत्यत आह—**'सम्मत्तम्मि य पढमा'** श्रद्धानविषया प्रथमाराधना । **'विदिया य'** द्वितीया च **'हवे'** भवेत् **'चरित्तं मि'** चारित्रविषया आराधना । दर्शनचारित्राराधनयो प्रथमद्वितीयव्यपदेश उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति । केचिच्चत्र दर्शनपरिणामोत्पत्त्युत्तरकाले हि चारित्रपरिणाम उत्पद्यत इति प्राथम्य दर्शनाराधनाया । असयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान पूर्वं

रूप परिणमन करनेको उद्यवन कहते है। परीषह आदि आने पर भी निराकुलतापूर्वक वहन अर्थात् धारण करनेको निर्वहन कहते हैं। अन्य तरफ उपयोग लगनेसे दर्शन आदिसे मनके हटने पर पुन उनमे उपयोग लगाना साधन है। अर्थात् नित्य या नैमित्तिक कार्य करते समय सम्यग्दर्शन आदिमे व्यवधान आ जाये तो पुन. उपायपूर्वक उसे करना साधन है। दूसरे भवमे भी सम्यग्दर्शनादिको साथ ले जाना अथवा उस भव मे मरणपर्यन्त धारण करना निस्तरण है। तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। स्व और परके निर्णयको सम्यग्ज्ञान कहते है। पापका बन्ध करानेवाली क्रियाओके त्यागको चारित्र कहते है और इन्द्रिय तथा मनके नियमनको तप कहते है ।।२।।

क्या आराधना चार ही प्रकारकी होती है ऐसी आशङ्कामे आचार्य कहते है—

गा०—जिनागममे सक्षेपसे आराधना दो प्रकारकी कही है। श्रद्धान विषयक प्रथम आराधना है। और दूसरी चारित्रविषयक आराधना है ।। ३ ।।

टी०—जिनवचनमे सक्षेपसे दो प्रकारकी आराधना कही है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहको जीतनेसे जिन होते है तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणको जीतनेसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते है। मोहको जीतनेसे वीतरागी और वीतद्वेषी होते हैं। सर्वज्ञ सर्वदर्शी और वीतराग तथा वीतद्वेषी महापुरुषोंका वचन जिनवचन कहलाता है। इससे असत्य बोलनेके कारणोका अभाव होनेसे आगमके प्रामाण्यको ख्यापित किया है। वक्ताके अज्ञानसे अथवा रागद्वेषसे कहा गया वचन अयथार्थका बोध करानेसे अप्रमाण होता है।

उस जिनवचनमे 'समासेण' अर्थात् सक्षेपसे 'आराहणा' अर्थात् आराधना, 'दुविधा' अर्थात् दो भेदरूप, 'भणिदा' अर्थात् कही है। पहली आराधना कौन है और दूसरी कौन है? इसके उत्तर में कहते हैं—'सम्मत्तम्मि य पढमा' अर्थात् श्रद्धानविषयक प्रथम आराधना है और 'विदिया हवे चरितम्मि' चारित्र विषयक दूसरी आराधना है।

उत्पत्तिकी अपेक्षा और गुणस्थानकी अपेक्षा दर्शनाराधनाको प्रथम तथा चारित्राराधनाको द्वितीय कहा है ऐसा कोई कहते हैं। उनका कहना है कि सम्यग्दर्शनरूप परिणामकी उत्पत्ति

प्रमत्तसंयतादिकं तु परमिति । श्रद्धानविरतिपरिणामयोर्युगपदप्यस्ति प्रादुर्भाव , श्रद्धानवतो वा असयतस्य पश्चाद्विरतिरुपजायते। तत्किमुच्यते 'उत्पत्त्यपेक्षयेति । असयतसम्यग्दृष्टीना कुत क्रमो येन तदपेक्षया प्रथमद्वितीय-व्यपदेशवृत्ति स्यात् । उत्पत्त्यपेक्षया तत्रोक्त एव नियम । **अथागमे वचनपौर्वापर्यापेक्षया 'असजदसम्माविट्ठि-सयदासंयदापमत्तसंयदा'** इति वचनात् । तदेव वचन किमर्थं क्रममाश्रित्य प्रवृत्तमुत नान्तरीयकतया ? न तावदस्ति परिणामाना नियोगभावी क्रम । यदि स्यान्न यौगपद्य कदाचित्स्यात् । दृश्यते च सम्यग्दृष्टि-सयतासयता इति चैकदा । अथ नानेक वचनमेक प्रयोक्तु क्षमत इति वक्तृरिच्छानुविधायी क्रम सूत्रविवक्षाकृत प्राथम्य द्वितीयता चेति वाच्य न गुणस्थानापेक्षयेति । कि चोपजातदर्शनादिपरिणामस्यात्मनस्तद्गतातिशय-वृत्तिराराधना साऽत्र प्रस्तुता । तत्र च प्राथम्य द्वितीयता वा, तत्किमुच्यते उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति ।

अस्य सूत्रस्योपोद्घातमेवमपरे वर्णयन्ति—अस्मिन् शास्त्रे किमयमेव निश्चयश्चतुर्विधैवाराधनेति, उतान्योऽपि विकल्प सभवतीति ? अस्तीत्याहेति तदयुक्तम् 'दसणणाणचरित्ततवाणमाराधणा भणिया' इत्यतीत-

---

होनेके उत्तरकालमे चारित्ररूप परिणाम उत्पन्न होता है इसलिये दर्शनाराधना प्रथम है । असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पहले होता है प्रमत्तसयत आदि बादमें होते है ।

किन्तु श्रद्धानरूप और विरतिरूप परिणाम एक साथ भी प्रकट होते है। अथवा सम्यग्दर्शन-से सम्पन्न असयतके पीछेसे भी चारित्र उत्पन्न होता है, तब उत्पत्तिकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय है ऐसा कैसे कहते है ? असयत सम्यग्दृष्टियोका क्रम कैसे संभव है जिससे उसकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय व्यवहार हो सके । उत्पत्तिकी अपेक्षासे उनके सम्बन्धमे नियम कहा ही है ।

पूर्वपक्ष—आगममे वचनके पौर्वापर्यकी अपेक्षासे दर्शनाराधनाको प्रथम और चारित्रा-राधनाको द्वितीय कहा है, क्योकि आगममे 'असयतसम्यग्दृष्टी, सयतासयत, प्रमत्तसयत' ऐसा वचन क्रम है ।

उत्तर—वही वचन किसलिये क्रमका आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ है ? क्या यह क्रम परस्परमें अविनाभावी होनेसे रखा गया है ? परिणामोके क्रमसे ही होनेका तो कोई नियम नही है । यदि होता तो एक साथ श्रद्धान और चारित्र भी नही होते । किन्तु सम्यग्दृष्टि और सयतासयत एक कालमे होते देखे जाते है ।

पूर्वपक्ष—एक व्यक्ति एक साथ अनेक वचनोंका प्रयोग नही कर सकता इसलिये क्रम वक्ता-की इच्छाका अनुसरण करता है ।

उत्तर—तब प्रथम और द्वितीयपनेको सूत्रकी विवक्षाकृत कहना चाहिये अर्थात् सूत्रमे जिसकी प्रथम विवक्षा है वह प्रथम है और जिसकी विवक्षा बादमे है वह द्वितीय है । गुणस्थानकी अपेक्षा नही कहना चाहिये ।

दूसरे, जिस आत्मामे दर्शनादि परिणाम उत्पन्न हो गये है उसका दर्शन आदिके विषयमे विशेष अतिशय उत्पन्न करनेका नाम आराधना है। वही आराधना यहाँ प्रस्तुत है । उसके विषय-मे उत्पत्तिकी अपेक्षा या गुणस्थानकी अपेक्षा प्रथमपना और द्वितीयपना कैसे आप कहते है ?

अन्य कुछ व्याख्याकार इस गाथासूत्रका उपोद्घात इस प्रकार कहते है—इस शास्त्रमे क्या यही निश्चय है कि आराधना चार ही प्रकार की है अथवा कोई दूसरा भी विकल्प संभव है ? यदि कहते हो 'है' तो ऐसा कहना उचित नही है क्योकि गाथामे दर्शन ज्ञान चारित्र और तप आरा-

कालाभिधानक्रियात प्रतीयते नास्य शास्त्रस्य व्यापार इति । यद्यस्य व्यापार शास्त्रस्य वक्तुमिष्ट स्यात् 'भण्णदि' इति ब्रूयात् । '**जिणवयणे भणिया दुविहा आराधणा**' इति वचनात् । सक्षेपनिरूपणापि [1]तत्रैवेति-नेह सक्षेपवाच्यम् । वस्तु बहूपन्यस्त दुरवगम मन्दबुद्धीनामिति । तदनुग्रहाय स्वल्पस्योपन्यास । स सक्षेपस्त्रि-प्रकार —वचनसक्षेपोऽर्थसक्षेपस्तदुभयसक्षेपश्चेति । वचनबहुत्वस्यार्थनिश्चयो न जायते जडानामिति वचन सक्षिप्यते । अर्थस्तु सप्रपञ्च एव । **अनुयोग**द्वारादीना बहूनामुपन्यासमकृत्वा दिङ्मात्रोपन्यास प्रस्तुतस्यार्थ-सक्षेप । वचनानि तु बहूनि । तस्योभयसक्षेप पाश्चात्य । द्विविधाराधनेति वचनसक्षेपो नार्थसक्षेप । ज्ञानस्याराधना तपसश्च विद्यमानापि न वचनेनोच्यते । [2]परमुखेनैवावबोधयितु शक्यत इति ।

दंसणमाराहंतेण णाणमाराहियं हवे णियमा ।
णाणं आराहंतेण दंसणं होइ भयणिज्जं ॥ ४ ॥

'**दंसणमाराहंतेण**' दर्शनाराधनाया कथिताया ज्ञानाराधनापि शक्यते प्रतिपत्तुम्, अन्यानयनचोदनाया

धना 'भणिता' 'कही है' इस प्रकार अतीत काल सम्बन्धी क्रियाका प्रयोग किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि इस शास्त्रका उसमे व्यापार नही है। यदि उनको कथन करनेमे इस शास्त्रका *व्यापार इष्ट होता तो 'भण्णदि' ऐसा लिखते। किन्तु वे कहते है 'जिणवयणे भणिया दुविहा आरा-धणा।'* जिनवचनमे दो प्रकारकी आराधना कही है। उसीमे संक्षेप भी कथन किया है इसलिये यहाँ सक्षेप भी नही कहना चाहिये।

इसका समाधान यह है कि बहुत विस्तारसे कथन मन्दबुद्धियोके लिये दुरवगम होता है। वे उसे समझनेमे असमर्थ होते हैं। उनके कल्याणके लिये सक्षेप कथन किया जाता है। उस सक्षेपके तीन प्रकार है—वचन सक्षेप, अर्थ सक्षेप और उभय सक्षेप। वचनका विस्तार होने पर जडबुद्धि अर्थका निश्चय नही कर सकते। इसलिये वचनका सक्षेप किया जाता है। अर्थका तो विस्तार रहता ही है। बहुतसे अनुयोगद्वार आदिका उपन्यास न करके केवल दिशामात्रका बतलाना प्रस्तुत विषयका अर्थ सक्षेप है। वचन तो बहुत है। उन दोनोका अर्थात् वचन और अर्थका सक्षेप उभय सक्षेप है। 'दुविहा आराधणा' यह वचन सक्षेप है, अर्थ सक्षेप नही है। ज्ञानकी आराधना और तपकी आराधनाके विद्यमान होते हुए भी उन्हे वचनसे नही कहा। उन्हे परमुखसे ही अर्थात् दर्शन और चारित्राराधनाके द्वारा ही जाना जा सकता है।

भावार्थ—पहले विस्तारमे रुचि रखने वाले शिष्योको दृष्टिमे रखकर चार प्रकारकी आराधना कही। पीछे सक्षेप रुचि शिष्योकी अपेक्षा उसे दो प्रकारका कहा, क्योकि दर्शनका ज्ञानके साथ तथा चारित्रका तपके साथ अविनाभाव होनेसे दर्शनाराधनामे ज्ञानाराधनाका और चारित्राराधनामे तप आराधनाका अन्तर्भाव होता है। तथा सम्यग्दर्शन आराधनाके होने पर ही ज्ञानाराधनापूर्वक चारित्राराधना होती है ॥ ३ ॥

गा०—दर्शनकी आराधना करने वालेके द्वारा नियमसे ज्ञानकी आराधना होती है। किन्तु ज्ञानकी आराधना करने वालेके द्वारा दर्शनकी आराधना भजनीय है, होती भी है, नही भी होती ॥ ४ ॥

टी०—'दसणमाराहंतेण' अर्थात् दर्शन आराधनाका कथन करने पर ज्ञान आराधनाको भी

१ तत्रैव–मु० । २ परमसुखे–आ० ।

शरावाद्यन्यतमभाजनमात्रप्रतिपत्तिवन् । ननु चान्तरेणाधारमानयन न सभवतीति भवत्यनभिहितेऽपि भाजन-मात्रे प्रतिपत्तिरिह कथम् ? इहाप्यविनाभावादित्याचष्टे '**दंसणमाराधंतेण**' ।

अत्रापरे सबन्धमारम्भयन्ति गाथायाः । यदि द्विविधा आराधना 'चतुर्विधाराधनाफल प्राप्ता सिद्धा' इति प्रतिज्ञा हीयते द्वयोरसग्रहात् इति चेत् नास्मिन्नपि विकल्पे तयोरपि सग्रहार्थम् । कथ 'दसणमाराधतेण' इति प्रतिज्ञा हीयते इति । अत्र प्रतिज्ञा शब्देन किमुच्यते ? **साध्यानिर्देशः प्रतिज्ञेति** तावन्न गृहीतम् । चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वस्येह साध्यता नास्ति । सिद्धमेव हि चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वमनूद्यत इति । अथाभ्युपगति प्रतिज्ञा सा किन्नोपपद्यते ? सन्ति चतस्र आराधनास्तासा च फल ते प्राप्तवन्तस्तत सत्यभ्युपगन्तव्ये कथमभ्यु पगमानुपपत्ति ? चतुर्विधेत्युक्तवन्त द्विविधेति कथ न विरुद्धमिति पूर्वापरव्याहतिरिति चोद्यते । तथा यश्चोद्य-मेव चोद्यते समासन द्विविधेति वचनात्, प्रपञ्चनिरूपणाया चतुर्विधा तत्को विरोध ? तेन विरोधपरिहाराय चागतेय गाथा ।

'**दसणं**' श्रद्धान रुचि , '**आराधंतेण**' आराधयता, '**णाणं**' सम्यग्ज्ञान, '**आराधिद**' आराधित '**हवे**' भवेत् '**नियमा**' निश्चयेन । यस्य हि यद्विषया श्रद्धा तस्य कथचिदप्यज्ञाने न सा भवति । न हि निर्विषया रुचि

जानना शक्य है । जेसे आग लानेकी प्रेरणा करने पर उसको लानेके लिए सकोरा आदि किसी एक पात्र मात्रका बोध हो जाता है ।

शङ्का—बिना किसी आधारके आगका लाना सभव नही है इसलिये पात्रमात्रका कथन **न** करने पर उसका बोध हो जाता है । किन्तु यहाँ यह कैसे सभव है ?

समाधान—यहाँ भी अविनाभाव होनेसे 'दसणमाराहतेण' इत्यादि कहा है ।

यहाँ अन्य व्याख्याकार गाथाके सम्बन्धका आरम्भ इस प्रकार करते है—यदि आराधनाके भेद दो है तो 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्ध है' यह प्रतिज्ञा पूर्ण नही होती; क्योकि इसमे शेष दोका सग्रह नही किया है । किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि यहाँ यह बतलाते है कि उन दोमे भी शेष दोका सग्रह होता है । उसीके लिये 'दसणमाराहतेण' आदि कहा है ।

तथा आप कहते है कि प्रतिज्ञाकी हानि होती है । यहाँ प्रतिज्ञा शब्दसे आप क्या कहते है ? साध्यके निर्देशको प्रतिज्ञा कहते है । उसका तो यहाँ ग्रहण नही किया है, क्योकि 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त' यह यहाँ साध्य नही है । चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त होना तो सिद्ध है, साध्य नही है । उसीका यहाँ अनुवाद मात्र किया है । यदि प्रतिज्ञाका अर्थ स्वीकृति है तो वह यहाँ क्यो नही उत्पन्न होती ? चार आराधनाएँ है और उनका फल सिद्धोने प्राप्त किया है ऐसा स्वीकार करने पर स्वीकृतिकी अनुपपत्ति कैसे हुई ।

शंका—पहले कहा आराधनाके चार भेद है अब कहते है दो भेद है । तो यह पूर्वापर विरुद्ध कैसे नही है ?

समाधान—आप व्यर्थ ही तर्कमे कुतर्क लगाते है । ग्रन्थकार कहते है कि सक्षेपसे आराधनाके दो भेद है और विस्तारसे कहने पर चार भेद है इसमे विरोध कैसा ? अत विरोध दूर करनेके लिये ही यह गाथा आती है । अस्तु

'दसण' अर्थात् श्रद्धान या रुचिकी 'आराधतेण' आराधना करनेसे 'णाण' अर्थात् सम्यग्ज्ञान 'आराधिद' आराधित, 'हवे' होता है । 'णियमा' निश्चयसे । जिसकी जिस विषयमे श्रद्धा होती है उसका उस विषयमे अज्ञान होने पर किसी भी तरह वह श्रद्धा नही होती । रुचि विषयके बिना

प्रवर्तते । बुद्धिपरिगृहीतवस्तुविषया श्रद्धेत्यविनाभाव श्रद्धाया ज्ञानेन ।

अत्रापरा व्याख्या—आत्मनो विषयाकारपरिणामवृत्तिर्ज्ञानं तदावरणक्षयोपशमजनित, भूम्यावरणापगमे तोयजन्मवत् । तद्गतविशुद्धि प्रसन्नता अभिरुचि श्रद्धा । श्रुतिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना दर्शन । तद्दर्शनमोहोपशमक्षयोपशमनिमित्त तोया[1]श्रयपकाभावे जलप्रसादवत । तस्मिन्नाराध्यमाने ज्ञानमिद्धिरवश्य-भाविनी निराश्रयधर्मस्य केवलसिद्ध्य[2]भावादिति ।

तत्रेद परीक्ष्यते, विषयाकारपरिणतिरात्मनो यदि[3] स्याद्रूपरसगन्धस्पर्शाद्यात्मकता स्यात्तथा च—

'अरसमरूवमगंध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द'—[समय० ४९]

इत्यनेन विरोध । विरुद्धश्च नीलपीतादिपरिणामो नैकत्र युज्यते । एकदा आकारद्वयसवेदनप्रसगश्च—बाह्यस्यैक नीलादिविज्ञानगतमपरम् । विज्ञानगतविशुद्धि. प्रसन्नता अभिरुचि श्रद्धेति वाऽसमीचीन गदितम् चैतन्यस्य धर्म श्रद्धान ननु ज्ञान, ज्ञानधर्मत्वे क्षायोपशमिकज्ञानविनाशे कथमवस्थितिदर्शनस्य । न हि धर्मिणि विनष्टे धर्मस्यावस्थिति. । चेतन्यमविनाशि तदाश्रय तदिति चेत् ज्ञानस्य धर्मता नश्येति । कि च यो यस्य धर्म. स तस्य स्वरूपम् । न चान्यस्य धर्मिणो रूप धर्म्यन्तरस्य प्रभवति । न हि बलाकाया शुक्लता कुन्द-कुसुमस्य कदाचन । एव मते प्रसन्नता श्रुतादेर्न स्यात्, श्रुतादेर्वा प्रसन्नता मतेरिष्यते । एव ज्ञानभे

नही होती । बुद्धिके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुमे श्रद्धा होती है अत श्रद्धाका ज्ञानके साथ अविना-भाव है ।

इस गाथाको लेकर एक अन्य व्याख्या इस प्रकार है—आत्माके विषयाकार परिणमनको ज्ञान कहते है । वह ज्ञान ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है । जैसे भूमिरूप आवरणको हटा देने पर पृथ्वीसे पानीका जन्म होता है । उस ज्ञानमे जो निर्मलता होती है उसे प्रसन्नता या स्वच्छता कहते है। और उसमे अभिरुचिको श्रद्धा कहते हैं। शास्त्रमे निरुपित अर्थके विषयमे सत्य-भावना श्रद्धा है । वही दर्शन है । वह दर्शनमोहके उपशम या क्षयोपशमसे होता है । जैसे पानीमे मिश्रित कीचडके अभावमे जल निर्मल होता है । उस दर्शनकी आराधना करने पर ज्ञानकी सिद्धि अवश्य होती है क्योकि जिस धर्मका कोई आश्रय नही है उसकी सिद्धि एकाकी नही होती ।

अब इस व्याख्याकी परीक्षा करते है—

यदि आत्मा विषयाकार रूप परिणमन करता है तो विषयकी तरह आत्मा रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिमय हो जायेगा । और ऐसा होने पर जो आत्माको अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द और चेतना गुणवाला कहा है उसके साथ विरोध आता है । तथा नील पीत आदि रूप परिणाम परस्परमे विरुद्ध होनेसे एक जगह नही रह सकते । तथा एक ही कालमे दो आकारोको जाननेका प्रसग आता है एक बाह्य नीलादि और दूसरा ज्ञानगत आकार । तथा ज्ञानमे जो विशुद्धि या प्रसन्नता है उसे अभिरुचि या श्रद्धा कहना भी समीचीन नही है । श्रद्धान चैतन्यका धर्म है, ज्ञानका नही । यदि उसे ज्ञानका धर्म माना जायगा तो क्षायोपशमिक ज्ञानके नष्ट होने पर दर्शन कैसे रह सकेगा । धर्मीके नष्ट होने पर धर्म नही रहता । यदि कहोगे कि चैतन्य अविनाशी है अतः दर्शनका वही आश्रय है तो वह ज्ञानका धर्म नही हो सकता । तथा जो जिसका धर्म होता है वह उसका स्वरूप होता है एक धर्मीका स्वरूप दूसरे धर्मीका नही हो सकता । बगुलोकी पक्कि-का धर्म शुक्लता कभी भी कुन्दके फूलोका धर्म नही हो सकती । इसी तरह मतिज्ञानकी निर्मलता

१ तोयाशय–आ० । २. सिद्धभा–अ० आ० । ३ यदि न स्या–अ० आ० ।

तद्गोचराया अपि प्रसत्तेर्भेद इति क्षायिक्या का वार्ता न तस्या प्रत्यग्राया प्रादुर्भूति प्रलयो वा।

न हि दर्शनमोहोदय विना दर्शनस्याभावो युज्यते। यदि स्याद्दर्शनमोहनीयकल्पना अघटमाना भवेत्। अथ याथात्म्यविषया श्रद्धा आत्मप्रतिबधकसद्भावान्नोदेति, तदपाये उद्गच्छति, यदि प्रतिबधकारि किंचिन्न स्यात्। आत्मनि परिणामिनि सति किमिति सदा न भवेत्? अतत्परिणामत्वे नात्मनि कदाचिदपि भवेत्। तत् अनुभवसिद्धश्चामौ सहकारिकारणानाममान्निध्यादात्मा श्रद्धानरूपेण न परिणमते। न तु किंचित्प्रतिबध-कमस्येति चेत् किं तत्सहकारि यस्याभावादनुत्पत्ति श्रद्धाया? अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभाव सर्व एव, तावतरेण हेतुता प्रतिज्ञामात्रत एव कस्यचित्सा वस्तुचिंतायामनुपयोगिनीति प्रतिबधकसद्भावानुमानमाग-मेऽभिमत, [1]तदेव सति न घटते। किंचित् श्रुतप्ररूपितार्थविषया सत्यभावनेति वा सबद्धम्। अवध्यादिनिरू-पितार्थविषया सत्यभावना कि न दर्शन? अवध्यादिकमपि वस्तुयाथात्म्यमस्पर्शि। अथ श्रुतग्रहण समीचीन-ज्ञानोपयोगोपलक्षणमिति मन्यसे भवतु अलमतिप्रसगेन—

"समत्तणाणदसणवीरियसुहमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वाबाहमट्ठगुणा होन्ति सिद्धाणं॥" [ ]

इत्यनेन च व्याख्या विरुध्यते। गुणान्तरत्वेन उपन्यासानुपपत्ते.। क्षायिकक्षायोपशमिकयोर्भेदोऽस्ति

श्रुतादि ज्ञानोकी नही हो सकेगी और न श्रुतादि ज्ञानकी निर्मलता मतिज्ञानकी। इस प्रकार ज्ञान भेद होने पर उन ज्ञानोमे होने वाली निर्मलतामे भी भेद होता है। यह क्षायोपशमिक ज्ञानोकी बात है। क्षायिककी क्या बात है। क्षायिकी निर्मलता न तो नवीन उत्पन्न होती है न नष्ट होती है।

दर्शन मोहके उदयके बिना दर्शनका अभाव नही होता। यदि हो तो दर्शन मोहनीय कर्म-की मान्यता नही बनती।

यदि कहोगे कि प्रतिबन्धकका सद्भाव रहनेमे आत्मामे यथार्थ विषयक श्रद्धा नही होती, यदि कोई प्रतिबन्धक नही होता तो उसके अभावमे श्रद्धा प्रकट होती है। यदि आत्मा परिणामी है तो सदा श्रद्धा क्यो नही रहती। यदि आत्मा अपरिणामी है तो कभी भी श्रद्धा प्रकट नही होगी। इसलिये यह अनुभव सिद्ध है कि सहकारी कारणोके न रहनेसे आत्मा श्रद्धान रूपसे परि-णमन नही करता, उसका प्रतिबन्धक कोई नही है।

तब प्रश्न होता है कि वह सहकारी कौन है जिसके अभावके कारण श्रद्धाकी उत्पत्ति नही होती। सर्वत्र कार्यकारणभाव अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा ही जाना जाता है। अन्वय व्यतिरेक के बिना केवल कहने मात्रसे ही यदि किसीमे कार्यकारणभाव हो तो वस्तु विचारमे उसका कोई उपयोग सभव नही है उसमे वह अनुपयोगी है। इसीसे आगममे प्रतिबधकके सद्भावके अनुमानको मान्य किया गया है। अर्थात् प्रतिबन्धकके होनेसे श्रद्धा प्रकट नही होती और उसके अभावमे प्रकट होती है। ऐसा होने पर आपका उक्त कथन घटित नही होता।

तथा शास्त्रमे निरूपित अर्थको विषय करने वाली सत्यभावना दर्शन है यह कहना भी ठीक नही है क्योकि तब प्रश्न होता है कि अवधि आदि ज्ञानोके द्वारा निरूपित अर्थको विषय करने वाली सत्यभावना दर्शन क्यो नही है? क्योकि अवधि आदि ज्ञान भी यथार्थ वस्तुको विषय करते है। यदि कहोगे कि समीचीन ज्ञानोपयोग लक्षण वाला श्रुत ज्ञान है इसलिये उसका ग्रहण किया है तो आगममें जो सिद्धोंके आठ गुण-सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु

१ तावदसति–आ० मु०।

वा न वा ? यदि नास्ति भावपंचकनिरूपणाकारिणा आगमेन विरोधः । अथ अस्ति भेद परिणाम परिणामान्तरस्य स्वरूप न भवति । परिणामक.बस्य परिणामिस्वरूपता न्याय्या । यौ भिन्नप्रतिबधकापायजन्यौ, न तावन्योऽन्यस्य धर्मधर्मिणौ यथा अवधिकेवले भिन्नप्रतिबधकापायजन्ये, तथा न ज्ञानदर्शने ।

ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति द्वैविध्य कस्मान्नोपन्यस्तं इत्यत्र चोद्ये प्रतिविधानायाह—**णाणमाराधतेण दसणं होइ भयणिज्जं** ।' ज्ञानशब्द सामान्यवाची सशये, विपर्यसि, समीचीने च वृत्त । सशयज्ञान, विपर्यासज्ञान, सम्यग्ज्ञानमिति प्रयोगदर्शनात् । तेन ज्ञाने परिणत आत्मा नियोगतस्तत्त्वश्रद्धाने विपरिणमत एवेति न नियोगोऽस्ति, मिथ्याज्ञानपरिणतस्य तत्त्वश्रद्धाया अभावात् । ततो ज्ञानस्य दर्शनाविनाभावित्वस्याभावात् न ज्ञानाराधनोक्त्या दर्शनाराधनावगतु शक्येति न तथा सक्षेपाभिधानमागमे प्रक्रातमिति भावार्थ । '**णाण**' ज्ञान । '**आराधतेण**' आराधयता । '**दसणं**' दर्शन । '**होदि**' भवति । '**भयणिज्जं**' भजनीय विकल्प्यम् । अत्र दसणशब्देन दर्शनविषयमाराधनमुच्यते । ततोऽयमर्थ दर्शनाराधना भाज्येति भजनीयतया अविनाभावित्वाभाव सूचित । सम्यग्ज्ञाने आराधिते भवत्याराधिता, मिथ्याज्ञानाराधनाया नेति भजनीयता । अथवा ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति च शक्यते सक्षेप्तुम् ।

और अव्याबाध कहे है उसके साथ उक्त व्याख्याका विरोध आता है । क्योकि एक गुणका अन्य गुणरूपमे उपन्यास नही किया जा सकता ।

तथा क्षायिक और क्षायोपशमिकमे भेद है या नही ? यदि नही है तो पॉच भावोका निरूपण करनेवाले आगमसे विरोध आता है । यदि भेद है तो एक परिणाम दूसरे परिणामका स्वरूप नही होता, इसलिए परिणामोके समूहको परिणामीका स्वरूप मानना न्याय है ।

तब जो भिन्न प्रतिबन्धकोके अभावमे उत्पन्न होते है वे परस्परमे एक दूसरेके धर्म-धर्मी नही हो सकते । जैसे अवधिज्ञान और केवलज्ञान, अवधिज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण रूप भिन्न प्रतिबन्धकोके अभावमे उत्पन्न होनेसे परस्परमे धर्म-धर्मी नही है उसी तरह ज्ञान और दर्शन भी परस्परमे धर्म-धर्मी नही है ।

शंका—ज्ञानाराधना और चारित्राराधना इस प्रकारसे दो आराधना क्यो नही कही ?

समाधान—इसका उत्तर देते है—'णाणमाराधतेण दसण होइ भयणिज्ज ।' यहाँ ज्ञान शब्द सामान्यवाची है क्योकि सशय, विपर्यय और समीचीनमे रहता है । सशयज्ञान, विपरीतज्ञान, सम्यग्ज्ञान ऐसा प्रयोग देखा जाता है । इसलिए ज्ञानरूप परिणमन करनेवाला आत्मा नियमसे तत्त्व श्रद्धान रूपसे परिणमन करता ही है ऐसा नियम नही है; क्योकि जो आत्मा मिथ्याज्ञान रूपसे परिणमन करता है उसके तत्त्व श्रद्धाका अभाव होता है, इसलिए ज्ञान दर्शनका अविनाभावी नही है । अत ज्ञानाराधनाके कहनेसे दर्शनाराधनाका ग्रहण शक्य नही है । इसलिए आगममे उस प्रकारसे सक्षेप कथन नही किया है । अत. ज्ञानकी आराधनासे दर्शनकी आराधना भजनीय है । यहाँ दर्शन शब्दसे दर्शन विषयक आराधनाको कहा है । अत यह अर्थ हुआ कि दर्शन आराधना भजनीय है । इससे ज्ञानाराधनाके साथ दर्शनाराधनाके अविनाभावके अभावको सूचित किया है । अर्थात् सम्यग्ज्ञानकी आराधना करने पर तो दर्शनकी आराधना होती है, किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधना करने पर दर्शनकी आराधना नही होती है । अथवा ज्ञानाराधना और चारित्राराधना इस प्रकारसे भी सक्षेप किया जा सकता है ।

भावार्थ—दर्शन श्रद्धानको कहते हैं । श्रद्धान अज्ञात वस्तुमे नही होता । अतः श्रद्धाका

ननु च ज्ञानमनन्तरेणापि दर्शन वर्तते, यतो मिथ्यादृष्टिरपि ज्ञानस्याराधको भवति । अतोऽविनाभावा भाव इत्यत आह—

सुद्धणया पुण णाणं मिच्छादिट्ठिस्स वेंति अण्णाणं ।
तम्हा मिच्छादिट्ठी णाणस्साराहओ णेव ॥ ५ ॥

शुद्धनया पुन । अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरिच्छेदस्तदविनाभाविधर्मबलप्रसूतो नय । तथा चोक्तम् इति । "**उपपत्तिबलादर्थपरिच्छेदो नय**' इति । शुद्धो नयो येषा ते शुद्धनया. । निरपेक्षनयनिरासाय शुद्धविशेषणम् । नित्यमेव सर्वथा क्षणिकमेवेति ये परिच्छेदास्ते विपर्यासरूपास्तथाविधस्य प्रतिपक्षधर्मानपेक्षस्य वस्तुनि रूपस्याभावात् । सापेक्ष रूपं निराकाक्षतारूपेण दर्शयत प्रत्ययस्य अतस्मिस्तदिति ज्ञान भ्रान्तमिति भ्रान्तता । तद्दोषरहितता शुद्धता । तथा हि—कृतकत्वेन अनित्यतामेव वस्तुन प्रत्येति ज्ञानं न तत्स-

---

ज्ञानके साथ अविनाभाव है। अत गाथा सूत्रमे ठीक ही कहा है कि तत्त्व श्रद्धानकी आराधना करने पर सम्यग्ज्ञानकी आराधना अवश्य होती है। इस पर प्रश्न होता है कि ज्ञानाराधना और चारित्राराधना ऐसे दो भेद क्यो नही रखे ? इसके उत्तरमे कहा है कि सम्यग्ज्ञानकी आराधना करने पर सम्यग्दर्शनकी आराधना होती हैं किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधनामें सम्यक्त्वकी आराधना नही होती। इस प्रकार ज्ञान और दर्शनमे अविनाभाव न होने से ज्ञानाराधनामे दर्शनाराधना भाज्य है। इस पर पुन प्रश्न होता है कि जब 'सम्यग्ज्ञानकी आराधना' कहने पर सम्यक्त्वकी आराधनाका बोध हो सकता है तो वैसा क्यो नही कहा ? इसका उत्तर है कि ज्ञानके सम्यक् व्यपदेशमे सम्यक्त्व मुख्य हेतु है। सम्यक्त्वके विना ज्ञान सम्यक् नही कहलाता। अत सम्यग्ज्ञानका प्राधान्य नहीं है ॥४॥

'ज्ञानके विना भी सम्यग्दर्शन होता है क्योकि मिथ्यादृष्टि भी ज्ञानका आराधक होता है। अत ज्ञानके साथ सम्यग्दर्शनका अविनाभाव सम्बन्ध नही है। इस आशकाका उत्तर देते है—

गा०—किन्तु शुद्धनय दृष्टि वाले ज्ञानी जन मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको अज्ञान कहते हैं, इसलिए मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नही ही होता ॥५॥

टी०—अनन्त धर्मात्मक वस्तुके किसी एक धर्मके जाननेको नय कहते है। यह नय उस धर्मके साथ ही रहनेवाले अन्य धर्मोके बलसे उत्पन्न होता है। अर्थात् नय जिस धर्मको जानता है उस धर्मके साथ जो अनन्त धर्म उस वस्तुमे रहते हैं उनका निषेध नही करता। किन्तु उनको गौण करके एक धर्मकी मुख्यतासे वस्तुको जाननेका नाम नय है। कहा भी है—युक्तिके बलसे वस्तुके जाननेको नय कहते है। शुद्ध नय जिनका है वे शुद्धनय होते है। यहाँ निरपेक्ष नयके निरासके लिए 'शुद्ध' विशेषण लगाया है। वस्तु सर्वथा नित्य ही है अथवा सर्वथा क्षणिक ही है इस प्रकारके जो ज्ञान हैं वे विपरीत रूप है क्योकि इस प्रकारके प्रतिपक्षी धर्मोसे निरपेक्ष रूपका वस्तुमें अभाव है। वस्तुका स्वरूप सापेक्ष है उसे जो निरपेक्ष रूपसे दिखलाने वाला ज्ञान है, वह भ्रान्त है। क्योंकि जो जिस रूप नही है उसे उस रूप दिखलाता है वह ज्ञान भ्रान्त होता हैं। और जो उस दोषसे रहित है वह शुद्ध है। इसका खुलासा इस प्रकार है—वस्तुकी उत्पत्तिको देखकर मिथ्याज्ञान वस्तुको सर्वथा अनित्य ही मानता है। किन्तु वह सर्वथा अनित्य नही है। समस्त

र्वथा वस्त्वनित्य, नित्यानित्यात्मकत्वात्सकलस्य। यदि हि नित्यमेव स्यात् क्रियमाणतानुरूपहेतुकदबकेना-[1]युक्ता तस्यावदतो नित्यं भवत्येव च न भवतीति **दृश्यप्रतिपत्तय** ॥ शुद्धा नया येषा प्रतिपत्तृणा ते शुद्धनया। **'पुण'** पुनः। **णाणं** ज्ञानमित्यभिमत परस्य। **'मिच्छादिट्ठिस्स'** मिथ्यादृष्टे। **'बेंति'** ब्रुवते। **'अण्णाणं'** अज्ञान इति। न ज्ञानशब्द सामान्यवाची। किन्तु यथार्थप्रतिपत्तिरेव ज्ञानशब्दाभिधेयेति। ज्ञायते मन्यते अर्थ परिच्छिद्यते येन तज्ज्ञानम्। वस्त्वन्यभूत च [2]रूपमादर्शयता नार्थ परिच्छिद्यते तस्मान्न मिथ्याज्ञान ज्ञानशब्द-स्यार्थ, तदज्ञानमित्येव ग्राह्यम्॥ ननु च—

"**गदि इंदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य।**
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारे॥" —[प्रा० प० स० १।५७।]

इत्यत्र ज्ञानशब्द सामान्यवाची सत्य, ज्ञातिर्ज्ञानमिति व्युत्पत्तौ सा निरूपणा सामान्यशब्द इति॥ **'तम्हा'** तस्मात्। **'मिच्छादिट्ठी'** तत्त्वश्रद्धानरहित **'णाणस्साराधको ण होदित्ति'** पदघटना। ज्ञान नाराधयतीत्यर्थ॥

यदुक्त अज्ञाने दर्शनाभाव इति कि तदज्ञान कस्य भवतीति? तत इद सूत्र इति। तदतिपेलव। कि तदज्ञानमित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचन न सूत्रेऽस्ति। मिथ्याज्ञानलक्षणप्रतिपादनपरमिथ्यादृष्टिसम्बन्धिज्ञानत्वमेव

वस्तु समूह नित्यानित्यात्मक है—कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य है। यदि वस्तु सर्वथा नित्य होती तो उसको करनेके अनुरूप कारणोका अभाव होता। अत वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है।

जिन ज्ञाताओके नय शुद्ध होते है वे शुद्धनय वाले होते है। ऐसे शुद्धनय वाले मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको अज्ञान कहते है। यहाँ ज्ञान शब्द सामान्य ज्ञानका वाचक नही है किन्तु ज्ञान शब्दका अर्थ यथार्थ ज्ञान ही है। जिसके द्वारा वस्तु जानी जाती है वह ज्ञान है। जो वस्तुमे नही पाये जानेवाले रूपको दर्शाता है वह वस्तुको नही जानता। अत ज्ञान शब्दका अर्थ मिथ्याज्ञान नही है। मिथ्याज्ञान अज्ञान ही है ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

शंका—'गइ इदिये च काये' इत्यादि गाथाके द्वारा चौदह मार्गणा बतलाई है। उनमे भी ज्ञान शब्द आता है जो ज्ञान सामान्यका वाचक है?

समाधान—आपका कहना सत्य है। 'ज्ञातिर्ज्ञानं' जानना ज्ञान है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार वहाँ ज्ञान शब्दसे ज्ञान सामान्यका ग्रहण किया है।

'तम्हा' इस कारणसे 'मिच्छादिट्ठी' जो तत्त्व श्रद्धानसे रहित है वह, णाणस्साराधको न होदि' ज्ञानका आराधक नही होता। इस प्रकार पदोका सम्बन्ध होता है।

इस गाथाकी अन्य टीकाकार इस प्रकार व्याख्या करते है—पूर्वमे जो अज्ञान अवस्थामे सम्यग्दर्शनकी आराधनाका अभाव कहा है वह अज्ञान क्या है और किसको होता है, इसको बतलानेके लिए यह गाथा सूत्र है। किन्तु उनका यह कथन अयुक्त है। 'वह अज्ञान क्या है' इस प्रश्नका कोई उत्तर इस गाथामे नही है। उनका यह भी कथन है कि मिथ्याज्ञानका लक्षण कहते हुए जो मिथ्यादृष्टिसे सम्बद्ध ज्ञानको अज्ञान कहा है उसमे उक्त दोनो प्रश्नोका उत्तर आता है।

---

१ युक्तता स्यास्यादतो–मु०। यक्तता तस्याव–ज०। २ रूपयता दर्शयता–आ०।

अज्ञानलक्षणमित्युभयोरपि प्रतिवचनमिति विकल्प्यते। एवमपि 'तम्हा न मिच्छदिट्ठि' इति सूत्रे मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानस्याराधकत्वाभावमेव सूत्रकार उपसंहरति। तत्परित्यज्यासूत्रितमुपादेयमिति केयं स्वतन्त्रता ?

चारित्राराधना कथ्यते। चतुर्थ्या आराधनाया प्रतिपत्तिक्रमं दर्शयन्नाह—

संजममाराहंतेण तओ आराहिओ हवे णियमा ॥
आराहंतेण तवं चारित्त होइ भयणिज्जं ॥ ६ ॥

'**संजममाराहंतेण**' संयम इत्यनेन शब्देन इह चारित्रमित्युच्यते। कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्य उपरमः संयमः। स च चारित्रम्। यथा चाभ्यधायि–'**कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवतश्चारित्रमिति**'[1]। '**संजमं**' चारित्रं, '**आराधंतेण**' आराधयता। '**तवो**' तपः। '**आराधिवो**' आराधितं। '**हवे**' भवेत्। '**णियमा**' अवश्यमेव। कथं ? इह अनशनं नाम अशनत्यागः। स च त्रिप्रकारः। मनसा भुञ्जे, भोजयामि, भोजने व्यापृतस्यानुमतिं करोमि। भुञ्जे, भुङ्क्ष्व, पचनं कुर्विति वचसा। तथा चतुर्विधस्याहारस्याभिसंधिपूर्वकं कायेनादानं, हस्तसंज्ञया प्रवर्तनं अनुमतिसूचनं कायेन। एतासां मनोवाक्कायक्रियाणां कर्मोपादानकारणानां त्यागोऽनशनं चारित्रमेव। योगत्रयेण तृप्तिकारिण्या भुजिक्रियाया दर्पवाहिन्या निराकृतिः अवमोदर्यम्। तथा आहारसंज्ञाया जयो वृत्तिपरिसंख्यानम्। रसगोचरगार्द्धत्यजनं त्रिधा रसपरित्यागः। कायसुखाभिलाषत्यजनं कायक्लेशः।

यदि इसे मान भी लिया जाये तब भी जो गाथामे 'तम्हा वा मिच्छादिट्ठी' इत्यादि कहा है वह बतलाता है कि गाथा सूत्रके कर्ता आचार्य 'मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नही होता' यही उपसंहार करते है। अतः उसे छोडकर जो बात गाथा सूत्रमे नही कही, उसे ग्रहण करना, यह कैसी स्वतन्त्रता है ॥५॥

आगे चारित्राराधनाको कहते है। उसके साथ चौथी तप आराधनाकी प्रतिपत्तिका क्रम दिखलाते है—

गा०—संयमकी आराधना करने वालेके द्वारा तप नियमसे आराधित होता है। किन्तु तपकी आराधना करने वालेके द्वारा चारित्र भजनीय होता है ॥ ६ ॥

टी०—'संजममाराहंतेण' यहाँ आगत संयम शब्दसे चारित्रका ग्रहण होता है। कर्मोंके ग्रहणमे निमित्त क्रियाओके त्यागको संयम कहते है और वह चारित्र है। कहा भी है—ज्ञानी पुरुषके कर्मोंके ग्रहणमे निमित्त क्रियाओके त्यागको चारित्र कहते है।

चारित्रकी आराधना करने वालेके द्वारा तप नियमसे आराधित कैसे होता है यह बतलाते है—अनशन नामक तपमे अनशन नाम भोजनके त्यागका है। उसके तीन प्रकार है—मनसे भोजन करता हूँ, भोजन कराता हूँ, भोजनमे लगे हुएको अनुमति करता हूँ। मै भोजन करता हूँ, तुम भोजन करो, भोजन बनाओ इस प्रकार वचनसे कहना। तथा चार प्रकारके आहारका संकल्पपूर्वक कायसे ग्रहण करना, हाथसे संकेत करना, कायसे अनुमतिका सूचन करना। ये जो मन वचन कायकी क्रियाएँ है जो कर्मोंके ग्रहणमे कारण है उनका त्याग अनशन है जो चारित्र ही है।

तृप्ति करने वाले तथा मद पैदा करने वाले खानपानका मन वचन कायसे त्याग अवमौदर्य है। आहार संज्ञाके जीतनेको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते है। मन वचन कायसे रसविषयक लम्पटताके त्यागको रसपरित्याग तप कहते है। शारीरिक सुखकी इच्छाके त्यागको कायक्लेश तप

१. सर्वा० सि० १।१।

चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशयनासनम् । स्वकृतापराधगूहनत्यजन आलोचना । स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमण । तदुभयोज्झन उभय । येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽभूत्तन्निराक्रिया, ततोऽपगमन विवेक । देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्ग । तपोऽनशनादिक यथा भवति चारित्र तथोक्तमेव । असयमजुगुप्सार्थमेव प्रव्रज्याहापनं छेद । मूलं पुनश्चारित्रादानम् । ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचारा अशुभक्रिया । तासामपोहन विनय. । चारित्रस्य कारणानुमननं वैयावृत्त्य ॥

एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकषायत्यजनरूपतया । इत्थ चारित्राराधनयोक्तया प्रत्येतु शक्या तपस आराधना । अशनादिक यदि नाम त्यक्त न नियोगतोऽविरति प्रत्याख्याता भवति । कृताशनत्यागा अपि हि दृश्यते असयता इत्येतच्चेतसि कृत्वाह—आराधनेणेति '**आराधंतेण**' आराधयता । '**तवं**' तप । '**चारित्तं**' चारित्र सकलविरतियोग । '**होदि**' भवति । '**भयणिज्जं**' भजनीयम् । तपस्युद्यत करोति वा न वा असयमपरिहार इति यावत । **अत्रान्येषां व्याख्या**—चारित्राराधनाया तपस आराधनाया सिद्धिरवश्यभाविनीत्युक्त तत्कथ ? तदिद सयममाराधतेणेत्यादि एव सूत्रोपोद्घात कृत स नोपपद्यते । चारित्राराधनाया तपस आराधनाया सिद्धिर्भवतीति नोक्तं क्वचित्सूत्रकारेण तत्किमुच्येत उक्तमिति ? '**विदियाय हवे चरित्तंहि**' इति वचनेनोक्तमिति चेन्न अशब्दार्थत्वात् । शब्देन हि यत्प्रतीयते तदुक्तमिति युक्त वक्तु । अपि च भवतु

कहते हैं। चित्तकी व्याकुलताके दूर करनेको विविक्त शयनासन तप कहते है। अपने द्वारा किया गये अपराधको छिपानेका त्याग करना आलोचना है। अपने द्वारा किये गये अशुभ मन वचन कायके व्यापारका प्रतीकार करना प्रतिक्रमण है। इन दोनोको ही करना उभय है। जिसके द्वारा अथवा जिस स्थान पर अशुभ उपयोग हुआ हो उनसे अलग होना विवेक है। शरीरमे ममत्वका त्याग कायोत्सर्ग है। अनशनादि तप जिस प्रकार चारित्र है ऊपर कहा ही है।

असयमके प्रति ग्लानि प्रकट करनेके लिये दीक्षाके कालको कम कर देना छेद प्रायश्चित्त है। और पुनः चारित्र ग्रहण करना मूल प्रायश्चित्त है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके अतीचारोंको अशुभ क्रिया कहते है उनका त्याग अर्थात् ज्ञानादिमे दोष न लगाना विनय है। चारित्रके कारणोमें अनुमति देना वैयावृत्य है। इसी प्रकार स्वाध्याय और ध्यान भी चारित्र है क्योंकि ये सब अविरति, प्रमाद और कषायके त्यागरूप है।

इस प्रकार चारित्राराधनाके कथनसे तप आराधनाको जाना जा सकता है। यदि भोजन आदिका त्याग किया तो अविरतिका त्याग नियमसे नही किया। 'भोजनका त्याग करने वाले भी असयमी देखे जाते है' यह बात चित्तमे रखकर आचार्य कहते है—

तपकी आराधना करने वालेके द्वारा, सकलविरतिसे सम्बन्धरूप चारित्र, 'भयणिज्ज' भजनीय है। अर्थात् तपमें जो सलग्न है वह असयमका त्याग करता भी है और नही भी करता।

अन्य टीकाकार इसकी व्याख्या इस प्रकार करते है—चारित्रकी आराधनामे तपकी आराधनाकी सिद्धि अवश्य होती है ऐसा जो कहा वह कैसे ? उसीके समाधानके लिये 'सजममाराधतेण' इत्यादि कहा है। ऐसा वे इस गाथाकी उत्थानिकामे कहते है। उनका कथन ठीक नही है—क्योंकि चारित्रकी आराधना करनेपर तप आराधनाकी सिद्धि होती है ऐसा ग्रन्थकारने कही भी नही कहा। तब कैसे कहते हैं कि ग्रन्थकारने ऐसा कहा है ? यदि कहोगे कि—

'विदियाय हवे चरित्तम्मि' इस कथनके द्वारा कहा है ? तो यह भी ठीक नही है क्योकि

तेनोक्तं इह तदेवोक्तं किमिति पुनरुपन्यस्यते ? तत्कथमिति वा युक्त सूत्रे चारित्रसिद्धावितरसिद्धिक्रमस्यानुपन्यासात् ॥ प्रतिज्ञामात्राद्विप्रतिपन्नो न प्रतिपद्यते इति युक्तिप्रश्नोऽय स कथ युज्यते व्याख्यान्तरसूचिते प्रतिविधाने । **यच्च व्याख्यानं** ''त्रयोदशात्मके चारित्रे सर्वथा प्रयतन सयम । स च बाह्यतप सस्कारिताभ्यन्तरतपसा विना न सभवति । तदुपकृतात्मकत्वात्सयमस्वरूपस्येति'' **तदघटमानं** । न हि प्रयतन सयमशब्दस्यार्थ । क्वचिदपि संयमशब्दस्य तत्राप्रयुक्तत्वात् । प्रयोगावृत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थ । 'विदिया य हवे चरित्तहि' इति सूत्रे चारित्रशब्देन सामान्यवाचिना सकलचारित्रमिति किमर्थं विशेषेणोच्यते ? सर्वस्य हि सामायिकादेश्चारित्रस्याराधना चारित्राराधना भवति । यथाहि–'**पंडिदपडिदमरणं खीणकसाया मरंति केवलिणो**', इत्यन्ये **यथाख्यातचारित्राराधनामपि वक्ष्यति** । बाह्यतप.संस्कारिताभ्यन्तरतपसा इति वा असबद्ध । अन्तरेणापि बाह्यतपोऽनुष्ठान अतर्मुहूर्तमात्रेणाधिगतरत्नत्रयाणा **भद्दणराजप्रभृतीनां पुरुदेवस्य भगवतः शिष्याणां निर्वाणगमनमागमे प्रतीतमेव** ॥

इन शब्दोका यह अर्थ नही है । शब्दके द्वारा जिसकी प्रतीति हो, उसे उनका कथन कहना युक्त है । तथा, यदि उन्होने ऐसा कहा है तो पुन उसीका उपन्यास वह क्यो करते और वह कैसे युक्त हो सकता है ? क्योकि गाथामे चारित्रकी सिद्धिमें अन्यकी सिद्धिके क्रमका कथन नही है । 'प्रतिज्ञामात्रसे विवादग्रस्त व्यक्ति नही समझता' इस प्रकारका युक्तिप्रश्न अन्य व्याख्याओके द्वारा सूचित प्रतिविधानमे कैसे युक्त हो सकता है ?

एक अन्य व्याख्यामे कहा है—'तेरह प्रकारके चारित्रमे सर्वथा प्रयत्नशील होनेका नाम सयम है । वह संयम बाह्यतपके द्वारा सस्कार किये गये अभ्यन्तर तपके बिना नही होता अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर तपके होनेपर ही सयम होता है; क्योकि सयमका स्वरूप तपके द्वारा उपकृत होता है' किन्तु उक्त कथन घटित नही होता; क्योकि संयम शब्दका अर्थ प्रयत्नशील होना नही है । किसी ग्रन्थमे सयम शब्दका प्रयोग इस अर्थमे नही हुआ है । शब्दका अर्थ उसके बारंबार प्रयोगसे जाना जाता है ।

'विदिया य हवे चरित्तम्मि' इस गाथा सूत्रमे आगत चारित्र शब्द सामान्य चारित्रका वाचक है, उसका सकल चारित्र रूप विशेष अर्थ आप कैसे कहते हैं ? समस्त सामायिक आदि चारित्रकी आराधना चारित्राराधना है । आगे कहेंगे कि क्षीणकषाय और केवलीके पण्डित पण्डित मरण होता है । अत यथाख्यातचारित्राराधना भी उसमे आती है । तथा बाह्य तपके द्वारा संस्कारित अभ्यन्तर तपसे' इत्यादि कथन भी असम्बद्ध है क्योकि बाह्य तपके अनुष्ठानके बिना भी अन्तर्मुहूर्तमात्रमे रत्नत्रयको प्राप्त करके, भगवान् ऋषभदेवके शिष्य भद्दणराज वगैरहका निर्वाण गमन आगममे प्रसिद्ध ही है ।

भावार्थ—सयम शब्दमे 'स' का अर्थ है समन्त अर्थात् मन वचन कायके द्वारा पापको लाने वाली क्रियाओका 'यमन'—त्याग संयम है । अत सयमका अर्थ चारित्र है । वह बाह्य अनशन आदि और अभ्यन्तर प्रायश्चित्तादिके भेदसे बारह प्रकारका है । उस तपकी आराधना चारित्राराधनामे आती है क्योकि उसमे भी अविरति, प्रमाद और कषायका त्याग होता है । किन्तु तप आराधनामे चारित्राराधना नही आती, क्योकि तपस्वी असयमका त्यागी होता भी है और नहीं भी होता । भोजनादिका त्याग करने वाले भी कोई-कोई असयमी देखे जाते है । इस ग्रन्थ पर अन्य भी टीकाएँ थीं । उन्हींके मतका निराकरण ऊपर टीकाकार अपराजित सूरिने किया है ।

ननु तपस्यायत्तनिर्जरानुक्रमेण निर्जरामुपगच्छन्ति सन्ति कर्माणि यदा नि शेषाण्यपगतानि भवन्ति तदा स्वास्थ्यरूप निर्वाणमुपजायते ततो निर्वाणस्य कारण निर्जरैव, तस्याश्च सपादक तपस्ततो युक्त दर्शनाराधना तप आराधना चेति द्विविधा आराधनेति गदितु इत्यारेकाया, तपो निर्जरा मुक्तेरनुगुणा करोति सति चारित्रे सवरकारिणि नान्यथेति प्रदर्शयति 'सम्मादिट्ठिस्स वि' इत्यादिना—

सम्मादिठिठस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि ।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्चुदकम्म तं तस्स ।।७।।

'**सम्मादिठ्ठिस्सवि**' तत्वार्थश्रद्धानवतोऽपि । '**अविरदस्स**' असयतस्य । '**न तवो**' तप । '**महागुणो**' गुणशब्दोऽनेकार्थवृत्ति । रूपादयो गुणशब्देनोच्यन्ते **क्वचिद्यथा–'रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि, पृथक्त्वं, संयोगविभागौ,, परत्वापरत्वबुद्धय·, सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नावयः क्रियावद्गुणसमवायिकारणं द्रव्य**' -इत्यस्मिन्सूत्रे गृहीता ।। '**गुणभूता वयमत्र नगरे' इति** । अत्राप्रधानवाचीयस्य गुणस्य भावादिति विशेषेण वर्तते । 'गुणोऽनेन कृत' इत्यत्र उपकारार्थे वृत्ति । इह उपकारे वर्तमानो गृह्यते। महागुण उपकारोऽस्येति महागुण । '**होदि**' भवति । क्रिया चैव हि भाव्यते निषेध्यते वा इति वचनात् । 'न' तु भवनक्रियया सवध्यते, तपो न भवति महोपकारमिति । एतदुक्त भवति कर्मनिर्मूलन कर्तुमसमर्थ तप सम्यग्दृष्टेरप्यसयतस्य । पुनरितरस्य असति

उन्होने जो बाह्य तपके बिना मुक्ति प्राप्तिका निर्देश किया है उसका अभिप्राय इतना ही है कि जिन दीक्षा धारण करनेके पश्चात् ही अन्तर्मुहूर्तमे क्षपक श्रेणि पर आरोहण करके मुक्त हुए। अत उन्हे अनशन आदि बाह्य तप नही करना पडा । अभ्यन्तर तप तो रहा ही ।। ६ ।।

निर्जरा तपके अधीन है । जब क्रमसे निर्जराको प्राप्त होते होते सब कर्म चले जाते है तब 'स्व' मे स्थिति रूप निर्वाणकी प्राप्ति होती है । अत निर्वाणका कारण निर्जरा ही है और निर्जरा-का सम्पादक है तप । इसलिये दर्शनाराधना और तप आराधना ये दो आराधना कहना युक्त है । इस आशकाके उत्तरमे आचार्य 'सवरको करने वाले चारित्रके होने पर ही तप मुक्तिके अनुकूल निर्जरा करता है, अन्यथा नही' ऐसा कथन करते है—

गा०—सम्यग्दृष्टी भी जो अविरत है अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टीका तप महान् उपकारी नही होता । उसका वह तप हाथीके स्नानकी और मथनचर्मपालिका मथानीकी रस्सीकी तरह होता है ।। ७ ।।

टी०—तत्त्वार्थ श्रद्धानवान् भी, असयमीका तप महागुणवाला नही होता ।

गुण शब्दके अनेक अर्थ है । कही गुण शब्दसे रूपादि कहे जाते है जसे वैशेषिक दर्शनके सूत्रमे गुण शब्दसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, आदि लिये गये है । 'हम इस नगरमे गुणभृत है' इस वाक्यमे गुणशब्दका अर्थ गौण या अप्रधान है । 'इनने गुण किया' इस वाक्यमे 'गुण' का अर्थ उपकार है । यहाँ भी गुणशब्दका अर्थ उपकार है । अत महान् है 'गुण' अर्थात् उपकार इसका । गाथामे 'होदि' क्रिया है उसका अर्थ 'होता है' । उसके साथ 'ण' का सम्बन्ध लगाना चाहिये । तब अर्थ होता है—तप महान् उपकारी नही है । पूरे वाक्यका अभिप्राय है—असयमी सम्यग्दृष्टी-का भी तप कर्मोको जडसे नष्ट करनेमे असमर्थ है । फिर जो सम्यग्दृष्टी नही है, उनके सवरके

---

१ चद सछेदक–ज, दगव तं–मु०, ये तु चुदच्छिदकम्म इति पठन्ति–मूलारा० ।

सवरे प्रतिसमयमुपचीयमानकर्मसंहते का मुक्ति ? ननु सत्यपि सयमे विना निर्जरा न निवृत्तिरिति । शक्यमेवमप्यभिधातु **'सम्माविट्ठिस्स वि अकवतवो भावणाविसेसस्स न चारित्तं महागुणं होविति'** । सत्यमेवमेतत् चारित्रप्राधान्यविवक्षापरा इय चोदना । असिश्छिनत्तीत्यत्र छेत्तारमन्तरेण नासिनैव सपद्यते छिदा, तथा तदीयतैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्यातिशयनिरूपणवाछाया तस्यैव स्वातंत्र्य निगद्यते । एवमिहापीति न दोष । कुत ? यस्मात् **'होवि खु हत्थिण्हाणं'** होदि भवति । **'खु'** शब्द एवकारार्थ । स हत्थिण्हाणमित्यनेन सबधनीय । **हत्थिण्हाणमेवेति** । यथा हस्ती स्नातोऽपि न नैर्मल्य वहति पुनरपि करावर्जितपासुपटलमलिनतया' तद्वत्तपसा निज र्णेऽपि कर्माशे बहुतरादान असयममुखेनेति मन्यते । दृष्टान्तान्तरमाचष्टे–चु दच्चुदकम्म मन्थनचर्मपालिकेव तद्वत्सयमहीन तप । दृष्टान्तद्वयोपन्यास किमर्थम् इति चेत् । अपगताद्बहुतरोपादान कर्मणोऽसयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्याम । आर्द्रतनुतया बहुतरमुपादत्ते रज । बन्धरहिता निर्जरा स्वास्थ्य प्रापयति नेतरा बन्धसहभाविनीति । किमिव मन्थनचर्मपालिकेव । सा हि बन्धसहिता मुक्ति वर्तयति । **अत्रान्ये व्याचक्षते**–कालभेदमनपेक्ष्य शुद्धिमशुद्धि च दर्शयता प्रथम उपात्त । **तदयुक्तं** सकलकर्मापायो हि शुद्धि,

---

अभावमे प्रति समय बन्धनेवाले कर्मोका मचय होते हुए मुक्तिकी बात ही क्या है ?

शङ्का—सयमके होनेपर भी निर्जराके विना मुक्ति नही होती। अत ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिसने तपकी भावना नही की उस सम्यग्दृष्टीका चारित्र महान् उपकारी नही है ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ ही है। यह कथन चारित्रकी प्रधानताकी विवक्षाको लिये हुए है। जैसे 'तलवार काटती है' ऐसा कहा जाता है। किन्तु काटनेवाले व्यक्तिके विना केवल अकेली तलवार नही काटती। परन्तु तलवारकी तीक्ष्णता, गौरव और कठोरता आदि अतिशयोको बतलानेकी इच्छा होनेपर 'तलवार काटती है' इस प्रकार तलवारके स्वातन्त्र्यको कहा जाता है। इसी तरह यहाँ भी है अत कोई दोष नही है।

उक्त कथनके समर्थनमे ग्रन्थकार दृष्टान्त देते है—जैसे हाथी स्नान करके भी निर्मल नही होता, वह अपनी सूँडके द्वारा धूल उठाकर अपनेपर डालता है। उसी तरह तपके द्वारा कुछ कर्मोकी निर्जरा होनेपर भी असयमके द्वारा उससे अधिक कर्मोका बन्ध होता रहता है। ऐसा माना गया है।

दूसरा दृष्टान्त देते है—मन्थनचर्मपालिकाकी तरह सयमहीन तप होता है।

शङ्का—दो दृष्टान्त किस लिये दिये है ?

समाधान—तपके द्वारा जितनी कर्मनिर्जरा होती है, असयमके निमित्तसे उससे बहुत अधिक कर्मोका बन्ध होता है, यह बतलानेके लिए हस्तिस्नानका दृष्टान्त दिया है क्योकि स्नानके पश्चात् शरीरके गीले होनेसे बहुत-सी धूल उसपर जम जाती है। तथा बन्धरहित निर्जरा मोक्ष प्राप्त कराती है, बन्धके साथ होनेवाली निर्जरा नही। जैसे मन्थनचर्मपालिका। वह तो बन्धसहित मुक्ति देती है अर्थात् मथानी चलाते समय एक ओरसे रस्सी छूटती जाती है किन्तु साथ ही दूसरी ओरसे लिपटती जाती है।

दूसरे टीकाकार कहते है—समयभेदकी अपेक्षा न करके शुद्धि और अशुद्धिको दिखलानेके लिये प्रथम दृष्टान्त दिया है। किन्तु ऐसा कहना अयुक्त है क्योकि समस्त कर्मोके विनाशको शुद्धि

अशुद्धिश्च कर्मणा सह वृत्ति, तत्रासती शुद्धिः कथमादर्श्यते कर्मांशापगममात्रत ? शुद्धिर्वा या मुक्तिः सा कस्य न विद्यते ? फल दत्वा प्रयान्त्यात्मनः कर्मपुद्गलस्कन्धाः । यच्चोक्तं यदा तु कालभेदेन वैधर्म्यमाशक्यते बंधन-शातनयोरेकसमयत्वात् इति ततो द्वितीयो दृष्टान्तः । रज्जुवेष्टननिर्गमनयोरेककालत्वादिति तदप्यसार । न हि चद्रमुखी कन्या इत्यत्र एवमाशका सभवति, सदा संपूर्णमानन वामलोचनाया निशानाथस्य कदाचिदेव पूर्णता ततोऽनुमानमिति साधारणधर्ममात्रावलम्बन एवोपमानोपमेय भाव , वैधर्म्यं तूपमानोपमेययोरस्ति अन्यथा उप-मानमिदं उपमेयमिति भेदो निरास्पदः । अपि च उपमेयस्यातिशय प्रदर्शयितुमेवोपमानं प्रवृत्तम् ॥ न त्वेकस्योप-मानस्यानुक्तत्वादृष्टे[1]तरदुपादीयते (?) इति युक्तम् ।

सक्षेपस्य प्रकारान्तराख्यानायाह—

अहवा चारित्ताराहणाए आराहियं हवइ सव्वं ॥
आराहणाए सेसस्स चारित्ताराहणा भज्जा ॥ ८ ॥

और कर्मोके साथ रहनेको अशुद्धि कहते हैं। जब वहाँ शुद्धि नही है तो कैसे उसे दिखलाते है ? और कुछ कर्मोके चले जाने मात्रसे यदि शुद्धि या मुक्ति मानते हो तो ऐसी शुद्धि किस जीवमे नही है क्योंकि कर्मपुद्गलस्कन्ध प्रत्येक आत्माको फल देकर जाते रहते है। और भी कहा है कि जब कालभेदसे वैधर्म्यकी आशंका की जाती है चूँकि बन्धन और निर्जराका एक ही काल है तब दूसरा दृष्टान्त दिया है; क्योंकि रस्सीके लिपटने और छूटनेका एक ही काल है, यह कथन भी निस्सार है। 'चन्द्रमुखी कन्या' इस दृष्टान्तमे इस प्रकारकी आशंका सम्भव नही है कि कन्याका मुख तो सदा सम्पूर्ण रहता है और चन्द्रमा तो पूर्णिमाके ही दिन पूर्ण होता है। उपमान उपमेय भाव दोनोमे पाये जानेवाले साधारण धर्मोको ही लेकर किया जाता है, दोनोमे वैधर्म्य तो होता ही है। यदि न होता तो उनमे यह उपमान और यह उपमेय ऐसा भेद ही न होता। तथा उपमेयकी विशेषता दिखलानेके लिए ही उपमान होता है। अकेले उपमानके लिये उपमेय नही होता ॥७॥

भावार्थ—मिथ्यादृष्टिकी तो बात ही क्या, तत्त्वोका श्रद्धानी सम्यग्दृष्टी भी यदि अविरत है, हिंसादि विषयोमे प्रवृत्त रहता है, उसका तप करना महान् उपकारक नही है। अर्थात् वह कर्मोंको सर्वथा नष्ट नही कर सकता। जो सयमसे हीन होता है उसके सवरके अभावमे प्रति-समय नये-नये कर्मोंका बन्ध होता रहता है। अतः उसकी मुक्ति नही हो सकती। यह कथन चारित्रकी प्रधानता दिखलानेके लिये है। जैसे तपके प्राधान्यकी विवक्षामे कहा है—तपसे ही मुक्ति होती है अतः तप करना चाहिए। असयमीका तप हाथीके स्नानकी तरह होता है। जैसे हाथी स्नान करके शरीरके भीग जानेसे अपनी सूँड द्वारा अपने ऊपर डाली गई बहुत-सी धूल ग्रहण कर लेता है। उसी तरह असयमी तपके द्वारा कुछ कर्मोकी निर्जरा करके भोजनादिकी लम्पटतावश बहुत अधिक कर्मबन्ध करता है। दूसरा दृष्टान्त है मन्थनचर्मपालिका। हस्तिस्नान दृष्टान्तके द्वारा तो यह बतलाया है कि जितनी निर्जरा करता है उससे बहुत अधिक कर्मबन्ध करता है और दूसरे दृष्टान्तसे बतलाया है कि बन्धके साथ-साथ होनेवाली निर्जरासे मुक्ति नही हो सकती ॥ ७ ॥

संक्षेपसे आराधनाके अन्य प्रकार कहते है—

---

१ दृष्टेरित–मु० ।

अहवेति । एकद्वयादिसंख्येयासंख्येयानन्तरूपेण हि जैनी निरूपणा ।। चरन्ति यान्ति तेन हितप्राप्ति अहितनिवारण चेति चारित्र, चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्र सामायिकादिक, तस्याराधनाया तत्परिणतौ सत्या आराधित निष्पादित । '**हवइ**' भवति । '**सव्वं**' सर्वं ज्ञान दर्शन तपश्च, प्रकारकात्स्न्र्ये सर्वशब्दोऽत्र प्रवृत्त । यथा सर्वमोदन भुक्ते इति व्रीहिशाल्योदनप्रकारकात्स्न्र्यं भुजिक्रियाया. कर्मत्वेन प्रतीयते । एवमिहापि मुक्त्युपायप्रकाराणा ज्ञानादीना सामस्त्यमाख्यायते । चारित्राराधनैकैवेत्यनेन गाथार्द्धेन कथितम् । अत्रेयमाशका—कस्मादेकत्वनिरूपणाराधनायाश्चारित्रमुखेनैव क्रियते नान्यमुखेनेत्यत आह—'**आराहणाए**' आराधनाया । '**सेसस्स**' शेषस्य । ज्ञानदर्शनतपसा अन्यतमस्य । **चारित्ताराधणा** । '**भज्जा**' भाज्या विकल्प्या । कथ ? असयतसम्यग्दृष्टिर्भवति ज्ञानदर्शनयोराराधको नेतरयो । मिथ्यादृष्टिस्त्वनशनदावुद्यतोऽपि न चारित्रमाराधयति । कश्चित्पुन ज्ञानादीनि च चारित्रमपि संपादयतीति नाविनाभाविता इतराराधनाया चारित्राराधनाया इति न तन्मुखेनैकत्वनिरूपणेति भाव ।। ननु क्षायिकवीतरागसम्यक्त्वाराधनाया, क्षायिकज्ञानाराधनाया च इतरेषामप्याराधना नियोगत सभवति तत्किमुच्यते शेषाराधनाया चारित्राराधना भाज्येति ? क्षायोपशमिक-

---

गा०—अथवा चारित्रकी आराधनामे ज्ञान, दर्शन, तप सब आराधित होता है । ज्ञान दर्शन और तपमेसे किसीकी भी आराधनामे चारित्रकी आराधना भाज्य होती है ॥ ८ ॥

टी०—जैनधर्ममे वस्तुके कथन करनेके एक, दो, संख्यात, असख्यात और अनन्तरूप है । जिसके द्वारा जीव हितकी प्राप्ति और अहितका निवारण करते है उसे चारित्र कहते है । अथवा सज्जनोके द्वारा जो 'चर्यते' सेवन किया जाता है वह सामायिक आदिरूप चारित्र है । उसकी आराधना करनेपर अर्थात् उस रूप परिणतिके होनेपर सब-ज्ञान दर्शन और तप आराधित—निष्पादित होता है । यहाँ 'सर्व' शब्द समस्त प्रकारोमे प्रयुक्त हुआ है । जैसे 'सब ओदनको खाता है', यहाँ ओदन अर्थात् भात या चावलके व्रीहि, शालि आदि जितने प्रकार हैं वे सब खानेरूप क्रियाके कर्मरूपसे प्रतीत होते है । अर्थात् सब प्रकारके चावलोका भात खाता है यह 'सब ओदन' से अभिप्राय है । इसी प्रकार यहाँ भी 'सर्व' शब्दसे मुक्तिके उपायोके जो प्रकार ज्ञानादि है उन सबका ग्रहण इष्ट है । इस तरह 'एक चारित्राराधना ही है' यह इस आधी गाथासे कहा है । यहाँ यह शका होती है कि चारित्रकी मुख्यतासे ही आराधनाका एक प्रकार क्यो कहा है अर्थात् आराधनाके एक प्रकारमे चारित्रको ही क्यो लिया है ?

इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते है—शेष अर्थात् ज्ञान दर्शन और तपमेसे किसी एककी आराधना करनेपर चारित्रकी आराधना भाज्य है; क्योकि असयत सम्यग्दृष्टि ज्ञान और दर्शनका ही आराधक होता है, चारित्र और तपका नही । और मिथ्यादृष्टि तो अनशन आदिमे तत्पर रहते हुए भी चारित्रकी की आराधना नही करता । कोई ज्ञानादिको आराधना करता है और कोई चारित्रकी भी आराधना करता है । इस प्रकार अन्य आराधनाओके साथ चारित्रकी आराधनाका अविनाभाव नही है अर्थात् चारित्राराधनाके विना भी अन्य आराधना होती है । इसलिए उनकी मुख्यतासे आराधनाका एक प्रकार नही कहा है । यह उक्त कथनका भाव है ।

शङ्का—क्षायिक वोतराग सम्यक्त्वकी आराधनामें और क्षायिकज्ञानकी आराधनामे अन्य चारित्रादिकी भी आराधना नियमसे होती है तब कैसे कहते है कि शेष आराधनाओमे चारित्राराधना भाज्य है ?

ज्ञानदर्शनोपक्षयैतदुक्त इति ज्ञेयम् ।

अत्रान्येषां व्याख्या ''चारित्ताराधणाए इत्यत्र चारित्रशब्देन सच्चारित्रमुपात्तम् । तच्च सद्दर्शनात्मकज्ञाननिरूपितक्रमाप्रच्यवनेन प्रयत्नवृत्तिरूप तस्मिन्नाराध्यमाने शेषसिद्धिर्भवत्येव । कथ ? सज्ज्ञानकार्य चारित्रं सज्ज्ञानं च दर्शनाद्वित (?) कार्ये हि कारणाविनाभावित्व प्रयुक्त इति ।'' सानुपपन्ना । प्रतिज्ञामात्रेण हि सूत्रमिदमवस्थित, एतत्साधनाय सूत्रद्वयमुत्तर यत्र हि सूत्रकारो न निबधन वदति । आत्मन प्रतिज्ञातस्य तत्र व्याख्यातुरवसरो निबधनाख्याने । यत्र तु स एव वदति तत्र तदेव व्याख्यातुमवगन्तव्यमिति व्याख्याक्रम शास्त्रेषु । न चेदमनेन प्रतिविधानमसूत्रितम् स्वयमेवोत्प्रेक्षते । **'कादव्वमिणमकादव्वयत्ति णादूण होदि परिहारो'** इत्यत्र निरूपयिष्यति यत सूत्रकार । किं च उत्तरसूत्रानुष्ठानमस्या व्याख्याया चारित्राराधनामुखेनैकैवाराधनेति प्रतिपिपादयिषितम् । तच्च सप्रतिविधान प्रतिपादयितु कोऽवसर उत्तरगाथाया । इतराराधनान्तर्भावकारिण्याश्चारित्राराधनाया निरूपणाया चारित्रस्वरूपाख्यानाय उत्तरगाथायातेति कथमनवसर इति चेत् यद्येव दर्शनाराधनाया ज्ञानाराधनामन्तर्भाव्य प्रवर्तमानाया दर्शनस्वरूप किं नोच्यते सूत्रकारेण ? स्वेच्छेति चेन्न न्यायानु-

उत्तर—उक्त कथन क्षायोपशमिकज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा किया है ऐसा जानना।

इस गाथापर अन्य टीकाकारोकी व्याख्या इस प्रकार है—'चारित्ताराधणाए' यहाँ चारित्र शब्दसे सम्यक्चारित्र लिया है। वह सम्यक्चारित्र शास्त्रमे कहे गये सम्यग्दर्शनमे विशिष्ट सम्यग्ज्ञानके क्रमसे च्युत न होते हुए अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञानके साथ सावधानतापूर्वक प्रवृत्तिरूप होता है। उसको आराधना करनेपर शेष आराधनाओकी सिद्धि होती ही है क्योकि सम्यग्ज्ञानका कार्य चारित्र है और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। कार्य कारणका अविनाभावी होता है—कारणके बिना कार्य नही होता।

किन्तु यह व्याख्या ठीक नही है। इस गाथामे तो गाथाकारने केवल प्रतिज्ञामात्र की है कि चारित्राराधनामे सब आराधना आती है। इसकी सिद्धिके लिए आगे दो गाथाएँ है जिनमे ग्रन्थकारने उसका कारण कहा है कि क्यो चारित्राराधनामे अन्य आराधना समाविष्ट होती है। वहाँ व्याख्याताको उसका कारण बतलानेका अवसर है। शास्त्रोमे व्याख्याका यही क्रम है कि ग्रन्थकारने स्वय जहाँ जो कहा है वहाँ वही व्याख्याकारको कहना चाहिये। इस गाथामे तो उसने ऐसा नही कहा। व्याख्याकार स्वय ही कल्पना करता है। गाथासूत्रकार तो आगे 'कादव्वमिणमकादव्व' इत्यादि द्वारा कहेगे।

तथा 'चारित्राराधनाकी मुख्यतासे एक ही आराधना है' इस व्याख्यामे आगेके गाथासूत्रका कथन करना इष्ट है। यदि वह कथन यही कर दिया जाता है तो आगेकी गाथाके कथनका अवसर नही रहता।

शङ्का—अन्य आराधनाओका अपनेमे अन्तर्भाव करनेवाली चारित्राराधनाका निरूपण करनेपर चारित्रका स्वरूप बतलानेके लिये आगेकी गाथा आई है ? तब आप कैसे कहते हैं कि आगेकी गाथाके कथनका अवसर नही रहता ?

उत्तर—यदि ऐसा है तो दर्शनाराधना अपनेमे ज्ञानाराधनाको अन्तर्भूत करके प्रवृत्त हुई है अतः गाथाकारने सम्यग्दर्शनका भी स्वरूप क्यो नहीं कहा ? वह भी कहना चाहिए था। यदि

गामिनां शास्त्रकाराणा न्यायादपेतेच्छा अयुक्ता ।

कथ चारित्राराधनाया कथिताया इतरासा प्रतिपत्तिरविनाभावात् तावज्ज्ञानदर्शनाराधनयोरन्तर्भाव-इत्युत्तरगाथाया पूर्वार्द्धेन कथयति—

कायव्वमिणमकायव्वयत्ति णाऊण होइ परिहारो ।
तं चेव हवइ णाणं तं चेव य होइ सम्मत्तं ॥ ९ ॥

'**कायव्वं**' कर्तव्य । '**इणं**' इदं । '**अकायव्वयत्ति**' अकर्तव्यमिति । '**णादूण**' ज्ञात्वा । '**हवदि**' भवति । '**परिहारो**' परिवर्जन चारित्रमिति शेष । कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञान पूर्व तदुत्तरकाल अकर्तृपरिहरण यत्तच्च चारित्रमिति सूत्रार्थ । ननु परिहार इत्यत्र परिहारो वर्जनार्थ । तथा हि—परिहरति सर्पमित्यत्र सर्प वर्जयतीति गम्यते । तनश्च यद्वर्जनीय तत्परिज्ञानमेव वर्जनमुपयुज्यते । तत एव वक्तव्य—**अकादव्वत्ति**[1] **णादूण हवदि परिहारो इति**, कादव्वमित्येतत्किमर्थमुपन्यस्त ? कर्तव्यपरिज्ञान करणे एवोपयुज्यते इति ॥ अत्र प्रतिविधीयते—**कादव्वमिणति णादूण हवदि परिहारो** इति पदघटनैका, **अकादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो** इत्यपरा ॥ तत्राद्याया पदघटनाया परिशब्द समताद्भाववृत्ति । यथा परिधावतीत्यत्र हि समताद्धावतीति गम्यते । हरति तूपादानवचन । तथाहि प्रयोग —**कपिलिकां**[2] हरति—कपिलिकामुपादत्त इति यावत् । मनसा, वचसा, कायेन कर्तव्यस्य सवरहेतोरुपादान गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयाना उपादान चारित्रमिति

कहोगे कि यह उनकी इच्छा है तो ऐसा कहना भी ठीक नही है क्योकि न्यायका अनुसरण करनेवाले शास्त्रकारोकी इच्छा न्यायसे रहित नही होती ॥ ८ ॥

चारित्राराधनाके कहनेपर अन्य आराधनाओका ज्ञान कैसे सम्भव है ? इस प्रश्नका समाधान है कि चारित्राराधनाके साथ ज्ञान और दर्शनका अविनाभाव है अतः उसमे उनका अन्तर्भाव होता है । यही वार्ता आगेकी गाथाके पूर्वार्द्धसे कहते है—

गा०—यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है इस प्रकार जानकर त्याग होता है । वही चैतन्यज्ञान है और वही सम्यक्त्व है ॥ ९ ॥

टी०—पहले कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होता है । उसके पश्चात् अकर्तव्यका त्याग किया जाता है । यही चारित्र है । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

शंका—'परिहारो' मे परिहार शब्दका अर्थ त्याग है । इसका खुलासा इस प्रकार है—'सर्पका परिहार करता है' ऐसा कहनेपर 'सर्पको त्यागता है' यही अर्थ ज्ञात होता है । अत जो त्यागने योग्य है उसीका जानना योग्य है । ऐसी स्थितिमे ऐसा कहना चाहिए कि 'अकर्तव्यको जानकर उसका परिहार होता है ।' तब कर्तव्यको जाननेको क्यो कहा ? कर्तव्यका परिज्ञान तो करनेके लिए होता है छोडनेके लिए नही होता ?

उत्तर—गाथामे 'कादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो' यह एक पद सम्बन्ध है । और 'अकादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो' यह दूसरा पद सम्बन्ध है । उनमेसे प्रथम पद सम्बन्धमे 'परि' शब्दका अर्थ अच्छी तरह या पूर्णरूपसे होता है । जैसे 'परिधावति' का अर्थ अच्छी तरहसे, या पूर्णरूपसे दौडता है । 'हरति' का अर्थ ग्रहण करना है । जैसे 'कपिलिका हरति' का अर्थ कपिलिकाको ग्रहण करता है । अतः इस वाक्यका अर्थ होता है—मनसे, वचनसे, कायसे, सवरके

---

१. व्व पि त्ति—ज० । २ कपलिका—न० ।

वाक्यार्थ । आस्रवबंधहेतवो ये परिणामास्ते न कर्तव्या , न निर्वर्त्यास्तेषा परिहरण परिवर्जन चारित्रमिति सबधनीयम् । परिहार्य एव परिज्ञानमतरेणापि तत्परिहारो दृश्यते । यथा शत्रुजनाध्यासितं देश परिहरति कश्चित्तत्र तेषा अवस्थानमप्रतिपद्यमानोऽपि मार्गान्तरगामी एव मज्ञात्वापि परिहार्यं परिहरेदिति विनाभावितेति चेदयमभिप्राय सूरे—सामान्यशब्दा अपि विशेषप्रवृत्तयो दृश्यंते । तथा हि—गोशब्दो गोत्वसामान्यागीकरणेन प्रवृत्तो गौर्न हतव्या, गौस्तदा न स्प्रष्टव्या इत्यादावन्यत्र विशेषमवाभिधेयी-करोति । महति गोमडले गोपालकमासीनमेत्य कश्चित्पृच्छति गौर्दृष्टा भवतेति । अत्र वाक्ये गोशब्दस्तदभिप्रेता कालाक्षी **स्वस्तिमतीं** वा प्रत्याययति । एवमत्र परिहारशब्द परिवर्जनसामान्यगोचरोऽपि नियतानेकपरिहार्यविषये परिहरणे प्रयुक्त । न च नियोगभाव्यनेकपरिहार्यविषयपरिहरण असकृद्वृत्तिपरिज्ञान विना युज्यते । इति मिथ्यादर्शन, असयमा , कषाया, अशुभाश्च योगा प्रत्येकमनेकविकल्पा सतत परिहरणीया । तत्कथ परिहरेदज्ञः । ननु ज्ञानचारित्रयोरविनाभाविता द्योत्या 'नादूण होदि परिहारो' इत्यनेन[2] न श्रद्धानाविनाभावितेत्याशकायामाह—**'त चेव हवइ'** इत्यादिक । त चे व तदेव चैतन्य । **'हवइ'** भवति, **'णाणं'** ज्ञान । **'त चेव य'** तदेव च **'हवइ'** भवति, **'सम्मत्तं'** तत्त्वश्रद्धान चेति चैतन्यद्रव्यार्थाव्यतिरेकात् ज्ञानदर्शनयोरेकता ख्याता । ततो ज्ञाना-

हेतु कर्तव्यको ग्रहण करना, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जयको अगीकार करना चारित्र है । आस्रव और बन्धके हेतु जो परिणाम हैं वे नही करने चाहिए । अत उनका परिहार अर्थात् त्याग चारित्र है । इस प्रकार सम्बन्ध लगाना चाहिये । जो पदार्थ त्यागने योग्य होता है, उसे जाने विना भी उसका त्याग देखा जाता है जैसे कोई शत्रुओसे युक्त स्थानको छोडता है । यद्यपि वह उस स्थान मे उनके आवासको नही जानता, फिर भी दूसरे मार्गसे चला जाता है । इस प्रकार त्यागने योग्यको नही जानते हुए भी त्यागना चाहिए ।

शङ्का—तब तो 'त्याज्य पदार्थको जानकर छोडना चाहिये' इस प्रकारका अविनाभाव नही रहा ?

समाधान--आचार्यका अभिप्राय यह है कि सामान्य शब्दोंकी भी प्रवृत्ति विशेषमे देखी जाती है । जैसे 'गौ' शब्द गौसामान्यको लेकर प्रवृत्त होता है जैसे गौका वध नही करना चाहिए । गौको छूना चाहिए । किन्तु अन्यत्र यही सामान्यवाची गौ शब्द विशेष गौके अर्थमे प्रवृत्त होता देखा जाता है । जैसे--किसी बड़े गोमण्डलमे बैठे हुए ग्वालेके पास जाकर कोई पूछता है—आपने गौ देखी है क्या ? इस वाक्यमे गौ शब्द उस व्यक्तिको इष्ट काली गाय या अमुक प्रकारकी गायका बोध कराता है । इसी तरह परिहार शब्द यद्यपि त्याग सामान्यका वाचक है तथापि यहाँ उसका प्रयोग निश्चित अनेक त्यागने योग्य विषयोके त्यागमे हुआ है । और नियमसे त्यागने योग्य अनेक विषयोका त्याग बार-बार जाने विना सम्भव नही है । इस प्रकार मिथ्यादर्शन, असयम, कषाय, अशुभयोग और इनमेसे प्रत्येकके अनेक भेद निरन्तर त्यागने योग्य है । जो अनजान है वह कैसे उनका त्याग कर सकता है ?

शङ्का—'जानकर परिहार होता है' इस वचनसे ज्ञान और चारित्रकी अविनाभाविता प्रकट होती है, श्रद्धानकी अविनाभाविता प्रकट नही होती ?

इस आशङ्काका आचार्य उत्तर देते है—वही चैतन्य ज्ञानरूप है और वही चैतन्य सम्यक्त्वरूप है । अत. चैतन्यरूप द्रव्यसे अभिन्न होनेसे ज्ञान और दर्शनकी एकता बतलाई है । अतः

१ एवमन्यत्रापि परिहार्यात् परि–आ० । २ नेन श्रद्धा–अ० ज० मु० ।

विनाभाविता कथनेन श्रद्धानस्यापि कथितैव भवति । चारित्रमेव ज्ञानदर्शने इति कल्पनाया **'णादूण हवइ परिहारो'** इति पूर्वं ज्ञान पश्चात्परिहार इति अत्र भेदोपन्यास[1] सूत्रकारस्य अघटमान[2] स्यात् । तं चेवेति नपुंसकलिंगनिर्देशश्च न स्यात् । **'सो चेव हवइ णाणं'** इति वक्तव्य भवति परिहारशब्दस्य पुंल्लिंगत्वात् । अथवा कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञाने सत्यकर्तव्याना मिथ्यादर्शन, ज्ञान, असयम, कषाया, योग इत्यमीषा परिहारश्चारित्रमित्येतस्मिन्नर्थे परिगृहीते 'त चेव परिहरणसामान्य चारित्र, ज्ञान दर्शन इत्येकमेवेति । चारित्राराधनायामेव भेदवादिनोऽभिमतस्याराधनाप्रकारस्यान्तर्लीनतया चारित्राराधनैकेवेति सूत्रार्थ ॥

चारित्राराधनायामंतर्भावो ज्ञानदर्शनाराधनयोरेव निगदितो न तपस आराधनाया इत्यत आह—

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो आउंजणा य जो होई ।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स ॥१०॥

'चरणम्मि' चारित्रे । **'तम्मि'** एतस्मिन् अकर्तव्यपरिहरणे । **'जो य उज्जमो'** उद्योग । **'आउंजणा य'** उपयोगश्च । **'जिणेहिं तवो होदित्ति भणिदो'** इति पदघटना । चरणोद्योगोपयोगावेव तपो भवतीति जिनै कृतकर्मारिपराजयैरुक्तमिति यावत् । कृतसुखपरिहारो हि चारित्रे प्रयतते न सुखासक्तचित्तस्ततश्च बाह्यानि

चारित्रकी ज्ञानके साथ अविनाभाविता बतलानेसे श्रद्धानकी भी अविनाभाविता कही गई समझना ।

यदि चारित्रको ही ज्ञान और दर्शनरूप माना जाता है तो 'जानकर परिहार होता है' इस कथनमे जो पहले ज्ञानका और पश्चात् परिहारका भेदरूपसे उपन्यास ग्रन्थकारने किया है वह नही बन सकेगा । तथा 'त चेव' इस पदमे जो नपुसक लिंगका निर्देश किया है वह भी नही बनेगा, किन्तु 'सो चेव हवइ णाण' ऐसा प्रयोग करना होगा क्योकि 'परिहार' शब्द पुल्लिग है और वही चारित्र है ।

अथवा कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होने पर अकर्तव्य जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम, कषाय और योग हैं उनका परिहार चारित्र है, ऐसा अर्थ लेने पर 'त चेव' अर्थात् परिहार-सामान्य ही चारित्र, ज्ञान और दर्शन है इस प्रकार एक ही है । इस प्रकार चारित्राराधनामे ही भेदवादियोको इष्ट आराधनाके प्रकारोका अन्तर्भाव होनेसे चारित्राराधना एक ही है यह इस गाथासूत्रका अर्थ है ॥

भावार्थ—चारित्रके दो प्रकार है—कर्तव्यको स्वीकार करना और अकर्तव्यको त्यागना । ज्ञान और दर्शन पूर्वक हितकी प्राप्ति तथा अहितके परिहाररूपसे परिणत चैतन्य ही ज्ञान और दर्शनरूप है । अत चारित्रका ज्ञान और दर्शनके साथ अविनाभाव होनेमे चारित्रमे दोनोका अन्तर्भाव होता है ॥ ९ ॥

चारित्राराधनामे ज्ञानाराधना और दर्शनाराधनाका ही अन्तर्भाव कहा है, तप आराधनाका नही कहा । अत कहते है—

गा०—उस अकर्तव्यके त्यागरूप चारित्रमे जो उद्योग है और उपयोग होता है, उन उद्योग और उपयोगको ही छल कपट त्यागकर करने वालेका जिनेन्द्रदेवने तप कहा है ॥ १० ॥

टी०—उस अकर्तव्यके परिहाररूप चारित्रमे जो उद्योग और उपयोग है जिनदेवने उसे तप कहा है । अर्थात् चारित्रमे उद्योग और उपयोग ही तप है, ऐसा कर्मरूपी शत्रुओको पराजित करने

---

१ भेदोप नासने–आ० । २. अघटमानं–आ० ज० ।

तपांसि चारित्रप्रारंभ प्रति परिकरतामुपयान्तीति । तथा च वक्ष्यति **'बाहिरतवेण होदि खु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता'** इति । तथा स्वाध्यायश्रुतभावना पचविधा तत्र वर्तमानश्चारित्रे परिणतो भवति । **तथा च वक्ष्यति 'सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणमदि'** त्ति । परिणाम एव उपयोग । 'कृतातिचारजुगुप्सापुर सर वचनमालोचनेति' अकर्तव्यपरिहरणोपयोग कथ न चारित्रं ? कृतातिचारस्य यतेस्तदतिचारपराङ्मुखता योगत्रयेण हा दुष्ट कृतं चिंतितमनुमत चेति परिणाम प्रतिक्रमणम् । उभय चरणोपयोग । एवमतिचारनिमित्त-द्रव्यक्षेत्रादिकान्मनसा अपगतिस्तत्र अनादृतिर्विवेक । इति उपयोगता विवेकस्य दुस्त्यजशरीरममत्वनिवृत्तिर्मेद शरीरं न भवति नाहमस्येति भावना सा च परिग्रहपरित्यागोपयोग एवेति चारित्रम् । तपसोऽनशनादेश्चारित्रपरिकरतोक्तैव । सातिचारं चारित्रमचारित्रमेवेति बुद्धया निश्चित्यात्मनो, न्यूनतापादन, क्रियास्वभ्युत्थानवन्दनादिकासु असयमपरिहारेण वृत्तेश्चारित्रपरिकर । पुन प्रव्रज्यादानमपि चारित्रोपयोग एवेति । विनयस्तु पच प्रकार ज्ञानदर्शनविनययोर्ज्ञानदर्शनपरिकरतया तदुपयोगरूपतया च ज्ञानदर्शनाभ्यामभेदात्तद्वदेव चारित्राराधनातर्भाव ।

इन्द्रियविषयस्य रागद्वेषयो कषायाणा च परित्याग , अयोग्यवाक्कायक्रियायास्त्याग , ईर्यादिषु निरवद्या च वृत्तिश्चारित्रोपयोग एवेति चारित्रे विनयस्यान्तर्भाव । तपोऽधिके तपसि च भक्ति . अनासादना च

वाले जिनदेवने कहा है । जो सुखको त्यागता है वही चारित्रमे प्रयत्नशील होता है, जिसका चित्त सुखमे आसक्त है वह चारित्र धारण नही कर सकता । अत बाह्य तप चारित्रको प्रारम्भ करनेमे सहायक होते है । आगे कहेगे—'बाह्य तपसे समस्त सुखशीलता छूट जाती है' । तथा स्वाध्यायके पाँच भेद पाँच श्रुत भावनारूप हैं । जो उसमे प्रवृत्ति करता है वह चारित्रमे प्रवृत्ति करता है । आगे कहेगे—'श्रुतभावनासे ज्ञान, दर्शन, तप और संयमरूप परिणत होता है ।' परिणामका ही नाम उपयोग है । किये हुए दोषोंके प्रति ग्लानि पूर्वक जो वचन होता है वह आलोचना है । तब अकर्तव्यके त्यागमे जो उपयोग होता है वह चारित्र क्यो नही है । जिस साधुने अपने व्रतोमे दोष लगाया है उसका उन दोषोसे विमुख होकर, हाँ, मैने बुरा किया, या बुरा विचारा या उसमे अनुमति दी, इस प्रकारके परिणामोको प्रतिक्रमण कहते है । आलोचना और प्रतिक्रमणको उभय कहते है । अतिचारमे निमित्त द्रव्य, क्षेत्र आदिका मनसे हटाना, उनमे अनादर भावका होना विवेक प्रायश्चित्त है । इस प्रकार विवेककी उपयोगिता है । जिसको छोडना कठिन है उस शरीरसे ममत्व न करना 'यह शरीर मेरा नही है, न मै इसका हूँ' इस प्रकारकी भावना व्युत्सर्ग है वह भी परिग्रहके त्यागरूप उपयोग ही है अत. चारित्र है ।

अनशन आदि तप चारित्रके परिकर है—उसके सहायक है, यह पहले कहा ही है सदोप चारित्र अचारित्र ही है ऐसा बुद्धिके द्वारा निश्चित करके आत्मामे पूर्णताका लाना, खडे होना, वन्दना आदि क्रियाओमे असयमका परिहार करते हुए प्रवृत्त होना, ये सब भी चारित्रका परिकर है । दोष लगाने पर पुन. दीक्षा ग्रहण करना भी चारित्रमे उपयोग ही है । विनयके पाँच भेद है । उनमेसे ज्ञानविनय और दर्शनविनय ज्ञान और दर्शनके परिकर होनेसे तथा ज्ञान और दर्शनमे उपयोगरूप होनेसे ज्ञान और दर्शनसे अभिन्न है अत ज्ञान और दर्शनकी तरह उनका अन्तर्भाव चारित्राराधनामें होता है ।

इन्द्रियोंके विषयोमे राग द्वेषका तथा कषायोका त्याग, अनुचित वचन और कायकी क्रियाका त्याग, तथा ईर्या समिति आदिमे निर्दोष प्रवृत्ति चारित्रोपयोगरूप होनेसे चारित्रविनयका

परेषा तपोविनय , तं विना सुतपसोऽभावात् तपस• परिकरता ऽस्या सपरिकरं हि तपश्चारित्रस्य परिकर ।' उपयोगो वा नान्या गतिरस्ति[1] (?) मन्यते । '**असढं चरंतस्स**' शाठ्यमतरेण वर्तमानस्य भवेत्तथा च चतुर्विधा, द्विविधा, एकविधा, वा आराधना स्यात् कस्मान्न निरूप्यते ।

पुरुषो हि प्रेक्षापूर्वकारी प्रयोजनायत्तचेष्ट सति प्रयोजने तत्साधनाय प्रयतते नान्यथा, तत्कथमियमाराधना व्याख्या प्रयोजिका[2] श्रवणस्येत्याशकाया, निर्वाणसुखस्याव्याबाधात्मकस्य पुरुषार्थस्योपायत्वप्रदर्शनेन आराधनाव्याख्या तदर्थिनामुपयोगिनी इत्येतत्प्रतिपादनायोत्तरप्रबंध' । अथवा व्यार्वणितविकल्पा या आराधना तस्या चेष्टा कर्तव्येत्येतदाख्यानायोत्तरसूत्राणि, तथा चोपमहार• '**कादव्वा खु तदत्थं आदहिदगवेसिणा चेठ्ठा**' इति ॥

अन्येऽत्र व्याचक्षते ज्ञानदर्शनचारित्रेषु किं प्रधानमिति चोद्ये चारित्रप्राधान्यख्यापनायोत्तरसूत्रमिति तदयुक्तम्—

णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं ।
चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं ॥११॥

'**णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं जहाखादं**' इत्युक्ते ज्ञानदर्शनाभ्या प्रधान चारित्र इति प्रतीतेरनु-

---

अन्तर्भाव चारित्रमें होता है । विशिष्ट तपस्वियोमे और तपमे भक्ति तथा दूसरोंकी आसादना न, करना तपविनय है । उसके बिना सम्यक् तप नही हो सकता । अत तपविनय तपका परिकर है । और अपने परिकरके साथ तप चारित्रका परिकर है । उसके बिना गति नही है । जो कपट त्याग कर ऐसा करता है उसीके यह तप होता है । इस प्रकार आराधनाके चार, दो और एक भेद है ।

भावार्थ—चारित्र वही धारण करता है जो सुखको त्याग देता है । चारित्रमे उद्यम करना बाह्य तप है । इस तरह बाह्य तप चारित्रका परिकर है उसकी सहायक सामग्री है । और चारित्ररूप परिणाम अन्तरग तप है । अन्तरग तपके भेद प्रायश्चित्त आदि पाप प्रवृत्तियोको दूर करते है अत तप चारित्रसे भिन्न नही है ॥११॥

पुरुष सोच-विचारकर काम करता है । उसकी चेष्टा प्रयोजनके अधीन होती है । प्रयोजन होने पर उसकी सिद्धिके लिये वह प्रयत्न करता है । प्रयोजन न होने पर नही करता । तब यह आराधनाका व्याख्यान कैसे उसका प्रयोजक है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते है बाधारहित मोक्ष सुख पुरुषार्थ है वह पुरुषका प्रयोजन है । जो मोक्ष सुखके अभिलाषी है उनको उसका उपाय बतलानेके लिये आराधनाका कथन उपयोगी है । यह बतलानेके लिए आगेका कथन करते है । अथवा जिस आराधनाके भेदोका कथन किया है उसमे चेष्टा करना चाहिये यह कहनेके लिये आगेका कथन है । इसीलिये ग्रन्थकारने उपसंहारमे कहा है कि आत्महितके अन्वेषकको उसके लिये चेष्टा करना चाहिये—

गा०—ज्ञानका और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र होता है । उस यथाख्यात चारित्रका सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण कहा है ॥ ११ ॥

टी०—अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें कौन प्रधान है ऐसा

---

१ नान्यथास्तिता–आ० मु० । २ प्रयोजिता–आ० मु० ।

पपत्ते' । त्रयाणामपि कर्मापायनिमित्तताऽस्ति वा न वा ? यदि नास्तीत्युच्यते सूत्रविरोधः 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति सूत्रमवस्थितम् । अथोपायताऽस्ति ? परार्थतया गुणत्वं त्रयाणामिति का प्रधानता चारित्रस्य ? ज्ञानदर्शने चारित्रार्थे चारित्रं तु न तदर्थमिति न युक्तं वक्तुं ज्ञानदर्शनयोः साध्यत्वात्तदुपायतया चारित्रस्य चारित्रं तदर्थमिति तस्य किमित्यप्रधानता न भवति ? न हि चारित्रमन्तरेण क्षायिकं ज्ञानं, क्षायिकं वीतरागसम्यक्त्वं चोपजायते । तस्मात्पूर्वोक्त एव उत्तरप्रबंधक्रमः । इदं सूत्रं यथाख्यातचारित्रस्वरूपं तत्फलं च गदितुं आयातम् । णाणस्स दसणस्स य सारो' सारशब्दोऽत्रातिशयितगुणवचनः । तथा प्रयोगः—

"**पढमंचि य विगलियमच्छरेण सुयणेण गहियसारम्मि ।**
दोसं मोत्तूण खलो गेह्णउ कव्वम्मि किं अण्णं ॥" [ ]

प्रथममेव साधुजनेन विगलितमात्सर्येण गृहीतेऽतिशयितगुणे काव्ये दोषं मुक्त्वा खलः किमन्यद्गृह्णाति इति गाथार्थः ॥

ज्ञानदर्शनयोरतिशयितरूपं किं तन्मोहनीयजन्यकलंकरहितं, 'चरणं' चारित्रं । 'हवेत । 'जहाखाद' यथाख्यातं । **तथा चोक्तं—**

'**चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो सम्मोत्ति णिद्दिठ्ठो ॥**
मोहक्खोहविहूणो परिणामो अप्पणो य समो ।" [प्रव० सा० १।७] इति ॥

"मोहो द्विविधो दर्शनमोहश्चारित्रमोहश्च । तत्र दर्शनमोहजन्यं अश्रद्धानं शंकाकांक्षाविचि-

प्रश्न करने पर चारित्रकी प्रधानता बतलानेके लिये यह गाथासूत्र कहा है । किन्तु यह अयुक्त है क्योकि 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र है' ऐसा कहने पर 'चारित्र ज्ञान और दर्शनसे प्रधान है' ऐसी प्रतीति नही होती । प्रश्न होता है कि ये तीनों कर्मोके विनाशमे निमित्त है या नही ? यदि कहते हो नहीं है तो सूत्रमे विरोध आता है क्योकि 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है' ऐसा सूत्र है । यदि तीनो मोक्षके उपाय हैं तो परार्थ-परके लिये होनेसे तीनो गौण हो जाते है तब चारित्रकी प्रधानता कैसी ? यदि कहोगे कि ज्ञान और दर्शन चारित्रके लिये है चारित्र ज्ञानदर्शनके लिये नही है, तो ऐसा कहना युक्त नही है क्योकि साध्य ज्ञान और दर्शन है । उनकी सिद्धिका उपाय चारित्र है । अतः चारित्र ज्ञान दर्शनके लिये है तब वह अप्रधान क्यो नही हुआ ? चारित्रके बिना न तो क्षायिक ज्ञान होता है और न क्षायिक वीतराग सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । इसलिये जो पूर्वमे उत्तरगाथाके क्रमके सम्बन्धमे कहा है वही युक्त है । यह गाथासूत्र यथाख्यात चारित्रका स्वरूप और उसका फल कहनेके लिये आया है ।

'णाणस्स दसणस्स य सारो' यहाँ सार शब्द सतिशय गुणका वाचक है । इस अर्थमे उसका प्रयोग देखा जाता है । किसी कविने कहा है—प्रथम ही मात्सर्य भावसे रहित साधुजनोके द्वारा काव्यका सार ग्रहण कर लिये जाने पर दोषके सिवाय दुर्जन और क्या ग्रहण करे । यहाँ 'सार' शब्दका प्रयोग सातिशय गुणके अर्थमे ही किया गया है ।

प्रश्न होता है कि ज्ञान और दर्शनका सातिशय रूप क्या है ? तो वह है मोहनीयसे उत्पन्न होने वाले कलंकसे रहित यथाख्यात चारित्र । कहा है—

'निश्चयसे चारित्र धर्म है और धर्म समभावको कहा है । तथा मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम सम है । मोहके दो भेद है—दर्शनमोह और चारित्रमोह । उनमेंसे दर्शनमोहसे

किरसान्यदृष्टिप्रशसासस्तवरूप । चारित्रमोहजन्यौ रागद्वेषौ तदनुन्मिश्रं ज्ञानं दर्शनं च यथाख्यातचारित्र-मित्युच्यते" इति सूत्रार्थ. । **'चरणस्स'** चारित्रस्य, **'तस्स'** तस्य, यथाख्याताख्यस्य, **'सारो'** अतिशयित फलं साध्यसाधनलक्षणसबंधनिमित्ता षष्ठीय तेन साध्यफलं लब्धं, सारशब्दस्तु तस्यातिशयमाचष्टे । ततोऽयमर्थो जात· यथाख्यातचारित्रस्य फलमतिशयितमिति । **कि तत् 'णिव्वाणं' निर्वाणं विनाशः । तथा प्रयोगः**—निर्वाण· प्रदीपो नष्ट इति यावत् । विनाशमामान्यमुपादाय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दस्य चरणशब्दस्य निर्जातकर्मशातन-सामर्थ्याभिधायिन· प्रयोगात्कर्मविनाशगोचरो भवति । स च कर्मणा विनाशो द्विप्रकार , कतिपयप्रलय सकल-प्रलयश्च । तत्र द्वितीयपरिग्रहमाचष्टे—**'अणुत्तरमिति'** न विद्यतेऽन्यदुत्तरमधिक अस्मादित्यनुत्तर । **'भणिदं'** उक्त **'पवयण'** इति शेष ।

अथवा ज्ञानश्रद्धानयो फल दु खहेतुक्रियापरिहार । यदत्र[1] च फल तत्र सन्निहितो हेतुस्ततश्चारित्राराधनाया इतरान्तर्भाव[2] इत्यायातमिद सूत्र **'णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जधाखादं'** इति ॥ पापक्रिया दु खहेतु तत्परिहारश्च अमति ज्ञाने श्रद्धाने वा न सभवति, क्वचिन्मनसो रजन अप्रीतिर्वा पापक्रियाभिनव-कर्मसवरण चिरतननिरास च विदधाति चरणमदो युक्तमुच्यते **'चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं'** इति ।

अश्रद्धान उत्पन्न होता है । आत्मा, मोक्ष आदिके अस्तित्वमे शङ्काका होना, विषयभोगोंकी इच्छा, धर्मात्माको देखकर ग्लानि, मिथ्यादृष्टीकी मनसे प्रशसा और वचनसे स्तुति करना, ये सब उस अश्रद्धानके रूप है । चारित्रमोहसे राग-द्वेष उत्पन्न होते है । उनसे रहित ज्ञान और दर्शनको यथाख्यात चारित्र कहते है । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

उस यथाख्यात नामक चारित्रका सार अर्थात् सातिशय फल । यहाँ यह षष्ठी विभक्ति साध्य-साधनरूप सम्बन्धके निमित्तको लेकर है । उससे साध्यफलका बोध होता है । और 'सार' शब्द उसके अतिशयको कहता है । अत यह अर्थ हुआ कि यथाख्यात चारित्रका सातिशयफल निर्वाण है । निर्वाणका अर्थ विनाश है । कहा जाता है दीपकका निर्वाण हो गया अर्थात् दीपक नष्ट हो गया । इस तरह यद्यपि निर्वाण शब्दका अर्थ विनाशमात्र है तथापि उत्पन्न हुए कर्मोंको नष्ट करनेकी शक्तिवाले चारित्र शब्दका प्रयोग होनेसे कर्मोका विनाश अर्थ लिया जाता है । कर्मोंका विनाश दो प्रकारका है—कुछ कर्मोका विनाश और सब कर्मोका विनाश । यहाँ दूसरेका ग्रहण किया है क्योकि 'अणुत्तर' शब्दका प्रयोग किया है । जिससे अधिक कोई नही है उसे अनुत्तर कहते है । 'भणिद' अर्थात् आगममे कहा है ।

अथवा श्रद्धान और ज्ञानका फल दु खकी कारण क्रियाओका त्याग है । यहाँ जो फल है त्याग उसमे उसके हेतु ज्ञान और दर्शन समाविष्ट है । अत चारित्राराधनामे अन्य आराधनाओका अन्तर्भाव होनेसे 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यातचारित्र है' यह गाथा सूत्र आया है ।

पापकर्म दुःखके कारण है । उनका त्याग ज्ञान और श्रद्धानके विना सम्भव नही है । किसीमें मनका अनुरक्त होना और किसीसे द्वेष करना पापक्रिया है । चारित्र नवीन कर्मोके आनेको रोकता है और पुराने कर्मोका विनाश करता है । अत उचित ही कहा है कि उस चारित्रका सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण है ॥११॥

भावार्थ—रागद्वेषसे रहित ज्ञान और दर्शनको ही आगममें यथाख्यात चारित्र कहा है । उसका सार निर्वाण अर्थात् समस्त कर्मोका विनाश है । निर्वाणसे उत्कृष्ट अन्य नही है ॥११॥

१ यस्तच्च–आ० मु० । २. इतरेतरान्त–आ० मु० ।

यज्ज्ञान दु:खहेतुनिराकरणफलमित्यस्यान्वयप्रसाधनाय दृष्टान्तमाह—

चक्खुस्स दंसणस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहरणं ।
चक्खू होइ णिरत्थं दठ्ठूण बिले पडंतस्स ॥१२॥

'**चक्खुस्स दसणस्स य सारो**' इति । '**चक्खुस्स**' चक्षुष । द्रव्येन्द्रियमिह चक्षुरिति गृहीत निर्वृतिरुपकरणं च तज्जन्यत्वाद्रूपगोचर विज्ञान दर्शन तस्य सबधितयोच्यते । ततोऽयमर्थो जायते-चक्षुर्जन्याया· प्रतीतेः सारो फल कि '**सप्पादिदोसपरिहरणं**' सर्पकटकादीना स्पर्शनादिक्रियाया दु खदायिन्या परिहार सर्पादिभि सपाद्यत्वात् स्पर्शनभक्षणादिक क्रियाविशेष सर्पादिदोष इत्युच्यते, तस्य परिहरण परिवर्जन ततोऽय वाक्यार्थ —यज्ज्ञान तद्दु खनिराकरणफल यथा चक्षुर्जन्यसर्पादिगोचरज्ञान सर्पादिस्पर्शनभक्षणादिपरिहरणफलमिति । चक्षुर्ज्ञानमिह चक्षुरुच्यते चक्षु प्रसूत ज्ञान । '**होदि**' भवति । '**णिरत्थं**' निरर्थक । '**दठ्ठूण**' दृष्ट्वा ज्ञात्वा बिलादिकमग्रत स्थित, बिलग्रहणमुपलक्षण उपघातकारिणाम् । '**पडतस्स**' पतत पुरुषस्य ।

अत्रापरा व्याख्या—ज्ञानादर्शनाच्चात्मापकारिविशिष्टफलदायिचारित्र इत्युक्त । ननु ज्ञानमिष्टानिष्टमार्गोपदर्शि तद् युक्त ज्ञानस्योपकारित्वमभिधातु इति चेन्न ज्ञानमात्रेणेष्टार्थसिद्धि , यतो ज्ञान प्रवृत्तिहीन असत्सम । अत्र वस्तुनि दृष्टान्तदर्शनेन निगमयति—'**चक्खुस्स दसणस्स य**, इति । ज्ञानदर्शनाभ्यामपि चारित्रस्यात्मोपकारिता कस्मिन्सूत्रे निगदिता येनोक्तमित्युच्यते । अतीतसूत्र इति चेतन्मिथ्या **णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं**' । इत्यतो वाक्यात्कि ज्ञानदर्शनाभ्या चारित्रमेवोपकारीत्यय प्रत्ययो

दु:खके कारणोको दूर करना ज्ञानका फल है इस अन्वयकी सिद्धिके लिए दृष्टान्त कहते है—

गा०—चक्षुसे देखनेका सार सर्प आदि दोषोसे दूर रहना है । देखकर भी आगे वर्तमान साँपके बिलमे गिरनेवाले मनुष्यकी आँख व्यर्थ है ॥१२॥

टी०—यहाँ 'चक्षु' से निर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रियका ग्रहण किया है । उससे उत्पन्न और रूपको जाननेवाले ज्ञानको यहाँ दर्शन कहा है । उससे यह अर्थ होता है—चक्षुसे होनेवाले ज्ञानका फल सर्प, कण्टक आदिकी दु ख देनेवाली क्रिया—काटना या पैरमे लगना आदिसे बचना हैं । गाथामे सर्पादिदोषसे बचना है । सो सर्प आदिके द्वारा किये जानेवाले स्पर्शन, काटना आदि क्रिया विशेषको सर्पादिदोष कहा जाता है । उसका परिहार फल है । तब वाक्यका अर्थ यह हुआ—जो ज्ञान है उसका फल दु खका निराकरण है । जैसे चक्षुसे होनेवाले सर्पादिके ज्ञानका फल सर्पादिके स्पर्शसे उनके काटने आदिसे बचना है । यहाँ चक्षुसे चक्षुज्ञान अर्थात् चक्षुसे होनेवाला ज्ञान लेना चाहिए । आगे स्थित साँपके बिल आदिको देखकर भी, जानकर भी, उसमें गिरनेवाले मनुष्यका, चक्षुज्ञान, निरर्थक है ।

इस गाथाकी अन्य व्याख्याकार इस प्रकार व्याख्या करते है—'ज्ञान और दर्शनसे चारित्र आत्माका विशेष उपकारी और विशिष्ट फलदायी है ऐसा कहा है । यदि कोई कहता है कि ज्ञान इष्ट और अनिष्टमार्गका दर्शक है अत उसको उपकारी कहना युक्त है । तो उसका यह कहना ठीक नही है क्योकि ज्ञानमात्रसे इष्टकी सिद्धि नही होती, आचरणहीन ज्ञान 'न हुए' के समान है । यहाँ दृष्टान्तके द्वारा उसका समर्थन करते है 'चक्खुस्स दंसणस्स' इत्यादि ?

इन व्याख्याकारसे हम पूछते है कि ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्र आत्माका विशेष उपकारी है यह किस गाथासूत्रमे कहा है ? यत आप कहते हैं—'कहा है' । यदि कहोगे कि पिछले

जायते ? एवमिति तदनुभवविरुद्धमाचरतीत्युपेक्ष्यते, न चेत्कथमुक्तमित्युच्यते। किंच तस्य सूत्रस्य या पातनिका कृता ज्ञानदर्शनचारित्रेषु किं प्रधानमित्यत्र प्रश्ने, प्रधानस्य निरूपणार्थं सूत्रमित्यनया च विरुध्यते।

चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं' इत्युक्तं चारित्रस्य समतारूपस्य फलमशेषकर्मापाय इत्युक्तं। कर्मापायो हि कथं पुरुषार्थः दुःखनिवृत्तिः सुखं चाभिमतं फलमित्यारेकायां प्रधानपुरुषार्थस्य अखिल-बाधाव्यपगमरूपस्य सुखस्य निबंधनतयोपयोगितामाचष्टे सकलकर्मापायस्य—

णिव्वाणस्स य सारो अव्वाबाहं सुहं अणोवमियं ॥
कायव्वा हु तदट्ठं आदहिदगवेसिणा चेट्ठा ॥१३॥

'**णिव्वाणस्स य सारो**' इति। निरवशेषकर्मापायस्य सारं फलं। **अव्वाबाहं** कर्मजन्यसकलदुःखापाय कारणाभावे कार्यस्य अनुत्पत्तेः। '**अणोवमियं**' उपमातीतं। '**कायव्वा**' कर्तव्या। '**चेट्ठा**' चेष्टा। '**तदट्ठं**' अव्याबाधसुखार्थम्। '**आदहिदगवेसिणा**' आत्महितं मृगयता। क्व चेष्टा कार्या ? आराधनायां मृतावनतिचार-ज्ञानदर्शनचारित्रपरिणतिरूपायां। कस्मात् ?

जम्हा चरित्तसारो भणिया आराहणा पवयणम्मि।
सव्वस्स पवयणस्स य सारो आराहणा तम्हा ॥१४॥

'**जम्हा**' यस्मात् '**चरित्तसारो**' चारित्रस्य ज्ञाने दर्शने पापक्रियानिवृत्तौ च प्रयतस्य, चरणं प्रवृत्ति

गाथासूत्रमे कहा है तो यह मिथ्या कथन है 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र है' इस वाक्यसे 'ज्ञान और दर्शनसे चारित्र विशेष उपकारी है' ऐसा बोध होता है क्या ? यदि कहोगे 'होता है' तो आपका आचरण अनुभव विरुद्ध है अतः वह उपेक्षणीय है। यदि कहोगे 'नही होता' तो आपने ऐसा क्यों कहा ?

दूसरे, उस गाथासूत्रकी जो उत्थानिका है उसमे 'ज्ञान दर्शन चारित्रमे कौन प्रधान है' ऐसा प्रश्न करनेपर प्रधानका कथन करनेके लिए गाथासूत्र कहते है ऐसा कहा है, उससे भी विरोध आता है ॥१२॥

'चरणस्स तस्स सारो' इत्यादिमे समतारूप चारित्रका फल समस्त कर्मोका विनाश कहा है। किन्तु कर्मोका विनाश पुरुषार्थ कैसे है ? दुःखकी निवृत्ति और सुखको फल कहा है ऐसी आशङ्का होनेपर ग्रन्थकार प्रधान पुरुषार्थ जो बाधारहित सुख है, उसका कारण होनेसे समस्त-कर्मोके विनाशकी उपयोगिता बतलाते है—

गा०—निर्वाणका सार बाधारहित उपमारहित सुख है। अतः आत्महितके खोजीको उस अव्याबाध सुखकी प्राप्तिके लिए चेष्टा करना चाहिए ॥१३॥

टी०—समस्तकर्मोके विनाशका फल कर्मजन्य समस्त दुःखोसे रहित, उपमारहित सुख है। अतः आत्महितके खोजीको, उस बाधारहित सुखके लिये, चेष्टा करना चाहिए। अर्थात् निरतिचार ज्ञानदर्शनचारित्रकी परिणतिरूप आराधनाको अपनाना चाहिए ॥१३॥

गा०—क्योकि प्रवचनमे चारित्रका फल आराधना कहा है। इसलिए समस्त प्रवचनका सार आराधना ही है ॥१४॥

टी०—ज्ञानमें, दर्शनमें, और पापकर्मसे निवृत्तिमें जो प्रयत्नशील है उसकी परिणतिको

परिणतिरिह चारित्रशब्देन गृहीता, ततोऽयमर्थो लब्ध 'सारः' फलमिति । 'भणिदा' कथिता ! 'आराहणा' आराधना मतो अनतिचाररत्नत्रयता । 'पवयणम्मि' प्रोच्येत दृष्टेष्टप्रमाणाविरुद्धेन जीवादय पदार्था अनेनास्मिन्वेति प्रवचन जिनागमस्तस्मिन् । अतिशयवत्ताराधनाया प्रक्रान्ताया उपसहरत्युत्तरार्द्धेन सव्वस्स इत्यादिना । 'सव्वस्स' समस्तस्य । 'पवयणस्स' जिनागमस्य । 'सारो' अतिशय । 'आराहणा' आराधना व्यावर्णितरूपा । 'तम्हा' तस्मात् । च शब्द एवकारार्थ । स चाराधनाशब्दात्परतो द्रष्टव्य आराधनैव सार इति ।

अन्यत्र व्याख्या—यदिदमुक्त फल एतच्चारित्रमात्रादुत विशिष्टाज्जायते इत्याह—**जम्हा चरित्तसारो** इति । कि पातनिकार्थो गाथाया सवादमुपयाति न वेतीत्यत्र श्रोतार प्रमाण ॥१४॥

कस्मात् ? अतिशयवत्त्वयाराधनागमेऽभिहिता यस्मात्—

सुचिरमवि णिरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते ॥
मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ दिट्ठो ॥१५॥

'**सुचिरं**' अतिचिरकालमपि । '**णिरदिचार**' अतिचारमतरेण । '**विरहित्ता**' विहृत्य । क्व ? '**णाणदंसणचरित्ते**' ज्ञाने श्रद्धाने समतायां च । '**मरणे**' भवपर्यायविनाशकाले । विराधयित्ता रत्नत्रयपरिणामान्विनाश्य मिथ्यादर्शनेऽज्ञानेऽसयमे परिणतो भूत्वा । '**अणंतससारिओ**' अनतभवपर्यायपरिवर्तने उद्यत । '**दिट्ठो**' दृष्ट । देशोन पूर्वकोटीकाल अनतिचाररत्नत्रयप्रवृत्तानामपि मरणकाले तत प्रच्युताना मुक्त्यभाव ससारे चिरपरिभ्रमणकथनव्याजेन दर्शन दर्शयति सूत्रकार ॥१५॥

यहाँ चारित्रशब्दसे ग्रहण किया है । तब यह अर्थ प्राप्त होता है कि चारित्रका फल, प्रवचनमे—जिसके द्वारा अथवा जिसमे जीवादिपदार्थ प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अविरुद्ध कहे जाते है वह प्रवचन अर्थात् जिनागम है उसमे, आराधनाको कहा है । गाथाके उत्तरार्धद्वारा प्रकरण प्राप्त आराधनाकी अतिशयवत्ताका उपसंहार करते है—इस कारण से समस्त जिनागमका सार आराधना है । गाथामे जो 'य' च शब्द है वह एवकार (ही) के अर्थमे है और उसे आराधना शब्दके आगे लगाना चाहिए अर्थात् जिनागमका सार आराधना ही है ।

अन्यत्र इस गाथाकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—यह जो फल कहा है वह चारित्र सामान्यसे प्राप्त होता है या विशिष्टचारित्रसे प्राप्त होता है । इसके उत्तरमे आचार्यने 'जम्हा चरित्तसारो' आदि गाथा कही है । हमारा प्रश्न है कि इस आपकी उत्थानिकाके अर्थका गाथाके साथ मेल खाता है क्या ? इस विषयमे श्रोतागण ही प्रमाण है । हम अधिक क्या कहे ॥१४॥

आगममे आराधनाकी अतिशयवत्ता क्यो कही है इसका समाधान करते है—

गा०—ज्ञान श्रद्धान और चारित्रमे बहुत कालतक भी अतिचार विना विहार करके मरणकालमे विराधना करके अनन्तभव धारण करनेवाला देखा गया है ॥१५॥

टी०—ज्ञानमे, दर्शनमें और समतारूप चारित्रमे सुदीर्घकालतक अतिचार रहित विहार करके भी अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्रका निर्दोष पालन करके भी जब उस पर्यायके विनाशका समय आवे अर्थात् मरते समय यदि रत्नत्रयरूप परिणामोको नष्ट करके मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असयमरूप परिणामोको अपनावे तो उसका ससार अनन्त होता है । अर्थात् कर्मभूमिमें मनुष्यपर्यायकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटी होती है । आठ वर्षकी अवस्थाके पश्चात् सयम धारण करके कुछ कम एक पूर्वकोटिकालतक उसका निरतिचार पालन किया । किन्तु मरणकाल आनेपर

अनुपगतमिथ्यात्वस्य अविचलितचारित्रस्यापि परीषहपरिभवादुपगतसंक्लेशस्य महती संसृतिरिति भयोपदर्शनेन संक्लेश परित्याज्य इति निगदति सूत्रकार **'समिदीसु य'** इत्यादिना—

समिदिसु य गुत्तीसु य दंसणणाणे य णिरदिचाराणं ।
आसादणबहुलाणं उक्कस्सं अंतरं होई ॥ १६ ॥

अन्ये व्याचक्षते—"उक्तस्यानंतसंसारस्य प्रमाणप्रतिपादनाय आयाता गाथा अनंतस्यानंतविकल्पत्वात् अनंतविशेष प्रतिपादनीय" इति । अस्या व्याख्यायां **उक्कस्सं अंतर होदी**त्येतावदुपयुज्यते । इतरस्य वचनसंदर्भस्य अनर्थकत्वं प्रसज्यत इति । समिदीसु य **सम्यगयनादिषु अयनं समितिः**, सम्यक्श्रुतज्ञाननिरूपितक्रमेण गमनादिषु वृत्ति समिति । **सावद्ययोगेभ्य आत्मनो गोपनं गुप्ति** । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धान दर्शन । अपेतमिथ्यात्वकलङ्कस्यात्मनो वस्तुतत्त्वपरिज्ञान मत्यादिक्षायोपशमिक ज्ञान । क्षायिके मति ज्ञाने आसादनाया असंभव । मोहजन्यत्वात्संक्लेशस्य, मोहस्य च केवलज्ञानोत्पत्ते प्रागेव विनष्टत्वात् । तथा चोक्त—**'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्'** [त० सू० १०।१] इति । वीतरागसम्यक्त्वं चेह न गृहीतम् । मोहप्रलय-

---

उससे च्युत हो गया तो संसारमे चिरकालतक भ्रमण करना पडता है । इस चिरकाल परिभ्रमणके बहानेसे सूत्रकार उसकी मुक्तिका अभाव बतलाते है ॥१५॥

जो मिथ्यात्वभावको प्राप्त नही हुआ है जिसका चारित्र भी निश्चल है फिर भी यदि वह परीषहसे घबराकर सक्लेशभावको प्राप्त होता है तो उसका संसार सुदीर्घ है, ऐसा भय दिखलाकर ग्रन्थकार सक्लेशको त्यागनेका उपदेश देते हैं—

गा०—समितियोमे और गुप्तियोमे और दर्शन और ज्ञानमे जो अतिचार रहित प्रवृत्ति करते हैं । किन्तु मरणकाल आने पर परीषहके भयसे समिति आदिमे बारम्बार दोष लगाते हुए सक्लेश परिणाम करते है उनका अर्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर होता है । अर्थात् मरते समय रत्नत्रयसे च्युत होकर पुन उतना काल बीतने पर रत्नत्रय प्राप्त करते है ॥१६॥

टीका—अन्य व्याख्याकार कहते है कि 'ऊपर जो अनन्त संसार कहा है उसका प्रमाण बतलानेके लिए यह गाथा आई है । क्योकि अनन्तके अनन्त भेद होते है अत अनन्तविशेषका कथन करना आवश्यक था । इस व्याख्यामे 'उत्कृष्ट अन्तर होता है' गाथा के इस अन्तिम चरणकी उपयुक्तता तो होती है, किन्तु शेष वचन रचना निरर्थक पड जाती है । अस्तु ।

सम्यक् अयनको समिति कहते है । सम्यक् अर्थात् श्रुतज्ञानमे कहे गये क्रमके अनुसार चलने आदिमे प्रवृत्ति करना समिति है । सावद्य योगोसे अर्थात् सदोष मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षण करना गुप्ति है । वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । मिथ्यात्वरूप कलकसे रहित आत्माके वस्तुतत्त्वके परिज्ञानको मति आदिरूप क्षायोपशमिक ज्ञान कहते है । यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानको ही लेनेका हेतु यह है कि क्षायिकज्ञानके होते उसमे दोष लगाना असम्भव है । क्योकि सक्लेश मोहके उदयसे होता है और मोहकर्म केवलज्ञानके उत्पन्न होनेसे पहले ही नष्ट हो जाता है । कहा भी है—'मोहके क्षयसे तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान होता है ।'

यहाँ दर्शनसे वीतराग सम्यक्त्वका ग्रहण नही किया गया है क्योकि मोहका नाश हुए विना वीतरागता नही होती ।

मन्तरेण वीतरागता नास्तीति । ईर्यासमितेरतिचार मदालोकगमन, पदविन्यासदेशस्य सम्यगनालोचनम्, अन्यगतचित्तादिकम् । इद वचन मम गदितु युक्त न वेति अनालोच्य भाषण, अज्ञात्वा वा । अत **एवोक्तं 'अपुट्ठो दु ण भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे'** इति । अपुष्टश्रुतधर्मतया मुनि अपुष्ट इत्युच्यते । भाषासमिति-क्रमानभिज्ञो मौनं गृह्णीयात् इत्यर्थ । एवमादिको भाषासमित्यतिचार । उद्गमादिदोषे गृहीत भोजनमनुमनन वचसा, कायेन वा प्रशसा, तैः सहवास, क्रियासु प्रवर्तन वा एषणासमित्यतीचार । आदातव्यस्य, स्थाप्यस्य, वा अनालोचन, **किमत्र जतवः सन्ति न सन्ति वेति दुःप्रमार्जनं च आदाननिक्षेपणसमित्यतिचारः ।** कायभूम्यशोधन, मलसपातदेशानिरूपणादि, पवनसनिवेशदिनकरादिषूत्क्रमेण वृत्तिश्च प्रतिष्ठापनासमित्यतिचार । असमाहितचित्ततया कायक्रियानिवृत्ति कायगुप्तेरतिचार । एकपादादिस्थानं वा जनसचरणदेशे, अशुभध्यानाभिनिविष्टस्य वा निश्चलता । आप्ताभासप्रतिविबाभिमुखतया वा तदाराधनाव्यापृत इवावस्थान । सचित्तभूमौ सपतत्सु समंतत अशेषेषु महति वा वाते हारितेषु, रोषाद्वा दर्पाद्वा तूष्णी अवस्थान निश्चला स्थिति. कायोत्सर्ग कायगुप्तिरित्यस्मिन्पक्षे शरीरममताया अपरित्याग कायोत्सर्गदोषो वा कायगुप्तेरतिचार । रागादिसहिता स्वाध्याये वृत्तिर्मनोगुप्तेरतिचार । [1]**शंकाकाक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दर्शनातीचाराः ।** द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिमतरेण श्रुतस्य पठन श्रुतातिचार । अक्षरपदादीना न्यूनताकरण, अतिवृद्धिकरण, विप-

मन्द प्रकाशमे चलना, पैर रखनेके स्थानको अच्छी तरह न देखना, गमन करते समय चित्तका उपयोग अन्यत्र होना, ये ईर्यासमितिके अतीचार है। यह वचन मुझे कहना युक्त है अथवा नही, ऐसा विचार किये बिना बोलना, या बिना जाने बोलना। इसीमे कहा है—'बोलनेवालेके बीचमे बिना समझे नही बोलना चाहिये।' ऐसे मुनिको जिसने शास्त्रकी बातको पुष्ट रूपसे नही सुना है अपुष्ट कहा है। अपुष्ट मुनिको बीचमें नही बोलना चाहिये। भाषासमितिके क्रमसे जो अनजान है उसे मौन ले लेना चाहिये। इत्यादि भाषा समितिके अतीचार हैं। उद्गम आदि दोष होने पर भी भोजन ले लेना, वचन से उसकी अनुमति देना, कायसे उसकी प्रशसा करना, ऐसे मुनियोंके साथ रहना, या क्रियाओमे उनके साथ प्रवृत्ति करना, एषणासमितिके अतीचार है। जो वस्तु ग्रहण करने योग्य या रखने योग्य है, उसे ग्रहण करते या स्थापित करते समय 'यहाँ जन्तु है या नही' ऐसा नही देखना या पिच्छिकासे सावधानता पूर्वक प्रमार्जन न करना आदाननिक्षेपण समितिके अतीचार है। शरीर और भूमिका शोधन न करना, मलत्याग करनेके स्थानको न देखना आदि प्रतिष्ठापना समितिके अतीचार है। चित्तके असावधान रहते हुए शारीरिक क्रियाका रोकना कायगुप्तिका अतीचार है। जहाँ मनुष्य आते जाते है वहाँ एक पैर आदिसे खड़े होना, अशुभ ध्यानमे लीन होकर निश्चल होना, मिथ्या देवताओकी मूर्तिके सन्मुख ऐसे खडे होना मानों उनकी आराधनामे लगे है, सचित्त भूमिमे जहाँ चारो ओर हरित वनस्पति फैली है, क्रोध या घमण्डसे मौनपूर्वक निश्चल खडे होना कायगुप्तिके अतीचार है।

जो कायोत्सर्गको कायगुप्ति मानते है उनके पक्षमे शरीरसे ममत्वको न छोडना अथवा जो कायोत्सर्गके दोष कहे है वे कायगुप्तिके अतीचार है। स्वाध्यायमे रागादिसहित प्रवृत्ति मनोगुप्तिका अतीचार है। शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियोकी प्रशसा, सस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी शुद्धिके बिना श्रुतका पढना श्रुतका अतीचार है। अक्षर

१. 'शंका''' सम्यग्दृष्टेरतीचारा'—त० सू० ७।२३।

रीतपौर्वापर्यरचनाविपरीतार्थनिरूपणा ग्रथार्थयोर्वैपरीत्य अमी ज्ञानातिचारा । उक्तातिचारविगमो निरतिचारता चारित्रादीनाम् ।

मरणकाले रत्नत्रयपरिणामाभावे दोष उक्त । इदानीमाराधनाफलातिशयख्यापनायाह—

दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी जम्हा खणेण सिद्धा य ॥
आराहया चरित्तस्स तेण आराहणा सारो ॥ १७ ॥

दिट्ठा इत्यादिक । 'दिट्ठा' दृष्टा उपलब्धा । **'अणादिमिच्छादिट्ठी'** अनादिमिथ्यादृष्टय । भद्दणादया राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्ना अत एवानादिमिथ्यादृष्टय प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसारा. समारोपितरत्नत्रया । **'जम्हा'** यस्मात्क्षणेन क्षणग्रहण कालस्याल्पत्वोपलक्षणार्थम्, अन्यथा क्षणस्याल्पकालतया कर्मशातनस्य कर्तुमशक्यत्वात्, सकलकर्मशातनपुरस्सर सिद्धत्वमेव न स्यात् । **'सिद्ध य'** सिद्धाश्च परिप्राप्ताशेषज्ञानादिस्वभावा , चशब्देन निरस्तद्रव्यभावकर्मसहतयश्च, दृष्टा आराधनामपादका । **चरित्तस्स** चारित्रस्य । चारित्रग्रहण रत्नत्रयोपलक्षण । **एतेन चारित्राराधनां स्तौति इत्येतद्व्याख्यान निरस्त ।** चारित्राराधनास्तवनस्य नाय प्रस्ताव । **आयुरंते रत्नत्रमपरिणतिरिह प्रक्रांता स्तोतुं, किमुच्यते चारित्राराधनां स्तौतीति ।**

पद आदिको कम करना या उनको बढाना, आगेको पीछे और पीछेके पाठको आगे करके पौर्वापर्य रचनामे विपरीतता करना, विपरीत अर्थ करना, ग्रन्थ और अर्थमे विपरीतता करना, ये ज्ञानके अतीचार है। चारित्र आदिमे कहे अतिचारोको न लगाना निरतिचारता है।

विशेषार्थ—प० आशाधरने अपने मूलाराधना दर्पणमे लिखा है कि जयनन्दि इस गाथाको पूर्वकी गाथाकी संवादगाथा मानते है ॥१६॥

मरते समय रत्नत्रयरूप परिणामोंका अभाव होनेमे दोष कहा। अब आराधनाके फलका अतिशय कहते है—

गा०—क्योकि रत्नत्रयके आराधक अनादिमिथ्यादृष्टि क्षणमात्रमे अर्थात् अल्पकालमे द्रव्यकर्म भावकर्मसे रहित सिद्ध देखे गये है। इसलिये आराधना सार है ॥१७॥

टीका—भद्दण आदि राजपुत्रोने उसी भवमे त्रसपर्याय प्राप्त की थी। अतएव वे अनादिमिथ्यादृष्टि थे। उन्होने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे धर्मका सार सुनकर रत्नत्रय धारण किया था और क्षणमात्रमे सिद्धत्व पद प्राप्त किया था। यहाँ 'क्षण' शब्दका ग्रहण कालकी अल्पताके उपलक्षणके लिये किया है। अन्यथा 'क्षण' बहुत छोटा काल है उतने कालमे समस्त कर्मोका नाश करना अशक्य है और तब समस्त कर्मोके विनाशपूर्वक होनेवाला सिद्धत्व ही प्राप्त नही हो सकगा। जिन्होने समस्त ज्ञानादिस्वभावको प्राप्त कर लिया है और 'च' शब्दसे द्रव्यकर्म और भावकर्मोके समूहको नष्ट कर दिया है उन्हे सिद्ध कहते है। यहाँ चारित्रका ग्रहण रत्नत्रयका उपलक्षण है।

अत जो 'चारित्राराधनाका स्तवन करते है' ऐसा व्याख्यान करते है उसका निरास कर दिया है। यह प्रकरण चारित्राराधनाके स्तवनका नही है। यहाँ तो आयुके अन्त समयमे रत्नत्रयरूप परिणतिका स्तवन है। तब चारित्राराधनाके स्तवनकी बात क्यो करते है।

भावार्थ—अनादिकालसे मिथ्यात्वका उदय होनेसे नित्यनिगोदपर्यायमे रहकर भद्र-विवर्द्धन आदि ९२३ भरतचक्रवर्तीके पुत्र हुए और उन्होने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे धर्म सुनकर

'सव्वस्स पवयणस्स य सारो आराहणा तम्हा' इति यदुच्यते, यस्मिन्नेव काले मरणं तस्मिन्नेव काले रत्नत्रयपरिणतेन भाव्य हितार्थिना अन्यदा किमिति चारित्रे तपसि स प्रयास क्रियते इति शिष्यशकामुपन्यस्यति सूत्रकार.—

जदि पवयणस्स सारो मरणे आराहणा हवदि दिट्ठा।
किंदाइं सेसकाले जदि जददि तवे चरित्ते य ॥ १८ ॥

जदि पवयणस्स इत्यादिना । **'पवयणस्स'** प्रवचनस्य । **'सारो'** अतिशय इति । **'मरणे'** आयुरन्ते । **'आराहणा'** आराधना रत्नत्रयपरिणति । **'जदि दिट्ठा'** इति पदसबध । यद्युपलब्धा । **'हवदि'** भवेत् । **'किदाइं'** किमिदानी । **'सेसकाले'** मरणकालादन्य काल शेषकालस्तत्र **'जददि'** प्रयतन क्रियते । क्व **'तवे'** तपसि, **'चरित्ते'** सामायिकादिके सावद्यक्रियापरिहारात्मके । चशब्दात् ज्ञानदर्शनयोश्च । एतदुक्त भवति—ग्रहणकालादिषु भावितरत्नत्रयस्यापि मरण तदभावे यदि सिद्धि , अकृतभावनस्यापि मृतौ रत्नत्रयसान्निध्यात्सा सिद्धिर्यदि भवति **मरणधना** सा महती समृतिमावहति । अन्यदा जातायामपि विराधनाया मृतिकाले रत्नत्रयोपगतौ ससारोच्छित्तिर्भवत्येव । ततो मरणकाले प्रयत्न कार्य इत्यस्माभिरुपन्यस्त । इतरकालवृत्त तु रत्नत्रय सवरनिर्जरयोर्घातिकर्मणा च क्षयनिमित्त इतीष्यत एव । **तथा चोक्तं—'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसख्येयगुणनिर्जराः'** [त०सू० ९।४५] इति ।

रत्नत्रय धारण किया और अल्पकालमे ही सिद्धपद प्राप्त किया। इससे सिद्ध होता है कि आयुके अन्तमें आराधना सर्वोत्कृष्ट है ॥१७॥

यदि 'समस्त प्रवचनका सार आराधना है' तो जिस कालमे मरण हो उसी कालमे अपना हित चाहनेवालेको रत्नत्रय धारण करना चाहिए, अन्यकालमे चारित्र और तपमे प्रयास क्यो किया जाये ? शिष्यकी इस शकाको गाथासूत्रकार उपस्थित करते है—

गा०—प्रवचनका अतिशय आयुके अन्तमे आराधना यदि देखी जाती है। तो क्यो इस समय मरणकालमे अन्यकालमे यति तप चारित्र और ज्ञानदर्शनमे यत्न करता है ? ॥१८॥

टीका—गाथामे आये 'च' शब्दमे ज्ञान और दर्शन लेना चाहिए। कहनेका आशय यह है कि मरणकालसे भिन्नकालमे अर्थात् दीक्षा ग्रहण शिक्षाकाल आदिमे रत्नत्रयका पालन करनेपर भी यदि मरणकालमे उसका पालन न किया जाये तो मुक्तिकी प्राप्ति नही होती, और अन्यकालमे रत्नत्रयकी भावना न करके भी मरते समय रत्नत्रय धारण करनेमे वह मुक्ति यदि प्राप्त होती है तब तो मरणकालमे होनेवाला रत्नत्रय ही मोक्षका कारण हुआ। अत शेषकालमे उसका प्रयास करना निष्फल हुआ।

इसका उत्तर देते है—मरण समय जो रत्नत्रयकी विराधना है वह ससारको बहुत दीर्घ करती है। किन्तु अन्यकालमे विराधना होनेपर भी मरते समय रत्नत्रय धारण करनेपर ससारका उच्छेद होता ही है। अत मरणकालमे प्रयत्न करना चाहिए यह हमने कहा है। अन्य कालोमे धारण किया गया रत्नत्रय सवर, निर्जरा और घातिकर्मोंका क्षय करनेमें निमित्त होता है इसलिए उसे हम स्वीकार करते ही है। तत्त्वार्थसूत्रमे कहा है—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, मुनि अनन्तानुबन्धीकषायका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशम श्रेणीवाला, उपशान्तमोह, क्षपकश्रेणिवाला, क्षीणमोह और जिन इनके क्रमसे असंख्यातगुनी असख्यातगुनी निर्जरा होती है।

एतेषामसंख्यातगुणनिर्जरा' सम्यग्दर्शनादिगुणनिमित्तात्कथमफलता। क्षायिक सम्यक्त्व ज्ञानं चारित्रं च यत्साध्यं तदखिलमवाप्यत एव इतरकालवृत्तयापि भावनया।

तदेव चोद्यं चोद्यते इति चेतसि कृत्वा सूरिश्चोद्यानुसारेणापि परिहर्तुं शक्यते इत्याचष्टे—

आराहणाए कज्जे परियम्म सव्वदा वि कायव्वं।
परियम्मभाविदस्स हु सुहसज्झाराहणा होइ ॥ १९ ॥

आराहणाए कज्जे इति। आराधनाशब्द. सम्यग्दर्शनादिपरिणामसम्यसिद्धिमनाश्रितकालभेदा प्रतिपादयितु उद्यतोऽपि मरणे विधायित्ता इत्यत्र मरणकालविशेषस्य प्रस्तुतत्वात् प्रकरणानुरोधेन तद्विषयायामेवाराधनायां गृह्यते। ततोऽयमर्थ —मृतिकालगोचररत्नत्रयसिद्ध्यर्थं '**परियम्मं**' परिकर्म परिकर । '**सव्वदा**' सर्वस्मिन्नपि काले—ग्रहणकाल, शिक्षाकाल, प्रतिसेवनाकाल सल्लेखनाकालश्चेह सर्वशब्देन गृह्यते। '**करणिज्जं**' अवश्यकरणीय। कुतोऽय नियोग इत्याशङ्कयाह—'**परिकम्मभाविदस्स**' 'खु' परिकरेण भावितस्यैव '**खु**' शब्दोऽवधारणार्थ । '**सुखसज्झा**' होदि' सुखेन क्लेशमन्तरेण साध्या भवति। का '**आराधणा**' आराधना मृतिगोचरा।

येन हि यत्साध्य तेन पूर्वं तस्य परिकरोऽनुष्ठेय इत्यमु अर्थ दृष्टातबलेन साधयितुमुत्तरसूत्रम्। तथा च वदति '**दृष्टांतसिद्धावुभयोर्विवादे साध्य प्रसिद्धचेत्**' [स्वयभू० स्तो० ५४] इति।—

जह रायकुलपसूओ जोग्ग णिच्चमवि कुणइ परियम्मं।
तो जिदकरणो जुद्धे कम्मसमत्थो भविस्सदि हि ॥ २० ॥

तो जब इनके सम्यग्दर्शन आदि गुणोके निमित्तसे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है तो वे निष्फल कैसे है ? जो साध्य है क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र वह सब, अन्यकालमे की गई रत्नत्रय भावनासे प्राप्त होता ही है ॥१८॥

उक्त गाथामे उठाये गये तर्कको मनमे रखकर आचार्य तर्कके अनुसार भी उसका परिहार हो सकता है यह कहते है—

गा०—आराधनाके कार्यके लिये परिकर्म सभी कालमे करना चाहिये; क्योकि परिकर्म करने वालेके ही आराधना सुखपूर्वक साध्य होती है ॥१९॥

टी०—यद्यपि आराधना शब्द कालभेदका आश्रय न लेकर सम्यग्दर्शन आदि परिणामोकी सम्यक् सिद्धिको कहता है तथापि १५ वी गाथामे 'मरणे विराधयित्ता' ऐसा कहनेसे मरणकाल विशेषके प्रस्तुत होनेसे प्रकरणके अनुरोधसे मरणकाल सम्बन्धी आराधनाके अर्थमे यहाँ लिया गया है। तब यह अर्थ होता है—मरते समयके रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये सर्वदा, ग्रहणकाल, शिक्षाकाल, प्रति सेवनाकाल और सल्लेखना काल इन सब कालोमे परिकर्म अर्थात् सम्यक्त्वादि अनुष्ठान करना चाहिये, क्योकि जो अन्यकालोमे भी रत्नत्रयके परिकरका पालन करता है उसीके मरते समयकी आराधना सुखपूर्वक होती है ॥१९॥

जो व्यक्ति जिस कामको सिद्ध करना चाहता है उसे पहले उसकी साधन सामग्रीका आयोजन करना चाहिये, इस बातको दृष्टान्तके बलसे साधन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं। क्योकि समन्तभद्र स्वामीने कहा है कि वादी और प्रौर प्रतिवादीमें विवाद हो तो दृष्टान्तकी सिद्धि होने पर साध्यकी सिद्धि होती है—

'जह' यथा । **'रायकुलपसूदो'** राजपुत्र । **'जोग्गं'** योग्य । प्रहरणक्रियाया **'परियम्मं'** परिकर्म परिकर । **'णिच्चमवि'** समरकालात्प्राक् प्रतिदिवसमपि । **'कुणदि'** करोति । **'तो'** तत पश्चात् । **'जिदकरणो'** क्रियते रूपादिगोचरा विज्ञप्तय एभिरिति करणानि इन्द्रियाण्युच्यते क्वचित्करणशब्देन । अन्यत्र क्रियानिष्पत्तौ यदतिशयितं साधक तत्करणमिति साधकतममात्रमुच्यते । क्वचित्तु क्रियासामान्यवचन यथा 'डुकृञ् करणे' इति । अत्र क्रियावाची गृहीत । जितशब्दश्च स्ववशीकरणवृत्तिस्तथा जितभार्य स्ववशीकृतभार्य इति गम्यते। तेनायमर्थ' स्ववशीकृतक्रिय. सन् **'जुद्धे'** युद्धे समरे **'कम्मसमत्थो'** कर्मसमर्थ । कर्मशब्दो ऽनेकार्थ । मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमादकषायैर्ज्ञानप्रतिबधादिसामर्थ्याध्यासितानि क्रियते इति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि । कर्तु क्रियया व्यापक-त्वेन विवक्षितमपि कर्म, यथा **'कर्मणि द्वितीयेति'** । तथा क्रियावचनोऽपि अस्ति, कि कर्म करोषि ? का क्रिया-मित्यर्थ. । इह क्रियावाची गृहीत । सा चात्र क्रियाऽव्यवनप्रहरणताडनादिका तस्या **'समत्थो भविस्सदि'** समर्थो भविष्यामीति । यो यत्साधयितु वाछति स तत्परिकर्मणि प्राक् प्रयतते, यथा रिपून्निहन्तुकामो हनन-कर्मोपाय अस्त्रशिक्षा करोति इत्येतावानर्थो दर्शितोऽनया गाथया ।

इदानी हेतो पक्षधर्मयोजनायाह—

इयसामण्णं साधू वि कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्मं ।
तो जिदकरणो मरणे झाणसमत्थो भविस्सहदि[1] ।। २१ ।।

गा०—जैसे राजपुत्र योग्य शस्त्र प्रहारका अभ्यास युद्धकालसे पहले प्रतिदिन भी करता है । पश्चात् शस्त्र प्रहार रूप क्रियाको अपने अधीन करके युद्ध करनेमे समर्थ होता है ।।२०।।

टी०—जिनके द्वारा रूपादि विषयक ज्ञान किया जाता है उन्हे करण कहते है । इस प्रकार कही 'करण' शब्दसे इन्द्रियाँ कही जाती है । अन्यत्र क्रियाकी निष्पत्तिमे जो सर्वाधिक साधक होता है उसे करण कहते है । साधकतमको करण कहा है । कही पर करण शब्द क्रिया सामान्यका वाचक है जैसे 'डुकृञ् करणे । यहाँ करण शब्द क्रियावाची ग्रहण किया है । और जित' शब्दका अर्थ अपने वशमे करना है । जैसे 'जितभार्य शब्दमे भार्याको अपने वशमे करने वाले पुरुषका बोध होता है । अत' 'जितकरण' का अर्थ क्रियाको अपने वशमे करने वाला होता है ।

इसी तरह 'कम्मसमत्थो' मे कर्म शब्दके अनेक अर्थ है । मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषायके द्वारा ज्ञानको रोकने आदिकी शक्तिसे युक्त जो किये जाते है उन ज्ञानावरण आदिको कर्म कहते है । तथा कर्ताकी क्रियाके द्वारा व्यापक होने रूपसे जो विवक्षित होता है उसे भी कर्म कहते है । जैसे 'कर्म मे द्वितीया विभक्ति होती है' । कर्म शब्द क्रियावाचक भी है । जैसे क्या कर्म करते हो अर्थात् क्या क्रिया करते हो । यहाँ कर्म शब्द क्रियावाची लिया है । यहाँ मारना, प्रहार करना आदि क्रिया ली गई है ।

जो जिसको साधन करना चाहता है वह पहले उसके परिकर्ममे लगता है जैसे जो शत्रुओ को मारना चाहता है वह मारनेके उपाय अस्त्र शिक्षामे लगता है । इतना अर्थ इस गाथासे बत-लाया है ।।२०।।

अब उक्त दृष्टान्तकी योजना प्रकृत चर्चामे करते है—

गा०—इसी प्रकार साधु भी ध्यानका परिकर्म जो (सामण्ण) श्रामण्य है उसे नित्य भी

१ भविस्सति–मु० ।

इय सामण्णमिदि । '**इय**' एव । '**सामण्ण**' समणस्स भावो सामण्ण समता इत्यभियुक्ता निरुक्ति-मत्राहु । **भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययौ** इति भावशब्देन द्रव्यशब्दस्य वृत्तौ [1]निमित्तभूतो गुण उच्यते । **तथा चोक्तम्—'यस्य गुणस्य भावाद्द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलाविति'**, ततोऽत्रापि समण इत्यस्य शब्दस्य जीवे प्रवृत्तौ किं निमित्त गुण समता, क्व जीविते, मरणे, लाभेऽलाभे, सुखे, दु खे, बधुषु, रिपौ च । एतेषु राग. क्वचित्क्वचिद्द्वेषश्चासमानता, तदुभयाकरण जीवितादिस्वरूपपरिज्ञान समचित्तता । अर्थयाथात्म्यग्राहित्वेन जीवितादिविषयाणा ज्ञानाना समता । जीवित नाम प्राणधारण तदायुरायत्त न ममेच्छया वर्तते, सत्यामपि तस्या प्राणानामनवस्थानात् । सर्वं हि जगदिच्छति प्राणानामनपाय न च तेऽवतिष्ठन्ते । मरण नाम इद्रियादि-प्राणेभ्यो विगम आत्मन । तथा चोक्तम्—'**मृङ् प्राणत्यागे**' [ ] इति । त्यागो हि वियोग आत्मन सकाशात् प्राणाना पृथग्भाव । स चायु सज्ञिताना पुद्गलाना अशेषगलनात् । अत्र द्रव्येंद्रियाणा उपघातकशरादिद्रव्य-सपाताद्भावेद्रियस्य चोपयोगस्य विनाश तदा[2]वरणोदयात् । तदुदयादेव च लब्धेरभाव । वीर्यान्तिरायोदयात्त्रिविधबलप्राणहानि । मुखस्य नासिकायाश्च विधानात् श्लेष्मादिनावरोधात् उच्छ्वासनिश्वासहानि । अभिमतस्य लाभो लाभातरायक्षयोपशमात् । अलाभस्तदुदयात् । सुख नाम प्रीति सद्वेद्योदयात् अभिलषित-विषयसान्निध्यात् । दु ख तु बाधात्मकमसद्वेद्योदयहेतुकम् । बधवो नाम न नियता केचन सन्ति । सगुतौ

करता है, कि इसके पश्चात् मनको वशमे करके मै मरते समय ध्यानमे समर्थ होऊँगा ॥२१॥

टी०—समणके भावको सामण्ण कहते है ऐसी निरुक्ति विशेषज्ञोने की है । 'सामण्ण'का अर्थ समता है । द्रव्य शब्दमे प्रवृत्तिका निमित्त जो गुण होता है उसे भाव शब्दसे कहते है । कहा भी है—जिस गुणके होनेसे द्रव्यमे शब्दका निवेश होता है उसके वाचक शब्दसे त्व और तल प्रत्यय होते है । यहाँ भी समण शब्दकी जीवमे प्रवृत्तिका गुण समता है अर्थात् समता गुणके कारण ही जीवको समण कहा जाता है । जीवनमे मरणमे, लाभमें अलाभमे, सुख और दु खमे, बन्धुमे और शत्रुमे समान भावको समता कहते है । और इनमे किसीसे राग और किसीसे द्वेष करना असमानता है । और राग-द्वेषका न करना तथा जीवन आदिके स्वरूपको जानना समचित्तता है । जीवन आदि विषयोके ज्ञान यथार्थग्राही होनेसे समतारूप है ।

प्राणधारणको जीवन कहते है । वह आयुके अधीन है मेरी इच्छाके अधीन नही है । मेरी इच्छाके होने पर भी प्राण नही ठहरते । सर्व जगत चाहता है कि हमारे प्राण बने रहे । किन्तु वे नही रहते । आत्माके इन्द्रिय आदि प्राणोके चले जानेको मरण कहते है । कहा भी है—मृङ् धातु प्राणत्यागके अर्थमे है । त्याग वियोगको कहते है । आत्मासे प्राणोका पृथक् होना वियोग है । वह आयुकर्म सम्बन्धी पुद्गलोके पूर्णरूपसे समाप्त होनेसे होता है । उपघातक बाण आदिके लगनेसे द्रव्येन्द्रियोका विनाश होता है और उपयोगरूप भावेन्द्रियका विनाश ज्ञानावरणके उदयसे होता है । उसीके उदयसे लब्धिरूप भावेन्द्रियका विनाश होता है । वीर्यान्तराय कर्मके उदयसे मनोबल, बचनवल और कायबल रूप प्राणोकी हानि होती है । मुख और नाकको वन्द करनेसे या जुखामसे उनकी रुकावट होनेसे श्वासोच्छ्वास प्राणकी हानि होती है । लाभान्तरायके क्षयोपशमसे इष्ट वस्तुका लाभ होना है और उसके उदयसे लाभ नही होता । सुख प्रीतिको कहते है वह सातावेदनीयके उदयसे इष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे होता है । दु ख बाधारूप होता है उसमे असाता वेदनीयका

---

१ निवृत्त ततो आ० मु० । २. विषशस्त्रादा-आ० मु० ।

परिभ्रमत उपकारापेक्षा हि ते । यदि त एव अन्यदा कृतापकारा इति किन्नारय. ? अरयोऽपि कदाचिदु-पपादितानुग्रहा इति किं न बधव ? अपि च स्नेहस्य सर्वासयममूलस्य हेतुतया सन्मार्गप्रतिबधकारितया च ते एव **महाशत्रवः** । किं च पुण्योदयादेव सपद्यते सकल सुख सुखहेतुवस्तुसान्निध्य च । विपुण्यस्य न ते किंचिदपि **कर्तु** क्षमा. । न च **कुर्वन्ति** । तथा हि—मातर त्यजति पुत्र सा च सुत । तथाऽसत्यसद्वेद्योदये न कश्चित्किं-**चिदप्यपकार करोति** । बाह्या हि शत्रवो नाभ्यतरकर्मणि असति पीडामुपजनयन्ति । इत्येवभूता सर्वत्र सम-**चित्तता सामण्ण** । **'साधू वि'** साधुरपि । **'कुणदि'** करोति । **'णिच्चमवि'** नित्यमपि सर्वदापि । **'जोगपरिकम्म योगशब्दोऽनेकार्थ** । 'योगनिमित्त ग्रहण' इत्यात्मप्रदेशपरिस्पद त्रिविधवर्गणासहायमाचष्टे । क्वचित्सबधमात्र-**वचन** 'अस्यानेन योग' इति । क्वचिद्ध्यानवचन यथा 'योगस्थित' इति । इहाय परिगृहीत । ततो ध्यान-परिकर करोतीति यावत् । रागद्वेषमिथ्यात्वासश्लिष्ट अर्थयाथात्म्यस्पर्शि प्रतिनिवृत्तविषयातरसचार ज्ञानं **ध्यानमित्युच्यते** । अभावितसमानभावोऽनधिगतवस्तुसद्भावश्च न ध्यातु क्षम इति भाव । **''तो'** तत **पच्छा-ज्जिदकरणो**' इत्यत्र करणशब्द अत करणे मनसि वर्तते। ततोऽयमर्थ स्ववशीकृतचित्तोऽह मरणे भवपर्ययनाश वेलाया । **'झाणसमत्थो'** ध्यानस्यैकाग्रचिन्तानिरोधस्य । ध्यानशब्दोऽत्र प्रशस्तध्यानविषये ग्राह्यो नाऽशुभ-योर्नारकतिर्यग्गतिनिर्वर्तनप्रवणयो । **योगे** परिकर्मणि सदात्मन प्रवृत्तत्वात् अयत्नसाध्यता धर्मशुक्लयोर्निर्वर्तने **'समत्थो'** शक्त **''भविस्सदि'** भविष्यामीति ॥

उदय हेतु है । बन्धु कोई नियत नही है । ससारमे भ्रमण करते हुए जीवका जो उपकार करते है वे बन्धु कहे जाते है । यदि वे ही कभी अपकार करते है तो शत्रु हो जाते है । शत्रु भी कभी-कभी उपकार करते हैं तो वे बन्धु क्यो नही है ? तथा स्नेह समस्त असयमका मूल हेतु और सन्मार्गमे रुकावट डालने वाला है। अत जिन्हे हम बन्धु मानते है वे ही महाशत्रु है । तथा पुण्यकर्मके उदय-से ही सर्व सुख और सुखकारक वस्तुओकी प्राप्ति होती है । जो पुण्यहीन है उसका सुखके साधन भी कुछ नही कर सकते । माता पुत्रको त्याग देती है और पुत्र माताका त्याग देना है । तथा असाता वेदनीयके उदयके अभावमे कोई किंचित् भी अपकार नही कर सकता । अभ्यन्तर कर्मके अभावमे बाह्य शत्रु पीडा नही पहुँचाते । इस प्रकारसे सर्वत्र समचिन्तताको सामण्ण कहते है । 'जोगपरिकम्म'मे योग शब्दके अनेक अर्थ है । 'योगनिमित्त ग्रहण' यहाँ मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे होने वाले आत्माके प्रदेशोके हलनचलनको योग कहा है । कही योग शब्दका अर्थ सम्बन्धमात्र है । जैसे 'इसका इसके साथ योग है ।' कही योगका अर्थ ध्यान है । जैसे 'योगस्थित' मे योगका अर्थ ध्यान है । यहाँ योगका अर्थ ध्यान लिया है । राग-द्वेष और मिथ्यात्व से अछूते, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने वाले और अन्य विषयोंमे सचार न करने वाले ज्ञानको ध्यान कहते है । इसका अभिप्राय यह है कि जिसने समानताकी भावना नही भायी है और न वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाना ह वह ध्यान नही कर सकता । 'जितकरणो' मे करण शब्द अन्त करण मनके अर्थमे है । अत यह अर्थ हुआ कि 'मरते समय मेरा चित्त मेरे वशमे है' । 'झाण-समत्थो' मे ध्यान शब्दका अर्थ एक ही विषयमे चिन्ताका निरोध करना है । यहाँ ध्यानसे प्रशस्त ध्यान ग्रहण करना, नरक गति और तिर्यञ्चगतिमे ले जाने वाले अशुभ ध्यान नही लेना । योगके परिकर्ममे तो आत्मा सदा लगा रहता है अत उसके लिये प्रयत्न नही करना पडता । यहाँ योगसे शुभध्यान लिया गया है । अत उसका परिकर्म—अभ्यास करना होता है जिससे मरते समय मै

---

१. ग्राह्यो शुभ-अ० आ० ज० ।

कृतपरिकरो राजपुत्रो व्यधनादिकासु क्रियासु उपगतकौशल क्रिया प्रहरणादिका सपाद्य यथाफलं प्राप्नोति इति एतदुत्तरगाथयाचष्टे जोगाभाविद इत्यनया—

जोगाभाविदकरणो सत्तू जेदूण जुद्धरंगम्मि ।
जह सो कुमारमल्लो रज्जवडायं बला हरदि ॥२२॥

जोगाभाविदकरणो परिकमणा असकृत्प्रवर्तितव्यधनताडनप्रहरणादिक्रिय । आभावित इत्यत्राङ् भृशार्थे प्रयुक्त । तथा च प्रयोग —आधूमित भृश धूमेन परिपूर्णमित्यर्थ । '**सत्तू**' शत्रून् । '**जेदूण**' जित्वा । '**जुद्धरंगम्मि**' युद्धार्थ सस्कृता देशो युद्धरगमित्युच्यते तत्र । '**जह**' यथा । '**सो**' स भावितात्मा । '**कुमार-मल्लो**' प्राणिना कालकृतोऽवस्थाविशेषो द्वितीय कुमारत्व नाम । तद्योगाद्राजपुत्र कुमार स एव मल्ल । '**रज्जपडाग** राज्यध्वज । '**बला**' बलात्कारेण । **हरदि**' हरति गृह्णाति ॥२२॥

दार्ष्टान्तिके योजयितु उत्तरगाथा—

तह भाविदसामण्णो मिच्छत्तादी रिवू विजेदूण ।
आराहणापडायं हरइ सुसंथाररंगम्हि ॥२३॥

'**तह भाविदसामण्णो**' इति । '**तह**' तथैव राजपुत्रवदेव । '**भाविदसामण्णो**' भावितसमानभाव । पुव्वमिति शेष । '**मिच्छत्तादी**' मिथ्यात्वासयमकषायशुभयोगा इत्येतान् । '**रिवू**' रिपून् । '**विजेदूण**' भृश जित्वा । विशब्दो भृशार्थे प्रयुक्त । यथा विवृद्धो मल्ल भृश वृद्ध इति यावत् । अथवा '**विजेदूण**' नानाप्रकार जित्वा यथा विचित्रमिति नानाचित्रमिति यावत् । एकान्तमिथ्यात्व, सशयमिथ्यात्व, विपर्ययमिथ्यात्व

धर्म और शुक्ल ध्यान करनेमे समर्थ हो सकूँ ॥२१॥

'जैसे अभ्यास किया हुआ राजपुत्र लक्ष्यको वेधने आदिकी क्रियामे कुशलता प्राप्त करके शस्त्रप्रहार आदिके द्वारा राज्य लाभ करता है' यह आगेकी गाथासे कहते है—

गा०—जैसे अभ्यासके द्वारा बार-बार लक्ष्यवेध शस्त्रप्रहार आदि क्रियामे दक्ष वह योद्धा राजपुत्र युद्धभूमिमे शत्रुको जीतकर राज्यके ध्वजको बलपूर्वक हरता है ॥२२॥

टी०—'जोगाभाविदकरणो' मे आभावित शब्दमे जो 'आ' है उसका अर्थ बार-बार या बहुत अधिक है। जसे 'आधूमित' का अर्थ धुएँसे अच्छी तरह भरा हुआ है। जो स्थान युद्धके लिए तैयार किया गया हो उसे युद्धरग कहते है। प्राणियोकी कालकृत जो दूसरी अवस्था विशेष होती है उसे कुमार अवस्था कहते हैं। उस अवस्थाके सम्बन्धसे यहाँ राजपुत्रको कुमार कहा है। अर्थात् जैसे युद्धमे दक्ष राजपुत्र शत्रुको जीतकर बलपूर्वक उसकी राज्यपताका हर लेता है वैसे ही आगे इस दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकमे लगानेके लिए उत्तरगाथा कहते है—

गा०—उस राजपुत्रकी ही तरह पूर्वमे समानभावका अभ्यासी साधु मिथ्यात्व आदि शत्रुओ-को पूरी तरहसे जीतकर शोभनीय सस्तररूपी रगभूमिमे आराधनारूपी पताकाको ग्रहण करता है ॥२३॥

टी०—मिथ्यात्व आदिमे आदि शब्दसे मिथ्यात्व असयम, कषाय और अशुभयोग लेना। 'विजेदूण' मे 'वि' शब्दका अर्थ बहुत या पूरी तरह है। जैसे 'विवृद्धो मल्ल.' का अर्थ बहुत अधिक बढ़ा हुआ योद्धा है। अथवा 'विजेदूण' का अर्थ 'नानाप्रकारसे जीतकर' होता है। जैसे विचित्रका अर्थ नानाचित्र होता है।

इत्यनेकधा मिथ्यात्वपरिणामा. स्थिता । तथैकान्तमिथ्यात्व नाम वस्तुनो जीवादेर्नित्यत्वमेव स्वभावो न चानित्यत्वादिकम् । असदुत्पत्त्या सतो निरोधे वा अनित्यता भवति । न चासत उत्पत्तिर्यदि स्याद्गगनकुसुमादिक किन्नोपजायते ? असत्वाविशेषे खकुसुमादेर्घटादेश्च घटादिक उपजायते न वियत्कुसुमादिक इत्यत्र न नियामक हेतु पश्याम । न च सद्विनश्यति, विनाशो ह्यसत्त्व, भावाभावौ हि परस्परपरिहारस्थि तलक्षणौ नैकता यात । न भावोऽभाव। भवति, इत्थमसत्वे उत्पादनिरोधयोरभावान्नित्यतवावतिष्ठते इति इदमेक मिथ्यात्व । एतस्य जय उच्यते—न नित्यतैव वस्तुनो रूप, अनित्यताया अपि प्रमाणमधिगम्यत्वात् । रागद्वेष-मिथ्यात्वसशयविपर्ययादीना आत्मनि सता पश्चादनुभवप्रतिष्ठापितमसत्वमनुभवोपनीत[1] चासत्व प्रागनुभूताना-मित्यनित्यता । पुद्गलद्रव्यस्यापि मेघादेर्वर्णान्यथाभाव आम्रफलादीना रूपरसगंधाद्यन्यथाभावश्च प्रत्यक्षग्राह्योऽ-शक्यापन्हव । तथानुमानग्राह्यश्च—यत्सत्तत्सर्वं नित्यानित्यात्मक यथा घटस्तथा च जीवादिक सदिति कारणाना प्रतिनियतजननस्वभावकार्यत्वात् । घटादेर्जनकानि सन्ति इत्युत्पत्ति न खरविषाणादे । न च भावाभावयो-र्विरोध एकस्मिन्वस्तुन्येकदा प्रवृत्ते रूपरसादीनामिव । अपररूपेणासत्व सति विद्यते न वा । यद्यस्ति न विरोध , न चेत्सर्वात्मकता । न ह्यभावो नाम भावादन्य । अपि तु भावस्यैव रूपान्तरम् । ततोऽयुक्तो

एकान्तमिथ्यात्व, सशयमिथ्यात्व, विपर्ययमिथ्यात्व, इत्यादि मिथ्यात्वपरिणाम अनेक प्रकार है। जीवादिवस्तुका स्वभाव नित्यता ही है, अनित्यता नही है इसे एकान्तमिथ्यात्व कहते है। असत्‌की उत्पत्ति नही होती। यदि होती है तो आकाशका फूल क्यो नही उत्पन्न होता ? जब आकाशका फूल और घट दोनो ही असत् है तो घटादि तो पैदा होते है और आकाशका फूल पैदा नही होता, इसमे कोई नियामक हेतु हम नही देखते। तथा सत्‌का विनाश नही होता। विनाश कहते है असत्त्वको। किन्तु भाव और अभाव दोनो भिन्न हैं, दोनोके लक्षण भिन्न है। वे कभी एक नही हो सकते। भाव-अभाव नही होता। इस प्रकार असत्वमे उत्पाद और विनाशका अभाव होनेसे नित्यता ही ठहरती है। यह एक मिथ्यात्व है। अब इसको जीतनेका कथन करते है।

वस्तुका रूप केवल नित्यता ही नही है, अनित्यताका भी प्रमाणसे बोध होता है। राग, द्वेष, मिथ्यात्व, सशय, विपर्यय आदि आत्मामे पहले सत् प्रतीत होते है। पीछे अनुभवके द्वारा उनका असत्त्व प्रतिष्ठापित होता है। तथा पहले उनका आत्मामे अनुभव होता है और पीछे अनुभवसे ही उनका असत्त्व ज्ञात होता है। इसलिए ये अनित्य है। पुद्गलद्रव्य मेघ आदिका रूप भी बदलता देखा जाता है। आम्रफल आदिमे रूप, रस, गन्ध आदिका बदलना प्रत्यक्ष देखा जाता है। उसका लोप करना अशक्य है। तथा अनुमान प्रमाणसे भी उसका ग्रहण होता है, जो इस प्रकार है—जो सत् है वह सब नित्यानित्यात्मक है, जैसे घट। उसी तरह जीवादि भी सत् होनेसे नित्यानित्यात्मक है। कारणोका स्वभाव प्रतिनियत कार्योको ही उत्पन्न करना है। घटादिके उत्पन्न करनेवाले कारण है इसलिए उनकी उत्पत्ति होती है। गधेके सीग जैसे असम्भव कार्योको उत्पन्न करनेवाले कारण नही है इसलिए उनकी उत्पत्ति नही होती। तथा भाव और अभावमे कोई विरोध नही है, रूप रस आदिकी तरह एक वस्तुमे दोनों एककालमे रहते है। जो वस्तु सत् है वह अपनेसे भिन्न वस्तुकी अपेक्षा असत् है या नहीं ? यदि है तो भाव अभावमे विरोध नही रहा। और यदि कहोगे कि नही है तो वह वस्तु सर्वात्मक हो जायेगी; क्योकि उसमे किसी

१ त सत्त्वं प्रागननुभू—आ० मु०।

नित्यत्वैकान्तवाद इति। एवंभूतया तत्त्वश्रद्धया पराभूयते नित्यमेवेति मिथ्यात्वम्। (तथा क्षणिकमेव सर्वं कथं कार्यकारि, यद्वस्तु सर्वथा सामर्थ्यविरहोऽभावलक्षण) कार्यकारिता च न नित्यस्य। कथं तद्धि नित्यं स्वसं पाद्य क्रमेण वा कुर्याद्युगपदेव वा ? न तावत्क्रमेण कार्यात्मलाभस्य कारणस्वभावसान्निध्यमात्रपराधीनत्वात्। सर्व कार्यप्रादुर्भूतिहेतूना सामर्थ्यानां सदा सान्निध्यत्वात् कुतः कार्याणां क्रमः। समर्थहेतुभावेऽप्यभावे न तत्तस्य कार्यं स्यात्। यथा सन्निहितेऽपि यवबीजेऽनुपजायमानस्य शाल्यङ्कुरस्य न यवबीजकार्यता। युगपत्करोति चेत् द्वितीयादौ क्षणेऽकिंचित्करता स्यान्न च तथा दृश्यते। इत्थं नित्यवस्तुलक्षणस्य कार्यकारित्वस्याभावात्, अनित्ये सद्भावात् क्षणिकमेवेत्यध्यवसायो मिथ्यात्वमेव। तस्य जय उच्यते—सत्यं सर्वथा नित्ये वस्तुलक्षणे नास्त्युक्तया नीत्या नित्याऽनित्यात्मके तु सभाविनी कार्यकारिता। एकान्तेन क्षणिकतैव वस्तुनो यदि रूपं कार्यकारिता नास्ति। एकस्य वस्तुन एकमेव रूपं नापरमिति प्रतिज्ञानात्। एवमन्यत्रापि योज्य[1] एकान्तमिथ्यात्वजयः। संशयमिथ्यात्वं वस्तुस्वरूपावधारणात्मकं तस्य जयः कथंचिन्नित्यानित्यात्मकाः सर्वे भावा इति भावनया। विपर्ययमिथ्यात्वं हिंसाया दुर्गतिवर्तिन्या स्वर्गादिहेतुतावसितिज्ञानम्, अहिंसायाश्च प्रत्यपायहेतु-

वस्तुका अभाव नहीं है। अभाव भावसे भिन्न नहीं है। किन्तु भावका ही रूपान्तर अभाव है। अतः एकान्तनित्यवाद अयुक्त है। इस प्रकारकी तत्त्वश्रद्धासे 'नित्य ही है' यह मिथ्यात्व हट जाता है।

तथा सब क्षणिक भी कैसे कार्यकारी है ? वस्तुमे सब सामर्थ्यका अभाव तो अभावका लक्षण है इसपर बौद्ध कहता है—

नित्यपदार्थ कार्यकारी नहीं है। वह नित्यपदार्थ अपना कार्य क्रमसे करता है अथवा एकसाथ करता है ? क्रमसे तो कार्य कर नहीं सकता क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति कारण स्वभावमात्रके अधीन है। जब नित्यपदार्थमे सब कार्योंको उत्पन्न करनेकी शक्तियाँ सदा वर्तमान है तब कार्य क्रमसे कैसे हो सकते है ? समर्थकारणके रहते हुए भी यदि कार्य नहीं होता तो उसे उस कारणका कार्य नहीं माना जा सकता। जैसे जौ बीजके रहते हुए भी उससे धानका अकुर नहीं उगता। अतः धानका अकुर जौबीजका कार्य नहीं होता। यदि कहोगे कि नित्य एकसाथ सब कार्यो को उत्पन्न करता है तो दूसरे आदि क्षणोमे वह नित्यपदार्थ अकिंचित्कर हो जायेगा, क्योंकि सब कार्य पहले क्षणमें ही उत्पन्न हो जानेसे दूसरे क्षणमे उसे करनेके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहेगा। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इस प्रकार नित्यवस्तुमे वस्तुका लक्षण कार्यकारीपना नहीं बनता। अतः अनित्यमे कार्यकारीपना होनेसे सब क्षणिक ही है। जैन कहते है—इस प्रकार निश्चय करना भी मिथ्यात्व ही है। अब उस मिथ्यात्वको जीतनेका उपाय कहते है—

यह सत्य है कि उक्तनीतिके अनुसार सर्वथा नित्यवस्तुमे कार्यकारिता नहीं है किन्तु नित्यानित्यात्मकवस्तुमे कार्यकारिता है। यदि वस्तुका स्वरूप सर्वथा क्षणिकता है तो उसमे कार्यकारीपना नहीं है। क्योंकि आपने एकवस्तुका एक ही रूप माना है दूसरा नहीं माना। इसी प्रकार अन्यत्र भी एकान्तमिथ्यात्वको जीतनेकी योजना करनी चाहिए।

वस्तुके स्वरूपका कुछ भी निश्चय न करना संशयमिथ्यात्व है। सब पदार्थ कथंचित् नित्यानित्यात्मक है इस भावनासे उसको जीतना चाहिए। दुर्गतिमे ले जानेवाली हिंसाको

१ चोद्य आ० मु०।

तेति एतस्य जय' । परोक्षस्योपायोपेयभावस्य अप्रत्यक्षत्वात् । अनुमानस्य च प्रत्यक्षपृष्ठभाविनस्तत्रावृत्ते । आगम' सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीत उपेयोपायतत्त्वस्य ख्यापक आश्रयणीय । कपिलादीनामसर्वज्ञतया न तत्प्रणीत आगमोऽदृष्टप्रतिपत्तावुपाय' । तदसर्वज्ञता दृष्टेष्टप्रमाणविरुद्धवचनतया रथ्यापुरुषवत् । नित्यस्तु न शब्दो विद्यते । यदि स्यात्सर्वस्य नित्यतया पुरुषदोषानुपश्लिष्टतास्तीति प्रामाण्य भवेत् ततो जिनागमेन हिंसाया दु खहेतुत्वप्रतीतेर्विपर्ययमिथ्यात्वप्रसिद्धि तस्य जय अविपरीतज्ञानेन । **'आराघणापडायं'** आराधना-पताका । **'हरदि'** गृह्णाति । **'सुसंथाररंगम्मि'** शोभनास्तरङ्गे उद्‌गमादिदोषानुपहतता शोभनता ।।

चिरमभावितरत्नत्रयाणामन्तर्मुहूर्तकालभावनाना सिद्धिरिष्यते तत्कि चिरभावनयेत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पुव्वमभाविदजोग्गो आराधेज्ज मरणे जदि वि कोई ।
खण्णुगदिठ्ठंतो सो तं खु पमाणं ण सव्वत्थ ।।२४।।

'पुव्वं' पूर्व मरणकालात् । **'अभावितजोग्गो'** अभावितपरिकर । **'आराधेज्ज'** आराधयेत् । किं मरणं रत्नत्रयानुगतभवपर्यायप्रलय । **'जदि वि'** यद्यपि । **'कोई'** कश्चित् । **'खण्णुगदिठ्ठंतो'** स्थाणुदृष्टान्त । **'सो'** स । **'तं खु'** तदेव । अकृतपरिकरस्य कस्यचिद्रत्नत्रयसमापन्न । **'सव्वत्थ'** सर्वत्र । **'ण पमाण** न पमाण । अर्थाख्यानमत्र वाच्यम् ।।२४।।

एव पीठिका समाप्ता ।।

स्वर्गादिका हेतु मानना और अहिंसाको दुर्गतिका कारण मानना विपर्ययमिथ्यात्व है। इसकी जयका उपाय कहते है—

उपायपना और उपेयपना परोक्ष है, प्रत्यक्ष नही है। प्रत्यक्षके पीछे होनेवाला अनुमान भी उन्हे नही जान सकता। रागद्वेषसे रहित सर्वज्ञके द्वारा कहा गया आगम ही उपाय और उपेयभावको बतलाता है उसीका आश्रय लेना चाहिए। कपिल आदि सर्वज्ञ नही थे। अत उनके द्वारा कहा गया आगम अदृष्टको जाननेका उपाय नही है। कपिलादिके वचन सडकपर घूमते आदमीकी तरह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्ध है अत वे सर्वज्ञ नही है। तथा यह कहना कि वेद नित्य है ठीक नही है क्योकि शब्द नित्य नही होता। यदि शब्द नित्य हो तो सभी शब्दोके नित्य होनेसे पुरुषोके दोष उसमे नही प्रवेश कर सकते अत सभी शब्द प्रमाण मानने होगे। अत' जिनागमसे प्रसिद्ध है कि हिंसा दु खका कारण है अत' उसे सुखका कारण मानना विपर्यय-मिथ्यात्व है। अविपरीत सच्चे ज्ञानसे उसको जीता जाता है ।।२३।।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि जिन्होने चिरकाल तक रत्नत्रयकी भावना नही भायी है, केवल अन्तर्मुहूर्तकालतक ही रत्यत्रयकी आराधना की है, उनकी भी मुक्ति मानी जाती है तब आप चिरकाल भावनाकी बात कैसे करते है, इसका उत्तर देते है—

गा०—मरण समयसे पहले ध्यानके परिकरका अभ्यास न करनेवाला यद्यपि कोई मरते समय आराधना करे तो वह स्थाणुदृष्टान्मात्र है। सर्वत्र (पमाणं ण) प्रमाण नही है ।।२४।।

टी०—जैसे यदि किसीको किसी ठूँठमेसे अचानक धनका लाभ हो जाये तो उसे सर्वत्र प्रमाण नही माना जाता। उसी तरह यदि किसीने मरनेसे पूर्व रत्नत्रयका अभ्यास नही किया और कदाचित् मरते समय किया और उसे सिद्धि प्राप्त हो गई तो उसे सर्वत्र प्रमाणके रूपमे स्वीकार नही किया जा सकता ।।२४।।

इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई ।।

मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे ।।
तत्थ वि य पच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ।।२५।।

मरणान्यनेकप्रकाराणि इति शास्त्रान्तरे निर्दिष्टानि । तेष्विह निरूप्याणीमानीति निरूपयितु इदमुत्तरं सूत्र मरणाणीति । मरण विगमो विनाश विपरिणाम इत्येकोऽर्थ. । तच्च मरणं जीवितपूर्वम् । जीवित स्थिति-रविनाशोऽवस्थितिरिति यावत् । स्थितिपूर्वको विनाश । यदस्थितिक तन्न विनश्यति यथा बन्ध्यासुत । तथा च स्थितिरहित वस्तु क्षणिकवादिनिरूप्यं जीवित जन्मपुरोग अनुत्पन्नस्य स्थित्यभावात् । तत उत्पत्तिविगमो ध्रौव्य च सर्वेषा रूपाणि । अस्या च प्रक्रियाया मरण नामोत्पन्नपर्यायविनाश । देवत्व, तिर्यक्त्वं, नारकत्वं, मनुष्यत्व, इत्यमीषा पर्यायाणा प्रध्वस इह मरणशब्दवाच्य । अथवा प्राणपरित्यागो मरण । **तथा चाभ्यधायि-मृङ्** प्राणत्यागे इति । एवमेव प्राणग्रहण जन्म, प्राणाना धारण जीवित । प्राणा द्विविधा द्रव्यप्राणा भाव-प्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाणि, बल, उच्छ्वास, आयुरित्येतानि पुद्गलद्रव्याणि । भावप्राणा ज्ञानदर्शन-चारित्राणि । एतत्प्राणापेक्षया सिद्धाना जीवित । तत्रायुर्द्विभेद अद्धायुर्भवायुरिति च । भवधारणं भवायुर्भव शरीर तच्च ध्रियते आत्मना[1] आयुष्कोदयेन । ततो भवधारणमायुष्काख्यं कर्म तदेव भवायुरित्युच्यते । **तथा चोक्तम्**—

> **देहो भवोत्ति वुच्चदि धारिज्जइ आउगेण य भवो सो ।**
> **तो वुच्चदि भवधारणमाउगकम्म भवाउत्ति ।।** [ ]

गा०—जिनागममे तीर्थङ्करोंने मरण सतरह कहे हैं। उन सतरह प्रकारके मरणोमेसे भी यहाँ (सगहेण) सक्षेपसे पाँच मरणोको कहूँगा ।।२५।।

टी०—मरण अनेक प्रकारके है ऐसा अन्य शास्त्रोमे कहा है। उनमेसे यहाँ इन मरणोंको कहना है यह बतलानेके लिए यह गाथासूत्र आया है। मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम इन सब शब्दोका अर्थ एक है। वह मरण जीवनपूर्वक होता है। जीवन, स्थिति, अविनाश, अवस्थिति ये सब एकार्थक है। स्थितिपूर्वक विनाश होता है। जिसकी स्थिति नही है उसका विनाश नही है जैसे बाँझका पुत्र नही होता तो उसका विनाश भी नही होता। क्षणिकवादी बौद्धोने जिस वस्तुको कहा है उसकी स्थिति नही है अर्थात् वह वस्तु ही नही है। जीवन जन्मपूर्वक होता है। जो उत्पन्न नही हुआ उसकी स्थिति नही है। इसलिए प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यरूपको लिए हुए है। इस प्रक्रियाके अनुसार उत्पन्न हुई पर्यायके विनाशका नाम मरण है। देवपना, तिर्यञ्चपना, नारकपना और मनुष्यपना इन पर्यायोका विनाश यहाँ मरणशब्दसे लिया है। अथवा प्राण छोडनेका नाम मरण है। कहा भी है—'मृङ् धातु' प्राणत्यागके अर्थमे है। इसी तरह प्राणग्रहणको जन्म कहते है। प्राणोको धारण करना जीवन है। प्राणोके दो भेद है—द्रव्य-प्राण और भावप्राण। इन्द्रिय पाँच, तीन बल, उच्छ्वास और आयु ये पुद्गलद्रव्य द्रव्यप्राण है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये भावप्राण है। इन भावप्राणोकी अपेक्षा सिद्धोंमें जीवन होता है। उन प्राणोमे आयुप्राणके दो भेद है—अद्धायु और भवायु। भवधारणको भवायु कहते है। भव शरीरको कहते है। आयुकर्मके उदयसे आत्मा भवधारण करता है। अत आयुकर्म भवधारणरूप है उसे ही भवायु कहते हैं। कहा भी है—शरीरको भव कहते हैं। वह भव आयुकर्मके द्वारा धारण किया

१ आत्मन आ० मु०।

इति आयुर्वशेनैव जीवो जायते जीवति च आयुष एवोदयेन । अन्यास्यायुष उदये सति मृतिमुपैति पूर्वस्य चायुष्कस्य विनाशे ।

तथा चोक्तम्—

आउगवसेण जीवो जायदि जीवदि य आउगस्सुदये ।
अण्णाउगोदये वा मरदि य पुव्वाउणासे वा ।।' इति ।। [　　　]

अद्धाशब्देन काल उच्यते, आउगशब्देन द्रव्यस्य स्थिति । तेन द्रव्याणा स्थितिकाल अद्धायुरित्युच्यते । [1]द्रव्यार्थापेक्षया द्रव्याणामनाद्यनिधनं भवत्यद्धायु । पर्यायार्थापेक्षया चतुर्विध भवत्यनाद्यनिधन, साध्यनिधनं सनिधनमनादि, सादिसनिधनमिति । चैतन्यरूपादिमत्त्वगतिस्थितिहेतुत्वादिसामान्यापेक्षया अनाद्यनिधना स्थिति । केवलज्ञानादिकाना साद्यनिधनता । भव्यत्वस्य अनादिसनिधनता । सादिसनिधनता कोपादीनाम् । अथवा द्रव्य-क्षेत्रकालभावानाश्रित्य चतुर्विधा भवति स्थिति । एतस्याद्धायुषो वशेन भवधारणायुषो निरूपणा भवति । आयु-सज्ञिताना कर्मणा पुद्गलद्रव्यतया आयु-स्थितेर्न द्रव्यस्थितेरत्यन्तान्यथात्व । अथवा अनुभूयमानायु सज्ञकपुद्गल-गलन मरण । तानि मरणानि '**सत्तरस**' '**सप्तदश**' । '**देसिदानि**' '**कथितानि**' । '**तित्थकरेहिं**' तीर्थकरै । '**जिण-वयणे**' जिनाना वचने । ननु तीर्थकरैरुक्तानि इत्यनेनैव गतं कि जिनवचनग्रहणेन ? नैष दोष जिनशब्देन गणधरा

जाता है । इसलिए भवधारणमे कारण आयुकर्मको भवायु कहते है ।

इस प्रकार आयुके वशसे ही जीव जन्म लेता है और आयुके उदयसे ही जीवित रहता है । पूर्व आयुका विनाश और आगेकी अन्य आयुका उदय होनेपर मरण होता है ।

कहा है—आयुके वशसे जीव जन्म लेता है । आयुके उदयमे जीवित रहता है । अन्य आयुका उदय होनेपर अथवा पूर्वआयुका नाश होनेपर मरता है ।

अद्धाशब्दसे काल कहा जाता है और आयुशब्दसे द्रव्यकी स्थिति । अत द्रव्योके स्थिति-कालको अद्धायु कहते है । द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा द्रव्योकी अद्धायु अनादिनिधन है । और पर्या-यार्थिककी अपेक्षा चार प्रकार की है—अनादिअनिधन, सादिअनिधन, अनादिसान्त और सादि-सान्त । चैतन्य, रूपादिमत्ता, गतिहेतुता, स्थितिहेतुता आदि सामान्यकी अपेक्षा द्रव्योकी स्थिति अनादि अनिधन है अर्थात् जीवादिद्रव्योका अपना-अपना स्वभाव सदासे है और सदा रहेगा अतः वे सब इस दृष्टिसे अनादिअनन्त है । केवलज्ञान आदिकी अद्धायु सादिअनिधन है क्योकि वह प्रकट होकर नष्ट नही होता । भव्यत्वकी अद्धायु अनादिसनिधन (सान्त) है क्योकि भव्यत्व भाव यद्यपि अनादि होता है किन्तु मुक्त होनेपर नष्ट हो जाता है । कोप आदि सादि सनिधन है ।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे स्थिति चार प्रकारकी होती है । इस अद्धायुके द्वारा भवधारणरूप आयुका कथन होता है । जिन कर्मोकी आयुसज्ञा होती है वे कर्म-पुद्गलद्रव्यरूप होनेसे आयुस्थिति द्रव्यस्थितिसे अत्यन्त भिन्न नही है । अथवा जो आयु सज्ञावाले पुद्गल उदयमें आ रहे है उनके गल जानेको मरण कहते है । वे मरण जिनवचनमे तीर्थङ्करोने सतरह कहे है ।

शङ्का—तीर्थङ्करोने कहे हैं इतना ही कहना पर्याप्त है, जिनवचनके कहनेकी क्या आव-श्यकता है ?

१. इत्यर्था–आ० मु० ।

उच्यन्ते । अन्तरेण चशब्दं समुच्चयार्थगति । तत्राय सबन्ध.--जिनवचने च कि ? सप्तदशमरणानि । एतेन तीर्थकृतो गणधराश्च मरणविकल्पानुपपादितवन्त । तदुभयवचनसिद्धं प्रमाणमविशङ्कनीयमित्येतदाचष्टे १ आवीचिमरण २ तद्भवमरण ३ अवधिमरण ४ आदिअताय ५ बालमरणं ६ पडितमरण ७ आसण्णमरण ८. बालपडिद ९ ससल्लमरण १० बलायमरण ११ वसट्टमरण १२ विप्पाणसमरणं १३ गिद्धपुट्ठमरण १४ भत्तपच्चक्खाण १५ पाउवगमणमरण १६ इगिणीमरण १७ केवलिमरण चेति । एतेषा स्वरूपता यथागम सक्षेपतो निरूप्यते ॥

वीचिशब्दस्तरगाभिधायी इह तु वीचिरिव वीचिरिति आयुष उदये वर्तते । यथा समुद्रादौ वीचयो नैरन्तर्येणोद्गच्छन्ति एव क्रमेण आयुष्काख्य कर्म अनुसमयमुदेति इति तदुदय आवीचिशब्देन भण्यते । आयुष अनुभवन जीवित, तच्च प्रतिसमय जीवितभगस्य मरण । अतो मरणमपि अत्र आवीचि, उदयादनन्तरसमये मरणमपि वर्तते इति । तत्पुनरावीचिकामरण अनादिसनिधन भव्यानाम् । ननु च सिद्धानामेव मरण विच्छित्तिमुपयान्ति नेतरेषा ते च न भव्या । भविष्यत्सिद्धत्वपर्याया हि भव्या । सिद्धास्त्वधिगतसिद्धत्वपर्यायास्तत किमुच्यते भव्यानामनादिसनिधनमिति । **'भवियाणमणादियं मरणं आवीचिगं सणिधण च'** इति यदेवाधिगतभव्यत्वपर्याय द्रव्य तदेवेदमिति कृत्वा भव्यानामित्युक्त इति नियतम् । अभव्याना पुनरुदय प्रति सामान्या-

समाधान—इसमे कोई दोष नही है । यहाँ जिनशब्दसे गणधर कहे गये है । 'च' शब्दके विना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है । अत ऐसा सम्बन्ध लेना और जिनवचनमे सतरह मरण कहे है । इससे यह बोध होता है कि तीर्थङ्करो और गणधरोने मरणके भेद कहे है । अत: उन दोनोके वचनोमे सिद्ध होनेसे प्रमाण है उसमे किसी प्रकार शङ्का नही करना चाहिए । वे है—१ आवीचिमरण, २ तद्भवमरण, ३ अवधिमरण, ४ आदि अन्तमरण, ५ बालमरण, ६ पडितमरण, ७ आसणमरण, ८ बालपंडितमरण, ९ ससल्लमरण, १० बलायमरण, ११ वसट्टमरण, १२ विप्पाणसमरण, १३ गिद्धपुट्ठमरण, १४ भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५ प्रायोपगमन मरण, १६ इगिणीमरण और १७. केवलीमरण । उनका स्वरूप आगमके अनुसार सक्षेपसे कहते है—वीचीशब्द तरगको कहता है । किन्तु यहाँ वीचिके समान ऐसा अर्थ करनेसे वीचीका अर्थ-आयुका उदय है । जेसे समुद्र वगैरहमे तरगे निरन्तर उठा करती है उसी प्रकार क्रमसे आयुनामक कर्म प्रतिसमय उदयमें आता है इसलिए उसके उदयको आवीचि शब्दसे कहा है । आयुके अनुभवनको जीवन कहते है । वह प्रतिसमय होता है । उसका भग मरण है । अत जीवनकी तरह मरण भी आवीची है क्योकि आयुका उदय प्रतिसमय होता है अत प्रत्येक अनन्तर समयमे मरण भी होता है । उसी प्रति समय होनेवाले मरणको आवीचिमरण कहते है । वह भव्यजीवोके अनादिसान्त है ।

शङ्का—सिद्धोके ही मरणका अन्त होता है, दूसरोके नही । किन्तु सिद्ध भव्य नही है । जिनकी भविष्यमे सिद्धपर्याय होनेवाली है उन्हे भव्य कहते है । सिद्ध तो सिद्धपर्याय प्राप्तकर चुके है । तब कैसे कहते है कि भव्यजीवोका मरण अनादिसान्त है ?

समाधान—ऐसा कहा है कि भव्योका आवीचिमरण अनादि और सान्त है । अत जो द्रव्य भव्यत्वपर्यायको प्राप्त था वही यह है ऐसा मानकर भव्योके अनादिसान्त मरण कहा है ऐसा निश्चित है । अभव्यजीवोके सामान्य अपेक्षासे आयुका उदय बराबर रहता है अत: उनका आवीचिमरण अनादिनिधन है । किन्तु भवकी अपेक्षा और क्षेत्रादिकी अपेक्षा सादि है । चार

पेक्षयाऽऽवीचिकमनादिनिधन । भवापेक्षया क्षेत्रापेक्षया च सादिक । चतुर्णामायुष्काणा मध्ये द्वयोर्यद्यपि सत्कर्मता तथापि एकस्यैवायुष उदय । द्वयो प्रकृत्यो सत्कर्मता सह भवति । उच्यते—तिर्यङ्मनुष्यायुष्कयो सर्वैरायुष्कै सह सत्कर्मता देवनारकायुष्कयोस्तिर्यङ्मानवायुष्काभ्या सत्कर्मता । भवतु नामैषा सत्कर्मव्यवस्था । द्वयोरायुष्कप्रकृत्यो कि तद्युगपदुदय ? अत्रोच्यते—अनुभूयमानप्रकृतिस्थितीनामुपरि इतरस्यायुषो निषेको यतस्ततो न युगपदायुष प्रकृत्योरुदय । कि च यस्मादेकस्य जीवस्य द्वयोर्भवयोर्गत्योर्वा न सभव । भव गति च प्रयोज्य अपेक्ष्य आयुष उदयो नान्यथा ततो नायुष्कद्वयोरुदय । एवमेकस्यायुष्कर्मण एकैव प्रकृतिरुदेत्येकस्यात्मनस्तस्मादेकैकायुष्कप्रकृतिगलनरूपामेव मृतिमुपैति । तदेतत्प्रकृतिमरणं कालभेदेन एकस्यापि चतुर्विध भवति तदा वीचिकमेव । एव प्रकृत्यावीचिमरण व्याख्यातम् । द्वितीय स्थित्यावीचिकमरण ।

भवधारणकारणत्वपरिणताना पुद्गलाना स्नेहादात्मप्रदेशेष्ववस्थितिरित्युच्यते । आत्मन कषायपरिणाम सहकारी पुद्गलाना स्निग्धताया परिणामिकारण तु तदेव पुद्गलद्रव्य । सा चैषा स्थितिरेकादिकैकोत्तरा देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणा यावन्त समयास्तावद्भेदा उत्कर्षस्थिति । अतर्मुहूर्तभवा परा । तस्या वीचय इव क्रमेणावस्थिताया विनाशादात्मनो भवति स्थित्यावीचिकमरण ।

आयुकर्मोंमेसे यद्यपि एकजीवके दो ही आयुकर्मोकी सत्ता रहती है (एक जिसे भोगता है और दूसरी जिसे परभवके लिए बाँधा है)। तथापि उदय एक ही आयुका होता है। दो प्रकृतियाँ सत्तामे एकसाथ रह सकती है। वही कहते है—तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु सब आयुओके साथ सत्तामे रहती है अर्थात् देवायु और नरकायु दूसरी देवायु और नरकायुके साथ सत्तामे नही रहती, क्योकि देव मरकर देव या नारकी नही हो सकता और न नारकी मरकर नारकी या देव होना है।

शङ्का—आयुकर्मो की यह सत्कर्मव्यवस्था रहो, किन्तु दो आयुकर्मो का एकसाथ उदय क्यो नही होता ?

समाधान—आयुकर्मकी जिस प्रकृतिकी स्थिति अनुभवमे आ रही है और जिस आयुकी स्थितिका उदय हो रहा है उसकी स्थिति जहाँ समाप्त होनी है उससे ऊपर दूसरी आयुके निषेक रहते है। अत जबतक पहली आयुकी स्थिति समाप्त नही होती तबतक दूसरी उदयमे आ नही सकती। इसलिए एकसाथ आयुकी दो प्रकृतियोका उदय नही होता। तथा एक जीवके एकसाथ दो भव या दो गति सम्भव नही है। और भव तथा गतिको लेकर उसके अनुसार आयुका उदय होता है, अन्यथा नही होता, इसलिए भी दो आयुका उदय एकजीवके नही होता। इस प्रकार एक आयुकर्मकी एक ही प्रकृति एकजीवके उदयमे आती है अत एक-एक आयुकर्मके गलनरूप ही मरण होता है। यह प्रकृतिमरण कालभेदसे एक भी जीवके चार प्रकारका होता है। वह आवीचिकमरण ही है। इस प्रकार प्रकृति आवीचिमरणका व्याख्यान किया।

दूसरा स्थिति आवीचिकमरण है। भवधारणमे कारणरूपसे परिणत हुए पुद्गलोके स्नेहवश आत्माके प्रदेशोमे ठहरनेको स्थिति कहते है। आत्माका कषायरूप परिणाम पुद्गलोकी स्निग्धताका सहकारी होता है। परिणामी कारण तो स्वय पुद्गलद्रव्य ही है। यह स्थिति एक समयसे लेकर एक-एक समय बढते-बढते कुछ कम तेतीस सागरोके जितने समय है उतने भेदवाली होती है। यह उत्कृष्ट स्थिति है। जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। तरगोंके समान क्रमसे अवस्थित उस स्थितिके विनाशसे आत्माके स्थिति आवीचिकमरण होता है।

भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपसृष्टपूर्वभवविगमन तद्भवमरण । तत्त्वनतश प्राप्त जीवेनेति ज्ञातव्य तेन तद्भवमरण न दुर्लभम् ।

अनुभवावीचिकामरणमुच्यते—कर्मपुद्गलाना रस अनुभव इत्युच्यते, स च परमाणुषु षोढा वृद्धिहानिरूपेण वीचय इव क्रमेणावस्थितस्य प्रलयोऽनुभवावीचिमरण ।

आयु सज्ञिताना पुद्गलाना प्रदेशा जघन्यनिषेकादारभ्य एकादिवृद्धिक्रमेणावस्थितवीचय इव तेषा गलन प्रदेशावीचिकामरण ।

अवधिमरण नाम कथ्यते—यो यादृश मरण साप्रतमुपैति तादृगेव यदि मरण भविष्यति तदवधिमरण । तद्द्विविधं देशावधिमरण सर्वावधिमरण इति ।

तत्र सर्वावधिमरण नाम यदायुर्यथाभूतमुदेति साप्रत प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैस्तथानुभूतमेवायु प्रकृत्यादिविशिष्ट पुनर्बध्नाति उदेष्यति च यदि तत्सर्वावधिमरण ।

यत्सापतमुदेत्यायुर्यथाभूत तथाभूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरण । एतदुक्त भवति देशत सर्वतो वा सादृश्येनावधीकृतेन विशेषित मरणमवधिमरणमिति । साप्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्यतमरण उच्यते, आदिशब्देन साप्रत प्राथमिक मरणमुच्यते तस्य अतो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यतमरण अभिधीयते । प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतं साप्रतमुपैति मृति तथाभूता यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यतमरण ।

बालमरणमुच्यते—बालस्य मरण बालमरण, स च बाल पञ्चप्रकार अव्यक्तबाल व्यवहारबाल,

---

भवान्तर प्राप्तिपूर्वक उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भवका विनाश तद्भवमरण है । वह तो इस जीवने अनन्तवार प्राप्त किया है । अत तद्भवमरण दुर्लभ नही है ।

अनुभव आवीचिमरण कहते है—कर्मपुद्गलोके रसको अनुभव कहते है । वह अनुभव परमाणुओमे छह प्रकारकी वृद्धि हानिके रूपसे तरगोंकी तरह क्रमसे अवस्थित है । उसका विनाश अनुभव आवीचिमरण है । आयुसज्ञावाले पुद्गलोके प्रदेश जघन्य निषेकसे लेकर एक आदि वृद्धिके क्रमसे तरगोकी तरह अवस्थित है उनके गलनेको प्रदेश आवीचिकामरण कहते है ।

अवधिमरणको कहते है—जो वर्तमानमे जैसा मरण प्राप्त करता है यदि वैसा ही मरण होगा तो उसे अवधिमरण कहते है । उसके दो भेद है—देशावधिमरण और सर्वावधिमरण । वर्तमानमे जो आयु जैसे प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशोको लेकर उदयमे आ रही है वैसी ही प्रकृति आदिको लिए हुए यदि पुन आयुबन्ध करता है और उसी प्रकार भविष्यमे उसका उदय होता है तो उसे सर्वावधिमरण कहते है । और वर्तमानमे जैसा आयुका उदय होता है वैसा ही यदि एक देश बन्ध करता है वह देशावधिमरण है । इसका अभिप्राय यह है एक देशसे अथवा सर्वदेशसे मर्यादाको लिए हुए सादृश्यसे विशिष्ट मरणको अवधिमरण कहते हैं । वर्तमानमरणसे यदि भाविमरण असमान होता है तो उसे आद्यन्तमरण कहते है । यहाँ आदि शब्दसे वर्तमानका प्राथमिकमरण कहा जाता है । उसका अन्त अर्थात् विनाश जिस उत्तरमरणमे होता है उसे आद्यन्तमरण कहते है । वर्तमानमे जिस प्रकारके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश द्वारा मरणको प्राप्त होता है यदि एकदेश या सर्वदेशसे उस प्रकारके मरणको प्राप्त नही होता तो वह आद्यन्तमरण है ।

बालमरणको कहते है—बालके मरणको बालमरण कहते है । वह बाल पाँच प्रकारका

ज्ञानबाल , दर्शनवाल , चारित्रबाल इति । अव्यक्त शिशु धर्मार्थकामकार्याणि यो न वेत्ति न च तदाचरणसमर्थशरीर सोऽव्यक्तबाल । लोकवेदसमयव्यवहारान्यो न वेत्ति शिशुर्वासौ व्यवहारबाल । मिथ्यादृष्टय [1]सर्वेऽर्थतत्त्वश्रद्धानरहिता दर्शनबाला । वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानन्यूना ज्ञानबाला । अचारित्रा प्राणभृतश्चारित्रबाला । एतेषा बालाना मरण बालमरण । एतानि च अतीते काले अनतानि । अनताश्च मृतिमिमा प्रपद्यते । इह दर्शनबालो गृहीत नेतरे बाला कथ ? यस्मात्सम्यग्दृष्टेरितरबालत्वे सत्यपि दर्शनपडितताया सद्भावात्पडितमरणमेवेष्यते ।

दर्शनबालस्य पुन सक्षेपतो द्विविध मरण । इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च । तयोराद्यमग्निना धूमेन, शस्त्रेण, विषेण, उदकेन, मरुत्प्रपातन, उच्छ्वासनिरोधेन, अतिशीतोष्णपातेन, रज्ज्वा, क्षुधा, तृषा, जिह्वोत्पाटनेन, विरुद्धाहारसेवनया च बाला मृति ढौकन्ते, कुतश्चिन्निमित्ताज्जीवितपरित्यागैषिण काले अकाले वा अध्यवसानादिना यन्मरण जिजीविषो तद्द्वितीयम् । एतैर्बालमरणैर्दुर्गतिगामिनो म्रियन्ते विषयव्यासक्तबुद्धय अज्ञानपटलावगुठिता , ऋद्धिरससातगुरुका । बहुतीव्रपापकर्मास्रवद्वाराण्येतानि बालमरणानि जातिजरामरणव्यसनापादनक्षमाणि ॥

पडितमरणमुच्यते—व्यवहारपडित , सम्यक्त्वपडित , ज्ञानपडितश्चारित्रपडित इति चत्वारो विकल्पा । लोकवेदसमयव्यवहारनिपुणो व्यवहारपडित अथवाऽनेकशास्त्रज्ञ शुश्रूषादिबुद्धिगुणसमन्वित व्यवहारपडित ,

---

है—अव्यक्तबाल, व्यवहारबाल, ज्ञानवाल, दर्शनबाल, चारित्रबाल । अव्यक्त छोटे बच्चेको कहते हैं । जो धर्म, अर्थ और कामको नही जानता और न जिसका शरीर ही उनका आचरण करनेमे समर्थ है वह अव्यक्तबाल है । जो लोक, वेद और समय सम्बन्धी व्यवहारोको नही जानता अथवा इन विषयोमे शिशु समान है वह व्यवहारबाल है । अर्थ और तत्त्वके श्रद्धानसे रहित सब मिथ्यादृष्टि दर्शनबाल है । वस्तुको यथार्थरूपसे ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे जो हीन है वे ज्ञानबाल है । जो चारित्रपालन किये विना जीते है वे चारित्रबाल है । इन बालोके मरणको बालमरण कहते है । अतीतकालमे ये बालमरण अनन्त हो चुके है । अनन्तजीव इस मरणको प्राप्त होते है । यहाँ इनमेसे दर्शनबालका ग्रहण किया है, अन्य बालोका नही, क्योकि सम्यग्दृष्टि मे इतर बालपना रहते हुए भी दर्शनपडितपना रहता है इसलिए उसके पडितमरण ही स्वीकार किया है ।

सक्षेपमे दर्शनबालका मरण दो प्रकार का है एक इच्छापूर्वक, दूसरा अनिच्छापूर्वक । आगसे, धुएँसे, शस्त्रमे, विषसे, जलसे, पर्वतसे गिरनेसे, श्वासके रुकनेसे, अति शीत या अति गर्मी पडनेसे, रस्सीसे, भूखसे, प्याससे, जीभ उखाडनेसे और प्रकृति विरुद्ध आहारके सेवनसे बालपुरुष मरणको प्राप्त होते है यह इच्छापूर्वक मरण है अर्थात् ऐसे उपाय स्वय करके वे मरते है ।

किसी निमित्त वश जीवनको त्यागनेकी इच्छा होने पर भी अन्तरगमे जीनेकी इच्छा रहते हुए काल या अकालमे अध्यवसान आदिसे जो मरण होता है वह अनिच्छापूर्वक दर्शनबाल मरण है । जो दुर्गतिमे जानेवाले है, विषयोमे अतिआसक्त है, अज्ञान पटलसे आच्छादित है, ऋद्धि, रस और सुखके लालची है वे इन बालमरणोसे मरण करते है । ये बालमरण बहुत तीव्र पापकर्मोके आस्रवके द्वार है, जन्म, जरा, मरणके दु खोको लानेवाले है ।

पण्डितमरणको कहते है—इसके चार भेद है, व्यवहार पण्डित, सम्यक्त्व पण्डित, ज्ञानपण्डित और चारित्र पण्डित । जो लोक, वेद और समयके व्यवहारमे निपुण है वह व्यवहारपण्डित

---

१ सर्वथा तत्व-आ० मु० ।

क्षायिकेण क्षायोपशमिकेनौपशमिकेन वा सम्यग्दर्शनेन परिणत दर्शनपडित । मत्यादिपचप्रकारसम्यग्ज्ञानेषु परिणत ज्ञानपडित । सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धसूक्ष्मसापराययथाख्यातचारित्रेषु कस्मिश्चित्प्रवृत्तश्चारित्रपडित । इह पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्रपडिताना अधिकार: । व्यवहारपडितस्य मिथ्यादृष्टे बालमरण यतो भवति सम्यग्दृष्टेस्तदेव दर्शनपडितमरण भवति । तद्दर्शनपडितमरण नरके, भवनेषु, विमानेषु, ज्योतिष्केषु, वानव्यतरेषु, द्वीपसमुद्रेषु च । ज्ञानपडितमरणानि च तेष्वेव । मनुष्यलोके एव केवलमन पर्ययज्ञानपडितमरण भवति ।

ओसण्णमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितात्सयतसार्थाद्यो हीन प्रच्युत सोऽभिधीयते ओसण्ण इति । तस्य मरण ओसण्णमरणमिति । ओसण्णग्रहणेन पार्श्वस्था , स्वच्छदा , कुशीला ससक्ताश्च गृह्यन्ते । तथा चोक्तम् ॥

पासत्थो सच्छंदो कुसील ससत्त होंति ओसण्णा ॥
जं सिद्धिपच्छिदादो [2]ओहीणा साधु सत्थादो ॥—[ ]

के पुनस्ते ? ऋद्धिप्रिया , रसेष्वासक्ता , दु खभीरव सदा दु खकातरा , कषायेषु परिणता , सज्ञावशगा , पापश्रुताभ्यासकारिण , त्रयोदशविधासु क्रियास्वलसा , सदा सक्लिष्टचेतस , भक्ते उपकरणे च प्रतिबद्धा , निमित्तमत्रौषधयोगोपजीविन गृहस्थवैयावृत्यकरा , गुणहीना गुप्तिषु समितिषु चानुद्यता मदसवेगा दशप्रकारे धर्मे अकृतबुद्धय शबलचारित्रा ओसन्ना इत्युच्यते । एवभूता सतो मृत्वा वराका भवसहस्रेषु

है । अथवा जो अनेक शास्त्रोका ज्ञाता है, सेवा आदि बौद्धिक गुणोसे युक्त है वह व्यवहारपण्डित है । क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यग्दर्शनसे जो युक्त है वह दर्शनपण्डित है । जो मति आदि पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञान रूपसे परिणत है वह ज्ञानपण्डित है । जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्रमेसे किसी एक चारित्रका पालक है वह चारित्रपण्डित है । यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र पण्डितोका अधिकार है । व्यवहारपण्डित मिथ्यादृष्टि का तो बालमरण होता है और सम्यग्दृष्टिका मरण दर्शनपण्डित मरण है । वह दर्शनपण्डित मरण नरकमे भवनवासी देवोमे, वैमानिक देवोमे, ज्योतिष्क देवोमे, व्यन्तर देवोमे और द्वीप समुद्रोमे होता है । ज्ञानपण्डित मरण भी इन्हीमे होता है । किन्तु केवलज्ञान और मन पर्ययज्ञान पण्डितमरण मनुष्य लोकमे ही होता है ।

ओसण्णमरणको कहते है—निर्वाण मार्गपर प्रस्थान करनेवाले सयमियोके सघसे जो हीन हो गया है उसे निकाल दिया गया है वह ओसण्ण कहलाता है । उसके मरणको ओसण्णमरण कहते है । ओसण्णके ग्रहणसे पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और ससक्तोका ग्रहण होना है । कहा भी है—पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द कुशील और ससक्त ये ओसण्ण होते है क्योकि ये मोक्षके लिए प्रस्थान करनेवाले साधुसघसे बाहर होते है ।

ऋद्धियोंके प्रेमी, रसोमे आसक्त, दु खमे भीन, सदा दु खमे कातर, कषायोमे सलग्न, आहारादिसज्ञाके अधीन, पापवर्धक शास्त्रोके अभ्यासी, तेरह प्रकारकी क्रियाओमे आलसी, सदा संक्लेशयुक्त चित्तवाले, भोजन और उपकरणोसे प्रतिबद्ध, निमित्तशास्त्र, मत्र, औषध आदिसे आजीविका करनेवाले, गृहस्थोका वैयावृत्य करनेवाले, गुणोसे हीन, गुप्तियो और समितियोमे उदासीन, सवेग भावमे मन्द, दस प्रकारके धर्ममे मनको न लगानेवाले तथा सदोष चारित्रवाले मुनियोको अवसन्न कहते है । इस प्रकारसे रहते हुए ये बेचारे मरकर हजारो भवोमे भ्रमण करते

१. यथा आ० मु० । २ आहीणा आ० ।

भ्रमन्ति । दुःखानि भुक्त्वा भुक्त्वा पार्श्वस्थरूपेण सुचिरं विहृत्यान्ते आत्मनः शुद्धिं कृत्वा यदि मृतिमुपैति प्रशस्तमेव मरणं भवति ।

सम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य बालपंडितमरणं यतोसावुभयरूपो बालः पंडितश्च । स्थूलकृतात्प्राणातिपातादेर्विरमणलक्षणं चारित्रमस्ति दर्शनं च ततश्चारित्रपंडितो दर्शनपंडितश्च[1] । कुतश्चित्सूक्ष्मादसंयमादनिवृत्त इति चारित्रबालः । तत् बालपंडितमरणं गर्भजेषु पर्याप्तकेषु तिर्यक्षु मनुजेषु भवति । दर्शनपंडितमरणं तु तेषु देवनारकेषु च ।

सशल्यमरणं द्विविधं यतो द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति । मिथ्यादर्शनमायानिदानशल्यानां कारणं कर्म द्रव्यशल्यं । द्रव्यशल्येन सह मरणं पंचानां स्थावराणां भवति असंज्ञिनां त्रसानां च । ननु द्रव्यशल्यं सर्वत्रास्ति तत्किमुच्यते स्थावराणामिति । भावशल्यविनिर्मुक्तं द्रव्यशल्यमपेक्ष्यते । एतदुक्तं—सम्यक्त्वातिचाराणां दर्शनशल्यत्वात्सम्यग्दर्शनस्य च स्थावरेषु अभावात् त्रसेषु च विकलेंद्रियेषु । इदमेव स्यादनागते काले इति मनसः प्रणिधानं निदानं न च तदसंज्ञिष्वस्ति । मार्गस्य दूषणं, मार्गनाशनं, उन्मार्गप्ररूपणं, मार्गस्थानां भेदकरणं च मिथ्यादर्शनशल्यानि ।

तत्र निदानं त्रिविधं प्रशस्तमप्रशस्तं भोगकृतं चेति । परिपूर्णं संयममाराधयितुकामस्य जन्मांतरे पुरुषत्वादिप्रार्थना प्रशस्तं निदानं, मानकषायप्रेरितस्य कुलरूपादिप्रार्थनमनागतभवविषयं अप्रशस्तं निदानं । अथवा

है। किन्तु दुःख उठाते-उठाते पार्श्वस्थरूपमे चिरकाल तक विहार करके अन्तमे आत्माकी शुद्धि करके यदि मरते है तो प्रशस्तमरण ही होता है।

सम्यग्दृष्टि संयतासंयतके मरणको बालपण्डित मरण कहते है क्योकि यह बाल और पण्डित दोनों ही होता है। इसके स्थूल हिंसा आदिसे विरतिरूप चारित्र और दर्शन दोनो होते हैं अतः यह चारित्रपण्डित भी है और दर्शनपण्डित भी है। किन्तु कुछ सूक्ष्म असंयमसे निवृत्त नही होता, इसलिए चारित्रमे बाल है।

यह बालपण्डित मरण गर्भज और पर्याप्तक तिर्यञ्चो तथा मनुष्योमे होता है। दर्शनपण्डित मरण तो इनमे भी होता है और देव तथा नारकियोमे भी होता है।

सशल्य मरणके दो भेद हैं क्योंकि शल्यके दो भेद है—द्रव्यशल्य और भावशल्य। मिथ्यादर्शन, माया और निदान इन शल्योंका कारण जो कर्म है उस कर्मको द्रव्यशल्य कहते है। द्रव्यशल्यके साथ मरण पाँचों स्थावरों, असंज्ञियो और त्रसोका होता है।

शंका—द्रव्यशल्य तो सर्वत्र है तब स्थावरोंके क्यो कहा?

समाधान—यहाँ भावशल्यसे रहित द्रव्यशल्यकी अपेक्षा है। यह कहा है कि सम्यग्दर्शनके अतिचारोका कारण दर्शनशल्य है और सम्यग्दर्शन स्थावरोमे तथा विकलेन्द्रिय त्रसोमे नही होता।

आगामीकालमे यही होना चाहिए इस प्रकारके मनके उपयोगको निदान कहते है। असंज्ञियोमे इस प्रकारका निदान नही होता। मोक्षमार्गको दोष लगाना, मार्गका नाश करना, मिथ्यामार्गका कथन करना, या मोक्षमार्गका कथन न करना, और जो मोक्षमार्गी है उनमें भेद डालना ये मिथ्यादर्शनशल्य हैं। उनमेंसे निदानके तीन भेद है—प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत। परिपूर्ण संयमकी आराधना करनेकी इच्छासे परभवमे पुरुषत्व आदि प्राप्तिकी प्रार्थना प्रशस्त

---

१ तश्च। ततश्चारित्रपंडितो दर्शनपंडितश्च कुत—आ०।

क्रोधाविष्टस्य स्वशत्रुवधप्रार्थना वशिष्ठस्येवोग्रसेनोन्मूलने । इह परत्र च भोगा अपि इत्थभूता अस्माद् व्रतशीला-दिकाद् भवन्त्विति मन.प्रणिधानं भोगनिदान । असंयतसम्यग्दृष्टे. संयतासंयतस्य वा निदानशल्यं भवति । पार्श्व-स्थादिरूपेण चिर विहृत्य पश्चादपि आलोचनामंतरेण यो मरणमुपैति तन्मायाशल्यं मरण तस्य भवति । एतच्च सयते, सयतासंयते, अविरतसम्यग्दृष्टावपि भवति ।

बलायमरणमुच्यते—विनयवैयावृत्यादावकृतादरः, प्रशस्तयोगोद्वहनालसः, प्रमादवान्व्रतेषु, समितिषु, गुप्तिषु च स्ववीर्यनिगूहनपर , धर्मचिंताया निद्रया घूर्णित इव ध्याननमस्कारादे. पलायते अनुपयुक्ततया, एतस्य मरण बलायमरण । सम्यक्त्वपडिते, ज्ञानपडिते चरणपडिते च बलायमरणमपि[1] सभवति । ओसण्णमरण ससल्लमरण च यदभिहित तत्र नियमेन बलायमरणम् । तद्व्यतिरिक्तमपि बला।मरण भवति । नि शल्य संविग्नो भूत्वा चिर रत्नत्रयप्रवृत्तस्य सस्तरमुपगतस्य शुभोपयोगात्पलायमानस्य भावस्य शुभस्यानवस्थानात् ।

वसट्टमरण नाम—आर्त्ते रौद्रे च प्रवर्तमानस्य मरण । तत्पुनश्चतुर्विध—इदियवसट्टमरण, वेदणाव-मट्टमरण, कसायवसट्टमरण, नोकसायवसट्टमरण इति । इदियवसट्टमरण यत् तत्पचविध इद्रियविषयापेक्षया । सुरैर्नरैस्तिर्यग्भिरजीवैश्च कृतेषु ततविततघनसुषिरशब्देषु मनोज्ञेषु रक्तोऽमनोज्ञेषु द्विष्टो मृतिमेति । यथा चतु -प्रकारे आहारे रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरण, पूर्वोक्ताना सुरनरादीना गधे द्विष्टस्य रक्तस्य वा मरण, तेषामेव

निदान है। मानकषायसे प्रेरित होकर आगामी भवमे उच्चकुल, सुन्दररूप आदिकी प्रार्थना अप्रशस्त निदान है। अथवा क्रोधके आवेशमे आकर अपने शत्रुके वधकी प्रार्थना, जैसे वशिष्ठने उग्रसेनके विनाशकी प्रार्थना की थी, अप्रशस्त निदान है। इस व्रतशील आदिके प्रभावसे इस भवमे और परभवमे इस प्रकारके भोग मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार मनके सकल्पको भोगनिदान कहते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टी अथवा संयतासयतके निदानशल्य होता है। चिरकालतक पार्श्वस्थ आदि साधुके रूपमे विहार करनेके पश्चात् भी जो आलोचना किये बिना मर जाता है उसका वह मायाशल्य मरण होता है। ऐसा मरण संयत, संयतासयत और अविरत सम्यग्दृष्टिमे होता है।

बलायमरणको कहते हैं—जो विनय वैयावृत्य आदिमे आदरभाव नही रखता, प्रशस्त योगके धारणमे आलसी है, प्रमादी है, व्रतोमे, समितियोमें और गुप्तियोमे अपनी शक्तिको छिपाता है, धर्मके चिन्तनमे निद्राके वशीभूत जैसा रहता है, उपयोग न लगनेसे ध्यान नमस्कार आदिसे दूर भागता है, उसका मरण बलायमरण है। दर्शनपण्डित, ज्ञानपण्डित और चारित्रपण्डितके बलायमरण भी सम्भव है। ओसण्णमरण और सशल्यमरणमे नियमसे बलायमरण होता है। उनके अतिरिक्त भी बलायमरण होता है। जो शल्यरहित विरक्त होकर चिरकालतक रत्नत्रयका पालन करता है किन्तु मरते समय सस्तरपर आरूढ़ होकर शुभोपयोगसे दूर भागता है, उसके शुभभावके स्थिर न रहनेसे बलायमरण होता है।

वसट्टमरण कहते है—आर्त और रौद्रध्यानपूर्वक मरणको वसट्टमरण कहते है। उसके चार भेद हैं—इन्द्रियवसट्टमरण, वेदनासमट्टमरण, कसायवसट्टमरण, और नोकसायवसट्टमरण। इन्द्रिय-वसट्टमरण इन्द्रियोंके विषयोंकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है। देवो, मनुष्यो, पशु-पक्षियो और अजीवोके द्वारा किये गये तत, वितत, घन, और शुषिर शब्दोमे, मनोज्ञ शब्दोमे राग और अमनोज्ञ शब्दोंमें द्वेष करते हुए मरण होता है। यह श्रोत्रेन्द्रियवसट्टमरण है। चार प्रकारके

१. मरणं भवति अ० ।

रूपे सस्थाने वा रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरण, तेषामेव स्पर्शे रागवतो द्वेषवतो वा मरण, इति इंद्रियानिन्द्रिय-वशार्तमरणविकल्पा ।

वेदणावसट्टमरण द्विभदं समासतः सातवेदनावशार्तमरण असातवेदनावशार्तमरणमिति । शारीरे मानसे वा दु खे उपयुक्तस्य मरण दु खवशार्तमरणमुच्यते । यो दु खेन मोहमुपागतस्तस्य मरणमिति यावत् । तथा शारीरे मानसे वा सुखे उपयुक्तस्य मरण सातवशार्तमरण ।

कषायभेदात्कषायवशार्तमरण चतुर्विध भवति । अनुबधरोषो य आत्मनि परत्र उभयत्र वा मारणवशो[1] भवति । तस्य क्रोधवशार्तमरण भवति । मानवशार्तमरणमष्टविध भवति कुलेन, रूपेन, बलेन, श्रुतेन, ऐश्वर्येण, लाभेन, प्रज्ञया, तपसा वा आत्मानुमुत्कर्षयतो मरणमपेक्ष्य विख्याते विशाले उन्नते कुले समुत्पन्नोऽहमिति मन्यमानस्य मृति कुलमानवशार्तमरणम् । निरुपहतपचेंद्रियसमग्रगात्रस्तेजस्वी प्रत्यग्रयौवन सकलजनताचेत.-सम्मदकररूप इति भावयतो मृति रूपवशार्तमरण । वृक्षपर्वताद्युत्पाटनक्षमोऽ‌ऽ योधवानह, मित्राणा च बल ममास्ति इति बलाभिमानोऽ‌हनान्मानवशार्तमरण । बहुपरिवारो बहुशासनोऽह इति ऐश्वर्यमानोन्मत्तस्य मरण मानवशार्तमरण । लोकवेदसमयसिद्धान्तशास्त्राणि शिक्षितानि इति श्रुतमानोन्मत्तस्य मरण श्रुतमानवशार्तमरण-मुच्यते । तीक्ष्णा मम बुद्धि सर्वत्राप्रतिहता इति प्रज्ञामत्तस्य मरण प्रज्ञावशार्तमरणमुच्यते । व्यापारे क्रियमाणे

आहारमे राग या द्वेष करते हुए मरण रसनेन्द्रियवसट्टमरण है । पूर्वोक्तदेव मनुष्य आदिकी गन्धमे रागद्वेष करते हुए मरण घ्राणेन्द्रियवसट्टमरण है । उन्हीके रूप आकार आदिमे रागद्वेष करने-वालेका मरण चक्षुइन्द्रियवसट्टमरण है । उन्हीके स्पर्शमे रागद्वेष करनेवालेका मरण स्पर्शनेन्द्रिय-वसट्टमरण है । इस प्रकार इन्द्रिय और मनके वशसे होनेवाले आर्तध्यानपूर्वक मरणके भेद है ।

वेदनावसट्टमरणके सक्षेपसे दो भेद है—सातवेदनावशार्तमरण और असातवेदनावशार्त-मरण । शारीरिक अथवा मानसिक दु खमे उपयोग रहते हुए होनेवाले मरणको दु खशार्तमरण कहते है । अर्थात् जो दु खसे मोहको प्राप्त हुआ उसका मरण दु भयशार्तमरण है । तथा शारीरिक अथवा मानसिक सुखमे उपयोग रहते हुए होनेवाला मरण सातवशार्त मरण है ।

कषायके भेदसे कषायवशार्तमरणके चार भेद होते है । अपनेमे, दूसरेमें अथवा दोनोमे मारनेके लिए उत्पन्न हुआ क्रोध मरणका कारण होता है । वह क्रोधवशार्तमरण है । मानवश-आर्तमरणके आठ भेद है—कुल, रूप, बल, शास्त्र, ऐश्वर्य, लाभ, बुद्धि अथवा तपसे अपनेको बडा मानते हुए मरण होनेकी अपेक्षा ये आठ भेद होते है । मै अति प्रसिद्ध विशाल उच्चकुलमे उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा मानते हुए होनेवाले मरणको कुलमानवश आर्तमरण कहते है । मेरा शरीर सशक्त पाँच इन्द्रियोसे पूर्ण है, तेजस्वी और नवयौवनसे सम्पन्न है, मेरा रूप समस्त जनताके चित्तको मर्दन करता है, ऐसी भावना होते हुए जो मरण होता है वह रूपवश आर्तमरण है । मै वृक्ष पर्वत आदिको उखाडनेमे समर्थ हूँ, लड़नेमे समर्थ हूँ, मेरे साथ मित्रोका बल है, इस प्रकार बलके अभिमानको धारण करते हुए होनेवाला मरण बलमानवश आर्तमरण है । मै बहुत परिवार वाला हूँ मेरा शासन बहुतोपर है इस प्रकार ऐश्वर्यके मानसे उन्मत्तका मारण ऐश्वर्यमान वशार्त-मरण है । मैने लोक, वेद, समय और सिद्धान्त सम्बन्धी शास्त्रोको पढा है इस प्रकार शास्त्रके मानसे उन्मत्तका मरण श्रुतमानवश आर्तमरण है । मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, सब विषयोंमें उसकी

१ वा मरणवशो भवति अ० । वा मारणवशा भवति आ० ।—वशोपि मरणवश भ–मु० ।

मम सर्वत्र लाभो जायते इति लाभमानं भावयतो मरणं लाभवशार्त्तमरणम् । तपो मयानुष्ठीयते अन्यो मत्सदृशश्चरणे नास्ति इति सकल्पयतस्तपोमानवशार्तमरण भवति । माया पचविकल्पा निकृति, उपधिः, सातिप्रयोगः, प्रणिधि प्रतिकुचनमिति । अतिसधानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वंचना निकृति उच्यते । सद्भाव प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तैन्यादिदोषे प्रवृत्तिरुपधिसज्ञिता माया । अर्थेषु विसवाद स्वहस्तनिक्षिप्तद्रव्यापहरण, दूषण, प्रशसा वा सातिप्रयोग । प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, ऊनातिरिक्तमानं, सयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया । आलोचन कुर्वतो दोषविनिगूहन प्रतिकुंचनमाया । एवविध मायावशार्तमरणं । उपकरणेषु, भक्तपानक्षेत्रेषु, शरीरे, निवासस्थानेषु च इच्छा मूर्च्छा च वहतो मरण लोभवशार्तमरण । हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुसकवेदे मूढमतेर्मरण नोकषायवशार्तमरण । नोकषाय[1]वशार्तमरणमुपगतो जायते मनुजतिर्यग्योनिषु, असुरेषु, कदर्पेषु, किल्बिषिकेषु च । मिथ्यादृष्टेरेतदेव बालमरण भवति । दर्शनपडितोऽपि अविरतसम्यग्दृष्टि सयतासयतोऽपि वशार्तमरणमुपैति तस्य तद्बालपडित भवति दर्शनपडित वा ।

अप्रतिषिद्धे अननुज्ञाते च द्वे मरण 'विप्पाणस गिद्धपुट्ठमितिसज्ञिते कृते प्रवर्तेते । दुर्भिक्षे, कातारे, दुरुत्तरे, पूर्वशत्रुभये, दुष्टनृपभये, स्तेनभये, तिर्यगुपसर्गे एकाकिन सोढुमशक्ये ब्रह्मव्रतनाशादिचारित्रदूषण च

बेरोक गति है इस प्रकार प्रज्ञाके मदसे मत्तके मरणको प्रज्ञामानवश आर्तमरण कहते है। व्यापार करनेपर मुझे सर्वत्र लाभ होता है इस प्रकार लाभका मान करते हुए होनेवाले मरणको लाभमानवशार्तमरण कहते है। मै तप करता हूँ, तपश्चरणमे मेरे समान दूसरा नही है। ऐसा सकल्प करते हुए होनेवाले मरणको तपमानवशार्तमरण कहते हैं।

मायाके पाँच भेद हैं—निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणधि और प्रतिकुञ्चन। दूसरोकी गुप्त बातोकी खोजमे कुशलता, तथा धन अथवा किसी कार्यकी अभिलाषावालेको ठगना निकृति है। समीचीन भावको छिपाकर धर्मके बहानेसे चोरी आदि दोषोमे प्रवृत्तिको उपधिनामक माया कहते है। अर्थ (धन) के विषयमे झगडा करना, अपने हाथमे रखे द्रव्यको हर लेना, प्रयोजनके अनुसार दोष लगाना या प्रशसा करना सातिप्रयोग माया है। असली वस्तुमे उसके समान नकली वस्तु मिलाना, कमती बढती तोलना, मिलावटके द्वारा द्रव्यका विनाश करना ये प्रणिधिमाया है। आलोचना करते समय दोषोको छिपाना प्रतिकुंचन माया है। इस प्रकारके मायाचारपूर्वक होनेवाले मरणको मायावशार्तमरण कहते है। उपकरणोमे, खानपानके क्षेत्रोमे, शरीरमे, निवास स्थानोमे इच्छा और ममत्व रहते हुए होनेवाले मरणको लोभवशार्तमरण कहते है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुसकवेद और पुरुषवेदको लेकर जिसकी बुद्धि मूढ हो गई है उसका मरण नोकषायवशावर्तमरण है। नोकषायवशार्तमरणसे मरा हुआ प्राणी मनुष्य योनि, तिर्यञ्चयोनि, तथा असुर, कन्दर्प और किल्विषजातिके देवोमे उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टिके होनेवाला यही मरण बालमरण होता है। दर्शनपण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि और सयतासंयतके भी वशार्तमरण होता है उनका वह मरण बालपण्डितमरण अथवा दर्शनपण्डितमरण होता है।

पिप्पणास और गिद्धपुट्ठ नामके दो मरण ऐसे है जिनका निषेध भी नही है अनुज्ञा भी नही है। दुर्भिक्षमे, भयानक जगलमे, पूर्वशत्रुका भय होनेपर, या दुष्ट राजाका भय होनेपर, चोरका भय होनेपर, तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होनेपर जिसे अकेले सहन करना अशक्य है, या ब्रह्मचर्य-

१ वशाति–अ० अ० ज०।

जाते सविग्न पापभीरुः कर्मणामुदयमुपस्थित ज्ञात्वा तं सोढुमशक्त. तन्निस्तरणस्यासत्युपाये सावद्यकरणभीरु विराधनमरणभीरुश्च एतस्मिन् कारणे जाते कालेऽमुष्मिन् कि भवेत्कुशलमिति गणयतो यद्युपसर्गभयत्रासित संयमाद्भ्रश्यामि तत सयमभ्रष्टो दर्शनादपि न वेदनामसक्लिष्टः सोढु उत्सहेत ततो रत्नत्रयाराधनाच्च्युतिर्ममेति निश्चितमतिर्निर्मायश्चरणदर्शनविशुद्ध, धृतिमान्, ज्ञानसहायोऽनिदानः, अर्हदन्तिके, आलोचनामासाद्य कृतशुद्धि, सुलेश्य प्राणापाननिरोधं करोति यत्तद्विप्पाणसं मरणमुच्यते ! शस्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्गिद्धपुट्ठमित्युच्यते । मरणविकल्पसभवप्रदर्शनमिद सर्वत्र कर्तव्यतयोपदिश्यते । प्रायोपगपनमिंगिणीमरण भक्तप्रत्याख्यान इत्येतान्येवोत्तमानि पूर्वपुरुषैः प्रवर्तितानि । एव दिङ्मात्रेण पूर्वागमानुसारि सप्तदशमरणव्याख्यानमत्रोपक्रान्तम् ।

एतेषु सप्तदशसु पच मरणानि इह सक्षेपतो निरूपयिष्यामीति प्रतिज्ञानेन कृता । कानि तानि पच मरणानि इत्याशकाया नामनिर्देशार्थं गाथा पडितपंडितमरणमित्यादिका—

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव ॥
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥

ननु भवपर्यायप्रलयो मरणमिति यदि गृह्यते तस्य को भेदो भवपर्यायस्य अनेकत्वात् मरण तद्विनाश कथं न भिद्यते इति । मनुष्ये पचप्रकारतानुपपन्ना अनतत्वान् एकजीवगतस्यापि भवपर्यायस्य नानाजीवापेक्षाया

व्रतका विनाश आदि दूषण चारित्रमे होनेपर संसारसे विरक्त और पापसे डरनेवाला साधु कर्मोंका उदय उपस्थित जानकर उसे सहनेमे असमर्थ होनेसे उससे निकलनेका उपाय न होनेपर पापकर्म करनेसे डरता हुआ, साथ ही विराधनापूर्वक मरणसे डरता हुआ विचारता है इस कालमे इस प्रकारके कारण उपस्थित होनेपर कैसे कुशल रह सकती है, यदि उपसर्गके भयसे डरकर सयमसे भ्रष्ट होता हूँ तो सयमसे भी भ्रष्ट और दर्शनसे भी भ्रष्ट होता हूँ। और बिना संक्लेशके वेदनाको सहन कर नही सकता। तब मै रत्नत्रयके आराधनसे डिग जाऊँगा, ऐसी निश्चित मति करके सम्यक्त्व और चारित्रमे विशुद्ध, धैर्यशाली, ज्ञानसे सहायता लेनेवाला वह साधु किसी निदानके विना अर्हन्तके पासमे आलोचना प्रायश्चित्त लेकर शुभलेश्यापूर्वक श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है। उसे विप्पणास मरण कहते है। और शस्त्रग्रहणसे होनेवाले मरणको गिद्धपुट्ठ कहते है।

मरणके भेदोका यह प्रदर्शन सर्वत्र कर्तव्यरूपसे किया जाता है। किन्तु प्रायोपगमन, इगिणीमरण और भक्तप्रत्याख्यान ये तीन ही मरण उत्तम है, पूर्व पुरुषोंने इनका पालन किया है। इस प्रकार सक्षेपसे पूर्व आगमके अनुसार सत्तरह मरणोका व्याख्यान यहाँ किया ॥२५॥

इन सत्तरहमे से पाँच मरणोको यहाँ सक्षेपसे कहूँगा ऐसी प्रतिज्ञा ऊपर की है। वे मरण कौन हैं ऐसी शका करने पर उनका नाम निर्देश करनेके लिए गाथा कहते हैं—

गाथा—पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण, बाल पण्डितमरण, चौथा बालमरण और पाँचवा बाल बालमरण, ये पाँच मरण है।

टीका—शंका-यदि भवपर्यायके विनाशको मरण कहते हो तो उसका भेद कैसा ? भवपर्याय तो अनेक है और उनका विनाश मरण है तब मरणके भेद उतने क्यो नही होगे। अतः मनुष्यमे मरणके पाँच प्रकार ठीक नही है। एक जीव की भी भवपर्याय अनन्त होती है तब नाना-

कोऽवसर पंचत्वस्य । प्राणिन' प्राणेभ्यो वियोगो मरणं इति चेत्तदेकविधमेव सामान्यत । प्राणभेदापेक्षयेति चेद्दशप्रकारतापद्यते । उदयप्राप्तकर्मपुद्गलगलन मरणं इति यदि गृह्यते प्रतिसमय गलनान्न पंचता । गुणभेदापेक्षया जीवान्पचधा व्यवस्थाप्य तत्सबधेन पंचविधं मरणमुच्यते ।

अन्नान्या व्याख्या—प्रशस्ततमं, प्रशस्ततर, ईषत्प्रशस्त, अविशिष्ट, अविशिष्टतर इति पडितपडितमरणादीनि केचिद् । व्याचक्षते । पडितशब्द प्रशस्तमित्यस्मिन्नर्थे क्व प्रयुक्तो दृष्टो येनैव व्याख्यायते ? किं च आगमातरानानुगत चेद व्याख्यान ।

ववहारे सम्मत्ते णाणे चरणे य पंडिवस्स तदा ।
पंडिवमरणं भणिदं चदुव्विधं तब्भवति हि ।।' [ ]

इति वदता चतु प्रकारा पडिता उपदर्शिता' । तेषा मध्ये अतिशयित पाडित्य यस्य ज्ञानदर्शनचारित्रेषु स पडितपडित इत्युच्यते । एतत्पाडित्यप्रकर्षरहित पाडित्यं यस्य स पडित इत्युच्यते । व्याख्यात बाल्य पांडित्यं च यस्य स भवति बालपडित. तस्य मरणं बालपडितमरणं । यस्मिन्न सभवति पाडित्य चतुर्णामप्येक असौ बाल । सर्वतो न्यूनो बालबाल तस्य मरण बालबालमरण ।

अथ के पडितपडिता येषा मरण पडितपडितमिति भण्यते इत्यारेकायामाह—

पडिदपंडितमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो ।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण ।।२७।।

जीवोकी अपेक्षा पाँच भेद कैसे सभव है ? यदि कहोगे कि प्राणीका प्राणोसे वियोग मरण है तो वह सामान्यसे एक ही प्रकार का है। प्राणभेदकी अपेक्षा लेना हो तो दस भेद हो सकते है ? यदि उदय प्राप्त कर्म पुद्गलोके गलनेका नाम मरण है तो कर्म पुद्गलोका गलन तो प्रति समय होता है अत' पाँच भेद नही बनते ?

समाधान—गुणभेदकी अपेक्षा जीवोके पाँच भेद करके उनके सम्बन्धसे मरणके पाँच भेद कहे है।

अन्य व्याख्याकार पण्डितपण्डितमरण आदि पाँच मरणोको प्रशस्ततम, प्रशस्ततर, ईषत् प्रशस्त, अविशिष्ट और अविशिष्टतर कहते है। हम उनसे पूछते हैं कि पण्डित शब्दका प्रशस्त अर्थमें प्रयोग कहाँ देखा है जिससे आप ऐसी व्याख्या करते है। तथा यह व्याख्यान अन्य आगमोके अनुकूल नही है।

आगममे कहा है—व्यवहारमे, सम्यक्त्वमें, ज्ञानमे और चारित्रमे पण्डितके मरणको पण्डितमरण कहते हैं अत. उसके चार भेद है। इस प्रकार चार प्रकारके पण्डित कहे है। उनके मध्यमे जिसका पाण्डित्य ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें अतिशयशाली है उसे पण्डितपण्डित कहते है। उसके पाण्डित्यके प्रकर्षसे रहित जिसका पाण्डित्य होता है उसे पण्डित कहते हैं। पूर्वमे व्याख्यात बालपन और पाण्डित्य जिसमे होते है वह बालपण्डित है। उसका मरण बालपण्डितमरण है। और जिसमे चारो प्रकारके पाण्डित्यमे से एक भी पाण्डित्य नहीं है वह बाल है और जो सबसे हीन है वह बालबाल मरण है ।।२६।।

वे पण्डितपण्डित कौन है जिनका मरण पण्डितपण्डित कहा जाता है ? ऐसी शङ्का होनेपर आचार्य कहते हैं—

पंडिदपंडिदमरणं खीणकसाया मरंति केवलिणो । सामान्यमृतेर्विशेषमृति कर्मतया निर्दिष्टा पंडित-पंडितमरणमिति । यथा गोपोषं पुष्ट इति । **'खीणकसाया'**, कषन्ति हिंसन्ति आत्मानमिति कषाया । अथवा कषायशब्देन वनस्पतीना त्वक्पत्रमूलफलरस उच्यते । स यथा वस्त्रादीना वर्णमन्यथा संपादयति एव जीवस्य क्षमामार्दवार्जवसतोषाख्यगुणान्विनाश्यान्यथा व्यवस्थापयतीति क्रोधमानमायालोभा कषाया इति भण्यते । ते क्षीणा कषाया येषा ते क्षीणकषाया । द्रव्यकर्मणा कषायवेदनीयाना विनाशात्तन्मूला अपि भाव-कषाया प्रलयमुपगता इति क्षीणकषाया इति भण्यन्ते । केवलमसहाय ज्ञान इन्द्रियाणि मन प्रकाशादिक चा-नपेक्ष्य युगपदशेषद्रव्यपर्यायभासनसमर्थं सद्यत्[1] प्रवर्तते तद्येषामस्ति ते केवलिन । यद्यपि केवलज्ञानवस्तु-सामान्ये न प्रवर्तते केवलिशब्दस्तथापि सयोगकेवलिनो मरणस्यासभवादयोगकेवलिनो ग्रहण । अत्रान्ये क्षीण-कषाया श्रुतकेवलिनश्चेति व्याचक्षते । तेषा तद्व्याख्यानमसमजस श्रुतशब्दमतरेण केवलिशब्दस्य क्वचिदप्यागमे समस्तश्रुतरत्नवत्यपि प्रयोगादर्शनात् । प्रसिद्धशब्दार्थासभवो यदि स्यात् यथा कथचिदन्योऽर्थो व्याख्येय स्यात् । सभवति प्रतीतेऽर्थे कथ तत्परित्याग. । अपि च पाडित्यप्रकर्ष क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्रापेक्षस्तत्र सन्नि-हितो न श्रुतकेवलिनि । विरदाविरदा जीवा स्थूलकृतात्प्राणातिपातादेर्व्यावृत्ता इति विरता सूक्ष्मात्त्वा-व्यावृत्तेरविरता । विरता यदि कथमविरता अविरताश्चेत्कथ विरता इति विरोधाशका न कार्या । विरत-

गा०—पण्डितपण्डितमरणसे क्षीण कषाय और अयोगकेवली मरते है। विरताविरत जीव तीसरे मरणसे मरते है ॥२७॥

टी०—'पण्डितपण्डितमरण मरते है' यहाँ पण्डितपण्डित नामक विशेष मरणको 'मरते है' इस सामान्य मरणके कर्मरूपसे कहा है। जैसे बैलके समान पुष्टको सामान्य पुष्ट शब्दसे कहा है। जो 'कर्षन्ति' अर्थात् आत्माका घात करती हैं उन्हे कषाय कहते है। कषाय शब्दसे वन-स्पतियोंके छाल, पात्र, जड और फलका रस कहा जाता है। वह रस जैसे वस्त्रादिके रगको बदल देता है इसी प्रकार जीवके क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष नामक गुणोको नष्ट करके अन्यथा कर देते है इसलिए क्रोध, मान, माया, लोभको कषाय कहते है। वे कषाय जिनकी क्षीण हो गई हैं—नष्ट हो गई है वे क्षीणकषाय होते है। कषाय वेदनीय नामक द्रव्यकर्मोका विनाश होनेसे उनका निमित्त पाकर होने वाली भावकषाय जिनकी नष्ट हो गई है वे क्षीणकषाय कहे जाते है। केवल अर्थात् असहाय ज्ञान, जो इन्द्रियाँ, मन, प्रकाश आदि की अपेक्षा न करके एक साथ समस्त द्रव्य-पर्यायोको जाननेमे समर्थ है वह केवलज्ञान है। वह जिनके है वे केवली होते है। यद्यपि केवली शब्द केवलज्ञान रूप वस्तुसामान्यमे प्रवृत्त नही होता, तथापि सयोग-केवलीका मरण असम्भव होनेसे अयोगकेवलीका ग्रहण होता है। दूसरे व्याख्याकार 'क्षीणकषाय और श्रुतकेवली' ऐसा व्याख्यान करते है। उनका वह व्याख्यान ठीक नही है। श्रुत शब्दके बिना केवली शब्दका प्रयोग किसी भी आगममे समस्त श्रुतधारीके लिए नही देखा गया। यदि शब्दका प्रसिद्ध अर्थ असम्भव ही हो तो जिस किसी तरह अन्य अर्थ किया जा सकता है। जब सम्भव अर्थ प्रतीतिसिद्ध है तो उसे कैसे छोडा जा सकता है? दूसरे, पाण्डित्यका प्रकर्ष वहाँ क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और क्षायिक चारित्रकी अपेक्षा लिया गया है, वह श्रुतकेवलीमे नही है।

जो स्थूल हिसा आदिसे निवृत्त होनेसे विरत और सूक्ष्म हिसा आदिसे अनिवृत्त होनेसे अविरत होते हैं वे जीव विरताविरत होते हैं। यदि वे विरत है तो अविरत कैसे हैं और अविरत

१ सद्यत्र–अ० ज० मु० ।

त्वाविरतत्वयो॰ अर्पणाभेदाद्विरोधो नास्पद बध्नाति । यथा द्रव्यपर्यायरूपापेक्षे नित्यानित्यत्वे एकद्रव्याधिकरणे एकस्मिन्नपि समये न विरोधमुपयात. । अथवाऽप्रत्याख्यानावरणाना क्षयोपशमे सति स्थूलात्प्राणातिपातादेविरतोऽस्मि न सूक्ष्मादित्येक एव परिणाम उपजायते । विरोधश्च नाम अनेकाधिकरण यथा शीतोष्णस्पर्शादीना । द्रव्यभावप्राणधारणाज्जीवा इति निरूप्यते । **'तइएण'** तृतीयेन मरणेन म्रियन्ते । वस्तुपरिणामवृत्तिक्रमो यदि स्यात्तथा गण्यमाने[1] द्वित्व त्रित्व वा प्रतिपद्येरन् । गुणस्थानापेक्षाया सम्यङ्मिथ्यादृष्टेरेव तृतीयता न मयतासयतत्वस्य तत्किमुच्यते तृतीयेनेति ? मरणम्य तु सामान्यापेक्षाया एकत्वमेवेति न तृतीयता । विशेषापेक्षाया च अतीताना च अनन्तत्वादनागताना चातिबहुत्वसभवात् । अत्रोच्यते-सूत्रनिर्दिष्टक्रमापेक्षया तृतीयता ग्राह्या ।

विरताविरतपरिणामविशेषनिर्देशादेव जीवद्रव्यस्य गते जीवा इति सूत्रे वचनमपार्थकमिति चेन्नानर्थकं मतातरनिवृत्तिपरत्वात् । साख्या हि प्रकृतिधर्मता मरणस्याम्युपयन्ति पुरुषस्य सर्वथा नित्यत्वात् । तत्तथा न, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वादात्मन । अत्रोच्यते—पडितपडितमरणादनतर पडितमरण तदुल्लघ्य

है तो विरत कैसे है इस प्रकारके विरोधकी आशङ्का नही करना चाहिए । अपेक्षा भेदसे विरतपने और अविरतपनेमें विरोधको कोई स्थान नही है । जैसे एक द्रव्यमे एक ही समयमे द्रव्यरूपकी अपेक्षा नित्यपना और पर्यायरूपकी अपेक्षा अनित्यपनामें कोई विरोध नही आता । अथवा अप्रत्याख्यानावरण कषायोका क्षयोपशम होनेपर स्थूल हिंसा आदिसे मै विरत हूँ किन्तु सूक्ष्म हिंसादिसे विरत नही हूँ इस प्रकारका एक ही परिणाम होता है । विरोध तो उनमे होता है जो एक आधारमे न रहकर अनेक आधारोमे रहते है जैसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श आदिमे विरोध है । अस्तु,

द्रव्यप्राण और भावप्राणोको धारण करनेसे जीव कहे जाते है । विरताविरत जीव तीसरे मरणसे मरते है ।

शका—यहाँ तृतीयसे यदि वस्तुके परिणामोकी वृत्तिका क्रम लेते है तो गणना करनेपर दोपना या तीनपना प्राप्त होता है । गुणस्थानकी अपेक्षा सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही तीसरा है, सयतासंयत नही है तब कैसे तीसरा कहते है । तथा सामान्यकी अपेक्षा मरण तो एक ही है, तीसरापना कैसे ? विशेषकी अपेक्षा अतीतमरण अनन्त है और भाविमरण उससे भी अधिक सम्भव है ?

समाधान—सूत्रमे जिस क्रमसे मरणोका निर्देश किया है उसकी अपेक्षा तीसरा लेना चाहिए ।

शंका—विरताविरत परिणाम विशेषका निर्देश करनेसे ही जीवद्रव्यका ज्ञान हो जाता है तब गाथामे जीवा पद व्यर्थ है ?

समाधान—व्यर्थ नही है यह मतान्तरकी निवृत्तिके लिए है । साख्य मतवाले मरणको प्रकृतिका धर्म मानते है क्योकि उनके मतमे पुरुष सर्वथा नित्य है । किन्तु ऐसा नही है, क्योकि आत्मा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है ।

शंका—पण्डितपण्डितमरणके अनन्तर पण्डितमरण आता है । उसे छोड़कर तीसरे मरणका

---

१. गणने आ० मु० ।

तृतीयस्य स्वामित्वं कस्मात्प्रदर्श्यते क्रमोल्लंघने प्रयोजन वाच्यम् ? इति चेदुच्यते—उत्कृष्टजघन्यपडितत्वमध्यवृत्तिपंडितत्वमित्येतदाख्यातुं उभयावधिप्रदर्शनं क्रियते । अथवा पडितमरणे बहुवक्तव्यमस्तीति तत्सान्यासिकं व्यवस्थाप्य अल्पवक्तव्यतया बालपडितमेव प्राग् व्याचष्टे ।

कतिविधं पंडितमरणं किं स्वामिकं वा इत्यारेकाया इय गाथा पायोपगमणमरणं इत्यादिका—

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव ।
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥२८॥

पादाभ्यामुपगमन ढौकन तेन प्रवर्तित मरण पादोपगमनमरण । इतरमरणयोरपि पादाभ्यामुपगमनमस्तीति त्रैविध्यानुपपत्तिरिति चेन्न मरणविशेषे वक्ष्यमाणलक्षणे रूढिरूपेणाय प्रवर्तते, रूढौ च क्रिया उपादीयमाना शब्दव्युत्पत्त्यर्थैव । यथा गच्छतीति गौरिति शब्दव्युत्पत्तौ क्रियमाणायामपि गमनक्रियाकर्तृतास्तीति

स्वामी क्यो कहा ? क्रमका उल्लघन करनेका प्रयोजन क्या है यह कहना चाहिए ?

समाधान—उत्कृष्ट और जघन्य पडितत्वके मध्यमे रहनेवाला पण्डितत्व है यह कहनेके लिए दोनो अवधियोको बतलाया है। अथवा पण्डितमरणके सम्बन्धमें बहुत कहना है इसलिए उसे अलग रखकर थोड़ा कथन होनेके कारण बालपण्डितमरण को ही पहले कहा है ॥२७॥

पण्डितमरणके कितने भेद है और वह किसके होता है, यह कहते है—

गाथा—पादोपगमन मरण, भक्तप्रतिज्ञा और इंगिणीमरण, इस प्रकार पण्डितमरण तीन प्रकार का है। वह शास्त्रमे कहे अनुसार आचरण करनेवाले साधु के होता है ॥२८॥

टी०—पाद अर्थात् पैरो से, उपगमन पूर्वक होनेवालेको पादोपगमन मरण कहते है।

शंका—शेष दोनो मरणोमे भी पैरोसे उपगमन होता है अत तीन भेद नही बनते ?

समाधान—यह पादोपगमन रुढ़िरूपसे मरण विशेषमे प्रवृत्त होता है, इसका लक्षण आगे कहेगे। रूढ शब्दोमे ग्रहण की गई क्रिया शब्दकी व्युत्पत्तिके लिए ही होती है। जैसे, जो चलती है वह गौ है। इस प्रकार गौ शब्दकी व्युत्पत्ति करने पर भी यद्यपि यह व्युत्पत्ति गमन क्रियाको

सं० टि०—सब प्रतियोमें इसके पश्चात् एक नीचे लिखी गाथा आती है उसका नम्बर भी २८ है। हमने गाथा २७ की जो उत्थानिका दी है वह भी इस २८ नम्बरकी उत्थानिका है। तथा ऊपर टीकामें विरताविरत परिणामसे जीव द्रव्यका ज्ञान हो जाता है आदि जो शङ्का प्रारम्भ होती है वहाँसे टीकाका भाग इस गाथा २८ की टीकाके रूपमें दिया है। गाथा इस प्रकार है—

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव ।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥

अर्थ—पण्डित पण्डित मरण, पण्डित मरण और बाल पण्डित मरण इन तीन मरणोकी जिनदेव सदा प्रशंसा करते हैं ॥

इस गाथाके साथ न तो उत्थानिकाका कोई सम्बन्ध है और न टीकाका कोई सम्बन्ध है। अत. यह गाथा प्रक्षिप्त है। प० आशाधरने गाथा २६ की अपनी टीकामें लिखा भी है—'तथा चान्यस्मादानीय सूत्रे पठन्ति' अर्थात् अन्यत्रसे लेकर पढते हैं इसके पश्चात् ही उन्होंने उक्त गाथा दी है। इसलिये हमने इसे मूलमें नहीं रखा।

गोशब्देन न महिष्यादयो भण्यंते । अथवा **पाउग्गगमणमरणं** इति पाठ । भवातकरणप्रायोग्य सहननं संस्थानं च इह प्रायोग्यशब्देनोच्यते । अस्य गमनं प्राप्ति , तेन कारणभूतेन यन्निर्वर्त्यं मरण तदुच्यते **पाउग्गगमण-मरणमिति** । भज्यते सेव्यते इति भक्त, तस्य पइण्णा त्यागो भत्तपइण्णा । इतरयोरपि भक्तप्रत्याख्यानसंभवेऽपि रूढिवशान्मरणविशेषे एव शब्दोऽयं प्रवर्तते । इंगिणीशब्देन इगितमात्मनो भण्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमान मरण इगिणीमरण । **तिविहं** त्रिविध त्रिप्रकार । पण्डितमरणं कस्य तद्भवति ? **'साधुस्स'** साधो **'जधुत्तचारस्स'** यथा येन प्रकारेण उक्त श्रुते तथा चरितुं शील यस्य सावोस्तस्येति यावत् । सदाचार सर्व एव जन सयतोऽसयतश्च लोके साधुशब्दवाच्य , इति सयतपरिग्रहार्थ यथोक्तचारित्वविशेषण कृतम् ।

इतरयोर्बालमरणबालबालयोरित्यनयो स्वामित्वसूचनार्थगाथा—

अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि ।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥२९॥

अविरसदम्मादिट्ठी इति प्रसिद्धार्थत्वान्न व्याख्येय । अत्रावसरे इदं चोद्यमाशक्यते । **वोच्छं आराधणं कमसो** इति प्रतिज्ञात । सा च द्विप्रकारा दर्शनाराधना चारित्राराधना चेति । तद्व्याख्यानमकृत्वा मरणविकल्पा-

---

लेकर है किन्तु गौ शब्दसे भैस आदि नही कहे जा सकते । अथवा 'पाउग्गगमणमरण' पाठ है । यहाँ प्रायोग्य शब्दसे ससारका अन्त करनेके योग्य सहनन और सस्थान कहे जाते है । उसके गमन अर्थात् प्राप्तिको प्रायोग्यगमन कहते है । उसके कारण होनेवाले मरणको प्रायोग्यगमन मरण कहते है । 'भज्यते' अर्थात् जो सेवन किया जाये वह भक्त है । उसकी 'पइण्णा' अर्थात् त्याग भत्त-पइण्णा है । भोजनका त्याग शेष दोनो मरणोमे भी सम्भव है । फिर भी रूढिवश भत्तपइण्णा शब्द मरण विशेषका ही बोधक होता है । इगिणी शब्दसे आत्माका इगित अर्थात् सकेत कहा जाता है । अपने अभिप्रायके अनुसार रहकर होनेवाला मरण इगिणीमरण है । इस तरह पण्डितमरण तीन प्रकार का है । पण्डितमरण किसके होता है ? श्रुतमे जिस प्रकारसे कहा है उसी प्रकारसे आचरणशील साधुके होता है । सभी सदाचार वाले मनुष्य, वे सयमी हो या असयमी, लोकमे साधु शब्दसे कहे जाते है । इसलिये सयमीका ग्रहण करनेके लिए 'यथोक्तचारी' विशेषण दिया है ॥२८॥

विशेषार्थ—अपने पैरोसे चलकर अर्थात् सघसे निकल कर योग्य देशमे आश्रय लेना पादोपगमन है । इसमे न स्वय अपनी सेवा करता है और न दूसरेसे कराता है । भक्त प्रतिज्ञा-मरणमे स्वय भी अपनी वैयावृत्य करता है और दूसरेसे भी कराता है । इगिणीमरणमे अपनी वैयावृत्य स्वय ही करता है दूसरेसे नहीं कराता । पादोपगमनको प्रायोपगमन भी कहते है और प्रायोपवेशन भी कहते हैं । 'प्राय' का अर्थ सन्यास है ॥

अब शेष बालमरण और बालबालमरणके स्वामियोको कहते है—

गाथा—अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ बालमरणमे मरते है । मिथ्यादृष्टि पाँचवे बालबाल-मरणमे मरते है ॥२९॥

टी०—इस गाथाका अर्थ प्रसिद्ध होनेसे इसकी व्याख्या नही करते ।

शंका—यहाँ यह शंका करते हैं । ग्रन्थकारने 'क्रमसे आराधना को कहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा की है । वह आराधना दो प्रकार की है—दर्शनाराधना और चारित्राराधना । उनका व्याख्यान

स्तत्स्वामिनश्च कस्मान्निर्दिश्यते । प्रस्तुतपरित्यागमप्रस्तुताभिधानं च न क्षमते विद्वास. । अत्रोच्यते--न अप्रस्तुतं अंतरनिर्दिष्ट मरण । आराधनानुगतमरणस्यैवेह शास्त्रेऽभिधेयत्वेनेष्टत्वात् । आराधनायाश्च आराधकमंतरेणासंभवात् । स्वामी च निर्देष्टव्य एवेति सूरेरभिप्राय ॥

अत एव प्रस्तुता प्राथमिकीं दर्शनाराधना आचष्टे—

तत्थोवसमियसमत्तं खइयं खवोवसमियं वा ।
आराहंतस्स हवे सम्मत्ताराहणा पढमा ॥३०॥

तत्थोवसमियसम्मत्तमित्यादिना । अथवा अतरसूत्रनिर्दिष्ट बालमरणव्याख्यान प्रस्तुता प्राथमिकी सम्यक्त्वाराधनां पुरस्कृत्य प्रवर्तते इत्यत आह–तत्थोवसमियसमत्त । अथवा सम्यग्दर्शनविशेषस्य कस्यचिदेव आराधना उत सर्वस्येत्याशका । कुत सदेह ? आचार्यमतभेदेन पदानामर्थद्वैविध्यात्सामान्य पदानामभिधेय । 'पदाच्छ्रुतार्थसामान्यनिर्भासप्रतीत्युत्पत्तेर्न हि गामित्यत पदाच्छुक्ला कृष्णा शबलामिति वा प्रतीति, खडा मुंडा इति वा जायते । यच्च पदोपलब्धिकार्यभूताया बुद्धौ न प्रतिभाति तत्कथ शब्दस्याभिधेयता गतुमुत्सहते । अप्रतीयमानस्याप्यर्थत्वे अयमेवास्यार्थो नान्य इतीय व्यवस्था न स्यात् । तेन सामान्यमेवार्थ इति । अन्ये तु मन्यते त्यागोपादानोपेक्षारूपा हि लोकव्यवहृतिस्तत्र पुमास प्रवर्तयितु शब्दा प्रयुज्यते । दु खसाधन यत्तत्य-

---

न करके मरणके भेद और उनके स्वामियोका कथन क्यों किया गया ? विद्वान् गण प्रस्तुतके परित्याग और अप्रस्तुतके कथनको सहन नही करते ?

समाधान--बीचमे जो मरणका कथन किया है वह अप्रस्तुत नही है । आराधना पूर्वक होनेवाले मरणका ही इस शास्त्रमे कथन करना इष्ट है। वही इसका अभिधेय–प्रतिपाद्य विषय है। और आराधकके बिना आराधना होना असम्भव है। अत स्वामीका भी कथन करना ही चाहिए । यह आचार्यका अभिप्राय है ॥२९॥

इसीलिए प्रस्तुत प्रथम दर्शनाराधना को कहते है—

गाथा—उन सम्यक्त्वोमे औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी आराधना करने वालेके प्रथम सम्यग्दर्शन आराधना होती है ॥३०॥

टी०—अथवा इसके पूर्वकी गाथामे कहा बालमरणका व्याख्यान प्रस्तुत प्रथम सम्यक्त्वाराधनाको लेकर ही किया है अत यहाँ उसका कथन करते है ।

शंका—यहाँ शंका होती है कि किसी सम्यग्दर्शन विशेषकी आराधना होती है या सबकी होती है ? इस सन्देहका कारण यह है । आचार्यो के मतभेदसे पदोका अर्थ दो प्रकारका माना जाता है । एक मत है पदोका अभिधेय सामान्य है क्योकि पदसे सामान्य अर्थका बोध होता है। 'गौ' इस पदसे सफेद, काली या चितकबरी गौ की अथवा खण्डी या मुण्डी गौ की प्रतीति नही होती और पदकी उपलब्धिकी कार्यभूत बुद्धिमे जिसका प्रतिभास नही होता उसे शब्दका वाच्य कैसे माना जा सकता है । शब्द सुनकर जिस अर्थकी प्रतीति नही होती उसे भी यदि उसका अर्थ माना जाता है तो इस पदका यही अर्थ है, अन्य नही, यह व्यवस्था नही बनेगी । इसलिए सामान्य ही पदका अर्थ है ।

अन्य आचार्य मानते हैं कि लोक व्यवहार, त्याग, ग्रहण और उपेक्षा रूप है । उस व्यवहारमें पुरुषोंको प्रवृत्त करनेके लिए शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। जो दुःखका साधन होता है

ज्यते। सुखसाधनमुपादीयते। तदुभयस्यामपादकमुपेक्ष्यते। विशिष्टमेव च वस्तु सुखादीना सपादक। तथाहि—स्त्रीवस्त्रगधमाल्यादिक अतिशयितमेवादातु उत्सहन्ते। दु खसाधन चात्मनिकटवर्त्येव कटकादिक परिजिहीर्षन्ति। तेन शब्देनापि तदर्थिना तथाभूतमेव वस्तु प्रतिपाद्यमित्यभ्युपगन्तव्य। अतो विशेष पदानामर्थ इति। सारूप्यानामनेकविशेषवर्तिना पदानामेकपदप्रयोगाद्यदि नाम विशेषो न प्रतीयते नैतावता विशेषस्याभिधेयताहानि पदात रसमवधाने विशेषप्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात् इति जैनानामुभय पदार्थ पदानामुभयत्र प्रतीत्युत्पत्ते। तथाहि—न हिस्या प्राणिन प्राणिसामान्य परिहार्यत्वेन प्रतीयते। देवदत्तमानयेत्युक्ते पुरुषविशेषमवगच्छन्ति। ततो न ज्ञायते 'ममत्त मि य' इत्यत्र सामान्य सम्यक्त्व गृहीत उत तद्विशेष इति तेन तत्सदेहनिवृत्ति क्रियते। '**तत्थ**' तेषु सम्यक्त्वेषु। '**उवसमियसम्मत्तं**' अनतानुबधिक्रोधमानमायालोभाना सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यड्मिथ्यात्वाना च सप्तानामपशमादुपजात तत्त्वश्रद्धान औपशमिक सम्यक्त्वं। तासामेव सप्तप्रकृतीना क्षयादुपजातवस्तुयाथात्म्यगोचरा श्रद्धा क्षायिक दर्शन। तासामेव कासाचिदुपशमात् अन्यासा च क्षयादुपजात श्रद्धान क्षायोपशमिक। वा शब्द प्रत्येक सबध्यते। औपशमिक वेत्यादिना क्रमेण। '**आराधंतस्स**' आराधयत। '**हवे**' भवेत्। '**सम्मत्ताराहणा**' सम्यक्त्वाराधना। '**पढमा**' प्रथमा। "अविरदसम्मादिट्ठी मरति बालमरणे" इत्युक्त। तत्राविरतग्रहण सम्यग्दृष्टेर्विशेषणत्वेनोपात्त। प्रतीतेन हि

उसको त्याग दिया जाता है। सुखके साधनको ग्रहण किया जाता है। जो न दु.खका साधन होता है, न सुख का, उसकी उपेक्षा की जाती है। तथा विशिष्ट वस्तु ही सुखादिका साधक होती है। जैसे स्त्री, वस्त्र, गध, माला आदि जो उत्तम होती है उसे ही ग्रहण करनेके लिए उत्साहित होते है। दु खके साधन कण्टक आदि अपने निकटवर्ती भी हो तो उन्हे छोड देते है अत: शब्दके द्वारा भी सुखादिके अर्थी पुरुषोको विशिष्ट वस्तु ही प्रतिपाद्य है ऐसा स्वीकार करना चाहिए। अत पदोका अर्थ विशेष है। समानाकार अनेक विशेषोमे रहनेवाले पदोका एक पदके प्रयोगसे यदि विशेषका अर्थ प्रतीत नही होता तो इससे विशेषके शब्दार्थ होनेको कोई हानि नही पहुँचती, क्योकि उसके साथ अन्य पदका सम्बन्ध होनेपर विशेषकी प्रतीति अनुभवसे सिद्ध है।

समाधान—जैनोके मतमे पदोका अर्थ सामान्य भी है और विशेष भी है। दोनो की ही प्रतीति होती है। वही दिखलाते है—

'प्रणियोकी हिंसा नही करनी चाहिए' ऐसा कहनेपर प्राणी सामान्य अर्थात् प्राणिमात्रकी हिंसा नही करनी चाहिए यही प्रतीति होती है। और 'देवदत्तको लाओ' ऐसा कहनेपर पुरुष विशेषका बोध होता है। इस तरह पदका अर्थ दोनों होनेसे यह ज्ञात नही होता कि '**सम्मत्तम्मि**' पदसे सामान्य सम्यक्त्व ग्रहण किया है या विशेष सम्यक्त्व ग्रहण किया है? इसलिए सन्देहकी निवृत्तिके लिए औपशमिक आदि सम्यक्त्व कहा है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोके उपशमसे उत्पन्न हुआ तत्त्वश्रद्धान औपशमिक सम्यक्त्व है। उन्ही सात प्रकृतियों-के क्षयसे उत्पन्न हुई श्रद्धा, जो वस्तुओके यथार्थस्वरूपको विषय करती है, क्षायिक सम्यग्दर्शन है। उन्हीमेंसे किन्हीके उपशम और अन्य प्रकृतियोके क्षयसे उत्पन्न श्रद्धान क्षायोपशमिक दर्शन है। 'वा' शब्द प्रत्येकके साथ लगता है। 'अविरदसम्यग्दृष्टी बालमरणसे मरता है' ऐसा जो पहले कहा है उसमे 'अविरत' पदका ग्रहण सम्यग्दृष्टीके विशेषणके रूपमें किया है। जो प्रतीत

विशेष्येण भाव्यम् ।' तथाचा[1]भाणि–प्रतीतपदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभाव इति ।

तस्मात्कीदृग्जीवोऽभिधेय· सम्यग्दृष्टिशब्दस्येति प्रश्नस्योत्तरमाह—

सम्मादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ ।।
सद्दहइ असब्भावं अयाणमाणो गुरुणियोगा ।।३१।।

सम्मादिट्ठी जीवो इत्यनया । अत्रैव पदघटना **'उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि यो जीवो सो सम्मादिट्ठी' इति । उवइट्ठं'** उपदिष्ट कथित । ननु उपपूर्वो दिशिरुच्चारणक्रिय । तथा हि प्रयोग — उपदिष्टा वर्णा उच्चारिता वर्णा इति । सत्यम्, समुच्चारणक्रियस्तत्रैव वर्तते नान्यत्र इत्यत्र न निबधन किचित् । यथा गा दोग्धि इत्यादिषु सास्नादिमति दृष्टप्रयोगोऽपि गोशब्दो वागादिषु अपि वर्तते एवमिहापीति कि न गृह्यते ? उपदिष्टमपि न वेत्ति इत्यादौ कथितमिति प्रतीतिरुपजायते सा कथमपास्यते । प्रयोगव्यवृत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थ । प्रोच्यन्ते जीवादय पदार्था अनेनास्मिन्निति वा प्रवचन जिनागम । प्रकर्षश्चोक्त दृष्टेष्टप्रमाणाविरोधिता वस्तुयाथात्म्यानुसारिता च । प्रवचनवाच्योऽर्थ साहचर्यात्प्रवचनमिति सगृह्यते । तु शब्द एवकारार्थ । स च क्रियापदात्परतो द्रष्टव्य । व्याख्यात जैनागमार्थ य श्रद्दधात्येव न तु श्रद्दधाति (?) इत्ययोगव्यवच्छेद । स जीव सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिशब्दवाच्य इति प्रतीतपदार्थैकत्वमादर्शित । **'सद्दहदि'** श्रद्धानं

होता है वह विशेष्य होता है । कहा भी है—प्रतीत पदार्थोमे विशेषण विशेष्यभाव होता है ।।३०।।

सम्यग्दृष्टी शब्दका वाच्य किस प्रकारका जीव होता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते है—

गा०—उपदिष्ट अर्थात् कथित जिनागममे श्रद्धान करता ही है जो जीव वह सम्यग्दृष्टी है । किन्तु नही जानते हुए गुरुके नियोगमे असत्य भी अर्थका श्रद्धान करता है ।।३१।।

टी०—**शंका**—उपपूर्वक दिशि धातुका अर्थ उच्चारण करना है । जैसे 'उपदिष्टवर्ण' का अर्थ उच्चारित वर्ण है । आपने उपदिष्टका अर्थ कथित कैसे किया है ?

समाधान—आपका कथन सत्य है किन्तु समुच्चारण क्रिया अर्थ वाली धातु उसी अर्थमे है, अन्य अर्थमे नही है इसमे हम कोई निबन्धन नही देखते । जैसे 'गौ दुहता है' इत्यादि वाक्योमे गौ शब्दका प्रयोग गलकम्बलवाले पशुके अर्थमे देखा जाता है । फिर भी गौ शब्द वाणी आदि अर्थोमें भी देखा जाता है । इसी प्रकार यहाँ भी क्यो नही स्वीकार करते । 'उपदिष्टको भी नही जानता' इत्यादिमे 'कथित' अर्थकी प्रतीति होती है उसे कैसे छोडा जा सकता है ? शब्दका अर्थ उसके प्रयोगसे जाना जाता है ।

जिसके द्वारा अथवा जिसमे जीवादि पदार्थ कहे है वह प्रवचन है उसका अर्थ जिनागम है । प्रवचनमे, 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट है । प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अविरुद्ध और वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अनुसारी होना वचनकी प्रकृष्टता है यह पहले कहा है । साहचर्यसे प्रवचनके द्वारा कहे गये अर्थको भी प्रवचन कहते है । 'तु' शब्दका अर्थ 'ही' है । उसे क्रियापद के आगे रखना चाहिये । अतः जो व्याख्यात जनागम के अर्थका श्रद्धान करता ही है वह जीव सम्यग्दृष्टी शब्दके द्वारा कहा जाता है, इस प्रकार दिखलाया है । गुरु अर्थात् व्याख्याताके नियोगसे इसका यह अर्थ है

१. तथाभाविप्र–आ० मु० ।

करोति । 'असब्भावमपि' असत्यमप्यर्थं । 'अयाणमाणो' अनवगच्छन् । किं ? विपरीतमनेनापदिष्टमिति । गुरोर्व्याख्यातुरस्यायमर्थ इति कथनान्नियुज्यते प्रतिपत्त्या श्रोता अनेन वचनेन इति नियोग कथन । सर्वज्ञप्रणीतस्यागमस्यार्थ आचार्यपरपरया अविपरीत श्रुतोऽवधृतश्चानेन सूरिणा उपदिष्टो ममेति सर्वज्ञाज्ञाया रुचिरस्यास्तीति । आज्ञारुचितया सम्यग्दृष्टिर्भवत्येवेति भाव ।

किमेष विपरीत प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव ? नेत्याह—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ॥
सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ॥३२॥

सुत्तादो इति । '**सुत्तादो**' सूत्रात् । '**तं**' आत्मना विपरीतं गृहीतमर्थं । '**सम्मं**' सम्यक् अविपरीतरूपेण । '**दरसिज्जंतं**' दर्श्यमान प्ररूप्यमाण अन्येन आचार्येण । '**जदा**' यदा यस्मिन्काले । '**न सद्दहदि**' न श्रद्धाति । '**सो चेव**' स एव सम्यग्दृष्टितयोक्त । '**मिच्छादिट्ठी हवइ**' मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताज्ञाश्रद्धानवैकल्यात् अर्थयाथात्म्याश्रद्धानाच्च । '**तदो**' तत । '**पहुदि**' प्रभृति आरम्य । असंदिग्धसूत्रातरदर्शितार्थाश्रद्धानादारम्येति यावत् ।

'**सुत्तादो त सम्म दरसिज्जंत**' इत्युक्त केन रचितानि सूत्राणि प्रमाणभूतानीत्यत आह—

सुत्तं गणधरगथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च ॥
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विगथिदं च ॥३३॥

ऐसा कहनेसे श्रोता इस वचनके द्वारा नियुक्त किया जाता है इस लिये उसे नियोग कहा है, गुरुने विपरीत कथन किया है यह न जानते हुए असत्य भी अर्थका श्रद्धान करता है । सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत आगमका अर्थ आचार्य परम्परासे जो ठीक-ठीक सुना और अवधारित किया है वही आचार्यने मुझे कहा है इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञामे उसकी रुचि है और आज्ञामे रुचि होनेसे वह सम्यग्दृष्टी ही है यह उक्त कथनका भाव है ॥३१॥

क्या वह इस प्रकार विपरीत श्रद्धा करते हुए भी सर्वदा सम्यग्दृष्टि ही रहता है ? इसका उत्तर देते है कि नही—

गा०—सूत्रसे प्रथम गुरुके उपदेशसे विपरीत रूपसे ग्रहण किये अर्थको सम्यक् अविपरीत रूपसे अन्य आचार्यके द्वारा दिखलाने पर जब श्रद्धा नही करता । वही सम्यग्दृष्टी उस समय से मिथ्यादृष्टि होता है ॥३२॥

टी०—प्रथम गुरुके निर्देशसे विपरीत अर्थका श्रद्धान करने वाले उस सम्यग्दृष्टीको जब कोई दूसरे आचार्य गणधर आदिके द्वारा रचे गये आगम प्रमाणका आश्रय लेकर यथार्थ अर्थ बतलावे और वह उसपर श्रद्धा न करके अपने विपरीत अर्थको ठीक समझे तो सन्देह रहित अन्य शास्त्रोमे दिखलाये गये अर्थपर श्रद्धान न करनेके समयसे लेकर वह मिथ्यादृष्टी होता है क्योकि वह आप्तकी आज्ञाका श्रद्धान नही करता तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी उसे श्रद्धा नही है ॥३२॥

ऊपर 'सूत्रसे सम्यक् दिखलाने पर' ऐसा कहा है तो किसके द्वारा रचित सूत्र प्रमाण होते है यह कहते है—

गा०—जो गणधरके द्वारा रचा हुआ हो, प्रत्येक बुद्धके द्वारा कहा हुआ हो, या श्रुतकेवली के द्वारा कहा हुआ हो या अभिन्न दशपूर्वीके द्वारा रचा गया हो वह सूत्र है ॥३३॥

सुत्त गणधरगथिद इति । सुत्त सूत्रं । गणशब्देन द्वादशगणा उच्यते । तान्धारयन्ति इति गणधरा । दुर्गतिप्रस्थिता हि तेन रत्नत्रयोपदेशेन धार्यन्ते ते सप्तविधर्द्धिमुपगता । उक्त च—

बुद्धितवविगुव्वणोसधिरसबलं च अक्खीणं ॥
सत्तविध इड्ढिपत्ता गणधरदेवा णमो तेसिं ॥ [ ]

इति । तै 'गथिद' ग्रथितं सदृब्ध । केवलिभिरुपदिष्ट अर्थ ते हि ग्रथ्नन्ति । तथाप्युक्त[1]—'अत्थ कहंति अरुहा गंथं गंथंति गणधरा तेसिं । 'तहेव' तथैव । 'पत्तेयबुद्धगथिदं' च प्रत्येकबुद्धग्रथित च । श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् परोपदेशमतरेणाधिगतज्ञानातिशया प्रत्येकबुद्धा । 'सुदकेवलिणा' समस्तश्रुतधारिणा कथित चेति । अभिन्नदसपुव्विकधिद च । दशपूर्वाण्यधीयमानस्य विद्यानुप्रवादस्था क्षुल्लकविद्या महाविद्याश्च अगुष्ठ-प्रसेनाद्या प्रज्ञप्त्यादयश्च तैरागत्य रूप प्रदर्श्य, सामर्थ्य स्वकर्माभाष्य पुर स्थित्वा आज्ञाप्यता किमस्माभि कर्तव्यमिति तिष्ठति । तद्वच श्रुत्वा न भवतीभिरस्माक साध्यमस्तीति ये वदन्ति अचलितचित्तास्ते अभिन्न-दशपूर्विणः । एतेषामन्यतमेन ग्रथित सूत्र प्रमाण । प्रमाणेन केवलेन श्रुतेन वा गृहीतमर्थ अरक्तद्विष्टा सतो यदुपदिशति ततस्तद्वचसा प्रामाण्य इति भाव । प्रमाणपरिदृष्टार्थगोचर अरक्तद्विष्टवक्तृप्रभव वच प्रमाण । यथा पितुररक्तद्विष्टस्य स्वप्रत्यक्षगोचर वच घटोऽय[2] रक्त इति । तथा च गणधरादीना वच प्रमाण परि-दृष्टार्थगोचर अरक्तद्विष्टवक्तृप्रभवम् ।

टी०—गण शब्दसे बारहगण कहे जाते है । जो उन्हे धारण करते है वे गणधर है । अर्थात् दुर्गतिके मार्ग पर चलते हुए गणोको रत्नत्रयके उपदेश द्वारा धारण करते है उन्हे सम्यग्दर्शनादिमे स्थापित करते हैं। वे गणधर सात प्रकारकी ऋद्धियोको प्राप्त होते है । कहा है—बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि, और अक्षीणऋद्धि इन सात प्रकारकी ऋद्धियोको प्राप्त गणधरदेव होते हैं । उन्हे नमस्कार हो ॥

वे गणधर केवलियोके द्वारा उपदिष्ट अर्थको ग्रन्थरूप गूथते है । कहा है—अरहन्त अर्थको कहते है और उनके गणधर उसे ग्रन्थका रूप देते है । श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे परोपदेशके बिना जो ज्ञानातिशयको प्राप्त होते है वे प्रत्येकबुद्ध है । जो समस्त श्रुतके धारी होते है वे श्रुतकेवली है । दश पूर्वोका अध्ययन करते हुए दसवे पूर्व विद्यानुवादमें स्थित अंगुष्ट प्रसेना आदि क्षुल्लक विद्याएँ और प्रज्ञप्ति आदि महाविद्याएँ आकर अपना रूप दिखाकर और अपनी शक्ति कहकर सामने खडी होकर निवेदन करती है कि हमारे योग्य कार्य बताये । उनके वचन सुनकर जो कहते हैं कि हमे आपसे कोई काम नही है, वे अचल चित्त वाले अभिन्न दसपूर्वी होते है । इनमेंसे किसी भी एकके द्वारा रचा गया सूत्र प्रमाण है । केवल ज्ञानरूप अथवा श्रुतज्ञानरूप प्रमाणसे द्वारा गृहीत अर्थको रागद्वेषसे रहित होकर कहते हैं इस लिये इनके वचन प्रमाण है । जो वचन प्रमाणके द्वारा देखे गये अर्थको कहते है और रागद्वेषसे रहित वक्तासे उत्पन्न होते है वे प्रमाण है । जैसे रागद्वेषसे रहित पिताके द्वारा स्वय प्रत्यक्षसे जानकर कहे गये वचन 'यह घडा लाल है' प्रमाण है । उसी तरह गणधर आदिके वचन प्रमाण है क्योंकि अच्छी तरहसे देखे गये अर्थको कहते है और रागद्वेषसे रहित वक्तासे उत्पन्न हुए है ॥३३॥

---

१ अत्थ भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा निउण ।—आव० नि० ९२ ।
२ रक्ष्य इति आ० मु० ।

भवतु नामैषां अन्यतमेन प्रणीत सूत्र प्रमाणं तदर्थकथनं तु को विपरीत करोति को वाऽविपरीत-मित्यारेकाया अविपरीतार्थकथनकारिणो लक्षणमाहोत्तरगाथया—

गिहिदत्थो संविग्गो अच्छुवदेसे ण संकणिज्जो हु ।
सो चेव मंदधम्मो अच्छुवदेसम्मि भजणिज्जो ।।३४।।

'गिहिदत्थो संविग्गो' गृहीत आत्मसात्कृतोऽवधारितोऽर्थ सूत्रस्य येन स गृहीतार्थ **अवधृतसूत्रार्थ इति यावत्** । **'संविग्गो'** संसाराद् द्रव्यभावरूपात् परिवर्तनात् भयमुपगत । विपरीतोपदेशे रागात्कोपाद्वा अनतकालं ससारपरिभ्रमण मम मिथ्यादृष्टे सतो भविष्यतीति य सभय । **'अच्छुवदेसे'** अर्थस्याभिधेयस्य सूत्राणामुपदेशे । **'न संकणिज्जो'** नैवाशक्य । खु शब्द एवकारार्थ. । **'सो चेव'** स एव च गृहीतार्थ । **'मंदधम्मो'** धर्मशब्दश्चारित्रवाची "**चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो**' [प्रवच० १.७] इति वचनात् । ततो मदचारित्र इत्यर्थ । **'अच्छुवदेसम्हि'** सूत्रार्थव्याख्याने ? **'भयणिज्जो'** भाज्य । यदि सूत्रानुसारि युक्त्यनुगत वा तद्व्याख्यान ग्राह्यमन्यथा नेति यावत् ।

किमधिगतमप्रपचवचनार्थो भूत्वा श्रद्धानवान्य स एव च सम्यग्दृष्टि, स एव सम्यक्त्वाराधक इत्यारेकायामाह अन्योऽप्यस्तीति—

धम्माधम्मागासाणि पोग्गला कालदव्व जीवे य ।
आणाए सद्दहन्तो समत्ताराहओ भणिदो ।।३५।।

इनमेसे किसी एकके द्वारा रचा गया सूत्र प्रमाण रहो । किन्तु उसके अर्थका कथन कौन विपरीत करता है और कौन अविपरीत करता है ? ऐसी शङ्का होनेपर अविपरीत अर्थका कथन करने वालेका लक्षण आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जिसने सूत्रके अर्थको ग्रहण किया है, संसारसे भयभीत है वह सूत्रोंके उपदेशमें शङ्का करनेके योग्य नहीं ही है । वही गृहीतार्थ मद चरित्र वाला हो तो सूत्रके व्याख्यानमे भाज्य है ।।३४।।

टी०—जिसने सूत्रका अर्थ अच्छी तरह ग्रहण करके उसे अपने मनमे अवधारित किया है और द्रव्य भाव परिवर्तन रूप ससारसे डरता है, राग या द्वेषसे विपरीत उपदेश करने पर मुझे मिथ्यादृष्टी होकर अनन्तकाल ससारका परिभ्रमण करना होगा इस प्रकारका जिसे भय है वह तो सूत्रोके अर्थका उपदेश करनेमे शङ्का करने योग्य बिल्कुल नही है । गाथामे आये हुए खु शब्दका अर्थ 'ही' है । किन्तु वही गृहीतार्थ यदि मन्दधर्मी है, यहाँ धर्मशब्द चरित्रका वाचक है क्योकि कहा है—चारित्र ही धर्म है और जो धर्म है उसे सम कहा है । अत मन्द धर्मका अर्थ मन्द चारित्र लेना चाहिये । तो उसका व्याख्यान यदि सूत्रके अनुसार अथवा युक्तिके अनुकूल हो तब तो ग्रहण करने योग्य है अन्यथा नही है ।।३४।।

क्या जो विस्तार पूर्वक सूत्रके अर्थको जानकर श्रद्धान करता है वही सम्यग्दृष्टी है, वही सम्यक्त्वका आराधक है ? ऐसी शङ्का करनेपर आचार्य कहते है कि अन्य भी सम्यग्दृष्टी होता है—

गा०—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, कालद्रव्य और जीवद्रव्यको आज्ञासे श्रद्धान करने वाला सम्यक्त्वका आराधक होता है ।।३५।।

'धम्माधम्मागासाणित्ति'— जीवपुद्गलयो स्वावस्थिताकाशदेशाद्देशान्तर प्रति गति परिस्पदपर्यायैं परप्रयोगत स्वभावतो वा विद्यते। अन्येषा निष्क्रियतेति न गतिरस्ति। अनयोर्गतिपर्यायस्य वाह्यं गतिहेतुत्व-सज्ञित गुण धारयतीति धर्मः। तं न धारयतीत्यधर्म.। यद्यपि जीवादिष्वपि अस्ति गतिहेतुताया साधारण तथापि न तत्र धर्मशब्दस्य वृत्ति। प्रतिनियतविषया रूढय इत्युक्तमेव। अथवा स्थितेरुदासीनहेतुत्वादधर्मः। न च जीवादीना स्थितेरुदासीनहेतुत्वमस्ति। तावेतावुभावपि असख्यातप्रदेशौ एकतामेवोद्वहन्तौ सूक्ष्मौ नि क्रियौ रूपादिरहितौ। आकश अनतप्रदेशाध्यासितं सर्वेषा अवकाशदानसामर्थ्योपेत। पुद्गलास्तु रूपरसगधस्पर्शवत अणुस्कधरूपभेदाद्द्विविधा। कालो निश्चयेतरविकल्प। जीवा उपयोगात्मका। एतानर्थान्। **'आणाए'** आज्ञया आप्ताना। सावधारण चेद। आज्ञायैव षड् द्रव्याणि सन्तीति श्रद्धातव्यं भवतीति आप्तवचनबलेनैव श्रद्धा तत्र करोति न निक्षेपनयादिमुखेन, प्रवृत्तयाधिगत्या सोऽपि सम्यक्त्वस्याराधक।

जीवद्रव्यविषय नियोगत श्रद्धान कर्तव्य इत्येतदाख्यानायोत्तरगाथा—

संसारसमावण्णा य छव्विहा सिद्धिमस्सिदा जीवा।
जीवणिकाया एदे सद्दहिदव्वा हु आणाए॥३६॥

'संसारं' चतुर्गतिपरिभ्रमण। **'समावण्णा'** सप्राप्ता शोभनाशोभनशरीरग्रहणमोचनाभ्युद्यता, स्वयोग-त्रयानीतपुण्यपापोदयजनितसुखदु खानुभवनिरता। त्रसस्थावरकर्मोदयापादितत्रसस्थावरभावा, विचित्रमति-

टी०—जीव और पुद्गलमे अपने रहनेके आकाशसे अन्य देशमे गमन हलन चलन रूप पर्यायोके द्वारा परके प्रयोगमे अथवा स्वभावसे होता है। अत गतिमान ये दो ही द्रव्य है। क्रिया रहित होनेसे अन्य द्रव्योमे गति नही है। इन दोनो द्रव्योकी गतिपर्यायका बाह्य गति हेतुत्व नामक गुण जो धारण करता है वह धर्म है। और जो उस गुणको धारण नही करता वह अधर्म है। यद्यपि जीवादिमे भी गतिहेतुताका साधारण धर्म रहता है तथापि उनमे धर्म शब्दकी प्रवृत्ति नही है, उन्हे धर्मके नामसे नही कहते, क्योकि रूढि शब्द प्रतिनियत विषयोमे रहते है यह पहले कहा ही है। अथवा जो स्थितिका उदासीन हेतु है वह अधर्मद्रव्य है। जीवादि द्रव्य स्थितिके उदासीन हेतु नही है। ये दोनो धर्म और अधर्म द्रव्य असख्यात प्रदेशी है, एक एक है, सूक्ष्म और निष्क्रिय है तथा इसमे रूप रस आदि गुण नही रहते। आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेश वाला है और सब द्रव्योको अवकाश देनेकी शक्तिसे युक्त है। पुद्गल तो रूप रस गन्ध और स्पर्श गुण वाले है। उनके अणु और स्कन्धके भेदसे दो भेद है। कालके निश्चयकाल और व्यवहारकाल भेद है। जीव उपयोगगुण वाले है। इन द्रव्योका जो आप्तकी आज्ञासे ही श्रद्धान करता है कि छह द्रव्य है, निक्षेप नय आदिके द्वारा जानकर श्रद्धान नही करता, वह भी सम्यक्त्वका आराधक होता है॥३५॥

जीव द्रव्य विषयक श्रद्धान नियमसे करना चाहिये, यह कहनेके लिए आगेकी गाथा—

गा०—ससार अवस्थाको प्राप्त छह प्रकारके और सिद्धिको प्राप्त जीव होते है। ये जीव-निकाय आप्त की आज्ञाके बलसे श्रद्धान करनेके योग्य हैं ही॥३६॥

टी०—चतुर्गतिमे परिभ्रमणको संसार कहते है। उसे जो प्राप्त है वे ससारी है। ससारी जीव अच्छा बुरा शरीर ग्रहण करने और त्यागनेमे लगे रहते है। अपने मन वचन काय योगके द्वारा बाँधे गये पुण्य पाप कर्मके उदयसे होने वाले सुख दु.ख को भोगनेमे लीन रहते है। त्रसनाम

ज्ञानावरणोदयेन तत्क्षयोपशमविशेषेण च एकेंद्रिया', विकलेंद्रिया , समग्रेन्द्रिया पर्याप्तपर्याप्तिकर्मोदयनिर्वर्तित-षड्विधपर्यासयस्तदितरे च, पृथिव्यादिशरीरभारोद्वहनचतुरा , आयुराख्यप्रकृतिघनशृंखलावगाढबधनपराधीन-वृत्तय । नवविकल्पयोनिसमाश्रयोपजाततनुष्वासक्तबुद्धय । जराडाकिनीपीतरूपरक्ता , मृत्युदुर्वारक्रूराशनि-सपातचकितचेतस ससारिण **'छब्बिहा'** षट्प्रकारा पृथिव्यादिशरीरसबधत । **'सिद्धि'** सम्यक्त्वकेवलज्ञान-दर्शनवीर्याव्याबाधत्वपरमसूक्ष्मत्वावगाहनादिस्वरूपनिष्पत्तिम् । **'अस्सिदा'** आश्रिता । **'जीवा'** जीवा । ननु जीव प्राणधारणे इति वचनात् जीवति प्राणान्धारयति इति जीव । प्राणाश्चेंद्रियादय कर्मनिर्वर्त्या पुद्गल-स्कधधारणभूतेषु कर्मस्वमत्सु न विद्यन्ते । तत कथ सिद्धाना जीवतेति ? नैप दोष , द्विविधा प्राणा' द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्चेति । द्रव्यप्राणा इद्रियादय कर्महेतुका । भावप्राणास्तु ज्ञानदर्शनादय । न ते कर्मनिमित्तका । कर्माभावे प्रसूते । तेन भावप्राणधारणात् जीवता न्याय्या सिद्धाना । अथवा यदेव कृतप्राणधारण वस्तु तदेवेद-मिति प्रत्यभिज्ञोपदर्शितमेकत्वमाश्रित्य जीवव्यपदेश सिद्धानाम् । अथवा जीवशब्दश्चेतनावति रूढिशब्द । रूढौ च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थैव तदसभवेऽपि तदुपलक्षणगृहीतं सामान्यमाश्रित्य वर्तत एव । यथा गच्छतीति गौरिति व्युत्पादितोऽपि गोशब्दोऽसत्यामपि गतौ स्थिरता गौनिषण्णेत्यत्र वर्तते । गमनेनाध्रुवेणोपलक्षितस्य गोत्वस्य सद्भावात् । एव प्राणधारणोपलक्षितचैतन्याश्रयाज्जीवशब्दस्य सिद्धेषु वृत्ति । **'जीवनिकाया'** जीव-

कर्मके उदयसे त्रस और स्थावर नाम कर्मके उदयसे स्थावर भावको प्राप्त होते है। अनेक प्रकारके मतिज्ञानावरणके उदयसे और उसके क्षयोपशमके विशेषसे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होते है। पर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे बनी छह पर्याप्तियोसे यथायोग्य युक्त होते है और अपर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे अपर्याप्त होते है। पृथिवी आदि कायके शरीरके भारको धारण करने वाले होते है। आयुनामक कर्मकी मजबूत साकलसे कसकर बन्धनके कारण पराधीन होते है। नौ प्रकारकी योनिके आश्रयसे उत्पन्न हुए शरीरोमे उनकी अति आसक्ति होती है। उनके रूप और रक्तको जरा रूपी चुडेल पी जाती है। मृत्युरूपी कूर वज्रपातसे, जिसे टालना अशक्य है उनके चित्त भयभीत रहते है। ये ससारी जीव पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारके है।

सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, अव्याबाधत्व, परमसूक्ष्मत्व, अवगाहना आदि स्वरूपकी प्राप्तिको सिद्धि कहते है। उसे प्राप्त सिद्ध जीव है।

शंका—जीव शब्द प्राणधारणके अर्थमे है ऐसा वचन है। 'जीवति' अर्थात् प्राणोको धारण करता है वह जीव है। और प्राण इन्द्रिय आदि कर्मजन्य है। सिद्धोके पुद्गलस्कन्ध रूप कर्म नही है तब सिद्धोमे जीवपना कैसे है ?

समाधान—यह दोष नही है क्योंकि प्राणोंके दो भेद है—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। द्रव्य प्राण इन्द्रिय आदि कर्मके उदयसे होते है। किन्तु भाव प्राण ज्ञानदर्शन आदि कर्मके निमित्तसे नही होते, कर्मोके अभावमे प्रकट होते है। अत भाव प्राण धारण करनेसे सिद्धोमे जीवपना न्याय्य है। अथवा जिसने पहले प्राणोको धारण किया था वही यह है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानके द्वारा एकत्वको लेकर सिद्धोको जीव कहा जाता है। अथवा जीव शब्द चेतनावानके अर्थमे रूढ है। और रूढिमे क्रिया केवल व्युत्पत्तिके लिये होती है। अत उसके न होनेपर भी उसके उप-लक्षणसे गृहीत सामान्यका आश्रय लेकर उस शब्दकी प्रवृत्ति होती है। जैसे जो चले वह गौ है इस प्रकारसे व्युत्पत्ति करनेपर भी गौ शब्द नही चलनेपर भी गौके अर्थमे व्यवहृत होता है जैसे बैठी हुई गौ। गमन तो अध्रुव है फिर भी उसमें गोपना वर्तमान है। इसी तरह प्राणधारणसे

समूहा । 'सद्दहिदव्वा' खु श्रद्धातव्या. एव । 'आणाए' आप्तानामाज्ञाबलात् ।

जीवाश्रद्धाने मुक्तिसंसारविषयपरिप्राप्तित्यागार्थप्रयासानुपपत्तिरिति भाव । यदि नाम धर्मादिद्रव्यापरिज्ञानात् परिज्ञानसहचारिश्रद्धान नोत्पन्न तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिर्दर्शनमोहोदयस्य अश्रद्धानपरिणामस्याज्ञानविषयस्याभावात् । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धान इति गृहीत । श्रद्धानादन्यदश्रद्धानं इदमित्थमिति श्रुतनिरूपितेऽरुचि. ।

श्रद्धातव्य प्रकारांतरेणापि निर्देष्टु उत्तरगाथा—पूर्वं सर्वद्रव्यविषयश्रद्धानमुक्त, पश्चादतिशयप्रतिपादनार्थं जीवद्रव्यविषया श्रद्धा निरूपिता अनतरगाथया । इद तु आस्रवादयोऽपि श्रद्धातव्या इति सूच्यते—

आसवसंवरणिज्जरबंधो मुक्खो य पुण्णपावं च ।।
तह एव जिणाणाए सद्दहिदव्वा अपरिसेसा ।।३७।।

'आसवसंवरणिज्जर' । आस्रवत्यनेनेत्यास्रव । आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्याय पुद्गलाना येन कारणभूतेनात्मपरिणामेन स परिणाम आस्रव । ननु कर्मपुद्गलाना नान्यत आगमनमस्ति यमाकाशप्रदेशमाश्रित आत्मा तत्रैवावस्थिता पुद्गला अनतप्रदेशिन कर्मपर्याय भजन्ते 'एयक्खित्तोगाढं' मिति वचनात् । तत् किमुच्यते आगच्छतीति ? न दोष । आगच्छन्ति ढौकन्ते ज्ञानावरणादिपर्यायमित्येव ग्रहीतव्य ।

उपलक्षित चैतन्यके आश्रयसे सिद्धोंमे जीव शब्दका व्यवहार होता है ।

आप्तकी आज्ञाके बलसे जीवके इन समूहोंका श्रद्धान करना चाहिये, क्योकि जीवका श्रद्धान न होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति और संसारके विषयोंके त्यागके लिये प्रयास नही हो सकेगा । यदि धर्मादि द्रव्योका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ रहनेवाला श्रद्धान नही उत्पन्न हुआ । तो भी वह मिथ्यादृष्टि नही है क्योकि दर्शन मोहके उदयसे होनेवाला श्रद्धानरूप परिणाम, जिसका विषय अज्ञान है, उसका अभाव है । अश्रद्धानका अर्थ श्रद्धानका न होना नही लिया है किन्तु श्रद्धानसे जो अन्य है वह अश्रद्धान है अर्थात् श्रुतमे कहे हुए तत्त्वमे अरुचि अश्रद्धान है ।।३६।।

प्रकारान्तरसे श्रद्धा करने योग्यका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा है । पहले सब द्रव्योंके श्रद्धान करनेको कहा । पीछे अतिशय प्रतिपादन करनेके लिये जीव द्रव्य विषयक श्रद्धाका कथन इसके पूर्ववर्ती गाथाके द्वारा किया । इस गाथामे आस्रव आदिकी भी श्रद्धा करना चाहिये, यह सूचित करते है—

गा०—आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष और पुण्य, पाप ये सब सातो पदार्थ उसी प्रकार जिनदेवकी आज्ञासे श्रद्धान करने चाहिये ।।३७।।

टी०—जिसके द्वारा आना होता है वह आस्रव है । जिस कारणभूत आत्मपरिणामसे पुद्गलोंका कर्म पर्यायरूपसे आगमन होता है वह परिणाम आस्रव है ।

शंका—कर्म पुद्गलोंका आगमन अन्य देशसे नही होता । जिस आकाश प्रदेशमे आत्मा ठहरा होता है वही पर स्थित अनन्तप्रदेशी पुद्गल कर्मपर्याय रूप होते हैं, क्योकि आगममे 'एकक्षेत्रावगाढ' कहा है । तब आप कैसे कहते है कि आते है ?

समाधान—इसमे दोष नहीं है, आगमनका अर्थ ज्ञानावरणादि पर्याय रूपको प्राप्त होना

न देशान्तरपरिस्पंद इहागमनं विवक्षित । तेन तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघातादय जीवपरिणामा. कर्मत्वपरिणते पुद्गलाना साधकतमतया विवक्षिता आस्रवशब्देनोच्यते । अथवा आस्रवण कर्मतापरिणति' पुद्गलानां आस्रव इत्युच्यते । सव्रियते सरुध्यते मिथ्यादर्शनादि' परिणामो येन परिणामातरेण सम्यग्दर्शनादिना, गुप्त्यादिना वा स सवर । निर्जीर्यते निरस्यते यया, निर्जरण वा निर्जरा । आत्मप्रदेशस्थ कर्म निरस्यते यया परिणत्या सा निर्जरा । निर्जरण पृथग्भवन विश्लेषण वा कर्मणा निर्जरा । मोक्ष्यतेऽस्यते येन मोक्षणमात्र वा मोक्ष । निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसज्ञितेन अस्यते स मोक्ष । विश्लेषो वा समस्ताना कर्मणा । बध्यते अस्वतत्रीक्रियन्ते कार्मणद्रव्याणि येन परिणामेन आत्मन' स बन्ध । अथवा बध्यते परवशतामापद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणतेन कर्मणा तत्कर्म बध' । पुण्य नाम अभिमतस्य प्रापक । पाप नाम अनभिमतस्य प्रापक । इह बधशब्देन जीवपरिणाम एव गृहीत न कर्म एव, पृथक् पुण्यपापग्रहणात् । ननूक्तेन परिणामेन जीवपुद्गलयोरेवातर्भाव आस्रवादीना जीवपुद्गलत्वश्रद्धानस्य पूर्वमुपन्यस्तत्वात् किमर्थमिद सूत्रमिति नैष दोष । विनेयाशयवैचित्र्याद्देशनाभेद आगमवाक्येषु । तत श्रद्धा तत्र सर्वत्र कार्येति चोदित भवति । अश्रद्धान न मनागपि कार्यम् ।

लेना चाहिये। यहाँ आगमनसे देशान्तरसे चलकर आना विवक्षित नही है। अत' आस्रव शब्दसे प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, उपघात आदि जीव परिणामोंको पुद्गलोके कर्मरूप परिणमनमे साधकतम रूपसे विवक्षित किया है। अथवा 'आस्रवण' अर्थात् पुद्गलोकी कर्मरूप परिणतिको आस्रव कहा है।

जिस सम्यग्दर्शनादि या गुप्ति आदि रूप अन्य परिणामसे मिथ्यादर्शन आदि परिणाम 'सव्रियते' रोका जाता है वह सवर है। जिसके द्वारा 'निर्जीर्यते' निरसन किया जाता है अथवा निर्जरणको निर्जरा कहते है। जिस परिणतिसे आत्माके प्रदेशोमे स्थित कर्म हटाये जाते है वह निर्जरा है। कर्मोंके 'निर्जरण' अर्थात् पृथक् होनेको अथवा विश्लेषणको निर्जरा कहते है। जिसके द्वारा 'मोक्ष्यते' अर्थात् छूटते है अथवा मोक्षण मात्रको मोक्ष कहते है। क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और यथाख्यात चारित्र नामक जिस परिणामसे समस्त कर्म छूटते है वह मोक्ष है। अथवा समस्त कर्मोका आत्मासे अलग हो जाना मोक्ष है। आत्माके जिस परिणामसे कार्मणद्रव्य 'बध्यन्ते' परतत्र किया जाता है वह बन्ध है, अथवा जिस स्थिति रूप परिणत हुए कर्मके द्वारा आत्मा 'बध्यते' अर्थात् पराधीनताको प्राप्त होता है वह कर्म बन्ध है। इष्टको प्राप्त करानेवालेको पुण्य कहते है और अनिष्टको प्राप्त करानेवालेको पाप कहते है। यहाँ बन्ध शब्दसे जीवके परिणामका ही ग्रहण किया है, कर्मका नही, क्योकि पुण्य पापका पृथक् ग्रहण किया है।

शंका—उक्त परिणामसे तो आस्रव आदिका अन्तर्भाव जीव और पुद्गलमे ही होता है। तथा जीव और पुद्गलके श्रद्धानका पहले कथन किया हो है तब इस गाथा सूत्रके कहनेकी क्या आवश्यकता थी ?

समाधान—यह दोष ठीक नही है। आगमके वचनोंमे शिष्योंके अभिप्राय नाना होनेसे उपदेशमे भेद होता है। अत इन सबमे श्रद्धा करना चाहिये यह प्रेरणा की गई है, किञ्चित् भी अश्रद्धान नही होना चाहिये ॥३७॥

मिथ्यादृष्टिता किमल्पस्य अश्रद्धानेन भवति ? बहुतर श्रद्धीयते इत्याशका न कार्येत्येतदाचष्टे—

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं ।।
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ।।३८।।

पदमक्खर इति । पदशब्देन पदसहचारी [1]पदस्यार्थ उच्यते । '**अक्खर च**' इति स्वल्पशब्दोपलक्षण स्वल्पमप्यर्थं शब्दश्रुत वा । '**जो**' य । '**ण रोचेदि**' न रोचते । '**सुत्तणिदिट्ठं**' पूर्वोक्तप्रमाणनिर्दिष्टम् । '**सेसं**' इतर श्रुतार्थं श्रुताश राचतोऽपि । '**मिच्छादिट्ठी** मिथ्यादृष्टिरिति । '**मुणेदव्वो**' ज्ञातव्य । महति कुंडे स्थितं बह्वपि पयो यथा विषकणिका दूषयति । एवमश्रद्धानकणिका मलिनयत्यात्मनमिति भाव ।।३८।।

मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यमित्युक्त । स एव न ज्ञायते एवस्वरूप इत्याशकाया मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्था गाथा—

मोहोदयेण जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा ।।३९।।

मोहोदयेणेति । साध्याहारत्वात् सूत्राणामध्याहारेण महैव पदघटना । **जो जीवो उवदिट्ठ प्रवयण मोहोदयेण सद्दहदि उवदिट्ठं अणुवदिट्ठं वा असब्भावं सद्दहदि । सो मिच्छादिट्ठीति** । मोहयति मुह्यतेऽ-

जब बहुत पर श्रद्धा है तब क्या थोडेसे अश्रद्धानसे मिथ्यादृष्टिपना होता है ? ऐसी शका नही करना चाहिये, यह कहते है—

गा०—जिसे पूर्वोक्त सूत्रमे कहा एक भी पद और अक्षर नही रुचता । शेषमें रुचि होते हुए भी निश्चयसे उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ।।३८।।

टी०—पद शब्दसे पदका सहचारी पदका अर्थ कहा गया है । अक्षरसे थोडे शब्द लिये गये है, थोडा सा भी अर्थ अथवा शब्द श्रुत जो आगममे कहा गया वह जिसे नही रुचता और शेष आगम रुचता भी हो, तब भी उसे मिथ्यादृष्टी ही जानना । जैसे बडे कुण्डमें भरे हुए बहुत दूधको भी विषका कण दूषित कर देता है उसी प्रकार अश्रद्धानका एक कण भी आत्माको दूषित कर देता है ।।३८।।

उसे मिथ्यादृष्टि जानना, ऐसा तो कहा । किन्तु यही ज्ञात नही है कि मिथ्यादृष्टिका ऐसा स्वरूप है ? ऐसी शका करनेपर मिथ्यादृष्टिका स्वरूप निरूपण करनेके लिये गाथा कहते है—

गा०—मोहके उदयसे जीव उपदिष्ट प्रवचनको श्रद्धान नही करता। किन्तु उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट असमीचीन भाव अर्थात् अतत्त्वका श्रद्धान करता है ।।३९।।

टी०—सूत्रमें अध्याहार किया जाता है अर्थात् अन्यत्रसे कुछ पद लिये जा सकते है । अत अध्याहारके साथ इस प्रकार पदोका सम्बन्ध मिलाना चाहिये । जो जीव उपदिष्ट प्रवचनको मोहके उदयसे श्रद्धान नही करता और उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भावका श्रद्धान करता है वह

१. पदार्थ उ० आ० । पदशब्दस्य सहकारी पद–मु० ।

नैनैति वा मोहो दर्शनमोहनीयाख्य कर्म मद्येन तुल्यवीर्यम् । यथा मद्यमासेव्यमान अपाटव प्रज्ञाया वैपरीत्य च सपादयति ॥३९॥

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ॥
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥४०॥

एव मिथ्यात्व[1]कर्मापि तस्य उदय सन्निहितसहकारिकारणस्य प्रतिबद्धवृत्तिस्तेनोदयेन कारणेन निरूपित वस्तुयाथात्म्य न श्रद्धत्ते अतत्त्व तु कथित अकथित वा श्रद्धत्ते ॥४०॥

वस्तुयाथात्म्याश्रद्धाने को दोषो येन तत्प्रतिपक्षश्रद्धानभावनया तदपास्यते इत्याशकाया अश्रद्धान-कृतदोषमाहात्म्यख्यापनार्था गाथा—

सुविहियमिम पवयणं असद्दहंतेणिमेण जीवेण ॥
बालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणंताणि ॥४१॥

सुविहिवमिति । सुष्ठु विहित कृत पूर्वापरविरोधदोषरहितवस्तुयाथात्म्यग्राहिविज्ञानकारण । **'इम'** इद । **'पवयण'** प्रवचन । असद्दहतेण अश्रद्दधानेन । **'इमेण'** अनेन । **'जीवेण'** जीवेन । एवमत्र पदसबध । **बालमरणाणि 'अणताणि मदानि तीदे काले'** इति । बालमरणान्यनतानि अतीतकाले मृतानि । ननु मिथ्या-

मिथ्यादृष्टि है । यहाँ मोहसे दर्शनमोहनीय कर्म लेना । उसमे मद्यके समान शक्ति होती है । जैसे मद्यका सेवन बुद्धिको मन्द और विपरीत कर देता है वही दशा इस दर्शन मोहनीय कर्मकी है ॥३९॥

गा०—मिथ्यात्वको वेदन—अनुभवन करने वाला जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है । उसे धर्म नही रुचता । जैसे ज्वरसे ग्रस्त व्यक्तिको निश्चयसे मधुर रस नही रुचता ॥४०॥

टी०—मद्यके समान ही मिथ्यात्व कर्म भी है । उसका उदय सहकारी कारणका सानिध्य-पाकर अपना कार्य करनेमे कटिबद्ध होता है । अत उसके उदयके कारण शास्त्रमे कहे गये वस्तुके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान नही करता । और कहे गये या बिना कहे अतत्त्वका श्रद्धान करता है ॥४०॥

वस्तुका यथार्थ श्रद्धान न करनेमे क्या दोष है जिससे उसके प्रतिपक्षी श्रद्धानकी भावनासे उस दोषको दूर किया जाता है ? ऐसी शका होने पर अश्रद्धानसे होने वाले दोषका महत्त्व बतलानेके लिये गाथा कहते है—

गा०—अच्छी तरहसे किये गये इस प्रवचनको अश्रद्धान करने वाले जीवने अतीतकालमे अनन्त बालमरण मरे ॥४१॥

टी०—पूर्वापर विरोध नामक दोषसे रहित होनेसे तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने वाले ज्ञानका कारण होनेसे प्रवचनको सुविहित कहा है । ऐसे प्रवचनका श्रद्धान न करनेके दोषसे इस जीवको अतीतकालमे अनन्त बार बालमरणसे मरना पड़ा है ।

---

१ मिथ्यात्वस्य ।

दृष्टेर्मरण बालबालमरण तत्किमुच्यते बालमरणानीति । बालत्व नाम सामान्य बालबालेऽपि विद्यते इति बालमरणानीत्युक्त ।

कीदृशी तर्हि मति कार्या ससारभीरुणा—

णिग्गंथं[1] पव्वयणं इणमेव अणुत्तरं सुपरिसुद्धं ॥
इणमेव मोक्खमग्गोत्ति मदी कायव्विया तम्हा ॥४२॥

'णिग्गंथ पव्वयण' । ग्रथ्नति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति समारमिति ग्रथा । मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान, असयम, कषाया, अशुभयोगत्रय चेत्यमी परिणामा । मिथ्यादर्शनान्निष्क्रान्त किं सम्यग्दर्शन । मिथ्याज्ञाना-न्निष्क्रात सम्यग्ज्ञानम् । असयमात्कषायेभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च निष्क्रान्त सुचारित्र । तेन रत्नत्रयमिह निर्ग्रथशब्देन भण्यते । **'पव्वयणं'** प्रवचनस्येद अभिधेय । **'इणमेव'** इदमेव, **'अणुत्तरं'** न विद्यते उत्तर उत्कृष्टमस्मादिति अनुत्तरम् । **'सुपरिशुद्धं'** सुष्ठु परिशुद्ध । **'इणमेव'** इदमेव । **'मोक्खमग्गोत्ति'** कर्मणा निरवशेषापायस्योपाय इति । **'मदी'** बुद्धि । **'कायव्विया'** कर्तव्या । **'तम्हा'** तस्मात् । यस्मादेवभूतायामसत्या मत्या दु खमरण-प्राप्तिरतीतकाल इव भविष्यत्यपि काले भविष्यतीति ॥४२॥

शङ्का--मिथ्यादृष्टि का मरण बालबालमरण है । तब यहाँ बालमरण क्या कहा है ?

समाधान—बालपना सामान्य है वह बाल-बालमे भी रहता है इसलिये 'बालमरण' ऐसा कहा है।

विशेषार्थ--प० आशाधर जी ने अपनी टीकामे लिखा है कि कुछ 'सुविहिद' ऐसा पढते है और उसका व्याख्यान वे 'हेतुचारित्र' ऐसा करते है। अर्थात् 'सुविहिद' को प्रवचनका विशेषण न करके सम्बोधनके रूपमे लेते है ॥४२॥

तब ससारसे डरने वालेको कैसी मति करनी चाहिये, यह कहते है--

गा०--इसलिये रत्नत्रयरूप जो प्रवचनका अभिधेय है यही सर्वोत्कृष्ट और पूर्णरूपसे निर्दोष है। यही मोक्षका मार्ग है ऐसी मति करनी चाहिये ॥४२॥

टी०--जो ससारको 'ग्रथ्नति' रचते है उसे दीर्घ करते है उन्हे ग्रन्थ कहते है। ये ग्रन्थ है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असयम, कषाय और तीन अशुभ योगरूप परिणाम । मिथ्यादर्शनके हटनेसे सम्यग्दर्शन होता है । मिथ्याज्ञानके हटनेसे सम्यग् ज्ञान होता है । असयम, कषाय और तीन अशुभयोगोके हटनेसे सम्यक्चारित्र होता है। अत यहाँ निर्ग्रन्थ शब्दसे रत्नत्रय कहा है। और 'पव्वयण' का अर्थ प्रवचनमे कहा गया विषय है। जो प्रवचनमे कहा रत्नत्रय है वही अनुत्तर है अर्थात् उससे उत्कृष्ट कोई नही है और वही पूर्ण शुद्ध है, वही मोक्षमार्ग अर्थात् समस्त बुराइयो का उपाय है। ऐसी मति करना चाहिये, क्योकि इस प्रकारकी मतिके न होनेपर दु खदायक मरणोकी प्राप्ति अतीतकालकी तरह भविष्यकालमे भी होगी ॥४२॥

---

१. अन्ये तु नि सग प्रवचनमिति प्राधान्येन व्याचक्षते—मूलारा० ।

तच्च सम्यक्त्वं निरतिचारं [1]गुणोज्ज्वलितं भावनीयं इत्येतदाचष्टे उत्तरप्रबंधेन। तत्रातिचारनिवेदनार्थोत्तरगाथा—

सम्मत्तादीचारा संका कंखा तहेव विदिगिंछा ॥
परदिठ्ठीण पसंसा अणायदणसेवणा चेव ॥ ४३ ॥

'सम्मत्तादीचारा' श्रद्धानस्य दोषा । **'संका'** शंका, संशयप्रत्ययः किंस्विदित्यनवधारणात्मकः । स च निश्चयप्रत्ययाश्रयं दर्शनं मलिनयति । ननु सति सम्यक्त्वे तदतिचारो युज्यते । संशयश्च मिथ्यात्वमावहति । तथाहि मिथ्यात्वभेदेषु संशयोऽपि गणितः । **'संसइदमभिग्गहिद अणभिग्गहिदं च तं तिविधं'** इति । सत्यपि संशये सम्यग्दर्शनमस्त्येवेति अतिचारता युक्ता । कथं ? श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्, उपदेष्टुरभावात्, तस्य वा वचननिपुणता नास्ति तन्निर्णयकारिश्रुत[2]वचनानुपलब्धेः, काललब्धेरभावाद्वा यदि नाम निर्णयो नोपजायते । तथापि तु इदं यथा सर्वविदा उपलब्धं तथैवेति श्रद्धधेहमिति भावयतः कथं सम्यक्त्वहानिः ? एवंभूतश्रद्धारहितस्य को वेत्ति किमत्र तत्त्वमिति अदृष्टेषु कपिलादिषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा, अयमेव सर्वविन्नेतर इति आगमशरणतायां को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति संशय एवेति । यत्तत्त्वाश्रद्धानं संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्-

अतिचाररहित और गुणोसे उज्ज्वल वह सम्यक्त्व भावनीय है यह आगे कहते है। उसके अतिचारोका कथन आगेकी गाथासे करते है—

गा०—शङ्का, आसक्ति, उसी तरह विचिकित्सा या ग्लानि अतत्त्वदृष्टिजनोकी प्रशंसा और अनायतनोकी सेवा, ये सम्यक्त्वके अतिचार है ॥४३॥

टी०—शङ्का आदि सम्यक्त्वके अतीचार अर्थात् श्रद्धानके दोष है। शंका संशयज्ञानको कहते है जो 'यह क्या है' इस प्रकार अनवधारणरूप होता है। वह निश्चयात्मकज्ञानके आश्रयसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको मलिन करता है।

शङ्का—सम्यक्त्व होनेपर उसमे अतिचार लगना उचित है। किन्तु संशय तो मिथ्यात्वरूप है। मिथ्यात्वके भेदोमे संशयको भी गिना है। कहा है—संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत तीन प्रकारका मिथ्यात्व है।

समाधान—संशयके होनेपर भी सम्यग्दर्शन रहता है अतः उसका अतिचारपना उचित है। श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष न होनेसे, उपदेष्टाके अभावसे अथवा उससे वचनोकी निपुणता न होनेसे, या निर्णयकारी शास्त्रवचनके प्राप्त न होनेसे अथवा काललब्धिके अभावसे यदि किसी विषयका निर्णय नही होता, तथापि जैसा इसे सर्वज्ञ भगवान्ने देखा है वैसा ही मै श्रद्धान करता हूँ' ऐसी भावना करनेवालेके सम्यक्त्वका अभाव कैसे हो सकता है ? जिसके इस प्रकारकी श्रद्धा नही है, तथा कौन जानता है तत्त्व क्या है, कपिल आदिको जब देखा नही तो उनकी सर्वज्ञताका निर्णय कैसे हो सकता है, यही सर्वज्ञ है, दूसरा नही है इसमे आगमका आश्रय लेनेपर कौन आगम यथार्थ वस्तुको कहता है, कौन नही कहता इस प्रकारका संशय ही होता है। इस प्रकारके संशयपूर्वक जो तत्त्वका अश्रद्धान है वह संशयज्ञानके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण

१ गुणोपोद्वलित अ० । गुणोपोद्वजित आ० । २. वचनाभावात् वा का–आ० ।–लब्धेः अभावाद्वाका–मु० ।

त्संशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । **अश्रद्धानरूपतैव लक्षण मिथ्यात्वस्य** । यथा वक्ष्यति 'तं **मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होदि अत्थाण**' मिति । अन्यथा मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च भेदो न भवेद्, भेदश्च स्फुटो वाक्यातरे '**मिच्छाणाणमिच्छादंसणमिच्छाचारित्तादो पडिविरदोमीति**'। कि च छद्मस्थाना रज्जूरगस्थाणुपुरुषादिषु किमिय रज्जुरुरग स्थाणु पुरुषो वा किमित्यनेक. संशयप्रत्ययो जायते इति[1] ते न सम्यग्दृष्टय स्यु ।

कांक्षा गार्द्ध्यं आसक्तिः, सा च दर्शनस्य मलं । यद्येवं आहारे कांक्षा, स्त्रीवस्त्रगधमाल्यालकारादिषु वाऽसंयतसम्यग्दृष्टेर्विरताविरतस्य वा भवति । यथा प्रमत्तसंयसस्य परीषहाकुलस्य भक्ष्यपानादिषु कांक्षा सभवतीति सातिचारदर्शनता स्यात् । तथा भव्याना मुक्तिसुखकाक्षा अस्त्येव । इत्यत्रोच्यते न कांक्षामात्रमतीचार' किंतु दर्शनाद्व्रताद्दानाद्देवपूजायास्तपसश्च जातेन पुण्येन ममेदं कुल, रूप, वित्त, स्त्री-पुत्रादिक, शत्रुमर्दन, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा सातिशय स्यादिति कांक्षा इह गृहीता एषा अतिचारो दर्शनस्य ।

'**विचिकित्सा जुगुप्सा**' मिथ्यात्वासयमादिषु जुगुप्साया' प्रवृत्तिरतिचार स्यादिति चेत् इहापि नियतविषया जुगुप्सेति मतातिचारत्वेन । रत्नत्रयाणामन्यतमे तद्वति वा कोपादिनिमित्ता जुगुप्सा इह गृहीता । ततस्तस्य दर्शन, ज्ञान, चरण वाऽशोभनमिति । यस्य हि यत्र इदं भद्र इति श्रद्धान स तस्य जुगुप्सा करोति । ततो रत्नत्रयमाहात्म्यारुचिर्युज्यतेऽतिचार ।

संशय मिथ्यात्व कहलाता है। मिथ्यात्वका लक्षण अश्रद्धानरूपता ही है। आगे कहेंगे—'तत्त्वार्थका जो अश्रद्धान है वही मिथ्यात्व है'। यदि ऐसा न हो तो मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शनमें भेद ही न हो। किन्तु अन्यत्र वचनमें स्पष्ट भेद कहा है। यथा—'मैं मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे विरत होता हूँ।' तथा छद्मस्थ जीवोंको रस्सी, सर्प, और स्थाणु पुरुष आदिमें, यह रस्सी है या साँप, अथवा स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार अनेक संशयज्ञान होते हैं। तब वे सम्यग्दृष्टी नहीं हो सकेंगे?

कांक्षा गृद्धि या आसक्तिको कहते हैं। वह भी सम्यग्दर्शनका मल है।

शंका—यदि ऐसा है तो असंयतसम्यग्दृष्टी अथवा विरताविरत श्रावकको आहारकी या स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला अलंकार आदिकी कांक्षा होती है। तथा परीषहसे व्याकुल प्रमत्तसंयत मुनिके खान-पान आदिकी कांक्षा होती है वह भी सम्यग्दर्शनका अतीचार कहलायेगी। तथा भव्य जीवोंको मुक्ति सुखकी कांक्षा रहती ही है?

समाधान—कांक्षामात्र अतीचार नहीं है। किन्तु सम्यग्दर्शनसे, व्रतधारणसे, देवपूजासे और तपसे उत्पन्न हुए पुण्यसे मुझे अमुक कुल, रूप, धन, स्त्री-पुत्रादि, शत्रु विनाश, अथवा सातिशय स्त्रीपना, पुरुषपना प्राप्त हो इस प्रकारकी कांक्षा यहाँ ग्रहण की है। वह सम्यग्दर्शनका अतीचार है।

विचिकित्सा जुगुप्साको कहते हैं।

शंका—तब तो मिथ्यात्व असंयम आदिमें जुगुप्सा करना भी अतीचार हो जायेगा।

समाधान—यहाँ भी नियत विषयमें जुगुप्साको अतिचाररूपसे माना है। रत्नत्रयमें किसी एकमें अथवा रत्नत्रयके धारीमें कोप आदिके निमित्तसे होनेवाली जुगुप्साका यहाँ ग्रहण किया है। जिसका जिसमें यह श्रद्धान है कि यह श्रेष्ठ है वह उसकी जुगुप्सा करता है। अतः रत्नत्रयके महत्त्वमें अरुचिका होना अतिचार होता है।

१ ति ते सम्य–आ० मु०।

'परदिट्ठीण पसंसा' परशब्दोऽनेकार्थवाची । क्वचिद् व्यवस्थावाची । नापरो ग्रामः पाटलिपुत्रादित्यादौ । तथा क्वचिदन्यार्थे परे आचार्या अन्ये इत्यर्थः । तथा इष्टार्थे, परं धाम गत' इष्टमिति यावत् । इह तु अन्यवाची । दृष्टि' श्रद्धा रुचि. । परा अन्या दृष्टिः श्रद्धा येषा ते परदृष्टयः । तत्त्वदृष्टयपेक्षया अतत्त्वदृष्टिरन्या तेषां प्रशंसा स्तुतिः ।

'अणायदणसेवणा चेव'–अनायतन षड्विध मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टय', मिथ्याज्ञान, तद्वन्तः, मिथ्याचारित्रं मिथ्याचारित्रवन्त इति । तत्र मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवाया मिथ्यादृष्टिरेवासौ नातिचारता । मिथ्यादृष्टीना तु सेवा बहुमनन तेषा । मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरपेक्षनयदर्शनोपदेश इदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानमुत्पादयामि श्रोतॄणामिति क्रियमाणो मिथ्याज्ञानिभि' सह सवास तत्र अनुरागो वा तदनुवृत्तिर्वा तत्सेवा । मिथ्याचारित्र नाम मिथ्याज्ञानिनामाचरणं तत्रानुवृत्तिर्द्रव्यलोभाद्यपेक्षया तेषु वा सागत्यादिक । एतेषा सम्यक्त्वातिचाराणा वर्जनम् ॥४३॥

गुणान्दर्शनविशुद्धिकारिणो निरूपयति उवगूहणमित्यनया—

उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्लपभावणा गुणा भणिदा ॥
सम्मत्तविसोधीए उवगूहणकारया चउरो ॥४४॥

उपबृंहण नाम वर्द्धन । बृह बृंहि वृद्धाविति वचनात् । धात्वर्थानुवादी चोपसर्ग उप इति । स्पष्टे-

---

'परदिट्ठीण' मे पर शब्दके अनेक अर्थ है । कही पर शब्द व्यवस्थाका वाची होता है । जैसे पाटलिपुत्रसे अपर गाँव नही है । कही परका अर्थ अन्य है । जैसे पर आचार्य अर्थात् अन्य आचार्य । कही परका अर्थ इष्ट है । जैसे पर धामको गया अर्थात् इष्ट धामको गया । यहाँ पर शब्द अन्यवाची है । दृष्टिका अर्थ श्रद्धा या रुचि है । जिनकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा पर अर्थात् अन्य है वे परदृष्टि है । अर्थात् तत्त्वदृष्टिकी अपेक्षा अतत्त्वदृष्टि अन्य है । उनकी प्रशसा-स्तुति सम्यग्दर्शनका अतीचार है ।

अनायतनके छह भेद है—मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्रके धारक । उनमेसे मिथ्यात्व तो अश्रद्धान ही है । उसकी सेवा करनेपर तो यह मिथ्यादृष्टि ही हुआ । अत मिथ्यात्व सेवा अतीचार नही है । मिथ्यादृष्टियोकी सेवाका अर्थ है उन्हे बहुत मानना । मिथ्याज्ञानकी सेवाका मतलब है निरपेक्ष नयोका उपदेश देना या 'यही तत्त्व है' इस प्रकारका श्रद्धान श्रोताओको उत्पन्न कराऊँ, इस रूपमे मिथ्याज्ञानियोंके साथ सवास करना, उनसे अनुराग होना अथवा उनकी अनुकूलता । मिथ्याज्ञानियोके आचरणको मिथ्याचारित्र कहते है । द्रव्यलोभ आदिकी अपेक्षासे उनका अनुवर्तन अथवा उनकी सगति । इन सम्यक्त्वके अतिचारोको छोडना चाहिए ॥४३॥

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले गुणोको कहते है—

गाथा—उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये चार गुण सम्यक्त्वकी विशुद्धिकी वृद्धि करनेवाले कहे है ॥४४॥

टी०—उपगूहण अर्थात् उपबृंहण नाम बढाने का है । क्योकि 'बृह और बृंहि धातुका अर्थ वृद्धि है' ऐसा कहा है । धातुके अर्थ के ही अनुकूल 'उप' उपसर्ग है । स्पष्ट और अग्राम्य

नाग्राम्येण श्रोत्रमन प्रीतिदायिना वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनप्रवणेन धर्मोपदेशेन परस्य तत्त्वश्रद्धान[1]वर्द्धनं तदुपबृंहणं। सर्वजनविस्मयकारिणी शतमखप्रमुखगीर्वाणसमितिविरचितोपचितिसदृशी पूजा सपाद्य दुर्धरतपोयोगानुष्ठानेन वा आत्मनि श्रद्धा स्थिरीकरणम्।

जीवादीनि द्रव्याणि तत्सामान्यविशेषरूपाध्यासितानि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकानि प्रतिसमयमिति जिनै सम्यगभाणि एवमेव नान्यथा श्रद्दधे जिनाना मत। न हि जिना वीतरागा विदिताखिलवेद्यतया याथातथ्या कृपापरिगता विपरीतमुपदिशतीति भावनया स्थिरीकरण, अस्थिरस्य रत्नत्रये स्थिरतापादन। मिथ्यात्वाभिमुखस्य सम्यग्दृष्टेरस्थिरस्य मिथ्यात्व मूलमेव तदनुभवत कर्मादान, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाया हि बधहेतव। तद्बधहेतुक चानतससारपरिभ्रमण चतुरशीतियोनिशतसहस्रेषु। सद्दर्शन तु विचित्रयातनासकटभयप्रदायिन्योर्नरकतियग्गतिवर्तिन्योर्वज्रार्गलाभूत शतमखमनुष्यलोकयोरन्यूनमान्यरूपभोगादिसपत्सपादनचतुर क्रमेण निर्वाणमपि प्रयच्छति। ततो दु खजलवाहिनी मिथ्यादृष्टिकुल्यामुल्लघय, प्रतिपद्यस्व जैनी दृष्टिमिति तत्र स्थिरताकरणम्। तथा सम्यग्ज्ञानभावनाया च प्रमादिनमलस दृष्ट्वा एवमसौ वक्तव्य ज्ञान हिताहितप्रकाशनपटु, तदन्तरेण हितमजानत कथ तत्र वृत्तिरहितपरिहारो वा। हिताहितप्राप्तिपरिहारौ विना न सुखाधिगमदु खविश्लेषौ। तदर्थमेव चाय प्राज्ञो जन क्लिश्यति। तत पचविधस्वाध्यायत्याग मा कृथा इति ज्ञाने स्थिरीकरण। अथवा अनधिगतसूत्रार्थनिश्चयस्य तत्र निश्चयसपादन असकृद्भावनात्मन स्थिरीकरण।

(शिष्टजनोचित) कानो और मनको प्रसन्नता देनेवाले तथा वस्तुका यथार्थस्वरूप प्रकाशन करनेमे समर्थ धर्मोपदेशके द्वारा दूसरेके श्रद्धानको बढाना उपबृहण है। अथवा सर्व जनोको आश्चर्य पैदा करनेवाली, इन्द्रादि प्रमुख देवगणोके द्वारा की जानेवाली पूजाके समान पूजा रचाकर अथवा दुर्धर तप और ध्यानका अनुष्ठान करके आत्माम श्रद्धाको स्थिर करना उपबृहण है।

जीवादि द्रव्य अपने सामान्य और विशेष रूपोसे युक्त होकर प्रतिसमय उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है ऐसा जिनदेवने सत्य ही कहा है। ऐसा ही है, अन्यथा नही है। जिनदेवके मतका मै श्रद्धान करता हूँ। वीतराग, समस्त पदार्थोके यथार्थ रूपको जाननेवाले दयालु जिनदेव विपरीत उपदेश नही देते' इस प्रकारकी भावनासे रत्नत्रयमे अस्थिरको स्थिर करना स्थितिकरण है। मिथ्यात्वके अभिमुख सम्यग्दृष्टिकी अस्थिरताका मूल मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्वका अनुभवन करनेवालेके कर्मोका ग्रहण होता है क्योकि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय बन्धके कारण है। और उस बन्धके कारण चौरासी लाख योनियोमे अनन्तकाल तक संसार भ्रमण करना होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन विचित्र कष्ट, सकट और भय देनेवाली नरक गति और तिर्यञ्च गतिके लिए वज्रमयी अर्गला है, इन्द्र लोक और मनुष्य लोकमें पूर्ण मान्य भोगादि सम्पदाको प्राप्त करानेमे चतुर है, क्रमसे मोक्ष भी प्राप्त कराता है। इसलिए दु ख रूपी जल जिसमे बहता है उस मिथ्यादृष्टि रूपी नदीको पार करके जैनी दृष्टि प्राप्त करो। इस प्रकार उसमे स्थिर करना स्थितिकरण है। तथा सम्यग्ज्ञानकी भावनामे प्रमादी आलसीको देखकर उससे ऐसा कहना चाहिए—ज्ञान हित और अहितको प्रकाशित करनेमे चतुर होता है। उसके बिना जो हितको नही जानता वह कैसे हितमे प्रवृत्ति और अहितका परिहार कर सकेगा और हितकी प्राप्ति तथा अहितके त्यागके बिना सुखकी प्राप्ति और दु खसे छुटकारा नही हो सकता। उसीके लिए तो यह बुद्धिमान मनुष्य कष्ट उठाता है। अत पाँच प्रकारको स्वाध्यायका त्याग मत करो। इस प्रकार ज्ञानमे स्थिरीकरण है। अथवा

---

१. वर्तन अ० आ०।

चारित्रात् प्रच्यवमान दृष्ट्वा हिमादिसावद्यक्रियाया प्रवर्तमाना इहैव दु खभाजो दृश्यन्ते, तथा पर हन्तुमुद्यत स्वय तेनैव हन्यते प्राक्तनमित्रैर्वधुभिर्वोदीर्णवैरै । परत्र चाशुभा गतिमुपैति । दु खदाय्यसद्वेद्य च बध्नाति । अलीक ब्रुवन्निहैव बधुजनस्यापि विद्वेष्योऽविश्वास्यश्च भवति कि पुनरन्यस्य । जिव्हा चोत्पाटयति क्रुद्धा बलिन । परत्र च मूकता यास्यति इत्येवमाद्यसयमगतदोष प्रख्याप्य नीरोगता, दीर्घजीवन, सौरूप्य, प्रियवचनादिक गुणमुपदिश्य अहिमादिव्रताचरणफल चारित्रे स्थिरीकरणम् । असयतदोष सयमगुण वा पुन पुनः स्मृत्वात्मन स्थिरीकरणम् ।

धर्मस्थेषु मातरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्य, रत्नत्रयादरो वात्मन । प्रभावना माहात्म्यप्रकाशनं रत्नत्रयस्य तद्वता वा ॥४४॥

दर्शनविनयप्रतिपादनार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

अरहंतसिद्धचेइय सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य ।
आयरिय उवज्झाए सुपवयणे दंसणे चावि ॥ ४५ ॥

'अरहत इत्यादिक' । **अरिहननाद्रजोहननाद्रहस्याभावादतिशयपूजार्हत्वाच्चाधिगतार्हद्व्यपदेशा नोआगमभावार्हन्त इह गृहीताः ।** न नामार्हन्, **निमित्ताभावेऽपि पुरुषकारान्नियुक्तार्हद्व्यपदेशः ।** अर्हता प्रतिबिबानि

सूत्रके अर्थका निश्चय जिसे नहीं है उसे निश्चय कराना । तथा बारम्बार भावना करना आत्माका स्थिरीकरण है ।

चारित्रसे गिरते हुए को देखकर कहना—जो हिंसा आदि पाप कार्योंमे लगते है वे इसी जन्ममे दु ख भोगते देखे जाते है । जो दूसरेको मारनेके लिए तैयार होता है वह स्वय अथवा उसी दूसरेके द्वारा मारा जाता है । अथवा उसके मित्रो और बन्धुओके द्वारा पूर्व वैरके उदीर्ण होनेसे मारा जाता है । मरकर दुर्गतिमे जाता है । दु खदायी असातावेदनीय कर्मको बाँधता है । असत्य बोलने वाला इसी लोकमे बन्धुजनोके द्वारा द्वेषका भाजन होता है तथा उसका वे विश्वास नही करते । फिर दूसरो की तो बात ही क्या है ? बलवान पुरुष क्रुद्ध होकर झूठ बोलने वालेकी जिह्वा उखाड़ देते है । मरकर वह परलोकमे गूँगा होता है । इस प्रकारसे असयमके दोष कहकर और नीरोगता, दीर्घ जीवन, सौन्दर्य, प्रियवचन आदि सयमके गुणोका उपदेश देकर चारित्रमे स्थिर करना अहिसा आदि व्रतोके आचरणका फल है । अथवा असयमके दोष और सयमके गुण बार-बार स्मरण करके अपनेको चारित्रमे स्थिर करना स्थितीकरण है ।

धर्मात्माओमे माता-पिता वा भाईमे अनुराग करना वात्सल्य है । अथवा अपने रत्नत्रयमे आदरभाव रखना वात्सल्य है । रत्नत्रयका अथवा रत्नत्रयके धारकोका माहात्म्य प्रकट करना प्रभावना है ॥४४॥

दर्शन विनयका कथन करनेके लिए आगे दो गाथा कहते है—

गा०—अरहन्त, सिद्ध और प्रतिबिम्बोमे श्रुतमे और धर्ममे और साधुवर्गमे आचार्यमे उपाध्यायमे और सुप्रवचनमे दर्शनमे भी ॥४५॥

टी०—'अरि' अर्थात् मोहनीयकर्मका नाश कर देनेसे, 'रज' अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मको नष्ट कर देनेसे, 'रहस्य' अर्थात् अन्तरायकर्मका अभाव कर देनेसे, और सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हत् कहे जानेवाले नो आगमभावरूप अर्हन्तोका यहाँ ग्रहण किया है ।

सोऽयमित्यभिसंबधावर्हद्व्यपदेशभाजि पूजातिशयार्हत्वेऽपि अरिहननादिगुणासभवान्नेह गृह्यन्ते। आगमद्रव्यार्हन्न्-र्हत्स्वरूपव्यावर्णनपरप्राभृतज्ञाऽनुपयुक्तस्तदर्थेऽन्यत्र व्यापृत। ज्ञायकशरीरार्हन्नाम तत्प्राभृतज्ञस्य त्रिकालगोचर शरीर। यस्मिन्नात्मनि अरिहननादयो भविष्यति गुणा स भाव्यर्हन्। तीर्थकरनामकर्म तद्व्यतिरिक्तद्रव्यार्हन्। अर्हद्व्यावर्णनपरप्राभृतप्रत्ययोऽर्हन्निर्भासो बोध आगमभावार्हन्। एतेषु अरिहननादिगुणानामभावात् नेहार्हच्छब्देन ग्रहणम्।

एव नामसिद्धः अलब्धसकलात्मस्वरूपे सिद्धशब्द। यस्य वा निमित्तनिरपेक्षा सिद्धसज्ञा। स्थापनासिद्धा इति तत्प्रतिबिबानि उच्यन्ते। ननु सशरीरस्यात्मन प्रतिबिब युज्यते, अशरीराणा तु शुद्धात्मना सिद्धाना कथ प्रतिबिबसभव? पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया शरीरमनुगतो य आत्मा सयोगकेवलीतरो वा न शरीरान्निर्भक्तु शक्यते। विभागे हि शरीरात्ससारिता न स्यात्। अशरीर ससारी चेति विरुद्धमेतत्। तत शरीरसस्थानवच्चिदात्मापि सस्थानवानेव सस्थानवतोऽव्यतिरिक्तत्वाच्छरीरस्थात्मवत्। स एव चाय प्रतिपन्नसम्यक्त्वाद्यष्टगुण इति स्थापनासभव। आगमद्रव्यसिद्ध सिद्धप्राभृतज्ञ सिद्धशब्देनोच्यते अनुपयुक्त। सिद्धप्राभृतज्ञस्य

नामसे जो अर्हन्त है उनका यहाँ ग्रहण नही है। अर्हन्त सज्ञाके जो निमित्त कहे हैं उनके अभावमे भी जबरदस्तीसे जो अर्हत् नाम रख दिया जाता है उसे नाम अर्हत् कहते है। अर्हन्तोंके प्रतिबिम्ब 'वे अर्हन्त यही है। इस प्रकारकी स्थापनाके सम्बन्धसे अर्हन्त कहे जाते हैं और वे सातिशय पूजाके योग्य भी है फिर भी उनमे मोहनीय कर्मका विनाश आदि गुण न होनेसे यहाँ उनका ग्रहण नही किया है। अर्हन्तके स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रका ज्ञाता, जो उसमे उपयोग नही लगा रहा किसी अन्य कार्यमे लगा है वह आगम द्रव्यअर्हन्त है। उस अर्हन्तविषयक शास्त्रके ज्ञाताका जो भूत वर्तमान और भावि शरीर है वह ज्ञायक शरीर अर्हन्त है। जिस आत्मामे अरिहनन आदि गुण भविष्यमे होगे वह भाविअर्हन्त है। तीर्थङ्करनामकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्य-अर्हन्त है। अर्हन्तके वर्णनमे तत्पर शास्त्रका जो ज्ञान है—अर्थात् अर्हन्तविषयक जो ज्ञान है वह आगमभाव अर्हन्त है। इन सबमे अरिहनन आदि गुणोका अभाव होनेसे यहाँ अर्हत् शब्दसे उनका ग्रहण नही किया है।

इसी प्रकार जिसने सम्पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नही किया उसमे सिद्ध शब्दका व्यवहार नाम सिद्ध है। अथवा सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिमे निमित्त आठ कर्मोंके विनाशकी अपेक्षा न करके जिसका नाम सिद्ध रखा गया है वह नामसिद्ध है। सिद्धोके प्रतिबिम्बोको स्थापनासिद्ध कहते है।

शका—शरीरसहित आत्माका प्रतिबिम्ब तो युक्त है। शरीर रहित शुद्ध आत्माओका प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव है?

समाधान—पूर्वभाव प्रज्ञापननयकी अपेक्षा जो आत्मा शरीरमे था, वह सयोगकेवली हो या अन्य हो, उसे शरीरसे अलग नही किया जा सकता। यदि उसे शरीरसे पृथक् ही सर्वथा कर दिया जाये तो उसका ससारीपना नही बनता; क्योकि शरीरसे रहित हो और ससारी हो यह तो परस्पर विरुद्ध है। अत शरीरके आकारकी तरह चेतन आत्मा भी आकारवान ही है क्योकि वह आकारवानसे अभिन्न है, जैसे शरीरमे रहनेवाला आत्मा। वही यह सम्यक्त्व आदि आठ-गुणोसे सहित है इस प्रकार सिद्धकी स्थापना सम्भव है। जो सिद्ध विषयक शास्त्रका ज्ञाता उसमे उपयुक्त नही है और उसे सिद्ध शब्दोसे कहा जाता है तो वह आगमद्रव्य सिद्ध है। सिद्धविषयक

शरीरं ज्ञायकशरीरं । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो भाविसिद्धः । व्यतिरिक्तसिद्धो न संभवति । सिद्धत्वं न कर्मकारणम् इति सकलकर्मापायहेतुका सिद्धता । पुद्गलद्रव्यस्य तदुपकारिणोऽसंभवान्नोकर्मसिद्धाभावः । सिद्धप्राभृतानुसारिसिद्धज्ञानपरिणत आगमभावसिद्धः । निरस्तभावद्रव्यकर्ममलकलङ्कः परिप्राप्तसकलक्षायिकभावः नोआगमभावसिद्धः । स इह गृहीतो न इतरे सकलात्मस्वरूपप्राप्त्यभावात् ।

'**चेदिय**' चैत्यं प्रतिबिंबं इति यावत् । कस्य ? प्रत्यासत्तेः श्रुतयोरेवार्हत्सिद्धयोः प्रतिबिंबग्रहणं । अथवा मध्यप्रक्षेपः पूर्वोत्तरगोचरस्थापनापरिग्रहार्थस्तेन साध्वादिस्थापनापि गृह्यते ।

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाज्जातं वस्तुयाथात्म्यग्राहि श्रद्धानानुगतं श्रुतं अंगपूर्वप्रकीर्णकभेदभिन्नं, तीर्थंकरश्रुतकेवल्यादिभिरारचितो वचनसंदर्भो वा, लिप्यक्षरश्रुतं वा ।

धर्मशब्देन चारित्रं समीचीनमुच्यते । ज्ञानदर्शनाभ्यामनुगतं सामायिकादि पंचविकल्पम् । दुर्गतिप्रस्थितजीवधारणात्, शुभे स्थाने वा दधाति इति धर्मशब्देनोच्यते । अथवा

'**खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो अकिंचणदा ।**
तह होदि बम्भचेरं सच्चं चागो य दस धम्मा ॥ —[मूलाचार ८।६२]

इति सूत्रांतरनिर्दिष्टधर्मपरिग्रहः । क्रोधनिमित्तसान्निध्येऽपि कालुष्याभावः क्षमा स्नेहकार्याद्यनपेक्षः । जात्याद्यभिमानाभावो मानदोषापेक्षस्य[1] दृष्टकार्यानपाश्रयो मार्दवम् । आकृष्टान्तद्वयसूत्रवद्वक्रताभावः आर्जव-

शास्त्रके ज्ञाताओंका शरीर ज्ञायकशरीर है । भविष्यमें जिसे सिद्धपर्याय प्राप्त होगी वह भाविसिद्ध है । तद्व्यतिरिक्त सिद्ध सम्भव नहीं है क्योंकि सिद्धत्वपर्यायका कारण कर्म नहीं है । सिद्धता तो समस्त कर्मोंके विनाशसे प्राप्त होती है । उस सिद्धत्वपर्यायका उपकारी पुद्गलद्रव्य नहीं है इसलिए नोकर्मसिद्ध भी नहीं है । सिद्ध विषयक शास्त्रके अनुसार सिद्धोंके ज्ञानरूप जो परिणत है वह आगम भाव सिद्ध है । जिसने भावकर्म और द्रव्यकर्ममलरूप कलंकको नष्ट करके सकलक्षायिकभावोंको प्राप्त कर लिया है वह नो आगम भावसिद्ध है । उसीका यहाँ ग्रहण किया है अन्यका नहीं; क्योंकि उन्होंने पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं किया है ।

चैत्य प्रतिबिम्बको कहते हैं । चैत्य शब्द अर्हन्त और सिद्धके समीप है अतः सिद्ध और अर्हन्तके ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करना । अथवा उससे पूर्वकी और उत्तरकी स्थापनाका ग्रहण करनेके लिए चैत्य शब्दको मध्यमें रखा है । उससे साधु आदिकी स्थापनाका भी ग्रहण होता है ।

श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाला श्रद्धान सहित ज्ञान श्रुत है । उसके भेद ग्यारह अंग, चौदह पूर्व और अंगबाह्य है । अथवा तीर्थंकर और श्रुतकेवली आदिके द्वारा रचा गया वचन सन्दर्भ श्रुत है । अथवा जो लिपि रूप अक्षरश्रुत है वह श्रुत है । धर्म शब्दसे समीचीन चारित्र कहा जाता है । ज्ञान और सम्यग्दर्शनसे अनुगत वह चारित्र सामायिक आदिके भेदसे पाँच प्रकार का है । दुर्गतिमें पड़े हुए जीवको धारण करनेसे अथवा शुभ स्थानमें धरनेसे उसे धर्म शब्दसे कहते हैं अथवा धर्म शब्दसे शास्त्रमें कहे गये क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, संयम, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य, त्याग ये दस धर्म ग्रहण किये हैं । क्रोधके निमित्तोंके रहते हुए भी कलुषताके अभावको क्षमा कहते हैं । यह क्षमा किसी स्नेह सम्बन्धी कार्य आदिकी अपेक्षाके बिना होती है । मानकी बुराइयोंकी अपेक्षा न करके तथा लौकिक

१ दोषानपेक्षस्य दृ–आ० मु० ।

मित्युच्यते । द्रव्येषु ममेद भावमूलो व्यसनोपनिपात' सकल इति तत परित्यागो लाघव । अशनादिपरित्यागात्मिका क्रिया अनपेक्षितदृष्टफला द्वादशविधा तप. । इन्द्रियविषयरागद्वेषाभ्या निवृत्तिरिन्द्रियसयम । षड्जीवनिकायबाधाऽकरणादपर' प्राणिसयम । अकिंचणदा सकलग्रथत्याग । ब्रह्मचर्य नवविधब्रह्मपालन । सता साधूना हितभाषण सत्यम् । सयतप्रायोग्याहारादिदान त्याग । एते दशधर्मा ।

साधयन्ति रत्नत्रयमिति साधवस्तेषा वर्ग समूह । तस्मिन्वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञाने परिणतिर्ज्ञानाचार । तत्त्वश्रद्धानपरिणामो दर्शनाचार । पापक्रियानिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचार । अनशनादिक्रियासु वृत्तिस्तप आचार' । स्वशक्त्यनिगूहनरूपा वृत्तिर्ज्ञानादौ वीर्याचार. । एतेषु पचस्वाचारेषु ये वर्तन्ते पराश्च प्रवर्तयति ते आचार्या । रत्नत्रयेषु उद्यता जिनागमार्थ सम्यगुपदिशति ये ते उपाध्याया' **उपेत्य विनयेन ढौकित्वा अधीयते श्रुतमस्मादित्युपाध्यायः ।**

'पवयणे' प्रवचने । ननु श्रुतशब्द प्रवचनवाची तत पुनरुक्तता ? रत्नत्रय प्रवचनशब्देनोच्यते । **तथा चोक्तम्—'णाणदंसणचरित्तमेग पवयणमिति'** । अथवा श्रुतज्ञान श्रुतमित्युक्त पूर्वमिह तु प्रोच्यते जीवादय. पदार्था इति शब्दश्रुतमुच्यते । **'दंसणे'** सम्यग्दर्शने च ॥ ४५ ॥

कार्योके प्रयोजनके विना जाति आदिका अभिमान नही होना मार्दव है। एक ऐसे धागेकी तरह जिसके दोनो छोर खीचे हुए है, कुटिलताके अभावको आर्जव कहते है। द्रव्योमे 'यह मेरा है' यह भाव समस्त विपत्तियोके आनेका मूल है अत' उसका त्याग लाघव है। लौकिकफलकी अपेक्षा न करके भोजन आदिके त्यागरूप क्रियाका नाम तप है उसके बारह भेद है। इन्द्रियोके विषयोमे रागद्वेष न करना इन्द्रियसयम है। छह कायके जीवोको बाधा न पहुचाना दूसरा प्राणिसयम है। समस्त परिग्रहका त्याग आकिञ्चन्य धर्म है। नौ प्रकारसे ब्रह्मका पालन ब्रह्मचर्य है। सज्जन साधु पुरुषोके हितकारी भाषणको सत्य कहते है। सयमियोके योग्य आहार आदि देना त्याग है। ये दस धर्म है।

जो रत्नत्रयका साधन करते है वे साधु है। उनके समूहको साधुवर्ग कहते है। वस्तुके यथार्थस्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमे लगना ज्ञानाचार है। तत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम दर्शनाचार है। पाप कार्योसे निवृत्तिरूप परिणति चारित्राचार है। अनशन आदि क्रियाओमे लगना तप आचार है। ज्ञानादिमे अपनी शक्तिको न छिपाकर प्रवृत्ति करना वीर्याचार है। इन पाँच आचारोंमे जो स्वय प्रवृत्त होते है और दूसरोको प्रवृत्त करते है वे आचार्य है। जो रत्नत्रयमे तत्पर हैं और जिनागमके अर्थका सम्यक् उपदेश करते है वे उपाध्याय है। विनय पूर्वक जाकर जिनसे श्रुतका अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय है। पवयणका अर्थ प्रवचन है।

शङ्का—श्रुत शब्दका अर्थ भी प्रवचन है। वह आ चुका है। फिर प्रवचन कहनेसे पुनरुक्तता दोष होता है।

समाधान—प्रवचन शब्दसे रत्नत्रयको कहते है। कहा है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये प्रवचन है।' अथवा पूर्वमे श्रुतसे श्रुतज्ञान कहा है। यहाँ प्रवचन शब्दसे शब्दरूप श्रुत कहा है। जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ 'प्रोच्यन्ते' प्रकर्षरूपसे कहे जाते है वह प्रवचन है इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचनका अर्थ शब्दरूप श्रुत होता है। दर्शनसे सम्यग्दर्शन जानना ॥४५॥

भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स ।।
आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण ।।४६।।

का भत्ती पूजा ? अर्हदादिगुणानुरागो भक्ति । पूजा द्विप्रकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्प-धूपाक्षतादिदान अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कायक्रिया च, वाचा गुणसस्तवन च । भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरण ।

'**वण्णजणणं**' वर्णशब्द क्वचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति । अक्षरवाची क्वचिद्यथा '**सिद्धो-वर्णसमाम्नाय.**' इति । क्वचित् ब्राह्मणादौ यथात्रैव वर्णानामधिकार इति । क्वचिद्यशसि वर्णार्थी ददाति । तथा इहाप्यनतरार्थो गृहीत । तेन अर्हदादीना यशोजनन विदुषा परिषदि । अन्येषामविश्ववेदिना दृष्टेष्टविरुद्ध-वचनताप्रदर्शनेन निर्बंध तत्सवादिवचनतया महत्ताप्रख्यापन भगवता वर्णजननम् ।

चैतन्यमात्रसमवस्थानरूपे निर्वाणे नापूर्वातिशयप्राप्तिरस्ति । यत्नमतरेण सर्वात्मसु चैतन्यस्य सदा स्थिते । विशेषरूपरहितत्वादसच्चैतन्य खपुष्पवत् । प्रकृतेरचेतनाया मुक्तिरनुपयोगिनी । कि तया बद्धया मुक्त्या वा फलमात्मन ? अनया दिशा कापिलमते सिद्धता दुरुपपादा । बुद्ध्यादिविशेषगुणरहितता सिद्धता-ऽन्येषा । आत्मनोऽचेतनता क सचेतमोऽभिलषति । विशेषरूपशून्य वा कथमात्मन सत्ता ? नैव चागावात्मा

गा०—भक्ति, पूजा, वर्णजनन और अवर्णवादका नाश करना तथा आसादनाका दूर करना सक्षेपसे दर्शन विनय है ।।४६।।

टी०—भक्ति और पूजा किसे कहते है ? अर्हन्त आदिके गुणोमे अनुराग भक्ति है । पूजाके दो प्रकार है—द्रव्यपूजा और भावपजा । अर्हन्त आदिका उद्देश करके गन्ध, पुष्प, धूप, अक्षत आदि अर्पित करना द्रव्यपूजा है । तथा उनके आदरमे खडे होना, प्रदक्षिणा करना, प्रणाम आदि करना रूप शारीरिक क्रिया और वचनमे गुणोका स्तवन भी द्रव्यपूजा है । मनसे उनके गुणोका स्मरण भाव पूजा है ।

''वर्णजनन' मे वर्णशब्द कही तो रूपका वाचक है जैसे 'शुक्लवर्ण लाओ' यहाँ उसका अर्थ शुक्लरूप है । कही 'वर्ण' अक्षरका वाचक है । जैसे 'सिद्धो वर्णसमाम्नाय ' यहाँ वर्णका अर्थ अक्षर है । कही वर्णशब्द ब्राह्मण आदिका वाचक है । जैसे 'यहाँ वर्णोका ही अधिकार है । यहाँ वर्णसे ब्राह्मण आदि लिये गये है । कहीपर वर्णका अर्थ यश है । जैसे वर्णार्थी दान करता है । यहाँ वर्णका अर्थ यश है । यहाँ भी वर्णसे यश अर्थ लिया है । अत' विद्वानोकी सभामे अर्हन्त आदिका यश फैलाना, दूसरे असर्वज्ञोकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्धता दिखलाकर उनके वचनोके सवादि होनेसे महत्ताका ख्यापन करना अर्हन्तोका वर्णजनन है ।

चैतन्यमात्रमे स्थितिरूप निर्वाणको माननेपर अपूर्व अतिशयकी प्राप्ति नही होती । विना प्रयत्नके ही सभी आत्माओमे चैतन्य सदा रहता है । तथा विशेषरूपसे रहित चैतन्य आकाशके फूलके समान असत् होता है । अचेतन प्रकृतिकी मुक्ति मानना व्यर्थ है । उसके बँधने या मुक्त होनेसे आत्माको क्या ? इस प्रकार सांख्यके मतमें सिद्धता नही बनती ।

वैशेषिक आदि दूसरे दार्शनिक सिद्ध अवस्थामे बुद्धि आदि विशेष गुणोका अभाव मानते हैं । इस तरह कौन सचेतन आत्माको अचेतन बनाना पसन्द करेगा । तथा विशेष धर्मोसे शून्य

पराम्युपगत बुद्धयादिगुणरहितत्वाद्भस्मवत् । रागादिक्लेशवासनारहितं चित्तमेव मुक्तिशब्देनोच्यते इत्यत्रापि चित्तमत्यंतासाधारणरूप । यद्येक चिद्रूपं नेतरदिति तस्य स्वभावोऽनिरूप्य । असाधारणस्वरूपशून्य यत्तद-सद्यथा—नभस्तामरस । असाधारणरूपशून्यं च विवक्षिताच्चित्तादन्यदिति । एवं मतान्तरे निरूपिताना सिद्धा-नामघटमानत्वाद्वाधाकारिसकलकर्मलेपनिर्दहनसमुपजाताचलस्वास्थ्यसमवस्थिता' अनतज्ञानात्मकेन सुखेन सतृप्ता सिद्धा इति तन्माहात्म्यकथन सिद्धाना वर्णजननम् ।

यथा वीतरागद्वेषास्त्रिलोकचूलामणयोऽर्हदादयो भव्याना शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिबिंबानि । बाह्यद्रव्यालबनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते । यथात्मनि मनोज्ञामनोज्ञ-विषयसान्निध्याद्रागद्वेषौ यथा स्वपुत्रसदृशं सुदर्शन पुत्रस्मृतेरालंबन । एवमर्हदादिगुणानुस्मरणनिबधन प्रति-बिंबम् । तद्गुणानुस्मरण अभिनवाशुभप्रकृते सवरणे, प्रत्यग्रशुभकर्मादाने, गृहीतशुभप्रकृत्यनुभवस्फारीकरणे, पूर्वोपात्ताशुभप्रकृतिपटलरसापहासे च क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति चैत्यमहत्ता-प्रकाशन चैत्यवर्णजननमिति ।

केवलज्ञानवदशेषजीवादिद्रव्ययाथात्म्यप्रकाशनपटु, कर्मघर्मनिर्मूलनोद्यतशुभध्यानचदनमलयायमान स्व-परसमुद्धरणनिरतविनेयजनताचित्तप्रार्थनीय, प्रतिबद्धाशुभास्रव, अप्रमत्तताया सपादक सकलविकलप्रत्यक्षज्ञान-

---

आत्माकी सत्ता कैसे रहेगी। तथा दूसरोके द्वारा माना गया आत्मा बुद्धि आदि गुणोसे रहित होनेसे भस्मके समान है।

बौद्धमतमे रागादि क्लेशवासनासे रहित चित्त ही मुक्ति शब्दसे कहा जाता है। उनके मतमे भी चित्त अत्यन्त असाधारणरूपको लिये हुए है। यदि चिद्रूप एक ही है अन्य नही है तो उसका स्वरूप निरूपण करनेके योग्य नही है। जो असाधारण स्वरूपसे शून्य होता है वह असत् होता है जैसे आकाशका कमल। और विवक्षित चित्तसे अन्य चित्त असाधारण स्वरूपसे शून्य है। इस प्रकार अन्य मतोमे कहे गये सिद्धोका स्वरूप नही बनता। अतः बाधा पैदा करनेवाले समस्त कर्मरूपी लेपको जला डालनेसे उत्पन्न हुए निश्चल स्वास्थ्यसे युक्त और अनन्तज्ञानरूप सुखसे सन्तृप्त सिद्ध होते है। इस प्रकार उनके माहात्म्यको कहना सिद्धोका वर्णजनन है।

जैसे राग-द्वेषसे रहित और तीनो लोकोके चूडामणि अर्हन्त आदि भव्यजीवोके शुभोप-योगमे निमित्त होते है, उन्हीकी तरह उनके ये प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोगमे निमित्त होते है। क्योंकि बाह्य द्रव्यका आलम्बन लेकर शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते है। जैसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोकी समीपतासे आत्मामे राग-द्वेष होते है। या जैसे अपने पुत्रके समान व्यक्तिका दर्शन पुत्रकी स्मृतिका आलम्बन होता है। इसी तरह प्रतिबिम्ब अर्हन्त आदिके गुणोके स्मरणमे निमित्त होता है। यह गुणस्मरण नवीन अशुभ प्रकृतिके आस्रवको रोकनेमे, नवीन शुभकर्मके बन्धमें, बन्धे हुए शुभकर्मके अनुभागको बढ़ानेमे और पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृति समूहके अनुभागको कम करनेमे समर्थ होता है। इस तरह समस्त इष्ट पुरुषार्थकी सिद्धिमे कारण होनेसे प्रतिबिम्बो-की उपासना करना चाहिए। इस रूपसे प्रतिबिम्बकी महत्ताका प्रकाशन चैत्यवर्ण जनन है। श्रुतज्ञान केवलज्ञानकी तरह समस्त जीवादि द्रव्योंके यथार्थस्वरूपको प्रकाशित करनेमे दक्ष होता है, कर्मरूपी घामको मूलसे नष्ट करनेमें उद्यत शुभध्यानरूपी चन्दनके लिए मलयपर्वतके समान है। अपना और दूसरोंका उद्धार करनेमे लगे हुए शिष्यजनोके द्वारा अन्तःकरणसे प्रार्थनीय है

बीजं, दर्शनचरणयो समीचीनयो प्रवर्तक इति निरूपणा श्रुतवर्णजननम् ।

दु खात् त्रातु , सुख दातु , निधीना रत्नाना चाधिपत्ये स्थापयितु , स्वचक्रविक्रमानमितसकलभूपालखे-चरगणबद्धमरुच्चक्राश्चक्रलाछनान्पादयो पातयितु , सुरविलासिनीचेत समोहावह, तदीयविलुठत्पाठीनलोचन-रागमभिवर्धयती, हर्षभरपरवशोद्भिन्नमाद्वरोमाचकचुकमाचरितुमुद्यता, रूपशोभामन्दिरा सपादयितुमति-शयिताणिमादिगुणप्रसाधना, सामानिकादिसुरसहस्रानुयानोपनीतमहत्ता, सततप्रत्यग्रयुवतालिंगिता सुभगतालता-रोहयष्टिम्, अनेकसमुद्रबिन्दुगणनागणितायु स्थिति, मेरुकुरुसुरसरित्कु लाचलादिगोचरस्वेच्छाविहारचतुरा, सुरागनापृथुलनितम्बबिबाधरकठिननिबिड—समुन्नतकुचतटक्रीडालोकनस्पर्शनादिक्रियापयोगामितप्रीतिविस्मिता, शतमखतामखेदेन झटिति घटयितु , विरूपताजननीजराडाकिनीनामगोचरा शोकवृकानुल्लघिता, विपद्दावान-लशिखाभिरनुपप्लुता, रोगोरगैरदष्ट[1]व्या, यममहिषखुराखडिता, भीतिवराहसमितिभिरनुल्लिखिता, सक्लेश-शतशरभैरनध्यासिता, प्रियवियोगचण्डपुडरीकैरसेविता, अनर्घ्यसुखरत्नप्रभवभूमि निर्वृति प्रापयितु समर्थो जिनप्रणीतो धर्म इति धर्मस्वरूपकथन धर्मवर्णनजननम् ॥

अर्थात् वे श्रुतज्ञानके लिए प्रयत्नशील रहते है। अशुभ आश्रवको रोकता है। अप्रमादपना लाता है, सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्षरूप ज्ञानका बीज है अर्थात् श्रुतज्ञानमे ही अन्यज्ञान पैदा होते हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमे प्रवृत्त करानेवाला है। इस प्रकार कथन करना श्रुतज्ञान-का वर्णजनन है।

धर्म दु खसे रक्षा करता है, सुख देता है, नवनिधि और चौदह रत्नोका स्वामी बनाता है, अपने चक्ररत्नके पराक्रमसे समस्त राजाओ, विद्याधरोंको विनम्र करने वाले तथा देवगणोको भी बाँधने वाले चक्रवर्तियोको चरणोमे गिराता है, धर्मके प्रभावसे बिना किसी खेदके तत्काल इन्द्र-पदवी प्राप्त होती है जो इन्द्रपदवी देवागनाओके चित्तको समोहित करती है, उनके चचल मीनके तुल्य लोचनोमे अनुरागको बढाती है, हर्षके भारसे प्रकट हुए सघन रोमाचरूपी कन्चुकको उत्पन्न करनेमे तत्पर होती है, रूपकी शोभा बढानेके लिये सातिशय अणिमा आदि ऋद्धियोका सम्पादन करती है, सामानिक आदि हजारो देवता अनुगमन करके उसका महत्त्व ख्यापन करते है, निरन्तर नवीन तारुण्य उसका आलिंगन करता है, सौभाग्यरूपी बेलके चढनेके लिये वह लकडीके तुल्य है, उसकी आयुकी स्थिति अनेक समुद्रोके जल बिन्दुओके द्वारा गिनी जाती है अर्थात् अनेक सागर प्रमाण आयु होती है, वह इन्द्रपद सुमेरु, देवकुरु, उत्तरकुरु, नदी, कुलाचल आदिमे स्वेच्छापूर्वक विहार करनेमे प्रवीण होना है और देवागनाओके स्थूल नितम्ब, ओष्ठ, कठिन उन्नत कुचोके साथ क्रीडा, आलोकन, स्पर्शन आदि क्रियाके द्वारा अपरिमित प्रीतिको उत्पन्न कराता है। ऐसा इन्द्रपद धर्मके प्रभावसे प्राप्त होता है। तथा जिनदेवके द्वारा कहा गया धर्म मोक्षको भी प्राप्त करनेमे समर्थ है। जो मोक्ष शरीरको विरूप करने वाली जरारूपी डाकिनियोके लिये अत्यन्त दूर है। अर्थात् वहाँ बुढापा नही है, शोकरूपी भेडिये वहाँ नही पहुँच सकते, विपत्तिरूपी बनकी आगकी शिखा वहाँ नही है, रोग रूपी सर्प वहाँ नही डसते, यमराजका भैसा अपने खुरोसे उसे खंडित नही करता, भयरूपी सूकरोका समूह वहाँ नही पहुचता, सैकडो सक्लेशरूपी शरभ वहाँ नही रहते, प्रियजनोंका वियोगरूपी प्रचण्ड आघात नही है और जो मोक्ष अमूल्य सुख रूपी रत्नोका उत्पत्ति स्थान है वह धर्मसे प्राप्त होता है इस प्रकार धर्मके स्वरूपका कथन धर्मका वर्णजनन है।

---

१. ष्टवपुष–आ० मु० ।

उत्त्रोटितप्रियवचनमुखरदुर्भेदबन्धुसमितिशृंखला , दुस्तरतरसंसारावर्तचिरपरिभ्रमणचकितसवेपथुहृदया', अनित्यताभावनावहितचेतस्तया निरस्तशरीरद्रविणादिगोचरा', दु खसहतिसंपातरक्षाक्षमस्यापरस्य जिनप्रणीताद्धर्मादभावात् तमेव शरणमित्युपगता., ज्ञानरत्नप्रदीपप्रभाप्रकरनिर्मूलितभुवनभवनान्तर्लीनाज्ञानध्वान्तसततय , कर्मणामादाने, तत्फलानुभवने, तन्निर्मूलने च वयमेकका एवेति कृतविनिश्चितय असाधारणचैतन्यादिलक्षणोपनीतभेदापेक्षयाऽन्ये वयमितरद्रव्यकलापादित्यन्यताभावनायामासक्ता', सुखदु खयोरकृतादरद्वेषाः, सदसद्वेद्योदयकर्मनिमित्तत्वेन ममादृतिमनभिमत चापेक्षते इति उपकारापकारयोरहमेव प्रणेता, आत्मनः शुभाशुभकर्मणो निर्मापणे । ममैव स्वातन्त्र्यात्तदुपचितत्वात्, अनुग्रहनिग्रहयो परे वराका किं कुर्वन्तीति मत्वा स्वजनपरजनविवेकनिरुत्सुका , समतादुपसर्गमहोरगैरवार्यवीर्यैरवष्टब्धा अप्यविचलवृत्तय , क्षुत्पिपासादिपरीषहमहारातिसरभसमपातेऽप्यदीनासक्लिष्टचेतोवृत्तय , त्रिगुप्तिगुप्तिमुपाश्रिता , अनशनादितपोराज्यपालनोद्युक्तमतय , कृतानूनषतकवचा , गृहीतशीलखेटा उद्गीर्णध्यानातिनिशितमण्डलाग्रा', कर्मारिपृतनासाधनोद्यता' साधव इति साधुमाहात्म्यप्रकाशन साधुवर्गवर्णजनन ।

मुक्ताहारपयोधरनिशाकरवासराधीश्वरकल्पमहीरुहादय इव प्रत्युपकारानपेक्षानुग्रहव्यापृता , निर्वाणपुर-

प्रियवचन बोलनेमें वाचाल बन्धुजन कठिनतासे टूटने वाली साकलके समान है किन्तु साधुगण इस साकलको तोड डालते है, उनका हृदय अत्यन्त दुस्तर ससाररूपी भवरमे चिरकाल तक भ्रमण करनेसे भयभीत रहता है, चित्तके अनित्य भावनाके भानेमे लगे रहनेसे शरीर धन-सम्पत्ति आदिमे उनका आदरभाव नही होता, जिन भगवानके द्वारा कहे गये धर्मके सिवाय अन्य किसीके दु.खोंके समूहसे रक्षा करनेमें समर्थ न होनेसे वे उसी धर्मकी शरणमे रहते है, ज्ञानरूपी रत्नमयी दीपककी प्रभाके समूहसे उन साधुओने लोक रूपी भवनमे रहने वाले अज्ञान रूपी अन्धकारकी परम्पराको नष्ट कर दिया है, उनका यह निश्चय है कि कर्मोके बाँधनेमे, उनका फल भोगनेमे और उन्हे नष्ट करनेमे हम अकेले ही है, चैतन्य आदि असाधारण लक्षणके भेदसे हम अन्य सब द्रव्योके समूहसे भिन्न है इस प्रकार वे अन्यत्व भावनामे आसक्त रहते है। न सुखमे आदरभाव रखते है और न दु खमे द्वेष करते है। साता और असाता वेदनीय कर्मके उदयके निमित्तसे मेरा आदर या निरादर होता है, अत अपने उपकार और अपकारका कर्ता मै ही हू, अपने शुभ अशुभ कर्मोके निर्माणमे मै स्वतन्त्र हूँ—उसीके द्वारा मेरा अनुग्रह या निग्रह होता है, दूसरे बेचारे इसमे क्या करते है ? ऐसा मानकर वे स्वजन और परजनमे भेद बुद्धि करनेमे उदासीन होते है। चहुओरसे शक्तिशाली उपसर्गरूपी भयानक सर्पोसे घिरे होनेपर भी वे अविचल रहते हैं। भूख प्यास आदि परीषह रूपी महान् शत्रुओका अचानक आक्रमण होनेपर भी उनकी चित्तवृत्ति दीनता और सक्लेशसे रहित होती है। तीन गुप्ति रूपी गुप्तिका आश्रय लेते है, अनशन आदि तप रूपी राज्यका पालन करनेमे उनकी बुद्धि लगी रहती है, पूर्णव्रत रूपी कवच धारण करते है। शील रूपी खेटमे बसते है, ध्यानरूपी अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार रखते है, उसके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओकी सेनाको वशमे करनेके लिये तत्पर रहते है। इस प्रकार साधुओके माहात्म्यको प्रकट करना साधुवर्गका वर्णजनन है।

आचार्य मोतीका हार, मेघ, चंद्रमा, सूर्य और कल्पवृक्ष आदिकी तरह प्रत्युपकारकी

१ कर्मारोपणे—आ० मु०। २. दुपचरित—आ० मु०।

परिप्रापणक्षमे मार्गे निर्मले स्थिता, परानपि विनतान्विनेयान्प्रवर्तयन्त आयतातिधवलज्ञानपृथुलदर्शनपक्ष्म-लेक्षणा, कुलीना, विनता, विभया, विमाना, विरागा, विशल्या, विमोहा, वचसि तपसि महसि वाऽद्वितीया[१] इति भाषणं सूरिवर्णजननम्।

अधिगतश्रुतार्थयाथातथ्यात्मवाच्य[२]वाचकानुरूपव्याख्याना, निरस्तनिद्रार्तद्वीप्रमादा, सुचरिता, सुशीला, सुमेधस, इत्याध्यापकवर्णजननम्।

रत्नत्रयालाभादनतकाल अयमनादिनिधनोऽपि भव्यजीवराशिर्न निर्वाणपुरमुपैति तल्लाभे च सकला-सपद. सुलभा इति मार्गवर्णजननम्।

मिथ्यात्वपटलविपाटनपटीयसी, ज्ञाननैर्मल्यकारिणी, अशुभगतिगमनप्रतिबधविधायिनी, मिथ्यादर्शन-विरोधिनीति निगदन समीचीनदृष्टेर्वर्णजननम्।

सर्वज्ञतावीतरागते नार्हति विद्यते रागादिभिरविद्यया च अनुगता समस्ता एव प्राणभृत इत्यादिर-र्हतामवर्णवाद।

स्त्रीवस्त्रगधमाल्यालकारादिविरहिताना सिद्धाना सुख न किंचिदतीन्द्रियाणा तेषा समधिगतौ न निबधनमस्ति किंचिदिति सिद्धावर्णवादः।

स्वकल्पनाभिरयमर्हन्नेष सिद्धादि इत्यचेतनस्य व्यवस्थापनायामपि दारिकाणा कृत्रिमपुत्रकव्यवहृतिरिव

अपेक्षा न करके कल्याणमे लगे रहते है, मोक्षपुरीको प्राप्त करानेमे समर्थ निर्मल मार्गमे स्थित होते है, दूसरे भी विनम्र शिष्योको मोक्ष मार्गमे लगाते है, विस्तृत और अतिधवल ज्ञान और महान् दर्शनरूपी उनके नेत्र होते है। वे कुलीन, विनीत, निर्भय, मानरहित, रागरहित, शल्यरहित, मोहरहित होते है। वचनमे और तप तथा तेजमे अद्वितीय होते है इस प्रकार कहना आचार्यका वर्णजनन है।

उपाध्याय श्रुतके अर्थके ज्ञाता होनेसे वाच्य और वाचकके अनुरूप अर्थात् जिस शब्दका जो अर्थ है वही यथार्थ रूपसे व्याख्यान करते है। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे दूर रहते है, वे अच्छे चरित, अच्छे शील और उत्तम मेधासे सम्पन्न होते है, ऐसा कहना उपाध्यायका वर्णजनन है। रत्नत्रयकी प्राप्ति न होनेसे यह अनादि निधन भी भव्य जीवराशि अनन्तकालसे मोक्षपुरीको नही जा पाती। उसके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण सम्पदाएँ सुलभ है इस प्रकार मोक्षमार्गकी प्रशसा करना मार्ग वर्णजनन है।

सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व पटलको उखाड फेकनेमे समर्थ है, ज्ञानको निर्मल करता है, अशुभ गतिमे गमनको रोकता है, मिथ्यादर्शनका विरोधी है ऐसा कथन समीचीन दृष्टिका वर्णजनन है। अर्हन्त भगवान्मे सर्वज्ञता और वीतरागता नही होती, सभी प्राणी रागादि और अज्ञानसे युक्त होते है इत्यादि कहना अर्हन्तोका अवर्णवाद है अर्थात् यह मिथ्यादोष लगाना है।

स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला अलकार आदिसे रहित सिद्धोको कुछ भी सुख नही है। वे तो अतीन्द्रिय है उनको जाननेका कोई साधन नही है, ऐसा कहना सिद्धोका अवर्णवाद है। अपनी कल्पनासे यही अर्हन्त है और ये सिद्ध आदि है इस प्रकार अचेतन पदार्थमे अर्हन्त आदिकी स्थापना करने पर भी जैसे बालिकाएँ खेलमे गुड्डा गुड्डी आदिमे पुत्रादिका काल्पनिक व्यवहार

१ या इव भूषण सूरय इति सूरि–आ० मु०। २. वाच्यमध्यत्यनु–आ०।

न मुख्यवस्तूपसेवनोद्भव फलमुपलभ्यते । न प्रतिबिंबादिस्था अर्हदादय तद्गुणवैकल्यान्न प्रतिबिंबानामर्हदादित्वमिति चैत्यावर्णवाद ।

पुरुषकृतत्वाद्दशदाडिमादिवाक्यवदयथार्थता नातीद्रिय वस्तु पुसो ज्ञानगोचर, अज्ञात चोपदिशतो वच कथ सत्यं ? तदुद्गत च ज्ञान कथ समीचीनमिति श्रुतावर्णवाद ।

दुर्गतिप्रतिबध स्वर्गादिक च फल विधत्ते धर्म इति कथमदृष्ट श्रद्धीयते ? न हि सन्निहितकारणस्य कार्यस्यानुद्भवोऽस्ति यथाकुरस्य । सुखप्रदायी चेद्धर्म स्वनिष्पत्त्यनतर सुखमात्मन कि न करोति इति धर्मावर्णवाद ।

अहिंसादिव्रतपालनोद्यता साधव , सूरयोऽध्यापकाश्चेष्यन्ते । अहिसाव्रतमेवैषा न युज्यते षड्जावनिकायाकुले लोके वर्तमानाः कथमहिसका स्यु ? केशोल्लुचनादिभि पीडयता च कथ नात्मवध ? अदृष्टमात्मनो विषय, धर्म, पाप, तत्फल च गदता कथ सत्यव्रतम् ? इति साध्ववर्णवाद । एवमितरयोरपि ।

विरुद्धाना एकत्र धर्माणामसभवात् विरुद्धाभिमतधर्माधिकरणैकवस्तुज्ञापन न सम्यक् । तदभिरुचेर्न समीचीनता विपर्ययज्ञानानुगतत्वान्मृगतृष्णोदकश्रद्धेव, मिथ्याज्ञानानुगतत्वाच्चरणमपि न सम्यक् । उरगप्रत्ययबलाद्रज्जुपरिहार इवेति प्रवचनावर्णवाद ।

करती है उस तरह मुख्य अर्हन्त आदिकी सेवासे होने वाला फल प्राप्त नही होता । तथा प्रतिबिंब आदिमे स्थापित अर्हन्त नही है क्योकि उनमे उनके गुण नही है इसलिये प्रतिबिम्ब आदि अर्हन्त आदि नही है ऐसा कहना चैत्यका अवर्णवाद है ।

अर्हन्तके द्वारा कहा गया श्रुत पुरुषके द्वारा कहा होनेसे 'दस अनार' जैसे वचनोकी तरह यथार्थ नही है । अतीन्द्रिय वस्तु पुरुषके ज्ञानका विषय नही हो सकती । और बिना जाने उपदेश देने वालेके वचन कैसे सत्य हो सकते है । तथा उनसे होने वाला ज्ञान कैसे सच्चा हो सकता है इस प्रकार कहना श्रुतका अवर्णवाद है ।

धर्म दुर्गतिको रोकता है और स्वर्गादि फल देता है, बिना देखे इसपर कैसे श्रद्धा की जा सकती है । जिस कार्यके कारण वर्तमान हो वह कैसे उत्पन्न नही होगा जैसे अकुर । यदि धर्म सुखदाता है तो अपनी उत्पत्तिके पश्चात् ही आत्माको सुख क्यो नही करता । ऐसा कथन धर्मका अवर्णवाद है ।

अहिंसा आदि व्रतोका पालन करनेमे जो तत्पर है उन्हे साधु, आचार्य और उपाध्याय कहते है । किन्तु अहिंसा व्रत ही इनके नही है । जो छह प्रकारके जीवोसे भरे संसारमे रहता है वह अहिसक कैसे हो सकता है ? तथा केशलोच आदिसे जो आत्माको पीडा पहुँचाते हैं वे आत्मघातके दोषी क्यो नही है ? जिन्हे देखा नही है ऐसे आत्माके विषय धर्म, पाप, उनका फल कहनेवालोंके सत्यव्रत कैसे है, ऐसा कहना साधुका अवर्णवाद है । इसी प्रकार आचार्य और उपाध्यायका भी अवर्णवाद जानना ।

एक वस्तुमे परस्परमे विरुद्ध धर्म असम्भव है । अत परस्परमे विरुद्ध धर्मोका आधार एक वस्तुको कहना सम्यक् नही है । जो इसमे अभिरुचि रखता है वह सम्यग्दृष्टी नही है क्योंकि उसका ज्ञान विपरीत है जैसे मरीचिकामे जलकी श्रद्धा करनेवालेकी श्रद्धा विपरीत है । तथा मिथ्याज्ञानका अनुसारी होनेसे उसका चारित्र भी सम्यक् नही है । जैसे सर्प जानकर रस्सीको हटाना सम्यक् नही है । इस प्रकारका कथन प्रवचनका अवर्णवाद है ।

एतेषामवर्णवादानामसम्भवप्रदर्शनं । पुरुषत्वाद्रथ्यापुरुषवत् सर्वज्ञो वीतरागो वा न भवत्यर्हन् इति साधनमनुपपन्नं । असर्वज्ञतामवीतरागतां चान्तरेण पुरुषता नोपपद्यते इत्यन्यथानुपपत्तेरभावात् । जैमिन्यादयो न सकलवेदार्थज्ञा पुरुषत्वादविपालवत् इति शक्यं वक्तुम् । **सर्वज्ञतावीतरागतासिद्धिश्चान्यत्र निरूपितेति नेह प्रतन्यते ।** दुःखप्रतिकारार्थेषु वस्तुषु मूढाना सुखसाधनव्यवहारः शरीरायासमात्रत्वान्न कामिनीसमागमसुखं । वैरूप्यनाशनैर्वस्त्रादिभिर्न कृत्यं सिद्धानां । अशरीराणां सकलदुःखापायरूपं सुखं अविकलमनन्तज्ञानात्मकं तेष्ववस्थितं । श्रुतं निबंधनं तदधिगमे । शुभोपयोगनिमित्ततार्हदादीनामिव प्रतिबिंबानामिति न बुद्धयोत्प्रेक्षितव्या ॥४६॥

एवं दंसणमाराहंतो मरणे असंजदो जदि वि कोवि ॥
सुविसुद्धतिव्वलेस्सो परित्तसंसारिओ होई ॥४७॥

एवमित्यनया गाथया असंयतसम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वमाराधयतः फलमाचष्टे एवमिति पूर्वोक्तपरामर्शः । नैर्ग्रन्थ्यमेव मोक्षमार्गः प्रकृष्ट इति ।

'**सद्दइया**[1] **पत्तियया रोचय फासंतया पवयणस्स ।**
सयलस्स जेण एदे सम्मत्ताराहया होंति ॥'

श्रद्धाना शंकादिकमपाकुर्वन्ति उपबृंहणादिभिः सम्यक्त्वस्य शुद्धिं वर्धयन्समीचीनं दर्शनविनयं

इन अवर्णवादोंको असम्भव दिखलाते है—

पुरुष होनेसे राह चलते पुरुषकी तरह अर्हन्त सर्वज्ञ वीतराग नही है। यहाँ पुरुष हेतु ठीक नही है क्योंकि असर्वज्ञता और अवीतरागताके विना पुरुष नहीं होता ऐसी अन्यथानुपपत्ति नही है। इस तरहसे यह भी कहा जा सकता है कि जैमिनि आदि समस्त वेदार्थके ज्ञाता नही हैं, पुरुष होनेसे, जैसे भेड चरानेवाला व्यक्ति। सर्वज्ञता और वीतरागताकी सिद्धि अन्य ग्रन्थोमें कही है इसलिए यहाँ उसका विस्तार नही करते।

जो वस्तु दुःखका प्रतीकार करनेके लिए है, अज्ञानी उन्हे सुखका साधन मान लेते हैं। स्त्री सम्भोग सुख नही है वह तो शारीरिक श्रममात्र है। तथा विरूपताको नष्ट करनेवाले वस्त्रोंसे सिद्धोको क्या करना है? वे तो शरीर रहित है उनमे समस्त दुःखोका विनाशरूप अनन्तज्ञानात्मक सम्पूर्ण सुख है। इसके जाननेके लिए श्रुत वर्तमान है। तथा जैसे अर्हन्त शुभोपयोगमे निमित्त होते है उसी तरह उनके प्रतिबिम्ब भी होते है। इसलिए यह बौद्धिक कल्पनामात्र नही है ॥४६॥

गा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वाला मरते समय यद्यपि कोई असंयत होता है किन्तु सुविशुद्ध तीव्र लेश्या वाला अल्प संसारी होता है ॥४७॥

टी०—'एवं' इत्यादि गाथाके द्वारा सम्यक्त्वकी आराधना करने वाले असंयत सम्यग्दृष्टिका फल कहते है। 'एवं' पद पूर्वोक्त कथनके लिये आया है कि निर्ग्रन्थता ही उत्कृष्ट मोक्ष मार्ग है।

मनसे श्रद्धान करने वाले, यही उत्तम है ऐसा वचनसे प्रीति प्रकट करने वाले, संकेतादिसे रुचिको दर्शानेवाले और समस्त प्रवचनका अनुष्ठान करने वाले ये सब सम्यक्त्वके आराधक होते है ॥

अर्थात् जो श्रद्धान करते हुए शंका आदिको दूर करते है और उपबृंहण आदिसे सम्यक्त्वकी

१. संवादार्थं व्याख्यातृभिः सूत्रे पठिता गाथा यथा—मूलारा०।

सपादयन् । '**दंसणं**' श्रद्धान । '**आराहंतो**' निष्पादय'**न्मरणे**' भवपर्ययप्रच्युतिकाले । '**असंजदो जदि वि**' यद्यप्यसयत । '**सुविसुद्धतिव्वलेस्सो**' कषायानुरंजिता योगवृत्तिर्लेश्या, सा षोढा प्रविभक्ता कृष्णनीलकापोततेज. पद्मशुक्ललेश्याभेदेन । तत्राशुभलेश्यानिरासार्थं सुविशुद्धग्रहण । तीव्रग्रहण परिणामप्रकर्षोपादानाय । सुविशुद्धा तीव्रा लेश्या यस्य सुविशुद्धतीव्रलेश्य. । '**परित्तससारिओ**' अल्पचतुर्गतिपरिवर्त. । '**होदि**' भवति । अल्पसंसारता सम्यक्त्वाराधनाया फलत्वेन दर्शिता ।।४७।।

तत्त्वश्रद्धानपरिणाम कतिभेद किं फल इत्यस्य प्रतिवचनमुत्तरप्रबध । तत्र भेदप्रतिपादनायाह—

तिविहा समत्ताराहणा य उक्कस्समज्झिमजहण्णा ।।
उक्कस्साए सिज्झदि उक्कस्ससुक्कलेस्साए ।।४८।।

'**तिविहा**' त्रिविधा । '**सम्मत्ताराहणा**' सम्यक्त्वाराधना । '**उक्कस्समज्झिमजहण्णा**' उत्कृष्टमध्यमजघन्या चेति । तत्र '**उक्कस्साए**' उत्कृष्ट्या सम्यक्त्वाराधनया । '**सिज्झइ**' सिध्यति निर्वृतिमुपैति । उत्कृष्टशुक्ललेश्यासहितया ।।४८।।

सेसा य हुंति भवा सत्त मज्झिमाए य सुक्कलेस्साए ।।
संखेज्जाऽसंखेज्जा वा सेसा भवा जहण्णाए ।।४९।।

'**सेसा**' अवशिष्टा । '**होंति**' भवन्ति । कि '**भवा**' मनुष्यत्वादिपर्याया । कति '**सत्त**' सप्त । '**मज्झिमाए य**' सम्यक्त्वाराधनया । '**सुक्कलेस्साए**' शुक्ललेश्यया मध्यमया वर्तमानस्येत्युभाभ्या मध्यमशब्दस्य

विशुद्धिको बढाते हुए दर्शन विनय करते है वे सम्यक्त्वके आराधक है। मरण अर्थात् भवपर्यायके छूटनेके समय यद्यपि असयत होता है किन्तु जो सम्यग्दर्शनको धारण किये होता है और सुविशुद्ध तीव्रलेश्या वाला होता है। कषायसे रगी हुई मन वचन कायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते है। उसके कृष्ण, नील, कपोत, तेज, पद्म और शुक्लके भेदसे छह भेद है। उनमे अशुभ लेश्या का निराकरण करनेके लिये 'सुविशुद्ध' पद ग्रहण किया है। तथा परिणामोका प्रकर्ष बतलानेके लिए तीव्र पद ग्रहण किया है। जिसके सुविशुद्ध तीव्र लेश्या होती है वह सुविशुद्ध तीव्र लेश्या वाला होता है। वह चतुर्गतिरूप परिवर्तमे अल्पकाल तक भ्रमण करता है। इस प्रकार सम्यक्त्वकी आराधना का फल अल्प ससार बतलाया है ।।४७।।

तत्त्वश्रद्धानरूप परिणामके कितने भेद है तथा उसका क्या फल है इसके उत्तरमे आगेका कथन करते हुए पहले भेद कहते हैं—

गा०—सम्यक्त्वकी आराधना तीन प्रकारकी है। उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या सहित, उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधनामे मोक्ष प्राप्त करता है ।।४८।।

टी०—सम्यक्त्व आराधनाके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद है। उत्कृष्ट शुक्ल लेश्याके साथ यदि उत्कृष्ट आराधना सम्यक्त्वकी हो तो उससे मोक्ष प्राप्त होता है ।।४८।।

गा०—और मध्यम शुक्ल लेश्याके साथ मध्यम सम्यक्त्वाराधनासे सात मनुष्य आदि पर्याय शेष होती है। जघन्य सम्यक्त्वाराधनासे सख्यात अथवा असख्यात (भव) भव अवशेष रहते हैं ।।४९।।

टी०—गाथामे आये मध्यम शब्दका सम्बन्ध दोनोमे लगाकर व्याख्यान करना चाहिये ।

संबंधो व्याख्येय । **'संखेज्जा'** संख्याता **'असंखेज्जा वा'** असख्याता वा **'सेसा'** शेषा भवन्ति भवा । **'जहण्णाए'** जघन्यसम्यक्त्वाराधनया मृतिमुपेतस्य ।

उक्तास्तिस्र आराधना. कस्य भवति इत्यस्योत्तरमाह गाथया—

उक्कस्सा केवलिणो मज्झिमया सेससम्मदिट्ठीणं ।
अविरदसम्मादिट्ठिस्स संकिलिट्ठस्स हु जहण्णा ।।५०।।

उत्कृष्टा सम्यक्त्वाराधना भवति । कस्य, **'केवलिणो'** केवलिन । **केवलमसहायं ज्ञानं । इंद्रियाणि, मनः, प्रकाशोपदेशादिक चानपेक्ष्य वृत्तेः** । प्रत्यक्षस्यावध्यादे आत्मकारणत्वादसहायतास्तीति केवलत्वप्रसग स्यादिति चेन्न रूढेर्निराकृताशेषज्ञानावरणस्योपजायमान[1] एव बोधे केवलशब्दवृत्ते । केवलिशब्दो यद्यपि सामान्येन केवलिद्वये प्रवृत्तस्तथापीह अयोगिकेवलिग्रहण इत्यन्यत्र मरणाभावात् ।।

उत्कृष्टता कथ सम्यक्त्वाराधनाया इति चेत् इह द्विविध सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्व चेति । रागो द्विविध प्रशस्तराग अप्रशस्तराग इति । तत्र प्रशस्तरागो नाम पचगुरुषु, प्रवचने च वर्तमानस्तद्-

---

अर्थात् मध्यम शुक्ल लेश्यामे वर्तमान मध्यम सम्यक्त्वाराधना वालेके सात भव शेष रहते है। और जघन्य सम्यक्त्वाराधनाके साथ मरने वालेके सख्यात अथवा असख्यात भव शेष होते है ।।४९।।

विशेषार्थ—प० आशाधरने अपनी टीकामे कहा है कि अन्य टीकाकार 'सखेज्जा-सखेज्जा भवाय' ऐसा पढकर 'भवाश्च' मे आये शब्दसे अनन्तका समुच्चय करते हैं किन्तु हम 'वा' शब्दसे करते है। परन्तु विजयोदयामे 'च' शब्द या वा शब्दसे अनन्तका ग्रहण नही किया है ।।४९।।

उक्त तीन आराधनाएँ किसके होती है इसका उत्तर आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—उत्कृष्ट आराधना केवलीके होती है। मध्यम आराधना शेष सम्यग्दृष्टियोंके होती है। जघन्य आराधना सक्लेश परिणाम वाले अविरत सम्यग्दृष्टिके होती है ।।५०।।

टी०—उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधना केवलीके होती है। केवल अर्थात् असहाय ज्ञान; क्योकि वह इन्द्रिया, मन, प्रकाश और उपदेश आदिकी अपेक्षाके बिना होता है।

शका—प्रत्यक्ष अवधि आदि ज्ञान आत्मासे ही होते है। वे भी इन्द्रियादिकी सहायताकी अपेक्षा नही रखते, अत उनके भी केवल ज्ञान होनेका प्रसग आयेगा ?

समाधान—नही, क्योकि रूढिवश जिसका सम्पूर्ण ज्ञानावरण नष्ट हो गया है उसीके उत्पन्न होने वाले ज्ञानमे केवल शब्दका व्यवहार होता है।

यद्यपि केवली शब्द सामान्यसे दोनो प्रकारके केवलियोमे प्रवृत्त होता है तथापि यहाँ अयोग केवलीका ग्रहण किया है क्योकि सयोग केवलीका मरण नही होता।

शंका--सम्यक्त्व आराधनाकी उत्कृष्टता कैसे होती है ?

समाधान—यहाँ सम्यक्त्वके दो भेद है—सरागसम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। रागके दो भेद है—प्रशस्तराग और अप्रशस्त राग। उनमेसे अर्हन्त सिद्ध आदि पाँच परमेष्ठियोमे और

---

१ मानस्यैव बोधस्य आ० मु०।

गुणानुरागात्मक । अप्रशस्तो रागो द्विविध इन्द्रियविषयेषु मनोज्ञेषु जायमान । आप्ताभासेषु, तत्प्रणीते सिद्धांते, तन्निरूपिते मार्गे, तत्स्थेषु वा प्रवर्तमान दृष्टिराग इति । तत्र प्रशस्तरागसहिताना श्रद्धान सरागसम्यग्दर्शनं । रागद्वयरहिताना क्षीणमोहावरणाना वीतरागसम्यग्दर्शन । तस्याराधना उत्कृष्टा रागमलाभावात् अशेष-त्रिकालगोचरवस्तुयाथात्म्यग्राहिसकलज्ञानसहचारित्वाच्च ।

'**मज्झिमगा**' मध्यमिका सम्यक्त्वाराधना भवति । '**सेससम्मदिट्ठीणं**' उपयुक्तेतरवचन शेषशब्द इति केवलिभ्यो येऽन्येऽसयतसम्यग्दृष्टयादयस्ते परिगृह्यन्ते शेषशब्देन ।

तत्रापवादमाह—'**अविरदसम्मादिट्ठिस्स**' असयतसम्यग्दृष्टे । '**जहण्णा**' जघन्या सम्यक्त्वाराधना भवति । किं सर्वस्य ? नेत्याह—''**संकिलिट्ठस्स**' सक्लिष्टस्य परीषहव्याकुलचेतस इति यावत् ।

जघन्यसम्यक्त्वाराधनामाहात्म्य कथयति—

संखेज्जमसंखेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्तूणं ।
दुक्खक्खयं करेंति जे सम्मत्तेणमरंति ।।५१।।

'**संखेज्जमसखेज्जगुण वा ससारमणुसरित्तू**' परिभ्रम्य । '**दुक्खक्खयं**' दु खक्षय । '**करेंति**' कुर्वन्ति । के '**जे सम्मत्तेणमरंति**' सम्यक्त्वेन सह मृतिमुपयान्ति । नन्विय जघन्या सम्यक्त्वाराधना तस्या च प्रवृत्तस्य ससारकालो निरूपित एव । '**सखेज्ज वा असखेज्जं वा सेसा जहण्णाए**' इति तत्पुनरुक्तता स्यादिति । न,

---

प्रवचनमे उनके गुणोमे अनुराग रूप प्रशस्तराग है । अप्रशस्त रागके दो भेद हैं एक तो मनको प्रिय लगने वाले इन्द्रिय विषयोमे होनेवाला और दूसरा, मिथ्या देवोमे, उनके द्वारा कहे गये सिद्धान्तमे, उनके द्वारा कहे गये मार्गमे अथवा उस मार्गके अनुयायियोमे प्रवर्तमान दृष्टिराग । उनमेसे प्रशस्तराग सहित जीवोका श्रद्धान सरागसम्यग्दर्शन है और दोनो प्रकारके रागसे रहित तथा जिनका मोह और आवरण क्षीण हो गया है उनका श्रद्धान वीतराग सम्यग्दर्शन है । उसकी आराधना उत्कृष्ट है । क्योकि राग और मलका अभाव है तथा समस्त त्रिकालवर्ती पदार्थोके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले सम्पूर्ण ज्ञानके साथ होना है ।

शेष सम्यग्दृष्टियोके मध्यम सम्यक्त्वाराधना होती है । यहाँ शेष शब्द जो कहे हैं उससे अन्यका वाचक है, अत केवलीसे अन्य जो असयत सम्यग्दृष्टि है वे शेष शब्दसे ग्रहण किये जाते हैं । उसमे अपवाद कहते है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके जघन्य सम्यक्त्वाराधना होती है । क्या सभीके होती है । इसके उत्तरमे कहते है जो सक्लिष्ट है अर्थात् जिसका चित्त परीषहसे व्याकुल है उस अविरत सम्यग्दृष्टीके जघन्य सम्यक्त्वाराधना होती है ।।५०।।

जघन्य सम्यक्त्वाराधनाका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—जो सम्यक्त्वके साथ मरते है वे असख्यात अथवा असख्यातगुणे संसारमे भ्रमण करके दु खका क्षय करते है ।।५१।।

टी०—**शंका**—यह तो जघन्य सम्यक्त्वाराधना है । उसे जो करता है उसका संसार काल पहले कहा ही है कि जघन्य सम्यक्त्वाराधनावालेके सख्यात या असख्यात भव शेष रहते हैं । अत. पुनरुक्तता दोष आता है ?

उक्तस्यार्थस्याविशेषेण भूयोऽभिधानं पुनरुक्तमिति, इह तु विशेषाभिधानमस्ति 'दुक्खक्खयं करेंतित्ति'।

सम्यक्त्वलाभमाहात्म्यनिवेदनाय गाथा—

लध्दूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति ।
तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा ॥५२॥

'लद्धूण' लब्ध्वा। **'सम्मत्तं'** तत्त्वश्रद्धानं। कियत्कालं ? **'मुहुत्तकालमवि'** अंतर्मुहूर्तमात्रमपि। **'जे'** ये **'परिवडंति'** सम्यक्त्वात्प्रच्यवन्ति अनंतानुबंधिनामुदयात्। **'तेसिं'** तेषां सम्यक्त्वात्प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतानां। **'संसारवासद्धा'** संसारवसनकालोऽनंतो भवत्येवेति, तु **शब्द एवकारार्थोऽत्र संबंधनं नेयः**। अनंतानंतग्रहणं कुर्वता अनंतकालपरिभ्रमणसद्भावसूचनं कृतम् ॥५२॥ इति **बालमरणम्** ॥

जे पुण सम्मत्ताओ पब्भट्ठा ते पमाददोसेण ।
भामन्ति दु भव्वा वि हु संसारमहण्णवे भीमे ॥५३॥

मिथ्यादृष्टेर्दर्शनस्याभावान्न तस्याराधकः स्यात् ज्ञानचारित्रयोः परिणत इति तयोराराधकः स्यादितीमां शंकामपाकर्तुमाह—

जो पुण मिच्छादिट्ठी दढचरित्तो अदढचरित्तो वा ॥
कालं करेज्ज ण हु सो कस्स हु आराहओ होदि ॥५४॥

समाधान—नही, जो बात पूर्वमे कही है उसे बिना किसी विशेषताके पुन. कहनेको पुनरुक्त कहते है। किन्तु यहाँ तो विशेष कथन है कि दु:खका क्षय करते है ॥५१॥

सम्यक्त्वका माहात्म्य कहनेके लिये गाथा कहते है—

गा०—जो अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्वको प्राप्त करके सम्यक्त्वसे गिर जाते हैं उनका संसारमें बसनेका काल अनन्तानन्त नही होता ॥५२॥

टी०—एक अन्तर्मुहूर्त कालके लिये भी जो तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यक्त्वको प्राप्त करके अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होनेसे सम्यक्त्वसे गिर जाते है। सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वमें जाने वाले उन जीवोका ससारमे बसनेका काल अनन्त ही होता है। 'अनन्तानन्तकाल नही होता' ऐसा कहनेसे अनन्तकाल तक भ्रमणके सद्भावकी सूचना की है ॥५२॥

गा०—पुन जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो जाते है। वे प्रमादके दोषसे भव्य होते हुए भी भयकर संसाररूपी समुद्रमे भ्रमण करते ही हैं ॥५३॥

विशेषार्थ—इस गाथापर विजयोदया टीका नही है। आशाधर जी ने भी इसकी टीका नही की है। अत क्षेपक प्रतीत होती है। किन्तु प्रतियोंमे पाई जाती है। तथा गाथा ५२ की विजयोदया टीकामे 'तु शब्दो एवकारार्थोऽत्र सबधन नेय.' ऐसा वाक्य है जिसका अर्थ होता है कि यहाँ तु शब्दका अर्थ एवकार लेना। 'आ' प्रतिमे पाठ हैं—'तु शब्दो एवकारार्थो भामत्यनन्तर नेय.।' तु शब्दका अर्थ एवकार है और उसे 'भामंति' के अनन्तर लेना चाहिये। इस गाथा ५३ मे **'भामत्ति दु'** पाठ है। इसी दु या तु का अर्थ एवकार लेनेके लिये कहा है। अत यह गाथा मूलकी होना संभव है ॥५३॥

मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनका अभाव होनेसे वह उसका आराधक न होवे, किन्तु ज्ञान और

---

१ कारार्थो भामंत्यनन्तर नेय । —आ० ।

'**जो पुण मिच्छादिट्ठी**' यः पुनर्मिथ्यादृष्टिस्तत्त्वश्रद्धानरहितो । य' पुन'**दंढचरित्तो अदढचरित्तो वा**' दृढचारित्रो वा अदृढचारित्रो वा । '**कालं करेज्ज**' मृतिमुपेयात् । '**सो**' स. । '**ण खु**' नैव । '**कस्सइ**' कस्यचिदपि । '**आराधगो**' आराधको भवति । सम्यक्त्वमतरेण सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्रे न स्त, इति रत्नत्रये कस्यचिदपि नाराधक इति ग्राह्यम् । अन्यथा मिथ्यादर्शनादीनामाराधक एवासौ इति कृत्वा न कस्यचिदपि इत्ययुक्तं स्यात् ॥५४॥

अथ को मिथ्यादृष्टिर्यो मिथ्यात्ववान् । अथ तदेव मिथ्यात्व नाम किं कतिविध इत्यत आह—

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं ।

संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं ॥५५॥

'**तं**' तत् । '**मिच्छत्तं**' मिथ्यात्व । '**होदि**' भवति । '**जं**' यत् '**असद्दहण**' अश्रद्धान । कस्य ? '**तच्चाणं**' '**अत्थाण**' तत्वार्थानामनतद्रव्यपर्यायात्मकाना जीवादीना । अर्थस्य तत्त्वविशेषणमनर्थकम् । अतत्त्वरूपस्याभावात् इति चेन्न मिथ्याज्ञानोपदर्शितस्य नित्यत्वक्षणिकत्वाद्यन्यतमधर्ममात्रात्मकस्यातत्त्वरूपसभवात् । तस्य भावस्तत्व तत्त्वशब्दो भाववचन । भाववत्वमर्थशब्दो ब्रवीति । ततोऽनयोर्भिन्नाधिकरणभूतो कथ समानाधिकरणतेति न दोष । भावदव्यतिरेकाद्भावस्य तत्त्वशब्दोऽर्थएव वर्तते इति । तथा च प्रयोग —

चारित्र तो उसके है अत' वह उनका आराधक हो सकता है ? इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—

गा०—जो पुन मिथ्यादृष्टि है वह दृढ चारित्र वाला अथवा अदृढ चारित्र वाला हो और मरण करे तो वह किसीका भी आराधक नही ही होता ॥५४॥

टी०—जो मिथ्यादृष्टि अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानसे रहित है वह दृढ चारित्र वाला हो या अदृढ चारित्र वाला हो और मरण करे तो वह ज्ञान या चारित्रका भी आराधक नही होता; क्योकि सम्यक्त्वके विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नही होते। इसलिये रत्नत्रयमे से किसी का भी वह आराधक नही है ऐसा अर्थ लेना चाहिये । यदि ऐसा अर्थ नही लिया जाये तो मिथ्यादर्शन आदिका वह आराधक ही होनेसे किसीका भी आराधक नही' ऐसा कहना ठीक नही होगा ॥५४॥

जो मिथ्यात्ववान् है वही मिथ्यादृष्टी है । तब वह मिथ्यात्व क्या है और उसके कितने भेद है ? यह कहते है—

गा०—जो तत्त्वार्थोका अश्रद्धान है वह मिथ्यात्व है उसके तीन भेद है । संशयसे होनेवाला मिथ्यात्व, अभिगृहीत मिथ्यात्व और अनभिगृहीत मिथ्यात्व ॥५५॥

टी०—तत्त्वार्थ अर्थात् अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक जीवादिका अश्रद्धान मिथ्यात्व है ।

शंका—अर्थका तत्त्व विशेषण देना निरर्थक है क्योंकि अतत्त्वरूप अर्थका अभाव है ?

समाधान—नही, क्योंकि मिथ्याज्ञानके द्वारा दिखलाये गये नित्यता क्षणिकता आदिमेंसे किसी एक धर्म वाला अतत्त्वरूप अर्थ सभव है ।

शंका—तत्के भावको तत्त्व कहते है । तत्त्व शब्द भाव वाचक है और अर्थ शब्द भाववान् को कहता है । अत. ये दोनों भिन्न-भिन्न अधिकरण वाले है । इनका सामानाधिकरण्य कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह दोष नही है क्योकि भाव भाववान्से अभिन्न होता है अत. तत्त्वशब्द

'**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति**' । अथवाप्यधिकरणतैव । अर्थानां जीवादीनां यानि तत्त्वानि अवि-परीतानि रूपाणि तेषामश्रद्धानं यत्तन्मिथ्यात्वं इति संबंधः क्रियते । 'ससयिदं' संशयितं किंचित्तत्त्वमिति । तत्त्वानवधारणात्मकं संशयज्ञानसहचारि अश्रद्धानं संशयितं । न हि संदिहानस्य तत्त्वविषयं श्रद्धानमस्ति इदमित्थमेवेति, निश्चयप्रत्ययसहभावित्वात् श्रद्धानस्य । 'अभिग्गहिदं' परोपदे[1]शाभिमुख्येन गृहीतं स्वीकृतं अश्रद्धानं अभिगृहीतमुच्यते । एतदुक्तं भवति । न संति जीवादीनि द्रव्याणि इति गृहाण संति जीवादीनि नित्यान्येवेति यदा परस्य वचनं श्रुत्वा जीवादीनां सत्त्वे अनेकांतात्मकत्वे चोपजातं अश्रद्धानं अरुचिर्मिथ्यात्वमिति । परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वं ।।५५।।

मिथ्यात्वदोषमाहात्म्यख्यापनायाह—

जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छत्तकडुगिदा होंति ।।
ते तस्स कडुगदुद्धियगदं च दुद्धं हवे अफला ।।५६।।

'**जे वि**' हिंसा नाम प्रमादवतः प्राणेभ्यो वियोगकरणं प्राणिनस्ततो निवृत्तिरहिंसा । असदभिधानाद्विरतिः सत्यम् । अदत्तादानाद्विरतिरस्तेयं मैथुनाद्विरतिर्ब्रह्म । ममेदं भावो मोहोदयजः परिग्रहः । ततो निवृत्तिरपरिग्रहता । एते अहिंसादयो गुणाः परिणामा धर्म इत्यर्थः ।

ननु सहभुवो गुणा इति वचनात् चैतन्यामूर्तत्वादीनामेवात्मनः सहभुवां गुणता । हिंसादिभ्यो विरति-

---

अर्थमे रहता है। ऐसा प्रयोग भी देखा जाता है—जैसे तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। अथवा अन्य प्रकारसे भी अधिकरणता है—'अर्थ' अर्थात् जीवादिके, जो 'तत्त्व' अर्थात् अविपरीत रूप है उनका श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है ऐसा सम्बन्ध किया जाता है।

तत्त्वका निर्णय न करने वाले संशय ज्ञानका सहचारी जो अश्रद्धान है वह संशयित मिथ्यात्व है। जो संदेहमे है उसके तत्त्वविषयक श्रद्धान नही है क्योंकि श्रद्धान 'यह ऐसा ही है' इस प्रकारके निश्चयात्मक ज्ञानके साथ ही रहता है। परोपदेशकी मुख्यतासे गृहीत अर्थात् स्वीकार किया गया अश्रद्धान अभिगृहीत कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि 'जीवादि द्रव्य नही है यह स्वीकार करो। या जीवादि है किन्तु नित्य ही है' इस प्रकार जब दूसरेके वचनको सुनकर जीवादिके अस्तित्वमे या उनके अनेकान्तात्मक होनेमे जो अश्रद्धान या अरुचि उत्पन्न हो वह अभिगृहीत मिथ्यात्व है और परोपदेशके बिना भी मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो अश्रद्धान उत्पन्न होता है वह अनभिगृहीत मिथ्यात्व है।।५५।।

गा०—जो भी अहिंसा आदि गुण मरते समय मिथ्यात्वके द्वारा दूषित होते है, वे उस दूषित गुण वाले आत्माके कडुवी तूंबीमें रखे गये दूधकी तरह निष्फल होते है ।। ५६ ।।

टी०—प्रमादवानके द्वारा प्राणिके प्राणोका वियोग करना हिंसा है। उस हिंसासे निवृत्तको अहिंसा कहते है। असत् कहनेसे निवृत्तिको सत्य कहते है। बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे विरतिको अचौर्य कहते है। मैथुन सेवनसे विरतिको ब्रह्मचर्य कहते है। मोहके उदयसे होने वाले 'यह मेरा है' इस प्रकारके भावको परिग्रह कहते है। उससे निवृत्तिको अपरिग्रह कहते है। ये अहिंसा आदि गुण अर्थात् अहिंसादि रूप परिणाम धर्म है।

शङ्का—जो द्रव्यके साथ होते है वे गुण है ऐसा वचन है। उसके अनुसार चैतन्य अमूर्तत्व

१. यद्दृशा–आ० मु० ।

परिणाम' पुन. कादाचित्कत्वात् मनुष्यत्वादिक्रोधादिवत्पर्याया, इति चेन्नतु **गुणपर्ययवद्द्रव्य**मित्यादावुभयोपादाने अवातरभेदोपदर्शनमेतद्यथा 'गोबलीवर्दम्' इत्युभयोरुपादाने पुनरुक्ततापरिहृतये स्त्रीगोशब्दवाच्या इति कथनमेकस्यैव गुणशब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता।

अहिंसादयश्च ते गुणा अहिंसादिगुणा । '**मिच्छत्तकडुगिदा**' मिथ्यात्वेन तत्त्वाश्रद्धानेन । **कडुगिदा** कटूकृता. कटुकता गता । '**होंति**' भवंति । कदा **मरणे** मरणकाले ते अफला भवति । कस्य मिथ्यात्वकटूकृताहिंसादिगुणस्यात्मन' । किमिव ? **दुद्धव** क्षीरमिव । कीदृग्भूत ? '**कडुअतुंबियगवं**' कटुकालाबूपगतम् यथा अफलं फलरहितं । पित्ताद्युपशमन प्रीतिरित्यादिक यत्फल क्षीरस्य प्रतीत तेन फलेन अफल जातम् । यथा क्षीरं भाजनदोषादेव मिथ्यात्ववत्यात्मनि स्थिता अहिंसादिगुणा स्वसाध्येन फलेन न फलवत । पचानुत्तरविमानवासित्व लौकातिकत्वमित्याद्यभ्युदयफलमिह गृहीत । अहिसादयो न स्वोचितफलातिशयदायिन दुष्टभाजनस्थितत्वात् कटुकालाबुकगतपयोवदिति सूत्रार्थ ॥५६॥

न केवल फलातिशयाकारित्व अहिंसादिगुणाना, अपि तु मिथ्यात्वकटुकिते स्थिता दोषानपि कुर्वन्ति इत्याचष्टे—

जह भेसजं पि दोसं आवहइ विसेण सजुद संत ॥
तह मिच्छत्तविसजुदा गुणा वि दोसावहा होंति ॥५७॥

'**यथा भेसजं पि**' इति स्पष्टतया न व्याख्यायते। '**मिच्छत्तविसजुदा**' मिथ्यात्वेन विषेण सबद्धा

आदि जो आत्माके साथ रहते है वे ही गुण है । हिंसादिके त्याग रूप परिणाम तो कभी होते है, कभी नही होते । अत मनुष्यत्वकी तरह या क्रोधादिकी तरह पर्याय है, गुण नही है ?

समाधान—'गुण पर्ययवान्को द्रव्य कहते है' इत्यादिमे गुण और पर्याय दोनोका ग्रहण किया है । जैसे 'गोवलीवर्द' यहाँ गो और वलीवर्द दोनोको ग्रहण करने पर पुनरुक्तता दोष आता है क्योकि दोनो शब्दोका अर्थ एक है । इस पुनरुक्तता दोषको हटानेके लिये 'गो' शब्द गायका वाचक है ऐसा कहा है । एक गुण शब्दका ग्रहण करने पर वह धर्ममात्रको कहता है अत' कोई दोष नही है । वे अहिंसादि गुण मरते समय यदि तत्त्वके अश्रद्धान रूप मिथ्यात्वसे दूषित होते है तो मिथ्यात्वसे दूषित अहिंसा आदि गुण वाले आत्माके कटुक तूम्बीमे रखे दूधकी तरह निष्फल होते हैं । दूधका फल चित आदिको शान्त करना प्रसिद्ध है । किन्तु भाजनमे दोष होनेसे वह दूध फल रहित होता है । इसी तरह मिथ्यात्ववान् आत्मामे रहने वाले अहिंसा आदि गुण अपना साध्य जो फल है उससे फलवान नही है । यहाँ पाँच अनुत्तर विमानका वासी देव होना या लौकान्तिकदेव होना इत्यादि अभ्युदयरूप फलका ग्रहण किया है । अत कटुक तूम्बीमे रखे दूधकी तरह सदोष भाजनमे रहनेके कारण अहिसा आदि अपने उचित फलातिशयको नही देते, यह गाथा सूत्रका अभिप्राय है ॥ ५६ ॥

अहिंसा आदि गुण केवल फलातिशयकारी ही नही हैं, बल्कि मिथ्यात्वसे कलुषित आत्मामें स्थित्त अहिंसादि दोष भी करते है, यह कहते है—

गा०—जैसे औषध भी विषसे सम्बद्ध होने पर दोष करती है । उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिसा आदि गुण भी दोषकारी होते हैं ॥ ५७ ॥

टी०—विष मिश्रित औषधकी तरह मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिंसा आदि गुण भी

'**गुणा वि**' गुणा अपि अहिंसादयो गुणा अपि । '**दोसावहा**' दोषावहा ससारे चिरपरिभ्रमणदोषमावहन्तीत्यर्थ । अथवा मिथ्यादृष्टेर्गुणा पापानुबंधि स्वल्पमिन्द्रियसुख दत्वा बह्वारभपरिग्रहादिषु आसक्त नरके पातयन्ति इति दोषावहा । दृष्टान्तप्रदर्शनेन इष्टनिर्वृति. । प्राप्तिश्च मिथ्यात्वमाहात्म्यान्न भवतीति प्रमाणेन दर्शयितु गाथाद्वयमायातम् ॥५७॥

दिवसेण जोयणसयं पि गच्छमाणो सगिच्छिदं देसं ।
अण्णतो गच्छंतो जह पुरिसो णेव पाउणदि ॥५८॥

इत्यनेन प्रकृष्टगमनसामर्थ्याद्भ्रमण[1]माख्यातम् । '**अण्णतो गच्छंतो**' इत्यनेन तन्मार्गाप्रवृत्तत्वात् इत्यय हेत्वर्थो दर्शिता । तेन इष्ट देश न प्राप्नोतीति साध्यधर्मो दृष्टान्तेनोपदर्शित । '**सगिच्छदं देस जह पुरिसो णेव पाउणदि** इत्यनेन दृष्टान्त उपदर्शित ॥५८॥

धणिद पि संजमतो मिच्छादिट्ठी तहा ण पावेई ।
इट्ठं णिव्वुइमग्गं उग्गेण तवेण जुत्तो वि ॥५९॥

'**धणिद**' पि नितरामपि । '**संजमतो**' चारित्रे वर्तमानोऽपि । '**उग्गेण तवेण जुत्तोवि**' उग्रेण तपसा युक्तोपि, नैव निर्वृति प्राप्नोति इत्यनेन साध्यधर्माख्यानम् । **मिच्छादिट्ठी** इत्यनेन साध्यधर्मि दर्शितम् । एव प्रमाणरचना कार्या—

मिथ्यादृष्टिर्नेष्ट प्राप्नोति तन्मार्गावृत्तित्वात् । य स्वप्राप्यस्य मार्गे न प्रवर्तते न स तमभिमत प्राप्नोति । यथा दक्षिणमथुरात पाटलिपुत्र प्राप्तुमिच्छु दक्षिणा दिश गच्छन्निति । '**णिव्वुदि**' निवृति ।

दोषावह होते है अर्थात् ससारमे चिरकाल तक भ्रमणरूपी दोषको करनेवाले होते है । अथवा मिथ्यादृष्टिके गुण पापका बन्ध करानेवाले थोडेसे इन्द्रिय सुखको देकर बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहमे आसक्त उस जीवको नरकमे गिराते है यह दोष कारक है । दृष्टान्त द्वारा दिखलानेसे मिथ्यात्वके माहात्म्यसे इष्टकी उत्पत्ति और प्राप्ति नही होती, यह प्रमाण द्वारा बतलानेके लिए दो गाथाएँ आई है ।

गा०—जैसे एक दिनमे सौ योजन भी चलनेवाला यदि अन्य मार्गसे जाता है तो वह पुरुष अपने इच्छित देशको नही प्राप्त होता ॥५८॥

टी०—इससे चलनेकी उत्कृष्ट सामर्थ्य होनेसे ससार भ्रमण कहा है । अन्यत्र जानेवाला' इस पदसे 'अपने मार्गपर न चलनेसे' इस हेतु अर्थको दिखलाया है । अपने इच्छित देशमे न पहुँचनेमें हेतु है उसका सही मार्गसे न चलना । इष्ट देशको प्राप्त नही होना' यह साध्य धर्म दृष्टान्त द्वारा बतलाया है । अर्थात् प्रतिदिन सौ योजन चलनेवाला मनुष्य अपने इष्ट स्थानको प्राप्त नही होता क्योकि वह सही मार्गसे नही जाता ॥५८॥

गा०—उसी प्रकार अत्यन्त भी चारित्रका पालन करनेवाला उग्र तप करते हुए भी मिथ्यादृष्टि इष्ट प्रधान मोक्ष नही पाता ॥५९॥

टी०—मिथ्यादृष्टि इष्टको प्राप्त नही करता, क्योकि इष्टके मार्गपर नही चलता । जो अपने इष्टकी प्राप्तिके मार्गपर नही चलता, वह अपने इष्टको प्राप्त नही करता । जैसे दक्षिण

१. बलमाख्यातं–अ० ।

'अण्णं' अन्यथा । अथवा निर्वृतिस्तुष्टिर्यथा मनसो निर्वृतिर्मनस्तुष्टिरित्यर्थ । निर्वृतेमार्गमुपाय क्षायिकज्ञान-चारित्राख्यम् । स्पष्टतया न प्रतिपदं व्याख्या कृता ।।५९।।

व्रतेन शीलेन तपसा वा युक्तोऽपि मिथ्यात्वदोषाच्चिर ससारे परिभ्रमति इतरस्मिन्व्रतादिहीने किं वाच्यमिति दर्शयति—

जस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्स णत्थि सीलं वद गुणो वावि ।
सो मरणे अप्पाणं किह ण कुणई दीहसंसारं ।।६०।।

स्वल्पापि मिथ्यात्वविषकणिका कुत्सितासु योनिषु उत्पादयति किमस्ति वाच्य सर्वस्य जिनदृष्टस्या-श्रद्धाने इति गाथाया अर्थ ।।६०।।

एक्कं पि अक्खरं जो अरोचमाणो मरेज्ज जिणदिट्ठं ।।
सो वि कुजोणिणिवुड्डो किं पुण सव्वं अरोचंतो ।।६१।।

एक्कमपीत्यस्य बालबालमरणप्रवृत्तस्य भव्यस्य सख्याता, असख्याता, अनता वा भवन्ति भवा । अभव्यस्य तु अनतानता । मिथ्यादर्शनदोषमाहात्म्यसूचन ससारमहत्ताख्यापनेन क्रियतेऽनया गाथया ।।६१।।

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति बालबालम्मि ।।
सेसा भव्वस्स भवा णंताणंता अभव्वस्स ।।६२।।

मथुरासे पाटलीपुत्र जानेका इच्छुक यदि दक्षिण दिशामे जाता है तो वह पाटलीपुत्र नही पहुँच सकता । उसी तरह मिथ्यादृष्टि भी प्रधानभूत मोक्षको नही प्राप्त करता; क्योकि निर्वृत्ति अर्थात् मोक्षका मार्ग या उपाय क्षायिकज्ञान और क्षायिकचारित्र है अथवा निर्वृत्तिका अर्थ तुष्टि है । जैसे मनकी निर्वृत्तिका अर्थ मनकी तुष्टि है । अर्थात् उसे अनन्तसुख प्राप्त नही होता । स्पष्टरूप-से प्रत्येक पदकी व्याख्या नही की है ।।५९।।

आगे कहते है कि जब व्रत, शील और तपसे युक्त होनेपर भी मिथ्यात्व दोषके कारण चिरकाल तक ससारमे भ्रमण करता है तब जो व्रतादिसे हीन है उसका तो कहना ही क्या है—

गा०—जिस मिथ्यादृष्टिके शील व्रत अथवा ज्ञानादि भी नही है वह मरनेपर कैसे अनन्त ससार नही करता है ।।६०।।

टी०—यदि मिथ्यात्वरूपी विषकी छोटी-सी भी कणिका कुत्सित योनियोंमे उत्पन्न कराती है तो जिन भगवान्के द्वारा देखे गये समस्त तत्त्वोका श्रद्धान न होनेपर तो कहना ही क्या है ? ।।६०।।

गा०—जिन भगवान्के द्वारा देखा गया एक भी अक्षर जिसे रुचता नही है वह मरे तो वह भी कुयोनियोमे डूबता है, तब जिसे सब ही नही रुचता उसके सम्बन्धमे तो कहना ही क्या है ।।६१।।

टी०—बालबालमरणसे मरनेवाले भव्यके सख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त भव होते है और अभव्यके तो अनन्तानन्त भव होते है । इस गाथासे संसारकी महत्ताका कथन करनेके द्वारा मिथ्यादर्शन दोषके माहात्म्यका सूचन किया है ।।६१।।

बालबालं गदं संखेज्जा वा इत्यनया ।

सप्तदशमरणविकल्पेषु पंचमरणान्यत्रोच्यते इति प्रतिज्ञातं । तत्र यत्पण्डितमरणं तत्प्रायोपगमनमरण-मिंगिनीमरणं भक्तप्रत्याख्यानमिति त्रिविकल्पं सूचितं । तत्र भक्तप्रत्याख्यानं प्राग्वर्णनीयमिति दर्शयति सूत्रकार स्वयमेव सम्बन्धमुत्तरप्रबंधस्य—

पुव्वं ता वण्णेसिं भत्तपइण्णं पसत्थमरणेसु ॥
उस्सण्णं सा चेव हु सेसाणं वण्णणा पच्छा ॥६३॥

'**पुव्वं**' पूर्वं प्रथमं तावत् । '**वण्णेसिं**' वर्णयिष्यामि । '**भत्तपइण्णं**' भक्तप्रत्याख्यानम् । '**पसत्थमरणसु**' प्रशस्तमरणेषु व्याख्येयेषु निर्धारणलक्षणा चेयं सप्तमी । यथा—कृष्णा गोषु सपन्नक्षीरतमेति समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं । प्रशस्तमरणसमुदायात् त्र्यवयविकात् भक्तप्रत्याख्यानं पृथग्व्यवस्थाप्यते । पूर्वव्याख्येयत्वेन एतत्कालप्रयोग्यत्वेन गुणेनेति मन्यते । **उस्सण्णं** नितरां बाहुल्येन यावदित्यर्थः । मरणं सा चैव भक्तप्रत्याख्यानमृतिरेव । साध्याहारत्वात्सर्वसूत्रपदानां । **एदम्हि काले** इति वाक्यशेषः कार्यः ।

सहननविशेषसमन्विताना इतरमरणद्वयं । न च सहननविशेषा. । वज्रऋषभनाराचादय अद्यत्वेऽस्मिन्क्षेत्रे सन्ति गणिनां । '**सेसाणं**' शेषयो' प्रायोपगमनस्य इंगिनीमरणस्य च । वण्णणा कथनं । '**पच्छा**' इति शेषः ।

गा०—बाल-बाल मरणमे मरनेपर भव्य जीवके सख्यात, असख्यात अथवा अनन्त भव शेष होते है । अभव्यके अनन्तानन्त भव होते है ।।६२।।

टी०—इस गाथाके साथ बाल-बालमरणका कथन समाप्त हुआ । मरणके सतरह भेदोंमेंसे यहाँ पाँच मरणका कथन करते है ऐसी प्रतिज्ञाकी थी । उनमेसे जो पडित मरण है उसके प्रायोपगमन मरण, इगिनी मरण और भक्त प्रत्याख्यान ये तीन भेद सूचित किये थे । उनमेसे प्रथम भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन करनेकी सूचना ग्रन्थकार आगेकी गाथासे स्वय करते हैं—

गा०—प्रशस्त मरणोमे पहले भक्त प्रत्याख्यानको कहूँगा । क्योकि वह भक्त प्रत्याख्यान ही बहुतायतसे प्रचलित है । शेष मरणोंका वर्णन पीछे करेगे ।।६३।।

टी०—जिनका यहाँ व्याख्यान किया जाना है उन प्रशस्त मरणोमेसे भक्त प्रत्याख्यानको पहले कहूँगा । यहाँ यह सप्तमी विभक्ति निर्धारण करनेके अर्थमे है, जैसे गौओमें काली गाय बहुत अधिक दूध देती है । समुदायमे उसके एक देशको पृथक् करनेको निर्धारण कहते है । तीन भेद वाले प्रशस्त मरणके समुदायसे भक्त प्रत्याख्यानको पृथक् करते है । इस कालमे भक्त प्रत्याख्यान ही पालन करनेके योग्य है इस गुणके कारण उसका प्रथम कथन करना योग्य है । समस्त सूत्रपद अध्याहार सहित होते है इसलिये इस कालमे भक्त प्रत्याख्यान मरण ही 'उस्सण्ण' बाहुल्यसे प्रवर्तित है । शेष दो मरण विशेष सहननके धारकोके होते है । और आजके समयमे गणियोके वज्रऋषभनाराच आदि सँहनन विशेष इस क्षेत्रमे नहीं होते । इसीसे शेष प्रायोपगमन और इंगिनीमरणका कथन पीछे करेंगे ।

शका—यदि आजके मनुष्योमें उन मरणोको करनेकी शक्ति नही है तो उनका कथन क्यो करते हैं ?

यदि ते वर्तयितु इदानीतनानामसामर्थ्यं किं तदुपदेशेनेति चेत् तत्स्वरूपपरिज्ञानात्सम्यग्ज्ञान । तच्च मुमुक्षूणामुपयोग्येवेति मन्यते ॥६३॥

कतिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानमित्यारेकायामाह—

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं ॥
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥६४॥

'**दुविध तु भत्तपच्चक्खाण**' द्विविधमेव भक्तप्रत्याख्यान । '**सविचारमध अविचार**' इति । विचरणं नानागमन विचार । विचारेण वर्तते इति सविचार । एतदुक्त भवति । वक्ष्यमाणार्हलिंगादिविकल्पेन सहितं भक्तप्रत्याख्यान इति । अविचार वक्ष्यमाणार्हादिनानाप्रकाररहित । भवतु द्विविध । सविचारभक्तप्रत्याख्यान कस्य भवति इत्यस्योत्तर । सविचार भक्तप्रत्याख्यान '**अणागाढे**' सहसा अनुपस्थिते मरणे चिरकालभाविनि मरणे इति यावत् । '**सपरक्कमस्स**' सह पराक्रमेण वर्तते इति सपराक्रमस्तस्य **हवे** भवेत् । पराक्रम उत्साह. एतेनैव सहसोपस्थिते मरणे पराक्रमरहितस्य अविचारभक्तप्रत्याख्यान भवतीति लभ्यते 'यतो' विचारभक्त-प्रत्याख्यान अस्य अस्मिन्काले इति सूत्रे नोक्त ॥६४॥

तयो कस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य अनेन शास्त्रेण निरूपणेत्याशंकाया आह—

सविचारभत्तपच्चक्खाणस्सिणमो उवक्कमो होइ ।
तत्थ य सुत्तपदाइं चत्तालं होंति णेयाइं ॥६५॥

समाधान—उनके स्वरूपको जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है और वह मुमुक्षुओके लिए उपयोगी ही है ॥६३॥

भक्त प्रत्याख्यानके भेद कहते है—

गा०—भक्त प्रत्याख्यान दो प्रकारका ही है । सविचार और अविचार । सविचार भक्त प्रत्याख्यान सहसा मरणके उपस्थित न होनेपर पराक्रम अर्थात् साहस और बलसे युक्त साधुके होता है ॥६४॥

टी०—भक्त प्रत्याख्यान मरणके दो भेद है सविचार और अविचार । विचरण या नाना गमनको विचार कहते हैं और विचारसे सहितको सविचार कहते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि आगे कहे जाने वाले अर्हलिंग आदि भेद सहित भक्त प्रत्याख्यान सविचार है और उनसे रहित अविचार है । सविचार प्रत्याख्यान किसके होता है ? तो कहते है कि यदि मरण सहसा उपस्थित न हो, चिरकाल भावी हो तो पराक्रमसे उत्साहसे सहितके होता है । इसीसे यह भी प्राप्त होता है कि सहसा मरण उपस्थित होनेपर पराक्रमसे रहितके अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है । गाथामे अविचार भक्त प्रत्याख्यान इस कालमे इसके होता है, ऐसा नही कहा है ॥६४॥

उन दोनोंमेसे किस भक्त प्रत्याख्यानका इस शास्त्रके द्वारा कथन किया जायेगा ? इस शंका का उत्तर देते हैं—

गा०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका यह उपक्रम अर्थात् प्रारम्भ होता है । और उस भक्त प्रत्याख्यानमें सूत्र और पद चालीस जानने योग्य हैं ॥६५॥

'सविचारभत्तपच्चक्खाणस्स' इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य । 'इणमो' अयं । 'उवक्कमो' व्याख्यान-प्रारंभ. । 'होदि' भवति । 'तत्थ य' तत्र च भक्तप्रत्याख्याने । 'सुत्तपदाइं' सूत्रपदानि । सूतेऽर्थं सूचयतीति वा सूत्रं । सूत्राणि च तानि पदानि च सूत्रपदानि । 'चत्तालं' चत्वारिंशत् । 'होंति' भवन्ति । 'णेयाइं' ज्ञातव्यानि ।।६५।।

तानि सूत्रपदानि गाथाचतुष्टयनिबद्धानि—

अरिहे लिंगे सिक्खा विणय समाधी य अणियदविहारे ।
परिणामोवधिजहणा सिदी य तह भावणाओ य ।।६६।।

'अरिहे' अर्हं योग्य । सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्याय योग्योऽय नेति प्रथमोऽधिकार कर्तृव्यापार । लिंगादय कर्तृपुरःसरा भवतीति प्रागेव लिंगशिक्षादिभ्यो योग्यकर्तृनिर्देश सूत्रे कृत अरिह इति । शिक्षादि-क्रियाया भक्तप्रत्याख्यानक्रियागभूताया योग्यपरिकरमादर्शयितु लिंगोपादान कृतम् । कृतपरिकरो हि कर्ता क्रियासाधनायोद्योग करोति लोके । तथा हि घटादिकरणे प्रवर्तमाना दृढबद्धकक्षा कुलाला दृश्यते । ज्ञानमतरेण न विनयादय कर्तुं शक्यन्ते इति तेभ्यः प्राङ् निर्देशमर्हति शिक्षा । यथावसरमितरक्रममादर्शयिष्याम । लिंगशब्दश्चिह्नवाची । तथाहि वक्ष्यति । 'चिह्नं करणं' इति । 'सिक्खा' शिक्षा श्रुतस्य अध्ययनमिह शिक्षा-शब्देनोच्यते । तथा च वक्ष्यति—'जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पढिदव्वमिति' । विनय मर्यादा । तथा हि–ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया वक्ष्यते । समेकीभावे वर्तते तथा च प्रयोग —संगत

टी०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका व्याख्यान प्रारम्भ होता है उसमे चालीस सूत्रपद हैं ।।६५।।

उन सूत्रपदोको चार गाथाओंसे कहते हैं—

गा०—अर्ह अर्थात् योग्य, लिंग अर्थात् चिह्न, शिक्षा अर्थात् शास्त्राध्ययन विनय और मनका एकाग्र करना, अनियत क्षेत्रमे विहार, परिणाम, परिग्रह त्याग और शुभ परिणामोकी श्रेणिपर आरोहण तथा अभ्यास ।।६६।।

टी०—अर्हका अर्थ योग्य है । सविचार भक्त प्रत्याख्यानके यह योग्य है और यह योग्य नही है यह प्रथम अधिकार है जो कर्ताके व्यापारसे सम्बद्ध है । लिंग आदि कर्ताके होनेपर ही होते है इसलिये लिंग शिक्षा आदिसे पहले गाथामे 'अरिह' से योग्य कर्ताका निर्देश किया है । भक्त प्रत्याख्यान क्रियाके अगभूत शिक्षा आदि क्रियाके योग्य परिकर दिखलानेके लिये लिंगका ग्रहण किया है । क्योंकि साधन सामग्री जुटा लेनेपर ही कर्ता लोकमे क्रियाकी साधनाके लिये उद्योग करता है । घट आदि बनानेमें लगे कुम्भकार साधन सामग्री कर लेनेपर ही कमर बाँधकर तैयार देखे जाते है । ज्ञानके बिना विनय आदि नही किये जा सकते, इसलिये उनसे पहले शिक्षाका निर्देश योग्य है । अन्य क्रम अवसरके अनुसार कहेगे ।

लिंग शब्द चिह्नवाची है । आगे कहेगे 'चिह्न करण' । यहाँ शिक्षा शब्दसे श्रुतका अध्ययन कहा है । आगे कहेगे—'जिन वचन कालिमाको दूर करता है उसे रात दिन पढना चाहिये । विनयका अर्थ मर्यादा है । आगे ज्ञानादि भावनाकी व्यवस्था ज्ञानादिकी विनयके रूपमे कहेगे ।

घृतमित्यत्र एकीभूतं तैलं एकीभूतं घृतमित्यर्थ । समाधानं मनस एकताकरण शुभोपयोगे शुद्धे वा । अनियतक्षेत्रवास अनियतविहार । **तद्भावः परिणामः** [त सू ५।४२] इति वचनात्तस्य जीवादेर्द्रव्यस्य क्रोधादिना दर्शनादिना वा भवनं परिणाम इति । यद्यपि सामान्येनोक्त तथापि यते स्वेन कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह परिणाम इति गृहीतम् । **उपधिः** परिग्रह । तस्य '**जहणा**' त्याग । '**सिदी य**' श्रिति [1]श्रेणि. सोपानमिति यावत् । भावनाभ्यास तत्र असकृत्प्रवृत्ति ॥६६॥

सल्लेहणा दिसा खामणा य अणुसिट्ठि परगणे चरिया ।
मग्गण सुट्ठिय उवसंपया य पडिछा य पडिलेहा ॥६७॥

'**सल्लेहणा**' सम्यक्तनूकरण । '**दिसा**' परलोकदिगुपदर्शनपर सूरिणा स्थापित भवता दिश मोक्ष-[2]वर्तनीमयमुपदिशति य सूरि स दिशा इत्युच्यते । '**खमावणा**' क्षमाग्रहण । '**अणुसिट्ठि**' सूत्रानुसारेण शासनम् । '**परगणे**' अन्यस्मिन्गणे '**चरिया**' चर्या प्रवृत्ति । '**मग्गण**'मात्मनो रत्नत्रयविशुद्धि समाधिमरण वा संपादयितुं क्षमस्य सूरेरन्वेषण । '**सुट्ठिदो**' सुस्थित परोपकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक स्थित सुस्थित आचार्य । '**उपसंपया**' आचार्यस्य ढौकन । '**पडिछा**' परीक्षा । गणस्य, परिचारकस्य, आराधकस्य, उत्साहशक्तेश्च आहारगताभिलाष त्यक्तुमय क्षमो नेति । '**पडिलेहा**' आराधनाया व्याक्षेपेण विना सिद्धिर्भवति न

समका अर्थ एकीभाव है। जैसे 'संगत घृत' का अर्थ एकमेक हुआ ही है। समाधानका अर्थ है शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोगमे मनका एक रूप करना। अनियत विहारका अर्थ है अनियत क्षेत्रमे रहना। तत्वार्थ सूत्रमें 'तद्भाव' को परिणाम कहा है। अत जीवादि द्रव्यके क्रोधादि या दर्शन आदि रूपसे होनेको परिणाम कहते है। यद्यपि सामान्य परिणाम गाथामे कहा है तथापि यहाँ साधुके द्वारा अपने कर्तव्यको आलोचनाको परिणाम शब्दसे ग्रहण किया है। उपधिका अर्थ परिग्रह है। उसका त्याग उपधिजहणाका अर्थ है। 'सिदी' या श्रितिका अर्थ श्रेणिया सोपान है। भावनाका अर्थ अभ्यास उसमे बार-बार प्रवृत्ति करना है ॥६६॥

गा०—सल्लेखना, दिशा, क्षमाग्रहण, शिक्षा ग्रहण, अन्य गणमे प्रवृत्ति, आचार्यकी खोज सुस्थित उपसपदा, परीक्षा, प्रतिलेखना ॥६७॥

टी०—कषाय और शरीरको सम्यक् रीतिसे कृश करना सल्लेखना है। आचार्य अपने स्थानपर जिसे स्थापित करते है कि यह आपको परलोककी दिशा दिखलाते हुए मोक्ष मार्गका उपदेश देगा वह आचार्य दिशा कहलाता है। क्षमा ग्रहण करनेको खामणा कहते है। शास्त्रानुसार शिक्षा देनेको अणुसिट्ठि कहते है। परगण अर्थात् दूसरे सघमे जानेका परगण चरिया कहते है। अपनी रत्नत्रय विशुद्धि अथवा समाधिमरण करानेमे समर्थ आचार्यके खोजनेका मार्गण कहते है। परका उपकार करनेमें और अपने प्रयोजनमे सम्यक् रूपसे स्थित आचार्यको सुस्थित कहते है। आचार्यके पास जानेको उपसपदा कहते हैं। गण, परिचारक, आराधक और उत्साह शक्ति की और यह आराधक आहारकी अभिलाषा छोडनेमे समर्थ है या नही इन सबकी परीक्षा करना

१ श्रिति. श्रेणि निश्रेणि. सो. आ मु० ।
२ वर्तन्या अयमु०–अ० । वर्तन्याश्यमु–मु०

वा राज्यस्य तस्य देशस्य ग्रामनगरादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति एव निरूपणम् ॥६७॥

आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा ।
सेज्जा संथारो वि य णिज्जवग पयासणा हाणी ॥६८॥

'**आपुच्छा**' प्रतिप्रश्न । किमयमस्माभिरनुगृहीतव्या न वेति सघप्रश्नः । '**पडिच्छणमेगस्स**' प्रतिचारकैरभ्यनुज्ञातस्यैकस्य सग्रह आराधकस्य । '**आलोयणा य**' स्वापराधनिवेदन गुरूणामालोचना । '**गुणदोसा**' तस्या गुणदोषा । '**सेज्जा** शय्या वसतिरित्यर्थ । आराधकावासगृहमिति यावत् । **संथारो वि य**' संस्तरश्च । **णिज्जावगा**' निर्यापका आराधकस्य समाधिसहाया । **पयासणा** चरमाहारप्रकाशनम् । '**हाणी**' क्रमेणाहारत्याग हानि ॥६८॥

पच्चक्खाणं खामणं खमणं अणुसट्ठिसारणाकवचे ॥
समदाज्झाणे लेस्सा फलं विजहणा य णेयाइं ॥ ६९ ॥

'**पच्चक्खाणं**' प्रत्याख्यान त्रिविधाहारस्य । '**खामणं**' आचार्यादीना क्षमाग्रहण । '**खमण**' स्वस्यान्यभूतापराधे क्षमा । '**अणुसट्ठि**' अनुशासन शिक्षण निर्यापकस्याचार्यस्य । '**सारणा**' दु खाभिभवान्मोहमुपगतस्य निश्चेतनस्य चेतनाप्रवर्तना सारणा । '**कवचे**' यथा कवचस्य शरशतनिपातदु खनिवारणक्षमता एवमाचार्येण

'पडिछा' है । आराधनाकी सिद्धि विना बाधाके होगी या नही, तथा राज्य, देश, ग्राम नगर आदि वहाँका प्रधान ये सब आराधनाके योग्य है या नही, इस प्रकारके निरूपणको पडिलेहा कहते है ॥६७॥

गा०—पूछना एक क्षपकको स्वीकार करना, और आलोचना, आलोचनाके गुण दोष, शय्या अर्थात् वसति, और सस्तर, निर्यापक, अन्तिम आहारका प्रकाशन क्रमसे आहारका त्याग ॥६८॥

टी०—जब कोई आराधक समाधिमरणके लिये आवे तो आचार्यका सघसे पूछना कि हम इसे स्वीकार करे या नही आपृच्छा है । आराधकको सेवा करने वाले मुनियोकी स्वीकृति मिलने पर एक आराधकको लेना 'एकका पडिच्छण है । गुरुके सामने अपने अपराधका निवेदन आलोचना है । आलोचनाके गुण और दोष 'गुणदोस' है । आराधकके रहनेका स्थान शय्या है उसे वसति भी कहते हैं सस्तरको संथार कहते है । आराधककी समाधिमे जो सहायक मुनि होते है उन्हे निर्यापक कहते हैं । आराधकके सामने अन्तिम आहारका प्रकाशन 'पगासणा' है । और क्रम से आहारके त्यागको हानि कहते है ॥६८॥

गा०—प्रत्याख्यान, क्षमा ग्रहण, दूसरोके अपराधको क्षमा करना । शिक्षण, सारणा, कवच, समभाव, लेश्या, आराधनाका फल (य) और (विजहणा) शरीर त्याग ये अधिकार जानना ॥६९॥

टी०—तीनों प्रकारके आहारका त्याग करना प्रत्याख्यान है । आचार्य आदिसे क्षमा माँगना खामण है । दूसरेसे हुए अपराधको क्षमा करना खमण है । निर्यापकाचार्य जो शिक्षा देते है वह अनुशिष्टि है । दुःखसे पीड़ित होकर बेहोश हुए चेतना रहित आराधकको सचेत करना सारणा है । जैसे कवचमे सैकडो बाणोके लगनेसे होनेवाले दु खको दूर करनेकी सामर्थ्य है । वैसे ही

निर्यापकेन धर्मोपदेशश्चतुर्गतिपरिभ्रमणे दु महानि दु खानि ननु कर्मपरवशतया भक्तानि निष्फलानि । इद पुनर्दु खसहन निर्जरार्थं प्रवर्त्यमान सकलदु खान्त सुखमप्यतीन्द्रियमचलमनुपममव्याबाधात्मकं संपादयिष्यतीति क्रियमाणो दु खनिवारणगुणसामान्यात् कवच शब्देनोच्यते । यथा शौर्यप्रचिख्यापयिषया माणवके सिहशब्दः प्रयुज्यमान शौर्यादिगुणाध्यासित देवदत्तमवगमयति । 'समदा' समभाव जीवितमरणलाभालाभसयोगविप्रयोगसुखदु खादिषु रागद्वेषयोरकरण । 'ज्झाणे' ध्यान एकाग्रचितानिरोध. । 'लेस्सा' लेश्या कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या । फल' साध्यं परिप्राप्य आराधनायाः । 'विजहणा' आराधकस्य शरीरत्याग ॥६९॥

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोग्गहाणिकरी ॥
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्स ॥ ७० ॥

'**वाहिव्व**' । अत्र चैव पदघटना । '**वाहिव्व दुप्पसज्झा सो अरिहो होइ भत्तपदिण्णाए**' इति । व्याधिर्वा दु प्रसाध्यः क्लेशेन महता सयमप्रचयावहेन चिकित्स्य यस्य विद्यते सोर्हो भक्तप्रत्याख्यान कर्तुं । जीर्यंति विनश्यंति रूपवयोबलप्रभृतयो गुणा यस्यामवस्थाया प्राणिन सा जरा । '**सामण्णजोग्गहाणिकरी**' श्राम्यति तपस्यतीति श्रमण , तस्य भाव श्रामण्य । श्रमणशब्दस्य पुसि प्रवृत्तिनिमित्त तप क्रिया श्रामण्य, तेन योग सबध साध्यसाधनलक्षणस्तस्य हानि विनाश करोति या सा जरा यस्य सोर्हति भक्तप्रत्याख्यान विधातु ।

निर्यापकाचार्य जो धर्मोपदेश देते है—तूने चार गतियोमे भ्रमण करते हुए दु सह दु ख सहे और कर्मोंके अधीन होकर भोगे जिनसे कोई लाभ नही। किन्तु इस समयका दु ख सहन निर्जराके लिए है, सब दु खोका अन्त करनेवाला है और अतीन्द्रिय, अचल, अनुपम तथा बाधारहित सुखको भी देगा। इस प्रकार दु खको दूर करनेके गुणकी समानतासे उसे कवच शब्दसे कहा है। जैसे शौर्यका बखान करनेकी इच्छासे बालकमे प्रयुक्त सिह शब्द शौर्य आदि गुणोसे युक्त देवदत्तका बोध कराता है। वैसे ही यहाँ भी जानना।

जीवन, मरण, लाभ, हानि, सयोग, वियोग, सुख दु ख आदिमे रागद्वेष न करना समता है। एक विषयमे चिन्ताके निरोधको ध्यान कहते है। कषायसे अनुरक्त मन-वचनकायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। आराधनाके द्वारा प्राप्त साध्यको फल कहते है। और अन्तमे आराधकके शरीर त्यागको विजहणा कहते हैं। इतने अधिकारोसे भक्त प्रत्याख्यान मरणका कथन करेंगे ॥६९॥

उनमेसे 'अर्ह' का कथन आगेकी गाथाके द्वारा करते है—

गा०—जिसके दुष्प्रसाध्य व्याधि हो, अथवा श्रामण्यके सम्बन्धको हानि पहुँचानेवाली वृद्धावस्था हो अथवा देवकृत मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य है ॥७०॥

टी०--दु प्रसाध्य व्याधि हो, अर्थात् बडे कष्टसे सयमके समूहका घात करके जिसका इलाज सम्भव हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य होता है। जिस अवस्थामे प्राणीके रूप, वय, बल आदि गुण नष्ट हो जाते है उसे जरा कहते है। 'श्राम्यति' अर्थात् जो तपस्या करता है वह श्रमण है। श्रमणके भावको श्रामण्य कहते है। पुरुषमे श्रमण शब्दकी प्रवृत्तिमे निमित्त तपश्चरण श्रामण्य है। उससे योग अर्थात् साध्यसाधनरूप सम्बन्धकी हानि जो करती है अर्थात् जिसके होनेपर तपश्चरणकी साधना करना कठिन होता है वह वृद्धावस्था जिसके आ गई हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य होता है। जिसका शारीरिक बल बुढापेके कारण क्षीण हो

जरापसारितशरीरबलः शरीरबलमाध्येषु कायक्लेशेषु न वर्तितुमुत्सहते। अथवा सममणो **'समणो'** समणस्स भावो सामण्णं। क्वचिदप्यननुगतरागद्वेषता समता सामण्णशब्देनोच्यते। वस्तुयाथात्म्यावहितचेतस्तया योगः सबंधो ध्यानयोग इति यावत्। वस्तुयाथात्म्यावबोधो निश्चलो यः स ध्यानमिष्यते। जरापरिप्लुतबोधस्य ध्यानं विनश्यति। ततो ध्यानयोगविनाशकारिणी जरा यस्य सोऽर्हति भक्तं त्यक्तुम्। अथवा सामण्णं समता, युज्यतेऽनेन निर्जरार्थिन इति योगः, तपः। योगशब्दस्तपसि कायक्लेशाख्ये रूढः सोऽत्र गृहीतः। **'आदावणादिजोगधारिणो अणगारा'** इत्युक्ते आतापनादितपोधारिणः इति प्रतीयते।

द्वंद्वे अल्पाच्तरत्वाद्योगशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसंग इति चेत् न अभ्यर्हितत्वात्समतायाः सामण्णं इत्यस्य पूर्वनिपात इति मन्यते, पूर्वतोऽभ्यर्हितमिति वचनात्। न हि समताशून्यात्तपसो विपुला निर्जरा भवति। सत्यां तु समतायां निर्जरा भवति। ततस्तपसो निर्जराहेतुता समतापरवशेति प्रधानं समता।

उवसग्गा वा उपद्रवा वा **'देवियमाणुसतेरिक्खिगा'** देवैर्नरैस्तिर्यग्भिश्च प्रवर्तिता यस्य सोऽर्हति भक्तप्रत्याख्यानं इति सबंधः। चतुर्विधत्वादुपसर्गस्य [1]त्रैविध्योपदेशः कथमिति ? अत्रोच्यते—उपसर्गा वा इति वा शब्दः समुच्चयार्थोऽसौ **'देवियमाणुसतेरिक्खिगा'** वा इति सबंधनीयस्तेनाचेतनोपसर्गसमुच्चयः क्रियते ॥७०॥

जाता है वह शरीरमें रहते बलके द्वारा करने योग्य कायक्लेशोंमें प्रवृत्त होनेके लिए उत्साहित नहीं होता। अथवा जिसका मन सम है वह समण है। समणका भाव सामण्ण है। किसी भी वस्तुमें रागद्वेष न करनेरूप समता 'सामण्ण' शब्दसे कही जाती है। वस्तुके यथार्थस्वरूपमें चित्तका लगना, उसके साथ योग-सम्बन्ध अर्थात् ध्यान योग। वस्तुके यथार्थस्वरूपका जो ज्ञान निश्चल होता है उसे ध्यान कहते हैं। बुढ़ापेसे ज्ञानके व्याप्त हो जानेपर ध्यान नष्ट हो जाता है। अतः ध्यानयोगका विनाश करनेवाली जरा जिसके है वह भोजनका त्याग करनेके योग्य है। अथवा समताको सामण्ण कहते हैं। और निर्जराके इच्छुक जिससे युक्त होते हैं वह योग अर्थात् तप है। योग शब्द कायक्लेश नामक तपमें रूढ है। वही यहाँ योग शब्दसे लिया है, क्योंकि 'आदावणादि जोगधारिणो अणगारा' इस कथनसे 'आतपन आदि तपको धारण करनेवाले' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है।

शंका—'योग' शब्द अल्प अच्वाला है। अतः द्वन्द्व समासमें सामण्णसे पहले 'जोग' शब्द रखना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि समता पूज्य है अतः सामण्णको पहले रखना उचित है क्योंकि जो पूज्य होता है उसे पहले स्थान दिया जाता है ऐसा शास्त्रका वचन है। समताशून्य तपसे बहुत निर्जरा नहीं होती। किन्तु समताके होनेपर होती है। अतः तप समताके परवश होकर निर्जरामें कारण होता है इसलिए समता प्रधान है।

अथवा देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोंके द्वारा जिसपर उपसर्ग किया गया हो वह भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है।

शंका—उपसर्ग तो चार प्रकारका होता है। यहाँ तीन प्रकारका क्यों कहा ?

समाधान—'उपसर्गा वा' में 'वा' शब्दका अर्थ समुच्चय है। उससे अचेतनकृत उपसर्गका समुच्चय होता है ॥७०॥

---

१. त्रिविधो—अ० गु०।

अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स ॥
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥७१॥

'अणुलोमा वा' अनुकूला वा शत्रव । **'चारित्तविणासगा'** चारित्रं पापक्रियानिवृत्ति तस्य विनाशका । बंधवो हि स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात् स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्र विनाशयितुं उद्यता । अनुलोमत्व शत्रुत्वविरोधि प्रातिकूल्ये समवस्थिता हि भवन्ति शत्रवस्तत्किमुच्यते **'अणुलोमा वा सत्तू'** इति ? प्रियवचनमात्रभाषणादनुलोमता । अहितेऽसयमे प्रवर्तनाद्धितस्य सयमधनस्य विनाशनात् शत्रवो भवन्ति । अथवा अनुलोमा बधव सत्तू वा शत्रवश्चेति समुच्चय वा शब्दसमुच्चयार्थत्वात् । **'देविगमाणुसतेरिक्खगा उवसग्गा जस्स'** इतिवचनात् अनुकूलशत्रुकृतोऽप्युपसर्ग संगृहीतः एव किमर्थं पुनरुच्यते **'अणुलोमा वा'** इति पुनरुक्तता । तत्र हि सूत्रे मनुष्योपसर्गो नाम बधनताडनविलबनादिक शरीरोपद्रव परकृतो गृहीत । इह तु जिव्होत्पाटनादिक कुर्मो यदि श्रामण्य न त्यजसीति खलीकरण वक्तुमिष्टम् ।

'दुब्भिक्खे वा' दुर्भिक्षे वा । **'आगाढे'** दुरुत्तरे महति अशनिपातमिव सर्वजनगोचरे अर्हति प्रत्याख्यातु ।

'अडवीए' अटव्या महन्या व्यालमृगाकुलाया मार्गोपदेशिजनरहिताया दिङ्मूढ पाषाणकटकबहुलतया दुःप्रचाराया । **'विप्पणट्ठो वा'** विप्रनष्टो वा अर्हतीति सबध ॥७१॥

गा०—अनुकूल बन्धु मित्र शत्रु हो जो चारित्रका विनाश करनेवाले हो । अथवा अनुकूल बन्धु और शत्रु जिसके चारित्रका विनाश करनेवाले हो । भयकर दुर्भिक्ष हो अथवा भयकर जगलमे भटक गया हो तो भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

टी०—अनुकूल ही शत्रु हो । पापक्रियासे निवृत्तिरूप चारित्रका विनाश करनेवाले हो । बन्धु स्नेहसे या मिथ्यात्व दोषसे या अपने भरण-पोषणके लोभसे जिसके चारित्रका विनाश करनेके लिए तत्पर हो वह भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है ।

शका—अनुलोमता शत्रुताकी विरोधी है । जो प्रतिकूल होते है वे शत्रु होते है तब 'अणुलोमा वा सत्तु' कैसे कहा ?

समाधान—प्रियवचनमात्र बोलनेसे अनुलोमता है और असयमरूप अहितमे प्रवृत्ति करानेसे तथा सयमधनरूप हितका विनाश करनेसे शत्रु होते है ।

अथवा अनुलोम अर्थात् बन्धु और शत्रु इस प्रकार 'वा' शब्दको समुच्चयार्थक लेना चाहिए ।

शका—पहले कहा है कि जिसपर देवकृत मनुष्यकृत उपसर्ग हो, तो इससे अनुकूल कृत और शत्रुकृत उपसर्गका ग्रहणकर ही लिया है यहाँ पुन 'अणुलोमा वा सत्तु' क्यो कहा ? इससे पुनरुक्तता दोषका प्रसग आता है ।

समाधान—उक्त गाथामे मनुष्योपसर्गसे परके द्वारा किया गया बाँधना, मारना, रोकना आदि शारीरिक उपद्रव लिया गया है । और यहाँ 'यदि मुनिपद नही छोडता तो हम तेरी जीभ उखाड़ लेंगे' इस प्रकारकी शत्रुता ली गई है ।

वज्रपातके समान भयकर दुर्भिक्ष होनेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है । सर्प, मृग आदिसे भरे हुए भयकर वनमे, जहाँ कोई रास्ता बतलानेवाला नही है, कंकर पत्थरोके कारण चलना भी दुष्कर है, फँस जानेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ॥
जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥७२॥

'**चक्खुं व**' चक्षुर्वा । चष्टेऽर्थान्दिर्शयतीति चक्षु. । '**दुब्बलं**' दुर्बल अल्पशक्तिक सूक्ष्मवस्तुदर्शनाक्षम । '**जस्स**' यस्य । '**होज्ज**' भवेत् । '**सोद**' व श्रोत्र वा श्रूयते शब्द उपलभ्यते येन तत् श्रोत्रम् । '**दुब्बलं**' शब्दोपलब्धिजननसामर्थ्यविकलं । सोप्यर्हति । '**जंघाबलपरिहीणो**' '**जो**' य । '**ण समत्थो**' न शक्तो । '**विहरिदुं वा**' गंतु वा सोप्यर्हति ॥७२॥

अण्णम्मि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे ॥
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥७३॥

'**अण्णंमि चावि**' अन्यस्मिन्नपि उक्तादस्मात् । '**आगाढकरणे**' आगाढे कारणे '**जादे**' जाते । '**एदारिसम्मि**' उक्तकारणसदृशे । '**भत्तपविण्णाए**' अरिहो **होदि विरदो अविरदो वा** इति पदघटना । भक्त प्रत्याख्यानस्यार्हो भवति विरत अविरतो वा ॥७३॥

अनर्हसूचनायोत्तरगाथा—

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणदिचारं वा ॥
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ॥७४॥

'**उस्सरदि**' नितरा प्रवर्तते । '**जस्स**' यस्य । '**चिरमवि**' चिरकालमपि । कि '**सामण्ण**' चारित्र । '**सुहेण**' अक्लेशेन । '**अणदिचारं वा**' निरतिचार । चारित्रविनाशभयादय अतीतेषु कारणेषु सत्सु प्रत्याख्यानायोद्योग

गा०—जिसकी चक्षु दुर्बल हो अथवा जिसके श्रोत्र दुर्बल हो । जो जघाबलसे हीन हो (वा) अथवा विहार करनेमे समर्थ न हो ॥७२॥

टी०—'चष्टे' अर्थोको जो दिखलाती है वह चक्षु है । 'श्रूयते' जिसके द्वारा शब्दको जाना जाता है वह श्रोत्र है । जिसकी चक्षु अल्पशक्तिवाली हो, सूक्ष्म वस्तुको न देख सकती हो । जिसकी कर्णेन्द्रिय दुर्बल हो, शब्दका ज्ञान करानेमे आशक्त हो, जिसमे जघाबल न हो, जो विहार करनेमे अशक्त हो, वे सब भक्तप्रत्याख्यानके योग्य हैं ॥७२॥

गा०—उक्तकारणके समान अन्य भी प्रबल कारण उपस्थित होनेपर विरत अथवा अविरत भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७३॥

टी०—उक्त कारणोके समान अन्य भी ऐसे कारण हों तो मुनि हो या श्रावक हो वह भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७३॥

जो भक्तप्रत्याख्यानके अयोग्य है उन्हे आगेकी गाथासे कहते है—

गा०—जिसका चारित्र चिरकाल भी विना किसी क्लेशके अतिचार रहित अच्छी तरह पालित हो रहा है । अथवा समाधिमरण करानेमे सहायक निर्यापक (सुलहा) सुलभ है। (च) और (जदि) यदि दुर्भिक्षका भय नही है ॥७४॥

टी०—पहले जो भक्तप्रत्याख्यान करनेके कारण कहे हैं उनके रहते हुए यह चारित्र विनाशके भयसे भक्तप्रत्याख्यानके लिए उद्योग करता है । किन्तु यदि चारित्र विना क्लेशके निरतिचार

करोति । तच्चेत्प्रवर्तते निरतिचारमक्लेशेन नैव भक्तप्रत्याख्यानमर्हति । इदानीमह यदि न त्याग कुर्यां निर्यापका पुनर्न लप्स्यन्ते सूरयस्तदभावे नाह पडितमरणमाराधयितु शक्नोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्यानार्ह एव ॥७४॥

यदि च सुलभा निर्यापका अनागतदुर्भिक्षभयं च यदि न स्यान्न भवत्यर्ह इति कथयति—

तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो ॥
सो मरणं पच्छिंतो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो ॥७५॥

'तस्स' तस्य । **'ण' 'कप्पदि भत्तपइण्णं'** न योग्य प्रत्याख्यान भक्तस्य । **'भये पुरदो अणुवट्ठिदे'** भये पुरस्तादनुपस्थिते । **'सो'** स । निरतिचारश्रामण्य सुलभनिर्यापक अनुपस्थितदुर्भिक्षभय । **'मरणं'** मृति । **'पेच्छंतो'** प्रार्थयमान । खुशब्द एवकारार्थ । एवममी सभावनीय **'सामण्णणिव्विण्ण एव होदित्ति'** श्रामण्यान्निर्विण्ण एव सभवतीति । ननु च अरिहेति अर्ह एव सूचितो नानर्ह, तत्किमर्थमसूत्रितव्याख्या क्रियते, सूत्रकारेण ? अर्हप्रसगादायातमिति केचित् । अनर्हमपि लक्षणतया अनर्हत्व सूचित इति वा न दोष । स्वपर-[1]भावाभावोभयाधीनात्मलाभत्वात्सर्ववस्तूना इति मन्यते ॥ अरिहोत्ति गदम् ॥७५॥

पलता है तो वह भक्तप्रत्याख्यानके योग्य नही है उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण नही करना चाहिए। तथा यदि इस समय मै भक्तप्रत्याख्यान नही करता तो फिर मुझे समाधिमरण करानेवाले निर्यापकाचार्य नही मिलेंगे। उनके अभावमे मै पण्डितमरणकी आराधना नही कर सकता। ऐसा यदि भय है तो भक्तप्रत्याख्यानके योग्य ही है। अर्थात् यदि ऐसा भय न हो और आराधनामे सहायक उस कालमे और आगे भी सुलभ हो तो उक्त भयसे तत्काल भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य नही है। इसी तरह यदि दुर्भिक्षका भय हो कि आगे धान्यका विनाश होनेसे भिक्षाके विना मेरे चारित्रकी हानि होगी तो भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य है, नही तो अयोग्य है ॥७४॥

यदि निर्यापक सुलभ हो और आगे दुर्भिक्षका भय न हो तो भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य नही है, ऐसा कहते है—

गा०—आगे भयके अनुपस्थित होते हुए उसका भक्तप्रत्याख्यान योग्य नही है। वह यदि मरणकी प्रार्थना करता है तो मुनिधर्मसे विरक्त ही होता है ॥७५॥

टी०—जिसका चारित्र निरतिचार पलता है, निर्यापक भी सुलभ है और दुर्भिक्षका भय भी नही है फिर भी यदि वह मरना चाहता है तो ऐसी सम्भावना होती है कि वह मुनिपदसे विरक्त हो गया है।

शंका—'अरिह' इस पदसे 'अर्ह' ही सूचित होता है 'अनर्ह' अयोग्य नही। तब ग्रन्थकारने सूत्र विरुद्ध व्याख्या क्यो की ?

समाधान—'अर्ह' के प्रसगसे 'अनर्ह' आया है ऐसा कोई कहते है अथवा लक्षणासे 'अर्ह' भी 'अनर्ह' को सूचित करता है इसलिए कोई दोष नही है। क्योकि सब वस्तुएँ स्वका भाव और परका अभाव, दोनोके होनेसे ही आत्म लाभ करती है ऐसा माना जाता है ॥७५॥

इस प्रकार 'अरिह' अधिकार समाप्त हुआ।

१. वो नया—आ० मु०।

भक्तप्रत्याख्यानार्हस्य तत्प्रत्याख्यानपरिकरभूतलिंगनिरूपण उत्तराभिर्गाथाभि क्रियते—

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव ॥
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥७६॥

उस्सग्गियलिंगदस्स उत्कर्षेण सर्जन त्याग सकलपरिग्रहस्य उत्सर्ग । उत्सर्गे सकलग्रथपरित्यागे भव लिंग औत्सर्गिक कि करोति क्रियासामान्यवचनोऽत्र सृज्यर्थो ग्राह्य **धातूनामनेकार्थत्वादिति** वचनात् । तेनायमर्थ औत्सर्गिकलिंगस्थितस्य भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषवत । '**तं चेव उस्सग्गिय लिंग**' तदेव प्राक् गृहीत लिंग औत्सर्गिकम् । '**अववादियलिंगस्स वि**' यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवाद , अपवादो यस्य विद्यते इत्यपवादिक परिग्रहसहित लिग अस्येत्यपवादिकलिग भवति । वाक्यशेष कृत्वा एव पदसंबध कार्य । '**जइ पसत्थलिंग** यदि प्रशस्त शोभन लिंग मेहन भवति । चर्मरहितत्व, अतिदीर्घत्व, स्थूलत्व, असकृदुत्थानशीलतेत्येवमादिदोषरहित यदि भवेत् । पुस्त्वलिंगता इह गृहीतेति बीजयोरपि लिंगशब्देन ग्रहण । अतिलबमानतादिदोषरहितता प्रशस्तताऽपि तयोर्गृहीता ॥७६॥

अप्रशस्तलिङ्गस्य औत्सर्गिक लिग न भवत्येवेत्यस्यापवादमाह—

जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणिगो विहारम्मि ॥
सो वि हु संथारगदो गेण्हेज्जोस्सग्गियं लिंगं ॥७७॥

जो भक्तप्रत्याख्यान करनेके योग्य है उसके भक्तप्रत्याख्यानका परिकर जो लिग है, उस लिंगका कथन आगेकी गाथाओसे करते है—

गा०—जो औत्सर्गिक लिगमे स्थित है उसका जो पूर्वगृहीत है वही औत्सर्गिक लिंग होता है। आपवादिक लिंगवालेका भी औत्सर्गिक लिग होता है यदि उसका पुरुष चिह्न दोष रहित हो ॥७६॥

टी०—उत्कृष्टसे 'सर्जन' अर्थात् सकलपरिग्रहके त्यागको उत्सर्ग कहते है। 'उत्सर्ग' अर्थात् सकल परिग्रहके त्यागमे होनेवाले लिंगको औत्सर्गिक लिग कहते है। यहाँ सृज् धातुका अर्थ क्रिया सामान्यवाची लेना चाहिए। क्योकि ऐसा कहा है कि धातुओके अनेक अर्थ होते है। तब ऐसा अर्थ होता है कि जो औत्सर्गिक लिंगमे स्थित है और भक्तप्रत्याख्यानकी अभिलाषा रखता है उसका वही लिग रहता है जो उसने पूर्वमे ग्रहण किया है अर्थात् औत्सर्गिक लिंग ही रहता है। मुनियोके अपवादका कारण होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते है। जिसके अपवाद हो वह अपवादिक है अर्थात् परिग्रह सहित लिंगवाला आपवादिक लिंगी होता है। वह यदि भक्तप्रत्याख्यान करना चाहता है तो उसे परिग्रहको त्यागकर औत्सर्गिक लिग धारण करना होता है। इस लिंग धारण करनेपर नग्न होना पडता है। किन्तु उसके सम्बन्धमे यह नियम है कि उसका लिंग-पुरुष चिह्न प्रशस्त होना चाहिए। लिंगका चर्मरहित होना, अतिदीर्घ होना, स्थूल होना, और बार-बार उत्तेजित होना ये दोष है। इन दोषोसे रहित होनेपर ही औत्सर्गिक लिग दिया जाता है। यहाँ लिग शब्दसे पुरुष चिह्नका ग्रहण किया है। तथा उससे अण्डकोष भी ग्रहण होता है। वे भी अति लटकते हुए लम्बे नही होना चाहिए ॥७६॥

आगे 'अप्रशस्त लिंगवालेके औत्सर्गिक लिग नही होता है, इस कथनका अपवाद कहते हैं—

'जस्स वि' यस्यापि । **'अव्वभिचारी'** अनिराकार्यो । **'दोसो'** दोष । **'तिट्ठाणिगो'** स्थानत्रयभव मेहने वृषणयोश्च भव औषधादिनानपसार्य । **'सोऽपि'** खु शब्द एवकारार्थ. स च **'गेण्हेज्ज'** इत्यनेन सबध-नीय. । गृण्हीयादेव कि ? **'उस्सग्गिग लिंगं'** औत्सर्गिक अचेलतालक्षण । क्व **'विहारम्मि'** विहारे वसतौ, **'संथारगदे'** सस्तरारूढ. संस्तरारोहणकाले । एव सस्तरारूढस्यैव औत्सर्गिक नान्यत्रेत्याख्यात भवति ॥७७॥

अपवादलिगस्थाना प्रशस्तलिगाना सर्वेषामेव किमौत्सर्गिकलिगतेत्यस्यामारेकाया आह—

आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं ॥
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥ ७८ ॥

'आवसधे वा' निवासस्थाने । **'अप्पाउग्गे'** अप्रायोग्ये अविविक्ते । **'अपवादिकलिंगं' हवदित्ति'** शेष । **'जो वा महड्ढिगो'** महर्द्धिकः । **'हिरिमं'** ह्रीमान् लज्जावान् । तस्यापि **'होज्ज'** भवेत् अपवादिक लिगं । **'मिच्छे'** वा मिथ्यादृष्टौ । **'सजणे'** स्वजनो बधुवर्गो । **'होज्ज'** भवेत् । अपवादिकलिग सचेललिग ॥७८॥

पूर्वनिर्दिष्टोत्सर्गलिगस्वरूपनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं ॥
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥७९॥

गा०—जिसके भी लिंग और दोनो अण्डकोष इन तीन स्थानोमे ऐसा दोष है जिसे औषध आदिसे भी दूर नही किया जा सकता । वह भी वसतिकामे सस्तरेपर आरूढ होनेपर औत्सर्गिक लिंगको अवश्य ग्रहण करे ॥७७॥

टी०—जिसके तीनो स्थानोमे ऐसा दोष है जिसे चिकित्सासे भी नही दूर किया जा सकता । वह भी जब भक्त प्रत्याख्यान करना है तो उसे वसतिमे सथरे पर रहना होता है अत उस समय उसे भी औत्सर्गिक लिंग ग्रहण करना आवश्यक है । इस प्रकार वह सस्तर पर आरूढ होते हुए भी औत्सर्गिक लिंगका पात्र होना है उससे पहले नही (क्योकि सदोष लिंग वाला नग्नता का पात्र नही होता) ॥७७॥

क्या प्रशस्त लिंग वाले सभी अपवाद लिंगके धारकोको औत्सर्गिक लिंग लेना आवश्यक है इस शङ्काका उत्तर देते है—

गा०—जो महान सम्पत्तिशाली है अथवा लज्जालु है अथवा जिसके स्वजन बन्धुवर्ग मिथ्यादृष्टि विधर्मी है । उसके लोगोके आवागमनके कारण अयोग्य निवास स्थानमे आपवादिक लिंग होता है ॥ ७८ ॥

टी०—जो प्रतिष्ठित धन सम्पन्न है या जिन्हे सबके सामने लज्जा लगती है या जिनका परिवार विधर्मी है उन्हे सार्वजनिक स्थानमे नग्न लिंग नही देना चाहिये । सवस्त्र लिंग ही उनके योग्य है ॥ ७८ ॥

पहले कहे औत्सर्गिक लिंगका स्वरूप कहते है—

गा०—अचेलता, हाथसे केश उखाडना, शरीरसे ममत्व त्याग और प्रतिलेखन यह चार प्रकारका लिंगभेद औत्सर्गिक लिंगमे होता है ॥ ७९ ॥

अच्चेलक्कमिति । **अच्चेलक्कं अचेलता । लोचो** केशोत्पाटनं हस्तेन । **वोसट्टसरीरदा य** व्युत्सृष्टशरीरता च । **पडिलिहणं** प्रतिलेखनं । **एसो हु** एषः । **लिंगकप्पो** लिंगविकल्पः । **चदुव्विहो** चतुर्विधः भवति । **उस्सग्गे** औत्सर्गिकसंज्ञिते लिंगे ।

अतीताभिर्गाथाभिः पुरुषाणां भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषिणां लिंगविकल्पोऽभिदृष्टनिश्चयः । अधुना स्त्रीणां तदर्थिनीनां लिंगमुत्तरया गाथया निरूप्यते—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा ॥
तं तत्थ होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए ॥८०॥

'**इत्थीवि य**' स्त्रियोऽपि । '**जं लिंगं**' यल्लिंगं । '**दिट्ठं**' दृष्टं आगमेऽभिहितं । '**उस्सग्गियं व**' औत्सर्गिकं तपस्विनीनां । '**इदरं वा**' श्राविकाणां । '**तं**' तदेव । '**तत्थ**' भक्तप्रत्याख्याने । '**होदि**' भवति । लिंगं तपस्विनीनां प्राक्तनम् । इतरासां पुंसामिव योज्यम् । यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्याः प्राक्तनं लिंगं विविक्ते त्वावसथे, उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपं । उत्सर्गलिंगं कथं निरूप्यते स्त्रीणामित्यत आह—'**तं**' तत् उत्सर्गं लिंगं । '**तत्थ**' स्त्रीणां '**होदि**' भवति । '**परित्तं**' अल्पं । '**उवधिं**' परिग्रहं । '**करेंतीए**' 'कुर्वत्याः' ।

टी०—अचेलक अर्थात् वस्त्रादिका अभाव, केश लोच, शरीरका सस्कार आदि न करना और पीछी यह चार औत्सर्गिक लिंगके प्रकार है। औत्सर्गिक लिगमे ये चार बाते होना आवश्यक है ॥ ७९ ॥

पिछली गाथाओसे भक्त प्रत्याख्यानके अभिलाषी पुरुषोके लिंगका निश्चय किया। अब उसकी अभिलाषी स्त्रियोंका लिग कहते है—

गा०—स्त्रियोके भी जो लिग औत्सर्गिक अथवा अन्य आगममे कहा है। वही लिंग अल्प परिग्रह करती हुईके भक्त प्रत्याख्यानमे होता है ॥ ८० ॥

टी०—स्त्रियोके आगममे जो लिग कहा है तपस्विनी स्त्रियोके औत्सर्गिक और श्राविकाओ के आपवादिक। वही लिग उनके भक्त प्रत्याख्यानमे भी होता है। अर्थात् तपस्विनी स्त्रियोके औत्सर्गिक लिंग होता है और शेषके पुरुषोकी तरह जानना। अर्थात् यदि स्त्री किसी ऐश्वर्यशाली परिवारसे सम्बद्ध है या लज्जाशील है अथवा उसके परिवार वाले विधर्मी है तो उसे एकान्त स्थानमे सकल परिग्रहके त्यागरूप उत्सर्ग लिंग दिया जा सकता है। प्रश्न होता है कि स्त्रियोके उत्सर्ग लिंग कैसे सम्भव है? तो उसका उत्तर यह है कि परिग्रह अल्प कर देनेसे स्त्रीके उत्सर्ग लिंग होता है ॥ ८० ॥

विशेषार्थ—तपस्विनी स्त्रियाँ एक साडी मात्र परिग्रह रखती है किन्तु उसमे भी ममत्व त्यागनेसे उपचारसे निर्ग्रन्थताका व्यवहार होता है। किन्तु श्राविकाओके उस प्रकारके ममत्वका त्याग न होनेसे उपचार से भी निर्ग्रन्थताका व्यवहार नही होता। भक्त प्रत्याख्यानमे तपस्विनियोके अयोग्य स्थानमें तो पूर्व लिंग ही होता है। शेषके पुरुषोकी तरह जानना। साराश यह है कि तपस्विनी स्त्री मृत्युके समय वस्त्र मात्रको भी छोड देती है। अन्य स्त्री यदि योग्य स्थान होता है तो वस्त्र त्याग करती है। यदि वह धन सम्पन्न, या लज्जाशील या मिथ्यादृष्टि परिवारसे सम्बद्ध

नन्वर्हस्य रत्नत्रयभावनाप्रकर्षेण मृतिरुपयुज्यते किममुना लिङ्गविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह —

जत्तासाधणचिह्नकरणं खु जगपच्चयादठिदिकरणं ॥
गिहभावविवेगो वि य लिंगग्गहणे गुणा होंति ॥ ८१ ॥

'**जत्तासाधणचिण्हकरणं**' यात्रा शरीरस्थितिहेतुभूता भुजिक्रिया । तस्या. साधन यल्लिंगजात चिन्ह-जाल तस्य करण । न हि गृहस्थवेषेण स्थितो गुणीति सर्वजनताधिगम्यो भवति । अज्ञातगणविशेषाश्च दान न प्रयच्छति । ततो न स्याच्छरीरस्थिति । असत्या तस्या रत्नत्रयभावनाप्रकर्ष क्रमेणोपचीयमानो न स्यात् । विना त न मुक्तिरित्यभिलषितकार्यसिद्धिरेव न स्यात् । गुणवत्ताया. सूचन लिंग भवति । ततो दानादिपर-परया कार्यसिद्धिर्भवतीति भाव' । अथवा यात्राशब्दो गतिवचन । यथा देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम् । गति-सामान्यवचनादप्यय शिवगतावेव वर्तते, दारक पश्यसीति यथा । यात्राया शिवगते साधनं रत्नत्रय तस्य **चिह्नकरणं** ध्वजकरण ।

'**जगपच्चयादठिदिकरणं**' जगच्छब्दोऽन्यत्र चेतनाचेतनद्रव्यमहतिवचनो '**जगन्नैकावस्थ युगपदखिलानंत विषयम्**' इत्येवमादौ । इह प्राणिविशेषवृत्ति । यथा—'**अर्हतस्त्रिजगद्दयान्**' इति । प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थ । क्वचिज्ज्ञाने वर्तते यथा 'घटस्य प्रत्ययो' घटज्ञान इति यावत् । तथा कारणवचनोऽपि 'मिथ्यात्वप्रत्ययोऽनत ससार' इति गदिते मिथ्यात्वहेतुक इति प्रतीयते । तथा श्रद्धावचनोऽपि 'अय अत्रास्य प्रत्यय ' श्रद्धेति गम्यते । इहापि श्रद्धावृत्तिः । जगत श्रद्धेति । ननु श्रद्धा प्राणिधर्म' अचेलतादिक शरीरधर्मो लिगम् । तत्किमुच्यते '**लिंगं**

है तो पुरुषोकी तरह वस्त्र त्याग नही करती ॥८०॥

जो योग्य होता है उसके रत्नत्रयकी भावनाका प्रकर्ष होने पर मरण हो जाता है तब लिग का कथन करनेकी क्या आवश्यकता है । इसका उत्तर देते है—

गा०—यात्राके साधन चिह्नका करना, जगतकी श्रद्धा, अपनेको स्थिर करना और गृह-स्थतासे भिन्नता, ये चार लिग ग्रहण करनेमे गुण होते है ॥ ८१ ॥

टी०—यात्राका अर्थ है शरीरकी स्थितिमे कारण भोजन करना । उसका साधन जो लिग है उसका करना लिग धारण करनेका पहला गुण है, क्योकि जो ग्रहस्थके वेषमे रहता है उसे सारी जनता गुणी नही मानती और उसके बिना भोजन नही मिलता । और ऐसी स्थितिमे इच्छित कार्यकी सिद्धि नही होती । अत लिग गुणवत्ताका सूचक होता है । और उससे दान आदिकी परम्परासे कार्यकी सिद्धि होती है । अथवा यात्रा शब्द गतिवाचक है । जैसे देवदत्तका यह यात्रा-काल है । इस गति सामान्यका वाचक होनेपर भी यहाँ यात्रा शब्द मोक्ष गतिमे ही लिया गया है । अत यात्रा अर्थात् मुक्ति गतिका साधन जो रत्नत्रय है उसका चिह्नकरण अर्थात् ध्वजा फह-राने रूप लिग होता है । अन्यत्र जगत शब्द चेतन और अचेतन द्रव्योके समुदायका वाचक है । जैसे 'एक साथ अनन्त विषयोको लिये हुए जगत एक अवस्था वाला नही है' इत्यादि वाक्यमे जगतका उक्त अर्थ लिया गया है । किन्तु यहाँ जगतका अर्थ प्राणि विशेष है । जैसे 'तीनो जगतके द्वारा वन्दनीय अर्हन्त' इस वाक्यमे जगतका अर्थ प्राणि विशेष है । प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं । कहीं ज्ञानके अर्थमे है जैसे घटका प्रत्यय अर्थात् घटका ज्ञान । तथा प्रत्यय शब्द कारण वाचक भी है । जैसे अनन्त ससारका प्रत्यय मिथ्यात्व है' ऐसा कहने पर मिथ्यात्व हेतुक अनन्त ससार है ऐसा ज्ञान होता है । तथा प्रत्यय शब्द श्रद्धावाचक भी है । जैसे 'इसका इसमे प्रत्यय है', यहाँ

जगत्प्रत्यय' इति । सकलसंगपरिहारो मार्गो मुक्ते इत्यत्र भव्यानां श्रद्धां जनयति लिंगमिति जगत्प्रत्यय इत्यभिहितं । न चेत्सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तिलिंगं किमिति नियोगतोऽनुष्ठीयते इति ।

'**आदिठिदिकरणं**' आत्मनः स्वस्य अस्थिरस्य स्थिरतापादनं । क्व ? मुक्तिवर्त्मनि व्रजने । किं मम परित्यक्तवसनस्य रागेण, रोषेण, मानेन, मायया, लोभेन वा । वसनाग्रेसरा सर्वा लोकेऽलंक्रिया. तच्च निरस्तं । को मम रागस्यावसर इति । तथा परिग्रहो निबंधनं कोपस्य । तथा हि—पित्रा सुतो युध्यते धनार्थितया ममेदं भवति तवेदमिति । तत्किमनेन स्वजनवैरिणा रिक्थेन, [1]लोभ, माया सपाद्य, दुर्गति च वर्द्धयता इति सकलं परित्यक्तो वसनपुरःसरः परिग्रहो रोषविजितये । हसंति च मां परे साधवो रोषमुपयातं । क्वेयमवसनता मुमुक्षोः क्वायमस्य कोपहुताशनः ज्ञानजलसेकपरिवृद्धतपोवनविनाशनबद्धविभ्रम इति । तथा च मायां धनार्थिभिः प्रयुज्यते सा च तिर्यग्गतिं प्रापयतीति भीत्या मायोन्मूलनार्थमेवेदमनुष्ठितं । '**गिहिभावविवेगोवि**' य गृहित्वात्पृथग्भावो दर्शितो भवति ॥८१॥

गंथच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्तं च ।
संसज्जणपरिहारो परिकम्मविवज्जणा चेव ॥८२॥

'**गथच्चागो**' परिग्रहत्याग । '**लाघव**' हृदयसमारोपितशैल इव भवति परिग्रहवान् । कथमिदमन्येभ्यश्चौरादिभ्य पालयामि इति दुर्धरचित्तखेदविगमाल्लघुता भवति ।

प्रत्ययसे श्रद्धाका बोध होता है । यहाँ भी प्रत्ययका अर्थ श्रद्धा है । जगतकी श्रद्धा ।

शङ्का—श्रद्धा प्राणिका धर्म है । और अचेलता आदि लिंग शरीरका धर्म है । तब आप कैसे कहते है—लिंग जगत प्रत्यय है ?

समाधान—'समस्त परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है' इसमे लिंग भव्यजीवोकी श्रद्धा उत्पन्न करता है इसलिये लिंगको जगत प्रत्यय कहा है । यदि सकल परिग्रहका त्याग मुक्तिका लिंग न हो तो क्यो उसे नियमपूर्वक किया जायगा । 'आदठिदिकरण' का अर्थ है अपनी अस्थिर आत्माको स्थिर करना । किसमे ? मुक्तिके मार्गमे चलनेमे । जब मैंने वस्त्र ही त्याग दिया तो मुझे राग, रोष, मान, माया, लोभसे क्या प्रयोजन ? लोकमे सब अलंकरण वस्त्रमूलक होते है । वह मैने त्याग दिया तो मुझे रागसे क्या प्रयोजन । तथा परिग्रह क्रोधका कारण है । देखो, धनकी अभिलाषासे पुत्र पितासे लडता है यह मेरा है यह तेरा है । तब अपने परिवारके वैरी इस धनसे क्या ? यह लोभ और मायाको उत्पन्न करके दुर्गतिको बढाता है । इसीसे रोषको जीतनेके लिये मैने वस्त्रपूर्वक सब परिग्रहका त्याग कर दिया । जब मुझे रोष होता है तो दूसरे साधु मुझपर हँसते है । कहाँ मुमुक्षुकी यह नग्नता और कहाँ क्रोधरूपी अग्नि । यह तो ज्ञानरूपी जलके सिंचनसे फले-फूले तपोवनको नष्ट करने वाला है । तथा धनके इच्छुक मायाचार करते है । वह तिर्यञ्च गतिमे ले जाता है इस भयसे मायाका उन्मूलन करनेके लिये ही मैने यह लिंग धारण किया है । तथा लिंग ग्रहण करनेसे गृहस्थपनेसे भिन्नता दीखती है ॥ ८१ ॥

गा०—परिग्रहत्याग लाघव अप्रतिलेखन और भय रहितपना, सम्मूर्छन जीवोका बचाव और परिकर्मका त्याग ये गुण लिंगमे होते है ॥८२॥

---

१. लोभ आयास पाप दुर्गति—आ० मु० ।

'अप्पडिलिहणं' वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखडादिक शोधनीय महत् । इतरस्य पिच्छादिमात्र ।

'परिकम्मविवज्जणा चेव' याचनसीवनशोषणप्रक्षालनादिरनेको हि व्यापार स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी अचेलस्य तन्न तथेति परिकर्मविर्जनं ।

'गदभयत्तं' भयरहितता । भयव्याकुलितचित्तस्य न हि रत्नत्रयघटनायामुद्योगो भवति । सवसनो यतिर्वस्त्रेषु यूकालिक्षादिसम्मूर्छनजजीवपरिहार न विधातु अर्ह ।[1] अचेलस्तु त परिहरतीत्यत्ह– **'ससज्जणं परिहारो'** इति ।

'परिसहअधिवासणा चेव' । शीतोष्णदशमशकादिपरीषहजयो युज्यते नग्नस्य । वसनाच्छादनवतो न शीतादिबाधा येन तत्सहनपरीषहजय स्यात् । पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थ परिषोढव्या परीषहा इति वचनान्निर्जरा-थिभि. परिषोढव्या परीषहा ॥८२॥

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु ।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥८३॥

'विस्सासकरं रूवं' विश्वासकारि जनाना रूप अचेलतात्मक । एव अमगा नैतेऽन्यद्गृह्णन्ति नापि परोपघातकारि शस्त्रग्रहण प्रच्छन्नमात्र सभाव्यते । विरूपेषु चामाषु नास्मदीया स्त्रियो रागमनुबध्नतीति विश्वास ॥

टी०—लिग ग्रहणका एक गुण परिग्रहका त्याग है । दूसरा गुण लाघव है क्योकि परिग्रह-वान ऐसा होता है मानो छाती पर पहाड रखा है । कैसे अन्य चौर आदिसे इस परिग्रहकी रक्षा करूँ इस प्रकार चित्तसे बडे भारी खेदके चले जानेसे लाघव होता है । जो वस्त्र सहित मुनि लिग धारण करते है उन्हे वस्त्रो आदिका शोधन करना पडता है किन्तु वस्त्र रहित साधुको तो केवल पीछी आदिका ही शोधन करना होता है अत अप्रतिलेखना भी एक गुण है । वस्त्रधारीको मागना, सीना, धोना, सुखाना आदि अनेक काम करना होते हैं जिनसे स्वाध्याय और ध्यानमे विघ्न होता है । किन्तु वस्त्र रहित साधुके ये सब नही होता अत परिकर्मका न होना भी एक गुण है । जिसका चित्त भयसे व्याकुल रहता है वह रत्नत्रयके साधनमें उद्योग नही करता । अत परिग्रहके त्यागसे भय नही रहता । तथा वस्त्र सहित साधु वस्त्रोंमे जूँ लीख आदि सम्मूर्छन जीवोका बचाव नही कर सकता । किन्तु वस्त्र रहित साधु इनसे बचा रहता है अत. ससज्जण परिहार भी एक गुण है । तथा नग्न मुनि शीत, उष्ण, डासमच्छर आदि की परीषहको जीतता है । जो वस्त्र ओढे हैं उसे शीतादिकी बाधा नही होती । तब उसको सहना रूप परीषहजय कैसे सभव है ? तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है कि पूर्वग्रहीत कर्मोंकी निर्जराके लिये परीषहोको सहना चाहिये ॥८२॥

गा०—वस्त्र रहित रूप जनतामे विश्वास पैदा करने वाला होता है विषयसे होने वाले शारीरिक सुखमें अनादर भाव होता है । सर्वत्र स्वाधीनता रहती है और परीषहको सहना होता है ॥८३॥

---

१. अर्हति आ० गु० ।

'अणादरो विसयदेहसुक्खेसु' विषयजनितेषु शरीरसुखेषु प्रेताकारस्य किं मम वामलोचनाविलोकितेन, तासा कलगीतश्रवणेन, ताभिर्जुगुप्सनीयशरीरस्य का वा रतिक्रीडेति भावना चैवानादर । अथवा शरीरसुखे विषयसुखे चानादरः । विषयसुखव्यतिरेकेण न शरीरसुख, नाम किंचिदिति चेद्—शारीरदु:खाभावः शरीर-सुख, इद्रियविषयसन्निधानजनिता प्रीतिर्विषयसुखमिति महाननयोर्भेदः ।

'सव्वत्थ' सर्वस्मिन्देशे । **'अप्पवसदा'** आत्मवशता । स्वेच्छया आस्ते, गच्छति; शेते वा । इहासनादि-करणे इद मम विनश्यति वस्त्विति तदनुरोधकृता परतत्रता नास्ति सयतस्य । परिग्रहविनाशभीरुरात्मनोऽ-योग्येऽपि स्थाने उद्गमादिदोषोपहते प्राणिसयमविनाशकारिणि वा आसनस्थानशयनादिक सपादयति । त्रस-स्थावरबाधामावहता वर्त्मना वा व्रजति । एतद्दोषपरिहारोऽग्रन्थस्य भवति ॥

'परिसह अधियासणा चेव' पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थिना यतिना सोढव्या परीषहा नियोगेन क्षुधादयो बाधाविशेषा द्वाविंशतिप्रकारा । तत्राय सामान्यवचनोऽपि परीषहशब्द प्रकरणादचलाख्यात्तदनुरूपपरीषह-वृत्तिर्ग्राह्य । तेन नाग्न्यशीतोष्णदशमशकपरीषहसहनमिह कथित भवति । सचेलस्य हि सप्रावरणस्य न तादृशी शीतोष्णदशमशकजनिता पीडा यथा अचेलस्येति मन्यते ॥८३॥

अचेलताया गुणान्तरसूचनाय गाथा—

जिणपडिरूवं विरियायारो रागादिदोसपरिहरणं ।
इच्चेवमादिबहुगा अच्चेलक्के गुणा होंति ॥८४॥

टी०—नग्न मुनिको देखकर लोग सोचते है—ये तो परिग्रह रहित है, ये कुछ ग्रहण नही करते । ये परका घात करने वाले शास्त्र आदि भी छिपाकर नही रख सकते । ये तो विरूप है इनमे हमारी स्त्रियाँ भी राग नही कर सकती । इस प्रकारका विश्वास पैदा होता है । मेरा रूप तो प्रेतके समान है मुझे स्त्रियोंको ताकने, और उनके मनोहर गीतोको सुननेसे क्या प्रयोजन ? अथवा इस ग्लानिभरे शरीरका उनके साथ कैसी रति क्रीडा । इस प्रकारकी भावना शारीरिक सुखमे अनादर है । अथवा शरीर सुख और विषय सुखमे अनादर ऐसा अर्थ भी होता है ।

शङ्का—विषयसुखसे भिन्न शारीरिक सुख नही है ?

समाधान—शारीरिक दु खके अभावको शरीर सुख कहते हैं और इन्द्रियोके विषयोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुई प्रीति विषय सुख है । इन दोनोंमे महान् अन्तर है ।

सब देशमे आत्माधीनता रहती है । अपनी इच्छानुसार बैठता है, जाता है, सोता है । यहाँ आसन आदि करनेपर मेरा यह नुकसान होगा, इस प्रकार की परतत्रता साधुके नही होती । परिग्रहके नाशके भयसे परिग्रही साधु उद्गम आदि दोषोंसे युक्त और प्राणिसंयमका विनाश करने वाले अयोग्य स्थानमे भी आसन, स्थान शयन आदि करता है । अथवा त्रस और स्थावर जीवो-को बाधा पहुँचाने वाले मार्गसे गमन करता है । किन्तु परिग्रह रहित साधु इन दोषोसे बचा रहता है । साधुको पूर्व सचित कर्मोंके निर्जराके लिये नियमसे भूख प्यासकी बाधा आदि रूप बाईस परीषहोंको सहना चाहिये । यहाँ यह परीषह शब्द यद्यपि सामान्यवाची है फिर भी प्रकरणवश अचेलताका प्रकरण होनेसे उसके अनुरूप परीषह ग्रहण करना चाहिये । अतः यहाँ नाग्न्य, शीत, उष्ण, और दशमशक परीषहोंका सहन कहा है । जो साधु सवस्त्र है कपडा ओढे हुए हैं-उन्हे शीत उष्ण और डासमच्छरसे होने वाली वैसी पीड़ा नही होती जैसी वस्त्र रहितको होती है ॥८३॥

'जिणपडिरूवं' जिनाना प्रतिबिबं चेद अचेललिग । ते हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्गृहीतवन्तो लिंगं तदेव तदर्थिना योग्यमित्यभिप्राय । यो हि यदर्थी विवेकवान् नासौ तदनुपायमादत्ते यथा घटार्थी [1]तुरिवेमादी-न्मुक्त्यर्थी च यतिर्न चेल गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात् । यच्चात्मनोऽभिप्रेतस्योपायस्तन्नियोगत उपादत्ते यथा चक्रादिक तथा यतिरपि अचेलता । तदुपायता च अचेलताया जिनाचरणादेव ज्ञानदर्शनयोरिव ।

'विरियायारो' वीर्यांतरायक्षयोपशमजनितसामर्थ्यपरिणामो वीर्य, तदविगूहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्वीर्याचार । स च पचविधेष्वाचारेष्वेक स च प्रवर्तितो भवति । अचेलतामुद्वहताऽशक्यचेलपरित्यागस्य कृतत्वात् । परिग्रहत्यागो हि पचम व्रत तन्नाचरित भवेत् शक्तोऽपि यदि न परिहरेत् ।

'रागादिदोसपरिहरणं' । लाभे रागोऽलाभे कोप । लब्धे ममेदभावलक्षणो मोह । अथवा मृदुत्वं दार्ढ्यमित्येवमादिषु वसनाच्छादनगुणेषु रागोऽमृदुस्पर्शनादिषु द्वेष इत्येषा परिहार । **'इच्चेवमादि'** इत्येवमादय **'बहुगा'** महान्त महाफलतया **अच्चेलक्के** अचेलताया सत्या **'गुणा होंति'** गुणा भवन्ति । याचादीनता रक्षा सक्लेशादिपरिहारा आदिशब्देन गृहीता ॥८४॥

अचेलताके अन्य गुणोका सूचन करते है—

गा०—यह अचेलता जिन भगवानका प्रतिरूप है । वीर्याचारका प्रवर्तक है । रागादि दोषोको दूर करती है । इत्यादि बहुतसे गुण अचेलतामे होते है ॥८४॥

टी०—जिण पडिरूव—यह अचेललिग जिन देवोका प्रतिबिम्ब है अर्थात जिन देवोने जो लिग ग्रहण किया था मुक्तिके लिये वही लिग मुक्तिके अभिलाषियोके योग्य है । क्योकि जिनदेव मुमुक्षु थे मुक्तिका उपाय जानते थे । जो जिस वस्तुका प्रार्थी होता है और विवेकशील होता है वह उस वस्तुके जो उपाय नही है उन्हे ग्रहण नही करता । जैसे घट बनानेका इच्छुक कपडा बुननेके साधन तुरि आदिको ग्रहण नही करता । इसी तरह मुक्तिका इच्छुक साधु वस्त्र ग्रहण नही करता क्योकि । वस्त्र मुक्तिका उपाय नही है । और जो अपनेको इष्ट वस्तुका उपाय होता है उसे नियमसे ग्रहण करता है । जैसे घटका अर्थी चाक आदिको अवश्य ग्रहण करता है । उसी तरह साधु भी अचेलताको ग्रहण करता है और अचेलता ज्ञान और दर्शनकी तरह मुक्तिका उपाय है यह जिन भगवानके आचरणसे सिद्ध है ! वीरियायारो—वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए सामर्थ्यरूप परिणामको वीर्य कहते है । उसको न छिपाते हुए रत्नत्रयके पालन करनेको वीर्याचार कहते है । पाँच प्रकारके आचारोमेसे एक वीर्याचार है उसका पालन होता है क्योकि अचेलताके धारणसे जो वस्त्रत्याग अशक्य है वह हो जाता है । परिग्रहका त्याग पाँचवा व्रत है । शक्ति होते हुए भी यदि परिग्रहका त्याग न करे तो वह पाँचवाँ व्रत नही रहता ।

रागदिदोस परिहरण—लाभसे राग होता है, लाभ न होने पर क्रोध आता है । जो प्राप्त होता है उसमे 'यह मेरा है' इस प्रकारका मोह होता है । अथवा ओढने पहिरनेके वस्त्रोके कोमलता मजबूती आदि गुणोमे राग होता है और कठोर स्पर्शन आदिमे द्वेष होता है । वस्त्र त्याग देनेपर ये रागादि दोष नही होते । इस प्रकार अचेलतामे महाफलदायक महान गुण होते है । आदि शब्दसे मागना, दीनता, आदिसे रक्षा होती है और संक्लेश आदि नही होते ॥८४॥

---

१. ततुरित्येवमा—आ० मु० ।

पुनरप्यचेलतामाहात्म्यं सूचयत्युत्तरगाथा—

इय सव्वसमिदकरणो ठाणासणसयणगमणकिरियासु ।
णिगिणं गुत्तिमुवगदो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ ८५ ॥

'**इय**' एव अवमनतया । '**सव्वसमिदकरणो**' सम्यगितानि प्रवृत्तानि समितानि, क्रियते रूपाद्युपयोग एभिरिति करणानि इद्रियाणि, समितानि च तानि करणानि च समितकरणानि, सर्वाणि च तानि समितकरणानि च सर्वसामतकरणानि, सर्वसमितकरणान्यस्येति सर्वसमितकरण । रागद्वेषरहिता भावेन्द्रियाणा प्रवृत्ति समीचीना तस्याश्च अ ेलता निबधन । रागादिविजयाय गृहितासगत्वात्कथमिव रागादौ प्रेक्षावान्यतते ॥८५॥

'**ठाणासणसयणगमणकिरियासु**' एकपादसमपादादिका स्थानक्रिया, उत्कटासनादिका आसनक्रिया, दडायतशयनादिका शयनक्रिया । सूर्याभिमुखगमनादिका गमनक्रिया । एतासु । '**पग्गहिददरं**' प्रगृहीततर । '**परक्कमदि**' चेष्टते । क ? निगिण नग्नता । '**गुत्ति**' गुप्ति । '**उवगदो**' उपगत प्रतिपन्न । कृतवसनत्यागस्य शरीरे नि स्पृहस्य मम किं शरीरतर्पणेन तपसा निर्जरामेव कर्तु मुत्सहते इति तपसि यतते इति भाव ॥८५॥

अपवादलिंगमुपगत किमु न शुद्ध्यत्येवेत्याशकाया तस्यापि शुद्धिरनेन क्रमेण भवतीत्याचष्टे—

अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य ।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥ ८६ ॥

आगेकी गाथासे फिर भी अचेलताका माहात्म्य सूचित करते है—

गा०—इस प्रकार, नग्नता और गुप्तिको धारण करनेवाला सब इष्ट अनिष्ट विषयोंमे अपनी इन्द्रियोको रागद्वेषसे रहित करता है। और स्थान, आसन, शयन, गमन आदि क्रियाओमे प्रग्रहीततर अर्थात् सुदृढरूपसे चेष्टा करता है ॥८५॥

टी०—सव्वसमिदकरणानि–सम्यक्‌रूपसे 'इत' अर्थात् प्रवृत्तको समित कहते हैं। और जिनसे रूपादिका जानना देखना किया जाये उसे करण कहते है। करणका अर्थ इन्द्रिय है। जिसकी सब इन्द्रिया समित्त है वह सर्वसमितकरण है। भावेन्द्रियोकी रागद्वेषसे रहित समीचीन प्रवृत्तिमे कारण अचेलता है। जिस विचारशील बुद्धिमान व्यक्तिने रागादिको जीतनेके लिए असगताको स्वीकार किया है वह रागादिमे कैसे यत्नशील हो सकता है।

एक पैरसे या दोनो पैरोको सम करके खडे होना स्थान क्रिया है उत्कटासन आदि आसन क्रिया है। दण्डके समान एकदम सीधा सोना आदि शयन क्रिया है। सूर्यकी ओर अभिमुख होकर चलना गमन क्रिया है। जिसने वस्त्र त्याग दिया है और शरीरसे निस्पृह है वह 'मुझे शरीरके पोषणसे क्या' ऐसा विचारकर तपके द्वारा निर्जरा करनेमे ही उत्साहित होता है। यह उक्त कथनका भाव है ॥८५॥

अचेल समाप्त हुआ।

क्या अपवादलिंगका धारी शुद्ध नही ही होता ? इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि उसकी शुद्धि भी इस क्रमसे होती है—

गा०—अपवादलिंगमे स्थित होते हुए भी अपनी शक्तिको न छिपाते हुए और निन्दा गर्हा करते हुए परिग्रहका त्याग करनेपर शुद्ध होता है ॥८६॥

अववादियलिंगकदो वि' अपवादलिगस्थोऽपि । करोति स्थानार्थवृत्तिरिह परिगृहीत. । तथा च प्रयोग' एवं च कृत्वा एवं च स्थित्वेत्यर्थ । **'सुज्झदि'** शुध्यति च । कर्ममलापायेन शुद्धयति । कीदृक् सन् यः स्वां **'सत्ति'** शक्ति । **'अगूहमाणो'** अगूहमान सन् । **'उवधि'** परिग्रह । **'परिहरंतो'** परित्यजन् योगत्रयेण । **'णिंदणगरहणजुत्तो'** सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गो मया तु पातकेन वस्त्रपात्रादिक. परिग्रह परीषहभीरुणा गृहीत इत्यत सतापो निंदा । गर्हा परेषा एव कथनं । ताभ्या युक्त निंदागर्हाक्रियापरिणत. इति यावत् । एवमचेलता व्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता ॥८६॥

केशलोचाकरणे के दोपा यान्परिहर्त्तु' लोचोऽनुष्ठीयते इत्यारेकाया दोषप्रतिपादनायोत्तर गाथाद्वयम्—

केसा संसज्जति हु णिप्पडिकारस्स दुपरिहारा य ।
सयणादिसु ते जीवा दिट्ठा आगंतुया य तहा ॥ ८७ ॥

'केसा' केशा । **'संसज्जंति खु'** खुशब्द एवकारार्थ । यूकालिक्षोत्पत्तेराधारभावमुपव्रजन्त्येव **कस्य** केशा. ? **'णिप्पडियारस्स'** निष्क्रान्त प्रतीकारात् निष्प्रतीकार । प्रतीकारशब्द सामान्यवचनोऽपि ससजनस्य प्रकृतत्वात् संसजनप्रतिकार एव वृत्तो गृह्यते । तैलाभ्यगगधादिप्रक्षेपजलप्रक्षालनादिक्रियामकुर्वत इत्यर्थ । ते च सम्मूर्च्छनामुपगताजीवा यूकादय । **'दुःपरिहारा य'** दु खेन परिह्रियन्ते । क्व ? **'सयणादिसु'** शयन[1]आतपगमन, शिरसा कस्यचिदवष्टभन । निद्रामुद्रितलोचनस्य पतन परवशस्य सत आदिशब्देन गृह्यते । बाधा

टी०—'अववादियलिंगकदो' मे 'कद' जिस 'करोति' धातुसे बना है उसका अर्थ यहाँ स्थान लिया है । जैसे 'ऐसा करके' का अर्थ इस प्रकार स्थिर करके होता है । अत अपवादलिंगमे स्थित भी कर्ममलको दूर करके शुद्ध होता है । किस प्रकार होता है ? अपनी शक्तिको न छिपाकर मन-वचनकायसे परिग्रहका त्याग करनेपर होता है । तथा, समस्त परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है, मुझ पापीने परीषहसे डरकर वस्त्र पात्र आदि परिग्रह स्वीकार किया । इस प्रकारके अन्त.सन्तापको निन्दा कहते है । दूसरोसे ऐसा कहना गर्हा है । उनसे युक्त होनेपर अर्थात् अपनी निन्दा गर्हा करनेपर शुद्ध होता है । इस प्रकार जिस अचेलताके गुणोका वर्णन ऊपर किया गया है उसे मूलरूपमे स्वीकार किया है ॥८६॥

केशलोच न करनेमे क्या दोष है जिन्हे दूर करनेके लिए लोच किया जाता है ? इस शङ्काके उत्तरमे दो गाथाओसे दोषोको कहते है—

गा०—प्रतीकार न करनेवालेके केश जूँ आदि सम्मूर्छन जीवोके आधार होते है । और वे सम्मूर्छन जीव शयन आदिमे दुष्परिहार होते है । तथा अन्यत्रसे आते हुए भी कीट आदि देखे गये है ॥८७॥

टी०—'ससज्जति खु' मे खु शब्दका अर्थ एवकार है । अत निष्प्रतीकारके केश जू लीख आदिकी उत्पत्तिके आधार होते ही है । जो प्रतीकारसे रहित है वह निष्प्रतीकार है । यद्यपि प्रतीकार शब्द सामान्य प्रतीकारका वाचक है । फिर भी ससजनका प्रकरण होनेसे ससजन सम्बन्धी प्रतिकार लिया जाता है । उसका अर्थ होता है कि जो बालोमे तेल मर्दन नही करता, सुगन्धित वस्तु नही लगाता, उन्हे पानीसे नही धोता उसके केशोंमे सम्मूर्छन जू आदि उत्पन्न हो जाते है और साधुके सोनेपर, धूपमे जानेपर, सिरसे किसीके टकरानेपर उन जीवोको बाधा

[1] शय्योपगमनं आ० मु० ।

जीवेभ्य कथंचिदन्यदेशकालस्वभावभेदात् । तत बाधाया दुष्परिहाराया जीवा एव दुष्परिहारा एव भवतीति मन्यते । अन्यथा हस्तेनापनेतु शक्या कथ दुष्परिहारा स्यु । न केवल तत्रोत्पन्ना एव दुष्परिहारास्तथा तेनैव प्रकारेण जीवा **'आगंतुका य'** अन्यत आगताश्च कीटादयश्च । एतेन हिंसादोष आख्यात ॥८७॥

जूगाहि य लिक्खाहि य बाधिज्जंतस्स संकिलेसो य।
संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो ॥ ८८ ॥

जूगाहि य यूकाभिश्च । **लिक्खाहि य** लिक्षाभिश्च । **'बाधिज्जंतस्स'** बाध्यमानस्य यते **संकिलेसो य** संक्लेशश्च जायते इति शेष । स च क्लेशोऽशुभपरिणाम पापास्रव पूर्वोपात्तकर्मपुद्गलरसाभिवर्द्धननिपुण । अथवा **बाधिज्जंतस्स** भक्ष्यमाणस्य **संकिलेसो** य दु ख वा । तथा चोक्त—क्लिशू विबाधने इति । एतेनात्मविराधनादोष सूचित । अथ तद्भक्षणे असहमान कडूयति तत्र दोषमाह—**'संघट्टिज्जंति य'** सघट्यते ते यूकादय । आगतुकाश्च **'कंडूयणे'** कडूकरणे । **'तेण'** तेन दोषेण हेतुनासौ आगमदृष्ट **'लोचो'** लोच क्रियते इति शेष । प्रदक्षिणावर्त केशश्मश्रुविषय हस्तागुलीभिरेव सपाद्य द्वित्रिचतुर्मासगोचर ॥८८॥

एव लोचाकरणे दोषानुद्भाव्य लोचे गुणख्यापनाय गाथात्रयमुत्तरम्—

लोचकदे मुंडत्तं मुंडत्ते होइ णिव्वियारत्तं ।
तो णिव्वियारकरणो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥८९॥

पहुँचती है। बाधाका मतलब है कि भिन्न देश, भिन्नकाल और भिन्न स्वभाव होनेसे जीवोसे जीवोको बाधा पहुँचती है। उस बाधाको दूर करना अशक्य जैसा है। जब बाधा ही दुष्परिहार है तो उन जीवोको दूर करना भी दुष्परिहार है, क्योकि यदि बाधा पहुँचनेकी बात न होती तो उन्हे हाथसे निकाला जा सकता था। तथा जो जीव केशोमे उत्पन्न होते है वे ही दुष्परिहार नही है, अन्यत्रसे आकर भी कीटादि बालोंमे घुस जाते है उन्हे भी दूर करना कठिन होता है। इस तरहसे केशलोच न करनेमे हिंसादि दोष कहे है ॥८७॥

गा०—जु से और लीखोसे पीडित साधुके सक्लेश उत्पन्न होता है। खुजाने पर वे जूं आदि पीडित होते है इस कारणसे वह केशलोच किया जाता है ॥ ८८ ॥

टी०—जू और लीख जब साधूको बाधा पहुँचाती है तो साधुको सक्लेश होता है। वह सक्लेश अशुभ परिणाम रूप होनेसे पापास्रवका कारण है। उससे पूर्वबद्ध कर्म पुद्गलोके अनुभाग रसमे वृद्धि होती है। अथवा 'बाधिज्जत'का अर्थ खाना या काटना है' उनके काटने पर यदि साधु खुजाता है तो वे जू आदि पीडित होते है इस दोषके कारण आगममे कहा लोच करते हैं। यह लोच सिर और दाढीके बालोका हाथकी अँगुलियोके द्वारा दो, तीन या चार मासमे प्रदक्षिणा के रूपमे अर्थात् दाहिनी ओरसे बायी ओर किया जाता है ॥ ८८ ॥

इस प्रकार लोचके न करनेमे दोष बतलाकर लोचमे गुणोका कथन तीन गाथाओ द्वारा करते है—

गा०—लोच करने पर सिर मुण्डा हो जाता है। मुण्डताके होने पर निर्विकारता होती है। उससे विकार रहित क्रियाशील होनेसे प्रगृहीततर चेष्टा करता है ॥ ८९ ॥

'**लोयकदो**' लोचे कृत स्थित लोचकृत सप्तमीति योगविभागात्समास । तस्मिन् लोचे कृते । **लोच-स्थिते** इति केचिन् । अन्ये तु वदन्ति **लोयगदे** इति पठत लोच गत प्राप्त लोचगत तस्मिन्निति । अथवा कृतशब्दो भावसाधन तत सल्लक्षणा सप्तमी लोच एव कृत तस्मिन् । लोचक्रियाया सत्या । **मुंडत्तं** मुड-शिरस्कता नाम भवति । न मुडशिरस्कता मुक्त्युपायो गुणोऽरत्नत्रयत्वादसत्याभिधानवत्, तत्किमुक्तेनानेनानुप-योगिना गुणेनेत्याशकाया आह—'**मुंडत्ते होदि णिव्वियारत्तं**' इति । '**मुंडत्ते**' मुडताया सत्या । '**होदि**' भवति । '**णिव्वियारत्तं**' निर्विकारता । विकारो विक्रिया सलीलगमनश्रृ गारकथाकटाक्षेक्षणादिक । तस्मान्निष्क्रान्त तत्राप्रवृत्त निर्विकार तस्य भाव निर्विकारता । निर्विकारो भवति इति यावत् । '**तो**' तत '**णिव्वियारकरणो**' विकाररहितक्रिय । '**पग्गहिददर**' प्रगृहीततर । '**परक्कमदि**' चेष्टते करणत्रये इति शेष । रत्नत्रयोद्योगे परपरया लोचस्योपयोग समाख्यातोऽनया गाथया । नग्नस्य मुडस्य मम सविभ्रम गमनादिक जनो दृष्ट्वा हसति, शोभते तरामियमस्य विलासिता षडकस्य वामलोचनाविलास इवेति मन्यमानो निरस्तविकारो **मुक्तये केवल घटते** इत्यभिप्राय ॥८९॥

अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि ।
साधीणदा य णिद्दोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥९०॥

'**अप्पा**' आत्मा । '**दमिदो होदि**' वशीकृतो भवति । कस्य ? आत्मन एव । केन करणेन ? '**लोएण**' केशोत्पाटनेन । दु खभावनया निगृहीतदर्प सर्व एव शातो भवति यथा वलीवर्दादिरिति मन्यते ।

टी०—लोचमे कृत अर्थात् स्थित लोचकृत है। दोनोका योगविभाग करके सप्तमी समासमे अर्थ होता है—लोच करने पर। कोई 'लोचमे स्थित होने पर' ऐसा अर्थ करते है। अन्य 'लोय-गदे' ऐसा पाठ रखते है। वे अर्थ करते है लोचको प्राप्त होने पर। अथवा कृत शब्द भावसाधन है। तब सप्तमीका अर्थ सत् होता है अर्थात् लोच क्रिया होने पर। मुण्डित होता है—सिर मुड जाता है।

शङ्का—सिर मुण्डन मुक्तिका उपाय नही है क्योकि वह रत्नत्रय रूप नही है जैसे असत्य बोलना। तब इस अनुपयोगी गुणके कहनेसे क्या लाभ ?

समाधान—इसके उत्तरमे कहते है कि मुण्डन होने पर निर्विकारता होती है। लीला सहित गमन, श्रृ गार कथा, कटाक्ष द्वारा निरीक्षण ये सब विकार है जो ये सब नही करता वह निर्वि-कार होता है। और जिसकी चेष्टाएं विकार रहित होती है वह रत्नत्रयमे उद्योग करता है।

इस गाथासे परम्परासे लोचका उपयोग कहा है। मै नग्न और मुण्डे सिर हूँ मेरा विलास-पूर्ण गमन आदि देखकर लोग हँसते हैं कि नपुसकके स्त्री विलासकी तरह इसकी विलासिता कैसी शोभती है ? ऐसा मान, विकारको दूरकर वह केवल मुक्तिके लिये प्रयत्न करता है, यह इस गाथा-का अभिप्राय है ॥ ८९ ॥

गा०—केशलोचसे आत्मा दमित होता है और सुखमे आसक्त नही होता है। और स्वाधीनता निर्दोषता और निर्ममत्व होता है ॥ ९० ॥

टी०—केश उपाडनेसे आत्मा आत्माके वशमे होता है। जैसे बैल वगैरह दु:ख देनेसे शान्त हो जाते हैं वैसे ही दु:ख भावनासे मदका निग्रह होने पर सभी शान्त हो जाते हैं। सुखमें आसक्त

'**सुखे य**' सुखे च । '**संगं**' आसक्तता नोपयाति । सुखमेव सुखलपट करोति जन । दु खेऽन्तर्भाव्यमाने सुखासक्तिर्हन्यते[1] सुखोपयोगमूलात्तदभावात् । बीजाभावेऽङ्कुर इव । इन्द्रियसुख वाऽत्र सुखशब्देनोच्यते तत्रासक्तो हिंसादिषु प्रवर्तते । तेन परिग्रहारभमूलात्सुखासगाद्व्यावृत्ति सवर एवेति मुक्तेर्भवत्युपाय । अभिनवास्रवनिरोधमतरेण का नाम निर्जरा ? तस्या वाऽसत्या का मुक्तिरिति भाव ।

'**साधीणदा य**' स्ववशता च । केशासक्तो हि जनोऽवश्य शिरोम्रक्षणे, सम्मर्दने, प्रक्षालने, तच्छोषणे च प्रयतते । स चाय व्यापारो विघ्नमावहति स्वाध्यायादे ।

'**णिद्दोसदा य** निर्दोषता च । या सदोषक्रिया सा न कार्या यथा स्तेयादिका । निर्दोषा त्वनुष्ठीयते यथानशनादिका । तथा चेयमदोषा लोचक्रिया ।

'**देहे य**' देहे च । '**णिम्ममदा**' ममेदबुद्धिरहितता । अनेन शौचाख्यो धर्मो भावितो भवतीत्युक्त भवति । 'प्रकृष्टा लोभनिवृत्ति शौच शरीरलोभनिवृत्ति **शौचं** । शरीरलोभनिवृत्ति सकललोभनिराक्रियाया मूल । शरीरोपकृतये बन्धुधनादिष्वस्य लोभ । धर्मश्च सवरहेतु, **गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयैरिति** वचनात् ॥९०॥

आणक्खिदा य लोचेण अप्पणो होदि सम्मसद्धा य ।
उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ॥ ९१ ॥

'**आणक्खिदा य होदि**' आदर्शिता भवति । '**लोचेण**' लोचेन । का ? '**धम्मसद्धा**' धर्मे चारित्रे

नही होता । सुख ही मनुष्यको सुखलम्पट बनाता है । अन्तरगमे दु खकी भावना भाने पर सुखकी आसक्ति कम होती है सुखकी आसक्तिका मूल है सुखका उपभोग । उसका अभाव होनेसे सुखकी आसक्ति नही होती । जैसे बीजके अभावमे अकुर उत्पन्न नही होता । अथवा यहाँ सुख शब्दसे इन्द्रिय सुख लिया है । जो इन्द्रिय सुखमे आसक्त होता है वह हिसा आदि करता है । अत: जो सुखासक्ति परिग्रह और आरम्भका मूल है उससे निवृत्त होना सवर ही है । अत वह मुक्तिका उपाय है । नवीन कर्मोंका आना रुके बिना निर्जरा कैसी ? और उसके अभावमे मुक्ति कैसी ? यह अभिप्राय है । तथा केशलोचसे स्वाधीनता आती है क्योकि जो मनुष्य केशोसे अनुराग रखता है वह अवश्य सिरको साफ करने, उसकी मालिश करने धोने तथा सुखानेमे लगा रहता है और ये सब काम स्वाध्याय आदिमे विघ्न डालते है । तथा निर्दोषता होती है । जो क्रिया सदोष है वह नही करना चाहिए जैसे चोरी आदि । किन्तु निर्दोष क्रिया की जाती है जैसे उपवास वगैरह । उसी तरह लोच क्रिया भी निर्दोष है । शरीरमे 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि नही होती । इससे शौच धर्म पलता है यह कहा है । लोभसे अत्यन्त निवृत्तिको शौच कहते है । शरीरमे लोभकी निवृत्ति भी शौच है । शरीरमे लोभकी निवृत्ति सब प्रकारके लोभोको दूर करनेका मूल है । शरीरके उपकारके लिए ही मनुष्य परिवार और धन आदिका लोभ करता है और शौच धर्म सवरका कारण है क्योकि तत्त्वार्थ सूत्रमे गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जयसे सवर कहा है ॥९०॥

गा०—और केशलोच करनेसे आत्माकी धर्ममे श्रद्धा प्रदर्शित होती है । उसी प्रकार लोच उग्र तप है और दु खका सहन है ॥ ९१ ॥

टी०—लोच करनेसे आत्माकी धर्म अर्थात् चारित्रमे श्रद्धा प्रदर्शित होती है । अर्थात्

---

१. त्त्किर्हन्यते–आ० मु० ।

श्रद्धा। कस्य ? '**अप्पणो**' आत्मन । महती धर्मस्य श्रद्धाऽन्यथा कथमिद दु सहं क्लेशमारभते इति । आत्मनो धर्मश्रद्धाप्रकाशनेन परस्यापि धर्मश्रद्धाजननोपबृहण कृत भवति । सोऽयमुपबृहणाख्यो गुणो भावितो भवति । '**उग्गो तवो य**' उग्र च तप कायक्लेशाख्य दु खातराणि च सहते ।। '**लोचः तथैव**' व्यावर्णितगुणवच्च । '**दुक्खस्स**' दु.खस्य '**सहणं च**' सहन च दु ख भावयन् दु खान्तराणि च सहते । दु खसहनान्निर्जरा भवत्यशुभकर्मणा ।।९१।। लोचोत्ति गद ।।

व्युत्सृष्टशरीरताभिधानायोत्तर प्रबध —

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि णहकेसमंसुसंठप्पं ।
दंतोट्ठकण्णमुहणासियच्छिभमुहाइसंठप्पं ।। ९२ ।।

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि वज्जेवित्ति पदघटना स्नानाम्यजनोद्वर्तनानि ।। **णहकेसमंसुसंठप्पं** नखकेशश्मश्रुसंस्कार च वर्जयन्ति । अन्तरेणापि चशब्द समुच्चयाथप्रतीति '**पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मनः इति द्रव्याणि**' इत्यत्र यथा ।। **दन्तोट्ठकण्णमुहणासियच्छिभमुहादि संठप्प वज्जेवित्ति** पदरचना ।। दतानामोष्ठयो , कर्णयोर्मुखस्य, नासिकाया, अक्ष्णोर्भ्रुवोरादिग्रहणात्पाणिपादादीना च सस्कृति परिहरति ।।

स्नानमनेकप्रकार शिरोमात्रप्रक्षालन, शिरो मुक्त्वा अन्यस्य वा गात्रस्य, समस्तस्य वा । तन्न शीतोदकेन क्रियते स्थावराणा त्रसाना च बाधा माभूदिति । कर्दमवालुकादिमर्दनाज्जलक्षोभणात्तच्छरीराणा च वनस्पतीना पीडात मत्स्यदर्दुर सूक्ष्मत्रमाना च स्नान निवार्यते । उष्णोदकेन स्ना[1]त्विति चेन्न, तत्र त्रसस्थावर-

---

इसकी धर्मश्रद्धा महान है, यदि न होती तो इतना दु सह कष्ट क्यो उठाता ? अपनी धर्मश्रद्धा प्रकाशित करनेसे दूसरेकी भी धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है और उसमे वृद्धि होती है। इस तरह उपवृंहण नामक गुण भी भावित होता है। तथा लोचसे कायक्लेश नामक उग्र तप होता है। तथा दु ख सहन करनेसे, अन्य दु.खोको भी सहन करनेमे समर्थ होता है। दु ख सहन करनेसे अशुभ कर्मोकी निर्जरा होती है ।। इस प्रकार लोचका कथन समाप्त हुआ ।।९१।।

व्युत्सृष्ट शरीरता अर्थात् शरीरसे ममत्वके त्यागका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा कहते है—

गा०—स्नान, तेलमर्दन, उबटन और नख, केश, दाढी-मूँछोका सस्कार छोड देते है। दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौ आदिका सस्कार छोड देते है ।।९२।।

टी०—'छोडते है' यह पद लगा लेना चाहिए। 'च' शब्दके विना भी समुच्चयरूप अर्थका बोध होता है। जैसे पृथिवी जल तेज वायु आकाश काल दिशा आत्मा मन ये द्रव्य है। यहाँ 'च' शब्द न होनेपर भी समुच्चयरूप अर्थका बोध होना है। अत स्नान, अभ्यजन, और उबटन नही लगाता है नख, केश, दाढीका सस्कार और दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौ आदिसे हाथ पैर आदिका सस्कार छोड देते हैं।

स्नानके अनेक प्रकार है—सिरमात्र धोना, सिरको छोडकर शेष शरीरको धोना अथवा समस्त शरीरको धोना। स्थावर और त्रसजीवोंको बाधा न हो, इसलिए स्नान ठण्डे जलसे नही करते। कीचड़ रेत आदिके मर्दनसे पानीमे क्षोभ पैदा होता है और जिसके होनेसे उनमे रहनेवाले वनस्पति कायिक जीवोको तथा मछली मेढक और सूक्ष्म त्रसजीवोको पीडा होती है। इस-

---

1. स्नायादिति–आ० मु०।

बाधा स्थित्यैव। भूमिदरीविवरस्थितानां पिपीलिकादीनां मृते, तरुणतृणपल्लवानां चोष्णाबुभिस्तप्तानां दुःखासिका महती जायते, तथा क्षारतया धान्यरसादीनां। न चास्ति प्रयोजनं स्नानेन सप्तधातुमयस्य देहस्य न शुचिता शक्या कर्तुं। ततो न शौचप्रयोजनं। न रोगापहृतये रोगपरीषहसहनाभावप्रसंगात्. न हि भूषार्थं विरागत्वात्।

घृततैलादिभिरभ्यंजनमपि न करोति प्रयोजनाभावादुक्तेन प्रकारेण घृतादिना क्षारेण स्पृष्टा भूम्यादिशरीरादि जंतवो बाध्यते। त्रसाश्च तत्रावलग्नाः। उद्वर्तने इतस्ततः पतनां व्याघातः। मूलत्वक्फलपत्रादेः पेषणे, दलने च महानसंयमः। निर्वर्तनविलेखनघर्षणरजनादिको नखसंस्कारः। केशसंस्कारो हस्तघर्षणेन मसृणतासंपादनं, तथा श्मश्रूणामपि। दंतमलापकर्षणं तद्रंजनं वा दंतसंस्कारः। ओष्ठमलापकर्षणं तद्रागकरणं वा ओष्ठसंस्कारः। ह्रस्वयोर्लंबतापादनं दीर्घयोर्वा ह्रस्वकरणं तन्मलनिरासोऽलंकारग्रहणं कर्णसंस्कारः। मुखस्य तेजःसंपादनं लेपेन मंत्रेण वा मुखसंस्कारः। अक्ष्णोः प्रक्षालनं अंजनं अक्षिसंस्कारः। विकटोत्थितानां रोम्णां उत्पाटनं आनुलोम्यापादनं लंबयोरुन्नतीकरणं भ्रूसंस्कारः। शोभार्थं हस्तपादादिप्रक्षालनं, औषधविलेपादिर्वा संस्कारः आदिशब्देन गृहीतः ॥९२॥

वज्जेदि बंभचारी गंधं मल्लं च धूववासं वा।
संवाहणपरिमद्दणपिणिद्धणादीणि य विमुत्ती ॥ ९३ ॥

लिए शीतल जलसे स्नान नही करते।

शंका—तब गर्म जलसे स्नान करना चाहिए?

समाधान—उसमे भी त्रस और स्थावर जीवोको बाधा रहती ही है। पृथिवी तथा पहाडके बिलोमें रहनेवाली चीटी आदिके मरनेसे और उष्णजलके तापसे कोमल तृण पत्ते आदिके झुलसनेसे बडा दुःख होता है। तथा जलके खारपनेसे धान्यके रसको भी हानि पहुँचती है। तथा स्नानकी कोई आवश्यकता भी नही है क्योंकि सप्तधातुओसे युक्त शरीरको पवित्र नही किया जा सकता। अतः पवित्रताकी दृष्टिसे स्नानका कोई प्रयोजन नही है। रोगको दूर करनेके लिए भी स्नान आवश्यक नही है क्योंकि तब साधु रोगपरीषह सहन नही कर सकेंगे। और शरीरकी शोभाके लिए भी स्नान आवश्यक नही है क्योंकि साधु तो विरागी होते है।

साधु प्रयोजन होनेसे घी तेल आदिसे शरीरका अभ्यंजन भी नही करते। क्योंकि कहे हुए अनुसार घी आदिसे तथा क्षारसे भूमि आदि तथा शरीर आदिमें चिपटे जीवोको बाधा पहुँचती है। उद्वर्तन अर्थात् उबटन लगानेसे शरीरसे चिपटे त्रसजीव यहाँ वहाँ गिरकर मर जाते है। तथा उबटन तैयार करनेके लिये वृक्षकी जड, छाल, फल पत्ते आदिको पीसने या दलनेमे महान असंयम होता है। काटना, छाटना, रगडना, रगना आदि नखका संस्कार है। हाथसे घर्षणके द्वारा चिकनापना लाना केश तथा दाढी मूछोका संस्कार है। दाँतका मैल दूर करना अथवा दाँतोको रगना दाँतका संस्कार है। ओठोका मल दूर करना अथवा उनको रगना ओष्ठ संस्कार है। यदि छोटे हो तो बडा करना और बडे हो तो छोटा करना, मैल निकालना अथवा आभूषण धारण करना कानका संस्कार है। लेप या मंत्र द्वारा मुखको तेजस्वी बनाना मुखका संस्कार है। आँखोको धोना, अंजन लगाना आँखका संस्कार है। विकट रूपसे उठे हुए रोमोको उखाडना और उन्हे व्यवस्थित करना तथा लटकती हुईको ऊँचा करना भौंका संस्कार है। आदि शब्दसे शोभाके लिये हाथ पैर धोना, अथवा औषध आदिका लेप करना, ग्रहण किये गये हैं ॥ ९२ ॥

'गंधं' कस्तूरिकादिकं । **'मल्लं'** माल्य चतुष्प्रकार । **'धूववासं वा'** धूप कालागुर्वादिक । वास मुखवास च जातिफलादिकं । अनेकसुरभिद्रव्यमिश्र वा । **'संवाहणं'** हस्ताभ्या मलन । चरणावमर्द्दन परित **'परिमद्दणं'** । **अंसकुट्टनं** उन्नति दार्ढ्यं च कर्तुं यत्तत्पिणिद्धमित्युच्यते । एतत्सर्वं वर्जयति प्रयोजनाभावाद्धिंसाप्रवृत्तेश्च । क ? **ब्रह्मचारी** अब्रह्म निवृत्तिपरो यति ॥९३॥

किं ब्रह्मव्रतस्य कुर्वन्ति स्नानादिपरित्यागा येन तद्व्रताचरणप्रियस्तदनुष्ठाने यतते इत्यारेकायामाह—

जल्लविलित्तो देहो लुक्खो लोयकदवियडबीभत्थो ।
जो रूढणक्खलोमो सा गुत्ती बंभचेरस्स ॥९४॥

'जल्लविलित्तो देह' इति । **'देहो गुत्तो बंभचेरस्स'** इति पदघटना । **'देहः'** शरीरं । **'गुत्ती'** गुप्तिः रक्षा । कीदृक् ? **'जल्लविलित्तो'** घनीभूतमुपर्युपरि प्रचित शरीरमल जल्लशब्देनोच्यते । तेन विलित्तो विलिप्त देह । स्नानादित्यागात् **'रुक्खो'** रूक्षस्पर्श स्नानादिविरहादेव **'लोचकदवियडबीभत्थो'** लोचकरणविकृत-बीभत्स । **'जो'** यो देह **'रूढणक्खलोमो'** दीर्घीभूतनखप्रच्छाद्यदेशलोमान्वित । सेति गुप्ति ॥ सामानाधि-करण्यात् स्त्रीलिंगत्वात् ॥ कस्य ? **'बंभचेरस्स'** ब्रह्मचर्यस्य ॥

इति व्युत्सृष्टदेहता ॥

गा०—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ गन्ध, माल्य और धूप और मुखवास सवाहन, परिमर्दन और पिणिद्धण आदिको छोड देता है ॥ ९३ ॥

टी०—ब्रह्मचारी अर्थात् अब्रह्मके त्यागमे तत्पर साधु कस्तूरी आदि गध, चार प्रकारकी माला (पुष्पमाला, रत्नमाला, मोतीमाला और सुवर्णमाला) कालागुरु आदि धूप, मुखको सुवासित करने वाले जाति फल आदि, अथवा अनेक सुगन्धित द्रव्योका मिश्रण, हाथोंसे शरीरकी मालिश, पैरोंसे शरीरको दबवाना, और पिणिद्ध, इन सबको प्रयोजन न होनेसे और हिंसापरक होनेसे छोड देता है। कन्धोंको उन्नत और दृढ बनानेके लिये जो उनको कूटा जाता है उसे 'पिणिद्धण' कहते हैं ॥ ९३ ॥

ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करने वालेको स्नान आदिके त्यागसे क्या लाभ होता है जिससे ब्रह्मव्रतके आचरणका प्रेमी स्नान आदिके त्यागको अपनाता है, इस शङ्काका उत्तर देते है—

गा०—जल्लमे लिप्त, रूक्ष, लोच करनेसे विकृत और वीभत्स, बढे हुए नख और रोमोंसे युक्त जो शरीर होता है, ब्रह्मचर्यकी वह गुप्ति है ॥९४॥

टी०—शरीरपर चढा हुआ मैलपर मैल जल्ल कहाता है। स्नान आदिका त्याग करनेसे यतिका शरीर मैलमे लिपता जाता है। तथा स्नान आदि न करनेमे रुखा हो जाता है। केश लोच करनेसे भद्दा और ग्लानि युक्त होता है उसे देखकर लोगोको ग्लानि होती है। नख बढे हुए होते हैं। गुप्त अग आदिके बाल बढ जाते है। ऐसा शरीर ब्रह्मचर्यकी गुप्ति है। उससे यतिके ब्रह्मचर्यकी रक्षा होती है। 'गुप्ति' शब्द स्त्रीलिंग होनेसे सामानाधिकरण्यके लिये 'सा' शब्दका प्रयोग किया है ॥९४॥

व्युत्सृष्ट शरीरताका प्रकरण समाप्त हुआ ॥

प्रतिलेखनसाध्यप्रयोजनाख्यानायोत्तरगाथाद्वयम्—

इरियादाणणिक्खेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे ।
उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणाउंटणामरसे ।।९५।।

'**यस्य येन हि संबन्धो दूरस्थमपि तस्य तत्**' इत्यनेन क्रमेण सबन्ध —'**इरियावाणे**' **पडिलेहणेण पडिलिहिज्जदित्ति** एव सर्वत्र । ईर्यायां गमने व्रजत स्वपादनिक्षेपदेशे दुष्परिहारा यदि स्यु पिपीलिकादयोऽथवा प्राक् पादावलग्नरजसो विरुद्धयोनिर्वाभूमिरुत्तरा जल प्रवेष्टव्य यदि '**पडिलेहणेण**' प्रतिलेखनेन '**पडिलेहिज्जदि**' निराक्रियते त्रसादिक । '**आदाने**' ग्रहणे ज्ञानचारित्रसाधनाना । '**णिक्खेवे विवेके**' । ज्ञानसयमोपकरणाना निक्षेपे स्थापनायां । यन्निक्षिप्यते यत्र च तदुभयप्रमार्जनं कार्यं । शरीरमलाना उच्चारादीना '**विवेके**' उत्सर्जने वा कर्तरि प्रदेश । सा च भूर्यद्ययोग्या प्रमार्जनीया । '**ठाणे निसीयणे सयणे**' स्थाने आसने च शयनक्रियायां । '**उव्वत्तणपरियत्तणपसारणाउटणामरसे**' । '**उव्वत्तणं**' उत्तानशयन । '**परिवत्तण**' पार्श्वांतरसचार, '**पसारणं**' प्रसारण हस्तपादादीना । आउटण सकोचन । स्पर्शनक्रिया 'आमरसशब्देनोच्यते' ।।

पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सगपक्खे ।
विस्सासियं च लिंग संजदपडिरूवदा चेव ।।९६।।

'**चिण्ह च होदि**' चिह्नता भजते । '**सगपक्खे**' स्वप्रतिज्ञायां । सर्वजीवदया हि यते पक्ष । **विस्सासियं च**' विश्वासकारि च जनाना । '**लिंगं**' प्रतिलेखनाख्य कथमयमतिसूक्ष्मान्कुथ्वादीनपि परिहर्त्तुं गृहीतप्रति-

---

अब प्रतिलेखनका प्रयोजन बतलानेके लिये दो गाथा कहते हैं—

गा०—गमनमे, ग्रहणमे, रखनेमें मल त्यागमें स्थानमे बैठनेमे शयनमे ऊपरको मुखा करके सोनेमे करवट लेनेमे हाथ पैर फैलानेमे संकोचनमें और स्पर्शनमे पीछीसे परिमार्जन करना चाहिये ।।९५।।

टी०—जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होता है दूर होते हुए भी वह उसका होता है, इस क्रमके अनुसार प्रतिलेखनके दूर होते हुए भी यहाँ उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिये। ईर्या अर्थात् गमन करते हुए यदि अपने पैर रखनेके देशमे चीटी आदिको दूर करना अशक्य हो, अथवा अपने पैरोमे लगी हुई धूलसे आगेकी भूमि विरुद्ध योनि वाली हो या यदि जलमे प्रवेश करना हो तो पीछीसे त्रसादि जीवोको दूर करना चाहिये। अर्थात् पीछीसे उस देशका पैर आदि का परिमार्जन करके चलना चाहिये। ज्ञान और चारित्रके साधन पुस्तक कमण्डलु आदिको ग्रहण करते समय, या उन्हें रखते समय, जो वस्तु रखे और जहाँ रखे उन दोनोंका प्रमार्जन करना चाहिये—पीछीके द्वारा उन्हे झाडना चाहिये। शरीरके मल मूत्रादिका त्याग करते समय यदि भूमि अयोग्य हो तो उसका प्रमार्जन करना चाहिये। स्थान, आसन और सोते समय मुख ऊपर करके सोते हुए या करवट लेते समय या हाथ पैर फैलाते और संकोचते समय, किसी वस्तु को छूते समय पीछसे प्रमार्जन करना चाहिये। यहाँ आमरस शब्दसे स्पर्शन क्रियाको कहा है ।।९५।।

गा०—उक्त क्रिया करते समय पाछेके द्वारा प्रतिलेखना करना चाहिये, इस प्रकार पूर्व

लेखनोऽस्यान्महतो जीवान्कथमिव बाधितु उत्सहते इति । 'संजदपडिरूवदा चेव' । सयताना [1]प्राक्तनाना प्रतिबिबता च प्रतिलेखना ग्रहणेन भवति ॥९६॥

प्रतिलेखनलक्षणाख्यानायाह—

रयसेयाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लघुत्तं च ।
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥९७॥

'रजसेदाणमगहणं' रजस सचित्तस्य अचित्तस्य वा स्वेदस्य अग्राहक । अचित्तरजोग्राहिणा सचित्तरजो प्रतिलेखने तद्विराधना सचित्तरजोग्राहिणा चेतरस्य । स्वेदग्राहिणि रजमामुपहति । **'मद्दवसुकुमालदा'** मृदुस्पर्शता मार्दव, सुकुमालदा सौकुमार्य । **'लघुत्तं च'** लघुत्व च । एते पच गुणा यत्रैते पंच प्रकारगुणा संति **'तं'** तत् **'पडिलिहण'** प्रतिलेखन **'पसंसंति'** स्तुवति दयाविधिज्ञा । अमृदुना, असुकुमारेण, गुरुणा च प्रतिलेखनेन जीवानामुपघात एव कृतो न दयेति भाव । एव चतुर्गुणयुक्त लिंग व्याख्यात गृहीतलिगस्य यते. ॥९७॥

शिक्षानतरेति तन्निरूपणार्थ उत्तरप्रबध —

णिउणं विउलं सुद्ध णिकाचिदमणुत्तर च सव्वहिदं ।
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्तो य पढिदव्वं ॥९८॥

गाथासे सम्बन्ध है । अपनी प्रतिज्ञामे पीछी चिह्न होती है । और प्रतिलेखना रूप लिग मनुष्योको विश्वास करानेवाला है । और प्राचीन मनियोका प्रतिबिम्ब रूप है ॥९६॥

टी०—मुनिका पक्ष या प्रतिज्ञा सब जीवोपर दया करना है । अत पीछी उसका चिह्न है । तथा यह चिह्न मनुष्योमे विश्वास उत्पन्न कराता है कि जब यह व्यक्ति अतिसूक्ष्म कीट आदि जीवोकी भी रक्षाके लिये पीछी लिये हुए है तो हमारे जैसे बडे जीवोको कैसे बाधा पहुँचा सकता है । तथा पीछी धारण करनेसे प्राचीन मुनियोका जो रूप था उसीकी छाया वर्तमान मुनियोमे आ जाती है ॥९६॥

प्रतिलेखनाके लक्षण कहते है—

गा०—धूलि और पसीनेको पकडती न हो, कोमल स्पर्शवाली हो, सुकुमार हो, और हल्की हो । जिसमे ये पाँच गुण होते है उस प्रतिलेखनाकी प्रशसा करते है ॥९७॥

टी०—सचित्त या अचित्त रज और पसीनेको ग्रहण न करती हो, क्योकि अचित्त रजको ग्रहण करनेवाली पीछीसे सचित्त रजकी प्रति लेखना करनेपर उनमे रहनेवाले जीवोका घात होता है और सचित्त रजको ग्रहण करनेवाली पीछीसे अचित्त रजकी प्रतिलेखना करने पर भी घात होता है । पसीनेको पकडनेवाली पीछीसे रजमे रहनेवाले जीवोका घात होता है । तथा पीछी कोमल स्पर्शवाली, सुकुमार और हल्की होनी चाहिये । जिस प्रतिलेखनमे ये पाँच गुण होते है, दयाकी विधिको जाननेवाले उसकी प्रशसा करते है । इसका भाव यह है कि कठोर, असुकुमार और भारी प्रतिलेखनासे जीवोंका घात ही होता है, दया नही । इस प्रकार लिंगको स्वीकार करनेवाले साधुके चार गुणोंसे युक्त लिंगका कथन किया ॥९७॥

---

१ प्रधानाना-आ० मु० ।

जिणवयण जिनवचनं । **'अहो य रत्ती य'** नक्तं दिव । **'पढिदव्वं'** अध्येतव्य । कीदृग्भूतं जिनप्रवचन-मत आह—**'निउण'** जीवादीनर्थान्प्रमाणनयानुगत निरूपयतीति निपुण । **'सुद्ध'** पूर्वापरविरोधपुनरुक्तादि-द्वात्रिंशद्दोषवर्जितत्वात् शुद्ध । **'विपुल'** निक्षेप, [1]एकार्थ, निरुक्ति अनुयोगद्वार, नयश्चेति अनेकविकल्पेन जीवादीनर्थान्सप्रपच निरूपयतीति विपुल । अर्थगाढत्वान्निकाचित अर्थनिचित । **'अणुत्तर च'** न विद्यते उत्तर उत्कृष्टमस्मादित्यनुत्तर । परेषा वचनानि पुनरुक्तानि, अनर्थकानि, व्याहतानि, प्रमाणविरुद्धानि च तेभ्य इदमुत्तर तदसभविगुणत्वात् । **'सव्वहिवं'** सर्व प्राणहित । अन्येषा मतानि केषाचिदेव रक्षा सूचयति । **'जिघासन्तं जिघासीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत्'** इत्युपदेशात्[2] ।

कलुसहर द्रव्यकर्मणा ज्ञानावरणादीना अज्ञानादेर्भावमलस्य च विनाशनात् कलुषहर । **'अहो य रत्तीय पढियव्वमित्यनेन'** अनारत अध्ययन सूचित ॥९८॥

अब शिक्षाका कथन करते है—

गा०—निपुण विपुल, शुद्ध, अर्थसे पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट और सब प्राणियोका हित करनेवाला द्रव्यकर्म भाव कर्मरूपी मलका नाशक जिनवचन रात-दिन पढना चाहिये ॥९८॥

टी०—जिनवचन रात-दिन पढना चाहिये । किस प्रकार जिनवचन पढना चाहिये ? इसके उत्तरमे कहते है—जो निपुण हो अर्थात् जीवादि पदार्थोका प्रमाण और नयके अनुसार निरूपण करनेवाला हो । पूर्वापर विरोध पुनरुक्तता आदि बत्तीस दोषोसे रहित होनेसे शुद्ध हो । विपुल हो अर्थात् निक्षेप, निरुक्ति अनुयोगद्वार और नय इन अनेक विकल्पोसे जो जीवादि पदार्थोका विस्तार से निरूपण करता हो । निकाचित अर्थात् अर्थसे भरपूर हो । अनुत्तर अर्थात् जिससे कोई उत्तर यानी उत्कृष्ट न हो । दूसरोके वचन पुनरुक्त, निरर्थक, बाधित और प्रमाण विरुद्ध है अत उनसे जिनवचन उत्कृष्ट है क्योकि जो गुण उनमे सम्भव नही है उन गुणोसे युक्त है । सब प्राणियोका हितकारी है । दूसरोके मत तो किन्ही की ही रक्षा सूचित करते हैं । कहा है—वेदका जाननेवाला भी ब्राह्मण यदि किसीको मारता हो तो उसे मार डालना चाहिये । उससे ब्रह्म हत्याका पाप नही लगता । तथा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और अज्ञानादिभावमलका विनाश करनेसे जिनवचन पापका हरनेवाला है । उसे 'रात-दिन पढना चाहिये' इससे निरन्तर अध्ययन करना सूचित किया है ॥९८॥

---

१ पक्षार्थ —आ० मु० ।

२ आ० मु० प्रत्योअधोलिखिताश्लोका म ।

"यज्ञार्थ पशव सृष्टा स्वयमेव स्वयभुवा ॥
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषा तस्माद्यज्ञे वधोऽवध ॥ १ ॥
"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापह ॥
क्षेत्रदारहरश्चेति षडेते आततायिन ॥"
"आततायिनमायातमपि वेदातविद् द्विजम् ॥
जिघासत जिघासीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥"

जिनवचनशिक्षाया गुणान्संहृत्य कथयति—

आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो या संवेगो ॥
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥९९॥

आदहिदपइण्णा आत्महितपरिज्ञान । इंदियसुख अहित परिहितमिति गृह्णन्ति जना । दुःखप्रतीकारमात्र तत् ? अल्पकालिक, पराधीन, रागानुबधकारि, दुर्लभ, भयावह, शरीरायासमात्र, अशुचिशरीरासस्पर्शनज । तत्रास्य बालस्य सुखबुद्धि । नि शेषदुखापायजनित स्वाम्थ्य अचल सुखमिति न वेत्ति । जिनवचोऽभ्यासात्त्वधिगच्छति । '**भावसवरो**' भाव परिणाम तस्य सवरो निरोध । ननु परिणाममतरेण न द्रव्यस्यास्ति क्षणमात्रमप्यवस्थान तत्किमुच्यते भावसवर इति । परिणामविशेषवृत्तिरिह भावशब्द इति मन्यते । तथा वक्ष्यति—

'**सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदीसवुडो इति**' अशुभकर्मादाननिमित्तपरिणामग्रहणमिह सरागापेक्षया । वीतरागाणा तु केषाचिच्छुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्यास्रवपरिणामसवरोऽपि ग्राह्य । '**णवणवो य**' प्रत्यग्र प्रत्यग्र । '**सवेगो**' धर्मे श्रद्धा जिनवचनाभ्यासादुपजायते । '**णिक्कपदा**' निश्चलता । क्व ? रत्नत्रये । '**तवो**' स्वाध्यायाख्य तपश्च । '**भावणाय**' भावना च गुप्तीना । '**परदेसिगत्त च**' परेषामुपदेशकता च ॥

जिनवचनकी शिक्षामे जो गुण है उन्हे कहते है—

गा०—आत्महितका ज्ञान होता है। भाव सवर होता है। नवीन-नवीन सवेग होता है रत्नत्रयमे निश्चलता होती है। स्वाध्याय तप होता है और भावना होती है। और दूसरोको उपदेश करनेकी क्षमता होती है ॥९९॥

टी०—जिनवचनके पढनेसे आत्महितका परिज्ञान होता है—इन्द्रिय सुख अहितकर है उसे लोग हितकर ग्रहण करते है। इन्द्रिय सुख दु खका प्रतीकार मात्र है, अल्पकाल तक रहता है। पराधीन है, रागका सहचारी है, दुर्लभ है (?), भयकारी है, शरीरका आयासमात्र है, अपवित्र शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होता है। उसको यह अज्ञानी सुख मानता है। समस्त दु खोके विनाशसे उत्पन्न हुआ स्वास्थ्य-आत्मामे स्थितिरूप भाव-स्थायी सुख है यह नही जानता। वह सुख जिनवचनके अभ्याससे प्राप्त होता है। भाव अर्थात् परिणामका, सवर अर्थात् निरोध भावसवर है।

शंका—परिणामके विना द्रव्य एक क्षण भी नही रह सकता। तब आप कैसे भावसवर कहते है ?

समाधान—यहाँ भाव शब्द परिणाम विशेषका वाचक लिया गया है। आगे कहेगे—स्वाध्याय करनेवाला पाँचो इन्द्रियोसे सवृत होता है। अत यहा सरागकी अपेक्षासे अशुभ कर्मों के ग्रहणमे निमित्त परिणामका ग्रहण किया है। वीतरागोमेसे तो किन्हीके जिनवचन शुद्धोपयोग मे निमित्त होता है इसलिये भावसवरसे पुण्यास्रवमे निमित्त परिणामोका सवर भी ग्राह्य है। जिनवचनके अभ्याससे नित नया 'सवेग' अर्थात् धर्ममे श्रद्धा उत्पन्न होती है। रत्नत्रयमे निश्चलता आती है। स्वाध्यायनामक तप होता है, गुप्तियोकी भावना होती है तथा दूसरोको उपदेश देनेकी सामर्थ्य आती है ॥९९॥

आदहिदपरिण्णा इत्यस्य व्याख्यान गाथोत्तरा—

णाणेण सव्वभावा जीवाजीवासवादिया तधिगा।
णज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं चेव ॥ १०० ॥

'**णाणेण**' ज्ञानेन। '**सव्वभावा**' सर्वे पदार्था.। '**जीवाजीवादिगा**' जीवाजीवास्रवबधसवरनिर्जरा-मोक्षा:। '**तधिगा**' तथ्यभूता। '**णज्जंति**' ज्ञायन्ते। '**तथा**' तेनैव प्रकारेण। '**इहपरलोए**' इह परस्मिश्च लोके। '**अहिदं**' अहित। '**हिदं**' हित चैव। ननु च **आदहिदपरिण्णा** इत्यत्र हितस्यैव हि सूचितत्वात् जोवादिपरिज्ञान असूचित कथ व्याख्यायते पूर्वमभिहित हितमनुक्त्वा? अत्रोच्यते—आत्मा च हित च आत्महिते तयो परिज्ञान इति गृहीत। न त्वात्मनो हितमिति। ततो युक्त व्याख्यात। एवमपि जीव एव निर्दिष्ट इत्यजीवाद्युपन्यास: कथ? आत्मशब्दवस्तूपलक्षणत्वाददोष। **जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्व** [त०सू० १।८] इत्यत्र सूत्रे आदौ निर्दिष्टो जीव प्रसिद्धस्तेनोत्तरोपलक्षण क्रियते। अथवा आत्मन्यज्ञाते हितमव दुर्ज्ञात आत्म-परिणामो हि हित तच्च स्वास्थ्यं। तच्च स्वस्थे आविदिते स्वास्थ्य सुज्ञात भवति। तत आत्मा ज्ञातव्य.।

जादं सय समत्तं णाणमणंतत्थवित्थिदं विमलं। रहिदं तु उग्गहादिहि सुहंति एयंतियं भणिय" [प्र० व० १।५९]। इति वचनात् अनतज्ञानरूप सुख यदि हितमिति गृहीत, तथापि चेतनाया जीवत्वाच्चैतन्यावस्था-स्वरूपत्वात् केवलस्यावस्थानात् आत्मा ज्ञातव्य एव। मोक्षस्तु कर्मणा तदपायतयाधिगतव्य। तत्परिज्ञानम-जीवेऽनिर्ज्ञाते न भवति। पुद्गलानामेव द्रव्यकर्मत्वात्, तद्वियोगस्य मोक्षत्वात्। स च मोक्षो बधपुरस्सर। न

आगे आत्महित परिज्ञानका व्याख्यान करते है—

गा०—ज्ञानके द्वारा जीव अजीव आस्रव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते है। उसी प्रकारसे इस लोक और परलोकमे अहित और हित जाना जाता है ॥१००॥

टी०—शंका—'आत्महित परिज्ञा' इस पदमे तो हितको ही सूचित किया है, जीवादिके परिज्ञानको तो सूचित नही किया है तब पहले कहे गये हितका कथन न करके जीवादि परिज्ञान-का व्याख्यान क्यो किया है?

समाधान—आत्महित परिज्ञानका अर्थ आत्मा और हितका परिज्ञान लिया है। 'आत्माका हित' अर्थ नही लिया है। अत जीवादिका व्याख्यान करना युक्त है।

शका—ऐसा अर्थ करनेपर भी जीवका ही निर्देश किया है। तब अजीव आदिका उपन्यास क्यो किया?

समाधान—आत्म शब्द अजीवादिका उपलक्षणरूप होनेसे कोई दोष नही है। क्योकि 'जीवाजीवा' इत्यादि सूत्रमे जीवका प्रथम निर्देश प्रसिद्ध है उससे आगेके अजीवादिका उपलक्षण किया है। अथवा, आत्माका ज्ञान हुए विना उसके हितको जानना कठिन है। आत्माका परिणाम हित है और वह स्वास्थ्य है। अत. स्वस्थका ठीक ज्ञान होनेपर स्वास्थ्यका सम्यग्ज्ञान होता है। अत आत्मा ज्ञातव्य है। अथवा ऐसा कहा है—अनन्त पदार्थोंमे व्याप्त और अवग्रह आदिके क्रमसे रहित निर्मल सम्पूर्णज्ञान जो परकी सहायताके विना स्वयं होता है उसे एकान्तस सुखरूप कहा है।' इस कथनसे यद्यपि अनन्तज्ञानरूप सुखको हित स्वीकार किया है तथापि चेतना जीव है और केवलज्ञान चैतन्य अवस्था स्वरूप है अत आत्मा ज्ञातव्य ही है और मोक्ष कर्मोके विनाश-रूप होनेसे जानने योग्य है। कर्मोका ज्ञान अजीवको जाने विना नही होता, क्योकि पुद्गल ही

ह्यसति बधे मोक्षोऽस्ति । स च बधो नासत्यास्रवे । मोक्षस्य चोपायौ संवरनिर्जरे । अहितं इति यदि दुःखं गृह्यते तदैहलौकिकमनुभवसिद्धमेव । किं तत्र जिनवचनेन ? अहितकारण यद्यहितमुच्यते तत्कर्म तच्चाश्रा-जीववचनेन आक्षिप्त । अथ हिंसादय परपराकारणत्वेन दुःखस्यावस्थिता अहितशब्देनोच्यन्ते । तथाप्ययुक्त आस्रवेऽन्तर्भूतत्वात् । अत्रोच्यते—अनुभूतमपि दुःख अस्मिञ्जन्मनि जडमतयो विस्मरन्त्येव एव सन्मार्गं न ढौकते । तेषा स्मृतिर्जन्यते जिनवचनेन मनुजभवापदा प्रकटनेन । जुगुप्सिते कुले प्रादुर्भूतिर्विचित्रास्तत्र रोगोर-गदशनजनिता विपद । निर्द्रविणता, दुर्भगता, अबधुता, अनाथता, प्रार्थितद्रविणपरागनालाभधूमध्वजनिर्दग्ध-चित्तता, द्रविणवतां कुत्सितप्रेषणकरण, तथापि तेषा आक्रोशननिर्भर्त्सनताडनादीनि, परवशतामरणादीन्येव-मादिना, इह लोके हित दानतप प्रभृतिक हितकारण हित इति यदा गृह्यते 'हितमारण्यमौषध' इति यथा । यतो दानादिके कुशलकर्मणि वर्तमाना जनैः स्तूयते वद्यन्ते । **उक्त च—**

दानेन तिष्ठन्ति यशांसि लोके दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बधुत्वमुपैति दानात्तस्मात्सुदान सततं प्रदेयम् ॥'' इति ।—[वरांच० ७।३६]

इद्रचक्रधरादयोऽपि प्रणतिमायान्ति तपोद्रविणानाम् । परलोके अहित भवान्तरभाविदुःख नरकगतौ हि, तिर्यक्त्वे च, परलोके हित निवृतिसुख, तदेत्सकल अवबोधयति जैनी भगवती भारती ।

द्रव्यकर्मरूप होते है और उनका विनाश मोक्ष है । वह मोक्ष बन्धपूर्वक होता है । क्योकि बन्धके अभावमे मोक्ष नही होता । तथा बन्ध आस्रवके विना नही होता । और मोक्षके उपाय संवर और निर्जरा है ।

शंका—यदि अहितसे दुःख लेते है तो इस लोकमे होनेवाला दुःख अनुभवमे सिद्ध है । उसमे जिनवचनकी क्या आवश्यकता ? यदि अहितके कारणको अहित कहते है तो वह कर्म है और अजीव शब्दसे उसका ग्रहण होता है । यदि परम्परासे दुःखका कारण होनेसे हिंसा आदिको अहित शब्दसे लेते है तो भी अहितका पृथक् कथन अयुक्त है क्योकि आस्रवमे उनका अन्तर्भाव होता है ।

समाधान—इस जन्ममे अनुभूत भी दुःखको अज्ञानी भूल जाते है इसीसे वे सन्मार्गमे नही लगते । जिनवचनके द्वारा मनुष्य भवमे होनेवाली विपत्तियोको बतलानेसे उनका स्मरण होता है । निन्दनीय कुलमे जन्म होनेपर वहाँ रोगरूपी साँपके डसनेसे उत्पन्न हुई विपत्तियाँ आती हैं । दरिद्रता, भाग्यहीनता, अबन्धुता, अनाथता, इच्छित धन और पर स्त्रीकी प्राप्ति न होने रूप अग्निसे चित्तका जलते रहना, धनिकोंकी निन्दनीय आज्ञाका पालन करनेपर भी उनके गाली; गलौज, डाँट फटकार, मारपीट, परवश मरण आदिको सहना पडता है ।

जब हितका अर्थ हितका कारण लिया जाता है तो इस लोकमे दान, तप आदि हित है । जैसे जगली औषधी हितका कारण होनेसे हित कही जाती है क्योकि जो दान आदि सत्कार्य करते हैं लोग उनकी स्तुति और वन्दना करते है । कहा भी है—'दानसे लोकमे चिरस्थायी यश होता है । दानमे वैर भी नष्ट हो जाते हैं । दानसे पराये भी बन्धु हो जाते है । अत सुदान सदा देना चाहिए ॥' तपोधनोको इन्द्र चक्रवर्ती आदि भी नमस्कार करते है । परलोकमे अहितसे मतलब है आगामी नरकगति और तिर्यञ्चगतिके भवमे होनेवाला दुःख । और परलोकमे हितसे मतलब है मोक्षसुख । जिन भगवान्के द्वारा उपदिष्ट भारती इन सबका ज्ञान कराती है ॥१००॥

आत्महितापरिज्ञाने दोषमाचष्टे—

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं ।
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥१०१॥

"**आदहिदमयाणंतो**' आत्महितमबुध्यमानः । '**मुज्झदि**' मुह्यति अहितं हितमिति प्रतिपद्यते । मोहे को दोष इत्यत आह—'**मूढो**' मोहवान् '**समादियदि**' समादत्ते । '**कम्मं**' कर्मसामान्यशब्दोऽयम् अशुभकर्मवृत्तिर्ग्राह्यः । कर्मग्रहणे को दोष इत्यत आह—'**कम्मणिमित्तं**' कर्महेतुक, जीवः '**परीदि**' परिभ्रमति । किं '**भवसायरम्**' भवसमुद्रं '**अणंतं**' अनन्तम् ॥१०१॥

आत्महितपरस्योपयोगमादर्शयति—

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य ।
होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदव्वं ॥१०२॥

'**जाणंतस्स**' जानतः । '**आदहिदं**' आत्महितं । '**अहिदणियत्ती य**' अहितनिवृत्तिश्च । '**हिदपवत्ती य**' हिते प्रवृत्तिश्च । '**होदि य**' भवति च । '**तो**' ततः हितज्ञानात्पश्चात् । '**तह्मा**' तस्मात् '**आदहिदं**' आत्महितं । '**आगमेदव्वं**' शिक्षितव्यम् । अत्र चोद्यते—ननु आत्महितज्ञस्य हिते प्रवृत्तिर्भवतु, अहितान्निवृत्तिः कथं ? अहितज्ञोऽहितान्निवर्तते हितमहितं न भिन्नमेव । यद्यतो भिन्नं न तस्मिन्नवगते तदन्यदवगतं भवति । यथा—वानरेऽवगते न मकरः । भिन्नं च हितादहितं तस्माद्धितज्ञोऽहितं अजानन् कथमहितान्नियोगतो निवर्तेत ? अत्रो-

---

आत्महितका ज्ञान न होनेके दोष कहते है—

गा०—आत्माके हितको न जाननेवाला मोहित होता है । मोहित हुआ कर्मको ग्रहण करता है । और कर्मका निमित्त पाकर जीव (अणत) अनन्त भवसागरमे भ्रमण करता है ॥१०१॥

टी०—आत्महित या आत्मा और हितको जाननेवाला अहितको हित मानता है । यही मोह है । इस मोहमे क्या दोष है ? इसके उत्तरमे कहते है कि मोही जीव कर्मको ग्रहण करता है । यहापर यद्यपि कर्म सामान्य कहा है तथापि अशुभकर्म ग्रहण करना चाहिए । कर्मोके ग्रहणमे क्या दोष है ? इसके उत्तरमे कहते है कि कर्मके कारण जीव भव समुद्रमे अनन्तकाल तक भ्रमण करता है ॥१०१॥

आत्महितके ज्ञानका उपयोग दिखलाते है—

गा०—आत्महितको जाननेवालेके अहितसे निवृत्ति और हितमे प्रवृत्ति होती है । हिताहितके ज्ञानके पश्चात् उसका हिताहित भी जानता ही है । इसलिए (आदहिदं) आत्महितको आगममे सीखना चाहिए ॥१०२॥

टी०—**शंका**—आत्महितको जाननेवालेकी हितमे प्रवृत्ति होओ, किन्तु अहितसे निवृत्ति कैसे ? जो अहितको जानता है वह अहितसे निवृत्त होता है । तथा हित और अहित भिन्न है । जो जिससे भिन्न होता है उसके जाननेपर उससे भिन्नका ज्ञान नही होता । जैसे बन्दरको जाननेपर मगरका ज्ञान नही होता । और हितसे अहित भिन्न है अतः हितको जाननेवाला अहितको नही जानता । तब वह कैसे नियमसे अहितसे निवृत्त होगा ?

च्यते—सर्वमेव वस्तु स्वपरभावाभावोभयाधीनात्मलाभं यथा घट. पृथु[1]लोदराद्याकारात्मक पटादिरूपतया ग्राह्य, अन्यथा विपर्यस्त तज्ज्ञानं भवेत्। एवमिहापि हितविलक्षणमहितं अजानता तद्विलक्षणता हितस्[2] ज्ञाता भवेत्। अतो हितज्ञोऽहितमपि वेत्तीति युक्ता निवृत्तिस्तत ॥१०२॥

शिक्षाया अशुभभावसवरहेतुता प्रतिपादनायाह—

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसुंवुडो तिगुत्तो य ॥
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू ॥१०३॥

"**सज्झायं**" स्वाध्याय पचविध वाचनाप्रश्नानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशभेदेन। तत्र निरवद्यस्य ग्रन्थस्या ध्यापन तदर्थाभिधानपुरोग वाचना। सदेहनिवृत्तये निश्चितबलाधानाय वा सूत्रार्थविषय प्रश्न। अवगतार्थानुप्रेक्षण अनुप्रेक्षा। आम्नायो गुणना। आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेदनीति चतस्र कथास्तासा कथनं धर्मोपदेश। त स्वाध्याय कुर्वन्। '**पंचिदियसवुडो होदि**' पचेन्द्रियसवृतो भवति। ननु पञ्चेन्द्रिय शब्द निष्ठातस्य पूर्वनिपातात्सवृतपचेन्द्रिय इति भवितव्यम्? सत्य। 'जातिकालसुखादिभ्य परवचनम्' इत्यनेन बहुव्रीहौ पचेन्द्रियत्वजातिवृत्तिरिति जातिवचन। ततो निष्ठात परत प्रयुज्यते इति मन्यते। इन्द्रियमनेकप्रकार द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय इति। इह तु रूपाद्युपयोगा इन्द्रियशब्देनोच्यन्ते। तेनायमर्थ स्वाध्या[य] कुर्वन्निरुद्ध-

समाधान—प्रत्येक वस्तुका जन्म स्वके भाव और परके अभाव, इन दोनोके अधीन है। जैसे घट बडे पेट आदि आकारवाला होना है, पटादिरूपसे उसका ग्रहण नही होता। यदि घटका पटरूपसे ग्रहण हो तो वह ज्ञान विपरीत कहलायेगा। इसी तरह यहाँ भी जो हितसे विलक्षण अहितको नही जानता वह उससे विलक्षण हितका भी ज्ञाता नही हो सकता। अत. जो हितको जानता है वह अहितको भी जानता है। इसलिए उसको अहितसे निवृत्ति उचित ही है ॥१०२॥

शिक्षा अशुभभावके सवरमे हेतु है, यह कहते हैं—

गा०—विनयसे युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पाँचो इन्द्रियोके विषयोसे सवृत और तीन गुप्तियोसे गुप्त एकाग्रमन होता है ॥ १०३ ॥

टी०—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे स्वाध्यायके पाँच भेद है। उसके अर्थका कथन करने पूर्वक निर्दोष ग्रन्थके पढानेको वाचना कहते है। सन्देहको दूर करनेके लिये अथवा निश्चितको दृढ करनेके लिये सूत्र और अर्थके विषयमे पूछना प्रश्न है। जाने हुए अर्थका चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। कण्ठस्थ करना आम्नाय है। कथाके चार प्रकार है—आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेदनी। उनके करनेको धर्मोपदेश कहते है। उस स्वाध्यायको करने वाला पञ्चेन्द्रिय सवृत होता है।

शङ्का—बहुव्रीहि समासमे निष्ठान्तका पूर्वनिपात होनेसे 'सवृत पञ्चेन्द्रिय' होना चाहिये।

समाधान—आपका कथन सत्य है। 'जातिकाल सुखादिभ्य परवचनम्' इस सूत्रसे पञ्चेन्द्रिय शब्द पञ्चेन्द्रिय जातिवृत्ति होनेसे जातिवाचक है। इसलिये निष्ठान्तका प्रयोग पञ्चेन्द्रियके आगे किया है।

इन्द्रियके अनेक भेद है—द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय। किन्तु यहाँ इन्द्रियशब्दसे रूपादि विषयक

१. पृथुतलाद्या–अ०। पृथुलाद्या–आ०। २. यान्नि–आ० मु०।

रूपाद्युपयोगो भवति इति । रूपाद्युपयोगनिरोधे किं फलं ? रागाद्यप्रवृत्तिः । मनोज्ञामनोज्ञरूपाद्युपयोगावलंबनौ रागद्वेषौ । न ह्यनवबुध्यमानो विषयः स्वसत्तामात्रेण तौ करोति । सुप्तेऽन्यमनस्के वा रागादीनां विषयसन्निधावप्यदर्शनात् ।

> "गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
> तत्तो विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥" [पञ्चास्ति० १२९]

इति वचनाच्च । कथं स्वाध्याये प्रवर्तमानः **'विणयेण समाहिदो'** ज्ञानविनयेन समन्वितो भूत्वा यः स्वाध्यायं करोति **'तिगुत्तो य होदि'** तिसृभिर्गुप्तिभिश्च भवति । मनसोऽप्रशस्तरागाद्यनवलेपात्, अनृतरूक्षपरुषकर्कशात्मस्तवनपरदूषणादावव्यापृते, हिंसादौ शरीरेणाप्रवृत्तेश्च, **"एयग्गमणो य होदि भिक्खू"** इति पदघटना—एकमुखान्तःकरणश्च भवति भिक्षुः स्वाध्याये रतः । एतदुक्तं भवति—ध्याने प्रवृत्तिमभ्यासादयतीति । न ह्यकृतश्रुतपरिचयस्य धर्मशुक्लध्याने भवितुमर्हतः । अपायोपायभवविपाकलोकविचयादयो धर्मध्यानभेदाः । अपायादिस्वरूपज्ञानं जिनवचनबलादेव **'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः'** [त०-सू० ९।३७] इत्यभिहितत्वाच्च ॥१०३॥

प्रत्यग्रसंवेगप्रभवक्रममाचष्टे—

जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु ।
तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए ॥ १०४ ॥

उपयोग कहा गया है। अतः यह अर्थ होता है कि स्वाध्यायको करने वालेका रूपादि विषयक उपयोग रुक जाता है।

शङ्का—रूपादि विषयक उपयोगको रोकनेका क्या फल है ?

समाधान—रागादिकी प्रवृत्ति नहीं होती। राग द्वेष मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादि विषयक उपयोगका आश्रय पाकर होते हैं। जिस विषयको जाना नहीं वह विषय केवल अपने अस्तित्वमात्रसे राग द्वेषको पैदा नहीं करता। क्योंकि सोते हुए या जिसका मन अन्य ओर है उस मनुष्यमें विषयके पासमें होते हुए भी राग द्वेष नहीं देखे जाते। कहा है—'गतिमें जाने पर शरीर बनता है। शरीरसे इन्द्रियाँ बनती हैं। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है और उससे राग और द्वेष होते हैं। जो विनय पूर्वक स्वाध्याय करता है वह पञ्चेन्द्रिय सवृत और तीन गुप्तियोंसे गुप्त होता है क्योंकि उसका मन अप्रशस्त रागादिके विकारसे रहित होता है, झूँठ, रुक्ष, कठोर, कर्कश, अपनी प्रशंसा, परनिन्दा आदि वचन नहीं बोलता, तथा शरीरके द्वारा हिंसा आदिमें प्रवृत्ति नहीं करता। तथा स्वाध्यायमें लीन साधु एकाग्रमन होता है। अर्थात् ध्यानमें भी प्रवृत्ति करता है। जिसका श्रुतसे परिचय नहीं है उसके धर्मध्यान शुक्लध्यान नहीं होते। अपायविचय, उपायविचय, विपाकविचय, लोकविचय आदि धर्मध्यानके भेद हैं। अपाय आदिके स्वरूपका ज्ञान जिनागमके बलसे ही होता है। कहा भी है—आदिके दो शुक्लध्यान और धर्मध्यान पूर्ववित् श्रुतकेवलीके होते हैं ॥ १०३ ॥

नवीन संवेगके उत्पन्न होनेका क्रम कहते हैं—

गा०—जैसे-जैसे अतिशय अभिधेयसे भरा, जिसे पहले कभी नहीं सुना ऐसे श्रुतको अवगाहन करता है, तैसे-तैसे नई नई धर्मश्रद्धासे आह्लाद युक्त होता है ॥ १०४ ॥

'जह जह' यथा यथा। **'सुदं'** श्रुतं **'ओगाहदि'** अवगाहते शब्दश्रुताभिधेयमधिगच्छतीति यावत्। **'अदिसयरसपसरं अतिशयरसप्रसरं'** समयातरेषु अनुपलब्धोऽर्थोऽतिशयितो रस । शब्दस्य हि रसोऽर्थः तस्य सारत्वात् आम्रफलादिरस इव। प्रसरशब्देन प्राचुर्यमतिशयितार्थस्य सूचयति। ततोऽयमर्थोऽस्य–अतिशयाभिधेयबहुलं श्रुतमिति। ननु प्रवादिनोऽपरेऽपि स्वसमयमेव प्रशसन्ति। प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुद्धमर्थस्वरूप केवल नित्यत्वमनित्यता वा निरूपयतामागमाना नातिशयार्थप्रसरता। प्रमाणातरसवाद्यागमार्थोऽतिशयितो भवति नापरः। **'असुदपुव्वं तु'** अश्रुतपूर्वमेव। ननु भव्यानामभव्याना च कर्णगोचरतामायात्येव श्रुत किमुच्यतेऽश्रुतपूर्वमिति ? अथ श्रुताभिधेयापरिज्ञानाच्छब्दमात्र श्रुतमप्यश्रुत इति गृह्यते तदप्ययुक्त, अर्थोपयोगस्यापि असकृत् ज्ञातत्वात्। अयमभिप्राय श्रद्धानसहचारिबोधाभावाच्छ्रुतमप्यश्रुतमिति। **'तह तह पल्हादिज्जइ'** तथा तथा प्रल्हादमुपैति। **'नवनवसंवेगसड्ढाए'** प्रत्यग्रतरधर्मश्रद्धया। ननु च ससाराद्भीरुता सवेग ततोऽयमर्थ स्यादसंबंधः न दोष । ससारभीरुताहेतुको धर्मपरिणाम । आयुधनिपातभीरुताहेतुककवचग्रहणवत्। तेन सवेगशब्द कार्ये धर्मे वर्तते ॥१०४॥

निष्कपताख्यानायाह—

आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा।
विहरदि विसुज्झमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो ॥१०५॥

टी०—जैसे-जैसे श्रुतका अवगाहन करता है अर्थात् शब्द रूप श्रुतके अर्थको जानता है। वह श्रुत 'अतिशयरस प्रसर' होना चाहिये। अन्य धर्मोमे जो अर्थ नही पाया जाता उसे 'अतिशय-रस' कहा है। क्योकि शब्दका रस उसका अर्थ है वही उसका सार है। जैसे आम्रफलादिका रस। प्रसर शब्दसे अतिशयित अर्थकी बहुलता सूचित होती है। अत 'अतिशयितरस प्रसर' का अर्थ है—अतिशय अभिधेयसे भरा हुआ श्रुत।

शङ्का—अन्य मतावलम्बी भी अपने सिद्धान्तकी प्रशसा करते है ?

समाधान—प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरुद्ध अर्थके स्वरूप केवल नित्यता या केवल अनित्यता का कथन करने वाले आगम अतिशय अर्थबहुल नही है। जिस आगमका अर्थ अन्य प्रमाणोसे प्रमाणित होता है वही आगमार्थ अतिशयित होता है, अन्य नहीं। तथा वह अश्रुतपूर्व जो पहले नही सुना, होना चाहिये।

शङ्का—भव्य और अभव्य जीवोके कानोमे श्रुत सुननेमे आता ही है तब आप अश्रुत पूर्व कैसे कहते है ? यदि श्रुतके अर्थका ज्ञान न होनेसे शब्दमात्र श्रुतको अश्रुत कहते है तो यह भी ठीक नही है क्योकि अर्थके उपयोगका भी अनेक बार ज्ञान हो जाता है ?

समाधान—अभिप्राय यह है कि श्रद्धान पूर्वक ज्ञान न होनेसे श्रुत भी अश्रुत होता है। तो जैसे श्रुतका अवगाहन करता है वैसे वैसे नई नई धर्मश्रद्धासे युक्त होता है।

शङ्का—संसारसे भीरुताको सवेग कहते है। तब आपका अर्थ धर्म ठीक नही हैं।

समाधान—इसमे कोई दोष नही है। ससारसे भीरुता धर्म परिणामका कारण है। जैसे शस्त्रके आघातके भयसे कवच ग्रहण करते है इससे सवेग शब्द सवेगका कार्य जो धर्म है उसको कहता है ॥ १०४॥

आयापायविदण्हू वृद्धिहानिक्रमज्ञ । प्रवचनाभ्यासादेव रत्नत्रयाभिवृद्धि एव तथा हानिरिति यो जानाति असौ । **'दंसणणाणतवसजमे'** श्रद्धाने, ज्ञाने, तपसि, सयमे वा । **'ठिच्चा'** स्थित्वा । **'विहरदि'** प्रवर्तते । **'विसुज्झमाणो'** शुद्धिमुपयान् । **'जावज्जीवं'** जीवितकालावधि । तु शब्दोऽन्ते नेय । **'णिक्कपो दु'** विनिष्प्रकपो निश्चल एवेति यावत् । नि शकितत्वादिना दर्शनस्य वृद्धि, शकादिना हानि । अर्थव्यंजनतदुभयशुद्धया स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानवृद्धि । अनुपयोगादपूर्वार्थाग्रहणाच्च ज्ञानहानि । यथा चोक्तम्— "**पुव्वमहिदं पि णाणं [1]संकुडवियजुत्तजोगिस्स**" इति । तपसो द्वादशविधस्य वृद्धि सयमभावनया वीर्याविनिगूहनात् ज्ञानोपयोगात् । हानि पुनस्तद्विपर्ययादैहिककार्यासगाद्वा । सम्यक् पापक्रियाभ्य उपरम सयम । पापक्रियाश्चाशुभमनोवाक्काययोगा· तेन चारित्र सयम । **'पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रं'** इति वचनात् । तस्य सयमस्य वृद्धि पचविंशतिभावनाभिर्हानि तासा भावनाना अभावेन । श्रुतादिना ज्ञानादीना गुणदोष वा न वेत्ति । [2]अनिर्ज्ञातगुण कथ गुणानुपवहयेत्, अविदितदोषो वा नास्त्यजेत् । तेन शिक्षायामादर कार्य ॥१०५॥

जिनवचनशिक्षा तप इत्येतदुच्यते—

बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं ॥१०६॥

निष्कम्पताका कथन करते है—

गा०—वृद्धि और हानिके क्रमको जानने वाला श्रद्धान, ज्ञान, तप और सयममे स्थित होकर शुद्धिको प्राप्त होता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है वह निश्चल ही है ॥ १०५ ॥

टी०—प्रवचनके अभ्याससे जो यह जानता है कि ऐसा करनेसे रत्नत्रयकी वृद्धि होती है और ऐसा करनेसे हानि होती है वह श्रद्धान, ज्ञान, तप, और सयममे स्थित होकर शुद्धिको प्राप्त करता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है निष्कम्प अर्थात् निश्चल ही है।

नि शकित आदि गुणोसे सम्यग्दर्शनकी वृद्धि होती हे और शका आदिसे हानि होती है। अर्थशुद्धि, व्यजनशुद्धि और उभयशुद्धिसे तथा स्वाध्यायमे उपयोग लगानेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। उपयोग न लगानेसे तथा नवीन अपूर्व अर्थको ग्रहण न करनेमे ज्ञानकी हानि होती है। कहा है—'पूर्वमे ग्रहण किया हुआ भी ज्ञान, जो उसमे उपयोग नही लगाता उसका घट जाता है।' सयमकी भावनासे व अपनी शक्तिको न छिपाकर ज्ञानमे उपयोग लगानेसे बारह प्रकारके तपकी वृद्धि होती है। उससे विपरीत करनेसे और लौकिक कार्योंमे फँसे रहनेसे तपकी हानि होती है। पाप क्रियाओसे सम्यक् रीतिसे विरत होनेको सयम कहते है। अशुभ मनोयोग, अशुभ वचन योग और अशुभकाय योग पापक्रिया है। अत चारित्र सयम है। कहा भी है—'पाप क्रियाओसे निवृत्ति चारित्र है।' उस सयमकी वृद्धि पच्चीस भावनाओसे होती है और उन भावनाओके अभावसे सयमकी हानि होती है। शास्त्राभ्यासके बिना ज्ञान आदिके गुण अथवा दोषको नही जानता। जो गुणोको नही जानता वह कैसे गुणोको बता सकता है। और जो दोषोको नही जानता वह कैसे उन्हे छोड सकता है ? अत शिक्षामे आदर करना चाहिये ॥ १०५ ॥

जिनवचनकी शिक्षा तप है, यह कहते है—

---

१ सकुडइविजु–मु० । २ अज्ञात–आ० मु० ।

'बारसविहम्मि य' द्वादशप्रकारे। **'तवे'** तपसि। **'सब्भतरबाहिरे'** सहाभ्यन्तरबाह्याभ्यां वर्तते इति साभ्यतरबाह्य। बाह्यमभ्यन्तरं वा तपो मुक्त्वा किमन्यत्तपो नाम यत्ताभ्यां सह वर्तते इत्युच्यते ? तप सामान्य विशेषैं सह वर्तते इत्युच्यते। अजाद्यदतत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च अभ्यन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातोऽल्पस्वरादपि बाह्यशब्दात्। **'कुसलदिट्ठे'** ससार, ससारकारण, बधो, बधकारण, मोक्षस्तदुपाय इत्यत्र वस्तुनि ये कुशला. सर्वविदस्तैरुपदिष्टे। **'सज्झायसमं'** स्वाध्यायेन सदृश। **'तवोकम्म'** तप क्रिया। **'ण वि अत्थि'** नैवास्ति। **'ण वि य'** नैव। **'होहिदि'** भविष्यति। नाप्यासीदिति कालत्रयेऽपि स्वाध्यायसदृशस्यान्यस्य तपसोऽभावः कथ्यते। अत्र चोद्यते—स्वाध्यायोऽपि तपो अनशनाद्यपि तपो बुद्धेरविशेषात् कर्मतपनसामर्थ्यस्याविशेषात्। किमुच्यते स्वाध्यायसदृश तपो नेति ? कर्मनिर्जराहेतुत्वातिशयापेक्षया सदृशमन्यत्तपो नैवास्तीत्यभिप्राय। तपो नाम किमात्मपरिणामो भवेत् न वा ? आत्मपरिणामत्वे कथ कस्यचिद्बाह्यता ? अनात्मपरिणामत्वे न निर्जरां कुर्यात् घटादिवदित्यत्रोच्यते—आत्मपरिणाम एव तप। कथ तर्हि बाह्यता ? बाह्या सद्धर्ममार्गाद्ये जना तैरप्यवगम्यत्वात् बाह्यमित्युच्यतेऽनशनादि बाह्यैर्वाचरणात्। सन्मार्गज्ञा अभ्यन्तरा। तदवगम्यत्वा[१]-त्तैराचरितत्वाद्वा बाह्याभ्यन्तरमिति सूरेरभिप्राय ॥

गा०—सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट अभ्यन्तर और बाह्यभेद सहित बारह प्रकारके तपमे स्वाध्यायके समान तपक्रिया नही है और न होगी ही ॥ १०६ ॥

टी०—शंका—बाह्य और अभ्यतर तपको छोडकर अन्य तप क्या है जो बाह्य अभ्यन्तर सहित बारह प्रकारका तप कहते हो ?

समाधान—सामान्य तप विशेषोके साथ रहता है यह कहनेका अभिप्राय है। यद्यपि बाह्य शब्दमे अल्प स्वर है फिर भी अभ्यन्तर शब्दके आदिमे अच् होनेसे तथा पूज्य होनेसे अभ्यन्तर शब्दको प्रथम स्थान दिया है। ससार और ससारके कारण, बन्ध और बन्धके कारण तथा मोक्ष और उसके उपाय इन वस्तुओमे जो कुशल सर्वज्ञ है उनके द्वारा उपदिष्ट तपोमे स्वाध्यायके समान तप न है, न होगा और न था, इस प्रकार तीनो कालोमे स्वाध्यायके समान अन्य तपका अभाव कहा है।

शंका स्वाध्याय भी तप है और अनशन आदि भी तप है। दोनोमे ही कर्मको तपनेकी शक्ति समान है। फिर कैसे कहते है कि स्वाध्यायके समान तप नही है ?

समाधान—कर्मोकी निर्जरामे हेतु जितना स्वाध्याय है उतना अन्य तप नही है इस अपेक्षासे उक्त कथन किया है।

शंका—तप, क्या आत्माका परिणाम है अथवा नही है ? यदि आत्माका परिणाम तप है तो वह कैसे हुआ ? यदि तप आत्माका परिणाम नही है तो वह कर्मोकी निर्जरा नही कर सकता जैसे घट।

समाधान—आत्माका परिणाम ही तप है। तब आप कहेगे कि वह बाह्य कैसे है ? समीचीन धर्ममार्गसे जो लोग बाह्य हैं वे भी उन्हे जानते है इसलिए अनशन आदिको बाह्य तप कहा है, क्योकि बाह्य लोग भी उन्हे करते है। जो सन्मार्गको जानते है वे अभ्यन्तर है। उनके द्वारा ज्ञात होनेसे अथवा उनके द्वारा पालन किये जानेसे अभ्यन्तर कहे जाते हैं। इस प्रकार तप

१ त्वात् घटादिवत्तै—आ० मु०।

प्रतिज्ञामात्रेण स्वाध्यायस्यान्यतपोभ्योऽतिशयितता न सिद्ध्यतीति मन्यमानं प्रति अतिशयसाधनायाह—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥१०७॥
छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही ।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥१०८॥

'**जं**' यत् । '**अण्णाणी**' सम्यग्ज्ञानरहित । '**कम्म**' कर्म । '**खवेदि**' क्षपयति । '**भवसदसहस्सकोडीहिं**' भवशतसहस्रकोटिभि । '**त**' तत् कर्म । '**णाणी**' सम्यग्ज्ञानवान् । '**तिहि गुत्तो**' त्रिगुप्तियुक्त । '**खवेदि**' क्षपयति । '**अतोमुहुत्तेण**' अन्तर्मुहूर्तमात्रेण । झटिति कर्मशातनसामर्थ्यं तपसोऽन्यस्य न विद्यते इत्ययमतिशय स्वाध्यायस्य ॥१०७॥

स्वाध्याये उद्यतो गुप्तिभावनाया प्रवृत्तो भवति । तत्र च वृत्तस्य रत्नत्रयाराधनं सुखेन भवति इत्युत्तरगाथया कथ्यते—

सज्झायभावणाए य भाविदा होंति सव्वगुत्तीओ ।
गुत्तीहिं भाविदाहिं य मरणे आराधओ होदि ॥१०९॥

मनोवाक्कायव्यापारा कर्मादानहेतव सर्व एव व्यावर्तंते स्वाध्याये सति, ततो भाविता भवन्ति गुप्तय. । कृताभिमतादियोगत्रयनिरोधश्च रत्नत्रय एव घटते इति सुखसाध्यता । अनतकालाभ्यस्ताशुभ-

---

बाह्य और अभ्यन्तर कहे गये है ऐसा आचार्यका अभिप्राय है ॥१०६॥

जो कहता है कि केवल कहने मात्रसे स्वाध्यायकी अन्य तपोसे श्रेष्ठता सिद्ध नही हो सकती, उसके प्रति श्रेष्ठता सिद्ध करते है—

गा०—सम्यग्ज्ञानसे रहित अज्ञानी जिस कर्मको लाख करोड भवोमे नष्ट करता है, उस कर्मको सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियोसे युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्तमात्रमे क्षय करता है ॥१०७॥

गा०—अज्ञानीके दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करनेसे जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी शुद्धि जीमते हुए ज्ञानीके होती है ॥१०८॥

टी०—इतनी शीघ्रतासे कर्मोको काटनेकी शक्ति अन्य तपमे नही है, यह स्वाध्यायका अतिशय है ॥१०८॥

जो स्वाध्यायमें तत्पर होता है वह गुप्ति भावनामे प्रवृत्त होता है । और जो गुप्ति भावनामें प्रवृत्त होता है वह रत्नत्रयकी आराधना सुख पूर्वक करता है वह आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—स्वाध्याय भावनासे सब गुप्तियाँ भावित होती है । और गुप्तियोकी भावनासे मरते समय रत्नत्रय रूप परिणामोकी आराधनामे तत्पर होता है ॥१०९॥

टी०—स्वाध्याय करनेपर मन वचन कायके सब ही व्यापार, जो कर्मोके लानेमे कारण हैं चले जाते हैं । ऐसा होनेसे गुप्तियाँ भावित होती है । और तीनो योगोका निरोध करने वाला मुनि रत्नत्रयमे ही लगता है । अत. रत्नत्रय सुख पूर्वक साध्य होता है, इसका भाव यह है कि

योगत्रयस्य कर्मोदयसहायस्य व्यावर्तनमतिदुष्करं स्वाध्यायभावनैव क्षमा कर्तुमिति भाव । **'सज्झायभावणाए य'** स्वाध्यायभावनया वा । **'भाविदा'** भाविता । **'होंति'** भवन्ति । **'सव्वगुत्तीओ'** सर्वगुप्तय । **'गुत्तीहिं'** गुप्तिभि । **'भाविदाहिं'** भाविताभि । **'मरणे'** मरणकाले । **'आराधगो'** रत्नत्रयपरिणामाराधनपर । **'होदि'** भवति । स्वाध्यायभावनारत परस्योपदेशको भवन् इतरोऽज्ञ कमुपकार परस्य सपादयेदभव्यस्य ।१०९ ॥

परस्योपदेशकत्वे किमस्यायातमित्यत्राह—

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती ।
होदि परदेसगत्ते अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स ॥११०॥

'आदपरसमुद्धारो' आत्मनः परस्य वा उद्धरणमुद्दिश्य व्यापृत स्वाध्याये स्वकर्माण्यपि साधयति परेषामप्युपयुक्तानां । **'आणा'** "**श्रेयोर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेश**" (वरागच० १।१३।) इत्याज्ञा सर्वविदा, सा परिपालिता भवतीति शेष । **'वच्छल्लदीवणा'** वात्सल्यप्रभावना परेषामुपदेशकत्वे कृता भवति । **'भत्ती'** भक्तिश्च कृता भवति जिनवचने तदभ्यासात् । **'होदि'** भवति । **'परदेसगत्ते'** परेषामुपदेष्टृकत्वे सति । **'अव्वोच्छित्ती य'** अव्युच्छित्तिश्च । **'तित्थस्स'** तिसु चिट्ठदित्ति तित्थ मोक्षमार्ग श्रुतं वा । श्रुतमपि रत्नत्रयनिरूपणे व्यापृतत्वात् तत्रस्थ भवति । ततोऽय अर्थ —श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा **अव्युच्छित्तिरिति** ॥ ११०॥ सिक्खा गदा ॥

लिंगग्रहणानतर ज्ञानसपत्ति कार्या, ज्ञानसपदि वर्तमानेन विनयोऽनुष्ठातव्य । स च पचप्रकार इत्याह—

विणओ पुण पंचविहो णिद्दिट्ठो णाणदंसणचरित्ते ।
तवविणवो य चउत्थो चरिमो उवयारिओ विणओ ॥१११॥

अनन्तकालसे जिन तीन अशुभयोगोका इस जीवने अभ्यास किया हुआ है और कर्मका उदय **जिसका सहायक है** उससे अलग होना अत्यन्त कठिन है । स्वाध्यायकी भावना ही इसे करनेमे **समर्थ है** ॥१०९॥

जो स्वाध्यायकी भावनामे लीन रहता है वह दूसरोको भी उपदेश करता है किन्तु जो **स्वयं अज्ञानी है** वह किसी अन्य भव्यका भी क्या उपकार कर सकता है ? ऐसी स्थितिमे परको उपदेश देनेपर इसे क्या लाभ है, यह कहते हैं—

गा०—टी०-अपने और दूसरोके उद्धारके उद्देशसे जो स्वाध्यायमे लगता है वह अपने भी **कर्मोंको** काटता है और उसमे उपयुक्त दूसरोके भी कर्मोंको काटता है । सर्वज्ञ भगवानकी जो **आज्ञा है** कि कल्याणके इच्छुक जिन शासनके प्रेमीको नियमसे धर्मोपदेश करना चाहिये, उसका **भी पालन** होता है । दूसरोको उपदेश करने पर वात्सल्य और प्रभावना होती है । जिन वचनके **अभ्याससे** जिन वचनमें भक्ति प्रदर्शित होती है । दूसरोको उपदेश करनेपर मोक्षमार्ग अथवा **श्रुतरूप तीर्थकी** अव्युच्छित्ती—परम्पराका अविनाश होता है । श्रुत भी रत्नत्रयके कथनमे सलग्न **होनेसे तीर्थ है** । अतः स्वाध्याय पूर्वक परोपदेश करनेसे श्रुत और मोक्षमार्गका विच्छेद नही **होता** । वे सदा प्रवर्तित्त रहते हैं ॥११०॥

लिंग स्वीकार करनेके पश्चात् ज्ञानरूप सम्पदाका सचय करना चाहिये । और ज्ञान सम्पदाका संचय करते हुए विनय करनी चाहिये । उसके पाँच भेद हैं—उन्हे कहते है—

विनयत्यपनयति यत्कर्माशुभ तद्विनय । तथा चोक्त—"**जह्मा विणेदि कम्म अट्ठविहं चाउरंग मोक्खो य**" (मूलाचार ७।८१) इति । '**पुण**' पश्चात् जिनवचनाभ्यासोत्तरकाल । '**पंचविहो**' पचप्रकार: । '**णिद्दिट्ठो**' निर्दिष्ट । '**णाणदंसणचरित्ते**' विषयलक्षणेय सप्तमी । ज्ञानदर्शनचारित्रविषय ॥ '**तवविणओ य**' तपसि विनयश्च ॥ '**चउत्थो**' चतुर्थ: । '**चरमो**' अन्त्य: ॥ '**उवयारिओ विणयो**' उपचारविनयश्चेति ॥

ज्ञानविनयभेदानाचष्टे—

काले विणये उवधाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे ।
वंजण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अठ्ठविहो ॥११२॥

[1]**काले** स्वाध्यायवाचनकालाविह कालशब्देन गृह्येते । अन्यथा कालमन्तरेण कस्यचिदपि वृत्त्यभावात् कालग्रहणमनर्थक स्यात् । भवतु नाम कालविशेष कालशब्दवाच्य: तथापि नासौ विनयो न कर्म व्यपनयतीति, यदि व्यपनयेत्सर्वस्याकर्मवत्ता प्राप्नुयात् । '**काले**' इति सप्तम्यत पद । तेन वाक्यशेषपुरस्सरोऽय **सूत्रार्थो** जायते । साध्याहारत्वात् सर्व सूत्राणा । काले अध्ययनमिति । परिवर्जनीयत्वेन निर्दिष्ट काल सध्यापर्व-दिग्दाहोल्कापातादिक परिहृत्याध्ययन कर्म विनयति इति विणए इति प्रथमान्त: । विनय: श्रुतश्रुतधर-माहात्म्यस्तवन श्रुतश्रुतधरभक्तिरिति यावत् ।

गा०—जिनवचनके अभ्यासके पश्चात् विनय पाँच प्रकारकी कही है। ज्ञानविनय दर्शन-विनय चारित्रविनय और चतुर्थ तपविनय और अन्तिम उपचार विनय है ॥१११॥

टी०—'विनयति' जो अशुभ कर्मको दूर करती है वह विनय है। कहा है—यत आठ प्रकारके कर्मोंको दूर करती है अत: विनय है ॥१११॥

ज्ञान विनयके भेदोको कहते है—

गा०—काल, विनय, उपधान, बहुमान, तथा निह्नव, व्यजनशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि ये ज्ञानके विषयमे आठ प्रकारकी विनय है ॥११२॥

टी०—यहाँ काल शब्दसे स्वाध्यायकाल और वाचन काल ग्रहण किये जाते है। अन्यथा कालके बिना किसीका भी अस्तित्व सभव न होनेसे कालका ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा।

शका—काल शब्दका वाच्य काल विशेष रहो। किन्तु काल विनय नही है क्योकि काल कर्मको नष्ट नही करता। यदि करे तो सब ही जीव कर्म रहित हो जायेगे ?

समाधान—'काले' यह सप्तमी विभक्तिसे युक्त पद है अत इसके साथमे शेष वाक्य जोड़नेसे सूत्रार्थ होता है; क्योकि सभी सूत्र अध्याहार सहित होते है। उनमे ऊपरसे कुछ वाक्य जोडना होता है। अत 'कालमे अध्ययन' यह उसका अर्थ होता है। सन्ध्या, पर्व, किसी, दिशामे आग लगना, उल्कापात आदि जो काल छोडने योग्य कहे हैं उन कालोको छोडकर किया गया अध्ययन कर्मको नष्ट करता है। 'विणए' यह प्रथमान्त शब्द है। श्रुत और श्रुतके धारकोके माहात्म्यका स्तवन अर्थात् श्रुत और श्रुतके धारकोकी भक्ति विनय है।

---

१ 'काले' प्राप्नुयात्' इत्येतद् प्रतिषु उत्थानिकारूपेण लिखितम् ।

'**उवहाणे**' अवग्रह. । यावदिदमनुयोगद्वार निष्ठामुपैति तावदिद मया न भोक्तव्य, इद अनशन **चतुर्थ**-षष्ठादिक करिष्यामीति सकल्पः । स च कर्म व्यपनयतीति विनय ।

'**बहुमाणे**' सन्मानं । शुचे कृताजलिपुटस्य अनाक्षिप्तमनस. सादरमध्ययन । '**तह**' तथा ।

'**अणिण्हवणे**' अनिह्नवश्च निह्नवोऽपलाप । कस्यचित्सकाशे श्रुतमधीत्यान्यो गुरुरित्यभिधानमपलापः । **वंजण अत्थ तदुभये**' व्यजन शब्दप्रकाशन, अर्थ शब्दवाच्यः, तदुभयशब्देन व्यजनमर्थश्च निर्दिश्यते । **वजण** अत्यतदुभये व्यजन च अर्थश्च तदुभय चेति द्वद्वे कृते सर्वो द्वद्वो विभाषया एकवद् भवतीति एकवद्भावार्थस्य एकवचन कृत । अर्थशब्दस्य अजाद्यदतत्वादल्पाच्तरत्वाच्च पूर्वनिपातप्रसग इति चेन्न, सर्वतोऽभ्यर्हित पूर्वं **निपतति** इति व्यजनशब्द पूर्व प्रयुज्यते । कथमभ्यर्हित ? स्वय परप्रत्ययहेतुत्वात्स्वय च शब्दश्रुतादेवार्थयाथात्म्यमवैति पर चावबोधयति । अत्र च '**वंजणअत्थतदुभये सुद्धी**' इति शेष ।

तत्र व्यजनशुद्धिर्नाम यथा गणधरादिभिर्द्वात्रिंशद्दोषवर्जितानि सूत्राणि कृतानि तेषा तथैव पाठ. । शब्दश्रुतस्यापि व्यज्यते ज्ञायते अनेनेति विग्रहे ज्ञानशब्देन गृहीतत्वात् तन्मूल हि श्रुतज्ञान ।

उपधानका अर्थ अवग्रह है । जब तक आगमका यह अनुयोगद्वार समाप्त नही होता तब तक मै अमुक वस्तु नही खाऊँगा । या यह अनशन या चतुर्थ अथवा षष्ठम उपवास करूँगा इस प्रकारका संकल्प अवग्रह है । वह भी कर्मको दूर करता है अत विनय है ।

बहुमाणका अर्थ सन्मान है । पवित्र हो, दोनो हाथ जोड और मनको निश्चल करके सादर अध्ययन बहुमान है ।

निह्नव अपलापको कहते हैं । किसीके पासमे अध्ययन करके उससे अन्यको गुरु कहना है अपलाप है ।

व्यंजन शब्दके प्रकाशनको कहते है । शब्दके वाच्यको अर्थ कहते है । 'तदुभय शब्दसे व्यंजन और अर्थ कहे जाते है । 'व्यजन और अर्थ और तदुभय' इस प्रकार द्वन्द्व समास करनेपर सब द्वन्द्वोमे विकल्पसे एकवद्भाव होता है इसलिये एक वचन किया है ।

शंका—अर्थ शब्दके आदिमे अच् होनेसे और अल्प अच्वाला होनेसे पूर्व निपातका अर्थात् प्रथम रखनेका प्रसग आता है ?

समाधान—नही, क्योकि जो सबसे पूज्य होता है वह प्रथम रखा जाता है इसलिये व्यंजन शब्दका प्रयोग पहले किया है ।

शका—व्यंजन सबसे पूज्य क्यो है ?

समाधान—व्यजन अर्थात् शब्द स्वय दूसरोको ज्ञान करानेमे हेतु है, और स्वय शब्द श्रुत से ही वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानता है तथा दूसरोको ज्ञान कराता हैं।

यहाँ व्यंजन अर्थ और तदुभयके साथ शुद्धि शब्द लगाना चाहिये । गणधर आदिने जैसे बत्तीस दोषोसे रहित सूत्र रचे है उनका वैसा ही पाठ व्यजन शुद्धि है । 'व्यज्यते' अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है ऐसा विग्रह करनेपर ज्ञान शब्दसे शब्दश्रुतका भी ग्रहण होता है क्योंकि श्रुतज्ञानका मूल शब्द है ।

अथ अर्थशब्देन किमुच्यते ? व्यंजनशब्दस्य सानिध्यादर्थशब्द शब्दाभिधेये वर्तते, तेन सूत्रार्थोऽर्थ इति गृह्यते । तस्य का शुद्धि ? [2]अविपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणाया अर्थाधारत्वान्निरूपणाया अवैपरीत्यस्य अर्थशुद्धिरित्युच्यते । सूत्रार्थनिरूपणाया शब्दश्रुतत्वादविपरीतनिरूपणापि व्यजनशुद्धिरेव भवतीति नार्थशुद्धिः कदाचिदिति चेत्, न परकृत शब्दश्रुता[3]विपरीतपाठे । व्यंजनशुद्धिस्तदर्थनिरूपणाया अवैपरीत्य अर्थशुद्धि । प्रत्ययश्रुते तु अर्थयाथात्म्यप्रतिभासोऽर्थशुद्धि ॥

तदुभयशुद्धिर्नाम तस्य व्यजनस्य अर्थस्य च शुद्धि ।

ननु व्यजनार्थशुद्धयो प्रतिपादितयो तदुभयशुद्धिर्गृहीता न तद्व्यतिरेकेण तदुभयशुद्धिर्नामास्ति तत कथमष्टविधता ? अत्रोच्यते-पुरुषभेदापेक्षयेयं निरूपणा—

कश्चिदविपरीत सूत्रार्थं व्याचष्टे सूत्रं तु विपरीतं पठति । तत्तथा न कार्यमिति व्यजनशुद्धिरुक्ता । अन्यस्तु सूत्रमविपरीत पठन्नपि निरूपयत्यन्यथा सूत्रार्थं इति तन्निराकृतयेऽर्थशुद्धिरुदाहृता । अपरस्तु सूत्र विपरीतमधीते सूत्रार्थं च कथयितुकामो विपरीत व्याचष्टे तदुभयापाकृतये उभयशुद्धिरुपन्यस्ता । अयमष्टप्रकारो ज्ञानाभासपरिकरोऽष्टविध कर्म विनयति व्यपनयति विनयशब्दवाच्यो भवतीति सूरेरभिप्राय ॥११२॥

व्यंजन शब्दकी समीपतासे अर्थशब्द शब्दके वाच्यको कहता है अतः अर्थसे सूत्रार्थका ग्रहण होता है । अविपरीत रूपसे सूत्रके अर्थकी निरूपणामें निरूपणाका आधार अर्थ होता है । अत. निरूपणाकी अविपरीतताको अर्थ शुद्धि कहते है अर्थात् सूत्रके अर्थका यथार्थ कथन अर्थ शुद्धि है ।

शंका—सूत्रके अर्थकी निरूपणा शब्दश्रुत रूप होती है अतः अविपरीत निरूपणा भी व्यजन शुद्धि ही हुई, अर्थ शुद्धि कभी भी नही है ?

समाधान—नही, क्योकि दूसरेके द्वारा किया गया शब्दश्रुतका अविपरीत पाठ व्यंजन शुद्धि है। और उसके अर्थका अविपरीत निरूपण अर्थ शुद्धि है। किन्तु ज्ञानरूप श्रुतमे अर्थका ठीक-ठीक ज्ञान अर्थ शुद्धि है । व्यजन और अर्थकी शुद्धिको तदुभय शुद्धि कहते है ।

शंका—व्यजन शुद्धि और अर्थशुद्धिके कहनेपर तदुभय शुद्धि आ जाती है क्योकि उन दोनों शुद्धियोंके बिना तदुभय शुद्धि नही होती । तब आठ भेद कैसे रहे ?

समाधान—यह निरूपणा पुरुष भेदकी अपेक्षासे है । कोई व्यक्ति सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है किन्तु सूत्रको विपरीत पढता है । ऐसा नही करना चाहिये इसके लिए व्यंजन शुद्धि कही है । दूसरा व्यक्ति सूत्र तो ठीक पढता है किन्तु सूत्रका अर्थ अन्यथा कहता है उसके निराकरणके लिये अर्थ शुद्धि कही । तीसरा व्यक्ति सूत्रको ठीक नही पढ़ता और सूत्रका अर्थ भी विपरीत करता है । इन दोनोंको दूर करनेके लिये उभय शुद्धि कही है । यह आठ प्रकारका ज्ञानाभ्यासका परिकर आठ प्रकारके कर्मोंका विनयन करता है उन्हे दूर करता है इसलिये उसे विनय शब्दसे कहते है यह आचार्यका अभिप्राय है ॥११२॥

---

१ कस्य मा–आ० मु० । २ विपरीत–आ० मु० । ३ श्रुतवि०–अ० ।

दर्शनविनयसूचनपरोत्तरगाथा—

उवगूहणादिया पुव्वुत्ता तह भत्तियादिया य गुणा ।
संकादिवज्जणं पि णेओ सम्मत्तविणओ सो ॥११३॥

उवगूहणादिया उपबृंहणादिका । उपबृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना चेत्येते । **'पुव्वुत्ता'** पूर्वाचार्यैरुक्ताः पूर्वोक्ता । अस्मात् सूत्रात्पूर्वेण व सूत्रेण **"उवगूहणठिदिकरण वच्छल्लपभावणा भणिदा"** इत्यनेनोक्ताः पूर्वमुक्ता । पूर्वोक्तो वा **सम्मत्तविणओ** सम्यक्त्वविनय इति सबध्नीय । **'तह भत्तियादिगा य गुणा'** तथा भक्त्यादिकाश्च गुणा विनयस्तथा ते तत्प्रकारेण अवस्थिता इति । अर्हदादिविषया भक्त्यादिगुणा इति यावत् । **'संकादिवज्जणं पि य'** शकादिवर्जन च । चशब्द पादपूरण । **'णेओ'** ज्ञेय ॥ **'सम्मत्तविणओ'** **सम्यक्त्वविनय** इति ॥ उपबृहणादीना भक्त्यादीना च गुणाना बहुत्वात् तेषामेव च विनयत्वात् सम्मत्तविणया इति वाच्यमिति चेत्, विनयसामान्यापेक्षया तस्यैकत्वादेकवचनेन पदसस्कार कृतो न निवर्तते । न च पदातर-वाच्यापेक्षया बहुत्वमस्तीत्येतावता अप्रतिपदिकात् सुबुत्पद्यते । तथा च प्रयोग वृक्षा वनमिति ॥११३॥

चारित्रविनयनिरूपणापरा गाथा—

इंदियकसायपणिधाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो ॥११४॥

आगे दर्शनविनयका कथन करते है—

गा०—पूर्वोक्त उपगूहण या उपवृहण आदि तथा भक्ति आदि गुण, शका आदिका त्याग यह **सम्यक्त्वविनय जानो** ॥११३॥

टी०—पूर्वोक्त अर्थात् पूर्वाचार्योके द्वारा कहे गये, या इससे पहलेके गाथा सूत्र 'उवगूहण ट्ठिदिकरणं वच्छल्ल पभावणा भणिदा' के द्वारा कहे गये उपवृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और **प्रभावना ये गुण सम्यक्त्वविनय** है । तथा अर्हन्त आदि विषयक भक्ति आदि गुण सम्यक्त्वविनय है **और शंका आदि दोषोका** त्याग सम्यक्त्व विनय है ।

शंका—उपवृहण आदि और भक्ति आदि गुण बहुत हैं और वे गुण ही सम्यक्त्वकी विनय **रूप है । इस लिये गाथामें** 'सम्मत्तविणया' इस प्रकार बहुवचनका प्रयोग करना चाहिये ?

समाधान—विनय सामान्यकी अपेक्षा सम्यक्त्व विनय एक है अत एक वचन पदका **प्रयोग किया है ।** विनय पदके वाच्य बहुत होनेसे बहुपना सभव नही है क्योकि 'वृक्षा वनम्' ऐसा **प्रयोग होता है अर्थात्** वृक्ष बहुत होनेसे 'वन' मे बहुवचनका प्रयोग जैसे नही हुआ वैसे ही यहाँ **भी जानना ॥११३॥**

अब चारित्र विनयका कथन करते है—

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपसे आत्माकी परिणति न होना, और गुप्तियाँ और समितियां, यह संक्षेपसे चारित्र विनय ज्ञातव्य है ॥११४॥

---

१ णमादीया अ० । २ भत्तियादि गुणा अ० ।

इंदियकसायपणिधाणं पि य । इंद्र आत्मा तस्य लिंगमिद्रियं । यत्करण तत्कर्तृमद्यथा—परशु । करणं च चक्षुरादिक । तेनास्य कर्त्रा केनचिद्भाव्यमिति । तच्च द्विविधं द्रव्येंद्रिय भावेन्द्रियमिति । तत्र द्रव्येन्द्रिय नाम निर्वृत्युपकरणो । मसूरिकादिसस्थानो य शरीरावयव. कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृति । उपक्रियतेऽनुगृह्यते ज्ञानसाधनमिंद्रियमनेनेत्युपकरण अक्षिपत्रशुक्लकृष्णातारकादिक । भावेद्रिय नाम ज्ञानावरणक्षयोपशम-विशेषोपलब्धि., द्रव्येद्रियनिमित्तरूपाद्युपलब्धिश्च । इह इद्रियशब्देन मनोज्ञामनोज्ञरूपादिसान्निध्ये रागकोपानुगरूपादिनिर्भासाः प्रतीतयो गृहीताः ।

[1]कषयंति हिंसति आत्मक्षेत्रमिति कषायाः । अथवा **तरूणां** [2]वल्कलरस' कषाय , कषाय इव कषाय इत्युपमाद्वारेण क्रोधादौ वर्तते कषायशब्द उपमार्थ । यथा कषायो वस्त्रादे शौक्ल्यशुद्धिमपनयति, निराकर्तुं चाशक्यस्तद्वदात्मनो ज्ञानदर्शनशुद्धि विनाशयति, आत्मावलग्नश्च दु खेनापोह्यते इति । यथा वा पटादे स्थैर्यं करोति कषायस्तद्वदेव कर्मणा स्थितिप्रकर्षमात्मनि निदधाति क्रोधादि । इन्द्रियाणि च कषायाश्च इन्द्रिय-कषाया । इन्द्रियकषाययो अप्रणिधान अनाक्षेप आत्मनो व्यावर्णितेद्रियकषायापरिणति । '**गुत्ती ओ चेव**' गुप्तयश्च । **संसारकारणादात्मनो गोपनं गुप्ति** ।

ससारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनस्य कारण कर्म ज्ञानावरणादि । तस्मात्ससारकारणादात्मनो

टी०—इन्द्र आत्माको कहते है । उसका लिंग इन्द्रिय है । जो करण होता है वह कर्तावाला है जैसे परशु । चक्षु आदि करण है । अत उनका कोई कर्ता होना चाहिये। वह इन्द्रिय दो प्रकार की है—भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय । उनमेसे निर्वृति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय है । कर्मकेद्वारा जो मसूर आदिके आकाररूप शरीरका अवयव रचा जाता है वह निर्वृति है। और जिसके द्वारा ज्ञानकी साधन इन्द्रिय उपकृत होती है वह उपकरण है। जैसे आँखके पलक, आँखकी काली सफेद तारिका। ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषकी प्राप्तिको भावेन्द्रिय कहते है। और द्रव्येन्द्रियके निमित्तसे जो रूपादिका बोध होता है वह भी भावेन्द्रिय है। यहाँ इन्द्रिय शब्दसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादिके प्राप्त होनेपर जो राग और कोपको लिये हुए रूपादिकी प्रतीति होती है उनको ग्रहण किया है।

जो 'कषयन्ति' आत्माका घात करती है वे कषाय है। अथवा वृक्षोकी छालके रसको कषाय कहते है। कषायके समान जो है वह कषाय है। इस उपमाके द्वारा क्रोधादिको कषाय शब्दसे कहते है। यह उपमा रूप अर्थ है। जैसे कषाय—वृक्षकी छालका रस यदि वस्त्रपर लग जाता है तो उसकी सफेदीको हर लेता है और उसे दूर करना अशक्य होता है। उसी तरह क्रोधादि आत्माकी ज्ञान दर्शन रूप शुद्धिको नष्ट कर देता है। और आत्मासे सम्बद्ध होनेपर बडे कष्टसे छूटता है। तथा जैसे कषाय वस्त्रादिको टिकाऊ करती है वैसे ही क्रोधादि आत्मामे कर्मो की स्थितिको बढाते हैं। इन इन्द्रिय और कषायमे अप्रणिधान अर्थात् आत्माका कहे गये इन्द्रिय और कषाय रूपसे परिणत न होना चारित्र विनय है।

ससारके कारणोसे आत्माके गोपनको गुप्ति कहते हैं। द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन भाव परिवर्तन और भव परिवर्तन रूप ससारके कारण ज्ञानावरण आदि कर्म है।

---

१ का ि मु० । २. वाल्क–आ० मु० ।

गोपन रक्षा गुप्तिरित्याख्यायते। भावे क्तिं, अपादानसाधनो वा, यतो गोपनं सा गुप्तिः। गोपयतीति कर्तृसाधनो वा क्तिन्। शब्दार्थव्यवस्थेयम्। किं स्वरूप तस्या इति चेत्। सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। कायवाङ्मन कर्मणा प्राकाम्याभावो निग्रह, यथेष्ट[1]चारिताभावो गुप्ति। सम्यगिति विशेषणात्पूजापुरस्सरा क्रिया संयतो महानयमिति यशश्चानपेक्ष्य पारलौकिकर्मिदियसुख वा क्रियमाणा गुप्तिरिति कथ्यते। इति सूरयो व्यवस्थिता। रागकोपाभ्या अनुपप्लुता नोइन्द्रियमति मनोगुप्तिरिति ब्रूमहे। एव चाय वक्ष्यति सूत्रकारो **'जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ति'** मिति। अनृतपरुषकर्कशमिथ्यात्वासयमनिमित्तवचनाना अवक्तृता वाग्गुप्ति। अप्रमत्ततया यदप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितभूभागेऽचक्रमण, द्रव्यातरादाननिक्षेपशयनासनक्रियाणां अकरण कायगुप्ति कायोत्सर्गो वा।

'समिदीओ' समितय। प्राणिपीडापरिहारादरवत सम्यगयन प्रवृत्ति समिति। सम्यग्विशेषणाज्जीवनिकायस्वरूपज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा प्रवृत्तिर्गृहीता। ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गा पचसमितय.। ईर्यादिसमितीना वाक्कायगुप्तिभ्या अविशेषस्ततो भेदेनोपादानमनर्थकं, प्राणिपीडाकारिण्याः कायक्रियाया निवृत्ति· कायगुप्ति, ईर्यादिसमितयश्च तथाभूतकायक्रियानिवृत्तिरूपा। अत्रोच्यते—निवृत्तिरूपा गुप्तय प्रवृत्तिरूपा समितय· इति भेदे विशिष्टा गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपणोत्सर्गक्रिया समितय इति उच्यन्ते। **'एसो'**

उन ससारके कारणोसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षा गुप्ति कही जाती है। यहाँ भाव साधनमे क्ति प्रत्यय हुआ है। अथवा अपादान साधन कर लेना। जिससे गोपन हो वह गुप्ति है। अथवा जो रक्षा करता है वह गुप्ति है इस कर्तृसाधनमें क्तिन् प्रत्यय करनेसे गुप्ति शब्द बनता है, यह शब्दार्थ व्यवस्था है। गुप्तिका स्वरूप दूसरा है योगके सम्यक् निग्रहको गुप्ति कहते है। काय, वचन और मनकी क्रियाओकी स्वेच्छारिताके अभावको निग्रह कहते हैं। स्वेच्छाचारिताका अभाव गुप्ति है। सम्यक् विशेषणसे पूजा पूर्वक क्रियाकी और यह महान संयमी है इस यशकी अपेक्षाके बिना तथा पारलौकिक इन्द्रिय सुखकी इच्छाके बिना जो योग निग्रह किया जाता है वह गुप्ति कही जाती है। ऐसा आचार्योंने कहा है।

मनका राग और क्रोध आदिसे अप्रभावित होना मनोगुप्ति है। आगे ग्रन्थकार कहेगे—मनका रागादिसे निवृत्त होना मनोगुप्ति है। असत्य, कठोर और कर्कश वचनोको तथा मिथ्यात्व और असंयममे निमित्त वचनोको न बोलना वचनगुप्ति है। अप्रमादी होनेसे विना देखी और बिना बुहारी हुई भूमिमे गमन न करना तथा किसी वस्तुका उठाना रखना, सोना बैठना आदि क्रियाओंका न करना कायगुप्ति है। अथवा कायसे ममत्वका त्याग कायगुप्ति है।

प्राणियोको पीडा न हो, इस भावसे सम्यक् रूपसे प्रवृत्ति करना समिति है। सम्यक् विशेषणसे जीवके समूहोके स्वरूपका ज्ञान और श्रद्धान पूर्वक प्रवृत्ति ली गई है। समिति पाँच हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग।

शंका—ईर्या आदि समितियाँ वचन गुप्ति और काय गुप्तिसे भिन्न नहीं है। अतः उनका अलगसे कथन व्यर्थ है, क्योकि प्राणियोको पीडा पहुँचाने वाली शारीरिक क्रियासे निवृत्तिको काय गुप्ति कहते हैं। ईर्या आदि समितियाँ भी उसी प्रकारकी कायक्रियाकी निवृत्ति रूप है।

समाधान—गुप्तियाँ निवृत्ति रूप है और समितियाँ प्रवृत्ति रूप हैं, यह इन दोनोमे भेद है।

---

१ यथोक्त–आ०।

एष । '**चरित्तविणओ**' चारित्रविनयः । '**समासदो**' संक्षेपतः । '**णादव्वो**' ज्ञातव्य । '**होदि**' भवति ।

इंद्रियकषायाप्रणिधान मनोगुप्तिरेव किमर्थं पृथगुच्यते ? सत्यम् । वाक्कायगुप्त्योरेव गुत्तीओ इत्यनेन परिग्रह । अथवा रागद्वेषमिथ्यात्वाद्यशुभपरिणामविरहो मनोगुप्ति सामान्यभूता । इंद्रियकषायाप्रणिधानं तद्विशेष । सामान्यविशेषयोश्च कथंचिद्भेदान्न पौनरुक्त्यं । मनोगुप्तावन्तर्भूतस्यापि इंद्रियकषायाप्रणिधानस्य भेदेनोपादान चारित्रार्थिनोऽवश्यं परिहार्यत्वख्यापनार्थं वा ।

ननु त्रयोदशविध चारित्रं पंच महाव्रतानि, पंच समितय., तिस्रो गुप्तय इति । तत समितीना गुप्तीना चारित्रत्वे चारित्रस्य विनय इति कथ भेदेनाभिधानं ? व्रतान्येवात्र चारित्रशब्देनोच्यते । तेषा परिकरत्वेनावस्थिता गुप्तय समितयश्चेति सूत्रकारस्याभिप्राय. । तथा चोक्तमन्यै 'कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्यश्च विरति' अहिंसाभेदेन पंचप्रकारा गुप्तिसमितिविस्तार[1] संक्षेपो भवति । कश्चारित्रविनयव्यास[2] इति चेत् पंचविंशतिभावना । '**तस्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंचेति**' (त० सू० ७।९) निरूपिता ॥११४॥

गमन, भाषण, भोजन, ग्रहणनिक्षेप और मल मूत्र त्याग रूप क्रियाको समिति कहते है। ये सब सक्षेपसे चारित्र विनय है।

शका—इन्द्रिय और कषायमे उपयोग न लगाना तो मनोगुप्ति ही है, उसे पृथक् क्यो कहा ?

समाधान—आपका कहना सत्य है। यहाँ 'गुत्तीओ' से वचन गुप्ति और कायगुप्तिका ही ग्रहण किया है।

अथवा रागद्वेष मिथ्यात्व आदि अशुभ परिणामोका अभाव सामान्य मनोगुप्ति है। और इन्द्रिय तथा कषायमे उपयोगका न होना विशेष मनोगुप्ति है। और सामान्य तथा विशेषमे कथंचित् भेद होनेसे पुनरुक्तता दोष नही है। अथवा इन्द्रिय और कषायका अप्रणिधान यद्यपि मनोगुप्तिमे आ जाता है फिर भी उसका पृथक् ग्रहण चारित्रके इच्छुकोंको उसका त्याग अवश्य करना चाहिये, यह बतलानेके लिये किया है।

शंका—चारित्रके तेरह भेद है—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति। अत समिति और गुप्ति चारित्र है। तब इन्हे चारित्रकी विनयके रूपमें भिन्न क्यों कहा है ?

समाधान—यहाँ चारित्र शब्दसे व्रत ही कहे गये है। गुप्ति और समितियाँ उन व्रतोंके परिकर रूपसे स्थित हैं यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। अन्य आचार्योंने भी कहा है—कर्मोंको लानेमे निमित्त क्रियाओसे विरति अहिंसा आदिके भेदसे पाँच प्रकारकी हैं। गुप्ति समिति उनका विस्तार है।

शंका—चारित्र विनयका विस्तार क्या है ?

समाधान—पाँच व्रतोकी पच्चीस भावना विस्तार है। तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—उन व्रतो-की स्थिरताके लिये पाँच-पाँच भावना है ॥११४॥

---

१ स्तारसं–आ० मु० । २ यन्यास–आ० मु० ।

पणिधाणं पि य दुविहं इंदिय णोइंदियं च बोधव्वं ।
सद्दादि इंदियं पुण कोधाईयं भवे इदरं ॥११५॥

सद्दरसरूवगंधे फासे य मणोहरे य इयरे य ।
जं रागदोसगमणं पंचविहं होदि पणिधाणं ॥११६॥

णोइंदियपणिधाणं कोधो माणो तधेव माया य ।
लोभो य णोकसाया मणपणिधाणं तु त वज्जे ॥११७॥

तपोनिरूपणार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

उत्तरगुणउज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सद्धाए ।
आवासयाणमुचिदाण अपरिहाणी अणुस्सेओ ॥११८॥

सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यामुत्तरकालभावित्वात्सयम उत्तरगुणशब्देनोच्यते । न हि श्रद्धान ज्ञान चातरेण सयम प्रवर्तते । अजानत श्रद्धानरहितस्य वाऽसयमपरिहारो न सभाव्यते । तेनायमर्थ —सयमोद्योग[1] इति तपसो निर्जराहेतुता सति सयमे, नान्यथेति तपस सयम परिकर । तथा चाहु **'सजमहीण च तव जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ'** इति । **'सम्मं'** सम्यक् । सक्लेश दैन्य चातरेण **'अधियासणं'** सहन क्षुधादे ।

गा०—प्रणिधानके भी दो भेद है इन्द्रिय और नोइन्द्रिय । शब्द आदि इन्द्रिय और क्रोधादिक नोइन्द्रिय प्रणिधान है ऐसा जानना ॥ ११५ ॥

गा०—मनोहर और अमनोहर शब्द, रस, रूप गन्ध और स्पर्शमे जो राग द्वेष होता है वह पाँच प्रकारका इन्द्रिय प्रणिधान होता है ॥ ११६ ॥

गा०—नो इन्द्रिय प्रणिधान क्रोध मान तथा माया लोभ और नोकषाय है। ये तो मन प्रणिधान छोडना चाहिये[2] ॥ ११७ ॥

तपका कथन करनेके लिये आगे दो गाथा कहते है—

गा०—उत्तर गुण अर्थात् संयममे उद्यम सम्यक् रीतिसे भूख प्यास आदिको सहन करना, तपमे अनुराग पहले कहे गये छह आवश्यकोकी न्यूनता न होना आधिक्य न होना ॥ ११८ ॥

टी०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके उत्तर कालमे होनेसे सयमको उत्तरगुण कहते हैं। श्रद्धान और ज्ञानके बिना सयम नही होता । अथवा जो जानता नही है और न जिसे श्रद्धा है वह असंयमका त्याग नही कर सकता। इससे यह अर्थ हुआ कि सयमके होने पर तप निर्जराका कारण होता है, अन्यथा नही होता। इस प्रकार संयम तपका परिकर है। कहा भी है—'जो

१ द्योततपसो–आ० मु० । २. गा० ११४, ११५, ११६ पर टीका नही है । आशाधरजीने अपनी टीकामें कहा है कि टीकाकार इन्हे स्वीकार नही करता ।–सं० ।

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानेषु क्षुत्तृड्जनितवेदनया अव्याकुलता, कथमिदमुद्वहामीति वा अदीनता, भक्तपानयोर्मनसोऽप्रणिधानं, अद्मि पिबामीति वा भक्तकथापरित्याग', तत्कथनानादर इतस्ततश्चापरिवर्तन क्षुधा तृषा वा बाधितोऽस्मीति एवं वचन सहन, अथवा भोजनदिवसे याचाया अकरण, श्रातोऽम्युपवासेन रूक्ष भोक्तु न शक्नोमि क्षीरघृतशर्करादिक दातव्यमिति वचनेन याचाया अकरणं, मनसा वा यदीद लभ्यते भद्र स्यात् इति वाऽप्रार्थना, कायसज्ञया वा क्षीरादीनामप्रदर्शन क्षीरादिदाने वाऽप्रहसितायमानमुखता, शीतरूक्षाद्याहारदाने वा अकुपिताननता, अलाभेऽपि लाभादलाभो मे पर तपोवृद्धिरिति सकल्पेनालाभपरीषहसहन वा, अथवा लौकिकाना धर्मस्थाना वा सत्कारपुरस्काराकरणे तपसि महति वर्तमानोऽप्यहमेतेषा न पूजित इति कोपसक्लेशाकरण । सत्कारपुरस्कारपरीषहसहन वा ।

रसपरित्यागं कृतवत रसवदाहारकथादर्शनोपजायमानतदादरनिवारण रसपरित्यागजातशरीरसतापक्षमा वा सहन । आतापयोगधारिणो घर्माद्युपनिपाते असक्लिष्टचित्तता तत्प्रतीकारवस्तुषु अनादरश्च सहन । जनविविक्तदेशे वसत पिशाचव्यालमृगाद्यवलोकनादिकृतभीतिव्युदासोऽरतिविजयश्च सहन । प्रायश्चित्तमाचरतोऽपि महदिद दत्त गुरुणा बलाबलं ममानिरूप्येति कोपाकरण, प्रायश्चित्तकरणजनितश्रमेण वा असक्लिष्टतासहन । ज्ञानविनये वर्तमानस्य क्षेत्रकालशुद्धिकरणे मामेव नियोजयति इति कोपनिरासो वा, तद्गतश्रमे असक्लेशश्च सहन । दर्शनविनये अभ्युद्यतस्य सन्मार्गात्प्रच्यवमानस्य स्थिरीकरण महानायास,

---

सयमके बिना तप करता है वह निरर्थक करता है।' 'सम्मं' का अर्थ सम्यक् है अर्थात् सक्लेश और दीनताके बिना भूख आदिका सहन करना। अनशन, अवमौदर्य और वृत्ति परिसख्यान नामक तपोंमें भूख प्याससे होने वाली वेदनासे व्याकुल न होना कि कैसे इसे सहूँगा। अथवा अदीनता, खान-पानमे मनको न लगाना, मै खाता हूँ पीता हूँ इस रूपमें भोजनकी कथा न करना, उसकी कथामे आदर भाव न रखना, इधर उधर नही घूमना, मै भूख या प्याससे पीडित हूँ इस प्रकारके वचनको सहन करना, अथवा भोजनके दिन माँगना नही, मै उपवासमें कमजोर हो गया हूँ, रूखा भोजन नही कर सकता, दूध घी शक्कर आदि देना चाहिये। इस प्रकारके वचनसे याचना नही करना अथवा यदि अमुक वस्तु प्राप्त हो तो उत्तम है ऐसी मनसे प्रार्थना न करना अथवा शरीरके सकेतसे दूध आदिको न दिखलाना, अथवा दाता दूध आदि दे तो मुखको प्रफुल्लित न करना और ठडा रूखा आहारादि दे तो मुख पर क्रोध न लाना अथवा भोजन न मिलने पर लाभसे अलाभमे मेरे तपकी परम वृद्धि है ऐसा संकल्प करके अलाभ परीषहको सहना, अथवा लौकिक या धर्मात्मा पुरुषोके द्वारा आदर सम्मान न करने पर 'मै महान् तपस्वी हूँ फिर भी इन्होंने मेरी पूजा नहीं की' इस प्रकारका कोप और सक्लेश न करना, अथवा सत्कार पुरस्कार परीषहको सहना।

यदि रसका त्याग किया है तो रस युक्त आहारकी कथा अथवा रस युक्त आहारको देखनेसे उसके प्रति उत्पन्न हुए आदर भावका निवारण करना, रसको त्यागनेसे शरीरमे उत्पन्न हुए सतापको सहना। यदि आताप योग धारण किया है तो धूप आदि आने पर चित्तमे संक्लेश न करना, और उसका प्रतीकार करने वाली वस्तुओमे आदर भाव न करना, मनुष्योसे शून्य देशमे निवास करते हुए पिशाच, सर्प, मृग आदिको देखने आदिसे उत्पन्न हुए भयको रोकना तथा अरति परीषहको जीतना। प्रायश्चित करते हुए भी 'गुरुने मुझे मेरा बलाबल न देखकर महान् प्रायश्चित दे दिया' इस प्रकार कोप न करना अथवा प्रायश्चित करनेसे उत्पन्न हुए श्रमसे मनमे सक्लेश न करना। ज्ञान विनय करते समय 'क्षेत्र शुद्धि काल शुद्धि करनेमे मुझे ही लगाते है' इस

स्वचेतसोपि ऋजुतापादनमतिदुष्करं किमंग पुनः परस्येत्यसंकल्प' सहनं। पुरस्कृतचारित्रविनयस्य ईर्यादिसमितयो दुष्कराः। जीवनिकायाकुले जगति कियंत' परिहर्तु शक्यते ? निपुणतरं प्रतिपदन्यास जीवावलोकने तत्परिहृतौ च कियद्‌गन्तु शक्यते ? तथा प्रवर्तमानं बाधन्तेतरामातपादय। नवकोटिपरिशुद्धा भिक्षा क्व लप्स्यते, खलेषु कृतज्ञता वेति मनसोऽप्यप्रणिधान चारित्रविनय। तपोविनयमुपगतस्यानशनादितपोऽनुष्ठानातिशयस्य मम स्वल्पमसंयमं अप्रासुकोदकपानेन, अशुद्धभिक्षाग्रहणेन वा जात तप एवोन्मूलयतीति असंकल्पं सहन। असकृदभ्युत्थान, अनुगमन प्रेषणकरण, उपकरणशोधनादिक वा क कर्तु शक्नोति प्रतिदिनमित्यनभिसंधिरुपचारविनयसहनं।

'**सद्दा य**' श्रद्धा च। क्व तपसि। तपसा सपाद्यमुपकारमात्मनोऽवलोक्य बुद्धया तपो हि प्रत्यग्रं कर्म सवृणोति, चिरार्जिताना कर्मणा निर्जरामापादयति, इद्रचक्रलाछनादिसपदोऽप्यानयति। समीचीनस्य तपसोऽलाभादेव जननमरणावर्तसहन, असुखाकुले भवाभोधौ पर्यटन ममासीद् भविष्यति च तथैव इति तपस्यनुराग कार्य।

'**आवासगाणं**' आवश्यकाना। ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासग इति व्युत्पत्तावपि सामायिकादिष्वेवाय शब्दो वर्तते। व्याधिदौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवश परवश इति यावत्। तेनापि कर्तव्य कर्मेति। यथा आशु गच्छतीत्यश्व इति व्युत्पत्तावपि न व्याघ्रादौ वर्तते अश्वशब्दोऽपि तु प्रसिद्धिवशात् तुरग एव। एवमिहापि अवश्य यत्किचन कर्म इतस्तत परावृत्तिराक्रदन, पूत्करण वा न तद्गृण्यते अथवा आवास-

---

प्रकारका कोप न करना अथवा उससे होने वाले श्रमसे संक्लेश भाव न करना, उसे सहना। दर्शन विनय करते हुए 'सन्मार्गसे गिरते हुएको स्थिर करना बडा कठिन है अपने चित्तको भी सरल करना कठिन है फिर दूसरेका तो कहना क्या। इस प्रकार संकल्प न करना उसे सहना। चारित्र विनय करने वालेको, 'ईर्या आदि समितियाँ दुष्कर हैं, यह जगत जीवोसे भरा है कहाँ तक उन्हे बचाया जा सकता है ? अत्यन्त कुशलता पूर्वक पदको रखते हुए जीवोंको देखकर उन्हे बचाते हुए चलनेमे कौन समर्थ है ? इस प्रकारसे चलने पर आतप आदिकी अत्यन्त बाधा होती है। दुर्जनोमे कृतज्ञताकी तरह नौ कोटिसे शुद्ध भिक्षा कहाँ मिलती है' इस प्रकार मनमे न सोचना चारित्र विनय है। तप विनय करने वालेके 'अनशन आदि तपके अनुष्ठानमे लगे मेरे अप्रासुक जल पीने अथवा अशुद्ध भिक्षाके ग्रहणसे हुआ थोडा सा असयम तपसे नष्ट हो जाता है' इस प्रकारका संकल्प न करना सहना है। 'बार-बार उठना, पीछे जाना, आज्ञा पालना, उपकरण आदि शुद्धि, कौन प्रतिदिन कर सकता है' इस प्रकारका संकल्प न करना उपचार विनय सहन है। तप नवीन कर्मोंका आना रोकता है। चिरकालसे सचित कर्मोंकी निर्जरा करता है। इन्द्र, चक्रवर्ती आदिको सपदा भी लाता है। सम्यक् तपके अलाभसे ही जन्म मरणके चक्र और दु खसे भरे ससार समुद्रमे भ्रमण मुझे करना पडा है तथा करना पडेगा, इस प्रकार तपके द्वारा होने वाले उपकारोको अपनेमे देखकर तपमे अनुराग करना चाहिये।

न वश, अवश और अवशका कर्म आवश्यक है। ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी सामायिक आदिको ही आवश्यक कहते हैं। व्याधि, दुर्बलता आदिसे पीड़ितको भी अवश या परवश कहते हैं, और उसके द्वारा किया गया कर्म आवश्यक है। किन्तु जैसे जो 'आशु' शीघ्र चलता है वह अश्व (घोडा) हैं ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी व्याघ्र आदिको अश्व नही कहते, बल्कि प्रसिद्धिवश घोड़ेको ही अश्व कहते हैं। वैसे ही यहाँ भी जो अवश्य कर्म हैं—यहाँ-वहाँ घूमना, रोना, चिल्लाना

काना इत्ययमर्थः । आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवो, वंदना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, व्युत्सर्ग इत्यमीषा ।

तत्र सामायिकं नाम चतुर्विध नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन । निमित्तनिरपेक्षा कस्यचिज्जीवादेरध्याहिता संज्ञा सामायिकमिति नामसामायिकम् । सर्वसावद्यनिवृत्तिपरिणामवता आत्मना एकीभूतं शरीर यत्तदाकार-सादृश्यात्तदेवेदमिति स्थाप्यते यच्चित्रपुस्तादिकं तत्स्थापनासामायिकम् । आगमद्रव्यसामायिक नाम 'श्रुतस्याद्य सामायिकं नाम ग्रथ , तदर्थज्ञो य सामायिकाख्यात्मपरिणामप्रत्यवभास प्रत्ययरूपेण साप्रतमपरिणत आत्मा । नो आगमद्रव्यसामायिक नाम यत्त्रिविकल्पं ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदेन । सामायिकज्ञस्य यच्छरीर तदपि सामायिकज्ञानकारण, आत्मेव शरीरमतरेण तस्याभावात् । यस्य हि भावाभावौ नियोगतो यदनुकरोति तत्तस्य कारणमिति हेतुफलव्यवस्था वस्तुषु । तत' प्रत्ययसामायिकस्य कारणत्वाच्छरीरं त्रिकालगोचरं सामायिकशब्द-वाच्य भवति । चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषसहायो य आत्मा भविष्यत्सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः सोऽभि-धीयते भाविसामायिकशब्देन । चारित्रमोहनीयाख्यं कर्म परिप्राप्तक्षयोपशमावस्थ नो आगमद्रव्यतद्व्यतिरिक्त-कर्म सामायिकमिति ग्राह्य । आगमभावसामायिकं नाम प्रत्ययसामायिक । नो आगमभावसामायिक नाम सर्व-सावद्ययोगनिवृत्तिपरिणाम । अयमिह गृहीत' ।

चतुर्विंशतिसख्याना तीर्थकृतामत्र भारते प्रवृत्ताना वृषभादीना जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा

आदि, उन्हे आवश्यक नही कहते । अथवा 'आवासयाण' का अर्थ आवासक है । जो आत्मामें रत्नत्रयका आवास कराते हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ।

उनमेंसे नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे सामायिकके चार भेद है । निमित्तकी अपेक्षाके बिना किसी जीव आदिका नाम सामायिक रखना नाम सामायिक है । सर्व सावद्यके त्याग रूप परिणाम वाले आत्माके द्वारा एकीभूत शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है उस आकारके समान होनेसे 'यह वही है' इस प्रकार जो चित्र, पुस्त आदिमे स्थापना की जाती है वह स्थापना सामायिक है । द्वादशाग श्रुतका आद्य ग्रन्थका नाम सामायिक है । उसके अर्थका जो ज्ञाता है जिसे सामायिक नामक आत्म परिणामका बोध है किन्तु जो वर्तमानमे उस ज्ञानरूपसे परिणत नहीं है अर्थात् उसका उपयोग उसमें नही है वह आगम द्रव्य सामायिक है । नो आगम द्रव्य सामायिक ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे तीन प्रकार है । सामायिकके ज्ञाता का जो शरीर है वह भी सामायिकके ज्ञानमे कारण है क्योंकि आत्माकी तरह शरीरके बिना भी ज्ञान नही होता । जिसके होने पर जो नियमसे होता है और अभावमे जो नही होता, वह उसका कारण है । ऐसी वस्तुओंमे कार्य कारणभावकी व्यवस्था है । अत. ज्ञान सामायिकका कारण होनेसे त्रिकालवर्ती शरीर सामायिक शब्दसे कहा जाता है । चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशम विशेषकी सहायतासे जो आत्मा भविष्यमे सर्वसावद्ययोगके त्यागरूप परिणाम वाला होगा उसे भावि सामा-यिक शब्दसे कहा जाता है । जो चारित्र मोहनीय नामक कर्म क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त है वह नोआगमद्रव्य तद्व्यतिरिक्त सामायिक है । प्रत्यय रूप सामयिक आगमभाव सामायिक है । और सर्वसावद्य योगके त्यागरूप परिणाम नोआगमभाव सामायिक है । यहाँ इसीको ग्रहण किया है ।

इस भारतमें हुए वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोके जिनवरत्व आदि गुणोके ज्ञान और श्रद्धान

चतुर्विशतिस्तवनपठनक्रिया नोआगमभावचतुर्विशतिस्तव इह गृह्यते ।

वदना नाम रत्नत्रयसमन्विताना यतीना आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणा गुणातिशय विज्ञाय श्रद्धापुरःसरेण अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्ति । प्रत्येकं तयोरनेकभेदता कर्तव्य केन, कस्य, कदा, कस्मिन्कतिवारानिति । अभ्युत्थान केनोपदिष्ट, किवा फलमुद्दिश्य कर्तव्य ? पूर्वमेव विनय कर्तव्यतयोपदिष्ट सर्वेजिनै कर्मभूमिषु सदा मानकषायभग । गुरुजने बहुमान, तीर्थकराणा आज्ञासपादन श्रुतधर्माराधनाक्रिया भावशुद्धिरार्जव, तुष्टि च फलमपेक्ष्य[1] केन तत् क्रियते । अमानिना, सविग्नेन, अनलसेनाशठेनानुग्रहकारणार्थिना, परगुणप्रकाशनोद्यतेन सघवत्सलेन । असयतस्य सयतासयतस्य वा नाम्युत्थान कुर्यात्, पार्श्वस्थपचकस्य वा । रत्नत्रये तपसि च नित्यमभ्युद्यताना अभ्युत्थान कर्तव्य कुर्यात् । सुखशीलजनेऽभ्युत्थान कर्मबन्धनिमित्त प्रमादस्यापनोबृहणकरणात् । सविग्नजन प्रति क्रियमाणमभ्युत्थान निर्जरानिमित्त विरतिस्थापनोपबृहणकरणात् । वाचनामनुयोग वा शिक्षयत अवमरत्नत्रयस्याभ्युत्थातव्य तन्मूलेऽध्ययन कुर्वद्भि सर्वैरेव । वसते , कायभूमित , भिक्षात , चैत्यात्, गुरुसकाशात्, ग्रामातराद्वा आगमनकालेऽभ्युत्थातव्य । गुरुजनश्च यदा निष्क्रामति निष्क्राम्य प्रविशति वा तदा तदा अभ्युत्थान कार्य । अनया दिशा यथागममितरदप्यनुगतव्यम् ।

दुऊणदं जहाजादं बारसावत्तमेव य ।
चदुस्सिर तिसुद्धं च किदिकम्मं पउंजए ॥ [मूलाचार-७।१०४]

पूर्वक चौबीस स्तवनोको पढना नोआगमभाव चतुर्विशतिस्तव है । उसीका यहाँ ग्रहण है ।

रत्नत्रयसे सहित आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक और स्थविर मुनियोके गुणातिशयको जानकर श्रद्धापूर्वक अभ्युत्थान और प्रयोगके भेदसे दो प्रकारकी विनयमे प्रवृत्तिको वन्दना कहते है । उन अभ्युत्थान विनय और प्रयोग विनयके अनेक भेद है कि किमको किसका कब, कितनी बार करना चाहिये ।

शंका—अभ्युत्थानका उपदेश किसने दिया है और किस फलके उद्देशसे करना चाहिए ?

समाधान—सब जिनदेवोने कर्मभूमियोमे सदा प्रथम ही कर्तव्यरूपसे विनयका उपदेश दिया है । विनयसे मानकषायका विनाश होता है । गुरुजनोमे बहुमान, तीर्थङ्करोकी आज्ञाका पालन, श्रुतमे कहे गये धर्मकी आराधना, परिणाम विशुद्धि, आर्जव और सन्तोषरूप फलकी अपेक्षा करके विनय की जाती है । यह विनय कौन करता है ? जो मान रहित समारसे विरक्त, निरालसी, सरल अनुग्रह करनेका इच्छुक, दूसरोके गुणोको प्रकट करनेमे तत्पर और सघका प्रेमी होता है वह विनय करता है । असयमी और सयमासंयमी तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकारके भ्रष्ट मुनियोके सन्मानमे उठना नही चाहिए । जो रत्नत्रय और तपमे नित्य तत्पर रहते है उनके प्रति उठना चाहिए । जो सुखशील साधु हैं उनके सन्मानमे उठना कर्मबन्धका कारण है क्योंकि वह प्रमादको बढानेमें कारण होता है । जो वाचना देता है अथवा अनुयोगका शिक्षण देता है वह अपनेसे रत्नत्रयमे न्यून भी हो तब भी उनके पासमे सब अध्ययन करनेवालोको उनके सन्मानमें उठकर खडा होना चाहिए । वसतिसे, कायभूमिसे, भिक्षासे, जिन मन्दिरसे, गुरुके पाससे अथवा ग्रामान्तरसे आनेके समय उठना चाहिए । जब-जब गुरुजन निकलते है अथवा निकलकर प्रवेश करते हैं तब तब अभ्युत्थान करना चाहिए । इसी प्रकार आगमसे अन्य भी जानना चाहिए ।

१. क्ष्यत्केन तत्–आ० मु० ।

इत्यादिक' प्रयोगविनय ।

प्रतिक्रमण प्रतिनिवृत्ति षोढा भिद्यते-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन । अयोग्यनाम्नामनुच्चारणं नामप्रतिक्रमण भट्टि दारिगा सामिणी इत्यादिकमयोग्य नाम। आप्ताभासानामर्च्चा, त्रसस्थावराणा रूपाणि लिखितान्युत्कीर्णानि वा स्थापनाशब्देनेह गृह्यन्ते । तत्राप्ताभासप्रतिमाया पुर स्थिताया यदभिमुखतया कृताजलिपुटता, शिरोवनति , गंधादिभिरभ्यर्च्चनं च न कर्तव्यम् । एव सा स्थापना परिहृता भवति । त्रसस्थावरादिस्थापनानामविनाशन, अमर्द्दन, अताडन वा परिहार प्रतिक्रमण । वास्तुक्षेत्रादीना दशप्रकाराणा उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टाना वसतीना, उपकरणाना, भिक्षाणा च परिहरण, अयोग्याना चाहारदीना, गृद्धेर्दर्पस्य च कारणाना सक्लेशहेतूना वा निरसन द्रव्यप्रतिक्रमण । उदककर्द्दमत्रसस्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु गमनादिवर्जन क्षेत्रप्रतिक्रमण । यस्मिन्वा क्षेत्रे वसतो रत्नत्रयहानिर्भवति तस्य वा परिहार , तच्च किं ? ज्ञानतपोवृद्धैरनाध्यासित । रात्रिसध्यात्रयस्वाध्यायावश्यककालेषु गमनागमनादिव्यापाराकरणात् कालप्रति-

---

मूलाचारमे कहा है—क्रियाकर्ममे दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति, और तीन शुद्धियाँ होती है। पंचनमस्कारके आदिमे एक नमस्कार और चौबीस तीर्थंकरोके स्तवनके आदिमे दूसरा नमस्कार इस प्रकार दो नमस्कार होते है—पचनमस्कारका उच्चारण करनेके प्रारम्भमे मनवचनकायके सयमनरूप तीन शुभयोगोके सूचक तीन आवर्त होते है। पचनमस्कारकी समाप्ति होनेपर भी उसी प्रकार तीन आवर्त होते है। इसी प्रकार चौबीस तीर्थङ्करोंके स्तवनके आदि और अन्तमे तीन-तीन आवर्त होते हैं। इस प्रकार बारह आवर्त होते है। अथवा एकबार प्रदक्षिणा करनेपर चारो दिशाओमे चार प्रणाम होते है। इस प्रकार तीन प्रदक्षिणाओमे बारह प्रणाम होते है। पचनमस्कार और चतुर्विंशति स्तवके आदि और अन्तमे दोनो हाथ मुकुलितकर मस्तकसे लगाना, इस तरह चार सिर होते है। इस प्रकार मनवचनकायकी शुद्धिपूर्वक क्रियाकर्म होता है यह सब प्रयोग विनय है।

दोषोसे निवृत्तिको प्रतिक्रमण कहते है। उसके छह भेद है—नामप्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण। अयोग्य नामोका उच्चारण न करना नाम प्रतिक्रमण है। भट्टिनी, दारिका, स्वामिनी इत्यादि अयोग्य नाम है। स्थापना शब्दसे यहाँ आप्ताभासोकी मूर्ति, त्रस और स्थावरोकी आकृतियाँ लिखित या खोदी हुई, ग्रहण की गई है। उनमेसे आप्ताभासोकी प्रतिमाओके सन्मुख हाथ जोडना, सिर नमाना और गन्ध आदिसे पूजन नही करना चाहिए। इस प्रकार करनेसे उस स्थापनाका परिहार हो जाता है यह स्थापना प्रतिक्रमण है।

त्रस स्थावर आदिकी स्थापनाओको नष्ट न करना अथवा तोडना-फोड़ना आदि न करना स्थापना प्रतिक्रमण है। मकान खेत आदि दस प्रकारकी परिग्रहोका, उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंसे दूषित वसतिकाओका, उपकरणोका, और भिक्षाओका, अयोग्य आहार आदिका और जो तृष्णा और मदके तथा सक्लेशके कारण है उन द्रव्योका त्याग द्रव्य प्रतिक्रमण है। जल, कीचड और त्रस स्थावर जीवोसे भरे क्षेत्रोमे आने जानेका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है। अथवा जिस क्षेत्रमे रहनेसे रत्नत्रयकी हानि हो उसका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है। ऐसे क्षेत्रोमें ज्ञान और तपसे वृद्ध मुनिगण नही रहते, इसलिए उनमे रहना वर्जित है। रात, तीनो सन्ध्या, स्वाध्याय

क्रमण । कालस्य दुष्परिहार्यत्वात्कालाधिकरणव्यापारविशेषा कालसाहचर्यात्कालशब्देन गृहीता । मिथ्यात्वम-सयम , कषाय , राग , द्वेष , सज्ञा, निदान, आर्तरौद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामा , पुण्यास्रवभूताश्च शुभपरिणामा इह भावशब्देन गृहीता गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमण इति केषाचिद्व्याख्यान । चतुर्विधमित्यपरे । निमित्तनिरपेक्ष कस्यचिन्नामत्वेन नियुज्यमान प्रतिक्रमणमित्यभिधान नामप्रतिक्रमण । अशुभपरिणामना विशिष्टजीवद्रव्यानुगतशरीराकारसादृश्यापेक्षया चित्रादिरूप स्थापित स्थापनाप्रतिक्रमण । प्रमाणनयनिक्षेपादिभि प्रतिक्रमणावश्यकस्वरूपज्ञ[1]स्तत्रानुपयुक्त प्रत्ययप्रतिक्रमणकारणत्वात् आगमद्रव्यप्रतिक्रमणशब्देनोच्यते । नो आगमद्रव्यप्रतिक्रमण त्रिविध ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदैः । यथात्मा कारण प्रतिक्रमणपर्यायस्य, तथा तदीयमपि शरीर त्रिकालगोचरमिति प्रतिक्रमणशब्दवाच्य भवति । चारित्रमोहक्षयोपशमसानिध्ये भविष्यत्प्रतिक्रमणपर्याय आत्मा भाविप्रतिक्रमण । क्षयोपशमावस्थामुपगत चारित्रमोह नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तकर्म प्रतिक्रमण । प्रतिक्रमणप्रत्यय आगमभावप्रतिक्रमण । मिच्छाणाणमिच्छादसणमिच्छाचारित्तादो पडिविरदोमित्ति एवं स्वरूपज्ञान । अशुभपरिणामदोषमवबुध्य श्रद्धाय तत्प्रतिपक्षपरिणामवृत्तिर्नोआगमभावप्रतिक्रमण ।

सामायिकात्[2] प्रतिक्रमणस्य को भेद ? सावद्ययोगनिवृत्ति सामायिक । प्रतिक्रमणमपि अशुभमनोवाक्कायनिवृत्तिरेव तत्कथ षडावश्यकव्यवस्था ?

और षडावश्यकोके कालमे गमन आगमन आदि व्यापार न करना काल प्रतिक्रमण है । कालका त्याग तो अशक्य जैसा है अतः कालमे होनेवाले कार्य विशेषोको कालके सम्बन्धसे काल शब्दसे ग्रहण किया है । मिथ्यात्व, असयम, कषाय, राग, द्वेष, आहारादि सज्ञा, निदान, आर्त रौद्र इत्यादि अशुभ परिणाम और पुण्यास्रवभूत शुभ परिणाम यहाँ भाव शब्दसे ग्रहण किये है । उनसे निवृत्ति भाव प्रतिक्रमण है । ऐसा किन्ही आचार्योंका व्याख्यान है ।

अन्य आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते है । निमित्तकी अपेक्षा न करके किसीका प्रतिक्रमण नाम रखना नामप्रतिक्रमण है । अशुभ परिणामवाले जीवोके शरीरका जैसा आकार होता है उस आकारके सादृश्यकी अपेक्षासे चित्रमे अशुभ परिणामोकी स्थापना स्थापना प्रतिक्रमण है ? प्रमाण नय-निक्षेप आदिके द्वारा प्रतिक्रमण नामक आवश्यकके स्वरूपका जो ज्ञाता उसमे उपयुक्त नही है वह प्रतिक्रमण विषयक ज्ञानका कारण होनेसे आगम द्रव्य प्रतिक्रमण शब्दसे कहा जाता है । नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमणके तीन भेद है—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त । जैसे प्रतिक्रमण पर्यायका कारण आत्मा है वैसे उसका त्रिकालवर्ती शरीर भी कारण है इसलिए वह प्रतिक्रमण शब्दसे कहा जाता है । चारित्रमोहके क्षयोपशमके होनेपर जो आत्मा भविष्यमे प्रतिक्रमण पर्यायरूप होगा वह भावि प्रतिक्रमण है । क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त चारित्रमोह कर्म नोआगमद्रव्य व्यतिरिक्त कर्म प्रतिक्रमण है । प्रतिक्रमणरूप ज्ञान आगम भाव प्रतिक्रमण है । अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे मै विरत हूँ इस प्रकारका स्वरूपज्ञान आगमभाव प्रतिक्रमण है । अशुभ परिणामके दोषको जानकर और उसपर श्रद्धा करके उसके प्रतिपक्षी शुभपरिणामोमे प्रवृत्ति नोआगमभाव प्रतिक्रमण है ।

शका—सामायिक और प्रतिक्रमणमे क्या भेद है ? सावद्ययोगसे निवृत्ति सामायिक है और अशुभ मनवचनकायसे निवृत्ति प्रतिक्रमण है तब छह आवश्यककी व्यवस्था कैसे सम्भव है ?

१ ज्ञस्तत्रा–आ० मु० । २ कस्य प्र–आ० मु० ।

अत्रोच्यते—सव्वं सावज्जजोग पच्चक्खामीति वचनाद्धिंसादिभेदमनुपादाय सामान्येन सर्वसावद्ययोग-निवृत्ति सामायिकं । हिंसादिभेदेन सावद्ययोगविकल्पं कृत्वा ततो निवृत्ति प्रतिक्रमणं ।

"मिच्छत्तपडिक्कमणं, तहेव असंजमपडिक्कमणं ।
कसाएसु पडिक्कमणं, जोगेसु अप्पसत्थेसु" ॥ [मूलाचा० ७।१२०]

इति वचनादिति केचित्परिहरन्ति ।

इद त्वन्याय्य प्रतिविधान । योगशब्देन वीर्यपरिणाम उच्यते । स च वीर्यान्तिरायक्षयोपशमजनित-त्वात् क्षायोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिरशुभकर्मादाननिमित्तयोगरूपेण अपरिणतिरात्मन सामायिक । मिथ्या-त्व[1]मसयम कषायाश्च दर्शनचारित्रमोहोदयजा औदयिका । मिथ्यात्व तत्त्वाश्रद्धानरूपं, असंयमो हि हिंसादि-रूप , क्रोधादयस्तु परस्परतो मिथ्यात्वादसयमाच्चानुभवसिद्धवैलक्षण्यरूपा । ये भिन्नहेतुस्वरूपास्ते नैक्यमा-पद्यन्ते यथा शालियवगोधूमादिधान्य । भिन्नहेतुस्वरूपाश्च मिथ्यात्वासयमकषाया । तेभ्यो विरतिर्व्यावृत्ति प्रतिक्रमण । सावद्ययोगमात्रनिवृत्ति सामायिकमिति भेदो महाननयो । भेदमेवाश्रित्यामीषा परिणामाना चदुपच्चय[2]गो बधो इति सूत्रमवस्थित । अन्यथा योगविकल्पत्वे मिथ्यात्वादीनां चतु सख्या न न्याय्या योगेन सह ।

प्रत्याख्यान नाम अनागतकालविषया क्रिया न करिष्यामि इति सकल्प । तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्र-काल भावविकल्पेन षड्विध । अयोग्य नाम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यान । आप्ताभासाना

समाधान—'सर्व सावद्ययोगको त्यागता हूँ' इस प्रकार हिसा आदिका भेद न करके सामान्यसे सर्व सावद्ययोगसे निवृत्ति सामायिक है। और हिसा आदिके भेदसे सावद्ययोगके भेद करके उससे निवृत्ति प्रतिक्रमण है। सूत्रमे कहा है—'मिथ्यात्व प्रतिक्रमण' असयम प्रतिक्रमण, कषाय प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योग प्रतिक्रमण होता है।

उक्त शंकाका कोई आचार्य ऐसा उत्तर देते है किन्तु वह उचित नही है। योग शब्दसे वीर्यपरिणाम कहा जाता है। वह वीर्यपरिणाम वीर्यान्तिरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण क्षायोपशमिक भाव है। उससे निवृत्ति अर्थात् अशुभकर्मको लानेमे निमित्त योगरूपसे आत्माका परिणमन न करना सामायिक है। मिथ्यात्व, असंयम और कषाय दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिक हैं। मिथ्यात्व तत्त्वोके अश्रद्धानरूप है। असयम हिंसादि-रूप है और क्रोधादि तो मिथ्यात्व और असयमसे विलक्षण है यह अनुभवसिद्ध है। जिनका हेतु और स्वरूप भिन्न होता है वे एक नही हो सकते जैसे शालि, जौ, गेहूँ आदि धान्य। मिथ्यात्व, असयम और कषायके हेतु और स्वरूप भिन्न-भिन्न है उनसे निवृत्ति प्रतिक्रमण है। और सावद्य योग-मात्रसे निवृत्ति सामायिक है। अत दोनोमे महान् भेद है इन परिणामोंके भेदको ही लेकर 'चदु-पच्चयगो बन्धो'—बन्धके चार कारण है, यह सूत्र अवस्थित है। अन्यथा यदि मिथ्यात्व आदि योगके भेद हो तो फिर योगके साथ चारकी सख्या नही बन सकती।

आगामी कालमे मै यह काम नही करूँगा, इस प्रकारके संकल्पका नाम प्रत्याख्यान है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे उसके छह भेद हैं। मैं अयोग्य नामका

१. त्वासयमक–आ० मु०। २ पच्चयाण बधो–आ० मु०।

प्रतिमा न पूजयिष्यामीति, योगत्रयेण त्रसस्थावरस्थापनापीडा न करिष्यामीति प्रणिधान मनस स्थापनाप्रत्याख्यान। अथवा अर्हदादीना स्थापना न विनाशयिष्यामि नैवानादर तत्र करिष्यामि इति वा। अयोग्याहारोपकरणद्रव्याणि न ग्रहीष्यामीति चिताप्रबधो द्रव्यप्रत्याख्यान योग्यानि वा निष्ठितप्रयोजनानि। सयमहानि सक्लेश वा सपादयति यानि क्षेत्राणि तानि त्यक्ष्यामि इति क्षेत्रप्रत्याख्यान। कालस्य दुःपरिहार्यत्वात् कालसाध्याया क्रियाया परिहृताया काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति ग्राह्य। तेन सध्याकालादिष्वध्ययनगमनादिक न सपादयिष्यामीति चेत कालप्रत्याख्यान। भावोऽशुभपरिणाम तन्न निर्वर्तयिष्यामि इति सकल्पकरण भावप्रत्याख्यान। तद्द्विविध मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति। ननु च मूलगुणा व्रतानि तेषा प्रत्याख्यान निरासो भविष्यत्कालविषयश्चेन्न स सवरार्थिना कार्य, सवरार्थमवश्यमनुष्ठीयते इति। उत्तरगुणाना कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते मूलगुणशब्द मूलगुणश्च स प्रत्याख्यान च तत् इति मूलगुणप्रत्याख्यान। व्रतोत्तरकालभावित्वादनशनादिक उत्तरगुण इति उच्यते। उत्तरगुणश्च स प्रत्याख्यान च तदिति उत्तरगुणप्रत्याख्यान। तत्र सयताना जीवितावधिक मूलगुणप्रत्याख्यान। सयतासयताना अणुव्रतानि मूलगुणव्रतव्यपदेशभाजि भवति। तेषा द्विविध प्रत्याख्यान अल्पकालिक, जीवितावधिक चेति। पक्षमासषण्मासादिरूपेण भविष्यत्काल सावधिक कृत्वा तत्र स्थूलहिसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहान्नाचरिष्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालिकम्।

उच्चारण नही करूँगा, इस प्रकारका विचार नाम प्रत्याख्यान है। मै आप्ताभासोकी प्रतिमाको नही पूजूँगा, मनवचनकायसे त्रस और स्थावरोकी स्थापनाको पीडा नही पहुँचाऊँगा, इस प्रकारका मनका सकल्प स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा मै अर्हन्त आदिकी स्थापनाको नष्ट नही करूँगा, न उसका अनादर ही करूँगा, इस प्रकारका मनका सकल्प स्थापना प्रत्याख्यान है।

अयोग्य आहार तथा उपकरण द्रव्योको मै ग्रहण नही करूँगा, इस प्रकारके चिन्ता प्रबन्धको द्रव्य प्रत्याख्यान कहते है। जो क्षेत्र सयमको हानि पहुँचाते है अथवा सक्लेश उत्पन्न करते है। उन्हे मैं छोडूँगा इस प्रकारके सकल्पको क्षेत्र प्रत्याख्यान कहते है। कालको छोडना तो अशक्य जैसा है अत काल साध्य क्रियाका त्याग करने पर कालका ही प्रत्याख्यान होता है ऐसा लेना चाहिये। अतः सन्ध्याकाल आदिमे अध्ययन गमन आदि नही करूँगा इस प्रकारके चित्तको काल प्रत्याख्यान कहते है। भावसे अशुभ परिणाम लेना। मै अशुभ परिणाम नही करूँगा, इस प्रकारका सकल्प करना भाव प्रत्याख्यान है। उसके दो भेद है—मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान।

शङ्का—मूलगुण व्रतोको कहते है। उनका प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग भविष्यत् कालमे यदि किया जायेगा तो सवरके इच्छुक यतिको उसे नही करना चाहिये, उसे तो सवरके लिये व्रत अवश्य पालनीय होते है ?

समाधान—उत्तर गुणोका कारण होनेसे व्रतोंको मूलगुण कहते हैं अत मूलगुण रूप प्रत्याख्यान मूलगुण प्रत्याख्यान है। व्रतोके उत्तर कालमे अनशन आदि होते है इसलिये उन्हे उत्तर गुण कहते हैं। यहाँ भी उत्तर गुणरूप प्रत्याख्यान उत्तरगुण प्रत्याख्यान है। उनमेसे सयमियोके जीवनपर्यन्त मूलगुण प्रत्याख्यान होता है। और सयमासंयमी श्रावकोके अणुव्रत मूलगुणव्रत कहलाते है। उनके दो प्रकारका प्रत्याख्यान होता है—एक अल्पकालिक और दूसरा जीवनपर्यन्त। पक्ष, मास, छहमास आदि रूपसे भविष्यतकालकी मर्यादा करके 'इतने काल तक मै स्थूल हिंसा,

१ अयोग्यानि वानिष्ट–मु०।

आमरणमवधिं कृत्वा न करिष्यामि स्थूलहिंसादीनि इति प्रत्याख्यानं जीवितावधिकं। उत्तरगुणप्रत्याख्यानं संयतसंयतासंयतयोरपि अल्पकालिकं जीवितावधिकं वा। परिगृहीतसंयमस्य सामायिकादिकं अनशनादिकं च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च। भविष्यत्कालगोचराशनादित्यागात्मकत्वात्प्रत्याख्यानत्वं। सति सम्यक्त्वे चैतदुभयं प्रत्याख्यानं। जीवनिकायं हिंसादिस्वरूपं च ज्ञात्वा श्रद्धाय सर्वतो देशतो वा हिंसादिविरतिर्व्रतं। तथा चोक्तं—**'निःशल्यो व्रती'** (त० सू० ७।१८) इति।

मिथ्यादर्शनशल्यं, मायाशल्यं, निदानशल्यं चेति त्रिविधं शल्यं तेभ्यो निष्क्रांतः निःशल्यः। सावधारणं चेद निःशल्य एव व्रतीति। तेन सशल्यस्यव्रतिता निरस्ता भवति। न च असति श्रद्धाने मिथ्यात्वशल्यनिवृत्तिः। न च जीवाद्यर्थपरिज्ञानमंतरेण श्रद्धानस्यास्ति संभव इति ज्ञानदर्शनवत एव व्रतिता सूत्रकारेणाख्याता। तथावश्यकेऽप्युक्तम्—

> **''पंचवदाणि जदीणं अणुव्वदाइं च देसविरदाणं।**
> **ण हु सम्मत्तेण विणा तो सम्मत्तं पढमदाए॥''** [ ]

इति हिंसादिप्रवर्तनपरं भाषितमिति क्रिया पंचापि सरात्रिभोजनाः प्रत्याचष्टे यतिस्त्रिधा मनोवाक्कायविकल्पेन कृतकारितानुमतैर्यावज्जीवं।

सम्यग्दृष्टिस्त्वगारी मूलगुणं उत्तरगुणं वा स्वशक्त्या गृह्णाति परिमितकालं यावज्जीवं वा। आत्मना प्राक्कृतं हिंसादिकं हा दुष्टं कृतं, हा दुष्टं संकल्पितं, वचो वा हिंसादिप्रवर्तनपरं भाषितं इति निंदागर्हाभ्या

स्थूल झूँठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और परिग्रहका आचरण नहीं करूँगा, इस प्रकारका प्रत्याख्यान अल्पकालिक है। मरणपर्यन्त मैं स्थूल हिंसादि नहीं करूँगा, इस प्रकारका प्रत्याख्यान जीवितावधि है।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान संयत और संयतासंयतके भी अल्पकालिक अथवा जीवनपर्यन्त होता है। जिसने संयम ग्रहण किया है उसके सामायिक आदि और अनशन आदि होते हैं इसलिये सामायिक आदि और तप उत्तरगुण है। और भविष्यत्कालमें अनशन आदिके त्यागरूप होनेसे प्रत्याख्यान रूप भी हैं। सम्यक्त्वके होने पर ही ये दोनों प्रत्याख्यान होते हैं।

जीवनिकाय और हिंसा आदिके स्वरूपको जानकर तथा श्रद्धा करके सर्वदेश अथवा एक देशमें हिंसा आदिके त्यागको व्रत कहते हैं। कहा भी है—जो निःशल्य है वही व्रती है। मिथ्यादर्शन शल्य, मायाशल्य और निदानशल्य, इस प्रकार तीन शल्य हैं। उनसे जो रहित है वह निःशल्य है। यह निःशल्य शब्द अवधारण सहित है। निःशल्य ही व्रती होता है। इससे जो शल्य सहित है उसके व्रतीपनेका निषेध किया है। श्रद्धानके अभावमें मिथ्यात्वशल्यसे निवृत्ति नहीं होती। और जीवादि पदार्थोंके ज्ञानके बिना श्रद्धान संभव नहीं है। अतः ज्ञानदर्शनवान्को ही सूत्रकारने व्रती कहा है। तथा आवश्यकमें भी कहा है—'सम्यक्त्वके बिना न तो यतियोंके पाँच व्रत होते हैं और न देशविरत श्रावकोंके अणुव्रत होते हैं। अतः सम्यक्त्वको प्रथमता है।'

इस प्रकार यति मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे रात्रिभोजनके साथ हिंसा आदि पाँचों पापोंका त्याग जीवनपर्यन्तके लिये करता है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टि मूलगुण अथवा उत्तरगुणको अपनी शक्तिके अनुसार कुछ काल या जीवनपर्यन्तके लिये ग्रहण करता है। अपने द्वारा पहले किये गये हिंसा आदिको 'हा, मैंने बुरा किया, हा, मैंने बुरा संकल्प किया, हिंसा

स्वपरविषयाभ्यां दूषयन्वर्तमानं चासंयमं कृतं क्रियमाणासंयमसदृशं न करिष्यामि इति मनसि कुर्वन्प्रत्याख्याता भवति ।

अगारिणां विरतिपरिणामविकल्पो निरूप्यते । स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतविकल्पात् त्रिविधं मनोवाक्कायविकल्पैर्न त्यजति । मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं न करोमि, तथा वचसा कायेनेति त्रिविधं कृतम् । मनसा स्थूलकृत प्राणातिपातादिकं न कारयामि तथा वचसा कायेन चेति त्रिविकल्पं कारितं । तथा मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं नानुजानामि, तथा वचसा कायेन चेति त्रिभेदमनुमननं । एवं नवविधं स्थूलकृतप्राणवधादिकं त्यक्तुमशक्तोऽगारी ।

तथा मनोवाग्भ्यां स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतिविकल्पात्त्रिविधं च कर्तुमशक्तो मनसा न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि । वचसा न करोमि, न कारयामि नानुजानामि इति । कायेन कृत-कारितानुमतविकल्पान् हिंसादींश्च न समर्थो विहातु । तथा च सूत्रं—

'न खु तिविधं तिविधेण य दुविधेक्कविधेण वापि विरमेज्ज इति ॥' [ ]

कथं तर्ह्यगारी विरतिमुपैति ? अत्रोच्यते कृतकारितविकल्पाद्द्विप्रकारं हिंसादिकं मनोवाक्कायैस्त्यजति । वाचा कायेन वा हिंसादिविषयं कृतकारितं त्यजति । कायेन एकेन वा कृतं कारितं त्यजति । अत एवोक्तं **'दुविधं पुण तिविधेण य दुविधेक्कविधेण वा विरमेज्ज'** इति । अथवा हिंसायाः स्वयं करणं एकं मनोवाक्कायैस्त्यजति । नाहं मनसा वाचा कायेन स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं पचकं करोमीति अभिसंधिपूर्वकं विरमण

आदिमें प्रवर्तन करने वाला वचन बोला,' इस प्रकार स्व और परविषयक निन्दा गर्हाके द्वारा दोषयुक्त बतलाते हुए, तथा वर्तमानमें मैं जो असयम करता हूँ और पूर्वमे जैसा असयम किया है वैसा मै भविष्यमें नही करूँगा, ऐसा मनमें संकल्प करके त्याग करता है ।

अब गृहस्थोके विरतिरूप परिणामोके भेद कहते है—कृत, कारित और अनुमतके भेदसे तीन भेदरूप स्थूल हिंसा आदिको ग्रहस्थ मन वचन कायसे नही त्यागता है । मनसे स्थूल हिंसा आदिको नही करता हूँ तथा वचनसे और कायसे नही करता हूँ, ये तीन भेद कृत है । मनमे स्थूल हिसा आदिको न कराता हूँ तथा वचनसे और कायसे नही कराता हूं । ये तीन भेद कारितके है । तथा मनसे स्थूल हिंसा आदिमें अनुमति नही देता हूँ तथा वचनसे और कायसे अनुमति नही देता हूँ ये तीन भेद अनुमतके है । इस प्रकार नौ प्रकारकी स्थूल हिंसा आदिका त्याग करनेमे गृहस्थ असमर्थ होता है । तथा कृत कारित अनुमतके भेदसे तीन भेदरूप स्थूल हिसा आदिको मन और वचनसे करनेमे असमर्थ होता है । मनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ । वचनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ । कायसे कृत कारित अनुमतरूप हिंसा आदिको छोडनेमे समर्थ नही हूँ । सूत्रमे कहा है—कृतकारित अनुमतके भेदसे तीन भेद रूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे अथवा मन वचनसे अथवा कायसे त्याग नही करता है ।

तब गृहस्थ कैसे त्याग करता है यह बतलाते हैं—

कृत और कारितके भेदसे दो भेदरूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे छोडता है । कृत कारित रूप हिंसादिको वचन और कायसे छोड़ता है । अथवा कृत कारित रूप हिंसा आदिको एक कायसे छोड़ता है । इसीसे कहा है—'कृत कारित रूप हिंसा आदिको तीन रूपसे, दो रूपसे या एक रूपसे छोड़ता है ।' अथवा हिंसाके एक स्वयं करनेको मन वचन कायसे त्यागता है । 'मैं मनसे वचनसे कायसे स्थूल हिंसादि पाँच पापोंको नही करता हूँ' इस प्रकार संकल्प पूर्वक त्याग

करोति । वाक्कायाभ्यां वा स्वयं करणं त्यजति कायेनैकेन वा । तथा चोक्तम्—'**एकविधं तिविधेण वापि विरमेज्ज**' इति । एवमेते व्रतविकल्पाः भविष्यत्कालविषयतयानुयुज्यमाना प्रत्याख्यानविकल्पा भवन्तीत्य-त्रोपन्यासः कृतः ।

कायोत्सर्गो निरूप्यते—काय शरीरं तस्य उत्सर्गस्त्याग' कायोत्सर्ग' । उपलब्ध्यधिष्ठानेन्द्रियावयवक. कर्मनिर्वर्तित पुद्गलप्रचयविशेष औदारिकाख्य इह कायशब्देन गृहीत इतरत्र उत्सर्गस्यासभवात् वक्ष्यमाणस्य।

ननु च आयुषो निरवशेषगलने आत्मा शरीरमुत्सृजति नान्यदा तत्किमुच्यते कायोत्सर्ग इति ।

आत्मशरीरयोरन्योऽन्यस्य प्रदेशानुप्रवेशिनोरायुर्वशात् अनपायित्वेऽपि शरीरे अशुचित्व सप्तधातुरूप-तया अशुचितमं शुक्रशोणितबीतबीजत्वाच्च, तथा अनित्यत्वं, अपायित्वं, दुर्वहत्व, असारत्व, दु खहेतुत्वं, शरीरगतममताहेतुकमनतसंसाग्परिभ्रमण इत्यादिकान्सप्रधार्य दोषान्नेद मम नाहमस्येति सकल्पवतस्तदादरा-भावात्कायस्य त्यागो घटत एव । यथा प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा कृतापराधावस्थिता ह्येकस्मिन्मदिरे त्यक्ते-त्युच्यते तस्यामनुरागाभावान्ममेदं भावव्यावृत्तिमपेक्ष्य एवमिहापि । किं च कायापायसन्निपातेऽपि अपाय-निराकरणाभिलाषस्याभावात् । यो यदपायनिराकरणानुत्सकस्तेन तत्परित्यक्त यथा वसनादिक परिहृत । शरीरा-पायनिराकरणानुत्सुकश्च यतिस्तस्मादुच्यते कायस्य त्याग' ।

करता है । अथवा स्वय करनेको वचन और कायसे त्यागता है या एक कायसे त्यागता है । कहा है—'एक कृतको तीन प्रकारसे त्यागता है । इन व्रतके भेदोको भविष्य कालके साथ जोडने पर कि मै भविष्यमे ऐसा नही करूँगा, ये प्रत्याख्यानके भेद होते हैं ।

अब कायोत्सर्गको कहते है—काय अर्थात् शरीरके, उत्सर्ग अर्थात् त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं । पदार्थोंको जाननेका आधार इन्द्रियाँ जिसकी अवयव है, और कर्मके द्वारा जिसकी रचना हुई तथा जो पुद्गलोका एक समूह विशेष है उस औदारिक नामक शरीरको यहाँ काय शब्दसे ग्रहण किया है क्योकि आगे कहे जानेवाला उत्सर्ग अन्य शरीरोमे सम्भव नही है ।

शका—आयुकर्म जब पूर्णरूपसे समाप्त हो जाता है तब आत्मा शरीरको छोडता है अन्य कालमें नही छोडता । तब कैसे आप कायोत्सर्गकी बात करते है ?

समाधान—आत्मा और शरीरके प्रदेश परस्परमे मिलनेसे आयुकर्मके कारण यद्यपि शरीर ठहरा रहता है तथापि शरीर सात धातु रूप होनेसे अपवित्र है, रज और वीर्यसे उत्पन्न होनेसे विशेष अपवित्र है । तथा अनित्य है, नष्ट होनेवाला है, दु खसे धारण करने योग्य है, असार है दु खका कारण है, इस शरीरसे ममत्व करनेसे अनन्त ससारमे भ्रमण करना होता है, इत्यादि दोषोंको जानकर 'न यह मेरा है, न मै इसका हूँ' ऐसा सकल्प करनेवालेके शरीरमे आदरका अभाव होनेसे कायका त्याग घटित होता ही है । जैसे प्राणोसे भी प्यारी पत्नी अपराध करनेपर उसमे अनुराग न रहनेसे 'यह मेरी है' इस प्रकारका भाव न होनेसे एक ही घरमें रहते हुए भी 'त्यागी हुई' कही जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना । दूसरे, शरीरके विनाशके कारण उपस्थित होनेपर भी कायोत्सर्ग करनेवालेके विनाशके कारणको दूर करनेकी इच्छा नही होती । जो जिसके विनाशके कारणोको दूर करनेमें उत्सुक नहीं है उसने उसे त्याग दिया है, जैसे त्यागा हुआ वस्त्रादि । और यति शरीरके विनाशके कारणको दूर करनेमे उत्सुक नहीं होता । अतः उसके

ै स च शरीरनि स्पृह , स्थाणुरिवोद्र्ध्वकाय , प्रलबितभुज , प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुन्नमितानतकाय[१], परीषहानुपसर्गांश्च सहमान , तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देशे ।

अन्तर्मुहूर्त कायोत्सर्गस्य जघन्य काल , वर्षमुत्कृष्ट । अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गा बहुप्रकारा भवन्ति रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसवत्सरादिकालगोचरातिचारभेदापेक्षया । सायाह्नोच्छ्वास शतक, प्रत्यूषसि पचाशत्, पक्षे त्रिशतानि, चतुर्षु मासेषु चतु शतानि, पचशतानि संवत्सरे उच्छ्वासमाना[२] । प्रत्युषसि प्राणिवधादिषु पचस्वतीचारेषु अष्टशतोच्छ्वासमात्र काल कायोत्सर्ग कार्य । कायोत्सर्गे कृते यदि शक्यते उच्छ्वासस्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमधिक स्थातव्यम् ।

उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्टम्, उपविष्टोत्थित, उपविष्टनिविष्ट इति चत्वारो विकल्पा । धर्मे शुक्ले वा परिणतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्ग उत्थितोत्थितो नाम । द्रव्यभावोत्थानसमन्वितत्वादुत्थानप्रकर्ष उत्थितोत्थितशब्देनोच्यते । तत्र द्रव्योत्थान शरीर स्थाणुवदूर्ध्व अविचलमवस्थान । ध्येयैकवस्तुनिष्ठता ज्ञानाख्यस्य भावस्य भावोत्थान । आर्तरौद्रयो परिणतो यस्तिष्ठति तस्य उत्थितनिषण्णो नाम कायोत्सर्ग । शरीरोत्थानादुत्थितत्व शुभपरिणामोद्गतिरूपस्योत्थानस्याभावान्निषण्ण इत्युच्यते । अत एव विरोधाभावो भिन्न-

---

कायत्याग उचित है। तथा वह शरीरसे निस्पृह होकर, स्थाणुकी तरह शरीरको सीधा करके, दोनो हाथोंको लटकाकर, प्रशस्त ध्यानमे लीन हो, शरीरको ऊँचा-नीचा न करके परीषहो और उपसर्गो को सहन करता हुआ, कर्मोंको नष्ट करनेकी अभिलाषासे जन्तुरहित एकान्त देशमे ठहरता है।

कायोत्सर्गका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल एक वर्ष है। अतिचारोको दूर करनेके लिए कायोत्सर्गके रात, दिन, पक्ष, मास, चार मास, वर्ष आदिकालमे होनेवाले अतिचारोकी अपेक्षा अनेक भेद हैं। सायकालमे सौ उच्छ्वास प्रमाण, प्रात कालमे पचास उच्छ्वास प्रमाण, पाक्षिक अतिचारमे तीन सौ उच्छ्वास प्रमाण, चार मासोमें चार सौ उच्छ्वास प्रमाण और वार्षिकमे पाँच सौ उच्छ्वास प्रमाण काल कायोत्सर्गका है। हिसा आदि पाँच अतिचारोमे एक सौ आठ उच्छ्वास मात्र काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करनेपर यदि उच्छ्वासका अथवा परिणामका स्खलन हो जाये तो आठ उच्छ्वासप्रमाण अधिक काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

कायोत्सर्गके चार भेद हैं—उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टउत्थित, और उपविष्टनिविष्ट। जो धर्मध्यान या शुक्लध्यान सहित कायोत्सर्ग करता है उसके उत्थितोत्थित नामक कायोत्सर्ग है। यहाँ द्रव्य और भाव दोनोके ही उत्थानसे युक्त होनेसे उत्थितोत्थित शब्दसे उत्थानका प्रकर्ष कहा है। स्थाणुकी तरह शरीरका उन्नत और निश्चल रहना द्रव्योत्थान है। ज्ञानरूप भावका ध्यान करने योग्य एक ही वस्तुमे स्थिर रहना भावोत्थान है। जो आर्त रौद्रध्यानके साथ कायोत्सर्ग करता है उसके उत्थितनिविष्ट नामक कायोत्सर्ग होता है। शरीरके खड़े होनेसे इसे उत्थित और शुभपरिणामकी उद्गतिरूप उत्थानका अभाव होनेसे निविष्ट या निषण्ण कहते हैं। इसीसे एक कालमे एक क्षेत्रमे उत्थान—खडे होना और निविष्ट—बैठना इन दोनो आसनोंमे कोई विरोध नही है क्योकि दोनोके निमित्त भिन्न है। जो बैठकर ही धर्म और शुक्लध्यान करता है उसके उत्थितनिषण्ण कायोत्सर्ग होता है क्योकि उसके परिणाम तो उत्थित

---

१. तत्र शरीर–आ० मु० । २ ना प्रत्युषसि प्राणि–आ० मु० ।

निमित्तत्वादुत्थानासनयो एकत्र एकदा। यस्त्वासीन एव धर्मशुक्लध्यानपरिणतिमुपैति तस्य उत्थितनिषण्णो भवति परिणामोत्थानात्कायानुत्थानाच्च। यस्तु निषण्णोऽशुभध्यानपरस्तस्य निषण्णनिषण्णक कायशुभपरिणा-माभ्या अनुत्थानात्।

दैवसिकाद्यतीचार रत्नत्रयगत मनसा विमृश्य इद मया[1] न सुष्ठु कृत प्रमादिनेति मचिन्त्य पश्चाद्धर्मे शुक्ले वा ध्याने प्रयतितव्यम्।

कायोत्सर्गप्रपन्न स्थानदोषान्परिहरेत्। के ते इति चेदुच्यते। १ तुरग इव कुटीकृतपादेन अवस्थानम् २ लतेवेतस्ततश्चलतोऽवस्थान ३ स्तभवत्स्तब्धशरीर कृत्वा स्थान। ४ स्तभोपाश्रयेण वा कुड्याश्रयेण वा मालावलग्नशिरसा वावस्थानम्। ५ लबिताधरतया, स्तनगतदृष्ट्या वायस इव इतस्ततो नयनोद्वर्तन कृत्वा। ६ खलीनावपीडितमुखहय इव मुखचालन सपादयतोऽवस्थान। ७ युगावष्टब्धबलीवर्द इव शिरोऽध पातयता। ८ कपित्थफलग्राहीव विकाशिकरतल, सकुचिताङ्गुलिपचक वा कृत्वा ९ शिरश्चालन कुर्वन् १० मूक इव हुकार सपाद्यावस्थान ११ मूक इव नासिकया वस्तूपदर्शयता वा १२ अगुलीस्फोटन १३ भ्रूनर्तन वा कृत्वा १४ शबरवधूरिव स्वकौपीनदेशाच्छादनपुरोग १५ शृखलाबद्धपाद इव वावस्थान १६ पीतमदिर इव परवश-गतशरीरो वा भूत्वावस्थान इत्यमी दोषा ॥

व्यावर्णितानामावश्यकाना अपरिहाणिर्हानिर्न कार्या। अणुस्सेगो आधिक्येनाकरण च।

है किन्तु शरीर बैठा हुआ है। जो बैठे हुए अशुभध्यानमे लीन होता है उसके निषण्ण निषण्ण कायोत्सर्ग होता है। क्योकि न तो उसका शरीर उत्थित है और न शुभपरिणाम ही हैं। रत्नत्रयमे दैवसिक आदि अतीचारोको मनमे विचारकर 'मुझ प्रमादीने यह ठीक नही किया' ऐसा सोचकर पीछे धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान करना चाहिये।

कायोत्सर्ग करने वालेको स्थान सम्बन्धी दोष दूर करना चाहिये। वे दोष इस प्रकार है— १ घोडेकी तरह पैरको थोडा मोडकर खडा होना। २ बेलकी तरह इधर-उधर हिलते हुए खडे होना। ३ स्तम्भकी तरह शरीरको स्तब्ध करके खडे होना। ४ स्तम्भ अथवा दीवारके आश्रयसे अथवा ऊपरके तल्लेसे सिरको लगाकर खडे होना। ५ ओष्ठको लटकाकर दृष्टि अपने स्तनो पर रखकर कौएकी तरह आँखोको इधर-उधर घुमाना। ६ लगामसे पीडित मुख वाले घोडेकी तरह मुख चलाते हुए अवस्थित होना। ७ जैसे कन्धे पर जुआ होनेसे बैल अपना सिर नीचे डालता है उस तरह सिरको लटकाकर अवस्थापन करना। ८ कैथके फलको ग्रहण करने वाला मनुष्य जैसे अपनी हथेलीको फैलाता है उस तरह हथेलीको फैलाकर या पाँचो अगुलियोको सकुचित करके अवस्थित होना। ९ सिरको चलाते हुए अवस्थान। १० गूँगेकी तरह हुकार करते हुए अवस्थान। ११ गूँगेकी तरह नाकसे वस्तुको दिखलाते हुए अवस्थान। १२ अगुली चटकाते हुए अवस्थान। १३ भौको नचाते हुए अवस्थान। १४ भीलनीकी तरह अपने अग्रभागको हथेलीसे ढाँकते हुए अवस्थान। १५ ऐसे खडे होना मानो दोनो पैर साँकलसे बँधे है। १६ मदिरा पिये हुए की तरह अथवा पराधीन शरीर वालेकी तरह खडा होना। ये कायोत्सर्गके दोष है।

जो पहले छह आवश्यक कहे है उनमे हानि नही करनी चाहिये और न उनमे आधिक्य करना चाहिये ॥ ११८ ॥

---

१ मया दुष्ट कृत—आ० मु०।

भत्ती तवोधिगंमि य तवम्मि य अहीलणा य सेसाणं ।
एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स ॥११९॥

'**भत्ती**' भक्ति । **वदननिरीक्षणादिप्रसादेन अभिव्यज्यमानोऽन्तर्गतोऽनुरागः** । '**तवोऽधिगम्मि**' तपोऽधिके च '**तवम्मि**' य सम्यक्तपसि, तद्वति च, भक्तिरिति यावत् । तच्च सम्यग्ज्ञानदर्शनसयमानुगत । '**अहीलणा य**' अपरिभवश्च । '**सेसाणं**' शेषाणा । तपसा न्यूनानामात्मन ज्ञानश्रद्धानचरणवता परिभवे ज्ञानादीन्येव परिभूतानि भवति । ततो बहुमानाभावो ज्ञानातिचार , वात्सल्याभावो दर्शनातिचार । सातिचारज्ञानदर्शनस्य चारित्रममशुद्ध इति, महाननर्थ इति भाव. । '**एसो**' एष व्यावर्णितपरिणामसमूह उत्तरगुणोद्योगादिक । '**तवम्मि**' तपसि तपोविषय' । '**विणओ**' विनय' । '**जहुत्तचारिस्स**' श्रुतनिरूपितक्रमेणाचरत । '**साधुस्स**' साधो ॥११९॥

उपचारविनयनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

काइयवाइयमाणसिओत्ति तिविधो हु पंचमो विणओ ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चेव पारोक्खो ॥१२०॥

'**काइगवाइगमाणसिगोत्ति**' पदसबध । पचमो विनयस्त्रिप्रकार कायेन, मनसा, वचसा च, निर्वर्त्यते इति । '**सो पुण सव्वो**' स पुनस्त्रिप्रकारोऽपि विनय । '**दुविधो**' द्विविध । '**पच्चक्खो चेव**' प्रत्यक्ष । '**पारोक्खो**' परोक्षश्चेति ॥१२०॥

गा०—जो तपमें अधिक है उनमे और तपमे भक्ति और जो अपनेसे तपमे हीन है उनका अपरिभव यह श्रुतके अनुसार आचरण करने वाले साधुकी तप विनय है ॥११९॥

टी०—मुखकी प्रसन्नतासे प्रकट होनेवाले आन्तरिक अनुरागको भक्ति कहते है। तपसे अधिकमे ओर सम्यक् तपमे भक्ति करना। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सयमके अनुगत तप ही सम्यक् तप है। जो तपमे न्यून है उनका तिरस्कार नही करना। जो ज्ञान श्रद्धान और चारित्रसे युक्त होनेपर भी अपनेसे तपमे कम है, उनका तिरस्कार करनेपर ज्ञानादिका ही तिरस्कार होता है। और ऐसोका बहुमान न करना ज्ञानका अतिचार है। उनमे वात्सल्य न रखना सम्यग्दर्शनका अतिचार है। और जिसका ज्ञान और दर्शन सातिचार है उसका चारित्र अशुद्ध है, इस तरह महान् अनर्थ है। यह ऊपर कहा, उत्तरगुणोमे उद्योग आदि शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले साधु की तप विषयक विनय है ॥११९॥

उपचार विनयका निरूपण करते है—

गा०—पाँचवी उपचार विनय तीन प्रकारकी है कायिक, वाचनिक और मानसिक। और वह तीनो प्रकारकी विनय दो प्रकारकी है प्रत्यक्ष विनय और परोक्ष विनय ॥१२०॥

टी०—पाँचवी विनय तीन प्रकारकी है जो कायसे, मनसे और वचनसे की जाती है। और ये तीनो प्रकारकी भी विनय दो प्रकारकी है—प्रत्यक्ष और परोक्ष ॥१२०॥

तत्र प्रत्यक्षकायिकविनयप्रदर्शनाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

अब्भुट्ठाणं किदियम्मं णवसणं अंजली य मुंडाणं ।
पच्चुग्गच्छणमेत्तो पच्छिद अणुसाधणं चेव ॥१२१॥

'**अब्भुट्ठाणं**' अभ्युत्थान गुर्वादीना प्रवेशनि क्रमणयो: । '**किदियम्मं**' **णवंसणं**, वंदना, शरीरावनतिश्च । '**अंजली य**' कृताजलिपुटता च । '**मुंडाण**' शिरोवनतिश्च । '**पच्चुग्गच्छणं**' प्रत्युद्गमन । आसीने स्थिते वा गुरौ । '**पच्छिद अणुसाधणं चेव**' स्वय गच्छत दूरात्परिहृत्य निभृतकरचरणस्यावनतगात्रस्य गमनं, सहगमे वा पृष्ठत स्वशरीरमात्रप्रमाणभूभागेन त परिहृत्य गमनं ॥१२१॥

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं ।
आसणदाणं उवगरणदाणमोगासदाणं च ॥१२२॥

णीचं च आसणं नीचैरासन । पृष्ठत स्वहस्तपादश्वासादिभिरुपद्रुतो न भवति यथा गुर्वादिस्तथासन । अग्रतोऽभिमुखात् मनागपसृत्य वामपार्श्वेऽनुद्धतस्येषदवनतोत्तमागस्य चासनं । आसने गुरावुपविष्टे स्वय भूमावासन च । '**सयणं च णोचमिति**' पदघटना । नीचै शयनमिति यावत् । [1]अनुन्नते देशे शयन, गुरुनाभिप्रमाणमात्र-भूभागे वा स्वशिरो भवति यथा तथा शयन । हस्तपादादिभिर्वा यथा न घट्यते गुर्वादि । '**आसणदाणं**'

उनमेसे प्रत्यक्षकायिक विनयको चार गाथाओसे दिखलाते है—

टी०—गुरु आदिके प्रवेश करनेपर या बाहर जानेपर अभ्युत्थान—खडे होना, कृतिकर्म अर्थात् वन्दना करना, णवसण अर्थात् शरीरको नम्र करना, दोनो हाथोको जोड़ना, सिरको नवाना, प्रत्युद्गमन अर्थात् गुरुके बैठने अथवा खडे होनेपर उनके सामने जाना, और जब गुरु जावे तो उनसे दूर रहते हुए अपने हाथ पैरको शान्त और शरीरको नम्र करके गमन करना और गुरु के साथ जानेपर उनके पीछे अपने शरीर प्रमाण भूमिभागका अन्तराल देकर गमन करे ॥१२१॥

विशेषार्थ—प० आशाधरने अपनी टीकामे लिखा है कि टीकाकार तो 'पच्छिद अणुसाधण' के स्थानमे 'पच्छिद ससाहणा' पढते है और उसकी व्याख्या करते है कि—आचार्य उपाध्याय आदिके द्वारा प्रार्थित और मनसे अभिलषितका सम्यक् प्रसाधन करना अर्थात् आज्ञा नही देनेपर भी सकेतसे ही जानकर करना । यह टीकाकार कोई दूसरे जान पडते हैं क्योकि विजयोदयामे तो यह पाठ नही है ।

गा०—नीचा स्थान, नीचा गमन, नीच आसन, नीचे सोना, आसनदान, उपकरणदान और अवकाशदान ये उपचार विनयके प्रकार है ॥१२२॥

टी०—नीचा आसन—गुरुके पीछे इस प्रकार बैठे कि अपने हाथ पैर श्वास आदिसे गुरुको किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचे । आगे बैठना हो तो सामनेसे थोड़ा हटकर गुरुके वाम भागमे उद्धतता त्यागकर और अपने मस्तकको थोड़ा नवाकर बैठे । आसन पर गुरुके बैठने पर स्वय भूमिमे बैठे । नीचे सोना—अर्थात् जो ऊँचा नही हो ऐसे देशमे सोना, अथवा गुरुके नाभि प्रमाण मात्र भूभागमे अपना सिर रहे इस प्रकार सोना । अथवा अपने हाथ पैर वगैरहसे गुरु आदिका

---

१. अनुत्तरे देशे आ० मु० ।

आसितुमिच्छति इत्यवगम्य निरूप्य चक्षुषा प्रमार्जनयोग्य न वेति, पश्चात्प्रतिलेखनेन लाघवमार्दवादिगुणान्वितेनातिशनकैं प्रमार्ज्य भूभाग पीठादिक च आसनदान। **'उपकरणदानं'** ज्ञानसयमो उपक्रियेते अनुगृह्येते येनतदुपकरणं पुस्तकादि ग्रहीतुमभिप्रेत तस्य दान। अथवा उद्गमोत्पादनैषणादिदोषैरदुष्टस्य सुप्रतिलेखनस्यात्मना लब्धस्य उपकरणस्य दानं। **'ओगासदाणं च'** अवकाशदान च शीतार्त्तस्यावस्थितनिवातावकाशदानं, उष्णाभिलस्य शीतलस्थानदान ग्रामनगरादिस्वावासस्थानदान वा ॥१२२॥

पडिरूवकायसंफासणदा पडिरूवकालकिरिया य।
पेसणकरणं संथारकरणमुवकरणपडिलिहणं ॥१२३॥

'पडिरूवकायसंफासणदा' कायस्य सस्पर्शन कायसस्पर्शन। प्रतिरूप कायस्य सस्पर्शन प्रतिरूपकायसस्पर्शन तस्य भाव प्रतिरूपकायसस्पर्शनता। गुर्वादिशरीरानुकूल सस्पर्शनमिति यावत्।

अयं चात्र क्रम —मनागुपसृत्य स्थित्वा तदीयेन पिच्छेन काय त्रि प्रमृज्य आगतुकजीवबाधापरिहारोपयुक्त सादर स्वबलानुरूप यावद्यादृग्मर्द्दनसहस्तावदेव मर्द्दन कुर्यात्। उष्णाभितप्तस्य यथा शैत्य भवति तथा स्पृशेच्छीतार्त्तस्य यथौष्ण्य तथा।

'पडिरूवकालकिरिया य' कालकृतोऽवस्थाविशेषो बालत्वादिरिह कालशब्देनोच्यते कालप्रभवत्वात्।

सघट्टन न हो इस प्रकार शयन करे। आसनदान—गुरु बैठना चाहते है ऐसा जानकर चक्षुसे देखे कि प्रमार्जनके योग्य है या नही? पीछ लाघव कोमलता आदि गुणोसे युक्त पीछीसे अत्यन्त धीरेसे भूभाग और आसन आदिको पोछ देवे। उपकरणदान—जिसमे ज्ञान और समय का उपकार हो उसे उपकरण कहते है। गुरु पुस्तक आदि चाहते हो तो उन्हे देना। अथवा उद्गम उत्पादन आदि दोषोसे रहित उपकरण अपनेको मिला हो तो उसे देना उपकरणदान है। अवकाशदान—शीतसे पीडितको वायु रहित स्थान देना और गर्मीसे पीडितको शीतल स्थान देना, अथवा ग्राम नगर आदिमे अपना आवास स्थान देना ॥१२२॥

विशेषार्थ—नीचा स्थानका मतलब है गुरु जहाँ बैठे या खडे हो उसके वाम भागमे या पीछे बैठना। और नीचे गमनका मतलब है—गुरुके बैठे रहते या खडे रहते स्वय गमन करते शिष्यका गुरुसे दूर रहते हुए अपने हाथ पैरको निश्चल रखते हुए और शरीर को नम्र करके गमन करना।

गा०—गुरु आदिके शरीरके अनुकूल स्पर्शन, बालपने आदि अवस्थाके अनुरूप वैयावृत्य करना, और गुरु आदिकी आज्ञाका पालन करना, तृण आदिका सथरा करना, उपकरणोकी प्रतिलेखना करना ॥१२३॥

टी०—कायके स्पर्शनको कायस्पर्शन कहते हैं। प्रतिरूप कायका स्पर्शन प्रतिरूप काय स्पर्शन है और उसका भाव प्रतिरूपकाय स्पर्शनता है अर्थात् गुरु आदिके शरीरके अनुकूल स्पर्शन करना। इसका क्रम इस प्रकार है—गुरुसे थोडा हटकर बैठे और उनकी पीछीसे तीन बार उनके शरीरका प्रमार्जन करके आगन्तुक जीवको किसी प्रकारकी बाधा न हो इस प्रकार सादर अपने बलके अनुरूप जितने काल तक और जितना मर्दन गुरु सह सके उतना ही मर्दन करे। यदि गुरु गर्मीसे तप्त हों तो शीतपना जिस प्रकार सभव उस प्रकार स्पर्श करे और यदि शीतसे पीडित हों तो गर्मी पहुँचाना जैसे हो उस प्रकार स्पर्श करे। तथा 'प्रतिरूपकाल क्रिया' में काल शब्दसे

तेन बालत्वाद्यनुरूपवैयावृत्यक्रियेति यावत् । पेमणकरणं गुर्वादिभिराज्ञप्तस्य । **'संथारकरणं'** तृणफलकादिकमस्तरणक्रिया । **'उवकरणपडिलिहणं'** गुर्वादीना ज्ञानसयमोपकरणप्रतिलेखनं अस्तमनवेलाया आदित्योद्गमने च ॥१२३॥

इच्चेवमानि विणओ उवयारो कीरदे सरीरेण ।
एसो काइयविणओ जहारिहो साहुवग्गम्मि ॥१२४॥

उपचारिकविनय । शेष सुगम ।

वाचिकविनयनिरूपणार्थ गाथाद्वयम्—

पूयावयण हिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च ।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥१२५॥

'पूयावयणं' पूजापुरस्सर वचन भट्टारक इद शृणोमि, भगवन्निद कर्तुमिच्छामि युष्मदनुज्ञयेत्यादिक । **'हिदभासणं च'** गुर्वादीना यद्धित लोकद्वयस्य तस्य भाषण । **'मितभासणं'** यावता विविदिषितार्थप्रतिपत्तिर्भवति तावदेव वक्तव्य न प्रमक्तानुप्रमक्त । **'मधुरं'** च श्रोत्रप्रिय । **'सुत्ताणुवीचिवयणं'** सूत्रानुवीचिवचन । भाषासमित्यधिकारे यानि वाच्यानि निर्दिष्टानि वचासि तेषा कथन । **'अणिट्ठुरं'** अनिष्ठुर परचित्तपीडाकृतावनुद्यत । **'अकक्कसं वयणं'** अकर्कश वचन अपरुषमिति यावत् ॥१२५॥

कालकृत अवस्थाविशेष बाल्य अवस्था आदि ग्रहण की है क्योकि वह कालसे होती है । अतः गुरुकी बाल आदि अवस्थाके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये । उनके लिये तृणोंका या लकडीके पटियाका सथरा करना चाहिये । सूर्यके अस्त और उदय होनेके समय उनके ज्ञान और सयमके उपकरण शास्त्र कमण्डलु आदिकी सफाई करना चाहिये ॥१२३॥

गा०—इस प्रकारको आदि लेकर उपचार विनय शरीरके द्वारा साधुवर्गमे यथा योग्य की जाती है । यह कायिक विनय है ॥१२४॥

टी०—यह उपचार विनय है । शेष सुगम है ॥१२४॥

दो गाथाओसे वाचिक विनयका निरूपण करते है—

गा०—पूजा पूर्वक वचन, हितकारी भाषण, मित भाषण, मधुर भाषण, सूत्रानुसार वचन, अनिष्ठुर और अकर्कश वचन वचनविनय है ॥१२५॥

टी०—'हे भट्टारक ! मै सुन रहा हूँ,' 'हे भगवन् आपकी आज्ञा हो तो मै ऐसा करना चाहता हूँ । इस प्रकारसे पूजा पूर्वक वचन बोलना । जो गुरु आदिके लिये इस लोक और परलोक मे हितकर हो ऐसा हित भाषण करना । जितना बोलनेसे विवक्षित अर्थका बोध हो उतना ही बोलना, प्रासगिक या अप्रासंगिक न बोलना । कानोको प्रिय वचन बोलना, भाषासमिति अधिकार मे जो वचन बोलने योग्य कहे हैं उन्हे ही बोलना, तथा दूसरेके चित्तको पीड़ा करने वाले निष्ठुर वचन और कर्कश वचन न बोलना वाचिक विनय है ॥१२५॥

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयण ।
एसो वाइयविणओ जहारिहो होदि कादव्वो ।।१२६।।

'**उवसंतवयणं**' प्रशातरागकोप: उपशात' तस्य वचन उपशातवचनं । विरागस्य विरोषस्य च यद्वच-स्तदेव भाष्य । '**अगिहत्थवयणं**' गृहस्था मिथ्यादृष्टयोऽसयता अयोग्यवचनविकल्पानभिज्ञास्तेषा यद्वचन न भवति तस्य अभिधान । '**अकिरियं**' षट्कर्मव्यावर्णनपर यन्न भवति । '**अहीलणं**' परानवज्ञाकारि । '**एसो**' व्यावर्णितवचनव्यापार: । '**वाचिगविणओ**' वाग्विनयो । '**जधारिहं**' यथार्हं । '**होदि कादव्वो**' कर्तव्यो भवति ।।१२६।।

मानसिकविनय निरूपयति—

पापविसोत्तिग परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ।
णायव्वो संखेवेण एसो माणस्सिओ विणओ ।।१२७।।

'**पापविसोत्तिगपरिणामवज्जण**' पापशब्देन अशुभकर्माण्युच्यंते । स्रोत प्रवाह' । स्रोत इव अविच्छेदेन प्रवृत्ते कर्माणि अपि पापविस्रोत शब्देन उच्यते । पापविस्रोत प्रयोजना परिणामा ये तेषा वर्जनं । इह गुरु-विनयस्य प्रस्तुतत्वात् गुरुविषयोऽशुभ परिणाम: आत्मनो यथेष्टचारित्वनिवारणजनित: क्रोध । अविनीतता-दर्शनादनुग्रहाभावमपेक्ष्य नाध्यापयति पूर्ववन्न मया सह सभाषण करोति इति वा क्रोध । गुरुविनये आलस्य,

---

गा०—उपशान्त वचन, जो वचन गृहस्थो के योग्य नही है, कृषि आदि आरम्भ से शून्य वचन, दूसरो की अवज्ञा न करने वाला वचन बोलना यह यथा योग्य वाचिकविनय करने योग्य होती है ।।१२६।।

टी०—जिसका राग द्वेष शान्त हो गया है उसे उपशान्त कहते है। उसका वचन उपशान्त वचन है। अर्थात् राग रहित और रोष रहितका जो वचन होता है वही बोलना चाहिये। गृहस्थ अर्थात् मिथ्यादृष्टि और असंयमी जो योग्य अयोग्य वचनोको नही जानते, उनका जो वचन हो वह नही बोलना जो वचन वे नही बोलते वही बोलना चाहिये। जिस वचन मे असि, मषी, कृषि, सेवा, वाणिज्य आदि षट्कर्मोका उपदेश न हो वह बोलना चाहिये। तथा जो वचन दूसरेका निरादर न करता हो वह बोलना चाहिये। ये जो वचन कहे हैं इनका बोलना वचन विनय है। उसको यथायोग्य करना चाहिये ।।१२६।।

मानसिक विनय को कहते हैं

गा०—पापको लाने वाले परिणामोको न करना, जो गुरुको प्रिय और हितकर हो उसीमे परिणाम लगाना, यह सक्षेपसे मानसिक विनय जानना ।।१२७।।

टी०—पाप शब्दसे अशुभ कर्मोको कहा है। स्रोतका अर्थ प्रवाह है। प्रवाहकी तरह लगातार होनेसे कर्मोको भी पाप विस्रोत शब्दसे कहा है। पापको लाना ही जिनका काम है उन परिणामोको त्यागना चाहिये। यह गुरु विनयका प्रकरण होनेसे गुरु विषयक अशुभ परिणाम लेना। गुरुके द्वारा अपनी स्वेच्छाचारिताका निवारण करनेसे क्रोध उत्पन्न होना, शिष्यको अविनयी देख उसपर गुरु कृपा न करे तो 'मुझे पहलेकी तरह नहीं पढाते है न मेरे साथ पहलेकी तरह वार्तालाप करते हैं इस प्रकार क्रोध करना, गुरुकी विनयमे प्रमाद करना, गुरुकी अवज्ञा

गुरुं प्रत्यवज्ञा, निंदा, सभ्रम, तत्प्रतिकूलवृत्तितेत्येवमादयः । '**पियहिवे य परिणामो**' गुरोर्यत्प्रियं तस्मै यद्धित आत्मने वा तत्र परिणामः । '**णावव्वो**' ज्ञातव्यः । '**संखेवेण**' समासेन । '**एसो**' एषः । '**माणस्सिगो**' मानसिक । '**विणओ**' विनयः ॥१२७॥

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि जं गुरुणो ।
विरहम्मि विवट्टिज्जइ आणाणिद्देसचरियाए ॥१२८॥

'**इय**' एवं । '**एसो**' एषः । '**पच्चक्खो**' प्रत्यक्षो विनयः । सन्निहितगुरुविषयत्वात् । '**पारोक्खिगो**' **वि** गुरौ परोक्षे क्रियमाणोऽपि विनय । कोऽसाविति चेदाह—'**गुरुणो विरहम्मि विवट्टिज्जइ**' गुरोर्विरहेऽपि यत् क्रियते । '**आणाणिद्देसचरियाए**' आज्ञायाम्—इत्थमेव भवता कार्यं मुमुक्षुणा न कदाचनेत्थमिति यन्निर्दिश्यते तदाज्ञानिर्देशः । '**बद्धंतगो विहारो दसणणाणचरणेसु कादव्वो**' इत्येवमादिसदृशः ॥१२८॥

न गुरुष्वेव विनय कार्य इति ग्रहीतव्यं, एतेष्वपि विनय कर्तव्य इत्याह—

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे ।
विणओ जाहरिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १२९॥

'**राइणिय अराइणिएसु**' यथा रत्नानि दुर्लभानि अभिलषितदानक्षमाणि तथैव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि श्रद्धानादिपरिणामेनोत्कृष्टेन वर्तमान राइणिय इत्युच्यते । आत्मनो न्यूनरत्नत्रया अराइणिया अथवा '**रादिणिग ऊमरादिणिगेसु**' ज्येष्ठकनिष्ठव्रतेषु च शेष सुगम ॥१२९॥

करना निन्दा करना, उनके प्रतिकूल चलना इत्यादि पाप परिणामोंको छोडना । और गुरुको जो प्रिय हो और हितकर हो उसमें ही परिणाम लगाना । ये सक्षेपसे मानसिक विनय है ॥१२७॥

गा०—इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है, परोक्ष विनय भी वह है जो गुरुके अभावमे उनकी आज्ञा निर्देशका आचरण करनेमे की जाती है ॥१२८॥

टी०—यह प्रत्यक्ष विनय है क्योकि गुरुके सामनेकी जाती है और गुरुके अभावमे जो उनकी आज्ञाका पालन किया जाता है वह गुरुके परोक्षमे होनेसे परोक्ष विनय है । 'आप मुमुक्षु है आपको ऐसा ही करना चाहिये और कभी भी उसके विपरीत नही करना चाहिये' यह आज्ञा निर्देश है । जैसे 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रमे सदा विहार करना चाहिये', इत्यादि ॥१२८॥

'न केवल गुरुकी ही विनय करना चाहिये किन्तु इनकी भी विनय करना चाहिये यह कहते है—

गा०—रत्नत्रयमें जो अपनेसे उत्कृष्ट है, रत्नत्रयमें जो अपनेसे हीन है उनमे, आर्यिकाओंमे और गृहस्थवर्गमे वह विनय जो जिस योग्य हो, प्रमाद रहित होकर करना ही चाहिये ॥१२९॥

टी०—जिस प्रकार इच्छित वस्तुको देनेमे समर्थ रत्न दुर्लभ है उसी तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रत्न शब्दसे कहे गये हैं । अत जो उत्कृष्ट श्रद्धान आदि परिणामो से युक्त है तथा अपनेसे न्यून रत्नत्रयसे युक्त है उनकी विनय करना चाहिये । अथवा 'रादिणिग ऊमरादिणिगेसु' ऐसा पाठ होनेपर भी अपनेसे जो व्रतोंमें ज्येष्ठ हैं और कनिष्ट है उनकी विनय करना चाहिये । शेष गाथा सुगम है ॥१२९॥

विनयाभावे दोषमाचष्टे–दोषप्रकटनेन भयमुत्पाद्य विनये दृढता कर्तुम्—

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥१३०॥

'**विणएण विप्पहूणस्स**' विनयरहितस्य यते । '**हवइ सिक्खा णिरत्थिया सव्वा**' सर्वशिक्षा निष्फला । किं शिक्षाया· फलं इत्यारेकय आह—'**विणओ सिक्खाए फलं**' व्यावर्णित पञ्चप्रकारो विनय शिक्षाया: फल । तस्य विनयस्य किं फलं ? पुरुषार्थो हि फलमित्याशंक्याह '**विणयफलं सव्वकल्लाणं**' सर्वमभ्युदयनि श्रेयसरूपं कल्याणस्थानमानैश्वर्यादिकं इन्द्रियानिन्द्रियसुखं च ॥१३०॥

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ।
विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य ॥१३१॥

'**विणओ मोक्खद्दारं**' यथा द्वारमभिमतदेशप्राप्तेरुपायस्तद्वत् मोक्षस्य निरवशेषकर्मापायस्य प्राप्तावुपायो विनय इति मोक्षद्वारमित्युच्यते । निरूपिते पञ्चप्रकारे विनये स्त्येवे (?) कर्मापायो भवतीति '**विणयादो**' विनयाद् हेतो '**संजमो**' सयमो भवति । ज्ञानादिविनयेषु अनवरतं प्रवर्तमानो ह्यसयम परिहर्तुं शक्नोति नापर । इन्द्रियकषाययोरप्रणिधान यदि न स्यात् कथमिन्द्रियसयम प्राणिमयमो वा भवति ? '**तवो**' तप ज्ञाना-

---

विशेषार्थ—प० आशाधरने अपनी टीकामे 'रादिणिग ऊमरादिणिगेसु' पाठ रखा है—'रादिणिगा' अपनेसे रत्नत्रयसे अधिक या समान साधु । ऊमरादिणिगा–अपनेसे हीन रत्नत्रय वाले, ऐसा अर्थ किया है । और लिखा है कि अन्य टीकाकार इसका अर्थ इस प्रकार करते है—रातिका और अवम रातिका अर्थात् जो अपनेसे तपमे एक रात आदि बडे या छोटे है ॥

दोष प्रकट करनेसे भय उत्पन्न कराकर विनयमे दृढ करनेके लिये विनयके अभावमे दोष कहते हैं—

गा०—विनयसे रहित साधुकी सब शिक्षा निष्फल होती है । शिक्षाका फल विनय है । विनयका फल सब कल्याण है ॥१३०॥

टी०—विनय रहित साधुकी सब शिक्षा निष्फल है; क्योकि पूर्वमे कही पाँच प्रकार की विनय शिक्षाका फल है और उस विनयका फल सर्व कल्याण है । सब लौकिक अभ्युदय और मोक्ष रूप कल्याण उसका फल है अर्थात् विनयसे मान, ऐश्वर्य आदि तथा इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय सुख मिलता है ॥१३०॥

गा०—विनय मोक्षका द्वार है । विनयसे संयम, तप और ज्ञानकी प्राप्ति होती है । विनयसे आचार्य और सर्व संघ अपने वशमे किया जाता है ॥१३१॥

टी०—जैसे द्वार इष्ट देशकी प्राप्तिका उपाय होता है उसी तरह समस्त कर्मोंके विनाश रूप मोक्षकी प्राप्ति का उपाय विनय है इस लिये मोक्षका द्वार कहा है । पूर्वमे कही पाँच प्रकार की विनयके होनेपर ही कर्मोंसे छुटकारा होता है । विनयसे ही सयम होता है । क्योंकि जो पाँच प्रकारकी विनयोमें सदा लगा रहता है वही असंयमको त्यागनेमे समर्थ होता है, जो विनयोमें प्रवृत्ति नही करता वह असंयमको नहीं छोड सकता । यदि इन्द्रियों और कषायोंकी ओरसे विमुखता न हो तो कैसे इन्द्रिय संयम या प्राणिसंयम हो सकता है । तथा ज्ञानादिकी विनयसे

दिविनयशून्यं अनशनादिकं न कर्म तपतीति विनयहेतुकं तपसः तपस्त्वमिति मत्वोच्यते विनयात्तप इति। **'णाणं'** ज्ञान च विनयहेतुक। अविनीतो हि ज्ञान न लभते। **'विणएण'** विनयेन। **'आराधिज्जदि'** आराध्यते स्ववशे स्थाप्यते। **'आयरिओ'** आचार्यः। **'सव्वसंघो य'** सर्वश्च सघ. ॥१३१॥

आयारजीवकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झंझा।
अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हादकरणं च ॥१३२॥

'आयारजीदकप्पगुणदीवणा' रत्नत्रयाचरणनिरूपणपरतया प्रथममङ्गमाचारशब्देनोच्यते। आचारशास्त्र-निर्दिष्ट क्रम आचारजीदशब्देन उच्यते। कल्प्यते अभिधीयते येन अपराधानुरूपो दण्ड स कल्पस्तस्य गुण. उपकारस्तेन निर्वर्त्यत्वात्। अनयो प्रकाशन **'आचारजीदकप्पगुणदीवणा'**। एतदुक्त भवति–कायिको वाचिकश्च विनय प्रवर्तमान आचारशास्त्रनिर्दिष्ट क्रमं प्रकाशयति। कल्पोऽपि विनय विनाशयतो दण्डयतो विनय निरूप-यति। तद्भयादय प्रवर्त्यते इति कल्पसपाद्य उपकार प्रकटितो भवति इति केषाचिद् व्याख्यान। अन्ये तु वदन्ति। कल्पयते इति कल्प्य योग्य कल्प्या गुणा कल्प्यगुणा आचारक्रमस्य कल्प्याना च गुणाना प्रकाशन **'आचारजीवकल्पगुणदीवणाशब्देनोच्यते'** श्रुताराधना चारित्राराधना च कृता भवतीत्येतदाख्यात अनेनेति।

'अत्तसोधिणिज्झंझा' विनयपरिणतिरात्मशुद्धेर्ज्ञानदर्शनवीतरागात्मिकाया निमित्तमिति आत्मशुद्धि-रुच्यते। अथवा ज्ञानादिविनयपरिणति कर्ममलापायलभ्यत्वात् शुद्धिरुच्यते आत्मन पङ्कापायलभ्या जलादि-

---

शून्य अनशन आदि कर्मको नष्ट नही कर सकते। इसलिये तपमे तपपनाका कारण विनय है ऐसा मानकर 'विनयसे तप होता है', कहा है। तथा ज्ञानका कारण भी विनय है। अविनीत पुरुष ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। और विनयसे आचार्य तथा समस्त सघ अपने वशमे हो सकता है ॥१३१॥

गा०—आचारके क्रम तथा कल्प्य गुणोका प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्यका अभाव, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और अपने और दूसरोको प्रसन्न करना, ये विनय के गुण है ॥१३२॥

टी०—रत्नत्रयके आचरणका कथन करनेमे तत्पर होनेसे पहले अगको आचाराग कहते है। और आचार शास्त्रमे कहे गये क्रमको 'आचारजीत' शब्दसे कहते है। 'कल्प्यते' अर्थात् जो अपराधके अनुरूप दण्डको कहता है वह कल्प है उसका गुण अर्थात् उपकार। इन दोनोका प्रकाश 'आचारजीदकप्पगुणदीवणा' है। इसका अभिप्राय यह है कि कायिक और वाचिक विनयके करनेसे आचारशास्त्रमे कहे गये क्रमका प्रकाशन होता है। कल्प भी विनयको न मानने वाले साधुको दण्डका विधान करता है अत. विनयका ही निरूपण करता है। उसके भयसे साधु विनय करता है इस प्रकार कल्पके द्वारा किया जाने वाला उपकार प्रकट होता है। ऐसा किन्ही का व्याख्यान है। अन्य टीकाकार कहते है—

'कल्प्यते इति कल्प्य' अर्थात् योग्य। कल्प्य गुणोंको कल्प्यगुण कहते है। आचारके क्रमका और कल्प्य गुणोका प्रकाशन 'आयारजीद कल्प गुण दोवणा' शब्दका अर्थ है। इससे यह कहा है कि विनय करनेसे श्रुतकी आराधना और चारित्र की आराधना होती है। तथा विनय करना आत्म शुद्धिका अर्थात् ज्ञान दर्शन और वीतराग रूप परिणतिका निमित्त है। अथवा ज्ञानादि विनय रूप परिणति कर्ममलके विनाशसे प्राप्त होती है अत. उसे आत्माकी शुद्धि कहते है। जैसे

शुद्धिरिव । वैमनस्याभावो **'णिज्झंझा'** विमनस्को भवति विनयहीनो गुर्वादिभिरननुगृह्यमाण. ।

'अज्जवं' आर्जव नाम ऋजुमार्गवृत्ति., शास्त्रनिर्दिष्ट वा चरण ऋजु । **'मद्दव'** अभिमानत्यागो मार्दव परगुणातिशये श्रद्धानेन, तन्माहात्म्यप्रकाशनेन च विनयेन च अभिमाननिरास कृतो भवति । लाघव विनीतो हि आचार्यादिषु न्यस्तभरो भवतीति लाघव विनयमूल । **'भत्ती'** विनीतस्य हि सर्वजनो विनीतो भवति इति विनयहेतुका भक्तिः । **'पल्हादकरणं'** च प्रकृष्ट सुख प्रकृष्टसुख प्रह्लादस्तस्य करण क्रिया प्रह्लादकरण-मित्युच्यते । येषा विनय क्रियते तेषा सुख सपादित भवति इति परानुग्रहो गुण आत्मनो वा प्रह्लादकरण । कथमविनीतो हि निर्भर्त्सनादिभिरनवरत दु खितो भवति । विनीतो हि निर्भर्त्सनाद्यभावात् सुखी भवति । बाधाभावे एव सुखव्यवहारो लोके ॥१३२॥

कित्ती मेत्ती माणस्स भजणं गुरुजणे य बहुमाणो ।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ॥१३३॥

'कित्ती' विनीतोऽयमिति सशब्दन कीर्ति । **मेत्ती'** परेषा दु खानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री । परस्य दु ख नैवेच्छति विनीत इति । **'माणस्स भजणं'** मानस्य भङ्ग ।

ननु मार्दवशब्देनाभिहित एव मानभङ्ग पूर्वसूत्रे तत पौनरुक्त्य इति । उच्यते **'माणस्स भंजणं 'परस्स'** इति शेषः एकस्य विनयदर्शनात् परोऽपि स्व मान जहाति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ।

कीचडके दूर होनेसे जलादिकी शुद्धि होती है। 'णिज्झझा' का अर्थ वैमनस्यका अभाव है। जो विमनस्क होता है अर्थात् जिसका मन स्थिर नही होता वह विनय हीन होता है। गुरु उसपर अनुग्रह नही करते। ऋजु मार्ग पर चलनेको आर्जव कहते है और शास्त्रमे कहे गये आचरणको ऋजु कहते है। मार्दवका अर्थ अभिमानका त्याग है। दूसरेके गुणातिशयमे श्रद्धा करनेसे और उनके माहात्म्यको प्रकट करनेसे तथा विनय करनेसे अभिमानका निरास स्वय हो जाता है। जो विनीत साधु होता है वह अपना भार आचार्यपर सौंपकर लघु हो जाता है अर्थात् आचार्य स्वयं उसकी चिन्ता करते है अतः लाघव का मूल विनय है। जो विनीत होता है सभी मनुष्य उसकी विनय करते है अतः विनय भक्तिका कारण है। प्रकृष्ट सुखको प्रह्लाद कहते है उसका करना प्रह्लादकरण है। जिनकी विनय की जाती है उनको सुख होता है इस प्रकार दूसरोको प्रसन्न करना विनयका गुण है। अपनेको प्रसन्न करना भी विनयका गुण है क्योंकि जो अविनयी होता है सब उसका तिरस्कार आदि करते है अतः वह निरन्तर दुखी रहता है। और जो विनयी होता है उसका कोई तिरस्कार आदि नही करता, अत वह सुखी रहता है क्योकि लोकमें बाधाके अभावको ही सुख कहा जाता है ॥१३२॥

गा०—कीर्त्ति, मित्रता, मानका विनाश, गुरुजनोका बहुमान, और तीर्थङ्करोकी आज्ञाका पालन और गुणोकी अनुमोदना ये विनयमे गुण है, ॥१३३॥

टी०—यह विनयी है ऐसा कहना कीर्ति है। विनयीकी कीर्ति होती है। दूसरोको दुःख न होनेकी भावना मैत्री है। जो विनीत होता है वह दूसरोको दुःख नही चाहता। और मानका भंग होता है।

शङ्का—पूर्व गाथामे मार्दव शब्दसे मानभंगको कहा ही है। पुनः कहनेसे पुनरुक्तता दोष आता है ?

नूनमभिमानत्यागो गुणो अन्यथा किमित्यय विनयं करोतीति । गुरवो हि बहुमान्या कृता भवन्ति विनयेनेत्याह—'**गुरुजणे य बहुमाणो**' इति ।

'**तित्थयराणं आणा सपाविदा होदित्ति**' शेष । विनयमुपदिशता तीर्थकृता आज्ञा सपादिता भवति, अनुष्ठितेन विनयेन । '**गुणानुमोदो य**' गुणिषु विनय प्रवर्तयता तदीयगुणानुमनन कृत भवति इति । केचिद् गुणेषु श्रद्धानादिषु हर्ष कृतो भवतीत्येव वदन्ति । एते विनयगुणाः । गुणशब्द उपकारवचनोऽत्र विनयजन्यत्वाद्विनयस्य गुणा इत्युच्यन्ते ॥१३३॥

विनयव्याख्यानानन्तर समाधिनिरूपणार्थ उत्तरप्रबध । योग्यस्य, गृहीतलिङ्गस्य, ज्ञानभावनोद्यतस्य, ज्ञाननिरूपते विनये वर्तमानस्य, रत्नत्रये मानस सम्यगाराधन न्याय्यमित्यधिकारसबन्धोऽनुगतव्य । चेतः समाहितं कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं फलमिति चोद्यद्वयप्रतिविधानार्था[1] गाथा ।

चित्तं समाहिदं जस्स होज्ज वज्जिदविसोत्तियं वसियं ।
सो वहदि णिरदिचारं सामण्णधुरं अपरिसंतो ॥१३४॥

'**चित्तं समाहिदं जस्स**' जस्स चित्त वज्जिदविसोत्तिगं वसियं समाहिदं इति पदघटना । यस्य चेतः परित्यक्ताशुभपरिणतिप्रसर वशवर्ति च यत्र नियुङ्क्ते तत्रैव तिष्ठति, तच्चित्त समाहितमिति ग्राह्यम् । [2]अत्रैव

समाधान—यहाँ परके मानभगको कहा है। एक की विनय देखकर दूसरा भी अपना मान छोड देता है, क्योकि लोग प्राय गतानुगतिक होते है। दूसरोको जैसा करता देखते है स्वय भी वैसा करते है। वे सोचते है—निश्चय ही अभिमानका त्याग गुण है, अन्यथा यह विनय क्यो करता। विनयसे गुरुवोका बहुत मान होता है क्योकि विनयी शिष्य अपने गुरुजनोका बहुत सम्मान करता है।

तथा तीर्थङ्करोकी आज्ञाका पालन होता है। अर्थात् विनयका उपदेश देने वाले तीर्थंकरो की आज्ञाका पालन विनय करने से होता है। तथा गुणीजनो की विनय करनेसे उनके गुणोकी अनुमोदना होती है। कोई कहते है कि श्रद्धानादि गुणोमे हर्ष प्रकट होता है। ये विनयके गुण हैं। यहाँ गुणशब्द उपकारवाची है। विनयसे पैदा होनेके कारण इन्हे विनयके गुण कहते है ॥१३३॥

विनयका कथन करनेके पश्चात् समाधिका कथन करते है। जो योग्य हो, जिसने साधु लिंग स्वीकार किया हो, ज्ञान भावनामे तत्पर हो, शास्त्र निरूपित विनयका पालन करता हो और जिसका मन रत्नत्रय मे हो, उसको सम्यक् आराधना करना योग्य है, इस प्रकार अधिकार का सम्बन्ध लगाना चाहिये। अब समाहित चित्त कैसा होता है और उसका क्या फल है? इन दो प्रश्नो का उत्तर गाथा द्वारा देते है—

गा०—जिसका चित्त अशुभ परिणामोके प्रवाहसे रहित और वशवर्ती होता है वह चित्त समाहित होता है। वह समाहित चित्त विना थके निरतिचार चारित्रके भारको धारण करता है ॥१३४॥

टी०—जिसका चित्त अशुभ परिणामोके प्रवाहको छोड देता है और जहाँ उसे लगाया जाय वही ठहरा रहता है वह चित्त समाहित जानना। यहाँ यह विचार करते है कि यह चित्त

१ प्रतिविबोधना आ० मु०। २ अन्यैरेव आ० मु०।

विचार्यते । किमिदं चित्तं नाम ? मन इति चेद् द्रव्यमनो भावमनश्चेति तद्द्विप्रकार, कस्येह ग्रहण ? न तावत् द्रव्यमन पुद्गलत्वादसभविनी कर्मादाननिमित्ततया परिणतिरिति । **'वज्जिदविसोत्तिगमिति'** विशेषणम-सभवीति । न च तद्वशवर्त्यात्मन । तेन भावमनो गृह्यते । नोइन्द्रियमति सा रागादिसहभाविनी तद्रहिता चास्तीति युज्यते **'वज्जिद विसोत्तिगं'** इति विशेषण वसिगमिति च तस्या घटते । नोइन्द्रियमतिज्ञानावरण-क्षयोपशमवत आत्मनो वशेन नोइन्द्रियमतिर्वर्तते । तथा हि रागकोपभयदु खादयो नटादीना वशेन परिणामा वर्तंते तत्कार्यपुलकादिदर्शनेनानुमीयमाना । तद्वदेव नोइन्द्रियमतिरपि आत्मेच्छया क्वचिदेवावरुद्धानुभूयते इति । **'सो'** स. **'समाहिदचित्तो'** वहति **वहदि** धारयति । तथा च प्रयोग —विणय वहति धारयति इति गम्यते । **'निरदिचारं'** निरतिचार निर्दोष । कि ? **सामण्णधुरं** रागकोपानुपप्लुतचित्त समण इत्युच्यते । तथा च **नैरुक्तका** वदन्ति **'सममणो'** समणो इति । समणस्स भावो सामण्ण । तच्च कि ? समानता चारित्रं । तस्य भार कीदृश निरतिचार निर्मल । **'अपरिसंतो'** अश्रान्तश्चारित्रभारोद्वहन फल समाहितचित्तस्येत्याख्यात भवति । अनिभृतमनस्ताया दोषाख्यानव्याजेन निभृत मन कार्यमिति द्रढयत्युत्तरगाथया । कश्चित्कचिदुज्जयिनीस्थ दक्षिणापथाभिमुखमाह अल्पधान्य क्षुद्रजनबहुलो द्रमिलदेश इति । स एवमुक्त प्रत्येति अय जनपद सुभिक्ष सुजनाधिवासः इति ॥१३४॥

चालणिगय व उदयं सामण्ण गलइ अणिहुदमणस्स ।
कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥१३५॥

क्या है ? यदि चित्तसे मतलब मनसे है तो उसके दो भेद है—द्रव्यमन और भावमन । यहाँ किसका ग्रहण किया है ? द्रव्यमनका ग्रहण तो सभव नही है क्योकि पौद्गलिक होनेसे कर्मोके ग्रहणमे निमित्त रूपसे उसकी परिणति सभव नही है । तथा 'वज्जिदविसेसोत्तिग' यह विशेषण भी सभव नही है । तथा द्रव्यमन आत्माके वशवर्ती भी नही है । अत चित्तसे भावमनका ग्रहण होता है । वह भावमन नोइन्द्रियमति है और नोइन्द्रियमति रागादि सहित और रागादि रहित होती है । उसमे 'वज्जिद विसेसोत्तिग और 'वसिग' दोनो विशेषण घटित होते है । नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम वाले आत्माके नोइन्द्रियमति होती है अत वह उसके वशवर्ती है । जैसे राग, कोप, भय और दु ख आदि परिणाम नट आदिके अधीन होते है क्योकि उनका कार्य देखकर दर्शकोको रागादि होने है । इससे अनुमान किया जाता है कि रागादि परिणाम नट वगैरहके वशवर्ती है । उसी तरह नोइन्द्रिय मति भी आत्माकी इच्छासे किसी एक विषयमे रुकी हुई अनुभवमे आती है । अर्थात् आत्माकी इच्छानुसार भावमन किसी भी विषयमे लीन हो जाता है । वह समाहित चित्त निर्दोष 'सामण्णधुरा' को धारण करता है । जिसका चित्त राग द्वेषसे अबाधित होता है उसे समण कहते है । निरुक्तिकार कहते है 'सममणो समणो' समता युक्त मन जिसका है वह समण है और समणके भावको सामण्ण कहते है । वह समानता चारित्र है । उसके निरतिचार अर्थात् निर्मल भारको वह अश्रान्त होकर धारण करता है । इससे यह बतलाया है कि समाहित चित्तका फल चारित्रके भारको धारण करना है । जैसे किसी उज्जयिनीके निवासीको जो दक्षिणापथकी ओर जाता था किसी ने कहा कि द्रमिल देशमे अन्नकी कमी है और क्षुद्र जनोसे भरा है । उसके ऐसा कहने पर वह जान लेता है कि यह देश सुभिक्षशाली और सुजनोंसे भरा है । उसी तरह चित्तकी चंचलतामे दोष कहनेके बहानेसे ग्रन्थकार उत्तर गाथासे यह दृढ़ करते है कि मनको निश्चल करना चाहिये ॥१३४॥

'चालणिगयं व उदयं' उदकमिव चालनीगतं । **'सामण्णं'** सामान्यं समानभावो । **'गलइ'** गलति । कस्स **'अणिहुवमणस्स'** अनिभृत चेतो यस्य । **'कायेण य वायाए'** कायेन च वचसा च । **'जदि वि चरदि'** यद्यपि चरति प्रवर्तते भिक्षु. । **'जधुत्तं'** यथाशास्त्रेणोक्त ।' तथा वाक्कायाभ्यामाचरतोऽपि मनोनिभृतताभावे श्रामण्यं नश्यतीत्यर्थ । तस्माच्चेत समाधानं कार्यमित्युपसहार ॥१३५॥

मनसो दुष्टता प्रपञ्चेनोपदिश्य तदेवभूत मनो यो निगृह्णाति तस्य श्रामण्य भवति समानभावो नेतर-स्येत्येतदुत्तरप्रबन्धेनोच्यते तद्दौरात्म्यप्रकाशनार्थ गाथापञ्चकम्—

वादुब्भामो व मणो परिधावइ अट्ठिदं तह समंता ।
सिग्घं च जाइ दूरंपि मणो परमाणुदव्वं वा ॥१३६॥

'वादुब्भामो' इत्यादिक । **'वादुब्भामो व'** वात्येव । **'मणो'** मन । **'परिधावइ'** धावति परिरनर्थक प्रलबित इति यथा । **'अट्ठिदं'** इति क्रियाविशेषण अस्थित धावति । क्वचिद्विषयेऽनवस्थितिराख्याता मनस । **'तह समंता'** तथा समतात् । **'दूरं'** पि दूरमपि । **'सिग्घं च जाइ'** शीघ्र याति । **'मणो'** मन । **'परमाणुदव्वं वा'** परम प्रकृष्टो अणु सूक्ष्म परमाणु स एव द्रव्य गुणपर्यायगमनात् तदिव । एतेन झटिति दूरस्थितविषयग्रहण तस्य दौरात्म्यमावेदितं ॥१३६॥

अंधलयबहिरमूवो व्व मणो लहुमेव विप्पणासेइ ।
दुक्खो य पडिणियत्तेदुं जो गिरिसरिदसोदं वा ॥१३७॥

गा०—जिसका चित्त चंचल है उसका समान भाव चालनीमे रखे पानीकी तरह गल जाता है । यद्यपि वह भिक्षु कामसे और वचनसे शास्त्रमे कहे अनुसार आचरण करता है ॥१३५॥

टी०—इसका सार यह है कि वचन और शरीरसे शास्त्रानुसार आचरण करने वाले भी साधुका मन यदि निश्चल नही है तो उसका श्रामण्य नष्ट हो जाता है । अत चित्तको स्थिर करना चाहिये । यह उपसहार है ॥१३५॥

मनकी दुष्टताका विस्तारसे कथन करके, इस प्रकारके मनको जो वशमे करता है उसके समान भावरूप श्रामण्य होता है, अन्यके नही होता, यह आगे कहते है । प्रथम ही पाँच गाथाओं से मनकी दुष्टता प्रकट करते है—

गा०—बडे जोरसे चलने वाली हवाकी तरह मन उसीकी तरह चहुँ ओर अस्थिर रूपसे दौडता है । और परमाणु द्रव्यकी तरह मन दूरवर्ती भी वस्तुके पास शीघ्र जाता है ॥१३६॥

टी०—प्रचण्डवायुकी तरह मनके अस्थिर गमनसे यह बतलाया है कि मन किसी भी विषयमे स्थिर नही रहता । तथा दूरवर्ती वस्तुके पास परमाणु द्रव्यकी तरह शीघ्र जाता है । परम अर्थात् प्रकृष्ट, अणु अर्थात् सूक्ष्म जो है वह परमाणु है । वह परमाणु द्रव्य है क्योकि गुण पर्यायो वाला है । इससे मनकी दुष्टता बतलाई है कि वह दूर स्थित विषयको झट ग्रहण कर लेता है (जैसे परमाणु एक समयमे चौदह राजु गमन करता है) ॥१३६॥

गा०—मन अन्धे बहरे और गूँगेके समान है शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । और पहाडी नदीके प्रवाहकी तरह लौटाना अशक्य है ॥१३७॥

'अंधलयबहिरमूओ व्व मणो हवइ' इति शेष । अंधवद्बधिरवन्मूकवच्च भवति मन । कदाचित्क-थचित्क्वचिद्विषये सक्तं मन. सन्निहितमपि विषय न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति, इति । ननु चक्षुरादेः कर्तृता दर्शनादौ न मनसस्तत्सर्वदापि न किंचित्पश्यति, न शृणोति वक्ति वा ? उच्यते—मनस करणस्य कर्तृता परशुश्छिनत्तीति यथा । एतदुक्त भवति—द्रष्टव्ये जीवादिके, श्रोतव्ये जिनवचनादिके, स्वपरहिते वाक्ये च कदाचिदप्रवृत्तिर्मनसो दुष्टतेति । यथा भृत्यो दुष्ट इत्युच्यते स्वामिना नियुक्ते कर्मण्यप्रवर्तमान । एव मनोऽप्यात्मना नियुक्तेऽव्यापृतेदुं ष्टमिति भाव । **'लहुमेव विप्पणासेदि य'** आशु विनश्यति च । अनित्य-तादोषस्तु वस्तुयाथात्म्यग्राहिणो मनस. नो इन्द्रियमते । **'दुक्खो य'** दु ख अशक्य । **'पडिनियत्तेदुं जं'** प्रति-निवर्त्तयितुं वस्तु[1]न्यभूतरूपग्रहणे भूतरूपनिरासे च प्रवृत्त ता[2]भ्या निवर्तयितुं न शक्य रागादिसहचारित्वात् प्रतिनिवर्तयितु । किमिव **'गिरिसरिदसोदंव्व'** गिरिनदीप्रवाह इव ॥१३७॥

तत्तो दुक्खे पंथे पाडेदुं दुट्ठओ जहा अस्सो ।
वीलणमच्छोव्व मणो णिग्घेत्तुं दुक्करो धणिदं ॥१३८॥

'तत्तो' तस्मात्प्रतिनिवर्तनात । **'दुक्खे'** दुष्करे **'पथे'** मार्गे । **'पाडेदु'** पातयितु । किमिव । **'दुट्ठओ जहा अस्सो'** दुष्टोऽनव्यालो यथैवाश्व । एतेन दुष्करमार्गविपातित्वदोष प्रकटित । **'वीलणमच्छोव्व'** मसृणतरदेह-मत्स्य इव । **'धणिदं दुक्करो णिघेत्तुं'** नितरा दुष्कर ग्रहीतु मन । एतेन दुरवग्रहता ख्याता ॥१३८॥

टी०—मन अंधे, बहरे और गूगे मनुष्यकी तरह है क्योकि कभी-कभी किसी विषयमे आसक्त मन निकटवर्ती भी विषयको नही देखता, नही सुनता, और नही बोलता ।

शङ्का—देखने आदिका काम तो चक्षु आदि इन्द्रियोका है, मनका नही । मन तो सदा ही न कुछ देखता है, न सुनता है, न बोलता है ।

समाधान—मन करण है फिर भी उसे कर्ता कहा है । जैसे परशु लकडी काटनेमे करण है फिर भी उसे कर्ता कहा जाता है परशु काटता है । इसका आशय यह है कि देखने योग्य जीवादिमे, सुनने योग्य जिन वचन आदिमे और स्वपरका कल्याण करने वाले वचनोमे मनका प्रवृत्त न होना उसकी दुष्टता है । जैसे जो सेवक स्वामीके द्वारा कहे गये कार्यमे प्रवृत्त नही होता उसे दुष्ट कहा जाता है । उसी तरह मन भी आत्माके द्वारा नियुक्त कार्यमे प्रवृत्त न होनेसे दुष्ट कहा जाता है । तथा शीघ्र नष्ट हो जाता है । इससे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने वाले मनकी अनित्यताका दोष बतलाया है । तथा वस्तुके अविद्यमान स्वरूपको ग्रहण करनेमे और विद्यमान स्वरूपका निरास करनेमे प्रवृत्त हुए मनको उससे हटाना वैसे ही अशक्य है जैसे पहाडी नदीके प्रवाहको लौटाना अशक्य होता है; क्योकि मन रागादिभावमे आसक्त होता है ॥१३७॥

गा०—अयोग्य विषयसे हटानेसे मन दुष्कर मार्गमे गिराता है । जैसे दुष्ट घोडा गिराता है । अति चिकने मच्छकी तरह पकडने मे अत्यन्त दुष्कर है ॥१३८॥

टी०—जैसे कुमार्गपर चलते हुए दुष्ट घोडेको रोकनेसे वह मार्गमें गिरा देता है वैसे ही मन भी खोटे मार्गमें गिराता है । इससे दुष्कर मार्गमे गिरानेका दोष प्रकट किया । तथा जैसे

---

१. तु यदन्य आ० मु० । २. द्वाभ्या आ० ।

जस्स य कदेण जीवा संसारमणंतयं परिभमंति ।
भीमासुहगदिबहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता ॥१३९॥

'**जस्स य**' यस्य च । '**कदेण**' करोति क्रियासामान्यवाची इह चेष्टावृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थः यस्य मनसश्चेष्टितेन जीवा संसार पञ्चविधं परावर्तं परिभ्रमन्ति । '**अणंतगं**' अनन्तप्रमाणावच्छिन्नं । '**भीमासुहगदिबहुलं**' भयावहाशुभनरकादिगतिप्रचुरं । '**दुक्खसहस्साणि**' शारीरागन्तुकमानसस्वाभाविकाख्यानि प्रत्येकमनेकविकल्पानि । '**पावंता**' प्राप्नुवन्तो जीवा । एतेन चतुर्गतिपरावर्तमूलतादोषः प्रकटितः ॥१३९॥

जम्हि य वारिदमेत्ते सव्वे संसारकारया दोसा ।
णासंति रागदोसादिया हु सज्जो मणुस्सस्स ॥१४०॥

'**जम्हि**' यस्मिश्च मनसि । '**वारिदमेत्ते**' वारित एव मात्रग्रहण वारणादन्यं निराकर्तुमुपात्त । मनो निवारणादेव '**रागदोसादिया**' रागद्वेषादय । '**णासंति खु**' नश्यन्त्येव । '**सज्जो**' सद्य. तदानीमेव । '**संसारकारया**' परावर्तपञ्चकस्य संपादनोद्यता ॥१४०॥

इय दुट्ठय मणं जो वारेदि पंडिदूवेदि य अकंपं ।
सुहसकप्पपयारं च कुणदि मज्झायसण्णिहिदं ॥१४१॥

चिकने शरीर वाली मछलीको पकडना कठिन है वैसे ही मनको रोकना बहुत कठिन है। इससे 'दुरवग्रहता' नामक दोष कहा ॥१३८॥

गा०—जिस मनकी चेष्टासे जीव हजारो दुःख भोगते हुए भयकर अशुभ गतियोंसे भरे हुए अनन्त संसारमे भ्रमण करते है ॥१३९॥

टी०—गाथामे आया 'कदेण' शब्द करने रूप क्रियासामान्यका वाची है किन्तु यहाँ उसका अर्थ चेष्टा लिया है। अत ऐसा अर्थ होता है कि जिस मनकी चेष्टासे जीव पाँच परावर्तन रूप संसारमे भ्रमण करते है, वह संसार अनन्त प्रमाण वाला है और उसमे भयानक नरक आदि अशुभ गतियोका बाहुल्य है। तथा वे जीव शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक स्वाभाविक आदि अनेक प्रकारके दुःखोको पाते हैं। इससे 'चतुर्गतिमे भ्रमणका मूल' दोप प्रकट किया ॥१३९॥

गा०—जिस मनके निवारण करने मात्रसे मनुष्यके सब संसारके कारक राग द्वेष आदि दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते है ॥१४०॥

टी०- 'वारिदमेत्ते' मे 'मात्र' पदका ग्रहण निवारणसे अन्यका निराकरण करनेके लिये किया है। अर्थात् अन्य कुछ न करके मात्र मनको रोका जाये तो पाँच परावर्तन रूप संसारके कारण सब दोष तत्काल नष्ट हो जाते है ॥१४०॥

गा०—उक्त प्रकारसे जो दुष्ट मनको रागादिसे निवारण करता है, और निश्चलरूपसे श्रद्धानरूप परिणामादिमे स्थापित करता है। तथा शुभसंकल्पोमे मनको प्रवृत्त करता है और स्वाध्यायमें मनको लगाता है उसके सामण्ण-समताभाव होता है ॥१४१॥

'इय' एव व्यावर्णितरूपेण । **'दुट्ठयं'** दुष्टक दुष्ट । **'मणं'** मनो । **'जो वारेदि'** यो निवारयति रागादिभ्य । **'परिट्ठवेदि य'** प्रतिष्ठापयति च श्रद्धानपरिणामादौ । **'अकंपं'** निश्चल । क्रियाविशेषण-मेतत् । **तस्स सामण्णं होदि** वक्ष्यमाणेन सबन्ध । **'सुभसकप्पपयारं जो कुणदि तस्स सामण्णं होदित्ति'** सबधनीय । शुभ सकल्प- तस्मिन्प्रकृष्टश्चारो गमन प्रवृत्तिर्यस्य मनसस्तच्छुभसकल्पप्रचार मनो य करोति । **'सज्झाय-सण्णिहिदं' च जो कुणदि तस्स सामण्ण इति** सबन्धते । सम्यगध्ययन स्वाध्याय द्रुतविलबितादिदोषरहितत्व अर्थव्यञ्जनशुद्धिश्च सम्यक्त्व । स पुन पञ्चप्रकार वाचनाप्रश्नानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशभेदेन ।

प्रश्नस्य कथं स्वाध्यायता ? प्रश्नो हि ग्रन्थेऽर्थे वा सशयच्छेदाय इत्थमेवैतदिति निश्चितार्थबला-धानाय वा प्रच्छन । न हि य पृच्छति ग्रन्थमर्थ वा सोऽधीते ? अध्ययनप्रवृत्त्यर्थत्वात् प्रश्नेऽध्ययनव्य-पदेश इन्द्रप्रतिमार्थे दारुणि इन्द्र[2]व्यपदेश इव । अथवा किमिदमेव पठितव्यमिति अधीत एव ग्रन्थे सदिहान । अर्थसदेहेऽपि किमस्य वाक्यस्य पदस्य वायमर्थ इति । यद्वाप्यते एव निश्चितबलाधानार्थे प्रश्ने योज्यम् ।

अनुप्रेक्षा कथ स्वाध्याय ? अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा अन्तर्जल्परूपमध्ययनमस्त्येव तत्रापीति मन्यते ।

घोषपरिशुद्ध श्रुत परावर्त्यमान आम्नाय स्वाध्यायो भवत्येव ।

आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेदनी चेति कथाश्चतस्रस्तासामुपदेशो धर्मोपदेश स च स्वाध्याय । एतस्मिन्स्वाध्याये सम्यक् निहित निक्षिप्त मनो य करोति इत्यर्थ ।

टी०—जो ऊपर कहे अनुसार रागादिसे दुष्ट मनको हटाता है और श्रद्धानादिमे निश्चल-रूपसे मनको स्थापित करता है उसके सामण्ण होता है इस प्रकार आगेके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए। शुभ संकल्पमे प्रकृष्ट चार प्रचार अर्थात् प्रवृत्ति जिसके मनकी है अर्थात् जो मनको शुभ सकल्पोमे लगाता है उसके सामण्ण होता है। सम्यक् अध्ययनको स्वाध्याय कहते है। जल्दी पढना या देरसे धीरे-धीरे पढना इत्यादि दोषोसे रहित होना तथा अर्थशुद्धि और वचनशुद्धिका होना सम्यकपना है। उस स्वाध्यायके पाँच भेद है—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश। प्रश्न कैसे स्वाध्याय है यह बतलाते है—ग्रन्थ अथवा अर्थके सम्बन्धमे सशयको दूर करनेके लिए अथवा निश्चित अर्थको पुष्ट करनेके लिए पूछना प्रश्न है। जो ग्रन्थ या अर्थको पूछता है वह अध्ययन नही करता, किन्तु ऐसा करना अध्ययनकी प्रवृत्तिके लिए होता है इससे प्रश्नको अध्ययन कहा है। जैसे इन्द्रकी प्रतिमा बनानेके लिए लाये गये काष्ठको इन्द्र कहा जाता है। अथवा 'क्या इसे इस प्रकार पढना चाहिए' इस तरह पढे हुए ही ग्रन्थमे सन्देह करना, तथा अर्थमे सन्देह होनेपर भी 'क्या इस पद अथवा वाक्यका यह अर्थ है' इस प्रकार पूछना स्वाध्याय-का कारण होनेसे स्वाध्याय है। इसी प्रकार निश्चित अर्थको दृढ करनेके लिए भी प्रश्नकी योजना करनी चाहिए। अनुप्रेक्षा कैसे स्वाध्याय है ? जाने हुए अर्थका मनसे अभ्यास करनेको अनुप्रेक्षा कहते है। इसमे भी अन्तर्जल्परूप अर्थात् मन ही मनमे अध्ययन होता ही है। शुद्ध उच्चारण-पूर्वक श्रुतका पाठ करना आम्नाय है। यह तो स्वाध्याय है ही। आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी इस प्रकार चार कथाएँ है। उनका उपदेश धर्मोपदेश है। यह भी स्वाध्याय है। इस स्वाध्यायमे जो मनको सम्यक्रूपसे लगाता है उसके सामण्ण होता है।

१. तर्हि यदृच्छावग्रहमर्थं वा–आ० मु० । २ द्रव्यव्य–आ० मु० ।

अत्रैवं पदघटना अध्याहृतं कृत्वा '**इय दुट्ठकं मणो सो वारेदि अकंपं पडिट्ठवेदि य जो मणं सुभसकप्पपयारमेव कुणदि सज्झायसण्णिहिदं काऊण इति**'। एव दुष्ट मन स वारयति निश्चल प्रतिष्ठापयति वा। यो मन. शुभसकल्पप्रचारमेव करोति। स्वाध्याये सन्निहित कृत्वेति सूत्रार्थ । तस्येत्थंभूतस्य श्रामण्य समानता वा भवति ॥१४१॥

जो विय विणिप्पडंतं मणं णियत्तेदि सह विचारेण।
णिग्गहदी य मणं जो करेदि अदिलज्जियं च मणं ॥१४२॥

'**जो वि य**' यश्चापि। '**विणिप्पडत**' वि शब्दो नानार्थ, निर् इत्युपसर्गो बहिर्भावे, पडिर्गमनार्थ। ततोऽयमर्थोऽस्य पदस्य विचित्र बहिर्निर्गच्छन्निवर्तयेदिति। ननु च सत्यभ्यतरे कस्मिश्चित्तदपेक्षो भवति बहिर्भावस्तत किम्? अभ्यन्तरमिह गृहीतं रत्नत्रय। कथमस्याभ्यन्तरता? आत्मनो निजस्वरूपमिति। रागकोपादयस्तु चारित्रमोहोदयजा भावा परिणामा बाह्या मिथ्यात्वासयमकषायादिभेदेन विचित्रास्तदभिमुखतया प्रवृत्त । '**णियत्तेदि सह विचारेण जो**' इति शेष

कोऽसौ विचार? उच्यते—इद तत्त्वाश्रद्धान, इय च हिंसादिपरिणतिरय वा क्रोधादिको भावो मया परिणामिकारणभूतेन निर्वर्त्यमानो जातिजरामरणपरिणामरूपानन्तमसारकारणाना कर्मणा मूलोत्तरप्रकृतिभेदेन सख्यात[1]विकल्पाना, स्थितिविशेषमात्मप्रदेशेष्ववस्थानरूप, तीव्रमध्यममन्दरूपाश्रद्धानासयमकषायपरि-

---

इस प्रकार जो दुष्ट मनका निवारण करता है और उसे श्रद्धानादिमे स्थिर करता है तथा जो मनको शुभसकल्पोमे ही लगाता है और स्वाध्यायमे प्रवृत्त रहता है उसके श्रामण्य अथवा समता होती है ॥१४१॥

गा०—जो भी रत्नत्रयसे च्युत होकर विचित्र रागादिमे जानेवाले मनको विचारोके साथ हटाता है, और जो मनको निन्दा गर्हाके द्वारा निगृहीत करता है—उसकी निन्दा करता है, और मनको अति लज्जित करता है उसके सामण्ण होता है ॥१४२॥

टी०—'विणिप्पडत' मे 'वि' शब्दका अर्थ अनेक है, 'निर' यह उपसर्ग बहिर्भावके अर्थमे है और 'पडि' का अर्थ गमन है। अत इस पदका अर्थ है अनेक बाह्य विषयोमे जानेवाले मनको रोके।

शङ्का—किसी अभ्यन्तरके होनेपर उसकी अपेक्षा बहिर्भाव होता है यहाँ वह अभ्यन्तर कौन है?

समाधान—रत्नत्रय है और वह आत्माका निजस्वरूप होनेसे अभ्यन्तर है। राग-कोप आदि तो चारित्रमोहके उदयसे होनेवाले भाव है, वे बाह्य है। तथा मिथ्यात्व, असयम और कषाय आदिके भेदसे नाना है। उनके अभिमुखरूपसे प्रवृत्तिको जो विचारोमे रोकता है।

शंका—वह विचार कौन है?

समाधान—यह जो तत्त्वका अश्रद्धान है, अथवा हिंसादिरूप परिणति है, अथवा क्रोधादि भाव है, इन रूप मै परिणमन करता हूँ तो ये हिंसादिरूप परिणाम जन्म जरा मरण परिणामरूप अनन्त संसारके कारण जो कर्म है, जो मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतिके भेदसे संख्यात भेदवाले हैं,

---

१ संख्यातासख्यात-आ० मु०।

णामनिर्वर्तनसामर्थ्यमनुभवाख्य च निर्वर्तयति । तानि चात्मप्रदेशस्थान्यनन्तप्रदेशपुद्गलस्कन्धद्रव्याणि सन्निहित-द्रव्यक्षेत्रकालभवभावसहायापेक्षया पुनरपि मिथ्यात्वादिपरिणाममापादयन्ति । न हि सन्निहिताविकलकारण-समूहस्य कार्यस्य अनुत्पत्तिर्नाम संभाव्यते । तेन चाश्रद्धानादिपरिणामेन तथैव कर्मणामादान, आत्तानां स्थिति', सामर्थ्यातिशय इत्यादिका परपरता तयाऽनन्तकालपरिभ्रमणमिति महानयमनर्थो मम भविष्यतीति, एवभूतेन विचारेण मनो निवर्तयति यस्तस्य श्रामण्यमिति सबन्ध । '**णिग्गहदि य मण जो**' यो मनो निगृह्णाति '**हा दुट्ठं चिंतितमिदमिति**' निन्दागर्हाभ्या तस्य श्रामण्यमिति सबन्ध । '**करेदि अविलज्जियं च मणं**', करोत्यतीव लज्जा-परं यो मन । कथ ससारमहित तत्कारणभूतान्परिणामान्मुक्ति तदुपायाश्च भावानधिगच्छत श्रद्धानस्य तत्परि-णामव्यपोहनार्थमेव गृहीतनिर्ग्रन्थलिंगस्य चिन्तेयमयुक्तेति, निरूपयति, अतिव्रीडा मनसो जनयति ॥१४२॥

दासं व मणं अवसं सवसं जो कुणदि तस्स सामण्णं ।
होदि समाहिदमविसोत्तियं च जिणसासणाणुगदं ॥१४३॥

'**अवसं दासं व मणं सवसं जो कुणदि**' इति पदसबन्ध । **दासं** व चेटिपुत्र अवशवर्तिन यथा कश्चि-द्बलात्स्ववश करोत्येवमधीतजिनवचन आत्मनो मनो निरवग्रहतया प्रवृत्त अशुभपरिणामप्रसरे यदि नाम तथापि बलात्तन्निर्भर्त्स्याभिमतशुभभावपरपरानुकूलतया य स्थापयति जैनमतामृतास्वादकारितत्सामर्थ्यातिशयस्तस्य

उनके स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धके कारण होते है। आत्माके प्रदेशोमे कर्मोके अवस्थानका नाम स्थितिबन्ध है और तीव्र मध्यम मन्दरूप अश्रद्धान, असयम और कषायरूप परिणामोको उत्पन्न करनेकी शक्तिको अनुभाग बन्ध कहते है। आत्माके प्रदेशोके साथ बन्धको प्राप्त हुए वे अनन्तप्रदेशी पुद्गलस्कन्ध सम्बद्ध द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भावकी सहायता पाकर पुन. मिथ्या-त्वादिरूप परिणामो की उत्पत्तिमे सहायक होते है। क्योकि जिस कार्यके समस्त कारण पूर्णरूपसे विद्यमान होते है वह कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। उस उत्पन्न हुए अश्रद्धानादिरूप परिणामसे पुन उसी प्रकारसे नवीन कर्मोका बन्ध होता है। उनमे स्थिति और अनुभाग शक्ति पडती है। इस प्रकार यह परम्परा चलती है। उस परम्परामे अनन्तकाल तक ससारमे भ्रमण करना पडता है। इस प्रकार अश्रद्धान आदिरूप परिणाम करनेसे मेरा महान् अहित होगा। इस प्रकारके विचारसे जिसका मन अश्रद्धान आदिसे हटता है उसके श्रामण्य होता है। तथा जो मैने बुरा किया, बुरा विचारा इत्यादि निन्दा और गर्हासे मनका निग्रह करता है उसके श्रामण्य होता है। तथा जो मनको अत्यन्त लज्जित करता है—हे आत्मन्! ससार अहित है, उसके कारणभूत परिणामोको, मुक्तिको और मुक्तिके उपायरूप भावोको तू जानता है उनकी श्रद्धा करता है। ससारके उन कारणोको दूर करनेके लिए ही तूने निर्ग्रन्थलिग धारण किया है, तुझे ऐसी चिन्ता नही करनी चाहिए इस प्रकार मनको लज्जित करता है उसके श्रामण्य होता है ॥१४२॥

गा०—वशमे रहनेवाले दासकी तरह वशमे न रहनेवाले मनको जो अपने वशमे करता है, उसके एकमात्र शुद्ध चिद्रूपका अवलम्बन करनेवाला पाप परिणामोसे निवृत्त और जिन शासन-का अनुगामी श्रामण्य होता है ॥१४३॥

टी०—वशमे न आनेवाले दासीपुत्रको जैसे कोई बलपूर्वक अपने वशमें करता है, वैसे ही जो जिनागमका अभ्यासी अशुभपरिणामोके प्रवाहमे वे रोक प्रवृत्त हुए अपने मनको बलपूर्वक उसकी डाँट फटकार करके इष्ट शुभ भावोकी परम्पराके अनुकूल बनाता है, उसमे यह विशेष

'**सामण्णं**' समानता '**होदि**' भवति । '**समाहिदं**' एकमुख । '**अविसोत्तिगं**' दूरापसृतविश्वरूपाशुभपरिणामप्रवाहं । '**जिणसासणाणुगदं**' सपाटितद्रव्यभावकर्मक रपराभवाना यच्छामन–शिष्यते जीवादय पदार्था अनेनास्मिन्वेति शासन आगमस्तेनानुगतम् ।।१४३।।

योग्यस्य गृहीतमुक्त्युपायलिङ्गस्य श्रुतशिक्षापरस्य पञ्चविधविनयवृत्ते स्ववशीकृतमनस अनियतवासो युक्तः । कस्तत्र गुण ? इत्यारेकाया समाधिगतस्य अनियतविहारगुणप्रकटनार्थं उत्तरसूत्र—

दंसणसोधी ठिदिकरणभावणा अदिसयत्तकुसलत्तं ।
खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होंति ।। ४४।।

'**दसणसोधी**' दर्शनशुद्धि । दृशिर प्रेक्षणे इति पठितोऽपि धातु श्रद्धानार्थवृत्तिरिह गृहीत । धातूनामनेकार्थत्वात् । तथा च सूत्र—'**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**' । [त०सू० १।२] इति जिनागमनिरूपितार्थविषयश्रद्धानमिह दर्शनशब्देन भण्यते । तस्य शुद्धिर्नैर्मल्य । '**ठिदिकरण**' स्थितिकरण रत्नत्रयपरिणामस्यात्मनोऽनपाय [1] । तस्य करण स्थितिकरण । '**भावणा**' भावना अभ्यास पुन पुनर्वृत्ति । '**अदिसयत्तकुसलत्तं**' अतिशयितेष्वर्थेषु निपुणता । '**खेत्तपरिमग्गणावि य**' क्षियति [2] निवसन्ति तस्मिन्निति क्षेत्र । ग्रामनगरादिक क्षेत्र । तस्य क्षेत्रस्य अन्वेषणा च । अनियतस्थानवसने गुणा '**होंति**' भवन्ति ।।१४४।।

सामर्थ्य जैनमतरूपी अमृतका पान करनेसे आई है । उसके 'सामण्ण' अर्थात् समभावपना होता है । वह श्रामण्य एक मुख होना है, अशुभपरिणाम प्रवाहको, जिन्होने विश्वको अपने रंगमे रंगा है, दूर करता है, और जिनशासनानुगत होता है । द्रव्य और भावकर्मके द्वारा किये जानेवाले पराभवोको जिन्होने नष्ट कर दिया है उन जिनका शासन । जिसके द्वारा या जिसमे जीवादि पदार्थ सिखाये जाते है उसे शासन कहते है अर्थात् जिनागमका अनुगामी होता है ।।१४३।।

जो योग्य है, जिसने मुक्तिका उपाय जो निर्ग्रन्थलिंग है उसे स्वीकार किया है, श्रुतके अभ्यासमे तत्पर है, पाँच प्रकारकी विनयका पालन करता है, और जिसने मनको अपने वशमे कर लिया है उसके लिए अनियतवास युक्त है । उसमें क्या गुण है ? ऐसी शंका होनेपर समाधि करनेवालेके अनियत विहारके गुण प्रकट करते है—

गा०—दर्शन विशुद्धि, स्थितिकरण, भावना, अतिशय अर्थोमे निपुणता और क्षेत्रका अन्वेषण ये अनियत स्थानमे बसनेमे गुण होते है ।।१४४।।

टी०—दर्शन शब्द जिस 'दृशिर' धातुसे बना है यद्यपि उसका अर्थ देखना है फिर भी यहाँ उसका अर्थ श्रद्धान ग्रहण किया है । क्योकि धातुओके अनेक अर्थ होते हैं । तत्त्वार्थसूत्रमे कहा भी है—'तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।' अत यहाँ दर्शन शब्दसे जिनागममे कहे गये अर्थोका श्रद्धान लिया है । उसकी शुद्धि अर्थात् निर्मलता दर्शनविशुद्धि है । आत्माके रत्नत्रयरूप परिणामका नष्ट न होना स्थिति है । उसका करना स्थितिकरण है । पुन पुन अभ्यास करनेको भावना कहते है । ग्राम नगर आदि क्षेत्र है । उसकी खोज, ये सब अनियत स्थानमे बसनेके गुण हैं ।।१४४।।

विशेषार्थ—समाधिमरणके इच्छुकको एक स्थानमे नही बसना चाहिए । अनियत स्थानमें

१. पायपरिणाम तस्य आ० मु० । २ क्षति आ० । क्षयंति मु० ।

दसणशुद्धी इत्येतत्पदव्याख्यानकारिणी गाथा—

जम्मणअभिणिक्खवणं णाणुप्पत्ती य तित्थचिण्हणिसिहीओ ।
पासंतस्स जिणाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि ॥१४५॥

'**जम्मण**' जन्माभिनवशरीरग्रहण । तद्यस्मिन्क्षेत्रे जातं तदिह साहचर्याज्जन्मशब्देनोच्यते । गृहीतशरीरस्य वात्मनो जनन्युदराद्यत्र निष्क्रमण जात तद्वा । '**अभिणिक्खवणं**' रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्बहिर्गमनं यस्मिन्क्षेत्रे तदिह निष्क्रमण । '**णाणुप्पत्ती य**' केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वार्थयाथात्म्यग्रहणक्षम यत्केवल तदिह ज्ञानमिति गृहीत । सामान्यशब्दानामपि विशेषवृत्ति प्रतीतैव । तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तदिह साहचर्यात् '**णाणुप्पत्ती य**' शब्देनोच्यते । '**तित्थं**' चिण्ह । तीर्थमिह समवशरण गृह्यते । तरन्ति तस्मिन्भव्या पापविनाशार्थिन इति । तस्य चिह्नतया स्थिता मानस्तम्भा । '**णिसिहीओ**' निषिधीयोगिवृत्तिर्यस्यां भूमौ सा निषिधी इत्युच्यते । एतज्जन्मादिस्थान श्रुतेन प्रागवगत । '**पासंतस्स**' पश्यत । कस्य ? '**जिणाणं**' जिनाना '**सुविसुद्धं**' सुष्ठु विशुद्ध । '**दंसण**' श्रद्धान । '**होदि**' भवति । एतदुक्त भवति—

देशान्तरातिथे जिनाना जन्मादिस्थानदर्शनान्महती श्रद्धोत्पद्यते । यथा काचिद्वर्ण्यमानरूपा विलासिनी परोक्षामगवन्य परस्य वचनोपजाताभिलाषस्य तस्या दर्शनपथमुपजाताया श्रद्धातिशयो जायते इति ।

बसनेके उक्त गुण कहे है । इन गुणोका वर्णन ग्रन्थकार आगे स्वय करते है । टीकाकारने भावनाका अर्थ पुन पुन अभ्यास किया है और प० आशाधरने परीषह सहन किया है । आगे ग्रन्थकारने भी यही अर्थ भावनाका किया है । अभ्याससे ही परीषह सहनकी सामर्थ्य होती है । सम्भवत. इसी भावसे भावनाका अर्थ अभ्यास किया है । लोकमे भावनाका यही अर्थ प्रचलित है ॥१४४॥

'दसणसुद्धी' इस पदका व्याख्यान करनेवाली गाथा कहते हैं—

गा०—जिनदेवोके जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान और समवसरणके चिह्न मानस्तम्भका स्थान निषीधिका स्थान देखनेवालेके सम्यक्रूपसे निर्मल सम्यग्दर्शन होता है ॥१४५॥

टी०—नये शरीरके ग्रहण करनेको जन्म कहते है । वह जन्म जिस क्षेत्रमे हुआ, जन्मके साहचर्यसे यहाँ उस स्थानको जन्म शब्दसे कहा है । अथवा शरीर ग्रहण करनेवाले आत्माका माताके पेटसे निकास जहाँ हुआ वह जन्म है । रत्नत्रय धारण करनेकी भावनासे घरसे बाहर जाना जिस क्षेत्रमे हुआ उसे निष्क्रमण कहा है । केवलज्ञानावरणके क्षयसे सब पदार्थो के यथार्थस्वरूपको ग्रहण करनेमे समर्थ केवलज्ञानको यहाँ ज्ञान शब्दसे ग्रहण किया है, क्योकि सामान्यवाची शब्दोकी भी विशेषमे प्रवृत्ति प्रसिद्ध ही है । यहाँ तीर्थसे समवसरणका ग्रहण किया है । जिसमे पापके विनाशके इच्छुक भव्य जीव तिरते है वह तीर्थ है । उस समवसरणके चिह्न मानस्तम्भ है । निषिधि अर्थात् योगिवृत्ति जिस भूमिमे हो उसे निषिधी कहते है । श्रुतसे पहले जाने हुए जिनदेवके इन जन्मादि स्थानोंको जो देखता है उसका श्रद्धान सुविशुद्ध होता है । देशान्तरमे भ्रमण करनेवालेके जिनदेवोंके जन्मादि स्थानोको देखनेसे महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, जैसे किसी सुन्दर नारीको वर्णनके द्वारा परोक्षरूपसे जानकर दूसरेके कथनसे उसे देखनेकी इच्छा होती है और उसे साक्षात् देखनेपर विशेष श्रद्धा होती है ।

अथवा जब तीर्थंकर जन्म लेते है तब अनियत विहार करने वाला यति तीन ज्ञानके धारी

अथवा यदा तीर्थकृत सभवन्ति तदा अनियतविहारो यतिर्जिनानां ज्ञानत्रयचारिणां अवाप्तस्वर्गावितरणपूजातिशयाना जन्माभिषेककल्याण भुवनभवनान्तर्लीनतमोवितानापनयनोद्यत, सुधापानमिव सकलप्राणभृदारोग्यविधायि, सुरविलासिनीनर्तनमिव सकलजगदानददायि, प्रियवचनमिव मन प्रसादकारि, पुण्यकर्मेव अगण्यपुण्यवितरणप्रवीण, लक्ष्मीपरिचारिकाभि साश्चर्यं ससभ्रमं ईक्षित, गुह्यकामरप्रकीर्णानेकसुरभिप्रसूनकरणगन्धानुभ्रमद्भ्रमरकृतकोलाहल अनारतप्रहतमगलभेरीभभाध्वनिभरितभुवनविवर, सुरवधूनर्तनजिगीषयेव सौधशिखररङ्गनृत्यत्प्रत्यग्रपञ्चवर्णपताकाविलासिनीक, हरिविष्टरप्रचलनोपनीतसाध्वसनवसुरवल्लभारभसकण्ठग्रहप्रीतिविकासिमुखशतमखमुख, सभ्रमोत्थितकृताञ्जलिपुटसुरपरिवारसादराकर्ण्यमानवज्रभृदाज्ञ, भेर्यादिध्वानाहूतप्रमुखसकलगीर्वाणचक्र, परस्परसघर्षगृहीतोत्तरवैक्रियिकदेवपृतनाव्याप्तपवनपथदेश, जन्माभिषेकसमयप्रयाणसपादानायातपौलोमीनूपुरध्वानचकितहसीविलासविराजमानराजमन्दिराङ्गण, ऐरावतावतीर्णप्रसारितवज्रिवज्रघनभुजार्गल, सुरकरप्रहारप्रसरदुदुभिभेरीध्वानसम्मिश्रसिंहनादबधिरितविशालाशामुख, प्रहतानेकप्रयाणकपटहगम्भीरघीराराव, असकलशशिकरावदातचमररुहविक्षेपदक्षबलभिन्निकुरुबजिनावलोकनव्यग्रसुराग्रमहिषीक, श्वेतातपत्रजलधरघटावरुद्धनभोमडल, विद्युदायमानपताकाकुल, इन्द्रनीलमयसोपानप्रयायिसुरपृतन, सुरगजरदनसरोनलिनदलरगशोभाविधायिनर्तकीसलीलपदन्याम, गृहीताष्टमगलदेवीसहस्रपुरोगान, देवप्रतीहारदूरापमार्यमाणक्षुद्रामरगण, आत्म-

---

और स्वर्गसे अवतरित होते समयकी विशिष्ट पूजाको प्राप्त जिनदेवके जन्माभिषेक कल्याणको देखता है। वह जन्मोत्सव लोक रूपी घरमे छिपे हुए अन्धकारके फैलावको दूर करने मे तत्पर होता है। अमृतपान की तरह समस्त प्राणियोको आरोग्य देने वाला है। देवागनाओके नृत्यकी तरह समस्त जगत्को आनन्दमयी है, प्रियवचनकी तरह मनको प्रसन्न करता है। पुण्यकर्मकी तरह अगणित पुण्यको देने वाला है। लक्ष्मीरूपी परिचारिकाओ के द्वारा बडे आश्चर्य और शीघ्रता के साथ इसे देखा जाता है। गुह्यक जाति के देवोके द्वारा बरसाये गये अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्पोकी गन्ध पर मडराने वाले भौरो की गुजनके कोलाहलसे पूर्ण होता है। निरन्तर बजने वाली मगल भेरी और वाद्योकी ध्वनिसे समस्त भुवन भर जाता है। देवागनाओके नृत्यको जीतनेकी इच्छासे ही मानो महलोके शिखर पर पाँच वर्णकी पताका रूपी नृत्यागनाएँ नाचती है। भगवान्के जन्मके समय इन्द्रके सिंहासनके कम्पनसे भयभीत हुई नवजन्म वाली दवागनाएँ जल्दीसे इन्द्रके कण्ठसे लिपट जाती है तब इन्द्रका मुख प्रेमसे खिल उठता है। तब देव परिवार जल्दीसे उठकर बडे आदरसे इन्द्रकी आज्ञा सुनता है। भेरीके शब्दको सुनकर इन्द्रादि प्रमुख सब देवगण एकत्र होते हैं. परस्परके सघर्षसे उत्तर वैक्रियिक शरीरको धारण करने वाले देवोकी सेनासे आकाश मार्ग व्याप्त हो जाता है। जन्माभिषेकके समय जिन बालकको लानेके लिये आई हुई इन्द्राणीके नूपुरोके शब्दसे चकित हुई हँसीके विलाससे राजमन्दिरका आँगन शोभित होता है। ऐरावतसे उतरकर इन्द्र अपनी वज्रमयी भुजाये फैला देता है। देवताओके हाथोके प्रहारसे ढोल और भेरीके शब्दके साथ मिला सिंहनाद विशाल दिशाओको बधिर कर देता है। गमन करते समय बजाये जाने वाले अनेक नगारोका गम्भीर शब्द होता है। इन्द्रोका समूह अपूर्ण चन्द्रमाकी किरणोके समान शुभ चमरोको दक्षतापूर्वक ढोरता है। इन्द्राणियाँ बालक जिनका मुख देखनेके लिये उत्कण्ठित होती हैं। श्वेत छत्ररूपी मेघोकी घटाओसे आकाश ढक जाता है। पताकाये बिजुलीकी तरह प्रतीत होती है। इन्द्रनीलमय सीढ़ियोकी तरह देवसेना गमन करती है। ऐरावतके दाँतों पर बने सरोवरोंमे खिले कमलके पत्रों पर नर्तकियाँ लीलाके साथ पद निक्षेप करती हुई नृत्य करती

रक्षदेवसहस्रसंपाद्यमानरक्षाविधान, नर्तनव्यग्राद्भुतविग्रहाग्रेसरभूत, प्रदक्षिणीकृतसुराचल, आरूढसुरगिरिशिखरायमाणसिंहासन, तद्देवकुमारपरपरानीतक्षीरवारिधिजलभरितरत्नकलशकृताभिषेक, पौलोमीरचितबालानुरूपमण्डन, गुणस्तवव्यापृतेंद्रवैतालिकसहस्र, सुराधिपरचितजन्मोत्सवनर्तन, जन्माभिषेककल्याण पश्यति तस्य पश्यत' ।

अभिनिष्क्रमण वा जिनानामीदृक् तदिति वण्यते । सर्व एव जिना समधिगतोदीरितजन्माभिषेककल्याणा, शतमखशासनस्थसादरधनदोपनीयमानदिव्योचिताङ्गरागवसनभोजनवाहनालकारसपत्सदोहा मनोनुकूलक्रीडासपादनचतुरदेवकुमारपरिवारा, केचित्पुरातनपुण्यपरिपाकोदयाचलोद्गतविराजमानारकसहस्रचक्रविसहायेन अमेयभुजविक्रमेण वशीभूताशेषमागधप्रभासादिदेवविद्याधरभूमिपालसहतय, सुरकुमारीरूपयौवनविभ्रमापहसनचतुरानेकद्वात्रिंशद्वीसहस्राननारविंदविकामनोद्यता, पाकशासनप्रहितनर्तकीनृत्तावलोकनविनोदा, सादराकर्णितकिन्नरादिदेवगान्धर्वगीता, कालमहाकालादिनवनिधिप्रभव, प्रत्येकदेवसहस्रपरिपाल्यमानचक्रादिचतुर्दशरत्नानुयाता, द्वात्रिंशत्सहस्रमुकुटबद्धशातकुम्भघटितमोलि[1]तटमकरिकास्थितरत्नप्रदीपाली-

हुई नृत्य करती है। हजारो देवियाँ हाथोमे अष्ट मगल लिये हुए आगे गमन करती है। देवोके द्वारपाल क्षुद्र देवगणोको वहाँसे दूर कर देते है। हजारो आत्मरक्ष जातिके देव रक्षा करनेमें तत्पर रहते हैं। नाचनेमे मग्न अद्भुत शरीरधारी देव आगे रहते है। सब सुमेरुको प्रदक्षिणा करते हैं। सुमेरुके शिखरके समान सिंहासन पर भगवान्को विराजमान करते है। देवकुमारोकी परम्परासे लाये गये क्षीर समुद्रके जलमे भरे रत्नमयी कलशोसे जिन भगवान्का अभिषेक करते है। इन्द्राणी बालकका उनके अनुरूप शृंगार करती है। सहस्रो इन्द्र वैतालिक भगवान्के गुणोका स्तवन करते हैं। जन्मोत्सवके अवसर पर इन्द्र नृत्य करता है। ऐसे जन्माभिषेक कल्याणको जो देखता है उसका सम्यग्दर्शन अति निर्मल होता है।

जिन भगवान्का अभिनिष्क्रमण इस प्रकारका होता है। उसका वर्णन करते है—

सभी जिनदेवोका जन्माभिषेक कल्याणक बडी विभूतिके साथ मनाया जाता है। इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर उनके लिये दिव्य अगराग, वस्त्र, भोजन, वाहन, अलकार आदि सपत्ति प्रस्तुत करता है। मनके अनुकूल क्रीडा करनेमे चतुर देवकुमारोका परिवार रहता है। उनमेसे कोई-कोई जिनदेव पूर्वसंचित पुण्यकर्मके उदयरूपी उदयाचल पर प्रकट हुए एक हजार आरोमे युक्त चक्ररूपी सूर्यकी सहायतासे और अपने अपरिमित भुज पराक्रमसे समस्त मागध प्रभास आदि देव, विद्याधर और राजाओके समूहको अपने अधीन कर लेते है, देवागनाओके रूप, यौवन और विलासको तिरस्कृत करनेमें चतुर बत्तीस हजार पट्टरानियोके मुखरूपी कमलोको विकसित करनेमे तत्पर रहते है। इन्द्रके द्वारा भेजी गई नर्तकियोके नृत्यका अवलोकन करते हुए मनोविनोद करते है। किन्नर आदि देवगन्धर्वोके गीतोको बडे आदरसे सुनते है। काल महाकाल आदि नौ निधियाँ उनके राजकोषमे उत्पन्न होती हैं। चक्ररत्न आदि चौदह रत्न होते है। प्रत्येक रत्नकी एक हजार देव रक्षा करते हैं। बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजाओके स्वर्ण निर्मित मुकुटोके ऊपरकी मकरिकामे लगे रत्नदीपोंकी पक्तिके द्वारा उनके पादपीठ निरन्तर पूजे जाते है अर्थात् बत्तीस हजार राजा उन्हे नित्य नमस्कार करते हैं। देवकुमार भेंट ले लेकर उनकी सेवामें सदा उपस्थित होते है। इस

१ मौलिश्रपुकटिका–अ० ।

प्रकरेणानवरतमर्च्यमानपादपीठा , देवकुमारोपनीयमानोपायनविलोकनैकव्यग्रा, मनुजभोगाग्रेसर सुखमखेदेनानुभवन्ति । अपरेऽपि मण्डलीकमहामण्डलीकपदमुपगता ।

पुनस्तीर्थकरनामकर्मोदयात् चारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षानुगतादनादिकालावलग्नस्वपरकर्मरजोविधूननावबद्धकक्ष्या इत्थं मन प्रणि[1]दधति—केय[2] मोहस्य महत्ता येनास्मानप्यध्यक्षीक्रियमाणदुरन्तसंसारसरिदधिपदु खावर्तान् प्रवर्तयत्यारम्भपरिग्रहयो । अणिमाद्यष्टगुणसपत्क, अपदमापदा, अभिलाषस्याप्यविषयम्, अपरामराणा कुशाग्रीयबुद्धीनामपि बलभिदामगोचर वचसामप्रत्यूह, अपराधीन, अनास्वादितान्यूनतारस, अहमिंद्रसुख चिरतरमनुभूतवतामस्माक केयमुत्कण्ठा मनुजभोगसपदि, खलजनमत्रीव विचित्रदु खानुबधविधानोद्यताया चलाया विपुण्यगमितिरिव परायत्तवृत्तौ, कुकविकृतिरिवाल्पार्थसग्रहाया, दूरभव्यस्य मुक्तिपदवीगतिरिव अनेकप्रत्यूहप्रतिहताया अनन्तकालपरिभुक्ताया इति ।

तदैव च ब्रह्मलोकान्तावासादधिगतलौकान्तिकव्यपदेशा , शङ्खावदाततनव , स्वावधिज्ञानलोचनेनावलोक्य स्वपरोत्तारणाबद्धपरिकरता जिनाना, महदिद कार्य अनेकभव्यानुग्रहकर भगवता प्रारब्ध, अस्माभिरपि एतदनुमन्तव्य । पूज्यपूजाव्यतिक्रमश्च स्वार्थभ्रशकारीति सुरपथादवतीर्य स्वामिन पुरस्तात्सबहुमानमवस्थिता एव विज्ञापयति—

तरह वे मनुष्योको प्राप्त भोगोसे होने वाले सर्वोत्कृष्ट सुखको बिना किसी खेदके भोगते हैं, अन्य कुछ जिनदेव मण्डलीक, महामण्डलीक आदि राजपदोको प्राप्त होते है ।

पुन तीर्थंकर नामकर्मके उदयमे और चारित्र मोहके क्षयोपशमके प्रकर्षसे अनादिकालसे लगी हुई अपनी और दूसरोकी कर्मरूपी धूलिको दूर करनेमे कमर कसकर वे इस प्रकार मनमे विचारते है—यह मोहकी कैसी महत्ता है कि दुरन्त ससार समुद्रके दु खरूपी भँवरोको प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले हम जैसाको भी आरम्भ और परिग्रहमे फँसाता है । हमने चिरकाल तक अहमिन्द्रका सुख भोगा है जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोसे सम्पन्न होता है, जिसमे कभी कोई आपत्ति नही आती, जिसकी कोई कल्पना भी नही कर सकता, अन्य देव और कुशाग्र बुद्धिशाली इन्द्रोको भी वह मुख प्राप्त नहीं है, वचनके अगोचर है, अपराधीन है, उसमे कभी कमी नही होती । ऐसा अहमिन्द्र पदका सुख चिरकाल तक भोग चुकनेपर हमारी यह मनुष्यकी भोगसम्पदामे उत्कण्ठा कैसी ? यह भोग सम्पदा दुष्टजनकी मैत्रीकी तरह अनेक दु खोकी परम्पराको उत्पन्न करने वाली है, चचल है, पाप पुण्यकर्मके समान पराधीन है, जैसे कुकविकी रचनामे अल्पसार होता है वैसे ही इस भोगसम्पदामे भी सार नही है । जैसे दूर भव्यके मोक्ष गमनमे अनेक बाधाएँ रहती है वैसे ही इस भोगसम्पदामे अनेक बाधाएँ रहती है और हमने इसे अनन्तकाल भोगा है ।

उसी समय ब्रह्मलोक स्वर्गके अन्तमे रहनेसे लौकान्तिक नामधारी देव, जिनका शरीर शखके समान श्वेत होता है, अपने अवधिज्ञान रूपी चक्षुसे देखते है कि जिनदेव स्वयको और दूसरोको ससार समुद्रसे पार उतारनेके लिये एकदम तत्पर है तो विचारते है—भगवान्ने अनेक भव्य जीवो पर अनुग्रह करने वाला यह महान् कार्य करनेका बीडा उठाया है, हमे भी इसकी अनुमोदना करनी चाहिए । तथा पूज्य पुरुषोकी पूजा न करना भी स्वार्थका घातक है । ऐसा विचार स्वर्गसे उतरकर भगवान्के सम्मुख बडे आदरके साथ उपस्थित हो, इस प्रकार निवेदन करते है—

---

१ प्रतिदधति–आ० मु० । २. कथं मोहस्य बलवत्ता–आ० मु० ।

भट्टारका ! उचित एवायमुद्योगो भवता कल्पमहीरुहा इव प्रत्युपकारनिरपेक्षा, जगदनुग्रहकारिणो हि महान्त, मिथ्यात्वतिमिरावगुठितज्ञानलोचनतया विनेयजनराशिरुत्पथप्रस्थानोऽसकृत्कुगतिगर्तपतितो नि सर्तु-मभिलषन्नपि असमर्थ क्लिश्यति । स च भवत्पातितायतदृढसमीचीनदृष्टिरज्ज्वावकृष्ट युष्मदुपदर्शितातिप्रगुणविशालमुक्तिमार्गढौकनादनन्तज्ञानात्मकेन सुखेन सुखी भवत्वित्यभिधाय गतेषु सारस्वतादिषु ।

जिननिर्वेदसमीरणान्दोलितहरिविष्टरो हरि प्रणिधानप्रवर्तितावधिलोचनाधिगतगुरुप्रारभ्यमाणकार्य, सिंहासनत. ससभ्रममुत्थाय, स्वामिसमवस्थितदिगभिमुख गत्वा सप्तपदमात्र, ललाटतटविन्यस्तेन प्रबुद्धनलिन-दलच्छायापहासिना, अकुशकुलिशकलशादिलक्षणोद्भासिना दक्षिणेन करेणालकृतमौलिरत्नप्रभादतुरमवनम्य शिर सलील नम सद्धर्मतीर्थप्रवर्तनोद्यतेभ्य शरणागतविनेयत्राणकारिभ्योऽलौकिकनयनेभ्यो जिनेभ्य इत्यभि-धाय, पुरोधावद्भेरीध्वानादिभिर्झटिति विदितकार्येण, समुदितावनतेन, स्वनायकपुरोयायिना, विचित्रातपत्र-शस्त्रवस्त्रविभूषणवाहनोज्ज्वलेन गीर्वाणचक्रेणानुगम्यमान सौधर्म सह नगामरेन्द्रै, चमररुहहरिविष्टरश्वेतातपत्रादिपरमेश्वरलाछनमखिलमपहाय प्रतीहारनिवेदितागमनस्तदाज्ञयाशु धर्मचक्रलाछनातिकमवाप्य सबहुमान-प्रणाममारभते स्म ।

ततो जिनात्सादरावलोकनप्रसादमात्मोचितमुपलभ्य विज्ञापन करोति । सकलोऽयमायातोऽच्युताधिप-पुर सर शक्रलोको भट्टारकाणा परिनिष्क्रमणपरिचर्यामुपपादयितुमना अवगतमुक्तिमार्गोऽयय स्वाधीनज्ञानात्म-

भगवन् ! आपका यह उद्योग उचित ही है। महान् पुरुष कल्पवृक्षकी तरह प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके जगत् पर अनुग्रह करते है। मिथ्यात्व रूपी अन्धकारसे ज्ञानरूपी दृष्टिके अवरुद्ध हो जानेसे ससारके भव्य जीव कुमार्गमे चल पडते है। बार-बार कुगतिरूपी गढेमे गिरकर निकलना चाहते हुए भी नही निकल पाते और कष्ट भोगते है। आपके द्वारा डाली गई विस्तृत दृढ समीचीन दृष्टिरूपी रस्सीके द्वारा खीचे गये वे भव्य जीव आपके द्वारा बतलाये गये गुणशाली विशाल मोक्षमार्ग पर चलकर अनन्त ज्ञानात्मक सुखसे सुखी हो। इतना कहकर वे लौकान्तिक देव चले जाते है।

भगवान्‌के वैराग्यरूपी हवाके झकोरोसे इन्द्रका सिहासन कम्पित होता है। तब इन्द्र अवधिज्ञान रूपी दृष्टिका उपयोग करके भगवान्‌के द्वारा प्रारम्भ किये जाने वाले कार्यको जानता है। तत्काल सिंहासनसे उठ, जिस दिशामे भगवान् है उस दिशाकी ओर सात पद चलकर, खिले हुए कमलकी पाखुरीकी शोभाको तिरस्कृत करने वाले और अकुश, वज्र, कलश आदि शुभ लक्षणोसे शोभित दाहिने हाथको मस्तकसे लगाकर मुकुटके रत्नोकी प्रभासे भासित सिरको नवाकर कहता है—'समीचीन धर्मरूप तीर्थके प्रवर्तनके लिये उद्यत, शरणागत भव्य जनोकी रक्षा करने वाले और अलौकिक नेत्रोसे विशिष्ट जिनदेवको नमस्कार हो। भेरी आदिके शब्दसे सब देवोंको ज्ञात हो जाता है। नाना प्रकारके छत्र, शस्त्र, वस्त्राभूषण और वाहनोके साथ अपने नायकको आगे करके सब देव सौधर्मके पीछे चलते है। सौधर्मेन्द्र अन्य इन्द्रो और राजाओके साथ राजमहलके द्वार पर पहुँच सिहासन, चमर छत्र, आदि इन्द्रत्वके सब चिह्नोको दूर करके द्वारपालसे अपने आनेका समाचार निवेदन कराता है। आज्ञा मिलने पर इन्द्र तत्काल धर्मचक्रके प्रवर्तक भगवान्‌के समीप जाकर अत्यन्त बहुमान पूर्वक नमस्कार करता है। जिनदेव इन्द्रकी ओर आदर-पूर्वक देखते है। भगवान्‌के इस सादर अवलोकनको ही अपने योग्य प्रसाद मानकर इन्द्र निवेदन

कानन्तसुखात् भवत्लम्पटोऽपि, अवधीरितेन्द्रियसुखखेदोऽपि, अपरिप्राप्तसंयमघातिकर्मक्षयोपशम , न चारित्रे प्रयतते, न परान्प्रवर्तयितुमीहते । सुविशुद्धज्ञानदर्शनोऽपि न विना समीचीन चारित्र तपश्च, कर्माणि निरवशेष क्षपयितु घटते । अनेकसमुद्रगणनायु स्थितितया दीर्घससारी बराकोऽस्मदादि. क्लिश्यति । उत्थातुमभिलषन्नपि दारको यथा पतत्येवमपि जनश्चारित्राभिलाष्यपि तद्वोढुमसमर्थस्तिष्ठति । यूय पुनर्विदितवेदितव्या क्षयोपशमपरिप्राप्तिनिवृत्तिपरिणामा , पूज्यतमा जन्मान्तरेऽस्माकमपीदृशी वीतरागता सकलारम्भपरिग्रहपरित्यागोद्योगो विनेयजनोपकारशक्तिश्च भवत्प्रसादादस्यानुमननाच्च भवतु सज्जीकृतमिदं विमान आनीतमलकरोतु देव इत्युपरतवचसि सुरभिपे हर्षविषादपरवश ज्ञातिवर्ग अन्त पुराणि परिवारं चावलोक्य कृपया जिना वदन्ति—

चिरसवासादल्पकोपकारापेक्षया जनस्यानुरागो भवति तदनुसारी कोपस्ताभ्या दुरन्तकर्मादान ततो भवति ममेदभाव सर्वदु खाना मूलमपनेतुमर्हति विद्वान् । न हि कस्यचित् किंचिन्मित्र, धनं, शरीर वानपाय्यस्ति । पात्रे मिलिता हि बन्धव , परिवाराश्च, धन पुनरर्जने विनाशे च महतीमानयति दु खासिका । तदर्थिभिरन्यैश्च सह विरोध कारयति । तृष्णा प्रकर्षवतीमादधाति लवणजलपीतिमिव । वामलोचना पुन सुरा इव चित्त मोहयन्ति, व्यलीकरोदनेन हसनेन चाटुभिश्च पुसामल्पसत्त्वाना चेत स्ववशीकुर्वन्ति । चर्ममयपुत्रिकासु, चपलासु, सध्याम्बुदावलीवास्थिररागासु, मायाजननीषु, मृषाचेटीनायिकासु, सुगतिवज्रार्गलयष्टिपु

करता है—अच्युतेन्द्र आदि समस्त इन्द्रगण भगवान्‌के निष्क्रमण कल्याणक सम्बन्धी परिचर्या करनेके अभिलाषी है । हम मुक्तिके मार्गको जानते है । स्वाधीन ज्ञानात्मक अनन्त सुखका अनुभव करनेके लिये भी आतुर है, इन्द्रिय सुखको भी खेद रूप जानकर उसकी उपेक्षा करते हैं । किन्तु सयमका घात करने वाले कर्मका क्षयोपशम हमे प्राप्त नही है । इसलिये न हम स्वय चारित्रमे प्रवृत्त होते है और न दूसरोको ही प्रवृत्त करना पसन्द करते है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त व्यक्ति भी समीचीन चारित्र और तपके बिना समस्त कर्मोका क्षय नही कर सकता । अनेक सागरो प्रमाण आयु होनेसे दीर्घ ससारी हमलोग कष्ट उठाते है । जैसे शिशु उठना चाहते हुए भी गिरता है वैसे ही हम लोग चारित्रके अभिलाषी होते हुए भी उसे धारण करनेमे असमर्थ रहते है । आप तो सब कुछ जानते है । चारित्रमोहका क्षयोपशम होनेसे आपके निवृत्ति रूप परिणाम हुए है । आप पूज्यतम है । आपके प्रसादसे तथा आपकी अनुमोदना करनेसे आगामी जन्ममे हमे भी इस प्रकारकी वीतरागता, समस्त आरम्भ और परिग्रहको त्यागनेका उद्योग तथा भव्य जीवोका उपकार करनेकी शक्ति प्राप्त हो । यह सजाया हुआ विमान तैयार है, देव ! इसे सुशोभित करे ।

देवेन्द्रके कथनक पश्चात् अन्त पुर, परिवार और ज्ञातिवर्गको हर्ष और विषादमे देखकर जिनदेव कृपापूर्वक कहते है—चिरकाल तक साथ रहनेसे तथा थोडा बहुत उपकार करनेसे लोगोमे अनुराग होता है तथा कोप भी होता है । इस अनुराग और कोपसे दुरन्तकर्मोका बन्ध होता है । उससे 'यह मेरा है' इस प्रकारका भाव होता है, यह सब दु खोका मूल है । विद्वान्‌को इसे दूर करना चाहिए । न किसीका कोई मित्र है और न धन और शरीर ही स्थायी है । बन्धु बान्धव और परिवार यानपात्रमे मिले हुए पुरुषोंके समान है । धनके कमानेमे और कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेपर बहुत दु ख होता है । उस धनके अर्थी अन्यजनोमे विरोध होता है । जैसे खारा जल पीनेसे प्यास बढती है वैसे ही धन पानेसे धनकी तृष्णा बढती है । स्त्रियाँ मदिराकी तरह चित्तको मोहित करती हैं । बनावटी रोने और हँसने तथा मीठे वचनोसे कमजोर मनुष्योके चित्तको अपने वशमे कर लेती हैं । स्त्रियाँ चर्मनिर्मित पुतलियाँ है, चचल होती है,

कोऽनुराग प्रज्ञावताम् ? शरीर पुनरिदमनेकाशुचिनिधान, व चारपुञ्जवत्प्राणभृतामनपायी भार महारोग-नागानां वल्मीकीभूतं, जराव्याघ्रीनिवासबिलं, नेत्रखण्डचर्मवेष्टितलोष्ठवदन्तर्नि सार बहिर्मनोहर, गुण पुनरत्र एक एव धर्मसहायता। गिरिनदीस्रोतासीवानवस्थितानि यौवनानि। तृणाग्निज्वाला इव सपद क्षणमात्र दृष्टनष्टा। इत्थमवगम्य मा कृथा वृथा प्रमाद जननरत्नाकरपारगमनाय कुरुतोद्योग। मर्पणीयोऽस्माभि प्रमादात्कृतोपराध इति।

भगवद्भारतीसमनन्तर सुरकुमारकरप्रहता समन्ततो दुन्दुभयो ध्वनन्ति। सकल च जगदिन्द्रप्रमुख जयध्व-निमुखर जायते। समन्तात्सुरतरुण्य सविलास नृत्तमारभन्ते। जगन्नाथाश्च त्रिलोकभूषणा धवलदुकूलपरि-धाना परमशुक्ललेश्यया निर्वृतिसखल्येव मुक्ताकण्ठिकाव्याजेनोपगतयालंकृतग्रीवा विरागाणामपि मुखरागकरणे पाटवं न पश्यतेति दर्शयद्भ्यामिव कुण्डलाभ्या विराजमानपूर्णमसृणगण्डस्थला। वृत्त प्रिय एषा चेन्नोवसर इतीवोपगतेन कटकद्वयेनाश्लिष्टप्रकोष्ठा। यत्रामीषामतिशयरत्नाभिमान तत्पश्याम स्थित्वोच्चैरितीवोत्त-माङ्गस्थेन मुकुटरत्नकलापेन शोभमान निर्वाणपुरमिव विमान प्रविशन्ति।

तत शतमखयुग्मवाहस्कन्धोत्क्षिप्तेन विमानेन सदेवीकचतुर्निकायामरमसानीकपरिवृतेन गत्वा अवतीर्य

सन्ध्याकालीन मेघमालाकी तरह उनका राग अस्थिर होता है। वे स्वभावसे मायावी होती है, सुगतिके लिए वज्रनिर्मित अर्गला हैं। उनमे बुद्धिमानोका कैसा अनुराग ? यह शरीर अनेक अपवित्र वस्तुओंकी खान है, कचरेके ढेरकी तरह प्राणियोका ऐसा भार है जो कभी नष्ट नही होता। महारोगरूपी सर्पोंके लिए वामी है और जरारूपी सिहनीके रहनेके लिए बिल है। जैसे लोष्ठको चमडेसे मढकर उसपर आँखे लगा देनेपर वह बाहरसे सुन्दर और भीतरसे नि सार होता है उसी तरह यह शरीर भी बाहरसे सुन्दर और भीतरसे नि सार है। इसमे केवल एक ही गुण है कि यह धर्ममे सहायक होता है। पहाडी नदीके स्रोतोकी तरह यौवन स्थायी नही है। तृणोकी आगकी लपटोकी तरह सम्पदा क्षणमात्रमे देखते-देखते नष्ट हो जाती है ये सब जानकर वृथा प्रमाद मत करो, जन्म समुद्रको पार करनेके लिए उद्योग करो। हमसे प्रमादवश जो अपराध हुए उन्हे क्षमा करे।

भगवान्की वाणीके पश्चात् देवकुमार दुदुंभियाँ बजाते है। इन्द्र आदि सब लोग जय जयकार करते है। देवागनाएँ विलासपूर्ण नृत्य आरम्भ करती है। तीनो लोकोंके भूषण और जगत्के स्वामी जिनदेव सफेद वस्त्र धारण करते है। गलेमे मोतियोकी माला पहने है मानो मुक्तिकी दूतीके समान परमशुक्ल लेश्याने उस मुक्तामालाके व्याजसे भगवान्के कण्ठको सुशोभित किया है। दोनो कानोके कुण्डलोसे भगवान्का स्निग्ध गण्डस्थल शोभित है, मानो दोनो कुण्डल यह दिखला रहे है कि विरागोके भी मुखको रागयुक्त (लाल) करनेमे हमारा चातुर्य लोग देखे। दोनो हाथोमे दो गोल कडे है। वे गोल कडे मानो यह विचार कर ही आये हैं कि भगवान्को वृत्त प्रिय है। वृत्तका अर्थ चारित्र भी है और गोल भी। सिरपर रत्नमयी मुकुट शोभित है। रत्नोने सोचा—इन्हे रत्नो (रत्नत्रय) का बडा अभिमान है जरा इनके साथ रहकर देखे तो। इस प्रकारसे आभूषित भगवान् मोक्षपुरीके द्वारके समान विमानमे प्रवेश करते हैं।

उस विमानको इन्द्र अपने कन्धोपर उठाते है। देवागनाओके साथ चारो निकायोके देव और उनकी सातो सेनाएँ विमानको घेरे होती है। उस विमानसे जाकर भगवान् रमणीक स्थानमे

रम्यतमे देशे उत्तराभिमुखा', कृतसिद्धनमस्कृतय मुकुटादिक क्रमेण अलकारादिक अपनयन्ति। परित्यक्तोभयसकलग्रथा परिगृह्णन्ति योगत्रयेण रत्नत्रयमित्थभूत च परिनिष्क्रमण पश्यत ।

'**णाणुप्पत्ति**' ज्ञानोत्पत्तिर्ज्ञायतेऽवबुध्यते सकलमर्थयाथात्म्यमनेनेति ज्ञान इति केवलमुच्यते। तस्योत्पत्तिरवतारितमोहनीयभाराणा, योगवासराधीश्वरनिर्मूलितज्ञानदृगावरणतमसा, उत्खातान्तरायविषविटपिना, अ[1]पनीनक्रममनपेक्षितकरणचेष्टम[2]पास्तसशीतिक, दूरीकृतविपर्यास केवलमुत्पद्यते। तस्य फलस्य दर्शनाज्जिनप्रणीते मार्गे अपनीतशङ्कादिकलङ्का श्रद्धोत्पद्यते। फलार्थी तद्वत्सु रोचते दृष्टसामर्थ्य इति किं चित्रम् ? ।।१४५।।

एवमनियतविहारे दर्शनशुद्धिस्वार्थमुपदर्श्य परोपकार स्थिरीकरण प्रकटयति—

सविग्गं संविग्गाणं जणयदि सुविहिदो सुविहिदाणं।
जुत्तो आउत्ताण विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ।।१४६।।

'**संविग्गं**' ससारभीरुता। '**जणयदि**' जनयति। क ? '**सुविहिदो**' सुचरितो योऽनियतवास। केषा ? सुविहिदाण सुचरिताना। '**संविग्गाण**' सविग्नाना। '**जुत्तो**' अनशनादिके तपसि युक्त। '**आजुत्ताणं**' योगचाराणा। '**विसुद्धलेस्सो**' विशुद्धलेश्य। '**सुलेस्साणं**' सुलेश्याना च। सम्यक् चारित्रतपसो शुद्धलेश्याया च

उतरते है। और उत्तरकी ओर मुख करके सिद्धोको नमस्कार करते है। तथा क्रमसे मुकुट आदि अलकारोको उतार देते है। अन्तरग बहिरग सब परिग्रहको त्यागकर मन-वचन-कायसे रत्नत्रयको स्वीकार करते है। इस प्रकारके निष्क्रमणको जो देखता है उसका सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है।

अब केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करते है—

जिसके द्वारा समस्त पदार्थो का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है उसे ज्ञान कहते है। यहाँ ज्ञानसे केवलज्ञान कहा है। उसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है—जो मोहनीयका भार उतार देते है, योगरूपी सूर्यसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूपी अन्धकारको निर्मूल कर देते है और अन्तराय कर्मरूपी विषवृक्षको उखाड देते है उनके क्रमरहित, इन्द्रियोकी सहायता न लेनेवाला, सशय तथा विपरीततासे दूर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उसके फलके दर्शनमे जिनकथित मार्गमे शका आदि दोषोसे रहित श्रद्धा उत्पन्न होती है। जो उस फलके अभिलाषी है वे उसकी शक्तिको देखकर यदि उस रत्नत्रयसे युक्त भगवन्तोंमे रुचि करते है तो इसमे आश्चर्य क्या है ? ।।१४५।।

इस प्रकार अनियत विहारसे दर्शनविशुद्धिरूप स्वार्थको बतलाकर अब स्थिरीकरणरूप परोपकारको प्रकट करते है—

गा०—सम्यक् आचार और अनशन आदि तपसे युक्त विशुद्ध लेश्यावाले मुनियोका अनियतवास सम्यक् आचारवाले, योगके धारी, सम्यक् लेश्यावाले और संसारसे भीत साधुओमे ससारसे भय उत्पन्न करता है ।।१४६।।

टी०—सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और शुद्धलेश्यामे वर्तमान अनियत विहारी साधुको देखकर सभी सम्यक् चारित्रवाले, सम्यक् तप करनेवाले और शुद्ध लेश्यावाले यतिगण अत्यन्त ससारसे भीत होते है। वे मानते है कि हम ससारसे वैसे भीत नही हैं जैसे यह भगवान् मुनिराज है। अत एव हमारा चारित्र और तप सदोष है। अर्थात् सम्यक् आचार, तप और विशुद्ध लेश्या-

---

१ वीतक्र–आ० मु०। २ मत्यस्त–आ० मु०।

प्रवर्तमान दृष्ट्वा सर्वेऽपि सुचारित्रा सुतपम , शुद्धलेश्या यनयः अतिशयवती ससारभीरुतां प्रतिपद्यन्ते । न वयमतीव ससारभीरव , यथाय भगवान् अतएव नश्चारित्र तपश्च सातिचार इति मन्यमाना ॥१४६॥

उत्तरगाथया एतदाचष्टे न केवल अतिशयितचारित्रतपोगुण एव पर सविग्न करोति किंतु एवभूतोऽपि इत्याचष्टे—

पियधम्मवज्जभीरू सुत्तत्थविसारदो असढभावो ।
सवेगाविदि य परं साधू णियद विहरमाणो ॥१४७॥

'**पियधम्मवज्जभीरू**' प्रिय उत्तमक्षमादिधर्मो यस्य, यश्चावद्यस्य पापस्य भीरु । '**सुत्तत्थविसारदो**' सूत्रार्थयोर्निपुण । '**असढभावो**' शाठ्यरहित । '**सवेगाविदि य**' पर सविग्न करोति । '**साधू**' साधु । '**णियदं**' सर्वकाल '**विहरमाणो**' देशान्तरातिथि ॥१४७॥

पूर्वगाथाया परस्थिरीकरण प्रतिपाद्य उत्तरयात्मानमपि स्थिरयति इत्यभिधत्ते—

संविग्गदरे पासिय पियधम्मदरे अवज्जभीरुदरे ।
सयमवि पियथिरधम्मो साधू विहरतओ होदि ॥१४८॥

'**ठिदियरणं**' । '**सविग्गतरं**' इत्यादिकया । असकृत्पञ्चविधपरावर्तनिरूपणाहितचेतस्तयोपगततदागमन-भयातिशया सविग्नतरा । अभिनवकर्मनिरोध चिरतनगलन करोति, अभ्युदयान श्रेयससुखानि च प्रयच्छति सुचरिता धर्म इति । धर्मस्य फलमाहात्म्ये अनागत चेत समाधानात्प्रियधर्मतरा , स्वल्पमप्यशुभयोगानामवसरा-

---

वाले अनियत विहारी साधुको देखकर अन्य मुनि जो सम्यक् आचारवान् है, तपस्वी है, विशुद्ध लेश्यावाले है वे भी प्रभावित होकर और भी अधिक आचार, तप और लेश्यामे बढनेके लिए प्रयत्नशील होते है। यह अनियतवाससे परोपकार होता है। दर्शनविशुद्धिका लाभ तो अपना उपकार है ॥१४६॥

आगेकी गाथासे कहते हैं कि केवल विशिष्ट चारित्र और तप ही दूसरेको ससारसे विरक्त नही करता किन्तु

गा०—जो उत्तम क्षमा आदि धर्मका पालक है और पापसे डरता है, सूत्र और उसके अर्थ-मे निपुण है, शठतासे रहित है ऐसा सदा देशान्तरमे विहार करनेवाला साधु दूसरोमे विराग उत्पन्न करता है ॥१४७॥

पूर्वगाथामे दूसरोके स्थिरीकरणका कथन किया है। आगेकी गाथासे अपने भी स्थिरीकरण-को कहते है—

गा०—सविग्नतर प्रिय धर्मतर और अवद्य भीरुतर साधुको देखकर विहार करनेवाला साधु स्वयं भी प्रिय स्थिर धर्मतर, संविग्नतर और अवद्य भीरुतर होता है ॥१४८॥

टी०—बार-बार पाँच प्रकारके परावर्तनोका निरूपण चित्तमे बैठ जानेसे जो उस परावर्तन-के आगमनसे अत्यन्त भीत होते है वे साधु सविग्नतर होते है। अच्छी तरह पालन किया गया धर्म नये कर्मों के आनेको रोकता है और पुराने कर्मों की निर्जरा करता है। तथा इहलौकिक अभ्युदय और मोक्षका सुख देता है। धर्मके फलके इस माहात्म्यमे जिनका चित्त लीन होता है वे

दानादवद्यभीरुतरा । स्वयमात्मना प्रियस्थिरधर्मतरा । अन्तरेणाप्यतिशायिकप्रत्ययमतिशयार्थगतिरत्र 'अभिरूपाय कन्या देयेति' यथा प्रियस्थिरधर्मतर इति । अपिशब्देन सविग्नतर अवद्यभीरुतरश्चेति ग्राह्यम् ॥१४८॥

भावना व्याचष्टे—परिषहसहनमिह भावनेत्युच्यते—

चरिया छुहा य तण्हा सीदं उण्हं च भाविदं होदि ।
सेज्जा वि अपडिबद्धा विहरणेणाधिआसिया होदि ॥१४९॥

'चरिया' चर्याजन्य दुःखमिह चर्येति गृहीतं । उपानहान्येन वा अकृतपादरक्षस्य, गच्छतो निशितशर्करापाषाणकण्टकादिभिस्तुद्यमानचरणस्य, उष्णरजःसतप्तपादस्य, वा यद्दुःखं यस्यानुभवनमसंक्लेशेन चर्याभावना । **'छुहा य'** अपरिचिते देशे सयतं पूर्वमनध्यासिते अल्पधान्यसग्रहे प्रयोग्याया अलाभात् भिक्षाया समुपजाता क्षुद्वेदना सोढा भवति । चिरमेकत्र वसतो जन परिचयाद्दाक्षिण्याद्वा भिक्षा प्रयच्छतीति न महान्परिश्रम । **'सीदं उण्हं च'** शीतोष्णस्पर्शज दुःख इह गृह्यते । तदनुभवन सक्लेशरहितभावित[1] सोढ भवति । **'सेज्जा'** य शय्या च वसति । **'अपडिबद्धा'** ममेद भावरहिता । **'अधिआसिदा'** सोढा भवति । **'विहरणेण'** विविधदेशगमनेन ॥१४९॥

प्रियधर्मतर होते है । और जो थोडेसे भी अशुभ योगको नही होने देते वे अवद्यभीरुतर होते है । उन्हे देखकर सदा विहार करनेवाला साधु स्वय भी प्रियस्थिर धर्मतर होता है । गाथामे 'पियथिरधम्मो' पाठ है उसमे अतिशयको बतलानेवाला 'तर' प्रत्यय नही है फिर भी अतिशय अर्थका बोध होता है । जैसे किसीने कहा है 'अभिरूपको कन्या देना', यहाँ अभिरूपसे विशिष्ट रूपवानका बोध होता है । अत प्रियस्थिर धर्मतर अर्थ लेना । 'अपि' शब्दसे सविग्नतर और अवद्यभीरुतर भी ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् वह साधु दूसरे इस प्रकारके विशिष्ट साधुओको देख स्वय भी वैसा विशिष्ट बन जाता है । यह विहारसे लाभ है ॥१४८॥

अब भावनाको कहते है । यहाँ परीषह सहनको भावना कहते है—

गा०—अनेक देशोमे विहार करनेसे, चर्या भूख, प्यास शीत और उष्णका दुःख संक्लेशरहित भावसे सहना होता है । वसति भी ममत्वसे रहित सहनेमे आती है ॥१४९॥

टी०—यहाँ 'चर्या' शब्दसे चर्यासे होनेवाले दुःखका ग्रहण किया है । जूता अथवा अन्य किसी वस्तुसे अपने पैरोकी रक्षा नही करनेवाले साधुके चलते हुए तीक्ष्ण ककर पत्थर काँटे आदिसे पैर छिद जाते है, अथवा गर्मधूलिसे पैर झुलस जाते है । उसके दुःखको विना सक्लेशके सहना चर्याभावना है । अनजान देशमे, जहाँ पूर्वमे कभी साधुओका जाना नही हुआ, और अनाजका सग्रह भी कम है, वहाँ, योग्य भिक्षाके न मिलनेसे उत्पन्न हुआ भूखका दुःख सहना होता है । बहुत समय तक एक स्थानपर बसनेसे मनुष्य परिचित होनेसे अथवा उदारतावश भिक्षा देते है इसलिए भिक्षामे बडा श्रम नही होता । शीत उष्णसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्शसे होनेवाला दुःख यहाँ लिया है । उसका अनुभवन अर्थात् सक्लेशरहित भावपूर्वक सहना होता है । तथा रहनेके लिए वसतिका जो प्राप्त होती है उसमे भी 'यह मेरी है' ऐसा भाव नही रहता । ये सब विहार करनेवाले मुनियोको सहना होता है ॥१४९॥

---

१ भाविना आ० मु० ।

[1]णाणादेसे कुसलो णाणादेसे गदाण सत्थाण ।
अभिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण ॥१५०॥

अतिशयार्थकुशलताख्यं गण कथयति—

सुत्तत्थथिरीकरण अदिसयिदत्थाण होदि उवलद्धी ।
आयरियदंसणेण दु तम्हा सेविज्ज आयरियं ॥१५१॥

'**सुत्तत्थथिरीकरण**' अल्पवर्णरचन, अभिधेयविषयसशयाकारि सारार्थवदभ्यन्तरीकृतोपपत्तिक, प्रमाणान्तरदर्शित[2]वस्तुतद्रूपविरुद्धानुपदर्शनेन निर्दोष इत्येतद्गुणसहित सूत्र तस्यार्थो वाच्य बाह्य. आन्तरो वा अर्थ., तयो सूत्रार्थयो थिरीकरण इत्थमेवेद सूत्र शब्दत., अभिधेय चास्येदमेवेति यत्तत्[3] । '**होदि उवलद्धी**' अतिशयेनार्थोपलब्धिर्भवति । '**आयरियदंसणेण**' आचार्याणा दर्शनेन । तु शब्द पादपूरण अवधारणार्थो वा । आचार्यदर्शनेनैव अथवा सूत्रार्थाना स्थिरीकरण व्याख्यातॄणामाचार्याणा तत्र दर्शनात् । '**अदिसइदत्थाण**' अतिशयिताना सूत्रार्थाना '**उवलद्धी**' उपलब्धि । '**होदि**' भवति । प्रमाणनयनिक्षेपैर्निरुक्त्या अनुयोगद्वारेण निरूप्यमाण सूत्रार्थो अतिशयितो भवति । आचार्याणा व्याख्यातॄणा दर्शनेन मतभेदेन । केचिन्निक्षेपमुखेनैव सूत्रार्थमुपपादयन्त्यपरे नैगमादिविचित्रनयानुसारेण अन्य सदाद्यनुयोगोपन्यासेन । अपरे '**अदिसयसत्थाण होइ**

गा०—देशान्तरमे जानेसे अनेक देशोके सम्बन्धमे कुशल हो जाता है। अनेक देशोमे पाये जानेवाले शास्त्रोंके शब्दार्थके विषयमे कुशल होता है ॥१५०॥

अतिशय अर्थकुशलता नामक गुणको कहते है—

गा०—आचार्योंके दर्शनसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण और अतिशयित अर्थोकी उपलब्धि होती है। इसलिये आचार्यकी सेवा करनी चाहिए ॥१५१॥

टी०—थोडे शब्दोमें रचा गया हो, अर्थके विषयमे सशय उत्पन्न न करता हो, सारसे भरा हो, जिसकी उपपत्ति उसीमे गर्भित हो, और अन्य प्रमाणोके द्वारा वस्तुका जो स्वरूप बतलाया गया है उसके विरुद्ध कथन न करनेसे निर्दोष हो। जिसमे ये गुण होते है वह सूत्र है। उसका अर्थ बाह्य और आन्तर दोनो प्रकारका है। इन सूत्र और उसके अर्थका स्थिरीकरण—यह सूत्र शब्दरूपसे इसी प्रकार है अर्थात् इसके शब्द ठीक हैं और इसका अर्थ भी यही है—यह सूत्रार्थका स्थिरीकरण है। आचार्योंके पास रहनेसे यह लाभ होता है तथा अतिशयित सूत्रार्थकी उपलब्धि होती है।

जो सूत्रका अर्थ प्रमाण नय निक्षेप निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा किया गया हो उसे अतिशयित कहते है। आचार्य अर्थात् सूत्रके अर्थका व्याख्यान करने वाले व्याख्याताओमे दर्शन अर्थात् मतभेद देखा जाता है। कोई व्याख्याता निक्षेप द्वारा ही सूत्रके अर्थका उपपादन करते है। अन्य व्याख्याता नैगम आदि विभिन्न नयोके द्वारा सूत्रार्थका कथन करते हैं। कुछ अन्य सत् आदि अनुयोगोंका उपन्यास करके सूत्रार्थका कथन करते है। 'तु' शब्द पादपूर्तिके लिये अथवा अवधारणके लिये है। आचार्य दर्शनसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण होता है और अतिशयित अर्थकी प्राप्ति

१ इयं गाथा क्षिप्ता मन्तव्या। २ वस्तुतया विह—आ० मु०। ३ यत्तेन आ० मु०।

उवलद्धो' इति पठन्ति । तत्रायमर्थः—अतिशयभूतानां शास्त्राणां प्रत्यग्राणामारातीयैः सूरिभिः कृतानां चिरंतनानामेवाप्रत्याख्याताना उपलब्धिर्भवति ।

प्रकारान्तरेण अतिशयार्थकुशलत्वमाख्यातुमीहते—

णिक्खवणपवेसादिसु आयरियाणं बहुप्पयाराणं ।
सामाचारी कुसलो य होदि गणसंपवेसेण ॥१५२॥

'**णिक्खवणपवेसादिसु**' इत्यनया गाथया । '**आयरियाणं**' आचार्याणां । '**बहुप्पयाराणं**' बहुविधानां । केचिदाचार्या चरणक्रममवगच्छन्ति परै सहाचरणात् । अपरे पुन. शास्त्रनिरूदितमेव । अन्ये तदुभयज्ञा. । इति बहुप्रकारता । एवं आचार्याणा अनेकप्रकाराणा **गणसंपवेसेण** गणप्रवेशेन निःक्रमणप्रवेशादिकासु क्रियासु । '**कुसलो य होदि**' कुशलश्च भवति । क ? सामाचारी । ते यथा आचरन्ति तथा प्रवर्तमान स्वावासदेशान्निर्गन्तुमिच्छता शीतलादुष्णाद्वा[1] देशाच्छरीरप्रमार्जन कार्यं, तथा प्रविशतापि । किमर्थं ? शीतोष्णजन्तूनामाबाधापरिहारार्थं अथवा श्वेतरक्तकृष्णगुणासु भूमिषु अन्यस्या नि क्रमणे अन्यस्याश्च प्रवेशने प्रमार्जनं कटिप्रदेशादध कार्य । अन्यथा विरुद्धयोनिसक्रमेण पृथिवीकायिकाना तद्भूमिभागोत्पन्नाना त्रसाना चाबाधा स्यात् । तथा जल प्रविशता सचित्ताचित्तरजसो पदादिषु लग्नयोन्निरास । यावच्च पादौ शुष्यतस्तावन्न गच्छेज्जलान्तिक एव तिष्ठेत् । महतीना नदीना उत्तरणे आराद्भागे कृतसिद्धवन्दन यावत्परकूलप्राप्तिस्तावन्मया सर्वं

होती है, कोई 'अदिसयसत्थाण होइ उवसद्धो' ऐसा पढते है । उसका यह अर्थ है—अतिशयभूत शास्त्रोकी जो नवीन बने है अथवा प्राचीन आरातीय आचार्योंके द्वारा रचे गये हैं उनकी उपलब्धि होती है—उनको जानना देखना होता है ॥१५१॥

प्रकारान्तरसे अतिशय अर्थकुशलताका कथन करते है—

गा०—बहुत प्रकारके आचार्योंके गणमें प्रवेश करनेसे वसति और दाताके घरसे निकलने और प्रवेश करने आदिमे जो उनका सम्यक् आचरण है उसमें प्रवीण होता है ॥१५२॥

टी०—आचार्य बहुत प्रकारके होते हैं । कुछ आचार्य दूसरोके साथ आचरण करनेसे आचरणका क्रम जानते हैं । दूसरे कोई आचार्य शास्त्रमे जो आचार कहा है उसे ही जानते हैं । अन्य कुछ आचार्य दोनोंको जानते है । इस प्रकार आचार्योंके बहुत प्रकार है । इस प्रकार अनेक प्रकारके आचार्योंके सघमे प्रवेश करनेसे निष्क्रमण प्रवेश आदिमे सामाचारी कुशल होता है । वे आचार्य जैसा आचरण करते हैं उसी प्रकार जो आचरण करता है उसे सामाचारी कहते है । अपने रहनेके स्थानसे यदि बाहर जाना चाहता है वह स्थान शीतल हो अथवा गर्म हो, शरीरका प्रमार्जन करके बाहर जाना चाहिए । इसी प्रकार प्रवेश करते हुए भी प्रमार्जन करना चाहिए । यह प्रमार्जन पोछीसे शरीरकी सफाई शीतकाय और उष्णकायके जीवोको बाधा न हो, इसलिए किया जाता है । अथवा सफेद, लाल या काले गुणवाली भूमियोंमें एकमेंसे निकलकर दूसरीमे प्रवेश करनेपर कमरसे नीचे प्रमार्जन करना चाहिए । अन्यथा विरुद्ध योनिके संक्रमसे पृथिवीकायिक जीवोंको और उस भूमिमे उत्पन्न हुए त्रसोंको बाधा होतो है । तथा जलमे प्रवेश करते समय पैर आदिमें लगी सचित्त और अचित्त धूलीको दूर कर देना चाहिए । जब तक पैर न सूखे तबतक जलसे निकलकर जलके पास ही ठहरना चाहिए, वहाँसे जाना नही चाहिए । यदि बड़ी नदीको

१. द्वा सकलशरीर–अ० ।

शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यान समाहितचित्तो द्रोण्यादिकमारोहेत्, परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत् । तदतिचारव्यपोहार्थं । एवमेव महत कान्तारस्य प्रवेशने क्रमणयो ।

तथा भिक्षानिमित्त गृह प्रवेष्टुकाम अवलोकयेत्किमत्र बलीवर्दा, महिष्य, प्रसूता वा गाव, दुष्टा वा सारमेया, भिक्षाचरा श्रमणाः वा सन्ति न सन्तीति । सन्ति चेन्न प्रविशेत् । यदि न बिभ्यति ते यत्नेन प्रवेश कुर्यात् । ते हि भीता यति बाधन्ते स्वय वा पलायमाना त्रसस्थावरपीडा कुर्यु । क्लिश्यन्ति, महति वा गर्तादौ पतिता मृतिमुपेयु ।

गृहीतभिक्षाणा वा तेषा निर्गमन गृहस्थै. प्रत्याख्यान वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्य । अन्यथा बहव आयाता इति दातुमशक्ता कस्मैचिदपि न दद्यु । तथा च आहारान्तराय[1] कृत स्यात् । क्रुद्धा परे भिक्षाचरा निर्भर्त्सनादिक कुर्युरस्माभिराशया प्रविष्ठ गृह किमर्थ प्रविशतीति । अन्ये भिक्षाचरा यत्र स्थित्वा अन्वेषन्ते[2] भिक्षा, यत्र वा स्थिताना गृहिण प्रयच्छन्ति तावन्मात्रमेव भूभाग यति प्रविशेन्न गृहाभ्यन्तर । गृहिभिस्तिष्ठ प्रविशेत्यभिहितोऽपि नान्धकार प्रविशेत् त्रसस्थावरपीडापरिहृतय । तद्द्वारकाद्युल्लङ्घने कुप्यन्ति च गृहिण[3] । एलक वत्स वा नातिक्रम्य प्रविशेत् । भीता पलायन कुर्युरात्मान वा पातयेयु ।

द्वारमप्यायामविष्कम्भहीन प्रविशत गात्रपीडा इति सकुटितागस्य विवृताधोभागस्य वा प्रवश दृष्ट्वा

पार करना हो तो इस ओर सिद्धोकी वन्दना करे और जबतक मै नदीके पार न पहुचूँ तबतकके लिए मेरे सब शरीर भोजन और उपकरणका त्याग है इस प्रकार प्रत्याख्यान ग्रहण करे और चित्तको समाहित करके नौका आदिमे चढे । तथा दूसरे तटपर पहुचकर कायोत्सर्ग करे । यह कायोत्सर्ग नदी पार करनेमे लगे दोषकी शुद्धिके लिए किया जाता है । इसी प्रकार किसी महान् वनमे प्रवेश करने और निकलनेपर करना चाहिए ।

तथा भिक्षाके लिए घरमे प्रवेश करनेसे पूर्व देख ले कि यहाँ, साड, भैस, ब्याई हुई गाय, अथवा दुष्ट कुत्ते और भिक्षाके लिए श्रमण है अथवा नही है । यदि हो तो घरमे प्रवेश न करे । यदि वे पशु साधुके प्रवेशसे न डरे तो सावधानतापूर्वक प्रवेश करे । वे पशु डरनेपर यतिको बाधा कर सकते है । अथवा स्वय भागकर त्रस और स्थावर जीवोको पीडा पहुँचा सकते है । स्वय कष्टमे पड सकते है । किसी बडे गड्ढेमे गिरकर मर सकते है । अथवा भिक्षा लेकर निकलते हुए साधुओको देखकर और गृहस्थोके द्वारा उनका प्रत्याख्यान सुनकर घरमे प्रवेश करना चाहिए । अन्यथा 'बहुतसे साधु आ गये, हम इन्हे भिक्षा देनेमे असमर्थ है' ऐसा सोच गृहस्थ किसीको भी भिक्षा नही देगे । और तब आहारमे अन्तराय हो जायगा । अन्य भिक्षार्थी क्रुद्ध होकर तिरस्कार करेगे कि जिस घरमे हम भिक्षा लेते है उसमे ये क्यो प्रविष्ट हुए । अन्य भिक्षा लेनेवाले जहाँ खडे होकर भिक्षाकी प्रतीक्षा करते है अथवा जहाँपर खडे हुए भिक्षार्थियोको गृहस्थ भिक्षा देते हैं, वही तक साधुको जाना चाहिए । घरके भीतर प्रवेश नही करना चाहिए । गृहस्थोके द्वारा 'पधारिये' घरमे प्रवेश कीजिए, ऐसा कहनेपर भी त्रस और स्थावरजीवोको पीडा न पहुँचे इसलिए अन्धकारमें प्रवेश नही करना चाहिए । उनके द्वार आदिको लाँघनेपर गृहस्थ क्रुद्ध हो सकते है । बछडे आदिको लाँघकर नही जाना चाहिए, क्योकि ऐसा करनेसे वे डरकर भाग सकते हैं अथवा साधुको गिरा सकते है । लम्बाई चौडाईसे रहित द्वारमे प्रवेश करते हुए अगोको

---

१. भोगान्तराय –आ० मु० । २. लभन्ते–आ० मु० । ३. गृहिण भीत –आ० ।

कुप्यन्ति हसन्ति वा। आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च। द्वारपार्श्वस्थजन्तुपीडा स्वगात्रमर्द्दने च शिक्याव-लम्बितभाजनानि वा अनिरूपितप्रवेशी अभिहृति। तस्मादूर्ध्वं तिर्यक्चावलोक्य प्रवेष्टव्यं।

तदानीमेव लिप्ता, जलसेकार्द्रा, प्रकीर्णहरितकुसुमफलपलाशादिभिर्निरन्तरा, सचित्तमृत्तिकावती, छिद्र-बहुला, विचरत्त्रसजीवा, गृहिणा भोजनार्थं कृतमण्डलपरिहारा, देवताध्युषिता निकटभूतना[1]नाजनामतिकस्था-सनशयनामासीनशयितपुरुषा, मूत्रात्पुरीषादिभिरुपहृता भूमिं न प्रविशेत्।

सयमविराधना आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च परिहर्तुं भुक्त्वा निर्गच्छन्नपि शनैरतीवानवनतो वन्दमानं प्रति दत्तयोग्याशीर्वादो निर्गच्छेत्। तथा भिक्षाकालं, बुभुक्षाकालं च ज्ञात्वा गृहीतावग्रहं, ग्राम-नगरादिकं प्रविशेदीर्यासमितिसम्पन्नः। भोजनकालपरिमाणं ज्ञात्वा ग्रामादिभ्यो नि सरेत्। जिनायतनं, यति-निवासं वा प्रविशन्प्रदक्षिणां कुर्यान्निसीधिकाशब्दप्रयोगं च। निर्गन्तुकाम आसीधिकेति। आदिशब्देन परिगृहीता स्थानभोजनशयनगमनादिक्रिया। तत्रापि यत्नो यतीना। त सकलं वेद्मि गुरुकुलवासी सूत्रार्थज्ञोऽहं, न मया-चारक्रमं सूत्रार्थो वान्यसकाशे ज्ञातव्य इत्यभिमानं न वहेत्॥ १५२॥

शिक्षायामुद्योगपरो भवेदित्याह—

[2]कंठगदेहि वि पाणेहिं साहुणा आगमो हु कादव्वो।
सुत्तस्स य अत्थस्स य सामाचारी जध तहेव ॥१५३॥

सकुचित करनेपर शरीरमें पीडा होती है। नीचेके भागको फैलाकर प्रवेश करनेपर लोग देखकर कुपित होगे या हँसेगे। तथा आत्माकी विराधना और मिथ्यात्वकी आराधना होती है।

अपने शरीरका मर्दन करनेपर द्वारके पार्श्वभागमें स्थित जीवोको पीडा होती है। विना देखे घरमे प्रवेश करनेवाला साधु छीकेपर रखे बरतनोंसे टकराता है। अत ऊपर और इधर-उधर देखकर घरमे प्रवेश करना चाहिए। जो भूमि तत्काल लीपी गई हो, जलके सिंचनसे गीली हो, हरे फूल, फल पत्र आदिसे सर्वत्र ढकी हो, सचित्त मिट्टीवाली हो, जिसमे बहुत छिद्र हो, जिसपर त्रसजीव विचरते हो, गृहस्थोके भोजके लिए मण्डल आदि रचे गये हो, जहाँ देवताका निवास हो, पासमें बहुतसे आदमी बैठे हो, आसन शय्या पासमे हो, पुरुष सोये या बैठे हो, टट्टी पेशाब आदि पडे हो उस भूमिसे प्रवेश नही करना चाहिए। सयमकी विराधना, आत्माकी विराधना और मिथ्यात्वकी आराधनासे बचनेके लिए भोजन करके निकलते हुए भी धीरेसे अति नम्र हो, वन्दना करनेवालोको आशीर्वाद देते हुए निकलना चाहिए। तथा भिक्षाका समय और अपनी भूखके समयको जानकर कोई नियम ग्रहण करके ईर्यासमितिपूर्वक ग्राम नगर आदिमे प्रवेश करना चाहिए। और भोजनके कालका परिमाण जानकर ग्रामादिसे निकलना चाहिए। जिन मन्दिरमे अथवा साधु निवासमें प्रवेश करते समय निसिधिका शब्दका प्रयोग करना चाहिए और प्रदक्षिणा करना चाहिए। निकलते समय 'आसीधिका' शब्दका प्रयोग करना चाहिए। आदि शब्दसे स्थान, भोजन, शयन, गमन आदि क्रियाका ग्रहण किया है। उनमे भी यतियोंको साव-धानता बरतनी चाहिए। मै सब जानता हूँ, गुरुकुलका वासी और सूत्रके अर्थका ज्ञाता हू, मुझे दूसरेसे आचारक्रम और सूत्रार्थ नही जानना है' ऐसा अभिमान नही करना चाहिए ॥१५२॥

शिक्षामें उद्योग करना चाहिए, ऐसा कहते है—

---

१. त भाजना—अ०। २ एषापि गाथा क्षिप्तैव—मूलारा०।

'**कण्ठगदेहिं वीत्यादिना**'। कण्ठगतैः प्राणै सह वर्तमानेनापि साधुना आगमशिक्षा कर्तव्यैव सूत्रस्यार्थस्य सामाचारस्य च ॥१५३॥

क्षेत्रपरिमार्गणां व्याचष्टे—

संजदजणस्स य जम्हि फासुविहारो य सुलभवुत्ती य ।
तं खेत्तं विहरंतो णाहिदि सल्लेहणाजोग्गं ॥१५४॥

'**संजदजण**' इत्यादिना । असयमान् हिंसादीन्ज्ञात्वा श्रद्धाय च तेभ्य उपरतो व्यावृत्त सम्यग्यत सयत इत्युच्यते तस्य संयतजनस्य । '**जम्हि**' यस्मिन्क्षेत्रे । '**फासुविहारो य**' प्रासुक विहरण जीवबाधारहित गमनं अत्रसहरितबहुलत्वादप्रचुरोदककर्दमत्वाच्च क्षेत्रस्य । '**सुलभवुत्ती य**' सुखेनाक्लेशेन लभ्यते वृत्तिराहारो यस्मिन्क्षेत्रे । '**तं खेत्तं**' तत्क्षेत्र । '**णाहिदि**' ज्ञास्यत्यात्मन परस्य वा । '**सल्लेहणाजोग्गं**' सम्यक्कायकषायतनूकरण सल्लेखना तस्या योग्य । क ? '**विहरंतो**' देशान्तराणि भ्रमन् ॥१५४॥

न देशान्तरभ्रमणमात्रादनियतविहारी भवति किन्त्वेवविध इत्याचष्टे—

वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे ।
सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो ॥१५५॥

'**वसईसु अ**' इत्यादिना—'**वसतिषु**' उपकरणेषु । ग्रामे नगरे गणे श्रावकजने च । सर्वत्र अप्रतिबद्ध ।

गा०—प्राणोके कण्ठमे आ जानेपर भी साधुको आगमका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। जैसे वह सूत्रका और अर्थका और समाचारीका अभ्यास करता है उसी प्रकार उसे आगमका अभ्यास करना चाहिए ॥१५३॥

टी०—कण्ठगत प्राणोंके होते हुए भी साधुको आगमकी शिक्षा करना ही चाहिए तथा सूत्र, अर्थ और सामाचारीकी भी शिक्षा करना चाहिए ॥१५३॥

विशेष०—आशाधर इस गाथाको प्रक्षिप्त बतलाते है।

क्षेत्र परिमार्गणाको कहते हैं—

गा०—जिस क्षेत्रमे सयमीजनका प्रासुक विहार और सुलभ आहार हो, वह क्षेत्र देशान्तरमे भ्रमण करनेवाला सल्लेखनाके योग्य जानता है ॥१५४॥

टी०—असयमरूप हिंसा आदिको जानकर और श्रद्धान करके जो उनसे अलग होता है अर्थात् उनका त्याग करता है उस सम्यक् यतको सयत कहते है। सयमी मनुष्यका जिस क्षेत्रमें प्रासुक विहार अर्थात् जीव बाधारहित गमन होता है; क्योंकि क्षेत्रमें त्रस और हरितकायकी बहुलता और पानी कीचडकी अधिकता नही होनी चाहिए। तथा जहाँ वृत्ति अर्थात् आहार सुखपूर्वक विना क्लेशके प्राप्त होता है वह क्षेत्र देशान्तरमें विहार करनेवाला अनियत विहारी साधु सल्लेखनाके योग्य जानता है। सम्यक् रीतिसे शरीर और कषायके कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं उसके योग्य वह क्षेत्र होता है ॥१५४॥

आगे कहते है कि केवल देशान्तरमे भ्रमण करनेसे अनियत विहारी नही होता किन्तु जो ऐसा होता है—

गा०—वसतियोमें और उपकरणोंमे ग्राममें नगरमे सघमे और श्रावकजनमे सर्वत्र यह मेरा है इस प्रकारके सकल्पसे रहित साधु सक्षेपसे अनियत विहारी होता है ॥१५५॥

टी०—वसति, उपकरण, ग्राम, नगर, गण और श्रावकजनमे जो सर्वत्र अप्रतिबद्ध है, यह

ममेदं वसत्यादिकं अहमस्य स्वामीति सकल्परहित' अनियतविहारी भवति इति सक्षेपत' प्रतिपत्तव्यः। **विहारो गदो** ॥१५५॥

अनियतवासादनन्तर परिणामं प्रतिपादयितु उत्तरगाथा—

अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा ।
णिप्पादिदा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो कादु ॥१५६॥

'**अणुपालिदो य**' अनुपालितश्च सूत्रानुसारेण रक्षित । '**दीहो**' दीर्घ चिरकालप्रवृत्ति । '**परियाओ**' पर्यायः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोरूप । '**वायणा वि**' वाचनापि । '**मे**' मया । '**दिण्णा**' दत्ता । '**णिप्पादिदा य सिस्सा**' निष्पादिताश्च शिष्या । '**सेयं**' श्रेय हित । '**अप्पणो कादुं**' आत्मन कर्तु '**जुत्तं**' इति शेष । एतदुक्त भवति । ज्ञानदर्शनचारित्रेषु चिरकाल परिणतोऽस्मि । सूत्रानुसारेण परेभ्यश्च निरवद्यग्रन्थार्थदान च कृत । शिष्याश्च व्युत्पन्ना मवृत्ता । एव स्वपरोपकारक्रियया गतः काल । इत प्रभृत्यात्मन एव हित कर्तुं न्याय्यमिति चेत प्रणिधान इह परिणामशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्—

अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परिहियं च कायव्वं ।
अप्पहियपरहियादो अप्पहियं सुट्ठु कादव्वं ॥ [ ]

किण्णु अधालंदविधी भत्तपइण्णेंगिणी य परिहारो ।
पादोवगमणजिणकप्पियं च विहरामि पडिवण्णो ॥१५७॥

'**कि णु अधालदविधि**' । कोऽसावथालन्दविधि ? उच्यते—परिणाम सामर्थ्य, गुरुविसर्जन, प्रमाण, स्थापना, आचारमार्गणा, अथालन्दमासकल्पश्च । गृहीतार्था कृतकरणा, परीषहोपसर्गजये समर्था, अनि-

वसति आदि मेरी है और मैं इसका स्वामी हू इस प्रकारके सकल्पसे रहित है उसे संक्षेपमे अनियत विहारी जानना। इस प्रकार अनियत विहार समाप्त हुआ ॥१५५॥

अनियत वासके अनन्तर परिणामका कथन करनेके लिए गाथा—

गा०—दीर्घकाल तक ज्ञान दर्शन चारित्र और तप रूप पर्यायका मैने शास्त्रानुसार पालन किया। और मैने वाचना भी दी और शिष्योको तैयार किया। अब निश्चयसे अपना कल्याण करना उचित है ॥१५६॥

टीका—इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानदर्शन चारित्रमे मै चिरकालतक रमा हूँ। तथा दूसरोको आगमके अनुसार निर्दोष ग्रन्थ और उसके अर्थका दान किया है। शिष्य भी व्युत्पन्न हो गये। इस प्रकार अपना और परका उपकार करनेमे काल बीता। आजसे अपना ही हित करना उचित है। इस प्रकारके मनोभावको यहाँ परिणाम शब्दसे कहा है। कहा भी है—'अपना हित करना चाहिए। यदि शक्ति हो तो परका हित भी करना चाहिए। किन्तु आत्महित और परहित में से आत्महित अच्छे प्रकार करना चाहिए ॥१५६॥

गा०—क्या अथालन्द विधि, भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनीमरण, परिहार विशुद्धि चारित्र, पादोपगमन अथवा जिनकल्पको धारण करके मै विहार करूँ ॥१५७॥

टी०—अथालन्दविधि क्या है, यह कहते हैं—परिणाम, सामर्थ्य, गुरुके द्वारा विसर्जन, प्रमाण, स्थापना, आचार मार्गणा और अथालन्दकमासकल्प यह क्रम है। जो मुनि शास्त्रज्ञ, करने

गूहितबलवीर्या, आत्मानं मनसा तुलयन्ति । किमथालन्दविधिरारभ[1]णीयोऽथवा प्रायोपगमनविधिरिति । परिहारस्यासमर्था अथालन्दविधिमुपगन्तुकामास्त्रय, पञ्च, सप्त, नव वा ज्ञानदर्शनसपन्नास्तीव्रसवेगमापन्ना., स्थविरमूलनिवासिन, अवधृतात्मसामर्थ्या विदितायु स्थितय स्थविर विज्ञापयन्ति—भगवन् ! किमिच्छामोऽथालन्दकमयमं प्रतिपत्तुमिति । तच्छ्रुत्वा स्थविरो वारयति धृत्या शरीरेण च दुर्बलान्परिणामातिशयविरहितांश्च काश्चिदनुजानाति । समग्रगुणास्ते निसृष्टा स्थविरेण प्रशस्तेऽवकाशे स्थिता कृतलोचा, गुरूणामालोचना कृत्वा कृतव्रतारोपणा अचिरोद्गते आदित्ये कल्पस्थितमेक गणस्यालोचना श्रोतु शुद्धि चैव कर्तुं समुद्यत स्थापयन्ति । स एव प्रमाण गणस्य । आत्मन सहाया यावन्तो गणान्निर्गतास्तावन्त एव तत्स्थाने स्थापयितव्या गणे ।

आचारो निरूप्यते–अथालन्दसयताना लिङ्ग औत्सर्गिक, देहस्योपकारार्थ आहार वसति च गृह्णन्ति, शेष सकलं त्यजन्ति । तृणपीठकटफलकादिक उपधि च न गृह्णन्ति । प्राणिसयमपरिपालनार्थ जिनप्रतिरूपतासपादनार्थ च गृहीतप्रतिलेखना ग्रामान्तरगमने विहारभूमिगमने, भिक्षाचर्यायां, निषद्याया च अप्रतिलेखना एव व्युत्सृष्ट शरीरसंस्कारा परीषहान्सहन्ते नो वा धृतिबलहीना. । अस्ति च मनोबल सयममाचरितु इति मत्वा त्रय पञ्च वा सह प्रवर्तन्ते । रोगेणाभिघातेन वा जाताया वेदनाया प्रतिक्रियया वर्ज्या यदा तपमातिश्रान्तास्तदा

योग्य कार्यको कर चुकने वाले, परीषह और उपसर्गको जीतनेमे समर्थ तथा अपने बल और वीर्य- नही छिपानेवाले होते है, वे अपनी तुलना मनमे करते है कि क्या अथालन्दविधि प्रारम्भ करे या प्रायोपगमन विधि ? जो परिहार विशुद्धिको धारण करनेमे असमर्थ है और अथालन्दविधिको स्वीकार करना चाहते है ऐसे पाँच, सात या नौ मुनि, जो ज्ञान और दर्शनसे सम्पन्न है, तीव्र वैराग्यसे सम्पन्न है, आचार्यके पादमूलमे रहते हैं, जिन्होने अपनी सामर्थ्यका निर्णय कर लिया है और जिन्हे अपनी आयुकी स्थिति ज्ञात है वे आचार्यसे निवेदन करते है—भगवन् ! हम अथालन्दक सयमको धारण करना चाहते है । यह सुनकर आचार्य जो धैर्य और शरीरसे दुर्बल है, जिनके परिणाम उन्नत नही है, उन्हे रोक देते है और कुछको अनुमति देते है । वे सम्पूर्ण गुणशाली गुरुके द्वारा छोड दिये जाने पर प्रशस्त स्थानमे लोच करते है । और गुरुके सन्मुख आलोचना करके व्रत धारण करते है । सूर्यका उदय होते ही कल्पस्थित मुनियोमे से एकको जो गणको आलोचना सुनते और दोषोंकी शुद्धि करनेके लिए तत्पर होता है, स्थापित करते है । वही गणके लिए प्रमाण होता है अपने सहायक जितने मुनि गणसे निकले है, गणमे उनके स्थानमे उतने ही मुनि स्थापित करना चाहिए ।

अब अथालन्दकोके आचारका निरूपण करते हैं—अथालन्दक मुनियोके औत्सर्गिक लिग (नग्नता) होता है । शरीरके उपकारके लिए आहार और वसति स्वीकार करते है । शेष सब छोड देते है । तृणोका आसन, लकडीका तख्त आदि परिग्रह स्वीकार नही करते । प्राणि सयमको पालनेके लिए और जिनदेवका प्रतिरूप रखनेके लिए पीछी रखते है । अन्य ग्रामको जाने पर, विहार भूमिमे जाने पर, भिक्षाचर्यामे और बैठते समय प्रतिलेखना नही करते । शरीरका सस्कार नही करते, परीषहोको सहते हैं और धैर्यबलसे हीन नही होते । सयमका आचरण करनेके लिए हममे मनोबल है ऐसा मानकर तीन या पाँच मुनि एक साथ रहते है । रोगसे या चोट आदिसे

१. राधनीयो–आ० मु० ।

सहायहस्तावलम्बनं कुर्वन्ति । वाचनादिका च न कुर्वन्ति यामाष्टकेऽप्यनिद्रा एकचित्ता ध्याने यतन्ते । यदि बलादायाति निद्रा तत्राकृतप्रतिज्ञा स्वाध्यायकालप्रतीक्षणादिकाश्च क्रियास्तेषा न सन्ति । श्मशानमध्येऽपि तेषा ध्यानमप्रतिषिद्ध आवश्यकेषु च प्रयतन्ते । उपकरणप्रतिलेखना कालद्वयेऽपि कुर्वन्ति । सस्वामिकेषु देवकुलादिषु तदनुज्ञया वसन्ति । अज्ञायमानस्वामिकेषु यस्येद सोऽनुज्ञा करोतु इत्यभिधाय वसन्ति । सहसातिचारे जाते अशुभपरिणामे वा मिथ्या मे दुष्कृतमिति निवर्तते । दशविधे समाचारे प्रवर्तन्ते । दान, ग्रहण, अनुपाल[2]ना, विनय , सह[3]भोजीन च नास्ति सघेन तेषा । कारणमपेक्ष्य केषाचिदेक एव सल्लाप कार्य । यत्र क्षेत्रे सधर्मा तत्क्षेत्र न प्रविशन्ति । मौनावग्रहनिरता पथान पृच्छन्ति, शकितव्य वा द्रव्य शय्याधरगृह वा । एव तिस्र एव भाषा । ग्रामाद्बहिरागतुकागारे कल्पस्थितेनानुज्ञाते वसन्ति । पशुपक्षिप्रभृतिभिर्यत्र ध्याने विघ्नो भवति तत स्थानादपयाति । को भवान्, कुत आयात , क्व प्रस्थित , कियत्काल अत्र भवतो वसनं, कति यूयमिति पृष्टा श्रमणोऽहमित्येव प्रतिवचनमेक प्रयच्छन्ति, इत[4]रत्र कृततूष्णीभावा । अपसरात स्थानादवकाश मे प्रयच्छ, परिपालय गृह, इत्यादिको वाग्व्यापारो यत्रान्येषा भवति, तत्र न निवसन्ति । बहिरपि वसत यदि भवति, ततोऽपयान्ति । स्वावासगृहे प्रज्वलिते न[5] चलन्ति चलन्ति वा गोचर्यायामप्राप्ताया-

---

उत्पन्न हुई वेदनाका प्रतीकार नही करते । जब तपसे अत्यन्त थक जाते है तब सहायके रूपमे एक दूसरेका सहारा लेते है । वाचना आदि नही करते । आठो पहर भी नही सोते और एकाग्र होकर ध्यानमे प्रयत्न करते है । यदि अचानक निद्रा आ जाती है तो सो लेते है, नही सोनेकी प्रतिज्ञा उनके नही होती । स्वाध्यायके समय उनके प्रतिलेखना आदि क्रिया नही होती । स्मशानके मध्यमे भी वे ध्यान कर सकते है उसका उनके लिए निषेध नही है । और आवश्यकोमे प्रयत्नशील रहते है । उपकरणोकी प्रतिलेखना दोनो समय करते है । जिन देवकुलादिके स्वामी होते है उनमे उनकी आज्ञा लेकर ही निवास करते है । जिन मन्दिरोके स्वामीका पता नही होता उनमे 'जिनका यह है वह हमे स्वीकृति प्रदान करे' ऐसा कहकर निवास करते है । सहसा अतिचार लगने पर अथवा अशुभ परिणाम होने पर 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' ऐसा कहकर निवृत्त हो जाते है । दस प्रकारके समाचारका पालन करते है । सघके साथ उनका देन, लेन, अनुपालना, विनय और सहभोजन या वार्तालाप नही होता । आवश्यकता होने पर किसीसे एक ही व्यक्तिको बात करना चाहिए । जिस क्षेत्रमे साधर्मी मुनि हो, उस क्षेत्रमे वे नही जाते । मौनका नियम पालन करते है किन्तु, मार्ग या शका युक्त द्रव्य और वसनिकाके स्वामीका घर पूछ लेते है । इस प्रकार तीन ही उनकी भाषा होती है । गाँवसे बाहर आने वालोके लिए जो मकान होता है उसमे कल्पस्थित मुनिकी अनुज्ञा मिलने पर ठहरते है । जिस स्थानमे पशु-पक्षी आदिके द्वारा ध्यानमे विघ्न होता हो वहाँसे चले जाते है । कोई पूछे कि आप कौन है, कहाँसे आये है, कहाँ जाते है, कितने समय तक आप यहाँ रहेगे ? तो 'मै श्रमण हू' इस प्रकार एक ही उत्तर देते है, शेष प्रश्नोके संबधमे चुप रहते है । 'यहाँसे जाओ, मुझे स्थान दो, घरको देखना, इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ अन्य लोग करते है वहाँ निवास नही करते । घरके बाहर भी ठहरने पर यदि कोई ऐसा व्यवहार करता है तो वहाँसे भी चले जाते हैं । जिस घरमे वे रहते है उसमे आग लगने पर वहाँसे नही जाते

---

१ यामाके अ० । यामाकष्टके—आ० । २. लन—आ० मु० । ३. सहजल्पन—आ० मु० ।
४. इतरेत्र आ० । इतरे कृत—मु० । ५ न चलन्ति वा—अ० ।

तृतीयपौरुष्या द्विगव्यूतमध्वानं गच्छन्ति । यदि गमनव्याघातो महावातेन वर्षादिना जात. ममतीतगमनकाल एव तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिका, व्यालमृगा[1] वा पतन्ति ततोऽपसर्पन्ति न वा पादे कण्टकालग्ने, चक्षुषि रज.-प्रवेशे वा, अपनयन्ति न वा । दृढधृतिका मिथ्यात्वचर्याराधनामात्मविराधनामवस्था दोषान्वा तस्मात्परिहरन्ति न वा । तृतीयपौरुष्या भिक्षार्थमवतरन्ति । कृपणवनीपकपशुपक्षिगणे अपगते पञ्चमी पिण्डैषणा कुर्वन्ति मौनं च । एका, द्वे तिस्रश्चतस्र. पञ्च वा गोचर्यो यत्र क्षेत्रे तत्रालन्दिकयोग प्रवर्तयन्ति । यस्मात्पाणिपात्र-भोजी मिथ्याराधना न वर्जयति तस्माल्लेपमलेपं वा भुक्त्वा तत्प्रक्षालयन्ति । धर्मोपदेश[2] कुरुत प्रव्रज्यामि-च्छामि भगवतः पादमूले इत्युक्ताश्चापि न मनसापि वाञ्छन्ति किं पुनर्वचसा कायेन । इतरे तत्सहाया धर्मो-पदेश कृत्वा सशिखं मुण्डित वा गणाधिपतयेऽर्पयन्ति ।

क्षेत्रत सप्ततिशतधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति । कालत सर्वदा । चारित्रत सामायिकच्छेदोपस्थापनयो । तीर्थत सर्वतीर्थकृता तीर्थेषु । जन्मन. त्रिशद्वर्षजीविता[3] । श्रामण्येन एकोनविंशतिवर्षा । श्रुतेन नवदश-पूर्वधरा. । वेदत पुमांसो नपुंसकाश्च । लेश्यात पद्मशुक्ललेश्या । ध्यानेन धर्मध्याना. । संस्थानत षड्-विधेष्वन्यतरसंस्थाना देशोनसप्तहस्तादि यावत्पञ्चधनु शतो[4]च्छ्रया । कालतो भिन्नमुहूर्तादूनपूर्वकोटिकाल-

अथवा जाते है। गोचरी नही मिलने पर तीसरे पहरमे दो गव्यूति प्रमाण मार्ग चलते है। यदि प्रचण्ड वायु या वर्षा आदिसे गमनमे रुकावट आती है तो वही ठहर जाते है। व्याघ्र आदि अथवा सर्प मृग आदि आ जाते है तो वहाँसे हटते भी है और नही भी हटते। पैरमे काँटा लगने पर अथवा आँखमे धूल चली जाने पर उसे निकालते है, नही भी निकालते।

'दृढ धैर्यशाली वे मुनि मिथ्यात्वचर्याराधना और आत्मविराधना अवस्थाको अथवा दोषोको दूर करते है अथवा नही करते (?)। तीसरे पहर भिक्षाके लिए निकलते है। कृपण, याचक, पशु-पक्षी गणके चले जाने पर पाँचवी पिण्डैषणा करते है और मौन रखते है। जिस क्षेत्रमे एक, दो, तीन, चार अथवा पाँच गोचरी होती है उस क्षेत्रमे आलन्दिक योग करते है। यत पाणिपात्र-मे भोजन करने वाला मिथ्या आराधनाको नही छोडता, इसलिए वह लेप अथवा अलेपको खाकर उसका प्रक्षालन करते है?'

कोई आकर कहे कि धर्मोपदेश करो, मै आपके चरणोमे दीक्षा लेना चाहता हूँ तो ऐसा कहने पर भी वे मनसे भी उसकी चाहना नही करते, तब वचन और कायका तो कहना ही क्या? अन्य मुनि जो उनके सहायक होते है वे उन्हे धर्मोपदेश देकर शिखा सहित अथवा मुण्डन कराकर आचार्यको सौंप देते है।

क्षेत्रकी अपेक्षा एक सौ सत्तर कर्मभूमि रूप धर्मक्षेत्रोमे ये आलन्दक मुनि होते हैं। कालकी अपेक्षा सर्वदा होते है। चारित्रकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्रमे होते हैं। तीर्थ-की अपेक्षा सब तीर्थङ्करोके तीर्थमे होते हैं। जन्मसे तीस वर्षतक गृहस्थाश्रममे रहकर उन्नीस वर्ष तक मुनि धर्मका पालन करते हैं, श्रुतसे नौ या दस पूर्वके धारी होते है। वेदसे पुरुष अथवा नपु-सक होते हैं। लेश्यासे पद्म या शुक्ल लेश्यावाले होते है। ध्यानसे धर्मध्यानी होते हैं। संस्थानसे छह प्रकारके संस्थानोमें से किसी एक संस्थान वाले होते हैं। कुछ कम सात हाथसे लेकर पाँचसौ

१ व्यालमृगाद्या यद्याप–आ० मु०। २. कुर्वत तत्प्र–आ०। कुर्वन्त तत्प्र० मु०। ३ जीवित.–आ०। ४. शतोत्सेधा–मु०।

स्थितय. । विक्रिया चारणताक्षीरास्रवित्वादयश्च तेषा जायन्ते । विरागतया न सेवन्ते । गच्छविनिर्गता-लन्दविधिरेष व्याख्यात. ।

गच्छप्रतिबद्धालन्दकविधिरुच्यते --गच्छान्निर्गच्छन्तो बहि सक्रोशयोजने विहरन्ति । सपराक्रमो गण-धरो ददाति क्षेत्राद् बहिर्गत्वार्थपद । तेऽपि समर्था आगत्य शिक्षा गृह्णन्ति । एको द्वौ त्रयो वा परिज्ञान-धारणा गुणसमग्रा गुरुसकाशमायान्ति । कृतप्रतिप्रश्नकार्या. स्वक्षेत्रे भिक्षाग्रहण कुर्वन्ति । अपराक्रमस्तु गण-धरो गच्छे सूत्रार्थपौरुषीं कृत्वा अग्रोद्यान गत्वा यत्नेन ददात्यर्थपद । अथवा स्वोपाश्रय एव गणधरो अन्याप-सारण कृत्वा एकस्मै उपदिशति । यदि गच्छेत्क्षेत्रान्तर गण अथालन्दिका अपि गुर्वनुज्ञया यान्ति क्षेत्रं । यदा गच्छनिवासिन क्षेत्रप्रतिलेखनार्थं प्रयन्तते तदा तत्र मार्गेण द्वौ अथालन्दिकौ यातौ । व्याख्यातोऽयमथा-लन्दविधि ।

परिहार उच्यते—जिनकल्पस्यासमर्था परिहारसयमभर वोढु समर्था आत्मनो बल वीर्यमायु प्रत्यवा-याश्च ज्ञात्वा ततो जिनसकाश उपगत्य कृतविनया प्राञ्जलय पृच्छन्ति "परिहारसयम प्रतिपत्तु-मिच्छामो युष्माकमाज्ञया" इति तच्छ्रुत्वा येषा ज्ञानम नुत्तर उपजायते विघ्नो वा तान्निवारयति । निसृष्टास्तु यतीन्द्रेण सयताना कृतनि शल्या प्रशस्तमवकाशमुपगता , लोच कृत्वा सुनिश्चिता गुरूणा कृतालोचना व्रतानि सुविशुद्धानि कुर्वन्ति । परिहारसयमाभिमुखाना मध्ये एक सूर्योदये स्थापयन्ति कल्पस्थित गु त्वेन । सच

धनुष ऊँचे होते है । कालसे एक अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कुछ कम पूर्वकोटिकी स्थितिवाले होते हैं अर्थात् अथालन्दक होनेके कालसे लेकर जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु बीते वर्षोसे हीन पूर्व कोटि प्रमाण होती है । उनको विक्रिया, चारण और क्षीरास्रवित्व आदि ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं किन्तु रागका अभाव होनेसे उनका सेवन नहीं करते । यह गच्छसे निकले हुए आलन्दककी विधि-का कथन है । अब गच्छसे प्रतिबद्ध आलन्दककी विधि कहते है—ये गच्छसे निकलकर बाहर एक योजन और एक कोस क्षेत्रमे विहार करते है। यदि आचार्य पराक्रमी होते हैं तो क्षेत्रसे बाहर जाकर उन्हे अर्थपद (शिक्षा) देते है । आलन्दकोमें से भी जो समर्थ होते है वे आकर आचार्यसे शिक्षा ग्रहण करते है। परिज्ञान और धारणा गुणसे पूर्ण एक दो अथवा तीन अथालन्दक मुनि गुरुके पास आते है, और उनसे प्रश्नादि करके अपने क्षेत्रमे जाकर भिक्षा ग्रहण करते है । (?) यदि आचार्य शक्तिहीन होते है तो गच्छमे सूत्रार्थपौरुषी (?) करके । आगेके उद्यानमें जाकर सावधानतापूर्वक अर्थपद देते है । अथवा अपने उपाश्रयमे ही अन्य शिष्योको दूर करके एकको ही अर्थपद देते हैं। यदि गण अन्य क्षेत्रको जाता है तो अथालन्दक मुनि भी गुरुकी आज्ञासे उस क्षेत्रको जाते है। जब गच्छ निवासी मुनि क्षेत्रकी प्रतिलेखना करते हैं तब उस मार्गसे दो अथालन्दक जाते है । यह अथालन्दकी विधि कही ।

परिहारका कथन करते है—जो जिनकल्पको धारण करनेमे असमर्थ होते है और परिहार सयमके भारको वहन करनेमे समर्थ होते है वे अपना बल, वीर्य, आयु और विघ्नोको जानकर जिन भागवानके पास जाकर हाथ जोड विनयपूर्वक पूछते है—हम आपकी आज्ञासे परिहार सयम धारण करना चाहते है। यह सुनकर जिनका ज्ञान उत्कृष्ट नही होता अथवा जिन्हे कोई बाधा होती हैं उनको रोक देते है। जिन्हें आज्ञा मिल जाती है वे मुनियोंके पास नि शल्य होकर प्रशस्त स्थानोमे जाकर केशलोच करते है। फिर गुरुओके सन्मुख आलोचना करके अपने व्रतोंको अच्छी तरह विशुद्ध करते है। परिहार संयम धारण करनेवालोमेसे एक कल्पस्थितको सूर्यका उदय

प्रमाण तस्य[1]। स चालोचना श्रुत्वा शुद्धि करोति। कल्पस्थितमाचार्यं मुक्त्वा शेषाणा[2]मर्द्धा अग्रे परिहार-सयमं गृह्णन्ति इति परिहारका भण्यन्ते। शेषास्तेषामनुपरिहारका। पश्चात्परिहारसयमग्राहिण अनुपरिहारका भण्यन्ते। एवं कल्पस्थिते सति ये पश्चात्परिहारसयमार्थमात्मानमुपसृतास्तानपि स्वगणे प्रक्षिपति गणी। यावद्भिरूनो गण. तावत्प्रमाण गण कृत्वा परिहारकाननुपरिहारिकाश्च व्यवस्थापयति। तेन परिहारसंयम निविशमाना अनुपरिहारकाश्च एको द्वौ बहवो वा भवन्ति। जदि तिण्णि, एगा गणी विदिओ परिहारसयम पडिवण्णो, तदिओ अणुपरिहारगो। जदि पच एको कप्पट्ठिदो, दो परिहारसजम पडिवज्जति। तेसिमणुपरिहारगा पत्तेग। इतरे जदिसत्त एगो कप्पट्ठिदो, तिण्णि परिहारगा, इदरे तिण्णि अणुपरिहारगा। जदि णव एगो कप्पट्ठिदो, चत्तारि परिहारिगा, चत्तारि अणुपरिहारिगा। छहि मासेहि परिहारीणिविट्ठाणी हवति। ततो पच्छा अणुपरिहारी परिहार पट्ठवेदिदु। तेसिं णिविट्ठपरिहारी हवतेणुपरिहारगा[3] ते पुणो छहिं मासेहिं णिविट्ठाइ भवन्ति। तु कप्पट्ठिदो पच्छा परिहार [4]पवज्जदि। तस्सेगो अणुपरिहारी एगो कप्पट्ठिदो वि। असोविअ छहिं मासेहिं णिविट्ठपरिहारगा अट्ठारममासा ते एव होति पमाणदो।

होनेपर गुरुके रूपसे स्थापित करते है। उस गणके लिए वह प्रमाण होता है। वह आलोचना सुनकर उनकी शुद्धि करता है। कल्पस्थित आचार्यको छोडकर शेपमेंसे आधे पहले परिहार संयमको ग्रहण करते है इसलिए उन्हे परिहारक कहते है। शेप उनके अनुपरिहारक होते है। जो पीछे परिहारसयम ग्रहण करते है वे अनुपरिहारक कहे जाते है। इस प्रकार कल्पस्थित होनेपर जो पीछे परिहार सयमके लिए अपनेको उपस्थित करते है उन्हे भी गणी अपने गणमें मिला लेता है। जितने साधु गणमे कम हुए है उतने प्रमाण गणको करके परिहारको और अनुपरिहारकोकी व्यवस्था गणी करता है। अत परिहार सयममे प्रवेश करनेवाले अनुपरिहारक एक दो अथवा बहुत होते है। यदि तीन होते है तो उनमेंसे एक गणी, दूसरा परिहारसयमका धारी और तीसरा अनुपरिहारक होता है। यदि पाँच होते है तो उनमे एक कल्पस्थित गणी, दो परिहारसयमके धारी और उन दोनोमे प्रत्येकका एक-एक अनुपरिहारक होता है। यदि सात होते है तो उनमे एक कल्पस्थित, तीन परिहारक और शेष तीन अनुपरिहारक होते है। यदि नौ हो तो एक कल्पस्थित, चार परिहारक और चार अनुपरिहारक होते है। छह महीने तक परिहार सयमी परिहार-सयममे निविष्ट होता है। उसके पश्चात् अनुपरिहारक परिहारसयममे प्रविष्ट होता है। उनके भी निर्विष्ट परिहारक होनेपर अन्य अनुपरिहारक परिहार सयममे प्रविष्ट होते है। वे भी छह मासमे निर्विष्ट परिहारक हो जाते है। पीछे कल्पस्थित परिहारमे प्रविष्ट होता है। उसका एक अनुपरिहारक और एक कल्पस्थित होता है। वह भी छह मासमे निविष्टपरिहारक होता है। इस प्रकार प्रमाणसे अठारह मास होते है।

विशेषार्थ—इसका खुलासा है कि परिहारविशुद्धि सयममे तीन मुनि धारण करनेवाले हों तो उनमेंसे एक कल्पस्थित होता है जो गणी कहाता है, दूसरा परिहारक होता है और तीसरा अनुपरिहारक है। सयममे प्रवेश करनेके छह मास बीतनेपर परिहारक निविष्ट हो जाता है तब अनुपरिहारक सयममे प्रवेश करता है। छह महीना बीतनेपर वह भी निविष्ट परिहारक हो जाता

१. तस्य गणस्य–आ० मु०। २. णा अग्रे–अ०। ३ रगते आ०।–रगे ते मु०। ४. पडिव–मु०।

लिङ्गादिकस्तेषामाचारो निरूप्यते—एकोपधिक अवसान लिङ्ग परिहारसंयताना । वसतिमाहार च मुक्त्वा नान्यद् गृह्णन्ति तृणफलकपीठकटकादिक । सयमार्थं प्रतिलेखन गृह्णन्ति । त्यक्तदेहाश्च चतुर्विधानुपसर्गान्सहन्ते । दृढधृतयो निरन्तर ध्यानावहिनचित्ता. । अस्ति नो बलवीर्यं सर्वगुणसमग्रता च । एवभूता अपि यदि गणे वसामो वीर्याचारो न प्रवर्तित स्यादिति मत्वा त्रय , पञ्च, सप्त, नव वा निर्यान्ति । रोगेण वेदनयोपहताश्च तत्प्रतिकार[1] च न कुर्वन्ति । प्रायोग्यमाहारं मुक्त्वा, वाचना प्रश्न परिवर्तना मुक्त्वा सूत्रार्थपौरुषीष्वपि सूत्रार्थमेवानुप्रेक्षन्ते । एव यामाष्टकेऽपि निरस्तनिद्रा ध्यायन्ति । स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिकाश्च क्रिया न सन्ति तेषा । यस्माच्छ्मशानमध्येऽपि ध्यान न प्रतिषिद्ध । आवश्यकानि यथाकाल कुर्वन्ति । कालद्वये कृतोपकरणशोधना अनुज्ञाप्य देवकुलादिषु वसन्ति । अनिर्ज्ञयमानस्वामिकेषु यस्येद सोऽनुज्ञान न करोतु इति वसन्ति[2] । आसीधिका च निषीधिका च निष्क्रमणे प्रवेशे च सपादयन्ति । निर्देशक मुक्त्वा इतरे दशविधे समाचारे वर्तन्ते । उपकरणादिदान, ग्रहण, अनुपालन, विनयो, वन्दना सल्लापश्च न तेषामस्ति सघेन सह । गृहस्थैरन्यलिङ्गिभिश्च दीयमान योग्य गृह्णन्ति । तैरपि न शेषोऽस्ति सभोग । तेषा त्रयाणा, पञ्चाना, सप्ताना, नवाना च परस्परेणास्ति सभोग ।

कप्पट्ठिदो णुकप्पी भुजणसघाडदाणगहणे वि ।
सवासवंदणालावणाहि भुंजन्ति अण्णोण्णं ॥

है । तब कल्पस्थित परिहारसयममे प्रवेश करता है । छह माह बीतनेपर वह भी परिहारमे निविष्ट होता है । इस प्रकार परिहारमे निविष्ट होनेमे तीन मुनियोको अठारह मास लगते है । इसी तरह पाँच, सात और नौ का भी अठारह मास काल जानना । इनका कथन अन्यत्र नही मिला ।

परिहारसयतोका लिगादिक आचार कहते है—

वसति और आहारके सिवाय अन्य तृणासन, लकडीका आसन, चटाई आदि ग्रहण नही करते । सयमके लिए पीछी ग्रहण करते है । शरीरसे ममत्व छोडकर चार प्रकारके उपसर्गोको सहते है । दृढ धैर्यशाली तथा निरन्तर ध्यानमे चित्त लगाते है । 'हममे बलवीर्य और सब गुणोकी पूर्णता है । ऐसे होते हुए भी यदि हम सघमे रहते है तो वीर्याचारका पालन नही होता ।' ऐसा मानकर तीन, पॉच, सात अथवा नौ सयमी एक साथ निकलते है । रोग और वेदनामे पीडित होने पर उसका इलाज नही करते । वाचना, पूछना और परिवर्तनोको छोडकर सूत्रार्थ और पौरुषीमे सूत्रार्थका ही चिन्तन करते है । आठो पहर निद्रा त्यागकर ध्यान करते है । स्वाध्याय काल और प्रतिलेखना आदि क्रिया उनके नही होती; क्योकि श्मशानमे भी उनके लिए ध्यानका निषेध नही है । यथासमय आवश्यक करते है । दोनो समय उपकरणोका शोधन करते है । आज्ञा लेकर देवालय आदिमे रहते है । जिन देवालयो आदि स्थानोके स्वामियोका पता नही होता, 'जिसका यह है वह हमे स्वीकारता दे' ऐसा कहकर निवास करते है । निकलते और प्रवेश करते समय आसीधिका और निषीधिका क्रिया करते है । निर्देशकको छोडकर शेष दस प्रकारके सामाचार करते है । उपकरण आदि देना, लेना, अनुपालन, विनय, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहार उनका सघके साथ नही होता । गृहस्थ अथवा अन्य लिंगियोके द्वारा दी हुई योग्य वस्तुको ग्रहण करते है । उनके साथ भी शेष सम्बन्ध नही होता । उनमेसे तीन, पाँच, सात अथवा नौ सयतोका परस्परमे व्यवहार होता है ।

कल्पस्थित आचार्य और परिहारसयमी परस्परमे सघाटदान सघाटग्रहण (सहायता देना

---

१ कारक च न अ०—कारक कचन—आ० । २ विर्शान्त मु० ।

संवाससवंदणोपावदाण अणुपालणाहि परिहारिं ।
अणुपरिहारी भुंजदि निवसमाणो वदणसंवासालावणाहिं ॥
कप्पट्ठिद भुंजदि अणुपरिहारिं पि गहणासंवासठाणाहिं तु ।
णिव्विसमाणो णिव्विसमाण संवासदो ण अण्णेण ॥
कप्पट्ठिदो भुंजदि संवासणुपासणगिराहिं ।
कप्पट्ठदोणुकप्पीव वंदिदा वेंति धम्मलाहोत्ति ॥
गारत्थि अण्णतित्थी अण्णतित्थीहि निव्विसंतो ।
[1]पत्तसुणीको सव्वो वि विणयं अण्णोण्णं गण वावंति ॥
वट्ठूण व सोदूण व जत्थ हु साधम्मिग्गो वसदि खेत्तो ।
त ण [2]पविसति खेत्त कुदो [3]पुणो वंदणावोगं ॥
एव कल्पोक्तः क्रमः सर्वोऽनुगन्तव्यः ।

मौनाभिग्रहरनास्तिस्रो भाषा मुक्त्वा प्रष्टव्याहूतिमनुज्ञाकरणी प्रश्ने[4] प्रवृत्ता च मार्गस्य शकितस्य वा योग्यायोग्यत्वेन शय्याधरगृहस्य, वसतिस्वामिनो वा प्रश्न । ग्रामाद्वहि श्मशान, शून्यगृह, देवकुल, गुहा वा आगन्तुकगृह, तरुकोटर वा अनुज्ञापयन्त्येकवार । कस्त्व, कुतो वागच्छसि, गमिष्यसि वा क देश, कियच्चिर-मत्र वसतिर्यूय कतिजना इति प्रश्ने श्रमणोऽहमित्येकमेव प्रतिवचन प्रयच्छन्ति । उत्तरत्र तूष्णीभाव । इतोऽव-काशादपसर्पण कुरु, स्थानमिद प्रयच्छ, परिपालय त्वमित्येवमादिका वाग्व्यापारो यत्र तत्र न वसन्ति । गोचर्या यद्यपर्याप्ता तृतीययामे गव्यूतिद्वय यान्ति । वर्षमहावातादिभिर्यदि व्याघातो गमनस्य अतीतगमनकालास्तत्रै तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिव्यालागमने यदि ते भद्रा युगमात्र अपसर्पन्ति । दुष्टाश्चेत्पदमात्रमपि न चलन्ति । नेत्रयो-

सहायता लेना), निवास, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहार करते है । अनुपरिहार सयमी परिहार-सयमीके साथ सवास, वन्दना, दान, अनुपालना आदिसे व्यवहार करते है । कल्पस्थित भी अनु-परिहारसयमीके साथ व्यवहार करता है । वन्दना करनेपर धर्मलाभ कहता है । एक दूसरेको देखकर सब परस्परमे विनय करते है । जहाँ अधार्मिकजन बसते है वहाँ वे प्रवेश नही करते । इस प्रकार सब कल्पोक्त क्रम जानना चाहिए ।[5]

ये तीन भाषाओको छोड सदा मौनसे रहते है । वे तीन भाषाएँ है—पूछनेपर उत्तर देना, माँगना और स्वय पूछना । मार्गमे शका होनेपर मार्ग पूछना पडता है ये उपकरणादि योग्य है या अयोग्य, यह पूछना होता है । शय्याधर, जो वसतिकासे सम्बद्ध होता है उसका घर पूछना होता है वसतिका स्वामी कौन है यह पूछना होता है । गाँवसे बाहर स्मशान, शून्यघर, देवालय, गुफा, आनेवालोके लिए बना घर, अथवा वृक्षके खोलमे निवास करते समय 'हमे अनुज्ञा दे' ऐसा एकबार कहना होता है । 'तुम कौन हो, कहाँसे आते हो, कहाँ जाओगे, यहाँ कितने समय तक ठहरोगे, तुम कितने जन हो' इस प्रकारके प्रश्न होनेपर 'हम श्रमण है' यह एक ही उत्तर देते है । शेषमें चुप रहते है । 'इस स्थानसे चले जाओ, यह स्थान हमे दो, जरा घर देखना' इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ होता है वहाँ नही ठहरते । गोचरी यदि नही मिलती तो तीसरे पहर दो गव्यूति जाते हैं । यदि वर्षा, आँधी आदिसे गमनमे बाधा होती है तो जहाँतक गमन किया है वही ठहर जाते हैं । व्याघ्र आदि पशुओके आनेपर यदि वे भद्र होते है तो मुनि चार हाथ चलते है और

१ पत्तसुणीको–आ० मु० । २ पससन्ति–आ० मु० । ३ कुदो हु णो–आ० मु० ।
४ प्रश्ने प्रवर्तते वा मा–आ० । ५ इन गाथाओका यथार्थ भाव स्पस्ट नही हो सका है—अनुवादक ।

धूलिप्रवेशे सकण्टकादिविद्धे वा स्वय न निराकुर्वन्ति । परे यदि निराकुर्युस्तूष्णीमवतिष्ठन्ते । तृतोययाम एव नियोगतो भिक्षाय गच्छन्ति । यत्र क्षेत्रे षट्गोचर्या अपुनरुक्ता भवन्ति तत्क्षेत्रमावासप्रयोग्य शेषमयोग्यमिति वर्जयन्ति ।

क्षेत्रं, तीर्थं, कालश्चारित्र, पर्याय, श्रुतं, वेद, लेश्या, ध्यान, सहनन, सस्थान, आयामो गात्रस्य, आयु, लब्धय, अतिशयज्ञानोत्पत्ति, सिद्धिरित्येतेऽनियोगा इहानुगन्तव्या । क्षेत्रत भरतैरावतयो, प्रथम-पाश्चात्ययो तीर्थे, उत्सर्पिणी-अवसर्पिण्यो कालत, छेदोपस्थापनाप्रभवाश्चारित्रत, प्रथमतीर्थकरकाले देशोन-पूर्वकोटीकायकाल । विशतिवर्षाग्र शतवर्षकाल पाश्चात्यतीर्थे । जन्मतस्त्रिशद्वर्षाः पर्यायत एकोनविंशति-वर्षा । श्रुतेन च दशपूर्विण, वेदेन पुरुषवेदा, लेश्यातस्तेज पद्मशुक्ललेश्या, धर्मध्यानपरा ध्यानत, आद्यत्रिक-सहनना षट्स्वन्यतरसस्थाना । सप्तहस्तादिपञ्चधनु शतायता अष्टादशमासा पूर्वकोटो वा आयु । चारणताहारसिद्धि, विक्रियाहारर्द्धिश्च लब्धयः । अवधिमनःपर्ययं केवल वा योगसमाप्तौ प्राप्नुवन्ति । सिद्धयन्ति वा परेषां । सक्षेपत परिहारविधिवर्णना ।

जिनकल्पो निरूप्यते—जितरागद्वेषमोहा, उपसर्गपरिषहारिवेगसहा, जिना इव विहरन्ति इति जिन-कल्पिका एक एवेत्यनिशयो जिनकल्पिकाना । इतरो लिङ्गादिराचार प्रायेण व्यावर्णितरूप एव ।

क्षेत्रादिभिर्निरूप्यते—सवधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति जिनकल्पिका । काल सर्वदा । सामायिकच्छेदोपस्थापने वा

यदि दुष्ट हुए तो एक पग भी नही चलते । नेत्रोमे धूल चले जानेपर या काँटा आदि लग जानेपर स्वयं नही निकालते । यदि दूसरे निकालते है तो चुप रहते है । नियममे तीसरे पहरमे ही भिक्षाके लिए जाते है । जिस क्षेत्रमे छह भिक्षाएँ अपुनरुक्त होती है अर्थात् भिन्न-भिन्न घरोसे मिल जाती है वह क्षेत्र निवासके योग्य होता है, शेष अयोग्य होता है उसे छोड देते है ।

क्षेत्र, तीर्थ, काल, चारित्र, पर्याय, श्रुत, वेद, लेश्या, ध्यान, सहनन, सस्थान, शरीरकी लम्बाई, आयु, लब्धि, अतिशय ज्ञानोत्पत्ति सिद्धि ये अनुयोग यहाँ जानना चाहिए । क्षेत्रकी अपेक्षा भरत और ऐरावत क्षेत्रमे, प्रथम और अन्तिम तीर्थकरके तीर्थमे, कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमे, चारित्रकी अपेक्षा छेदोपस्थापना चारित्रसे उत्पन्न होते है । प्रथम तीर्थ-करके कालमें उनकी आयु कुछ कम एक पूर्वकोटि और अन्तिम तीर्थकरके कालमे एक सौ बीस वर्ष होती है । जन्मसे तीस वर्षतक भोग भोगते है और मुनिपर्याय उन्नीस वर्ष होती है । श्रुतसे दस पूर्वके पाठी होते है । वेदसे पुरुषवेदी होते है । लेश्यासे तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले होते है । ध्यानसे धर्मध्यानी होते है । आदिके तीन सहननवाले होते है और छह सस्थानोमेसे कोई एक सस्थान होता है । सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष लम्बे होते है । परिहारसयमके कालसे जघन्य आयु अठारह मास और उत्कृष्ट आयु परिहारसयम होनेसे पूर्वके वर्षोसे हीन एक पूर्वकोटी होती है । चारण ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि और आहार ऋद्धियाँ होती है ।

परिहारविशुद्धिरूप योगके पूर्ण होनेपर अवधिज्ञान, मनःपर्यय वा केवलज्ञानको प्राप्त होते है । मोक्ष भी प्राप्त करते है । यह सक्षेपसे परिहारविशुद्धिका वर्णन है ।

अब जिनकल्पको कहते है—रागद्वेष मोहको जीतते है, उपसर्ग और परीषहरूपी शत्रुओके वेगको सहते है । जिनके समान एकाकी ही विहार करते है इसलिए जिनकल्पिक होते है । यही जिनकल्पिकोकी विशेषता है । शेष लिंगादि आचार प्राय. उक्त प्रकार ही है ।

क्षेत्र आदिकी अपेक्षा कथन करते है—जिनकल्पी समस्त कर्मभूमियोमे होते है । सर्वदा

चारित्रत । सर्वतीर्थेषु तीर्थतः । जन्मना त्रिंशद्वर्षा । श्रामण्यत एकान्नविंशतिवर्षा । नवदशपूर्वधारिण । तेजःपद्मशुक्ललेश्या । धर्मशुक्लध्याना । प्रथमसहनना , षट्स्वन्यतरसंस्थाना । सप्तहस्तादिपञ्चधनु शतायामा । भिन्नमुहूर्तादिन्यूना पूर्वकोटि काल । विक्रियाहारकचारणताक्षीरास्राविस्वादिकाश्च तपसा लब्धयो जायन्ते । विरागास्तु न सेवन्ते । अवधिमन पर्यय केवल वा प्राप्नुवन्ति केचित । ये केवलिनस्ते नियमत सिध्यन्ति ॥१५७॥

एवमथालन्दादिक प्रतिपद्य चारित्रविधि मयोत्साह कर्तव्य इति विचारयति—

एवं विचारयित्ता सदिमाहप्पे य आउगे असदि ।
अणिगूहिदबलविरिओ कुणदि मदिं भत्तवोमरणे ॥१५८॥

'**एवं विचारयित्ता**' एवमुक्तेन प्रकारेण । '**विचारयित्ता**' विचार्य । '**सदिमाहप्पे य**' स्मृतिमाहात्म्ये च सति । '**आउगे असदि**' आयुष्यसति दीर्घे । '**अणिगूहिदबलविरिओ**' असवृतबलसहाय वीर्यं आहारव्यायामाभ्या कृतं बल । '**कुणइ**' करोति । '**मइ**' मति । '**भत्तवोसरणे**' भज्यते सेव्यते इति भक्त आहार । तस्य त्याग आहारेण समयसाधनेन शरीरस्थिति चिर कृत्वा स्वपरोपकार कृत । आयुष्यल्पे न शरीरमवस्थातुमलमाहारग्रहणेऽपि । तेन त्याज्यो मयाहार इति भावोऽस्य । अत एव सूत्रकारेणेदमुक्त '**दीहो परियाओ**' इति । अवशिष्टकालाल्पताख्यापनाय न केवलमायुषोऽल्पता एव भक्तत्यागमते कारण, अपि तु अन्यदपीति ॥१५८॥

होते है । सामायिक अथवा छेदोपस्थापना चारित्रवाले है । सब तीर्थङ्करोके तीर्थमे होते है । जन्मसे तीस वर्ष और मुनिपदसे उन्नीस वर्षके होते है । नव-दस पूर्वके धारी होते है । तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले होते है । धर्मध्यानी और शुक्लध्यानी होते है । प्रथम सहनन होता है और छह संस्थानोमेसे कोई एक सस्थान होता है । सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष तक लम्बे होते है । अन्तमुहूर्त आदिसे न्यून एक पूर्वकोटिकाल होता है । तपसे विक्रिया, आहारक, चारण और क्षीरास्रवित्व आदि लब्धियाँ उत्पन्न होती है किन्तु विरागी होनेसे उनका सेवन नही करते । कोई-कोई अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञानको प्राप्त करते है । जो केवलज्ञानी होते है वे नियमसे मोक्ष जाते है ॥१५७॥

इस प्रकार अथालंदिक आदि चारित्रकी विधिको धारण करके मुझे उत्साह करना चाहिए, ऐसा विचार करते है—

गा०—उक्त प्रकारसे विचार करके स्मृतिका माहात्म्य होनेपर और आयुके अल्प होने पर अपने बल और वीर्यको न छिपाता हुआ मुनि भक्त प्रत्याख्यानमे मति करता है ॥१५८॥

टी०—उक्त प्रकारसे विचार करके स्मृतिका माहात्म्य होने पर आयुके लम्बा न होने पर बल और वीर्यको न छिपाता हुआ भक्त प्रत्याख्यानमें मति करता है । आहार और व्यायामसे जो शारीरिक शक्ति होती है उसे बल कहते हैं । और बलका सहायक वीर्य होता है । 'भज्यते' अर्थात् जो सेवन किया जाता है उसे भक्त कहते है उसका अर्थ आहार है उसका त्याग भक्त प्रत्याख्यान है । आहारके द्वारा शरीरकी स्थितिको लम्बी करके अपना और परका उपकार किया । आयुके थोडा रह जाने पर आहार ग्रहण करने पर भी शरीर नही ठहरता । अत मैं आहारका त्याग करता हूं यह इसका भाव है । इसीसे ग्रन्थकारने शेष बचे कालकी अल्पता बतलानेके लिए 'दीहो परियाओ'

पुव्वुत्ताणण्णदरे सल्लेहणकारणे समुप्पण्णे ।
तह चेव करिज्ज मदिं भत्तपइण्णाए णिच्छयदो ॥१५९॥

'**पुव्वुत्ताणण्णदरे**' पूर्वमुक्ताना '**वाहीव दुप्पसज्झा**' इत्यादीना मध्ये अन्यतरस्मिन् । '**सल्लेहणकारणे**' सम्यक् कायकषायतनूकरण सल्लेखना तस्या कारणे वा । '**समुप्पण्णे**' समुपस्थिते । '**तह चेव**' तथैव च । यथाल्प आयुषि करोति भक्तत्यागे मति तथैव '**णिच्छयदो भत्तपइण्णाए मदिं करेज्ज**' निश्चयतो भक्तप्रत्याख्याने मति कुर्यात् । एतद्गाथाद्वय सूत्रकारवचनम् ॥१५९॥

आराधकस्य मन प्रणिधान प्रदर्शयति---

जाव य सुदी ण णस्सदि जाव य जोगा ण मे पराहीणा ।
जाव य सड्ढा जायदि इंदियजोगा अपरिहीणा ॥१६०॥

'**जाव य सुई ण नस्सदि**' यावत्स्मृतिर्न नश्यति । रत्नत्रयाराधनगोचरा अनुभूतविषयग्राहिणी तदित्थभूतमिति प्रवर्तमाना स्मृतिरित्युच्यते मतिविज्ञानविकल्प. । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धान दर्शन, तद्याथात्म्यावगमो ज्ञान, समता चारित्रमिति । श्रुतेनावगते परिणामत्रये यदुपजायते स्मार्त ज्ञान तदिह स्मृतिरित्युच्यते । स्मृतिमूलो व्यवहार , स्मृतौ नष्टाया न स्यादिति, स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारम्या मया सल्लेखनेति चिन्त्यम् । '**जाव य**'

कहा है । भक्त त्यागकी मति होनेका कारण केवल आयुका कम रह जाना ही नही है किन्तु अन्य भी कारण है ॥१५८॥

विशेषार्थ—स्मृति माहात्म्यसे आशय है—जिनागमके रहस्यका उपदेश सुननेसे जो उसका सस्कार रहा, उसके प्रभावसे 'मै मरते समय अवश्य विधिपूर्वक सल्लेखना करूँगा' ऐसा जो विचार किया था, उसका स्मरण भो भक्त प्रत्याख्यानका कारण होता है ।

गा०—पहले कहे गये कारणामे से किसी एक सल्लेखनाके कारणके उपस्थित होने पर उसी प्रकार निश्चयसे भक्त प्रत्याख्यानमे मति करे ॥१५९॥

टी०—पहले सल्लेखनाके जो कारण 'असाध्य बीमारी' आदि कहे है उनमेसे किसी एक कारणके उपस्थित होने पर भी वैसे ही भक्त प्रत्याख्यानका विचार करना चाहिए जैसा आयुके अल्प रहने पर किया है ॥१५९॥

आराधकके मनकी दृढता बतलाते है—

गा०—जब तक स्मृति नष्ट नही होती, जब तक मेरे आतापन आदि योग पराधीन नही होते, जब तक श्रद्धा रहती है, इन्द्रियोका अपने विषयोसे सम्बन्ध हीन नही होता ॥१६०॥

टी०—पहले अनुभवमे आये विषयको ग्रहण करने वाली और 'वह वस्तु' इस प्रकार प्रवृत्ति वाली स्मृति होती है । यह मतिज्ञानका विकल्प है । यहाँ रत्नत्रयकी आराधना विषयक स्मृति ग्रहण की है । वस्तुके यथार्थ स्वरूपके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है और उसके यथार्थ स्वरूपके जाननेको ज्ञान कहते हैं । तथा समताको चारित्र कहते है । श्रुतके द्वारा जाने गये रत्नत्रय रूप परिणाममे जो स्मृतिज्ञान होता है उसे यहाँ स्मृति कहा है । व्यवहारका मूल स्मृति है । स्मृतिके नष्ट होने पर व्यवहार नही होता । अतः स्मृतिके रहते हुए कालमे ही मुझे सल्लेखना प्रारम्भ

यावच्च । 'जोगा' योगा आतापनादय. । 'ण मे पराहीणा' न मे परायत्ता शक्तिवैकल्यात् । विचित्रेण तपसा निर्जरा विपुला कर्तुकामस्य मम तपोऽतिचारे सा न भवतीति यावन्निरतिचार इद तपस्तावत्सल्लेखना करोमीति कार्या चिन्ता । 'जाव य सड्ढा जायदि' यावच्छ्रद्धा जायते रत्नत्रयमाराधयितु । 'तावखमं मे काउमिति' वक्ष्यमाणेन सम्बन्ध. । उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभा प्राणिना सुहृदो विद्वान्स इव । मूल ता श्रद्धाया, न च विनष्टा सा पुनर्लभ्यते . न च तामन्तरेणातिशयवतामाहारत्याग सुखेन सपाद्यते । 'इंदियजोगा' इन्द्रियाणा चक्षुरादीना रूपादिभिर्विषयैं सम्बद्धा 'अपरिहीणा' हीना न भवन्ति । दृक्श्रोत्रेन्द्रियाणामपाटवे दर्शनश्रवणाभ्या परिहार्योऽसंयम कथ परिह्रियते । दृष्ट्वा श्रुत्वा स इदमयोग्यमिति वेत्ति नान्यथा ॥१६०॥

जाव य खेमसुभिक्खं आयरिया जाव णिज्जवणजोग्गा ।
अत्थि ति गारवरहिदा णाणचरणदंसणविसुद्धा ॥१६१॥

'जाव य खेमसुभिक्खं' यावच्च क्षेमसुभिक्ष, स्वचक्रोपद्रवस्य व्याधेर्मार्याश्चाभाव क्षम इत्युच्यते । प्रचुरधान्यता सुभिक्षत्वम् । एतदुभयमन्तरेण दुलभा निर्यापका, तानन्तरेण चतुष्काराधना । 'आयरिया जाव' आचार्या यावन् 'अत्थि' सन्ति । कीदृग्भूता 'णिज्जवणजोग्गा' निर्यापकत्वयोग्या । 'तिगारवरहिदा' गारवत्रयरहिता ऋद्धिरससातगुरुका ये न भवन्ति । ऋद्धिप्रियो ह्यसयतमपि जन निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वय च नासयमभीरुर्भवति । असयमकारण अनुमनन च न परिहरतीति । रससातगुरुकी क्लेशासहो आराध-

करनी चाहिए ऐसा विचार करे । जब तक मेरे आतापन आदि योग शक्तिकी कमीसे पराधीन नही होते । मै अनेक प्रकारके तपसे बहुत निर्जरा करना चाहता हूँ किन्तु तपमे दोष लगने पर बहुत निर्जरा नही हो सकती । इसलिए जब तक तप निरतिचार है तब तक सल्लेखना कर लेना चाहिए, ऐसी चिन्ता करना उचित है । जब तक श्रद्धा रत्नत्रयकी आराधना करनेकी है 'तब तक मै करनेमे समर्थ हूँ ऐसा आगे कहेगे, उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए । जैसे विद्वान् मित्र दुर्लभ है वैसे ही प्राणियोको उपशमलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि दुर्लभ है । वे लब्धियाँ श्रद्धाका मूल है । एक बार उस श्रद्धाके नष्ट हो जाने पर उसका पुन प्राप्त होना दुर्लभ है । श्रद्धाके बिना अतिशय शालियोका भी आहारत्याग सुखपूर्वक सम्पन्न नही होता । चक्षु आदि इन्द्रियोका रूपादि विषयोके साथ सम्बन्धको इन्द्रिययोग कहते है । वे जब तक हीन नही होते, चक्षु और कर्ण इन्द्रियके अपने विषयको ग्रहण करनेमे असमर्थ होने पर देखने और सुननेसे दूर होने वाला असयम कैसे दूर किया जा सकता है । देख और सुनकर 'यह अयोग्य है' ऐसा ज्ञान होता है, अन्यथा नही होता ॥१६०॥

गा०—जब तक क्षेम और सुभिक्ष है, जब तक आचार्य निर्यापकत्वके योग्य तीन गारवोसे रहित निर्मल ज्ञान चारित्र और दर्शनवाले है ॥१६१॥

टी०—जब तक क्षेम और सुभिक्ष है । अपने देश और परदेशकी सेनाके उपद्रव और मारी रोगके अभावको क्षेम कहते है । और धान्यकी बहुतायतको सुभिक्ष कहते है । इन दोनोके बिना निर्यापकोका मिलना दुर्लभ है और उनके बिना चार प्रकारकी आराधना दुर्लभ है । तथा आचार्य निर्यापकत्वके योग्य जब तक है तथा ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारवसे जो रहित होते हैं । जो आचार्य ऋद्धिप्रिय होता है वह असंयमी जनको भी निर्यापक बना देता है । और स्वयं भी असंयमसे नहीं डरता । तथा ऐसी अनुमति, जो असयममे कारण होती है, देनेका त्याग नहीं

कस्य शरीरपरिकर्म कथं कुरुत ? किं च स्वयं सरागो वैराग्यं परस्य संपादयत्येवेति न नियोगोऽस्ति । **'णाणचरणदंसणविसुद्धा'** ज्ञानचारित्रदर्शनेषु विशुद्धा निर्मला । जीवादियाथात्म्यगोचरता ज्ञानस्य शुद्धिः । दर्शनस्यापि समीचीनज्ञानसहभाविता, अरक्तद्विष्टता च चारित्रशुद्धिः । शुद्धज्ञानचरणदर्शनशुद्धा चारित्रशुद्धा भण्यन्ते । यथा प्रकृष्टशुक्लगुणयोगाच्छुक्लतम इत्युच्यते पटादि ॥१६१॥

तावं खमं मे कादुं सरीरणिक्खेवणं विदुपसत्थं ।
समयपडायाहरणं भत्तपइण्णं णियमजण्णं ॥१६२॥

'ताव खमं मे काउं' तावद्युक्तं कर्तुं मम । किं ? **'सरीरणिक्खेवणं'** शरीरनिक्षेपणं शरीरत्यजनं । **विदुपसत्थं'** विद्वज्जनस्तुतं आत्महितत्वात् । **'समयपडागाहरणं'** समयः सिद्धान्तः, तस्मिन् कीर्तिता पताका आराधना पताकेव पताका उपमार्थः । यथा पताका वस्त्रादिरचिता जयादिकं प्रकटयति । एवमियं आराधनापि भवनिर्मुक्तिं प्रकटयति । तस्या हरणं ग्रहणं । **'भत्तपइण्णं'** भक्तप्रत्याख्यानं **'णियमजण्णं'** व्रतयज्ञः । ननु शरीरत्यागोऽन्यः, अन्या ज्ञान-श्रद्धान-तपःसु परिणतिरन्यद् भक्तत्यजनं, अन्यानि च व्रतानि तत्कथं समानाधिकरणनिर्देशः ? अत्रोच्यते-प्रत्येकमभिसम्बन्धः कार्यः । **'ताव खमं मे काउं'** इत्यनेन शरीरनिक्खेवण इत्यादीनां । ततोऽयमर्थः-शरीरत्यजनं, सम्यग्दर्शनादिपरिणमनं, भक्तप्रत्याख्यानं, व्रतयज्ञश्च तावत्कर्तुं मम युक्तमिति ॥१६२॥

करता । जो आचार्य रसप्रेमी और सुख प्रेमी है वे सल्लेखना करनेवाले आराधकके शरीरकी सेवा कैसे करेंगे ? दूसरे, जो स्वयं सरागी है वह दूसरेको वैराग्य उत्पन्न कराता ही ऐसा कोई नियम नहीं है । तथा आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें विशुद्ध होना चाहिए । जीवादिके यथार्थ स्वरूपको जानना ज्ञानकी शुद्धि है । समीचीन ज्ञानका सहभावी होना दर्शनकी शुद्धि है । और राग-द्वेषका न होना चारित्रकी शुद्धि है । जिनका ज्ञान दर्शन चारित्र शुद्ध होता है वे शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र वाले कहे जाते हैं । जैसे उत्कृष्ट शुक्ल गुणके सम्बन्धसे वस्त्र आदि 'शुक्लतम'— अत्यन्त सफेद कहे जाते हैं ॥१६१॥

गा०—तब तक मुझे शरीरका त्याग, विद्वानोंसे स्तुत, आगममें कही गई आराधना रूपी पताकाका ग्रहण, व्रत यज्ञ तथा भक्त प्रत्याख्यान करना युक्त है ॥१६२॥

टी०—भक्त प्रत्याख्यान तब तक मुझे करना उचित है, यह पूर्व गाथाओंसे सम्बद्ध है । यह भक्त प्रत्याख्यान शरीरके त्यागरूप है क्योंकि शरीरको त्यागनेके लिए ही किया जाता है । विद्वानोंसे प्रशंसनीय है क्योंकि आत्माके हित रूप है । तथा समय अर्थात् सिद्धान्तमें आराधनाको पताका कहा है । जैसे वस्त्रादिसे बनी पताका जयको प्रकट करती है वैसे ही यह आराधना भी संसारसे निर्मुक्तिको प्रकट करती है । भक्त प्रत्याख्यान उस पताको ग्रहण करने रूप है ।

शंका—शरीरका त्याग अन्य है, ज्ञान श्रद्धान और तप करना अन्य है, भोजनका त्याग अन्य है और व्रत अन्य है । ये सब भिन्न हैं तब कैसे इनका समानाधिकरण रूपसे निर्देश किया है ?

समाधान—'तब तक मुझे करना युक्त है । इसके साथ शरीर त्याग आदि प्रत्येकका सम्बन्ध करना चाहिए । तब ऐसा अर्थ होता है—शरीरका त्याग, सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणमन, भक्त प्रत्याख्यान और व्रतयज्ञ मुझे तब तक करना युक्त है ॥१६२॥

व्यावर्णितस्य परिणामस्य गुणमाहात्म्यकथनायोत्तरगाथा—

एवं सदिपरिणामो जस्स दढो होदि णिच्छिदमदिस्स ।
तिव्वाए वेदणाए वोच्छिज्जदि जीविदासा से ॥१६३॥

'एवं सदिपरिणामो' व्यावर्णितस्मृतिपरिणामो य [1] स्मार्तज्ञानमेव परिणाम । **'जस्स दढो होज्ज'** [2]यस्य तैर्दृढो भवेत् । **'णिच्छियमदिस्स'** निश्चितमते । करिष्याम्येव शरीरनिक्षेपण इति कृतनिश्चयस्य । **'जीविदासा वोच्छिज्जइ'** जीविते आशा व्युच्छिद्यते । **'तिव्वाए वेदणाए'** तीव्रायामपि वेदनायामुदीर्णायां । एतत्प्रतीकार कृत्वा जीवामीति चिन्ता न भवति । **'से'** तस्येति जीविताशाव्युच्छेदो गुण सूचित । परिणाम गद ॥१६३॥

'उवधि जहणा' इति पदं व्याचष्टे प्रबन्धेन—

संजमसाधणमेत्तं उवधिं मोत्तूण सेसयं उवधिं ।
पजहदि विसुद्धलेस्सो साधू मुत्तिं गवेसंतो ॥१६४॥

'संजमसाहणमेत्तं'—सयम साध्यते येनोपकरणेन तावन्मात्र कमण्डलुपिच्छमात्र । **'उवधिं'** परिग्रह **'मोत्तूण'** मुक्त्वा । **'सेसयं'** अवशिष्ट । **'उवधिं'** अवशिष्ट उपधिर्नाम पिच्छान्तर कमण्डल्वन्तर वा तदानी सयमसिद्धौ न कारणमिति सयमसाधनं न भवति । येन साम्प्रत सयम साध्यते तदेव सयमसाधन अथवा ज्ञानोपकरण अवशिष्टोपधिरुच्यते । **'पजहइ'** प्रकर्षेण योगत्रयेण त्यजति । **'विसुद्धलेस्सो'** विशुद्धलेश्य । **'साहू'** साधु । **'मुत्ति'** मुक्ति कर्मणामपायं । **'गवेसंतो'** मृगयन् । लोभकषायेणाननुरंजिता योगवृत्तिरिह विशुद्धलेश्या

ऊपर कहे परिणामके गुणोका माहात्म्य कहनेके लिए गाथा कहते है –

गा०—ऊपर कहा स्मृति परिणाम 'मै शरीरत्याग करूँगा ही' ऐसा निश्चय करनेवालेके दृढ होता है। उसके तीव्र वेदना होनेपर जीवनकी आशा नष्ट हो जाती है ॥१६३॥

टी०—'मै शरीरका त्याग करूँगा ही' ऐसा जो दृढ निश्चय कर लेता है तीव्र भी वेदनाके होनेपर मै उसका प्रतीकार करके जीवित रहूँ ऐसी चिन्ता उसे नही होती। अत. 'जीवनकी आशाका विनाश' उसका गुण सूचित किया है ॥१६३॥

'उवधिजहण' अर्थात् परिग्रहत्यागका विस्तारसे कथन करते है—

गा०—मुक्तिको खोजनेवाला विशुद्ध लेश्यासे युक्त साधु सयमके साधनमात्र परिग्रहको छोडकर शेष परिग्रहको प्रकर्ष अर्थात् मन-वचन-कायसे त्याग देता है ॥१६४॥

टी०—जिस उपकरणसे सयमकी साधना की जाती है वह उपकरण कमण्डलु और पीछीमात्र है। उनको छोडकर जो शेष परिग्रह है—दूसरी पीछी दूसरा कमण्डलु, वह उस समय संयमकी सिद्धिमे कारण न होनेसे सयमका साधन नही है। जिससे वर्तमानमे सयमकी साधना होती है वही सयमका साधन है। अथवा शेष परिग्रहमे ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदि कहे है क्योकि समाधिके समय उनका उपयोग नहीं रहता। मुक्ति अर्थात् कर्मोंका विनाश करनेका इच्छुक साधु पीछी कमण्डलुमात्र परिग्रहके सिवाय शेष परिग्रहको मन-वचन-कायसे छोडता है। वह साधु विशुद्धलेश्यासे युक्त होता है। यहाँ लोभकषायसे अननुरंजित (नही रंगी हुई अर्थात् लोभरहित)

१ यस्मात्तज्ज्ञा–आ० मु० २. यस्य स्मृतेर्दृ–आ० मु०।

गृहीता । सा हि परिग्रहत्यागे प्रवर्तयत्यात्मानमिति ॥१६४॥

वसत्यादिक तर्हि त्याज्यतया नोपदिष्टमिति आशङ्किते इति तत्त्यागमुपदिशति—

अप्पपरियम्म उवधिं बहुपरियम्म च दोवि वज्जेइ ।
सेज्जा सथारादी उस्सग्गपदं गवेसंतो ॥१६५॥

'**अप्पपरियम्म उवधि**' अल्पपरिकर्म निरीक्षणप्रमार्जनविधूननादिक यस्मिन्त परिग्रह । '**बहु**' महत् परिकर्म यत्र त च । '**दो वि**' द्वावपि '**वज्जेदि**' वर्जयति मनोवाक्कायै । '**सेज्जासथारादी**' वसतिसस्तरादिक । '**उस्सग्गपदं**' उत्सर्जन त्याग तदेव पद । परिग्रहत्यागपदान्वेषणकारीति यावत् । गाथाद्वयेनातिक्रान्तेन द्रव्योपधित्यागो व्याख्यात । इयता परिसमाप्त परिग्रहत्याग ॥१६५॥

पंचविहं जे सुद्धिं अपाविदूण मरणमुवणमन्ति ।
पंचविहं च विवेगं ते खु ममाधिं ण पावेन्ति ॥१६६॥

'**पचविहं जे सुद्धि**' इत्यादिना कि प्रतिपाद्यते पूर्वमसूचितमिति । अत्रोच्यते—योग्योपादनमेवायोग्यत्यागस्तत्परिहार इत्युपधित्याग एवाख्यायते उत्तरग्रन्थेनापि । '**पंचविहं**' पञ्चप्रकारा । '**सुद्धि**' शुद्धि । '**अपाविदूण**' अप्राप्य । '**जे**' य । '**मरण**' मृति । '**उवणमंति**' प्राप्नुवन्ति । '**पंचविहं**' पञ्चविध च '**विवेगं**' विवेक, '**परिहरणं**' पृथग्भाव, अप्राप्य मृतिमुपयान्ति । **खु** शब्द एवकारार्थ । स च क्रियापदात्परतो योज्यः ।

मन-वचन-कायकी वृत्तिको विशुद्धलेश्या कहा है; क्योंकि वह जीवको परिग्रहके त्यागमे प्रवृत्त करती है ॥१६४॥

यहाँ कोई शका करता है कि वसति आदिको तो त्याज्य नही कहा ? इससे उसके त्यागका उपदेश करते है—

गा०—परिग्रहत्याग पदका अन्वेषण करनेवाला साधु अल्पपरिकर्मवाले और बहुत परिकर्मवाले दोनो ही प्रकारके परिग्रहोको जिनमें वसति सस्तर आदि भी है, मन-वचन-कायसे त्याग देता है ॥१६५॥

टी०—जिसमे देखना, साफ करना, झाडना आदि कम करना होता है वह परिग्रह अल्पपरिकर्मवाला होता है। और जिसमे यह बहुत करना होता है वह बहुत परिकर्मवाला है। परिग्रहत्यागपदका खोजी साधु दोनोको ही मन-वचन-कायसे त्यागता है। अत वसति सस्तर आदि भी त्याग देता है। इन दो गाथाओसे द्रव्यपरिग्रहके त्यागका कथन किया। यहाँ तक परिग्रहत्यागका प्रकरण समाप्त होता है ॥१६५॥

गा०—जो पाँच प्रकारकी शुद्धियोको और पाँच प्रकारके विवेकको प्राप्त किये विना मरणको प्राप्त होते हैं, वे समाधिको नही ही प्राप्त होते है ॥१६६॥

टी०—**शंका**—'पञ्चविह जे सुद्धि' इत्यादिके द्वारा पहले सूचित किये विना क्या कह रहे है ?

समाधान—योग्यका ग्रहण ही अयोग्यका त्याग है। अत: आगेके ग्रन्थसे भी परिग्रहका त्याग ही कहा है। जो पाँच प्रकारकी शुद्धि और पाँच प्रकारके विवेक अर्थात् भिन्नपनेको प्राप्त किये विना मरते है वे समाधिको प्राप्त नही ही होते। गाथामे आये 'खु' शब्दका अर्थ 'ही' है और

समाधि न प्राप्नुवन्त्येवेति। उपधिपरित्यागाभावे अभिमतसमाध्यभावो दोष आख्यात ॥१६६॥

पंचविहं जे सुद्धिं पत्ता णिखिलेण णिच्छिदमदीया।
पंचविहं च विवेगं ते हु समाधिं परमुवेंति ॥१६७॥

के समाधि प्राप्नुवतीत्यत्र आह–'**पचविहं**' पञ्चविधा, '**जे सुद्धि पत्ता**' ये शुद्धि प्राप्ता । '**णिखिलेण**' साकल्येन। '**णिच्छियमईगा**' निश्चितमतय । '**पचविहं**' पञ्चविध च '**विवेगं**' विवेक **ते हु समाहि परमुवेंति** ते स्फुटं समाधि परमुपयान्ति ॥१६७॥

का एषा पचविधा शुद्धिरित्याह—

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥१६८॥

'**आलोयणाए**' आलोचनाया शुद्धि, शय्यासस्तरयो शुद्धि, उपकरणशुद्धि, भक्तपानशुद्धि, वैयावृत्यकरणशुद्धिरिति पञ्चविधा। मायामृषारहितता आलोचनाशुद्धि। मनोगतवक्रता माया। व्यलीकता चासौ मृषा। मायाकषाय स चाभ्यन्तरपरिग्रह '**चत्तारि तह कसाया**' इति वचनात्। मृषा कथ परिग्रह इति चेत् उपधीयते अनेनेत्युपधिरिति शब्दव्युत्पत्तौ उपधीयते उपादीयते कर्म अनेन व्यलीकेनेन्युपधिरित्युच्यते। यत्र यस्यादर कर्महेतौ तत्सर्वमुपधिरेवेति भाव। उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितता ममेद इत्यपरिग्राह्यता च वसतिसस्तरयो शुद्धिस्तामुपगतेन उद्गमादिदोषोहतयोर्वसतिसस्तरयोस्त्याग कृत इति भवत्युपधि-

---

उसे क्रियापद 'पावेंति' के परे लगाना चाहिए। परिग्रहत्यागके अभावमे इष्ट समाधिका अभाव नामक दोष कहा है ॥१६६॥

गा०—पूर्णरूपसे निश्चित मति वाले जो पाँच प्रकारकी शुद्धिको और पाँच प्रकारके विवेक को प्राप्त हुए है, वे निश्चयसे परम समाधिको प्राप्त होते है ॥१६७॥

टी०—कौन समाधि प्राप्त करते है यह इस गाथामे कहा है ॥१६७॥

पाँच प्रकारकी शुद्धि कहते है—

गा०—आलोचना की शुद्धि, शय्याकी, सस्तरकी और परिग्रहकी शुद्धि, भक्तपानकी शुद्धि और वैयावृत्य करने वालोकी शुद्धि, निश्चयसे शुद्धि पाँच प्रकारकी होती है ॥१६८॥

टी०—माया और मृषासे रहित होना आलोचनाकी शुद्धि है। मनमे कुटिलताका होना माया है। असत्य भाषणको मृषा कहते है।

माया कषाय है और वह अभ्यन्तर परिग्रह है। 'चार कषाय है' ऐसा आगमका वचन है।

शङ्का—मृषा कैसे परिग्रह है ?

समाधान—'उपधीयतेऽनेनेत्युपधि' इस शब्द व्युत्पत्तिके करने पर 'अनेन' अर्थात् असत्य भाषणके द्वारा 'उपधीयते' कर्मका ग्रहण होता है अत मृषा उपधि है। जिस कर्मके हेतुमे जिसका आदर है वह सब उपधि ही है यह कहनेका अभिप्राय है।

उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोसे रहित होना तथा 'यह मेरा है' इस प्रकार परिग्रहका भाव न होना वसति और संस्तरकी शुद्धि है। उस शुद्धिको जिसने स्वीकार किया उसने उद्गम

त्याग । उपकरणादीनामपि उद्गमादिरहितता शुद्धिस्तस्या सत्या उद्गमादिदोषदुष्टाना असयमसाधनाना ममेदं भावमूलाना परिग्रहाणा त्यागोऽस्त्येव । सयतवैयावृत्त्यक्रमज्ञता वैयावृत्यकारिशुद्धि सत्या तस्या असयता अक्रमज्ञाश्च[1] न मम वैयावृत्यकरा इति स्वीक्रियमाणास्त्यक्ता भवन्ति ॥१६८॥

अहवा दंसणणाणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य ।
आवासयसुद्धी वि य पच वियप्पा हवदि सुद्धी ॥१६९॥

'**अहवा**' अथवा । '**दंसणणाणचरित्तसुद्धी य, विनयसुद्धी य, आवासयसुद्धी वि य**' आवश्यकशुद्धिश्चेति '**पंचवियप्पा**' पञ्चविकल्पा '**हवइ सुद्धी**' भवति शुद्धि । नि शङ्कितत्वादिगुणपरिणतिर्दर्शनशुद्धि तस्या सत्या शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सादीना अशुभपरिणामाना परिग्रहाणा त्यागो भवति । काले पठनमित्यादिका ज्ञानशुद्धि , अस्या सत्या अकालपठनाद्या क्रिया ज्ञानावरणमूला परित्यक्ता भवन्ति । पञ्चविंशतिभावनाश्चारित्रशुद्धि । सत्या तस्या अनिगृहीतमन प्रचारादिरशुभपरिणामोऽभ्यन्तरपरिग्रहस्त्यक्तो भवति । दृष्टफलानपेक्षिता विनयशुद्धि । तस्या सत्यामुपकरणादिलाभलोभो निरस्तो भवति । मनसावद्ययोगनिवृत्ति जिनगुणानुराग वन्द्यमानश्रुतादिगुणानुवृत्ति , कृतापराधविषया निन्दा, मनसा प्रत्याख्यान, शरीरासारतानुपकारित्वभावना, चेत्यावश्यकशुद्धिरस्या सत्या अशुभयोगो जिनगुणाननुराग श्रुतादिमाहात्म्येऽनादर , अपराधाजुगुप्सा, अप्रत्याख्यान, शरीरममता चेत्यमी भावदोषा परिग्रहा निराकृता भवन्ति ॥१६९॥

आदि दोषोसे दूषित वसति और सस्तरका त्याग कर दिया इस प्रकार उपधित्याग होता है। उपकरण आदि की भी शुद्धि उद्गम आदि दोषोसे रहित होना है। उसके होने पर उद्गम आदि दोषोसे दूषित, असयमके साधन और 'यह मेरा है' इस भावके मूलकारण परिग्रहोका त्याग है ही। संयमी होना और वैयावृत्यके क्रमका ज्ञाता होना वैयावृत्यकारीकी शुद्धि है। उसके होने पर असयमी और क्रमको न जानने वाले मेरे वैयावृत्य करने वाले नही है' ऐसा स्वीकार करने पर उनका त्याग होता है ॥१६८॥

गा०—अथवा दर्शन शुद्धि, ज्ञान शुद्धि, चारित्र शुद्धि, विनय शुद्धि और आवश्यक शुद्धि इस प्रकार शुद्धिके पाँच भेद होते है ॥१६९॥

टी०—नि.शकित आदि गुणोका धारण करना दर्शन शुद्धि है। उसके होने पर शका, काक्षा, विचिकित्सा आदि अशुभ परिणाम रूप परिग्रहोका त्याग होता है। 'कालमे पढना' आदि ज्ञान शुद्धि है। उसके होने पर अकाल पठन आदि क्रिया, जो ज्ञानावरणके बन्धकी कारण हैं, उनका त्याग होता है। पच्चीस भावनाएँ चारित्र शुद्धि है। उसके होने पर मनकी चचलताको न रोकना आदि अशुभ परिणाम, जो अभ्यन्तर परिग्रह है उनका त्याग होता है। दृष्ट फलकी अपेक्षा न करके विनय करना विनय शुद्धि है। उसके होने पर उपकरण आदिके लाभका लोभ दूर होता है। सावद्य योगका त्याग, जिन देवके गुणोमे अनुराग, नमस्कार करनेके योग्य श्रुत आदि के गुणोंका पालन करना, किये हुए अपराधकी निन्दा, मनसे प्रत्याख्यान करना, शरीरकी असारता और उसके अनुपकारीपनेका चिन्तन, ये आवश्यक शुद्धि है। उसके होने पर अशुभ योग, जिन देवके गुणोमें अनुरागका अभाव, श्रुत आदिके महात्म्यमे अनादर, अपराधके प्रति ग्लानिका न होना, प्रत्याख्यानका न होना, और शरीरसे ममता, ये दोष परिग्रह है, इनका निरास होता

---

१ श्च मम–आ० ।

पञ्चविधविवेकप्रख्यापनायोद्यता गाथा—

इंदियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स ।
एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो ॥१७०॥

'**इंदियकसाय**' इति । इन्द्रियविवेक , कषायविवेक , भक्तपानविवेक , उपधिविवेक , देहविवेकः इति एष विवेक पञ्चप्रकारो निरूपित पूर्वागमेषु । स पुन पञ्चप्रकारोऽपि द्विविध. । द्रव्यकृतो भावकृत इति । रूपादिविषयेषु चक्षुरादीनामादरेण कोपेन वा अप्रवर्तनं । इद पश्यामि शृणोमीति वा । तथा तस्या निविड-कुचनट पश्यामि, नितम्बरोमराजि वा विलोकयामि, पृथुतर जघन स्पृशामि, कल गीत सावधान शृणोमि, मुखकमलपरिमल जिघ्रामि, बिम्बाधर समास्वादयामि इति वचनानुच्चारण वा द्रव्यत इन्द्रियविवेक । भावत इन्द्रियविवेको नाम जातेऽपि विषयविषयिसम्बन्धे रूपादिगोचरस्य विज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य राग-कोपाभ्या विवेचन, रागकोपसहचारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा । द्रव्यत कषायविवेको नाम कायेन वाचा चेति द्विविध । भ्रूलतामङ्कोचन, पाटलेक्षणता, अधरावमर्दन, शस्त्रनिकटीकरण, इत्यादिकायव्यापारा-करण । हन्मि, ताडयामि, शूलमारोपयामि इत्यादिवचनाप्रयोगश्च परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलङ्काभावो भावत क्रोधविवेक । तथा मानकपायविवेकोऽपि वाक्कायाभ्या द्विविध । गात्राणा स्तब्धताकरण, शिरस उन्नमन, उच्चासनारोहणादिक च यन्मानसूचनपर तस्य कायव्यापारस्याकरण । मत्त को वा श्रुतपारग सुचरित सुतपोधनश्चेति वचनाप्रयोगश्च । एवमेवैतेभ्योऽह प्रकृष्ट इति मनसाहङ्कारवर्जन भावतो

है ॥१६९॥

पाँच प्रकारके विवेकका कथन करते है—

गा०—इन्द्रिय विवेक, कषाय विवेक, उपधिविवेक, भक्तपान विवेक और देहका विवेक इस प्रकार यह विवेक पाँच प्रकारका पूर्वागम मे कहा है । तथा यह पाँच प्रकारका विवेक द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकार है ॥१७०॥

टी०—रूप आदि विषयोमे चक्षु आदि इन्द्रियोंका आदर भावसे या क्रोधवश प्रवृत्ति न करना, यह देखता हूँ, अथवा यह सुनता हूँ, उसके घने स्तनोको देखता हू, अथवा नितम्ब और रोमपक्तिको देखता हूँ, स्थूल जघनको स्पर्श करता हूँ, मनोहर गीत सावधानता पूर्वक सुनता हूँ, मुख रूपी कमलकी सुगन्ध सूंघता हूँ, ओष्ठका रसपान करता हूँ, इत्यादि वचनोका उच्चारण न करना द्रव्य इन्द्रिय विवेक है । विषय और विषयी अर्थात् पदार्थ और इन्द्रियका सम्बन्ध होने पर भी रूपादिका जो ज्ञान होता है जिसे भावेन्द्रिय कहते हैं, उस ज्ञानके होने पर भी राग द्वेष न करना अथवा राग द्वेषके सहचारी रूपादि विषय रूपसे मानसज्ञानका परिणत न होना भाव इन्द्रिय विवेक है। द्रव्य कषाय विवेक के दो भेद है शरीरसे और वचन से । भौको सकोचना, आँखोंका लाल होना, ओठ काटना, शस्त्र उठाना इत्यादि काय व्यापारका न करना काय द्रव्य कषाय विवेक है । मारता हूँ, ताडन करता हूँ, सूली पर चढाता हूँ इत्यादि वचन न बोलना वचन क्रोध कषाय विवेक है । दूसरे के द्वारा किये गये तिरस्कार आदिके निमित्तसे चित्तमे मलिनताका न होना भावसे क्रोध विवेक है । तथा मान कषाय विवेकके भी वचन और कायकी अपेक्षा दो भेद है । शरीरको स्तब्ध करना, सिर को ऊँचा करना, उच्चासन पर बैठना आदि जो मान सूचक काय व्यापार हैं उनका न करना काय मान कषाय विवेक है । मुझसे बडा कौन शास्त्रका पंडित है, चारित्रवान और तपस्वी है, इस प्रकारके वचन न बोलना वचन मान कषाय विवेक है । इसी

मानकषायविवेक । वाक्कायाभ्या मायाविवेको द्विप्रकार । अन्यत् ब्रुवत इवान्यस्य यद्वचन तस्य त्यागो मायोपदेशस्य वा, माया करोमि न कारयामि, नाभ्युपगच्छामि इति वा कथन वाचा मायाविवेक । अन्यत्कुर्वत इवान्यस्य कायेनाकरण कायतो मायाविवेक । लोभकषायविवेकोऽपि द्विविध. । यत्रास्य लोभस्तदुद्दिश्य करप्रसारण, द्रव्यदेशानपायिता, तदुपादातुकामस्य कायेन निषेधन हस्तमंज्ञया निवारण, शिरश्चालनया वा एतस्य कायव्यापारस्य अकरण कायेन लोभविवेक शरीरेण वा द्रव्यानुपादान । एतन्मदीय वस्तुग्रामादिक वा अहमस्य स्वामीति वचनानुच्चारण वा लोभविवेक । नाहं कस्यचिदीशो न च मम किञ्चिदिति वचनं वा । ममेदभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिर्भावतो लोभविवेक ॥१७०॥

अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स ।
वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव ॥१७१॥

'**अहवा**' अथवेति । विवेक प्रकारान्तरेणाचेद्यते । '**सरीरसेज्जासंथारुवहीणभत्तपाणस्स**' शरीरविवेक वसतिसंस्तरविवेकावुपकरणविवेक, भक्तपानविवेक । '**वेज्जावच्चकराण य**' वैयावृत्यकराणा च विवेको भवति । '**तहा चेव**' तथैव द्रव्यभावाभ्या इति यावत् । तत्र शरीरविवेक शरीरेण निरूप्यते । ससारिण शरीराद्विवेक कथमिति चेत् । शरीरेण स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरण शरीरविवेक । शरीर उपद्रवन्त नर तिर्यञ्च देव वा न हस्तेन निवारयति । मा कृथा ममोपद्रवमिति दशमशकवृश्चिकभुजगसारमेयादीन्न हस्तेन, पिच्छाद्युपकरणेन, दण्डादिभिर्वाऽपसारयति । छत्रपिच्छकटकप्रावरणादिना वा न शरीररक्षा करोति ।

प्रकार इनसे मै उत्कृष्ट हूँ ऐसा मनसे अहकार न करना भावसे मान कषाय विवेक है। माया विवेक भी वचन और कायकी अपेक्षा दो प्रकार है। दिखाना तो ऐसा मानो कुछ अन्य बोलते हैं और बोलना कुछ अन्य, इसका त्याग अथवा माया पूर्ण उपदेशका त्याग, अथवा न मै माया करता हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदना करता हू ऐसा बोलना वचन माया विवेक है । अन्य करते हुए उससे अन्यका कायसे न करना काय माया विवेक है । लोभ कषाय विवेक भी दो प्रकारका है। जिस वस्तुका लोभ हो उसको लक्ष्य करके हाथ पसारना, जो उसे लेना चाहे उसे शरीरसे मना करना या हाथके सकेत से रोकना अथवा सिर हिलाकर मना करना, इस काय व्यापारका न करना काय लोभ विवेक है। अथवा शरीरसे वस्तुका ग्रहण न करना काय लोभ विवेक है। यह वस्तु ग्राम आदि मेरा है, मै इसका स्वामी हूँ इत्यादि वचनका उच्चारण न करना, अथवा न मै किसी का स्वामी हूँ और न कुछ मेरा है ऐसा बोलना वचन लोभ विवेक है। यह मेरा है इस भावरूप मोहजन्य परिणामका न होना भाव लोभ विवेक है ॥१७०॥

गा०—अथवा शरीर विवेक, वसति विवेक, सस्तर विवेक, उपधि विवेक, भक्तपान विवेक, और वैयावृत्य करने वालोका विवेक, द्रव्य और भाव रूप होता है ॥१७१॥

टी०—प्रकारान्तरसे विवेकके भेद कहते है। शरीर विवेक शरीर के द्वारा किया जाता है।

शङ्का—ससारी जीवका शरीरसे विवेक कैसे सभव है ?

समाधान—अपने शरीरमे होने वाले उपद्रवोका दूर न करना, शरीर विवेक है। शरीरपर उपद्रव करने वाले मनुष्य, तिर्यञ्च अथवा देव को हाथसे नही रोकता कि मेरे ऊपर उपद्रव मत करो। डास, मच्छर, बिच्छू, सर्प, कुत्ते आदिको हाथसे, पिच्छी आदि उपकरणसे अथवा दण्ड वगैरहसे दूर नही करता। छाता, पीछी, चटाई अथवा अन्य किसी आवरणसे शरीरकी रक्षा

शरीरपीडा मम मा कृथा इत्यवचनं । मा पालयेति वा, शरीरमिदमन्यदचेतनं चैतन्येन सुखदुःखसंवेदनेन वाऽविशिष्टमिति वचनं वाचा विवेकः । वसतिसंस्तरयोर्विवेको नाम कायेन वसतावनासनं प्रागध्युषितायां, संस्तरे वा प्राक्तने अशयनं अनासनं । वाचा त्यजामि वसतिं संस्तरमिति वचनं । कायेनोपकरणानामनादानं, अस्थापनं क्वचिदरक्षा च उपधिविवेकः । वाचा परित्यक्तानीमानि ज्ञानोपकरणादीनि इति वचनं वाचा उपधिविवेकः । भक्तपानयोरनशनं अपानं वा कायेन भक्तपानविवेकः । एवंभूतं भक्तं पानं वा न गृह्णामि इति वचनं वाचा भक्तपानविवेकः । वैयावृत्यकरा स्वशिष्यादयो ये तेषां कायेन विवेकः तैः सहासंवासः । मा कृथा वैयावृत्यं इति वचनं, मया त्यक्ता यूयमिति वचनं । सर्वत्र शरीरादौ अनुरागस्य ममेदं भावस्य वा मनसा अकरणं भावविवेकः ॥१७१॥

परिग्रहपरित्यागक्रमं उपदिशति—

सव्वत्थ दव्वपज्जयममत्तसंगविजडो पणिहिदप्पा ।
णिप्पणयपेमरागो उवेज्ज सव्वत्थ समभावं ॥१७२॥

सव्वत्थ इत्यादिना । 'सव्वत्थ' सर्वत्र देशे । 'पणिहिदप्पा' प्रणिहितात्मा प्रकर्षेण निहितः निक्षिप्तः वस्तुयाथात्म्यज्ञाने आत्मा येन स प्रतिनिर्हितात्मा । 'दव्वपज्जयममत्तसंगविजडो' द्रव्येषु जीवपुद्गलेषु तत्पर्यायेषु च ममतारूपो यः संगः परिग्रहस्तेन परित्यक्तः । प्रणयः स्नेहः प्रेम प्रीतिः, रागः आसक्तिः । क्व ? द्रव्यपर्यायेषु जीवद्रव्ये पुत्रदारमित्रादौ, तेषां नीरोगत्वधनवत्त्वादौ पर्याये, आत्मनो वा देवत्वे, चक्रवर्तित्वेऽहमिन्द्रत्वे वा । तथा शरीरे आहारादिके भोगसाधने, तदीयरूपरसगन्धस्पर्शपर्यायेषु वा, एतेभ्य

नहीं करता । यह कायसे शरीर विवेक है । मेरे शरीरको पीडा मत दो, अथवा मेरी रक्षा करो, ऐसा न बोलना, अथवा यह शरीर अचेतन है, मुझसे भिन्न है, चैतन्यमें और सुख दुःखके संवेदनसे रहित है ऐसा बोलना वचनसे शरीर विवेक है । जिसमें पहले रहे है उस वसति में न रहना कायसे वसति विवेक है । पूर्वके संस्तर पर न सोना न बैठना कायमें संस्तर विवेक है । मैं वसति या संस्तर को त्यागता हूँ यह वचनसे वसति और संस्तर विवेक है । 'उपकरणोंका त्याग करता हूँ' ऐसा बोलना वचनसे उपधि विवेक है, भक्तपानको न खाना न पीना कायसे भक्तपान विवेक है । 'इस प्रकारके भोजन और पानको ग्रहण नहीं करता' ऐसा कहना वचनसे भक्तपान विवेक है । वैयावृत्य करने वाले अपने शिष्यों आदिके साथ वास न करना कायसे विवेक है । 'वैयावृत्य मत करो' 'मैंने तुम्हारा त्याग किया ऐसा कहना' वचनसे विवेक है । सर्वत्र शरीर आदिमें अनुरागका 'यह मेरा है' इस प्रकार का भाव मनमें न करना भावविवेक है ॥१७१॥

परिग्रह के त्यागका क्रम बतलाते है—

गा०—सर्व देशमें प्रतिनिहित आत्मा द्रव्य और पर्यायोंमें ममतारूपी परिग्रहसे रहित, प्रणय, प्रेम और रागसे रहित सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है ॥१७२॥

टी०—जिसने वस्तुके यथार्थ स्वरूप के ज्ञानमें आत्माको प्रकर्षरूपसे निहित किया है वह प्रतिनिहितात्मा है अर्थात् जो वस्तु स्वरूपके जाननेमें लीन रहता है और द्रव्य अर्थात् जीव पुद्गलमें और उनकी पर्यायोमें ममता नहीं करता । और जीव द्रव्य अर्थात् पुत्र स्त्री मित्रादि में उनकी नीरोगता, धनवत्ता आदि पर्यायोमें अथवा आत्माकी देवपना, चक्रवर्तीपना, अहमिन्द्रपना आदि पर्यायोमें तथा शरीरमें, आहारादिमें; भोगके साधनमें और उनकी रूप, रस, गन्ध,

परिणामेभ्यो निर्गतो **'णिप्पणयपेमराग'** इत्युच्यते । **'उवेज्ज'** प्रतिपद्येत । **'समभावं'** समचित्ततां । द्रव्ये पर्याये वा रागकोपावन्तरेण तत्तत्स्वरूपग्रहणमात्रप्रवृत्तिज्ञनिता समचित्तता ॥ **उवधी गदा** ॥१७२॥

परिग्रहपरित्यागादनन्तरोऽधिकार श्रितिर्नाम, एतद्व्याख्यातुकाम श्रितिशब्दस्यार्थद्वय व्याचष्टे भावश्रितिर्द्रव्यश्रितिरिति, अप्रकृत श्रितिशब्दार्थं निराकर्तुमिष्ट दर्शयितुम्—

जा उवरि उवरि गुणपडिवत्ती सा भावदो सिदी होदि ।
दव्वसिदी णिस्सेणी सोवाणं आरुहंतस्स ॥१७३॥

'जा' या । **'उवरि उवरि'** उपर्युपरि । **'गुणपडिवत्ती'** गुणप्रतिपत्ति । ज्ञानश्रद्धानसमानभावाना गुणाना प्रवृत्ताना उपर्युपरि गुणनात्तथाभूतानामेव प्रतिपत्तिर्या सा । **'भावदो'** भावेन । **'सिदी होदि'** श्रितिर्भवति । भावश्रिति सैवेति यावत् । अथ का द्रव्यश्रिति ? अस्योत्तरमाह-**'दव्वसिदी'** श्रीयते इति श्रितिः द्रव्यं च तत् श्रितिश्च सा द्रव्यश्रिति । यदाश्रीयते द्रव्य निश्रेयणीसोपानादिक तदपि श्रितिशब्देनोच्यते । **'आरुहंतस्स'** आरोहत ॥१७३॥

अनयो का[1] परिगृहीतेत्यत्राह—

सल्लेहणं करेंतो सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ।
भावोसदिमारुहित्ता विहरेज्ज सरीरणिव्वण्णो ॥१७४॥

स्पर्श पर्यायोमे प्रणय अर्थात् स्नेह, प्रेम और राग अर्थात् आसक्ति रूप परिणामोसे रहित है वह सर्वत्र समभाव अर्थात् समचित्तताको प्राप्त होता है। द्रव्य अथवा पर्यायमे राग द्वेष के विना उनके स्वरूपको ग्रहण मात्र करनेकी प्रवृत्तिको अर्थात् ज्ञानताको समचित्तता कहते है ॥१७२॥

उपधि त्याग समाप्त हुआ ।

परिग्रह त्यागके अनन्तर श्रिति नामक अधिकार है। उसका व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार श्रिति शब्दके दो अर्थ कहते हैं भाव श्रिति और द्रव्य श्रिति। श्रिति शब्दके अप्रकृत अर्थका निराकरण और इष्ट अर्थ का कथन करते है—

गा०—जो ऊपर-ऊपर गुणोकी प्रतिपत्ति है वह भावसे श्रिति है। ऊपर चढने वाले के नसैनी सीढी आदि द्रव्य श्रिति हैं ॥१७३॥

टी०—ज्ञान श्रद्धान समभाव आदि गुणोका ऊपर-ऊपर उन्नत होना गुण प्रतिपत्ति है और वह भाव श्रिति है। भाव अर्थात् परिणामसे श्रिति भाव श्रिति अर्थात् परिणाम सेवा है। 'श्रीयते' जिसका आश्रय लिया जाये वह श्रिति है। द्रव्यरूप श्रिति द्रव्य श्रिति है। ऊपर चढने वाला नसैनी सीढी आदि जिस द्रव्यका आश्रय लेता है उसको भी श्रिति शब्दसे कहते हैं ॥१७३॥

यहाँ इन दोनोमेसे किसका ग्रहण किया है, यह कहते है—

गा०—सल्लेखना करता हुआ शरीरसे विरक्त साधु सब सुखशीलताको मन वचन कायसे त्यागकर भावश्रिति पर आरोहण करके विहार करे ॥१७४॥

---

१. का या गृ–आ० मु० ।

'**सल्लेहणं**' सल्लेखना। '**करेंतो**' कुर्वन्। '**सव्वं सुहसीलयं**' सर्वां सुखभावना आसनशयनभोजनादिविषया। '**पयहित्तूण**' प्रकर्षेण त्यक्त्वा योगत्रयेणेति यावत्। '**भावसिविमारुहित्ता**' श्रद्धानादिपरिणामसेवा प्रतिपद्य। '**विरहेज्ज**' प्रवर्तेत। '**सरीरणिव्विण्णो**' शरीरनिस्पृह। किमनेन शरीरेण, सुलभेनासारेण, अशुचिना, कृतघ्नेन, भारेण रोगाणामाकरेण, जरामरणप्रतिहतेन दुःखविधायिनेति ॥१७४॥

दव्वसिदिं भावसिदिं अणुओगवियाणया विजाणंजा।
ण खु उड्ढगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं पसंसंति ॥ १७५॥

दव्वसिदिं भावसिदिं अणुओगवियाणया विजाणंता' इत्यस्मिन्सूत्रे पदघटना। '**उड्ढगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं ण खु पससंति**' इति। ऊर्ध्वगमने कार्ये अधोध पादनिक्षेप नैव प्रशसन्ति। '**विजाणंता**' विशेषेण जानन्त। का '**दव्वसिदिं भावसिदिं**' च द्रव्यभावश्रियो स्वरूप उपादेयश्रितिज्ञा[1] इति यावत्। न केवल श्रितिमात्रज्ञा। किन्तु '**अणुओगवियाणया**' अनुयोगशब्द सामान्यवचनोऽपि इह चरणानुयोगवृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थः आचाराङ्गज्ञा अथवा चतुर्विधानुयोगज्ञा श्रुतमाहात्म्यवन्त न प्रशसन्ति। एतदुक्त भवति—शुभपरिणामवता तदतिशय एव प्रवर्तितव्य, न जघन्यपरिणामप्रवाहे निपतितव्य, यतोऽतिशयितश्रुतज्ञानलोचना यतयो निन्दति जघन्यपरिणामान्। कुतो? मन्दायमानशुभपरिणाम क्रमेण न बहलविशालकर्मतिमिरमपाकर्तुमर्हति नाशाभिमुख प्रदीप इव। यथा नाशसन्मुख प्रदीपोऽतितेजसा प्रवर्तमानो मन्द मन्द ज्वलन्नाशमुपैति शनै शनैस्तमसाच्छाद्यते तथा मन्दायमानपरिणामोऽपीत्यर्थ। अशुभपरिणामसन्ततेर्मूल भवति। तेन कर्मणा स्थितिरनुभवश्च प्रकर्षमुपैति ततो व्यवस्थिता सैव दीर्घससारिता। समीचीनज्ञानमारुतप्रेरित- शुभपरि-

गा०-टी०—इस सुलभ, असार, अपवित्र, कृतघ्न, भाररूप, रोगोका घर और जन्म मरणसे युक्त, दुःखदायी शरीरसे क्या लाभ ऐसा विचार साधु शरीरसे निस्पृह होकर सल्लेखना धारण करता है और बैठना, सोना, भोजन आदिकी सब सुख भावनाको छोड श्रद्धानादि परिणामोका आश्रय लेता है ॥१७४॥

गा०—द्रव्यश्रितिके भावश्रितिके स्वरूपको विशेष रूपसे जानने वाले तथा आचारागके ज्ञाता ऊर्ध्वगमन रूप कार्यमे नीचे पैर रखना प्रशसनीय नही ही मानते ॥१७५॥

टी०—अनुयोग शब्द अनुयोग सामान्यका वाची होने पर भी यहाँ चरणानुयोगका वाचक ग्रहण किया है अतः उसका अर्थ आचारागके ज्ञाता होता है। अथवा चार प्रकारके अनुयोगोके ज्ञाता भी होता है। द्रव्यश्रितिके और भावश्रितिके स्वरूपको जानने वाले तथा चरणानुयोगके ज्ञाता ऊपर जानेके लिये नीचे-नीचे पैर रखना प्रशसनीय नही मानते। आशय यह है कि शुभ परिणाम वालोको शुभ परिणामोकी उत्कृष्टतामे ही लगना चाहिये, जघन्य परिणामोके प्रवाहमे नही गिरना चाहिये; क्योंकि अतिशय युक्त श्रुतज्ञान रूपी चक्षुसे सम्पन्न यतिगण जघन्य परिणामो की निन्दा करते हैं। क्योंकि जिसके शुभ परिणाम उत्तरोत्तर मन्द होते जाते हैं वह घने विशाल कर्मरूपी अन्धकारको नाशके अभिमुख दीपककी तरह दूर नही कर सकता। जैसे बुझता हुआ दीपक तीव्र प्रकाश देता है किन्तु मन्द-मन्द जलकर बुझ जाता है और धीरे-धीरे अन्धकारसे ढक जाता है। उसी तरह मन्द होता हुआ शुभ परिणाम भी अशुभ परिणामोकी परम्पराका जनक होता है और उससे कर्मोकी स्थिति और अनुभाग उत्तरोत्तर बढता है। उससे वही दीर्घ संसारि-

१. ज्ञाना इति आ० मु०।

णामानलः प्रकृष्यमाणो विशोषितकर्मपादपरसस्तमुन्मूलयतीति ॥१७५॥

श्रितेरपायस्थानपरिहाराख्यानायोत्तरगाथा—

गणिणा सह संलाओ कज्जं पइ संसएहिं साहूहिं ।
मोणं से मिच्छजणे भज्जं सण्णीसु सजणे य ॥१७६॥

'गणिणा सह' सावधारणमिद गणिनैव सह । **'संलाओ'** प्रश्नप्रतिवचनप्रबन्ध , नान्यै सह चिरभाषण कार्यम् । आचार्येण सह सलाप शुभपरिणामस्य हेतुरित्यनुज्ञायते । इतरे तु प्रमादिनो यत्किञ्चिद् ब्रुवन्तोऽशुभपरिणाम विदध्यु । **'कज्ज पइ'** कार्यं स्व प्रति । **'सेसगेहिं साहूहिं'** शेषैः साधुभि. सम्भाषण कार्य, न प्रबन्धरूपा कथा कार्या । **'मोणं'** मौनमेव । **'से'** तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारूढस्य । **'मिच्छजणे'** मिथ्यादृष्टिजने । स्वार्थे बद्धपरिकरम्य किं तेनानुपकारिणा हितोपदेशाग्राहिणा जनेन । **'भज्जं'** भाज्य विकल्प्य मौन । **'सण्णीसु'** मिथ्यादृष्टिष्वप्युपशान्तेषु । **'सजणे य'** स्वजने च । मिथ्यादृष्टी अस्यामवस्थाया मदीय वचन श्रुत्वा सम्यग्दर्शनादिकमिमे गृह्णन्तीति यद्यस्ति सम्भावना ब्रूयाद् धर्म न चेन्मौनमेव ॥१७६॥

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे—

सिदिमारुहित्तु कारणपरिभुत्तं उवधिमणुवधिं सेज्जं ।
परिकम्मादिउवहदं वज्जित्ता विहरदि विदण्हू ॥१७७॥

'सिदिमारुहित्तु' शुभपरिणामश्रेणिमारुह्य । **कारणभुत्त** किञ्चित्कारणमुपदिश्य श्रुतग्रहण, परेषा वा

पना प्राप्त होता है । सम्यग्ज्ञान रूपी वायुसे प्रेरित शुभ परिणाम रूप आग बढ़ती-बढती कर्म रूपी वृक्षके रसको सुखाकर उसे जडसे नष्ट कर देती है ॥१७५॥

श्रितिके विनाश स्थानोसे बचनेके उपाय कहते है—

गा०—शुभ परिणामोकी श्रेणि पर आरूढ साधुको आचार्यके ही साथ वार्तालाप करना चाहिये । कार्य हो तो शेष साधुओसे वार्तालाप करे । मिथ्यादृष्टिजनोमे मौन रहे । शान्त परिणामी मिथ्यादृष्टियोमें और अपने ज्ञातिजनोमे मौन करे, न भी करे ॥१७६॥

टी०—आचार्यके साथ ही 'सलाप' अर्थात् प्रश्नोत्तर आदि करना चाहिये । दूसरोके साथ लम्बा वार्तालाप नही करना चाहिये । आचार्यके साथ सलाप शुभ परिणाम का कारण है इसलिये उसकी अनुज्ञा है । अन्य लोग तो प्रमादी होनेसे जो कुछ भी बोलकर अशुभ परिणाम कर देते है । शेष साधुओके साथ सभाषण करना चाहिये किन्तु लम्बी कथा नही करना चाहिये । मिथ्यादृष्टि जनसे बात नही करना चाहिये क्योकि वह तो स्वार्थमे डूबा है । हितोपदेशको नही सुनता । ऐसे अनुपकारो व्यक्तिसे क्या काम ? जो मिथ्यादृष्टि होते हुए भी शान्त परिणामी है और अपने ज्ञातिबन्धु है उनस वार्तालाप किया जा सकता है । ये मेरे वचन सुनकर सम्यग्दर्शन आदिको ग्रहण करेगे, यदि ऐसी सम्भावना है तो धर्मका उपदेश दे, नही तो मौन ही रहे ॥१७६॥

शुभ परिणामके धारी मुनिकी प्रवृत्तिका क्रम कहते है—

गा०—क्रमका ज्ञाता मुनि शुभ परिणामो की श्रेणिपर चढकर किसी कारणवश व्यवहार मे आई परिग्रहको और ईषत् उपधिरूप बसतिको तथा जो लीपने-पोतने अयोग्य है, उसे त्याग कर तपश्चरण करता है ॥१७७॥

टी०—शुभ परिणामोकी परम्परासे जो मुनि ऊपर चढ़ रहा है वह ऐसे परिग्रहको त्याग

श्रुतोपदेश, आचार्यादिवैयावृत्यादिकं वा, '**परिभुत्त**' व्यवहृत । '**उवधि**' परिग्रहमौषध अतिरिक्तज्ञानसंयमोपकरणानि वा । '**अणुवधि**' ईषत्परिग्रह । अन्वत्रेषदर्थवृत्ति अनुदरा कन्येति यथा । कोसावनुपधिरत आह—'**सेज्ज**' सेविज्जदि जदिणा इति व्युत्पत्तौ वसतिरुच्यते, तेन **सेज्ज** वसति । **परिकम्मादिउवहदं**' यतयोऽत्र वसन्तीति प्रमार्जनप्रलेपनादिपरिकर्मणा उपहत अयोग्य । '**परिवज्जित्ता**' वर्जयित्वा । '**विहरदि**' आचरति । '**विवण्हू**' क्रमज्ञः ॥१७७॥

श्रित्यनन्तरं किं करोतीत्यत्राह—

तो पच्छिममि काले वीरपुरिससेविय परमघोर ।
भत्तं परिजाणंतो उवेदि अब्भुज्जदविहार ॥१७८॥

'**तो**' तस्या श्रिते । '**पच्छिमंमि काले**' पश्चिमे काले । '**वीरपुरुससेविय**' वीरै. पुरुषैराचरित । '**परमघोरं**' अतिदुष्कर । '**भत्त परिजाणंतो**' आहार परित्यक्तुकाम । '**उवेदि**' उपैति । किं ? **अब्भुज्जदविहारं**' सम्यग्दर्शनादिपरिणामाभि[1]मुख्ये उद्यन्त विहार ॥१७८॥

कीदृगसावभ्युद्यतो विहार इत्यत्राचष्टे—

इत्तिरियं सव्वगणं विधिणा वित्तिरिय अणुदिसाए दु ।
जहिदूण संकिलेसं भावेइ असंकिलेसेण ॥१७९॥

'**इत्तिरियं**' कियत कालस्य । '**सव्वगणं**' सयताना, आर्यिकाणा, श्रावकाणा, इतरासा च समिति ।

देता है जो कारणवश व्यवहारमे आया है जैसे स्वय शास्त्राध्ययनके लिये या दूसरोको शास्त्रका उपदेश देनेके लिये ज्ञान और सयमके उपकरण शास्त्र आदि व्यवहारमे आये हो जो कि स्वय अपने लिये आवश्यक नही है । तथा आचार्य आदिकी वैयावृत्यके लिये औषध आदि व्यवहारमे आई हो । ऐसा परिग्रह कारणभुक्त परिग्रह है । तथा कारणभुक्त अनुपधिको भी त्याग दे । अनुपधिमे अन्का अर्थ ईषत् या किञ्चित् है । यह अनुपधि है 'सेज्ज' । 'जो यतिके द्वारा सेवित होती है' इस व्युत्पत्तिके अनुसार सेज्जाका अर्थ वसति है । तथा 'इसम यति गण रहेगे' इस अभिप्रायसे जिस वसतिकी सफाई लिपाई पुताई की गई है वह भी त्याज्य है । इन सबको त्यागकर वह मुनि तपश्चरण करता है ॥१७७॥

श्रितिके अनन्तर वह क्या करता है यह कहते है—

गा०—उस श्रितिके अन्तिम समयमे वीर पुरुषोके द्वारा आचरित अतिकठिन आहारको त्याग देनेका इच्छुक वह मुनि सम्यग्दर्शन आदि परिणामोकी अभिमुखतामे तत्पर विहारको प्राप्त होता है । अर्थात् रत्नत्रयकी मुख्यताको लिये हुए आचरण करता है ॥१७८॥

वह अभ्युद्यत विहार कैसा है, यह कहते है—

गा०—तत्काल गुरुके पश्चात् जो संघका पालन करता है उसे, विधिपूर्वक समस्त संघको सौपकर संक्लेशको छोडकर असक्लेशसे आत्माको भाता है ॥१७९॥

टी०—सर्वगणसे मतलब है मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका तथा अन्य जनोका समूह ।

---

१ णामादिमु—आ० मु० ।

'चित्तरिय' दत्त्वा । कथ 'विधिणा' विधिना । कथ ? सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वय बहि स्थित्वा 'एष निरतिचाररत्नत्रय' आत्मान युष्मानपि समर्थ ससारसागरादुद्धर्त्तुं, अनुज्ञातश्च यया सूरिरयमिति । तत एतदुपदेशानुसारेण भवद्भिः प्रवर्तितव्य इति । 'अणुदिसाए हु' 'अनु'पश्चादर्थे दिशिर्विधाने गुरो पश्चा-द्दिशति विधत्ते चरणक्रम य सोभिधीयते अगुदिसशब्देन । 'जहिऊण' त्यक्त्वा । 'संकिलेसं' सक्लेश परोपकार-सम्पादनायास । 'भावेइ' भावयति । 'असंकिलेसेण' न विद्यते सक्लेशोऽस्मिन्नित्यसक्लेश' शुभपरिणामस्तेन भावयति आत्मान ॥१७९॥

जावंतु[1] केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं ।
ते वज्जिंतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्सङ्गो ॥१८०॥

त्यक्तव्यसक्लेशभावनाकल्पस्याख्यानायाचष्टे—

कन्दप्पदेवखिब्भिस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ।
एसा हु सङ्किलिट्ठा पञ्चविहा भावणा भणिदा ॥१८१॥

कंदप्प इत्यादिना । गतिकर्म चतुर्विध नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरित्यत्र देवगतिर्नैक-प्रकारा असुरदेवगतिनागदेवगत्यादिप्रपचेन । कन्दर्पदेवगतं, किल्बिषदवगतेराभियोग्यदवगते, असुरदेवगते', सम्मोहदेवगतेश्च कारणभूता आत्मपरिणामा । कारणे कार्योपचारोऽन्नप्राणवत् । यथान्न वै प्राणा इति

'अनुदिसाए' मे अनुका अर्थ है पश्चात् और दिशका अर्थ है विधान । गुरुके पीछे जो चारित्रके क्रमका विधान करता है उसे अनुदिश कहते है । सल्लेखनार्थी उसको सर्वसघके मध्यमे स्थापित करके स्वयं बाहर होता है । उस समय वह कहता है—इसका रत्नत्रय निर्दोष है । यह अपना और तुम्हारा भी ससार सागर से उद्धार करनेमे समर्थ है । मैंने इसे आचार्य बनने की अनुज्ञा दी है । अत इसके उपदेशके अनुसार आपको चलना चाहिये । सघके भारसे मुक्त होकर वह परोपकार करनेका प्रयत्न रूप सक्लेश छोड देता है, अर्थात् परोपकार करना छोड देता है और जिसमे संक्लेश नही है ऐसे असक्लेश अर्थात् शुभ परिणामसे आत्माकी भावना भाता है ॥१७९॥

गा०—जितना कोई परिग्रह रागद्वेषकी उदीरणा करने वाला होता है, उसे छोडता हुआ निस्सग होकर राग और द्वेष को निश्चयसे जीतता है ॥१८०॥

विशेष—इस पर विजयोदया टीका नही है । आशाधरने भी इस पर टीका नही की किन्तु इतना लिखा है कि टीकाकार इस गाथाको नही मानता ।

छोडने योग्य सक्लेश भावनाके भेद कहते है—

गा०—कन्दर्पदेवगति, किल्विषदेवगति, आभियोग्यदेवगति, असुरदवगति और सम्मोहदेव-गतिके कारण भूत आत्म परिणाम यह निश्चयसे पाँच प्रकारकी सक्लिष्ट भावना कही है ॥१८१॥

टी०—गतिकर्मके चार भेद है—नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति । इनमे से देवगतिके असुरदेवगति, नागदेवगति आदिके विस्तारसे अनेक भेद है । कन्दर्पदेवगति, किल्विष-देवगति, आभियोग्य देवगति, असुरदेवगति और सम्मोहदेवगतिके कारणभूत आत्मपरिणामोंको उस उस गतिके नामसे कहा है । यहाँ कारणमें कार्यका उपचार किया है जैसे 'अन्न ही प्राण है' । यहाँ

१. एता टीकाकारो नेच्छति—मूलारा० ।

प्राणकारणेऽन्ने प्राणोपचारा.। कार्यगतेन व्यपदेशेन कन्दर्पभावना, किल्बिषभावना, अभियोग्यभावना, असुर-भावना, सम्मोहभावनाश्चेति पञ्चप्रकारा भावना निरूपिताः सर्वविद्भिः ॥१८१॥

तत्र कन्दर्पभावनानिरूपणायोत्तरगाथा—

कंदप्पकुक्कुआइय चलसीलो णिच्चहासणकहोय ।
विब्भावितो य परं कंदप्पं भावणं कुणइ ॥१८२॥

कन्दप्पकुक्कुआइयचलसीलो रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोग कदर्प । रागातिशयवतो हसत परमुद्दिश्याशिष्टकायप्रयोगः कौत्कुच्य एव भवत मातर करोमीति । कदर्पकौत्कुच्याभ्या चलसील', **'णिच्चहासणकहो य'** सदा हास्यकथाकथनोद्यत । **'विब्भावितो य परं'** पर विस्मापयन् कुहुक किञ्चिदुपदर्श **'कंदप्पं भावणं कुणदि'** कदर्पभावना करोति । रागोद्रेकजनितहासप्रवर्तितो वाग्योग परमविस्मयकारी वा कदर्पभावनेत्युच्यते । असकृत्प्रवर्तमान ॥१८२॥

किल्बिषभावनाख्यानायाचष्टे—

णाणस्स केवलीणं धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं ।
माइय अवण्णवादी खिब्भिसियं भावणं कुणइ ॥१८३॥

णाणस्स इत्यादिक । **'माई अवण्णवादी'** इत्येताभ्या प्रत्येक सबन्धनीयम् । ज्ञानमिह श्रुत परिगृहीत श्रुतज्ञानविषया माया यस्य विद्यते स ज्ञानसबन्धी मायावान् ज्ञानभक्तिरहितो बाह्यविनयवृत्ति । **'केवलिणं'**

प्राणके कारण अन्नमे प्राणका उपचार किया है। उन्ही परिणामोका कार्य जो कन्दर्प आदि गति है उसी कन्दर्पशब्दसे कन्दर्प भावना, किल्विष भावना, आभियाग्य भावना, असुर भावना, सम्मोह भावना ये पाँच प्रकार की भावनाएँ सर्वज्ञ देवने कही हैं ॥१८१॥

आगेकी गाथा मे कन्दर्प भावनाका कथन करते हैं—

गा०—कन्दर्प कौत्कुच्य आदिसे चलशील, और सदा हास्य कथा करनेमे तत्पर, दूसरेको विस्मयमे डालने वाला कन्दर्प भावनाको करता है ॥१८२॥

टी०—रागकी अत्यधिकतासे हँसीसे मिला हुआ असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है। रागकी अधिकतासे हँसते हुए दूसरे को लक्ष्य करके शरीरसे कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है। इन दोनोको जो करता है, सदा हास्य कथा करता है, और कुछ कौतुक दिखाकर दूसरेको अचरजमे डालता है, वह कन्दर्प भावना करता है। आशय यह है कि रागकी अधिकतासे होने वाले हास्य पूर्वक वचन योग और काय योग तथा दूसरेको कुतूहल पूर्वक अचरजमे डालना कन्दर्प भावना है ॥१८२॥

किल्विष भावनाको कहते हैं—

गा०—जो ज्ञानके, केवलियोके, धर्मके, आचार्यों और सर्व साधुओके विषयमे मायाचार करता है, झूठा दोष लगाता है वह किल्विषक भावनाको करता है ॥१८३॥

टीका—'माइय अवण्णवादी' ये दोनो पद प्रत्येकके साथ लगाना चाहिये। 'ज्ञान' से यहाँ श्रुतज्ञान ग्रहण किया है। जो श्रुतज्ञानके विषयमे माया रखता है वह ज्ञान सम्बन्धी मायाचारी है। ज्ञानमे भक्ति नही है, बाहरसे विनय करता है। केवलियोंमे आदर तो दिखलाता है किन्तु

केवलिष्वादरवानिव यो वर्तते । तदर्चनाया मनसा नु न रोचते स केवलिना मायावान् । धर्मेचारित्रे तत्र मायया प्रवृत्त । आचार्याणा साधूना च वञ्चक । **खिब्भिसभावणं** किल्विषभावना । '**कुणइ**' करोति ॥१८३॥

अभियोग्यभावना निरूपयत्युत्तरगाथा—

मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउंजदे जो हु ।
इड्ढिरससादहेदु अभिओगं-भावणं कुणइ ॥१८४॥

'**मंताभिओगकोदुगभूईकम्मं**' मन्त्राभियोगक्रिया, कुतूहलोपदर्शनक्रिया, बालादीना रक्षार्थं भूति कर्म च । '**पयुंजदे**' करोति य । '**अभियोगं भावणं कुणइ**' अभियोग्या भावना करोति । किं ? सर्व एव मन्त्राभियोगादौ प्रवृत्तो नेत्याह । '**इड्ढिरससादहेदु मंताभियोगकोदुगभूईकम्मं जो पउंजदे सो अभियोगभावण कुणइ**' । द्रव्यलाभस्य, मृष्टाशनस्य, सुखस्य वा हेतु मन्त्राद्यभियोगकर्म प्रयुङ्क्ते य स एव अभियोग्यभावना करोति[1] नेतर. । स्वस्य परस्य वा आयुरादिपरिज्ञानार्थं कौतुक उपदर्शयन्, वैयावृत्य प्रवर्तयामीति वा । उद्यत , ज्ञान-दर्शन चारित्रपरिणामादरवर्तनान्न दुष्यतीति भाव ॥१८४॥

चतुर्थी भावना वदन्ति—

अणुबद्धरोसविग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी ।
णिक्किवणिराणुतावी आसुरिअं भावणं कुणदि ॥१८५॥

उनकी पूजा मनमे नही रुचती । वह केवलियोके सम्बन्धमे मायावी है । धर्म अर्थात् चारित्रके विषयमे जो मायाचार करता है वह धर्मका मायावी है । तथा जो आचार्यो और साधुओंको ठगता हे वह किल्विष भावनाको करता है ॥१८३॥

आगेकी गाथासे अभियोग्य भावनाको कहते है—

गा०—जो द्रव्यलाभ, मिष्टरस और सुखके लिए मत्राभियोग—भूत आदि बुलाना, कौतुक—अकालमे वर्षा आदि दिखलाना और बच्चोकी रक्षाके लिये भभूत देना आदि करता है वह अभियोग्य भावना करता है ॥१८४॥

टी०—द्रव्यलाभ, मीठा भोजन और सुखके लिये जो मन्त्राभियोग क्रिया, कुतूहल दिखानेकी क्रिया और बालक आदिकी रक्षाके लिये भूतिकर्म करता है वह अभियोग्य भावनाको करता है । जो द्रव्यलाभ आदिके लोभसे मत्रादि करता है वही अभियोग्य भावना करता है, सब नही । जो अपनी या दूसरोकी आयु आदि जाननेके लिये मत्र प्रयोग करता है, धर्मकी प्रभावनाके लिये कौतुक दिखलाता है या वैयावृत्य करनेकी भावनामे तत्पर रहता है वह ज्ञान दर्शन और चारित्र परिणामोंमे आदर भाव रखनेसे दोषका भागी नही है, यह भाव है ॥१८४॥

चौथी आसुरी भावनाको कहते है—

गा०—अनुबद्ध क्रोध और कलहसे जिसका तप संयुक्त है, ज्योतिष आदिसे आजीविका करता है, निर्दय है, दूसरेको कष्ट देकर भी पश्चात्ताप नही करता वह आसुरी भावनाको करता है ॥१८५॥

---

१. ति तेन य स्वस्य–आ० मु० ।

'**अणुबधरोसविग्गहससत्ततवो णिमित्तपडिसेवी**' रोषश्च विग्रहश्च रोषविग्रहौ **अनुबन्धो रोषविग्रहौ** अनुबन्धरोषविग्रहौ अनुबन्धरोषविग्रहाभ्या ससक्त सबद्ध अनुबन्धरोषविग्रहससक्त तपो यस्य स **तथोक्तः**। '**निमित्ताजीवो च**' य स आसुरीभावना करोति इति केचित्कथयन्ति। अनुबद्धो भवान्तरानुयायी रोषो यस्य सोऽनुबद्धरोष । विग्रहेण कलहेन ससक्त तपो यस्य स विग्रहससक्ततप शब्देन भण्यते । अनुबद्धौ रोषविग्रहौ अस्येत्यनुबद्धरोषविग्रह । सम्यगतीव संसक्त संबद्ध परिग्रहेण तपो यस्य स ससक्ततपोऽभिलापवाच्य । **णिक्किव-णिराणुतावी**, य निर्दय प्राणिषु, कृत्वापि परपीडा अनुतापरहितश्चासुरी भावना करोति ॥१८५॥

समोहभावना निरूप्यते—

उम्मग्गदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य ।
मोहेण य मोहिंतो संमोहं भावण कुणइ ॥१८६॥

उम्मग्गदेसणं मिथ्यादर्शन, अविरति, वा य उपदिशति, आप्ताभासानागमास्तत्प्रणीतांश्च हितत्वेनाचष्टे। यो वा तत्त्वज्ञो हिंसादिक कुर्वन्नपि न पापेन लिप्यते। ज्ञान हि सर्व पाप दहति इति प्रतिपादयता हिंसादिभ्यो भय निराकुर्वता हिंसादिषु जीवा प्रवर्तिता भवन्ति। स एक उन्मार्गस्योपदेष्टा। यज्ञे प्राणिवधो न पापाय शास्त्रचोदितत्वाद्दानादिवत्। कि च पशवो हि यागार्थमेवादौ सृष्टा याजका यजमाना पशवश्च मन्त्रमाहात्म्यात्स्वर्ग लभन्ते इति। अयमेक उन्मार्गोपदेश । '**मग्गदूसणो**' सवरस्य निर्जरायाश्च निरवशेषकर्मापायस्य वा हेतुभूता समीचीनज्ञानदर्शनचारित्रपरिणामा मार्ग इति उच्यते। अव्याबाधसुखस्य परपरा-

टी०—अनुबद्ध रोष और विग्रहमे जिसका तप सम्बद्ध है और जो निमित्ताजीवि है वह आसुरी भावनाको करता है ऐसा कोई आचार्य कहते है। अनुबद्ध अर्थात् आगामी भवमे जानेवाला जिसका क्रोध है अर्थात् ऐसा उत्कट क्रोध है जो दूसरे भवमे साथ जाता है वह व्यक्ति अनुबद्ध रोष है, जिसका तप विग्रह अर्थात् कलहसे सम्बद्ध है वह 'विग्रह ससक्त तप' शब्दसे कहा जाता है। जिसका रोष और विग्रह अनुबद्ध है वह अनुबद्ध रोष विग्रह है। और जिसका तप परिग्रहसे अतीव सम्बद्ध है वह 'ससक्त तप' शब्दसे कहा जाता है। जो प्राणियोमे दया नही करता तथा दूसरोको पीडा पहुँचा कर भी पछताता नही है, वह आसुरी भावना करता है ॥१८५॥

सम्मोह भावनाको कहते है—

गा०—जो मिथ्यात्व या असयमका उपदेश देता है, मार्गको दूषण लगानेवाला है और रत्नत्रयका विरोधी है, अज्ञानसे मूढ है वह सम्मोह भावनाको करता है ॥१८६॥

टी०—उम्मग्गदेसण अर्थात् जो मिथ्यादर्शन अथवा अविरतिका उपदेश देता है, आप्ताभासोको और उनके द्वारा रचित शास्त्रोको हितकारी कहता है, जो तत्त्वज्ञ है वह हिंसा आदि करते हुए भी पापसे लिप्त नहो होता, ज्ञान सब पापको भस्म कर देता है ऐसा कहनेवाला हिंसा आदि पापका भय दूर करके जीवोको हिसा आदिमे लगाता है। वह उन्मार्गका उपदेशक है। यज्ञमे किया गया प्राणिवध पापका कारण नही है क्योकि वेदमे कहा है जैसे दान पापका कारण नही है। प्रारम्भमे यज्ञके लिये ही पशुओकी सृष्टि की गई थी। जो यज्ञ करते हैं, कराते हैं और पशु, ये सब मरकर मन्त्रके माहात्म्यसे स्वर्गमे जाते है। यह भी उन्मार्गका उपदेष्टा है। 'मग्गदूसणो'—संवर और निर्जराके तथा समस्त कर्मोंके विनाशके हेतु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप परिणाम मार्ग कहे जाते है; क्योकि बाधारहित सुखके परम्परासे कारण हैं,

कारणत्वाच्च । तस्य मार्गस्य दूषणं नाम ज्ञानादेव मोक्ष किं दर्शनचारित्राभ्या ? चारित्रमेवोपाय किं ज्ञानेनेति कथयन्मार्गस्य दूषको भवति । अथवा मार्गप्रत्यायनपरं श्रुत मार्गस्तस्य दूषको यो अपव्याख्यान-कारी । **'मग्गविप्पडिवणी य'** मार्गे रत्नत्रयात्मके विप्रतिपन्न एष न मुक्तेर्मार्ग इति यस्तद्विरुद्धाचरण । **मोहेण य** अज्ञानेन च सशयविपर्यासरूपेण । **'मुज्झन्तो'** मुह्यन् । **सम्मोहेसु** तीव्रकामरागेषु कुत्सितेषु देवेषु उपपद्यते ॥१८६॥

भावनाना फल दर्शयति भयोपजननाय—

एदाहिं भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गदिं लहइ ।
तत्तो चुदो समाणो भमिहिदि भवसागरमणंतं ॥१८७॥

'एदाहिं भावणाहिं य' एताभि. भावनाभि । **'देवदुग्गइं लहदि'** देवेषु दुष्टा या गतिस्ता गच्छति । **'विराधगो'** रत्नत्रयाच्च्युत । **'तत्तो चुदो समाणो'** तस्या देवदुर्गतेश्च्युत सन् । **'भमिहिदि'** भ्रमिष्यति भव-सागरमन्तातीत ॥१८७॥

एदाओ पंच वि वज्जिय इणमो छट्ठीए विहरदे धीरो ।
पंचसमिदो तिगुत्तो णिस्संगो सव्वसंगेसु ॥१८८॥

'एदाओ पंच वि वज्जिय' एता पञ्च भावना परित्यज्य **'इणमो'** अय यति. धीर । **'छट्ठीए'** षष्ठ्या भावनया । **'विहरदे'** प्रवर्तते । षष्ठ्या भावनाया प्रवर्तितु एवभूतो योग्य इत्याचष्टे—**'पंचसमिदो'** समितिपञ्चकवर्तन । **'तिगुत्तो'** गुप्तित्रयालकृत । **'णिस्संगो'** सगरहित । **'सव्वसंगेसु'** सर्वपरिग्रहेषु ॥१८८॥

का सा षष्ठीभावना ? अत्राचष्टे—

तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणा चेय ।
धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा ॥१८९॥

उस मार्गको दूषण लगाना । यथा—ज्ञानमें ही मोक्ष होता है, दर्शन और चारित्रसे क्या लाभ । अथवा चारित्र ही मोक्षका उपाय है, ज्ञानकी आवश्यकता नही है । ऐसा कहनेवाला मार्गका दूषक होता है । अथवा मार्गका ज्ञान करानेवाला श्रुतमार्ग है उसका जो दूषक है—मिथ्या व्या-ख्यान करता है । 'मग्गविप्पडिवणी'—रत्नत्रयात्मक मार्गमे विप्रतिपन्न है । यह मुक्तिका मार्ग नही है ऐसा मानकर उसके विरुद्ध आचरण करता है और मोह अर्थात् सशय विपर्ययरूप अज्ञानसे मोहित है । वह तीव्रकामी और रागी नीच देवोमे उत्पन्न होता है ॥१८६॥

भय उत्पन्न करनेके लिये भावनाओंका फल बतलाते है—

गा०—रत्नत्रयसे च्युत हुआ व्यक्ति इन भावनाओसे देवोमे जो दुष्टगति है उसे प्राप्त करता है । उस देवदुर्गतिसे च्युत होकर अन्तरहित ससार समुद्रमे भ्रमण करता है ॥१८७॥

गा०—इन पाँचो ही भावनाओको त्याग कर यह धीर यति छठी भावनामे प्रवृत्त होता है । जो पाँच समितियोको पालता है, तीन गुप्तियोसे सुशोभित है और सब परिग्रहोमे आसक्ति रहित है । अर्थात् छठी भावनामे प्रवृत्त होनेके योग्य ऐसा यति ही होता है ॥१८८॥

छठी भावनाको कहते हैं—

'तवभावणा' तपसोऽभ्यासः । **'सुदभावणा'** ज्ञानस्य भावना । **'सत्तभावणा'** अभीरुत्वभावना । **'एगत्तभावणा'** एकत्वभावना । **'धिदिबलविभाविणावि य'** धृतिबलभावना चेति । **'असंकिलिट्ठावि पंचविधा'** असंक्लिष्टा भावनाः पञ्चप्रकाराः । ननु च ता पञ्चभावनास्तत्र किमुच्यते **'छट्ठी य भावणा चेति'** असंक्लिष्टभावनात्वसामान्यापेक्षया एकतामारोप्य षष्ठीत्युच्यते । विशेषरूपापेक्षया तपोभावनादिविवेक । अत एव सूत्रकारोऽपि एकता दर्शयति **असंकिलिट्ठा वि पंचविहा'** इति ॥१८९॥

तपोभावना समाधे कथमुपाय इत्यत्राचष्टे—

तवभावणाए पंचेंदियाणि दंताणि तस्स वसमेंति ।
इंदियजोगायरिओ समाधिकरणाणि सो कुणइ ॥१९०॥

'तवभावणाए' तपोभावनया असकृदशनत्यागेन द्रव्यभावरूपेण । **'पंचेंदियाणि'** पञ्चापि इन्द्रियाणि । **'तस्स'** तपोभावनावतस्य । **'वसमेंति'** वशमुपयान्ति । **'यतो'** यस्मात्, **'दंताणि'** दान्तानि निगृहीतदर्पाणि । **इंदिययोगायरिओ'** इन्द्रियाणां शिक्षाविधाय्याचार्योऽसौ । **'समाधिकरणानि'** रत्नत्रयसमाधानक्रियाः । **'सो'** स, **'कुणइ'** करोति । एतदुक्तं भवति । दान्तानि इन्द्रियाणि तपसा न कामरागमस्यानयन्ति । क्षुधादिभिरुपद्रुतात्मा न वामलोचनासुरतक्रीडादौ करोत्यादरमिति प्रतीतमेव । ननु चानशनादौ प्रवृत्तस्याहारदर्शने तद्वार्ताश्रवणे तदासेवायां चादरो नितान्तं प्रवर्तते ततोऽयुक्तमुच्यते तपोभावनया दान्तानीन्द्रियाणीति । इन्द्रियविषय-

---

गा०—असंक्लिष्ट अर्थात् संक्लेशरहित भावना भी पाँच प्रकारकी है—तप भावना, श्रुतभावना, सत्त्व भावना, एकत्वभावना और धृतिबल भावना ॥१८९॥

टी०—तपका अभ्यास तप भावना है। ज्ञानकी भावना श्रुतभावना है। निर्भयताकी भावना सत्त्व भावना है। एकत्व भावना और धृतिबल भावना ये पाँच असंक्लिष्ट भावना है।

शंका—ये तो पाँच भावना है तब छठी भावना कैसे कहा ?

समाधान—असंक्लिष्ट भावनापना इन सबमे समान है, इस अपेक्षा इनमे एकत्वका आरोप करके छठी भावना कहा है। विशेषकी अपेक्षा तप भावना आदि भेद होता है। इसीसे ग्रन्थकार भी 'असंकिलिट्ठा वि पचविहा' लिखकर एकताको बतलाते है ॥१८९॥

तपभावना समाधिका उपाय कैसे है यह कहते है—

गा० द्रव्य और भावरूप तपकी भावनासे पाँचो इन्द्रियाँ दमित होकर उस तप भावनावालेके वशमे हो जाती है। इन्द्रियोको शिक्षा देनेवाला वह आचार्य रत्नत्रयका समाधान करनेवाली क्रियाएँ करता है ॥१९०॥

टी०—इसका भाव यह है कि तपसे दमित इन्द्रियाँ साधुमे कामराग उत्पन्न नही करती। जो भूख आदिसे पीडित है वह स्त्रीके साथ रतिक्रीडा आदि करनेमे रुचि नही रखता यह प्रसिद्ध ही है।

शङ्का—जो उपवास आदि करता है उसका आहारके देखनेमे, आहारकी चर्चा सुननेमे और उसके सेवनमे अत्यन्त आदर होता ही है। अतः यह कहना अयुक्त है कि तप भावनासे इन्द्रियाँ दमित होती हैं ?

रागकोपपरिणामाना कर्मास्रवहेतुतया अहितत्वप्रकाशनपरिज्ञानपुर.सरतपोभावनया विषयसुखपरित्यागात्मकेन अनशनादिना दान्तानि भवन्ति इन्द्रियाणि। पुन पुन सेव्यमानं विषयसुखं राग जनयति। न भावनान्तरान्तर्हितमिति मन्यते ॥१९०॥

तपोभावनारहितस्य दोषमाचष्टे उत्तरप्रबन्धेन सदृष्टान्तोपन्यासेन—

इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराजियपरस्सो।
अकदपरियम्म कीवो मुज्झदि आराहणाकाले ॥१९१॥

'**इंदियसुहसाउलओ**' इन्द्रियसुखस्वादलम्पटो। '**घोरपरीसहपराजियपरस्सो**' परीषहै घोरै दु:सहै क्षुदादिभि पराजितोऽभिभूत सन् य पराङ्मुखता गतो रत्नत्रयस्य। '**अकदपरियम्म कीवो**' अकृत परिकर्म तपआराधनाया येनासौ अकृतपरिकर्मा। '**कीवो**' दीन। '**मुज्झइ**' मुह्यति विचित्ततामाप्नोति। '**आराहणाकाले**' आराधनाया काले ॥१९१॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

जोग्गमकारिज्जंतो अस्सो सुहलालिओ चिरं कालं।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ जह ण कज्जयरो ॥१९२॥

'**जोग्गमकारिज्जंतो**' वाव्चालनभ्रमणलङ्घनादिका शिक्षा अकार्यमाण। '**अस्सो**' अश्व। '**सुहलालिओ**' सुखलालित। '**चिरं काल रणभूमीए**' युद्धभूमौ। '**वाहिज्जमाणगो**' वाह्यमान। '**जह ण कज्जकरो**' यथा कार्यं न करोति तथा यतिरपि ॥१९२॥

सुगमत्वान्न व्याख्यायते गाथात्रयम् तवभावणा—

पुव्वमकारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले।
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहे मुच्छिदो जीवो ॥१९३॥

समाधान—इन्द्रियके विषयमे होनेवाले राग द्वेषरूप परिणाम कर्मोके आस्रवमे हेतु होते है इसलिये वे अहितकारी हैं। इस परिज्ञानपूर्वक तपोभावनासे किये गये अनशन आदिसे जो कि विषय सुखके परित्यागरूप है, इन्द्रियाँ दमित होती है। बार बार सेवन किया गया विषय सुख रागको उत्पन्न करता है। किन्तु भावनासे दमित हुआ नही करता ॥१९०॥

जो तपभावनासे रहित है उसका दोष दृष्टान्तपूर्वक आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जो इन्द्रिय सुखके स्वादमे आसक्त है, भूख आदिकी दु सह परीषहोसे हारकर रत्नत्रयसे विमुख हुआ है, जिसने परिकर्म-आराधनाके योग्य तप नही किया है वह दीन आराधना के कालमे विचित्त हो जाता है उसका मन इधर-उधर भटकता है ॥१९१॥

इसमे दृष्टान्त देते हैं—

गा०—जैसे जिस घोड़ेको शब्दके सकेत पर चलने, भ्रमण, लंघन आदिकी शिक्षा नही दी गई है और चिरकाल तक सुखपूर्वक लालन पालन किया गया है वह घोड़ा युद्धभूमिमे सवारीके लिये ले जाया गया कार्य नही करता वैसे ही यति भी जानना ॥१९२॥

आगेकी तीन गाथाएँ सुगम हैं अतः उनकी टीका नहीं है—

जोग्गं कारिज्जंतो अस्सो दुहभाविदो चिरं कालं ।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्ज ॥१९४॥
पुव्वं कारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ।
होदि हु परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥१९५॥

श्रुतभावनामाहात्म्यं प्रकटयति—

सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणवइ ।
तो उवओगपइण्णा सुहमच्चविदो समाणेइ ॥९६॥

'सुदभावणाए'—श्रूयते इति श्रुतमित्यस्या व्युत्पत्तौ शब्दश्रुतमुच्यते । तस्य भावना नाम तदर्थविषयज्ञानासकृत्प्रवृत्ति । ननु शब्दश्रुतस्यासकृत्पठन श्रुतभावना स्यात्, ज्ञान ततोऽर्थान्तर ? अत्रोच्यते—श्रुतकार्ये ज्ञाने श्रुतशब्दो वर्तते इति । न दोषो वा । गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तावपि नाश्वादौ गोशब्दो वर्तते । किन्तु रूढिवशात्सास्नादिमत्येव । एवमिहापि श्रूयते इति व्युत्पादितोऽपि न सकले श्रोत्रोपलभ्ये वचनसन्दर्भे प्रवर्तते, अपि तु स्वसमयरूढिवशाद् गणधरोपरचिते एव । तथैव श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्ते ज्ञाने एव वर्तते । तस्यास्य श्रुतज्ञानस्य भावनया । **'णाणं दसणतवसजमं च परिणमइ'** समीचीनज्ञानदर्शनतप सयमपरिणति

गा०—जिसने पूर्व कालमे तप नही किया और विषय सुखमे आसक्त रहा वह जीव मरते समय समाधिकी कामना करता हुआ उस प्रकार परीषहको सहन करनेवाला नही होता ॥१९३॥

गा०—जैसे योग्य शिक्षाको प्राप्त अश्व चिरकाल तक दु खसे भावित हुआ, अर्थात् कष्ट सहनेका अभ्यासी युद्धभूमिमे सवारीमे ले जाने पर कार्य करता है ॥१९४॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमे तप करनेवाला विषय सुखसे विमुख जीव मरते समय समाधिका इच्छुक हुआ निश्चयसे परीषहको सहनेवाला होता है ॥१९५॥

श्रुतभावनाका माहात्म्य प्रकट करते है—

गा०—श्रुतभावनासे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और सयमरूप परिणमन करता है। ज्ञान भावनासे उपयोगकी प्रतिज्ञाको सुखपूर्वक अचलित होता हुआ समाप्त करता है ॥१९६॥

टी०—'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है 'ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर श्रुतसे शब्दश्रुत कहा जाता है। उसकी भावनाका मतलब है—शब्दके अर्थविषयक ज्ञानमे बार-बार प्रवृत्ति करना अर्थात् उसका अभ्यास करना श्रुतभावना है।

शका—शब्दरूप श्रुतका बार-बार पढना श्रुतभावना है। ज्ञान उससे भिन्न है ?

समाधान—श्रुतका कार्य ज्ञान है अत. उसे भी श्रुतशब्दसे कहते हैं। इसमे कोई दोष नही है। जो 'गच्छति' चलती है वह गौ है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी अश्व आदिको 'गौ' शब्दसे नही कहा जाता। किन्तु रूढिवश गलकम्बलवाले पशुको ही गौ कहा जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी 'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी कानसे जो कुछ वचन समूह सुना जाता है उस सबको श्रुत नही कहते। किन्तु अपनी आगमिक रूढिवश गणधरके द्वारा रचे गये शब्दसमूहको ही श्रुत कहते है। उसी प्रकार श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानको ही श्रुत कहते है। उस श्रुतज्ञानकी भावनासे समीचीनज्ञान दर्शन तप और

प्रतिपद्यते। ज्ञानभावनापरो ज्ञानपरिणतो भवतु कथमसौ दर्शनादौ परिणामान्तरे प्रवृत्तो भवति ? न हि क्रोध-परिणतो मायाया प्रवृत्तो भवतीति चेन्नैष दोष । यद्यान्तरीयक तस्मिन्सति तद्भवत्येव तदधिकरणे यथा कृतकत्वेऽनित्यत्वं। ज्ञान चान्तरेण न भवन्ति सम्यग्दर्शनादय । अत्रेद चोद्य—असयतसम्यग्दृष्टेरस्ति ज्ञान तस्य तप सयमौ किमुत स्त ? सयमसद्भावे कथमसयतता ? तस्मान्न तौ स्त । कथमिद सूत्र ? नायमस्य सूत्र-स्यार्थो ज्ञानभावनाया सत्या भवत्येव सर्व एव इति, किन्तु ज्ञानभावनाया सत्यामेव भवन्ति नासत्याम्। तप-सयमौ कार्यत्वेन स्थितौ चारित्रमोहक्षयोपशमविशेषसहायापेक्षिणा ज्ञानेन प्रवर्त्येते, न चावश्य कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति। धूममजनयतोऽप्यग्नेर्दर्शनात् काष्ठाद्यपेक्षस्य। '**तो**' तत ज्ञानभावनात । '**उवओगपविण्णं**' ज्ञानदर्शनतप सयमपरिणामप्रबन्धे प्रवर्तयाम्यात्मान इति या उपयोगप्रतिज्ञा ता। '**सुह**' अक्लेशेन। '**समाणेदि**' समापयति। '**अच्चविदो**' अचलित ॥१९६॥

जदणाए जोग्गपरिभाविदस्स जिणवयणमणुगदमणस्स।
सदिलोवं कादुं जे ण चयंति परीसहा ताहे ॥१९७॥

'**जदणाए**' यत्नेन। '**जोग्गपरिभाविदस्स**' युज्यते अनन अनशनादिना निर्जरार्थं यतिरिति बाह्य तप

सयमरूप परिणतिको प्राप्त होता है।

शका—जो ज्ञानभावनामे लीन है वह ज्ञानरूप परिणत होता है किन्तु वह दर्शन आदि अन्य परिणामरूप परिणत कैसे हो सकता है ? जो क्रोध रूपसे परिणत है वह मायारूपसे परिणत नही हो सकता ?

समाधान—यह दोष उचित नही है। जो जिसके विना नही होता वह उसके होनेपर अवश्य होना है। जैसे जो बनाया हुआ है वह अनित्य अवश्य है। ज्ञानके विना सम्यग्दर्शन आदि नही होते।

शका—यहाँ यह तर्क होता है कि असयत सम्यग्दृष्टीके ज्ञान है तब क्या उसके तप और सयम है ? यदि सयम है तो वह असयत कैसे है ? अत उसके तप और सयम नही है ? तब यह सूत्रगाथा कैसे ठीक है ?

समाधान—इस सूत्रगाथाका यह अर्थ नही है कि ज्ञानभावनाके होनेपर सब तप सयम आदि होते ही है। किन्तु ज्ञानभावनाके होनेपर ही होते है, उसके अभावमे नही होते। तप और सयम कार्य है अत चारित्रमोहके क्षयोपशम विशेषकी अपेक्षा सहित ज्ञानके होनेपर होते हैं। कारणके होनेपर कार्य अवश्य होता ही है ऐसा नियम नही है। काष्ठ आदिकी आग बिना धूमके भी देखी जाती है।

ज्ञानभावनासे उपयोग प्रतिज्ञाको बिना क्लेशके **अचल** होकर **समाप्त** करता है—पूर्ण करता है। 'मै ज्ञान दर्शन तप सयमरूप परिणामोमें अपनेको प्रवृत्त करता हू' यह उपयोग प्रतिज्ञा है ॥१९६॥

गा०—तब यत्नसे अपनेको तपसे भावित करनेवालेके तथा जिनागमके अनुगत चित्तवाले-के स्मृतिका लोप करनेमे परीषह समर्थ नही होती ॥१९७॥

टी०—यति निर्जराके लिए इस अनशन आदिसे 'युज्यते' युक्त होता है वह योग है। इस

योगशब्देनात्रोच्यते । तेनायमर्थ । तपसा भावितस्येति । '**जिणवयणमणुगदमणस्स**' जिनवचनानुगतचेतस. । '**सदिलोवं**' स्मृतिलोप । रत्नत्रयपरिणामप्रबन्धसम्पादनोद्योगस्य स्मृतिर्या तस्या विनाश । '**काउं जे**' कर्तुं । '**न चयंति** न शक्नुवन्ति । के ? **परिस्सहा**' क्षुदादिवेदना । '**ताहे**' तदा । एतदुक्तमनया गाथया—अभ्यस्यमान श्रुतज्ञान निर्मल पटीयो भवति । पाटवाभ्यासबलेन च स्मृतिरखेदेन प्रवर्तते । स्मृतिमूलो हि योगो वाक्काय-व्यापार इति । **सुद गदं** ॥१९७॥

सत्त्वभावनाया गुणं स्तौति उत्तरगाथया—

देवेहिं भीसिदो वि हु कयावराधो व भीमरूवेहिं ।
तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥१९८॥

बहुसो वि जुद्धभावणाय ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि ।
तह सत्तभावणाए ण मुज्झदि मुणी वि उवसग्गे ॥१९९॥

'**देवेहि**' देवैस्त्रासितोऽपि । खु स्फुट । कृतापराधोऽपि भीमरूपै । **वा** अथवा । **तो** तत. । सत्त्वभावनया मोढव्यात् । '**वहइ भर णिब्भओ सयल**' वहति भर सयमस्य निर्भय सकल । मृतेर्भीमरूपदर्शनाच्च भीतिरुपजायते । भीतस्य प्रच्युतरत्नत्रयस्य तदतिदुरवाप । तदनवाप्त्या न कर्म निर्मूलन शक्यं कर्त्तुं । अना-

व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ योग शब्दसे बाह्य तप कहा है । अत 'जोगपरिभाविदस्स' का अर्थ तपसे भावित होता है । जो यत्नपूर्वक तप करता है और अपने चित्तको जिनागमका अनुसारी बनाता है उसकी स्मृतिका—अर्थात् रत्नत्रयरूप परिणामोंके प्रबन्ध सम्पादनमें उद्योग करनेकी जो उसकी स्मृति है कि मुझे रत्नत्रयरूप परिणामोको सम्पन्न करनेमे उद्योग करना है उस स्मृतिक लोप परीषह नही कर सकती । इस गाथासे यह कहा है कि सतत अभ्यास करनेसे श्रुतज्ञाना निर्मल और प्रबल होता है । प्रबल अभ्यासके बलसे स्मृति विना खेदके अपना काम करती है । योग अर्थात् वचन और कायके व्यापारका मूल स्मृति है ॥१९७॥

श्रुतभावनाका कथन समाप्त हुआ ।

आगेकी गाथासे सत्त्वभावनाके गुणका कथन करते है—

गा०—देवोके द्वारा पीडित किया गया भी अथवा भयकर जीवोके द्वारा सताया गया यति सत्त्वभावनाके द्वारा दु:ख सहन करनेसे निडर होकर सयमके समस्त भारको वहन करता है ॥१९८॥

टी०—मरणसे और भयकररूपके देखनेसे भय उत्पन्न होता है । डरकर यदि रत्नत्रयको छोड बैठा तो पुन: उसकी प्राप्ति बहुत कठिन है । और रत्नत्रयको प्राप्त किये विना कर्मका निर्मूलन करना शक्य नही है । तथा कर्मोका विनाश न होनेपर वे आत्माको नाना प्रकारके कष्ट देते है । इसलिए भय ही अनेक अनर्थोका मूल है ऐसा निश्चय करके सबसे पहले भयको ही भगाना चाहिए ॥१९८॥

गा०—अनेक प्रकारकी भी युद्ध सम्बन्धी भावनासे जैसे योद्धा युद्धमे नहीं ही मोहित होता अर्थात् युद्धसे नही डरता । वैसे ही मुनि भी सत्त्वभावनासे उपसर्ग आनेपर मोहित नही होता ॥१९९॥

सादितप्रलयानि च कर्माणि बिचित्र यातयन्त्यात्मान । ततो भीतिरेवानेकानर्थमूलमिति निश्चित्य सा प्रागेव निरसनीया । तथाहि—॥१९९॥

खणणुत्तावणवालणवीयणविच्छेयणावरोहत्तं ।
चिंतिय दुह अदीहं मुज्झदि णो सत्तभाविदो दुक्खे ॥२००॥
बालमरणाणि साहू सुचिंतिदूणप्पणो अणंताणि ।
मरणे समुट्ठिए विहि मुज्झइ णो सत्तभावणाणिरदो ॥२०१॥

पृथिवीकायिका सन् खननदहनविलेखनकुट्टनभञ्जनलोठनपेषणचूर्णनादिभिर्बाधां परिप्राप्तोऽस्मि । अपश्च शरीरत्वेनोपादाय घर्मरश्मिकरनिकरापातेन, दहनज्वालाकलापकवलिततनुतया पर्वतदरीसमुन्नतदेशेभ्योऽतिवेगेन शिलाघनवसुन्धरासु पतनेन, आम्ललवणक्षारादिरससमवेतद्रव्यसन्मिश्रणेन, धगधगायमानेऽग्नौ प्रक्षेपणेन, तरुतटशिलापातेन पादकरतलाभिघातेन, तरणोद्यताना विशालघनोर स्थलावपीडनेन, अवलोकमानमहानागतरणमज्जनहस्तक्षोभणादिना व महती वेदना अधिगतोऽस्मि ।

तथा समीरण तनुतया परिगृह्य द्रुमगुल्मशिलोच्चयादीना प्राणभृता नितान्तकठिनकायाना चाभिघातेन समीरणान्तरावमर्द्दनेन, ज्वलनस्पर्शनेन च दु खासिकामनुभूतोऽस्मि ।

तथा परिगृहीताग्निशरीरो विध्यापनेन पासुभस्मसिकतादिप्रक्षेपणेन, मुशलमात्रजलधारापातेन, दण्डकाष्ठादिभिस्ताडनेन, लोष्ठपाषाणादिभिश्चूर्णनेन प्रभञ्जनभञ्जनेन विपदमाश्रितोऽस्मि ।

फलपलाशपल्लवकुसुमादिकाय स्वीकृत्य त्रोटनभक्षणमर्दनपेषणदहनादिभिस्तथा गुल्मलतापादपादिक

गा०—खोदना, जलना, बहना छेदना, रोपनाको विचारकर सत्त्वभावनायुक्त मुनि दुःखमे अल्पकालीन दुःखसे मोहित नही होता अर्थात् नही डरता ॥२००॥

गा०—सत्त्वभावनामे लीन साधु अपने अनन्त बालमरणोको सम्यकरूपसे विचारकर मरणके उपस्थित होनेपर भी मोहित नही होता ॥२०१॥

टी०—पृथ्वीकायमे जन्म लेकर मैने खोदने, जलने, जोतने, कूटने, तोडने, लोटने, पीसने और चूर्णकी तरह पीसे जानेका कष्ट उठाया है। जलको शरीररूपसे ग्रहण करके मैने सूर्यकी किरणोके समूहके गिरनेसे, आगकी ज्वालाके समूहके द्वारा मेरे शरीरको निगल लेनेसे, पर्वतकी गुफा जैसे ऊँचे स्थानोसे शिला और कठोर पृथिवी पर अतिवेगसे गिरनेसे, खट्टे, नमकीन, खारे आदि रसोसे युक्त द्रव्योके मिलनेसे, धक्-धक् जलती हुई आग पर फेकनेसे, वृक्ष, किनारे और शिलाओके गिरनेसे, पैर और हथेलीके अभिघातसे, तैरनेमे उद्यत मनुष्योके विशाल और दृढ छातीसे पीडित होनेसे, विशालकाय हाथियोके तैरने डूबने और सूडके द्वारा क्षोभित होनेसे मैने बडी वेदना भोगी है। तथा वायुको शरीररूपसे ग्रहण करके वृक्ष, झाडी, पर्वत आदि प्राणियोकी अत्यन्त कठोर कायाके अभिघातसे, दूसरी वायुके द्वारा दबाये जानेसे, और आगके स्पर्शनसे मैने दुखोंका अनुभव किया है। तथा अग्निको शरीररूपसे ग्रहण करके बुझानेसे, धूल भस्म रेत आदि मेरे ऊपर फेकनेसे, मूसल जैसी जलधारा डालनेसे, दण्ड काष्ठ आदिसे पीटनेसे, लोष्ठ पत्थर आदिसे चूर्णित करनेसे और वायुसे पीडित होनेसे मै विपत्तियोका स्थान बन चुका हूँ। फल, पलाश, पत्र, फूल आदिके शरीरको स्वीकार करके तोड़ना, खाना, मलना, पीसना और जलाने आदिसे

तनूकृत्य छेदनेन, भेदनेनोत्पाटनेन, रोहणेन, कर्षणेन, दहनेन च क्लेशभाजनतामुपयातोऽस्मि ।

तथा कुन्थुपिपीलिकादित्रसो भूत्वा वेगप्रयायिरथचक्राक्रमणेन, खरतुरगादिपरुषखुरसन्ताडनेन, जलप्रवाहप्रकर्षणेन, दावानलेन, द्रुमपाषाणादिपतनेन, मनुजचरणावमर्द्दनेन, बलवता भक्षणेन च चिरं क्लिष्टोऽस्मि ।

तथा खरकरभबलीवर्दादिभावमापद्य गुरुतरभारारोपणेन, बन्धनेन, कर्कशतरकशादण्डमुशलादिताडनेनाहारनिरोधनेन, शीतोष्णवातादिसपातेन, कर्णच्छेदनेन, दहनेन, नासिकावेधनेन, विदारणेन, परश्वादिर्निशितासिधाराप्रहारेण चिरमुपद्रुतोऽस्मि । तथा भग्नपाद, कृशतया व्याध्यभिभवेन वा पतित इतस्तत परावर्त्यमान, क्रूरतमव्याघ्रशृगालसारमेयादिभिर्भक्ष्यमाण, काकगृध्रकङ्कादिभि. कवलीक्रियमाण, तरलतरतारकाक्षियुगलं, कस्त्रातुमासीत् । ततो यतो गुरुतरभारोद्वहनजानक्वथितव्रणसमुद्भवकृमिकुलेन, काकादिभिश्चानारतमुपद्रुतोऽस्मि ।

तथा मनुजभवेऽपि करणवैकल्याद्दारिद्र्यादसाध्यव्याध्युपनिपातात्, प्रियालाभादप्रिययोगात्परप्रेष्यकरणादपरपराभवात्, द्रविणार्जनाशया दुष्करकर्मादानमूलषट्कर्मोद्योगाच्च, विचित्रा विपदमुगतोऽस्मि ।

तथैवामरभवेऽपि दूरमपसर लघु प्रयाहि, प्रभो प्रस्थानवेला वर्तते, प्रयाणपटह ताडय, ध्वज धारय, हुताशदेवीजन पालय, तिष्ठ स्वामिनोऽभिलषितेन वाहनरूपेण, कि विस्मृतोऽस्य[1]नल्पपुण्यपण्यशतमखस्य दासेरता यत्तूष्णी तिष्ठसि । पुरो न धावसीति देवमहत्तरपरुषतरभारतीशलाकाना श्रवणतोदनेन शतमुखान्त-

तथा झाडी, बेल, वृक्ष आदिको छेदने, भेदने, उखाडने, खीचने और जलानेसे मैं क्लेशका पात्र बना हूँ।

तथा कुंथु चींटी आदि त्रस पर्यायको धारण करके वेगसे जाते हुए रथके पहियेके आक्रमणसे, गधे घोडे आदिके कठोर खुरके आघातसे, जलके प्रवाहके खिंचावसे, जंगलकी आगसे, वृक्ष, पत्थर आदिके गिरनेसे, मनुष्यके चरणोंसे रौंदे जानेसे और बलवानोंके द्वारा खाये जानेसे मैंने चिरकाल तक कष्ट भोगा है। तथा गधा ऊँट बैल आदिका शरीर धारण करके भारी बोझा लादनेसे, सवारी करनेसे, बाँधनेसे, अत्यन्त कठोर कोडे, दण्डे, और मूसल आदिसे पीटनेसे, भोजन न देनेसे, शीत उष्ण वायु आदिके चलनेसे, कान छेदनेसे, जलानेसे, नाक छेदनेसे, परशु आदिसे काटनेसे, तीक्ष्ण तलवारकी धारके प्रहारसे मैंने चिरकाल उपद्रव सहे हैं। तथा पैर टूट जाने पर, कमजोर होनेसे अथवा रोगसे पीडित होनेसे गिर पडने पर, इधर-उधर घूमने पर अतिक्रूर व्याघ्र, सियार, कुत्ते आदिसे खाये जाने पर, कौवे, गिद्ध, कक आदि पक्षियोंके द्वारा अपना आहार बनाये जाने पर, आँखोंसे आँसू बहाते हुए भी कौन मेरी रक्षा करता था। अत भारी बोझा लादनेसे उत्पन्न हुए घावोंमें पैदा हुए कीटोंसे और उनको खाने वाले कौओंसे मैं निरन्तर सताया गया हूँ। तथा मनुष्यभवमें भी इन्द्रियोंकी कमी होनेसे, गरीबीसे, असाध्य रोगके होनेसे, इष्ट वस्तुके न मिलनेसे, अप्रियके संसर्गसे दूसरेकी चाकरी करनेसे, दूसरेके द्वारा तिरस्कृत होनेसे, धन कमानेकी इच्छासे दुष्कर कर्मबन्धके कारण षट्कर्मोंको करनेसे अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको मैंने भोगा है। उसी प्रकार देवपर्यायमें भी—दूर हटो, जल्दी चलो, स्वामीके प्रस्थान करनेका समय है। प्रस्थान करनेके नगारे बजाओ, ध्वजा लो, निराश देवियोंकी देखभाल करो, स्वामीको इष्ट वाहनका रूप धारण करके खडे रहो, क्या अति पुण्यशाली इन्द्रकी दासताको भूल गये जो चुपचाप खडे हो, आगे नहीं दौडते। इस

१. स्वल्प—अ० आ०।

पुरादभ्रविभ्रमविलोकनोद्भूताभिलाषदहनजनितमन्तापेन षण्मासावस्थितेरायुष परिज्ञानेन च महदुदपादि दु:खं। एवं नरकभवेपि। इत्थमनन्तकालमनुभूतदु:खस्य मम को विषादो, दु:खोपनिपाते। न च विषण्णं त्यजन्ति दु:खानि, स्वकारणायत्तसन्निधानानि तानीति सत्वभावना। यद्यशुभशरीरदर्शनाद् भीति सापि नो युक्ता। तानि शरीराणि असकृन्मया गृहीतानि दृष्टानि च। का तत्र परिचितेभ्यो भीतिरिति चित्तस्थिरीक्रिया सत्वभावना ॥२०१॥

एयत्तभावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा।
सज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥२०२॥

एकत्वभावना नाम जन्मजरामरणावृत्तिजनितदु:खानुभवने न दु:ख मदीय संविभजति कश्चित्। दु:खसंविभजनगुणेन स्वजन इत्यनुराग तदकरणेन च परजन इति च द्वेषो युज्यते। न चेदस्ति सुख मय्याधातुमक्षम इति न तत्सुखेनापि स्वजनपरजनविवेक। तस्मादेक एवाहं न मे कश्चित्। नाप्यहं कस्यचिदिति चिन्ता कार्या। तस्या गुणमाचष्टे **'एयत्तभावणाए'** एकत्वभावनया हेतुभूतया। **'न सज्जदि'** नासक्तिं करोति। क्व? कामभोगे, गणे शिष्यादिवर्गे, शरीरे वा सुखे वा। कामं स्वेच्छया भुज्यन्ते इति कामभोगा। सुखसाधनतया सकल्पितभक्तपानादयो वामलोचनादिवर्गश्च तत्र न सगं करोति। बाह्यद्रव्यसंसर्ग-

---

प्रकार देवोके प्रधानोके अति कठोर वचन रूपी कीलोसे कानोके छेदनेसे, इन्द्रके अन्तपुरकी देवांगनाओके प्रचुर विलासको देखकर उत्पन्न हुई ऐसी सुन्दर देवागनाओकी अभिलाषारूपी आगसे उत्पन्न हुए सतापसे, और आयुके छह मासके शेष रहनेके परिज्ञानसे महान दुःख होता है। इसी प्रकार नरक पर्यायमे भी जानना। इस प्रकार मैने अनन्तकाल दुःखका अनुभव किया है। तब दुःख आने पर विषाद क्यो? विषाद करनेसे दु:ख छोडता नही है। दु:ख तो अपने कारणोके होनेसे होता है। यह सत्त्वभावना है। यदि अशुभ शरीरके देखनेसे भय होता है तो वह भी ठीक नही है। ऐसे शरीर मैने बहुत बार धारण किये है और देखे है। परिचितोमे भय कैसा? इस प्रकार चित्तको स्थिर करना सत्त्वभावना है ॥२०१॥

गा०—एकत्व भावनासे कामभोगमे, सघमे अथवा शरीरमे आसक्ति नही करता। वैराग्यमे मन रमाये हुए सर्वोत्कृष्ट चारित्रको अपनाता है ॥२०२॥

टी०—एकत्व भावनाका स्वरूप इस प्रकार है—जन्म, जरा, और मरणके बार-बार होनेसे उत्पन्न हुए दुःखको भोगनेमे कोई मेरे दुःखमे भाग नही लेता। अत. दुःखमे भाग लेनेसे यह स्वजन है इसलिए उसमे अनुराग और जो दुःखमे भाग नही लेता वह परजन है इसलिए उससे द्वेष करना उचित नही है। यदि कोई दुःखमे भाग नही लेता तो मुझमे सुख ही पैदा करदे सो भी बात नही है। अत जो मुझमे सुख पैदा करे वह स्वजन है और जो सुख पैदा नही करता वह परजन है ऐसा भेद सुखको लेकर भी नही होता। अत मै अकेला ही हूँ। कोई मेरा नही है। और न मै ही किसीका हूँ ऐसा विचार करना चाहिए। उसका लाभ कहते हैं कि एकत्व भावनासे काम भोगमें, शिष्यादिके समूहरूप गणमे, शरीर अथवा सुखमे आसक्ति नही होती।

'काम' अर्थात् अपनी इच्छासे जो भोगे जाते है वे कामभोग है। सुखका साधन होनेसे मनमें संकल्पित खान-पान आदि और स्त्री आदि वर्ग कामभोग है। उसमे वह आसक्ति नही

जनिता प्रीतिविशेषा सुखशब्दवाच्यास्ते तृष्णामेवातिशयवती आनयति चेतोव्याकुलकारिणी, न चेत स्वास्थ्य सपादयितुमीशा इति । न तु उपयोग्या कामभोगा , रत्नत्रयसपत्तिरेव जनस्योपयोगिनी, न तया भोगसपदास्माकं किञ्चिदस्ति कृत्य । मदीयपरिणामावलबिनौ हि बन्धमोक्षौ मम । तत किं तेन गणेन । शरीरमप्यकिञ्चित्कर । न चेत्कर्माणि किञ्चित्कुर्यु: । बाह्य जीवाजीवात्मक द्रव्य रागकोपनिमित्त, इदमुपकारकमनुपकारकमिति वा सकल्प्यमान नान्यथा । तत सकल्पमीदृग्भूत विहाय शुद्धात्मस्वरूपज्ञानपरिणामप्रबन्ध असहायात्मस्वरूपविषय इति एकत्वभावनोच्यते । सत्यामस्या न क्वचित्सङ्ग [1] तत 'वेरग्गपदो' वैराग्यमुपगत । 'फासेइ' स्पृशति । 'अणुत्तरं धम्मं' अतिशयित चारित्रं । एतेन ससारवीजस्य सङ्गस्य निवृत्तिरशेषकर्मापायहेतोश्चारित्रस्य च लाभो गुण एकत्वभावनाजन्य इत्याख्यात भवति । एकत्वभावना मोहमज्ञानरूप अप्यपनयति यथा जिनकल्पिको निरस्तमोह मवृत्त ॥२०२॥

भयणीए विघम्मिज्जंतीए एयत्तभावणाए जहा ।
जिणकप्पिदो ण मूढो खवओ वि ण मुज्झइ तधेव ॥२०३॥

यथा जिनकल्पिको जिनकल्पक प्रपन्नो नागदत्तो नाम मुनिर्भगिन्यामयाग्य कारयन्त्यामपि एकत्वभावनया । 'ण मूढो' मोह न गत । तथैव क्षपकोऽपि न मुह्यतीति गाथार्थ । एकत्वभावना ॥२०३॥

पञ्चमी धृतिबलभावना दु खोपनिपात अकातरता धृति सैव बल धृतिबल तस्य भावनाभ्यास असकृदकातरतया वृत्तिः । तया धृतिबलभावनया दु खदपरीषहचम्वा युध्यतीति निगदति—

करता । बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए प्रीति विशेषको सुख शब्दसे कहते है । वे चित्तको व्याकुल करने वाली अति तृष्णाको ही पैदा करते हैं । वे चित्तको स्वस्थ करनेमे समर्थ नही है । कामभोग भोगने योग्य नही हैं । रत्नत्रयरूप सपत्ति ही मनुष्यके लिए उपयोगी है । उस भोगसम्पदासे हमें कुछ नही करना है । मेरे परिणामो पर अवलम्बित बन्ध और मोक्ष ही मेरे है । अत गणसे मुझे क्या ? शरीर भी अकिञ्चित्कर है । यदि ऐसा न होता तो कर्म क्या करते । बाह्य जीव अजीव आदि द्रव्योमे यह उपकारक है और यह उपकारक नही है ऐसा सकल्प करनेसे ही रागद्वेष होते है, और सकल्प न करनेसे नही होते । इसलिए इस प्रकारका सकल्प त्यागकर शुद्ध आत्म स्वरूपके ज्ञानरूप परिणामोंका प्रबन्ध और परकी सहायतासे रहित आत्म स्वरूपका चिन्तन एकत्व भावना कहाता है । उसके होने पर किसी भी पदार्थमे ममत्व नही होता । अत वैराग्य धारण करके उत्कृष्ट चारित्रको अपनाता है । इसस यह कहा है कि ससारका बीज जो ममत्वभाव है उससे निवृत्ति और समस्त कर्मोंके विनाशका कारण जो चारित्र है उसकी प्राप्ति एकत्व भावनासे होने वाले गुण हैं । एकत्व भावना अज्ञानरूप मोहको भी दूर करती है । जैसे जिनकल्पी मोहको दूर करते है ॥२०२॥

गा०—जैसे अयोग्य आचरण करनेवाली अपनी बहनमे जिनकल्पको धारण करनेवाला नागदत्त नामक मुनि एकत्व भावनासे मोहको प्राप्त नही हुआ । वैसे ही क्षपक भी मोहको प्राप्त नही होता ॥२०३॥

एकत्व भावना समाप्त हुई । पाँचवी धृतिबल भावना है । उसका अर्थ है दु.ख आनेपर कातर नही होना । धृति अर्थात् धैर्य ही हुआ बल । उसकी भावना अर्थात् अभ्यास, निरन्तर कात-

---

1 सग करोति वे–आ० मु० ।

कसिणा परीसहचमू अब्भुट्ठइ जइ वि सोवसग्गावि ।
दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥२०४॥

'**कसिणा**' कृत्स्ना । '**परीसहचमू**' परीषहसेना क्षुदादिद्वाविंशतिदुःखपृतनेति यावत् । '**अब्भुट्ठइ**' आभिमुख्येनोत्तिष्ठति । '**जइवि**' यद्यपि '**सोवसग्गा वि**' चतुर्विधेनोपसर्गेण सह वर्तमानापि । '**दुद्धरपहकरवेगा**' दुर्धरसकटवेगा । '**अप्पसत्ताणं भयजणणी**' अल्पसत्वाना भयजननी ॥२०४॥

धिदिधणिदबद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमच्चाई ।
धिदिभावणाए सूरो संपुण्णमणोरहो होई ॥२०५॥

'**तं**' ता पृतना । '**जोधेइ**' योधयति । कया सह ? '**धिदिभावणाए**' धृतिभावनया । क ? '**धिदिधणिबद्धकच्छो**' धृत्या नितरा बद्धकक्ष । '**सूरो**' शूर । '**अणाइलो**' अनाकुलो विक्रमवान् । फलमाचष्टे तस्य '**संपुण्णमणोरहो होइ**' सपूर्णमनोरथो भवति ॥२०५॥

एयाए भावणाए चिरकालं हि विहरेज्ज सुद्धाए ।
काऊण अत्तसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥२०६॥

'**एयाए भावणाए**' एतया पञ्चप्रकारया भावनया सह । '**चिरकालं विहरेज्ज**' चिर प्रवर्तेत । '**सुद्धाए**' शुद्धया । '**काऊण**' कृत्वा । '**अत्तसोधिं**' आत्मशुद्धि । '**दसणणाणे चरित्ते य**' रत्नत्रये निरतिचारो भूत्वा ॥२०६॥

व्यावर्णितभावनानन्तरा सल्लेखनेत्यधिकारसबन्धमाचष्टे—

एवं भावेमाणो भिक्खू सल्लेहणं उवक्कमइ ।
णाणाविहेण तवसा बज्झेणब्भंतरेण तहा ॥२०७॥

एवं भावेमाणो '**एवं**' उक्तेन प्रकारेण '**भावेमाणो** भावनापर । '**भिक्खू सल्लेहणं**' सल्लेखना तनूकरण । '**उवक्कमइ**' प्रारभते । केन ? '**णाणाविहेण**' नानाप्रकारेण । '**तवसा**' तपसा '**बज्झेणब्भतरेण तहा**'

रता रहित वृत्ति । उस धृति बल भावनासे दु खदायी परीषहकी सेनासे मुनि युद्ध करता है, यह कहते हैं—

गा०—दु खदायी संकटके वेग सहित, अल्प शक्तिवालोको भय पैदा करनेवाली भूख आदि बाईस परीषहोंकी समस्त सेना जिसके साथमे चार प्रकारके उपसर्ग भी हैं, यदि सन्मुख खड़ी हो ॥२०४॥

गा०—धैर्यके साथ दृढतापूर्वक कमरको बाँधनेवाला शूर विना किसी घबराहटके धृति भावनासे उस सेनासे अत्यन्त युद्ध करता है । फलस्वरूप उसका मनोरथ सम्पूर्ण होता है ॥२०५॥

गा०—इस शुद्ध पाँच प्रकारकी भावनासे आत्माकी शुद्धि करके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयमे चिरकालतक विहार करना चाहिए ॥२०६॥

भावनाओका वर्णन करनेके अनन्तर सल्लेखना अधिकारके साथ उनका सम्बन्ध कहते है—

गा०—उक्त प्रकारसे भावना भानेवाला भिक्षु नाना प्रकारके बाह्य और अभ्यन्तर तपसे सल्लेखनाको प्रारम्भ करता है ॥२०७॥

बाह्याभ्यन्तरेण च ॥२०७॥

भेदमकृत्वा व्यावर्णयितुं अशक्या सल्लेखनेति भेदमाचष्टे—

सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव ।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे ॥२०८॥

'सल्लेहणा य दुविहा' सल्लेखना च द्विप्रकारा । **'अब्भतरिया य बाहिरा चेव'** अभ्यन्तरा बाह्या चेति । **'अब्भंतरा कसायेसु'** अभ्यन्तरा सल्लेखना क्रोधादिकषायविषया । **'बाहिरा होदि हु सरीरे'** बाह्या भवति सल्लेखना शरीरविषया ॥२०८॥

बाह्यसल्लेखनोपायनिरूपणार्थं उत्तरप्रबंध—

सव्वे रसे पणीदे णिज्जूहित्ता दु पत्तलुक्खेण ।
अण्णदरेणुवधाणेण सल्लिहइ य अप्पय कमसो ॥२०९॥

'सव्वे रसे' सर्वान्रसान् । प्रकर्षं नीता प्रणीता तान् अतिशयवत[1] इत्यर्थ सुसस्कृतान् बलवर्द्धनानि-त्यर्थ । **'णिज्जूहित्ता'** त्यक्त्वा । **'अण्णदरेणुवधाणेण'** अन्यतरेणावग्रहेण । **'अप्पगं'** आत्मान शरीर । **'कमसो'** क्रमश । **'सल्लिहदि'** तनूकरोति ॥२०९॥

बाह्य तपो व्याचष्टे—

अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाण वुत्तिपरिसंखा ।
कायकिलेसो सेज्जा य विवित्ता बाहिरतवो सो ॥२१०॥

'अणसणं' अनशन । **'उवमोदरिय'** अवमोदर्य । **'चागो य रसाण'** त्यागो रसाना । **'वुत्तिपरिसखा'** वृत्तिपरिसख्यान । **'कायकिलेसो'** कायक्लेश । **'सेज्जा विवत्ता'** विविक्तशय्या । **'बाहिरतवो सो'** बाह्य तपस्तत् ॥२१०॥

तत्र अनशनतपोभेदनिरूपणार्था गाथा—

अद्धाणसण सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं ।
विहरंतस्स य अद्धाणसणं इदरं च चरिमंते ॥२११॥

भेद किये विना सल्लेखनाका वर्णन करना अशक्य है इसलिए पहले उसके भेद कहते है—

गा०—सल्लेखनाके दो भेद है अभ्यन्तर और बाह्य । अभ्यन्तर सल्लेखना क्रोध आदि कषायकी होती है, बाह्य सल्लेखना शरीरके विषयमे होती है ॥२०८॥

बाह्य सल्लेखनाके उपाय बतलाते है—

गा०—बलको बढानेवाले सब रसोको त्यागकर प्राप्त हुए रूखे आहारसे कोई एक नियम विशेष लेकर अपने शरीरको क्रमसे कृश करता है ॥२०९॥

बाह्य तपको कहते हैं—

गा०—अनशन, अवमौदर्य, रसोंका त्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्त शय्या ये बाह्य तप है ॥२१०॥

---

१. वत इत्यर्थ णिज्जू—आ० मु० ।

'**अद्धाणसणं**' अद्धाशब्द कालसामान्यवचनोऽप्यत्रेह चतुर्थादिषण्मासपर्यन्तो गृह्यते । तत्र यदनशन तदद्धानशन । '**सव्वाणसणं चेदि**' सर्वानशन चेति । **दुविधमणसणं दु**' तु शब्दोऽवधारणार्थं द्विप्रकारमेवानशन । सर्वशब्द प्रकारकात्स्न्ये वर्तते । यथा सर्वमन्न भुक्ते । परित्यागोत्तरकालो जीवितस्य य सर्वकाल तस्मिन्ननशन अशनत्याग सर्वानशन । कदा तदुभयमित्यत्र कालविवेकमाह—'**विहरंतस्स य**' ग्रहणप्रतिसेवनकालयोर्वर्तमानस्य । '**अद्धाणसण**' अद्धानशन । इतर च इतरत् सर्वानशन । '**चरिमंते**' चरिमान्ते । परिणामकालस्यान्ते ॥२११॥

अद्धानशनविकल्प प्रतिपादयति—

होइ चउथं छट्ठट्ठमाइ छम्मासखवणपरियंतो ।
अद्धाणसणविभागो एसो इच्छाणुपुव्वीए ॥२१२॥

'**अद्धाणसणविभागो होइ**' इति पदघटना । अद्धानशनविभागो भवति । '**चउत्थं छट्ठट्ठमाइं छम्मासखमणपरियंतो** चतुर्थषष्ठाष्टमादिषण्मासक्षपणपर्यन्त । '**इच्छाणुपुव्वीए**' आत्मेच्छा[1] क्रमेण ॥२१२॥

अवमोदर्य निरूपयितुकाम [2]आहारप्रमाण प्रायोवृत्त्या प्रवृत्त दर्शयति—

बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ ।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला ॥२१३॥

अनशन तपके भेद गाथा द्वारा कहते है—

गा०—अद्धानशन और सर्वानशन इस प्रकार अनशन दो ही प्रकारका कहा है । ग्रहण और प्रतिसेवनाकालमे वर्तमानके अद्धानशन होता है और मरण समय मे सर्वानशन होता है ॥२११॥

टी०—अन्यत्र अद्धाशब्द कालसामान्यका वाचक है । किन्तु यहाँ अद्धानशनमे अद्धाशब्द चतुर्थ आदिसे लेकर छह्मास पर्यन्त जितने भेद अनशनके होते है उन सबके लिए ग्रहण किया है । उन उपवासोमे जो अनशन होता है वह अद्धानशन है । सर्वशब्द सब प्रकारोमे आता है । जैसे सब प्रकारका अन्न खाता हूँ । सन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् जबतक जीवन रहे उस सब कालमे जो भोजनका त्याग है वह सर्वानशन है । इस तरह अनशन दो ही प्रकारका है । ये दोनो कब होते है इसके लिए कालका भेद किया है । ग्रहण कालमे अर्थात् दीक्षा ग्रहणसे लेकर सन्यास धारण करनेसे पूर्वके कालमे तथा प्रतिसेवना काल अर्थात् दोषोंकी विशुद्धिके लिए अद्धानशन होता है और परिणाम कालके अन्तमे अर्थात् मरण समयमे सर्वानशन होता है ॥२११॥

गा०—चतुर्थ षष्ठ आदिसे छह मासके उपवास पर्यन्त यह अद्धानशनके भेद होते हैं । ये मुनिगण अपनी इच्छाके अनुसार करते है ॥२१२॥

अवमौदर्यका निरूपण करनेकी इच्छासे प्राय. प्रचलित आहारका परिमाण बतलाते हैं—

गा०—बत्तीस ग्रास प्रमाण आहार पुरुषके पेटको पूरा भरनेवाला होता है । स्त्रियोके कुक्षिपूरक आहारका परिमाण अट्ठाइस ग्रास होता है ॥२१३॥

---

१ आत्मेच्छाव्रतेन–आ० मु० । २ आहारप्रवृत्ति दर्शयति आ० । आहारपरिमाण प्रायो–मु० ।

'बत्तीसं किर कवला' पुरुषस्य कुक्षिपूरणो भवत्याहार । द्वात्रिंशत्कवलमात्र **'इत्थिआए'** स्त्रिया कुक्षिपूरणो भवत्याहार अष्टाविंशतिकवलजातानि । **'तत्तो'** तस्मादाहारात् ॥२१३॥

एगुत्तरसेढीए जावय कवलो वि होदि परिहीणो ।
ऊमोदरियतवो सो अद्धकवलमेव सिच्छं च ॥२१४॥

'एगुत्तरसेढीए' एककवलोत्तरश्रेण्या **'परिहीणो'** परिहीन । **'ऊमोदरियतवो'** अवमोदर्याख्य तप क्रिया यावदेककवलात्रशेषतया न्यून **'अद्धकवलं'** अर्धकवल यावदवशिष्ट । समप्रविभक्त कवलमर्धकवलशब्देनोच्यते । यावदेकसिक्थक वा अवशिष्ट । आहारस्याल्पतोपलक्षणमिद अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रभोजनोद्यतो भवेत् । ननु चाहारो न्यून कथ तप इत्युच्यते इति केचित्कथयन्ति । आद्यूनतापरिहारस्य तपसो हेतुत्वात्तप इत्युच्यते अवमोयरिय । तथा च निरुक्ति —अवम न्यून उदरमस्यावमोदर । अवमोदरस्य भाव कर्म च अवमौदर्य-मिति ॥२१४॥

रसपरित्यागो निरूप्यते—

चत्तारि महावियडीओ होंति णवणीदमज्जमंसमहू ।
कखापसंगदप्पाऽसंजमकारीओ एदाओ ॥२१५॥

'चत्तारि महावियडीओ' चतस्रो महाविकृतय । महत्याश्चेतसो विकृते कारणत्वात् महाविकृतय इत्युच्यन्ते । **'होंति'** भवन्ति । **'णवणीदमज्जमंसमहू'** नवनीत, मद्य, मास, मधु च । कीदृश्यस्ता ? **'कंखा-**

गा०—पुरुष और स्त्रीके उक्त आहारमेसे एक दो आदि ग्रासकी हानिके क्रमसे जब तक एक ग्रास मात्र भी शेष होता है वह अवमौदर्य तप है । जब तक अर्धग्रास ही अवशिष्ट रहे या एक सिक्थ शेष रहे तब तक भी अवमौदर्य तप है ॥२१४॥

टी०—एक ग्रासके बराबर दो भाग करने पर एक भागको अर्धकवल कहते है । एक चावल मात्र जो कहा है वह आहारकी अल्पताका उपलक्षण है । अन्यथा कोई मात्र एक चावलका भोजन करनेके लिए कैसे तत्पर हो सकता है ।

शंका—थोडा आहार लेना तप कैसे है ? ऐसा कोई कहते है ।

समाधान—पेट भर खानेका त्याग तपका हेतु होनेसे अवमौदर्यको तप कहा जाता है । अवमौदर्यकी निरुक्ति है—'अवम' अर्थात् न्यून (कमभरा) उदर है जिसका वह अवमोदर है और अवमोदरका भाव अथवा कर्म अवमौदर्य है ॥२१४॥

रस परित्याग तपका निरूपण करते है—

गा०—चार महाविकृतियाँ होती है, मक्खन, मद्य, मास और मधु । ये गृद्धि, प्रसग, दर्प, और असयमको करते हैं ॥२१५॥

टी०—चित्तमे महान विकार पैदा करनेसे इन्हे महाविकृति कहते है । नवनीत काक्षा अर्थात् गृद्धिको उत्पन्न करता है । मद्य प्रसग अर्थात् पुन· पुन अगम्या स्त्रीके साथ भोगविलास कराता है । मास इन्द्रियोमें मद पैदा करता है । मधु असयमको उत्पन्न करता है असंयमके दो भेद

पसंगदप्पासंजमकारीओ एवाओ' । काक्षा गाद्धर्यं, प्रसंग पुन पुनस्तत्र वृत्ति', दर्प दृप्तेन्द्रियता, असंयम रसविषयानुरागात्मक इन्द्रियासयम , रसजजन्तुपीडा प्राणासयम , एतान्दोषानिमा कुर्वन्ति ॥२१५॥

आणाभिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण ।
ताओ जावज्जीवं णिज्जूढाओ पुरा चेव ॥२१६॥

'**आणाभिकंखिणा**' । अत्रैवं पदघटना–'**ताओ**' ता महाविकृतय । '**जावज्जीवं**' जीवितावधिक । '**णिज्जूढाओ**' परित्यक्ता । '**पुरा चेव**' सल्लेखनाकालात्पूर्वमेव । केन परित्यक्ता ? '**आणाभिकंखिणा**'–इदमित्थ त्वया कर्तव्यमिति कथन आज्ञा । सर्वविदा आज्ञप्ता भव्या परित्याज्या नवनीतादय । तदासेवा असयम कर्मबन्धहेतुरिति । अस्यामाज्ञायां काक्षावता आदरवता सर्वज्ञाज्ञाऽसपादनादेव दुरन्तससारमध्यपतन ममासीद्भविष्यति च तेन तदाज्ञादर कार्य इत्यभ्युद्यतेन । '**अवज्जभीरुणा**' अवद्य पाप तेन । अयमर्थ पापभीरुणा । '**तवसमाधिकामेण**' तपस्येकाग्रतामभिलषता । अतो नवनीतादिन्यागोऽपि रसत्याग एव ॥२१६॥

इह सल्लेखनाकाले मयैषा त्यागो गृहीत इत्याचष्टे—

खीरदधिसप्पितेल्लगुडाण पत्तेगदो व सव्वेसिं ।
णिज्जूहणमोगाहिम पणकुसणलोणमादीणं ॥२१७॥

'**खीरदधिसप्पितेल्लगुडाणं**' क्षीरस्य, दध्न', धृतस्य, तैलस्य, गुडस्य, च '**णिज्जूहणं**' त्याग । कथं ? '**पत्तेगदो व**' प्रत्येक एकैकस्य वा त्याग । '**सव्वेसिं**' सर्वेषा वा क्षीरादोना त्यागः रसपरित्याग । '**ओगाहिम पणकुसण लोणमादीण**' अपूपाना, पत्रशाकाना, सूपस्य, लवणादोना वा त्यागो रसपरित्याग ॥२१७॥

है—इन्द्रिय असयम और प्राणि असयम । मधुके रसके विषयमें अनुरागकी आतुरता रूप इन्द्रिय असयम होता है और मधुमे उत्पन्न जन्तुओका घात होनेसे प्राण असंयम होता है ॥२१५॥

गा०—सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रति आदरवान, पाप भीरु और तपमे एकाग्रताके अभिलाषीने वे महाविकृतियाँ सल्लेखनाके समयसे पूर्व ही जीवन पर्यन्तके लिये (णिज्जूढाओ) त्याग दी है ॥२१६॥

टी०—यह काम इस प्रकार तुम्हे करना चाहिये, ऐसा कहना आज्ञा है । सर्वज्ञकी आज्ञासे भव्य जीवोंके लिये नवनीत आदि छोडने योग्य है। उनका सेवन असंयम है जो कर्मबन्धका कारण है । इस आज्ञाका पालन न करनेसे ही मेरा दुरन्त ससारके मध्यमे पतन हुआ और होगा । इसलिये उस आज्ञाका आदर करना चाहिये इस प्रकार जो उद्यत हुआ है और अवद्य अर्थात् पाप से जो डरता है तथा जो तपमे एकाग्रताका अभिलाषी है वह तो पहले ही जीवन पर्यन्तके लिये इन विकृतियोको त्याग चुका है । अत नवनीत आदिका त्याग भी रस त्याग ही है ॥२१६॥

अब इस सल्लेखनाके समय मैने इन नीचे कही वस्तुओका त्याग किया, यह कहते है—

गा०—दूध, दही, घी, तेल, गुड़का और धृत पूर, पुवे, पत्रशाक, सूप और लवण आदिका सबका अथवा एक-एकका त्याग रस परित्याग है । अर्थात् सल्लेखना कालमें दूध आदि सबका या उनमेसे यथायोग्य दो तीन चारका त्याग रस परित्याग है ॥२१७॥

अरसं च अण्णवेलाकदं च सुद्धोदणं च लुक्खं च ।
आयंबिलमायामोदणं च विगडोदणं चेव ॥२१८॥

'**अरसं**' च स्वादरहितं । '**अण्णवेलाकदं च**' वेलान्तरकृतं च शीतलमिति यावत् । '**सुद्धोदणं च**' शुद्धौदनं च केनचिदप्यमिश्रं । '**लुक्खं च**' रूक्षं च स्निग्धताप्रतिपक्षभूतेन स्पर्शेन विशिष्टमिति यावत् । '**आयबिलं**' असंस्कृतसौवीरमिश्रं । '**आयामोदणं**' अप्रचुरजलं सिक्थाढ्यमिति केचिद्वदन्ति । अव[1]श्रावणसहितमित्यन्ये । '**विगडोदणं**' अतीव[2] पक्वं । उष्णोदकसम्मिश्रं इत्यपरे ॥२१८॥

इच्चेवमादि विविहो णायव्वो हवदि रसपरिच्चाओ ।
एस तवो [3]भजिदव्वो विसेसदो सल्लिहंतेण ॥२१९॥

'**इच्चेवमादिविविहो**' एवमादिविविधो नानाप्रकारो । '**णावव्वो हवइ रसपरिच्चाओ**' ज्ञातव्यः सर्वेषां रसपरित्यागः । '**एस तवो भजिदव्वो**' एतद्रसपरित्यागाख्यं तपः । '**भजिदव्वो**' सेव्यं । '**विसेसदो**' विशेषेण । '**सल्लिहंतेण**' कायसल्लेखनां कुर्वता । '**चाओ रसाणं**' ॥२१९॥

वृत्तिपरिसंख्याननिरूपणाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं ।
सम्बूकावट्टंपि पदंगवीधी य गोयरिया ॥२२०॥

गा०—स्वाद रहित अन्य समयमे बनाया गया अर्थात् ठण्डा भोजन, और शुद्ध भात जिसमे कोई अन्य शाक वगैरह न मिला हो, और रूखा भोजन जिसमे घी आदि न हो, आचाम्ल अर्थात् काजी मिश्रित भात, थोडा जल और बहुत चावल वाला भात, और बहुत अधिकपका भात ॥२१८॥

टी०—आयामोदण' का अर्थ कोई तो थोडा जल और चावल बहुत ऐसा भान करते है। अन्य कुछ अवश्रावण सहित (?) कहते है। विगडोदणका अर्थ दूसरे व्याख्याकार गर्मजलसे मिश्रित भात करते है ॥२१८॥

गा०—इत्यादि अनेक प्रकारका रस परित्याग सबको जानने योग्य है। शरीर सल्लेखना करने वालेको यह रस परित्याग नामक तप विशेष रूपसे सेवन करना चाहिये ॥२१९॥

रस परित्याग तपका वर्णन समाप्त हुआ। आगे चार गाथाओसे वृत्तिपरि सख्यान तपका कथन करते हैं

टी०—'गत्तापच्चागद'—जिस मार्गसे पहले गया उसीसे लौटते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही ग्रहण करूँगा। 'उज्जुवीहिं'—सीधे मार्गसे जानेपर मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही ग्रहण करूँगा। 'गोमूत्तिय' बैलके मूतने हुए जानेसे जैसा आकार बनता है मोडेदार, वैसे जाते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही ग्रहण करूँगा। 'पेल्लविय'—वस्त्र सुवर्ण आदि रखनेके लिए बास के पत्ते आदिसे जो सन्दूक बनता है, जिसपर ढकना भी हो, उसके समान चौकोर भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही।

'**संबूकावट्ट**'—शखके आवर्तोके समान गाँवके अन्दर आवर्ताकार भ्रमण करके बाहरकी

---

१ अवसावण आ मू । २ अतीवतीव्रपक्व आ. मु । ३ कायव्वो अ० आ० ।

'गतापच्चागदं'। यया वीथ्या गत पूर्वं तयैव प्रत्यागमन कुर्वन्यदि भिक्षा लभते गृह्णाति नान्यथा। **'उज्जुवीहि'** ऋज्व्या वीथ्या गतो यदि लभते गृह्णाति नेतरथा। गोमूत्रिकाकारं भ्रमण वा संपादयन्। **'पेलवियं'** वशदलादिभिर्निष्पादित वस्त्रसुवर्णादिनिक्षेपणार्थं पिधानसहित यत्तद्वच्चतुरस्राकार भ्रमण। **'संबूकावट्टं पि य'** शबूकावर्त इव। **'पदंगवीधी य'** पतगमाला पतगवीथीत्युच्यते। सा यथा भ्रमति तथा भ्रमणं। **'गोयरिया'** गोचर्यां भिक्षाया भ्रमण। एवभूतेन भ्रमणेन लब्धा भिक्षा गृह्णामि नान्यथेति कृतसकल्प[1]ता वृत्तिपरिसख्यान ॥२२०॥

पाडयणियंसणभिक्खा परिमाणं दत्तिघासपरिमाणं।
पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया ॥२२१॥

'पाडयणियंसणभिक्खापरिमाणं' इम एव पाटक प्रविश्य लब्धा भिक्षा गृह्णामि नान्य। एकमेव पाटक पाटकद्वयमेवेति। अस्य गृहस्य परिकरतया अवस्थिता भूमि प्रविशामि न गृहमि[2]त्यमभिग्रह णियसणमित्युच्यते इति केचिद्वदन्ति। अपरे पाटस्य भूमिमेव प्रविशामि न पाटगृहाणि इति सकल्प पाडगणिगमणमित्युच्यते इति कथयन्ति। भिक्षापरिमाण एका भिक्षा द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकामिति। **'दत्तिघासपरिमाणं'** एकेनैव दीयमान द्वाभ्यामेवेति दानक्रियापरिमाण। आनीतायामपि भिक्षाया इयत एव ग्रासान्गृह्णामि इति वा परिमाण। **'पिंडेसणा'** पिण्डभूतमेवाशन गृह्णामि। **'पाणेसणाओ'** द्रवबहुलतया यत्पीयते अशन। **'जागूय'** यवागू। **'पोग्गलिया वा'** धान्यान्येव निष्पावचणकमसूरकादीनि भक्षयामि इति ॥२२१॥

संसिट्ठ फलिह परिखा पुप्फोवहिद व सुद्धगोवहिदं।
लेवडमलेवड पाणायं च णिस्सित्थगं ससित्थं ॥२२२॥

और भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही।

'पदंगवीधी'—पक्षियोकी पक्ति जैसे भ्रमण करती है उस तरह भ्रमण करते हुए यदि भिक्षा मिली तो मै ग्रहण करूँगा। गोयरिया'—गोचरी भिक्षाके अनुसार भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा। इस प्रकारके सकल्प करनेको वृत्ति परिसख्यान कहते है २२०॥

गा०-टी०—'पाडयनियसण'—इसी ही फाटकमे प्रवेश करके मिली हुई भिक्षाको ग्रहण करूँगा, अन्य फाटकमे नही। एक ही फाटकमे प्रवेश करूँगा या दो मे ही प्रवेश करूँगा। 'अमुक घरसे लगी हुई भूमिमे प्रवेश करूँगा, घरमे नही जाऊँगा ? इस प्रकारकी प्रतिज्ञाको णियसण कहते हैं। ऐसा कोई कहते है। दूसरोका कहना है कि पाटकी भूमिमे हो प्रवेश करूँगा, पाटके घरोमे प्रवेश नही करूँगा इस प्रकारके सकल्पको 'पाटकाणियसण' कहते है। 'भिक्षा परिमाण'—एक ही भिक्षा या दो ही भिक्षा ग्रहण करूँगा, अधिक नही। 'दत्तिघास परिमाण'—एक के ही द्वारा देने पर या दो के ही द्वारा देनेपर भिक्षा ग्रहण करूँगा। अथवा दाताके द्वारा लाई गई भिक्षामेसे भी इतने ही ग्रास ग्रहण करूँगा ऐसा परिमाण करना। पिंडेसणा'—पिण्ड रूप भोजन ही ग्रहण करूँगा। 'पाणेसणा'—जो बहुत द्रव होनेसे पीने योग्य होगा वही ग्रहण करूँगा। 'जागूय' यवागू ही ग्रहण करूँगा। 'पुग्गलया'—चना मसूर आदि धान्य ही ग्रहण करूँगा ॥२२१॥

---

१. त्पना वृ—आ० मु०। २ मित्यवग्रह।

ससिट्ठं शाककुल्माषादिव्यञ्जनसन्मिश्रमसृष्टमेव । **'फलिह'** समन्तादवस्थितशाक मध्यावस्थितौदनं । **'परिखा'** परितो व्यञ्जन मध्यावस्थितान्न । **'पुप्फोवहिदं च'** व्यञ्जनमध्ये पुष्पबलिरिव अवस्थितसिक्थक । **'सुद्ध-गोवहिद'** शुद्धेन निष्पावादिभि[1]रमिश्रेणान्नेन 'उवहिद' मसृष्ट शाकव्यञ्जनादिक । **'लेवडं'** हस्तलेपकारि । **'अलेवडं'** यच्च हस्ते न सज्जति । **'पाणगं'** यच्च हस्ते न सज्जति । **'पाणगं'** पानं च कीदृक् ? **'णिसित्थगंस-सित्थं'** सिक्थरहित पान तत्सहित च ।।२२२।।

पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए ।
इच्चेवमादिविविहा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ।।२२३।।

'पत्तस्स' एवभूतेत भाजनेनैवानीत गृह्णामि सौवर्णेन, कसपात्र्या, राजतेन मृण्मयेन वा । **'दायगस्स य'** स्त्रियैव तत्रापि बालया, युवत्या, स्थविरया सालङ्कारया, निरलङ्कारया, ब्राह्मण्या, राजपुत्र्या इत्येवमादि अभिग्रहोऽवग्रह । **'बहुविहो'** बहुविध । **'ससत्तीए'** स्वशक्त्या । **'इच्चेवमादि'** एवप्रकारा । **'विविहा'** विविधा । **'णायव्वा'** ज्ञातव्या । **'वुत्तिपरिसंखा'** वृत्तिपरिसख्या ।।२२३।।

कायक्लेशनिरूपणायोत्तरप्रबन्ध —

अणुसूरी पडिसूरी य उड्ढसूरी य तिरियसूरी य ।
उब्भागेण य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं ।।२२४।।

'अणुसूरि' पूर्वस्या दिश पश्चिमागागमन क्रूरातपे दिने । **'पडिसूरी'** अपरस्या दिश आदित्याभिमुख गमन । **'उड्ढसूरी य'** उर्ध्वं गते सूर्ये गमन । **'तिरियसूरी य'** तिर्यगवस्थित दिनकर कृत्वा गमन । **'उब्भागमेण गमणं'** स्वावस्थितग्रामाद् ग्रामान्तर प्रति भिक्षार्थ गमन । **'पडिआगमण च गन्तूणं'** प्रत्यागमन

गा०-टी०—'समिट्ठ'—जो शाक कुल्माष आदि व्यजनसे मिला हुआ हो । 'फलिह'—जिसके चारो ओर शाक रखा हो और बीचमे भात हो । 'परिखा—चारो ओर व्यजन हो बीचमे अन्न रखा हो । 'पुप्फोवहिद'—व्यजनोके मध्यमे पुष्पावलीके समान चावल रखे हो । 'सुद्धगोवहिद'—शुद्ध अर्थात् विना कुछ मिलाये अन्नसे 'उपहित' अर्थात् मिले हुए शाक व्यजन आदि । 'लेवड' जिससे हाथ लिप जाये । 'अलेवड' जो हाथसे न लिप्त हो । सिक्थ सहित पेय और सिक्थ रहित पेय । ऐसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूँगा ऐसा सकल्प करता है ।।२२२।।

गा०-टी०—'पत्तस्स'—इसी प्रकार सोने, चाँदी, कासी या मिट्टीके पात्रसे ही लाया गया भोजन ग्रहण करूँगा । 'दायगस्स'—स्त्रीसे ही, उसमे भी बालिकासे या युवतीसे या वृद्धासे अथवा अलकार सहित स्त्री या अलकार रहित स्त्रीसे या ब्राह्मणीसे या राजपुत्रीसे दिया गया आहार ही ग्रहण करूँगा । इस तरह बहुत प्रकार के अभिग्रह अपनी शक्तिके अनुसार होते है । ये सब विविध वृत्ति परिसख्यान जानना चाहिये ।।२२३।।

काय क्लेशका कथन करते है—

गा०-टी०—'अणुसूरि'—जिस दिन कडी धूप हो सूरजको पीछे करके पूरव दिशासे पश्चिम दिशाकी ओर जाना । 'पडिसूरि'—पश्चिम दिशासे सूरजकी ओर मुख करके गमन करना । 'उड्ढसूरी'—सूरजके ऊपर आ जाने पर गमन करना, 'तिरियसूरी'—सूरजको एक ओर रखते हुए गमन करना । 'उब्भागेण गमण'—जिस ग्राममे मुनि ठहरे हो उस ग्रामसे दूसरे गाँवमे भिक्षाके

---

१. दिभरमि–अ० आ० ।

च [१]गत्वा ॥२२४॥

स्थानयोगनिरूपणा—

साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तहेव वोसट्टं ।
समपादमेगपादं गिद्धोलीणं च ठाणाणि ॥२२५॥

'**साधारणं**' प्रमृष्टस्तम्भादिकमुपाश्रित्य स्थानं । '**सवीचारं**' ससंक्रमं पूर्वावस्थितादेशाद्गत्वापि स्थापितस्थानं । '**सणिरुद्ध**' निश्चलमवस्थानं । '**तहेव**' तथैव । '**वोसट्टं**' कायोत्सर्गं । '**समपाद**' समौ पादौ कृत्वा स्थानं । '**एगपाद**' एकेन पादेन अवस्थानं । **गिद्धोलीणं** गृद्धस्योद्‌र्ध्वगमनमिव बाहू प्रसार्यावस्थानं ॥२२५॥

आसनयोगनिरूपणा—

समपलियंकणिसेज्जा समपदगोदोहिया य उक्कुडिया ।
मगरमुह हत्थिमुण्डी गोणिसेज्जद्धपलियङ्का ॥२२६॥

'**समपलियंकणिसेज्जा**' सम्यक्पर्यङ्कनिषद्या । '**समपद**' स्फिक्पिण्डस[२]मकरणेनासनं । '**गोदोहिगा**' गोदोहने आसनमिवासनं । **उक्कुडिगा**' ऊर्ध्वं संकुचितमासनं । '**मगरमुह**' मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावस्थानं । '**हत्थिसुण्डी**' हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्यासनं । हस्तं प्रसार्येत्यपरे । '**गोणिसेज्ज अद्धपलियंकं**' गोनिषद्या गवामासनमिव अर्द्धपर्यङ्कं ॥२२६॥

वीरासणं च दण्डायउढ्ढसाई य लगडसाई य ।
उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ॥२२७॥

लिये जाना । 'गन्तूण पडिआगमण'—जाकर लौट आना ये सब काय क्लेश तप है ॥२२४॥

स्थान योगका कथन करते है—

गा०-टी०—'साधारण'—चिकने स्तम्भ आदिका आश्रय लेकर खडे होना । सवीचार—पूर्व स्थानसे दूसरे स्थान पर जाकर कुछ काल तक खडे रहना । 'सणिरुद्ध'—अपने स्थान पर ही निश्चल स्थित होना । 'वोसट्ट'—कायोत्सर्ग करना । समपाद—दोनो पैर बराबर करके खडे होना । 'एगपाद'—एक ही पैर से खडे होना । 'गिद्धोलीण'- जैसे गिद्ध उडते समय अपने दोनो पख फैलाता है उस तरह दोनो हाथ फैलाकर खडे होना ॥२२५॥

आसन योगका कथन करते है—

गा०-टी०—'समपलियकणिसेज्जा'—सम्यक् पर्यकासनसे बैठना । 'समपद'—जाघे और कटि भागको सम करके बैठना । 'गोदोहिगा' गौ दूहते समय जैसा आसन होता है वैसे आसनसे बैठना । 'उक्कुडिया'—ऊपरको सकुचित आसनसे बैठना अर्थात् दोनो पैरोको जोड भूमिको न छूते हुए बैठना । 'मगरमुह'—मगरके मुखकी तरह पैर करके बैठना । 'हत्थिसुडी—हाथीके सूँड फैलानेकी तरह एक पैर फैलाकर बैठना । दूसरो का कहना है कि हाथ फैलाकर बैठना हत्थिसूँडी है । 'गोणिसेज्ज' दोनो जघाओको सकोच कर गायकी तरह बैठना । और अर्धपर्यकासन । ये सब कायक्लेश के आसन है ॥२२६॥

---

१. कृत्वा अ० । २. समकरणेना—मु० ।

'वीरासणं' जघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासन। दण्डवदायत शरीर कृत्वा शयन। स्थित्वा शयनं **च** ऊद्र्ध्वशायीत्युच्यते। **'लगडसाई'** सङ्कुचितगात्रस्य शयनं। उत्ताणो उत्तान शयन। अवमस्तकशयन एक-पार्श्वशयन च ।।२२७।।

अब्भावगाससयणं अणिट्ठवणा अकंडुगं चेव।
तणफलयसिलाभूमी सेज्जा तह केसलोचो य ।।२२८।।

'अब्भावगाससयणं' बहिर्निरावरणदेशे शयन। **'अणिट्ठिवणगं'** निष्ठीवनाकरण। **'अकंडुवणगं च'** अकण्डूयनं। **'तणफलगसिलाभूमीसेज्जा'** तृणादिषु शय्या। **'तहा'** तथा। **'केसलोओ य'** केशलोचश्च ।।२२८।।

अब्भुट्ठणं च रादो अण्हाणमदंतघोवणं चेव।
कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ।।२२९।।

'अब्भुट्ठणं च रादो' रात्रावशयन जागरणमित्यर्थ। **'अण्हाणं'** अस्नान। **'अदन्तधोवणं चेव'** दन्तानामशोधन। **'कायकिलेसो'** कायक्लेशः। **'एसो'** एष। **'सीदुण्हादावणादी य'** शीतातपनमुष्णातपनमित्येवमादिक ।।२२९।।

विविक्तशयनासननिरूपणा—

जत्थ ण विसोत्तिग अत्थि दु सद्दरसरूवगन्धफासेहिं।
सज्झायज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता सा ।।२३०।।

'जत्थ ण विसोत्तिग' यस्या वसतौ न विद्यतेऽशुभपरिणाम। **सद्दरसरूवगन्धफासेहिं** शब्दरसरूपगन्ध-स्पर्शै करणभूतै. मनोज्ञैरमनोज्ञैर्वा। **'सा विवित्ता वसधी'** विविक्ता वसति। **'सज्झायज्झाणवाघादो'** स्वाध्याय-ध्यानयोर्व्याघातो वा नास्ति सा विविक्ता भवति ।।२३०।।

गा०-टी०—दोनों जघाओको दूर रखकर आसन वीरासन है। आगे शयनके भेद करते है—दण्डेके समान शरीरको लम्बा करके सोना। खडे होकर सोना। इसे ऊर्द्धशायी कहते है। 'लगण साई'—शरीरको सकुचित करके सोना। उताण—ऊपरको मुख करके सोना। ओमच्छिय-मस्तक नीचे करके सोना अर्थात् नीचे मुख करक सोना। एक करवटसे सोना। मडयसाइ—मृतककी तरह निश्चेष्ट सोना ।।२२७।।

गा०-टी०—'अब्भवगास सयण'—बाहर खुले आकाशमे सोना। 'अणिट्ठिवणग'—थूकना नही। अकडूतग—खुजाना नही। तथा तृण, काठका पटिया, शिला, या भूमिपर सोना और केसलोच ।।२२८।।

गा०-टी०—रातमें शयन नही करना अर्थात् जागना। स्नान नही करना। दाँतोको नही धोना, उनकी सफाई नही करना। और शीतकालमे तथा गर्मीमे आतपन योग करना इत्यादि यह कायक्लेश है ।।२२९।।

विविक्त शयनासन तपका कथन करते हैं—

गा०—जिस वसतिमे मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, रस, रूप गन्ध और स्पर्शके द्वारा अशुभ परिणाम नही होते। अथवा स्वाध्याय और ध्यानमें व्याघात नही होता वह विविक्त वसति है ।।२३०।।

वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अन्तो वा ।
इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए ॥२३१॥

'**वियडाए**' उद्‌घाटितद्वाराया । '**अवियडाए**' अनुद्‌घाटितद्वाराया वा । '**समविसमाए**' समभूमिसमन्विताया विषमभूमिसमन्विताया वा । '**बहिं व**' बहिर्भागे वा । '**अन्तो वा**' अभ्यन्तरे वा । '**इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए**' स्त्रीभिर्नपुंसकैः पशुभिश्च वर्जिताया वसतौ । '**सीदाए**' शीताया । '**उसिणाए**' उष्णाया ॥२३१॥

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु ।
वसति असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥२३२॥

'**उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए**' उद्‌गमोत्पादनैषणादोषरहिताया । तत्रोद्‌गमो दोषो निरूप्यते । वृक्षच्छेदस्तदानयन इष्टकापाकः, भूमिखनन, पाषाणसिकतादिभिः पूरण, धराया कुट्टन, कर्दमकरण, कीलानां करण, अग्निनायसस्तापन कृत्वा प्रताड्य क्रकचैः काष्ठपाटन, वासीभिस्तक्षण, परशुभिश्छेदन इत्येवमादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधा कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता, अन्येन वा कारिता वसतिराधाकर्मशब्देनोच्यते । यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिङ्गिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पाषण्डिनामेवेति वा श्रमणानामेवेति, निर्ग्रन्थानामेवेति सा उद्‌देसिगा वसदित्ति भण्यते । आत्मार्थं गृहं कुर्वता अपवरकं संयतानां भवत्विति कृतं अब्भोवब्भमित्युच्यते । आत्मनो गृहार्थमानीतैः काष्ठादिभिः सह बहुभिः श्रमणार्थमानीतात्पेन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पूतिकमित्युच्यते । पाषण्डिनां गृहस्थानां वा क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयतानुद्दिश्य काष्ठादिमिश्रणेन निष्पादितं वेश्म मिश्रम् । स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिति स्थापितं ठविदं इत्युच्यते । संयतः स च यावद्भिर्दि-

गा०—वह वसति खुले द्वार वाली हो अथवा बन्द द्वार वाली हो। उसकी भूमि सम हो अथवा ऊँची नीची हो। वह बाहरके भागमे हो अथवा अन्दरके भागमे हो। स्त्री नपुसक और पशुओमे रहित हो ठडी हो या गर्म हो ॥२३१॥

गा० उद्‌गम उत्पादन और एषणा दोषोसे रहित, दुःप्रमार्जन, आदि सस्कारमे रहित, जीवोकी उत्पत्तिसे रहित, शय्यारहित वसतिकामे अन्दर या बाहरमे विविक्त शयनासन तपके धारी मुनि निवास करते है ॥२३२॥

टी०—उद्‌गमदोषको कहते हैं—वृक्षको काटना, उसको लाना, ईटे पकाना, भूमि खोदना, उसे पत्थर रेत वगैरहसे भरना, पृथ्वीको कूटना, कीचड तैयार करना, कीले बनाना, आगमे लोहा गरम करके उसे पीटकर करोतोसे लकडी चीरना। विसौलोसे छीलना, फरसोसे काटना, इत्यादि व्यापारसे छहकायके जीवोको बाधा पहुँचाकर अपने द्वारा बनाई या दूसरेसे बनवाई वसति अधःकर्मनामक दोषसे युक्त है। जितने दीन अनाथ दरिद्र अथवा वेषधारी आयेगे उनके उद्देससे बनाई, अथवा यह पाषडियोके ही लिए है, या श्रमणोके ही लिए है या निर्ग्रन्थोके ही लिए है, ऐसी वसति उद्देसिग दोषसे युक्त होती है। अपने लिए घर बनाते हुए यह कोठरी सयमियोके लिए रहे ऐसा संकेतपूर्वक बनाई वसतिका अब्भोलब्भ कहलाती है। अपना घर बनानेके लिए लाए गये बहुतसे काष्ठ आदिके साथ थोडा-सा सामान श्रमणोके लिए लाकर दोनोके मेलसे बनी वसति पूतिक कही जाती है। पाषण्डियो अथवा गृहस्थोके लिए घर बनवाकर पीछे मुनियोका उद्देश करके उसमें काष्टआदि मिलाकर बनवाई वसति मिश्रदोषसे दूषित है। अपने ही लिए

नैरागमिष्यति तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कार सकल करिष्याम इति चेतसि कृत्वा यत्सस्कारित वेश्म तत्पाहुडिग-मित्युच्यते। तदागमानुरोधेन गृहसस्कारकालापन्हाम कृत्वा वा सस्कारिता वसति। यद्गृह अन्धकार-बहुल तत्र प्रकाशसपादनाय यतीना छिद्रीकृतकुडय, अपाकृतफलक, सुविन्यस्तप्रदीपक वा तत्पादुकारशब्देन भण्यते। द्रव्यक्रीत भावक्रीत इति द्विविध क्रीत वेश्म, सचित्त गोबलीवर्दादिक दत्वा सयतार्थक्रीत, अचित्त वा घृतगुडखडादिक दत्वा क्रीत द्रव्यक्रीत। विद्यामन्त्रादिदानेन वा क्रीत भावक्रीत। अल्पमृण कृत्वा वृद्धिसहितं अवृद्धिक वा गृहीत सयतेभ्य पामिच्छ उच्यते। मदीये वेश्मनि तिष्ठतु भवान् युष्मदीय तावद्गृह यतिभ्य प्रयच्छेति गृहीत परिगट्टमित्युच्यते। कुडयाद्यर्थ कुटीरकफटादिक स्वार्थ निष्पन्न-मेव यत्सयतार्थमानीत तदभ्यहिडमुच्यते। तद्द्विविधमाचरितमनाचरितमिति। दूरदेशाद् ग्रामान्तराद्वानीत-मनाचरित इतरदाचरित। इष्टकादिभि, मृत्पिडेन, वृत्या, कवाटेनोपलेन वा स्थगित अपनीय दीयते यत्त-दुद्भिन्न। निश्रेण्यादिभिरारुह्य इत आगच्छत युष्माकमिय वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमि सा मालारोहमित्युच्यते। राजामात्यादिभिर्भयमुपदर्श्य परकीय यद्दीयते तदुच्यते अच्छेज्ज इति। अनिसृष्ट पुनर्द्विविध। गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते वसति यदस्वामिनापि बालेन परवशवर्तिना दीयते सोभय्यप्य-निसृष्टेति उच्यते। उद्मदोषा निरूपिता।

उत्पादनदोषा निरूप्यते—पचविधाना धात्रीकमणा अन्यतमेनोत्पादिता वसति। काचिद्दारक स्नप-

बनाये घरको सयमियोके लिए स्थापित करना ठविद दोष है। अमुक मुनि जितने दिनोमे आवेगे, उनके प्रवेश करनेके दिन घरकी सब सफाई आदि करायेगे, ऐसा चित्तमे विचारकर बनवाया घर 'पाहुडिग' कहा जाता है। अथवा मुनिके आनेके अनुरोधसे घरका सस्कार करनेका जो समय नियत किया था उस समयसे पूर्व सस्कार करना पाडुडिग दोष है। जिस घरमे बहुत अन्धकार रहता है उसमे मुनियोके लिए बहुत प्रकाश लानेके उद्देशसे दीवारमे छेद करना, लकडीका पटिया हटाना, दीपक रखना पादुकारदोष है। खरीदा हुआ दो प्रकारका होता है द्रव्यकृत और भावकृत। सचेतन गाय बैल वगैरह देकर मुनिके लिए खरीदा गया अथवा अचित्त घी गुड खाँड आदि देकर खरीदा गया घर द्रव्यकृत है। विद्या मत्र आदि देकर खरीदा गया घर भावकृत है। बिना व्याजका अथवा व्याज पर थोडा सा ऋण लेकर मुनियोके लिए लिया गया घर पामिच्छ कहा जाता है। आप मेरे घरमे रहे, अपना घर यातियोको देदे इस प्रकार ग्रहण किया घर परि-यट्ट कहाता है। अपनी दीवार आदिके (?) लिए जो तैयार या उसे मुनिके लिए लाना अभ्यहिड कहाता है। उसके दो भेद है आचरित और अनाचरित। जो दूर देशसे या अन्य ग्रामसे लाया गया वह अनाचरित है शेष आचरित है। जो घर इट आदिसे, मिट्टीके ढेलोसे, वाडसे, कपाटसे या पत्थरसे ढपा है इनको हटाकर दिया गया वह घर उद्भिन्न दोपसे युक्त है। सीढी वगैरहसे ऊपर चढकर 'यहाँ आओ, आपकी यह वसति है' इस प्रकारसे जो दूसरे या तीसरे खण्डकी भूमि दी जाती है उसे मालारोहण कहते है। राजा मत्री आदिके द्वारा भय दिखलाकर जो दूसरेकी वसति दी जाती है। वह अच्छेज्ज है। अनिसृष्टके दो भेद है। घरके स्वामीके द्वारा जो नियुक्त नही है ऐसे व्यक्तिके द्वारा जो वसति दी जाये वह अनिसृष्ट है। और जो पराधीन बालक स्वामी के द्वारा दी जाए वह भी अनिसृष्ट है। ये उद्गमदोष कहे।

उत्पादन दोष कहते है—धायके पाँच काम है—कोई बालकको नहलाती है। कोई उसे

यति, भूषयति, क्रीडयति, आशयति स्वापयति वा। वसत्यर्थमेवोत्पादिता वसतिर्धात्रीदोषदुष्टा। ग्रामान्तरान्नगरान्ता गच्च देशादन्यदेशतो वा सबन्धिना वार्तामभिधायोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता। अग, स्वरो, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्नोऽन्तरिक्षमिति एवभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तदोषदुष्टा। आत्मनो जाति, कुल, ऐश्वर्यं वाभिधाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते। भगवन्सर्वेषा आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुण्य किमु महदुपजायते इति पृष्टो न भवतीत्युक्ते गृहिजन प्रतिकूलवचनरुष्टो वसति न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता सा वणिगवा शब्देनोच्यते। अष्टविधया चिकित्सया लब्धा चिकित्सोत्पादिता। क्रोधोत्पादिता च। गच्छतामागच्छता च यतीना भवदीयमेव गृहमाश्रय इतीय वार्ता दूरादेवास्माभि श्रुतेति पूर्व स्तुत्वा या लब्धा, वमनोत्तरकाल च गच्छन्प्रशसा करोति पुनरपि वसति लप्स्ये इति। एव उत्पादिता सस्तवदोषदुष्टा। विद्यया, मन्त्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृहिण वशे स्थापयित्वा लब्धा, मूलकर्मणा वा भिन्नकन्यायोनिमस्थापना मूलकर्म। विरक्ताना अनुरागजनन वा। उत्पादनाख्योऽभिहितो दोष षोडशप्रकार।

अथ एषणादोषान्दश प्राह—

किमिय योग्या वसतिर्नेति शङ्किता। तदानीमेव सिक्ता सत्यालिप्ता सती वा छिद्रस्रुतजलप्रवाहेण वा, जलभाजनलोठनेन वा तदानीमेव लिप्ता वा म्रक्षितेत्युच्यते। सचित्तपृथिव्या अपा, [1]वायौ हरिताना, बीजाना

भूषण पहिनाती है। कोई खेल खिलाती है, कोई भोजन कराती है, कोई सुलाती है, इनमेसे कोई एक कर्म करके प्राप्त की गई वसति धात्रीदोषमे दूषित है। अन्य ग्राम, अन्य नगर या देशान्तमे रहनेवाले सम्बन्धियोकी कुशलवार्ता कहकर प्राप्त की गई वसति दूतकर्मके द्वारा उत्पादित होनेसे दूतकर्म दोषसे दुष्ट है। अग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष, इस प्रकार निमित्तोके उपदेशसे—गृहस्थोका शुभाशुभ बतलाकर प्राप्त की गई वसति निमित्त नामक दोषमे दुष्ट है। अपनी जाति, कुल अथवा ऐश्वर्यको कहकर अपना बडप्पन प्रकट करके प्राप्त की गई वसति आजीव शब्दसे कही जाती है। भगवन्! सबको आहार देने और वसति देनेसे क्या महान् पुण्य होता है? ऐसा गृहस्थ पूछे तो, 'नही होता' ऐसा कहनेपर गृहस्थ प्रतिकूल वचनसे रुष्ट होकर वसति नही देगा' इस विचारसे उनके अनुकूल कहकर प्राप्त की गई वसति 'वणिगवा' शब्दसे कही जाती है। आठ प्रकारकी चिकित्साके द्वारा प्राप्त की गई वसति चिकित्सा दोषसे दुष्ट है। क्रोधादिके द्वारा प्राप्त की गई वसति क्रोध आदि दोषसे दुष्ट है। आने जानेवाल यात्रियोके लिए आपका ही घर आश्रय है यह बात हमने दूर देशसे ही सुनी है, इस प्रकार पहले स्तुति करके प्राप्त की गई अथवा निवास करनेके पश्चात् जाने समय प्रशसा करना कि पुन आनेपर वसति प्राप्त हो तो वह संस्तव दोषसे दुष्ट है। विद्या, मन्त्र या चूर्णके प्रयोगसे गृहस्थको वशमे करके प्राप्त की गई वसति विद्यादोष, मत्रदोष और चूर्णदोषसे दुष्ट है, मूलकर्मके द्वारा प्राप्त की गई अथवा विरागियोंको राग उत्पन्न करके प्राप्त हुई वसति मूलकर्म दोषसे दुष्ट है।

उत्पादन नामक सोलह प्रकारका दोष कहा।

दस एषणा दोष कहते हैं—

यह वसति योग्य है या नही, ऐसी शका करना शकित दोष है। जो वसति तत्काल ही सीची गई या लीपी गई है अथवा छिद्रसे बहनेवाले जलके प्रवाहसे या जलपात्रके लुड़कानेसे

---

[1] वाल्या आ०। अपा हरि–मु०।

त्रसाना उपरि स्थापित पीठफलकादिक अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते वसति सा निक्षिप्तेच्यते। हरित-कटकसचित्तमृत्तिकापिधानमाकृष्य या दीयते सा पिहिता। काष्ठचेलकण्टकप्रावरणाद्याकर्षण कुर्वता पुरोयायिनोपदर्शिता वसति साहारणशब्देनोच्यते। मृतजातसूतकयुक्तगृहिजनेन, मत्तेन, व्याधितेन, नपुंसकेन, पिशाचगृहीतेन, **नग्नया** वादीयमाना वसतिर्दायकदुष्टा। स्थावरै पृथिव्यादिभि त्रसैं पिपीलिकामत्कुणादिभि सहितोन्मिश्रा। वितस्तिमात्राया भूमेरधिकाया अपि भुवो ग्रहण प्रमाणातिरेकदोष। शीतवातातपाद्युपद्रवसहिता वसतिरियमिति निन्दा कुर्वतो वसन धूमदोष। निर्वाता, विशाला, नात्युष्णा शोभनेयमिति तत्रानुराग **इङ्गाल** इत्युच्येत। एवमेतैरुद्गमादिदोषैरनुपहता वसति शुद्धा तस्या। **'अकिरियाए'** दु प्रमार्जनादिसस्काररहिताया। **'असंसत्ताए'** जीवसभवरहिताया। **'णिप्पाहुडियाए'** शय्यारहिताया। **सेज्जाए** वसतौ। **अन्तर्बहिर्वा बसइ** वसति। यतिर्विविक्तशयासनरत ॥२३२॥

अथ का विविक्ता वसतिरित्यत्राह—

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले।
अकदप्पब्भारागमघरादीणि य विवित्ताइ ॥२३३॥

शून्य गृह, गिरेर्गुहा, वृक्षमूल, आगन्तुकाना वेश्म, देवकुल, शिक्षागृह केनचिदकृत अकृतप्राग्भार-

---

उसी समय लीपी गई है उसे म्रक्षित कहते है। सचित्त पृथिवी, वायु, जल हरे बीज, और त्रसजीवोके ऊपर स्थापित पीठ, काष्ठफलक आदिको यहाँ शय्या करे ऐसा कहकर जो बसति दी जाती है उसे निक्षिप्त कहते है। हरित काँटे, सचित मिट्टीके आवरणको हटाकर जो वसति दी जाती है वह विहित दोषसे युक्त है। काष्ट, वस्त्र, कण्टकके आवरण आदिका खीचते हुए आगे जानेवाले मनुष्यके द्वारा दिखलाई गई वसति साधारण शब्दसे कही जाती है। जिसे मरण अथवा जननका शौच लगा है ऐसे गृहस्थके द्वारा या मत्त, रोगी, नपुसक, जिसे पिशाचने पकडा हुआ है या बालिकाके द्वारा दी गई वसति दायक दोषसे दूषित है। स्थावर पृथिवी आदि, त्रस चीटी खटमल आदिसे सहित वसति उन्मिश्रा है। जितने बालिस्त प्रमाणभूमि साधुको चाहिए उससे एक बालिश्त भूमि भी अधिक लेना प्रमाणातिरेक नामक दोष है। यह वसति शीतवायु, धूप आदि उपद्रववाली है ऐसी निन्दा करते हुए भी उसी वसतिमे रहना घूमदोष है। यह वसति विशाल है इसमे हवा नही आती, अधिक गर्म भी नही है, सुन्दर है इस प्रकार उससे अनुराग करना इगाला दोष है। वसति इन दोषोसे रहित होनी चाहिए ॥२३२॥

विशेषार्थ—साधुको देने योग्य आहार, औषध, वसति, सस्तर, उपकरण आदि दाताकी जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओसे उत्पन्न होते हैं वे उद्गम आदि सोलह दोष है। और मार्गविरुद्ध जिन क्रियाओंसे भोजन आदि बनाये जाते हैं वे सोलह उत्पादन दोष है। ये बत्तीस भी आधाकर्मरूप होनेसे दोष कहे जाते हैं। यतिके भोजन आदिके लिए छहकायके जीवोको बाधा देना अथवा ऐसे कारणसे उत्पन्न भोजन आदि आधाकर्म कहे जाते हैं। एषणादोष दस हैं। मूलाचारमे इन दोषोंका कथन है।

विविक्त वसति कौन है यह कहते हैं—

टी०—शून्य घर, पहाडकी गुफा, वृक्षका मूल, आनेवालोंके लिए बनाया घर, देवकुल,

शब्देनोच्यते । आरामगृह क्रीडार्थमायाताना आवासाय कृत । एता विविक्ता वसतय. ॥२३३॥

अत्र वसने दोषाभावमाचष्टे—

कलहो बोलो झंझा वामोहो संकरो ममत्ति च ।
ज्झाणाज्झयणविघादो णत्थि विवित्ताए वसधीए ॥२३४॥

'कलहो बोलो' । ममेय वसतिस्तवेय वसतिरिति कलहो न केनचित् अन्यजनरहितत्वात् । **'बोलो'** शब्दबहुलता । **'झंझा'** सक्लेशो । **'वामोहो'** वैचित्त्य । **'संकरो'** अयोग्यैरसयतै सह मिश्रण । **'ममत्वं च'** ममेदभावश्च । **'णत्थि'** नास्ति । **'ज्झाणज्झयणविघादो'** ध्यानस्याध्ययनस्य च व्याघात । उक्त कलहादिर्न विद्यते । क्व ? **'विवित्ताए वसधीए'** विविक्ताया वसतौ । एकस्मिन्प्रमेये निरुद्धज्ञानसततिर्ध्यान । अनेकप्रमेय-संचारी स्वाध्याय ॥२३४॥

इय सल्लीणमुवगदो सुहप्पवत्तेहिं तत्थ जोएहिं ।
पंचसमिदो तिगुत्तो आदट्ठपरायणो होदि ॥२३५॥

'इय' एव । **'सल्लीणं'** एकाग्रता **'उवगदो'** उपगत । केन ? **'जोगेहिं'** योगै तपोभिर्ध्यानैर्वा । **सुहप्पवत्तेहि** सुखप्रवृत्तै मुखेनाक्लेशेन प्रवृत्तै । **'पंचसमिदो'** समितिपचकोपेत । **'तिगुत्तो'** कृताशुभमनोवाक्का-यनिरोध । **'आदट्ठपरायणो होदि'** आत्मप्रयोजनपरो भवति । एतेन कथ्यते—विविक्तवसतिस्थायी यति-र्निष्प्रतिद्वन्द्वध्यानै शुभैस्तपोभिर्वा स्वास्थ्यमुपगत सवर निर्जरा च स्वप्रयोजन सपादयति इति ॥२३५॥

सवरपूर्विका निर्जरा स्तोतुमाह—

जं णिज्जरेदि कम्म असंवुडो सुमहदावि कालेण ।
तं संवुडो तवस्सी खवेदि अतोमुहुत्तेण ॥२३६॥

शिक्षाघर, किसीके द्वारा न बनाया गया स्थान, आरामघर—क्रीडाके लिए आये हुओके आवासके लिये जो बनाया गया है ये सब विविक्त वसतियाँ है ॥२३३॥

इनमे रहनेमे कोई दोष नही है, यह कहते है—

गा०—विविक्त वसतिमे कलह, शब्द बहुलता, सक्लेश, चित्तका व्यामोह, अयोग्य असय-मियोके साथ सम्बन्ध, यह मेरी है ऐसा भाव, तथा ध्यान और अध्ययनमे व्याघात नही है ॥२३४॥

टी०—विविक्त वसतिमे यह मेरी वसति है यह तेरी वसति है इस प्रकार कलह नही होता क्योकि वहाँ अन्य लोग नही होते । इसीसे ऊपर कहे अन्य दोष भी नही होते । ध्यान अध्ययनमे बाधा नही होती । एक पदार्थमे ज्ञानसन्ततिके निरोधको ध्यान कहते है और अनेक पदार्थोमे संचारको स्वाध्याय कहते है ॥२३४॥

गा०—इस प्रकार विविक्त वसतिमे निवास करनेसे विना क्लेशके सुखसे होनेवाले तप अथवा ध्यानके द्वारा बाह्यतपमे एकात्मताको प्राप्त यति पाँच समितियोसे युक्त हुआ अशुभ मन वचनकायका निरोध करके आत्माके कार्यमे तत्पर होता है ॥२३५॥

टी०—यहाँ कहा है कि विविक्त वसतिमे रहनेवाला यति निर्विघ्न ध्यानके द्वारा अथवा शुभतपके द्वारा स्वास्थ्यको प्राप्त होकर सवर और निर्जरारूप अपने प्रयोजनको करता है ॥२३५॥

'जं णिज्जरेदि कम्मं' यत्कर्म निर्जरयति तपसा बाह्येन । क ? **'असंवुडो'** असवृत अशुभयोगनिरोधरहित. । **'सुमहदावि कालेण'** सुष्ठु महता कालेनापि । **'तं'** तत्कर्म **'खवेदि'** क्षपयति । **अतोमुहुत्तेण'** अतिस्वल्पेन कालेन । क. ? **'संवुडो'** संवृत गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयपरिणत । **'तवस्सी'** तपस्वी अनशनादिमान् ।।२३६।।

एवमवलायमाणो भावेमाणो तवेण एदेण ।
दोसेणिग्घादंतो पग्गहिददरं परक्कमदि ।।२३७।।

एवमुक्तेन क्रमेण एतेन । **'तवण भावेमाणो'** तपसा भावयन्नात्मानमुद्यत । **'अवलायमाणो'** अपलायमान । कुतो दुर्धरात्तपस । **एवमवलोयमाणो** इति क्वचित्पाठ । तत्रायमर्थ — **किल एवमेवेण तवेण भावेमाणो** इति पदसबन्ध । एवमेतेन तपसा भावयमान अपलोयमाणो द्रव्यकर्म विनाशयन् इति । तदयुक्त – अशब्दार्थत्वात् । **'दोसे'** दूषयति रत्नत्रयमिति दोषा अशुभपरिणामा तान् घातयन् । **'पग्गहिददर'** नितरा । **'परक्कमदि'** चेष्टते मुक्तिमार्गे ।।२३७।।

यतिना निर्जरार्थिना एवभूत तपोऽनुष्ठेय इति कथयति ।

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कदं ण उट्ठेदि ।
जेण य सड्ढा जायदि जेण य जोगा ण हायंति ।।२३८।।

'सो णाम बाहिरतवो' तन्नाम बाह्य तप । किं ? **'जेण मणो दुक्कड ण उट्ठेदि'** यन तपसा क्रियमाणेन मनो दुष्कृत प्रति नोत्तिष्ठते । **'जेण य सड्ढा जायदि'** येन च क्रियमाणेन तपसा तपस्यभ्यन्तरे श्रद्धा जायते । **'जेण य जोगा ण हायंति'** येन च क्रियमाणेन पूर्वगृहीता योगा न हीयन्ते । तत्तथाभूत तपोऽनुष्ठेयमिति यावत् ।।२३८।।

सवरपूर्वक निर्जराकी प्रशसा करते है—

गा०—असवृत्त अर्थात् अशुभयोगका निरोध न करनेवाला यति महान् कालके द्वारा भी जिस कर्मकी बाह्य तपके द्वारा निर्जरा नही करता उस कर्मको सवृत् अर्थात् गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजयको करनेवाला तपस्वी अति स्वल्पकालमे क्षय करता है ।।२३६।।

गा०—उक्तक्रमसे इस तपसे अपनेको तत्पर करता हुआ दुर्धरतपसे न डरकर रत्नत्रयको दूषित करनेवाले अशुभ परिणामोको घातता है और अत्यन्त मुक्तिके मार्गमे चेष्टा करता है ।।२३७।।

टी०—कहीपर 'एवमवलोयमाणो' ऐसा पाठ है । एदेण तवण भावेमाणो' पदके साथ उसका सम्बन्ध करके ऐसा अर्थ करते है—इस प्रकार इस तपसे भावना करता हुआ 'अपलोयमाण' अर्थात् द्रव्यकर्मका विनाश करता है । यह युक्त नही है क्योकि यह शब्दार्थ नही है ।।२३७।।

निर्जराके इच्छुक यतिको इस प्रकार तप करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—उसीका नाम बाह्य तप है, जिस तपके करनेसे मन पापकी ओर नही जाता । और जिस तपके करनेसे अभ्यन्तर तपमें श्रद्धा उत्पन्न हो और जिसके करनेसे पूर्वमे गृहीत योग-व्रत विशेष हीन नही होते । इस प्रकारका तप करना चाहिए ।।२३८।।

बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता।
सल्लिहिदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥२३९॥

बाह्यतपोऽनुष्ठाने गुणं कथयत्युत्तरं सूत्रं। '**बाहिरतवेण**' बाह्येन तपसा हेतुभूतेन। '**सव्वा सुहसीलदा परिचत्ता होदि**' सर्वा सुखशीलता परित्यक्ता भवति। सुखभावना रागं जनयति। रागः स्वयं च कर्मबंधहेतुदोषं चानयति। बधः कर्मस्थितिहेतुः सैवमं[1]र्था निरस्ता भवति इति मन्यते। '**सल्लिहिदं च सरीरं**' भवति। शरीरं दुःखनिमित्तं तत्त्यक्तुकामस्य तनूकरणमुपायः तदनुष्ठितं भवतीति यावत्। '**ठविदो**' स्थापितः। '**अप्पा य**' स्वयं च, '**संवेगे**' ससारभीरुतायां। ननु च ससारभीरुता हेतुस्तपसो न तपो हेतुस्तस्याः, ततोऽयुक्तमभाणि सूत्रकारेण बाह्येन तपसा सवेगे स्थापित। लोकेनायं सविग्नचित्त इति स्थाप्यते बाह्ये तपसि वर्तमानस्ततो युक्तमुच्यते ॥२३९॥

दंताणि इंदियाणि य समाधिजोगा य फासिदा होंति।
अणिगूहिदवीरियओ जीविदतण्हा य वोच्छिण्णा ॥२४०॥

'**दंताणि**' दान्तानि '**इंदियाणि य**' इन्द्रियाणि च। '**होंति**' भवन्ति। अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानेन जिह्वा दान्ता भवति इति। विविक्तशय्यासनेन इतराणि इन्द्रियाणि दान्तानि भवन्ति। मनोज्ञेन्द्रियविषयरहिताया वसतावस्थानात्तानि निगृहीतानि भवन्ति। **समाधिजोगा य फासिदा होंति** रत्नत्रयैकाग्र्यं समाधिः। समाधिषु योगा समाधियोगाः। योगाः सम्बन्धास्ते च '**फासिदा होंति**' स्पृष्टा भवन्ति। रत्नत्रयसमाधानसम्बन्धाः स्पृष्टा भवन्ति। अशनादिकं त्यजता विषयरागो निरस्तो भवति। विषयरागव्याकुलो हि रत्नत्रये न घटते। असति तस्मिन्नव्याकुलोऽशुभपरिणामैकमुखो भवति इति मन्यते। '**अणिगूहिदवीरियदा**' अनिगूढवीर्यता

आगेकी गाथासे बाह्यतपको करनेके गुण कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य तपमे सब सुख शीलता छूट जाती है। क्योकि सुख शीलता रागको उत्पन्न करती है। राग-रागको बढाता है और कर्मबन्धके कारण दोषोको लाता है। बन्धकर्मकी स्थितिमे हेतु है। इस तरह बाह्य तपसे अनर्थ करनेवाली यह सुखशीलता नष्ट होती है। शरीर दुःखका कारण है। उसको छोड़नेका उपाय है शरीरको कृश करना। बाह्य तपसे शरीर कृश होता है और स्वय आत्मा ससारसे भीरुतामें स्थापित होती है।

शंका—न तो ससारसे भीरुता तपका हेतु है और न तप संसारसे भीरुताका हेतु है अतः ग्रन्थकारने यह अयुक्त कहा है कि बाह्य तपसे संवेगमे स्थापित होता है ?

समाधान—जो बाह्य तप करता है उसे लोग मानते है कि इसका चित्त संसारसे विरक्त है। अतः ग्रन्थकारका कथन युक्त है ॥२३९॥

गा०-टी०—इन्द्रियाँ दान्त होती है। अनशन, अवमौदर्य और वृत्ति परिसख्यान तप करनेसे जिह्वा दान्त होती है। विविक्त शय्यासन तपसे शेष इन्द्रियाँ दान्त होती है। जहाँ इन्द्रियोको प्रिय लगनेवाले विषय नही हैं ऐसी वसतिमे रहनेसे इन्द्रियोंका निग्रह होता है। रत्नत्रयमें एकाग्रताको समाधि कहते है। समाधिमे योग अर्थात् सम्बन्ध स्पष्ट होते है। भोजन आदिका त्याग करनेसे विषयोसे राग नही रहता। जो विषयरागसे सताया हुआ है वह रत्नत्रयमें नही लगता। रत्न-

१. सैवमर्थ नि–आ०। सैवमर्थान्नि–मु०।

च भवति । वीर्याचारे प्रवृत्तश्च भवति । ' 'जीविदतण्हा य' या जीविते तृष्णा च 'वोच्छिण्णा' व्युच्छित्ति गता । न हि जीविताशावान् अशनादिकं त्यक्तुमीहते । जीविते तृष्णावान्यत्किंचित्कृत्वा असंयमादिक प्राणानेव धारयितुमुद्यतो भवति न रत्नत्रये ॥२४०॥

दुक्खं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देहरससुक्खे ।
मुसमूरिया कसाया विसएसु अणायरो होदि ॥२४१॥

'दुःखं च भावियं होइ' दुःख च भावित भवति । दुःखभावना च कथमुपयोगिनी असक्लेशेन दुःखसहने कर्मनिर्जरा जायते । क्रमेण च जायमाना निर्जरा निरवशेषकर्मापायस्योपाय इत्येवमुपयोगिनी इति मन्यते । अपि चासकृद्भावितदुःखो निश्चलो भवति[1] ध्याने । **'अप्पडिबद्धो य होइ'** अप्रतिबद्धश्च भवति । **'देहरससोक्खे'** शरीररससौख्ये । एतेषु त्रिषु प्रतिबद्धता समाधेर्विघ्न स निरस्तो भवतीति भाव । **'मुसुमूरिदा कसाया'** उन्मृदिता कषाया भवन्ति । कथ अनशनादिना कषायनिग्रह कुतो भवति ? क्षमामार्दवार्जवसन्तोषभावनादिप्रतिपक्षभूता विनाशयन्ति कषायान्नेतरदिति चेत् अयमभिप्राय —अशनाद्यलाभे, स्वल्पलाभे, अशोभनाना वा लाभे क्रोधकषाय उत्पद्यते । तथा प्रचुरलाभाद्रसवद्भिक्षालाभाच्च लब्धिमानहमेवेति मानकषाय । अस्मदीयभिक्षागृह यथान्ये न जानन्ति तथा प्रविशामीति चिन्ता मायाकषाय । अशने रसे प्राचुर्यविशिष्टे वासक्तिर्लोभकषाय । तथा वसत्यप्रदाने कोप , तल्लाभे च मानकषाय प्राग्वत् । अन्येऽप्यागच्छन्तीति न मम वस[2]तिरस्त्यवकाशो[3]वाऽत्रेति वचनान्मायाकषाय । अहमस्य स्वामीति लोभ । इत्थ

त्रयमे न लगनेसे व्याकुल होकर अशुभ परिणामोमे ही लगता है । अपनी शक्तिको छिपाता नही है और वीर्याचारमे प्रवृत्त होता है । जीवनकी जो तृष्णा है वह भी नष्ट हो जाती है । जिसे जीनेकी तृष्णा है वह भोजनादिकका त्याग करना नही चाहता । जीवनकी तृष्णावाला जो कुछ भी असयम आदि करके प्राणधारण करनेमे ही तत्पर रहता है, रत्नत्रयमे नही लगता ॥२४०॥

गा०-टी०—दुःखका सहन होता है । बिना किसी सक्लेशके दुःख सहनेमे कर्मोकी निर्जरा होती है । और क्रमसे होनेवाली निर्जरा समस्त कर्मोके विनाशका उपाय है इसलिए दुःखभावना उपयोगी है । दूसरे, बार-बार दुःखकी भावना करने वाला ध्यानमे निश्चल होता है । शरीर, रस और सुखमे अप्रतिबद्ध–अनासक्त होता है । इन तीनोमे आसक्ति समाधिमे विघ्न करती है । अत उसका निरास होता है । कषायोका मर्दन होता है ।

शका—अनशन आदिसे कषायका निग्रह कैसे होता है ? कषायोकी विरोधी क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष भावना आदि कषायोको नष्ट करते है, अन्य नही ।

समाधान—अभिप्राय यह है कि भोजन आदि न मिलने पर, या कम मिलने पर अथवा अरुचिकर मिलने पर क्रोध कषाय उत्पन्न होती है । तथा प्रचुर लाभसे और स्वादयुक्त भिक्षाके लाभसे मै 'लब्धि सम्पन्न हूँ' ऐसी मान कषाय उत्पन्न होती है । मेरे भिक्षा लेनेके घरका दूसरे न जान सके इस तरह घरमे प्रवेश करूँ, यह चिन्ता माया कषाय है । रसीले अत्यधिक भोजनमे आसक्ति लोभ कषाय है । तथा वसति नही देने पर क्रोध और उसके मिलने पर मानकषाय होती है जैसा पहले भोजनके सम्बन्धमे कह आये है । दूसरे भी आने वाले है इस वसतिमे स्थान नही है

---

१ तीतिध्या–आ० मु० । २. वसतेर–आ० मु० । ३. शश्चात्र–आ० मु० ।

कषायनिमित्तवस्तुत्यागाश्च कषायाणामवसर इति । '**विसएसु**' विषयेषु स्पर्शनादिषु । '**अणादरो होइ**' अनादरो भवति औदासीन्य जायते । तदौदासीन्यात् तदादरनिमित्तकर्मसंवरो भवतीति भाव । अशनस्य हि [1]शुक्लादिरूपे मृदुस्पर्शे, सौगन्धे, रसे वाऽदरस्त्यक्तो भवति अशन त्यजता । तथा क्षीरादिकमपि त्यजता क्षीरादिरूपेषु ॥२४१॥

कदजोगदाददमणं आहारणिरासदा अगिद्धी य ।
लाभालाभे समदा तितिक्खणं बंभचेरस्स ॥२४२॥

'**कदजोगदा**' सर्वत्यागस्य पश्चाद्भाविन योगश्च कृतो भवति बाह्येन तपसा । '**आददमण**' आत्मनो दमन आहारे सुखे च योऽनुरागस्तस्य प्रशमनात् । '**आहारणिरासदा**' आहारे नैराश्य सम्पादित प्रतिदिन आहारगताशापरित्यागाभ्यासात् । सर्वत्यागकालेऽपि सुकरा भवत्याहारनिराशतेति भाव । '**अगिद्धी य**' अगृद्धिश्च अलपटता च । **क्व** ? आहारे । न ह्याहारे गृद्धिमाल्लब्ध्वा त त्यजति । **लाभालाभे समदा** लाभालाभयो समता । लाभे च मत्याहारस्य हर्षाकरणात् अलाभे च तथाऽकोपात् । य स्वयमेव लब्धमपि त्यजति स कथमिव परेषामदाने दुर्मनीभवति । **तितिक्खण बंभचेरस्स**' ब्रह्मचर्यं च सोढ भवति । रसवदाहारत्यागादभिनवेऽसति शुक्रसचये अनशने च सचितप्रलये मति न स्त्रीष्वनुरागा भवति इति भाव । तथा गलितशुक्राणा पुसा वैमुख्य अगनासु प्रतीतमेव ॥२४२॥

ऐसा कहना माया कषाय है । मै इस वसतिका स्वामी हूँ यह लोभ कषाय है । इस तरह जो वस्तु कषायमे निमित्त है उनका त्याग करनेमे कषायका अवसर नही रहता । (विसएसु अणादरो होई) स्पर्शन आदि विषयोमे अनादर होता है अर्थात् उदासीनता होती है । विषयोमे उदासीनतासे विषयोमे आदर भाव रखनेके निमित्तसे बन्धने वाले कर्मोका सवर होता है यह भाव है । भोजनके त्यागमे भोजनके शुक्ल आदि रूपमे, कोमल स्पर्शमे, सुगन्धमे अथवा रसमे आदरका त्याग हो जाता है । तथा दूध आदिका भी त्याग करनेसे दूध आदिके रूप रस आदिमे आदरका त्याग हो जाता है ॥२४१॥

गा०–टी०—'कद जोगदा'—बाह्य तपसे मरणकालमे जो सर्व आहारका त्याग करना होता है उसका अभ्यास होता है । 'आत्मदमण'—आहार और सुखमे जो अनुराग है उसका प्रशमन होनेसे आत्माका दमन होता है । 'आहारणिरासदा'—प्रतिदिन आहार सम्बन्धी आशाके त्यागके अभ्याससे आहारके विषयमे निराशा सम्पन्न होती है । अभिप्राय यह है कि समस्त आहारका त्याग करनेके कालमे भी आहार सम्बन्धी इच्छाका विनाश सुकर होता है । 'अगिद्धीय'—और आहारमे लपटता नही रहती । जिसको आहारमे गृद्धि है वह आहार पाकर उसे छोड़ नही सकता । 'लाभालाभे समदा'—लाभ और अलाभमे समता रहती है । आहारका लाभ होने पर हर्ष नही करता और अलाभमे क्रोध नही करता । जो स्वयं भी प्राप्त आहारको छोड देता है वह दूसरोके न देने पर अपना मन खराब कैसे कर सकता है । 'तितिक्खण बंभचेरस्स'—ब्रह्मचर्यको धारण करता है । रसीले आहारके त्यागसे नवीन वीर्यसचय नही होता और अनशनसे सचितवीर्य क्षय होता है तब स्त्रीमे अनुराग नही होता । तथा जिन पुरुषोमे वीर्यहीनता होती है उनके प्रति स्त्रियोकी विमुखता प्रसिद्ध ही है ॥२४२॥

१. हि भक्तादिरूपे–आ० ।

णिद्दाजओ य दढझाणदा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो ।
सज्झायजोगणिव्विग्घदा य सुहदुक्खसमदा य ॥२४३॥

'णिद्दाजओ य' निद्राजयश्च । प्रतिदिनमश्नत रसवदाहारसेवापरस्य बहुभोजिनश्च निवाते **सुखस्पर्शे** निरुपद्रवे च देशे शयानस्य निद्रा महती जायते, यया परवशो निश्चेतन इव भवत्यशुभपरिणामप्रवाहे च पतति, न च रत्नत्रयेण घटयति, तस्या जयो । **'दढझाणदा'** दृढध्यानता च दुःखोपनिपाताच्चलति ध्यानाद भावितदुःखो यति । कृततपोभावनस्तु क्षुदादिपरीषहोपनिपातेऽपि सहते । **'विमुत्ती य'** विमुक्तिर्विशिष्ट-त्याग अनशनादावुद्यतेन शरीरमेव त्यक्त भवति तदेव दुस्त्यज । **'दप्पणिग्घादो'** असयमकरणो यो दर्पस्तस्य निर्घातश्च कृतो भवति । **'सज्झायजोगणिव्विग्घदा य'** वाचनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशैर्योग सबन्धो यस्तस्य विघ्नाभावश्च । आहारार्थं भ्रमत कथ स्वाध्याय क्रियते ? बहुभोजनश्च उत्तान स्वपिति आसितुमप्य-समर्थ । रसवदाहारभोजी आहारोष्मणा दह्यमान इतस्तत परावर्तते । अविविक्ताया वसतौ वर्तमान परेषा वच शृण्वस्तै सह सभाषण कुर्वन्नाधीते । विविक्तदेशस्थायी पुनर्निर्व्याकुल स्वाध्याये घटते । **'सुह-दुःखसमदा य'** सुखेन हृष्यति दुःखेन दुष्यति इति रागद्वेषावन्तरेण सुखदुःखानुभव सुखदुःखसमता । अशन रसाश्च सुखसाधनभूतास्त्यजता सुखे रागस्त्यक्तो भवति । क्षुदादिजनितवेदनोपनिपाते असक्लेशात् दुःखे न च द्वेषोऽस्यास्तीति । **'बाहिरतवेण होदि हु'** इत्यनेन पञ्चसूत्र¹निर्दिष्टाना प्रत्येक सबन्ध ॥२४३॥

गा०–टी०—'णिद्दाजओय'–निद्राजय होता है। जो प्रतिदिन भोजन करता है, रसीले आहार के सेवनमे तत्पर रहता है, बहुत भोजन करता है, उसे वायुके प्रकोपसे रहित, सुखकारक स्पर्शवाले उपद्रवहीन देशमे सोने पर गहरी नीद आती है, जिसके अधीन होकर वह चेतनाहीन जैसा हो जाता है और अशुभ परिणामोके प्रवाहमे गिर जाता है। वह रत्नत्रयमे नही लगता। उस निद्रा-का जय होता है। 'दढझाणदा' दृढ ध्यान होता है। जिस यतिको दुःख सहनेका अभ्यास नही होता, वह दुःख पडने पर ध्यानसे विचलित हो जाता है। किन्तु तपका अभ्यासी भूख आदि परी-षह आने पर सहता है। 'विमुत्तीय' विमुक्ति अर्थात् विशिष्ट त्याग करता है क्योकि जो अनशन आदिमे तत्पर रहता है वह तो शरीर ही को छोड देता है और शरीर ही को छोडना कठिन होता है। 'दप्पणिघादो'—असयमको करने वाला जो दर्प है उसका भी पूरी तरहसे घात होता है। 'सज्झायजोगणिव्विग्घदाय'—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके साथ जो सम्बन्ध है उसमे कोई विघ्न नही होता। आहारके लिए भ्रमण करने वाला साधु कैसे स्वाध्याय कर सकता है। बहुत भोजन करने वाला तो ऊपरको मुख करके सोता है बैठ भी नही सकता। रसीला आहार खाने वाला आहारकी ऊष्मासे इधर-उधर करवटे बदलता है। जो बहुजन सकुल वसतिमे रहता है वह दूसरोंकी बाते सुनकर उनके साथ बातचीत करता है, स्वाध्याय नही करता। किन्तु एकान्त स्थानमे रहने वाला व्याकुलता रहित होकर स्वाध्याय करता है। 'सुह-दुक्खसमदाय'—सुखसे हर्षित होना और दुःखसे दुःखी होना राग-द्वेष है। उनके बिना सुख-दुःख का अनुभव सुख-दुःख समता है। सुखके साधनभूत भोजन और रसोंको जो त्यागता है वह सुखमे रागको त्यागता है। भूख प्यासका कष्ट होने पर सक्लेश न होनेसे उसे दुःखमे द्वेष नही होता।

---

१ त्रीनिर्दि–अ० मु० ।

आदा कुलं गणो पवयणं च सोभाविदं हवदि सव्वं ।
अलसत्तणं च विजडं कम्मं च विणिद्धुयं होदि ॥२४४॥

'**आदा कुल गणो पवयणं च सव्व सोभाविद हवदि**' पदघटना । बाह्येन तपसा स्वय कुलमात्मनो, गण, स्वशिष्यसन्तानश्च शाभामुपनीतो भवति । '**अलसत्तणं च**' अलसत्व च । '**विजडं**' त्यक्त भवति । दुर्धरतप समुद्योगात् '**कम्मं च विणिद्धुवं**' कर्म च समारमूल विशेषेण निर्द्धृत भवति ॥२४४॥

बहुगाणं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।
मग्गो य दीविदो भगवदो य अणुपालिया आणा ॥२४५॥

'**बहुगाणं**' बहूना । '**संवगो जायदि**' ससारभीरुता जायते । यथा सन्नद्धमेक दृष्ट्वा नूनमत्र भयमस्ति किंचिदहमपि सन्नह्यामीति जन प्रवर्तते । एव तपस्युद्यतमवलोक्य ससारभयादयमेव क्लिश्यति तदस्माकमप्य-निवारितमेवेति विभेति । भीतश्च प्रतिक्रिया प्रारभते । '**सोमत्तणं च मिच्छाणं**' मिथ्यादृष्टीना सौम्यता सुमुखता वा जायते । दुर्द्धरमिद महत्तपो यतीना इति प्रसन्ना भवतीति यावत् । '**मग्गो य दीविदो**' मार्गश्च मुक्ते प्रकाशितो भवति यतीना बाह्येन तपसा करणभूतेन । न तपसा विना कर्मणा निर्जराऽस्तीति '**भगवदो य अणुपालिदा आणा**' भगवत आज्ञा चानुपालिता भवति यतिना बाह्येन तपसा करणेन ॥२४५॥

देहस्स लाघवं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।
जवणाहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥२४६॥

'**देहस्स लाघवं**' शरीरस्य लाघवगुणो बाह्येन तपसा भवति । लघुशरीरस्य आवश्यकक्रिया सुकरा भवन्ति । स्वाध्यायध्याने चाक्लेशसम्पाद्ये भवत । '**णेहस्स लूहणं**' शरीरस्नेहविनाशन च गुण । शरीरस्नेहादेव

उक्त पाँच गाथामे जो कुछ कहा है उसका सम्बन्ध 'बाह्यतपसे होता है' इस वाक्यके साथ लगाना चाहिए ॥२४३॥

टी०—बाह्य तपसे आत्मा, अपना कुल, गण, अपनी शिष्य परम्परा शोभित होती है। आलस्य छूट जाता है। और दुर्धर तप करनेसे ससारका मूल कर्म विशेषरूपसे नष्ट होता है ॥२४४॥

टी०—यतिके बाह्य तप करनेसे बहुतसे लोगोको ससारसे भय उत्पन्न होता है। अवश्य ही यहाँ कुछ भय है मै भी तैयारी करता हूँ। इस प्रकार लोग तपमे प्रवृत्त होते है। तपमे उद्यत जनको देखकर 'यह ससारके भयसे इस प्रकारका कष्ट उठाता है। हम भी इससे बच नही सकते ऐसा मान ससारसे डरता है और डरकर उसका प्रतीकार करता है। तपस्वीको देखकर मिथ्या-दृष्टियोमे भी सौम्यता आ जाती है। यतियोका यह महान तप दुर्द्धर है इस प्रकार अपनी प्रस-न्नता प्रकट करते हैं। यतियोके बाह्य तप करनेसे मुक्तिका मार्ग प्रकाशित होता है। क्योकि तपके बिना कर्मोकी निर्जरा नही होती। और भगवान्‌की आज्ञाका अनुपालन होता है ॥२४५॥

टी०—बाह्य तपसे शरीरमे हलकापन आता है। जिसका शरीर हल्का होता है वह आवश्यक क्रियाओको सरलतासे करता है। तथा स्वाध्याय और ध्यान विना कष्टके होते है।

जनोऽसयमे प्रवर्तते । शरीरमेवानर्थहेतुरिति तपोऽपि न करोति । तेनाहित शरीरस्नेहो विनाशितो भवति । **'उवसमो तहा परमो'** तथा चोत्कृष्टश्चोपशमो भवति रागादेदु करे तपसि वर्तमानस्य । किं च मम रागेण उपद्रवकारिणा । सति रागे हि नवकर्मबन्धो जायते । चिरन्तनकर्मरसोपबृहण च । सति चेत्थ मदीय. क्लेशो निष्फलो भवेदिति मन प्रणिधानादुपशम । **'जवणाहारो'** परिमिताहारता इति केचिदाचक्षते । तत्र च गुणो नीरोगतादिकमिति । तथा चाहुर्मिताशिन षड्गुणा भजन्ते इति । अपरे शरीरस्थितिमात्रहेतुराहार जवणाहारशब्द शरीरवाच्य इति स्थिता ॥२४६॥

एवमित्यादिनोपसहरति—

एवंउग्गमउप्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेण ।
मिदलहुयविरसलुक्खेण य तवमेद कुणदि णिच्चं ॥२४७॥

'एवमेदं तवो णिच्चं कुणदित्ति' पदघटना । **'एवं'** व्यावर्णितरूपेण । **'एदं'** एतत् बाह्य तप । **'कुणदि'** करोति । **'णिच्च'** नित्य । **'उग्गमउप्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेण'** उद्गमोपादनैषणादोषरहितेन, भक्तेन पानेन च । कीदृग्भूतेन ? **"मिदलहुगविरसलुक्खेण'** परिमितेन लघुना, विरसेन, रूक्षेण । एवंभूत शुद्धमाहार भुक्त्वा तप [1]कुर्यान्नाशुद्धमिति भाव ।

उल्लीणोल्लीणेहिं य अहवा एक्कंतवड्ढमाणेहिं ।
सल्लिहइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुगिंतो ॥२४८॥

'उल्लीणोल्लीणेहिं य' प्रवर्द्धमानेन हीयमानेन च तपसा चतुर्थषष्ठादिक्रमेणानशनतपोवृद्धि । एकद्वि-

---

शरीरसे स्नेहका विनाश होता है यह भी एक गुण है। शरीरके स्नेहसे ही मनुष्य असयमका आचरण करता है। शरीर ही अनर्थका कारण है। इसीके स्नेहवश मनुष्य तप नही करता। अत तपसे अहितकारी शरीरस्नेहका नाश होता है। दुष्कर तप करनेवालेके रागादिका उत्कृष्ट उपशम होता है। वह मनमे विचारता है, इस उपद्रवकारी रागसे मुझे क्या ? रागके होनेपर नवीन कर्मका बन्ध होता है, और पूर्वबद्धकर्मोमे रसकी वृद्धि होती है। ऐसा होनेपर मेरा कष्ट सहन निष्फल है। ऐसे विचारसे उपशम होता है। 'जवणाहारो'—इसका अर्थ कोई 'परिमित आहार' करते है। उसमे नीरोगता आदि गुण है। कहा है 'परिमित भोजनमे छह गुण होते हैं।' अन्य कुछ शरीरकी स्थितिमात्रमे हेतु जो आहार है वह जवणाहार है ऐसा कहते है ॥२४६॥

उक्त चर्चाका उपसहार करते है—

गा०—कहे अनुसार उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे रहित भोजन और पानसे और परिमित, लघु, रसरहित और रूक्ष भोजन पानसे यह बाह्य तप नित्य यत्ति करता है। इसका भाव है कि इस प्रकारका शुद्ध आहार खाकर तप करना चाहिए। अशुद्ध आहार करके नही ॥२४७॥

गा०—वर्द्धमान या हीयमान अनशन आदि तपोसे अथवा सर्वथा वर्द्धमान तपोके द्वारा आहारकी विधिको अल्प करता हुआ मुनि शरीरको कृश करता है ॥२४८॥

टी०—चतुर्थ, षष्ठ आदिके क्रमसे अनशन तपकी वृद्धि होती है। एक दो आदि ग्रास कम

---

१ कुर्यान्नाशुद्ध–अ० । कुर्यु. सुशुद्ध–आ० ।

कवलादिन्यूनतया अवमोदर्यवृद्धि । एकस्य रसस्य द्वयोस्त्रयाणामित्यादिना क्रमेण रसपरित्यागवृद्धि । एकपाटक, गृहसप्तक, गृहत्रय वा प्रविशामीति, भिक्षाग्रासपरिमाणन्यूनताकरणेन वा वृत्तिपरिसंख्यानवृद्धिः । दिवसे आतपन कृत्वा रात्रौ प्रतिमावग्रहकरणमित्यादिना कायक्लेशवृद्धि । एव श्रमे महति सजाते क्रमेण अनशनादीना न्यूनताकरण । **'अहवा'** अथवा । **'एयंतवड्ढमाणेहिं'** एकान्तेन वर्धमानै तपोभि । **'सल्लिहइ'** सल्लिखति । **'मुणी'** मुनि । **'देहं'** । **'आहारविधि'** अशनादिविधि । **'पयणुगितो'** अल्पीकुर्वन् ॥२४८॥

प्रकारान्तरेण सल्लेखनोपायमाचष्टे—

अणुपुव्वेणाहारं संवट्टंतो य सल्लिहइ देहं ।
दिवसुग्गहिएण तवेण चावि सल्लेहणं कुणइ ॥२४९॥

'अणुपुव्वेण' क्रमेण । **आहारं संवट्टंतो य** आहार न्यूनयित्वा । **सल्लिहइ देहं** तनूकरोति । **दिवसुग्गहिगेण तवेण** चावि एकैकदिन प्रतिगृहीतेन तपसा च, एकस्मिन्दिनेऽनशन, एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसख्यानं इति । **सल्लेहणं कुणइ** सल्लेखना करोति ॥२४९॥

विविहाहिं एसणाहिं य अवग्गहेहिं विविहेहिं उग्गेहिं ।
संजममविराहिंतो जहाबल सल्लिहइ देहं ॥२५०॥

'विविहाहिं' नानाप्रकारै । **'एसणाहिं य'** भोजनै रसवर्जितैरप्यल्पै शुष्कैराचाम्लैर्वा । **'अवग्गहेहिं'** नानाप्रकारैरवग्रहै । **'उग्गेहिं'** उग्रै । **'सजममविराधेंतो'** संयम द्विप्रकार अविनाशयन् । **'जहाबलं'** स्वबलानतिवृत्त्या देह तनूकरोति ॥२५०॥

सदि आउगे सदि बले जाओ विविधाओ [1]भिक्खुपडिमाओ ।
ताओ वि ण बाधंते जहाबलं सल्लिहंतस्स ॥२५१॥

करनेसे अवमौदर्यकी वृद्धि होती है। एक रसका, फिर दो रसका, फिर तीन रसका, इत्यादि क्रमसे त्याग करनेसे रसपरित्यागकी वृद्धि होती है। मै एक पाटकमे या सात घरमे या तीन घरमे प्रवेश करूंगा। अथवा भिक्षाके ग्रासोका परिमाण कम करनेसे वृत्तिपरिसंख्यान तपकी वृद्धि होती है। दिनमे आतापन योग करके रात्रिमे प्रतिमा योग धारण करने आदिसे कायक्लेशकी वृद्धि होती है। इस प्रकार करनेसे महान् श्रम होनेपर क्रमसे अनशन आदिमे कमी करता है। या फिर बढाता ही जाता है और आहारको कम करके मुनि शरीरको कृश करता है ॥२४८॥

प्रकारान्तरसे सल्लेखनाका उपाय कहते है—

गा०—क्रमसे आहारको कम करते हुए शरीरको कृश करता है। और एक एक दिन ग्रहण किये तपसे, एक दिन अनशन, एक दिन वृत्तिपरिसख्यान इस प्रकार सल्लेखनाको करता है ॥२४९॥

गा०—नाना प्रकारके रस रहित भोजन, अल्प भोजन, सूखा भोजन, आचाम्ल भोजन आदिसे और नाना प्रकारके उग्र नियमोसे दोनो प्रकारके सयमोको नष्ट न करता हुआ यति अपने बलके अनुसार देहको कृश करता है ॥२५०॥

---

१. मासिय दुय तिय चउ पच मास छम्मास सत्त मासो य ।
तिण्णेव सत्तराइ राईदिय राइपडिमाओ ॥ —मूलाराधनादर्पणे ।

'**सदि आउगे**' आयुषि सति । '**सदि बले**' सति बले । '**जाओ**' या '**विविहाओ**' विचित्रा. । '**भिक्खु-पडिमाओ**' भिक्षुप्रतिमा । '**ताओ वि**' ताश्च । '**ण बाधंते**' न पीडा जनयति महती । कस्य ? '**जहाबलं सल्लिहंतस्स**' यथाबल तनूकुर्वत बलमन्तरेण कुर्वत प्रारब्धमहाक्लेशस्य योगभङ्ग सक्लेशश्च महान् जायते इति भावः ॥२५१॥

शरीरसल्लेखनाहेतुषु उपन्यस्तेषु के उत्कृष्टा इत्यत्राह—

सल्लेहणा सरीरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा ।
आयंबिलं महेसी तत्थ दु उक्कस्सयं विंति ॥२५२॥

'**सल्लेहणा शरीरे**' शरीरसल्लेखनानिमित्त शरीरे सल्लेखना इत्युच्यते । '**तवोगुणविधी**' तप सज्ञितो गुणविकल्प । '**अणेगहा भणिदा**' अनेकधा निरूपित अतीतसूत्रै । '**तत्थ**' तत्र । '**महेसी**' महर्षय । '**आयं-बिल दु**' आचाम्लाश[1]नमेव । '**उक्कस्सगं**' उत्कृष्टमिति । '**वेंति**' ब्रुवन्ति ॥२५२॥

टी०—आयुके होते हुए और बलके होते हुए अपनी शक्तिके अनुसार शरीरको कृश करने वाले यतिके जो विविध भिक्षु प्रतिमाएँ है, वे भी महान् कष्ट नही देती । जो शक्तिके बिना करता है उसे प्रारम्भ मे ही महान् क्लेश होनेसे योगका भग तथा महा सक्लेश परिणाम होते है ॥२५१॥

विशेषार्थ—आशाधरजीने एक गाथाके द्वारा उसका अर्थ करते हुए भिक्षु प्रतिमाओका कथन किया है जो इस प्रकार है—

आत्माकी सल्लेखना करने वाला, धैर्यशाली, महासत्त्वसे सम्पन्न, परीषहोका जेता, उत्तम सहननसे विशिष्ट, क्रमसे धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानको पूर्ण करता हुआ मुनि जिस देशमे रहता है उस देशके लिये दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है कि यदि एक मासमे ऐसा आहार मिला तो मै भोजन करूँगा, अन्यथा नही करूँगा । उस मासके अन्तिम दिन वह प्रतिमा योग धारण करता है । यह एक भिक्षु प्रतिमा है । इस प्रकार पूर्वोक्त आहारसे सौगुने उत्कृष्ट अन्य-अन्य भोजन सम्बन्धी नियम लेता है । ये नियम दो, तीन, चार, पाँच, छ और सात मासको लेकर होते है । अर्थात् दो या तीन आदि सात मासमे ऐसा आहार मिलेगा तो आहार करूँगा । सर्वत्र नियमोके अन्तिम दिन प्रतिमा योग धारण करता है । ये सात भिक्षु प्रतिमा है । पुन पूर्व आहार से सौगुना उत्कृष्ट दुर्लभ अन्य-अन्य आहारका नियम सात-सात दिनका तीन बार ग्रहण करता है । अर्थात् सात दिनमे ऐसा मिला तो ग्रहण करूँगा । ये तीन भिक्षु प्रतिमा है । फिर रात दिन प्रतिमायोगसे स्थित रहकर पीछे रात्रि प्रतिमायोग धारण करता है । ये दो भिक्षु प्रतिमा है । इनके धारण करनेपर पहले अवधि मन पर्यय ज्ञानको प्राप्त करनेके पीछ सूर्योदय होनेपर केवल-ज्ञानको प्राप्त करता है । इस तरह बारह भिक्षु प्रतिमायोगसे स्थित होकर पश्चात् रात्रि प्रतिमा-योग धारण करता है ॥२५१॥

ऊपर जो शरीरकी सल्लेखनाके हेतु कहे है उनमे कौन उत्कष्ट है, यह कहते है—

गा०—शरीरकी सल्लेखनाके निमित्त अनेक प्रकार तप नामक गुणके विकल्प पूर्व गाथाओ के द्वारा कहे है । उनमेसे महर्षि आचाम्लको ही उत्कृष्ट कहते है ॥२५२॥

१ शनाय च आ० । —शनाल्य च मु० ।

शरीरसल्लेखनोपायोत्कृष्टमाचाम्लाशनमित्युक्तं तत्कीदृगिति चोदिते आह—

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं विदियअट्ठेहिं ।
मिदलहुग आहारं करेदि आयबिलं बहुसो ।।२५३।।

'**छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं विदियअट्ठेहिं**' द्वित्रिचतुःपञ्चदिनोपवासै उत्कृष्टै । '**मिदलहुगं आहारं करेदि**' परिमित लघ्वाहार करोति । '**आयंबिलं**' आचाम्लं । '**बहुसो**' बहुश ।।२५३।।

भक्तप्रत्याख्यानस्यास्य वर्ण्यमानस्य कियत्काल इत्यत्रोत्तर—

उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिद्दिट्ठो ।
कालम्मि सपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि ।।२५४।।

'**उक्कस्सएण**' उत्कर्षेण । '**भत्तपइण्णाकालो**' भक्तप्रत्याख्यानकाल । '**जिणेहिं णिद्दिट्ठो**' जिनैर्निर्दिष्ट । '**कालम्मि**' काले । '**सपहुत्ते**' महति सति । '**बारसवरिसाणि**' सम्पूर्णद्वादशवर्षमात्रान् ।।२५४।।

उक्तेषु द्वादशवर्षेषु एव कर्तव्यमिति क्रमं सल्लेखनाय दर्शयति—

जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेइ सवच्छराणि चत्तारि ।
वियडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि [1]सोसेदि ।।२५५।।

'**जोगेहिं**' कायक्लेशै । '**विचित्तेहिं दु**' विचित्रैर्नियतै । '**खवेदि**' क्षपयति । '**सवच्छराणि चत्तारि**' वर्षचतुष्टय । यत्किंचिद्भुक्त्वा । '**विगडी णिज्जूहित्ता**' रसादीन्क्षीरादीन्परित्यज्य । '**चत्तारि**' वर्षचतुष्टय । '**पुणो वि**' पुनरपि । [2]'**सोसेदि**' तनूकरोति तनुम् ।।२५५।।

शरीरकी सल्लेखनाके उपायोमे आचाम्लको उत्कृष्ट कहा, वह कैसा होता है, यह कहते है—

गा०—उत्कृष्ट दो दिन, तीन दिन, चार दिन और पाँच दिनके उपवासके बाद अधिकतर परिमित और लघु आहार आचाम्लको करते है ।।२५३।।

विशेषार्थ—'अदिविकट्ठेहि' के स्थानमे वियदि अट्ठेहि' पाठ भी मिलता है । उसका अर्थ 'विशेष अतिकष्ट' ऐसा होता है । इस गाथाका तात्पर्य यह है षष्ठ आदि उपवासोसे सक्लेशको न प्राप्त होता यति मित और लघु काजी का आहार प्राय करता है । उसे सलेखनाके हेतुओमे उत्कृष्ट कहते है ।।२५३।।

जिस भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन चल रहा है उसका काल कितना है ? इसका उत्तर देते है—

गा०—यदि आयुका काल अधिक शेष हो तो जिन भगवान्ने उत्कृष्टसे भक्त प्रत्याख्यानका काल पूर्ण बारह वर्ष कहा है ।।२५४।।

उक्त बारह वर्षमे ऐसा करना चाहिये, इस प्रकार सल्लेखनाका क्रम बतलाते है—

गा०—नाना प्रकारके कायक्लेशोके द्वारा चार वर्ष बिताता है । दूध आदि रसोको त्यागकर फिर भी चार वर्ष तक शरीरको सुखाता है ।।२५५।।

---

१ मोमेइ अ० । २ मोरोदि अ० ।

आयंबिलणिव्वियडीहिं दोण्णि आयबिलेण एक्कं च ।
अद्ध णादिविगट्ठेहिं अदो अद्ध विगट्ठेहिं ॥२५६॥

'**आयबिलणिव्वियडीहिं**' आचाम्लेन निर्विकृत्या च । '**दोण्णि**' वर्षद्वय क्षपयति । '**आयंबिलेण**' आचाम्लनैव । '**एक्कं च**' एक वर्ष । '**अद्ध**' अवशिष्टस्य वर्षस्य षण्मासान् । '**नादिविगट्ठेहिं**' अत्यनुत्कृष्टैस्तपोभि· क्रशयति । '**अदो अद्ध विकट्ठेहिं**' अत पर षण्मासान् उत्कृष्टैस्तपोभि ॥२५६॥

व्यावर्णितेनैव क्रमेण आचरितव्यमिति नियोगो न विद्यते इत्याचष्टे—

भत्तं खेत्तं कालं धादुं च पडुच्च तह तवं कुज्जा ।
वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभं ण उवयंति ॥२५७॥

'**भत्त**' आहार शाकबहुल, रसबहुल, कुल्मापप्राय, निष्पावचणकादिमिश्र, शाकव्यञ्जनादिरहित वा । '**खेत्तं**' अनूपजाङ्गलसाधारणविकल्प । '**कालं**' घर्मशीतसाधारणभेद । धातुमात्मन शरीरप्रकृति च । '**पडुच्च**' आश्रित्य । '**तह**' तथा । '**तव कुज्जा**' तप कुर्या'**ज्जहा खोभं ण उवयति**' । यथा क्षोभ नोपयान्ति । '**वादो पित्तो सिंभो वा**' वातपित्तश्लेष्मत्रिक ॥२५७॥

शरीरसल्लेखनाक्रममभिधायाभ्यन्तरसल्लेखनाक्रममभिधातु अभ्यन्तरसल्लेखनया मह सम्बन्ध कथयन्ति—

एव सरीरसल्लेहणाविहिं बहुविहा व फासेंतो ।
अज्झवसाणविसुद्धिं खणमवि खवओ ण मुंचेज्ज ॥२५८॥

'**एव**'मुक्तेन क्रमेण । '**शरीरसल्लेहणाविहिं**' नानाप्रकार । '**फासेंतो वि**' स्पृशन्नपि । '**अज्झवसाण-**

गा०—आचाम्ल और निर्विकृतिके द्वारा दो वर्ष बिताता है । आचाम्लके द्वारा एक वर्ष बिताता है । मध्यम तपके द्वारा शेष वर्षके छह माह और उत्कृष्ट तपके द्वारा शेष छह मास बिताता है ॥२५६॥

विशेषार्थ—शेष चार वर्षोमे से दो वर्ष काजी और रस व्यजन आदिसे रहित भात वगैरह खाकर बिताता है। एक वर्ष केवल काजी आहार लेता है । अन्तिम बारहवे वर्षके प्रथम छह महीनोंमे मध्यम तप करता है । अन्तिम छह महीनोमे उत्कृष्ट तप करता है ॥२५६॥

आगे कहते है कि ऊपर कहे क्रमके अनुसार ही आचरण करनेका नियम नही है—

गा०—आहार, क्षेत्र, काल अपनी शारीरिक प्रकृतिको विचार कर इस प्रकार तप करना चाहिये जिस प्रकार वात पित्त और कफ क्षोभको प्राप्त न हो ॥२५७॥

टी०—आहारके अनेक प्रकार है—शाक बहुल—जिसमे शाक ज्यादा है, रस बहुल—जिसमे घी दूध आदि रस अधिक है । कुल्माषप्राय—जिसमे कुलथी अधिक है । कच्चे चने आदि से मिला आहार और शाक व्यंजन आदिसे रहित आहार । क्षेत्र भी अनेक प्रकारके है जिसमें पानीकी प्रचुरता है, वर्षा अधिक होती है, कही वर्षा कम होती है । काल गर्मी सर्दी और साधारण होता है । इन सबका तथा अपनी प्रकृतिका विचार करके तप करना चाहिये जिससे स्वास्थ्य खराब न हो ॥२५७॥

शरीरकी सल्लेखनाका क्रम कहकर अभ्यन्तर सल्लेखनाका क्रम कहनेके लिये अभ्यन्तर सल्लेखनाके साथ सम्बन्ध कहते है—

गा०—उक्त क्रमसे नाना प्रकारकी शरीर सल्लेखनाकी विधिको करते हुए भी परिणामो

विसुद्धि' परिणामविशुद्धि । **'खवगो खणमवि ण मुंचेज्ज'** क्षपक क्षणमपि न त्यजेत् ॥२५८॥

अभ्यन्तरशुद्ध्यभावे दोष कथयति—

अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्ठंपि ।
कुव्वंति बहिल्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी ॥२५९॥

'अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा' अध्यवमानविशुद्धया वर्जिता । **'जे'** ये । **'तवं'** तप । **'विगट्ठंपि कुव्वंति'** उत्कृष्टमपि कुर्वन्ति । **'बहिल्लेस्सा'** बहिर्लेश्या पूजासत्काराद्याहितचित्तवृत्तय । **'ण होदि तेंसि केवला सुद्धी'** दोषोन्मिश्रका भवतीति शुद्धिरिति यावत् ॥२५९॥

केवला शुद्धि कस्य तर्हि भवतीत्याह—

अविगट्ठ पि तव जो करेइ सुविसुद्धसुक्कलेस्साओ ।
अज्झवसाणविसुद्धो सो पावदि केवल सुद्धिं ॥२६०॥

'अविकट्ठं वि' अनुत्कृष्टमपि तपो य करोति । सुविशुद्धशुक्ललेश्यासमन्वित विशुद्धपरिणाम स केवला शुद्धि प्राप्नोति इति गाथार्थ ॥२६०॥

प्रस्तुता द्वितीया कषायसल्लेखनामुक्तयाध्यवसायविशुद्धया योजयति—

अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थित्ति ।
अज्झवसाणविसुद्धी कसायसल्लेहणा भणिदा ॥२६१॥

'अज्झवसाणविसुद्धी' परिणामविशुद्धि । **'कसायकलुसीकदस्स'** कषायै कलुषीकृतस्य । **'णत्थि'** नास्ति यस्मात् इति तस्मात् । **'अज्झावसाणविसुद्धी'** परिणामविसुद्धि । **'कसायसल्लेहणा भणिया'** कषायसल्लेखनेति गदिता ॥२६१॥

की विशुद्धिको क्षपक एक क्षणके लिये भी न छोडे ॥२५८॥

अभ्यन्तर शुद्धिके अभावमे दोष कहते है—

गा०—परिणामोकी विशुद्धिको छोडकर जो उत्कृष्ट भी तप करते है उनकी चित्तवृत्ति पूजा सत्कार आदिमे ही लगी होती है। उनके अशुभ कर्मके आस्रवसे रहित शुद्धि नही होती। अर्थात् दोषोसे मिली हुई शुद्धि होती है ॥२५९॥

तब केवल शुद्धि किसके होती है, यह कहते है—

गा०—जो अतिविशुद्ध शुक्ललेश्यासे युक्त और विशुद्ध परिणामवाला अनुत्कृष्ट भी तप करता है वह केवल शुद्धिको पाता है। यह गाथाका अर्थ है ॥२६०॥

प्रस्तुत दूसरी कषाय सल्लेखनाको उक्त अध्यवसान विशुद्धिसे जोड़ते है—

गा०—जिसका चित्त कषायसे दूषित है उसके परिणाम विशुद्धि नही होती। इसलिये परिणाम विशुद्धिको कषाय सल्लेखना कहा है ॥२६१॥

विशेषार्थ—जिस मुनिका चित्त क्रोधाग्निके द्वारा कलुषित है उस मुनिके परिणाम विशुद्ध नहीं हैं। अतः उसके कषाय सल्लेखना नही है। कषायके कृश करनेको कषाय सल्लेखना कहते हैं। और कषायके कृश हुए बिना परिणाम विशुद्ध नही होते। अत परिणाम विशुद्धिके साथ कषाय सल्लेखना का साध्य साधन भाव सम्बन्ध है ॥२६१॥

शुभपरिणामप्रवाहवृत्तेन चतुष्कषायसल्लेखना कृता भवति इत्यभिधाय सामान्येन चतुर्णामपि कषायाणां तनूकरणे उपाय प्रतिपक्षपरिणामचतुष्कं कथयति—

कोध खमाए माणं च मद्दवेणाज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि वि कसाए ।।२६२।।

कोध खमायेत्यादिना कषायविनाशने उपायस्तदुत्पत्तित्याग ।।२६२।।

उत्पद्यमानो हि कषायो वृद्धिमुपैतीति कथयति—

कोहस्स य माणस्स य मायालोभाण गो ण एदि वसं ।
जो ताण कसायाणं उप्पत्तिं चेव वज्जेइ ।।२६३।।

'कोहस्स य' अत्रैव पदघटना । **'जो तेसिं कसायाणमुप्पत्तिं चेव वज्जेदि'** यस्तेषां कषायाणामुत्पत्ति एव परिहरति । **'क्रोधस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं'** क्रोधमानमायालोभाना स नोपैति वश । यस्तेषामुत्पत्तिमपेक्षते स तद्वशग कथ कषायसल्लेखना कुर्यादिति भाव ।।२६३।।

कषायोत्पत्तिं परिहर्तुमिच्छता किं कर्तव्यमित्यत आह—

तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायग्गि ।
त वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं ।।२६४।।

'त वत्थु मोत्तव्वं' तद्वस्तु मोक्तव्य । **'जं पडि उप्पज्जदे'** यन्निमित्त उत्पद्यते **'कसायग्गी'** कषायाग्नि । **'तं वत्थुमल्लिएज्जो'** तद्वस्तूपाश्रयण कुर्यात् । **'जत्थ'** यत्रोपाश्रयणे । **'उवसमो कसायाणं'** कषायाणामुपशमो भवति ।।२६४।।

जइ कहवि कसायग्गी समुट्ठिदो होज्ज विज्झवेदव्वो ।
रागद्दोसुप्पत्ती विज्झादि हु परिहरंतस्स ।।२६५।।

'जइ कहवि कसायग्गी' यदि कथचित्कषायाग्नि । **'समुट्ठिदो होज्ज'** समुत्थितो भवेत् । **'विज्झवे-**

जो शुभ परिणामोके प्रवाहमे बहता है वही चार कषायोकी सल्लेखना करता है यह कहकर, सामान्य से चारो कषायो को कृश करनेका उपाय उनके प्रतिपक्षी चार प्रकारके परिणाम हैं, यह कहते है—

टी०—क्रोधको क्षमासे, मानको मादवसे माया को आर्जवसे और लोभको सन्तोषसे, इस प्रकार चारो ही कषायोको जीतो ।।२६२।।

आगे कहते है कि उत्पन्न हुई कषाय बढती है—

टी०—जो उन कषायोकी उत्पत्तिको ही रोक देता है वह मुनि क्रोध, मान, माया, लोभके वशमे नही होता ।।२६३।।

जो कषायकी उत्पत्तिसे बचना चाहता है उसे क्या करना चाहिए यह कहते हैं—

गा०—उस वस्तुको छोड देना चाहिए जिसको लेकर कषायरूपी आग उत्पन्न होती है । और उस वस्तुको अपनाना चाहिए जिसके अपनानेसे कषायोका उपशम हो ।।२६४।।

गा०—यदि थोडी भी कसायरूप आग उठती हो तो उसे बुझा दे । जो कषायको दूर करता है उसके राग-द्वेषकी उत्पत्ति शान्त हो जाती है ।।२६५।।

टी०—नीच जनकी संगतिकी तरह कषाय हृदयको जलाती है । अशुभ अंगोपांग नामकर्म-

'वध्वो' विध्यापयितव्य'। **'रागद्दोसुप्पत्ती'** रागद्वेषयोरुत्पत्ति। **'विज्झावि हु'** शाम्यत्येव। **'परिहरंतस्स'** परिहरत। कषायाग्नि प्रशान्ति नीयते। तद्दोषापेक्षणेन नीचजनसाङ्गत्यमिव हृदय दहति, अशुभाङ्गोपाङ्ग-नामकर्मवद्विरूपानन करोति। रज इव चक्षुषो रागमानयति। महासमीरण इव तनु कम्पयति। सुरापानमिव यत्किचिन्निगदयनि[2]। समीचीनज्ञानलोचन मलिनयति। दर्शनवनमुत्पाटयति। चारित्रसर शोषयति। तपः-पल्लव भस्मयति। अशुभप्रकृतिलता स्थिरयति। शुभकर्मफल विरसयति। प्रत्यग्रमनोमल ढौकयति। हृदय कठिनयति। प्राणभृतो घातयति। भग्त्तीममत्या प्रवर्तयति। गुरूनपि गुणान्लङ्घयति। यशोधन नाशयति। परानपवादयति। महतोऽपि गुणान्स्थगयति। मैत्रीमुन्मूलयति। कृतमप्युपकार विस्मारयति। अपकारमध्या-पयति। महति नरकगर्ते पातयति। दु खावर्ते निमज्जयतीत्यनेकानर्थविहन्त्वभावनया ॥२६५॥

रागद्वेषप्रशान्त्युपायकथनाय गाथा[3]—

जावंति केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं।
ते वज्जतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ॥२६६॥

'जावंति केइ सगा' यावन्त केचन परिग्रहा। **'उदीरगा होंति रागदोसाणं'** उत्पादका भवन्ति राग-द्वेषयो। **'ते वज्जंतो'** तान्परिग्रहान्निराकुवन्। **'जिणदि खु'** जयत्येव। **'रागं दोसं च'** रागद्वेषौ। **'निस्संगो'** नि परिग्रह ॥२६६॥

के उदयसे जो मुख विरूप होता है वैसे ही कषायके उदयमे मनुष्यका मुख क्रोधसे विरूप हो जाता है। जैसे धूल पडनेसे आँख लाल हो जाती है उसी तरह क्रोधसे आँख लाल हो जाती है। जैसे महावायुसे शरीर काँपने लगता है वैसे ही क्रोधसे मनुष्य काँपने लगता है। जैसे शराबी शराव पीकर जो चाहे बकता है वैसे ही क्रोधमे मनुष्य जो चाहे बोल देता है। जैसे जिसपर भूतका प्रकोप होता है वह कुछ भी करता है वैसे ही क्रोधी मनुष्य जो चाहे करता है। कषाय समीचीन ज्ञानरूपी दृष्टिको मलिन कर देती है। सम्यग्दर्शनरूपी वनको उजाड देती है। चारित्र-रूपी सरोवरको सुखा देती है। तपरूपी पत्रोको जला देती है। अशुभकर्मरूपी बेलकी जड जमा देती है। शुभकर्मके फलको रसहीन कर देती है। अच्छे मनको मलिन करती है। हृदयको कठोर बनाती है। प्राणियोका घात करती है। वाणीको असत्यकी ओर ले जाती है। महान् गुणोका भी निरादर करती है। यशरूपी धनको नष्ट करती है। दूसरोको दोष लगाती है। महापुरुषोके भी गुणोको ढाँकती है, मित्रताकी जड खोदती है। किये हुए भी उपकारको भुलाती है। महान् नरकके गढेमे गिराती है। दुखोके भँवरमे फँसाती है। इस प्रकार कषाय अनेक अनर्थ करती है। ऐसी भावनासे कषायको शान्त करना चाहिए ॥२६५॥

आगे गाथाके द्वारा रागद्वेषकी शान्तिके उपाय कहते है—

गा०—जितने भी परिग्रह रागद्वेषको उत्पन्न करते है, उन परिग्रहोंको छोड़नेवाला अपरि-ग्रही साधु राग और द्वेषको निश्चयसे जीतता है ॥२६६॥

---

१ विज्झादिषु अ०। विज्भादिसु आ०। २. यति। आविष्टग्रह इव यत्किचन कारयति समी–मु०। ३ गाथार्थं, अ०।

एवमुदयमुपयाति कषायाग्नि स चेत्थमपकार करोत्येव प्रशान्ति नेतव्य इत्येतद्गाथात्रयोदाहरणे-नोच्यते—

पडिचोदणासहणवायखुभिदपडिवयणइंधणाइद्धो ।
चंडो हु कसायग्गी सहसा संपज्जलेज्जाहि ।।२६७।।

'पडिचोधणा' प्रतिचोदनाया असहनमेव वात तेन क्षुभितः, प्रतिवचनेन्धनैरिद्ध क्रूर. कषायाग्नि. सहसा प्रज्वलति ।।२६७।।

जलिदो हु कसायग्गी चरित्तमार डहेज्ज कसिणं पि ।
सम्मत्तं[1] पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा ।।२६८।।

'जलिदो हि कसायग्गी' ज्वलितश्च कषायाग्नि । **'चरित्तसार'** चारित्राख्य सार दहत्येव । सम्यक्त्व विनाश्यानन्तसमारपरिभ्रमणे रत कुर्यादेव ।।२६८।।

तम्हा हु कसायग्गी पावं उप्पज्जमाणयं चेव ।
इच्छामिच्छादुक्कडवदणसलिलेण विज्झाहि ।।२६९।।

'तम्हा खु' तस्मात्खलु कषायाग्नि पापमुत्पद्यमानमेव प्रशमयेत् । केन "इच्छामि भगवत शिक्षा, मिथ्या भवतु मम दुष्कृत, नमस्तुभ्यं" इत्येवभूतेन सलिलेन ।।२२९।।

तह चेव णोकसाया सल्लिहियव्वा परेणुवसमेण ।
सण्णाओ गारवाणि य तह लेस्साओ य असुहाओ ।।२७०।।

इस प्रकार कषायरूपी अग्निका उदय होता है और वह इस प्रकार अपकार करती है, तथा इस प्रकारसे उसे शान्त करना चाहिए, यह तीन गाथाओसे कहते है—

टी०—शिष्यकी अयोग्य प्रवृत्तिको रोकनेके लिए गुरुके द्वारा शिक्षा दिये जानेपर शिष्यने जो प्रतिकूल वचन कहे वह गुरुको सहन नही हुए। वही हुई वायु। उस वायुसे गुरुके मनम आग भडक उठी। उसके पश्चात् गुरुने शिष्यको पुन समझाया तो शिष्यने पुन. प्रतिकूल वचन कहे। उसने गुरुकी कोपाग्निमे ईधनका काम किया तो आग भडक उठा। अथवा गुरुने शिष्यको शिक्षा दी। शिष्य उससे क्रुद्ध हुआ। शिष्यकी क्रोधरूप वायुमे क्षुब्ध होकर गुरुने पुन उसे शिक्षा दी। उस शिक्षाने शिष्यकी क्रोधाग्निको भडकानेमे ईधनका काम किया। ऐसे भयानक कषायाग्नि सहसा भड़कती है ।।२६७।।

गा०—जलती हुई कषायरूप आग समग्र चारित्र नामक सारको जला देती है। सम्यक्त्व-को भी नष्ट करके अनन्त ससारके परिभ्रमणमे लगा देती है ।।२६८।।

टी०—इसलिए पापरूप कषायाग्निको उत्पन्न होते ही बुझा देना चाहिए उसको बुझानेका जल है—मै भगवान् जिनेन्द्रदेवकी शिक्षाकी इच्छा करता हूँ। मेरा खोटा कर्म मिथ्या हो, मै नमस्कार करता हूँ ।।२६९।।

---

१. 'सम्मत्तम्मि विराधिद'–अ०।

'**तह चेव णोकसाया**' तथैव नोकषाया तनूकर्तव्या । '**परेणुवसमेण**' परेणोपशमेन । सञ्ज्ञा, गारवाणि, अशुभाश्च लेश्या, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकवेदा नोकषाया इत्युच्यन्ते । आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषा सञ्ज्ञा । ऋद्धौ तीव्राभिलाषो, रसेषु, सुखे च गा[1]रवशब्देन उच्यते ॥२७०॥

कषायवत्स्वार्थभ्रंशकरत्वाविशेषान्नोकषायादीनामपि मुमुक्षो सल्लेखनीयत्वमाख्याति—

परिवड्ढिदोवधाणो विगडसिराण्हारुपासुलिकडाहो ।
सल्लिहिदतणुसरीरो अज्झप्परदो हवदि णिच्चं ॥२७१॥

'**परिवड्ढिदोवधाणो**' परिवर्द्धितावग्रह । अन्येषा पाठ [2]'**परिवट्टिदवावधाणो**' परिवर्धितावधान । ''**वियडसिराण्हारुपासुलिकडाहो**' प्रकटीभूता महत्य अल्पाश्च सिरा पार्श्वास्थिमहतय कटाक्षदेशाश्च यस्य । '**सल्लिहिवतणुसरीरो**' सम्यक्तनूकृत शरीर यस्य स । '**अज्झप्परदो**' अध्यात्मं ध्यान तत्र रत । '**होइ**' भवति । '**णिच्च**' नित्य ॥२७१॥

एवं कदपरियम्मो सब्भंतरबाहिरम्मि सल्लिहणे ।
संसारमोक्खबुद्धी सव्वुवरिल्लं तवं कुणदि ॥२७२॥

'**एवं कदपरियम्मो**' एवमुक्तेन क्रमेण कृतपरिकर । '**सब्भतरबाहिरम्मि सल्लिहणे**' अभ्यन्तरसल्लेखनासहिताया बाह्यसल्लेखनाया । '**संसारमोक्खबुद्धी**' ससारत्यागे कृतबुद्धि '**सव्वुवरिल्लं तवं**' सर्वेभ्यस्तपोभ्य. उत्कृष्ट तपश्च[3]रति । **सल्लेहणा सम्मत्ता** ॥२७२॥

सल्लेखनानन्तर कार्यमुपदिशति—

वोढुं गिलादि देह पव्वोढव्वमिणसुचिभारोत्ति ।
तो दुक्खभारभीदो कदपरियम्मो गणमुवेदि ॥२७३॥

गा०-टी०—इसी तरह उत्कृष्ट उपशमभावके द्वारा नोकषाय, सज्ञा, गारव और अशुभ लेश्याओका घटाना चाहिए। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसक वेद इन्हे नोकषाय कहते है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी चाहका नाम सज्ञा है। ऋद्धिकी तीव्र अभिलाषा, रस और सुखकी चाहको गारव कहते है ॥२७०॥

गा०-टी०—जो प्रतिदिन अपने नियमोको बढाता है, जिसकी बडी और छोटी सिरायें, दोनो ओरकी हड्डियाँ और नेत्रोकी हड्डियाँ स्पष्ट दिखाई देती है—शरीरको सम्यक्रूपसे कृश करनेवाला वह यति नित्य आत्मामे लीन रहता है ॥२७१॥

गा०-टी०—उक्त क्रमके अनुसार अभ्यास करनेवाला अभ्यन्तर सल्लेखना सहित बाह्य सल्लेखना करनेपर ससारके त्यागका दृढ निश्चय करके सब तपोंसे उत्कृष्ट तप करता है ॥२७२॥

सल्लेखना समाप्त हुई ।

सल्लेखनाके अनन्तर होनेवाले कार्यका उपदेश देते हैं—

---

१ गौरव–अ०, आ० । २ परिवधाणो–अ० । ३ श्चरइ चरति–अ० ।

'वोढुं गिलावि देहं' शरीरोद्वहनहर्षरहित । **'पव्वोढव्व इणमसुइभारोत्ति'** परित्यागार्हमिव अशुचि-भारभूत शरीरमिति कृतचित्त । **'तो'** पश्चाद् **'दुःखभारभीवो'** दुःखभाजनाच्छरीराद्भीत । **'कयपरिकम्मो'** कृतसमाधिमरणपरिकर । **'गणं'** शिष्यवृन्दं । **'उवेदि'** ढौकते । अन्येषा पाठ **'वोढुं गिलामि देहं'** इति । ते व्याख्यानयन्ति–शरीरं वोढु अकृतादरोऽस्मि । **पव्वोढव्वमिणमसुइभारीत्ति** परित्याज्यमिद अशुचिभारभूत शरीरमिति कृतनिश्चय ॥२७३॥

सल्लेहणं करेंतो जदि आयरिओ हवेज्ज तो तेण ।
ताए वि अवत्थाए चिंतेदव्वं गणस्स हियं ॥२७४॥

'सल्लेहणं करेतो' सल्लेखना कर्तुमुद्यत । **'जइ'** यदि **'आयरिओ हवेज्ज'** आचार्यो भवेत् । **'तो'** तत । **'तेण'** तेन । **'ताए वि'** तस्यामपि । **'अवत्थाए'** अवस्थाया । **'चितेयव्वं'** चिन्तनीय । **'गणस्स'** गणस्य । **'हिय'** हित ॥२७४॥

कालं संभावित्ता सव्वगणमणुदिसं च वाहरिय ।
सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे[1] मंगलोगासे ॥२७५॥

'काल सभाविता' आत्मन आयु स्थिति विचार्य । **'सव्वगणं'** सर्वगण । **'अणुदिसं च'** बालाचार्य च । **'वाहरिय'** व्याहृत्य । **'सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे'** सौम्ये दिने, करणे, नक्षत्रे, विलग्ने **'मंगलोगासे'** शुभे देशे ॥२७५॥

गच्छाणुपालणत्थं आहोइय अत्तगुणसमं भिक्खू ।
तो तम्मि गणविसग्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो ॥२७६॥

गा०–टी०—यह अपवित्र और भाररूप शरीर त्यागने योग्य है ऐसा निश्चय करके जो शरीरको धारण करनेसे ग्लानि करता है उसे शरीरके धारण करनेमे कोई हर्ष नही होता। पीछे दुःखके घर इस शरीरसे डरकर समाधिमरणकी तैयारी करता हुआ अपने शिष्योंके पास जाता है।

दूसरे आचार्य 'वोढु गिलामि देह' ऐसा पाठ पढते है वे उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—मुझे शरीर धारण करनेमे कोई रुचि नही है यह अशुचि और भारभूत शरीर छोडने योग्य है ऐसा मैने निश्चय किया है ॥२७३॥

गा०–टी०—सल्लेखना करनेवाले दो प्रकारके होते है—एक आचार्य, दूसरे साधु। यदि आचार्य हो तो उसे उस अवस्थामे भी गणका हित विचारना चाहिए। अर्थात् आचार्य यदि सल्लेखना धारण करनेका निश्चय करे तो उसे अपने सघके सम्बन्धमे भी विचार करना चाहिए कि उसकी क्या व्यवस्था की जाये ॥२७४॥

गा०–टी०—अपनी आयुकी स्थिति-विचारकर समस्त सघको और बालाचार्यको बुलाकर शुभ दिन, शुभकरण, शुभनक्षत्र और शुभलग्नमे तथा शुभ देशमे ॥२७५॥

गा०–टी०—गच्छका अनुपालन करनेके लिए गुणोसे अपने समान भिक्षुका विचार करके

1 गो तह मं–अ० ।

'गच्छाणुपालणत्थं' गच्छानुपालनार्थं । **'आहोइय'** विचार्य । **'असगुणसम'** आत्मनो गुणैः समानं । **'भिक्खु'** भिक्षु । **'तो'** तत । **'तम्मि'** तस्मिन् । **'गणविसग्गं'** गणत्याग । **'अप्पकहाए'** अल्पया कथया । **'कुणइ धीर'** करोति धीर । अन्ये तु वदन्ति **'अप्पणो'** कथयेति ॥२७६॥

किमर्थमेव प्रयतते सूरि ?

अव्वोच्छित्तिणिमित्तं सव्वगुणसमोयरं तयं णच्चा ।
अणुजाणेदि दिसं सो एस दिसा वोत्ति बोधित्ता ॥२७७॥

'अव्वोच्छित्तिणिमित्तं' धर्मतीर्थस्य ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य व्युच्छित्तिर्मा भूदित्येवमर्थं । **'सव्वगुणसमोयरं'** सर्वगुणसमन्वित । **'तगं'** तक **'णच्चा'** ज्ञात्वा, **'अणुजाणेदि'** अनुज्ञा करोति । **'दिसं'** आचार्य **'सो'** स एष । दिसा आचार्य **'वोत्ति'** युष्माकमिति । **'बोधित्ता'** बोधयित्वा । **दिसा समत्ता'** ॥२७७॥

क्षमाग्रहणक्रम निरूपयति—

आमंतेऊण गणिं गच्छम्मि य तं गणिं ठवेदूण ।
तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउलं गच्छं ॥२७८॥

'आमंतेऊण गणि' आमन्त्र्य आचार्य । **'गच्छम्मि य'** गणे । **'तं गणि ठवेदूण'** त आत्मनानुज्ञात स्थापयित्वा, स्वय पृथग्भूत्वा । **'तिविधेण खमावेदि खु स बालउड्ढाउलं गच्छं'** मनोवाक्कायैर्ग्राहयति क्षमा स बालवृद्धैः सकीर्ण गण ॥२७८॥

जं दीहकालसंवासदाए ममकारणेहरागेण ।
कडुगपरुसं च भणिया तमहं सव्वं खमावेमि ॥२७९॥

'ज दीहकालसवासदाए' दीर्घकाल सह सवासेन यज्जात ममत्व, स्नेहो, द्वेषो, रागश्च तेन । **'जं'** यत् **'कडुगपरुसं च भणिया'** कटुक परुष वा वच भणिता **'तं'** तत् युष्मान् । **'सव्वं खमावेमि'** सर्वान् क्षमा ग्राहयामि ॥२७९॥

पश्चात् वह धीर आचार्य थोडीसी बातचीत पूर्वक उस पर गणका त्याग करता है ॥२७६॥

आचार्य ऐसा क्यों करते है ? यह कहते है—

गा०-टी०—ज्ञानदर्शन चारित्रात्मक धर्मतीर्थकी व्युच्छित्ति न हो, इसलिए उसे सब गुणोसे युक्त जानकर यह तुम्हारा आचार्य है ऐसा शिष्योको समझाकर आप इस गणका पालन करे ऐसा उस नवीन आचार्यको अनुज्ञा करते है ॥२७७॥

दिसा प्रकरण समाप्त हुआ ।

अब क्षमाग्रहणका क्रम कहते है—

गा०-टी०—आचार्यको बुलाकर गणके मध्यमे उस अपने द्वारा स्वीकृत गणीको स्थापित करके और स्वय अलग होकर बाल और वृद्ध मुनियोसे भरे उस गणसे वह पुराने आचार्य मन वचन कायसे क्षमा मॉगते है ॥२७८॥

गा०-टी०—दीर्घकाल तक साथ रहनेसे उत्पन्न हुए ममता, स्नेह, द्वेष और रागसे जो कटुक

गणेन संपाद्य क्रममाचष्टे—

वंदिय णिसुडिय पडिदो तादार सव्ववच्छल तादिं ।
धम्मायरियं णिययं खामेदि गणो वि तिविहेण ।।२८०।।

'वंदिय णिसुडिय पडिदो' अभिवद्य सकुचितपतित. । **'तादारं'** ससारदु खात्त्रातार । **'सव्ववच्छलं'** सर्वेषा वत्सल । **'तादिं'** यति । **धम्मायरियं'** दर्शविधे उत्तमक्षमादिके धर्मे, स्वय प्रवृत्त अन्येषा प्रवतक । **'णिययं'** आत्मीय । **'खामेदि गणो वि तिविहेण'** क्षमा ग्राहयति गर्णास्त्रिविधेन । **खमावणा समत्ता** ।।२८०।।

अनुशासननिरूपणार्थ उत्तरप्रबन्ध —

संवेगजणियहासो सुत्तत्थविसारदो सुदरहस्सो ।
आदट्ठचिंतओ वि हु चिंतेदि गणं जिणाणाए ।।२८१।।

'संवेगजणियहासो' संसारभीरुतया करणभूतया उत्पादितहास । परिग्रहेऽस्मिस्त्यक्ते अभ्यन्तराश्च रागादय निमित्तापायादपयान्ति । तदपगमात्तन्मूलस्थितीनि कर्माणि प्रलयमुपव्रजन्ति । तेषु नष्टेष्वेव चतुर्गति-भ्रमण नक्ष्यति[1] इति जात हर्ष । **'सुत्तत्थविसारदो'** सूत्रे जिनप्रणीते तदर्थे च विसारदा निपुण **'सुदरहस्सो'** श्रुतप्रायश्चित्तग्रथ । **'आदट्ठचिंतओ वि हु'** आत्मप्रयोजनचितापरोऽपि । **'चिंतेदि गण जिणाणाए'** जिनाना-माज्ञया गणचिन्ता करोति ।।२८१।।

और कठोर वचन कहे गये आपसे मै उन सबकी क्षमा माँगता हूँ ।।२७९।।

गणके द्वारा किये जाने वाले कार्यको कहते है—

गा०-टी०—वन्दना करके, पृथ्वीपर पाँचो अगोको स्थापित करके अर्थात् पञ्चाग नमस्कार करके ससारके दु खोसे रक्षा करने वाले सबको प्रिय अपने दश प्रकारके उत्तम क्षमादिरूप धर्ममे स्वयं प्रवृत्त और दूसरोको प्रवृत्त करने वाले आचार्यसे गण भी मन वचन कायसे क्षमा माँगता है ।।२८०।।

क्षमाका प्रकरण समाप्त हुआ ।

आगे अनुशासनका कथन करते है—

गा०-टी०—संसारसे डरनेके कारण जिसे हर्ष प्रकट हुआ है अर्थात् इस परिग्रहका त्याग करने पर अभ्यन्तर रागादि अपने निमित्तका विनाश होनेसे चले जायेगे क्योकि बाह्य परिग्रह रागादिके उत्पत्तिमे निमित्त है अत निमित्तके न रहनेसे नैमित्तिक रागादि भी नही रहेगे । और रागादिके न रहनेसे रागादिके कारण बन्धने वाले कर्म नष्ट हो जायेगे । उनके नष्ट होने पर चार गतियोमे भ्रमण नष्ट हो जायेगा, इसलिए जिसे हर्ष उत्पन्न हुआ है, और जिन भगवान्के द्वारा कहे गये सूत्र और उसके अर्थमे जो निपुण है, जिसने प्रायश्चित्त शास्त्र सुना है वह आचार्य अपने प्रयोजनकी चिन्ता करते हुए भी जिन भगवान्की आज्ञासे गणकी चिन्ता करता है । अर्थात् यद्यपि आचार्य संल्लेखना धारण करनेके लिए अपना गण त्यागकर दूसरे गणमे जानेके लिए तत्पर है फिर भी गणकी चिन्ता करके उसे उपदेश देते है ।।२८१।।

१. इति विजित हर्षः आ० मु० ।

णिद्धमहुरगंभीरं गाहुगपल्हादणिज्जपत्थं च ।
अणुसिट्ठिं देइ तहिं गणाहिवइणो गणस्स वि य ॥२८२॥

'**णिद्ध**' स्नेहसहिता । '**महुरं**' माधुर्यसमन्विता । '**गभीरं**' सारार्थवत्तया गृहीतगाम्भीर्या । '**गाहुगं**' ग्राहिका सुखावबोधा । '**पल्हादणिज्जपत्थं च**' चेतःप्रल्हादविधायिनी । '**पत्थं**' पथ्या हिता । '**अणुसिट्ठि देइ**' अनुशिष्टि ददाति । '**तहिं**' तस्मिन्पूर्वोक्ते काले देशे च । '**गणाहिवइणो गणस्स वि य**' गणाधिपतये गणाय च ॥२८२॥

वड्ढंतओ विहारो दंसणणाणचरणेसु कायव्वो ।
कप्पाकप्पठिदाणं सव्वेसिमणागदे मग्गे ॥२८३॥

"**वड्ढंतगो विहारो कायव्वो**' वर्धमानविहारः कार्यः । क्व ? '**सव्वेसिं कप्पाकप्पट्ठियाणं अणागदे मग्गे**' सर्वेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थितानां मुक्तिमार्गे । प्रमत्तसंयतादिगुणस्थानापेक्षया विचित्रो यतिधर्मः दंसणवदसामायिकादिविकल्पेन प्रवृत्तिधर्मोऽपि विचित्ररूपः । तस्य सकलस्योपादानं सर्वेषामित्यनेन । कोऽसौ मार्ग इत्याशंकायामाह—सामान्येन '**दंसणणाणचरणेसु**' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु । चतुर्विकल्पगणोद्देशेनायमुपदेशः ॥२८३॥

सूरये कथयति—

संखित्ता वि य पवहे जह वच्चइ वित्थरेण वड्ढंती ।
उदधिंतेण वरणदी तह सीलगुणेहिं वड्ढाहि ॥२८४॥

'**संखित्ता वि य**' संक्षिप्तापि च '**पवहे**' प्रवाहे प्रवहत्यस्मादिति प्रवाहः उत्पत्तिस्थानं तत्र संक्षिप्तापि सती वरनदी । '**जह वच्चइ**' यथा व्रजति । '**वित्थरेण**' पृथुलतया । '**वड्ढंती**' वर्द्धमाना । '**उदधिंतेण**' यावत्समुद्रं । '**तह सीलगुणेहिं वड्ढाहि**' तथा शीलगुणैस्त्वं वर्धस्व ॥२८४॥

मज्जाररसिदसरिसोवमं तुमं मा हु काहिसि विहारं ।
मा णासेहिसि दोण्णि वि अप्पाणं चेव गच्छं च ॥२८५॥

गा०–टी०—उस पूर्वोक्त शुभ तिथि आदिसे युक्त काल और देशमे गणाधिपति और गणको भी स्नेह सहित, माधुर्यसे युक्त, सारवान होनेसे गम्भीर सुखसे समझमे आने वाली, चित्तको आनन्द दायक और हितकारी शिक्षा देते है ॥२८२॥

गा०–टी०—सब प्रवृत्ति और निवृत्ति मे स्थित मुनियो और गृहस्थोको मुक्तिके मार्गमे सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रमे वर्धमान विहार उत्तरोत्तर उन्नत अनुष्ठान करना चाहिए। यति धर्म प्रमत्त सयत आदि गुणस्थानोकी अपेक्षा अनेक प्रकार है। प्रवृति रूप गृहस्थ धर्म भी दर्शन, व्रत सामायिकके भेदसे अनेक प्रकार है। उस सबका ग्रहण यहाँ 'सब' शब्दसे किया है। यह चारों प्रकारके सघको लक्ष्य करके आचार्य उपदेश देते है ॥२८३॥

नये आचार्यको कहते है—

गा०टी०—उत्पत्ति स्थानमे छोटी सी भी उत्तम नदी जैसे विस्तारके साथ बढ़ती हुई समुद्र तक जाती है उसी प्रकार तुम शील और गुणोसे बढो ॥२८४॥

'मज्जाररसिदसरिसोवमं' मार्जारस्य रसित रटन मार्जाररसित तेन सह सादृश्य उपमा परिच्छेदो यस्य विहारस्य तन्मार्जाररमितसदृशोपम विहार चरण । **'तुम'** भवान् । **'मा हु काहिसि'** मा कार्षी । मार्जारस्य रसित प्राड्महत् क्रमेणापचीयते तद्वद्रत्नत्रयभावनातिशयवती प्राक् क्रमेण मन्दायमाना न कर्तव्येति यावत् । **'मा णासेहिसी दोण्णि वि अत्ताणं चेव गच्छं च'**—आत्मनो गणस्य च विनाश मा कृथा । प्रथममेवातिदुर्धरचारित्रतपोभावनाया प्रवृत्तो भवान् गण च तथा प्रवर्त्यमानो दुश्चरतया नश्यति ॥२८५॥

जो सघरं पि पलित्तं णेच्छदि विज्झविदुमलसदोसेण ।
किह सो सद्दहिदव्वो परघरदाहं पसामेदुं ॥२८६॥

'जो सघरं पि' य स्वगृह अपि । दह्यमानमालस्यान्न वाञ्छति विध्यापयितु कथमसौ श्रद्धातव्य परकीयगृहदाह प्रशमयितु उद्योग करोतीति ॥२८६॥

तस्माद्भवतैव प्रवतितव्यमित्याचष्टे—

वज्जेहि चयणकप्पं सगपरपक्खे तहा विरोधं च ।
वादं असमाहिकरं विसग्गिभूदे कसाए य ॥२८७॥

'वज्जेहि चयणकप्पं' वर्जय अतिचारप्रकार ज्ञानदर्शनचारित्रविषय । अवाचनाकाले अस्वाध्यायकाले वा पठन । क्षेत्रशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, भावशुद्धि वा विना । निह्नव , ग्रन्थार्थयोरशुद्धि , अबहुमान इत्यादिको ज्ञानातिचार' । शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशमासस्तवा सम्यग्दर्शनातिचारा । समितिभावनारहितता चारित्रातिचार । एते च्यवनकल्पेनोच्यन्ते । **'सगपरपक्खे तहा विरोहं च'** धर्मस्थेषु, मिथ्यादृष्टिषु च विरोध वर्जयेत् । चेत समाधानविनाशकारण **वादं च वज्जणीय** । वादे प्रवृत्तो यथात्मनो जय पराजय परस्य वा

गा०-टी०—तुम विलावके शब्दके समान आचरण मत करना । विलावका शब्द पहले जोरका होता है फिर क्रमसे मन्द हो जाता है उसी तरह रत्नत्रयकी भावनाको पहले बडे उत्साहसे करके पीछे धीरे-धीरे मन्द मत करना । और इस तरह अपना और सघ दोनोका विनाश न करना । प्रारम्भमे ही कठोर तपकी भावनामे लगकर आप और गणको भी उसीमे लगाकर दुश्चर होनेसे विनाशको प्राप्त होगे ॥२८५॥

गा०-टी०—जो जलते हुए अपने घरको भी आलस्यवश बचाना नही चाहता। उसपर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वह दूसरेके जलते घरको बचायेगा ॥२८६॥

इसलिए आपको ऐसा करना चाहिए, यह कहते है—

गा०-टी०—ज्ञान दर्शन और चारित्रके विषयमे अतिचारोको दूर करो। जो वाचना और स्वाध्यायका काल नही है उसमे क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि. और भाव शुद्धिके बिना वाचना आदि करना, निह्नव, ग्रन्थ और अर्थकी अशुद्धि, आदरका अभाव इत्यादि ज्ञान विषयक अतिचार हैं। शंका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रशसा और सस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतिचार है। समितिकी भावना न होना चारित्रका अतीचार है। ये सब 'च्यवनकल्प' कहे जाते हैं। धार्मिको और मिथ्यादृष्टियोके साथ विरोध नही करना चाहिए। चित्तकी शान्तिको भग करने वाला वाद भी नहीं करना चाहिए। वाद करने वाला जिस प्रकार अपनी जय और दूसरेकी पराजय हो यही

भवति तदेवान्वेषते न तत्त्वसमाधानवान् । 'विसग्गिभूदे कसाये य' कषाया हि क्रोधादय स्वस्य परस्य च मृत्यु उपानयन्ति इति विषभूता , हृदय दहन्तीति दहनभूतास्ताश्च वर्जय ।

तथा चोक्त— त्रिलोकमल्ला: कुलशीलशत्रवो, मलानि दुर्माज्यंतमानि चापि ते ।
यशोहरा हानिकरास्तपस्विनां, भवन्ति दौर्भाग्यकरा हि देहिनाम् ॥ १ ॥—[ ]
न केवल ते परलोकलोपिन:, इमं च लोकं क्षपयन्ति वारुणाः ।
न धर्ममात्रस्य च विघ्नहेतवो, धनस्य कामस्य च ते विधातकाः ॥ २ ॥ इति—[ ]

णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ।
ण चएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधणी सो ॥२८८॥

'णाणम्मि दसणम्मि य' रत्नत्रये गणमात्मान च यो न स्थापयितु समर्थो नैवासौ गणधर । ण च एवि न समर्थ । बहवो मम वशवर्तिन सन्ति एतावता भवन्तो गणित्वगर्वो माभूदिति भाव ॥२८८॥

कीदृक्तर्हि गणधरो भवतीति चेदेवभूत इत्याचष्टे—

णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ।
चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो ॥२८९॥

स्पष्टार्था गाथा ॥२८९॥

पिंडं उवहिं सेज्जं अविसोहिय जो हु भुंजमाणो हु ।
मूलट्ठाण पत्तो मूलोत्ति य समणपेल्लो सो ।२९०॥

प्रयत्न करता ह तत्त्वका समाधान नही करता । क्रोधादि कषाय अपनी और दूसरेकी मृत्युमे कारण होती है इसलिए वे विषरूप है और हृदयको जलाती हैं इसलिए आगके समान है । उन्हे छोडना चाहिए । कहा भी है—

ये कषाये तीन लोकमे मल्लके समान है । कुल और शीलके शत्रु है । वे ऐसे मल है जिनको दूर करना सबसे कठिन है । ये कषाये तपस्वियोकी हानि करने वाली और उनके यशको हरने वाली हैं तथा प्राणियोके दुर्भाग्यको करने वाली है । 'वे कषाये केवल परलोकको ही नष्ट नही करती, किन्तु इस लोकको भी हीन करती हैं । वे केवल धर्ममे ही विघ्न नही डालती किन्तु अर्थ और काम की भी घातक हैं' ॥२८७॥

टी०—आगमके सारभूत तीन दर्शन ज्ञान और चारित्र रत्नत्रयमे जो गणको और अपनेको स्थापन करनेमे समर्थ नही है वह गणधर नही है । मेरे अधीन बहुतसे मुनि है इसलिए आपमे गणी होनेका घमण्ड नही होना चाहिए ॥२८८॥

तब गणधर कैसा होता है यह कहते हैं—

गा०—आगमके सारभूत तीन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रमे अपनेको और गणको स्थापित करनेमें जो समर्थ होता है वह गणधर है ॥२८९॥

---

१. वतो न ग–अ० । २ अ० आ० प्रत्यो' इयं गाथा 'णाणम्मि दसणम्मि इति लिखिता, न सर्वा ।

पिंडं उवहि सेज्जं उग्गमउप्पादणेसणादीहिं ।
चारित्तरक्खणट्ठं सोधिंतो होदि सुचरित्तो ।।२९१।।

'**पिंडं**' आहार, '**उवहिं**' उपकरण, '**सेज्जं**' वसति । **सोधितो** शोधयन् । '**उग्गमउप्पादणेसणादीहिं**' उद्गमोत्पादनैषणादिभिर्दोषै । किमर्थं शोधयति ? '**चारित्तरक्खणट्ठं**' चारित्ररक्षणार्थं उद्गमादिदोष परिहरति । सुसयत इति लोके यशो मे भविष्यतीति वा, स्वसमयप्रकाशने लाभो ममेत्थ भवतीति वा **चेतस्यकृत्वेति** भाव. । एवभूत सुचरित्रो भवतीति यति ।।२९१।।

एसा गणधरमेरा आयारत्थाण वण्णिया सुत्ते ।
लोगसुहाणुरदाणं अप्पच्छंदो जहिच्छाए ।।२९२।।

'**एसा गणधरमेरा**' एषा गणधरमर्यादा । '**सुत्ते वण्णिदा**' सूत्रे निरूपिता । केषा ? '**आयारत्थाण**' आचारस्थाना । पञ्चविधे आचारे ये स्थितास्तेषा गणिना व्यवस्था सूत्र वर्णिता । '**लोगसुहाणुरदाणं**' लोकानुवर्तिना सुखेप्सूना च । यथेच्छया असयतजनससर्ग सुखादरश्च शास्त्रे निषिद्ध । तत्र ये वर्तन्ते स्वेच्छया तेषा '**अप्पच्छंदो**' आत्मेच्छा एव केवला न तेषा गणधरमर्यादा सूत्रे [1]वर्णिता । अथवा लोकसुख नाम मृष्टाहारभोजन, यथाकाम, मृदुशय्यासन, मनोज्ञे वश्मनि वसन च तत्र रताना विषयातुराणामित्यर्थ ।।२९२।।

सीदावेइ विहारं सुहसीलगुणेहिं जो अबुद्धीओ ।
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो ।।२९३।।

'**सीदावेदि**' मद करोति । '**विहार**' चारित्र रत्नत्रये प्रवृत्ति । '**सुहसीलगुणेहि**' सुखसमाधानाभ्यासै. । '**जो अबुद्धिओ**' यो बुद्धिरहित । **सो[2] णवरि लिंगधारी**' स वृथालिंगी भवति, द्रव्यलिंग धारयति । **संजमसारेण णिस्सारो**' सयमाख्येन इंद्रियप्राणसयमविकल्पेन सारेण नि सार केवलनग्न स इति ।[3] एतदुक्त भवति ।।२९३।।

गा०—आहार, उपकरण और वसतिका शोधन किये बिना जो उसका सेवन करता है वह साधु मूल स्थान नामक दोषको प्राप्त होता है और वह भ्रष्टश्रमण[4] है ।।२९०।।

आहार, उपकरण और वसतिका जो उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि दोषोसे चारित्रकी रक्षाके लिए शोधन करता है वह सम्यक् सयमी है । मेरा लोकमे यश होगा कि यह सुसयमी है अथवा अपने आगमका प्रकाश करनेसे मुझे लाभ होगा ऐसा वह अपने मनमे नही सोचता । ऐसा यति ही सम्यक् चारित्र वाला होता है ।।२९१।।

गा०-टी०—पाँच प्रकारके आचारमे स्थित जो गणी है उन गणियोकी यह गणधर मर्यादा सूत्रमेकही है । जो लोकके अनुसार चलने वाले सासारिक सुखके इच्छुक है अथवा लोकसुख यानी मिष्टाहारका यथेच्छ भोजन, कोमल शय्या पर शयन, मनोहर घरमे निवास, इनमे जो रत है अर्थात् जो स्वेच्छाचारी है उनकी गणधर मर्यादा सूत्रमे नही कही है ।।२९२।।

गा०-टी०—जो बुद्धिहीन साधु सुखशील गुणोके कारण रत्नत्रयमे प्रवृत्तिरूप चारित्रमे उदासीन रहता है वह केवल द्रव्यलिंगका धारी है और इन्द्रिय सयम तथा प्राणसयमसे शून्य है ।।२९३।।

---

१ व्यावर्णिता–आ० मु० । २ सो नवरिलिंगी भवति द्रव्य–अ० । ३ नि सार एत–आ० मु० ।
४. इस गाथा पर टीका नही है ।

पिंडं उवधिं सेज्जामविसोधिय जो खु भुंजमाणोदु ।
मूलट्ठाणं पत्तो बालोत्तिय णो समणबालो ॥२९४॥

य उद्गमादिदोषोपहृतमाहार, उपकरणं, वसतिं वा गृह्णाति तस्य नेन्द्रियसंयम , नैव प्राणसयम., न यतिर्न गणधर इति निगद्यते ॥२९४॥

कुलगामणयररज्जं पयहिय तेसु कुणइ ममत्तिं जो ।
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो ॥२९५॥

'**कुलगामणयररज्जं**' कुल, ग्राम, नगर, राज्य च । '**पयहिय**' परित्यज्य । **तेसु कुणवि ममत्तिं जो**' ग्रामादिषु पुन य करोति ममता । मदीयं कुल, अस्मदीयो ग्राम , नगर, राज्य चेति । यो हि यत्र ममता करोति तस्य यदि शोभन जात तुष्यति अन्यथा द्वेष्टि, सक्लिश्यति वा । ततो रागद्वेषयोर्लाभे च वर्तमान. [1]असयतेष्वादरवात् (वत्त्वात्) कथमिव सयतो भवतीति भाव ॥२९५॥

[2]**अपरिस्साई सम्म समपासी होहि सव्वकज्जेसु ।**
संरक्ख सचक्खुंपि व सबालउड्ढाउलं गच्छं ॥२९६॥

'**अपरिस्साई**' गुरुरयमिति शका विहाय निगदितानामपराधाना प्रकटन मा कृथा । '**समपासी चेव होहि कज्जेसु**' कार्येषु सम्यक् समदर्श्येव च भव । '**संरक्ख सचक्खुंपि व**' परिपालय स्वनेत्र इव । किं ? '**सबालउड्ढाउल गच्छ**' सबालैर्वृद्धैराकीर्णं गण ॥२९६॥

णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ।
पव्वज्जा च ण लब्भदि संजमघादो व तं वज्जो ॥२९७॥

'**णिवदि विहूणं खेत्तं परिहर**' नृपतिरहित क्षेत्र त्यज । '**णिवदि वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज**' नृपतिर्वा यस्मिन् देशे दुष्टो भवेत्तच्च क्षेत्र परित्यज । '**पव्वज्जा च ण लब्भदि जत्थ**' प्रव्रज्या च न लभ्यते यत्र क्षेत्रे ।

गा०-टी०—जो उद्गम आदि दोषोसे सहित आहार, उपकरण अथवा वसतिको स्वीकार करता है उसके न प्राणिसयम है और न इन्द्रिय सयम है। वह केवल नग्न है। न वह यति है और न गणधर है ॥२९४॥

गा०-टी०—जो कुल, ग्राम, नगर और राज्यको छोडकर भी उससे ममत्व करता है कि मेरा कुल है, हमारा गाँव है या नगर है राज्य है, वह भी केवल नग्न है। जो जिससे ममता करता है उसका यदि अच्छा होता तो उसे सन्तोष होता है अन्यथा द्वेष करता है अथवा सक्लेश करता है। इस तरह राग-द्वेष करने पर असयतोमे आदरवान होनेसे वह कैसे सयमी हो सकता है ॥२९५॥

गा०-टी०—'हमारा यह गुरु आलोचित दोषोको दूसरेसे नही कहता। ऐसा मानकर शिष्योके द्वारा प्रकट किये अपराधोको किसी अन्यसे मत कहो। कार्योमे समदर्शी ही रहो। और बाल और वृद्ध यतियोंसे भरे गणकी अपनी आँखकी तरह रक्षा करो ॥२९६॥

गा०-टी०—जिस क्षेत्रमे कोई राजा न हो उस क्षेत्रको त्याग दो। अथवा जिस क्षेत्रका राजा

---

१ असंयतो भवतीति-आ० मु०। २. गाथा २९५-२९६ ग०।

शिष्या यत्र न जायंते तच्च । '**संजमघादो व जत्थ**' संयमस्य चोपधातो यत्र क्षेत्रे '**तं वज्जो**' त्यजेति गणिशिक्षा ।। **गणिसिक्खा** ।।२९७।।

गण शिक्षयत्युत्तरप्रबंधेन—

कुणह अपमादमावासएसु संजमतवोवधाणेसु ।
णिस्सारे माणुस्से दुल्लहबोहिं वियाणित्ता ।।२९८।।

'**कुणह अपमादमावासगेसु**' कुरुताप्रमादमावश्यकेषु । '**संजमतवोवधाणेसु**' संयमस्य, तपसश्चाश्रयेषु । अभ्यर्हित संयम इति पूर्वनिपात । संयम विना न तप शक्नोति कर्तुं मुक्तिमिति सामायिकादौ प्रवर्तमानस्य संयमो भवति । असंयम त्यजतीति, सावद्यक्रियानिवृत्तौ सत्या कर्माणि तपतीति तपो भवति । नान्यथेति तपसोऽप्याश्रय । '**णिस्सारे माणुस्से**' सारारहिते मानुष्ये अनित्यतया अशुचितया मनुजाना असार । **तत्र** '**दुर्लभां बोधि**' दुर्लभा दीक्षाभिमुखा बुद्धि । '**विजाणित्ता** ज्ञात्वा ।।२९८।।

समिदा पंचसु समिदीसु सव्वदा जिणवयणमणुगदमदीया ।
तिहिं गारवेहिं रहिदा होह तिगुत्ता य दंडेसु ।।२९९।।

सम्यक्प्रवृत्ता '**होह**' भवत । '**पचसु समिदिसु**' पञ्चसु समितिषु । '**सव्वदा**' सर्वदा । **जिणवयणमणुगदमदीगा**' जिनवचनमनुगतबुद्धय । **तिहि गारवेहि रहिया**' गारवत्रयरहिता '**तिगुत्ता य**' गुप्तित्रयसमन्विता भवत । '**त्र दंडेसु**' अशुभमनोवाक्कायेषु ।।२९९।।

सण्णाउ कसाए वि य अट्ट रुद्दं च परिहरह णिच्चं ।
दुट्ठाणि इंदियाणि य जुत्ता मव्वप्पणो जिणह ।।३००।।

दुष्ट हो उस क्षेत्रको त्याग दो । जिस क्षेत्रमे प्रव्रज्या प्राप्त न हो अर्थात् शिष्य न बने, अथवा जिस क्षेत्रमे संयमका घात हो उस क्षेत्रको त्याग दो ।।२९७।।

आचार्य शिक्षा समाप्त हुई ।

आगे गण (संघ) को शिक्षा देते है—

गा०-टी०—मनुष्य जन्म अनित्य और अशुचि होनेसे सार रहित है । उसमे दीक्षा धारण करनेकी बुद्धि होना दुर्लभ है ऐसा जानकर आवश्यकोमे, जो संयम और तपके आश्रय है, प्रमाद मत करो । यहाँ पूज्य होनेसे संयमको तपसे पहले रखा है क्योकि संयमके बिना अकेला तप मुक्ति नही प्राप्त करा सकता । सामायिक आदिमे प्रवर्तमान मुनिके संयम होता है । असंयमको वह त्यागता है । सावद्य क्रियाकी निवृत्ति होने पर कर्मोंको तपनेसे तप होता है । संयमके बिना तप नही होता । अत आवश्यक कर्म तपके भी आश्रय है । इसलिए साधुको उनमे प्रमाद नही करना चाहिए ।।२९८।।

गा०—हे मुनिगण ! आप सर्वदा पाँच समितियोके पालनमे तत्पर रहे । अपनी बुद्धिको जिनागमकी अनुगामिनी बनाओ । तीन गारव मत करो और अशुभ मन वचन कायके विषयमे तीन गुप्तियोका पालन करो ।।२९९।।

गा०—नित्य आहारादि विषयक संज्ञाओको, कषायोको और आर्त तथा रौद्रध्यानको दूर करो । तथा ज्ञान और तपसे युक्त होकर अपनी सर्वशक्तिसे दुष्ट इन्द्रियोको जीतो ।।३००।।

'सण्णाओ' संज्ञा आहारादिविषया । **'कसाए वि'** कषायानपि । **'अट्टं रुद्दं च'** आर्तं रौद्रं च ध्यानं । **'परिहरत'** निराकुरुत । **'णिच्चं'** नित्यं । **'दुद्दाइं इंदियाइं'** दुष्टानीन्द्रियाणि च । **'जुत्ता'** युक्ता ज्ञानेन तपसा च । **'सव्वप्पणा जिणह'** सर्वशक्त्या इन्द्रियजयं कुरुत ॥३००॥

धण्णा हु ते मणुस्सा जे ते विसयाउलम्मि लोयम्मि ।
विहरंति विगदसंगा णिराउला णाणचरणजुदा ॥३०१॥

'धण्णा हु ते मणुस्सा' धन्यास्ते मनुष्या । के ? **'जे विसयाउलम्मि लोयम्मि'** ये शब्दादिभिराकीर्णे जगति । **'विगदसंगा'** निःसंगाः क्वचिदपि विषये स्पर्शादौ । **'णिराउला'** । **'णाणचरणजुदा'** ज्ञानेन चारित्रेण च युता । ज्ञानचारित्रयुतानां प्रशंसा तत्रादरजननार्था गणस्य[1] ॥३०१॥

सुस्सूसया गुरूणं चेदियभत्ता य विणयजुत्ता य ।
सज्झाए आउत्ता गुरुपवयणवच्छला होह ॥३०२॥

'सुस्सूसगा गुरूणं' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः गुणैर्गुरुतया गुरव इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्यायसाधवः । तेषां शुश्रूषाकारिणो भवत । शुश्रूषापरेण भाव्यं । लाभादिकमनपेक्ष्य तेषां गुणेष्वनुरागः कृतो भवति । गुणानुरागाद् दर्शनशुद्धिस्तदीयरत्नत्रयानुमननं च भवति । सुकरो ह्युपायः पुण्यार्जने अनुमननं नाम । **'चेदियभत्ता य'** चैत्यानि जिनसिद्धप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ताः । यथा शत्रुणा मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद्द्वेषो रागश्च जायते । यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतस्तया प्रतिकृत्या तत्कृतापकारस्योपकारस्य वा अनुस्मरणे निमित्तमास्ति तद्वज्जिनसिद्धगुणा अनन्तज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न सन्ति, तथापि तद्गुणानुस्मरणं संपादयन्ति सादृश्यात्तच्च गुणानुस्मरणं अनुरागात्मकं ज्ञानदर्शने संनिधापयति । ते च

गा०—वे मनुष्य धन्य है जो शब्दादि विषयोंसे व्याप्त जगत्मे किसी भी स्पर्शादि विषयमे आसक्ति नही रखते और निराकुल होकर ज्ञान और चारित्रसे युक्त होते है। जो ज्ञान और चारित्रसे युक्त होते है उनकी प्रशसा करनेसे सघका उनके विषयमे आदरभाव उत्पन्न होता है ॥३०१॥

गा०टी०—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नामक गुणोसे महान् होनेसे आचार्य उपाध्याय और साधुको गुरु कहते है। उनकी सेवामे तत्पर रहना चाहिए। लाभ आदिकी अपेक्षा न करके उनके गुणोमे अनुराग करना चाहिए। गुणोमे अनुराग करनेसे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है और उनके रत्नत्रयकी अनुमोदना होती है। अनुमोदना पुण्य उपार्जन करनेका सरल उपाय है। चैत्य अर्थात् जिन और सिद्धोकी कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिबिम्बोमे भक्ति करना चाहिए। जैसे शत्रुओ और मित्रोकी प्रतिकृति देखनेसे द्वेष और राग उत्पन्न होता है। यद्यपि वे प्रतिकृतियाँ कोई अपकार या उपकार नही करती, तथापि उन शत्रुओ और मित्रोने जो अपकार या उपकार किये होते है उनके स्मरणमे उनकी प्रतिकृतियां निमित्त होती है। उसी तरह यद्यपि प्रतिबिम्बोमे जिन और सिद्धोके गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, सम्यक्त्व वीतरागता आदि नही होते, तथापि उनके समान होनेसे उनके गुणोका स्मरण कराती है। और वह गुणोका स्मरण जो

१ जननार्थं गणस्य–आ० । जननसमर्था गणस्य मु० ।

संवरनिर्जरे महत्यौ सपादयत । तस्माच्चैत्यभक्तिमुपयोगिनी कुरुत । 'विणयजुदा य' विलय नयति कर्ममलमिति विनय । ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रविनया उपचारविनयश्चेति पञ्चप्रकारेण[1] विनये युक्ता भवत । शास्त्रोक्तवाचनास्वाध्यायकालयोरध्ययन श्रुतस्य श्रुत प्रयच्छतश्च भक्तिपूर्व कृत्वा, अवग्रह परिगृह्य, बहुमानं कृत्वा, निह्नवं निराकृत्य, अर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धि सपाद्य एव भाव्यमान श्रुतज्ञान सवर निर्जरा च करोति। अन्यथा ज्ञानावरणस्य कारण भवेत् ।

शकाकाक्षादिनिरासो दर्शनविनय ।

स च प्रयत्नेन भवद्भि सपाद्योऽन्यथा शकादिपरिणामा मिथ्यात्वमानयन्ति । दर्शनमोहनीयस्य चास्रवा भवन्ति । ततो मिथ्यादर्शननिमित्तकर्मवशादनन्तससारपरिभ्रमण दुःखभीरूणा भवता जायते । रूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु मनोज्ञामनोज्ञेषु सन्निहितेषु अनन्तकालाभ्यासाद्रागोऽप्रीतिश्च जायते । तथा कषायाश्च बाह्यमभ्यन्तर च निमित्तमाश्रित्य प्रादुर्भवन्ति । ते चोत्पद्यमानाश्चारित्र विनाशयन्ति । कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो हि चारित्रं । रागादयश्च कर्मादाननिमित्तक्रियास्तथा अशुभमनोवाक्कायक्रियाश्च कर्मादाननिमित्ता । तथा षड्जीवनिकायबाधापरिहारमन्तरेण गमन । मिथ्यात्वेऽसयमे वा प्रवर्तक वचन साक्षात्पारपर्येण वा जीवबाधाकरण भोजन अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादाननिक्षेपौ शरीरमलोत्सर्गो जीवपीडाहेतुरेता कर्मपरिग्रहनिमित्ता

अनुरागात्मक होता है, ज्ञान और दर्शनमे लगाता है। और वे ज्ञान और दर्शन महान् सवर और निर्जरा करते है। इसलिए उपयोगी चैत्य भक्ति करना चाहिए। कर्ममलका जो विलय करती है वह विनय है। ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तपविनय और उपचार विनय, इन पाच प्रकारकी विनयमे सलग्न रहो। शास्त्रमे जो वाचना और स्वाध्याय काल कहा है, उन कालोमे श्रुतका अध्ययन, और श्रुतका दान भक्तिपूर्वक करके अवग्रह स्वीकार करके, बहुमान करके, निह्नवको दूर करके, अर्थशुद्धि, व्यजन शुद्धि और अर्थ व्यजन दोनोकी शुद्धि करके। इस प्रकार आठ अंगोके साथ भाया गया श्रुत ज्ञान सवर और निर्जरा करता है। ऐसा नही करनेमे ज्ञानावरणका कारण होता है।

शङ्का काँक्षा आदिको दूर करना दर्शन विनय है। आपको प्रयत्नपूर्वक शका आदिको दूर करना चाहिए। ऐसा न करनेसे शका आदि परिणाम मिथ्यात्वको लाते हैं और दर्शनमोहनीयकर्मके आस्रवमे कारण होते है। उससे मिथ्यादर्शनमे निमित्त मिथ्यात्वकर्मके कारण आप जैसे दुःख भीरुजनोको अनन्त ससारमे परिभ्रमण करना पडता है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्दके मिलनेपर अनन्तकालके अभ्यासवश राग और द्वेष उत्पन्न होते है। तथा बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तका आश्रय पाकर कषाये उत्पन्न होती है। और वे उत्पन्न होकर चारित्रको नष्ट करती है। कर्मोके ग्रहणमे निमित्त क्रियाओके रोकनेको चारित्र कहते है। रागादि कर्मोको ग्रहणमे निमित्त क्रिया है। अशुभ मन वचन और कायकी क्रिया भी कर्मोके ग्रहणमे निमित्त होती है। तथा छहकायके जीवसमूहको बाधा न पहुचाये विना गमन करना, मिथ्यात्व और असयममे प्रवर्तक वचन बोलना, साक्षात् या परम्परासे जीवोको बाधा करनेवाला भोजन करना, विना देखे और बिना साफ किये वस्तुओको ग्रहण करना और रखना, विना देखी और बिना साफ की गई भूमिमे मलमूत्र त्यागना ये सब क्रियाएँ जीवोको कष्ट पहुचानेवाली हैं अतः

---

१. प्रकारे वि–आ० मु०।

क्रियाः । आसां परिवर्जनं चारित्रविनयः । व्यावर्णिताशुभक्रियापरिवर्जनं विना चारित्रं नाम किमारम्भवता तस्मात्तत्रोद्योगं कुरुत । अनशनादिकतपोजनितक्लेशसहनं तपोविनयः । सति सक्लेशे महानास्रवो भवेदल्पा निर्जरा । उपचारविनयाद्विनीत इति पूज्यते बुधैरन्यथा अविनीत इति निन्द्यते किं च उपचारविनयं मनोवाक्कायविकल्पं यो न करोति, स गुरूनमनसावजानाति, नाभ्युत्तिष्ठति, नानुगच्छति. नाञ्जलिं करोति, न स्तौति, न विज्ञप्तिं करोति, गुरोरग्रत आसनमारोहति, याति पुरस्तेषां, निन्दति, परुषं वदति, आक्रोशति वा स नीचैर्गोत्रं बध्नाति । तेन श्वपाकचाण्डालादिकुलेषु गर्हितेषु, सारमेयग्रामसूकरादिषु वा जायते । न च रत्नत्रयं गुरुभ्यो लभते । विनीतं हि शिक्षयन्ति गुरवः, प्रयत्नेन मानयन्ति च ततो विनयपरा भवत । अविनये दोषं विनये च गुणं महान्तमवबुध्य **सज्झाए आजुत्ता होह**' शोभनं अध्ययनं स्वाध्यायः । जीवादितत्त्वपरिज्ञानं, तदुपायभूतश्च ग्रन्थः तस्मिन्स्वाध्याये आजुत्ता आयुक्ता भवत निद्रां, हास्यं क्रीडां, आलस्यं, लोकयात्रां च त्यक्त्वा । तथा चोक्तम्—

> **णिद्दं ण बहु मण्णेज्ज हासं खेडं विवज्जए ।**
> **जोगं समणधम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥''** इति । [ ]

'**गुरुपवयणवच्छल्ला होह**' गुरुप्रवचनवत्सला भवत ॥३०२॥

दुस्सहपरीसहेहिं य गामवचीकंटएहिं तिक्खेहिं ।
अभिभूदा वि हु सता मा धम्मधुरं पमुच्चेह ॥३०३॥

कर्मोंके ग्रहणमे निमित्त है । इनको त्यागना चारित्र विनय है । इन कही गई अशुभ क्रियाओको त्यागे विना आरम्भ करनेवालोके चारित्र कैसे हो सकता है । अतः इसमे उद्योग करना चाहिए । अनशन आदि तपसे होनेवाला कष्ट सहना तपविनय है । सक्लेश परिणाम होनेपर महान् आस्रव होता है और थोड़ी निर्जरा होती है । उपचार विनय करनेसे विद्वानोसे पूजित होता है । नही करनेपर अविनयी कहा जाता है और निन्दाका पात्र होता है । तथा मन वचन कायसे जो उपचार विनय नही करता वह मनसे गुरुओकी अवज्ञा करता है, उनके आनेपर खडा नही होता, उनके जानेपर पीछे-पीछे गमन नही करता, हाथ नही जोडता, स्तुति नही करता, विज्ञप्ति नही करता, गुरुके सामने आसन पर बैठता है, उनके आगे चलता है, निन्दा करता है, कठोर वचन बोलता है, चिल्लाता है, ऐसा करनेवाला नीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर श्वपाक चाण्डाल आदि नीचकुलोमे और कुत्ता सुअर आदिमे जन्म लेता है । उसे गुरुओंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति नही होती । गुरु विनीतको शिक्षा देते है और प्रयत्नपूर्वक उसका सन्मान करते हैं । इसलिए अविनयमे दोष और विनयमे महान् गुण जानकर विनयी होना चाहिए । तथा स्वाध्यायमे लगना चाहिए । सुन्दर अध्ययनको स्वाध्याय कहते है । जीवादितत्त्वोका परिज्ञान और उसके उपायभूत ग्रन्थोकी स्वाध्यायमे निद्रा, हास्य, क्रीड़ा, आलस्य और लोकयात्राको त्यागकर लगना चाहिए । कहा भी है—'बहुत सोना नही चाहिए । हास्य क्रीड़ा छोड़ना चाहिए । सदा आलस्य त्यागकर श्रमणधर्मके योग्य कार्यमे लगना चाहिए ।' तथा गुरुमे प्रवचनवात्सल्य रखना चाहिए ॥३०२॥

गा०—दुःसह परीषहोंसे और तीक्ष्ण आक्रोशवचनरूपी काँटोसे पराभूत होकर भी धर्मकी धुराके भारको मत त्यागो ॥३०३॥

'दुस्सहपरीसहेहिं य' दु सहैं परिषहैश्च । **'गामवचीकंटएहिं तिक्खेहिं'** आक्रोशवचनकण्टकैस्तीक्ष्णैश्च । **'अभिभूदा वि य संता'** प[१]राभूता अपि सत । **'माधम्मधुरं पमुच्चेह'** मा कृथा धर्मभारत्याग । ननु च **'दुस्सहपरीसहेहिं य अभिभूदा मा धम्मधुरं पमुच्चेहं'** इत्यनेनैव आक्रोशपरीषहसहन उपदिष्ट ? किमनेन **'गामवचीकंटएहिं'** इत्यनेन ? । अयमभिप्राय ग्रन्थकारस्य-सोढक्षुदादिवेदनोऽपि न स[२]हतेऽनिष्ट वचस्ततोऽति-दुष्करमपि तत्सोढव्य इति दर्शनाय पृथगुपादानम् ॥३०३॥

तपस्युद्योग सर्वप्रयत्नेन त्यक्तालस्यैर्भवद्भि इत्युपदिशति—

तित्थयरो चदुणाणी सुरमहिदो सिज्झिदव्वयधुवम्मि ।
अणिगूहिदबलविरिओ तवोविधाणम्मि उज्जमदि ॥३०४॥

'तित्थयरो' तीर्थंकर तरति ससार येन भव्यास्तत्तीर्थं । केचन तरति श्रुतेन गणधरैर्वालंबनभूतैरिति श्रुतं गणधरा वा तीर्थमित्युच्यते । तदुभयकरणात्तीर्थकर । अथवा 'तिसु तिट्ठदित्ति तित्थ' इति व्युत्पत्तौ तीर्थशब्देन मार्गो रत्नत्रयात्मक उच्यते तत्करणात्तीर्थकरो भवति । **'चउणाणी'** मतिश्रुतावधिमन पर्ययज्ञान-वान् । **'सुरमहिदो'** सुरैश्चतु प्रकारै पूजित स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणेषु । **'सिज्झिदव्वगधुवम्मि'** नियोगभाविन्या सिद्धावपि । तथापि **'अणिगूहियबलविरिओ'** अनुपह्नुतबलवीर्य । **'तवोविहाणम्मि'** तप-समाधाने । **'उज्जमदि'** उद्योग करोति ॥३०४॥

किं पुण अवसेसाणं दुक्खक्खयकारणाय साहूणं ।
होइ ण उज्जमिदव्वं सपच्चवायम्मि लोयम्मि ॥३०५॥

किं पुण अवसेसाणं' कि पुनर्न प्रयतितव्य अवशिष्टै साधुभि । **'दुक्खक्खयकारणाय'** दु खविनाशन-

---

टी०—शङ्का—'दु सह परीषहोंसे अभिभूत होकर भी धर्मकी धुराको मत त्यागो । इतना कहनेसे आक्रोश परीषहको सहनेका उपदेश दे दिया, फिर 'तीक्ष्ण आक्रोश वचन' आदिके कहने-की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि भूख आदिकी वेदनाको सहनेवाला भी अनिष्टवचन नही सहता । अत अति दुष्कर भी आक्रोश वचनका सहना चाहिए । यह बतलानेके लिए पृथक् ग्रहण किया है ॥३०३॥

आगे उपदेश देते है कि आलस्य त्यागकर आपको पूरे प्रयत्नसे तपमे उद्योग करना चाहिए—

गा०—टी०—जिसके द्वारा भव्यजीव ससारको तिरते है वह तीर्थ है । कुछ भव्य श्रुत अथवा आलम्बनभूत गणधरोके द्वारा ससारको तिरते है अत श्रुत और गणधरोको भी तीर्थ कहते है । इन दोनो तीर्थोको जो करते है वे तीर्थंकर है । अथवा 'तिसु तिट्ठदित्ति तित्थ' इस व्युत्पत्तिके अनुसार तीर्थ शब्दसे रत्नत्रयरूप मार्ग कहा जाता है । उसके करनेसे तीर्थंकर होता है । वे मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्ययज्ञानके धारी होते है । स्वर्गसे गर्भमे आनेपर, जन्माभिषेक और तपकल्याणमे चार प्रकारके देव उनकी पूजा करते है । उनको सिद्धिकी प्राप्ति नियमसे होती है फिर भी वे अपने बल और वीर्यको न छिपाकर तपके विधानमे उद्यम करते है ॥३०४॥

गा०—टी०—तब दुःखका विनाश करनेके लिए शेष साधुओका तो कहना ही क्या है ।

---

१ अभिभूता अ० । २. सहतोऽतिदुष्क-अ० ।

निमित्तं। सापाये लोके आयुष , शरीरस्य, बलस्य नीरोगतायाश्च विनाशे अविदितकाले सति, दावानलसमाने मृत्यावायाति, लोकवनमिद अशेष भस्मसात्कर्तुं अद्य इत्यपि सुचिर निमेषमात्रेणापि मृत्युरेयात् मासमर्द्धमास-मृतुमयनं सवत्सरं वा प्रति वचनाधिकार कस्माद्यावन्नायाति मृत्युस्तावत्तपस्युद्योग कार्य । न हि मृत्योर्देश-नियमोऽस्ति। स्थल एव प्रचारो यथा शकटादीना, समीरणपथ एव ज्योतिषा, सलिल एव मीनमकरादीना। कष्टतमस्य पुनरस्य मृत्यो स्थले, जले, वियति च विहृति । दहनस्य, सुधासूतेर्वा सुराधिपते, प्रभजनस्य शीतस्योष्णस्य वा, हिमान्या वा अप्रवेशदेशा सन्ति न तथा मृत्यो.। यथा वा निदानमान व्याधीना पित्तानिलश्लेष्मरूपमेव मृत्यो पुनरखिलमेव निदान। वातस्य पित्तस्य कफस्य, शीतोष्णयोर्वर्षाहिमातपाना शक्य प्रतीकारविधिर्न पुन ससारे मृत्यो । हिमोष्णवर्षादीना च कालो विदितोऽस्ति न तद्वदस्य। न वा हितमस्य किंचिद्विद्यते। यथा राहुवदनकुहरे प्रवेशो निशापते । असत्यपि मृत्यूपनिपाते जीवतोऽपि कुरोगाशनिभ्यो महद्भय। यथा वियतो निपतत्यबुद्ध एवाशनि । आयर्बल रूपादयश्च। गुणास्तावदेव यावन्नोपैति रोगो देहं। यस्तु तन्त्वलग्नस्य[1]फलस्य तावदपातो यावन्न श्वपुसन । व्याधौ बाध्यमाने देहे न सुखेन शक्यते श्रेय कर्तुं, यथा वेश्मनि दह्यमाने समन्तान्न शक्यते प्रतीकार । असन्तु वा रोगेषु रागशत्रु सुहृन्मु[2]खेन शत्रुरिव प्रवृद्ध यदा नरस्य चित्त बाधते न तदा समेऽधिकार । पित्तोदयो वैद्यशुभप्रयोगै प्रशाम्येदपि, रागोदयस्य

इस विनाशशील लोकमे आयु, शरीर, बल और नीरोगताके विनाशका काल अज्ञात है। दावानलके समान मृत्यु इस समस्तलोकरूपी वनको जला डालनेके लिए आज या देरमे या क्षणमात्रमे अथवा एकमास, एकपक्ष, ऋतु दो, मास, छहमास अथवा एक वर्षमे कब आ जायेगी यह कहना कठिन है। जबतक मृत्यु नही आती तबतक तपमे उद्योग करना चाहिए। मृत्युका कोई देश नियत नही है। जैसे गाडी आदि स्थलपर ही चलती है। ज्योतिषीदेव आकाशमे ही चलते है, मीन मगर आदि पानीमे ही चलते है। किन्तु यह सबसे अधिक दु खदायी मृत्यु जल, थल और आकाशमे विहार करती है। ऐसे देश है जहाँ आग, चन्द्रमा, इन्द्र, वायु, शीत, उष्ण अथवा बर्फका प्रवेश नही है। किन्तु ऐसा कोई देश नही जहाँ मृत्युका प्रवेश नही है। जैसे रोगोका निदान बात पित्त कफ ही है। किन्तु मृत्युका निदान तो सब ही है। वात, पित्त, कफ, शीत, उष्ण, वर्षा, हिम, आतप इन सबका प्रतीकार करनेकी विधि है। किन्तु ससारमे मृत्युका कोई इलाज नही है। शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु आदिका काल तो ज्ञात है किन्तु मृत्युका काल ज्ञात नही है। जैसे चन्द्रमा राहुके मुखमे प्रवेश करके उससे दूर जाता है उस तरह मृत्युके मुखमें प्रवेश करके निकलना सम्भव नही है। मृत्यु न भी आये और जीवन बना रहे तब भी कुरोगरूपी वज्रपातका महाभय रहता है। जैसे आकाशसे अचानक वज्रपात होता है वैसे ही अचानक रोगका आक्रमण होता है। आयु, बल और रूपादि गुण तभी तक है जबतक शरीरमे रोग नही होता। तन्तुसे लगा फल तभी तक नही गिरता जबतक वायुको झोका नही आता। शरीरके रोगसे पीड़ित होनेपर सुखपूर्वक आत्मकल्याण नही किया जा सकता। जैसे घरके चारो ओरसे जलनेपर प्रतीकार सम्भव नही होता। अथवा रोगोके नही होनेपर रागरूपी शत्रु मित्रके रूपमे शत्रुकी तरह बढकर जब मनुष्यके चित्तको पीडा देता है तब समभाव कठिन होता है। पित्तका विकार वैद्यके कुशल प्रयोगोसे शान्त हो भी सकता है। किन्तु प्राणीके लिए अहितकर रागके उदयको समाप्त

१ रेवान्न मा–आ० मु०। २. मुखे श–अ०।

प्राण्यहितस्य हन्तु प्रशम सुदुर्लभ । यदैव च तस्य प्रशमोपलब्धि पूर्वोक्तकर्मप्रशान्तौ तदैव श्रेयस्कृतौ **शक्तिः पित्तोपशान्तौ** कार्यचित्ते च । इत्थ मृत्युव्याधयो राग इत्येते प्रत्यवाया जगति तान्चेतसि कृत्वा, यदा **ते न सन्ति तदोद्योग** कार्य ॥३०५॥

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह ।
आणाए णिज्जरित्ति य सबालउड्ढाउले गच्छे ॥३०६॥

'सत्तीए भत्तीए' शक्त्या भक्त्या च । **'विज्जावच्चुज्जदा'** वैयावृत्ये उद्यता । **'सदा होह'** नित्य भवत । **'आणाए णिज्जरित्तिय'** सर्वज्ञानामाज्ञा वैयावृत्य कर्तव्यमिति तदाज्ञया हेतुभूतया, वैयावृत्य हि तप निर्जरा भवतीति च । **'सबालउड्ढाउले'** सह बालैर्वर्धमाना ये वृद्धास्तैराकीर्णे गणे ॥३०६॥

वैयावृत्य [1]कर्तुमित्युक्त तदिदमिति—

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे ।
आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥३०७॥

'सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणा उवग्गहिदे' शय्याकाशस्य, निषद्यास्थानस्य, उपकरणाना च प्रतिलेखना[2], उपग्रह उपकार । किंविषय ? **'आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु'** योग्यस्य आहारस्य औषधस्य वा दान स्वाध्यायोत्मारण अशक्तस्य शरीरमलनिराम । **'उवत्तणं'** पार्श्वात्पार्श्वान्तिरस्योत्थापनं ॥३०७॥

अद्धाणतेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे ।
वेज्जावच्चं उत्त संगहसारक्खणोवेदं ॥३०८॥

'अद्धाण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे' अध्वना श्रमेण श्रान्ताना पादादिमर्दन । स्तेनैरुपद्रुय-

करनेके लिए प्रशमभाव दुर्लभ है। जैसे पित्तके शान्त होनेपर चित्त काममे लगता है वैसे ही जिस समय पूर्वोक्त कर्मका उपशम होनेपर प्रशमभावकी प्राप्ति होती है, उसी समय आत्मकल्याण करनेकी शक्ति आती है। इस प्रकार ससारमे मृत्यु, व्याधि और राग ये बाधक है। उनको चित्तमे लाकर जब वे न हो तब तपमे उद्योग करना चाहिए ॥३०५॥

गा०—बालमुनि और वृद्ध मुनियोसे भरे हुए गणमे सर्वज्ञकी आज्ञासे सदा अपनी शक्ति और भक्तिसे वैयावृत्य करनेमे तत्पर रहो। सर्वज्ञदेवकी आज्ञा है कि वैयावृत्य करना चाहिये। वैयावृत्य तप है और तपसे निर्जरा होती है ॥३०६॥

वैयावृत्य करनेके लिये कहा है। उस वैयावृत्य को बतलाते है—

गा०—सोनेके स्थान, बैठनेके स्थान और उपकरणोकी प्रतिलेखना करना, योग्य आहार योग्य औषधका देना, स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनिके शरीरका मल शोधन करना, एक करवट से दूसरी करवट लिटाना ये उपकार वैयावृत्य है ॥३०७॥

गा०—जो मुनि मार्गके श्रमसे थक गये है उनके पैर आदि दबाना, जिन्हे चोरों ने सताया

१. कर्तुमभ्युद्युक्त प्रतीदमिति द–आ०, मु० । २ नाया उ–आ० ।

माणाना तथा श्वापदै, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, नदीरोधकैः मार्या च तदुपद्रवनिरास विद्यादिभि । **'ऊमे'** दुर्भिक्षे सुभिक्षदेशनयन । **'वेज्जावच्च वुत्तं'** वैयावृत्यमुक्तम् । **'संगहसारक्खणोवेदं'** सग्रहसरक्षणाभ्यामुपेत ॥३०८॥

वैयावृत्याकरण निन्दति—

अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ।
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो ॥३०९॥

अनिगूहितेत्यादिना–अनिगूढवीर्यो यो वैयावृत्य जिनोपदिष्ट क्रमेण न करोति । शक्तोऽपि सन् स निर्धर्मो भवति धर्मान्निष्क्रान्तो भवति इति सूत्रार्थ ॥३०९॥

दोषान्तराणि व्याचष्टे—

तित्थयराणाकोवो सुदधम्मविराधणा अणायारो ।
अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि ॥३१०॥

'तित्थयराणाकोवो' तीर्थकराणामाज्ञाकोप । **'सुदधम्मविराहणा'** श्रुतोपदिष्टधर्मनाशन । **'अणाचारो'** आचाराभाव वैयावृत्याख्ये तपसि अवृत्ते । **'अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि'** आत्मा साधुवर्ग प्रवचन च त्यक्त भवति । तपस्यनुद्योगादात्मा त्यक्तो भवति, आपद्युपकाराकरणाद्यतिवर्ग, श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च त्यक्त ॥१०॥

गुणान्वैयावृत्यकरणे कथयति गाथाद्वयेन—

गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य ।
संधाणं तव पूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥३११॥

'गुणपरिणामो' यतिगुणपरिणति । **'सड्ढा'** श्रद्धा । **'वच्छल्लं'** वात्सल्य । **'भत्ती'** भक्ति । **'पत्तलंभो**

है जगली जानवरोसे, दुष्ट राजासे, नदीको रोकने वालो से और मारी रोगसे जो पीडित है, विद्या आदिसे उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्षमे फँसे है उन्हे सुभिक्ष देशमे लाना, आप न डरे इत्यादि रूप से उन्हे धैर्य देना तथा उनका सरक्षण करना वैयावृत्य कहा है ॥३०८॥

वैयावृत्य न करने की निन्दा करते है—

गा०—अपने बल और वीर्यको न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान के द्वारा कहे हुए क्रम के अनुसार यदि वैयावृत्य नही करता है तो वह धर्मसे वहिष्कृत होता है यह इस गाथा का अभिप्राय है ॥३०९॥

वैयावृत्य न करनेसे तीर्थङ्करोकी आज्ञाका भग होता है। शास्त्रमे कहे गये धर्मका नाश होता है। आचारका लोप होता है और उस व्यक्तिके द्वारा आत्मा, साधुवर्ग और प्रवचन का परित्याग होता है। तप मे उद्योग न करनेसे आत्मा का त्याग होता है। आपत्ति मे उपकार न करनेसे मुनिवर्गका त्याग होता है और शास्त्र विहित आचरण न करनेसे आगमका त्याग होता है ॥३१०॥

दो गाथाओ से वैयावृत्य करनेमे गुणों को कहते हैं—

गा०—वैयावृत्य करनेका पहला गुण है 'गुण परिणाम' अर्थात् जो वैयावृत्य करता है

य' पात्रस्य लाभ । **'संधाणं'** सधान । **'तव'** तप । पूया पूजा । **'अव्वुच्छित्ती य तित्थस्स'** अव्युच्छित्तिश्च तीर्थस्य । **'समाधी य'** समाधिश्च ॥३११॥

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य ।
वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ॥३१२॥

'आणा संजमसाखिल्लदा य' आज्ञा सयमसाहाय्य च । **'दाणं च'** दान च । सर्वज्ञोपदिष्टवैयावृत्यकरणादाज्ञा सपादिता । आज्ञासपादनमाज्ञासयम । परस्य वैयावृत्यकृत उपकार । रत्नत्रयस्य निरतिचारस्य दानं । **'संजमसाखिल्लदा य'** सयमसाहाय्यमिति चार्थ । **'अविदिगिंछा य'** अविचिकित्सा च । **'वेज्जावच्चस्स गुणा'** वैयावृत्यस्य गुणा । **'पभावणा'** प्रभावना च । **'कज्जपुण्णाणि'** कार्यनिर्वहणानि च ॥३१२॥

गुणपरिणामो इत्येतत्पद व्याचष्टे—

मोहग्गिणादिमहदा घोरमहावेयणाए फुट्टंतो ।
डज्झदि हु धगधगंतो ससुरासुरमाणुसो लोओ ॥३१३॥

'मोहग्गिणा' अज्ञानाग्निना । **'अदिमहदा'** अतिमहता, सकलवस्तुविषयतया महदज्ञान तेन । **'डज्झदि'** दह्यते । **'घोरमहावेदणाए'** घोरया महत्या वेदनया । **'फुट्टतो'** विशीर्यमाण । **'धगधगतो'** धगधगायमान । **'ससुरासुरमाणुसो लोगो'** देवासुरमानुषै सह वर्तमानो लोक ॥३१३॥

एदम्मि णवरि मुणिणो णाणजलोवग्गहेण विज्झविदे ।
डाहुम्मुक्का होंति हु दमेण णिव्वेदणा चेव ॥३१४॥

'एदम्मि' एतस्मिन्लोके दह्यमाने । **'णवरि'** पुन । **'मुणिणो णिव्वेदणा चेव होंति'** मुनय एव निर्वेदना

उसकी पीडित साधुके गुणो मे वासना होती है कि मै भी ऐसा बनूं । और जिस साधु की वैयावृत्य की जाती है उसकी सम्यक्त्व आदि गुणोमे विशेष प्रवृत्ति होती है । इसके सिवाय श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रका लाभ, सन्धान-अपने मे जो गुण पूजा छूट गये है उनका पुन आरोपण, तप, धर्म तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि, ये गुण है ॥३११॥

गा०—सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य करनेसे सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन होता है । आज्ञा पालनसे आज्ञा सयम होता है । वैयावृत्य करने वालेका उपकार होता है । निर्दोष रत्नत्रय का दान होता है । सयम मे सहायता होती है । विचिकित्सा—ग्लानि दूर होती है । धर्म की प्रभावना होती है और कार्यका निर्वाह होता है ॥३१२॥

'गुण परिणाम' पद का व्याख्यान करते है—

गा०—अति महान मोहरूपी आगके द्वारा सुर असुर और मनुष्यो सहित यह वर्तमान लोक धक्-धक् करते हुए जल रहा है । घोर महावेदनासे उसके अग टूट फूट रहे है ॥३१३॥

विशेषार्थ—'यह मेरा है और मै इसका हूँ' इत्यादि प्रत्यय रूप अज्ञान समस्त वस्तुओके सम्बन्धमे होनेसे उसे अतिमहान कहा है । तथा लोकमे बहिरात्मा प्राणियो का समूह लिया गया है ।

गा०—इस लोकके जलने पर भी मुनियो को कोई वेदना नही है । क्योकि ज्ञानरूपी जलके

भवन्ति । कथ ? **'णाणजलोवग्गहेण'** ज्ञानजलोपग्रहेण । **'विज्झविदे'** नष्टे मोहाग्नौ । **'डाहुम्मुक्का'** दाहोन्मुक्ताः । **'बमेण'** रागद्वेषप्रशमन च । एतदुक्त भवति—समीचीनज्ञानजलप्रवाहोन्मूलिताज्ञानवह्निप्रसरत्व नाम यतीना गुण निर्वेदनत्व चेति ॥३१४॥

णिग्गहिदिंदियदारा समाहिदा समिदसव्वचेट्ठंगा ।
धण्णा णिरावयक्खा तवसा विधुणंति कम्मरय ॥३१५॥

'णिग्गहिदिंदियदारा' इन्द्रिय द्विविध द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय इति । तत्र द्रव्येन्द्रिय पुद्गलस्कन्धा आत्मप्रदेशाश्च तदाधारा । भावेन्द्रिय ज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियजनितो रूपाद्युपयोगश्च । तत्रेहोपयोगेन्द्रिय गृहीत तस्माहचर्याद्रागद्वे षावमनोज्ञे मनोज्ञे च विषये प्रवृत्तौ इह पापकर्मनिमित्ततया इन्द्रियद्वारशब्देनोच्येते । तेनायमर्थ —निगृहीतेन्द्रियविषयरागद्वेषा इति । **'समाहिदा'** रत्नत्रये समवहितचित्ता । **'समिदसव्वचेट्ठंगा'** सम्यक्प्रवृत्तसर्वेहा । **'धण्णा'** पुण्यवन्त । **'णिरावयक्खा'** निश्चला इति केचिद्वदन्ति । अन्ये निरपेक्षा । सत्कार लाभ वानपेक्षमाणा इति कथयन्ति । **'तपसा विधुणंति कम्मरयं'** तपसा कर्मरजोविधूनन कुर्वन्ति । निगृहीतेन्द्रियत्व, रत्नत्रयैकाग्रता, निरवद्यचेष्टावत्ता, सत्कारादर्निरपेक्षता, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविधूनन च यतिगुणा एतया गाथया सूचिता ॥३१५॥

इय दढगुणपरिणामो वेज्जावच्चं करेदि साहुस्स ।
वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामो कदो होदि ॥३१६॥

'इय' एव **'दढगुणपरिणामो'** यतिगुणेषु व्यावर्णितेषु दृढपरिणाम । **'साधुस्स वेज्जावच्चं करेइ'**

प्रवाहसे—आत्मा और शरीर आदिके भेद ज्ञानरूपी जलके प्रवाहसे मोहरूपी आगके नष्ट हो जाने से तथा रागद्वेषके शान्त हो जानेसे वे दाह से मुक्त है। आशय यह है कि सम्यग्ज्ञान रूपी जलके प्रवाहसे अज्ञानरूपी आगके फैलावको समाप्त कर देना और वेदना रहित होना अर्थात् ज्ञानानन्दमय होना यतियो का गुण है ॥३१४॥

गा०-टी०–इन्द्रियके दो भेद है द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पुद्गल स्कन्धोके और उनके आधार भूत आत्म प्रदेशोके इन्द्रियाकार रचनाको द्रव्येन्द्रिय कहते है। और ज्ञानावरणके क्षयोपशम और इन्द्रियसे होने वाले रूपादि विषयक उपयोगको भावेन्द्रिय कहते है। इनमेसे यहाँ उपयोगरूप इन्द्रियका ग्रहण किया है, क्योकि उसकी सहायतासे मनको प्रिय और अप्रिय लगने वाले विषयो मे राग द्वेष होते है। पापकर्ममे निमित्त होनेसे यहाँ इन्द्रियद्वार कहा है अत यह अर्थ होता है जिन्होने इन्द्रियोके विषयोमे होने वाले रागद्वेषका निग्रह कर दिया है। जिनका चित्त रत्नत्रयमे लीन रहता है। जो ईर्याभाषा आदि चेष्टाएँ सम्यक् रूप करते है और जो 'णिरावयक्खा' है। इसका अर्थ कोई 'निश्चल' कहते है और कोई निरपेक्ष कहते है अर्थात् जो सत्कार और लाभ की अपेक्षा नही करते। वे पुण्यशाली मुनि तपसे कर्म रूपी धूलिको नष्ट करते है। इस प्रकार इन्द्रियो का निग्रह करना, रत्नत्रयमे एकाग्र होना, निर्दोष चेष्टाएँ करना, सत्कार आदि की अपेक्षा न करना, तप मे लीन रहना और कर्म रूपी रजका दूर करना ये यतियोके गुण इस गाथाके द्वारा कहे है ॥३१५॥

गा०–टी०—इस प्रकार ऊपर कहे यतिके गुणोमे जिसका परिणाम दृढ होता है वह साधु की वैयावृत्य करता है। वैयावृत्य करने से गुण परिणाम होता है। आशय यह है कि इस यतिमे

साधोर्वैयावृत्त्यं करोति । **'वेज्जावच्चेण'** वैयावृत्त्येन । **'तदो'** तेन **'गुणपरिणामो कदो होदि'** गुणपरिणामः कृतो भवति । एतदुक्तं भवति—अस्य यतेरेते गुणा, इमे नश्यन्ति यदि नोपकारं कुर्यात् इति यश्चेतसि करोति स तेषु गुणेषु परिणतो भवति । यस्य चोपकारं कृतस्तस्य च गुणेषु परिणतिः कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैयावृत्यं इति आख्यातं ॥३१६॥

जह जह गुणपरिणामो तह तह आरुहइ धम्मगुणसेढिं ।
वड्ढदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसड्ढावि ॥३१७॥

'जह जह' यथा यथा गुणपरिणामो भवति । **'तह तह आरुहइ धम्मगुणसेढि'** तथाऽऽरोहति चारित्र-गुणश्रेणीः । **'वड्ढइ'** वर्धते । **'जिणवरमग्गे'** जिनेन्द्रमार्गे । किं वर्द्धते ? **'नवनवसंवेगसड्ढावि'** प्रत्यग्र-संसारभीरुता श्रद्धापि । इह गुणशब्देन गुणनिर्भासः स्मार्तः प्रत्ययः उच्यते । तेनायमर्थः—यथा यथा यति-गुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानुपारोहति । विस्मृतयतिगुणो न तत्र प्रयतते । तेषां गुणानां स्मरणात्तत्र रुचिरुपजायते । गुणानुरागिणो हि भव्याः । संसारभीतिः श्रद्धा च प्रवर्तमाना दृढयति यतिं रत्नत्रये । एतया गाथया सूचिता श्रद्धा व्याख्याता ॥३१७॥

गुणानामनुस्मरणात्तत्र रुचिर्भवति रुचौ प्रवृद्धायां वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याचष्टे—

सड्ढाए वड्ढियाए वच्छल्लं भावदो उवक्कमदि ।
तो तिव्वधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ ॥३१८॥

'सड्ढाए वड्ढियाए' श्रद्धया वर्द्धितया । **'वच्छल्लं भावदो उवक्कमदि'** वात्सल्यं भावतः मनसा प्रारभते । **'तो'** ततः । **'तिव्वधम्मराओ'** धर्मे तीव्रो रागः । **'सव्वजगसुहावहो होदि'** सर्वेषु जगत्सु यत्सुख

ये गुण है। यदि मै इनकी सेवा न करूँगा तो ये गुण नष्ट हो जायेंगे। ऐसा जो चित्तमे विचारता है वह उन गुणोमे परिणत होता है। और जिसकी सेवा की है उसकी गुणो मे परिणति होती है। अर्थात् वैयावृत्य करने वाला स्वयं उन गुणोसे सुवासित होता है और जिसका वैयावृत्य किया जाता है वह यति अपने गुणोसे च्युत नही होता। अतः अपने और दूसरोके उपकारके लिए वैयावृत्य कहा है ॥३१६॥

गा०-टी०—जैसे-जैसे गुण परिणाम होता है वैसे वैसे चारित्र रूप गुणोकी सीढ़ी पर चढ़ता है, और जिनेन्द्रके मार्गमे नई-नई संसार भीरुता और श्रद्धा भी बढ़ती है। यहाँ गुण शब्दसे गुणोको विषय करने वाला स्मरण ज्ञान कहा गया है। तब यह अर्थ होता है—जैसे-जैसे यतिके गुणोका स्मरण होता है वैसे-वैसे चारित्र गुण पर आरोहण करता है। जो यतिके गुणोको भूल जाता है वह उसमे प्रयत्न नही करता। उनके गुणोका स्मरण करनेमे उनमे रुचि पैदा होती है। भव्य जीव गुणोकी अनुरागी होते है। संसारसे भय और श्रद्धा यतिको रत्नत्रयमे दृढ़ करती है। इस गाथासे श्रद्धा गुणका कथन किया ॥३१७॥

आगे कहते है कि गुणोके स्मरणसे उनमे रुचि होती है। रुचि बढ़ने पर सम्यग्दर्शनका वात्सल्य नामक गुण होता है—

गा०—श्रद्धाके बढ़ने पर मुनि मनसे वात्सल्य करते है। उससे धर्ममे तीव्र राग होता है। धर्ममे तीव्र राग समस्त जगतमे जो इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय सुख है उसे लाता है। अथवा

ऐन्द्रियमतीन्द्रिय वा तदावहत्याकर्षति धर्मे तीव्रो राग । तीव्रधर्मरागो वा यतिरात्मन सकल सुखमावहति । वात्सल्य इत्येतद्व्याख्यात गाथयाऽनया ॥३१८॥

वैयावृत्यस्य च भक्तिर्नाम यो गुणस्त व्याचष्टे—

अरहंतसिद्धभत्ती गुरुभत्ती सव्वसाहुभत्ती य ।
आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य ॥३१९॥

'**अरहंतसिद्धभत्ती**' तत्रार्हन्तो नामातिक्रान्ते तृतीये भवे दर्शनविशुद्धयादिपरिणामविशेषवद्धतीर्थकरत्व-नामकर्मातिशया, स्वर्गावतरणादिपञ्चमहाकल्याणभागिन, घातिकर्मप्रलयाधिगतसकलद्रव्यत्रिकालगो-चरस्वरूपावभासनपटुनिरतिशयज्ञानदर्शनमोहोन्मूलनोपजातवीतरागसम्यक्त्वा, चारित्रमोहोत्पाटनलब्धवीत-रागभावा, वीर्यान्तरायकर्मप्रक्षयाविर्भूतानन्तवीर्या, परीतमसारभव्यजनोद्धरणवद्धप्रतिज्ञा, अष्टमहाप्रातिहार्य-चतुस्त्रिशदतिशयविशेषा । सिद्धा नाम मिथ्यात्वादिपरिणामोपनीतकर्माष्टकवन्धनिर्मुक्ता अजरामराव्यावाधा उपमातीतानन्तसुखा जाज्वल्यमाननिरावरणज्ञानतनव पुरुषाकारावाप्तपरमात्मावस्था । एतयोरर्हत्सिद्धयो-र्भक्ति । गुरुशब्देनाऽऽचार्योपाध्यायौ गृहीतौ तयोर्भक्ति । '**सव्वसाहुभत्ती य**' सर्वसाधुभक्तिश्च । '**आसेविआ**' आसेविता भवति । '**समग्गा**' समस्ता '**विमला वरधम्मभत्तीय**' प्रधाने धर्मे रत्नत्रयात्मके भक्तिश्च आसेविता भवति । अर्हदाद्युपदिष्टवैयावृत्यकरणात्तेषा भक्ति कृता भवति । रत्नत्रयवतामुपकारकरणात्तदादरत एव तत्र भक्ति । वैयावृत्य भक्तिमापादयति अर्हदादिष्वित्युक्त ॥३१९॥

धर्ममे तीव्रराग रखने वाला यति सब सुखको प्राप्त होता है। इस गाथासे वात्सल्यका कथन किया ॥३१८॥

वैयावृत्यका भक्ति नामक जो गुण है उसे कहते है—

गा०—टी०—इस भवमे पूर्व तीसरे भवमे दर्शन विशुद्धि आदि परिणाम विशेषसे जिसने तीर्थकरत्व नामक अतिशयशाली कर्मका बन्ध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पाँच महाकल्याण का भागी है जो कल्याणक किसी अन्यको प्राप्त नही होते, घातिकर्मोके विनाशसे जिसने त्रिकालवर्ती सब द्रव्योके स्वरूपको प्रकाशित करनेमे पटु निरतिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शन मोह के क्षय से जिन्हे वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्रमोहके क्षयसे जिसने वीतरागता प्राप्त की है, वीर्यान्तराय कर्मके प्रक्षयसे जिनमे अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिनके ससारका अन्त आ गया है उन भव्यजीवोका उद्धार करनेकी प्रतिज्ञासे जो वद्ध है, जो आठ महाप्रातिहार्य और चौतीस अतिशय विशेषसे युक्त है, वे अर्हन्त है। मिथ्यात्व आदि परिणामोसे आये आठ कर्मोके बन्धनसे जो छूट चुके है, जो अजर अमर, अव्याबाध गुणसे युक्त है अनुपम अनन्त सुखसे शोभित है जिनके सदा प्रज्वलित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर है, जो पुरुषाकार है और जिन्होने परमात्म अवस्थाको पालिया है वे सिद्ध है। इन अर्हन्तो और सिद्धोकी भक्ति अर्हन्त सिद्ध भक्ति है। गुरु शब्दसे यहाँ आचार्य और उपाध्यायका ग्रहण किया है। उनकी भक्ति गुरु भक्ति है। और सर्वसाधुओकी भक्ति तथा प्रधान धर्म रत्नत्रयमे सम्पूर्ण निर्मल भक्ति। इन अर्हन्त आदि का ऊपर कहा वैयावृत्य करनेसे उनकी भक्ति की गई जानना। रत्नत्रयके धारकोका उपकार करनेसे उनका आदर ही उनकी भक्ति है। अभिप्राय यह है कि वैयावृत्यसे अर्हन्त आदिमे भक्ति व्यक्त होती है ॥३१९॥

इदानीं तस्या माहात्म्यं स्तौति—

संवेगजणियकरणा णिस्सल्ला मंदरुव्व णिक्कपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि ससारे ॥३२०॥

'संवेगजणियकरणा' ससारभीरुताजनितोत्पादा । करणशब्द सामान्यवचनोऽपि उत्पत्तिक्रियावृत्तिरत्र-गृहीत । **'णिस्सल्ला'** मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन च रहिता । **'मंदरुव्व णिक्कपा'** मदर इव निश्चला । **'जस्स दढा जिणभत्ती'** यस्य जिने भक्तिर्दृढा । **'ण तस्स भयमत्थि संसारे'** तस्य भय नास्ति ससारात् । जिन-शब्देना चात्रार्हदादय सर्व एवोच्यन्ते—कर्मैकदेशाना समस्ताना च जयात् । धर्मोऽपि कर्माण्यभिभवति इति द्रव्यलाभादिकमनुद्दिश्य प्रवृत्तेस्तत्कथयति । **'संवेगजणियकरणा'** इत्यनेन ससारभयनिराकरणोपायभूता जिन-भक्तिरिति ज्ञात्वा प्रवृत्तेति यावत् । **वैनयिकमिथ्यादृष्टे** सर्वत्र भक्ति प्रवर्तते इति तन्निरासाय णिस्सल्ला इत्युच्यते । **'मंदरुव्व णिक्कंपा'** इत्यनेन सर्वकालवृत्तिताख्याता । सासादनसम्यग्दृष्टेर्जातापि स्वल्पकाला न ससारा-न्निस्सारयतीति ॥३२० ।

वैयावृत्यस्य पात्रलाभगुणमाचष्टे—

पंचमहव्वयगुत्तो णिग्गहिदकसायवेदणो दंतो ।
लब्भदि हु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो ॥३२१॥

'पचमहव्वयगुत्तो' पञ्चभिर्महाव्रतै कृतास्रवनिरोध । **'णिग्गहियकसायवेयणो'** निगृहीतकषायवेदन कषायस्तु तपयन्त्यात्मानमिति वेदना । **'दंतो'** दान्त शान्तरागजदोष । परिज्ञानाद्वैराग्यभावनात प्रशान्त-राग इति कृत्वा दान्त इत्युच्यते । **'लब्भदि खु पत्तभूदो'** लभ्यते पात्रभूत । **'णाणासुदरयणणिधिभूदो'** नाना-

---

अब उस भक्तिका माहात्म्य कहते है—

गा०-टी०—'सवेग जणिय करण'मे 'करण' शब्द क्रिया सामान्यका वाचक होने पर भी यहाँ उसका अर्थ उत्पत्तिरूप क्रिया लिया है । अत ससारके भयसे जो उत्पन्न होती है, मिथ्यात्व माया और निदान नामक शल्योंसे रहित सुमेरुकी तरह निश्चल, ऐसी दृढ जिन भक्ति जिसके है उसे ससारसे भय नही है । कर्मोके एक देशको अथवा सब कर्मोको जीतनेसे यहा 'जिन' शब्दसे अर्हन्त आदि सभी लिये है । 'धर्म भी कर्मोको निरस्त करता है इसलिये जिन शब्दसे धर्म भी कहा जाता है । किन्तु वह धर्म द्रव्यलाभके उद्देशसे न होकर जिन भक्ति ससारका भय दूर करनेका उपाय है । यह जानकर होना चाहिये । वैनयिक मिथ्यादृष्टिकी भक्ति सबमे होती है उसके निरा-करणके लिये नि शल्य कहा है । मेरुकी तरह निश्चल कहनेसे वह भक्ति सर्वकालमे होनी चाहिये ऐसा कहा है । सासादन सम्यग्दृष्टोके अल्पकालीन भक्ति होती है किन्तु वह ससारसे नही निकालती ॥३२०॥

वैयावृत्यका एक गुण पात्रलाभ है । उसे कहते है—

गा०टी०—वैयावृत्य करनेसे, पाँच महाव्रतो के द्वारा कर्मोके आस्रवको रोकने वाला, कषाय वेदनाका निग्रह करने वाला, कषाय आत्माको सतप्त करती है इससे वेदना कहा है, दान्त अर्थात् जिसके राग जन्य दोष शान्त हो गये है, वस्तु तत्त्वको जाननेसे वैराग्य भावना होती है और वैराग्य भावनासे राग शान्त होता है इससे दन्त कहा है, तथा जो नाना प्रकारके शास्त्ररूपी रत्नोका निधि है नाना शास्त्रोका ज्ञाता है, ऐसा पात्र प्राप्त होता है' अर्थात् वैयावृत्य

श्रुतरत्ननिधिभूत ॥२२१॥

दंसणणाणे तव सजमे य संधाणदा कदा होइ ।
तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव ॥३२२॥

'**दंसणणाणे**' दर्शनज्ञानयो । '**तवसजमे य**' तपश्चारित्रयोश्च । '**संधाणदा होदि**' कुतश्चिन्निमित्ता-द्विच्छिन्नाना दर्शनादीना सधान कृत भवति वैयावृत्त्येन । '**तो**' तस्मात् तेनैव वैयावृत्त्यकारिणा । '**सिद्धिमग्गे**' रत्नत्रये । '**ठविदो अप्पा परो चेव**' स्थापित आत्मा परश्च । अनया सधानमित्येतत्सूत्रपदव्याख्यानम् ॥२२२॥

तव इत्येतद्व्याख्यातुमाह—

वेज्जावच्चकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ॥३२३॥

'**वेज्जावच्चकरो पुण**' वैयावृत्त्यकर पुन '**अणुत्तरं तवसमाधि मारूढो**' उत्कृष्ट वैयावृत्याख्ये तपसि समाधिमेकाग्रतामुपाश्रित । '**पप्फोडिंतो विहरदि**' विधूनयन्विहरति । '**बहुभवबाधाकरं कम्मं**' बहुभवेषु बाधा सपादयत्कर्म ॥३२३॥

जिणसिद्धसाहुधम्मा अणागदातीदवट्टमाणगदा ।
तिविहेण सुद्धमदिणा सव्वे अभिपूइया होंति ॥३२४॥

'**जिणसिद्ध साहुधम्मा**' तीर्थकृत , सिद्धा , साधवो, धर्मश्च । '**अणागदातीदवट्टमाणगदा**' सर्वे त्रिकाल-वर्तिन '**सव्वे तिविधेण पूजिदा होंति**' सर्वे मनोवाक्कायै पूजिता भवन्ति । '**सुद्धमइणा**' शुद्धचेतसा । तीर्थ-कृदादयस्तदाज्ञामपालनात्पूजिता , दशविधे धर्मे तपसोऽन्तर्भावाद्वैयावृत्यस्य च तदन्तर्गतत्वाद्वैयावृत्ये आदरात् तत्प्रवृत्तेश्च धर्म पूजितो भवति ॥३२४॥

करने वालेको वैयावृत्यके लिये ऐसे सत्पात्र मुनी प्राप्त होते है यह एक महान् लाभ है ॥३२१॥

गा०-टी०—किसी निमित्तसे सम्यग्दर्शन आदिमे त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य करनेसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक् चारित्रमे पुन नियुक्ति हो जाती है। अत उसी वैयावृत्यकारीके द्वारा स्वय आत्मा तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसकी रत्नत्रय मे पुन स्थिति होती है। इससे दोनो का ही लाभ है। इस गाथाके द्वारा 'सधान' पदका व्याख्यान किया है ॥३२२॥

तप गुणको कहते है—

गा०—वैयावृत्य करनेवाला मुनि उत्कृष्ट **वैयावृत्यनामक** तपमे एकाग्र होकर अनेक भवोमे कष्ट देनेवाले कर्मोकी निर्जरा करता हुआ विहार करता है ॥३२३॥

गा०—शुद्धचित्तसे वैयावृत्य करनेवालेके द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालके सब तीर्थंकर, सिद्ध, साधु और धर्म मन-बचन-कायसे पूजित होते है। तीर्थंकरोंकी आज्ञाका पालन करनेसे सभी तीर्थंकर आदि इसके द्वारा पूजित होते है। तथा दस प्रकाके धर्मोंमे एक तपधर्म भी है और वैयावृत्य उसका एक भेद है अत वैयावृत्यमे आदरभाव रखने तथा वैयावृत्य करनेसे धर्म पूजित होता है ॥३२४॥

वैयावृत्यं दशविधं आचार्योपाध्यायतपस्विशिक्षकग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञभेदेन । तत्राचार्यवैया-वृत्यमाहात्म्यकथनायाचष्टे—

आइरियधारणाए संघो सव्वो वि धारिओ होदि ।
संघस्स धारणाए अव्वोच्छित्ती कया होई ॥३२५॥

'**आइरियधारणाए**' आचार्यधारणात, '**संघो सव्वो वि धारिदो होदि**' सर्वं संघोऽवधारितो भवति । कथ ? आचार्यो हि रत्नत्रय ग्राहयति । गृहीतरत्नत्रयांस्तेषु दृढयति । अतिचाराञ्जातानप्यपनयति । तदुप-देशबलेनैव गुणसंहतिरूपता धत्ते संघो नान्यथेति संघो धारितो भवति । संघधारणाया गुणमाचष्टे । **संघस्स धारणाए अवोच्छित्ती कदा होदि'** धर्मतीर्थस्याभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य अव्युच्छित्ति कृता भवति । उपाध्यायादय सर्व एव साधयन्ति निरवशेषकर्मापायमिति साधुशब्देनोच्यन्ते ॥३२५॥

तेष्वन्यतमस्य साधोर्धारणाया गुण कथयति—

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो ।
साधू चेव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ॥३२६॥

'**साधुस्स धारणाए**' एकस्य साधोर्वैयावृत्यकरणेन धारणाया । '**होदि**' भवति । '**तह चेव**' तथैव आचार्यधारणात संघधारणात् । '**धारिदो संघो**' धारितो यतिसमुदाय । कथमेकस्य धारणाया समुदायधारणा, समुदायावयवयोर्भेदादित्याशंकायामाह—'**साधू चेव हि संघो**' साधव एव हि संघ । '**ण हि संघो साधुवदि-रित्तो**' नैव संघो नामार्थान्तरभूतोऽस्ति साधुव्यतिरिक्त । कथंचित्समुदायावयवयोरव्यतिरेक इति मन्यते गाथा-

---

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञके भेदसे वैयावृत्यके दस भेद है। उनमेसे आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य कहते है—

गा०-टी०—आचार्यका धारण करनेसे समस्त संघ धारित होता है। क्योकि आचार्य रत्नत्रय ग्रहण कराते है और जो साधु रत्नत्रयको धारण किये होते है उन्हे उसमे दृढ करते है। उत्पन्न हुए अतिचारोको दूर करते है। आचार्यके उपदेशके प्रभावसे ही संघ गुणोके समूहको धारण करता है अत आचार्यके धारणसे संघका धारण होता है। आचार्यके विना संघका धारण सम्भव नही है। संघके धारणसे अभ्युदय और मोक्षके सुखका साधन जो धर्म है उस धर्मतीर्थका विच्छेद नही होता। उपाध्याय आदि सभी समस्तकर्मोके विनाशकी साधना करते है इसलिए साधु शब्दसे उन सबका ग्रहण होता है ॥३२५॥

विशेषार्थ—धारणाका अर्थ है अपने धर्मकर्मकी शक्तिको भ्रष्ट करनेके निमित्तोको दूर करके उसको शक्ति प्रदान करना। इसीको वैयावृत्य भी कहते हैं।

उक्त आचार्यादिमेसे किसी एक साधुकी धारणाके गुण कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे आचार्यकी धारणासे संघकी धारणा होती है वैसे ही एक साधुकी धारणासे अर्थात् वैयावृत्य करनेसे साधु समुदायकी धारणा होती है।

शंका—एक साधुकी धारणासे सब साधु समुदायकी धारणा कैसे हो सकती है? क्योकि समुदाय और व्यक्तिमें तो भेद है? इसके उत्तरमे कहते है—

समाधान—साधु ही संघ है। साधुओसे भिन्न कोई संघ नामक वस्तु नही है। समुदाय

द्वयेनानेन । अव्युच्छित्तिर्व्याख्याता ॥३२६॥

सिद्धिसुखे चेतसि एकाग्रता समाधिरित्युच्यते तदुपगूहनं कृतं भवतीत्याचष्टे—

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण ।
जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य उवगूहिया होदि ॥३२७॥

'गुणपरिणामादीहिं य' गुणपरिणाम , श्रद्धा, वात्सल्यं, भक्ति., पात्रलाभ , सधानं, तप , पूजा, तीर्थाव्युच्छित्तिक्रियेत्येतै । **'अणुत्तरविधीहिं'** प्रकृष्टै क्रमै. । **'विहरमाणेण'** आचरता । **'जा सिद्धिसुहसमाधी'** या सिद्धिसुखैकाग्रता । **'सा वि य उवगूहिया होइ'** साप्यालिङ्गिता भवति । कारणे ह्यादर. कार्ये समाधानमन्तरेण न प्रवर्तते । न हि साध्ये घटे चेतस्यसति तदुपायभूतदण्डादिकारणकलापे जन प्रवर्तते । इह च गुणपरिणामादय उपाया सिद्धिसुखस्य न च सिद्धिसुखैकाग्रतामन्तरेण ते युज्यन्ते इति भाव. ॥३२७॥

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होंति ।
णिग्गहियाणि कसायिंदियाणि साखिल्लदा य कदा ॥३२८॥

'अणुपालिदा या आणा' अनुपालिता च आज्ञा भवति वैयावृत्यं कुर्वता । केषा ? तीर्थकृदादीना । एतेन **'आणा'** इत्येतत्सूत्रपदं व्याख्यात भवति । **'संजम जोगा य पालिदा होंति'** इत्यनेन सयमपदव्याख्या कृता सयमेन सह **सम्बन्धः** आचार्यादीनाम् । **'पालिदा होंति'** रक्षिता भवन्ति । व्याध्याद्यापद्गताना रोगपरीषहानसक्लेशेन धारयितुमसमर्थानाम् । अथवा सयमयोगाश्च तपासि अनशनादितपोविशेषा रक्षिता भवन्ति **स्वस्य** परेषा च, करणानुमननाम्या स्वस्यापन्निरासेन स्वस्थतोपजातसामर्थ्यादीना सयमसपादनात् । परेषा सहायता

और उसके अवयव व्यक्तिमें कथञ्चित् अभेद होता है यह इन गाथाओंके द्वारा माना है ॥३२६॥
अव्युच्छित्तिका कथन समाप्त हुआ ।

मिद्धि सुखमे चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते है । वैयावृत्यसे उसका उपगूहन होता है, यह कहते है—

गा०—श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, सन्धान, तप, पूजा, तीर्थकी अव्युच्छित्ति (अविनाश) इत्यादि गुणोका उत्कृष्ट क्रमके साथ आचरण करनेवाले मुनिको जो सिद्धि सुखमे एकाग्रता है, वह भी प्राप्त होती है; क्योकि कार्यमे समाधान हुए विना कारणमे आदर नही होता । यदि चित्तमे घट वनानेकी भावना न हो तो उसके उपायभूत जो दण्ड आदि कारण है उनमे मनुष्य प्रवृत्त नही होता । यहाँ गुणपरिणाम आदि सिद्धिसुखके उपाय है, सिद्धिसुखमें एकाग्रताके विना वे उपाय नहीं हो सकते । यह अभिप्राय है ॥३२७॥

गा०-टी०—'जो वैयावृत्य करता है वह तीर्थंकरोकी आज्ञाका पालन करता है। इस कथनसे गाथाके 'आणा' पदका व्याख्यान किया है । 'सयमयोगका पालन होता है' इस कथनसे सयमपदका व्याख्यान किया है क्योकि आचार्य आदिका सयमके साथ सम्बन्ध है । जो आचार्य आदि व्याधि आदिसे पीडित होते है और विना संक्लेशके रोगपरीषहको सहनेमे असमर्थ होते है उनकी वैयावृत्य करनेसे संयमकी रक्षा होती है । अथवा 'संयमयोग' अर्थात् अनशन आदि तपके भेदोकी रक्षा होती है। अपने भी और दूसरोंके भी तपकी रक्षा होती है। दूसरोसे वैयावृत्य कराकर अथवा वैयावृत्य करनेकी अनुमोदना करके स्वास्थ्यको प्राप्तकर अपने तपकी रक्षा करता है तथा दूसरोकी

व्याचष्टे—**जम्हा** इति वाक्यशेषाध्याहारेण सूत्रपदानि सम्बन्धनीयानि । यस्मान्निगृहीतानि कषायेन्द्रियाणि तद्दोषोपदेश कुर्वता तस्मात् '**साखिल्लदा य कदा**' सहायता कृता ।।३२८।।

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिंच्छा दरिसिदा होइ ।
पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं संघकज्जं च ।।३२९।।

'**अदिसयदाणं दत्तं**' अतिशयदान दत्त भवति रत्नत्रयदानात् । '**णिव्विदिगिंछा य दरिसिया होइ**' सम्यग्दर्शनस्य गुणो निर्विचिकित्सा नाम सा प्रकटिता भवति । द्रव्यविचिकित्सा निरस्ता शरीरमलाना निराकरणात् जुगुप्सा विना । '**पवयणपभावणा वि य**' प्रवचनमागमस्तदुक्तार्थानुष्ठानात् प्रवचनप्रभावना कृता भवति । '**णिव्वूढं संघकज्जं च**' सघेन कर्तव्य कार्यं च निश्चयेन सपादित भवति । एतेन '**कज्जपुण्णाणि**' इत्येतद्व्याख्यातम् ।।३२९।।

वैयावृत्यस्य फलमाहात्म्य दर्शयति—

गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि ।
तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं ।।३३०।।

'**गुणपरिणामादीहि य**' । अत्रैव पदसम्बन्ध '**वेज्जावच्चुज्जदो**' वैयावृत्ये उद्यत । '**गुणपरिणामादीहि**' गुणपरिणामादिभि कारणभूतै । '**पुण्णं तित्थयरणामकम्मं समज्जेदि**' पुण्य तीर्थकरनामकर्म समर्जयति । कीदृक् ? '**तिलोयसंखोभयं**' त्रैलोक्यसक्षोभकरणक्षमम् ।।३३०।।

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य ।
अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो ।।३३१।।

'**एदे गुणा महल्ला**' एते गुणा महान्त '**वेज्जावच्चुज्जदस्स**' वैयावृत्योद्यतस्य । '**बहुया य**' बहव ।

आपत्तिको दूर करके, उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करनेपर उनके सयमकी रक्षा होती है। दूसरोकी सहायताका कथन गाथाके उत्तरार्द्धसे करते है। उसमे 'जम्हा' पदका अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है—यत वैयावृत्य करनेवाला कषाय और इन्द्रियोके दोष बतलाकर कषाय और इन्द्रियोका निग्रह करता है, अत वह दूसरोको सहायता प्रदान करता है ।।३२८।।

गा०-टी०—वैयावृत्य करनेवाला उक्त प्रकारसे दूसरे साधुओको रत्नत्रयका दान करता है इसलिए वह सातिशयदानका दाता होता है। तथा वैयावृत्यसे सम्यग्दर्शनका निर्विचिकित्सा नामक गुण प्रकाशित होता है। शरीरका मलमूत्र आदि विना ग्लानिके उठानेसे द्रव्यविचिकित्सा दूर होती है। आगममे कहे हुए धर्मका पालन करनेसे प्रवचनकी प्रभावना भी होती है। और सघका जो करने योग्य कार्य है उसका भी सम्पादन होता है। इस गाथासे 'कज्जपुण्णाणि' पदका व्याख्यान किया है ।।३२९।।

वैयावृत्यके फलका माहात्म्य कहते है—

गा०—वैयावृत्यमे तत्पर साधु गुणपरिणाम आदि कारणोके द्वारा उस तीर्थङ्कर नामक पुण्यकर्मका बन्ध करता है जो तीनो लोकोंमे हलचल पैदा करता है ।।३३०।।

गा०—वैयावृत्यमे तत्पर साधुके बहुतसे महान् गुण होते है। जो केवल स्वाध्याय ही

'**अप्पट्ठिदो हु जायदि**' आत्मप्रयोजनपर एव जायते । '**सज्झायं चेव कुव्वंतो**' स्वाध्यायमेव कुर्वन् । वैयावृत्यकरस्तु स्वं परं चोद्धरतीति मन्यते ॥३३१॥

वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गमग्गिविससरिसं ।
अज्जाणुचरो साधू लहदि अकित्तिं खु अचिरेण ॥३३२॥

'**वज्जेह**' वर्जयत अग्निना विषेण सदृशं आर्याजनसंसर्गं । प्रमादरहितैर्भवद्भिस्त्याज्य' **अज्जाणुचरो**' आर्यानुचरः । '**साधू**' साधुर्लहदि **अकित्ति** लभते अयशः '**अचिरेण**' अचिरेण । चित्तसंतापकारितया अग्निसदृशता । संयमजीवितविनाशनाद्विषसदृशता । पापस्य अयशसश्च प्रायेण भीरुर्लोकोऽपि साध्वाचारः मिथ्यादृष्टिरसंयतोऽपि किं पुनर्विदितवेदितव्यस्य परिहार्यमशेषं उद्यतं परिहर्तुं यतिजनः पापमयशश्च न परिहरेत् । तथा च श्लोकः —

काये पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत् ।
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥ [ ] ॥३३२॥

थेरस्स वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाणभूदस्स ।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि ॥३३३॥

'**थेरस्स**' स्थविरस्य । '**तवसिस्स वि**' अनशनादितपस्युद्यतस्यापि । '**बहुसुदस्स वि**' बहुश्रुतस्यापि । '**पमाणभूदस्स**' प्रमाणभूतस्य । '**अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि**' आर्यापरिचयाज्जनापवादो भवति ॥३३३॥

किं पुण तरुणो अबहुस्सुदो य अणुकिट्ठतवचरित्तो ।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणय ण पावेज्ज ॥३३४॥

करता है वह तो अपने ही प्रयोजनमें लगा रहता है। किन्तु वैयावृत्य करनेवाला अपना और दूसरोंका उपकार करता है। अर्थात् केवल स्वाध्याय करनेवाले साधुसे वैयावृत्य करनेवाला विशिष्ट होता है। स्वाध्याय करनेवाले साधुपर विपत्ति आवे तो उसे वैयावृत्य करनेवालेका ही मुख ताकना होता है ॥३३१॥

गा०—टी०—हे साधुजनो ! आपको प्रमादरहित होकर आग और विषके तुल्य आर्याओंके संसर्गको छोड़ना चाहिए। आर्याके साथ रहनेवाला साधु शीघ्र ही अपयशका भागी होता है। आर्याका संसर्ग चित्तको सन्तापकारी होनेसे आगके समान है और संयमरूपी जीवनका विनाशक होनेसे विषके समान है। साधु आचारवाले मिथ्यादृष्टि असंयमी लोग भी प्रायः पाप और अपयशसे डरते हैं। फिर जो सब कुछ जानते हैं और समस्त त्यागने योग्य पदार्थोंके त्यागमें तत्पर रहते हैं वे साधुजन पाप और अपयशके कामसे क्यों नहीं दूर रहेंगे ? कहा भी है—शरीर नष्ट होनेवाला है उसकी रक्षा सम्भव नहीं है। यशकी रक्षा करने योग्य है जो नष्ट नहीं होता। शरीरके छूट जानेपर मनुष्य यशरूपी शरीरसे जीवित रहता है ॥३३२॥

गा०—वृद्ध, अनशन आदि तपमें तत्पर तपस्वी, बहुश्रुत और प्रमाण माना जानेवाला भी साधु आर्याजनके संसर्गसे लोकापवादका भागी होता है ॥३३३॥

'किं पुण ण पावेज्ज अणंअपणयं' किं पुनर्न प्राप्नुयाज्जनापवाद वा ? प्राप्नोति नियोगत । **केन ? 'अज्जासंसग्गीए'** आर्यागोष्ठ्या । क ? **''तरुणो अबहुस्सुदो अणुकिट्ठतवचरित्तो य'** तरुणो यतिरबहुश्रुतोऽनुत्कृष्टतपश्चारित्रश्च ॥३३४॥

जदि वि सयं थिरबुद्धी तहा वि संसग्गिलद्धपसराए ।
अग्गिसमीवे व घदं विलेज्ज चित्तं खु अज्जाए ॥३३५॥

'जदि वि सयं थिरबुद्धी' यद्यपि स्वय स्थिरबुद्धि । **'तहा वि'** तथापि । **'संसग्गिलद्धपसराए'** ससर्गल्लिब्धप्रसराया. । **'अज्जाए'** आर्याया । **'चित्त विलेज्ज'** चित्तं द्रवति । किमिव ? **'अग्गिसमीवे व घद'** अग्निसमीपस्थ घृतमिव । न केवलमार्याजन एव परिहरणीय कि तु—॥३३५॥

सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सया अवीसत्थो ।
णित्थरदि बंभचेरं तव्विवरीदो ण णित्थरदि ॥३३६॥

'सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि' सर्वस्मिन्नेव स्त्रीवर्गे बालाकन्यामध्यमास्थविरासुरूपाविरूपेति विचित्रभेदे । **'अप्पमत्तो'** अप्रमत्त प्रमादरहित । सदा **'अवीसत्थो'** विश्वासरहित । **'णित्थरइ'** निस्तरति **'बंभचेरं'** ब्रह्मचर्यं । **'तव्विवरीवो'** तद्विपरीत प्रमत्त विश्वासवाश्च । **'ण णित्थरदि'** न निस्तरति ॥३३६॥

आर्यानुचरणे दोषं प्रकटयति—

सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।
सो चेव होदि अज्जाओ अणुचरंतो अणप्पवसो ॥३३७॥

'सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो' सर्वस्माद्वास्तुक्षेत्रादिकाद्विमुक्त साधु सर्वत्र भवति स्ववश **'सो चेव'** स एवात्मवश । **'होइ'** भवति । **'अणप्पवसो'** अनात्मवश । कि कुर्वन् ? **'अज्जाओ अणुचरंतो'** आर्या अनुचरन् ॥३३७॥

गा०—तब जो अवस्थामे तरुण है, बहुश्रुत भी नही है और न जो उत्कृष्ट तपस्वी और चारित्रवान् हैं वे आर्याजनके ससर्गसे लोकापवादके भागी क्यो नही होगे ? ॥३३४॥

गा०—मुनि यद्यपि स्वय स्थिर चित्तवाला हो फिर भी उसके समर्गमे चित्तमे उल्लास पाकर आर्याका मन उसी प्रकार द्रवित होता है जैसे आगके समीपमे घी द्रवित होता है ॥३३५॥

गा०—तथा केवल आर्याओका ससर्ग ही त्याज्य नही है, बल्कि जो बाला, कन्या, तरुणी, वृद्धा, सुरूप, कुरूप सभी प्रकारके स्त्रीवर्गमें प्रमाद रहित होता है और कभी भी उनका विश्वास नही करता वही साधु ब्रह्मचर्यको जीवन पर्यन्त पार लगाता है। जो उससे विपरीत होता है अर्थात् स्त्रियोके सम्बन्धमें प्रमादी और विश्वासी होता है वह ब्रह्मचर्यको पार नही कर पाता ॥३३६॥

आर्याके अनुचरणमे दोष बतलाते है—

गा०—जो साधु घर, जमीन आदि समस्त परिग्रहोंसे मुक्त है वह सर्वत्र अपनेको वशमें रखता है। किन्तु वही साधु आर्याका अनुगामी होकर आत्मवशी नही रहता ॥३३७॥

खेलपडिदमप्पाणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं ।
अज्जाणुचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं ॥३३८॥

'**खेलपडिदमप्पाणं**' श्लेष्मपरीतमात्मानं । '**जह ण तरइ मच्छिया विमोचेदुं**' यथा न तरति मक्षिका विमोचयितुम् । '**तह अज्जाणुचरो ण तरइ अप्पाणं विमोचेदुं**' तथा आर्यानुचरो न शक्नोति आत्मानं विमोचयितुम् ॥३३८॥

साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा ।
चम्मेण सह अवेंतो ण य सरिसो जोणिकसिलेसो ॥३३९॥

'**साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा**' साधोर्नास्ति लोके आर्यासदृशी बन्धने उपमा । '**चम्मेण सह अवेंतो**' चर्मणा सह अपगच्छन् । '**ण य सरिसो जोणिगसिलेसो**' नैव सदृशः चर्मकारश्लेषः । न केवलं आर्याजनो दूरत एव परिहार्यः अपि तु अन्यदपि वस्तु ॥३३९॥

अण्णं पि तहा वत्थुं जं जं साधुस्स बंधणं कुणदि ।
तं तं परिहरह तदो होहदि दढसंजदा तुज्झ ॥३४०॥

'**अण्णं पि तहा वत्थुं**' अन्यदपि तथाभूतं वस्तु । '**जं जं साधुस्स बंधणं कुणइ**' यद्यत्साधोर्बन्धनं करोति अस्वतन्त्रतां करोति । '**तं तं परिहरह**' तत्तत्परिहारे उद्योगं कुरुत । '**तदो**' वस्तुत्यागात् । '**होहदि दढसंजदा तुज्झ**' भवतां दृढसंयतता गुणो भवत्येवमिति यावत् । बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तत्त्यागे त्यक्तो भवति ॥३४०॥

पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे ।
हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा ॥३४१॥

'**पासत्थादीपणयं**' पार्श्वस्थादिपञ्चकं पार्श्वस्थ, अवसन्न, ससक्त, कुशीलो, मृगचरित्र इति पञ्च । तान् दूरतो निराकुरुत । अपरित्यागदोषमाह—'**मेलणदोसेण तम्मयदा होइ**' संसर्गदोषेण पार्श्वस्थादिमयता ॥३४१॥

तन्मयता प्रतिपत्तिक्रमाख्यानायाता गाथा—

गा०—जैसे मनुष्यके कफमें फँसी हुई मक्खी उससे अपनेको छुडानेमें असमर्थ होती है। वैसे ही आर्याका अनुगामी साधु उससे अपनेको छुडानेमें असमर्थ होता है ॥३३८॥

गा०—साधुका आर्याके साथ सहवास ऐसा बन्धन है जिसकी कोई उपमा नहीं है। चर्मके साथ ही उतरने वाला वज्रलेप भी उसके समान नहीं है ॥३३९॥

गा०—साधुको केवल आर्याजनोंके संसर्गसे ही दूर नहीं रहना चाहिए किन्तु अन्य भी जो-जो वस्तु साधुको परतन्त्र करती है उस-उस वस्तुको त्यागनेमें तत्पर रहो। उसके त्यागसे तुम्हारा संयम दृढ होगा। बाह्य वस्तुके निमित्तसे होने वाला असंयम उस वस्तुके त्यागसे त्यागा जाता है ॥३४०॥

गा०—पार्श्वस्थ, अवसन्न, ससक्त, कुशील और मृगचरित्र इन पाँच प्रकारके कुमुनियोंसे तुम सदा दूर रहो। उनसे मेल रखनेसे पुरुष उनके समान पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है ॥३४१॥

लज्जं तदो विहिंसं णिव्विसंकदं चेव ।
पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ॥३४२॥

पार्श्वस्थादिसंसर्गं कर्तुं वाञ्छन्नपि '**लज्जं**' लज्जा उपारोहति । '**ततः**' पश्चाद्विहिंस असयमजुगुप्सां करोति । कथमहमेवंविध व्रतभङ्ग करोमि दुरतसंसारपतनहेतुमिति । पश्चाच्चारित्रमोहोदयात्परवश '**पारंभं**' प्रारभते । कृतप्रारम्भो यतिरारम्भपरिग्रहादिषु **णिव्विसंकदं** चेव निर्विशङ्कतामुपैति । '**पियधम्मोवि**' धर्मप्रियोऽपि । '**कमेणारुहंतगो**' क्रमेण प्रतिपद्यमानो लज्जादिकं । '**तम्मओ होदि**' पार्श्वस्थादिरूपो भवति ॥३४२॥

यद्यपि वाक्कायाभ्या न प्रयतते तथापि मानसी पार्श्वस्थादिता प्रतिपद्यत इत्याचष्टे—

संविग्गस्सवि ससग्गीए पीदी तदो य वीसंभो ।
सदि वीसंभे य रदी होइ रदीए वि तम्मयदा ॥३४३॥

'**संविग्गस्स वि**' ससारभीरोरपि यते । '**संसग्गीए**' पार्श्वस्थादिसंसर्गेण । '**पीदी होदि**' प्रीतिर्भवति । '**तदो य**' प्रीते सकाशात् । '**वीसंभो होदि**' विस्रम्भो भवति । '**सदि वीसंभे य रदी**' विस्रम्भे सति रतिर्भवति । पार्श्वस्थादिषु '**रदीए वि तम्मयदा**' रत्या च तन्मयता ॥३४३॥

ससर्गवशाद्गुणदोषौ भवतोऽचेतनेष्वपीति दृष्टान्तेन बोधयति—

जइ भाविज्जइ गंधेण मट्टिया सुरभिणा व इदरेण ।
किह जोएण ण होज्जो परगुणपरिभाविओ पुरिसो ॥३४४॥

'**जदि**' यदि । '**भाविज्जइ**' भाव्यते वास्यते । '**गंधेण**' गन्धेन, '**मट्टिया**' मृत्तिका । '**सुरहिणा व इदरेण**' सुरभिणा च इतरेण वा । '**कह जोएण ण होज्जो**' कथ सबन्धेन न भवेत् । '**परगुणपरिभावओ पुरिसो**' परेषा पार्श्वस्थादीना गुणै परिभावित· पुरुष ॥३४४॥ परगुणग्रहणायाह—

पार्श्वस्थ आदिके संसर्गसे कैसे पार्श्वस्थ आदिरूप हो जाता है यह बतलाते है—

गा०—पार्श्वस्थ आदिका ससर्ग करनेकी इच्छा रखते हुए भी लज्जा करता है। पश्चात् असयमके प्रति ग्लानि करता है कि मै कैसे इस प्रकार व्रत भग करूं, यह तो दुरन्त ससारमे गिराने वाला है। पश्चात् चारित्र मोहके उदयसे परवश होकर असयमका प्रारम्भ करता है। असंयमका प्रारम्भ करके यति आरम्भ परिग्रह आदिमे नि शक होकर प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार धर्मका प्रेमी भी मुनि क्रमसे लज्जा आदि करते हुए पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है ॥३४२॥

यद्यपि उनकी सगतिसे वचन और कायसे तो उनके आचारमे प्रवृत्ति नही करता तथापि मनसे पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है यह कहते है—

गा०—ससारसे भयभीत भी मुनि पार्श्वस्थ आदिके ससर्गसे उनसे प्रीति करने लगता है। प्रीति करनेसे उनके प्रति विश्वासी हो जाता है। उनका विश्वास करनेसे उनका अनुरागी हो जाता है और उनमें अनुराग करनेसे पार्श्वस्थादिमय हो जाता है ॥३४३॥

संसर्गसे अचेतन वस्तुओमे भी गुण और दोष उत्पन्न हो जाते है, यह दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

गा०—यदि सुगन्ध अथवा दुर्गन्धके संसर्गमे मिट्टी भी सुगन्धित अथवा दुर्गन्धयुक्त हो

जो जारिसीय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चेव ।
वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसंगेण ॥३४५॥

दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्ता मृत्तिका छुरिका च । तथा चोक्तं सुरभिणा व इदरेण इति ॥३४५॥

दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि ।
सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण ॥३४६॥

'दुज्जणससग्गीए' दुष्टजनससर्गेण । **'पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि'** विजहाति स्वगुण सुजनोऽपि । **'सीयलभावं जहा उदकं पजहदि'** शैत्य भाव यथा जहात्युदक । **'अग्गिजोएण'** अग्निसम्बन्धेन । साधु. स्वगुण जहात्यनलसम्बद्धजलमिवेति सहजगुणत्यागे दृष्टान्त ॥३४६॥

अशोभनगुणेन संसर्गात् तद्वत् स्वयमप्यशोभनगुणो भवतीति कथयति—

सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंमेलणाए दोसेण ।
माला वि मोल्लगरुया होदि लहू मडयसंसिट्ठा ॥३४७॥

'सुजणो वि होइ लहुओ' सुजनोऽपि भवति लघु । **'दुज्जणसंमेलणाए दोसेण'** दुर्जनगोष्ठीदोषेण । **'मालावि मोल्लगरुया'** मालापि सुमनसा मौल्येन लघ्वी । **'होइ'** भवति । **'मडयसंसिट्ठा'** मृतकस्य सश्लिष्टा ॥३४७॥

अदुष्टोऽपि दुष्ट इति शङ्क्यते यति· पार्श्वस्थादिगोष्ठ्या इत्येतद्दृष्टान्तेनाचष्टे—

दुज्जणससग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण ।
पाणागारे दुद्धं पियंतओ बंभणो चेव ॥३४८॥

दुज्जणसंसग्गीए इति स्पष्टार्था गाथा ॥३४८॥

जाती है तो ससर्गमे पुरुष पार्श्वस्थ आदिके गुणोसे तन्मय क्यो न होगा ? ॥३४४॥

गा०—जो जिस प्रकारकी वस्तुसे मैत्री करता है वह वैसा ही हो जाता है । स्वर्ण आदिके ससर्गसे लोहेकी छुरी भी उसी रूप हो जाती है ॥३४५॥

गा०—दुष्टजनके ससर्गसे सज्जन भी अपना गुण छोड़ देता है । जैसे आगके सम्बन्धसे जल अपने शीतल स्वभावको छोड देता है । आगके सम्बन्धसे जलकी तरह साधु भी अपना गुण छोड़ देता है । यह स्वाभाविक गुणके त्यागमें दृष्टान्त है ॥३४६॥

अशोभनीय गुण वाले मनुष्यके ससर्गसे मनुष्य उसीकी तरह स्वयं भी अशोभनीय गुणवाला हो जाता है, यह कहते है—

गा०—दुर्जनोकी गोष्ठीके दोषसे सज्जन भी अपना बडप्पन खो देता है । फूलोंकी कीमती माला भी मुर्दे पर डालनेसे अपना मूल्य खो देती है ॥३४७॥

पार्श्वस्थ आदिके साथ ससर्ग करनेसे अच्छे भी यतिको लोग बुरा होनेकी शंका करते हैं, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—दुर्जनके संसर्गसे लोग संयमीके भी सदोष होनेकी शंका करते हैं । जैसे मद्यालयमे बैठकर दूध पीने वाले ब्राह्मणके भी मद्यपायी होनेकी शंका करते हैं ॥३४८॥

परदोसगहणलिच्छो परिवादरदो जणो खु उस्सूणं ।
दोसत्थाणं परिहरह तेण जणजपणोगासं ॥३४९॥

'परदोसगहणलिच्छो' परदोषग्रहणेच्छावान् । **'परिवादरदो'** परोक्षे परदोषवचने रत । **'जणो'** जन । **'उस्सूणं खु'** नितरामेव । **तेण दोसत्थाणं परिहरह** तेन दोषस्थानपरिहार कुरुत । **'जणजपणोगासं'** जन-जल्पनावकाश ॥३४९॥

दुर्जनगोष्ठी अनर्थमावहत्यैहलौकिकमित्येतत्कथयति—

अदिसंजदो वि दुज्जणकएण दोसेण पाउणइ दोसं ।
जह घूगकए नोसे हंसो य हओ अपावो वि ॥३५०॥

अदिसजदो वि इत्यनया । अतीव सयतोऽपि दुर्जनकृतेन दोषेण प्राप्नोति । **'दोसं'** अनर्थं । यथोलूक-कृतदोषनिमित्तं अपापोऽपि हसो हत ॥३५०॥

दुर्जनगोष्ठ्या दोषान्तरमाचष्टे—

दुज्जणसंसग्गीए वि भाविदो सुयणमज्झयारम्मि ।
ण रमदि रमदि य दुज्जणमज्झे वेरग्गमवहाय ॥३५१॥

'दुज्जणसंसग्गीए वि भाविदो' दुर्जनगोष्ठ्या भावित । **'सुजणमज्झयारम्मि'** सुजनमध्ये । **'ण रमदि'** न रमते । **'रमदि य दुज्जणमज्झे'** रमते दुर्जनमध्ये । **'वेरग्गमवहाय'** वैराग्य परित्यज्य ॥३५१॥

सुजनसमाश्रयणे गुणख्यापनायोत्तरसूत्राणि—

जहदि य णियय दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयरगुणेण ।
जह मेरुमल्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि ॥३५२॥

'जहदि य' जहाति निजमपि दोष दुर्जन: सुजनमिश्रगुणेन । यथा मेरुमाश्रयणे काको जहाति सहजा-

---

गा०—लोग दूसरोके दोषोंको पकडनेके इच्छुक होते है और परोक्षमे दूसरोके दोषोको कहनेमें रस लेते है । इसलिए जो दोषोका स्थान है उससे अत्यन्त दूर रहो क्योकि; ऐसा न करनेसे लोगोको अपवाद करनेका अवसर मिल जाता है ॥३४९॥

'दुर्जनोकी सगति अनर्थकारी है' यह एक लोक प्रचलित कथाके द्वारा कहते है—

गा०—महान् सयमी भी दुर्जनके द्वारा किए गये दोषसे अनर्थका भागी होता है । जैसे उल्लूके द्वारा किए गये दोषके लिए निर्दोष भी हस मारा गया ॥३५०॥

दुर्जनोंकी संगतिका अन्य दोष कहते है—

गा०—दुर्जनोकी सगतिसे प्रभावित मनुष्यको सज्जनोका सत्सग रुचिकर नही लगता । वह वैराग्यको त्यागकर दुर्जनोंमे ही रमता है ॥३५१॥

सज्जनोके सत्संगमे गुणोका कथन आगेकी गाथाओसे करते हैं—

गा०—सज्जनोकी सगतिके गुणसे दुर्जन अपना दोष भी छोड़ देता है । जैसे सुमेरु पर्वतका

मपि छायामशोभनां तद्वतां । सन्तोऽपि दोषा नश्यन्ति सुजनाश्रयेण ततस्ते समाश्रयणीया इति भावः ॥३५२॥

सुजनसमाश्रयणे अभ्युदयफलं, पूजालाभं कथयति गाथा—

कुसुममगधमवि जहा देवयसेसत्ति कीरदे सीसे ।
तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ ॥३५३॥

कुसुममित्यादिका । यथा सौगन्ध्यरहितमपि कुसुमं देवताशेषेति क्रियते शिरसि तथा साधुजनमध्यवासी दुर्जनोऽपि पूजितो भवति ॥३५३॥

द्रव्यसंयमे वाक्कायनिमित्तास्रवनिरोधरूपे प्रवृत्तिगुण कथयति—

संविग्गाणं मज्झे अप्पियधम्मो वि कायरो वि णरो ।
उज्जमदि करणचरणे भावणभयमाणलज्जाहिं ॥३५४॥

संविग्गाणं मज्झे इत्यनया । ससारभीरूणा मध्ये वसन्नपि धर्मप्रियो न भवति । कातरश्च[1] सुखे तथापि उद्युङ्क्ते पापक्रियानिवृत्तौ भावनया, भयेन, मानेन, लज्जया च ॥३५४॥

ससारभीरोरपि यते सुजनसमाश्रयणेन गुणमभिदधाति—

संविग्गोवि य संविग्गदरो संवेगमज्झयारम्मि ।
होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुरभिदव्वसंजोए ॥३५५॥

संविग्गोऽपि इत्यनया । प्रागपि ससारभीरुर्जन. संविग्नमध्यनिवासी संविग्नतरो भवति । यथा गन्धयुक्ति कृतको गन्ध प्रकृतिसुरभिद्रव्यगन्धसंसर्गे सुरभितरो भवति ॥३५५॥

आश्रय लेने पर कौवा अपनी असुन्दर छविको छोड़ देता है । इसका भाव यह है कि सज्जनोकी सत्सगतिसे विद्यमान भी दोष नष्ट हो जाते है अत सज्जनोका आश्रय लेना चाहिए ॥३५२॥

सज्जनोका आश्रय लेने पर अभ्युदय रूप फल और पूजाका लाभ होता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे सुगन्धसे रहित भी फूल 'यह देवताका आशीर्वाद है' ऐसा मानकर सिर पर धारण किया जाता है उसी प्रकार सुजनोके मध्यमे रहने वाला दुर्जन भी पूजित होता है ॥३५३॥

वचन और कायके निमित्तसे होने वाले आश्रवके रोकनेको द्रव्य सयम कहते है । उस द्रव्य संयममें प्रवृत्तिका लाभ कहते हैं—

गा०—जिसको धर्मसे प्रेम नही है तथा जो दु.खसे डरता है वह मनुष्य भी संसार भीरु यतियोके मध्यमे रहकर भावना, भय, मान और लज्जासे पापके कार्योंसे निवृत्त होनेका उद्योग करता है ॥३५४॥

संसारसे भीत यति भी सज्जनोका सत्सग करनेसे लाभान्वित होता है यह कहते है—

गा०—जो मनुष्य पहलेसे ही ससारसे विरक्त है वह विरागियोके मध्यमे रहकर और भी अधिक विरागी हो जाता है । जैसे बनावटी गन्धसे युक्त द्रव्य स्वभावसे ही सुगन्धित द्रव्यकी गन्धके ससर्गसे और भी अधिक सुगन्धित हो जाता है ॥३५५॥

---

१. श्चदु खे आ० । –श्चासुखे मु० ।

बहव इत्येतावता चारित्रक्षुद्रा न भवद्भि. समाश्रयणीया' एक इति वा न सुगुणः परिहार्य इत्येतदाचष्टे—

वासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं खु एक्को वि ।
जं संसिदस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वड्ढंति ॥३५६॥

'पासत्थसदसहस्सादो वि' पार्श्वस्थग्रहणं चारित्रक्षुद्रोपलक्षणार्थं । चारित्रक्षुद्राच्छतसहस्रादपि एकोऽपि सुशीलो वरम् । य सयममाश्रितस्य शील, दर्शन, ज्ञान, चारित्र च वर्द्धते, स भवद्भिराश्रयणीय इति भावार्थ. ॥३५६॥

संजदजणावमाणं पि वरं खु दुज्जणकदादु पूजादो ।
सीलविणासं दुज्जणसंसग्गी कुणदि ण दु इदरं ॥३५७॥

सयता परिभवन्ति माम सुचरित तत पार्श्वस्थादीनेवाश्रयामि इति न चेत कार्यमित्याचष्टे— **'संजदजणावमाणं पि वरं'** सयतजनापमानमपि वर । **'दुज्जणकदादु पूजादो'** दुर्जनकृताया पूजाया । कथ ? **'दुज्जणसंसग्गी सीलविणासं कुणदि'** दुर्जनससर्ग शीलविनाशं करोति । **'न दु इदरं'** न तु इतर । सयतजनावमान तु नैव शीलविनाश करोति ॥३५७॥

प्रस्तुतोपसहारगाथा—

आसयवसेण एवं पुरिसा दोसं गुणं व पावंति ।
तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह ॥३५८॥

'आसयवसेण' आश्रयवशेन । एवमुक्तेन क्रमेण । **'पुरिसा दोसं गुणं व पावंति'** पुरुषा दोष गुण वा प्राप्नुवन्ति । **'तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह'** तस्मात् प्रशस्तगुणमेव आश्रय आश्रयेत् ॥३५८॥

चारित्रमे क्षुद्र यति बहुत भी हों तो आपको उनका सग नही करना चाहिए । और गुणशाली एक हो तो उसकी उपेक्षा नही करना चाहिए यह कहते है—

गा०—पार्श्वस्थ अर्थात् चारित्रमे क्षुद्र यति लाख भी हों तो उनसे एक भी सुशील यति श्रेष्ठ है जो अपने सगीके शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्रको बढाता है । आपको उसीका आश्रय लेना चाहिए । गाथामे आगत 'पार्श्वस्थ' शब्द जो चारित्रमे क्षुद्र है उन सबके उपलक्षणके लिए है ॥३५६॥

गा०—सयमीजन मुझ चारित्रहीनका तिरस्कार करते है अत मै पार्श्वस्थ आदि चारित्रहीन मुनियोके ही पास रहूँ । ऐसा मनमे विचार नही करना चाहिए, क्योकि दुर्जनके द्वारा की गई पूजासे सयमीजनोके द्वारा किया गया अपमान श्रेष्ठ है । इसका कारण यह है कि दुर्जनका ससर्ग शीलका नाशक है किन्तु सयमीजनो द्वारा किया गया अपमान शीलका नाशक नही है ॥३५७॥

प्रस्तुत चर्चाका उपसहार करते है—

गा०—उक्त प्रकारसे अच्छे बुरे आश्रयके कारण पुरुष दोष और गुणको प्राप्त करते है । इसलिए प्रशस्त गुणयुक्त आश्रयका ही आश्रय लेना चाहिए ॥३५८॥

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।
कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स ॥३५९॥

'**पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स**' पथ्य हितं हृदयस्य अनिष्टमपि वदत आत्मीयगणे वसत । '**कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स**' 'कटुकमौषधमिवापि तन्मधुरविपाक भवति । तस्य परस्य अनिष्टेन कथितेन किमस्माक स्वं प्रयोजनम् । किन्न वेत्ति स्वय इति नोपेक्षितव्यम् । परोपकार कार्य एवेति कथयति । तथाहि—तीर्थकृत विनेयजनसबोधनार्थं एव तीर्थविहार कुर्वन्ति । महत्ता नामैव यत्-परोपकाराबद्धपरिकरता । तथा चोक्त—

क्षुद्राः संति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यता ।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणी ॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं बाडवो ।
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये ॥ [ ] ॥३५९॥

इतरेणापि श्रवणयोरनिष्टमपि तद्ग्राह्य इति कथयति—

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणं णरेण घेत्तव्वं ।
पेल्लेदूण वि छूढं बालस्स घदं व तं खु हिदं ॥३६०॥

हृदयस्यानिष्टमपि पथ्य नरेण बुद्धिमता ग्राह्य हित इति चेतो निधाय । '**पेल्लेदूण वि छूढं**' अवष्टम्यापि प्रवेशित घृत बालाना हित भवति यथा तद्वदिति यावत् ॥३६०॥

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि ॥३६१॥

गा०-टी०—अपने गणके वासी साधुको हितकारी किन्तु हृदयको अनिष्ट भी लगनेवाले वचन बोलना चाहिए, क्योकि वे वचन कडुवी औषधीकी तरह उसके लिए मधुर फलदायक होते है। दूसरेको अनिष्टवचन बोलनेसे हमारा अपना क्या प्रयोजन है, क्या वह स्वय नही जानता। ऐसा मान उसकी उपेक्षा नही करना चाहिए। परोपकार करना ही चाहिए। जैसे तीर्थंकर शिष्यजनोंके सम्बोधनके लिए ही विहार करते है। महत्ता नाम इसीका है कि परोपकार करनेमे तत्पर रहना। कहा भी है—

'अपने ही भरण-पोषणमे लगे रहनेवाले क्षुद्रजन तो हजारो है किन्तु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा पुरुष सज्जनोमे अग्रणी विरल ही होता है। बडवानल अपना कभी न भरनेवाला पेट भरनेके लिए समुद्रका जल पीता है। किन्तु मेघ ग्रीष्मसे सतप्त जगत्के सन्तापको दूर करनेके लिए समुद्रका जल पीता है ॥३५९॥

आगे कहते है कि कानोको अप्रिय भी गुरुका वचन ग्रहण करना चाहिए—

गा०—हृदयको अनिष्ट भी वचन गुरुके द्वारा कहे जाने पर मनुष्यको पथ्य रूपसे ग्रहण करना चाहिए। जैसे बच्चेको जबरदस्ती मुँह खोलकर पिलाया गया घी हितकारी होता है उसी तरह वह वचन भी हितकारी होता है ॥३६०॥

'अप्पपसंसं परिहरह' आत्मप्रशंसा त्यजत सदा। **'मा होह'** मा भवत। **'जसविणासयरा'** यशसा विनाशका। सद्भिर्गुणैः प्रख्यातमपि यशो भवता नश्यति आत्मप्रशंसया। **'अप्पाणं थोवंतो'** आत्मानं स्तुवन्। **'तणलहुओ होदि हु जणम्मि'** तृणवल्लघुर्भवति सुजनमध्ये ॥३६१॥

संता वि गुणा कत्थंतयस्स णस्संति कंजिए व सुरा।
सो चेव हवदि दोसा जं सो थोएदि अप्पाणं ॥३६२॥

संता वि विद्यमाना अपि **'कथंतयस्स'** ममैते गुणा इति कथयतः। **'गुणा णस्सति'** गुणा नश्यन्ति। **कंजिएव सुरा** सौवीरेण सुरेव। **'सो चेव हवइ दोसो'** स एव भवति दोषः। **'जं सो थोएदि अप्पाणं'** यदात्मानं स्तौति सः ॥३६२॥

स्वगुणस्तवनाकरणे यदि ते नश्यन्ति तर्हि स्तोतव्याः स्युर्न तथा नश्यन्ति इत्याचष्टे—

संतो हि गुणा अकहिंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति।
अकहिंतस्स वि[1] जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ॥३६३॥

संता विद्यमाना अपि। **'अकहिंतयस्स'** अभाषमाणस्य। **'पुरिसस्स'** पुरुषस्य। **'गुणा ण वि य णस्संति'** नैव नश्यन्ति। यदि न स्वयं स्तौति स्वगुणान्न प्रख्यातिमुपयान्तीत्येतच्च नेति वदति। **'अकहिंतस्स वि'** अस्तुवतोऽपि **'गहवइणो'** ग्रहपतेः आदित्य[2]स्य **'जगविस्सुदो तेजो'** जगति विश्रुतं तेजः ॥३६३॥

आत्मन्यसतां गुणानां उत्पादकं स्तवनमिति[3] च न युज्यत इत्याह—

गा०—अपनी प्रशंसा करना सदाके लिए छोड दो। अपने यशको नष्ट मत करो क्योंकि समीचीन गुणोके कारण फैला हुआ भी आपका यश अपनी प्रशंसा करनेसे नष्ट होता है। जो अपनी प्रशंशा करता है वह सज्जनोके मध्यमे तृणकी तरह लघु होता है ॥३६१॥

गा०—'मेरेमे ये ये गुण है' ऐसा कहने वालेमे विद्यमान भी गुण उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे काँजीके पीनेसे मदिराका नशा नष्ट हो जाता है। वह जो अपनी प्रशंसा करता है यही उसका दोष है ॥३६२॥

आगे कहते है कि अपने गुणोकी प्रशंसा न करनेसे यदि वे गुण नष्ट होते हो तो उनकी प्रशंसा करना उचित है किन्तु वे नष्ट नही होते—

गा०—जो पुरुष अपने गुणोकी प्रशंसा स्वयं नही करता उसके विद्यमान गुण नष्ट नही होते। यदि वह अपने गुणोकी प्रशंसा नही करता तो उसके गुणोकी प्रख्याति नही होती, ऐसी बात नही है। सूर्य अपने गुणोको स्वयं नही कहता। फिर भी उसका प्रताप जगत्‌मे प्रसिद्ध है ॥३६३॥

आगे कहते है कि अपनी प्रशंसा करनेसे अपनेमे अविद्यमान भी गुण प्रकट होते है ऐसा कहना युक्त नही है—

---

१ वि गहवइणो णो जगविस्सदो–आ०। २. त्यस्य णो जग विस्सुदो तेजो न जगति विश्रुत तेज – आ० मु०। ३ ति वचन–आ० मु०।

ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स ।
घंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ॥३६४॥

'**ण य जायंति असंता गुणा**' नैवोत्पद्यन्ते असंतो गुणा । **विकत्थतयस्स** स्तुवत । '**धंति**' नितरा '**महिलायंतो व**' वामलोचनेव आचरन्नपि । '**पंडगो पंडगो चेव**' षढ षढ एव भवति न युवति ॥३६४॥

संतं सगुणं किंत्तिज्जंतं सुजणो जर्णम्मि सोदूण ।
लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा ॥३६५॥

'**संतं सगुणं कित्तिज्जंतं**' विद्यमानमपि स्वगुण कीर्त्यमान । '**सुजणो जणम्मि सोदूण**' साधुजनस्य मध्ये श्रुत्वा । '**लज्जइ**' व्रीडामुपैति । '**किह पुण**' कथ पुन '**सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा**' स्वयमेवात्मनो गुणकीर्तन कुर्यात् ॥३६५॥

स्वगुणासंकीर्तने गुणमाचष्टे—

अविकत्थंतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमुज्झम्मि ।
सो चेव होदि हु गुणो जं अप्पाणं ण थोएइ ॥३६६॥

'**अविकत्थंतो अगुणो वि होइ**' अकीर्तयन् स्वयमगुणोऽपि भवति । '**सगुणो व**' गुणवानिव । '**सुजण-मज्झम्मि**' सुजनमध्ये । परस्परव्याहतमिद वच 'अगुणस्स गुण' इति एतस्यामाशकायामाह—'**सो चेव होदि गुणो**' स एव गुणो भवति । '**जं अप्पाणं ण थोएदि**' यदात्मान न स्तौति । समीचीनज्ञानदर्शनादिगुणाभावा-न्निर्गुणा , आत्मप्रशसाऽकरणगुणेन गुणवानिति भावार्थ ।

यदि सन्ति गुणस्तस्य निकषे सन्ति ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकागन्धः शपथेन विभाव्यते ॥ [ ] ॥३६६॥

वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं हवे तेसिं ।
होदि हु चरिदेण गुणाणकहणमुब्भासणं तेसिं ॥३६७॥

गा०—अपने गुणोंकी प्रशसा करने वाले पुरुषमे अविद्यमान गुण प्रशंसा करनेसे उत्पन्न नही होते । स्त्रीकी तरह खूब हाव-भाव करने पर भी नपुसक नपुसक ही रहता है, युवति नही बन जाता ॥३६४॥

गा०—सज्जन मनुष्योके बीचमे अपने विद्यमान भी गुणकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होता है । तब वह स्वयं ही अपने गुणोकी प्रशसा कैसे कर सकता है ॥३६५॥

अपने गुणोकी प्रशंसा न करनेके गुण कहते हैं—

गा०—अपनी प्रशंसा न करनेवाला स्वय गुणरहित होते हुए भी सज्जनोंके मध्यमे गुणवान्-की तरह होता है । गुणरहितको गुणवान कहना तो परस्पर विरुद्ध है, ऐसी आशका करनेपर कहते हैं—वह जो अपनी प्रशंसा नही करता यही उसका गुण है । भावार्थ यह है कि सम्यग्ज्ञान-दर्शन आदि गुणोंका अभाव होनेसे वह गुणरहित हैं किन्तु अपनी प्रशंसा न करनेके गुणसे गुणवान् है । 'यदि उसमे गुण है तो वे स्वयं कसौटीपर कसे जायेंगे । कस्तूरीकी गन्धके लिए शपथ करना नहीं होता ॥३६६॥

'वायाए जं कहणं' वाचा गुणाना यत्कथनं । **'तं णासणं हवे तेसिं'** तन्नाशनं भवेत्तेषां गुणानां । **'चरिदेहिं गुणाण कहणं'** चरितैरेव गुणानां कथनं **'तेसिमुब्भासणं होइ'** गुणानां प्रकटनं भवति । एतदुक्तं भवति—गुणान्प्रकटयितुकामस्य यद्वाचा कथनं गुणेष्वात्मनः प्रवृत्तिरेव गुणप्रकाशनं इति ।।३६७।।

[1]चरितेन गुणप्रकाशनस्य माहात्म्यं कथयति—

[2]वायाए अकहेंता सुजणे विकतहेंया य चरिदेहिं ।
सगुणे पुरिसाण पुरिसा होंति उवरीव लोगम्मि ।।३६८।।

'वायाए अकहिंता' वाचया अकथयन्तः । **'सुजणे'** साधुजनमध्ये । **'चरिदेहिं विकहिंतगा य'** चरितैः प्रतिपादयन्तः । **'सगुणे'** आत्मीयान्गुणान् । **'पुरिसाण पुरिसा लोगम्मि उवरीव होंति'** पुरुषाणामुपरीव भवन्ति पुरुषा लोके ।।३६८।।

सगुणम्मि जणे सगुणो वि होइ लहुगो णरो विकत्थिंतो ।
सगुणो वा अकहिंतो वायाए होंति अगुणेसु ।।३६९।।

'सगुणम्मि जणे' गुणवति जने । **'सगुणो वि णरो'** गुणवानपि नरः । **'लहुगो होदि'** लघुर्भवति । क ? **'सगुणं णरो विकत्थंतो'** स्वगुणं नरो वाचा निरूपयन् । किमिव **'सगुणो वा'** गुणवानिव । **'वाचा अकत्थेंतो'** वचनेन अप्रकटयन् । **'अगुणेसु'** निर्गुणमध्ये ।।३६९।।

चरिएहिं कत्थमाणो सगुणं सगुणेसु सोभदे सगुणो ।
वायाए विकहिंतो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि ।।३७०।।

'चरिएहिं कत्थमाणो' चरितैरेव प्रकटयन् । किं **'सगुणं'** स्वगुणं । **'सगुणो सोभदे'** गुणवान् जनः शोभते । क्व **'सगुणेसु'** गुणवत्सु । किमिव **'वायाए विकथंतो'** वचसा ब्रुवन् । **'अगुणोव्व'** निर्गुण इव । **'अगुणम्मि'** निर्गुणमध्ये ।।३७०।।

गा०—वचनसे गुणोको कहना उनका नाश करना है। और आचरणसे गुणोका कथन उनको प्रकट करना है। अभिप्राय यह है कि जो गुणोको प्रकट करना चाहता है उसे वचनसे न कहकर गुणोमे अपनी प्रवृत्तिसे ही गुणोका प्रकाशन करना चाहिए ।।३६७।।

अपने आचरणसे गुणोको प्रकट करनेका माहात्म्य कहते है—

गा०—जो वचनसे न कहकर साधुजनके मध्यमे अपने आचरणसे अपने गुणोको कहते है पुरुष लोकमे सब पुरुषोसे ऊपर होते है ।।३६८।।

गा०—गुणवान पुरुषोमे गुणवान भी मनुष्य यदि अपने गुणोको कहता है सो लघु होता है। जैसे निर्गुणोके मध्यमे अपने गुणोको न कहने वाला गुणवान होता है ।।३६९।।

गा०—गुणवानोमे गुणवान मनुष्य अपने गुणको अपने आचरणसे प्रकट करता हुआ ही शोभता है। जैसे निर्गुण मनुष्योमे निर्गुण मनुष्य वचनसे अपने गुणोको कहता हुआ शोभित होता है ।।३७०।।

---

१. नेयं उत्थानिका । —आ० मु० ।

२. 'वायाए अकहिंता सुजणे चरिदेहि कहयगा होंति ।
विकहिंतगा य सगुणे पुरिसा लोगम्मि उवरीव ।।' —आ० मु० ।

सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह ।
अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरू य ॥३७१॥

'**सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह**' आत्मीये गणे परगणे वा परापवादं मा कृथा । '**अच्चासादणविरदा य होह**' अत्यासादनतो विरता भवत । '**सदा वज्जभीरू य**' पापभीरवश्च भवत ॥३७१॥

परनिन्दया दोषमाचष्टे—

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ ।
परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा ॥३७२॥

स्पष्टार्था गाथा ॥३७२॥

परनिन्दा किमर्थं क्रियते गुणित्वे स्थापयितुमात्मानमिति चेत्, तन्निराकरोति—

किच्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ।
सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए ॥३७३॥

'**किच्चा परस्स णिंदं**' परनिन्दा कृत्वा । '**जो अप्पाण ठवेदुमिच्छेज्ज**' य आत्मानं गुणिताया स्थापयितुमिच्छेत् । '**सो इच्छदि**' स वाछति । किं '**आरोग्गं**' नीरोगता । '**परम्मि कडुगोसधे पीदे**' कटुकौषधपायिन्यस्मिन् ॥३७२॥

सत्पुरुषक्रमं व्याचष्टे—

दट्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ।
रक्खइ य सयं दोसंव तयं जणजंपणभएण ॥३७४॥

'**दट्ठूण अण्णदोसं**' अन्यस्य दोषं दृष्ट्वा । '**सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होदि**' सत्पुरुषः स्वयं लज्जामुपैति । '**रक्खइ सयं दोसं व**' स्वदोषमिव च रक्षति । '**जणजंपणभयेण**' जननिन्दाभयेन ॥३७४॥

गा० अपने गणमे अथवा दूसरे गणमे दूसरोकी निन्दा नही करना चाहिये। तथा अति आसादनासे विरत रहो और सदा पापसे डरो ॥३७१॥

पर निन्दाका दोष कहते हैं—

गा०—परनिन्दा आयास, वैर, भय, दुःख, शोक और लघुताको करती है पापरूप है, दुर्भाग्यको लाती है और सज्जनोको अप्रिय है ॥३७२॥

जो कहते है कि अपनेको गुणी कहलानेके लिये परनिन्दा की जाती है उनका निराकरण करते है—

गा०—जो परकी निन्दा करके अपनेको गुणी कहलानेकी इच्छा करता है वह दूसरेके द्वारा कडुवी औषधी पीनेपर अपनी नीरोगता चाहता है। अर्थात् जैसे दूसरेके औषधी पीनेपर आप नीरोग नही हो सकता। वैसे ही दूसरेकी निन्दा करके कोई स्वयं गुणी नही बन सकता ॥३७३॥

गा०—सत्पुरुष दूसरोके दोष देखकर स्वयं लज्जित होता है। लोकापवादके भयसे वह अपनी तरह दूसरोके भी दोषोको छिपाता है ॥३७४॥

अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि ।
उदए व तेल्लबिंदू किह सो जंपिहिदि परदोसं ॥३७५॥

'**अप्पो वि परस्स गुणो**' परस्य गुण स्वल्पोऽपि । '**सप्पुरिसं पप्प**' सत्पुरुषं प्राप्य । '**बहुदरो होइ**' अतिमहान् भवति । '**उदए व तेल्लबिन्दू**' उदके तैलबिन्दुरिव । '**किह सो जंपिहिदि परदोसं**' कथमसौ इत्थभूत. जल्पति परस्य दोषं ॥३७५॥

एसो सव्वसमासो तह जतह जह हवेज्ज सुजणम्मि ।
तुज्झं गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ वि विस्सुदा कित्ती ॥३७६॥

'**एसो सव्वसमासो**' एष सर्वस्योपदेशस्य सक्षेप । '**तह जतह**' तथा यतध्व । '**जह हवेज्ज सुजणम्मि**' यथा भवेत्सुजने । '**तुज्झं गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ वि विस्सुदा कित्ती**' युष्माक गुणैर्जनिता सर्वत्रापि विश्रुता कीर्ति ॥३७६॥

कासौ संयताना कीर्तिरिति शकायामुच्यते—

एस अखडियसीलो बहुस्सुदो य अपरोवतावी य ।
चरणगुणसुट्ठिदोत्तिय धण्णस्स खु घोसणा भमदि ॥३७७॥

'**एस अखंडियसीलो**' एष अखडितसमाधि । '**बहुस्सुदो य**' बहुश्रुतश्च । '**अपरोवतावी य**' अपरोपता[1]-पकारी च । '**चरणगुणसुट्ठिदोत्ति य**' सुचारित्रगुणे सुस्थित इति । '**धण्णस्स खु**' पुण्यवत । '**घोसणा भमइ**'[2] यशो विचरति ॥३७७॥

एवं गुरूपदेश श्रुत्वा गण:—

बाढत्ति भाणिदूणं एदं णो मंगलेत्ति य गणो सो ।
गुरुगुणपरिणदभावो आणंदसुं णिवाणेइ ॥३७८॥

'**बाढत्ति भाणिदूण**' बाढमित्युक्त्वा । '**एद णो मंगलेत्ति य**' एतद्भवता वचन अस्माक मगल नितरा इत्युक्त्वा । '**गुरुगुणपरिणदभावो**' गुरोर्गुणेषु परिणतचित्त । '**आणदंसु णिवाडेइ**' आनन्दाश्रु निपात-

गा०—दूसरेका छोटासा भी गुण सत्पुरुषको पाकर अतिमहान हो जाता है। जैसे तेलकी बूँद पानीमे फैलकर महान हो जाती है। तब वह सत्पुरुष दूसरेके दोषको कैसे कह सकता है ॥३७५॥

गा०—यह समस्त उपदेश का सार है। ऐसा यत्न करो जिससे सज्जनोमे तुम्हारे गुणोसे उत्पन्न हुई कीर्ति सर्वत्र फैले ॥३७६॥

सयमी जनोकी वह कीर्ति क्या है, यह बतलाते है—

गा०—यह साधु अखण्डित समाधिके धारी हैं, बहुश्रुत है, दूसरोको कष्ट नही देते, और चारित्रगुणमे अच्छी तरह स्थित हैं। पुण्यशालीका यह यश सर्वत्र फैलता है ॥३७७॥

गा०—इस प्रकार गुरुका उपदेश सुनकर सघ 'हमे स्वीकार है' ऐसा कहकर आपके ये वचन हमारे लिये अत्यन्त मगल कारक है ऐसा कहता है। तथा गुरुके गुणोमें मन लगाकर

१ ताप इव कारी। —आ०। २ चरइ। —अ० आ०।

यालि ॥३७८॥

भगवं अणुग्गहो मे जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे ।
सारणवारणपडिचोदणाओ धण्णा हु पावेंति ॥३७९॥

'**भगवं अणुग्गहो मे**' भगवन्ननुग्रहोऽस्माकं । '**जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे**' यत्स्वशरीरमिव पालिता वयम् । '**सारणवारणपडिचोयणाओ**' एव कुरुत, [1]मैव कृथा इति शिक्षा । '**धण्णा हु पावेंति**' धन्याः प्राप्नुवन्ति ॥३७९॥

अम्हे वि खमावेमो जं अण्णाणा पमादरागेहिं ।
पडिलोमिदा य आणा हिदोवदेसं करिंताणं ॥३८०॥

'**अम्हे वि खमावेमो**' वयमपि क्षमा ग्राहयाम. । '**अण्णाणा**' अज्ञानात् । '**पमादरागेहिं**' प्रमादाद्रागाच्च । '**जं पडिलोमिदा अम्हे**' भवता प्रतिकूलवृत्तयो यद्वय जाता । '**आणाहिदोवदेसं करंताणं**' आज्ञा हितोपदेश कुर्वताम् ॥३८०॥

सहिदय सकण्णयाओ कदा सचक्खू य लद्धसिद्धिपहा ।
तुज्झ वियोगेण पुणो णट्ठदिसाओ भविस्सामो ॥३८१॥

'**सहिदय सकण्णयाओ**' सहृदया सकर्णकाश्च जाता । '**कदा सचक्खू य**' कृता सलोचना । '**लद्धसिद्धिपहा**' लब्धसिद्धिमार्गा । '**तुज्झ वियोगेण पुणो**' भवद्भ्यो वियोगेन पुनः । '**णट्ठदिसाओ**' नष्टदिक्काः । '**भविस्सामो**' भविष्याम ॥३८१॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ।
पवसंते य मरंते देसा किर सुण्णया होंति ॥३८२॥

'**सव्वजयजीवहिदगे**' सर्वस्मिञ्जगति ये जीवा. तेषा हिते । '**थेरे**' ज्ञानतपोवृद्धे । '**सव्वजग जीव-**

आनन्दके आँसू गिराता है ॥३७८॥

गा०—भगवन् ! आपका हमपर बडा अनुग्रह है। आपने अपने शरीरकी तरह हमारा पालन किया है। तथा 'यह करो' और 'यह मत करो' इत्यादि शिक्षा दी है। भाग्यशाली ही ऐसी शिक्षा प्राप्त करते है ॥३७९॥

गा०—आपकी आज्ञा और हितका उपदेश करनेपर हमने जो अज्ञान प्रमाद और रागवश उसके प्रतिकूल आचरण किया, उसके लिये हम भी आपसे क्षमा माँगते है ॥३८०॥

गा०—आपने हमे हृदय युक्त अर्थात् विचारशील बनाया। हमे सकर्ण बनाया अर्थात् आपके उपदेश सुनकर कानोंका फल प्राप्त किया। आपने हमे आँखे प्रदान की अर्थात् हमे शास्त्र स्वाध्यायमें लगाया। तथा आपके प्रसादसे हमने मोक्षका मार्ग प्राप्त किया। अब आपके वियोगसे हम दिशाहीन हो जायेगे। हमे कोई मार्ग दिखाने वाला नही रहेगा ॥३८१॥

गा०—समस्त जगत्के जीवोका हित करने वाले, ज्ञान और तपसे वृद्ध तथा समस्त जगत्

---

१. मा कुरुत मु० ।

णाथम्मि' सर्वजगतो जीवाना नाथे । **'पवसंते य मरंते'** प्रवास मृतिं वा प्रतिपद्यमाने । **'देसा किर सुण्णया होंति'** देशाः किल शून्या भवन्ति ॥३८२॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ।
पवसंते य मरंते होदि हु देसोंघयारोव्व ॥३८३॥
सीलड्ढगुणड्ढेहिं दु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं ।
पवसंते य मरंते देसा ओखंडिया होंति ॥३८४॥

'सीलड्ढगुणड्ढेहि दु बहुस्सुदेहि अवरोवतावीहि' शीलाढ्यैर्बहुश्रुतैः अपरोपतापिभिः । **'पवसंते य मरंते'** मृतिं प्रवास वा प्रतिपद्यमाने. । **'देसा ओखंडिया होंति'** जनपदा अवखडिता भवन्ति । गतार्थोत्तरा गाथा ॥३८४॥

सव्वस्स दायगाणं समसुहदुक्खाण णिप्पकंपाणं ।
दुक्खं खु विसहिदुं जे चिरप्पवासो वरगुरूणं ॥३८५॥

'सव्वस्स दायगाणं' ज्ञानदर्शनचारित्रतपोदानोद्यताना । **'समसुहदुक्खाण'** सुखदु खयो समानाना । **'णिप्पकंपाणं'** परीषहेभ्यो निश्चलाना । **'वरगुरूणं'** महता गुरूणा । **'चिरप्पवासो'** चिरकालप्रवासो वियोगः । **'दुक्खं खु विसहिदुं जे'** सोढुमतीव दुष्कर ॥३८५॥

एवं परिसमाप्य अनुशासनाधिकारं परगणचर्यां निरूपयति—

एवं आउच्छित्ता सगणं अब्भुज्जदं पविहरंतो ।
आराधणाणिमित्त परगणगमणे मइं कुणदि ॥३८६॥

'एवं आउच्छित्ता' आपृच्छ्य । **'सगणं'** स्वगण । **'अब्भुज्जदं पविहरन्तो'** प्रकर्षेण रत्नत्रये प्रवर्तमान । **'आराहणाणिमित्तं'** आराधनानिमित्त । **'परगणगमणे मइं कुणइ'** परगणगमने मतिं करोति ॥३८६॥

के जीवोंके स्वामीके अन्यत्र चले जानेपर अथवा मरणको प्राप्त होनेपर देश शून्य हो जाते हैं ॥३८२॥

गा०—समस्त जगत्के जीवोके हितकारी, ज्ञान और तपसे वृद्ध तथा सब जगत्के जीवोके स्वामीके अन्यत्र चले जाने या मरणको प्राप्त होनेपर देशमे अन्धकार-सा छा जाता है ॥३८३॥

गा०—शीलसे सम्पन्न और गुणोसे समृद्ध, बहुश्रुत तथा दूसरोको सताप न देने वाले महर्षियोके प्रवासमें जानेपर या मरणको प्राप्त होनेपर सब देश उजाड सा प्रतीत होते है ॥३८४॥

गा०—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपका दान करनेमे तत्पर रहते है, सुख और दु ख मे समभाव रखते हैं तथा परीषहोंसे विचलित नही होते उन महान् गुरुओंके वियोगका दु ख सहना अति कठिन है ॥३८५॥

इस प्रकार अनुशासन अधिकार को समाप्त करके परगणचर्याका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार अपने गण से पूछकर रत्नत्रयमे उत्कृष्ट रूपसे प्रवृत्ति करनेमें तत्पर आचार्य आराधना करनेके लिये दूसरे गणमे जानेका विचार स्थिर करते हैं ॥३८६॥

किमर्थं परगणप्रवेशं करोति इत्याशङ्कायां स्वगणावस्थाने दोषमाचष्टे—

सगणे आणाकोवो फरुसं कलहपरिदावणादी य ।
णिब्भयसिणेहकालुणियझाणविग्घो य असमाघी ॥३८७॥

'**सगणे आणाकोवो**' आत्मीये गणे आज्ञाकोप. । '**फरुसं कलहपरिदावणादी य**' परुषवचन कलहो, दु.स्वादीनि च । '**णिब्भयसिणेहकालुणियझाणविग्घो य**' निर्भयता, स्नेहः कारुण्यं, ध्यानविघ्न । '**असमाही**' असमाधिश्च ॥३८७॥

उड्डाहकरा थेरा कालहिया खुड्डया खरा सेहा ।
आणाकोवं गणिणो करेज्ज तो होज्ज असमाही ॥३८८॥

'**उड्डाहकरा थेरा**' अयश सपादका स्थविरा । '**कालहिया**' कलहकरा । '**खुड्डगा**' क्षुल्लका. । '**खरा सेहा**' परुषा अमार्गज्ञा । '**आणाकोवं गणिणो करेज्ज**' आज्ञाकोप सूरे· कुर्यु । '**तो होज्ज असमाही**' तस्मादाज्ञाकोपाद्भवेदसमाधि ॥३८८॥

स्वगणे स्थविरादिकृतमसमाधिकरमाज्ञाकोपं दर्शयति—

परगणवासी य पुणो अव्वावारो गणी हवदि तेसु ।
णत्थि य असमाहाणं आणाकोवम्मि वि कदम्मि ॥३८९॥

परगणेऽप्यमी सन्त्येव स्थविरादयस्तत्राप्यसमाधान स्यादेवास्येति शङ्का निरस्यति । '**परगणवासी य**' य. परगणे वसति गणी सो । '**अव्वावारो**'ऽव्यापार तेषु शिक्षाव्यापाररहित । तेन आज्ञाकोपो न विद्यते

किसलिये दूसरे गणमे जाते है? ऐसी आशका होने पर अपने गणमे रहनेके दोष कहते हैं—

गा०—अपने गणमे रहनेपर आज्ञाकोप, कठोर वचन, कलह, दुख आदि, निर्भयता, स्नेह, करुणा, ध्यानमे विघ्न और असमाधि ये नौ दोष होते हैं।

विशेषार्थ—अपने सघमे रहने पर किसी को आज्ञा दे और वह न माने तो परिणामोंमे क्रोधभाव हो जाय। जो कोई गलती करे तो उसे अपना जान कठोर वचन बोला जाय। किसीको हितकी प्रेरणा करे और वह न माने तो कलह पैदा हो जाय। किसीको दोष करते देखकर मनमे सताप पैदा हो सकता है। रोगवश अपने ही परिणाम बिगड जायें तो किसीका भय न होनेसे अयोग्य आचरण भी कर सकता है। मरते समय परिचित साधुओमे स्नेह भाव आ सकता है। या किसी को दुःखी देखकर करुणा भाव हो सकता है। ध्यानमे बाधा पड सकती है और समाधि नही बन सकती। ये दोष अपने गणमे रहकर समाधि करनेमे हैं ॥३८७॥

गा०—तथा अपने गणमे ही रहे तो किसी भी बातको लेकर वृद्ध मुनि अपयश कर सकते हैं। किसीको शिक्षा देनेपर क्षुद्र अज्ञानी कलह करते हैं। मार्गको नही जानने वाले और कठोर स्वभाववाले मुनि आचार्यकी आज्ञा न माने तो आचार्यको कोप उत्पन्न होनेसे समाधि बिगड जाती है ॥३८८॥

गा०—दूसरे गणमें भी ये वृद्ध मुनि आदि होते ही है, अत· वहाँ भी उनकी असमाधि हो सकती है, इस शंका को दूर करते है—जो आचार्य अपना गण त्यागकर दूसरे गणमे रहता है उसे

आज्ञाभङ्गो नास्तीत्यर्थ । '**णत्थि य असमाधाणं**' नास्ति च असमाधि । '**आण कोवम्मि वि कदम्मि**' आज्ञा-भङ्गे कृतेऽपि ममानुपकारिणो वचनमिमे किमर्थ कुर्वन्ति इति चेत प्रणिधानात् ॥३८९॥

आज्ञाकोपदोषं अभिधाय द्वितीय व्याचष्टे—

खुड्डे थेरे सेहे असंवुडे दट्ठूण कुणइ वा परुसं ।
ममिकारेण भणेज्जो भणिज्ज वा तेहिं परुसेण ॥३९०॥

'**खुड्डे थेरे सेहे**' क्षुल्लकान्स्थविरानमार्गज्ञाश्च । '**असवुडे**' असवृतान् असयतान् । '**दिट्ठूण**' दृष्ट्वा । '**कुणदि वा परुसं**' करोति वा परुष । '**ममिकारेण भणेज्जो**' ममत्वेन वदेद्वा परुष । '**भणिज्ज वा तेहिं परुसेण**' भण्येत वा गणी तै परुष वच ॥३९०॥

कलहं पूर्वार्द्धेन व्याचष्टे—

पडिचोदणासहणदाए होज्ज गणिणो वि तेहि सह कलहो ।
परिदावणादिदोसा य होज्ज गणिणो व तेसिं वा ॥३९१॥

'**पडिचोवणासहणाबाए**' गुरुशिक्षासहनेन । '**होज्ज कलहो तेहिं गणिणो वि**' भवेत्कलहस्तै क्षुल्लकादिभि सह गणिन । '**परिदावणादिदोसा होज्ज**' दु खादिदोषा भवेयु । '**गणिणो व तेसिं च**' गणिनस्तेषा क्षुल्लकादीना वा कलह ॥३९१॥

कलहपरिदावणादीय इत्येतत्सूत्रपद प्रकारान्तरेणापि व्याचष्टे—

कलहपरिदावणादी दोसे व अमाउले करतेसु ।
गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी ॥३९२॥

'**कलहपरिदावणादी दोसे व**' कलह परितापादिदोष वा । '**अमाकुले करंतेसु**' गणेन सह कुर्वत्सु क्षुल्लकादिषु । '**गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी**' गणिनो भवेन्ममतादोषेण असमाधि ॥३९२॥

वहाँ शिक्षा आदि देनेका काम नही रहता । इससे वहाँ आज्ञा भगका प्रश्न नही रहता । आज्ञा भग होने पर भी वह मनमे विचारता है कि मैने इनका कोई उपकार नो किया नही, तब ये मेरी आज्ञाका पालन क्यो करेगे ? अत. आज्ञा भग होने पर भी असमाधि नही होती ॥३८९॥

आज्ञाकोप दोषको कहकर दूसरे दोषको कहते है—

गा०—गुणोसे हीन क्षुद्र मुनियो, तपमे वृद्ध स्थविरो और रत्नत्रय रूप मार्गको न जानने वालोको असयमरूप प्रवृत्ति करते हुए देखकर 'ये हमारे शिष्य है, सघके है' इस प्रकारके ममत्व भावसे उनके प्रति कठोर वचन कहा जाये अथवा वे क्षुद्र आदि उन्हे कठोर वचन कहे, यह दूसरा दोष है ॥३९०॥

पूर्वार्द्धसे कलह दोप कहते है—

गा०—गुरुकी शिक्षाको सहन न करनेसे आचार्यकी भी उन क्षुद्र आदिके साथ कलह हो सकती है । और उससे आचार्यको अथवा उन क्षुद्र आदि मुनियोको दु ख आदि दोष होते है ॥३९१॥

'कलहपरिदावणीदीय' इस गाथाका प्रकारान्तरसे कथन करते है—

गा०—वे क्षुद्र आदि गणमे कलह परिताप आदि दोष करे तो उसे देखकर ममत्व भावसे आचार्यकी असमाधि हो सकती है ॥३९२॥

परितावणादि इत्येतत्सूत्रपद अन्यथा व्याचष्टे—

रोगादंकादीहिं य सगणे परिदावणादिपत्तेसु ।
गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाही वा सिणेहो वा ॥३९३॥

'**रोगातंकादीहिं य**' अल्पैर्महद्भिर्व्याध्यादिभि । '**परिदावणादिपत्तेसु**' परितापनादिप्राप्तेषु । '**सगणे**' आत्मीयशिष्यवर्गे । '**गणिणो हवेज्ज दुःक्खं**' आचार्यस्य भवेद्दुःख । '**असमाही वा सिणेहो वा**' असमाधिर्वा स्नेहो वा ॥३९३॥

तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि सगणम्मि णिब्भओ संतो ।
जाएज्ज व सेएज्ज व अकप्पिदं किं पि वीसत्थो ॥३९४॥

'**तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि**' पिपासादिकेषु परीषहेषु सहनीयेष्वपि । '**सगणम्मि णिब्भओ संतो**' स्वगणे निर्भय सन् । '**जाएज्ज व सेवज्ज व**' याचते वा सेवते वा । '**अकप्पियं**' अयोग्यं किञ्चित्प्रत्याख्यातमशन पान वा । '**वीसत्थो**' विश्वस्त भयलज्जाविरहितः ॥३९४॥

सिणेह इत्यस्य व्याख्या—

उढ्ढे सअंकवढ्ढिय बाले अज्जाउ तह अणाहाओ ।
पासंतस्स सिणेहो हवेज्ज अच्चंतियविओगे ॥३९५॥

उड्ढे सअंकवड्ढिय इत्यादिका वृद्धान्यतीन्स्वाकवर्धितबालान् यतीस्तथा आर्यिका , अनाथा. पश्यतः स्नेहो भवेदात्यन्तिके वियोगे ॥३९५॥

कोलुगिण इत्येतद्व्याचष्टे—

खुड्डा य खुड्डियाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुणियं ।
तो होज्ज ज्झाणविग्घो असमाधी वा गणधरस्स ॥३९६॥

'परितावणादि' इस गाथा पदको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—

गा०—अपने शिष्य वर्गके छोटी बडी व्याधियोसे पीडित होने पर आचार्यको दुःख हो सकता है । अथवा स्नेह पैदा हो सकता है और उससे समाधिकी हानि हो सकती है ॥३९३॥

गा०—अपने गणमे रहकर समाधि करने पर प्यास आदि की परीषह सहने योग्य होने पर भी निर्भय होकर और भय तथा लज्जा को त्याग अयोग्य की भी याचना अथवा सेवन कर सकता । जो त्याग दिया है खानपान, उसको भी माँग सकता है या उसका सेवन कर सकता है, क्योंकि वहाँ उसे कोई भय नहीं है सब उसीके शिष्यगण हैं ॥३९४॥

स्नेह का कथन करते हैं—

गा०—वृद्ध यतियोंको, जिन्हे बचपनसे अपनी गोदमें बैठाकर पाला है उन बाल यतियोको, आर्यिकाओंको अनाथ होते देखकर मरते समय सर्वदाके लिए वियोग होने पर स्नेह पैदा हो सकता है ॥३९५॥

'कोलुगिण' पदका व्याख्या न करते है—

'**खुड्डा य खुड्डियाओ**' क्षुल्लका, क्षुल्लिक्य: आर्या कुर्युरारटन। ततो ध्यानविघ्नोऽसमाधिर्वा गणधरस्य भवतीति ॥३९६॥

कारुण्य विवृणोति—

भत्ते वा पाणे वा सुस्सूसाए व सिस्सवग्गम्मि ।
कुव्वंतम्मि पमादं असमाधी होज्ज गणवदिणो ॥३९७॥

'**भत्ते वा पाणे वा**' भक्ते पाने वा शुश्रूषाया वा प्रमाद शिष्यवर्गे कुर्वति गणपतेरसमाधिर्भवति ॥३९७॥

एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंति सगणवासिस्स ।
भिक्खुस्स वि तारिसयस्स होंति पाएण ते दोसा ॥३९८॥

'**एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंदि**' एते दोषा विशेषतो भवन्ति स्वगणे वसत । '**भिक्खुस्स वि तारिसयस्स**' भिक्षोरपि तादृशस्स उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वा भवन्ति प्रायेण ते दोषा ॥३९८॥

एदे सव्वे दोसा ण होंति परगणणिवासिणो गणिणो ।
तम्हा सगणं पयहिय वच्चदि सो परगणं समाधीए ॥३९९॥

'**एदे सव्वे दोसा ण होंदि**' एते सर्वे दोषा न भवन्ति। '**परगणणिवासिणो गणिणो**' परगणनिवासिनो गणधरस्य। तस्मात्स्वगण परित्यज्य व्रजति परगण समाधये ॥३९९॥

संते सगणे अम्हं रोचेदूणागदो गणमिमोत्ति ।
सव्वादरसत्तीए भत्तीए वट्टइ गणो से ॥४००॥

'**सते सगणं**' सत्यपि स्वगणे अस्मद्गणे जातरुचिरागतो गणमिममिति सर्वादरेण भक्त्या च गणो वर्तते ॥४००॥

गा०—क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएँ अर्थात् बालमुनि और आर्यिका भी गुरुका वियोग होते देख रो पडते हैं तो आचार्यके ध्यानमे विघ्न और असमाधि होती है ॥३९६॥

गा०—खानपान और सेवा टहलमे शिष्यवर्गके प्रमाद करने पर आचार्यकी असमाधि हो सकती है। अर्थात् आचार्यको यह विकल्प पैदा हो सकता है कि हमने इनका उपकार किया और यह हमारी सेवा भी नही करते। इससे ध्यानमे विघात होनेसे समाधि बिगड सकती है ॥३९७॥

गा०—ये दोष विशेष रूपसे अपने गणमे रहकर समाधि करनेवाले आचार्यके होते हैं। अन्य भी जो भिक्षु उपाध्याय या प्रवर्तक अपने गणमे रहकर समाधि मरण करते हैं उनके भी प्राय: ये दोष होते है ॥३९८॥

गा०—ये सब दोष दूसरे गणमे निवास करनेवाले आचार्यके नही होते। इसीलिए वह अपना गण छोड परगणमे समाधिके लिए जाता है ॥३९९॥

गा०—अपने गणके होते हुए यह हमारे गणमे रुचि रखकर यहाँ आया है ऐसा मानकर दूसरा गण पूर्ण आदरके साथ शक्ति और भक्तिसे उसकी सेवामे लगता है ॥४००॥

गीदत्थो चरणत्थो पच्छेदूणागदस्स खवयस्स ।
सव्वादरेण जु णिज्जवगो होदि आयरिओ ॥४०१॥

'**गीदत्थो चरणत्थो**' गृहीतार्थः ज्ञानी चरणस्थः । '**पच्छेदूणागदस्स**' प्रार्थयित्वागतस्य । '**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**सव्वादरेण जुत्तो**' सर्वादरेण युक्तः '**णिज्जवगो होइ आयरिओ**' निर्यापको भवत्याचार्य ॥४०१॥

संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलम्मि तस्स विहरंतो ।
जिणवयणसव्वसारस्स होदि आराधओ तादी ॥४०२॥

'**संविग्गवज्जभीरुस्स**' संसारभीरो, पापकर्मभीरोश्च तस्य गुरो पादमूले वर्तमानो जिनवचनसर्वसारस्य भवत्याराधक । '**तादि**' यति । '**संते सगणे**', '**गीदत्थो**', '**संविग्गवज्जभीरु**' इत्येतत्सूत्रत्रयेण परगणे चर्याया गुणो व्याख्यात । परगणचर्या ॥४०२॥

मार्गणानिरूपणार्थमुत्तरप्रबन्ध —

[1]पंचच्छसत्तसदाणि जोयणाणं तदो य अहियाणि ।
णिज्जावयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥४०३॥

पचच्छसत्तसदाणि पञ्चषट्सप्तयोजनशतानि ततोऽभ्यधिकानि वा गत्वा अन्वेषते निर्यापक । शास्त्रेण-अनुज्ञात समाधिकामो यति ॥४०३॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

एक्कं व दो व तिण्णि य वारसवरिसाणि वा अपरिदंतो ।
[2]णिज्जवयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥४०४॥

गा०—उस प्रार्थना पूर्वक आये हुए क्षपकका निर्यापक आचार्य ज्ञानी, चारित्र निष्ठ तथा उस क्षपकके प्रति पूर्ण आदर भावसे युक्त होता है ॥४०१॥

गा०—संसार और पापकर्मसे डरने वाले उस निर्यापक आचार्यके चरणोंमें विहार करता हुआ वह क्षपक यति समस्त जिनागमके सार रूप आराधनाका आराधक होता है ॥४०२॥

'सते सगणे', 'गीदत्थो', 'सविग्गवज्जभीरु' इन तीन गाथा सूत्रोके द्वारा परगणमे चर्या करनेका गुण कहा है। इस प्रकार परगणमे चर्या करनेका गुण कहा है ॥४०२॥

आगे मार्गणाका कथन करते है—

गा०—समाधिका इच्छुक यति पाँच सौ, छह सौ, सात सौ योजन अथवा उससे अधिक जाकर शास्त्रसम्मत निर्यापकको खोजता है ॥४०३॥

गा०—समाधिका इच्छुक यति एक अथवा दो अथवा तीन आदि बारह वर्ष पर्यन्त खेद-खिन्न न होता हुआ जिनागम सम्मत निर्यापकको खोजता है ॥४०४॥

---

१ पंचच्छ सत्त जोयण सदाणि तत्तोऽहियाणि वा गतुं । णिज्जावगमण्णे सदि समाधिकामो अणुण्णाद—आ० मु० । २ जिणवयणम—आ० मु० ।

निर्यापकान्वेषणार्थं गच्छतः क्रममुदाहरति—

गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झयणपुच्छणाकुसलो ।
थंडिल्लो संभोगिय अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ ।।४०५।।

'**गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झेण पुच्छणाकुसलो**' गच्छेदेकरात्रिभवावग्रहे अध्ययने परप्रश्ने च कुशलः । एकरात्रिभवा भिक्षुप्रतिमा निरूप्यते । उपवासत्रय कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्बहिर्देशे श्मशाने वा प्राङ्मुख, उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा भूत्वा चतुरङ्गुलमात्रपदान्तरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायस्तिष्ठेत् । सुष्ठु प्रणिहितचित्त चतुर्विधोपसर्गसह न चलेन्न पतेत् यावत्सूर्य उदेति । स्वाध्याय कृत्वा गव्यूतिद्वयं गत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्या वा मगल कृत्वा याति एव स्वाध्यायकुशलता । प्रश्नकुशलतोच्यते—चैत्यसयतानार्यिका श्रावकाश्च, बालमध्यमवृद्धाश्च पृष्ट्वा कृतगवेषणो याति इति प्रश्नकुशल । यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थण्डिलान्वेषण कुर्यात् । कायशोधनार्थं सभोगयोग्य, यतिं, सघाटकत्वेन गृह्णीयात् । स्वय वा तस्य सघाटको भवेत् । एवं स्थण्डिलान्वेषण सभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यत्नपर **स्थंडिलसभोगी य** इत्युच्यते । अतरालग्रामनगरादिसन्निवेशस्थयतिगृहिसत्कारसन्मान-प्राघूर्णकभक्तादौ सर्वत्र अप्रतिबद्धत्वात् '**अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ**' इत्युच्यते ।।४०५।।

निर्यापकको खोजनेके लिए जाते हुए क्षपकका क्रम कहते है—

गा०—एक रात्रि प्रतिमामे, अध्ययन मे और दूसरेसे प्रश्न करनेमे कुशल वह क्षपक स्थंडिलसंभोगी और सर्वत्र अप्रतिबद्ध होता है ।।४०५।।

टी०—एक रात्रिक भिक्षु प्रतिमाको कहते है । तीन उपवास करके चतुर्थ रात्रिमे ग्राम-नगर आदिके बाहर वनमें अथवा स्मशानमे पूरब अथवा उत्तर अथवा जिनप्रतिमाकी ओर मुख करके, दोनो पैरोके मध्यमे चार अगुलका अन्तर रखकर, अपनी दृष्टि नाकके अग्रभाग पर रखते हुए शरीरसे ममत्व त्याग कर स्थित होवे । अपने चित्तको अच्छी तरहसे समाहित करते हुए चार प्रकारके उपसर्गको सहकर जब तक सूर्यका उदय न हो तब तक न विचलित हो, न पतित हो । फिर स्वाध्याय करके दो गव्यूतिप्रमाण गमन करके भिक्षाके क्षेत्रकी वसतिमे जाकर ठहरे । जहाँ मार्ग दूर हो वहाँ सूत्रपौरुषी अथवा अर्थपौरुषीमे मंगलाचरण करके गमन करता है । अर्थात् एक रात्रिक भिक्षु प्रतिमाकी समाप्ति पर स्वाध्याय करके भिक्षाके लिए गमन करता है । यदि भिक्षाका स्थान दूर हो तो स्वाध्यायकी स्थापना करके केवल मगलाचरण करके भिक्षा स्थानके लिए गमन करता है यह उसकी स्वाध्याय कुशलता है । आगे प्रश्नकुशलता कहते हैं—जिनालयमे स्थित संयमियो, आर्यिका और श्रावकोसे तथा बाल, प्रौढ और वृद्ध पुरुषोसे भिक्षास्थान ज्ञात करके गमन करता है यह उसकी प्रश्न कुशलता है । जहाँ भिक्षा ग्रहण की वही मलत्यागके लिए स्थंडिल भूमिकी खोज करे । जिस यतिके साथ सामाचारी की जा मकती है ऐसे यतिको सहायक रूपसे ले ले या स्वय उसका सहायक हो जावे । इस प्रकार स्थडिल भूमिकी खोजमें और सामाचारीके योग्य यतिके साथ रहनेमे जो प्रयत्नशील होता है उसे स्थडिल सम्भोगी कहते है । तथा वह क्षपक रास्तेमे आनेवाले ग्रामनगर आदिमे बने स्थानोंमे ठहरे हुए यति, गृहस्थ, उनके सत्कार, सम्मान और अतिथि भोजन आदिमे सर्वत्र अप्रतिबद्ध होता है । उनमें उसकी अनासक्ति

१. संभोगी यतिरित्यु–आ० मु० ।

आलोयणापरिणदो सम्मं संपत्थिदो गुरुसयासं ।
जदि अंतरा हु अमुहो हवेज्ज आराहओ होज्ज ॥४०६॥

'**आलोयणापरिणदो**' रत्नत्रयातिचारान्मनोवाक्कायविकल्पान्मदीयान्गुरौ निवेदयिष्यामीति कृतसकल्प । **सम्मं** आलोचनादोषान्परित्यज्य '**संपत्थिदो**' यातुमुद्यत । '**गुरुसयासं**' गुरुसमीप । '**जदि अंतरा खु**' यद्यन्तराल एव । '**अमुहो हवेज्ज**' पतितजिह्वो भवेत् । '**आराहओ होज्ज**' आराधको भवति ॥४०६॥

आलोचणापरिणदो सम्मं संपच्छिओ गुरुसयासं ।
जदि अंतरम्मि कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥४०७॥

'**आलोचणापरिणदो**' स्वापराधकथनावहितचित्त. गुरुसमीपमागच्छतो यद्यन्तराल एव काल कुर्यात् । '**आराधगो होइ**' आराधको भवति ॥४०७॥

आलोयणापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ।
जदि आयरिओ अमुहो हवेज्ज आराहओ होइ ॥४०८॥

तथा आलोचनापरिणत· गुर्वन्तिक प्रस्थित. आराधको भवति । यद्याचार्यो वक्तुमशक्तो जात ॥४०८॥

आलोयणापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ।
जदि आयरिओ कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥४०९॥

आचार्यकालकरणेऽप्याराधको भवति इति सूत्रार्थ ॥४०९॥

कथ आराधकता तस्य ? न कृता आलोचना नाचरितं गुरूपदिष्ट प्रायश्चित्तमित्यारेकायामाचष्टे—

सल्लं उद्धारदुमणो संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ ।
जं जादि सुद्धिहेदुं सो तेणाराहओ होइ ॥४१०॥

होती है ॥४०५॥

गा०—'मन वचन कायके विकल्प रूप रत्नत्रयमें लगे अतिचारोंको, आलोचनाके दोषोको त्यागकर मै सम्यग् रूपसे गुरुसे निवेदन करूँगा' ऐसा सकल्प करके जो गुरुके समीप जानेके लिए निकला, वह यदि मार्गमे ही अपनी बोलनेकी शक्ति खो बैठे तो भी वह आराधक होता है ॥४०६॥

गा०—मै गुरुके पास जाकर अपने दोषोकी सम्यक् आलोचना करूँगा, यह सकल्प करके जो गुरुके पास जानेके लिए निकला है वह यदि मार्गमे ही मर जाय तो भी आराधक है ॥४०७॥

गा०—आलोचना करनेका संकल्प करके जो गुरुके पास जाने के लिए चला है। यदि आचार्य बोलनेमें असमर्थ हो तो भी वह आराधक है ॥४०८॥

गा०—जो गुरुके सन्मुख अपना अपराध निवेदन करनेके लिए गुरुके पास जानेके लिए निकला है, यदि आचार्य मर जाये तो भी वह आराधक है ॥४०९॥

जिसने गुरुके सन्मुख अपने अपराधकी आलोचना नही की और न गुरुके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त ही किया वह कैसे आराधक होता है ? इस शंकाका समाधान करते है—

गा०-टी०—किये गये अपराधकी आलोचना न करने पर मायाशल्य होता है। और माया-

सल्लं उद्धरिदुमणो कृतापराधाऽऽलोचनाया मायाशल्यं भवति। सति मायाशल्ये न रत्नत्रयशुद्धिरिति मत्वा शल्यमुद्धर्तुमनाः। 'संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ' संसारभीरुता संवेग., शरीरस्याशुचितामसारता, दुःखदातृता चावलोक्य, तथेन्द्रियसुखानामतृप्तिकारिता, तृष्णाभिवृद्धिनिमित्तता च तत्रोद्वेग। तौ संवेगोद्वेगौ, तीव्रा मरणकाले रत्नत्रयाराधना श्रद्धा च यस्य विद्यते स उच्यते संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ इति। अथवा संवेगोद्वेगाभ्यां प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यस्य रत्नत्रयाराधनाया स एव भण्यते। 'जं जादि सुद्धिहेदु' यस्माच्छुद्धिनिमित्तं याति 'सो तेण आराहओ होदि' स तेन आराधको भवति ॥४१०॥

निर्यापकसूर्यन्वेषणार्थं गच्छतो गुणभाचष्टे—

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोघिणिज्झंझा।
अज्जवमद्दवलाघवतुट्ठीपल्हादणं च गुणा ॥४११॥

'आयारजीदकप्पगुणदीवणा' आचारस्य जीदसंज्ञितस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना। एतानि हि शास्त्राणि निरतिचाररत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति। तदर्थमेवान्वेषक प्रयतते। 'अत्तसोधि' आत्मन शुद्धि। णिज्झंझा सक्लेशाभाव.। न हि सक्लेशवानित्थं दूर प्रयातुमीहते। स्वदोषप्रकटनान्माया त्यक्ता भवत्येव, तत एव माननिरासो मार्दवं। शरीरपरित्यागाहितबुद्धितया लाघव। कृतार्थोऽस्मीति तुष्टिर्भवति। प्रस्थितस्य प्रल्हादन हृदयसुख च स्वपरोपकाराभ्या गमित काल, इत उत्तर मदीय एव कार्ये प्रधाने उद्युक्तो भविष्यामि इति चिन्तया ॥४११॥

इत्थं गुर्वन्वेषणार्थमायातं दृष्ट्वा तद्गणवासिना सामाचारक्रमं व्याहरति—

आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठिंति सहसा हु दट्ठूण।
आणासंगहवच्छल्लदाए चरणे य णादुं जे ॥४१२॥

शल्यके होने पर रत्नत्रयमें शुद्धि नही होती। ऐसा मानकर जो शल्यको निकालनेका भाव रखता है। तथा संसारसे भयभीत होनेको संवेग कहते हैं। और शरीरकी अशुचिता, असारता और दु खदायकताको देखकर तथा इन्द्रियजन्य सुखोंको अतृप्ति करनेवाले तथा तृष्णाको बढानेवाले जानकर उनमे विरक्ति होना उद्वेग है। जिसके संवेग और उद्वेग होते है तथा मरणकालमे रत्नत्रयकी तीव्र आराधना और श्रद्धा होती है उसे 'सवेग-उद्वेग-तीव्र श्रद्धावाला' कहते हैं। अथवा संवेग और उद्वेग द्वारा जिसकी रत्नत्रयकी आराधनामे तीव्र श्रद्धा होती है वह सवेग उद्वेग तीव्र श्रद्धावाला होता है। ऐसा वह क्षपक शुद्धिके लिए गुरुके पास जाता है इससे वह आराधक होता हैं ॥४१०॥

गा०-टी०—निर्यापक आचार्यकी खोजमे जाते हुए क्षपकके गुण कहते है—आचार और जीतकल्प (आचार विशेषका प्रतिपादक ग्रन्थ) के गुणोका प्रकाशन होता है। ये शास्त्र निरतिचार रत्नत्रयको ही बतलाते हैं। उसीके लिए क्षपक निर्यापककी खोज करता है। आत्माकी शुद्धि होती है। सक्लेशका अभाव होता है क्योकि जो सक्लेश परिणाम वाला होता है वह इस प्रकार दूर गमन नही करता। तथा गुरुके पास जाकर अपने दोषोंको प्रकट करनेसे मायाचारका त्याग होता ही है। इसीसे मानका निरास मार्दव भी होता है। शरीरको त्यागनेका भाव होनेसे लाघव होता है। मै कृतार्थ हूँ इस प्रकार सन्तोष होता है। 'मैने अपने और परके उपकारमें समय बिताया। अब आगे अपने ही कार्यमें प्रधान रूपसे उद्यत रहूँगा' ऐसे विचारसे हृदयमें सुख होता है। इस प्रकार गुरुके पास जानेके गुण है ॥४११॥

'आएसं' प्राघूर्णकं । ,**एज्जंतं'** आयान्त । **'दट्ठूण'** दृष्ट्वा । **'सहसा अब्भुट्ठिंति'** शीघ्रमभ्युत्थानं कुर्वन्ति यतय· । **'आणासंगहवच्छल्लदाए' अब्भुट्ठेयो समणो सुत्तत्थविसारदो उवासेज्ज'** इति जिनाज्ञासपादनार्थं आगच्छन्तं संग्रहीतुं । वत्सलतया च तस्मिं **'चरणे य णादुज्ज'** चरित्रं समाचारक्रम तदीय ज्ञातु च अभ्युत्थानं कुर्वन्ति । क्वचित्पाठ· "चरणे य णामेदु" इति च चर[1]णावगमनार्थं इति तत्रा[2]ग्राह्यम् ॥४१२॥

आगंतुगवच्छव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहिं ।
अण्णोण्णचरणकरणं जाणणहेदूं परिक्खंति ॥४१३॥

'आगंतुगवच्छव्वा' आगन्तुको वास्तव्याश्च । **'पडिलेहाहिं तु'** दृष्ट्वा । **'अण्णमण्णेहिं'** अन्योन्य । **'अण्णोण्णकरणचरणं'** अन्योन्यस्य चरण करण वा । **'परिक्खन्ति'** परीक्षन्ते । किमर्थं । **'जाणणहेदुं'** ज्ञातुं । समितयो गुप्तयश्चरणशब्देनोच्यन्ते करणमित्यावश्यकानि गृहीतानि । आचार्याणामुपदेशभेदात्सामाचारोऽनेकप्रकारो दुरवगम त ज्ञातु महावस्थानयोग्यो न वायमिति ज्ञातु वा ॥४१३॥

क्व परीक्ष्यन्ते इत्यत्राह—

आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ।
सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥४१४॥

'आवासयठाणादिसु' अवश्यमेव संवरनिर्जरार्थिभि· कर्तव्यानि सामायिकादीनि आवश्यकान्युच्यन्ते तेषा

इस प्रकार गुरुकी खोजमे आये हुए क्षपकको देखकर उस गणके वासी साधुओकी सामाचारीका क्रम कहते हैं—

गा०—अतिथिको आता हुआ देखकर यतिगण शीघ्र खडे हो जाते हैं। जिनागमकी आज्ञाका पालन करनेके लिए, आने वालेको ग्रहण करनेके लिए और वात्सल्य भावके लिए तथा उसका कैसा आचारादि है यह जाननेके लिए वे उठकर खड़े होते हैं। कही पर 'चरणे य णामेदु' पाठ है। उसका अर्थ होता है—'अतिथिके चरणोमें नमन करनेके लिए खड़े होते है। यह यहाँ ग्रहण करने योग्य नही है ॥४१२॥

गा०-टी०—आने वाला मुनि और उस गणके वासी मुनि प्रतिलेखनाके द्वारा देखकर परस्परमें एक दूसरेके चरण और करणको जाननेके लिए परीक्षा करते है। यहाँ चरण शब्दसे समिति और गुप्ति कही है। और करण शब्दसे आवश्यकोका ग्रहण किया है। आचार्योंके उपदेशमे भेद होनेसे साधुओका समाचार अनेक प्रकारका है। इससे वह दुरवगम है। उसका जानना कठिन है उसको जाननेके लिए वे परस्परमें परीक्षा करते हैं। अथवा यह हमारे साथ रहनेके योग्य है अथवा नहीं, यह जाननेके लिए परीक्षा करते हैं ॥४१३॥

कैसे परीक्षा करते हैं, यह कहते हैं—

गा०—आवश्यक स्थान आदिमें, प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, बिहार और भिक्षाग्रहणमें परीक्षा करते हैं ॥४१४॥

टी०—संवर और निर्जराके इच्छुकोंको अवश्य ही करने योग्य सामायिक आदिको आव-

---

१. चरणे व णामेदुं-चरणावनमनार्थं–मूलारा० । २. तत्र ग्राह्यम्–मु० ।

स्थान स्थिति आवश्यकपरिणतिकाल । '**दुओणदं जहाजादं बारसावत्तमेव च । चदुस्सिरं तिसुद्धं**'–(मूलाचार ७।१०४) मित्यादिका क्रिया आदिशब्देन गृहीता । तेषु आवश्यकस्थानादिषु । '**पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे**' प्रतिलेखने चक्षुषा उपकरणेन वा, वचने, उपकरणाना ग्रहणे निक्षेपे, च '**सज्झाए**' स्वाध्याये, '**विहारे**' जंघाविहारे, '**भिक्खग्गहणे**' भिक्षाग्रहणे च '**परिक्खंति**' परीक्षन्ते । किमय सामायिकादीन्यावश्यकानि करोति ? कुर्वन्नपि वा यथाकाल करोति न वा ? किं वा द्रव्यसामायिकादौ प्रवर्तते उत भावसामायिकादौ ? द्रव्यसामायिकादिकं भवति सामायिकादिक पठत , कायेन चोक्ता क्रिया कुर्वत । सावद्ययोगप्रत्याख्याने, तीर्थकृद्गुणानुस्मरणे, आचार्योपाध्यायादीना वा गुणानुस्मृतौ, स्वातिचारनिन्दागर्हयो , प्रत्याख्येयप्रत्याख्याने, शरीरममतानिरासे वा, परिणतिर्भावसामायिकादिक । तत्र प्रवृत्तो न वेति परीक्षा । चक्षुपा पूर्वमिद पतिलेखन योग्य न वेति कि पश्यति न वा । उपकरणेन मृदुना लघुना प्रमार्जन किं करोति न करोति वा । अथवा त्वरित प्रमार्जयति, अवपीडयति, दूरा[1]दस्थानात् पातयति, प्रमार्जनेन विरोधिनो जीवान्मिश्रयति । आहाराभिमुखान्, आहारग्राहिणो गृहीताण्डकान्, स्वनिवासदेशस्थान्, मूर्छामुपगतान्प्रमार्जयति न वेति परीक्षा । वचने परीक्षा—परुष वच , परनिन्दात्मप्रशंसाप्रवृत्त, आरम्भपरिग्रहयो प्रवर्तक, मिथ्यात्वसपादक, मिथ्याज्ञानकारि, व्यलीक, गृहस्थाना वचो वा वदति न वेति । यतो यदादेय यद्वा यत्र निक्षिपति तदुभयप्रमार्जनपूर्वक कि गृह्णाति निक्षिपति वा नेति परीक्षा । कालादिशुद्धि कृत्वा पठति कि वा न, अथवा इम ग्रन्थ पठति,

---

श्यक कहते है । उनका स्थान अर्थात् स्थिति यानी आवश्यक रूप परिणतिका काल । आदि शब्दसे 'दो बार नमस्कार, यथाजात, बारह आवर्त, चार बार सिरका नमन, मन वचन कायकी शुद्धि' इत्यादि क्रिया ग्रहण की है । चक्षु अथवा उपकरणसे प्रतिलेखना करने पर, वार्तालापमे उपकरणोंके ग्रहण और रखनेमे, स्वाध्यायमें, पैदल चलनेमे, और भिक्षा ग्रहणमे परीक्षा करते है कि यह सामायिक आदि करता है या नही ? करता है तो समय पर करता है या नही ? अथवा द्रव्य सामायिक आदि करता है या भाव सामायिक आदि करता है । सामायिक आदि पाठ पढते हुए और शरीरसे उक्त क्रिया करते हुए द्रव्य सामायिक आदि होते है । सावद्य योगका त्याग करनेपर, तीर्थंकरके गुणोका स्मरण करनेपर, अथवा आचार्य उपाध्याय आदिके गुणोका स्मरण करनेपर, अपने अतिचारोकी निन्दा गर्हा करनेपर, त्यागने योग्यका त्याग करनेपर, अथवा शरीरसे ममत्वको दूर करनेपर भाव सामायिक आदि होते है । उसमे प्रवृत्त होता है या नही, यह परीक्षा है । यह प्रतिलेखन योग्य है या नही ? ऐसा आँखोसे पहले देखता है या नही, कोमल हल्के उपकरणसे प्रमार्जन करता है या नही ? अथवा क्या जल्दीमे प्रमार्जन करता है । क्या जीवोको पीडा पहुँचाता है ? क्या दूर स्थानसे उपकरणादि गिराता है ? क्या प्रमार्जनके द्वारा विरोधी जीवोको मिलाता है ? जो जीव आहारमे लगे है, या आहार ग्रहण कर रहे है, जिन्होने मुँहमे अण्ड लिए हुए हैं, जो अपने निवास देशमे स्थित है, मूर्छाको प्राप्त है ऐसे जीवोका प्रमार्जन-रक्षण करता है या नही, यह परीक्षा है । वचन परीक्षा—कठोर वचन, परकी निन्दा अपनी प्रशसा करने वाले वचन, आरम्भ और परिग्रहमें प्रवृत्ति कराने वाले वचन, मिथ्यात्वके सम्पादक वचन, मिथ्याज्ञान कराने वाले वचन, झूठे वचन अथवा गृहस्थोंके योग्य वचन बोलता है क्या ? जहाँसे जो ग्रहण करता है अथवा जहाँ जो रखता है उन दोनोके प्रमार्जन पूर्वक ग्रहण और निक्षेप करता है या नही, यह परीक्षा है । कालादिकी शुद्धि पूर्वक ग्रन्थ पढता है या नही ? अथवा किस ग्रन्थको पढता

---

१ दूरावस्थानात्–आ० । दूरावस्थान्–मु० ।

कथं वास्यार्थं व्याचष्टे । स्वनिवासदेशाद्दूरे हस्तमात्रादिपरिमाणे स्थण्डिले, निर्जन्तुके निश्छिद्रे, समे, अविरोधे मार्गजनेनानवलोक्ये किं स्वशरीरमलं त्यजति उतातो विपरीते इति विहारे परीक्षा । भिक्षाग्रहणे परीक्षा नाम भ्रामर्यां या काञ्चिद्भिक्षां गृह्णाति लब्धामुत नवकोटिपरिशुद्धामिति ॥४१४॥

आगन्तुको यतिर्गुरुमुपाश्रित्य सविनयं संघाटकदानेन भगवन्ननुग्राह्योऽस्मीति विज्ञापना करोति । ततो गणधरेणापि समाचारज्ञो दातव्य सघाटक इति निगदति—

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादव्वो ।
सेज्जा संथारो वि य जइ वि असंभोइओ होइ ॥४१५॥

'आएसस्स तिरत्तं' प्राघूर्णकस्य च त्रिरात्र । **'णियमा संघाडओ दु दादव्वो'** निश्चयेन सघाटको दातव्य एव । **'सेज्जा संथारो वि य'** वसतिः संस्तरश्च दातव्य । **'जदि वि असंभोइओ होइ'** । यद्यप्यपरीक्षित्वात्सहानाचरणीयो भवति । तथापि सघाटको दातव्यो भवति । युक्ताचारश्चेत्सगृह्यते ॥४१५॥

दिनत्रयोत्तरकाल किं कार्यं गुरुणेत्याशङ्कायां वदति—

तेण परं अवियाणिय ण होदि संघाडओ दु दादव्वो ।
सेज्जा संथारो वि य गणिणा अवि जुत्तजोगिस्स ॥४१६॥

'तेण गणिणा' तेन गणिना । **'परं'** दिनत्रयात् । **'अवियाणिय'** अविचार्य । स्वदत्तमघाटं यतिवचनश्रवणोत्तरकाल । तु शब्द एवकारार्थे प्रवर्तते स च दादव्वो इत्यंतस्मात्परतो द्रष्टव्य । न दातव्य एव सघाटक । **'सेज्जा संथारो वा'** वसति सस्तरो वा न दातव्य । जु[1]त्तजोगिस्सवि युक्ताचारस्यापि न

है और कैसे उसका अर्थ करता है ? अपने निवास देशसे दूर, एक हाथ आदि प्रमाण, जन्तुरहित, छिद्ररहित, सम और जिसमे किमीका विरोध नही, रास्ता चलते लोग जिसे देख नहीं सकते ऐसे स्थडिल प्रदेशमे यह अपने शरीर मलको त्यागता है या इससे विपरीतमे त्यागता है यह बिहार-की परीक्षा है। भिक्षाग्रहणमे परीक्षाका मतलब है कि भ्रामरीमें यह जैसी तैसी भिक्षा ग्रहण करता है या नौ कोटिसे शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है।।४१४॥

आने वाला यति गुरुके पास सविनय उपस्थित होकर निवेदन करता है कि भगवान् साहाय्य प्रदान करके मुझपर अनुग्रह करें। उसके पश्चात् आचार्यको भी आचारके ज्ञाता उस आगन्तुक यतिको साहाय्य देना चाहिए। ऐसा कहते है—

गा०—उस आगन्तुक यतिको नियमसे तीन रात तक साहाय्य देना चाहिए। तथा रहनेको वसति और सस्तर देना चाहिए। यद्यपि अभी उसकी परीक्षा नही ली है इससे वह साथमे आचरण करने योग्य नही है फिर भी यदि उसका आचार उचित है तो उसे साहाय्य देना चाहिए ॥४१५॥

गा०—तीन दिनके पश्चात् गुरु क्या करे, यह कहते है—तीन दिनके पश्चात् उस आचार्य-को उस यतिके वचनको सुननेके पश्चात् जो साहाय्य दिया था वह साहाय्य बिना विचारे नही देना चाहिए। 'दु' शब्दका अर्थ एवकार (ही) है और उसे 'दादव्वो' के आगे रखना चाहिए। अतः उसे साहाय्य नही ही देना चाहिए, वसति अथवा सस्तर नही देना चाहिए। उसका आचार उचित भी हो तो भी उसे परीक्षा किये बिना साहाय्य आदि नही देना चाहिए। जब युक्ताचारको

---

१. 'अविजुत्तजोगिस्स'–आ० मु०।

वालब्यः संघाटकादिः परीक्षामन्तरेण किं पुनरितरस्येत्याशयः ॥४१६॥

अविचार्य तेन सहावस्थानेको दोषो येनैवं यत्नः क्रियते इत्यारेकायां दोषमाचष्टे—

उग्गमउप्पाद'णेसणासु सोधी ण विज्जदे तस्स ।
अणगारमणालोइय दोसं संभुज्जमाणस्स ॥४१७॥

'उग्गमउप्पादणेसणासु' उद्गमोत्पादनैषणादोषपरिहारो न विद्यते तस्य गणिनः । 'अणगारं' यतिं । 'अणालोइय दोसं' अनालोचितदोषं । 'संभुज्जमाणस्स' सगृह्णतः । उद्गमादिदोषोपहतमाहारं वसतिं, उपकरणं वा सेवते य यतिः तेन सह संवासात् संवासानुमतिं कुर्वता नानुमतिस्त्यक्ता भवति इति ॥४१७॥

उव्वादो तद्दिवसं विस्सामित्ता गणिम्मुवट्ठादि ।
उद्धरिदुमणोसल्लं विदिए तदिए व दिवसम्मि ॥४१८॥

'उव्वादो' श्रान्तः स्थित्वा । त दिवसं आगतदिनं । 'विस्सामित्ता' विश्राम्य । 'गणिमुवट्ठादि' आचार्यं ढौकते । 'उद्धरिदुमणोसल्लं' उद्धर्तुं मनःशल्यं सातिचारं । 'विदिए तदिए व दिवसम्मि' द्वितीये तृतीये वा दिने । मार्गणापुरस्सरा क्रिया सर्वा मार्गणेत्युपन्यस्ता ॥४१८॥

कीदृग्गुणः सूरिरनेनोपाश्रित इत्याचष्टे—

आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय ।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव ॥४१९॥

'आयारवं च' आचारवान् । 'आधारवं च' आधारवान् । 'ववहारवं च' व्यवहारवान् । 'पकुव्वी०' कर्ता । 'तहेव आयावायविदंसी' तथा आयापायदर्शनोद्यतः । 'उप्पीलगो चेव' अवपीडकः ॥४१९॥

भी नहीं देना चाहिए तब अन्यकी तो बात ही क्या है, यह इसका अभिप्राय है ॥४१६॥

यहाँ कोई शङ्का करता है कि बिना बिचारे उसके साथ रहनेमे क्या दोष है जो इतनी सावधानी करते है, इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जो यति अपने दोषोकी आलोचना नहीं करता, तथा जो उद्गम आदि दोषोसे दूषित आहार, वसति अथवा उपकरणका सेवन करता है, उसके साथ संवास करनेसे उस आचार्यके उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोका परिहार रूप शुद्धि नहीं होगी। यदि वह आचार्य अन्य मुनियोको उसके साथ रहनेकी अनुमति देता है तो भी उसकी अनुमोदनाका भागी होता है ॥४१७॥

गा०—मार्गके श्रमसे थका हुआ वह आगन्तुक मुनि अपने आनेके दिन तो विश्राम लेता है और दूसरे दिन मनमें शल्यकी तरह चुभने वाले दोषो को दूर करनेके लिये आचार्यके समीप जाता है। गुरुकी मार्गणा अर्थात् खोज पूर्वक की जानेवाली सब क्रियाएँ मार्गणा कही जाती है इसलिये यहाँ उनका मार्गणारूपसे कथन किया है ॥४१८॥

गा०—वह आगन्तुक किन गुणोसे युक्त आचार्यका आश्रय लेता है, यह कहते हैं—आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्ता, तथा रत्नत्रयके लाभ और विनाश को दिखाने वाला और अवपीडक ॥४१९॥

---

१. णएस–आ० मु० ।

अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ती ।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥४२०॥

'अपरिस्साई' अपरिस्रावी । **'णिव्वावओ'** निर्वापकः । **'पहिदकित्ती'** प्रथितकीर्तिः । **'णिज्जवण गुणोवेदो'** निर्यापनगुणसमन्वितः । **'एरिसओ होदि आयरिओ'** ईदृग्भवत्याचार्यः ॥४२०॥

आचारवत्त्वव्याख्यानायागता गाथा—

आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं ।
उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम ॥४२१॥

'आयारं पंचविहं' पञ्चप्रकार आचारं । **'चरदि'** विनातिचारं चरति । परं वा निरतिचारे पञ्चविधे आचारे प्रवर्तयति । **'उवदिसदि य आयारं'** उपदिशति च आचारं । **'एसो आयारवं णाम'** एष आचारवान्नाम । एतदुक्त भवति—आचाराङ्गं स्वय वेत्ति ग्रन्थतोऽर्थतश्च, स्वयं पञ्चविधे आचारे प्रवर्तते प्रवर्तयति च । प ाचारवान् इति । पञ्चविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवादितत्त्वश्रद्धानपरिणतिः दर्शनाचारः । हिंसादिनिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । चतुर्विधाहारत्यजनं, न्यूनभोजन, वृत्ते परिसख्यान, रसाना त्यागः, कायसन्तापनं विविक्तावास इत्येवमादिकस्तप सज्ञित आचारः । स्वशक्त्यनिगूहनं तपसि वीर्याचारः । एते पञ्चविधा आचाराः ॥४२१॥

प्रकारान्तरेण आचारवत्त्वं कथयति—

दसविहठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिदो सयायरिओ ।
आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥४२२॥

'दसविहठिदिकप्पे वा' दशविधे स्थितिकल्पे वा । **'हवेज्ज जो सुट्ठिदो सया'** भवेद्यः सुस्थित सदा ।

गा०—अपरिस्रावी, निर्वापक, निर्यापक, प्रसिद्ध कीर्तिशाली और निर्यापन गुणसे युक्त ऐसा आचार्य होता है ॥४२०॥

आगे उक्त गुणोंमेसे आचारवत्त्व गुणका व्याख्यान करते हैं—

गा०—पाँच प्रकारके आचारका जो अतिचार लगाये बिना पालन करता है तथा दूसरों को पाँच प्रकारके आचारके निरतिचार पालनमे लगाता है, और आचारका उपदेश देता है यह आचारवान् नामक गुण है ॥४२१॥

टी०—इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थ रूपसे और अर्थरूपसे स्वय आचारांगको जानता है। स्वय पाँच प्रकारके आचारका पालन करता है और दूसरोंसे पालन कराता है इस तरह पाँच आचारवान् है। पाँच प्रकारके स्वाध्यायमे लगना ज्ञानाचार है, जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानरूप परिणत होना दर्शनाचार है। हिंसादिसे निवृत्ति रूप परिणति चारित्राचार है। चार प्रकारके आहारका त्याग, भूखसे कम भोजन करना, भिक्षाके लिये जाते समय गृह आदिका परिमाण करना, रसोंका त्याग, कायक्लेश, एकान्तमें निवास इत्यादि तप नामक आचार है, 'तपमे अपनी शक्तिको न छिपाना वीर्याचार है। ये पाँच प्रकारके आचार हैं ॥४२१॥

दूसरे प्रकारसे आचारवत्त्वको कहते हैं—

गा०—जो आचार्य सदा दस प्रकारके स्थितिकल्पमें सम्यक् रूपसे स्थित है वह आचार-

'आयरिओ' आचार्य । **'आयारवं खु'** आचारवान् । **'एसो'** एष । **'पवयणमादासु आउत्तो'** प्रवचनमातृकासु समितिषु गुप्तिषु च आयुक्तः ।।४२२।।

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे ।
वदजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ।।४२३।।

'आचेलक्कुद्देसिय' चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलक्यमित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरचेलतापि सैव । तेनाचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । अकिंचनाख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः । परिग्रहार्थो ह्यारम्भप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहस्यासत्यारम्भे कुतोऽसंयमः । तथा सत्येऽपि धर्मे समवस्थितो भवति । परः परिग्रहनिमित्तं व्यलीकं वदति । असति बाह्ये क्षेत्रादिके अभ्यन्तरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य । ततो ब्रुवन्नेवमचेलः सत्यमेव ब्रवीति । लाघवं च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि संपूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति । संगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुरूपोऽहमाढ्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति मार्दवमपि तत्र सन्निहितं । अजिह्मभावस्य स्फुटमात्मीयं भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता च भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगतः शब्दादिविषयेष्वसक्तो भवति ।

वान् है । वह आचार्य प्रवचनकी माता समिति और गुप्तियोमे तत्पर रहता है ।।४२२।।

दस कल्पोका कथन करते है—

गा०—आचेलक्य, औद्देशिकका त्याग, शय्या गृहका त्याग, राजपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा ये दस कल्प है ।।४२३।।

टी०—चेल वस्त्रको कहते है । चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण है । अतः समस्त परिग्रहके त्यागको आचेलक्य कहते है । दस धर्मोमे एक त्याग नामक धर्म है । समस्त परिग्रहसे विरतिको त्याग कहते है वही अचेलता भी है । अतः अचेल यति त्याग नामक धर्ममे प्रवृत्त होता है । जो निष्परिग्रह है वह अकिंचन नामक धर्ममे तत्पर होता है । परिग्रहके लिये ही आरम्भमे प्रवृत्ति होती है । जो परिग्रहका त्याग कर चुका वह आरम्भ क्यो करेगा । अतः उसके असयम कैसे हो सकता है ? तथा जो परिग्रह रहित है वह सत्य धर्ममे भी सम्यक् रूपसे स्थित होता है । क्योकि परिग्रहके निमित्त ही दूसरेसे झूँठ बोलना होता है । बाह्य परिग्रह क्षेत्र आदि और अभ्यन्तर परिग्रह रागादिके अभावमे झूँठ बोलनेका कारण नही है । अतः बोलनेपर अचेल मुनि सत्य ही बोलता है । अचेलके लाघव भी होता है । अचेलके अदत्तका त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योकि परिग्रह की इच्छा होनेपर बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करनेमे प्रवृत्ति होती है । अन्यथा नही होती । तथा रागादिका त्याग होने पर भावोकी विशुद्धि रूप ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त विशुद्ध होता है । परिग्रहके निमित्त से क्रोध होता है । परिग्रहके अभावमे उत्तम क्षमा रहती है । मै सुन्दर हूँ, सम्पन्न हूँ इत्यादि मद अचेलके नही होता अतः उसके मार्दव भी होता है । अचेल अपने भावको विना किसी छल कपट के प्रकट करता है अतः उसके आर्जव धर्म भी होता है, क्योकि मायाके मूल परिग्रहका उसने त्याग किया है । यतः वस्त्र आदि परिग्रहके त्यागमे तत्पर मुनि विराग

ततो विमुक्तेश्च शीतोष्णदशमशकादिपरिश्रमा[1]णामुरोदानात्, निश्चेलतामभ्युपगच्छता तपोऽपि घोरमनुष्ठितं भवति। एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्माख्यान कृत भवति संक्षेपेण।

अथवान्यथा प्रक्रम्यते अचेलतागुणप्रशसा। संयमशुद्धिरेको गुण'। स्वेदरजोमलावलिप्ते चेले तद्योनिकास्तदाश्रयाश्च त्रसा सूक्ष्मा' स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलग्राहिणा। ससक्त वस्त्र तावत्स्थापयतीति चेत्तर्हि हिसा स्यात्। विवेचने च ते म्रियन्ते तत्र [2]ससक्तचेलवतः स्थाने, शयने, निषद्यायां, पाटने, छेदने, बन्धने, वेष्टने, प्रक्षालने, सघट्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवाना बाधेति महानसंयम.। अचेलस्यैवविधासयमाभावात् सयमविशुद्धि.। इन्द्रियविजयो द्वितीय। सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिन्द्रियनियमने अचेलोऽपि ऽयतते। अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवेदिति। कषायाभावश्च गुणोऽचेलताया। स्तेनभयाद्गोमयादिरसेन लेप कुर्वन्निगूहयित्वा कथचिन्माया करोति। उन्मार्गेण वा स्तेनवञ्चना कर्तुं यायात्। गुल्मवल्ल्याद्यन्तर्हितो वा स्यात्। चेलादिर्ममास्तीति मान चोद्वहते। बलादपहरणात्तेन[3] सह कलहं कुर्यात्। लाभाद्वा लोभः प्रवर्तते। इति चेलग्राहिणाममी दोषा। अचेलताया पुनरित्थभूतदोषानुत्पत्तिः ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च। सूचीसूत्रकर्पटादिपरिमार्गणसीवनादिव्याक्षेपेण तयोर्विघ्नो भवति। नि सगस्य तथाभूतव्याक्षेपाभावात्। सूत्रार्थपौरुषीषु निर्विघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना। ग्रन्थत्यागश्च गुण'।

भावको प्राप्त होकर शब्द आदि विषयोमे आसक्त नही होता। तथा परिग्रहसे मुक्त होने से शीत, उष्ण, डास, मच्छर आदि परीषहोको सहता है। अतः वस्त्र त्यागको स्वीकार करनेसे घोर तप भी होता है। इस प्रकार अचेलताके उपदेशसे सक्षेपसे दस प्रकारके धर्मो का कथन होता है।

अथवा अचेलता गुणकी प्रशसा अन्य प्रकारसे कहते है। अचेलतामे सयम की शुद्धि एक गुण है। पसीना, धूलि और मैलसे लिप्त वस्त्रमे उसी योनि वाले और उसके आश्रयसे रहने वाले त्रस जीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव उत्पन्न होते हैं, वस्त्र धारण करनेसे उनको बाधा पहुँचती है। यदि कहोगे कि ऐसे जीवोंसे सबद्ध वस्त्रको अलग कर देंगे तो उनकी हिंसा होगी, क्योकि उन्हे अलग कर देनेसे वे वहाँ मर जायेंगे। जीवोसे संसक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाडने, काटने, बाँधने, वेष्ठित करने, धोने, कूटने, और धूपमे डालने पर जीवोको बाधा होनेसे महान् असयम होता है। जो अचेल है उसके इस प्रकार का असंयम न होनेसे संयम की विशुद्धि होती है। दूसरा गुण है इन्द्रियोको जीतना। जेसे सर्पोसे भरे जंगलमे विद्या मंत्र आदिसे रहित पुरुष दृढ प्रयत्न—खूब सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह भी इन्द्रियोको वशमे करनेका पूरा प्रयत्न करता है। ऐसा न करने पर शरीरमें विकार हुआ तो लज्जित होना पडता है। अचेलता का तीसरा गुण कषाय का अभाव है। चोरोंके डरसे वस्त्रको गोबर आदिके रससे लिप्त करके छिपानेपर कथचित् मायाचार करना होता है अथवा चोरोको धोखा देनेके लिए कुमार्गसे जाना पडता है या झाड झंखाड़मे छिपना होता है। मेरे पास वस्त्र हैं ऐसा अहकार होता है। यदि कोई बलपूर्वक वस्त्र छीने तो उसके साथ कलह करता है। वस्त्रलाभ होनेसे लोभ होता है। इस प्रकार वस्त्र धारण करने वालोके ये दोष है। वस्त्रत्यागकर अचेल होनेपर इस प्रकारके दोष उत्पन्न नही होते और ध्यान तथा स्वाध्यायमे किसी प्रकारका विघ्न नही होता। सुई धागा, वस्त्र आदिकी खोज तथा सीने आदिमे लगनेसे स्वाध्याय और ध्यानमे

१ मा सुरासुरोदीर्णा सोढाश्चोपसर्गा नि—आ० मु०।

२ ससक्ता चे—आ० मु०।

३ णात्स्तेनेन—मु०।

बाह्यचेलादिग्रन्थत्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूलः। यथा तुषनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपाय अतुष धान्यं नियमेन शुद्धयति। भाज्या तु ह्यसतुषस्य शुद्धि.। एवमचेलवति नियमादेव भाज्या सचेले। वीतरागद्वेषता च गुण:। सचेलो हि मनोज्ञे वस्त्रे रक्तो भवति। दुष्यत्यमनोज्ञे। बाह्यद्रव्यालम्बनौ हि रागद्वेषौ तावसति परिग्रहे न भवतः। किं च शरीरे अनादरो गुण शरीरगतादरवशेनैव हि जनोऽसयमे परिग्रहे च वर्तते। अचेलेन तु तदादरस्त्यक्त', वातातपादिबाधासहनात्। स्ववशता च गुण: देशान्तरगमनादौ सहायाप्रतीक्षणात्। पिच्छमात्रं गृहीत्वा हि त्यक्तसकलपरिग्रहः पक्षीव यातीति। सचेलस्तु सहायपरवश चौरभयात् भवति परवशमानसश्च कथं सयमं पालयेत्। चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणोऽचेलतायां। कौपीनादिना प्रच्छादयतो भावशुद्धिर्न ज्ञायते। निश्चेलस्य तु निर्विकारदेहतया स्फुटा विरागता। निर्भयता च गुण। ममेद किमपहरन्ति चौरादय:, किं ताडयन्ति, बध्नन्तीति वा भयमुपैति सचेलो नाचेलो, भयातुरो वा किं न कुर्यात्। सर्वत्र विश्रब्धता च गुण। निष्परिग्रह' न किंचनापि शङ्कते। सचेलस्तु प्रतिमार्गयायिन अन्य वा दृष्ट्वा न तत्र विश्वासं करोति। को वेत्ययं, किं करोति इति। अप्रतिलेखनता च गुण। चतुर्दशविध उपधिं गृह्णता बहुप्रति-लेखनता न तथाचेलस्य। परिकर्मवर्जनं च गुण। उद्वेष्टनं, मोचन, सीवन, बधन, रजन इत्यादिकमनेक परिकर्म

विघ्न होता है। जो नि:सग है उसके इस प्रकारकी बाधा नही होती। मूत्र पौरुषी और अर्थ-पौरुषीमें निर्विघ्नता रहती है तथा स्वाध्याय और ध्यान की भावना होती है।

अचेलतामे एक गुण परिग्रहका त्याग है। बाह्य वस्त्र आदि परिग्रहका त्याग अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागका मूल है। जैसे धानके छिलकेको दूर करना उसके अभ्यन्तर मलको दूर करनेका उपाय है। बिना छिलकेका धान्य नियमसे शुद्ध होता है। किन्तु जिसपर छिलका लगा है उसकी शुद्धि नियमसे नही होती। इसी प्रकार जो अचेल है उसकी अभ्यन्तर शुद्धि नियमसे होती है किन्तु जो सचेल है उसको शुद्धि भाज्य है। अचेलता में रागद्वेषका अभाव एक गुण है जो वस्त्र धारण करता है वह मनको प्रिय सुन्दर वस्त्रसे राग करता है और मनको अप्रिय वस्त्रसे द्वेष करता है। राग और द्वेष बाह्य द्रव्यके अवलम्बनसे होते हैं। परिग्रहके अभावमे राग द्वेष नही होते। तथा शरीरमे अनादर भी अचेलताका गुण है। शरीरमे आदर होनेसे मनुष्य असयम और परिग्रहमे प्रवृत्ति करता है। जो अचेल होता है उसका शरीरमे आदरभाव नही होता। तभी तो वह वायु धूप आदिका कष्ट सहता है। अचेलतामे स्वाधीनता भी एक गुण है क्योंकि देशान्तर में जाने आदिमें सहायकी प्रतीक्षा नही करनी होती। समस्त परिग्रहका त्यागी पीछी मात्र लेकर पक्षी की तरह चल देता है। जो सचेल होता है वह सहायके परवश होता है तथा चोरके भयसे उसका मन भी परवश होता है वह संयमको कैसे पाल सकता है। तथा अचेलतामे चित्तकी विशुद्धिको प्रकट करनेका भी गुण है। लंगोटी वगैरहसे ढाँकनेसे भावशुद्धिका ज्ञान नही होता। किन्तु वस्त्र रहितके शरीरके विकार रहित होनेसे विरागता स्पष्ट दीखती है। अचेलतामे निर्भयता गुण है। चोर आदि मेरा क्या हर लेंगे, क्यों वे मुझे मारेंगे या बाँधेंगे। किन्तु सवस्त्र डरता है और जो डरता है वह क्या नही करता। सर्वत्र विश्वास भी अचेलता का गुण है। जिसके पास कोई परिग्रह नही वह किसी पर भी शंका नहीं करता। किन्तु जो सवस्त्र है वह त। मार्ग मे चलने वाले प्रत्येक जन पर अथवा अन्य किसी को देखकर उस पर विश्वास नही करता। यह कौन है क्या करता है यह शका होती है। अचेलतामे प्रतिलेखनाका न होना भी एक गुण है। चौदह प्रकारकी परिग्रह रखनेवालों को बहुत प्रतिलेखना करना होती है, अचेलको वैसी प्रतिलेखना नही करना पड़ती। परिकर्मका नही होना भी एक गुण अचेलका है। सवस्त्रको लपेटना, छोड़ना,

सचेलस्य । स्वस्य वस्त्रप्रावरणादे. स्वय प्रक्षालनं सीवनं वा कुत्सित कर्म, विभूषा, मूर्च्छा च । लाघवं च गुणः । अचेलोऽल्पोपधि स्थानासनगमनादिकासु क्रियासु वायुवदप्रतिबद्धो लघुर्भवति नेतर । तीर्थकराचरितत्व च गुणः—सहननबलसमग्रा मुक्तिमार्गप्रख्यापनपरा जिना. सर्व एवाचेला भूता भविष्यंतश्च । यथा मेर्वादिपर्वतस्थाः प्रतिमास्तीर्थकरमार्गानुयायिनश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलास्तच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेलत्व । चेलपरिवेष्टिताङ्गो न जिनसदृश । व्युत्सृष्टप्रलम्बभुजो निश्चेलो जिनप्रतिरूपता धत्ते । अनिगूढबलवीर्यता च गुणः । परीषहसहने शक्तोऽपि सचेलो न परीषहान्सहते इति । एवमेतद्गुणावेक्षणादचेलता जिनोपदिष्टा । चेलपरिवेष्टिताङ्ग आत्मान निर्ग्रन्थ यो वदेत्तस्य किमपरे पाषण्डिनो न निर्ग्रन्था ? वयमेव न ते निर्ग्रन्था इति वाङ्मात्र नाद्रियते मध्यस्थैः । इत्थ चेले दोषा अचेलतायां वा अपरिमिता गुणा इति अचेलता स्थितिकल्पत्वेनोक्ता ।

अथैव मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टम् । तथा ह्याचारप्रणिधौ भणित[1]—"**पडिलेहे पात्रकंबलं तु ध्रुवमिति । असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते ।**" आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोकविचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्त[2]—"**पडिलेहणं पादपुछणं, उग्गह, कडासणं, अण्णदरं**

सीना, बाँधना, रगना इत्यादि अनेक परिकर्म करने होते है। अपने वस्त्र, ओढने वगैरह को स्वयं धोना, सीना ये कुत्सित कर्म तथा शरीरको भूषित करना ममत्व आदि परिकर्म करने होते है। लाघव गुण भी अचेलतामे है। अचेलके पास थोडा परिग्रह होता है। उठना बैठना जाना आदि क्रियाओमे वह वायुका तरह बेरोक और लघु होता है, सवस्त्र ऐसा नही होता। तीर्थंकरोंके मार्ग का आचरण करना भी अचेलताका गुण है। सहनन और बलसे पूर्ण तथा मुक्तिके मार्गका उपदेश देनेमे तत्पर सभी तीर्थकर अचेल थे तथा भविष्यमे भी अचेल ही होगे। जैसे मेरु आदि पर्वतो पर विराजमान जिन प्रतिमा और तीर्थंकरोके मार्गके अनुयायी गणधर भी अचेल होते हैं। उनके शिष्य भी उन्ही की तरह अचेल होते है। इस प्रकार अचेलता सिद्ध होती है। जिसका शरीर वस्त्रसे वेष्ठित है वह तीर्थकरके समान नही है। जो दोनो भुजाओंको लटका कर खडा है और वस्त्र रहित है वह जिनके समान रूपका धारी होता है। अपने बल और वीर्यको न छिपाना भी अचेलताका गुण है। सवस्त्र परीषहोको सहनेमें समर्थ होते हुए भी परीषहो को नही सहता। इस प्रकार उक्त गुणोके कारण अचेलता जिनदेवके द्वारा कही गई है। जो अपने शरीरको वस्त्रसे वेष्टित करके अपनेको निर्ग्रन्थ कहता है उसके अनुसार अन्य मतानुयायी साधु निर्ग्रन्थ क्यो नही है। हम ही निर्ग्रन्थ है वे निर्ग्रन्थ नही हैं यह तो कहना मात्र है। मध्यस्थ पुरुष इसे नही मानते। इस प्रकार वस्त्रमे दोष और अचेलतामे अपरिमित गुण होनेसे अचेलताको स्थितिकल्परूपसे कहा है।

यदि आप मानते है कि पूर्व आगमोमें वस्त्र पात्र आदिके ग्रहणका उपदेश है। जैसे आचार प्रणिधिमे कहा है—'पात्र और कबलकी प्रतिलेखना अवश्य करना चाहिये।' यदि पात्रादि नही होते तो उनकी प्रतिलेखना आवश्यक कैसे की जाती। आचारांगका भी दूसरा अध्याय लोक विचय नामक है। उसके पाँचवें उद्देशमें कहा है—'प्रतिलेखना, पैर पूँछना, उग्गह (एक उपकरण),

---

१ प्रतिलिखे-मु०।

२. 'वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुछणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा'।—आचा० २।५।९०।

उवधिं पावेज्ज इति । तथा वत्थेसणाए वुत्त 'तत्थ **एसे हिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं विवियं, तत्थ एसे जुग्गिदे देसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणग तदियं। तत्थ एसे परिस्सहं अणधिहासएस** (अणहिवासए) **तओ वत्थाणि धारेज्ज पडिलीहणं चउत्थं** ।'' तथा पादेसणाए कथित ''**हिरिमणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिकं पादचारित्तए इति**'' । पुनश्चोक्त तत्रैव–''**अलाबुपत्त वा, दारुगपत्त वा मट्टिगपत्त वा अप्पपाणं, अप्पबीज अप्पसरिदं तथा अप्पकार पात्रलाभे सति पडिग्गहिस्सामीति**'' । वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते । भावनाया चोक्त–''**वरिस चीवरधारि तेन परमचेलके तु जिणे**'' इति । तथा सूत्रकृतस्य पुंडरीके अध्याये कथित '**ण कहेज्जो धम्मकह वत्थपत्तादिहेदुमिति** ।

निसेधेप्युक्त—''**कसिणाइ**[3] **वत्थकवलाइ जो भिक्खु पडिग्गहिदि आपज्जदि मासिग लहुग**'' इति । एव सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथ इत्यत्रोच्यते—आर्यिकाणामागमे अनुज्ञात वस्त्र कारणापेक्षया । भिक्षूणा ह्रीमानयोग्य शरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमाननबीजो वा परीषहसहने वा अक्षम स गृह्णाति ।

कटासन (चटाई) इनमेसे कोई एक उपधि पाता है। तथा वस्त्रैषणामे कहा है—'जो लज्जाशील हो वह एक वस्त्र धारण करे, दूसरा प्रतिलेखना। देश विशेषमे दो वस्त्र धारण करे, तीसरा प्रतिलेखना धारण करे। जो परीषह सहनेमे असमर्थ हो वह तीन वस्त्र और चतुर्थ प्रतिलेखना धारण करे।'

तथा पात्रैषणामे कहा है—'जो लज्जाशील आदि है और पादचारी है उसके लिये वस्त्रादि योग्य हैं।' पुन· उसीमे कहा है—

'तूम्बीका पात्र, लकडीका पात्र अथवा मिट्टीका पात्र, पात्रलाभ होनेपर ग्रहण करूँगा जो अल्पबीज आदि हो।

यदि वस्त्र पात्र ग्रहण करने योग्य न होते तो ये सूत्र कैसे होते ? भावनामे कहा है—भगवान् जिनने एक वर्ष तक देव दूष्य वस्त्र धारण किया। उसके पश्चात् अचेलक (निर्वस्त्र) रहे। तथा सूत्र कृतागके पुण्डरीक अध्ययनमे कहा है—'वस्त्र पात्र आदिकी प्राप्तिके लिये धर्मकथा नही कहनी चाहिये।' निशीथ सूत्रमे कहा है—'जो भिक्षु पूर्ण वस्त्र कम्बल ग्रहण करता है वह मासिक लघु प्रायश्चित्त के योग्य है।' इस प्रकार सूत्र ग्रन्थोमे चेलका निर्देश होते हुए अचेलता कैसे सभव है ?

इसका उत्तर देते है—कारणकी अपेक्षा आर्यिकाओको आगममे वस्त्रकी अनुज्ञा है। भिक्षुओमेसे यदि किसीके शरीरका अवयव लज्जा योग्य हो, अथवा लिगके मुंह पर चर्म न हो या अण्डकोष लम्बे हो, अथवा परीषह सहनेमे असमर्थ हो तो वह वस्त्र ग्रहण करता है। आचाराग मे कहा है—

'आयुष्मान्' मैने सुना, भगवान्ने ऐसा कहा। यहाँ सयमके अभिमुख स्त्री पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक सर्वश्रमणागत, एक नो सर्वश्रमणागत। उनमेसे जो सर्वश्रमणागत, स्थिर अग हाथ-पैरवाले तथा सब इन्द्रियोसे पूर्ण होते है उनको एक भी वस्त्र धारण करना योग्य नही है केवल एक पीछी रखते है। तथा कल्प सूत्रमे कहा है—'लज्जाके कारण और शरीरके अगके ग्लानियुक्त होने पर तथा परीषहोंको सहनेमें असमर्थ होने पर वस्त्र धारण करे।'

१· बद्धेसणाए अ० आ०। २· जुग्गिदे दे–मु०।

३ जे भिक्खकसिणाई वत्थाइ धरेइ धरेत वा मातिज्जति ॥—निशीथसू० १।२३।

तथा चोक्तमाचारागे 'सुद मे आउस्सत्तो भगवदा एवमक्खादं । इह खलु सयमाभिमुखा दुविहा इत्थीपुरिसा जदा[1] भवति । त जहा—सव्वसमणागदे णोसमणागदे चेव । तत्थ जे सव्वसमगदे थिरांगहत्थपाणिपादे सव्वंवियसमण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थ धारिउ एव परिहिउ एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति'' । तथा चोक्त कल्पे—'हिरिहेतुक व होइ देहदुगुछति देहे जुग्गिदगे । धारेज्ज सिया वत्थ परिस्सहाणं च ण विहासीति (वसहई)''

द्वितीयमपि सूत्र कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधक आचारे विद्यते—''[2]अह पुण एव जाणेज्ज उपातिकते हेमंतेहि सुपडिवण्णे से अथापडिजुण्णमुवधि पदिट्ठावेज्ज'' इति । हिमसमये शीतबाधासह परिगृह्य चेल तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति कारणापेक्ष ग्रहणमाख्यात । परिजीर्णविशेषोपादानाद्दृढानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोध । प्रक्षालनादिकसस्कारविरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता न तु दृढस्य (स्या) त्यागकथनार्थं । पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति संयमार्थं पात्रग्रहणं सिध्यति इति मन्यसे नैव, अचेलता नाम परिग्रहत्याग पात्र च परिग्रह इति तस्यापि त्याग सिद्ध एवेति । तस्मात्कारणापेक्ष वस्त्रपात्रग्रहण । यदुपकरण गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधि. गृहीतस्य च परिहरणमवश्य वक्तव्यम् । तस्माद्वस्त्र पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्त तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम् । यच्च भावनायामुक्त-वरिस चीवरधारी तेण परमेचलगो जिणोत्ति ।—तदुक्त विप्रतिपत्तिबहुलत्वात् । कथ ? केचिद्वदन्ति 'तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति' । अन्ये 'षण्मासाच्छिन्न तत्कण्टकशाखादिभिरिति' । 'साधिकेन

आचारागमे दूसरा सूत्र भी कारणकी अपेक्षा वस्त्र ग्रहणका साधक है—

'यदि ऐसा जाने हेमन्त वीत गया, ग्रीष्म ऋतु आ गई और वस्त्र जीर्ण नही हुआ तो स्थापित कर दे ।' अर्थात् ठडके समय शीतकी बाधा न सहने पर वस्त्र ग्रहण कर ले । उसके चले जाने पर और ग्रीष्मके आनेपर वस्त्रको कही रख दे । इस प्रकार कारणकी अपेक्षा वस्त्रका ग्रहण कहा है ।

शङ्का—जीर्ण विशेषण देनेसे दृढ वस्त्र हो तो न छोडे ?

समाधान—तब तो अचेलता कथनके साथ विरोध आता है । धोना आदि सस्कार न किये जानेसे वस्त्रको जीर्ण कहा है, मजबूत वस्त्रका त्याग न करनेके लिए नही कहा ।

शङ्का—सूत्रके द्वारा पात्रकी प्रतिष्ठापना कही है । अत सयमके लिए पात्रका ग्रहण सिद्ध होता है ?

समाधान—नही, अचेलताका अर्थ है परिग्रहका त्याग । और पात्र परिग्रह है अत उसका भी त्याग सिद्ध ही है । अतः कारणकी अपेक्षा वस्त्र पात्रका ग्रहण कहा है । और जो उपकरण कारणकी अपेक्षा ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहण ग्रहणकी विधि और गृहीत उपकरणका त्याग अवश्य कहना ही चाहिए । इसलिए बहुतसे (श्वेताम्बरीय) सूत्रोंमे जो अर्थाधिकारकी अपेक्षा वस्त्र पात्रका कथन किया है वह कारण विशेषकी अपेक्षा कहा है—ऐसा ग्रहण करना चाहिये ।

और जो भावनामें कहा है कि 'जिन एक वर्षतक वस्त्रधारी रहे उसके बाद अचेलक रहे ।' उसमें बहुत विवाद हैं । कोई कहते हैं कि उसी दिन वह वस्त्र वीर भगवान्‌के किसी व्यक्तिने ले लिया था । दूसरोका कहना है कि वह वस्त्र छह मासमे काँटे शाखा आदिसे छिन्न हो गया ।

---

१ जादा आ० मु० । २ 'अह पुण एव जाणिज्जा-उवाइक्कते हेमते गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुन्नाइ । वत्थाइ परिट्ठविज्जा'—आचारा० ७।४।२०९ ।

वर्षेण तद्वस्त्रं खंडलकब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति । केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेति । अपरे वदन्ति **'विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे** तदारोपितमिति' । एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्यान्न दृश्यते तत्त्वं । सचेललिङ्ग-**प्रकटनार्थं यदि चेलग्रहणं** जिनस्य कथं तद्विनाश इष्टः । सदा तद्धारयितव्यम् । किं च यदि नश्यतीति ज्ञातं **निरर्थकं तस्य ग्रहणं** । यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति । अपि च चेलप्रज्ञापना वाञ्छिता चेत् ''**आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं**'' इति वचो मिथ्या भवेत् । तथा **नवस्थाने** यदुक्तं ''**यथाहमचेलो तथा होउ पच्छिमो इदि होक्खदित्ति**'' तेनापि विरोधः । किं च जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालः वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, **यदि वस्त्रं** तेषामपि भवेत् । एवं तु युक्तं वक्तुं 'सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्दत्तं वस्त्रं निक्षिप्तं उपसर्गस इति ।

इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु । न हि सचेलं **शीतादयो बाधन्ते** । इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति—

'परिणत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए ।' अचेलपवरे भिक्खू जिणरूवधरे सदा ॥
सचेलगो सुखी भवदि असुखी चावि अचेलगो । अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खू ण चिंतए ॥

कोई कहते है कि एक वर्षसे कुछ अधिक होने पर उस वस्त्रको खडलक नामके ब्राह्मणने ले लिया था। कुछ कहते है कि हवासे वह वस्त्र गिर गया और जिनदेवने उसकी उपेक्षा कर दी। अन्य कहते है कि उस पुरुषने उस वस्त्रको वीर भगवान्के कन्धेपर रख दिया। इस प्रकार बहुत विवाद होनेसे इसमे कुछ तत्त्व दिखाई नही देता। यदि वीर भगवान्ने सवस्त्र वेष प्रकट करनेके लिए वस्त्र ग्रहण किया था तो उसका विनाश इष्ट कैसे हुआ। सदा उस वस्त्रको धारण करना चाहिये था। तथा यह वस्त्र विनष्ट होने वाला है ऐसा उन्हे ज्ञात था तो उसका ग्रहण निरर्थक था। यदि उन्हे यह ज्ञात नही था तो वीर भगवान् अज्ञानी ठहरते है। तथा यदि चेलप्रज्ञापना इष्ट थी तो 'प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करका धर्म अचेल था' यह वचन मिथ्या ठहरता है। तथा नव स्थानमे कहा है—'जैसे मै अचेल हुआ वैसे ही अन्तिम तीर्थङ्कर अचेल होगे।' उससे भी विरोध आता है। तथा अन्य तीर्थङ्करोने भी वस्त्र धारण किया था तो वीर भगवान् की तरह उनका भी वस्त्र त्यागनेके कालका निर्देश क्यों नही है? इसलिए ऐसा कहना युक्त है कि जब वीर भगवान् सर्वस्व त्याग कर ध्यानमे लीन हुए तो किसीने उनके कन्धे पर वस्त्र रख दिया। यह तो उपसर्ग हुआ।

परीषहोका कथन करनेवाले सूत्रोंमे जो शीत, डास-मच्छर, तृणस्पर्श परीषहोंके सहनेका कथन है वह अचेलताको सिद्ध करता है। वस्त्रधारीको शीत आदि बाधा नही पहुँचाते। तथा ये सूत्र भी अचेलताको बतलाते हैं—'वस्त्रोका त्याग कर देने पर भिक्षु पुनः वस्त्र ग्रहण नही करता। सदा भिक्षु अचेल होकर जिनरूपको धारण करता है। भिक्षु ऐसा विचार नही करता कि सवस्त्र सुखी होता है और अवस्त्र दु:खी होता है इसलिए मै वस्त्र धारण करूंगा।' वस्त्र रहित साधुको कभी शीत सताता है तो वह घामकी चिन्ता नही करता, आलस त्याग सहन करता है। मेरे

---

१ 'आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।' बृ, कल्पम् भा० गा० ६३६९।
२ द्वस्त्रं वस्तु नि–आ० मु०।

अचेलग सलूहस्स (स्स लहुअस्स) सीदं भवदि एगदा ।
जातप से विक्खितेज्जो अधिसिज्ज अलाइसो (?) ॥
ण मे णिवारणं अत्थि छाइयं ता ण विज्जदि ।
अहं तावग्गि सेवामि इति भिक्खू ण चिंतए ॥
अचेलयाण लूहस्स सजदस्स तवस्सिणो ।
तणेसु असमाणस्स णं ते होदि विराधिदो ॥
एगेण ताव कप्पेण सवुडंगतिणसित ।
वंसावाए ओ संपसिद्धं किमंगं पुण वीहकप्पेहिं ॥

एतान्युत्तराध्ययने—

आचेलक्को य जो धम्मो जो वाय सणत्तरो ।
देसिदो वड्ढमाणेण पासेण अ महप्पणा ॥
एगधम्मे पवत्ताण दुविधा लिंगकप्पणा ।
उभएसि पदिट्ठाणमह संसयमागदा ॥

इति वचनाच्चरमतीर्थस्यापि अचेलता सिद्धयति ।

णग्गस्स य मुंडस्स य दीहलोमणखस्स य ।
मेहुणादो विरत्तस्स किं विभूसा करिस्सदि ॥

इति दशवैकालिकायामुक्तं । एवमाचेलक्य स्थितिकल्प ।

श्रमणानुद्दिश्य कृत भक्तादिक उद्देसिगमित्युच्यते । तच्च षोडशविध आधाकर्मादिविकल्पेन । तत्परिहारो द्वितीय स्थितिकल्प । तथा चोक्त कल्पे—

सोलसविधमुद्देसं वज्जेदव्वत्ति पुरिमचरिमाणं ।
तित्थगराण तित्थे ठिदिकप्पो होदि विदिओ हु ॥

सेज्जाधरशब्देन त्रयो भण्यन्ते वसतिं य करोति । कृता वा वसतिं परेण भग्ना पतितैकदेशा वा

पास शीत दूर करनेका कोई साधन नहीं है न कोई छाजन ही है । मै आगका सेवन करूँ ऐसा भिक्षु विचार नही करता । जो तपस्वी अचेल होनेसे भारमुक्त है वह सयमकी विराधना नही करता । उत्तराध्ययन सूत्रमे केसी गौतमसे प्रश्न करता है—जो यह वर्धमान भगवान्ने अचेलक धर्म कहा है और भगवान् पार्श्वने 'सान्तरोत्तर' धर्म कहा है । एक ही धर्मके मानने वालोमे दो प्रकारके लिंगकी कल्पनासे मै संशयमे पड़ा हूँ ।' इस कथनसे अन्तिम तीर्थकी भी अचेलता सिद्ध होती है ।

दशवैकालिक सूत्रमे कहा है—नग्न, मुण्डित और दीर्घ नख और रोम वाले तथा मैथुनसे विरक्त साधुको आभूषणोसे क्या प्रयोजन है । इस प्रकार आचेलक्य स्थितिकल्प है ।

२. श्रमणोके उद्देशसे बनाये गये भोजनादिको औद्देशिक कहते हैं । अध.कर्म आदिके भेदसे उसके सोलह प्रकार हैं । उसका त्याग दूसरा स्थितिकल्प है । कल्पमे कहा है—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरोंके तीर्थमे सोलह प्रकारका उद्दिष्ट छोडने योग्य है । यह दूसरा स्थितिकल्प है।

३ 'शय्याधर' शब्दसे तीन कहे जाते हैं—जो वसति बनाता है, दूसरेके द्वारा बनाई गई

सस्करोति, यदि वा न करोति न संस्कारयति केवलं प्रयच्छत्यत्रास्वेति । एतेषा पिण्डो नामाहार , उपकरणं वा प्रतिलेखनादिक शय्याधरपिण्डस्तस्य परिहरणं तृतीय स्थितिकल्प. । सति शय्याधरपिण्डग्रहेण[1] प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारादिक । [2]धर्मफललोभाद्यो वा आहार दातुमक्षमो दरिद्रो लुब्धो वा न चासौ वसतिं प्रयच्छेत् । सति वसती आहारादाने लोको मा निन्दति-स्थिता वसतावस्य[3] यतयो न चानेन मन्दभाग्येन तेषा आहारो दत्त इति । यते. स्नेह. स्यादाहार वसतिं च प्रयच्छति तस्मिन् बहूपकारितया । तत्पिण्डाग्रहणे तु नोक्तदोषसस्पर्श. ।

राजपिण्डाग्रहण चतुर्थः स्थितिकल्पः । राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाता । राजते प्रकृति रञ्जयति इति वा[4] राजा राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते । तस्य पिण्ड तत्स्वामिको राजपिण्ड. । स त्रिविधो भवति । आहार., अनाहार , उपधिरिति । तत्राहारश्चतुर्विधो अशनादिभेदेन । तृणफलकपीठादि अनाहार , उपधिर्नाम प्रतिलेखन वस्त्र पात्रं वा । एवभूतस्य राजपिण्डस्य ग्रहणे को दोष. इति चेत् अत्रोच्यते–द्विविधा दोषा आत्म-समुत्था परकृताश्चेति । द्विविधा परसमुत्था. मनुजतिर्यक्कृतविकल्पेनेति । तिर्यक्कृता द्विविधा ग्रामारण्यपशु-भेदात् । ते द्विप्रकारा अपि द्विभेदा दुष्टा भद्राश्चेति । हया, गजा, गावो, महिषा, मेण्ढा , श्वानश्च ग्राम्या दुष्टा. ।

वसतिको टूटने पर या उसका एक हिस्सा गिर जाने पर जो उसकी मरम्मत कराता है, जो न करता है न मरम्मत कराता है केवल देता है कि यहाँ ठहरिये । उनका पिण्ड अर्थात् भोजन, उपकरण अथवा प्रतिलेखना आदि शय्याधर पिण्ड कहाता है । उसका त्याग तीसरा स्थितिकल्प है । शय्याधरका पिण्ड ग्रहण करने पर वह धर्मके फलके लोभसे छिपाकर आहार आदिकी योजना कर सकता है । अथवा जो दरिद्र या लोभी होनेसे आहार देनेमे असमर्थ है वह ठहरनेका स्थान नही देगा क्योकि वसतिमे ठहराकर आहार न देने पर लोक मेरी निन्दा करेगे कि इसकी वसतिमे यतिगण ठहरे और इस अभागेने उन्हे आहार नही दिया । तथा आहार और वसति देने वाले पर यतिका स्नेह हो सकता है कि इसने हमारा बहुत उपकार किया है । किन्तु शय्याधरका आहार ग्रहण न करने पर उक्त दोष नही होते । ४ राजपिण्डका ग्रहण न करना चतुर्थ स्थितिकल्प है । राज शब्दसे इक्ष्वाकु आदि कुलमे उत्पन्न हुओका ग्रहण किया जाता है । जो 'राजते' शोभित होता है या जनताका रजन करता है वह राजा है । राजाके समान सम्पत्तिशाली भी राजा कहलाता है । उसका पिण्ड अर्थात् जिस पिण्डका वह स्वामी होता है, वह राजपिण्ड है । उसके तीन भेद है— आहार, अनाहार और उपधि । अशन आदिके भेदसे आहारके चार भेद है । तृणोका फलक, आसन आदि अनाहार है । प्रतिलेखन, वस्त्र पात्रको उपधि कहते हैं ।

शङ्का—इस प्रकारके राजपिण्डके लेनेमे क्या दोष है ?

समाधान—दो प्रकारके दोष है एक आत्मसमुत्थ–स्वय किया, और दूसरा परसमुत्थ । पर-समुत्थके दो भेद है—एक मनुष्यकृत और एक तिर्यञ्चकृत । तिर्यञ्चकृतके दो भेद है—एक ग्रामोण पशुके द्वारा किया गया और एक जगली पशुके द्वारा किया गया । इन दोनो प्रकारोके भी दो भेद है—दुष्टके द्वारा और भद्रके द्वारा किया गया । गाँवके घोडे, हाथी, गाय, भैंस, मेढे, कुत्ते दुष्ट होते है । दुष्टोसे सयमियोका उपघात होता है । भद्र हुए तो संयमीको देखकर भागने पर गिरकर

१ पिंडधग्ग्र-अ० आ० ।

२ फलेभाद्यो वा-अ० । फलेभोद्यो वा-आ० ।

३ वसतावसा यत-अ० । वसत्यवसत्यवसाद्यते-आ० ।

४ वा राज्ञा सदृश अ० ।

दुष्टेभ्य संयतोपघातः। भद्रा पलायमानाः स्वय दुःखिताः पातेन अभिघातेन वा व्रतिनो मारयन्ति वा धावनोल्ल ङ्घनादिपरा प्राणिन । आरण्यकास्तु व्याघ्रक्रव्याद्द्वीपिनो, वानरा वा राजगृहे बन्धनमुक्ता यदि क्षुद्रास्तत आत्म विपत्तिर्भद्राश्चेत्तत्पलायने पूर्वदोष.। मानुषास्तु ईश्वरा तलवरा म्लेच्छा , भटा , प्रेष्या , दासा दास्य , इत्यादिका ।तैराकुलत्वात् दुःप्रवेशन राजगृहं प्रविशन्तं मत्ता , प्रमत्ताः, प्रमुदिताश्च दासादय उपहसन्ति, आक्रोशन्ति वारयन्ति उल्लङ्घयति वा । अवरुद्धा या स्त्रियो मैथुनसज्ञया बाध्यमाना पुत्रार्थिन्यो वा बलात्स्वगृहं प्रवेशयन्ति भोगार्थम् । विप्रकीर्णं रत्नसुवर्णादिक परे गृहीत्वा अत्र संयता आयाता इति दोषमध्यारोपयन्ति । राजा विश्वस्त श्रमणेषु इति श्रमणरूप गृहीत्वागत्य दुष्टा खलीकुर्वन्ति । ततो रुष्टा अविवेकिनः दूषयन्ति श्रमणान्मारयन्ति बध्नन्ति । वा एते परसमुद्भवा दोषा । आत्मसमुद्भवास्तूच्यन्ते । राजकुले आहार न शोधयति अदृष्टमाहृत च गृह्णाति । विकृतिसेवनादिंगालदोष., मन्दभाग्यो वा दृष्ट्वानर्घ्यं रत्नादिक गृह्णीयाद्वामलोचना वा [1]सुरूपा समवलोक्यानुरक्तस्तासु भवेत् । ता विभूतिं, अन्त पुराणि, पण्याङ्गना वा विलोक्य निदान कुर्यात् । इति दोषसभवो यत्र तत्र राजपिण्डग्रहणप्रतिषेधो न सर्वत्र प्रकल्प्यते । ग्लानार्थं[2] राजपिण्डोऽपि दुर्लभ द्रव्य । *अगाढकारणे वा श्रुतस्य व्यवच्छेदो माभूदिति ।*

चरणस्थेनापि विनयो गुरूणा महत्तराणां शुश्रूषा च कर्तव्येति पञ्चम कृतिकर्मसज्ञित स्थितिकल्प ।

या चोट खाकर स्वय दुःखी होते हैं अथवा दौडते हुए व्रतियोंको मारते हैं। जगलके रहने वाले व्याघ्र, सिंह, बन्दर यदि राजाके आँगनमे खुले घूमते हो और क्षुद्र हो तो उनसे अपने पर विपत्ति आ सकती है। यदि भद्र हुए तो यतिको देखकर दौड़ने पर स्वय चोट खा सकते है या यतियोको चोट पहुँचा सकते है। मनुष्य स्वामी, कोतवाल, म्लेच्छ, योद्धा, सेवक दास दासी आदि अनेक है। राजाका घर इन सबसे भरा होनेसे उसमे प्रवेश करना कठिन है। मत्त, प्रमत्त, और हर्षसे उत्फुल्ल दास आदि यतिको देखकर हँसते हैं, चिल्लाते हैं, रोकते हैं, अवज्ञा करते है। कामसे पीडित स्त्रियाँ अथवा पुत्र प्राप्तिकी इच्छुक स्त्रियाँ बलपूर्वक भोगके लिए साधुको अपने घरमें ले जाती है। राजगृहमे पड़े हुए रत्न सुवर्ण आदिको दूसरे ग्रहण करके यह दोष लगा सकते है कि यहाँ साधु आये थे। राजाका श्रमणो पर विश्वास है ऐसा जानकर दुष्ट लोग श्रमणका रूप रखकर दुष्ट काम कर सकते है। तब रुष्ट होकर अविवेकी पुरुष श्रमणोको दोष देते है, उन्हे मारते और बाँधते हैं। ये परसे उत्पन्न हुए दोष है।

अब आत्मासे हुए दोष कहते हैं—राजकुलमें आहारका शोधन नही होता, बिना देखा और छीना हुआ आहार ग्रहण करना होता है। सदोष आहार लेनेसे इगाल दोष होता है। कोई अभागा साधु बहुमूल्य रत्नादि देखकर उठा सकता है अथवा सुन्दर स्त्रियोको देखकर उनपर अनुरक्त हो सकता है। उस विभूति, अन्त.पुर और बाजारू स्त्रियोको देखकर निदान कर सकता है कि मुझे भी ये वस्तुएँ प्राप्त हों। इस प्रकारके दोष जहाँ सभव हो वहाँ राजाका आहार नही लेना चाहिए। सर्वत्र लेनेका निषेध नहीं है। रोगीके लिए राजपिण्ड भी दुर्लभ होता है। अथवा कोई ऐसा कारण उपस्थित हो कि साधुका मरण बिना भोजनके होता हो और साधुके मरनेसे श्रुतका विच्छेद होता हो तो राजपिण्ड ले सकते हैं कि श्रुतका विच्छेद न हो।

५ चारित्रमे स्थित साधुके द्वारा भी महान् गुरुओंकी विनय सेवा करना पाँचवां कृतिकर्म नामक स्थितिकल्प है।

१. वानुरूपा आ० मु०। २. गीतार्थे-आ०।

ज्ञातजीवनिकायस्य दातव्यानि नियमेन व्रतानि इति षष्ठ. स्थितिकल्प. । अचेलताया स्थित उद्दे-शिकराजपिण्डपरिहरणोद्यतः गुरुभक्तिकृद्विनीतो व्रतारोपणार्हो भवति । उक्त च—

आचेलक्के य ठिदो उद्देसादी य परिहरदि दोसे ।
गुरुभत्तिको विणीओ होदी वदाण सया अरिहो ॥ [ ]

इति व्रतदानक्रमोऽयं स्वयमासीनेषु गुरुषु, अभिमुख[1] स्थिताभ्यो विरतिभ्यः, श्रावकश्राविकावर्गाय च व्रतं यच्छेत् । स्वयं स्थित सूरि. स्ववामे देशे स्थिताय विरताय व्रतानि दद्यात् । उक्त च—

विरदी सावगवग्गं च णिविट्ठं ठविय तं च सपडिमुखे ।
विरद च ठिदो वामे ठवियं गणिदो उपट्ठाधो उवट्ठवेज्ज ॥ [ ]

इति ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमण व्रत वृत्तिकरण छादन संवरो विरतिरित्येकार्था । उक्त च—

णाऊण अब्भुवेच्चय पावाण विरमण वद होई ।
विदिकरण छादण सवरो विरदित्ति एगट्ठो ॥ [ ]

इति । आद्यपाश्चात्यतीर्थयो रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि पंच महाव्रतानि । तत्र प्राणवियोगकरण प्राणिन प्रमत्तयोगात्प्राणवधस्ततो विरतिरहिंसाव्रत । व्यलीकभाषणेन दु ख प्रतिपद्यन्ते जीवा इति मत्वा दयावतो यत्सत्याभिधानं तद्द्वितीय व्रत । ममेदमिति सकल्पोपनीतद्रव्यवियोगे दु खिता भवन्ति इति तद्दयया

---

६ जीवोके भेद-प्रभेदोको जानने वालेको ही नियमसे व्रत देना चाहिए। यह छठा स्थिति-कल्प है। जो अचेलतामे स्थित हो, उद्दिष्ट और राजपिण्डका त्याग करनेमे तत्पर हो, गुरुकी भक्ति करने वाला हो, विनयी हो, वही व्रत देनेके योग्य होता है। कहा है—

'जो अचेलकपनेमें स्थित है और उद्दिष्ट आदि दोषोका सेवन नही करता, गुरुका भक्त और विनीत है वह सदा व्रतोको धारण करनेका पात्र होता है।' यह व्रत देनेका क्रम है— गुरु-जनोंके स्वय रहते हुए आचार्य स्वय स्थित होकर सामने स्थित विरत स्त्रियोको श्रावक श्राविका वर्गको व्रत प्रदान करे। तथा अपने वाम देशमे स्थित विरतोको व्रत प्रदान करे। कहा है—

'विरत स्त्रियोको और श्रावक वर्गको अपने सामने स्थित करके और विरत पुरुषोको अपने वाम भागमे स्थापित करके गणि व्रत प्रदान करे।' इस प्रकार जानकर तथा श्रद्धा करके पापोंसे विरत होना व्रत है। वृत्तिकरण छादन, सवर और विरति, ये सब शब्द एकार्थक है। कहा है—'जानकर और स्वीकार करके पापोसे विरत होना व्रत है। वृत्तिकरण, छादन, संवर, विरति ये सब एकार्थक है।'

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमे रात्रिभोजन त्यागनामक छठे व्रतके साथ पाँच महा-व्रत होते है। प्रमादयुक्तभावके सम्बन्धसे प्राणिके प्राणोका वियोग करना हिंसा है और उससे विरति अहिंसा व्रत है। झूठ बोलनेसे जीव दु.खी होते हैं ऐसा मानकर दयालु पुरुषका सत्य बोलना दूसरा व्रत है। जिसमें 'यह मेरा है' ऐसा सकल्प है उस द्रव्यके चले जानेपर जीव दुःखी होते हैं। इसलिए उसपर दया करके बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे विरत होना तीसरा व्रत है।

१ स्थितेभ्यो-अ० ।

अदत्तस्यादानाद्विरमणं तृतीयं व्रतम् । सर्षपपूर्णायां नाल्यां तप्तायसशलाकाप्रवेशनवद्योनिद्वारस्थानेकजीवपीडा-साधनप्रवेशेनेति तद्बाधापरिहारार्थं तीव्रो रागाभिनिवेशः कर्मबन्धस्य महतो मूलं इति ज्ञात्वा श्रद्धावद्भि-र्मैथुनाद्विमरणं चतुर्थं व्रतम् । परिग्रहः षड्जीवनिकायपीडाया मूलं मूर्च्छानिमित्तं चेति सकलग्रन्थत्यागो भवति इति पञ्चमं व्रतम् । तेषामेव पञ्चानां व्रतानां पालनार्थं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठं व्रतम् । सर्वजीवविषयम-हिंसाव्रतं अदत्तपरिग्रहत्यागौ सर्वद्रव्यविषयौ द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रतानि । उक्तं च--

'पढमम्मि सव्वजीवा तदिये चरिमे य सव्वदव्वाइं ।
सेसा महव्वदा खलु तदेकदेसम्मि दव्वाणं ॥ [आवश्यक ७९१ गा०]

पञ्चमहाव्रतधारिण्याश्चिरप्रव्रजिताया अपि ज्येष्ठो भवति अधुनाप्रव्रजितः पुमान् इत्येष सप्तमः स्थितिकल्पः पुरुषज्येष्ठत्वं । पुरुषत्वं नाम संग्रहं उपकारं, रक्षां च कर्तुं समर्थः । पुरुषप्रणीतश्च धर्मः इति तस्य ज्येष्ठता । ततः सर्वाभिः संयताभिः विनयः कर्तव्यो विरतस्य । येन च स्त्रियो लघ्व्यः परप्रार्थनीया, पररक्षापेक्षिण्यः, न तथा पुमांस इति च पुरुषस्य ज्येष्ठत्वं । उक्तं च—

जेणित्थी हु लघुसिगा परप्पसज्झा य पच्छणिज्जाय ।
भीरु अरक्खणज्जेत्ति तेण पुरिसो भवदि जेट्ठो ॥ [ ]

अचेलतादिकल्पस्थितस्य यद्यतिचारो भवेत् प्रतिक्रमणं कर्तव्यमित्येषोऽष्टमः स्थितिकल्पः । नामस्थापना-द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन षड्विधं प्रतिक्रमणं । भट्टिणी भट्टदारिगा इत्याद्ययोग्यनामोच्चारणं कृतवतस्तत्परि-

---

सरसोंसे भरी हुई नलीमें तपाई हुई लोहकी कीलके प्रवेशकी तरह योनिद्वारमें स्थित अनेक जीवोंको लिंगके प्रवेशसे पीडा होती है । उस पीडाको दूर करनेके लिए 'रागका तीव्र अभिनिवेश महान् कर्मबन्धका मूल है' ऐसा जानकर और श्रद्धा करके मैथुनसे विरत होना चतुर्थ व्रत है । परिग्रह छहकायके जीवोंको पीडा पहुँचानेका मूल है और ममत्वभावमें निमित्त है ऐसा जानकर समस्त परिग्रहका त्याग पाँचवाँ व्रत है । उन्हीं पाँच व्रतोंका पालन करनेके लिए रात्रि भोजनका त्याग छठा व्रत है । अहिंसाव्रतका विषय सब जीव हैं अर्थात् सब जीवोंकी हिंसाका त्याग उसमें है । विना दी हुई वस्तुका त्याग और परिग्रहका विषय भी सब द्रव्य है । अर्थात् अचौर्यव्रती बिना दिया हुआ कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं लेता जिसका कोई स्वामी है । परिग्रहका त्यागी भी सब द्रव्योंका त्याग करता है । किन्तु शेष व्रत द्रव्योंके एकदेशको विषय करते हैं । कहा है—

'प्रथम व्रतमें सब जीव, तीसरे और अचौर्यव्रतमें सब द्रव्य तथा शेष महाव्रत द्रव्योंके एकदेशमें होते हैं ।'

७ चिरकालसे दीक्षित और पाँच महाव्रतोंकी धारी आर्यिकासे तत्काल दीक्षित भी पुरुष ज्येष्ठ होता है । इस प्रकार पुरुषकी ज्येष्ठता सातवाँ स्थितिकल्प है । पुरुषत्व कहते हैं संग्रह, उपकार और रक्षा करनेमें समर्थ होना । धर्म पुरुषके द्वारा कहा गया है इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता है । इसलिए सब आर्यिकाओंको साधुकी विनय करनी चाहिए । यतः स्त्रियाँ लघु होती हैं, परके द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य होती हैं । दूसरेसे अपनी रक्षाकी अपेक्षा करती हैं । पुरुष ऐसे नहीं होते इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता है । कहा है—'यतः स्त्री लघु होती है, दूसरेके द्वारा प्रसाध्य होती है, प्रार्थनीय होती है, डरपोक होती है, अरक्षणीय होती है इसलिए पुरुष ज्येष्ठ होता है ।'

८. अचेलता आदि कल्पमें स्थित साधुके यदि अतिचार लगता है तो उसे प्रतिक्रमण करना चाहिए । यह आठवाँ स्थितिकल्प है । नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह

हरणं नामप्रतिक्रमणं। असंयतमिथ्यादृष्टिजीवप्रतिबिंबपूजादिषु प्रवृत्तस्य तत्प्रतिक्रमणं स्थापनाप्रतिक्रमणं। सचित्तमचित्तं मिश्रमिति त्रिविकल्पं द्रव्यं तस्य परिहरणं द्रव्यप्रतिक्रमण। त्रसस्थावरबहलस्य स्वाध्याय-ध्यानविघ्नसंपादनपरस्य वा परिहरणं क्षेत्रप्रतिक्रमण। संध्यास्वाध्यायाकालादिषु गमनागमनादिपरिहारः कालप्रतिक्रमणं। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमणं। प्रतिक्रमणसहितो धर्म. आद्यपाश्चात्य-योजिनयोः जातापराधप्रतिक्रमणं मध्यवर्तिनो जिना उपदिशन्ति।[1]

'आलोयणादुदिवसिग राविग इत्तिरियभिक्खचरिया य।
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमट्ठे य॥ एते आलोचनाकल्पा।'
पडिकमणं राविग देवसिगं इत्तिरियभिक्खचरिया य।
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमट्ठे य॥ [ ]

अमी प्रतिक्रमणभेदा आद्यन्ततीर्थकरप्रणीते पंचयमे धर्म्मे, इतरत्र च चतुर्यमे प्रतिक्रमणस्य कालनियम उक्त। यदायमतिचारं प्राप्तस्तदा प्रतिक्रमणमध्यात्मिक दर्शन। उक्तं च—

'समणो पाणेसणो विय दूरायादो य सव्वसमणो वि।
[2]सुमणे वि यदि य सवृवो जागरमाणो वि अगदो वि॥
ठावाणिओ आयरिय णावज्जामिति मज्झिमजिणेसु।
ण पडिक्कमणं तेण दु जे णातिक्कमदि सो णेव॥ [ ]

प्रकारका प्रतिक्रमण होता है। भट्टिणी, भर्तृदारिका इत्यादि अयोग्य नामका उच्चारण करनेपर उसका परिहार करना नाम प्रतिक्रमण है। असंयत मिथ्यादृष्टि जीवके प्रतिबिम्बकी पूजा आदि करनेवाला जो उसका प्रतिक्रमण करता है वह स्थापना प्रतिक्रमण है। सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका द्रव्य होता है उसका परिहार द्रव्य प्रतिक्रमण है। जो क्षेत्र त्रस और स्थावर जीवोंसे भरा है, स्वाध्याय और ध्यानमे विघ्न करनेवाला है उसका परिहार क्षेत्र प्रतिक्रमण है। सन्ध्याके समय, स्वाध्यायके समय तथा असमयमे गमन आगमन आदिका परिहार-कालप्रतिक्रमण है। मिथ्यात्व असयम, कषाय और योगसे निवृत्ति भावप्रतिक्रमण है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरका धर्म प्रतिक्रमण सहित है अर्थात् प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। और मध्यके बाईस तीर्थंकर दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमणका उपदेश करते है। आलोचना दैवसिक, रात्रिक, इत्तिरिय, भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक, उत्तमार्थ—ये दस आलोचनाकल्प है।

दैवसिक प्रतिक्रमण, रात्रिक प्रतिक्रमण, इत्तिरिय, भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ ये प्रतिक्रमणके भेद है। आदि और अन्तिम तीर्थकरके द्वारा कहे पाँच महाव्रतरूप धर्ममें और अन्य तीर्थंकरोके द्वारा कहे चार यमरूप धर्ममे प्रतिक्रमणके कालका नियम कहा है। जब साधु अतिचार लगाता है तब प्रतिक्रमण आध्यात्मिक दर्शन है। कहा है—

[इन गाथाओंका शुद्धपाठ न मिलनेसे अर्थका स्पष्टीकरण नही हो सका है।] चौबीस तीर्थंकरोंमेंसे मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके साधुओके लिए प्रतिक्रमण आवश्यक नही है। दोष

---

१. पडिकमण देवसिअं राइअ च इत्तरिअभावकहिय च।
पक्खिअ चाउम्मासिअ संवच्छरि उत्तमट्ठेअ॥—आव० ४ अ०। (अभि० रा०, पडिक्क०)

२. सुमिणंतियं दियसर्ध।

सवृवाविसु वि पविसी आविय अंतम्मि सो पडिक्कमदि ।
मज्झिमगा भण्णेंति य अमज्झमाणं हुवे उभयं ॥
इरियं गोयर सुमिणादि सव्वमाचरदु मा व आचरदु ।
पुरिम चरिमेसु सव्वो सव्वं णियमा पडिक्कमदि ॥ [मूलाचार ७।३१]

मध्यमतीर्थकरशिष्या दृढबुद्धय , एकाग्रचित्ता , अमोघलक्ष्यास्तस्माद्यदाचरित तद्गर्हया शुद्धयति । इतरे तु चलचित्ता न लक्षयन्ति स्वापराधांस्तेन सर्वं प्रतिक्रमण उपदिष्ट जिनाभ्या अंधघोटकदृष्टान्तन्यायेन ।

ऋतुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवम स्थितिकल्प । एकत्र चिरकालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षम । क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषा । पज्जोसमणकल्पो नाम दशम । वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थान भ्रमणत्याग. । स्थावरजगमजीवाकुला हि तदा क्षिति. । तदा भ्रमणे महानसयम वृष्टया शीतवातपातेन च वात्मविराधना । पतेद् वाप्यादिषु स्थाणुकण्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वा बाध्यत इति विंशत्यधिक

लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते हैं। इसी बातको इन गाथाओमें कहा है) शब्दादि विषयोंमे प्रवृत्ति होनेपर आदि और अन्तिम तीर्थ करोके साधु प्रतिक्रमण करते ही हैं। मध्यम तीर्थ करोंके साधु करते भी है और नही भी करते।

ईर्यासमिति, गोचरी और स्वप्न आदिमें अतिचार लगे या न लगे। किन्तु प्रथम तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य सब प्रतिक्रमण दण्डकोंको पढते हैं अर्थात् अतिचार नही लगनेपर भी उन्हें प्रतिक्रमण करना होता है।'

मध्यम बाईस तीर्थंकरोंके शिष्य दृढ बुद्धिवाले, एकाग्रचित्त और अव्यर्थ लक्षवाले होते है। इसलिए अपने आचरणकी गर्हा करनेसे शुद्ध होते है। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य चचल चित्त होनेसे अपने अपराधोको लक्षमें नही लेते। इसलिए प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरने सबके लिए प्रतिक्रमण करनेका उपदेश दिया है। इसमें अन्ध घोड़ेका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे घोडेके अन्धे होनेपर अनजान वैद्यपुत्रने अपने पिताके अभावमें उसपर सब दवाइयोका प्रयोग किया तो घोडा ठीक हो गया। इसी तरह अपने दोषोंसे अनजान साधु भी प्रतिक्रमणसे शुद्ध होता है।

९ छह ऋतुओंमे एक-एक महीना ही एक स्थानपर रहना और अन्य समयमे विहार करना नवम स्थितिकल्प है। एक स्थानमें चिरकाल ठहरनेपर नित्य ही उद्गमदोष लगता है। उसे टाला नहीं जा सकता। तथा एक ही स्थानमें बहुत समयतक रहनेसे क्षेत्रसे बँध जानेका, सुखशीलता, आलसीपना, सुकुमारताको भावना तथा जाने हुएसे भिक्षा ग्रहण करनेके दोष लगते हैं।

१० पज्जोसमण नामक दसवाँ कल्प है। उसका अभिप्राय है वर्षाकालके चारमासोंमे भ्रमण त्यागकर एक ही स्थानपर निवास करना। उस कालमें पृथिवी स्थावर और जगम जीवोसे व्याप्त रहती है। उस समय भ्रमण करनेपर महान् असंयम होता है। तथा वर्षा और शीतवायुके बहनेसे आत्माकी विराधना होती है। बापी आदिमें गिरनेका भय रहता है। जलादिमे छिपे

दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनमधिकं वावस्थानं, संयतानां आषाढशुद्धदशम्यां स्थितानां उपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानं। वृष्टिबहुलतां, श्रुतग्रहणं, शक्त्यभाववैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्ट कालः। मार्यां, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशांतरं याति। अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति। पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति। यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य। एष दशमः स्थितिकल्पः।

हुए ठूंठ, कण्टक आदिसे अथवा जल कीचड आदिसे कष्ट पहुँचता है। इसलिए एक सौ बीस दिनतक एकस्थानपर रहना उत्सर्गरूप नियम है। कारणवश कम या अधिक दिन भी ठहरते हैं। आषाढ़ शुक्लादशमीको ठहरनेवाले साधु आगे कार्तिककी पूर्णमासीके पश्चात् तीस दिन ठहर सकते है। वर्षाकी अधिकता, शास्त्रपठन, शक्तिका अभाव, वैयावृत्य करनेके उद्देश से एकस्थानपर ठहरनेका यह उत्कृष्टकाल है। इस बीचमें यदि मारी रोग फैल जाये, दुर्भिक्ष पड जाये या गच्छका विनाश होनेके निमित्त मिल जाये तो देशान्तर चले जाते है क्योकि वहाँ ठहरनेपर भविष्यमें रत्नत्रयकी विराधना हो सकती है।

आषाढकी पूर्णमासी बीतने पर प्रतिपदा आदिके दिन देशान्तर गमन करते हैं। इस तरह बीस दिन तक कम होते है। इस अपेक्षा कालकी हीनता होती है। यह दसवाँ स्थितिकल्प है।

विशेषार्थ—श्वेताम्बर परम्परामें भी ये ही दस कल्प माने गये हैं। किन्तु उनमेंसे चार स्थितकल्प है और छह अस्थितकल्प है। शय्यातर पिण्ड, चातुर्याम, पुरुषकी ज्येष्ठता और कृतिकर्म य चार कल्प स्थित है। अर्थात् मध्यम बाईस तीर्थंकरोके साधु और महा विदेहोंके साधु शय्यातर पिण्ड ग्रहण नही करते, चतुर्याम रूप धर्मका पालन करते हैं, पुरुषकी ज्येष्ठता पालते हैं अर्थात् चिरदीक्षित आर्यिका भी उसी दिनके दीक्षित साधुको नमस्कार करती है। तथा सब कृतिकर्म करते हैं। आचेलक्क, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राजपिण्ड, मास और पर्युषण ये छह कल्प मध्यम तीर्थंकरोके तथा महाविदेहके साधुओंके लिए अनवस्थित हैं। यदि वस्त्र धारण करनेसे वस्त्रको लेकर रागद्वेष उत्पन्न होता है तो अचेल रहते है अन्यथा सचेल रहते हैं। साधुओंके उद्देशसे बनाया भोजन उद्दिष्ट होनेसे सदोष होता है। किन्तु उक्त तीर्थंकरो और महाविदेहोंके साधु अपने उद्देशसे बना भोजन नही लेते। अन्य साधुओंके उद्देशसे बना भोजन ले लेते हैं। प्रतिक्रमण भी दोष लगने पर करते हैं, अन्यथा नही करते। राजपिण्डमें यदि कहे गये दोष होते हैं तो ग्रहण नही करते। यदि एक क्षेत्रमे रहने पर दोष न हो तो पूर्वकोटी काल भी रहते हैं। दोष हो तो मास पूर्ण नही होने पर भी चल देते है। पर्युषणामें भी यदि वर्षामें विहार करने पर दोष हो तो एक क्षेत्रमे रहते है दोष न हो तो वर्षाकालमें भी विहार करते हैं। श्वेताम्बर परम्परामे प्राकृतमें दसवें कल्पका नाम 'पज्जोसवणा' है उसका संस्कृत रूप पर्युषणाकल्प है। इसीसे भादोके दश लक्षण पर्वको पर्युषण पर्व भी कहते है। श्वेताम्बर परम्परामे भी इसका उत्कृष्ट काल आसाढी पूर्णिमासे कार्तिकी पूर्णिमा तक चार मास है। जघन्य काल सत्तर दिन है। भाद्रपद शुक्ला पंचमीसे कार्तिककी पूर्णिमा तक सत्तर दिन होते हैं। सम्भवतः इसीसे दिगम्बर परम्परामें पर्युषण पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमीसे प्रारम्भ होता है। इस कालमें साधु विहार नही करते।

एदेसु दससु णिच्चं समाहिदो णिच्चवज्जभीरू य ।
खवयस्स विसुद्धं सो जधुत्तचरियं उवविधेदि ॥४२४॥

'**एदेसु दससु णिच्चं**' एतेषु दशस्थितिकल्पेषु नित्यं । '**समाहिदो**' समाहित । '**णिच्चवज्जभीरू य**' नित्य पापभीरु. । '**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**विसुद्धं जधुत्तचरियं**' यथोक्ता चर्यां । '**सो उवविधेदि**' स विदधाति ॥४२४॥

निर्यापकस्य सूरेराचारवत्त्वे क्षपकस्य गुण व्याचष्टे—

पंचविधे आयारे समुज्जदो सव्वसमिदचेट्ठाओ ।
सो उज्जमेदि खवयं पंचविधे सुट्ठु आयारे ॥४२५॥

'**पंचविधे आयारे समुज्जदो**' पचप्रकारे आचारे समुद्यत. । '**समिदसव्वचेट्ठाओ**' सम्यक् प्रवृत्ता सर्वाश्चेष्टा यस्य स । '**सुट्ठु उज्जमेदि**' सुष्ठु उद्योग कारयति । '**खवगं**' क्षपकं । क्व ? '**पंचविधे**' आचारे ॥४२५॥

यः आचारवान्न भवति तदाश्रयणे दोषमाचष्टे—

सेज्जोवधिसंथारं भत्तं पाणं च चयणकप्पगदो ।
उवकप्पिज्ज असुद्धं पडिचरए वा असंविग्गे ॥४२६॥

'**सेज्जं**' वसति । '**उवधिं**' उपकरण । '**संथारभत्तपाणं च**' सस्तर भक्तपान च । '**असुद्ध**' उद्गमादिदोषोपहत । '**उवकप्पेज्ज**' उपकल्पयेत् । क '**चयणकप्पगदो**' ज्ञानाचारादिकादोषच्च्यवनमुपगत '**पडिचरए वा**' प्रतिचारकान्वा योजयेत । '**असंविग्गे**' असविग्नान् । एवमसयमे कृते महान्कर्मबन्धो भविष्यति ततोऽस्माक महती ससृतिरनेकापन्मूलेति भयरहितान् ॥४२६॥

सल्लेहणं पयासेज्ज गंधं मल्लं च समणुजाणिज्जा ।
अप्पाउग्गं व कधं करिज्ज सइरं व जंपिज्ज ॥४२७॥

'**सल्लेहणं पगासेज्ज**' सल्लेखना प्रकाशयेत् लोकस्य । '**गंधं मल्ल च समणुजाणेज्ज**' गन्ध माल्य वानुजानीयात् । गन्धमाल्यानयनमभ्युपगच्छेत् । '**अप्पाउग्गं व कह कहेज्ज**' अप्रयोग्या वा कथा कथयेत्

गा०—इन दस कल्पोंमें जो सदा समाधान युक्त रहता है और नित्य पापसे डरता है वह आचार्य क्षपक ऊपर कहे विशुद्ध आचरणको पालन कराता है ॥४२४॥

निर्यापकाचार्यके आचारवान होने पर क्षपकका लाभ बतलाते है—

गा०—जो आचार्य पाँच प्रकारके आचारमे तत्पर रहता है और जिसकी सब चेष्टाएँ सम्यग्रूपसे होती हैं वह क्षपकसे पाँच प्रकारके आचारमे उद्योग कराता है ॥४२५॥

जो आचार्य आधारवान नहीं होता, उसका आश्रय लेनेमें दोष कहते है—

गा०—ज्ञानाचार आदिसे थोडा सा च्युत हुआ आचार्य उद्गम आदि दोषोसे दूषित अशुद्ध वसति, उपकरण, सस्तर और भक्तपानकी व्यवस्था करेगा । तथा ऐसे परिचारक मुनियोंको नियुक्त करेगा जिन्हे यह भय नही है कि इस प्रकारका असंयम करने पर महान् कर्मबन्ध होगा और उससे हमारा संसार बढ़ेगा जो अनेक आपत्तियोका मूल है ॥४२६॥

गा०—तथा वह क्षपककी सल्लेखनाको लोगों पर प्रकाशित कर देगा । सुगंध माला आदि सेवनकी अनुमति दे देगा। क्षपकके अशुभ परिणाम करने वाली अयोग्य कथा वार्ता करेगा । और

क्षपकस्याशुभपरिणामविधायिनी । **'सइरं वा'** स्वैरं वा । **'जंपेज्ज'** जल्पेत् । आराधकस्याग्रत इदं युक्तं न वेत्यविचार्य वदेद्वा ॥४२७॥

ण करेज्ज सारणं वारणं च खवयस्स चयणकप्पगदो ।
उद्देज्ज वा महल्लं खवयस्स वि किंचणारंभं ॥४२८॥

'ण करेज्ज' न कुर्यात् । किं **'सारणं'** रत्नत्रये वृत्तिं । **'वारणं च'** निषेधं न कुर्यात् । तेभ्यः प्रच्यवमानस्य । **'खवगस्स'** क्षपकस्य । कः ? **'चयणकप्पगदो'** च्यवनकल्पगत । **'उद्देज्ज वा महल्लं'** आरम्भं कारयेद्वा महान्तं आरम्भं पट्टशाला, पूजा, विमान वा । **'खवगस्स वि'** क्षपकस्यापि कथनं ॥४२८॥

आयारत्थो पुण से दोसे सव्वे वि ते विवज्जेदि ।
तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ ॥४२९॥

'आयारत्थो पुण' आचारस्थः पुन सूरि तान्सर्वान्विर्जयति दोषान् । **'तम्हा'** तस्मात् । गुणेषु प्रवर्तमानो दोषेभ्यो व्यावृत्तश्च । **'आयारत्थो आयरिओ णिज्जवओ होदि'** आचारस्थ एवाचार्यो निर्यापको भवति नापर । व्याख्यातमाचारवत्त्वम् ॥४२९॥

आधारवत्त्वव्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध—

चोद्दसदसणवपुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो ।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥४३०॥

'चोद्दसदसणवपुव्वी' चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी, नवपूर्वो वा । **'महामदी'** महामति । **'सायरोव्व गभीरो'** सागर इव गम्भीर । **'आधारवं णाम कप्पववहारधारी वा'** कल्पव्यवहारज्ञो वा आधारवान् ज्ञानी । दुष्परिणामा एते मनोवाक्कायविकल्पा, शुभा वा पुण्यास्रवभूता । शुद्धा वा शुभाशुभकर्मसंवरहेतव, इति बोधयति ।

यह उचित है या नही यह विचार किये बिना क्षपकके आगे स्वच्छन्दता पूर्वक बात करेगा ॥४२७॥

गा० तथा स्वय आचार च्युत आचार्य क्षपकके रत्नत्रयसे डिगने पर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति और रत्नत्रयसे च्युत होनेका निषेध नही करेगा । तथा क्षपकसे कोई महान् आरम्भ पूजा, विमान-यात्रा, पट्टकशाला आदि करायेगा ॥४२८॥

गा०—किन्तु आचारवान् आचार्य इन सब दोषोको नही करता । इसलिए जो गुणोमे प्रवृत्ति करता है और दोषोंसे दूर रहता है ऐसा आचारवान् आचार्य ही निर्यापक होता है, दूसरा नही । इस प्रकार आचारवत्त्वका कथन किया ॥४२९॥

आगे आधारवत्त्वका कथन करते है—

गा०-टी०—जो चौदह पूर्व, दस पूर्व अथवा नौ पूर्वका धारी हो, महाबुद्धिशाली हो, सागर की तरह गम्भीर हो, कल्प व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता हो वह ज्ञानी आधारवान् होता है । वह समझाता है कि मन वचन कायके विकल्प रूप ये परिणाम अशुभ है, शुभ परिणाम पुण्यकर्मके आस्रवके कारण है और शुद्ध परिणाम शुभ और अशुभ कर्मोंके संवरमें कारण हैं । तथा वह रात दिन श्रुतका उपदेश करते हुए शुभ और शुद्ध परिणामोमे क्षपकको लगाता है । इसलिए वह दर्शन, चारित्र और तपका आधारवाला होनेसे आधारवान होता है । ज्ञान आधार है और

शुभेषु शुद्धेषु वा प्रवर्तयति श्रुतमनारतमुपदिशन्नतोऽसौ दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च आधारवत्वात् । ज्ञानमाधार[1]स्तद्वानाधारवान् ॥४३०॥

यस्तु ज्ञानवान्न भवति तदाश्रयणे दोषाव्याचष्टे—

[2]णासेज्ज अगीदत्थो चउरंगं तस्स लोगसारंगं ।
णट्ठम्मि य चउरंगे ण उ सुलहं होइ चउरंगं ॥४३१॥

'**णासेज्ज अगीदत्थो**' नाशयेदगृहीतसूत्रार्थः । '**तस्स**' तस्य क्षपकस्य । '**चउरंगं**' चत्वारि ज्ञानदर्शनचारित्रतपांसि अङ्गानि यस्य मोक्षमार्गस्य तं चतुरङ्गं । लोके यत्सारं निर्वाणं तस्याङ्गं उपकारकं । चतुरङ्गं यदि नाम नष्टं तथापि तच्चतुरङ्गं पुनर्लभ्येत इति शङ्कामिमां निरस्यति । '**णट्ठम्मि य चउरंगे**' नष्टे इह जन्मनि चतुरङ्गे मुक्तिमार्गे । '**ण उ सुलहं होदि चउरंगं**' नैव सुखेन लभ्यते तच्चतुरङ्गं । विनाशितचतुरङ्गो मिथ्यात्वपरिणत कुयोनिमुपगत कथमिव लभते चतुरङ्गं इत्यभिप्राय ॥४३१॥

क्षपकस्य चतुरङ्गं कथमगृहीतार्थो नाशयतीत्यारेकायामित्थमसौ नाशयतीति दर्शयति—

संसारसायरम्मि य अणंतबहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि ।
संसरमाणो दुक्खेण लहदि जीवो मणुस्सत्तं ॥४३२॥
तह चेव देसकुलजाइरूवमारोग्गमाउगं बुद्धिं ।
सवणं गहणं सड्ढा य संजमो दुल्लहो लोए ॥४३३॥

जो ज्ञानवान् है वह आधारवान् है ॥४३०॥

जो ज्ञानवान् नही है उसका आश्रय लेनेमे दोष कहते हैं—

गा०-टी०—जिसने सूत्रके अर्थको ग्रहण नही किया है ऐसा आचार्य उस क्षपकके चतुरंगको नष्ट कर देता है । ज्ञान दर्शन चारित्र तप ये चार अंग जिस मोक्षमार्गके होते है वह चतुरग है । लोकमें जो सारभूत निर्वाण है उसका चतुरंग–मोक्षमार्ग उपकारक है । वह नष्ट कर देता है । शायद कोई कहे कि यदि चतुरंग नष्ट हुआ तो पुनः प्राप्त हो जायेगा ? इस शंकाका निरास करते हैं—इस जन्ममें चतुरग मोक्षमार्गके नष्ट होने पर चतुरंग सुलभ नही है—सुखसे नहीं मिलता । क्योंकि जो चतुरंगको नष्ट कर देता है वह मिथ्यात्व रूप परिणत होकर कुयोनिमें चला जाता है । तब वह कैसे चतुरगको प्राप्त कर सकता है यह उक्त कथनका अभिप्राय है ॥४३१॥

सूत्रके अर्थको ग्रहण न करने वाला आचार्य क्षपकके चतुरगको कैसे नष्ट करता है ? ऐसी आशंका करने पर बतलाते हैं कि वह इस प्रकार नष्ट करता है—

गा०—जिसमे अनन्त अत्यन्त तीव्र दुःखरूप जल भरा है उस ससार सागरमें भ्रमण करते हुए जीव बडे कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४३२॥

गा०—उस ससारमे देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, धर्मका सुनना, उसे ग्रहण करना, उस पर श्रद्धा होना तथा संयम ये सब दुर्लभ हैं ॥४३३॥

---

१ स्तद्वानाधारवान् श्रद्धानाधारवान् आ० मु० । २. इयं गाथा व्यवहारसूत्रे (उ० ३, गा० ३७७) अस्ति ।

एवमवि दुल्लहपरंपरेण लद्धूण संजमं खवओ ।
ण लहिज्ज सुदी संवेगकरी अबहुसुयसयासे ॥४३४॥

सम्मं सुदिमलहंतो दीहद्धं मुत्तिमुवगमित्ता वि ।
परिवडइ मरणकाले अकदाधारस्स पासम्मि ॥४३५॥

सक्का वंसी छेत्तुं तत्तो उक्कड्ढिओ पुणो दुक्खं ।
इय संजमस्स वि मणो विसएसुक्कड्ढिदुं दुक्खं ॥४३६॥

आहारमओ जीवो आहारेण य विराधिदो संतो ।
अट्टरुद्दट्टो जीवो ण रमदि णाणे चरित्ते य ॥४३७॥

सुदिपाणयेण अणुसट्ठिभोयणेण य पुणो उवग्गहिदो ।
तण्हाछुहाकिलंतो वि होदि झाणे अवक्खित्तो ॥४३८॥

पढमेण व दोवेण व वाहिज्जंतस्स तस्स खवयस्स ।
ण कुणदि उवदेसादिं समाधिकरणं अगीदत्थो ॥४३९॥

'पढमेण वा' क्षुधा । **'दोवेण वा'** पिपासया वा । **'बाधिज्जंतस्स तस्स'** बाध्यमानस्य तस्य । **'खवयस्स'** क्षपकस्य । **'न कुणदि उवदेसादि'** न करोत्युपदेशादि । **'समाधिकरणं'** समाधिः क्रियते येनोपदेशादिना त । **'अगीदत्थो'** अगृहीतार्थ ॥४३९॥

गा०—इस प्रकार परम्परा रूपसे दुर्लभ सयमको पाकर क्षपक अल्पज्ञानी आचार्यके पासमे वैराग्य करने वाली देशना नही प्राप्त करता ॥४३४॥

गा०—सम्यक् उपदेश प्राप्त न करनेसे चिरकाल तक असयमके त्यागपूर्वक सयमको धारण करके आधारवत्त्व गुणसे रहित आचार्यके पासमे मरते समय सयममे गिर जाता है ॥४३५॥

गा०—जैसे छोटेसे बाँसको छेदना शक्य है । किन्तु बाँसोके झाडमेसे खीचकर निकालना बहुत कठिन है । इसी तरह सयमीका भी मन विषयोमे हटाना अल्प ज्ञानी गुरुके लिए कठिन है । आशय यह है कि यद्यपि क्षपकने रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की तथापि शरीरकी सल्लेखना करनेपर जब भूख प्यासकी परीषह सताती है तो वह श्रुतज्ञानमे उपयोग लगाये विना अल्पज्ञ आचार्यके पासमे राग-द्वेषमे पडकर चारित्रका आराधक नही रहता ॥४३६॥

गा०—यह जीव आहारमय है, अन्न ही इसका प्राण है । आहारके न मिलनेपर आर्त और रौद्रध्यानसे पीडित होकर ज्ञान और चारित्रमे मन नही लगाता ॥४३७॥

गा०—किन्तु ज्ञानी आचार्यके द्वारा श्रुतका पान करानेसे और योग्य शिक्षारूप भोजनसे उपकृत होनेपर, भूख प्याससे पीडित होते हुए भी ध्यानमे स्थिर होता है ॥४३८॥

गा०—भूख और प्याससे पीडित उस क्षपकको अल्पज्ञानी आचार्य समाधिके साधन उपदेश आदि नही करता ॥४३९॥

सो तेण विडज्झंतो पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो ।
कलुणं कोलुणियं वा जायणकिविणत्तणं कुणइ ॥४४०॥

'सो तेण विडज्झंतो' स क्षपकस्तेन प्रथमेन द्वितीयेन वा । **'विडज्झंतो'** विविधं दह्यमान । **'पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो'** प्राप्य शुभपरिणामस्य भेद **'विडज्झंतो' 'अप्पसुदो'** अल्पश्रुत । **'कलुणं कोलुणियं व कुणदि'** यथा शृण्वता करुणा भवति तथा करोति । **'जायण व कुणदि'** याञ्चा वा करोति । **'किविणत्तणं कुणदि'** दीनतां वा करोति ॥४४०॥

उक्कूवेज्ज व सहसा पिएज्ज असमाहिपाणयं चावि ।
गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मरेज्ज असमाधिमरणेण ॥४४१॥

'उक्कूवेज्ज व सहसा' पूत्कुर्याद्वा सहसा । **'पिएज्ज'** पिबेद्वा । **'असमाधिपाणगं चावि'** असमाधिपानकमुच्यते यत्स्वय स्थित्वा स्वहस्ताभ्या काले प्रायोग्यपान ततोऽन्यदस्थित्वा अकाले च यत्पान तदसमाधिपानकमुच्यते । **'गच्छेज्ज व मिच्छत्तं'** मिथ्यात्व वा गच्छेत् । कष्टोऽयं धर्म. किमनेन श्रमविधायिनेति निन्दापरेण चेतसा । **'मरेज्ज असमाधिमरणेण'**मृतिमुपेयात् असमाधिना ॥४४१॥

संथारपदोसं वा णिब्भच्छिज्जंतओ णिगच्छेज्जा ।
कुव्वंते उड्डाहो णिच्चुब्भंते विकिंते वा ॥४४२॥

'संथारपदोस वा कुणदि' इति शेष , मस्तर वा दुष्यति । **'णिब्भच्छिकज्जंतगो णिगच्छेज्ज'** रोदन पूत्कार वा कुर्वन्त यदि निभर्त्सयन्ति निर्यायात् । **'कुव्वंते'** पूत्कुर्वति मति क्षपके । **'उड्डाहो'** अयशो धर्मस्य भवति । **'णिच्चुब्भंते'** बहिर्निःसरणे । **'विकिंते वा'** पृथक्करणे वा । **'उड्डाहो होदि'** धर्मदूषणो भवति । एवमगृहीतार्थ प्रतिकारानभिज्ञो नाशयति क्षपकम् ॥४४२॥

गृहीतार्थ पुन किं करोतीति चेदाह—

गीदत्थो पुण खवयस्स कुणदि विधिणा समाधिकरणाणि ।
कण्णाहुदीहिं उव-गहिदो य पज्जलइ ज्झाणग्गी ॥४४३॥[1]

गा०—वह अल्पज्ञानी क्षपक भूख प्याससे पीडित हो शुभभावको छोड देता है और ऐसा रुदन करता है कि सुननेवालोंको दया आती है, याचना करता है और दीनता प्रकट करता है ॥४४०॥

गा०—अथवा सहसा चिल्लाने लगता है अथवा असमाधिपानक पीता है। स्वय खडे होकर अपने दोनो हाथोसे भोजनके कालमे जो योग्यपान किया जाता है उससे अन्य विना खडे हुए असमयमें जो पान किया जाता है उसे असमाधिपानक कहते हैं। तथा यह धर्म कष्टदायक है इससे केवल श्रम ही होता है ऐसे निन्दायुक्त चित्तसे मिथ्यात्वको प्राप्त होता है असमाधिपूर्वक मरणको प्राप्त होता है ॥४४१॥

गा०—अथवा वह संस्तरको दोष देता है। रोने चिल्लानेपर उसका तिरस्कार करो तो बाहर भाग जायेगा। उसके रोने चिल्लानेपर, या बाहर निकल जानेपर अथवा सघसे निकाल देनेपर धर्ममें दूषण लगता है। इस प्रकार अज्ञानी आचार्य प्रतीकार न जानता हुआ क्षपकका जीवन नष्ट कर देता है ॥४४२॥

गृहीतार्थज्ञानी आचार्य क्या करता है यह कहते है—

---

१. उवडोइदो आ० मु० ।

'गीदत्थो पुण' गृहीतार्थ. पुनः। **'खवगस्स'** क्षपकस्य। **'कुणदि'** करोति। **'विधिणा'** क्रमेण। **'समाधिकरणाणि'** समाधानक्रिया.। **'कण्णाहुदीहिं'** कर्णाहुतिभि। **'उवगहिदो'** उपगृहीत.। **'पज्जलदि'** प्रज्वलति। **'झाणग्गी'** ध्यानाग्नि ॥४४३॥

खवयस्सिच्छासंपादणेण देहपडिकम्मकरणेण।
अण्णेहिं वा उवाएहिं सो हु समाहिं कुणइ तस्स ॥४४४॥

'खवयस्सिच्छासंपादणेण समाधिं कुणदि' क्षपकस्येच्छासम्पादनेन समाधि करोति। यदिच्छत्यसौ तद्दत्वा **'समाधिं'** रत्नत्रये समवधान तस्य करोति इति यावत्। **'देहपडिकम्मकरणेण'** शरीरबाधाप्रतिकारक्रियया। **'अण्णेहिं वा उवाएहिं'** [1]अन्यैर्वा सामवचनोपकरणदानचिरंतनक्षपकोपाख्यानादिभिरुपायैं समाधि करोति ॥४४४॥

णिज्जूढ पि य पासिय मा भीही देइ होइ आसासो।
संधेइ समाधिं पि य वारेइ असवुडगिरं च ॥४४५॥

'णिज्जूढं पि य पासिय' निर्यापकैर्यतिभि परित्यक्त दृष्ट्वा कि भवता परीषहासहनेन चलचित्तेनास्माकं ? त्यक्तोऽस्यस्माभिरिति। **'मा भीहि देइ'** मा भैषीरित्यभय ददाति। **'होदि'** भवति। **'च आसासो'** च आश्वास। **'संधेइ'** सधत्ते **'समाधिं पि य'** रत्नत्रयैकाग्र्यमविच्छिन्न। **'वारेदि असंवुडगिरं च'** वारयन्त्यसवृताना वचनं नैव वक्तव्यो भवद्भिरय महात्मा। को हि नामायमिव शरीर आहार दुस्त्यज त्यक्तु क्षम इति प्रोत्साहयन् ॥४४५॥

जाणदि फासुयदव्वं उवकप्पेदुं तहा उदिण्णाणं।
जाणइ पडिकार वादपित्तसिंभाण गीदत्थो ॥४४६॥

'जाणदि य' जानाति च। **'फासुयदव्वं'** योग्य द्रव्य। **'उवकप्पेदु'** विधातु। **'तहा उदिण्णाण'** तयो-

---

गा०—किन्तु गृहीतार्थ आचार्य विधिपूर्वक क्षपकका समाधान करनेकी क्रिया करता है। उसके कानोमे धर्मोपदेशकी आहुति देता है उससे उपगृहीत होकर ध्यानरूपी अग्नि भडक उठती है ॥४४३॥

गा०—वह क्षपककी इच्छा पूर्ति करके—जो वह चाहता है वह देकर—समाधि करता है अर्थात् रत्नत्रयमे उसका मन स्थिर करता है। तथा शारीरिक बाधाका प्रतिकार करके और अन्य उपायोसे जैसे शान्तिदायक वचन, उपकरणदान और प्राचीन क्षपकोके दृष्टान्त आदिसे समाधि करता है ॥४४४॥

गा०—निर्यापक अर्थात् सेवा करनेवाले यतियोंने जिस क्षपकको यह कहकर 'कि आप परीषह सहन नहीं करते और आपका चित्त चचल है हमे आपसे अब कुछ भी प्रयोजन नही है, छोड़ दिया है, उसको भी देखकर बहुश्रुत आचार्य 'मत डरो' इस प्रकार अभय देते हैं। आश्वासन देते है, और रत्नत्रयमे एकाग्रता बनाये रखते है। तथा असयतवचनोका निवारण करते हैं कि इस महात्माको आपको ऐसा नही कहना चाहिए। इनके समान कठिनतासे छोड़नेके योग्य शरीर और आहारको कौन छोड़नेमे समर्थ है। इस प्रकार प्रोत्साहन देते हैं ॥४४५॥

गा०—शास्त्रके अर्थको हृदयगम करनेवाले आचार्य उदीर्ण हुई भूख प्यासकी वेदनाको

---

१ अन्यैर्वा उपायै. तस्य समाधि करोति—अ०।

दीर्णानां क्षुधादीना विनाशने समर्थ । 'जाणदि पडिगारं' जानाति प्रतिकारं । 'वादपित्तसिंभाणं' वातपित्तश्लेष्मणां । 'गीदत्थो' गृहीतार्थः ॥४४६॥

अहव सुदिपाणयं से तहेव अणुसिट्ठिभोयणं देइ ।
तण्हाछुहाकिलिंतो वि होदि ज्झाणे अवक्खित्तो ॥४४७॥

'अहव सुदिपाणयं' अथवा श्रुतिपानं । 'से देदि' तस्मै ददाति । 'अणुसिट्ठिभोयणं देदि' अनुशासनभोजन वा । तेन पानेन भोजनेन च । 'तण्हाछुहाकिलिंतो वि' क्षुधा तृषा वा बाध्यमानोऽपि । 'ज्झाणे अवक्खित्तो होदि' ध्याने अव्याक्षिप्तचित्तो भवति ॥४४७॥

दोषान्तरमप्याचष्टे–अगृहीतार्थसकाशे वसतः क्षपकस्य—

संसारसागरम्मि य णंते बहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि ।
संसरमाणो जीवो दुक्खेण लहइ मणुस्सत्तं ॥ ४४८ ॥

'संसारसागरम्मि य' ससार. सागर इव तस्मिन्ससारसागरे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावेषु परिवर्तमान. संसारसागर । तत्र द्रव्यससारो नाम शरीरद्रव्यस्य ग्रहणमोक्षणाभ्यावृत्तिरसकृत् । तद्यथा—प्रथमाया पृथिव्या सप्तधनूषि त्रयो हस्ता षडङ्गुलाधिका प्रमाण नारकाणा शरीरस्य । अधोऽधस्तद्द्विगुणोच्छ्रयता यावत्पञ्चधनुःशतानि । एवविकल्पेषु शरीरेषु एकैकं शरीरमनन्तवार गृहीतमतीते काले भव्याना तु भाविनि काले भाज्यमनन्तवारग्रहण । अभव्याना तु भविष्यति कालेऽप्यनन्तानि तथाविधानि शरीराणि । एष द्रव्यससार स्थूलत ।

नष्ट करनेमे समर्थ प्रासुकद्रव्योको देना जानते हैं। तथा बात पित्त कफका प्रकोप होनेपर उनका प्रतिकार करना भी जानते हैं ॥४४६॥

गा०—अथवा वह आचार्य क्षपकको शास्त्रोपदेशरूपी पेय और अनुशासनरूप भोजन देते हैं। उस पान और भोजनसे भूख और प्याससे पीड़ित भी क्षपक ध्यानमे एकाग्रचित्त होता है ॥४४७॥

अल्पज्ञानी आचार्यके पास रहने वाले क्षपकके अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—बहुत तीव्र दु ख रूपी जलसे भरे अनन्त संसार रूपी सागरमे संसरण करता हुआ जीव बड़े कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४४८॥

टी०—ससारके पाँच प्रकार हैं—द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार, भव ससार और भाव संसार। शरीर द्रव्यका बार-बार ग्रहण और त्याग द्रव्य संसार है। प्रथम नरकमे नारकियोंके शरीरका प्रमाण सात धनुष, तीन हाथ छह अंगुल है। नीचे-नीचेके नरकोमे उसकी दुगुनी ऊँचाई होते होते अन्तमे पाँच सौ धनुष ऊँचाई है। इस प्रकारके भेद वाले शरीरोमे जीवोने अतीत कालमें एक-एक शरीर अनन्त बार ग्रहण किया। भविष्य कालमे भव्य जीवोंका अनन्तबार ग्रहण करना भाज्य है अर्थात् जो मुक्त हो जायेंगे वे अनन्त बार ग्रहण नहीं कर सकेंगे, शेष कर सकेंगे। किन्तु अभव्य जीव तो भविष्य कालमें भी उन शरीरोंको अनन्त बार ग्रहण करेंगे। यह द्रव्य संसारका कथन स्थूलरूपसे है।

क्षेत्रससार उच्यते—सीमन्तकादीनि अप्रतिष्ठान्तानि चतुरशीतिनरकशतसहस्राणि । तत्रैकैकस्मिन् नरके अनन्ता जन्ममरणयोर्वृत्तिरतीते काले । भविष्यति तु भाज्या भव्यान्प्रति । अभव्याना तु भविष्यत्यप्यनन्ताः ।

कालससार उच्यते—उत्सर्पिण्या कस्याश्चित्प्रथमसमये प्रथमनरके उत्पन्नो, मृत्वान्यत्रोत्पन्न , पुन कदाचिदुत्सर्पिण्या द्वितीयादिसमये उत्पन्न एव तृतीयादिसमयेषु । एव उत्सर्पिणी समाप्ति नीता । तथा अवसर्पिण्या अपि । एवमितरेष्वपि नरकेषु । एवमुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालयोरनन्तवृत्ति । भवससार उच्यते—

प्रथमाया पृथिव्या दशवर्षसहस्रायुर्जात पुन समयेनैकैकेन अधिकानि दशवर्षसहस्राणि । एव द्विसमयाद्यधिकक्रमेण सागरोपमपर्यंतमायु समाप्ति नीतम् । द्वितीयाया समयाधिक सागरोपमादि कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमत्रयपरिसमाप्ति. । तृतीयाया समयाधिक त्रिसागरोपमादिक कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमसप्तकपरिसमाप्ति । चतुर्थ्या समयाधिकसप्तसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्दशसागरोपमपरिसमाप्ति । पञ्चम्या समयाधिकदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सप्तदशसागरोपमपरिसमाप्ति । षष्ठ्या समयाधिकसप्तदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्द्वाविंशतिसागरोपमपरिसमाप्ति । सप्तम्या समयाधिकद्वाविंशतिसागरोपमादारभ्य यावत्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपरिसमाप्ति । एवमेतेष्वायुर्विकल्पेषु परावृत्ति भवससार ।

क्षेत्र ससार कहते है—प्रथम नरकके सीमन्तकसे लेकर सातवे नरकके अप्रतिष्ठ बिले पर्यन्त चौरासी लाख बिले है । उनमेसे एक-एक बिलेमे अतीत कालमे अनन्त बार जन्म मरण जीवोने किया है । भविष्यमे भव्य जीवोका अनन्त बार जन्म मरण भाज्य है । अभव्य जीवोका तो भविष्यमे भी अनन्त जन्म मरण होंगे ।

काल ससार कहते है—किसी उत्सर्पिणीके प्रथम समयमे प्रथम नरकमे जीव उत्पन्न हुआ । मरने पर अन्यत्र उत्पन्न हुआ । फिर कभी उत्सर्पिणीके दूसरे आदि समयमे उत्पन्न हुआ । इसी तरह तीसरे आदि समयोमे उत्पन्न हुआ । इस प्रकार उत्सर्पिणी कालके सब समयोमे जन्म लेकर उत्सर्पिणी समाप्त की । इसी प्रकार अवसर्पिणी भी समाप्त की । इस तरह अन्य नरकोमे उत्पन्न हुआ । इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमे अनन्त बार जन्मा मरा ।

भव ससार कहते है—प्रथम नरकमे दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा । पुन. एक एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा । ऐसा करते करते क्रमसे एक सागर प्रमाण आयु पूर्ण की । फिर दूसरे नरकमे एक समय अधिक एक सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ मरा । इस तरह एक एक समय बढाते हुए तीन सागर प्रमाण आयु पूर्ण की । तीसरे नरकमे एक समय अधिक तीन सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और एक एक समय बढाते हुए सात सागरकी आयु पूर्ण की । फिर चतुर्थ नरकमे एक समय अधिक सात सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा । फिर एक एक समय बढाते बढाते दस सागरकी आयु पूर्ण की । फिर पाँचवे नरकमे एक समय अधिक दस सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा । फिर एक एक समय बढाते बढाते सतरह सागरकी आयु पूर्ण की । फिर छठे नरकमे एक समय अधिक सतरह सागरसे लेकर एक एक समय बढाते-बढाते बाईस सागरकी आयु पूर्ण की । फिर सातवेमे एक समय अधिक बाईस सागरसे लेकर तैतीस सागरकी आयु पूर्ण की' इस प्रकार इन आयुके विकल्पोंके परावर्तनको भव संसार कहते है ।

भावसंसारस्तु सर्वजनसुखाधिगम्य इति नेह प्रतन्यते। एवंभूते संसारसागरे अनन्ते। **बहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि'** शारीरं, आगन्तुक, मानसं, स्वाभाविकमिति विकल्पेन बहूनि तीव्राणि दुःखानि सलिलानि यस्मिन् तस्मिन् संसरमाणो परिवर्तमानः। जीवो **'दुक्खेण'** कष्टेन। **'लभइ'** लभते। किं **'मणुस्सत्त'** मनुष्यत्वं। मनुष्यक्षेत्रस्याल्पत्वात् सर्वजगति तिरश्चामुत्पत्तेर्मनुजतानिर्वर्तकाना कर्मणा कारणभूता ये परिणामास्तेषा दुर्लभत्वाच्च। के ते परिणामा इत्यत्रोच्यते—

सर्व एव हि जीवपरिणामा मिथ्यात्वासंयमकषायाख्यास्त्रिप्रकारा भवन्ति। तीव्रो मध्यमो मन्द इति। कुत कर्मनिमित्ता हि मिथ्यात्वादय कर्माणि च तीव्रमध्यममन्दानुभवविशिष्टानि। तेन कारणभेदत कार्याणा परिणामाना विचित्रता। तत्र ये हिंसादय[१] परिणामा मध्यमास्ते मनुजगतिनिर्वर्तका वालिकाराज्या, दारुणा, गोमूत्रिकया, कर्दमरागेण च समाना यथासख्येन क्रोधमानमायालोभा परिणामा। जीवघात कृत्वा हा दुष्कृतं, यथा दुःख मरणं वास्माकं अप्रिय तथा सर्वजीवाना। अहिंसा शोभना वय तु असमर्था हिंसादिक परिहर्तुमिति च परिणाम। मृषा परदोषसूचनं[१], परगुणानामसहनं वञ्चनं वाऽसज्जनाचार। साधूनामयोग्यवचने दुर्व्यापारे च प्रवृत्ताना का नाम साधुतास्माकमिति परिणाम। तथा शस्त्रप्रहारादप्यनर्थ परद्रव्यापहरण, द्रव्यविनाशो हि सकलकुटुम्बविनाशो। नेतरत्र तस्माद्दुष्टु[२] कृत परधनहरणमिति परिणाम। परदारादिलङ्घनमस्माभि कृत तदतीवाशोभन। यथास्मद्दाराणा परैर्ग्रहणे दुःखमात्मसाक्षिक तद्वत्तेषामिति परिणाम। यथा गङ्गादिमहानदीना अनवरतप्रवेशेऽपि न तृप्ति सागरस्यैव द्रविणेनापि जीवस्य सन्तोषो नास्तीति परि-

---

भाव ससारको तो सभी सुखपूर्वक जान लेते हैं। अत यहाँ उसका विस्तार नही किया। इस प्रकारके अनन्त ससार सागरमे मनुष्य पर्याय पाना दुर्लभ है। क्योकि मनुष्य क्षेत्र अल्प है। तिर्यञ्च तो सब जगत्मे उत्पन्न होते हैं। मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेके कारणभूत जो परिणाम हैं वे दुर्लभ है। वे परिणाम कौनसे हैं यह कहते हैं—मिथ्यात्व असंयम और कषाय रूप सभी जीव परिणाम तीन प्रकारके है—तीव्र, मध्यम, मन्द, क्योकि मिथ्यात्व आदि परिणाम कर्मके निमित्तसे होते है और कर्म तीव्र मन्द और मध्यम अनुभाग शक्तिसे युक्त होते है। अतः कारणके भेदसे उनके कार्य परिणामोंमे भी विचित्रता होती है। उनमेसे जो हिंसा आदि रूप परिणाम मध्यम होते है वे मनुष्य गतिके कारण होते है। ऐसे परिणाम है बालूकी लकीरके समान क्रोध, लकडीके समान मान, गोमूत्रिकाके समान माया और कीचडके रागके समान लोभ। जीवघात करके पछताना, हा बुरा किया। जैसे दुःख और मरण हमे अप्रिय हैं उस तरह सभी जीवोको अप्रिय है। अहिंसा उत्तम है किन्तु हमलोग हिंसा आदिको त्यागनेमे असमर्थ है। इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण है। दूसरेको झूंठा दोष लगाना, दूसरेके गुणोको न सहना, ठगना ये दुर्जनोके आचार है। साधुओंके अयोग्य वचन और खोटे व्यापारमे लगे हम लोगोमे साधुता कैसे सभव है इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण है। दूसरेके द्रव्यका हरण करना शस्त्र प्रहारसे भी बुरा है। द्रव्यका विनाश समस्त कुटुम्बका विनाश है। इसलिए दूसरेका धन हरना खोटा काम है। इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं। हमने जो परस्त्री आदिका सेवन किया यह बुरा किया। जैसे हमारी स्त्रियोको दूसरे पकडे तो हमें दुःख होता है उसी तरह दूसरोको भी होता है। इस प्रकारके परिणाम मनुष्य गतिके कारण हैं। जैसे गंगा आदि महा नदियोके द्वारा रात दिन जल आने पर भी सागरकी तृप्ति नही होती, इसी तरह धनसे भी जीवोंको सन्तोष नही होता।

---

१. दोषस्तवनं–आ०। २ दुष्ट–आ०।

णामः । एवमादिपरिणामानामसुलभता अनुभवसिद्धैव । इत्थ दुर्लभमनुजत्वं साधुवदने परुषमिव वच । घर्मरश्मिमण्डले तम इव, चण्डकोपे दयेव, लुब्धे सत्यवचनमिव, मानिनि परगुणस्तवनमिव, वामलोचनाया-मार्जवमिव, खलेषूपकारज्ञतेव, आप्ताभासमतेषु वस्तुतत्त्वावबोध इव । तह चेव मनुजत्वमिव । 'देसकुलरूवमा-रोग्गमाउगं बुद्धी' देश , कुलं, रूपं, आरोग्य, आयुर्बुद्धिश्च । 'सवणं गहणं सद्धा य' संजमो श्रवणं, ग्रहणं श्रद्धा संयमश्चेत्येते 'दुल्लहा' दुर्लभा लोके । तत्र देशदुर्लभतोच्यते । कर्मभूमिजा, भोगभूमिजा अन्तर्द्वीपजाः सम्मूर्च्छिमा इति चतु प्रकारा मनुजा । पञ्च भरता , पञ्चैरावताः, पञ्च विदेहा इति पञ्चदशकर्मभूमय । पञ्च हैमवतवर्षा , पञ्च हरिवर्षा , पञ्च देवकुरवः, पञ्च उत्तरकुरव , पञ्च रम्यका , पञ्च हैरण्यवतवर्षाः त्रिंशद्भोगभूमयः । लवणकालोदधिसमुद्रयोरन्तरद्वीपा । चक्रिस्कन्धावारप्रस्रवोच्चारभूमय. शुक्रसिंहाणकश्लेष्म-कर्णदन्तमलानि चाङ्गुलासख्यातभागमात्रशरीराणा सम्मूर्च्छिमाना जन्मस्थानानि । तत्र भोगभूमिमन्तरद्वीप च परिहृत्य कर्मभूमिषूत्पत्तिर्दुर्लभा । कर्मभूमिषु च बर्बरचिलातकपारसीकादिदेशपरिहारेण अङ्गवङ्गमगधादिदेशेषु उत्पत्ति । लब्धेऽपि देशे चाण्डालादिकुलपरिहारेण तपोयोग्ये कुले जातौ । जातिर्मातृवश । सुकुल कथ दुर्लभ इति चेदत्रोच्यते । जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तपो, बलं वा प्राप्य अगर्वितत्वं अन्येऽप्येतैर्गुणैरधिका स्वबुद्ध्यानमन, परानवज्ञाकरण, गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्ति , परेण पृष्टस्यापि अन्यदोषाकथन, आत्मगुणस्यास्तवन, इत्येतै परिणामै उच्चैर्गोत्र कर्म आपाद्यते तेन कुलेषु पूज्येषु जायते जन्तुरय पुनर्न तथा प्रवर्तते जडमति । किंत्वेतद्विपरीतेषु परिणामेषु वर्तमानो नीचैर्गोत्रमेव बध्नाति असकृत्तेन पूज्य कुल दुर्लभ । उक्त च—

इस प्रकारके परिणामोकी दुर्लभता अनुभवसे सिद्ध है । इस प्रकार मनुष्य जन्म वैसे ही दुर्लभ है जैसे साधुके मुखमे कठोर वचन, सूर्यमण्डलमे अन्धकार, प्रचण्ड क्रोधीमे दया, लोभीमे सत्यवचन, मानीमे दूसरेके गुणोका स्तवन, स्त्रीमे सरलता, दुर्जनोमे उपकारको स्वीकृति, आप्ताभासोके मतों में वस्तु तत्त्वका ज्ञान दुर्लभ है । देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, ग्रहण, श्रवण और सयम ये लोकमे उत्तरोत्तर दुर्लभ है ।

उनमेसे देशकी दुर्लभता कहते हैं—मनुष्य चार प्रकारके है—कर्मभूमिया, भोगभूमिया, अन्तर्द्वीपज और सम्मूर्छिम । पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमिया हैं । पाँच हैमवत वर्ष, पाँच हरिवर्ष, पाँच उत्तरकुरु, पाँच देवकुरु, पाँच रम्यक, पाँच हैरण्यवत, ये तीस भोगभूमियाँ है । लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्रमे अन्तर्द्वीप हैं । चक्रवर्तीकी सेनाके निवास-स्थानकी मलमूत्र त्यागनेकी भूमियाँ, वीर्य, नाक, थूक, कान और दाँतका मैल, ये अगुलके असंख्यात भाग शरीरवाले सम्मूर्छन जीवोके जन्मस्थान है । उनमेसे भोगभूमि और अन्तरद्वीपको छोड कर्मभूमियोमे उत्पत्ति दुर्लभ है । कर्मभूमियोमे बर्बर, चिलातक, पारसीक आदि देशोंको छोड अग, बग, मगध आदि देशोमे उत्पत्ति दुर्लभ है । योग्य देश मिलनेपर भी चाण्डाल आदि कुलोको छोड तपके योग्य कुल जाति मिलना दुर्लभ है । मातृवशको जाति कहते हैं ।

शङ्का—सुकुल कैसे दुर्लभ है ?

समाधान—जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तप और बलको पाकर अन्य भी इन गुणोंसे अधिक है ऐसा अपनी बुद्धिसे मानकर गर्व न करना, दूसरोंकी अवज्ञा न करना, अपनेसे जो गुणोंमें अधिक हों उनसे नम्र व्यवहार करना, दूसरेके पूछनेपर भी किसीके दोष न कहना, अपने गुणोंकी प्रशसा न करना, इस प्रकारके परिणामोसे उच्चगोत्रका बन्ध होता है । उससे पूज्य कुलोमे जन्म होता है । किन्तु यह अज्ञानी जीव उस प्रकारकी प्रवृत्ति नही करता, बल्कि उक्त

जात्या मत्तो यः कुलाद्वापि रूपादैश्वर्याद्वा ज्ञानतो वा बलाद्वा ।
प्राप्यार्थं वा यस्तपो वा परेषु निन्दायुक्तः स्तौति चात्मानमेव ॥ १ ॥
अन्यावज्ञानादरातिक्रमाणां कर्ता मानं योऽतिमात्रं बिभर्ति ।
नीचैर्गोत्रं नाम कर्मैष बाल्याद्बध्नात्युग्रं निन्दितं जन्मवासे ॥ २ ॥
यस्तु प्राप्याप्युत्तमत्वं कुलाद्यैरन्यान्बुद्धया मन्यमानो विशिष्टान् ।
अन्यान्कांश्चिन्नावजानाति धीरान्नीचैर्वृत्त्या युज्यते चाधिकेषु ॥ ३ ॥
पृष्टोऽप्यन्यैर्नान्यदोषान्ब्रवीति नात्मानं वा स्तौति निर्मुक्तमानः ।
उच्चैर्गोत्रं नाम कर्मैष धीमान् बध्नातीष्टं जन्मवासे प्रजानाम् ॥ ४ ॥ इति । [ ]

नीरोगतापि दुर्लभा, असकृदसद्वेद्यकर्मबन्धनात् । बन्धाच्छेदात्ताडनान्मारणाद्दाहाद्रोधाच्चासद्वेद्यमेव बध्नाति । तथा चाभ्यधायि—

अन्येषां यो दुःखमज्ञोऽनुकम्पां त्यक्त्वा तीव्रं तीव्रसंक्लेशयुक्तः ।
बन्धच्छेदैस्ताडनैर्मारणैश्च दाहै रोधैश्चापि नित्यं करोति ॥
सौख्यं काङ्क्षन्नात्मनो दुष्टचित्तो नीचो नीचं कर्म कुर्वन्सदैव ।
पश्चात्तापं तापितो यः प्रयाति बध्नात्येषोऽसातवेद्यं सदैवम् ॥ इति । [ ]

रोगाभिभवान्नष्टबुद्धिचेष्ट कथमिव हितोद्योगं कुर्यात् ।

तथा चाभाणि—

प्राप्नोत्युपात्ताविह जीवतोऽपि महाभय रोगमहाशनिभ्यः ।
यथाशनिः खान्निपतत्यबुद्धो रोगस्तथागत्य निहन्ति देहम् ॥ १ ॥

परिणामोंसे विपरीत परिणाम करके बार-बार नीचगोत्रका बन्ध करता है इससे पूज्य कुल दुर्लभ है। कहा है—

जो जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान या बलका मद करता है, धन अथवा तपको प्राप्त करके दूसरोकी निन्दा और अपनी प्रशसा करता है, अन्यकी अवज्ञा, अनादर और तिरस्कार करके खूब घमण्ड करता है वह बचपनसे ही नीचगोत्र नामक कर्मका बन्ध करके नीचकुलमे जन्म लेता है। और जो उत्तमकुल आदि प्राप्त करके दूसरोको अपनेसे विशिष्ट मानता है, किसीकी भी अवज्ञा नही करता। अपनेसे अधिकोंमे नम्रव्यवहार करता है। पूछनेपर भी दूसरोंके दोष नही कहता और अपनी प्रशंसा नहीं करता। वह मानरहित व्यक्ति उच्चगोत्रका बन्ध करता है जो जनताको इष्ट है।

नीरोगता भी दुर्लभ है क्योकि जीव निरन्तर असातावेदनीयकर्मका बन्ध करता है। बन्धन, छेदन, ताडन, मारण, दाह, और रोगसे असातावेदनीय ही कर्म बँधता है। कहा है—जो अज्ञानी तीव्र सक्लेशसे युक्त हो, दया त्याग दूसरोको बन्धन, छेदन, ताडन, मारण, दाह और रोधसे नित्य तीव्र दु ख देता है, जो दुष्टचित्त नीच पुरुष अपनेको सुख चाहता हुआ सदैव नीचकर्म करता है और सताये हुएसे सताये जानेपर पछताता है वह सदैव असातवेदनीयको बाँधता है।

रोगसे ग्रस्त होनेपर उसकी बुद्धि और चेष्टा नष्ट हो जाती है तब वह कैसे अपने हितका उद्योग कर सकता है? कहा है—

इस लोकमें जीवन प्राप्त करके भी वह रोगरूपी महान् वज्रपातसे महाभयग्रस्त रहता

बलायुषी रूपगुणाश्च तावद्यावन्न रोगः समुपैति देहम् ।
फलस्य[1] लग्नस्य हि जातु तस्योत्तावन्न पातः श्वसनो न यावत् ॥
तस्मिन्स्ववेहे परिबाध्यमाने श्रेयः प्रकर्तुं न सुखेन शक्यम् ।
गृहे समन्तान्न हि बह्यमाने शक्तः प्रकर्तुं पुरुषोऽत्र किंचित् ॥ इति । [ ]

सदा परप्राणिघातोद्यतस्तदीयप्रियतमजीवितविनाशनात् प्रायेणाल्पायुरेव भवति । आयुषश्छेदने बहूनि निमित्तानि—जल, ज्वलन , मारुत , सर्पा , वृश्चिका , रोगा, उच्छ्वासनिश्वासनिरोध , आहारालाभ , वेदनेत्येवमादीनि । ततो दीर्घमायुर्न सुलभं मनुजभवे । सामान्यवचनोऽप्यायु शब्द दीर्घे मनुजायुषि वर्तमानो गृहीतोऽन्यथायुर्मात्रस्य ससारिण सुलभत्वात् । लब्धेष्वपि देशादिपु बुद्धिर्दुर्लभा । परलोकान्वेषणपरा बुद्धिरत्र बुद्धिशब्देनोच्यते न ज्ञानमात्रवाची । तद्धि सुलभ ज्ञानावरणेनावरुद्धबोधवीर्यस्य जलधर[2]घटावरुद्धमण्डलस्य छायामान्द्यमिव दिनपतेरवि वेदक भवति ज्ञानम् । किंचिन्मिथ्यात्वोदयाद्विपर्यस्तमुदेति विज्ञान । नैवात्मा नाम कश्चित्कर्ता शुभाशुभयो कर्मणो । नापि तत्फलानुभवनिरत , नापि परलोक प्राप्य कर्मवशवर्तिना कश्चिदिति । तथाप्यधायि—

लोको नायं नापरो नापि चात्मा धर्माधर्मौ पुण्यपापे न चापि ।
स्वर्गो दृष्टः केन केनाथवा ते घोरा दृष्टा नारकाणां निवासाः ॥
बन्धः को वा कोऽथवा सोऽस्ति मोक्षो, मिथ्या सर्व यन्त्रजेयं निरर्था ।
प्राप्ताः कामाः सेवितव्या यथेष्टं दृष्टं त्यक्त्वा दूरगे कोऽभिलाष ॥ [ ]

है। जैसे आकाशसे अचानक वज्रपात होता है वैसे रोग अचानक आकर शरीरका घात करता है। बल, आयु, रूपादिगुण तभी तक है जब तक शरीरमे रोग नही होता। पेड़की डालमें लगा फल तभी तक नही गिरता जब तक हवा नही चलती। उसे अपने शरीरमे पीडा होने पर सुखपूर्वक कल्याण करना शक्य नही है। घरके चारो ओरसे न जलने पर ही पुरुष कुछ कर सकता है। घर भस्म हो जाने पर कुछ नही कर सकता।

जो सदा दूसरे प्राणियोंके घातमे तत्पर रहता है वह उनके प्रियतम जीवनका विनाश करनेसे प्राय अल्प आयु वाला होता है। आयुके नष्ट होनेके बहुतसे निमित्त है—जल, आग, वायु, साँप, बिच्छु, रोग, श्वासोच्छ्वासका रुकना, भोजनका न मिलना, वेदना आदि। अत. मनुष्य भवमे दीर्घ आयु सुलभ नही है। यह आयुशब्द सामान्य आयुका वाचक होने पर भी दीर्घ मनुष्यायुके अर्थमे ग्रहण किया है। अन्यथा आयु मात्र तो ससारी जीवोमे सुलभ है। देश आदि प्राप्त होने पर भी बुद्धिकी प्राप्ति दुर्लभ है। यहाँ बुद्धि शब्दसे परलोकको खोजमे तत्पर बुद्धि ग्रहण की है, ज्ञान मात्रको वाचक बुद्धि नही। ज्ञानमात्र तो सुलभ है। जैसे सूर्यमण्डलके मेघकी घटासे ढक जानेपर हलकी छाया रहती है वैसे ही ज्ञान शक्तिके ज्ञानावरणमे ढक जानेपर साधारण ज्ञान रहता है। मिथ्यात्वका उदय होनेसे ज्ञान विपरीत हो जाता है। यथा—आत्मा नही है न कोई शुभ अशुभ कर्मका कर्ता है और न कोई उसके फलका भोक्ता है। न कोई कर्मके परवश होकर परलोक जाता है। कहा है—

'न कोई इह लोक है, न कोई परलोक है। न आत्मा है, न धर्म अधर्म है, न पुण्य पाप हैं। किसने स्वर्ग देखा है और किसने वे भयानक नारकियोके निवास देखे है ? कौन बन्ध है और कौन

१ फलस्य शाखा गतवृत्ततन्तो। २, रपटाव—आ०। रपप्लाव—मु०।

इति । तथा [1]चान्ये—द्वयष्टवर्षिका स्त्री विंशतिवार्षिकः पुमान् तयो परस्पर प्रेमपूर्वहावभावविभ्रम-कटाक्षकिलिकिंचितादिभावपूर्वकः सयोग एव स्वर्ग. नान्यः ।

> स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थसंपत्करीं
> एनां ये प्रविहाय यान्ति कुधियः स्वर्गापवर्गेच्छया ।
> तद्दोषैर्विनिहत्य ते द्रुततरं नग्नीकृता मुण्डिताः
> केचित्रक्तपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥ [शृं० श० पृ० ४५]

तथान्यैरभिहित —जलबुद्बुदवज्जीवा , परलोकिनोऽभावात्परलोकाभाव इति च । सत्यामपि बुद्धौ समीचीनज्ञानलोचनवता, सकलप्राणिभृद्गोचरकृपापरिष्वक्तचेतसा लाभसत्कारादिनिरपेक्षेण, चतुर्गतिपरि-भ्रमणप्रभवयातनासहस्रमवलोक्य प्राणभृता परमामनुकम्पामुपगतेन हा जनो विचेतनः मिथ्यादर्शनाद्यशुभपरिणाम-कदम्बकमिदमस्माभिरशुभगतिनिर्वर्तनप्रवणमवहातव्यमित्यज्ञानानस्तत्रैवासकृत्प्रवर्तमानो दु खरत्नाकरमपारमुप-विशत्यशरणो वराक इति कृतसकल्पेन यतिजनेन संसर्गो दुर्लभ । कुत. ? दर्शनमोहोदयाज्ज्ञानावरणोदयाच्च न यतिगुणान्वेत्ति श्रद्धत्ते वा जन । तत एव न ढौकते यतीन्न वा सुगुणमविदुषस्तदुसर्पणमुपपद्यते । अपि च चारित्रमोहोदयाद[2]सयतैरतिगतिनरा ाणिनस्ततोऽसौ हिंसादिक स्वय करोति, कारयति अनुमोदते । हिंसादिषु

मोक्ष है । यह सब मिथ्या और व्यर्थकी यन्त्रणा है । जो काम भोग प्राप्त है उन्हे यथेष्ट सेवन करना चाहिए। सामने वर्तमानको छोड़ दूरवर्तीकी अभिलाषा क्यो ?।'

तथा अन्य भी कहते हैं—सोलह वर्षकी स्त्री और बीस वर्षके पुरुषका परस्परमे प्रेमपूर्वक हाव भाव, विलास, कटाक्ष, शृङ्गारादि भावपूर्वक संयोग ही स्वर्ग है । इसके सिवाय कोई दूसरा स्वर्ग नही है। कहा है—'कामदेवको जीतनेवाली और समस्त अर्थ सम्पदाको करने वाली स्त्री मुद्रा है। जो कुबुद्धि स्वर्ग और मोक्षकी इच्छासे इसे छोडकर जाते हैं वे उसके दोषोसे सताये जाकर जल्द ही सिर मण्डाकर नग्न हो जाते है। कुछ लाल वस्त्र धारण करते है और कुछ जटाये वढाते हैं। कुछ हाथमे मनुष्यकी खोपडी लेकर कापालिक हो जाते हैं।' तथा कुछ दूसरोने भी कहा है—जीव जलके बुलबुलेके समान है और जब कोई परलोकी आत्मा नही है तो परलोक भी नही है।

यतिजनोका चित्त समस्त प्राणियो पर कृपा भावसे युक्त होता है, उन्हे लाभ सत्कार पुरस्कार आदिकी अपेक्षा नही होती। चार गतियोमें परिभ्रमणसे होनेवाली हजारो यातनाओको देखकर प्राणियोमें अत्यन्त दयालु हो उन्होने सकल्प किया—'हा, यह अज्ञानी जन--अशुभगतिमे ले जानेमे समर्थ यह मिथ्यादर्शन आदि अशुभ परिणामोका समूह हमे त्यागना चाहिए' ऐसा नही जानते और बार-बार उसीमे प्रवृत्ति करते हुए बेचारे अशरण होकर दु खके अपार समुद्रमे प्रवेश करते हैं।' उनमें बुद्धि होते हुए भी यतिजनके साथ उनका सम्बन्ध नही हो पाता, क्योकि दर्शनमोहके उदय और ज्ञानावरणके उदयसे मनुष्य यतिजनोके गुण न तो जानता है और न उनपर श्रद्धा करता है। इसीसे न तो यतियोकी ओर देखता है और उनके गुणोको न जाननेसे उनके पास नही जाता। तथा चारित्र मोहका उदय होनेसे असंयमी जनोंके प्रति उसका अत्यधिक प्रेम होता है इससे वह प्राणियोंकी स्वय हिंसा करता है, दूसरोसे कराता है और कोई स्वय हिंसा करता है तो

---

१ तथा चान्येरत आरभ्य स्त्रीमुद्रा इत्यादि श्लोक पर्यन्तं नास्ति आ० । २. सयतोऽतितरा–आ० मु० ।

वर्तमानेष्वेव रतिं बध्नाति न हिंसादिपरिहारोद्यतेषु । विना रतिं कथं तै संसर्गस्तत्सेवा वा । सा हि—

संसारोच्छेदकरी प्रशमकरी ज्ञानबुद्धिवृद्धिकरी ।
कीर्तिकरी पुण्यकरी संसेवा साधुवर्गस्य ॥
दर्शनमात्रमपि सतां संसारोच्छेदने भवति बीजं ।
किं पुनरधिकारकृता संसेवा साधुवर्गस्य ॥
तत्सेवा यदि न स्यान्न स्याद् ज्ञानागमो विना ज्ञानात् ।
हितकर्मप्रतिपत्तिर्न स्यान्न स्यात्ततो मोक्षः ॥
साधूपसेवनं यदि पारपर्येण मोक्षमानयति ।
हानिश्रमौ च नृणां कौ साधून्सेवमानानाम् ॥
श्रेयाः कथं न यतयो विबुधा श्रेयोर्थिना मनुष्येण ।
अक्षयमिह[1] ये श्रेयो मुधाश्रितेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥
इति सततमपोह्यमानमोहाविहपरलोकहितैषिणा नरेण ।
जगदधिकतपोविभूतियुक्ता यतिवृषभा विनयेन सेवितव्याः ॥

यदृच्छया जातेऽपि यतिजनससर्गे न गुणः न चेद्धितं शृणुयात् । यथा न वर्षस्य पात एव गुणो नरस्य अपि तु भुवि बीजवाप । तद्वच्छ्रवण गुणो यतिसमोपगमनेन । तदेव श्रवण दुर्लभं कथयति । समीपमुपगतोऽपि निद्रायति ।

समीपस्थाना वचो यत्किंचित् शृणोति, न रोचते, वा तद्धर्ममाहात्म्यप्रकाशन मोहोदयात् । न जानाति

उसकी अनुमोदना करता है । जो हिंसा आदिमे लगे रहते है उन्हींमे प्रेम करता है । जो हिंसासे बचनेमे तत्पर हैं उनमे उसकी प्रीति नही होती । बिना प्रीति हुए कैसे उनके साथ सम्बन्ध हो सकता है अथवा कैसे उनकी सेवा कर सकता है ?

ऐसे यतिजनोंकी सेवा ससारका विनाश करती है, शान्ति प्रदान करती है, ज्ञान और बुद्धिको बढाती है, यश तथा पुण्यको लाती है ।

सज्जनोका दर्शनमात्र भी ससारके विनाश करनेमे बीज होता है फिर साधुवर्गकी अधिकार पूर्वक की गई सम्यक् सेवा का तो कहना ही क्या है ? यदि उनकी सेवा न की जाये तो ज्ञानकी प्राप्ति नही हो सकती । ज्ञानके बिना हितकारी कर्मोंका ज्ञान नही होता और हितके ज्ञान बिना मोक्ष नही होता । यदि साधुजनोकी सेवा परम्परासे मोक्ष लाती है तो साधुओकी सेवा करने-वाले मनुष्योकी हानि और श्रम कैसे सम्भव है ? कल्याणका इच्छुक ज्ञानी मनुष्य यतियोंका आश्रय क्यो न लेवे, जो निष्प्रयोजन भी आश्रय लेनेवालोको अक्षय कल्याण प्रदान करते है । इसलिए इस लोक और परलोकमें हित चाहने वाले मनुष्यको निरन्तर मान और मोहको त्याग-कर जगत्मे अधिक तपकी विभूतिमे युक्त श्रेष्ठ यतियोकी विनयपूर्वक सेवा करनी चाहिए ।

अचानक यतिजनोका ससर्ग होनेपर भी यदि उनसे हितकी बात न सुने तो कोई लाभ नही है । जैसे वर्षाके होनेसे ही मनुष्यका लाभ नही है किन्तु जमीनमे बीज बोने पर लाभ है । उसी तरह यतिजनके समागमका लाभ उनसे हितकी बात सुननेमे है । इस प्रकार आचार्य उपदेश सुननेको दुर्लभ कहते हैं । मनुष्य समीपमें जाकर भी सोता है । समीपमे स्थित जनोंके वचन

---

१ य महाश्रियो ये मुधा—आ० ।

वा मतिमान्द्यादत एव तत्र नानुरागोऽस्य । अन्तरेण चानुरागं कथं श्रोतुमुत्सहेत् । तथा चाभाणि—

> 'साधूनां शिवगतिमार्गदेशकानां संप्राप्तो निलयमपि प्रमाददोषात् ।
> आस्ते यो जनवचनानि तत्र शृण्वन् गत्वासौ ह्रदमपि पङ्क एव मग्नः ॥' इति [ ]

सत्यपि श्रवणे ग्रहण विज्ञानं तन्निरूपितस्यार्थस्य दुष्कर । सौक्ष्म्याज्जीवादिवस्तुतत्त्वस्य कदाचिदप्य-श्रुतत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावाच्च । ज्ञाते धर्मतत्त्वे तत्र श्रद्धा दुर्लभा । सोऽयं जिनप्रणीतो धर्म. अहिंसालक्षण , सत्याधिष्ठान , परद्रव्यापहरणपरिवर्जनात्मक , नवविधब्रह्मचर्यगुप्त , परित्यक्ताशेषमूर्छ , विनय-मूल , समीचीनज्ञानपुर सर , क्षमामार्दवार्जवसतोष[1]गुण., नरकवर्तनीवज्रार्गलभूत , तिर्यग्गतिलताकुठार , कठोराशनिर्दु खाचलशिखराणा, मोहमहामहीरुहोत्पाटनपटुमातरिश्वा जरादवानलशिखामुखप्रशमनमुखरो घनाघन , प्रावर्षक. प्रावृषेण्य , मरणहरिणविशसनचटुलचण्डपुण्डरीक', क्रूररोगोरगाणा विनतासुतः, सपत्सुरापगाया हिमाचल , य सेतुरगाधशोकपङ्कस्य, पिता सुभगताया , ऐश्वर्यरत्नानामाकर , कुयोनिवनवि-प्रनष्टाना पृथुलशिवपुर, इति श्रद्धान अतिदुर्लभ दर्शनमोहोदयात् । उपशमात् क्षयोपशमात्, क्षयाद्वा दर्शन-मोहस्य जातेऽपि श्रद्धाने सयमो दुर्लभतर प्रत्याख्यानावरणोदयात् । उक्तं च—

थोडा बहुत सुनता है किन्तु रुचते नही । अथवा मोहके उदयसे उनके धर्मके महत्त्वका प्रकाशन उसे नही रुचता । अथवा बुद्धिकी मन्दतासे समझता नही है । इसीसे उसका उस उपदेशमे अनु-राग नही होता । और अनुरागके बिना सुननेका उत्साह कैसे हो सकता है । कहा है—'जो मोक्षमार्गके उपदेशक साधुओंके निवास स्थान पर जाकर भी प्रमादवश वहाँ लोगोकी बातचीत सुनता हुआ बैठता है वह तालाब पर जाकर भी कीचडमे ही फँस जाता है ।

उपदेश सुनकर भी उसमे कहे गये अर्थका ग्रहण, उसका ज्ञान कठिन है; क्योकि एक तो जीवादि वस्तु तत्त्व सूक्ष्म है, दूसरे पहले कभी सुना नही, तीसरे श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष नही है । धर्मतत्त्वको जानने पर भी उसमे श्रद्धा दुर्लभ है । वह यह जिन भगवानके द्वारा कहा गया धर्म अहिंसा रूप है, सत्य उसका आधार है, उसमे परद्रव्यका अपहरण त्यागना होता है, नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यसे वह रक्षित है, उसमे समस्त ममत्वभाव छोडना होता है । विनय उसका मूल है । समीचीन ज्ञानपूर्वक वह धर्म होता है । क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष उसके गुण है । नरकके मार्गके लिए वज्रकी साकल रूप है । तिर्यञ्चगतिरूपी बेलके लिए कुठार है । दु खरूप पर्वतोके शिखरोके लिए कठोर वज्र है । मोहरूपी महावृक्षको उखाडनेमें चतुर प्रचण्ड वायु है । जरारूपी जगलकी आगकी लपटोको शान्त करनेके लिए वर्षाकालीन मेघ है । मृत्युरूपी हरिण-का वध करनेके लिए प्रचण्ड बाघ है । क्रूर रोगरूपी सर्पोके लिए गरुड है । सम्पत्तिरूपी गगाकी उत्पत्तिके लिए हिमवान पर्वत है । गम्भीर शोक रूपी कीचड़से पार उतरनेके लिए पुल है । सौभाग्यका पिता है । ऐश्वर्य रूपी रत्नोकी खान है, कुयोनिरूपी वनमे भटकते हुए लोगोंके लिए विशाल मोक्ष नगर है ।' इस प्रकारका श्रद्धान दर्शनमोहका उदय होनेसे अति दुर्लभ है । दर्शन-मोहका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे श्रद्धान होनेपर भी प्रत्याख्यानावरणका उदय होनेसे सयम उससे भी अधिक दुर्लभ है । कहा है—

---

१ गुणभूषण' आ० मु० ।

दुर्लभो भवति नरेण तत्त्वधर्मो ज्ञात्वापि प्रयतनमत्र कष्टमेव ।
तज्ज्ञात्वा धृतिमुपलभ्य वृष्टतत्त्वः, सद्धर्मे क्षणमपि मा कृथाः प्रमादम् ॥
भूत्वायं सुकरतरोऽपि पापकार्यात् धर्मोऽभूत्क्षणमपि दुष्करो मनुष्ये ।
आश्चर्यं किमपि न चात्र सन्ति मूढाः स्यादेतद् ध्रुवमिह कर्मणां गुरुत्वम् ॥
काकिण्यामपि गणयन्गुणं महान्तं तद्धेतो श्रममतुलं करोति यस्मात् ।
न त्वज्ञ सुरमनुजर्द्धिमोक्षमूले सद्धर्मे हृदयमपि स्थिरीकरोति ॥
अत्यापे भृशमहिते करोति चेष्टामालस्य परमहिते च याति धर्मे ।
युक्त तद्यदि न तथा भवेत्पृथिव्यां संसारं ननु पुरुषः कथं लभेत ॥ इति । [　　　]

एवमपि '**परंपरेण**' दुर्लभपरपरया । '**लद्धूण वि**' लब्ध्वापि । '**संयमं**' सजम । '**खवगो**' क्षपक । **कि न** '**लभेज्ज सुदिं**' न लभते श्रुति । '**सवेगकरीं**' ससारभयजननी । '**अबहुस्सुदसकासे**' अबहुश्रुतस्य सूरे पार्श्वे । तस्माच्छ्रुतवानाचार्य आश्रयणीय इति प्रस्तुतेन सबन्ध ॥

'**सम्मं सुदिमलभंतो**' समीचीना श्रुतिमलभमान । कदा ? मरणकाले । '**अबहुस्सुदसगासे**' अबहुश्रुतस्य पार्श्वे । '**चिरद्ध**' चिर काल । '**मुत्तिमुवगमित्तावि**' मुक्तिशब्देनात्र प्राणेन्द्रियविषयासयमत्याग परिगृह्यते । तेनायमर्थ —चिरप्रवर्तितसयमोऽपीति । '**परिवडदि**' प्रच्यवते । कुत ? सयमात् । सयमहानिकथनेन चारित्राराधनाया अभाव आख्यायते । सयमात्प्रच्यवने कथमिति चेत्—मनोज्ञानाममनोज्ञाना च विषयाणा सर्वत्र सदा च सानिध्यात् अभ्यन्तरकारणस्य कर्मणोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामा प्रादुर्भवन्तीति ते दुर्निवारा इति वदन्ति ।

मनुष्यके द्वारा धर्मका तत्त्व जानना कठिन है । जानकर भी उसमे प्रयत्नशीलता कष्टकर है। उस धर्मको जानकर, तत्त्व दृष्टिसे सम्पन्न मनुष्यो धैर्य धारण करके समीचीन धर्मके विषयमें एक क्षणके लिए भी प्रमाद मत करो । पापकार्यमे अति सुकर होने पर भी यह धर्म मनुष्योको क्षणभरके लिए दुष्कर होता है। इसमे कोई आश्चर्य नही है । यह निश्चय ही कर्मोकी गुरुताका फल है। यह मनुष्य एक कौडीमे भी महान् गुण मानकर उसके लिए अतुल श्रम करता है। किन्तु अज्ञानी देव और मनुष्योकी ऋद्धिके मूल समीचीन धर्ममें अपने मनको भी स्थिर नही करता। अत्यन्त अहितकारी पापमे तो चेष्टा करता है और परमहितकारी धर्ममे आलस्य करता है। यह ठीक ही है। यदि ऐसा न होता तो पुरुष इस पृथिवी पर ससार कैसे पाता, कैसे सर्वत्र भ्रमण करता।'

इस तरह उत्तरोत्तर दुर्लभ संयमको धारण करके भी क्षपक अल्पज्ञानी आचार्यके पास ससारसे भयभीत करनेवाला उपदेश नही प्राप्त कर सकता । इसलिए शास्त्रज्ञ आचार्यका आश्रय लेना चाहिए, ऐसा प्रस्तुत कथनके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए। अल्पज्ञानी आचार्यके पास समीचीन उपदेश न पाकर चिरकाल तक मुक्तिको—यहाँ मुक्तिशब्दसे प्राणी और इन्द्रियोंके विषयमे असयमका त्याग लिया जाता है। अत उसका अर्थ होता है—सयमको धारण करके भी मरते समय सयमसे गिर जाता है। सयमकी हानि कहनेसे उसके चारित्र आराधनाका अभाव कहा है। संयमसे क्यो गिरता है । यह कहते हैं—

मनको प्रिय और अप्रिय लगनेवाले विषयोके सदा सर्वत्र समीप रहनेसे तथा अभ्यन्तर कारण कर्मका उदय होनेसे रागद्वेष और मोहरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं और वे दुर्निवार होते

'सक्कं बंसी छेत्तू' अल्पवंश वंशीत्युच्यते गाढावलग्नता हि तत्र संभवति शक्यते वशी च्छेत्तु । **'तत्तो'** गुल्मात् **'उक्कट्ठिदु'** अवक्रष्टु । **'पुणो'** पश्चात् । **'दुक्खं'** दुष्करं । **'इय'** एवं । **'संजदस्स वि'** सयतस्यापि मन । **'विसएसु'** रूपादिविषय । **'उक्कड्ढिदु'** अपक्रष्टु । **'दुक्खं'** दुष्करं । रागद्वेषेभ्यो व्यावर्तयितु अशक्य । एतदुक्तं भवति—रागद्वेषविजये यदि नाम प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसल्लेखनस्य क्षुदादिपरीषहैरुपद्रुत य मन्दवीर्य[1]स्य न श्रुतज्ञानप्रणिधानन्तच्चान्तरेण रागद्वेषयोःप्रवृत्तेर्न चारित्राधकता स्यात् । बहुश्रुत पुन यथास्य रागद्वेषौ न जायेत तथोपदिशति भोगनिर्वेजनी शरीरनिर्वेजनी वा कथामित्थ—

एकान्तदुःखं निरयप्रतिष्ठा तिर्यक्षु देवेषु च मानुषेषु ।
क्वचित्कदाचिन्नु कथंचिदेव सौख्यस्य संज्ञात्र शरीरिणां स्यात् ॥ १ ॥
एकेन जन्मस्वटताऽप्रमेयं शरीरिणा दुःखमवाप्यते यत् ।
अनन्तभागोऽपि न तस्य हि स्यात् सर्वं सुखम् सर्वशरीरसंस्थं ॥ २ ॥
तत्रैकजीवः सुखभागमेकं भजेत्कियन्तं जननार्णवेऽस्मिन् ।
संचूर्यमाणः परितो वराको वनेऽतिभीतो हरिणो यथैकः ॥ ३ ॥
भवेष्वनन्तेषु सुखे तथापि शरीरिणैकेन समापनीये ।
एकप्रसूतौ यदवाप्यते तत्कियद्भवेत्तस्य विमृश्यमाणे ॥ ४ ॥
अत्यल्पमप्यस्य तदस्तु तावत्तदुःखराशौ पतितं तदीयम् ।
स्यात्तद्रसं स्वादुरसं यथाम्बु प्राप्याम्बुदानां लवणार्णवाम्बु ॥ ५ ॥
यच्चाप्यदः सौख्यमितीष्यतेऽत्र पूर्वोत्थदुःखप्रतिकार एषः ।
विना हि दुःखात्प्रथमप्रसूतात् न लक्ष्यते किंचन सौख्यमत्र ॥ ६ ॥

हैं। जैसे बाँसका झुण्ड गाढरूपसे बृहद् रहता है उसमेसे छोटा बाँस तो खीचा जा सकता है। किन्तु पीछे उसको अलग करना बहुत कठिन है। उसी तरह सयमीका भी मन रूपादिविषयोमे फँसनेपर निकालना कठिन होता है अर्थात् रागद्वेषसे हटाना अशक्य होता है। कहनेका आशय यह है कि यद्यपि रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की है फिर भी शरीरकी सल्लेखना करनेपर भूख आदिकी परीषहसे पीडित और मन्दशक्ति उस क्षपकके श्रुतज्ञानकी ओर उपयोग नही होता। और उसके विना रागद्वेषमे प्रवृत्ति होनेसे चारित्रकी आराधना नही होती। किन्तु बहुश्रुत आचार्य उसको रागद्वेष पैदा न हों इस प्रकारकी भोग और शरीरसे वैराग्य करानेवाली कथा इस प्रकार कहता है—

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोमे सर्वथा दुःख ही है। उनमे प्राणियोंको सुखकी सज्ञा कभी, कही किञ्चित् ही होती है। एक प्राणी नाना जन्मोमे भ्रमण करते हुए जो अपरिमित दुःख भोगता है उसका अनन्तभाग भी सब सुख सब शरीरोमे मिलकर भी नही होता। तब इस जन्म-रूपी समुद्रमे एक जीव उस सुखका कितना भाग भोगता है? जैसे वनम एक अत्यन्त डरा हुआ बेचारा हरिण सब ओरसे त्रस्त हुआ रहता है वैसी ही दशा जीवकी ससारमे है। अनन्तभवोमे एक प्राणी के द्वारा प्राप्त सुख की जब यह स्थिति है तो उसका विचार करनेपर एक जन्ममे जो सुख प्राप्त होता है वह कितना होगा। अत्यन्त अल्प भी यह सुख दुःखके समुद्रमें गिरकर दुःखरूप ही हो जाता है। जैसे मीठा भी मेघोंका पानी लवण समुद्रके जलमे पड़कर खारा हो जाता है। तथा उसमे जो सुखका आभास होता है वह सुख नही है किन्तु पहले उत्पन्न हुए दुःखका प्रतीकार है।

---

१ स्य श्रुतज्ञानप्रणिधानात्त–आ०।

प्रपीयते ह्यम्बु तृषाप्रशान्त्यै क्षुन्नाशनायाशनमश्यते च ।
वेश्माम्बुवातातपवारणाय गुह्यप्रतिच्छादनमम्बरं च ॥ ७ ॥
शीतापनुत्प्रावरणं च दृष्टं शय्या च निद्राश्रमनोदनाय ।
यानानि चाध्वश्रमवारणार्थं स्नानं श्रमस्वेदमलापनुत्यै ॥ ८ ॥
स्थानश्रमस्यौषधमासनं च दुर्गन्धनाशाय च गन्धसेवा ।
वैरूप्यनाशाय च भूषणानि कलाभियोगोऽरतिबाधनाय ॥ ९ ॥
तथेह सर्वं परिचिन्त्यमानं भोगाभिधानं सुरमानुषाणाम् ।
दुःखप्रतीकारनिमित्तमेव भैषज्यसेवेव रुगर्दितस्य ॥१०॥
पित्तप्रकोपेन विदह्यमाने द्रव्याणि शीतानि निषेवमाणः ।
मन्येत भोगा इति तानि योऽज्ञ कुर्वीत सोऽन्नादिषु भोगसञ्ज्ञाः ॥११॥
यतश्च नैकान्तसुखप्रदानि द्रव्याणि तोयप्रभृतीनि लोके ।
अतश्च दुःखप्रतिकारबुद्धिं तेषु प्रकुर्यान्न तु भोगसंज्ञाम् ॥१२॥
क्षुधाभिभूतस्य हि यत्सुखाय तदेव तृप्तस्य विषायतेऽन्नम् ।
उष्णार्दितः काङ्क्षति यानि चेह तान्येव विद्वेषकराणि शीते ॥१३॥

कि च स्वचक्रविक्रमाक्रान्तदेवमानवविद्याधरचक्राणा निकटोपनिविष्टाक्षयनवनिधीना, समधिगतचतुर्दशरत्नाना, चक्रलाञ्छनाना, दशाङ्गभोगानुभवचतुराणा तथा सुधाशनानामप्यनेकसमुद्रोपमजीविना, अप्रच्यवप्रत्यग्रयौवनाना, सहजस्वेच्छानुसारिदिव्याभरणमाल्यवसनसपत्सौभाग्यस्कन्धेन मनोनयनवल्लभरूपप्रसूनोज्ज्वलेन

पहले हुए दुःखके बिना उसमे किञ्चित् भी सुख प्रतीत नही हो सकता। प्यासकी शान्तिके लिए पानी पिया जाता है और भूखकी शान्तिके भोजन किया जाता है। पानी, हवा और घामसे बचनेके लिए मकान होता है और गुह्यभागको ढकनेके लिए वस्त्र होता है। ठडसे बचनेके लिए ओढना होता है। निद्रा तथा थकान दूर करनेके लिए शय्या होती है। मार्गके श्रमसे बचनेके लिए सवारी होती है। थकान, पसीना और मल दूर करनेके लिए स्नान होना है। बैठनेके श्रमका इलाज आसन है। दुर्गन्ध दूर करनेके लिए सुगन्धका सेवन होता है। विरूपताको दूर करनेके लिए आभूषण पहने जाते है। अरतिको दूर करनेके लिए कलाएँ है। इस प्रकार विचार करने पर देव और मनुष्योके जो ये भोग है वे सब दुःखको दूर करनेमे ही निमित्त हैं। जैसे रोगसे पीड़ित रोगी औषधिका सेवन करता है। पित्तके प्रकोपसे शरीरके जलने पर जो शीत पदार्थोंके सेवनको भोग मानता है वही अज्ञानी अन्न आदिको भोग नामसे कहता है। किन्तु यत लोकमे जल आदि पदार्थ एकान्तसे सुख देनेवाले नही हैं अत उनको दुःखका प्रतीकार करनेवाला ही कहना चाहिए, भोग नामसे नही कहना चाहिए। जो अन्न भूखसे पीडितको सुख देता है वही अन्न पेटभरे व्यक्तिको विषके समान लगता है। गर्मीसे पीड़ित मनुष्य जिन पदार्थों की इच्छा करता है, शीतसे पीडित उन्हीसे द्वेष करता है।

तथा अपने चक्ररत्नसे देव, मनुष्य और विद्याधरोके समूहको वशमे करनेवाले, अक्षय नौ निधियोंके स्वामी और चौदह रत्नोसे सम्पन्न चक्रवर्तियों की, जो दस प्रकारके भोगोको भोगनेमे चतुर हैं, भोगोंसे तृप्ति नही होती। तथा अनेक सागरोकी आयुवाले अमृतभोजी देवोकी भी भोगोसे तृप्ति नही होती जो देवागनारूपी लताओके वनसे घिरे रहते हैं। वे देवांगना लताएँ भी कैसी हैं? जो जन्मजात अपने इच्छानुसार दिव्य आभरण, माला, वस्त्र सम्पदारूपी सौभाग्य

विलासपल्लवेन, सौकुमार्याङ्कुरेण दिगङ्गनामुखवासायमानसौरभेण विद्रुमाधरपल्लवेन, निविडोन्नतवृत्तस्तनफलेन, मनोभवदक्षिणानिलप्रेरणान्दोलितेन, ललितभुजशाखाप्रतानेन, स्फुरत्तपनीयमयरशनावेदिकापरीतकामनीरभरितविशालजघनसरोविभूषणेन, मुखरनूपुरभ्रमरझंकृतकलकलेन देवकन्यालतावनेन परिवृतानामपि परैर्भोगैस्तृप्तिर्न किं पुनरितरमानवानां। अपि च तीव्रतरपुवेदोदयानलजनितचेतोविदाहाना नैवौषध वामलोचनासगम तापप्रकर्षानुबन्धत्वात्। रूपयौवनविलासचातुर्यसौभाग्यादीना प्रकर्षापकर्षरूपेणावस्थितत्वादङ्गनासु। तास्ता पश्यतोऽपि उत्कण्ठानुपरतमुपजायमाना विदाहमावहति दुर्वहं। तास्त्यक्त्वा चेम यान्ति मृतिं वा ढौकन्ते, परैर्बलिभिर्वापह्रियन्ते। स्वय वा दुर्विमोचतमपातकयमपाशेनाकृष्यमाणो विहाय तानि विवृतमुखो, निर्निमेषनयनो नितान्तरोदनाच्छादितलोहितलोचना जहाति। तासा तनवोऽपि स्फटिकमालेवोपाश्रितगुणग्राहिण्यः ताश्चास्थिररागा सध्यासमयजलदलेखेव दुर्लभाश्च। स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादींश्च लब्धानप्य[1]पहरन्ति बलिन इति महद्भय, न च ते[2]ऽर्पयन्ति। तदर्जनार्थं षट्कर्मसु प्रयतितव्य। तानि च संदिग्धफलानि बहुतरायासमूलानि हिंसादिसावद्यक्रियापरतन्त्राणि, दुर्गतिवर्धनानि इत्येवमात्मिका भोगनिर्वजनी। शरीरं पुनरिदमशुचिनिधान, आत्मनो महान् भार, न चात्रास्ति किंचित्सारभूत। सन्निहितानेकापाय व्याधिसस्याना क्षेत्र, जराडाकिनीपितृगृह। कि

स्कन्धवाली है, मन और नेत्रोको प्रिय रूप सौन्दर्यरूपी पुष्पोसे शोभित हैं, विलासरूपी पत्तोसे वेष्ठित है, सौकुमार्य उनका अंकुर है, दिशारूपी अगनाओंके मुखकी सुवास जैसी उनकी सुगन्ध है, मूँगेके समान उनके ओष्ठरूपी पल्लव है, घने ऊँचे गोल स्तनरूपी फल हैं, कामदेवरूपी दक्षिण वायुकी प्रेरणासे वे हिलती हैं, ललित भुजारूपी उनका शाखाविस्तार है, चमकदार सोनेकी करधनीरूपी वेदिकासे घिरे और कामजलसे भरे विशाल जघनरूपी सरोवरसे भूषित है, बजते हुए नूपुररूपी भौंरोकी गुंजारसे गुंजित हैं। ऐसी देवांगनाओंसे घिरे हुए देवोकी भी जब भोगोसे तृप्ति नही होती तब अन्य मनुष्योका तो कहना ही क्या है? तथा जिनका चित्त तीव्रतर पुरुषवेदके उदयरूपी अग्निसे जल रहा है, स्त्रियोका संगम उनकी औषधी नहीं है। उससे तो उनका सन्ताप और भी अधिक बढेगा; क्योकि स्त्रियोमे रूप, यौवन, विलास, चतुरता, सौभाग्य आदि कमती बढती पाया जाता है। उन-उन स्त्रियोको देखकर निरन्तर उत्कण्ठा उत्पन्न होकर ऐसी दाह होती है जिसको सहना कठिन होता है। वे स्त्रियाँ पतिको छोडकर चली जाती है, या मर जाती हैं अथवा दूसरे बलवान् पुरुष उन्हे हर लेते है। अथवा जिससे छूटना किसी भी तरह सम्भव नही है उस मृत्युके फन्देसे खिचकर मनुष्य, मुँह खोले, आँखे पथराये हुए स्वय, अत्यन्त रुदन करनेसे लाल आख हुई स्त्रीको स्वय छोड़कर चला जाता है। उन स्त्रियोके शरीर भी स्फटिककी मालाकी तरह जो पासमे आता है उसीके गुणोको ग्रहण करनेवाले होते है। जैसे सन्ध्याकालीन मेघोका रंग अस्थिर होता है वैसे ही स्त्रियोका अनुराग भी अस्थिर होता है। तथा वे दुर्लभ होती हैं क्योकि स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदिको बलवान् हर लेते है और देते नही हैं। इस प्रकार बडा भय रहता है। स्त्रीकी प्राप्तिके लिए छह कर्मोको करना पड़ता है। उनका फल संदिग्ध होता है। उनके लिए बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। तथा वे षट्कर्म हिंसा आदि सावद्य क्रियाके अधीन होते हैं उनमे हिंसा आदि होती है। अत वे दुर्गतिको बढ़ाते है। इत्यादि कथा भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न करती है। तथा यह शरीर अपवित्रताकी खान है, आत्माके लिए बड़ा भाररूप है। इसमे कुछ भी सार नही है इसके साथ अनेक संकट लगे हैं। व्याधिरूपी धानके

१ प्याहर–आ० मु०। २. तर्पयन्ति आ० मु०।

च मान्ये कुले जातो विशालकीर्ति: गुणवानपि प्रहीणविभवो नीचं कर्म, पुरो धावन, प्रेषणकरण, तदुच्छिष्ट-भोजनं वा करोति शरीरपोषणाय ।

> नान्तर्गतोऽथ न बहिर्न च तस्य मध्ये सारोऽस्ति येन मनसा परिगम्यमाणः ।
> तस्मिन्नसारजनकांक्षितकामसारे कोऽन्यः करिष्यति मनः प्रतिबुद्धसारः ॥
> वायुप्रकोपजनितैः कफपित्तजैश्च रोगैः सदा दुरितजैः प्रविमथ्यमानः ।
> देहोऽप्ययमेवमतिदुःखनिमित्तभूतो नाशं प्रयाति बहुधेति कुरुध्व धर्मं ॥
> संघातजं प्रशिथिलास्थि तदप्रगाढं स्नायुप्रबद्धमशुभं प्रततं शिराभिः ।
> लिप्तं च मांसरुधिरोदककर्दमेन रोगाहतं स्पृशति को हि शरीरगेहं ॥ [ ]
> इत्येवमादिका शरीरनिर्वेजनी ।

गीदत्थपादमूले होंति गुणा एवमादिया बहुगा ।
ण य होइ संकिलेसो ण चावि उप्पज्जदि विवत्ती ॥४४९॥

'**गीदत्थपादमूले**' गृहीतार्थस्य बहुश्रुतस्य पादमूले । '**होंति बहुगा गुणा**' '**गीदत्थो पुण खवगस्स**' इत्येव-मादिसूत्रपञ्चकनिर्दिष्टा । '**ण य होइ संकिलेसो**' नैव भवति संक्लेश. '**ण चावि उप्पज्जइ विवत्ती**' न चोत्पद्यते विपद्रत्नत्रयस्य । तस्मादाधारवानाचार्य उपाश्रयणीय इत्युपसंहार इति आधारव ॥४४९॥

व्यवहारवत्त्वनिरूपणायोत्तरगाथा—

लिए यह खेत है । जरारूपी डाकिनीके लिए श्मसान है । मान्यकुलमे जन्म लेकर विशाल यश अर्जन करके गुणी मनुष्य भी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर शरीर-पोषणके लिए नीचकर्म करता है, आगे-आगे दौड़ता है, मालिकका सन्देश ले जाता है उसका जूठा भाजन करता है । कहा है—

उस शरीरके अन्दर, बाहर और मध्यमे कोई सार नही है जिससे मन उसे स्वीकार करे । असारजनोके द्वारा पसन्द किये जानेवाला काम ही जिसमे सार है उस शरीरके सारको जानने-वाला कौन व्यक्ति अपना मन लगायेगा । यह शरीर वायुके प्रकोपसे उत्पन्न हुए और कफ तथा पित्तके प्रकोपसे और पापकर्ममे उत्पन्न हुए रोगोसे सदा मथा जाता है । इस तरह यह अति दुःख का निमित्त होता और नाशको प्राप्त होता है इसलिए धर्मका आचरण करो ।

यह शरीररूपी घर रज और वीर्यके मेलसे बना है । इसकी अस्थियाँ ढीली-ढाली हैं । स्नायुओसे बँधा है, अशुभ है, सिराओमे वेष्ठित है, माँस और रुधिररूपी कोचड तथा जलसे लीपा गया है । रोगोसे घिरा है इसे कौन छूना पसन्द करेगा ।

इत्यादि कथा शरीरसे वैराग्य उत्पन्न करती है ॥४४८॥

गीतार्थ अर्थात् बहुश्रुत आचार्यके पादमूलमे रहनेक 'गीदत्थो पुण खयगो' इत्यादि पाँच गाथासूत्रोमे कहे गये बहुत गुण-लाभ होते है । उस क्षपकके परिणामोमे सक्लेश नहीं होता और न रत्नत्रयको लेकर ही कोई विपत्ति आती है अर्थात् उसके रत्नत्रयका विनाश नही होता । अतः आधारवान् आचार्यका आश्रय लेना चाहिए । इस प्रकार आधारवत्त्व गुणका कथन हुआ ॥४४९॥

आगे व्यवहारवत्त्वगुणका निरूपण करते है—

पंचविहं ववहारं जो जाणइ तच्चदो सवित्थारं ।
बहुसो य दिट्ठकयपट्ठवणो ववहारवं होइ ॥४५०॥

'पंचविहं ववहारं' पञ्चप्रकार प्रायश्चित्त । **'जो जाणदि तच्चदो सवित्थारं'** यो जानाति तत्त्वत सविस्तर । **'बहुसो य दिट्ठकयपट्ठवणो'** बहुशश्च दृष्टकृतप्रस्थापन । आचार्याणां प्रायश्चित्तदान दृष्ट, स्वय चान्येषा दत्तप्रायश्चित्त । **'ववहारव होदि'** व्यवहारवान् भवति । पूर्वार्द्धेन प्रायश्चित्तज्ञानता दर्शिता, कर्मदर्शन कर्माभ्यासश्च प्रख्यापित । अशास्त्रज्ञो यत्किंचिद्ददात्यात्मनोऽभिलषित न तेन पर शुद्धयति, शास्त्रज्ञोऽप्यदृष्ट[1]कर्मार्कर्मसु विषादमेति । ततो ज्ञान, कर्मदर्शन, कर्माभ्यास इति त्रयो गुणा यस्य स व्यवहारवानित्युच्यते ॥४५०॥

क पञ्चविधो व्यवहार, को वा विस्तर इत्याशङ्कायां तदुभय निरूपयति—

आगमसुद आणाधारणा य जीवो य हुंति ववहारा ।
एदेसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिदिट्ठा ॥४५१॥

'आगमसुद आणाधारणा य जीवो य हुंति ववहारा' आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीव इति व्यवहारा पञ्च । **'एदेसिं'** एतेषा आगमादीना । परूवणा कीदृशी ? **सवित्थारा'** विस्तारसहिता । **'सुत्तणिद्दिट्ठा'** सूत्रेषु चिरतनेषु निर्दिष्टा । प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामग्रतोऽकथनीयत्वाच्छास्त्रान्तरे च निर्दिष्टत्वादिह नोच्यते ॥४५१॥ उक्त च—

सव्वेण वि जिणवयण सोदव्वं [2]सड्ढिदेण पुरिसेण ।
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वंण सोदव्वो ॥ इति ॥ [ ]

गा०—जो पाँच प्रकारके व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्तको तत्त्वरूपसे विस्तारके साथ जानता है तथा जिनने अनेक आचार्योंका प्रायश्चित्त देना देखा है और स्वय भी दूसरोको प्रायश्चित्त दिया है वह आचार्य व्यवहारवान् होता है। गाथाके पूर्वार्द्धसे आचार्यका प्रायश्चित्तका ज्ञाता होना दर्शाया है तथा प्रायश्चित्तकर्मका दर्शन और प्रायश्चित्तकर्मका अभ्यास होना कहा है। जो प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता नही होता वह अपनी इच्छानुसार कुछ भी प्रायश्चित्त देता है किन्तु उससे दूसरेके दोषकी विशुद्धि नही होती। प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञाता होते हुए भी यदि उसने अन्य आचार्योंको प्रायश्चित्त देते न देखा हो तो प्रायश्चित्त देते समय खेदखिन्न होता है। इसलिए प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञान, प्रायश्चित्तकर्मका देखना तथा प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास ये तीन गुण जिसमे होते है उस आचार्यको व्यवहारवान् कहते है ॥४५०॥

पाँच प्रकारका व्यवहार कौन-सा है ? और उसका विस्तार क्या है? ऐसी आशका होनेपर दोनोको कहते हैं—

गा०—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारण और जीव ये पाँच प्रकारका व्यवहार है। इन आगम आदिका विस्तारसे कथन प्राचीन सूत्रोमे कहा है। प्रायश्चित्त सब जनोके आगे नही कहा जाता, तथा अन्य शास्त्रोमें उसका कथन है इसलिए यहाँ नही कहा। कहा है—'समस्त श्रद्धालु पुरुषोंको जिनागम सुनना चाहिए। किन्तु छेदशास्त्रका अर्थ सबको नही सुनाना चाहिए' ॥४५१॥

---

१. अदृष्ट कर्मसु—आ० । २ सुद्दिदेण—आ० ।

व्यवहारवानसौ परालोचितापराधस्य कथं प्रायश्चित्तं ददातीत्याशङ्कायां प्रायश्चित्तदानक्रमनिरूपणाय गाथाद्वयम्—

दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं ।
संघदणं परियायं आगमपुरिसं च विण्णाय ॥४५२॥

'**दव्व खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं**' द्रव्यमित्यादीनां विज्ञायेत्यनेन सबन्धः । तत्र द्रव्यं त्रिविधं सचित्तमचित्तं मिश्रमिति । पृथिवी, आपस्तेजो वायुः, प्रत्येककायाः, त्रसाश्चेति सचित्तद्रव्यमित्युच्यते । तृणफलकादिकं जीवैरनुन्मिश्रं अचित्तं । ससक्तं उपकरणं मिश्रं । एवं त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना । वर्षासु क्रोशार्द्धगमनमिष्टं अर्धयोजनं वा । ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना । अथवा [1]प्रतिषिद्धक्षेत्रगमनं, विरुद्धराज्य-

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी मूलाराधना टीकामें इनका अर्थ इस प्रकार किया है—ग्यारह अंगोंमें कहे गये प्रायश्चित्तको आगम कहते है। चौदह पूर्वोंके कहेको श्रुत कहते है। अन्य स्थानमें स्थित अन्य आचार्यके द्वारा अन्य स्थानमें स्थित अन्य आचार्यके द्वारा आलोचित अपने गुरुके दोषको ज्येष्ठ शिष्यके हाथ भेजना आज्ञा है। कोई एकाकी मुनि पैरोंसे चलनेकी शक्ति न होनेसे दोष लगनेपर वहीं रहते हुए पूर्वनिश्चित प्रायश्चित्तको करना है यह धारणा है। बहत्तर पुरुषोंके स्वरूपको लेकर वर्तमान आचार्योंने जो शास्त्रमें कहा है वह जीत है। श्वेताम्बरीय आगमोंमें भी व्यवहारके ये ही पाँच भेद किये है। आगमव्यवहारी छह है—केवलज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी और नौपूर्वी। शेष पूर्वधारी और ग्यारह अंगके धारी श्रुतसे व्यवहार करते है। आगमव्यवहारी आगमसे ही व्यवहार करता है अन्यसे नहीं करता। यह भी चर्चा आती है कि केवलीका व्युच्छेद हो जानेपर चौदह पूर्वधरोंका भी विच्छेद हो गया अतः प्रायश्चित्तदायक न रहनेसे प्रायश्चित्तका विच्छेद हो गया। किन्तु इसका निराकरण किया है। जो व्यवहार एक बार प्रवृत्त हुआ, दुबारा और तिबारा प्रवृत्त हुआ उसे महाजनने स्वीकार किया। वही पाँचवाँ जीतकल्प व्यवहार है। जीत अर्थात् अवश्य ही कल्प-आचार जीतकल्प है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव, सहनन आदिकी हानिको लक्षमें रखकर दिया गया प्रायश्चित्त जीत है ॥४५१॥

वह व्यवहारवान् आचार्य दूसरेके आलोचित दोषका प्रायश्चित्त कैसे देता है ? ऐसी आशंका किये जाने पर दो गाथासे प्रायश्चित्त देनेके क्रमका निरूपण करते है—

गा०—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रवज्याकाल, आगम और पुरुषको जानकर प्रायश्चित्त देते है ॥४५२॥

टी०—द्रव्यके तीन भेद है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। पृथिवी, जल, आग, वायु, प्रत्येककाय, अनन्तकाय और त्रस इन्हे सचित्त द्रव्य कहते है। जीवोंसे रहित तृण, फलक आदि अचित्त द्रव्य है। जीवोंसे सम्बद्ध उपकरण मिश्र है। इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवनाके तीन भेद हैं। वर्षामें आधा कोस अथवा आधा योजन जाना सम्मत है। उससे अधिक क्षेत्रमें जाना क्षेत्र प्रति-

१. प्रतिद्वेष–आ०।

गमनं, छिन्नाध्वगमन, ततो रक्षणीयागमनं तस्यार्द्धो यदा क्रान्तः। उन्मार्गेण वा गमन। अन्त पुरप्रवेश। अननुज्ञातगृहभूमिगमन। इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवा। आवश्यककालादन्यस्मिन्काले आवश्यककरण वर्षावग्रहातिक्रमः इत्यादिका कालप्रतिसेवना। दर्पः, प्रमादः, अनाभोग, भयं, प्रदोष इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भावसेवा। एवमपराधनिदानं ज्ञात्वा अथवा प्रायश्चित्तं प्रकृतेर्द्रव्यादिकं ज्ञात्वा रसबहुल, धान्यबहुल, शाकबहुल यवागूशाकमात्र वा पानकमेव वेत्याहारे द्रव्यपरिज्ञान। प्रायश्चित्तमाचरत अनूपजागलसाधारणक्षेत्रपरिज्ञान। घर्मशीतसाधारणकालज्ञानं। क्षमामार्दवार्जवसतोषकादिक भावं क्रोधादिक वा। करणपरिणाम प्रायश्चित्तक्रियाया परिणाम। सहवासार्थं किमयं प्रायश्चित्ते प्रवृत्त उत यशोर्थं, लाभार्थमुत कर्मनिर्जरार्थं इति। '**उच्छाहं**' उत्साह। '**संघदणं**' शरीरबल। '**परियायं**' प्रव्रज्याकाल। '**आगमं**' अल्प श्रुतमस्य बहु वेति। **पुरिसं** [२]जादतरोभयातरंगो इत्येवमादिकं विकल्पं च ज्ञात्वा ॥४५२॥

मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स।
ववहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो ॥४५३॥

'**मोत्तूण**' त्यक्त्वा। '**रागदोसे**' राग द्वेष च मध्यस्थ सन्निति यावत्। '**ववहारं पट्ठवेदि सो तस्स**' प्रायश्चित्तं ददाति स सूरिस्तस्मै। '**ववहारकरणकुसलो**' प्रायश्चित्तदानकुशल। '**जिणवयणविसारदो**' जिनप्रणीते आगमे निपुण। धीरो धृतिमान् ॥४५३॥

सेवना है। अथवा वर्जित क्षेत्रमे जाना, विरुद्ध राज्यमे जाना, कटे-टूटे मार्गसे जाना, ऐसे मार्गका आधा भाग जानेपर वहाँसे अरक्षणीय मानकर लौट आना अथवा उन्मार्गसे जाना, अन्त पुरमे प्रवेश करना, जहाँ जानेकी आज्ञा नही है ऐसी गृहभूमिमे जाना इत्यादिके द्वारा क्षेत्र प्रतिसेवना करना। आवश्यककालमे छह आवश्यक न करके अन्यकालमे करना, वर्षाकालके नियमका उल्लंघन करना, इत्यादि काल प्रतिसेवना है। घमण्ड, प्रमाद, अनाभोग, भय, प्रदोष आदि परिणामोमे प्रवृत्ति भाव सेवा है। इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवना आदिके द्वारा अपराधका निदान जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। अथवा प्रकृतिके द्रव्यादिको जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। आहारके सम्बन्धमे ज्ञान होना द्रव्यपरिज्ञान है, रसबहुल—जिसमे रसकी अधिकता हो, धान्यबहुल—जिसमे अन्नकी अधिकता हो, शाकबहुल—जिसमे शाकसब्जीकी अधिकता हो, यवागू—हलवा लपसी, शाकमात्र अथवा पानकमात्र। आहारके साथ दोषीकी प्रकृति जानकर उसे आहार बतलाना चाहिये। प्रायश्चित्त देते समय क्षेत्रका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह क्षेत्र जलबहुल है या जलकी कमी वाला है अथवा साधारण है। कालका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह गर्मीके दिन हैं या शीतके दिन है अथवा साधारण हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि भाव है। अथवा क्रोधादि भाव है। करण परिणामका अर्थ है प्रायश्चित्त करनेके परिणाम। यह प्रायश्चित्त क्यो लेना चाहता है? क्या यह साथ रहनेके लिए प्रायश्चित्तमें प्रवृत्त हुआ है अथवा यश, लाभ या कर्मो की निर्जराके लिए प्रवृत्त हुआ है। उसका प्रायश्चित्तमे उत्साह कैसा है, शरीरमे बल कितना है, दोक्षा लिए कितना काल हुआ है, शास्त्रज्ञान थोड़ा है या बहुत है। और वैराग्यमें तत्पर है या नही ॥४५२॥

गा०—प्रायश्चित्त देनेमे कुशल और जिन भगवान्के द्वारा कहे गये आगममे निपुण धीर वह आचार्य रागद्वेषको त्याग अर्थात् मध्यस्थ होकर उसको प्रायश्चित्त देता है ॥४५३॥

२. जाद जाद तरो—आ०। जातादरो भयान्तरगो—मु०।

अज्ञात्वा प्रायश्चित्तग्रन्थं यो ददाति तस्य दोषं संकीर्तयत्युत्तरगाथया—

ववहारमयाणंतो ववहरणिज्जं च ववहरंतो खु।
उस्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदियदि ॥४५४॥

'**ववहार अयाणंतो**' प्रायश्चित्त ग्रन्थतोऽर्थतश्च कर्मतश्चाविद्वान्। '**ववहरणिज्जं च**' व्यवह्रियते अतिचारविनाशार्थिनेति व्यवहरणीयमालोचनादिकं प्रायश्चित्तं इति नवधा। '**ववहरंतो**' प्रयच्छन्। **उस्सीयदि** अवसीदति। क्व ? '**भवपंके**' संसारपङ्के। '**अजसं आदियदि**' अयशः तुण्डाचार्योऽयं यत्किंचन ददाति नायं परं शोधयति, संसारभीरुयतिजनं वृथैव क्लेशयति इति। '**कम्मं च आदियदि**' बध्नाति कर्म दर्शनमोहनीयाख्यं उन्मार्गोपदेशात् सन्मार्गविनाशनाच्च। तस्मादज्ञो न दद्यात्प्रायश्चित्तमिति सूत्रार्थः। आचार्याणामियं शिक्षा। वयमाचार्या यदस्माभिर्दत्तं तदिदं [1]कुर्वन्तीति यत्किंचन न वक्तव्यम्। श्रुतरहस्या प्रायश्चित्तदाने [2]यदलमिति ॥४५४॥

जह ण करेदि तिगिंच्छं वाधिस्स तिगिंच्छओ अणिम्मादो।
ववहारमयाणंतो ण सोधिकामं वि सुज्झेइ ॥४५५॥

यदि नाम मुखरा मुग्धानेकशिष्यजनपरिवृतत्वमात्रेणोपजाताहंकारा मूर्खलोकेनादृता सन्ति सूरयस्ते भवद्भिः शुद्ध्यर्थं न ढौकनीया इति शिक्षयति— '**जह ण करेदि तिगिंच्छं**'–यथा न करोति चिकित्सां **वाहिस्स** व्याधेः। '**तिगिंच्छगो**' वैद्यो। '**अणिम्मादो**' अनिपुणः। '**तहा**' तथा। '**ववहारमजाणंतो**' प्रायश्चित्तमजानन्सूरिः। '**सोधिकामं**' रत्नत्रयशुद्ध्यभिलाषं। **ण सोधेदि** खु न शोधयत्येव ॥४५५॥

जो प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने बिना प्रायश्चित्त देता है उसका दोष कहते हैं—

गा०-टी०—जो प्रायश्चित्त शास्त्रको ग्रन्थरूपसे, अर्थरूपसे और कर्मरूपसे नहीं जानता, तथा अतिचारके विनाशके इच्छुक मुनिके द्वारा जिसका व्यवहार किया जाता है वह व्यवहरणीय है। आलोचना आदि नौ प्रकारका प्रायश्चित्त, उसे जो देता है वह आचार्य संसाररूपी कीचड़मे फँसकर दुःख उठाता है तथा अपयश पाता है। लोग कहते है यह तुण्डाचार्य है जो कुछ भी प्रायश्चित्त दे देता है, दूसरेके दोषकी विशुद्धि नहीं करता। संसारसे भीरु साधुओंको व्यर्थ ही कष्ट देता है। तथा उन्मार्गका उपदेश देनेसे और सन्मार्गका नाश करनेसे दर्शनमोहनीय नामक कर्मका बन्ध करता है। अतः अज्ञानीको प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिये यह इस गाथाका अभिप्राय है। यह आचार्यो की शिक्षा है। हम आचार्य है। हमने जो प्रायश्चित्त दिया है उसे करो, इस प्रकार जो कुछ भी नही बोलना चाहिये। प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाताओ ही प्रायश्चित्त देनेमे समर्थ होते है ॥४५४॥

जो वाचाल आचार्य मूढ अनेक शिष्योंसे घिरे रहने मात्रसे गर्वित हैं और मूर्ख लोग जिनका आदर करते है, प्रायश्चित्तके लिए उनके पास नही जाना चाहिये यह शिक्षा देते हैं—

गा०—जैसे अनिपुण वैद्य व्याधिकी चिकित्सा नही करता, वैसे ही प्रायश्चित्तको न जानने वाला आचार्य रत्नत्रयकी विशुद्धिके इच्छुकको शुद्ध नही करता ॥४५५॥

---

१. कुर्वितीति आ०। कुर्विति मु०। २. यतध्वमिति आ० मु०।

तम्हा णिव्विसिदव्वं ववहारविदो हु पादमूलम्मि ।
तत्थ हु विज्जा चरणं समाधि सोधी य णियमेण ।।४५६।।

'**तम्हा णिव्विसिदव्वं**' तस्मात्स्थातव्यं । '**ववहारववो खु**' व्यवहारवतः एव । '**पादमूलम्मि**' पादमूले । '**तत्थ खु**' तत्र व्यवहारविल्पादमूले । '**विज्जा**' विद्या ज्ञान भवति । '**चरणं समाधी य**' चारित्र समाधिश्च । '**सोधी य**' शुद्धिश्च । '**णियमेण**' निश्चयेन भवति । ववहारव ।।४५६।।

पगुव्वी एतद्व्याचष्टे—

जो णिक्खमणपवेसे सेज्जासंथारउवधिसंभोगे ।
ठाणणिसेज्जागासे अगदूण विकिंचणाहारे ।।४५७।।

'**जो णिक्खमणपवेसे**' यो य. सूरिः क्षपकस्य वसतेर्नि क्रमणे प्रवेशे वा । '**सेज्जासंथारउवधिसंभोगे**' वसते , सस्तरस्य, उपकरणस्य शोधने । '**ठाणणिसेज्जागासे**' स्थाने, निषद्यावकाशे, '**अगदूणविकिंचणाहारे**' शय्याया, शरीरमलाहरणे, भक्तपानढौकने च ।।४५७।।

अब्भुज्जदचरियाए उवकारमणुत्तरं वि कुव्वंतो ।
सव्वादरसत्तीए वट्टइ परमाए भत्तीए ।।४५८।।

'**अब्भुज्जदचरियाए**' क्षपकस्य अभ्युद्यतचर्यया '**उपकारं**' अनुग्रह हस्तावलम्बनादिकं । '**अणुत्तरं पकुव्वंतो**' उत्कृष्ट प्रकुर्वन् । '**सव्वादरसत्तीए**' सर्वादरशक्त्या । '**भत्तीए**' भक्त्या । '**परमाए**' उत्कृष्टया । '**वट्टदि**' वर्तते । स प्रकुर्वक सूरिर्भवति इति सबन्ध. ।।४५८।।

इय अप्पपरिस्सममगणित्ता खवयस्स सव्वपडिचरणे ।
वट्टंतो आयरिओ पकुव्वओ णाम सो होइ ।।४५९।।

'**इय**' एव । '**अप्पपरिस्समं**' आत्मपरिश्रम । '**अगणित्ता**' अपरिगणय्य । '**खवयस्स**' आराधकस्य । '**सव्वपडिचरणे**' सर्वशुश्रूषाया । '**वट्टंतो**' वर्तमान । '**आयरिओ**' आचार्य । '**पगुव्वगो णाम**' [1]प्रकारको नाम '**सो होदि**' स भवति । पकुव्वी गद ।।४५९।।

इसलिये क्षपकको प्रायश्चित्तके ज्ञाता आचार्यके पादमूलमे ही ठहरना चाहिये । उनके पादमूलमे रहनेसे ज्ञान, चारित्र, समाधि और शुद्धि निश्चयसे होती है ।।४५६।।

इस प्रकार व्यवहारवान्का कथन समाप्त हुआ । प्रकुर्वित्व गुणका कथन करते है—

गा०—जो आचार्य क्षपकके वसतिसे निकलने अथवा उसमे प्रवेश करनेमे, वसति संस्तर और उपकरणके शोधनमे, खड़े होने, बैठने, सोने, शरीरसे मल दूर करनेमे, खानपान लानेमें, इन पण्डितमरण सम्बन्धी चर्यामे समस्त आदर शक्तिसे और उत्कृष्ट भक्तिसे हस्तावलम्बन आदि द्वारा उत्कृष्ट उपकार करते हैं, वह आचार्य प्रकुर्वक होते है ।।४५७-४५८।।

गा०—इस प्रकार अपने श्रमको परवाह न करके जो आचार्य क्षपकको सब प्रकारसे सेवा करते हैं वह प्रकारक नामसे कहे जाते हैं ।।४५९।।

---

१. प्रकुर्वको मु० ।

क्षपकशिक्षापरा गाथा—

खवओ किलामिदंगो पडिचरयगुणेण णिव्वुदिं लहइ ।
तम्हा णिव्विसिदव्वं खवएण पकुव्वयसयासे ॥४६०॥

'**खवगो**' क्षपक । '**गिलामिवंगो**' ग्लानशरीर । '**पडिचरयगुणेण**' शुश्रूषागुणेनैव, '**णिव्वुदिं लहदि**' सुख लभते । यस्मात् । **तम्हा**—तस्मात् **णिव्विसिदव्वं**-निर्वेष्टव्य । '**खवगेण**' क्षपकेण । **पकुव्वयसयासे** विनयकारिण. समीपे । **पगुव्वीगवं** ॥४६०॥

आयोपायविदर्सीत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध —

खवयस्स तीरपत्तस्स वि गुरुगा होंति रागदोसा हु ।
तम्हा छुहादिएहिं य खवयस्स विसोत्तिया होइ ॥४६१॥

'**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**तीरपत्तस्स वि**' तीर प्राप्तस्यापि । '**रागदोसा गुरुगा होंति**' रागद्वेषौ गुरू तीव्रौ भवत । '**तम्हा**' तस्मात् '**छुहाविएहिं य**' क्षुत्पिपासादिभि परीषहैश्च कारणभूतै । '**खवगस्स**' क्षपकस्य '**विसोत्तिगा होइ**' अशुभपरिणामो जायते ॥४६१॥

थोलाइदूण पुव्वं तप्पडिवक्ख पुणो वि आवण्णो ।
खवओ तं तह आलोचेदु लज्जेज्ज गारविदो ॥४६२॥

'**थोलाइदूण पुव्वं**' प्रव्रज्यादिक्रमेण तद्दिनपर्यवसान रत्नत्रयातिचार निवेदयामीति पूर्वं प्रतिज्ञाय । '**तप्पडिवक्ख**' तस्यापराधप्रत्याख्यापनस्य प्रतिपक्षेन निवेदन । '**आवण्णो**' आपन्न प्राप्त: । '**खवगो तं तह आलोचेउ लज्जेज्ज गारविगो**' क्षपकस्तमपराध तथा स्वाचरितक्रमेण गदितु जिन्हेति सभावनागुरुः ॥४६२॥

तो सो हीलणभीरू पूयाकामो ठवेणइत्तो य ।
णिज्जूहणभीरू वि य खवओ वि न दोसमालावे ॥४६३॥

'**तो**' पश्चात् । '**सो**' क्षपक । '**हीलणभीरू**' ज्ञातमदीयापराधा इमे मामवजानन्ति इति अवज्ञाभीरु ।

गा०—यत रोगसे ग्रस्त क्षपक आचार्यके सेवागुणसे सुख प्राप्त करता है, अत क्षपकको सेवा करनेवाले आचार्यके समोप ठहरना चाहिये ॥४६०॥

प्रकारकका कथन समाप्त हुआ ।

आय अपाय विदर्शित्व गुणका कथन करते है—

गा०—यद्यपि क्षपक ससार समुद्रके किनारे पहुँच जाता है फिर भी उसे तीव्र रागद्वेष होते है । अत भूख प्यासकी परीषहोंके कारण क्षपकके अशुभ परिणाम होते हैं ॥४६१॥

गा०—क्षपक पूर्वमे प्रतिज्ञा करता है कि दीक्षा लेनेके दिनसे समाधि धारण करनेके दिन तक रत्नत्रयमे जो दोष लगे हैं उन सबको मै गुरुके सामने निवेदन करूँगा । ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जब अपराध निवेदनका समय आता है तो अपना बडप्पन जानकर क्षपक उस अपराधको जिस प्रकार वह किया गया उसी प्रकारसे कहनेमे लज्जा करता है ॥४६२॥

गा०—पश्चात् वह क्षपक डरता है कि मेरे अपराधको जानकर ये सब मेरी अवज्ञा

'पूजाकामो य' वन्दनाभ्युत्थानं इत्यादिकायां पूजायामभिलाषवान् । सापराधं न पूजयन्तीति । **'ठवणइत्तो य'** आत्मानं सुचरितत्वे स्थापयितुकामश्च । **'णिज्जूहणभीरु वि य'** मामिमे सापराधं त्यजन्तीति त्यागभीरुश्च । **'खवणो वि'** स्वापराधं शरीरं च क्षपयामीति प्रवृत्तोऽपि । **'णालोचेज्ज दोसं'** न कथयेद् गुरोरात्मीयं दोषं ॥४६३॥

तस्स अवायोपायविदंसी खवयस्स ओघपण्णवओ ।
आलोचेंतस्स अणुज्जगस्स दंसेइ गुणदोसे ॥४६४॥

'तस्स खवगस्स गुणदोसे दंसेदिति' पदसबन्ध । तस्य अनालोचकस्य आलोचनाया गुणमितरत्र दोषं च दर्शयति । क ? **'आयोपायविदसी'** आयोपायविदर्शी सूरि । अपायो रत्नत्रयस्य विनाश उपायो लाभ । उपशब्दोऽनर्थक इति कृत्वा रत्नत्रयस्य आउ शुद्धिर्लाभ तदुभयदर्शी । **'ओघपण्णवगो'** सामान्य प्ररूपयन् यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोष इति । **'आलोचेंतस्स वि'** अपि शब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो आलोचना कुर्वतोऽपि । **'अणुज्जगस्स'** मायावत ॥४६४॥

मायाया दोष याथात्म्यकथने गुणं च दर्शयति । एव दोषप्रकटन कर्तव्यमित्याचष्टे—

दुक्खेण लहइ जीवो संसारमहण्णवम्मि सामण्णं ।
त संजमं खु अबुहो णासेइ ससल्लमरणेण ॥४६५॥

'दुक्खेण लहइ जीवो' क्लेशेन लभते जीव । किं ? **'सामण्णं'** श्रामण्य चारित्रं सयम । क्व ? **'संसारमहण्णवम्मि'** चतुर्गतिपरिभ्रमणमहार्णवे दुष्प्रापपारतया ससारो महार्णव इव । **'खु'** शब्द **'णासेइ'** इत्यत परतो अवधारणार्थो द्रष्टव्य । त मयमं नाशयत्येव **'बुधः'** अविद्वान् । **'ससल्लमरणेण'**—यद्यपि शल्यमनेकप्रकार मिथ्यामायानिदानशल्यभेदेन तथापीह प्रकरणवशान्मायाशल्य गृह्यते, मायाशल्यसहितेन मरणेनेत्यर्थ ।

करेंगे । उसकी अभिलाषा अपनी पूजा कराने की है कि मेरी वन्दना करे, मेरे लिए उठकर खड़े होवे । किन्तु अपराध ज्ञात होने पर तो पूजा नही करेंगे । वह अपनेको सम्यक् आचारमे स्थापित करना चाहता है । किन्तु अपराधी जानकर यह मुझे त्याग देंगे, इससे डरता भी है । अत अपने अपराध और शरीरको त्यागनेके लिए तत्पर होते हुए भी वह गुरुसे अपने दोषोको नही कहता ॥४६३॥

गा०—उस अपने दोषोकी आलोचना न करनेवाले अथवा आलोचना करते हुए भी मायाचार पूर्वक आलोचना करनेवाले क्षपकको आय और उपायको दिखलाने वाले आचार्य आलोचनाके गुण और आलोचना न करनेके दोष सामान्यसे बतलाते हैं कि जो अपना अपराध नही कहता उसको यह दोष होता है ॥४६४॥

टी०—रत्नत्रयके विनाशको अपाय और रत्नत्रयके लाभको उपाय कहते है । 'उप' शब्द व्यर्थ है' ऐसा मानकर रत्नत्रयका 'आऊ' अर्थात् शुद्धि और लाभ दोनोको दिखानेवाले आचार्य आयोपायविदर्शी होते है ॥४६४॥

गा०–टी०—इस संसारका पार पाना बड़ा कठिन है इसलिये चारो गतिमे भ्रमण रूप संसारको महासमुद्रकी उपमा दी है । उसमें भ्रमण करते हुए 'श्रामण्य' अर्थात् चारित्रको–सयमको जीव बड़े कष्टसे प्राप्त करता है । अज्ञानी उस समयको सशल्य मरणसे नष्ट कर देता है । यद्यपि मिथ्यात्व, माया और निदानके भेदसे शल्यके अनेक भेद हैं । तथापि यहाँ प्रकरणवश मायाशल्य

ननु समानतायाः प्रस्तुतत्वात् श्रामण्णं इत्यनेन तत् परित्यज्य कथमन्यदुपन्यस्तं 'ण संजममिति'। अस्यायमभिप्रायः[1] श्रमणशब्दस्य द्रव्येऽप्रवृत्तिनिमित्त यच्छ्रामण्यं कि च तत्संयम। तथाहि सावद्यक्रियापरो नायं श्रमण इति लोको वदति। ततो युक्तमेव भावशल्यमात्मन्यवस्थितमिव[2] दोषमावहतीति दृष्टान्तमुखेन कथयति—॥४६५॥

जह णाम दव्वसल्ले अणुद्धदे वेदणुद्दिदो होदि।
तह भिक्खू विं ससल्लो तिव्वदुहट्टो भयोव्विग्गो ॥४६६॥

'जह णाम' यथा नाम स्फुट। **'दव्वसल्ले'** शरकण्टकादौ **'अणुद्धदे'** अनुद्धृते अनिराकृते। **'वेदणुद्दिदो होदि'** वेदनार्तो भवति। **'तह'** तथा। **'भिक्खु वि'** भिक्षुरपि। **'ससल्लो'** भावशल्यवान्। **'तिव्वदुहिदो होदि'** तीव्रदुःखितो भवति। **'भयोव्विग्गो'** भयेन चलो भवति। एवमनुद्धृतशल्यो गमिष्यामि का गतिमिति भयमस्य जायते। एवमर्थं दृष्टान्तेनाविरोधयति ॥४६६॥

कंटकसल्लेण जहा वेधाणी चम्मखीलणाली य।
रप्फइयजालगत्तागदो य पादो पडदि पच्छा ॥४६७॥

'कंटकसल्लेण जहा' कण्टकाख्येन शल्येन करणभूतेन यथा। **'वेधाणी चम्मखीलनाली य'** व्यधनचर्मकीलनालिकाश्च भवन्ति। **'रप्फइयजालगत्तागदो य'** कुथितवल्मीकच्छिद्राणि प्राप्तः स पाद **'पडदि'** पतति पश्चाद्यथा ॥४६७॥

एवं तु भावसल्लं लज्जागारवभएहिं पडिबद्धं।
अप्पं पि अणुद्धरियं वदसीलगुणे वि णासेइ ॥४६८॥

लिया है। मायाशल्य सहित मरणसे अज्ञानी संयमको नष्ट करता है।

शङ्का—यहाँ तो 'सामण्ण' शब्दसे समानता ली गई है। उसे छोडकर 'संयम' क्यो कहा ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यमे प्रवृत्ति न करनेमे निमित्त जो श्रामण्य है वही संयम है। लोग कहते ही हैं कि यह पापकार्योंमे प्रवृत्ति करता है अत श्रमण नही है। अत आत्मामें स्थित भावशल्य दोषकारी है यह कहना उचित ही है ॥४६५॥

इसे दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—जैसे शरीरमें लगे बाण, काँटा आदि द्रव्यशल्यको न निकालनेपर मनुष्य कष्टसे पीड़ित होता है। उसी प्रकार भावशल्यसे युक्त भिक्षु भी तीव्र दुखित होता है और भयमे विचल होता है कि शल्यको दूर न करनेपर मै किस गतिमें जाऊँगा। इस प्रकार दृष्टान्तसे अविरोध दिखलाया है ॥४६६॥

गा०—जैसे पैरमें काँटा घुसनेपर पहले पैरमें छिद्र होता है फिर उसमे माँसका अंकुर उग आता है और वह नाडीतक पहुचता है। पीछे उस पैरमे साँपकी बाँबी जैसे दुर्गन्ध युक्त छिद्र हो जाते हैं ॥४६७॥

---

१. प्रायः तदिति सजम श्रामण्यमेवेति निरूपित ज्ञातव्यमिति ततो युक्त–आ०। २. मिह दो–आ०।

'एवं तु' एवमेव । 'भावसल्लं' परिणामशल्यं । 'लज्जागारवभयेहिं पडिबद्धं' स्वापराधनिगूहनं लज्जातो भवति । भयेन अपराध कथिते कुप्यन्ति गुरवस्त्यजन्ति वा मां महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति[1] । भयात् । तपस्व्ययं सुसंयत इति महती प्रसिद्धि सा विनश्यतीति गौरवेण च प्रतिबद्धमायाशल्यं । 'अप्पं पि' अल्पमपि । शल्यं 'अणुद्धरियं' अनुद्धृतं । 'बदसीलगुणे' व्रतानि शीलानि गुणाश्च विनाशयति ॥४६८॥

तो भट्ठबोधिलाभो अणंतकालं भवण्णए भीमे ।
जम्मणमरणावत्ते जोणिसहस्साउले भमदि ॥४६९॥

'तो' पश्चात् । 'भट्ठबोधिलाभो' विनष्टदीक्षाभिमुखबुद्धिलाभ । 'अणंतकालं भमइ' अनन्तकाल भ्रमति । क्व ? 'भवण्णवे' भवार्णवे । 'भीमे' भयंकरे । 'जम्ममरणावत्ते' जन्ममरणावर्ते । 'जोणिसहस्साउले' चतुरशीतियोनिसहस्राकुले ॥४६९॥

तत्थ य कालमणंतं घोरमहावेदणासु जोणीसु ।
पच्चंतो पच्चंतो दुक्खसहस्साइ पप्पेदि ॥४७०॥

'तत्थ य' तत्र च भवार्णवे । 'अणंतकालं दुक्खसहस्साइ पप्पेदि इति' पदघटना । अनन्तकाल दु ख-सहस्राणि अनुभवति । 'घोरमहावेदणासु जोणीसु पच्चंतो' घोरमहावेदनासु योनिषु पच्यमान ॥४७०॥

तं न खमं खु पमादा मुहुत्तमवि अत्थिदुं ससल्लेण ।
आयरियपादमूले उद्धरिदव्वं हवदि सल्लं ॥४७१॥

'तं' तस्मात् । 'मुहुत्तमवि अत्थिदु ससल्लेण न खमो खु' मुहूर्तमात्रमपि आसितु शल्यसहितेन रत्न-त्रयेण सह न शक्त प्रमादवशादिति संसारभीरु । 'आयरियपादमूले' उक्तगुणस्याचार्यस्य पादमूले । 'उद्धरि-दव्वं हवदि सल्लं' शल्यमुद्धर्तव्यं भवति ॥४७१॥

गा०-टी०—इसी प्रकार लज्जा भय और गारवसे प्रतिबद्ध थोड़ा-सा भी भावशल्य यदि दूर न किया जाये तो व्रत शील और गुणोंको नष्ट करता है । लज्जावश साधु अपने अपराधको छिपाता है । या अपराध प्रकट करनेपर गुरुजन क्रुद्ध होंगे, मुझे त्याग देंगे अथवा बडा प्रायश्चित्त देंगे इस भयसे दोषको छिपाता है । अथवा मेरी जो महती प्रसिद्धि है कि यह तपस्वी उत्तम संयमी है वह नष्ट हो जायेगी इस भयसे दोषको छिपाता है । यह मायाशल्य है । इसे यदि दूर नही किया गया तो क्षपकके व्रत शील गुण नष्ट हो जाते हैं ॥४६८॥

गा०—पीछे दीक्षा धारण करके जो बुद्धिलाभ किया था वह नष्ट हो जाता है और चौरासी हजार योनियोंसे भरे, और जन्ममरणरूपी भँवरोंसे युक्त भयकर भवसमुद्रमें अनन्तकालतक भ्रमण करता है ॥४६९॥

गा०—और उस भवसमुद्रमे भयंकर महावेदनावाली योनियोमे भ्रमण करता हुआ अनन्त-कालतक हजारों दु ख भोगता है ॥४७०॥

गा०—इसलिए संसारसे भीत यतिको प्रमादवश एक मुहूर्तमात्रके लिए भी शल्यसहित रत्नत्रयके साथ रहना उचित नही है । उक्त गुणवाले आचार्यके पादमूलमे उसे अपने शल्यको निकाल देना चाहिए ॥४७१॥

---

1. -तीति सुतपास्त्वय सु-आ० ।

तम्हा जिणवयणरुई जाइजरामरणदुक्खवित्तत्था ।
अज्जवमद्दवसंपण्णा भयलज्जाउ पमोत्तूण ॥४७२॥

'तम्हा' तस्मात् । **'जिणवयणरुई'** जिनागमे श्रद्धावन्त । **'जाइजरामरणदुक्खवित्तत्था'** जातिजराम-रणदु खवित्रस्ता. । **'अज्जवमद्दवसंपण्णा'** आर्जवेन मार्दवेन च युक्ता । **'भयलज्जाओ'** भय लज्जा वा । **'मोत्तूण'** मुक्त्वा ॥४७२॥

उप्पाडित्ता धीरा मूलमसेसं पुणब्भवलयाए ।
संवेगजणियकरणा तरंति भवसायरमणंतं ॥४७३॥

'उप्पाडित्ता' उत्पाट्य । धीरा. । किं ? मूल । कथ ? **'असेस'** निरवशेष । कस्य मूल ? **'पुणब्भवल-याए'** पुनर्भवलताया । किं तन्मूल ? शल्य । **'संवेगजणियकरणा'** ससारभीरुतोत्पादितक्रिया । **'तरंति'** तरन्ति । **'भवसायरमणंतं'** भवसागरमनन्त ॥४७३॥

उक्तवस्तूपसंहारार्था गाथा—

इय जइ दोसे य गुणे ण गुरू आलोयणाए दंसेइ ।
ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥४७४॥

'इय' एव । **'जदि गुरू ण दंसेदि'** यदि गुरुर्न दर्शयेत् क्षपकस्य । किं **'आलोयणाए गुणे'** स्वापराधक-थनस्य गुणान् । **'दोसे य'** दोषाश्च यदि न दर्शयेत् । **आलोयणाए** इति वाक्यशेष । **'सो खवगो ण णियत्तदि'** असौ क्षपको न निवर्तते । कुत ? **'तत्तो'** पूर्वोक्तदोषान्मायाशल्यात् । **'गुणे य ण परिणमदि'** गुणे च नि शल्यत्वे न परिणमते ॥४७४॥

तम्हा खवएणाओपायविदंसिस्स पायमूलम्मि ।
अप्पा णिव्विसिदव्वो धुवा हु आराहणा तत्थ ॥४७५॥

'तम्हा' तस्मात् आयोपायदर्शिन पादमूले यस्माद्दोषान्निवर्तते क्षपको गुणे च परिणमते तदुभयार्थी च । **'तम्हा'** तस्मात् **'खवगेण'** क्षपकेन **'आयोपायविदसिस्स'** गुणदोषदर्शिन । **पादमूलम्हि** पादमूले । **'अप्पा णिव्वि-**

गा०—अत जिनागमके श्रद्धालु और जन्म जरा मरणके दु खसे भीत क्षपकको भय और लज्जाको छोड आर्जव और मार्दवसे युक्त होना चाहिए ॥४७२॥

गा०—धीर क्षपक पुनर्जन्मरूपी लताके मूल सम्पूर्ण शल्यको उखाड़कर ससारके भयसे उत्पन्न किये चारित्रको धारण करके अनन्तभवसागरको तिर जाते है ॥४७३॥

उक्त कथनका उपसहार करते है—

गा० - इस प्रकार यदि गुरु क्षपकको आलोचना अर्थात् अपने अपराधको कहनेके गुण और दोष न बतलावे तो वह क्षपक पूर्वोक्त मायाशल्य दोषसे निवृत्त न हो और नि.शल्य नामक गुणसे युक्त न हो ॥४७४॥

गा०—यत आय-उपायके दर्शी आचार्यके पादमूलमे रहनेसे क्षपक दोषसे निवृत्त होता

सिवव्वो' आत्मा स्थापयितव्य । तत्र गुणमाचष्टे '**सुवा खु आराहणा तत्थ**' निश्चिता रत्नत्रयाराधना तत्र । **आयोपायः** ॥४७५॥

अवपीडकत्व व्याख्यातुकाम सबध्नाति पूर्वेण उपायदर्शित्वेन—

आलोचणगुणदोसे कोई सम्म पि पण्णविज्जंतो ।
तिव्वेहिं गारवादिहिं सम्मं णालोचए खवए ॥४७६॥

'**आलोचणगुणदोसे**' आलोचनाया गुणदोषान् । '**कोई**' कश्चित् । '**सम्मंपि पण्णविज्जंतो**' सम्यगवबोध्यमानोऽपि । '**खवगो णालोचए सम्म**' क्षपक सम्यक् न कथयेत् । केन हेतुना ? '**तिव्वेहि गारवादिहि**' तीव्रैर्गारवादिभि आदिशब्देन लज्जाभयक्लेशासहत्व च गृह्यते ॥४७६॥

एवमनालोचयतोऽपि भाव प्रशमन्ति नेतव्यो निर्यापकेनेत्येतद्व्याचष्टे—

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ।
तो पल्हावेदव्वो खवओ सो पण्णवंतेण ॥४७७॥

'**णिद्धं**' स्नेहवत् । '**मधुरं**' श्रुतिसुख । '**हिदयगमं**' हृदयानुप्रवेशि । '**पल्हादणिज्जं**' सुखदं । '**एगते**' एकान्ते । '**पल्हावेदव्वो**' शिक्षयितव्य । '**खवगो**' क्षपक । '**सो**' स । आत्मापराध यो न कथयति । '**पण्णवंतेण**' प्रज्ञापयता सूरिणा । आयुष्मन् ! उपलब्धसन्मार्गरत्नत्रयनिरतिचारकरणे समाहितचित्त ! अतिचार निवेदय लज्जा, भय, गारव च विहाय । गुरुजनो हि मात्रा पित्रा च सदृश , तेषा कथने का लज्जेति । स्वदोषमिव न प्रख्यापयन्ति परेषा यतीना । यतिधमस्य वा अवर्णवाद प्रयत्नेन विनाशयितुमुद्यता किमयश प्रथयन्ति ।

है और गुणसे युक्त होता है। अत क्षपकको गुणदोष दिखलानेवाले आचार्यके पादमूलमे अपनेको रखना चाहिए। ऐसा करनेसे रत्नत्रयकी आराधना होना निश्चित है ॥४७५॥

आयोपायका कथन समाप्त हुआ।

अब अवपीडक गुणका कथन करनेकी इच्छासे उसका उक्त उपायदर्शित्व गुणके साथ सम्बन्ध जोडते है—

गा०—कोई क्षपक आलोचनाके गुण और दोषोको अच्छी तरह समझनेपर भी तीव्र गारव, आदिके कारण सम्यक्रूपसे अपने दोषोको नही कहता। यहाँ आदि पदसे लज्जा, भय और कष्टको सहन न करना लिए गये है ॥४७६॥

इस प्रकार आलोचना न करनेवाले क्षपकके भावको निर्यापक आचार्यको शान्त करना चाहिए, यह कहते है—

गा०-टी०—जो अपना अपराध नही कहता उस क्षपकको समझानेवाले आचार्यको एकान्तमे स्नेहसे भरे, कानोको सुखकर और हृदयमे प्रवेश करनेवाले सुखदायक वचनोसे शिक्षा देना चाहिए। प्राप्त सन्मार्ग रत्नत्रयके निरतिचार पालनमे सावधान आयुष्मन् ! लज्जा, भय और मान छोडकर दोषोको निवेदन करो। गुरुजन माता-पिताके समान होते है उनसे कहनेमे लज्जा कैसी ? वे अपने दोषकी तरह दूसरे यतियोके भी दोष किसीसे नही कहते। जो यतिधर्म

समीचीनदर्शनस्य मुक्तिमार्गे प्रधानस्य मलं हि तद्यतिजने दूषणं । अतिचारहिमान्या हृत च रत्नत्रयकमलवनं न शोभते । परनिन्दा नीचैर्गोत्रस्यास्रव । स्वयं च निन्द्यते बहुषु जन्मसु निन्दक । परस्य मन:संतापं दुस्सहं सम्पादयतो असद्वेद्यकर्मबन्ध स्यात् । साधुजनोऽपि निन्दति स्वधर्मतनयं किमर्थमय एव अयश:पङ्केन लिम्पतीति । एवमनेकानर्थावहपरदोषप्रकटनं क सचेतन करोतीति ।।४७७।।

णिद्धं महुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ।
कोइ तु पण्णविज्जंतओ वि णालोचए सम्मं ।।४७८।।

एव प्रज्ञापनाया सत्यामपि यो नालोचयति इत्युत्तरसूत्रार्थ ।

तो उप्पीलेदव्वा खवयस्सोप्पीलएण दोसा से ।
वामेइ मंसमुदरमवि गदं सीहो जह सियालं ।।४७९।।

'**तो**' पश्चात् । '**उप्पीलिदव्वा**' अवपीडयितव्या । के ? '**दोसा**' दोषा । कस्य ? '**से**' तस्य । '**खवगस्य**' क्षपकस्य । केन ? '**उप्पीलएण**' अवपीडकेन सूरिणा । अपसरास्मत्सकाशात्, किमस्माभिर्भवत प्रयोजन ? यो हि स्वशरीरलग्नमलप्रक्षालनेच्छ स ढौकते काचच्छायानुसारिसलिल सर । यो वा महारोगोरगग्रस्तस्तदपनयनाभिलाषवान् स वैद्य ढौकते । एव रत्नत्रयातिचारान्निराकर्तुमभिलषता समाश्रयणीयो गुरुजन । भवतश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नैवादर किमनया क्षपकत्वविडम्बनया । न चतुर्विधाहारपरित्यागमात्रायत्ता सल्लेखनेय ।

पर मिथ्या दोषारोपणको नष्ट करनेमे तत्पर रहते हैं वे क्या अपयश फैला सकते हैं ? मोक्षमार्गमे प्रधान सम्यग्दर्शन है और यतिजनमे दूषण लगाना सम्यग्दर्शनका अतिचार है । रत्नत्रयरूपी कमलोका वन यदि अतिचाररूपी हिमपातसे नष्ट हो तो वह शोभित नही होता । परनिन्दासे नीचगोत्र कर्मका आस्रव होता है । जो दूसरोकी निन्दा करता है वह स्वय अनेक जन्मोंमे निन्दाका पात्र बनता है । दूसरेके मनको असह्य सन्ताप देनेवालेके असातावेदनीयकर्मका बन्ध होता है । साधुजन भी निन्दा करते हैं कि अपने धर्मपुत्रको यह इस प्रकार अपयशरूप कीचडसे क्यो लिप्त करता है । इस तरह दूसरोके दोषोंको प्रकट करना अनेक अनर्थोंका मूल है । कौन समझदार उसे करना पसन्द करेगा ।।४७७।।

गा०—स्निग्ध, मधुर, हृदयग्राही और सुखकर वचनोके द्वारा एकान्तमें समझानेपर भी कोई क्षपक अपने दोषोको सम्यक्रूपसे नही कहता ।।४७८।।

गा०—तब जैसे सिंह स्यारके पेटमे गये मासको भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपकके अन्तरमे छिपे हुए मायाशल्य दोषोको बाहर निकालता है ।।४७९।।

टी०—हमारे सामनेसे दूर हो जाओ । आपको हमसे अब क्या प्रयोजन है ? जो अपने शरीरमे लगे मलको धोना चाहता है वह काचके समान निर्मल जलवाले सरोवरके पास जाता है । अथवा जो महान् रोगरूपी सर्पसे डँसा गया है और उसे दूर करना चाहता है वह वैद्यके पास जाता है । इसी प्रकार जो रत्नत्रयमे लगे अतिचारोंको दूर करना चाहता है उसे गुरुजनके पास जाना चाहिए । आपको अपने रत्नत्रयकी शुद्धि करनेमे आदर नही है तब इस क्षपकका रूप धारण करनेसे क्या लाभ ? यह सल्लेखना केवल चार प्रकारके आहारका त्याग करनेमात्रसे

अपि तु कषायसल्लेखनायत्ता । संवरो निर्जरा च, कषाया ह्यभिनवकर्मादाने, बन्धे, स्थितिविधाने चोद्यता परिहरणीया । तेषु च कषायेषु मायातिनिकृष्टा तिर्यग्योनिनिर्वर्तनप्रवणा । ता त्यक्तुमसमर्थस्यापि प्रविष्टस्य भवत संसारोदधेस्तिर्यग्भवावर्तं । ततो निःसरणमतिदुष्करं । वस्त्रमात्रपरित्यागेनैव निर्ग्रन्थताभिमानोद्वहनमप्यसत्यं, सत्येव तिर्यञ्चोऽपि निर्ग्रन्थाः स्युः । चतुर्दशप्रकारस्याभ्यन्तरपरिग्रहस्य त्यागाद्भावनैर्ग्रन्थ्य समवतिष्ठते । तदेव हि मुक्तेरुपाय । भावनैर्ग्रन्थ्यस्य उपाय इति दशविधबाह्यग्रन्थत्याग उपयोगी मुमुक्षो । न हि जीवपुद्गलद्रव्यसन्निधानमात्राधीनः कर्मबन्ध. । अपि तु तन्निमित्तजीवपरिणामालम्बन । अतिचारवन्ति दर्शनादीनि न मुक्तेरुपायः । 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति किन्न भवत श्रुतिगोचरमायातं जैन वच. ? समीचीनता हि दर्शनज्ञानचारित्राणा निरतिचारता । सा च गुरूपदिष्टप्रायश्चित्ताचरणे । गुरवोऽपि कृतालोचनायैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवान्दूरभव्य अभव्यो वा । आसन्नभव्यत्वे सति किमेव महामायाशल्यं भवति ? नैव यतिजनवन्दनार्होऽसि । 'समणं वंदेज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं' इति वचनात् । जीवितमरणयोर्लाभालाभयोर्निन्दाप्रशसयोश्च समानचित्ततया समानो भवति । अतिचारनिवेदने मा निन्दन्ति न प्रशंसन्तीति भवता नालोच्यते । तत्कथं समानोऽसि ? कथ वा वन्द्य ?

'सीहो जहा सियालं उदरमवि गदं पि मंस वामेदि' सिंहो यथा शृगालमुदरप्रविष्टमपि मासमुद्गारयति तद्वन्मायाशल्यमन्तर्लीनं निस्सारयत्यवपीडक ॥४७९॥

नही होती। किन्तु इसके लिए कषायको कृश करना चाहिए। तभी यह सल्लेखना होती है। तथा संवर और निर्जरा भी करना चाहिए। कषाय तो नवीन कर्मोंके ग्रहण, बन्ध और उनके स्थितिबन्धको करती है अत. वह त्यागने योग्य है।

उन कषायोंमें माया अत्यन्त खराब है वह तिर्यञ्चगतिमें ले जाती है। आप उसे छोडनेमे असमर्थ है अत आप संसार समुद्रके तिर्यञ्चभवरूपी भँवरमे फँस गये है। वहाँसे निकलना अत्यन्त कठिन है। वस्त्रमात्रके त्यागसे अपनेको निर्ग्रन्थ माननेका अभिमान करना भी झूठा है। यदि कोई इतनेसे ही निर्ग्रन्थ हो तो पशु भी निर्ग्रन्थ कहे जायेंगे। चौदह प्रकारकी अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागसे भावनैर्ग्रन्थ्य होता है। वही मुक्तिका उपाय है। भावनैर्ग्रन्थ्यका उपाय है दस प्रकारकी बाह्यपरिग्रहका त्याग। वह मुमुक्षुके लिए उपयोगी है। जीव और पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धमात्रसे कर्मबन्ध नही होता, किन्तु उसके निमित्तसे होनेवाले जीवके परिणामोके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है। अतिचार सहित सम्यग्दर्शन आदि मुक्तिके उपाय नहीं है। 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है।' क्या यह जिनागमका वचन आपके कानोंमे नही गया ? निरतिचार होना ही दर्शन ज्ञान और चारित्रकी समीचीनता है। और वह निरतिचारता गुरुके द्वारा कहे प्रायश्चित्तको करनेपर ही होती है। गुरु भी उसीको प्रायश्चित्त देते हैं जो आलोचना करता है। अत आप या तो दूर भव्य है या अभव्य हैं। यदि निकट भव्य होते तो इस प्रकारका महामायारूप शल्य क्यो होता। तुम यतिजनोंके द्वारा वन्दना करने योग्य नही हो। क्योंकि आगममे कहा है—

'बुद्धिमान्‌को संयमी और सम्यक्‌रूपसे समाहित श्रमणकी बन्दना करनी चाहिए।'

जीवनमरणमें, लाभ अलाभमे, निन्दा प्रशंसामे जिसका चित्त समान रहता है वही श्रमण या समण होता है। 'दोष कहनेपर लोग मेरी निन्दा करेंगे, प्रशंसा नही करेंगे' इसलिए आप आलोचना नहीं करते। तब आप कैसे समण (समान) है और कैसे वन्दनीय है। इस प्रकार

इदृगवपीडको भवतीत्याचष्टे—

उज्जस्सी तेजस्सी वच्चस्सी पहिदकित्तियायरिओ ।
सीहाणुओ य भणिओ जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥४८०॥

यो यद्धितकामस्स त बलात्तत्र प्रवर्तयति । यथा हिता माता बाल घृतपाने इत्येतदुत्तरसूत्रेणाचष्टे—

पिल्लेदूण रडंत पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता ।
पज्जेइ घदं माया तस्सेव हिदं विचिंतंती ॥४८१॥

'**पिल्लेदूण मुहं विदारित्ता घदं पज्जेदि**' यथा जननी बालहितचिन्तोद्यता पूत्कुर्वन्तमपि बाल अवष्टभ्य मुख विदार्य घृत पाययति ॥४८१॥

दार्ष्टान्तिकेनायोजयति—

तह आयरिओ वि अणुज्जयस्स खवयस्स दोसणीहरणं ।
कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडु ओसहं वत्ति ॥४८२॥

'**तह**' तथा । आयरिओ' आचार्योऽपि । '**अणुज्जयस्स खवगस्स**' अनृजो क्षपकस्य । '**दोसणीहरणं कुणइ**' मायाशल्यनिरास करोति । '**कडुगोसधं वत्ति**' कटुकमौपधमिव । '**से**' तस्य । '**पच्छाहिदं होदि**' पश्चाद्धित भवतीति ॥४८२॥

यो न निर्भर्त्सयति दोप दृष्ट्वापि प्रियमेव वक्ति स गुरु शोभन इति न भवद्भिर्मन्तव्यमित्युपदिशति—

जिब्भाए वि लिहंतो ण भद्दओ जत्थ सारणा णत्थि ।
पाएण वि ताडिंतो स भद्दओ जत्थ सारणा अत्थि ॥४८३॥

कहकर अवपीडक आचार्य उसके मुखमे दोष उगलवाते है ॥४७९॥

अवपीडक आचार्य ऐसे होते है, यह कहते है—

गा०—जो ओजस्वी-बलवान्, तेजस्वी-प्रतापवान्, वर्चस्वी-प्रश्नोका उत्तर देनेमे कुशल, प्रसिद्ध कीर्तिशाली और सिहके समान आचार्य होते है उन्हे जिनभगवान्ने उत्पीडक नामसे कहा है ॥४८०॥

जो जिसका हित चाहता है वह उसे बलपूर्वक उसमे लगाता है जसे हित चाहनेवाली माता बालकको बलपूर्वक घी पिलाती है यह आगेकी गाथासे कहते है—

गा०—जैसे बालकके हितकी चिन्तामे तत्पर माता चिल्लाते हुए भी बालकको पकडकर उसका मुँह फाडकर घी पिलाती है ॥४८१॥

उक्त दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिके साथ जोडते है—

गा०—उसी प्रकार आचार्य भी कुटिल क्षपकके मायाशल्यरूप दोषको निकालते है । और वह कडुवी औषधिकी तरह पीछे उस क्षपकके लिए हितकारी होता है ॥४८२॥

जो क्षपकके दोष देखकर भी उसका तिरस्कार नही करता, प्रियवचन ही बोलता है वह गुरु उत्तम है ऐसा आप न सोचना, यह उपदेश क्षपकको देते है—

'**जिब्भाए वि लिहंतो**' जिह्वया स्वादयन्नपि '**न भद्दगो**' नैव भद्रक । '**जत्थ सारणा णत्थि**' यस्मिन्गुरौ दोषनिवारणा नास्ति । '**पाएण वि ताडिंतो**' पादेन ताडयन्नपि '**स भद्दगो**' स सूरिर्भद्रक । '**सारणा जत्थ अत्थि**' सारणा यत्र गुरौ विद्यते ।।४८३।।

सारणकस्य सूरेर्भद्रताप्रकटनाय गाथा—

सुलहा लोए आदट्ठचिंतगा परहिदम्मि मुक्कधुरा ।
आदट्ठं व परट्ठं चिंतंता दुल्लहा लोए ।।४८४।।

'**सुलभा लोए आदट्ठचितगा**' सुलभाः प्रचुरा । '**लोए**' लोके । '**आदट्ठचितगा**' स्वकार्ये तत्परा । '**परहिदम्मि मुक्कधुरा**' परहितकरणे अलसा. । '**आदट्ठं व**' आत्मप्रयोजनमिव । '**परट्ठं चिंतंता**' परप्रयोजनचिन्तासमुद्यता लोके दुर्लभा ।।४८४।।

आदट्ठमेव चिंतेदुमुट्ठिदा जे परट्ठमवि लोगे ।
कडुय फरुसेहिं साहेंति ते हु अदिदुल्लहा लोए ।।४८५।।

'**आदट्ठमेव चितेदुमुट्ठिदा**' आत्मीयमेव प्रयोजन चिन्तयितुमुत्थिता । '**जे**' ये '**परट्ठमवि**' परप्रयोजनमपि '**कडुगफरुसेहिं**' कटुकं परुषं प्रवचनं '**साधेंति**' साधयन्ति लोके । '**अतिदुल्लहा**' अतीव दुर्लभा ।।४८५।।

सूरिर्यदि नावपीडयेत् नासौ क्षपको मायाशल्यान्निवर्तते । निर्मायत्वे निरतिचाररत्नत्रये च गुणे न प्रवर्तते इति आचार्यमपाद्यमुपकार प्रकटीकरोति—

खवयस्स जइ ण दोसे उग्गालेइ सुहमे व इदरे वा ।
ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ।।४८६।।

'**खवगस्स ण सुहुमे व इदरे वा दोसे जइ ण उग्गालेइ**' क्षपकस्य सूक्ष्मान् स्थूलान्वा दोषान्यदि नोद्गारयति । '**सो खवगो तत्तो ण णियत्तइ**' स क्षपकस्तेभ्य सूक्ष्मेभ्य स्थूलेभ्यो वा दोषेभ्यो न निवर्तते । '**नैव गुणे**

जो गुरु शिष्यके दोषोका निवारण नही करता, वह जिह्वासे मधुर बोलनेपर भी भद्र नही है। और जो गुरु दोषोका निवारण करता हुआ पैरसे मारता भी है वह भद्र है ।।४८३।।

दोषोका निवारण करनेवाले आचार्यकी भद्रता बतलाते है—

गा०—अपने काममे तत्पर किन्तु दूसरोका हित करनेमे आलसी मनुष्य लोकमे बहुत है। किन्तु अपने कार्यकी तरह दूसरोके कार्यकी चिन्ता करनेवाले मनुष्य लोकमे दुर्लभ है ।।४८४।।

गा०—जो अपने ही कार्यकी चिन्तामे तत्पर होते हुए दूसरोके कार्यको भी कठोर और कटुकवचनोमे साधते है वे पुरुष लोकमे अत्यन्त दुर्लभ है ।।४८५।।

गा०— आचार्य यदि क्षपकको पीडित न करे तो वह मायाशल्यसे न निकले। और मायाशल्यसे निकले विना निरतिचार रत्नत्रय गुणमे प्रवृत्त न हो ।।४८६।।

इस प्रकार आचार्यके द्वारा किये जानेवाले उपकारको प्रकट करते है—

यदि आचार्य क्षपकके सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषोको न उगलवाये तो वह क्षपक उन सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषोसे निवृत्त न हो और न गुणमे प्रवृत्त हो। और दोषोको दूर किये विना तथा

परिणमते' निराकृतदोषो गुणे वाऽपरिणतो कथमाराधकः स्यादाराधनार्थमायातोऽप्यसत्यवपीडके । उप्पीलत्ति गदं ॥४८६॥

तम्हा गणिणा उप्पीलणेण खवयस्स सव्वदोसाहु ।
ते उग्गालेदव्वा तस्सेव हिदं तया चेव ॥४८७॥

उप्पीलओत्ति गदं ।

एवं अवपीडकता व्याख्यायावसरप्राप्तामपरिश्राविता व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा ।
ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अप्परिस्सवो होदि ॥४८८॥

'लोहेण पीदमुदग व' एवमत्र पदसबन्ध । **'जस्स आलोइदा दोसा ण परिस्सवन्ति अण्णत्तो'** यस्मै कथिता दोषा न परिस्रवन्त्यन्यत । किमिव **'लोहेण पीदमुदगंव'** लोहेन मतप्तेन पीतमिवोदक । **'सो'** स. । एवंभूतोऽपरिस्सवो होदि अपरिस्रावी भवति ॥४८८॥

दंसणणाणादिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ।
देसच्चाए विविधे सव्वच्चाए य आवण्णो ॥४८९॥

दंसणणाणादिचारे य वदादिचारे' श्रद्धानस्यातिचार शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशमासस्तवा, ज्ञानस्य अतिचारा अकाले पठन, श्रुतस्य श्रुतधरस्य वा विनयाकरण अनुयोगादीना ग्रहणे तत्प्रायोग्यावग्रहाग्रहण, उपाध्याय निह्नव., व्यञ्जनाना न्यूनताकरण, आधिक्यकरण, अर्थस्य अन्यथाकथन वा । तपसोऽनशना-

---

गुणमे लगे विना आराधक कैसे हो सकता है ? आराधनाके लिए गुरुके पास आकर भी यदि गुरु अवपीडक न हो तो उक्त बात नही बन सकती है ॥४८६॥

गा०—इसलिए उत्पीडक आचार्यको क्षपकके सब दोष उगलवाना चाहिए। क्योंकि क्षपकका हित इसीमे है ॥४८७॥

उत्पीडक गुणका कथन समाप्त हुआ ।

इस प्रकार अवपीडक गुणका व्याख्यान करके अवसर प्राप्त अपरिश्रावी गुणको कहते है—

गा०—जैसे तपाये हुए लोहेके द्वारा पिया गया जल बाहर नही जाता वैसे ही जिस आचार्यसे कहे गए दोष अन्य मुनियोपर प्रकट नही होते, वह आचार्य अपरिस्राव गुणसे युक्त होता है ॥४८८॥

गा०—किसीके सम्यग्दर्शनमे अतिचार लगा हो, अथवा ज्ञानमे अतिचार लगा हो, या व्रतोमें अतिचार लगा हो, या तपमें अतिचार लगा हो, यह एकदेशसे अथवा सर्वदेशसे अतिचार लगा हो तो ॥४८९॥

टी०—सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा और संस्तव । ज्ञानके अतिचार हैं—असमयमे स्वाध्याय, श्रुत अथवा श्रुतके धारीकी विनय न करना, अनुयोग आदिको ग्रहण करनेमें उसके योग्य अवग्रह न करना, गुरुका नाम छिपाना, व्यंजन शब्द छोड़ जाना या अधिक जो उसमें नहीं हैं, बोलना, और अर्थका अन्यथा कथन

देरतिचार:–स्वयं न भुङ्क्ते अन्य भोजयति, परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च, स्वयं क्षुधा पीडित आहारमभिलषति, मनसा पारणा मम कः प्रयच्छति, क्व वा लप्स्यामीति चिन्ता अनशनातिचार.। रसवदाहारमन्तरेण परिश्रमो मम नापैति इति वा। षट्जीवनिकायबाधायां अन्यतमेन योगेन वृत्ति. प्रचुरनिद्रतया। सक्लेशकमनर्थमिदमनुष्ठितं मया, संतापकारीदं नाचरिष्यामि इति सकल्प.। अवमोदर्यातिचार. मनसा बहुभोजनादर. परं बहु भोजयामीति चिन्ता। भुङ्क्ष्व यावद्भवतस्तृप्तिरिति वचनं भुक्तं मया गृह्णित्युक्ते सम्यक्कृतमिति वा वचन, हस्तसज्ञया प्रदर्शनं कण्ठदेशमुपस्पृश्य। वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचारा: गृहसप्तकमेव प्रविशामि, एकमेव पाट दरिद्रगृहमेव। एवंभूतेन दायकेन दायिकया वा दत्त ग्रहीष्यामीति वा कृतसकल्पः गृहसप्तकादिकादधिकप्रवेश, पाटान्तरप्रवेशश्च परं भोजयामीत्यादिक। कृतरसपरित्यागस्य रसातिसक्ति, परस्य वा रसवदाहारभोजन, रसवदाहारभोजनानुमनन, वातिचार। कायक्लेशस्यातपनस्यातिचार. उष्णार्दितस्य शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, सन्तापापायो मम कथ स्यादिति चिन्ता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशाना स्मरण, कठोरातपस्य द्वेष, शीतलाद्देशादकृतगात्रप्रमार्जनस्य आतपप्रवेश, आतपसतप्तशरीरस्य वा अप्रमृष्टगात्रस्य छायानुप्रवेश इत्यादिक। वृक्षस्य मूलमुपगतस्यापि हस्तेन, पादेन, शरीरेण वा वा कायाना पीडा।

करना। तप अनशन आदिके अतिचार है—स्वय भोजन न करते हुए भी दूसरोको भोजन कराना, मनवचनकायसे दूसरेको भोजनकी अनुमति देना, स्वय भूखसे पीड़ित होनेपर मनसे आहारकी अभिलाषा करना, मुझे पारणा कौन करायेगा, अथवा कहाँ पारणा होगी, इत्यादि चिन्ता अनशन तपके अतिचार है। अथवा रसीले आहारके विना मेरी थकान दूर नही होती, प्रचुर निद्रामे पडकर छह्कायके जीवोकी बाधामे मन या वचन या कायसे प्रवृत्ति होना। मैने यह सक्लेशकारी उपवास व्यर्थ ही किया, यह सन्तापकारी है इसे नही करूँगा इस प्रकारका सकल्प भी अनशनका अतीचार है।

अवमौदर्यतपके अतिचार—मनसे बहुत भोजनमे आदर, दूसरेको बहुत भोजन करानेकी चिन्ता, जबतक आपकी तृप्ति हो तबतक भोजन करो ऐसा कहना, 'मैंने बहुत भोजन किया' ऐसा कहनेपर 'आपने अच्छा किया' ऐसा कहना, हाथके सकेतसे कठ देशको स्पर्श करके बतलाना कि मैने आकण्ठ भोजन किया।

वृत्तिपरिसख्यानतपके अतिचार—सात घरमें ही प्रवेश करूँगा, या एक ही मुहालमे जाऊँगा, वा दरिद्रके घर ही जाऊँगा, इस प्रकारका दाता पुरुष या दात्री स्त्रीके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करूँगा। ऐसा संकल्प करके दूसरेको भोजन कराना है इस भावसे सात घरसे अधिक घरोमे प्रवेश करना और एक मुहालसे दूसरे मुहालमें जाना।

रसपरित्यागतपके अतिचार – रसोमे अति आसक्ति, दूसरेको रसयुक्त आहारका भोजन कराना, अथवा रसयुक्त आहारके भोजनकी अनुमति। ये अतिचार है।

कायक्लेशतपके अतिचार—गर्मीसे पीड़ित होनेपर शीतलद्रव्यकी प्राप्तिकी इच्छा होना, मेरा सन्ताप कैसे दूर हो यह चिन्ता होना, पूर्वमें भोगे हुए शीतलद्रव्यो और शीतल प्रदेशोको याद करना, कठोर धूपसे द्वेष करना, शीतल प्रदेशसे अपने शरीरको पीछीसे शोधे बिना धूपमे या गर्मस्थानमे प्रवेश करना, अथवा घामसे सन्तप्त शरीरको पीछीसे शोधे विना छायामे प्रवेश करना आदि। वृक्षके मूलमें जाकर हाथ, पैर अथवा शरीरसे जलकायिक जीवोंको पीड़ा देना,

कथं ? शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनं हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनं मृदुकार्द्रायां भूमौ शयनं निम्ने जलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम्, अवग्राहे वर्षापातः कदा स्यादिति चिन्ता, वर्षति देवे कदास्योपरमः स्यादिति वा, छत्रकटकादिधारणं वर्षानिवारणायेत्यादिकं । तथा अभ्राऽवकाशस्यातिचारः सचित्तायां भूमौ त्रसहितहरितसमुत्थितायां विवरवत्यां शयनं । अकृतभूमिशरीरप्रमार्जनस्य हस्तपादसंकोचप्रसारणे, पार्श्वान्तरसञ्चरणं, कण्डूयनं वा । हिमसमीरणाभ्यां हतस्य कदैतदुपशमो भवतीति चिन्ता, वंशदलादिभिरुपरिनिपतितहिमापकर्षणं, अवश्यायघट्टना वा प्रचुरवातापातदेशोऽयमिति सक्लेशः, अग्निप्रावरणादीनां स्मरणमित्यादिकः । प्रायश्चित्तातिचारनिरूपणा—तत्रालोचनातिचाराः 'आकंपिय अणुमाणियमित्यादिकाः । स्वभूतातिचारेऽस्य मनसा अजुगुप्सा । अज्ञानतः, प्रमादात्कर्मगुरुत्वादालस्याच्चेदं अशुभकर्मबन्धननिमित्तं अनुष्ठितं, दुष्टं कृतमिति एवमादिकप्रतिक्रमणातिचारः । उक्तोभयातिचारसमवायस्तदुभयातिचारः । भावतोऽविवेको विवेकातिचारः । व्युत्सर्गातिचारः कृतः शरीरममताया न निवृत्तिः अशुभध्यानपरिणतिः । कायोत्सर्गदोषाश्च तपः अतिचाराः उक्ताः । एवं छेदस्यातिचारः न्यूनो जातोऽहमिति सक्लेशः । भावतो रत्नत्रयानादानं मूलातिचारः । सर्वो द्विप्रकारः इत्याचष्टे—'देशच्चाए विविधे' देशातिचारः नानाप्रकारः मनोवाक्कायभेदात्कृतकारितानुमत-

शरीरमें लगे जलके कणोंको हाथ वगैरहसे पोंछना, हाथ या पैरसे शिलातल आदिपर पड़े जलको दूर करना, कोमल गीली भूमिपर सोना, जलके बहनेके निचले प्रदेशमें ठहरना, निश्चित स्थानपर रहते हुए 'कब वर्षा होगी' ऐसी चिन्ता करना अथवा वर्षा होनेपर 'कब रुकेगी' ऐसी चिन्ता करना, वर्षासे बचनेके लिए छाता आदि धारण करना।

अभ्रावकाशके अतिचार—सचित्त भूमिपर जिसमें त्रससहित हरितकाय हो, तथा छिद्रवाली भूमिपर सोना, भूमि और शरीरको पीछीसे शुद्ध किये बिना सोते हुए हाथ पैर सकोचना फैलाना, करवट लेना अथवा शरीर खुजाना। बर्फ और वायुसे पीडित होनेपर 'कब ये बन्द होंगे' ऐसी चिन्ता करना, बाँसके पत्ते वगैरहसे शरीरपर गिरे बर्फको हटाना, अथवा बर्फसे घट्टन करना, इस प्रदेशमें अधिक वायु चलती है ऐसा सक्लेश करना, अथवा शीत दूर करनेके साधन आग, ओढनेके वस्त्र आदिका स्मरण करना।

प्रायश्चित्तके अतिचार—आलोचना प्रायश्चित्तके अतिचार 'आकम्पिय अणुमाणिय' इत्यादि आगे कहे गये हैं। अपने लगे अतिचारोंमें मनसे ग्लानिका न होना अतिचार है। अज्ञानसे, प्रमादसे, कर्मोकी गुरुतासे, और आलस्यसे मैंने यह अशुभकर्मके बन्धमें निमित्त कार्य किया, यह बुरा किया, यह जुगुप्सा है। उसका न होना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तका अतिचार है। उक्त आलोचना और प्रतिक्रमणके अतिचार तदुभय प्रायश्चित्तके अतिचार हैं। भावपूर्वक विवेकका न होना विवेक प्रायश्चित्तका अतिचार है। शरीरसे ममत्व न हटना, और अशुभध्यानरूप परिणति तथा कायोत्सर्गके दोष व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तके अतिचार है। तपके अतिचार पहले कहे है। मेरी दीक्षा छेदनेसे मैं छोटा हो गया, यह संक्लेश छेदप्रायश्चित्तका अतिचार है। भावपूर्वक रत्नत्रयको ग्रहण न करना मूलनामक प्रायश्चित्तका अतिचार है।

अतिचारके दो प्रकार है—देशातिचार और सर्वातिचार। मनवचनकाय और कृत-कारित

१ मृत्तिकार्द्रा–आ० मु०। २ अभ्रावकशस्य–अ०। ३ त्रसरहितकायचित्ताया विव–अ०। ४ र कृतो भवत –आ०। ५ तप अतिचारा उक्ता –आ०। तप अतिचारे उक्त मु०। र कृतो भवति मु०।

मतविकल्पाच्च । 'सव्वच्चागे य' सर्वातिचारे च 'आपण्णो' आपन्न ॥४८९॥

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे ।
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥४९०॥

'आइरियाण' आचार्याणा । **'भिक्खु'** भिक्षु । **'कहेदि'** कथयति । **'वीसत्थदाए'** विश्वासेन । कि ? **'सगदोसे'** स्वातिचारान् । **'कोई पुण'** कश्चित्पुनराचार्यपाश. । **'णिद्धम्मो'** निष्क्रान्तो बहिर्भूतो जिनप्रणीताद्धर्मात् । **'अण्णेसिं'** अन्येभ्य । **'कहेदि ते दोसे'** कथयति तान् आलोचितान्दोषान् । अनेन किलायमपराध कृत इति ॥४९०॥

तेण रहस्सं भिंदंतएण साधू तदो य परिचत्तो ।
अप्पा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा चेव ॥४९१॥

'तेण' नेन । **'रहस्सं भिदंतएण'** प्रच्छाद्यालोचितदोषप्रकाशनकारिणा । **'साहू'** साधु । **'तदो य परिचत्तो'** ततस्तु परित्यक्त । स्वदोषप्रकाशने मया कृते लज्जावानय दुःखितो भवति । आत्मान वा घातयेत् । कुपितो वा रत्नत्रयं त्यजेत् इति स्वचित्तेऽकुर्वता परित्यक्तो भवति । **'अप्पा परिचत्तो'**, **'गणो परिचत्तो, संघो परिचत्तो'**, इति प्रत्येकाभिसबन्ध । **'मिच्छत्ताराहणा चेव'** मिथ्यात्वाराधना दोषो भवति ॥४९१॥

इत्थ साधु परित्यक्तो भवतीत्याचष्टे—

लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोवि ।
विपरिणामिज्ज उधावेज्ज व [1]गच्छेज्ज बाध मिच्छत्तं ॥४९२॥

'लज्जाए' लज्जया । **'गारवेण व'** गुरुतया वा । **'कोई'** कश्चित् । **'दोसे'** दोषान् । **'परस्स'** परस्मै । **'कहिदो वि'** कथितोऽपि । **'विपरिणामेज्ज'** पृथग्भवेत् । नाय मम गुरु प्रियो यदि स्यात्कि मदीयान्दोषान्नि-

---

अनुमोदनाके भेदसे देशातिचारके अनेक भेद है ॥४८९॥

गा०—भिक्षु विश्वासपूर्वक अपने दोषोको आचार्योंसे कहता है। कोई आचार्य जो जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्मसे भ्रष्ट होता है, वह भिक्षुके द्वारा आलोचित दोषोको दूसरोसे कह देता है कि इसने यह अपराध किया है अर्थात् ऐसे करनेवाला आचार्य जिनधर्मसे बाह्य होता है ॥४९०॥

गा०—उस आलोचित दोषको प्रकट करनेवाले आचार्यने ऐसा करके उस साधुका ही त्याग कर दिया। क्योंकि उसने अपने चित्तमे यह विचार नही किया कि मेरे द्वारा इसके दोष प्रकट कर देनेपर यह लज्जित होकर दुखी होगा, अथवा आत्मघात कर लेगा, अथवा क्रुद्ध होकर रत्नत्रयको ही छोड देगा। तथा उस आचार्यने अपनी आत्माका त्याग किया, गणका त्याग किया, संघका त्याग किया। इतना ही नही, उसके मिथ्यात्वकी आराधना दोष भी होता है ॥४९१॥

उस आचार्यने साधुका परित्याग कैसे किया, यह कहते है—

गा०—निर्यापकाचार्यके द्वारा दूसरेसे साधुके गुप्त दोष कहनेपर कोई क्षपक लज्जावश या मानकी गुरुतावश विपरीत परिणाम कर सकता है। यह मेरा गुरु नही है। यदि मै इसे

---

१ गच्छाहि वा णिज्जा–मु० । 'गच्छाहि वा णिज्जा',' गच्छेज्ज मिच्छत्तमितिपाठे—मूलारा० ।

गदति । मदीया बहिश्चरा प्राणा गुरुरयमिति या संभावना साद्य नष्टेति चिन्ता विपरिणामः '**उद्धावेज्ज वा**' त्यजेद्वा रत्नत्रय दोषप्रकटनेन कुपित. । '**गच्छेज्ज वा**' गणान्तर प्रविशेत् ।।४९२।।

आत्मपरित्यागं व्याचष्टे—

कोई रहस्सभेदे कदे पदोसं गदो तमायरियं ।
उद्दावेज्ज व गच्छं भिंदेज्ज व होज्ज पडिणीओ ।।४९३।।

'**कोई**' कश्चित् । '**रहस्सभेदे कदे**' रहस्यभेदे कृते । '**पदोसं गदो**' प्रद्वेष गत । '**तमायरियं**' तमाचार्यं । '**उद्दावेज्ज व**' मारयेत् । '**गच्छं भिंदेज्ज**' गणभेद कुर्यात् । किमनेन सूरिणा स्नेहरहितेन, यथा ममापराध प्रकटितवान् एव युष्मानपि निवेदितापराधान्दूषयिष्यतीति ब्रुवन् । '**होज्ज पडिणीओ**' प्रत्यनीको भवेत् ।।४९३।।

गणत्याग कथयति—

जह धरिसिदो इमो तह अम्हं पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति ।
सव्वो वि गणो विप्परिणमेज्ज छडेज्ज वायरियं ।।४९४।।

'**जह धरिसिदो इमो**' यथा दूषितोऽय । '**तह**' तथा । '**अम्ह पि करेज्ज धरिसणमिमोत्ति**' [1]अस्मद् दूषण कुर्यात् अयमिति । '**विप्परिणमेज्ज**' पृथग्भवेत् । '**छ डेज्ज वायरियं**' त्यजेद्वाचार्यं । [2]नत्वनेन सूत्रेण गण आचार्यं त्यजतीति कथ्यते तेन गणस्त्यक्त इति पूर्वसूत्रित ततोऽनयोर्न सगतिरित्यत्रोच्यते । यत एव सूरिणा

प्रिय होता तो यह मेरे दोष क्यो कहता । यह गुरु मेरे बाहरमे चलते-फिरते प्राण है ऐसा जो मै सोचता था वह आज नष्ट हो गया, इस प्रकारकी चिन्ता विपरीत परिणाम है । अथवा दोष प्रकट कर देनेसे कुपित होकर रत्नत्रयको छोड सकता है ।।४९२।।

उस आचार्यने आत्माका त्याग कैसे किया, यह कहते है—

गा०—रहस्यभेद करनेपर कोई क्षपक द्वेषी बनकर उस आचार्यको मार सकता है। अथवा गणमे भेद डाल सकता है कि इस स्नेहरहित आचार्यसे क्या लेना देना है ? जैसे इसने मेरा अपराध प्रकट कर दिया उसी प्रकार तुम्हे भी अपराध निवेदन करने पर दोष लगायेगा । ऐसा कहकर अन्य साधुओको विरोधी बनाकर गणमे भेद डाल सकता है । अथवा विरोधी हो सकता है ।।४९३।।

उस आचार्यने गणका त्याग कैसे किया, यह कहते हैं—

गा०—जैसे इस आचार्यने अमुक साधुका दोष प्रकट किया उसी प्रकार यह हमारा दोष भी प्रकट कर देगा, ऐसा सोचकर समस्त गण गणसे अलग हो सकता है अथवा आचार्यका त्याग कर सकता है ।

टी०-शंका—इस गाथामे तो कहा है कि गण आचार्यको छोड़ देता है और पूर्व गाथामें कहा है कि आचार्यने गणका त्याग किया । इन दोनों कथनोकी सगति नही बंठती ?

---

१ 'अ मान् दूषितान् कुर्यात्'—आ० मु० । २. बधनन सूत्रेण—आ० ।

दोष[1]प्रख्यापनपरेण त्यक्तोऽसौ तत एव गणस्तं त्यजति ॥४९४॥

सघस्त्यक्तो भवतीत्येतद् व्याचष्टे—

तह चेव पवयणं सव्वमेव विप्परिणयं भवे तस्स ।
तो से दिसावहारं करेज्ज णिज्जूहणं चावि ॥४९५॥

'**तह चेव पवयणं सव्वमेव**' तथैव प्रवचन सघ सर्व एव प्रोच्यते रत्नत्रय यस्मिन्निति शब्दव्युत्पत्तौ सघवाची भवति प्रवचनशब्द । '**विप्परिणद**' विरुद्धतया परिणतं प्रवृत्त । '**हवे तस्स**' भवेत्तस्य । '**तो**' तत. । '**से**' तस्य । '**दिसापहरण करेज्ज**' कुर्यात् आचार्य[2]पहरण कुर्यात् सघ '**णिज्जूहणं वापि करेज्ज**' इति पद-सबन्ध । परित्याग वा कुर्यात् ॥४९५॥

मिथ्यात्वाराधनाप्रतिपादनार्था गाथा—

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चेव आयरिओ ।
धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छजणो ॥४९६॥

'**जइ धरिसणमेरिसयं**' यदि दूषणं एवभूतं । '**करेदि**' करोति । '**सिस्सस्स चेव**' शिष्यस्यैव । क आचार्य. । '**धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणिज्ज**' धिग्धिग् अपुष्टधर्मान् श्रमणान् । इति '**भणेज्ज मिच्छ-जणे**' वदेन्मिथ्यादृष्टिर्जन ॥४९६॥

प्रस्तुतापरिश्रावितोपसहारगाथा प्रसिद्धार्था—

इच्चेवमादिदोसा ण होंति गुरुणो रहस्सधारिस्स ।
पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स ॥४९७॥

'**इच्चेवमादि दोसा इति**' । अपरिस्सव तु गद ॥४९७॥

समाधान—यत· दोषोंको प्रकट करनेवाले आचार्यने गणका त्याग किया अत· गण भी उसे छोड देता है ॥४९४॥

सघ कैसे त्यागा, यह कहते है—

गा०—जिसमे रत्नत्रय 'प्रोच्यते' कहा जाता है वह प्रवचन है इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचन शब्दका अर्थ यहाँ सघ है । सभी संघ आचार्यके विरुद्ध हो सकता है और उसके आचार्य पदको छीन सकता है अथवा उसका त्याग कर सकता है ॥४९५॥

दोष प्रकट करनेसे मिथ्यात्वकी आराधना कैसे होती है, यह कहते हैं—

गा०—यदि आचार्य अपने शिष्यको ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दूषित करते है तो इन अपुष्ट धर्मवाले श्रमणोंको धिक्कार है ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहेगे ॥४९६॥

प्रस्तुत अपरिश्रावि गुणके कथनका उपसहार करते हैं—

गा०—जो आचार्य पूछनेपर अथवा बिना पूछे शिष्यके द्वारा प्रकट किये दोषोको दूसरोसे नही कहता वह रहस्यको गुप्त रखनेवाला आचार्य अपरिस्रावी होता है और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं छूते । ४९७॥

अपरिस्रावी गुणका कथन पूर्ण हुआ ।

---

१ द्वेषप्रत्याख्यान मु० । दोषप्रत्याख्यान–आ० ।   २ आचार्यत्रये हरण–आ० ।

'**णिव्ववगो**' इत्येतत्सूत्रपदव्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध —
सथारभत्तपाणे 'यस्य येनाभिसंबन्धो दूरस्थस्यापि तस्य स ' इति कृत्वा—

संथारभत्तपाणे अमणुण्णे वा चिरं व कीरंते ।
पडिचरगपमादेण य सेहाणमसंवुडगिराहिं ।।४९८।।

संथारभत्तपाणे अमणुण्णे वा चिरं व कीरन्ते कुविदो हवेज्ज खवगो मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज । इति क्रियाभि. पदसंबन्धोऽत्र कार्य । सस्तरे भक्तपाने वा । '**अमणुण्णे**' अमनाज्ञे । '**कीरंतो**' क्रियमाणे । '**कुविदो**' कुपितो भवेत्क्षपक । **मेरं वा** मर्यादा वा । भेत्तुमिच्छेत् । '**चिरं व कीरंते**' चिराद्वा सस्तरकरणे भक्तपानानयने वा । '**पडिचरगपमादेण वा**' निर्यापकाना वैयावृत्यकरणे य प्रमादस्तेन वा कुपितो भवेत् । मर्यादा वा आत्मीया भेत्तु इच्छेत् । '**सेहाणमसंवुडगिराहिं**' अगृहीतार्थाना असवृताभि परुषाभि प्रतिकूलाभिर्वा कुपितो भवेत् ।।४९८।।

सीदुण्हछुहातण्हाकिलामिदो तिव्ववेदणाए वा ।
कुविदो हवेज्ज खवओ मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज ।।४९९।।

'**सीदुण्हछुहातण्हा किलामिदो**' शीतेनोष्णेन क्षुधा तृषया पीडित कुपितो भवेत् । '**तिव्ववेयणाए वा**' तीव्रवेदनया वा कुपितो मर्यादोल्लङ्घनेच्छुर्भवेत् ।।४९९।।

णिव्ववएण तदो से चित्तं खवयस्स णिव्ववेदव्वं ।
अक्खोभेण खमाए जुत्तेण पणट्ठमाणेण ।।५००।।

'**णिव्ववएण**' सन्तोषमुत्पादयता सूरिणा । '**तदो**' तत । '**से खवयस्स**' तस्य कुपितस्य मर्यादा भेत्तुमिच्छतो वा । '**चित्त णिव्ववेदव्व**' चित्त प्रशान्ति नेय । '**अक्खोभेण**' चलनरहितेन व्यवस्थावता । **खमाए जुत्तेण**' क्षमया युक्तेन । '**पणट्ठमाणेण**' प्रनष्टमानेन । न हि रोषी मानी वा सूरि परचित्तकलङ्क प्रशमयितु ईहते ततो नि कषायेण भाव्यमिति भाव ।।५००।।

गाथाके 'णिव्ववगो' पदका व्याख्यान करते है—

गा०—सस्तर और भोजनपान क्षपकको मनके अनुकूल न होने पर, अथवा उसमे देरी करने पर अथवा निर्यापकोके वैयावृत्य करनेमे प्रमाद करने पर अथवा सल्लेखना विधिमे अनजान नये साधुओके कठोर और प्रतिकूल वचनोसे क्षपक कुपित हो सकता है अथवा अपनी मर्यादाका उल्लघन कर सकता है ।।४९८।।

गा०—अथवा शीत, उष्ण, भूख, प्याससे पीडित होनेसे अथवा तीव्र वेदनासे क्षपक कुपित हो सकता है और मर्यादाको तोडनेकी इच्छा करता है ।।४९९।।

गा०—तब विचलित न होनेवाले, क्षमाशील और मानरहित आचार्यको सन्तोष वचन कहते हुए उस कुपित अथवा मर्यादाको तोडनेके इच्छुक क्षपकके चित्तको शान्त करना चाहिये ।।५००।।

टी०—क्रोधी अथवा घमण्डी आचार्य दूसरेकी चित्तकी अशान्तिको शान्त करना नहीं पसन्द करता । इसलिए आचार्यको कषायसे रहित होना चाहिए, यह इस गाथाका भाव है ।।५००।।

एवंभूतो निर्वापयतीत्येतद्व्याचष्टे—

अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभत्ते।
रदणकरंडयभूदो खुण्णो अणिओगकरणम्मि ॥५०१॥

'**अंगसुदे य**' श्रुतं पुरुष मुखचरणाद्यङ्गस्थानीयत्वादङ्गशब्देनोच्यते आचारादिकं द्वादशविध तस्मिन्नङ्गश्रुते। '**बहुविहे**' नानाप्रकारे। आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति.। '**णो अंगसुदे य**' अङ्गबाह्ये वा। '**बहुविधविभत्ते**' सामायिक, चतुर्विंशतिस्तवो, वन्दना, प्रतिक्रमणं, वैनयिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिका उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहार, कल्प्य, महाकल्प्यं, पुण्डरीक, महापुण्डरीक इत्यादिना विचित्रभेदेन विभक्ते। '**रयणकरंडयभूदो**' रत्नकरण्डकभूत। '**खुण्णो अणियोगकरणम्मि**' यद्यत्प्रस्तुत च वस्तु तत्र तत्र सदादिकाद्यनुयोगयोजनाया कुशल। अनेन ज्ञानमाहात्म्य सूचित ॥५०१॥

वत्ता कत्ता च गुणी विचित्तसुदधारओ विचित्तकहो।
तह य अपायविदण्हू मइसपण्णो महाभागो ॥५०२॥

'**वत्ता**' वक्ता। '**कत्ता य**' कर्ता च विनयवैयावृत्त्ययो। '**विचित्तसुदधारगो**' विचित्र श्रुत प्रथमानुयोग, करणानुयोगश्चरणानुयोगो, द्रव्यानुयोग इत्यनेन विकल्पेन। '**विचित्तकहो**' विचित्राया कथाया. निरूपणा अस्य स विचित्रकथ। ननु च '**अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभत्ते**' इत्यनेनैव गतत्वात् किमनेन '**विचित्तसुदधारगो**' इत्यनेन? नैष दोष। पूर्वसूत्रे श्रुतकेवली निर्वापकत्वेनोक्त। अनया तु असमस्तश्रुताचा-

---

आगे कहते है कि इस प्रकारका आचार्य क्षपकका चित्त शान्त करता है—

गा०-टी०—श्रुत एक पुरुषके समान है। आचार्य आदि बारह उस श्रुतपुरुषके मुख, पैर आदि अगोके स्थानापन्न होनेसे अंग शब्दसे कहे जाते हैं। आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति इत्यादिके भेदसे वह अगश्रुत नाना प्रकारका है।

नो अगश्रुत अर्थात् अगबाह्य भी सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक इत्यादि विचित्र भेदसे विभक्त है। जो आचार्य इन सब श्रुत भेदोके लिए रत्न रखनेके पिटारेके समान है अर्थात् जैसे पिटारेमे रत्न सुरक्षित रहते है वैसे ही वह इन श्रुतरूपी रत्नोका अभ्यास करके उन्हे अपने हृदयमे धारण करता है। तथा जो जो प्रस्तुत विषय है उस उस विषयमे सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व आदि अनुयोगोकी योजना करनेमे कुशल होता है वही आचार्य क्षपककी अशान्तिको शमन कर सकता है। इससे आचार्यके ज्ञान माहात्म्यको सूचित किया है ॥५०१॥

गा०-टी०—तथा वह वक्ता अर्थात् व्याख्यान करनेमे कुशल, विनय और वैयावृत्यका कर्ता और प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे नाना प्रकारके श्रुतका धारक और विविध प्रकारका निरूपण करनेवाला तथा रत्नत्रयके अतिचारोका ज्ञाता और स्वाभाविक बुद्धिसे सम्पन्न तथा जितेन्द्रिय महात्मा होता है।

शंका—पूर्व गाथामे आचार्यको अंगश्रुतका और विविध अगबाह्यका ज्ञाता कहा ही है। फिर यहाँ विचित्र श्रुतका धारक क्यो कहा?

योऽपि एवभूतो निर्वापको भवतीत्याख्यायते तेन न पुनरुक्तता । '**तह य**' तथा च । '**आपायविदण्हू**' रत्नत्रयातिचारज्ञ. । '**मइसंपण्णो**' स्वाभाविकया बुद्धया समन्वित । '**महाभागो**' स्ववशो महात्मा ।।५०२।।

पगदे णिस्सेसं गाहुगं च आहरणहेदुजुत्तं च ।
अणुसासेदि सुविहिदो कुविदं मण्णिव्ववेमाणो ।।५०३।।

'**अणुसासेदि**' अनुशास्ति । '**पगदे**' वक्तु प्रारब्धे वस्तुनि । '**णिस्सेसं गाहुगं**' समस्तमवबोधयत्तदनुशासन करोति । '**आहरणहेदुजुत्तं च**' दृष्टान्तेन हेतुना च युक्त । एतस्माद्धेतोरिदमेवैतदिति युक्त्यानुशास्ति '**सुविहिदो**' यति । '**कुविद**' कुपित '**सण्णिव्ववेमाणो**' सम्यक् प्रशमयन् सम्यक्प्रमादमुपनयन् ।।५०३।।

णिद्धं मधुरं गंभीरं मणप्पसादणकरं सवणकंतं ।
देइ कहं णिव्ववगो सदीसमण्णाहरणहेउ ।।५०४।।

'**णिद्ध**' पियवचनबहुलतया स्निग्ध । '**मधुर**' अनतिकठोराक्षरतया मधुरं । '**गभीर**' अर्थगाढतया । '**मणप्पसादकरणं**' मन प्रल्हादविधायिनी । '**सवणकंतं**' श्रुतिसुख । '**देदि कथं**' कथा कथयति । '**णिव्ववगो**' निर्वापक । '**सदीसमण्णाहरणहेदु**' स्मृतिसमानयनकारण । पूर्वाभ्यस्तश्रुतार्थगोचरस्मरण इह स्मृतिरिति गृह्यते मतिवचनो वा । '**मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्**'–[त० सू० १ ।] इति वचनात् । तेन बुद्धिसमानयनकारणमित्यर्थ इति केचित् ।।५०४।।

णिज्जावगो इत्येत्सूत्रपद व्याचष्टे—

जह पक्खुभिदुम्मीए पोद रदणभरिदं समुद्दम्मि ।
णिज्जवओ धारेदि हु जिदकरणो बुद्धिसंपण्णो ।।५०५।।

'**जह पक्खुभिदुम्मीए**' यथा प्रचलिततरङ्गे । '**समुद्दम्मि**' समुद्रे । '**पोदं**' पोत नाव । '**रदणभरिदं**' रत्नैर्भरित । '**णिज्जवगो**' निर्यापक । '**धारेदि हु**' धारयति । '**जिदकरणो**' परिचितक्रिय । '**बुद्धिसंपण्णो**' बुद्धिसपन्न बुद्धिमान् ।।५०५।।

समाधान—पूर्व गाथामे श्रुतकेवलीको निर्वापक रूपसे कहा है और इसमे समस्त श्रुतका जो ज्ञाता नही है ऐसा आचार्य भी निर्वापक होना है यह कहा है। इससे पुनरुक्त दोष नही है ।।५०२।।

गा०—जिस वस्तुका निवेदन करना प्रारम्भ करे तो उसके समस्त हेय उपादेय रूपका बोध दृष्टान्त और युक्तिसे करावे कि इस हेतुसे यह ऐसा ही है। ऐसा आचार्य कुपित हुए क्षपकको सम्यक् रूपसे प्रसन्न करके उसे शिक्षा देता है ।।५०३।।

गा०--निर्वापक आचार्य प्रियवचनोकी बहुतायत होनेसे स्निग्ध, अधिक कठोर अक्षर न होनेसे मधुर, अर्थकी प्रगाढता होनेसे गम्भीर, मनको प्रसन्नता और कानोको सुख देनेवाली कथा कहते है जिससे क्षपकको पहले अभ्यास किये हुए श्रुतके अर्थका स्मरण होता है। यहाँ स्मृतिसे कोई व्याख्याकार मतिका ग्रहण करते हैं क्योकि तत्त्वार्थसूत्रमे मति, स्मृति संज्ञा, चिन्ता अभिनिबोधको अर्थान्तर कहा है। अत वे अर्थ करते है कि उस कथामे क्षपकमे बुद्धिका आगमन होता है, उसकी बुद्धि जाग्रत हो जाती है ।।५०४।।

आगे गाथाके णिज्जावग (निर्यापक) पदका व्याख्यान करते हैं—

तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहिं खुभिदमाइद्धं ।
णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवदेसेहिं ॥५०६॥

'**तह संजमगुणभरिदं**' तथा संयमेन गुणैश्च सम्पूर्णं । संयमस्य सर्वेभ्यो गुणेभ्य प्रधानत्वात् संयम-शब्दस्य पूर्वनिपात. । '**परिस्सहुम्मीहिं**' क्षुत्पिपासादु खानि परीषहास्ते ऊर्मय इवानुक्रमेणोद्गच्छन्तीति ऊर्मिव्यपदेशं लभन्ते । परीषहोर्मिभि '**खुभिदं**' चलितं । '**आइद्धं**' तिर्यग्भूत यतिपोतं । '**णिज्जवगो धारेदि खु**' निर्यापकसूरिर्धारयति । '**महुरेहिं हिदोवदेसेहिं**' मधुरैर्हितोपदेशै. ॥५०६॥

धिदिबलकरमादहिदं महुरं कण्णाहुदिं जदि ण देइ ।
सिद्धिसुहमावहंती चत्ता आराहणा होइ ॥५०७॥

'**धिदिबलकरं**' धृतिबलकारिणीं । स्मृते. स्थैर्यं धृतिस्तस्या अवष्टम्भकारिणीं । '**आदहिदं**' आत्म हितां । '**महुरं**' मधुरा । '**कण्णाहुदिं**' कर्णाहुतिं । '**जदि ण देदि**' यदि न दद्यात् । सिद्धिसुखमावहन्तीति । सिद्धिसुखानयनकारिणी । '**आराहणा**' आराधना । '**चत्ता होदि**' त्यक्ता भवति ॥५०७॥

प्रस्तुतोपसंहारगाथा—

इय णिव्ववओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ ।
होइ य किती पधिदा एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ॥५०८॥

'**इय**' एव । '**णिव्ववगो**' निर्वापक । '**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**णिज्जावगो होदि**' निर्यापको भवति । '**सदायरिओ**' सदाचार्य निर्यापकत्वगुणसमन्वित क्षपकस्योपकारी भवतीत्युक्त्वा स्वार्थमपि तस्य सूरेर्दर्शयति । '**होदि य कित्ती पधिदा**' भवति च कीर्ति प्रथिता । '**एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स**' आचारवत्त्वादिभिर्गुणै-र्युक्तस्य ॥५०८॥

गा०—जैसे नौका चलानेका अभ्यासी बुद्धिमान् नाविक तरंगोमे क्षुभित समुद्रमे रत्नोसे भरे जहाजको धारण करता है ॥५०५॥

गा०—वैसे ही निर्यापक आचार्य संयम और गुणोसे पूर्ण, किन्तु परीषह रूप लहरोसे चचल और तिरछे हुए क्षपकरूप जहाजको मधुर और हितकारी उपदेशोसे धारण करता है उसका सरक्षण करता है ॥५०६॥

टी०—सयम सब गुणोसे प्रधान है इसलिए संयम शब्दको गुणसे पहले रखा है। तथा भूख-प्यासका दुःख परीषह है। वे लहरोकी तरह एकके बाद एक क्रमसे उठती हैं इसलिए परी-षहोंको लहरे या तरगें कहा है ॥५०६॥

गा०—यदि आचार्य स्मृतिकी स्थिरता रूप धैर्यको बल देने वाली और आत्माका हित करनेवाली मधुर वाणी क्षपकके कानोमे न सुनाये तो मोक्ष सुखको लानेवाली आराधनाको क्षपक छोड बैठे ॥५०७॥

प्रस्तुत चर्चा का उपसहार करते है।

गा०—इस प्रकार निर्यापकत्व गुणसे युक्त आचार्य क्षपकका निर्यापक होता है। वह उसका उपकारी होता है। इतना कहकर उस निर्यापकाचार्यका भी इसमे स्वार्थ बतलाते है कि

इय अट्ठगुणोवेदो कसिणं आराधणं उवविधेदि ।
खवगो वि तं भयवदी उवगूहदि जादसंवेगो ॥५०९॥

'इय' एव । **'अट्ठगुणोवेदो'** आचारवानित्याद्यष्टगुणोपेत' सूरि । **'कसिणं'** कृत्स्ना । **'आराधणं'** आराधनां । **'उवविधेदि'** ढौकयति । **'खवगो वि'** क्षपकोऽपि । **'तं'** ता **'भगवदि'** भगवती सकलबाधापनयन-माहात्म्यवती । **'उवगूहदि'** आलिंगति । **'जादसंवेगो'** उत्पन्नसंसारभीरुत्व । **सुट्ठिदं सम्मत्तम्** ॥५०९॥

एवं सुट्ठिद इत्येतद्व्याख्यात, इत उत्तर उवसम्पा इत्येतद्व्याख्यायते—

एवं परिमग्गित्ता णिज्जवयगुणेहिं जुत्तमायरियं ।
उवसंपज्जइ विज्जाचरणसमग्गो तगो साहू ॥५१०॥

'एवं परिमग्गित्ता' अन्विष्य । क ? **'आयरियं'** आचार्य । कीदृग्भूत ? **'णिज्जवयगुणेहिं'** निर्यापक-गुणैराचारवत्त्वादिभि. समन्वितं । **'उवसंपज्जदि'** ढौकते । क ? **'तगो'** स । **'साहू'** साधु । **'कीदृग्भूतः'** ? **विज्जाचरणसमग्गो** ज्ञानेन चारित्रेण समग्र सम्पूर्ण ॥५१०॥

गुरुकुले आत्मनिसर्ग उवसपानाम समाचार । तत्क्रम निरूपयति—

तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं किरिय तस्स किरियम्मं ।
विणएणमंजलिकदो वाइयवसभं इमं भणदि ॥५११॥

'तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं किरिय तस्स किरियम्मं' । तस्य निर्यापकस्य सूरे कृतिकर्म वन्दना कृत्वा । कीदृश **'तियरणसव्वावासगपडिपुण्ण'** मनोवाक्कायात्मसर्वावश्यकप्रतिपूर्णा । सामायिक, चतुर्विंशति-स्तवोवन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग , इत्येते मनोवाक्कायविकल्पेन त्रिविधा षडावश्यकसंज्ञिता. । मनसा सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति , वचसा **'सव्वं सावज्जजोगं पच्चक्खामि'** इति वचन । कायेन सावद्यक्रियाननु-

---

इन आचारवत्त्व आदि गुणोसे युक्त निर्यापकाचार्यकी कीर्ति सब जगह फैलती है ॥५०८॥

गा०—इस प्रकार आचारवान् आदि आठ गुणोसे सहित आचार्य समस्त आराधनाको प्राप्त होता है । क्षपक भी ससारसे विरक्त होकर समस्त बाधाओंको दूर करनेसे माहात्म्यशाली उस भगवती आराधनाका आलिंगन करता है उसे अपनाता है ॥२०९॥

इस प्रकार सुस्थित गुणका व्याख्यान हुआ । इसमे आगे उपसपदाका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार ज्ञान और चारित्रसे सम्पूर्ण क्षपक निर्यापकके आचारवत्व आदि गुणोसे युक्त आचार्यको खोजकर उनके निकट जाता है ॥५१०॥

गुरुकुलमे आत्मोत्सर्ग करनेको 'उवसपा' नामक समाचार कहते है । यहाँ उसके क्रमका कथन करते हैं—

गा०—मन वचन कायसे छह आवश्यकोको पूर्णरूपसे करके निर्यापकाचार्यकी वन्दना करता है और विनयपूर्वक दोनो हाथोंको जोड उनकी अजली बनाकर उन आचार्य श्रेष्ठसे इस प्रकार कहता है ॥५११॥

टी०—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक मन वचन कायके भेदसे तीन भेदरूप होते हैं । मनसे सर्व सावद्ययोगकी निवृत्ति, वचनसे

ध्यानं, मनसा चतुर्विंशति तीर्थकृता गुणानुस्मरणं **'लोगस्सुज्जोययरे'** इत्येवमादीना गुणाना वचन । ललाट-विन्यस्तकरमुकुलता जिनेभ्य. कायेन । वन्दनीयगुणानुस्मरण मनोवन्दना । वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशन-परवचनोच्चारणं । कायवन्दना प्रदक्षिणीकरण कृतानतिश्च । मनसा कृतातिचारान्निवृत्ति । हा दुष्कृतमिति वा मन प्रतिक्रमणं । सूत्रोच्चारणं वाक्प्रतिक्रमणं । कायेन तदनाचरण कायप्रतिक्रमण । मनसातिचारादीन्न करिष्यामि इति मन.प्रत्याख्यानं । वचसा तन्नाचरिष्यामि इति उच्चारणं । कायेन तन्नाचरिष्यामि इत्यङ्गीकार । मनसा शरीरे ममेदंभावनिवृत्ति मानसः कायोत्सर्ग । कायं वोसरामीति वचन वाचा कायोत्सर्ग । प्रलम्ब-भुजस्य, चतुरङ्गुलमात्रपादान्तरस्य निश्चलावस्थानं कायेन कायोत्सर्ग । कायापायनिरासमकृत्वा एकान्ते गुरावासीने प्रसन्नचेतसि शनैरागत्य शरीर भूमिं च प्रतिलेख्य अदूरे असमीपे आसित्वा कृताञ्जलि भगवन्कृति-कर्मवन्दनामिच्छामीति आलोच्य अनुज्ञात शनैरुत्थाय मूर्धन्यस्तकर अविलम्बितमनद्रुत सामायिक पठेत् । सूत्रानुगत, अविचल, अविकृत स्थित कृतकायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तवमभिधाय सूरिणानुरक्तमना गुरुस्तवन पठेत् इत्येषा कृतिकर्मवन्दना । वन्दनोत्तरकालं **'विणएण'** विनयेन **'अंजलिकदो'** मुकुलीकृताञ्जलि । **'वाइय-वसभं'** आचार्यवृषभ **'इणं'** इद । **भणदि** ब्रवीति इति ॥५११॥

तुज्झेत्थ बारसंगसुदपारया सवणसंघणिज्जवया ।
तुज्झं खु पादमूले सामण्णं उज्जवेज्जामि ॥५१२॥

'तुज्झेत्थ' युयमत्र । **'बारसंगसुदपारगा'** द्वादश आचारादीनि अङ्गानि यस्य तत् द्वादशाङ्ग श्रुत सागर इव तस्य पार गता । **'समणसंघणिज्जवगा'** श्रामयन्ति तपस्यन्ति इति श्रमणा तेषा समुदाय श्रमणसंघ

'मैं सर्व सावद्ययोगको त्यागता हूँ' ऐसा कहना, कायसे सावद्य क्रियाओंका न करना। मनसे चौबीस तीर्थंकरोंके गुणोका स्मरण, वचनसे 'लोगस्सुजोयकरे' इत्यादि स्तुतिका पढना, कायसे दोनो हाथ मुकुलित करके मस्तकसे लगाना। वदनीय गुणोका स्मरण करना मनोवन्दना है। वचनसे उनके गुणोके माहात्म्यको प्रकट करने वाले वचनोका उच्चारण करना वचन वन्दना है। प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना काय वन्दना है। मनसे किये हुए दोषोकी निर्वृत्ति या हा, मैंने बुरा किया' ऐसा सोचना मन.प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण सूत्रका पढना वाक् प्रतिक्रमण है। कायसे उन दोषोका न करना काय प्रतिक्रमण है। मनसे मै अतिचार आदि नही करूँगा ऐसा संकल्प मन प्रत्याख्यान है। मै उन्हे नही करूँगा ऐसा कहना वचन प्रत्याख्यान है। कायसे नहीं करूँगा ऐसा स्वीकार करना काय प्रत्याख्यान है। मनसे शरीरमे 'यह मेरा है' ऐसा भाव न होना मानस कायोत्सर्ग है। वचनसे मै कायका त्याग करता हूँ ऐसा कहना वचन कायोत्सर्ग है। दोनो हाथोको लटकाकर और दोनो पैरोके मध्यमे चार अगुलका अन्तर रखते हुए निश्चल खडा होना कायसे कायोत्सर्ग है। कायके अपायका निरास न करके (?) जब गुरु एकान्त मे बैठे हो और प्रसन्न मन हो तब धीरेसे आकर शरीर और भूमिकी प्रतिलेखना करके, गुरुसे न तो दूर और न समीप बैठकर हाथोकी अंजलि बनाकर निवेदन करे कि भगवन्! कृतिकर्म वन्दना करना चाहता हूँ। इस प्रकार आलोचना करके गुरुकी अनुज्ञा मिलने पर धीरेसे उठकर दोनो हाथ मस्तकसे लगा न बहुत धीरे, न बहुत जल्दीमें सामायिक पाठ पढे। शास्त्रके अनुसार विकार रहित निश्चल खडे होकर कायोत्सर्ग करे। फिर चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन करे। फिर आचार्यमें अनुराग पूर्वक गुरु स्तवन पढे। यह कृतिकर्म वन्दना है। वन्दनाके अनन्तर विनयपूर्वक दोनो हाथ जोड़ आचार्यसे इस प्रकार निवेदन करे।।५११॥

तस्य निर्यापका । 'तुज्झं खु पादमूले' युष्माकं पादमूले 'उज्जवेज्जामि' उद्योतयिष्यामि । 'सामण्णं' श्रामण्यं ॥५१२॥

आत्मेच्छां सूरये प्रकटयति—

पव्वज्जादी सव्वं कादूणालोयणं सुपरिसुद्धं ।
दंसणणाणचरित्ते णिस्सल्लो विहरिदुं इच्छे ॥५१३॥

'पव्वज्जादी सव्वं' दीक्षाग्रहणादिका सर्वा । 'कादूणालोयणं' कृत्वालोचना 'सुपरिसुद्धं' दोषरहिता । 'दंसणणाणचरित्ते' दर्शनज्ञानचरित्र । 'णिस्सल्लो' शल्यरहितो भूत्वा । 'विहरिदुं' विहर्तुं आचरितु । 'इच्छे' इच्छामि ॥५१३॥

एवं कदे णिसग्गे तेण सुविहिदेण वायओ भणइ ।
अणगार उत्तमट्ठं साधेहि तुमं अविग्घेण ॥५१४॥

'एवं कदे णिसग्गे' स्वभारत्यागे कृते । कण 'तेण सुविहिदेण' तेन सुचरितेन क्षपकेण । 'वायओ भणइ' वाचक सूरिर्वदति । 'अणगार' त्यक्तद्रव्यभावागारत्वादनगार तस्य मबोधन । 'उत्तमट्ठं' उत्तम प्रयोजन रत्नत्रय द्रव्य 'साधेहि' साधय । 'तुमं' त्व । 'अविग्घेण' अविघ्नेन ॥५१४॥

धण्णोसि तुमं सुविहिद एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ ।
संसारदुक्खमहणीं घेत्तुं आराहणपडायं ॥५१५॥

'धण्णोसि तुमं' धन्योऽसि । पुण्यवानसि 'तुमं' भवान् । 'सुविहिद' यते । 'एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ' । उपलक्षणपर मनोज्ञाहारग्रहणे ईदृग्यस्य निश्चयो जात । 'ससारदुक्खमहणी' ससारे चतुर्गतिपरिभ्रमणे यानि दु खानि तन्मर्दनोद्यता । 'घेत्तुं' ग्रहीतु । 'आहारणापडागं' आराधनापताका । रत्नत्रयाराधनया कर्माण्यपयान्ति । तदपगमात्तद्दु खनिवृत्ति इति भाव ॥५१५॥ उपसपा ।

गा०—आप द्वादशाग श्रुत सागरके पारगामी हो । आचार आदि बारह जिसके अग है वह द्वादशांग श्रुत समुद्रके समान है आपने उसे पार कर लिया है। तथा जो श्राम्यन्ति अर्थात् तपस्या करते है वे श्रमण है। उनका समुदाय श्रमणसघ है उसके आप निर्यापक है। मै आपके चरणोमे बैठकर अपने श्रामण्यको उद्योतित करूँगा ॥५१२॥

गा०—अपनी इच्छा आचार्यके सामने प्रकट करता है—दीक्षा ग्रहण करनेसे लेकर जो दोष किए है उनकी दोषरहित आलोचना करके मै दर्शन, ज्ञान और चारित्रको शल्यरहित होकर पालन करना चाहता हूँ ॥५१३॥

गा०—इस प्रकार उस उत्तम चरित वाले क्षपकके द्वारा अपना भार त्यागने पर वाचक आचार्य कहते है—हे द्रव्य और भावरूप अगार (घर) का त्याग करने वाले अनगार! तुम बिना किसी विघ्न बाधाके उत्तम अर्थ रत्नत्रय रूप द्रव्यकी साधना करो ॥५१४॥

गा०—हे सुविहित श्रमण ! तुम धन्य हो—पुण्यशाली हो, जो तुमने चार गतियोमे परिभ्रमण रूप ससारमे जो दुःख हैं, उन दुःखोंको नष्ट करने पर तत्पर आराधना पताकाको ग्रहण

अच्छाहि ताव सुविहिद वीसत्थो मा य होहि उव्वादो ।
पडिचरएहिं समंता इणमट्ठं संपहारेमो ।।५१६।।

'अच्छाहि ताव सुविहिद' आस्स्व तावद्यते । **'वीसत्थं'** विश्वस्तं । **'मा य होहि उव्वादो'** व्याकुलितचित्तो मा च भू । **'पडिचरगेहिं समं'** प्रतिचारकै सह । **'इणमत्थं'** इद प्रयोजनं । **'संपहारेमो'** सप्रधारयाम । **'उवसंपा'** निरूपिता ।।५१६।।

इत उत्तरं पडिच्छा इति सूत्रपदव्याख्या—

तो तस्स उत्तमट्ठे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्हू ।
खीरोदणदव्वुग्गहदुगुंछणाए समाधीए ।।५१७।।

'तो' पश्चात् । **'तस्स'** तस्य क्षपकस्य । **'उत्तमट्ठकरणुच्छाहं'** रत्नत्रयाराधनाक्रियोत्साह । **'पडिच्छदि'** परीक्षते । **'विदण्हू'** मार्गज्ञ । कथ ? **'खीरोदणदव्वुग्गहदुगुंछणाए'** क्षीरौदनद्रव्यग्रहण मनोज्ञाहारग्र[1]हण जुगुप्सापरेण । **'समाधीए'** समाधिनाहारगत लौल्यमस्य किं विद्यते न वेति परीक्षते । इयमेका परीक्षा । **समाधिणिमित्तं पडिच्छा** ।।५१७।।

खवयस्सुवसंपण्णस्स तस्स आराधणा अविक्खेव ।
दिव्वेण णिमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो ।।५१८।।

'खवगस्स' क्षपकस्य । **'उवसपण्णस्स'** आत्मान्तिकमुपाश्रितस्य । **'तस्स'** तस्य । **'आराहणा अविक्खेवं'** आराधनाया अविक्षेप । **'पडिलेहदि'** परीक्षते । क ? **'सो'** स सूरिर्निर्यापक । **'अप्पमत्तो'** प्रमादरहित । केण ? **'दिव्वेण'** देवतोपदेशेन । **'णिमित्तेण'** निमित्तेन वा इयमेका परीक्षा ।।५१८।।

करनेका निश्चय किया । रत्नत्रयकी आराधनासे कर्मोका विनाश होता है । उनका विनाश होनेसे दुःखसे छुटकारा होता है ।।५१५।।

गा०—हे सुविहित ! विश्वस्त होकर तब तक बैठो । अपना चित्त व्याकुल मत करो । हम वैयावृत्य करने वालोंके साथ इस विषय पर विचार करते है ।।५१६।।

'उवसपा' का कथन पूर्ण हुआ ।

आगे गाथाके 'पडिच्छा' (परीक्षा) पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०—उसके पश्चात् मार्गको जाननेवाले आचार्य क्षपकके रत्नत्रयकी आराधना करनेमें उत्साहकी परीक्षा करते हैं कि उसके आराधना करनेका उत्साह है या नही है । तथा दूध भात आदि द्रव्यको ग्रहण करनेमे इसकी लोलुपता है या ग्लानि है ऐसी परीक्षा करते हैं । यहाँ दूधभात मनोज्ञ आहारका उपलक्षण है । अत आहारके सम्बन्धमे उसकी परीक्षा करते है । यह परीक्षा समाधिके निमित्त की जाती है ।।५१७।।

परीक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

गा०—आराधनाके निमित्तसे अपने पास आये क्षपककी आराधना निर्विघ्न होनेके लिए

---

१ ग्रहणोपलक्षण मु० । 'खीरोदणदव्वुग्गहदुगुछणाए' क्षीरौदनद्रव्यं मनोज्ञाहारोपलक्षण तस्य अवग्रहो ग्रहण तत्र विचिकित्सा निन्दा तया ।'—मूलारा० ।

रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाणं च पडिलिहित्ताणं।
गुणसाधणो पडिच्छदि अप्पडिलेहाए बहुदोसा ॥५१९॥

'रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाण च' राज्य, क्षेत्रं, देश ग्रामनगरादिक अधिपति गणमात्मान च। **'पडिलिहित्ताणं'** परीक्ष्य। **'गुणसाधणो'** गुणान्सम्यक्त्वादीन् साधयति य सूरि स। **'पडिच्छदि'** प्रतिगृह्णाति। कं। क्षपक। अन्यत्र गुणसाधण इति पाठ। गुणान्साधयितु उद्यत साधु प्रतिगृह्णाति। **'अप्पडिलेहाए'** उक्ताया परीक्षाया अभावे। **'बहुदोसा'** बहवो दोषा भवन्ति। के ते इति चेदुच्यन्ते। निरस्ताहारतृष्णो न वेति यदि न परीक्षित, आहारे तृष्णावान्नक्तदिन तमेव चितयतीति कथमाराधक। क्षुत्पिपासापरीषहावष्टम्भासहनात्पूत्कुर्वन् धर्मदूषण कुर्यात्। आराधनाया व्याक्षेपो भवति न वेत्यपरीक्ष्य यदि त न त्याजयति तस्यापि न कार्यसिद्धि स्वय च निन्द्यते जनेन। राज्यक्षेत्रादीना शुभाशुभपरीक्षा येन कृता सोऽशुभ चेत्पश्यति तस्य राज्यादेश्च स राज्यक्षेत्रादिक अन्यदुद्दिश्य त गृहीत्वा याति। तथा च तस्योपकारको भवति। अपरीक्षाया तु राज्यादिभ्रंशे स च क्षपक स्वय च क्लिश्यति गणस्य चोपद्रवं यदि पश्यति, आत्मनो वा न प्रारभते कार्यं। अपरीक्षितकारी सरिन तस्योपकारको न चात्मन इति दोषा ॥५१९॥

परीक्षानन्तर आपृच्छा इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—

आचार्य प्रमादरहित होकर दिव्य निमित्तज्ञानके द्वारा परीक्षा करते हैं कि इसकी आराधना निर्विघ्न होगी या नही होगी ॥५१८॥

गा०–टी०—सम्यक्त्व आदि गुणोका साधक वह आचार्य राज्य, क्षेत्र, अधिपति, गण, और अपनी शरीरकी परीक्षा करके क्षपकको ग्रहण करता है। अन्यत्र 'गुणसाधणं' पाठ मिलता है। उसके अनुसार आचार्य गुणोकी साधनाके लिए उद्यत साधुको ग्रहण करता है। उक्त परीक्षा न करनेमे बहुत दोष है।

उन्हे ही कहते है—क्षपककी आहार विषयक तृष्णा दूर हुई है या नही, ऐसी परीक्षा यदि नही की और क्षपक आहारमे तृष्णा रखनेवाला हुआ, तो रात दिन आहार की ही चिन्ता करनेपर कैसे आराधक हो सकता है। भूख प्यासकी परीषहोको न सहनेसे चिल्ला-चिल्लाकर धर्मको दूषित करेगा। आराधनामे विघ्न आयेगा या नही, इसकी परीक्षा न करके यदि उस विघ्नको दूर नही किया जाय तो क्षपकका भी कार्य सिद्ध न हो और स्वय आचार्य लोगोंकी निन्दाका पात्र बने। जो आचार्य राज्य क्षेत्र आदिकी अच्छे बुरेकी परीक्षा करता है वह यदि क्षपक और राज्य आदिका अशुभ देखता है तो उस क्षपकको लेकर अन्य राज्य और अन्य क्षेत्र आदिमे चला जाता है। ऐसा करनेसे वह क्षपकका उपकार करता है। परीक्षा न करनेपर यदि राज्य आदिमे उत्पात हुआ तो क्षपक और आचार्य दोनोंको कष्ट उठाना पड़ता है। यदि गणका या अपना अनिष्ट देखता है तो आचार्य कार्यका प्रारम्भ नही करता। अतः विना परीक्षा किए कार्य करनेवाला आचार्य न क्षपकका उपकार करता है और न अपना उपकार करता है ॥५१९॥

परीक्षाके अनन्तर 'आपृच्छा' का कथन करते है—

---

१ चेन्न प–आ०।

पडिचरए आपुच्छिय तेहिं णिसिट्टं पडिच्छदे खवयं ।
तेसिमणापुच्छाए असमाधी होज्ज तिण्हंपि ।।५२०।।

आपुच्छा । '**पडिचरए**' प्रतिचारकान्यतीन् । '**आपुच्छिय**' आपृच्छय रत्नत्रयाराधने अस्मानय सहायान्कामयन् प्राघूर्णको यतिः साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणं च तीर्थकरनामकर्मणो मूलमिति भवद्भिरिदमवगतमेव, ततो वदत किमस्माभिरयमनुग्राह्यो न वेति, परार्थवन्त परार्थबद्धपरिकरा हि प्रायेण लौकिका अपि किमुत यतय. । सकलमासन्नभव्यलोक ससारपङ्कादुरुत्तरादमाधादुत्तारयितुमुद्यता ।

'**अप्पहिदं कायव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कायव्वमिति**' वचनाच्च ।

एतदनुग्रहोद्योग कि कार्यं इति प्रष्टव्य इति कथयति । '**तेहिं**' परिचारकैः । '**णिसिट्ठं**' निसृष्ट अभ्युपगत । '**पडिच्छदे**' प्रतिगृह्णाति । '**खवगं**' क्षपक । '**तेसिमणापुच्छाए**' परिचारकाणामपरिप्रश्ने तु । '**असमाही होज्ज तिण्हंपि**' सूरे क्षपकस्य सघस्य च असमाधि सक्लेशो भवेत् । अस्माभिरयमपरिगृहीत इति विनये वैयावृत्ये वा अनुद्योगादिना मम[1] न किञ्चित् कुर्वन्ति इति क्षपकस्य सक्लेशो भवति । गुरोरपि सक्लेशो भवति, मयास्योपकारे प्रारब्धे सहायभावमिमे नोपयान्ति इति । परिचारकाणां च सक्लेशो बहुजनसाध्य कार्यमस्माग्गुरुर्नानुमोदयति । न बलाबलमस्माक परीक्षते इति ।।५२०।।

पडिच्छणा इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—

एगो संथारगदो जजइ सरीरं जिणोवदेसेण ।
एगो सल्लिहदि मुणी उग्गेहिं तवोविहाणेहिं ।।५२१ ।।

'**एगो संथारगदो**' एक सस्तरमारूढ । '**जजइ सरीर**' यजते शरीरं । '**जिणोवदेसेण**' जिनानामुपदे-

गा०-टी०—आचार्य परिचर्या करनेवाले यतियोसे पूछता है—यह क्षपक रत्नत्रयकी साधनामे हमारी सहायता चाहता है। साधु समाधि और वैयावृत्य करना तीर्थकर नामकर्मके बन्धके कारण है यह आप जानते ही है। अत कहिये, हमलोग इसपर अनुग्रह करे या न करे ? प्राय. लौकिकजन भी परोपकारी और परोपकारके लिए सदा तत्पर रहनेवाले होते है। तब यतिजनोंका तो कहना ही क्या है ? वे तो समस्त निकट भव्यजीवोको गहरे ससार पकसे निकालनेमे तत्पर रहते है। आगममे भी कहा है—'आत्माका हित करना चाहिए। यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिए।' अतः क्या इसके कल्याणका उद्योग करना चाहिए या नही। इस प्रकार आचार्यके पूछनेपर यदि वे स्वीकार करते है तो आचार्य क्षपकको स्वीकार करते है। परिचारक यतियोसे न पूछनेपर आचार्य, क्षपक और सघ तीनोको ही सक्लेश होता है। हम लोगोने इस क्षपकको स्वीकार नही किया ऐसा मानकर यतिगण यदि उसकी विनय या वैयावृत्य न करें तो क्षपकको सक्लेश होता है कि ये मेरा कुछ भी नही करते। गुरुको भी संक्लेश होता है कि मैने इसका उपकार करना प्रारम्भ किया किन्तु वे इसमे सहायता नही करते। परिचारक यतियोको भी सक्लेश होता है कि यह कार्य बहुत जनोके करनेका है किन्तु हमारा गुरु यह नही मानता और न हमारे बलाबलकी परीक्षा करता है ।।५२०।।

आगे 'पडिच्छणा' पदको कहते है—

गा०—एक मुनि तो संस्तरपर चढकर जिनेन्द्रके उपदेशसे शरीरको आराधनामे लगाता

१ मम भक्ति विकु—आ० । मम न भक्ति कु—मु० ।

क्षेन । **'एगो सल्लिहदि मुणी'** एको मुनिस्तनूकरोति शरीर । **'उग्गेहिं तवोविहाणेहिं'** उग्रैस्तपोविधानै ॥५२१॥

तदिओ णाणुण्णादो जजमाणस्स हु हवेज्ज वाधादो ।
पडिदेसु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति ॥५२२॥

'तदिओ णाणुण्णादो' तृतीयो यतिर्नानुज्ञात तीर्थकृद्भि एकेन निर्यापकेनानुग्राह्यत्वेन । कुतो यस्मात् । **'जजमाणस्स हु हवेज्ज वाधादो'** यजमानस्य भवेदेव व्याघात इति । कुतो व्याघात इत्यत्राह । **'पडिदेसु दोसु तीसु य'** सस्तरे पतितयोर्द्वयोस्त्रिषु च क्षपकेषु **'समाधिकरणानि हायंति'** चित्तसमाधानक्रिया विनयवैयावृत्यादयो हीयन्ते यस्माद्यजमानस्य व्याघात ॥५२२॥

यस्मादेक एव यजमानो भवति—

[१]**तम्हा पडिचरयाणं सम्मदमेयं पडिच्छदे खवयं ।**
भणदि य तं आयरियो खवयं गच्छस्स मज्झम्मि ॥५२३॥

'तम्हा' तस्मात् । **'एगं'** एक । **'पडिच्छदे'** अनुजानाति । **'खवगं'** क्षपकमेक । **'पडिचरयाणं सम्मदं'** प्रतिचारकाणा इष्ट । **'भणदि य'** भणति च । **'तं'** क्षपक । क ? **'आयरिओ'** आचा[र्य] । क्व ? **'गच्छस्स मज्झम्मि'** गणस्य मध्ये । क्षपकस्य शिक्षा । किमर्थं ? गणोऽपि मार्गज्ञो यथा स्यात् इति । **पडिच्छणेगस्स** ॥५२३॥

एवमसौ क्षपक वदतीति कथयति—

फासेहि तं चरित्तं सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ।
सव्वं परीसहचमुं अधियासंतो धिदिबलेण ॥५२४॥

'फासेहि' प्रतिपद्यस्व । **'तं'** भवान् । किं ? **'चरित्तं'** चारित्र । **'सव्वं सुहसीलयं'** सर्वां सुखशीलता । **'पजहिदूण'** त्यक्त्वा । सुखशीलतया हि चारित्र मन्द भवति पिण्डस्योपकरणस्य वसतेश्चाशोधनात् । मनोज्ञाहार-

है । एक मुनि उग्रतप करके शरीरको कृश करता है ॥५२१॥

गा०-टी०—तीर्थंकरने एक निर्यापक आचार्यके द्वारा अनुग्राह्य तीसरे यतिकी अनुज्ञा नही दी है अर्थात् एक आचार्यकी देख-रेखमे एक साथ एक दो ही मुनि सल्लेखना कर सकता है क्योकि तपरूपी अग्निमे अपने शरीर आहुति देनेवाले मुनिकी समाधिमे विघ्न आता है । इसका कारण यह है कि यदि दो या तीन क्षपक सस्तर पर पड जाये तो चित्तको समाधान देनेवाली विनय वैयावृत्य आदिमें कमी आती है ॥५२२॥

गा०—अत आचार्य एक ही क्षपकको स्वीकार करते है जो परिचर्या करनेवाले यतियोको इष्ट होता है । तथा आचार्य गणके मध्यमे क्षपकको शिक्षा देते है जिससे गण भी समाधिको जान जाये ॥५२३॥

गा०—हे क्षपक ! तुम धैर्यके बलसे सम्पूर्ण सुखशीलताको त्यागकर सम्पूर्ण परीषहोंकी सेनाको सहन करते हुए चारित्रको धारण करो । सुखशीलतासे चारित्र मन्द होता है क्योकि

१ तम्हा खवय एय पडिचरगणसम्मद पडिच्छेइ । भणदि य त आइरिओ सगच्छमज्झम्मि खवयस्स ॥—आ० ।

लम्पटो न भिक्षा शोधयति नाप्युपकरण । सु[1]खशील उद्गमादिदोषं न परिहरति मनोज्ञोपकरणबद्धाभिलाषत्वात् । क्लेशासहो यस्य कस्यचिद्वसतावास्ते ॥५२४॥

इन्द्रियजय कषायजयं च कुर्वित्युपदिशति—

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं ।
सव्वेसु कसाएसु य णिग्गहपरमो सदा होइ ॥५२५॥

'**सद्दे रूवं गंधे**' इत्यनया । ननु शब्दादयो विषयास्तेषा जयो नाम क ? तद्विषयो हि रागो बन्धहेतुत्वात् तत्प्रतिपक्षवैराग्यभावनया जेतव्यत्वेनोपदेष्टव्यः । अत्रोच्यते—सोपस्कारत्वात्सूत्राणा **सद्दे**, **रूवे**, **गन्धे**, **रसे य फासे य रागं तुमं जिणाहि** इति पदसम्बन्ध । अथवा शब्दादीना विषयाणा वशे न स्थित इति कृत्वा जेता भण्यते । यथा पुरुषो जितोऽनयेत्युच्यते या पुरुषवशानुवर्तिनी न भवति । '**सव्वेसु कसाएसु य**' सर्वेषु कषायेषु वा क्रोधादिषु । '**णिग्गहपरमो**' निग्रहप्रधान क्षमादिभावनया सदा भव ॥५२५॥

एव कृतेन्द्रियकषायजयेन मया पश्चात्किं कर्तव्यमित्यत्रोत्तरमाचष्टे—

हंतूण कसाए इंदियाणि सव्वं च गारवं हंता ।
तो मलिदरागदोसो करेहि आलोयणासुद्धिं ॥५२६॥

सुखशील मुनि भोजन, उपकरण और वसतिका शोधन नही करता । जो स्वादिष्ट भोजनका लम्पट होता है न वह भिक्षाका शोधन करता है और न उपकरणका शोधन करता है । तथा सुखशील मुनि उद्गम आदि दोषका परिहार नही करता, उसका मन तो मनोज्ञ भोजन और उपकरणमे रहता है । कष्ट न सहकर जिस किसीकी वसतिमे ठहर जाता है ॥५२४॥

आगे इन्द्रिय और कषायोको जीतनेका उपदेश देते है—

गा०–टी०—हे यति ! तुम शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इन पाँच इन्द्रियोके विषयोको जीतो ।

शङ्का—शब्द आदि इन्द्रियोके विषय है उनको जीतना कैसे ? उन विषयोमे राग बन्धका कारण है । अत उनके विरोधी वैराग्य भावनाके द्वारा उनको जीतनेका उपदेश देना चाहिए ?

समाधान—सूत्र उपस्कार सहित होते है अत शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शमे जो राग है उसे तुम जीतो ऐसा पदका सम्बन्ध होता है । अथवा जो शब्दादि विषयोके वशमें नही है उसे जीतनेवाला कहते है । जैसे जो स्त्री पुरुषकी अनुगामिनी नही होती उसके सम्बन्धमे कहा जाता है कि इसने पुरुषको जीत लिया ।

तथा सब क्रोधादि कषायोंमे क्षमा आदि भावनाके द्वारा सदा निग्रह करनेमे तत्पर रहो ॥५२५॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायको जीतनेपर मुझे क्या करना चाहिए, क्षपकके इस प्रश्नका उत्तर देते है—

---

१ कुशील उद्गमादिदोषा परिहरति—आ० ।

'**हंतूण**' हत्वा । '**कसाए**' कषायान् । '**इंदियाणि**' इंद्रियाणि च हत्वा । '**सव्वं च गारवं हंता**' सर्वं च गारवं हत्वा ऋद्धिरससातभेदात्त्रिविकल्पं । '**तो**' पश्चात् । '**मलिदरागदोसो**' मृदितरागद्वेष । '**करेहि**' कुरु । '**आलोयणासुद्धि**' आलोचनाख्यां शुद्धि । रागद्वेषौ असत्यवचनस्य हेतू इति परित्याज्याविति कथितौ । रागाश्च पश्यति नरो दोषान् । द्वेषाद् गुणाश्च गृह्णीते । तस्माद्रागद्वेषौ व्युदस्य कार्याणि कार्याणि ॥५२६॥

निरतिचार मदीय रत्नत्रय तत किं गुरोर्निवेदयामीति न मन्तव्यमित्याचष्टे—

छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि अवस्समेव कायव्वा ।
परसक्खिया विसोघी सुट्ठुवि ववहारकुसलेण ॥५२७॥

'**छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि**' षट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनापि । '**अवस्समेव होइ कायव्वा**' अवश्यमेव भवति कर्तव्या । का ? '**विसोही**' विशुद्धि मुक्त्युपायातिचाराणामपाकृति ॥५२७॥

आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो ।
बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥५२८॥

'**सुट्ठुवि ववहारकुसलेण**' सुष्ठु अपि प्रायश्चित्तकुशलेनापि । अष्टौ ज्ञानाचारा दर्शनाचाराश्चाष्टौ, तपो द्वादशविध, पंच समितय , तिस्रो गुप्तयश्च षट्त्रिंशद्गुणा. ॥५२८॥

गा०—कषाय और इन्द्रियोको नष्ट करके तथा ऋद्धि, रस, और सातके भेदसे सम्पूर्ण गारवको नष्ट करके, पश्चात् राग और द्वेषका मर्दन करके आलोचनाकी शुद्धि करो। राग और द्वेष झूँठ बोलनेमे कारण होते है इसलिए उन्हे छोडने योग्य कहा है। रागवश मनुष्य दोषोको नही देखता, और द्वेषवश गुणोको ग्रहण नही करता। इसलिए रागद्वेषको दूर करके कार्य करना चाहिए ॥५२६॥

मेरे रत्नत्रय निरतिचार है अत गुरुसे क्या निवेदन करूँ ? ऐसा मानना योग्य नही, ऐसा कहते हैं—

गा०—छत्तीस गुणोके धारण और व्यवहारमे कुशल आचार्यको भी अवश्य अन्य मुनिकी साक्षीसे अपने रत्नत्रयकी विशुद्धि—अतिचारोका शोधन करना होता है। आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकारका तप, पाँच समिति, तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण है ॥५२७॥

गा०—आचारवत्त्व आदि आठ गुण, दस प्रकारका स्थितिकल्प, बारह तप, छह आवश्यक, ये छत्तीस गुण जानना चाहिए ॥५२८॥

विशेषार्थ—दोनो प्रतियोमे यह गाथा इससे पूर्वकी गाथाकी विजयोदया टीकाके मध्यमे दी है। किन्तु विजयोदया टीकामे जो छत्तीस गुण गिनाये है वे इस गाथासे भिन्न हैं। दोनो प्रतियोंमे यद्यपि इसपर क्रमाक न० ५२२ है किन्तु इससे आगेकी गाथापर भी यही नम्बर है। इससे प्रतीत होता है कि इस गाथाको मूलमे नही गिना गया है। प० आशाधरजीने अपनी टीकामें छत्तीस गुण संस्कृत टीकामे विजयोदयाके अनुसार बतलाकर प्राकृतटीकाके अनुसार अट्ठाईस मूल-गुण और आचारवत्त्व आदि आठ इस तरह छत्तीस बतलाए है। 'यदि वा' लिखकर दस आलोचना गुण, दस प्रायश्चित्त गुण, दस स्थितिकल्प, छह जीतगुण इस तरह छत्तीस गुण बतलाकर लिखा है कि यह गाथा प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती है ॥५२८॥

सव्वे वि तिण्णसंगा तित्थयरा केवली अणंतजिणा।
छदुमत्थस्स विसोधिं दिसंति ते वि य सदा गुरुसयासे ॥५२९॥

सर्वेषां तीर्थकृतामियमाज्ञा—गुरोर्निवेद्यात्मापराधं तदुक्तं प्रायश्चित्तं कृत्वा शुद्धिं कार्येति। '**सव्वेवि तित्थयरा**' सर्वेऽपि तीर्थकराः। '**तिण्णसंगा**' उल्लङ्घितपरिग्रहागाधपङ्का। '**सव्वे वि केवली**' सर्वेऽपि केवलिनः। परिप्राप्तस्वर्गावतरणादिकल्याणत्रयाः केवलज्ञानावरणक्षयादधिगतविश्वज्ञाना केवलिनः। '**अणंतजिणा**' अनन्तससारकारकत्वाच्चारित्रसर्वघातिमिथ्यात्वं[1] सम्यग्मिथ्यात्वं द्वादशकषायाश्च अनन्तं तज्जयादनन्तजिना आचार्योपाध्यायसाधवः। तेऽपि सर्वे '**सदा गुरुसकासे सोधिं दिसंति**' सदा गुरुसमीपे रत्नत्रयशुद्धिं दर्शयन्ति। कस्य? '**छदुमत्थस्स**' छद्मस्थस्य सम्बन्धिनीमिति केचिद्वदन्ति। रत्नत्रयपरिणामात्मको [2]रत्नत्रयशुद्ध्या शुद्धो। भवतीति छद्मस्थस्य विशुद्धिरित्युच्यते इति वाऽन्यथा ॥५२९॥

यो न वेत्त्यतिचारजातमलनिराकरणक्रमं सोऽन्यस्मै कथयेद्यस्तु स्वयं वेत्ति स कस्मात् परस्मै कथयति तदुक्तं वाचरतीत्याह—

जह सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेदि आदुरो रोगं।
वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिकम्ममारभइ ॥५३०॥

'**जह सुकुसलो वि वेज्जो**' यथा सुष्ठु कुशलोऽपि वैद्य। व्याधिनिरासे '**आदुरो**' आतुर। '**अण्णस्स कहेद**' अन्यस्मै कथयति। '**रोगं**' व्याधिं। एवभूतो मम व्याधिः, चिकित्सा कुर्विति। '**वेज्जस्स तस्स सोच्चा**' तस्य वैद्यस्य श्रुत्वा वचनं। '**सो वि य**' सोऽपि च आतुरो[3] वैद्य। '**पडिकम्ममारभदि**' प्रतिक्रियामारभते ॥५३०॥

सब तीर्थंकरोंकी यह आज्ञा है कि गुरुसे अपने अपराधको निवेदन करके, वे जो प्रायश्चित्त कहे उसे करके शुद्धि करना चाहिए। यही कहते हैं—

गा०-टी०—परिग्रहरूपी अथाह कीचडको लाँघनेवाले सभी तीर्थंकर, स्वर्गसे अवतरण, जन्म और दीक्षा इन तीन कल्याणकोंको प्राप्त करके, केवलज्ञानावरणके क्षयसे समस्त विश्वको जाननेवाले केवलज्ञानी, तथा अनन्तसंसारका कारण होनेसे चारित्रका सर्वघात करनेवाले मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और बारह कषायको अनन्त कहा है। उनको जीतनेसे आचार्य, उपाध्याय और साधु अनन्तजिन कहे जाते हैं। ये सभी सदा गुरुके समीपमें रत्नत्रयकी शुद्धि करनेको कहते है। यह शुद्धि छद्मस्थ अवस्थासे सम्बन्ध रखती है ऐसा कोई कहते हैं। अथवा रत्नत्रयके परिणामवाला आत्मा रत्नत्रयकी शुद्धिसे शुद्ध होता है इससे उसे छद्मस्थकी विशुद्धि कहते है ॥५२९॥

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न मलको दूर करनेका क्रम नहीं जानता उसका दूसरे आचार्यादिसे कहना उचित है। किन्तु जो स्वयं जानता है वह दूसरेसे क्यों कहता है और क्यो उसके कहे अनुसार आचरण करता है इस शंकाका उत्तर देते है—

गा०—जैसे अत्यन्त निपुण भी वैद्य रोगी होनेपर अपना रोग दूसरे वैद्यसे कहता है और उस वैद्यकी चिकित्सा सुनकर वह रोगी वैद्य उसका कहा इलाज प्रारम्भ करता है ॥५३०॥

---

१ मिथ्यात्व द्वाद-आ०मु०। २. त्रयशुद्ध्या भवतीति छद्मस्थस्य विशुद्धिरित्युक्तवानयं आ०मु०। ३ अनातुरो आ० मु०।

एवं जाणंतेण वि पायच्छित्तविधिमप्पणो सव्वं ।
कादव्वादपरविसोघणाए परसक्खिगा सोधी ॥५३१॥

'एवं जाणंतेण वि' विजानतापि । किं ? **'पायच्छित्तविधि'** प्रायश्चित्तक्रमं । **'अप्पणो'** आत्मन. । **'सव्वं'** सर्वं । **'कावव्वा'** कर्तव्या । **'परसक्खिगा सोधी'** शुद्धि । **'आदपरविसोधणाए'** आत्मन परा उत्कृष्टा विशोधना यथा स्यादित्येवमथ स्वसाक्षिका परसाक्षिका च विशुद्धिरुत्कृष्टेति मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ।
[१]तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥ [ ]

इति वचनात् । शुद्धिरतिचाराणा अनेन कृतेति परे मानयन्ति । निरतिचाररत्नत्रयोऽयमिति परे भव्या एतदुपदेशेनास्माभि प्रवर्तितव्यमिति ढौकन्ते । अन्यथा तद्गुणातिशयानवगमनान्न तदनुयायिनो भवन्ति । तत कथमनेन परानुग्रह कृत स्यात् । कर्तव्य स्वपरानुग्रह ।

तथा चोक्त—अप्पहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ॥ इति । तथापि—

श्रेयोर्थिना हि जिनाशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः—[वराग० १।१३] । इति । वैद्य इव । अथवा आत्मन [२]परस्परविशोधनार्थं परसाक्षिक । मम शुद्धि दृष्ट्वा परोऽप्ययमेव क्रम इति परसाक्षिकाया शुद्धौ प्रयतते । अन्यथा सर्वे स्वसाक्षिकामेव कुर्यु । तथा च न शुद्धयन्ति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोक ॥५३१॥

यस्मात्परसाक्षिका शुद्धि प्रधाना—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणाणचरणादिचारो जो ।
तं सव्वं आलोचेहि णिरवसेसं पणिहिदप्पा ॥५३२॥

गा०—इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रायश्चित्त विधिको जानते हुए भी मुनिको अपनी उत्कृष्ट विशुद्धिके लिए परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए । क्योंकि अपनी और दूसरेकी साक्षीपूर्वक विशुद्धि उत्कृष्ट मानी जाती है। कहा है—'प्रायश्चित्त' शब्दमे प्रायका अर्थ लोक है और उसका मन चित्त उस चित्तका ग्राहक अथवा उस चित्तको शुद्ध करनेवाले कर्मको प्रायश्चित्त कहा है ॥५३१॥

टी०—प्रायश्चित्त करनेसे दूसरे मानते है कि इसने अतिचारोकी शुद्धि कर ली । इसका रत्नत्रय निरतिचार है । अन्य भव्यजीव उसके पास इस विचारसे आते है कि हमे भी इनके उपदेशानुसार प्रवृत्ति करना चाहिए । यदि दोषोकी विशुद्धि साधु न करे उसके गुणोके अतिशयको न जाननेसे भव्यजीव उसके अनुयायी नही होते । तब साधु कैसे दूसरोका उपकार कर सकता है । कहा भी है कि 'अपना हित करना चाहिए । अपना हित करते हुए शक्य हो तो परका हित करना चाहिए ।' तथा और भी कहा है—'कल्याणके इच्छुक जिनशासनके प्रेमीको नियमसे हितका उपदेश करना चाहिए । जैसे वैद्य दूसरोका हित करता है । अथवा अपनी और परकी शुद्धिके लिए परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए । मेरी शुद्धिको देखकर दूसरे भी ऐसा ही करेंगे, इसलिए साधु परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना है । ऐसा न करनेसे सब केवल अपनी ही साक्षीपूर्वक शुद्धि करने लगेगे । और ऐसा करनेपर वे शुद्ध नही हो सकेगे । लोग तो प्रायः देखा-देखी करनेवाले होते है ॥५३१॥

१ चित्तशुद्धिकर कर्म आ० मु० । २ परस्य वि–मु० ।

'तम्हा' तस्मात् । 'पव्वज्जादी' प्रव्रज्यादिक । 'दंसणणाणचरणादिचारो जो' दर्शनज्ञानचरणातिचारो य । 'तं सव्वं' सर्वं अतिचारं । 'आलोचेहि' कथय । 'पणिहिदप्पा' प्रणिहितचित्तो भूत्वा । 'णिरवसेसं' सर्वमित्यनेनैवावगतत्वात् निरवशेषमित्येतत्किमर्थं इति चेत्—ज्ञानदर्शनचारित्रविषयाणामतिचाराणा कतिपयाना सामस्त्येऽपि सर्वशब्दस्य प्रवृत्तिरस्तीति निरवशेषग्रहण प्रत्येक ज्ञानाद्यतिचारान् ग्रहीतुमुपन्यस्तमिति तन्न दोष ॥५३२॥

कथ निरवशेषालोचना कृता भवतीत्यारेकायामाह—

काइयवाइयमाणसियसेवणं दुप्पओगसंभूय ।
जइ अत्थि अदीचारं तं आलोचेहि णिस्सेसं ॥५३३॥

'काइयवाइयमाणसियसेवणं' कायेन, वाचा, मनसा च प्रवृत्ति प्रतिसेवना । 'दुप्पओगसंभूया' दु प्रयोगसभूता 'तं' तां । 'आलोचेहि' कथय । 'णिस्सेसं' नि शेष । 'जइ अत्थि अदीचारो' यद्यस्त्यतिचार ॥५३३॥

अमुगंमि इदो काले देसे अमुगत्थ अमुगभावेण ।
जं जह णिसेविदं तं जेण य सह सव्वमालोचे ॥५३४॥

चरण अतिक्रम्याचरण । 'इदो' अस्माद्दिनादतिक्रान्ते । 'अमुगम्मि काले' अमुकस्मिन्काले । 'देसे' अमुष्मिन्देशे । 'अमुगभावेण' अनेन भावेन । 'ज' यत् । 'जधा णिसेविदं' यथा निषेवित । 'जेण य सह' येन च सह । 'त सव्वमालोचे' तत्सर्वं कथयेद्देशभेदात् कालभेदात् परिणामभेदात्, महायभेदात् च दोषाणा गुरुलघुभाव । गुरुलघुभावानुसारेण वा गुरु लघु वा प्रायश्चित्त दीयते । तत्सर्वं कथयति ॥५३४॥

शिक्षयत्यालोचनाक्रम सूरि—

गा०—यत परकी साक्षीपूर्वक की गई शुद्धि ही प्रधान है अत दीक्षासे लेकर अबतक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमे जो अतिचार लगे है वे सब निरवशेष सावधान चित्त होकर कहो।

शङ्का—सब कहनेसे ही सबका ज्ञान हो जाता है फिर निरवशेष क्यो कहा ?

समाधान—ज्ञान दर्शन और चारित्रविषयक कुछ अतिचारोंको पूरी तरहसे कहनेमे भी सर्वशब्दकी प्रवृत्ति है, इसलिए 'निरवशेष' का ग्रहण ज्ञानादिके प्रत्येक अतिचारको ग्रहण करनेके लिए किया है। अत कोई दोष नही है ॥५३२॥

निरवशेष आलोचना कैसे की जाती है ? इसका उत्तर देते है—

गा०—मनवचन और कायकी प्रवृत्ति करते हुए यदि उनके दुष्प्रयोगसे अतिचार लगा हो तो उसकी पूरी तरहसे आलोचना करो ॥५३३॥

गा०—इस दिनसे लेकर अमुक कालमे, अमुक देशमे, अमुक भावसे जो दोष, जिसके साथ जिस प्रकारसे किया हो वह सब कहना चाहिए। देशभेद, कालभेद, परिणामभेद, और सहायकके भेदसे दोषोंमे गुरुपना और लघुपना होता है। और दोषोकी गुरुता और लघुताके अनुसार गुरु या लघु प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसलिए क्षपक सब कहता है ॥५३४॥

आचार्य आलोचनाके क्रमकी शिक्षा देते है—

आलोयणा हु दुविहा ओघेण य होदि पदविभागी य ।
ओघेण मूलपत्तस्स पयविभागी य इदरस्स ।।५३५।।

'**आलोयणा खु दुविहा होदि**' द्विप्रकारैवालोचना भवति । '**ओघेण पदविभागी य**' सामान्येन विशेषेण च । वचो हि सामान्यं विशेष चावलम्ब्य प्रवर्तते । कस्य सामान्येन आलोचना कस्य वा विशेषेणेत्यत आह–'**ओघेण मूलपत्तस्स**' सामान्यालोचना मूलाख्य प्रायश्चित्त प्राप्तस्य । '**पदविभागी**' विशेषालोचना । '**इदरस्स**' मूलमप्राप्तस्य ।।५३५।।

सामान्यालोचनार्हं सामान्यालोचनास्वरूप च कथयति—

आघेणालोचेदि हु अपरिमिदवराधिसव्वघादी वा ।
अज्जोपाए इच्छं सामण्णमहं खु तुच्छोत्ति ।।५३६।।

'**ओघेणालोचेदि हु**' सामान्येन कथयति । '**कोऽपरिमिदवराधो सव्वघादी वा**' बहवो अपराधा यस्य मिथ्यात्व व्रतभङ्गो वा । परसाक्षिकाया शुद्धौ मायाशल्य निरस्त भवति । मानकषायो निर्मूलितो भवति । गुरुजन पूजितो भवति । तत्परतन्त्रया वृत्तेर्मार्गप्रख्यापना च कृता स्यात् । '**अज्जोपाए**' अद्यप्रभृति । '**इच्छ सामण्ण**' इच्छामि श्रामण्य । '**अह खु तुच्छोत्ति**' अह स्वल्पको रत्नत्रयेणेति इय सामान्यालोचना ।।५३६।।

विशेषालोचनामाचष्टे—

गा०—आलोचना दो प्रकारकी होती है—एक सामान्यसे और दूसरी विशेष से। क्योंकि सामान्य और विशेषका अवलम्बन लेकर ही वचनकी प्रवृत्ति होती है। किस दोषकी सामान्यसे आलोचना होती है और किसको विशेषसे होती है ? यह कहते हैं—जिसको मूल नामक प्रायश्चित्त दिया जाता है वह सामान्यसे आलोचना करता है और जिसको मूल प्रायश्चित्त नही दिया जाता वह विशेष रूपसे आलोचना करता है ।।५३५।।

विशेषार्थ—जिसकी मूलसे ही दीक्षा छेद दी जाती है वह अपने दोषोंकी सामान्य आलोचना करता है किन्तु जो सम्यक्त्व आदिमे दोष लगाता है वह अपने दोषकी विशेष आलोचना करता है। यहाँ सामान्यसे मतलब है किसी गुणविशेषमे लगे दोषकी आलोचना न करके सामान्य मुनिधर्म मात्रमे लगे दोषकी आलोचना करना, और किसी गुणविशेषमे लगे दोषकी आलोचना विशेष आलोचना है।

सामान्य आलोचनाके योग्य कौन होता है और सामान्य आलोचनाका स्वरूप कहते है—

गा०—जो अपरिमित अपराधी है जिसने बहुत अपराध किए है या जिसने सब सम्यक्त्व व्रत आदि का घात किया है वह सामान्य आलोचना करता है। मै आज से मुनि दीक्षा लेना चाहता हूँ। मै रत्नत्रय से तुच्छ हूँ। यह सामान्य आलोचना का स्वरूप है। आचार्य आदिकी साक्षी पूर्वक शुद्धिमे मायाशल्य दूर होता है। मान कषाय जड़ से उखड जाती है। गुरुजनके प्रति आदर भाव व्यक्त होता है। उनके अधीन रह कर व्रताचरण करनेसे मोक्षमार्गकी ख्याति होती है ।।५३६।।

विशेष आलोचनाको कहते हैं—

पव्वज्जादी सव्वं कमेण जं जत्थ जेण भावेण ।
पडिसेविदं तहा तं आलोचिंतो पदविभागी ॥५३७॥

'**पव्वज्जादी सव्वं**' प्रव्रज्यादिकं सर्वं । '**कमेण जं जत्थ जेण भावेण पडिसेविदं**' क्रमेण यद्यत्र कालत्रये वा देशे येन भावेन प्रतिसेवितं । '**तहा तं**' तथा तत् । **आलोचितो** निरूपयन्निति । यदि पदविभागी **विशेषा-लोचना** भवति ॥५३७॥

शल्यानिराकरणे दोषं शल्यापाये च गुणं दृष्टान्तेन दर्शयति—

जह कंटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुद्दुदो होदि ।
तम्हि दु समुद्धिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि ॥५३८॥

'**जह कंटएण विद्धो**' यथा कण्टकेन विद्धः । '**सव्वंगे**' सर्वस्मिन् शरीरे । '**वेदणुद्दुदो होइ**' वेदन-योपद्रुतो भवति । '**तम्हि समुद्धिदे**' तस्मिन्कण्टके उद्धृते । '**सो**' दुःखितः । '**णिस्सल्लो**' निःशल्यो शल्येन रहितः । '**णिव्वुदो**' निर्वृतो । '**होदि**' भवतीति सुखी भवतीति यावत् ॥५३८॥

दार्ष्टान्तिकयोजना—

एवमणुद्धुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ ।
सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ ॥५३९॥

'**एवं**' कण्टकेन विद्ध इव । '**अणुद्धुददोसो**' अनुद्धृतदोषः । '**माइल्लो**' मायावान् । स्वापराधा-कथनानुद्धृतदोषेण । '**दुक्खिदो होदि**' दुःखितो भवति । '**सो चेव वंददोसो**' स एव वान्तदोषः । '**सुविसुद्धो णिव्वुदो होदि**' निर्वृतो भवति ॥५३९॥

मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च ।
अहवा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोधव्वं ॥५४०॥

'**मिच्छादंसणसल्लं**' मिथ्यादर्शनशल्यं । '**मायासल्लं**' मायाशल्यं । '**णिदाणसल्लं**' निदानशल्यं च । '**अहवा सल्लं दुविहं**' अथवा शल्यं द्विप्रकारं । '**दव्वे भावे य**' द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति । '**बोधव्वं**' बोद्धव्यम् ॥५४०॥

गा०—दीक्षासे लेकर सब कालमे सब क्षेत्रमे जिस भावसे और जिस क्रमसे जो दोष किया हो उसकी उसी प्रकार आलोचना करना पदविभागी अर्थात् विशेष आलोचना है ॥५३७॥

शल्यको दूर न करनेमे दोष और दूर करनेमे गुण दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

गा०—जैसे कण्टकसे विधा हुआ सर्वशरीरमे पीड़ासे पीडित होता है और उस कण्टकके निकल जानेपर वह दुःखी मनुष्य शल्यसे रहित हो सुखी होता है ॥५३८॥

गा०—उसी प्रकार जो काँटेकी तरह दोषको नही निकालता वह मायावी अपने अपराध-को न कहने रूप दोषसे दुःखी रहता है। और वही दोषको प्रकट करनेपर विशुद्ध होकर सुखी होता है ॥५३९॥

गा०—शल्यके तीन भेद हैं—मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य, अथवा शल्यके दो भेद जानना—द्रव्यशल्य और भावशल्य ॥५४०॥

तिविहं तु भावसल्लं दंसणणाणे चरित्तजोगे य ।
सच्चित्ते य अचित्ते य मिस्सगे वा वि दव्वम्मि ॥५४१॥

'तिविह तु' त्रिविध एव । **'भावसल्लं'** परिणामशल्यं । **'दंसणणाणे चरित्तजोगे य'** दर्शने, ज्ञाने, **चारित्रयोगे** वा । दर्शनस्य शल्यं शकादि । ज्ञानस्य शल्यं अकाले पठन अविनयादिक च । चारित्रस्य शल्य समितिगुप्त्योरनादर । [[1]योगस्य तपस प्रागुक्तानशनाद्यतिचारजातं । असयमपरिणमनं वा । तपसश्चारित्रे अन्तर्भावविवक्षया तिविहमित्युक्तम्] **'दव्वम्मि सल्लं तिविहं'** द्रव्ये शल्यं त्रिविध । **'सचित्ते अचित्ते मिस्सगे य'** सचित्तद्रव्यशल्य दासादि । अचित्तद्रव्यशल्य सुवर्णादि । **'मिस्सगे वा'** विमिश्रद्रव्यशल्य ग्रामादि । एतत्त्रिविध द्रव्यशल्यमित्युच्यते—चारित्राचारस्य शल्यस्य कारणत्वात् ॥५४१॥

भावशल्यानुद्धरणे दोषमाचष्टे—

एगमवि भावसल्लं अणुद्धरित्ताण जो कुणइ कालं ।
लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि ॥५४२॥

'एगमवि' एकमपि भावाना रत्नत्रयाणा शल्य । अतिचार । **'अणुद्धरित्ताण'** अनुद्धृत्य । **'जो कुणदि काल'** य करोति मरण । कस्मान्नोद्धरति ? **'लज्जाए'** लज्जया । **'गारवेण य'** गारवेण वा । **'सो ण खु आराधगो होदि'** स आराधको नैव भवति । निरतिचारता हि तेषा यतीना आराधना ॥५४२॥

जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्य न कालक्षेप कार्य इति शिक्षयति—

कल्ले परे व परदो काहं दंसणणाणचरित्तसोधित्ति ।
इय संकप्पमदीया गयं पि कालं ण याणंति ॥५४३॥

'कल्ले' श्व प्रभृतिके काले । अह करिष्यामि **'दंसणचरित्तसोधित्ति'** दर्शनज्ञानचारित्रशुद्धिमिति । **'इय संकप्पमदीया'** एव कृतसकल्पमतय । **'गयंपि कालं ण जाणंति'** गतमतिक्रान्तमपि आयु.काल नैव जानन्ति ।

गा०-टी०—भावशल्यके तीन भेद है—दर्शनशल्य, ज्ञानशल्य, चारित्रयोगशल्य। शका आदि दर्शनके शल्य है। अकालमे पढना, विनय न करना आदि ज्ञानके शल्य है। समिति और गुप्तिमे अनादर चारित्रके शल्य है। पहले कहे अनशन आदिके अतिचार अथवा असयमरूप परिणाम योग अर्थात् तपके शल्य है। तपका अन्तर्भाव चारित्रमे होता है इस विवक्षासे यहाँ भावशल्य तीन कहे हैं। द्रव्यशल्य भी तीन है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। दास आदि सचित्त द्रव्यशल्य हैं। सुवर्ण आदि अचित्त द्रव्यशल्य हैं। गाँव आदि मिश्र द्रव्यशल्य है। इन तीनोको द्रव्यशल्य कहते है क्योकि ये चारित्राचारके शल्यके कारण है ॥५४१॥

भावशल्यको दूर न करनेमे दोष कहते है—

गा०—जो साधु लज्जा अथवा गारवसे एक भी भाव अर्थात् रत्नत्रयके शल्य अर्थात् अतिचारको निकाले विना मरण करता है, वह मुनि आराधक नही है। निरतिचारता ही यतियो-की आराधना है ॥५४२॥

आगे शिक्षा देते हैं कि अपराध होनेपर तत्काल कहना चाहिए, देर नही करना चाहिए—

गा०-टी०—कल या परसो मे दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी शुद्धि करूँगा। ऐसा सकल्प

---

१ कोष्टान्तर्गत पाठो नास्ति–अ० आ० प्रत्यो ।

तत सशल्यं मरण तेषा भवति । अत एवोक्तं—'उप्पण्णाणुप्पण्णा माया अणुपुव्वसो णिहंतव्वा' इति ।।— [मूलाचार ७।१२५ ।।] व्याधय. शत्रवः । कर्माणि, चोपेक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न सुखेन विनाशयन्ते । अथवा अतिचारकालं गतं चिरातिक्रान्त नैव जानन्ति । ये हि अतिचाराः प्रतिदिन जातास्तेषा काल, सन्ध्या रात्रिर्दिन इत्यादिक । पश्चादालोचनाकाले गुरुणा 'पृष्टा वा न वक्तुं जानन्ति विस्मृतत्वाच्चिरातीतस्य । अथागत त्वतीचारकाल तस्यातिचारस्य । अपिशब्देन क्षेत्रभावौ वातिचारस्य हेतू न जानन्ति न स्मरन्ति । सामान्यवाच्यपि जानाति । इह स्मृतिज्ञान²गोचर इति केषाचिद्व्याख्या ।।५४३।।

सशल्यमरणे को दोष इत्याशङ्कायामाचष्टे—

रागद्दोसाभिहदा ससल्लमरणं मरंति जे मूढा ।
ते दुक्खसल्लबहुले भमंति संसारकांतारे ।।५४४।।

'रागद्दोसाभिहदा' रागद्वेषाभ्यामभिहता. । **'ससल्लमरणं'** सशल्यमरण । **'मरंति'** म्रियन्ते । **'जे मूढा'** ये मूढास्ते **'संसारकांतारे भमंति'** । ते ससाराटव्या भ्रमन्ति । कीदृशि ? **'दुक्खसल्लबहुले'** दु खानि शल्यवत् दुर्द्धरत्वाच्छल्य इत्युच्यन्ते । दु खशल्यसङ्कुले ।।५४४।।

शल्योद्धरणे गुण व्याचष्टे—

तिविहं पि भावसल्लं समुद्धरित्ताण जो कुणदि कालं ।
पव्वज्जादी सव्वं स होइ आराधओ मरणे ।।५४५।।

'तिविहंपि' त्रिविधमपि । **'भावसल्लं'** भावशल्य । **'समुद्धरित्ताण'** समुद्धृत्य । **'जो कुणदि कालं'** यः काल करोति । कीदृग्भूत ? **'पव्वजादी'** प्रव्रज्यादिक । **'सव्वं'** सर्वं । **'स होदि'** स भवति । **'आराधओ'** आराधको दर्शनादीना । **'मरणे'** भवपर्यायप्रच्यवे ।।५४५।।

करनेवाले बीतते हुए आयुकालको नही जानते। इसीसे उनका मरण शल्य सहित होता है। इसीसे कहा है—'जैसे ही मायाशल्य उत्पन्न हो, उत्पन्न होते ही उसे आनुपूर्वीक्रमसे नष्ट कर देना चाहिए।' व्याधि, शत्रु और कर्मकी यदि उपेक्षा की जाये तो उनकी जड़ जम जाती है फिर सुखपूर्वक उनका विनाश नही होता। अथवा अपराधकी उपेक्षा करनेवाले साधु दोष लगनेके कालको बहुत दिन बीत जानेपर भूल जाते है। जो अतिचार प्रतिदिन होते है उनका काल सन्ध्यामे अतिचार लगा था या रातमे या दिनमे, इत्यादि भूल जाते है। पीछे आलोचना करते समय गुरुके पूछनेपर नही कह पाते क्योकि बहुत काल बीतनेसे भूल जाते है। अथवा बीते अतीचारके कालको और 'अपि' शब्दसे अतिचारके हेतु क्षेत्र और भावको नही जानते, उन्हे उनका स्मरण नही होता। ऐसी किन्हीको व्याख्या है ।।५४३।।

शल्यसहित मरणमें दोष कहते है—

गा०—राग और द्वेषसे पीडित जो मूढ मुनि शल्यसहित मरते है वे दु खरूपी शल्योसे भरे ससाररूपी वनमें भटकते है। शल्यकी तरह दुर्द्धर होनेसे दु खोको शल्य कहा है ।।५४४।।

शल्यको निकालनेमे गुण कहते हैं—

गा०—जो दीक्षा लेनेके दिनसे लेकर तीन प्रकारके सब भावशल्यको निकालकर मरण

---

१ पृष्टातावन्न आ० मु० । २ ज्ञानागोच–ज्ञानागारव आ० मु० ।

जे गारवेहिं रहिदा णिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य।
विहरंति मुत्तसंगा खवंति ते सव्वदुक्खाणि ॥५४६॥

'**जे गारवेहिं रहिदा**' ये गोरवैर्विरहिता। '**णिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य**' निःशल्याः सन्तो दर्शने चरित्रे च। '**विहरन्ति**' प्रवर्तन्ते। '**मुत्तसंगा**' निरस्तमूर्च्छा। ते '**सव्वदुक्खाणि खवंति**' ते सर्वाणि दुःखानि क्षपयन्ति ॥५४६॥

तं एवं जाणंतो महंतयं लाभयं सुविहिदाण।
दंसणचरित्तसुद्धो णिस्सल्लो विहर तो धीर ॥५४७॥

'**तं**' भवान्। '**एवम्**' उक्तप्रकारेण। '**जाणंतो**' जानन्। '**महंतगं**' महान्तं लाभं। '**सुविहिदाणं**' सुसयताना। '**दंसणचरित्तसुद्धो**' दर्शने चारित्रे च शुद्धिः। तयोः शुद्धिर्ज्ञानदर्शनशुद्धिमन्तरेण न भवतीति त्रयाणा शुद्धिरुक्ता। '**णिस्सल्लो**' शल्यरहितः सन्। '**विहर**' चर। '**तो**' तस्माद् '**धीर**' धैर्योपेत ॥५४७॥

तम्हा सतूलमूलं अविछूढमविप्पुदं अणुव्विग्गो।
णिम्मोहियमणिगूढं सम्मं आलोचए सव्वं ॥५४८॥

'**तम्हा**' तस्मात् यस्मात्सशल्यमरणे दोषः। निःशल्यमरणे च सकलदुःखनिवृत्तिः दुःखकारणानां कर्मणाम[1]भावात्। '**तम्हा**' तस्मात्। '**सम्मं सव्वमालोचे**' सम्यक् सर्वमतिचारं कथयेत्। दुःखनिवृत्त्यर्थं[2] मतिः। कथमालोचयेदित्याशङ्कायामालोचनाविशेषमाह-'**सतूलमूलं**' तूलमूलाभ्यां सहितं। '**सव्व**' निरवशेषं। '**अविछूढं**' अविस्मृतं। '**अविप्पुदं**' अद्रुतं। '**अणुव्विग्गो**' निर्भयः। '**णिम्मोहियं**' मोहरहितं। '**अणिगूढं**' अनिगूढं ॥५४८॥

जह बालो जंपतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूण ॥५४९॥

करते हैं वे मरते समय दर्शन आदिके आराधक होते हैं ॥५४५॥

गा०—जो तीन प्रकारके गारव और तीन प्रकारके शल्योसे रहित हो ममत्वभावको त्याग दर्शन ज्ञान और चारित्रमे विहार करते है वे सब दुःखोका क्षय करते है ॥५४६॥

गा०—हे धीर! निरतिचार रत्नत्रयका पालन करनेवाले सयमियोके ऊपर कहे महान् लाभको जानते हुए तुम दर्शन और चारित्रकी शुद्धि करके शल्यरहित होकर मोक्षमार्गमे प्रवर्तन करो। दर्शन और चारित्रकी शुद्धि ज्ञान और दर्शनकी शुद्धिके विना नही होती। इसलिए दर्शन और चारित्रकी शुद्धिमे दर्शन ज्ञान चारित्र तीनोकी शुद्धि कही है ॥५४७॥

गा०—यतः शल्यसहित मरणमे दोष है और निःशल्य मरणमे दुःखके कारण कर्मोंका अभाव होनेसे समस्त दुःखोसे छुटकारा होता है। इसलिए दुःखसे निवृत्तिके लिए दीक्षाके दिनसे लेकर आज तक जो अतिचार लगे है वे सब विना भूल किये, धीरे-धीरे, विना किसी भय और मोहके सम्यक्रूपसे प्रकट करो ॥५४८॥

---

१. भाव -आ० मु०। २. त्यर्थायति.-अ०। त्यर्थं इति मु०।

'**जह बालो जंपंतो**' यथा बालो जल्पन्। '**कज्जमकज्जं व**' कार्यमकार्यं वा। '**भणदि**' वदति। '**उज्जुगं**' ऋजुना क्रमेण। '**तह**' तथा। '**आलोचेदव्वं**' वक्तव्योऽपराध। '**मायामोसं च मोत्तूण**' मनोगता वक्रता, वचनगतां, मृषा च मुक्त्वा ॥५४९॥

उपसंहरति प्रस्तुतम्—

दंसणणाणचरित्ते कादूणालोचणं सुपरिसुद्धं ।
णिस्सल्लो कदसुद्धी कमेण सल्लेहणं कुणसु ॥५५०॥

'**दंसणणाणचरित्ते**' दर्शनज्ञानचरित्रविषया। '**आलोचणं कादूण**' अपराधमभिधाय। '**सुपरिसुद्धं**' '**णिसल्लो**' मायाशल्यरहित.। '**कदसुद्धी**' कृतगुरुनिरूपितप्रायश्चित्त। '**कमेण सल्लेहणं कुणसु**' क्रमेण सल्लेखना कुरु ॥५५०॥

तो सो एवं भणिओ अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ ।
सव्वंगजादहासो पीदीए पुलइदसरीरो ॥५५१॥

एव शिक्षितोऽसौ क्षपक '**तो**' तत। '**सो**' आराधक। '**एवं भणिदो**' एव शिक्षित सूरिणा। '**अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ**' अभ्युद्यते मरणे निश्चितबुद्धि। '**सव्वंगजादहासो**' सर्वांगजातहर्ष। '**पीदीए पुलगिदसरीरो**' प्रीत्या पुलकितशरीरः ॥५५१॥

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते ।
आलोयणपत्तीयं काउस्सग्गं अणाबाधे ॥५५२॥

'**पाचीणोदीचिमुहो**' प्राङ्मुख उदङ्मुखः। '**चेदियहुत्तो व**' चैत्याभिमुखो वा भूत्वा। '**कुणदि काउस्सग्गं**' करोति कायोत्सर्गं। कोदृग्भूत? '**आलोयणपत्तीगं**' आलोचनाप्रत्यय आलोचनानिमित्त। कायोत्सर्गं स्थित्वा दोषा यत स्मर्यन्ते कथयितु तस्मात्कायोत्सर्ग आलोचनाहेतु। क्व त करोति? '**एगंते**' एकान्ते जनरहित-

---

गा०—जैसे बालक बोलते हुए कार्य हो या अकार्य हो, सरलभावसे ही कहता है कुछ छिपाता नही है। वैसे ही साधुको भी मनोगत कुटिलता और वचनगत झूँठको त्यागकर अपना अपराध कहना चाहिए ॥५४९॥

प्रस्तुत चर्चाका उपसहार करते है—

गा०—अत दर्शन ज्ञान और चारित्रसम्बन्धी अपने अपराधोको कहकर, मायाशल्यसे रहित होकर, गुरुके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करके क्रमसे सल्लेखना करो ॥५५०॥

गा०—इस प्रकार गुरुके द्वारा शिक्षित किया गया वह क्षपक समाधिमरण करनेका निश्चय करता है। उसके सब अगोमे हर्षकी लहर दौड़ती है और प्रीतिसे शरीर रोमाचित हो जाता है ॥५५१॥

गा०-टी०—वह पूरब, उत्तर या जिनबिम्बकी ओर मुख करके जनरहित एकान्त प्रदेशमे जहाँ किसी प्रकारकी बाधाकी सम्भावना नही है ऐसे जनरहित एकान्तमे स्थानमे आलोचनाके निमित्त कायोत्सर्ग करता है। यत कायोत्सर्गसे खड़े होनेपर गुरुसे कहनेके लिए दोषोका स्मरण

देशे। 'अणाबाधे' अमार्गे बहुजनमध्ये एकमुखं न भवति चित्तं। मार्गे स्थितः परकार्यव्याघातकृद्भवति इति मत्वा एकान्ते। अमार्गश्च कायोत्सर्गदेश आख्यात ॥५५२॥

कायोत्सर्गं किमर्थं करोति आलोचयितुकाम इत्याशङ्कायां कायोत्सर्गस्य उपयोगमाचष्टे—

एवं खु वोसरित्ता देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो।
णिम्ममदा णिस्संगो णिस्सल्लो जाइ एयत्तं ॥५५३॥

'**एवं खु**' इत्यादिना। एवमित्यनन्तरसूत्रनिर्दिष्टक्रमेण। प्राङ्मुख उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा। एकान्ते **मार्गे**। **वोसरित्ता** त्यक्त्वा किं ? न हि त्याज्यमन्तरेण त्यागो युज्यते। देहमिति चेत् '**देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो**' इति न घटते निर्ममतैव ननु त्याग.। भिन्नयो पूर्वापरकालविषययो क्रिययोर्यत्र एक कर्ता तत्र पूर्वकाल-क्रियावचनात् क्त्वा विधीयते। अत्रोच्यते वचसा त्याग '**वोसरित्ता**' इत्यनेन उच्यते। मनसा ममाय न भवति देह इति त्याग पश्चात्तन्यते। तेन वाङ्मन करणभेदात्त्यागो भिद्यते। '**णिम्ममदा णिस्सगो**' निर्ममतया निस्सगो निष्परिग्रह । '**णिस्सल्लो**' नि परिग्रहत्वादेव नि शल्य । '**एकत्तं जादि**' एकत्वभावना[1] प्रतिपद्यते ॥५५३॥

होता है अत. कायोत्सर्ग आलोचनाका कारण है। बहुतसे लोगोके मध्यमे चित्त एकाग्र नही होता तथा रास्तेमे खडे होकर कायोत्सर्ग करनेसे दूसरोके कार्यमे बाधा आती है। ऐसा मानकर कायोत्सर्गका स्थान एकान्त और मार्गरहित कहा है ॥५५२॥

आलोचना करनेवाला कायोत्सर्ग क्यो करता है ऐसी शका होनेपर कायोत्सर्गका उपयोग कहते है—

गा०-टी०—इस प्रकार आलोचनाके लिए एकान्त स्थानमे पूरबके सन्मुख अथवा उत्तरके सन्मुख अथवा जिनबिम्बके सन्मुख होकर 'मै शरीरका त्याग करता हूँ' इस प्रकार वचनसे त्याग करके 'यह शरीर मेरा नही है' इस प्रकार मनसे त्याग करता है। अत. वचन और मनके भेदसे त्यागके दो भेद होते है। इस प्रकारसे शरीर ममत्व त्यागकर निर्ममत्वको प्राप्त होता है और निर्ममत्वको प्राप्त होनेसे बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहसे रहित होता है। परिग्रह रहित होनेसे ही नि.शल्य होकर एकत्वभावनाको प्राप्त होता है।

शङ्का—'त्याज्यके विना त्याग नही होता। यदि देहका त्याग करता है तो देहमे भी निर्ममत्व होता है' यह कथन नही घटता। क्योकि शरीरमे निर्ममत्व ही शरीरका त्याग है। आगे पीछे होनेवाली दो भिन्न क्रियाओका कर्ता जहाँ एक ही होता है वहाँ पूर्वकालकी क्रियासे 'क्त्वा' (करके) प्रत्यय किया जाता है। शकाकारका अभिप्राय यह है कि गाथामे कहा है कि देहका त्याग करके देहमे निर्ममत्व होता है। किन्तु देहका त्याग और देहमे निर्ममत्व यह भिन्न कार्य नही है निर्ममत्व ही त्याग है। अतः देहका त्याग करके देहमे निर्ममत्व होता है ऐसा कहना ठीक नही है।

समाधान—'वोसरित्ता' शब्दसे वचनमे त्याग कहा है। उसके पश्चात् ही 'यह शरीर मेरा नही है' इस प्रकार मनसे त्याग होता है। अत वचन और मनके भेदसे त्यागमे भेद होनेसे उक्त कथन घटित होता है।

---

१ वनाया प्र–अ०।

तो एयत्तमुवगदो सरेदि सव्वे कदे सगे दोसे।
आयरियपादमूले उप्पाडिस्सामि सल्लंत्ति ॥५५४॥

'**एगत्तमुवगदो**' एकत्वभावनामुपगत.। निरतिचारज्ञानदर्शनचारित्राण्येवाहं। शरीरमिदमन्यदनुपकारि मम दु खनिमित्तत्वात्, तद्विनाशे मम किं विनश्यति, क्षयितव्योऽयमरातिरिति मन्यमान, प्रायश्चित्ताचरणे न खिद्यते। माया च कर्मोदयनिमित्ता हातु ईहतो मम शुद्धरूपस्येयमशुद्धिरिति। '**तो**' तत। '**सरेदि**' स्मरति। '**सव्वे**' सर्वेषा। '**कदे**' कृताना। '**सगे**' स्वकाना। '**दोसे**' दोषाणा। किमर्थं स्मरति ? '**आयरियपादमूले**' आचार्यपादमूले। '**उप्पाडिस्सामि**' उत्पाटयिष्यामि। '**सल्लंति**' दर्शनातिचारमिति ॥५५४॥

स्मृत्वा किं करोति पश्चादित्याशङ्कायामित्याचष्टे—

इय उजुभावमुपगदो सव्वे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो।
लेस्साहिं विसुज्झंतो उवेदि सल्लं समुद्धरिदुं ॥५५५॥

'**इय**' एव। '**उजुभावं उवगदो**' ऋजुभाव उपगत। '**सव्वे दोसे**' सर्वेषा दोषाणा। '**तिक्खुत्तो सरित्तु**' त्रि स्मृत्वा। '**लेस्साहिं विसुज्झंतो**' लेश्याभिर्विशुद्धाभिर्विशुद्धयन्। '**उवेदि**' ढौकते आचार्य। '**सल्लं**' शल्य। '**समुद्धरिदुं**' सम्यगुद्धर्तुं ॥५५५॥

आलोयणादिया पुण होइ पसत्थे य सुद्धभावस्स।
पुव्वण्हे अवरण्हे व सोमतिहिरिक्खवेलाए ॥५५६॥

'**आलोयणादिका**' आलोचनप्रतिक्रमणादिका क्रिया। अथवा '**आलोयणं**' आलोचना। '**दिया**' दिवसे। '**पुण**' पश्चात्। '**होइ**' भवति। क्व ? '**पसत्थे**' प्रशस्ते क्षेत्रे। अनेन क्षेत्रशुद्धिरुक्ता। विसुद्धभावस्स विशुद्धि-

---

विशेषार्थ—इस समय मै आलोचना करता हूँ। मेरे सम्यक्त्व आदिमे कोई भी दोष नही है। इस प्रकार दोषकी शकासे मुक्त होकर मैं एक असहाय अथवा नित्य हूँ। यह शरीर मुझसे भिन्न है। दु खका कारण होनेसे मेरा उपकारी नही है। मै तो निरतिचार रत्नत्रयस्वरूप ही हूँ। अत देहके नाशसे मेरा कुछ भी नष्ट नही होता। मै तो शुद्ध चिद्रूप हूँ। इस प्रकार एकत्व भावनामय होता है ॥५५३॥

गा०-टी०—एकत्व भावनामय होकर प्रायश्चित्तका आचरण करनेमे खिन्न नही होता। कर्मके उदयके निमित्तसे होनेवाली मायाको छोडनेमे तत्पर होता है। मै शुद्धस्वरूप हूँ। मेरी यह माया अशुद्धि है ऐसा मानता है। अत. यह सम्यग्दर्शनका अतिचार है। मै आचार्यके पादमूलमें अपने दोषोको जड़मूलसे दूर करूँगा, इस भावनासे अपने द्वारा किये गये सब दोषोको स्मरण करता है ॥५५४॥

दोषोके स्मरण करनेके पश्चात् क्या करता है यह कहते है—

गा०—इस प्रकार सरलभावको प्राप्त हुआ क्षपक सम्पूर्ण दोषोंको तीन बार स्मरण करके लेश्याओसे विशुद्ध होता हुआ शल्योंको दूर करनेके लिए आचार्यके पास जाता है ॥५५५॥

गा०—आलोचना प्रतिक्रमण आदि क्रिया विशुद्ध परिणामवाले क्षपकके प्रशस्त क्षेत्रमें

परिणामस्य भावशुद्धिरनेन कथिता। 'पुव्वण्हे' पूर्वाह्णे। 'अवरण्हे व' अपराह्णे वा। 'सोमतिहिरिक्खवेलाए' सौम्ये दिने, नक्षत्रे, वेलायां च ॥५५६॥

एवमादिषु अप्रशस्तेषु देशेषु आलोचना न प्रतीच्छेत् इति आचार्यशिक्षापरं वचनं—

णिप्पत्तकंटइल्लं विज्जुहदं सुक्खरुक्खकडुदड्ढं।
सुण्णघररुद्ददेउलपत्थररासिट्ठियापुंजं ॥५५७॥

'णिप्पत्तकंटइल्लं' निष्पत्र कण्टकाकुल। 'विज्जुहदं' अशनिनाहत। 'सुक्खरुक्खकडुदड्ढं' शुष्कवृक्षं, कटुकरम, 'दड्ढं' दग्ध। 'सुण्णघररुद्ददेउलपत्थररासिट्ठियापुंजं' शून्य गृह, रुद्रदेवकुल, पाषाणराशि, इष्टकापुञ्जं ॥५५७॥

तणपत्तकट्ठछारिय असुइ सुसाणं च भग्गपडिदं वा।
रुद्दाणं खुद्दाणं अधिउत्ताणं च ठाणाणि ॥५५८॥

'तणपत्तकट्ठछारिय असुइसुसाणं च' तृणवत्पत्रवत्काष्ठवत् यत्स्थान। 'असुचिसुसाणं वा' अशुचिश्मशान वा। भग्नानि पतितानि वा भाजनानि गृहाणि वा यस्मिन् स्थाने तद्भग्नपतित। 'अधिउत्ताणं व ठाणाणि' देवताना स्थानानि। कीदृशीना? 'रुद्दाणं' रौद्राणा। 'खुद्दाणं' क्षुद्राणा स्वल्पकाना ॥५५८॥

अण्णं व एवमादी य अप्पसत्थं हवेज्ज जं ठाणं।
आलोचणं ण पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥५५९॥

'अण्णं व' अन्यद्वा स्थान एवमादिक। 'अप्पसत्थं' अप्रशस्त। 'हवेज्ज' भवेत्। 'जं ठाणं' यत्स्थान। 'तत्थ' तस्मिन्स्थाने। 'आलोयण ण पडिच्छदि' आलोचना न प्रतीच्छति। 'गणी' गणधर। किमर्थं? 'से' तस्य क्षपकस्य। 'अविग्घत्थं' अविघ्नार्थं। एतेष्वालोचनाया कृताया प्रारब्धकार्यसिद्धिर्न भवतीति मत्वा ॥५५९॥

पूर्वाह्ण अथवा अपराह्णकालमे शुभदिन, शुभनक्षत्र और शुभवेलामे होती है। यहाँ प्रशस्त क्षेत्रसे क्षेत्रशुद्धि कही है। विशुद्धपरिणामसे भावशुद्धि कही है तथा शुभदिन आदिसे कालशुद्धि कही है ॥५५६॥

आगे आचार्य शिक्षा देते हैं कि इस प्रकारके अप्रशस्त देशोंमें आलोचना नही करनी चाहिए—

गा०—जहाँ वृक्ष पत्ररहित हो, कण्टक भरे हो, वज्रपात हुआ हो, सूखे वृक्ष हों, कटुक रसवाले हो, दावानलसे जल गये हो तथा शून्य घर, रुद्रदेवका मन्दिर, पत्थरो और ईंटोंका ढेर हो ॥५५७॥

गा०—तृण, पत्र और काष्टसे भरा स्थान, स्मशान, जहाँ टूटे पात्र और खण्डहर हो, चामुण्डा आदि रौद्र देवताओका स्थान, नीचजनोंका स्थान ॥५५८॥

गा०—अन्य भी जो इस प्रकारके अप्रशस्त स्थान हों, वहाँ आचार्य उस क्षपककी निर्विघ्नताके लिए आलोचना नही कराते, क्योकि इन स्थानोंमे आलोचना करनेपर प्रारब्ध कार्यकी सिद्धि नही होती ऐसा वे मानते है ॥५५९॥

---

१ अशनेनाहतं अ०।

क्व तर्हि आलोचना प्रतीच्छतीत्यत्राह—

अरहंतसिद्धसागरपउमसरं खीरपुप्फफलभरियं ।
उज्जाणभवणतोरणपासादं णागजक्खघरं ॥५६०॥

'**अरहंतसिद्धसागरपउमसरं**' अर्हद्भिः सिद्धैश्च साहचर्यात्स्थान अर्हत्सिद्धशब्दाभ्यामिह गृहीतं । अर्हत्सिद्धप्रतिमासाहचर्याद्वा । सागरादिसमीपं स्थान सामीप्यात्सागरादिशब्देनोच्यते । '**खीरपुप्फफलभरियं**' क्षीरपुष्पफलभरिततरुसामीप्यात् स्थान क्षीरपुष्पफलभरितमित्युच्यते । '**उज्जाणभवणतोरणपासादं**' उद्यान-भवनं, तोरण, प्रासाद । '**णागजक्खघरं**' नागाना यक्षाणा च गृह ॥५६०॥

अण्णं च एवमादिय सुपसत्थं हवइ जं ठाणं ।
आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥५६१॥

सूरिरेव स्थित्वा आलोचना प्रतिगृह्णातीति कथयति—

पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु ।
आलोयणं पडिच्छदि एक्को एक्कस्स विरहम्मि ॥५६२॥

'**पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व**' । प्राङ्मुख. उदङ्मुख । आयतनशब्द स्थानसामान्यवचनोऽपि जिनप्रतिमास्थानवाच्यत्र गृहीतस्तेन जिनायतनाभिमुखो वा । '**सुहणिसण्णो हु**' सुखेनासीन । '**आलोयणं**' आलोचना । '**पडिच्छदि**' शृणोति । '**एक्को**' एक एव सूरिरेकस्यैवालोचना । '**विरहम्मि**' एकान्ते । तिमिरापसारण-परस्य घर्मरश्मेरुदयदिगिति उदयार्थी तद्वदस्मत्कार्याभ्युदयो यथा स्यादिति लोक प्राङ्मुखो भवति । सूरेस्तु

तब कहाँ आलोचना स्वीकार करते है । यह कहते हैं—

गा०–टी०–यहाँ अरहंत और सिद्ध शब्दसे अर्हन्तो और सिद्धोके साहचर्यसे युक्त अथवा अर्हन्त और सिद्धोकी प्रतिमाके साहचर्यसे युक्त स्थान लिया गया है । सागर आदि शब्दसे सागर आदिके समीपका स्थान लिया गया है । क्षीर, पुष्प और फलोसे भरे वृक्षोके समीप होनेसे स्थान-को 'क्षीर पुष्पफल भरित' कहा है । अतः अरहतका मन्दिर, सिद्धोका मन्दिर, समुद्रके समीप, कमलोके सरोवरके समीप, या जहाँ दूध वाले वृक्ष हो, पुष्पफलोसे भरे वृक्ष हो, उद्यानमे स्थित भवन हो, तोरण, प्रासाद, नागो और यक्षोके स्थान ॥५६०॥

गा०—अन्य भी जो सुन्दर स्थान हो वहाँ आचार्य क्षपककी निर्विघ्न समाधिके लिए आलोचना स्वीकार करते है ॥५६१॥

आगे कहते है कि आचार्य इस प्रकार स्थित होकर आलोचना ग्रहण करते है—

गा०—पूरबकी ओर अथवा उत्तरकी ओर अथवा जिनमन्दिरकी ओर मुख करके सुख-पूर्वक बैठकर आचार्य एकान्त स्थानमे अकेले ही एक ही क्षपककी आलोचना सुनते है ।

टी०—गाथामे आया आयतन शब्द यद्यपि स्थान सामान्यका वाची है फिर भी यहाँ जिन प्रतिमाके स्थानका वाची ग्रहण किया है ।

शङ्का—पूरब दिशा अन्धकारको दूर करनेमे तत्पर सूर्यके उदयकी दिशा है इसलिए अपने उदयका इच्छुक व्यक्ति उसीकी तरह हमारे कार्यका अभ्युदय हो इसलिए पूरबकी ओर मुख

कोऽभिप्रायो येन प्राङ्मुखो भवति । प्रारब्धपरानुग्रहणकार्यसिद्धेरङ्गं तद्दिगभिमुखता तिथिवारादिवदिति । उदङ्मुखता तु स्वयंप्रभादितीर्थकृतो विदेहस्थान् चेतसि कृत्वा तदभिमुखतया कार्यसिद्धिरिति । चैत्यायतनाभिमुखताऽपि शुभपरिणामतया कार्यसिद्धेरङ्गं । निर्व्याकुलमासीनस्य यत् श्रवणं तदालोचयितु सम्मानन । यथा कथचिच्छ्रवणे मयि अनादरो गुरोरिति नोत्साह. परस्य स्यात् । एक एव शृणुयात्सूरिर्लज्जापरो बहूना मध्ये नात्मदोषं प्रकटयितुमीहते । चित्तखेदश्चास्य भवति, तथा कथयत एकस्यैवालोचना शृणुयात् दुरवधारत्वाद्युगपदनेकवचनसंदर्भस्य । तद्दोषनिग्रहं नायं वराक 'पडिच्छदि' । प्रतीच्छति इत्यनेनैवाव[1]गतत्वाद्विरहम्मि इति वचन निरर्थकं । यद्यन्येऽपि तत्र स्युर्न एकेनैव श्रुतं स्यात् । न लज्जत्ययमस्य अपराधश्चास्य अनेनावगत एवेति नान्यस्य सकाशे शृणुयात् इति एतत्सूच्यते । 'विरहम्मि' एकान्ते इति आचार्यशिक्षति ।।५६२।।

शिष्यस्य आलोचनाक्रममाचष्टे—

काऊण य किरियम्म पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो ।
आलोएदि सुविहिदो सव्वे दोसे पमोत्तूण ।।५६३।।

'काऊण य किदिकम्मं' कृतिकर्म वन्दना पूर्वं कृत्वा । **'पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो'** प्रतिलेखनामहितः

करता है । आचार्य किस अभिप्रायसे पूरबकी ओर मुख करके बैठते हैं ?

समाधान—शुभ तिथि वार आदिकी तरह पूरबकी ओर मुख करना, प्रारम्भ किए गये क्षपक पर अनुग्रह करनेके कार्यकी सिद्धिका अंग है इसलिए आचार्य पूर्वाभिमुख बैठते हैं । विदेह क्षेत्र उत्तर दिशामें है । अत. विदेह क्षेत्रमे स्थित स्वयप्रभ आदि तीर्थ करोको चित्तमे स्थापित करके उनके अभिमुख होनेसे कार्यकी सिद्धि होती है इस भावनासे उत्तर दिशाकी ओर मुख करते हैं । जिनालयके अभिमुख होना भी शुभ परिणामरूप होनेसे कार्यसिद्धिका अग है । व्याकुलता रहित हो बैठकर सुनना आलोचना करने वालेका सन्मान है । जिस किसी प्रकारसे सुननेपर क्षपक समझेगा कि गुरुका मेरे प्रति आदरभाव नही है, इससे उसे उत्साह नही होगा । आचार्यको अकेले ही सुनना चाहिए क्योकि लज्जालु क्षपक बहुत जनोके बीचमे अपना दोष प्रकट करना नही पसन्द करता । सबके सामने कहते हुए उसके चित्तको खेद भी होता है । आचार्यको एक समयमें एककी ही आलोचना सुनना चाहिए क्योकि एक साथ अनेक क्षपकोके वचनोको अवधारण करना कठिन होता है । लोग कहेगे कि गुरु इसके दोषोका निग्रह करना नही चाहता ।

शंका—उक्त कथनसे ही यह ज्ञात हो जाता है कि गुरु एकाकी आलोचना सुनते है । फिर गाथामे 'विरहम्मि' वचन निरर्थक है ?

समाधान—'विरहम्मि' या 'एकान्तमे' पदसे यह सूचित किया है यदि अन्य भी वहाँ हों तो वह एकके द्वारा ही सुना गया नही होगा । सुनने वाले कहेगे कि यह लज्जित नहीं होता । इसने इसका अपराध जान ही लिया । अत: अन्यके पास होते हुए आचार्यको आलोचना नही सुनना चाहिए ।।५६२।।

क्षपककी आलोचनाका क्रम कहते है—

---

१. व गत—आ० मु० ।

प्राञ्जलीकरणशुद्ध । 'आलोएदि' कथयति । 'सुविहिदो' सुचारित्र । 'सव्वे दोसे' पूर्वदोषान् । 'पमोत्तूण' त्यक्त्वा । आलोचना ।।५६३।।

आलोचनाक्रमं निरूप्य गुणदोसा इत्येतद्व्याख्यामायोत्तरप्रबन्ध.—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ।।५६४।।

'**आकंपिय**' अनुकम्पामात्मनि सम्पाद्य आलोचना । '**अणुमाणिय**' गुरोरभिप्रायमुपायेन ज्ञात्वालोचना । '**जं दिट्ठं**' यद् दृष्ट दोषजात परैस्तस्यालोचना । '**बादरं च**' यत्स्थूलमतिचारजात तस्यालोचना । '**सुहुमं च**' यत्सूक्ष्ममतिचारजात तस्यालोचना । '**छण्णं**' प्रच्छन्न अदृष्टलोचना । '**सद्दाउलयं**' शब्दा आकुला यस्यां आलोचनायां सा शब्दाकुला । बहुजनशब्द सामान्यविषयोऽपीह गुरुजनबाहुल्ये वर्तते । गुरोरालोचनायाः प्रस्तुतत्वाद्बहूना गुरूणा आलोचना क्रियते सा बहुजनशब्देनोच्यते । '**अव्वत्त**' अव्यक्तस्य क्रियमाणा आलोचना । '**तस्सेवी**' तानात्मचरितान्दोषान्य सेवते स तत्सेवी तस्य आलोचना । इद सूत्र । अस्य व्याख्यानायोत्तरप्रबन्धः ।।५६४।।

आकम्पिय इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—

भत्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण ।
अणुकंपेऊण गणिं करेइ आलोयणं कोइ ।।५६५।।

'**भत्तेण व पाणेण व**' स्वय भिक्षालब्धिसमन्वितत्वात्प्रवर्तको भूत्वा आचार्यस्य प्रासुकेन उद्गमादिदोष-

---

गा०—सुविहित अर्थात् सुचारित्र सम्पन्न क्षपक दक्षिण पार्श्वमे पीछीके साथ हाथोकी अजलिको मस्तकसे लगाकर मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक प्रथम गुरुकी वन्दना करके सब दोषोको त्याग आलोचना करता है ।।५६३।।

विशेषार्थ—प० आशाधरजीने अपनी टीकामे लिखा है कि गुरुकी वन्दना सिद्धभक्ति और योगभक्तिपूर्वक की जाती है ऐसा वृद्धोका मत है । किन्तु श्रीचन्द्राचार्य सिद्ध भक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक कहते हैं ।।५६३।।

आलोचनाका क्रम कहकर उसके गुण-दोष कहते है—

गा०-टी०-१ आकम्पित-अपने पर गुरुकी कृपा प्राप्त करके आलोचना करना । २ अनुमानित-उपायसे गुरुका अभिप्राय जानकर आलोचना करना । ३ दूसरोने जो दोष देखा उसकी आलोचना करना । ४ बादर-स्थूल अतिचारकी आलोचना करना । ५ सूक्ष्म अतिचारकी आलोचना करना । ६ छन्न-कोई न देखे इस प्रकार आलोचना करना । ७ शब्दाकुलित-शब्दोकी भरमार होते समय आलोचना करना । ८ बहुजन शब्द सामान्य वाची होते हुए भी यहाँ गुरुजनोंकी बहुलतामें लिया गया है । गुरुसे आलोचना करनेका प्रकरण होनेसे बहुतसे गुरुओसे आलोचना करना बहुजन है । ९ अव्यक्तसे आलोचना करना । १० तत्सेवी-जो अपने समान दोषोंका भागी है उससे आलोचना करना । इसका व्याख्यान आगे करेंगे ।।५६४।।

आकम्पित दोषको कहते हैं—

गा०—स्वयं भिक्षालब्धिसे युक्त होनेके कारण प्रवर्तक होकर आचार्यकी उद्गम आदि

रहितेन भक्तेन वा पानेन **वा वैयावृत्यं** कृत्वा, उपकरणेण कमण्डलुपिच्छादिना । **'किदिकम्मकरणेन'** कृतिकर्म-वन्दनया वा । **'आकंपेदूण'** अनुकम्पामुत्पाद्य । **'गणिं'** आचार्यं । **'कोइ आलोयणं करेइ'** कश्चित्स्वापराधं कथयति ।।५६५।।

तस्यालोचयतो मनोव्यापारं दर्शयति—

आलोइदं असेसं होहिदि काहिदि अणुग्गहंमेत्ति ।
इय आलोचंतस्स हु पढमो आलोयणादोसो ।।५६६।।

'आलोइद असेसं होहिदि' निरवशेषं आलोचितं भविष्यति । **'काहिदि'** करिष्यति । **'अणुग्गहं इमोत्ति'** अनुग्रहं ममेति । भक्तादिदानेन कृतोपकारस्य मम तुष्टो गुरुर्न महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छति । अपि तु स्वल्पमेव । महत्प्रायश्चित्तदानभयाभावात्स्थूलं सूक्ष्मं वातिचारं सर्वं कथयामीति । **'इय'** एवं । **'आलोचेंतस्स खु'** एवं मनसि कृत्वा आलोचयतः । **'पढमो'** प्रथमः । **'आलोयणा दोसो'** आलोचनादोषः । कोऽसौ ? अविनयो नाम । यत्किंचिल्लब्ध्वा गुरवस्तुष्यन्ति लघुप्रायश्चित्तदायिनो भविष्यन्तीति स्वबुद्धया असद्दोषाध्यारोपणान्मानसोऽविनयः । अन्ये तु वर्णयन्ति आलोचना च दोषश्च आलोचनादोषः । अशुभाभिसन्धिपुरःसरा आलोचना[2] इति यावत् ।।५६६।।

दृष्टान्तमुखेन दुष्टतामालोचनाया दर्शयति—

केदूण विसं पुरिसो पिएज्ज जह कोइ जीविदत्थीओ ।
मण्णंतो हिदमहिदं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ।।५६७।।

'केदूण विस पुरिसो' इत्यादिना । **'जह कोइ पुरिसो जीविदत्थी विसं केदूण पिबेज्ज'** इति सम्बन्धः । यथा कश्चित्पुरुषो जीवितार्थी विषं क्रीत्वा पिबति । **'अहिदं'** अहितं कृत्वा । विषपानं **'हिदं मण्णतो'** हितमिति

दोषोंसे रहित प्रासुक भक्तसे अथवा पानसे अथवा कमडलु पीछी आदि उपकरणसे अथवा कृतिकर्म वन्दनासे वैयावृत्य करके अपने पर आचार्यकी कृपा उत्पन्न करके कोई साधु अपना अपराध कहता है ।।५६५।।

उसके आलोचना करते समय मनकी प्रवृत्ति दिखलाते है—

गा०-टी०—भोजन आदिके दानके द्वारा उपकार करनेसे मुझपर प्रसन्न होकर गुरु महान् प्रायश्चित्त नही देंगे, बल्कि थोड़ा ही देंगे । अतः महान् प्रायश्चित्तका भय न होनेसे मैं स्थूल और सूक्ष्म सब अतिचार कहूंगा । इस प्रकार मनमें विचार कर आलोचना करने वालेके अविनय नामक प्रथम आलोचना दोष होता है । जो कुछ प्राप्त करके गुरु प्रसन्न होंगे और वे लघु प्रायश्चित्त देंगे ऐसा अपनी बुद्धिसे असत् दोषका अध्यारोपण करना मानसिक अविनय है । अन्य टीकाकार कहते हैं—आलोचना और दोष आलोचना दोष है । अशुभ अभिप्रायपूर्वक आलोचना दोष है ।।५६६।।

दृष्टान्त द्वारा आलोचनाकी दुष्टता दिखलाते है—

गा०-टी०—जैसे कोई जीनेका अभिलाषी पुरुष विष खरीद कर पीता है वह अहित करके

---

१. अणुग्गह ममेत्ति आ० । अणुग्गह मिमोत्ति–मु० मूलारा० ।   २. चना द्रष्टात्मालोचनादपि–आ० मु० ।

मन्यमान.। '**तधिमा**' तथा इय। '**सल्लुद्धरणसोधी**' मायाशल्योद्धरणशुद्धिः। सामान्यवचनोऽपि शल्यशब्दोऽत्र मायाशल्ये वृत्त। तस्य उद्धरण नाम स्वकृतापराधकथन। आलोचनाशल्योद्धरणमेव शुद्धिरुच्यते ज्ञानदर्शन-चारित्रतपसा नैर्मल्यहेतुत्वात्। जीवितार्थिन हितबुद्धया [1]गृहीताक्रीतविषपान उपमान तद्वतीयमालोचना। भक्तपानादिदानेन वन्दनया वा क्रीत्वा गुरु स्वबुद्धया क्रियमाणा न शुद्धि सम्पादयति विषपानमिव जीवितं[2] क्रयणलब्धा च दुष्टता उपमानोपमेययो. साधारणो धर्मस्तथाप्युपमानमुपमेय तयोश्च साधारण धर्ममाश्रित्य सर्वत्रोपमानोपमेयता। चन्द्रमुखी कन्या इत्यादौ चन्द्र उपमान, उपमेय मुखं, वृत्तता सर्वजनमनोवल्लभता च साधारणो धर्म ॥५६७॥

उपमानान्तरेणापि उपमेय आलोचना प्रथयति—

वण्णरसगंधजुत्तं किंपाकफलं जहा दुहविवागं।
पच्छा णिच्छयकडुयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६८॥

वण्णरस इत्यादि। '**किंपाकफलं वण्णरसगंधजुत्तमवि जहा दुहविवागं**'। किंपाकाख्यस्य तरो फल। वर्णादिशून्यस्य तरो फलस्या[3]भावादवचनसिद्धेर्वर्णादियुक्तवचनमतिशयितवर्णादिपरिग्रह सूचयति। तेनायमर्थ—नयनप्रियरूप, मधुरसयुक्त, घ्राणसुखद सेवितमिति वाक्यशेष। '**दुहविपाक**' दु खविपाक। '**पच्छा**' अनुभवोत्तरकाल। '**णिच्छयकडुग**' निश्चयेन कटुक। '**तधिमा**' त यथा। '**सल्लुद्धरणसोधी**' आलोचनाशुद्धि

विषपानको हित मानता है। वैसा ही यह माया शल्यको निकालकर शुद्धिका अभिलाषी साधु है। यद्यपि यहाँ शल्य शब्द सामान्य शल्यका वाची है फिर भी यहाँ मायाशल्यका वाचक लिया है। उसका उद्धरण अर्थात् अपने किये अपराधको कहना। शल्यका उद्धरण ही शुद्धि कहा जाता है क्योकि वह ज्ञान दर्शन और चारित्र तपकी निर्मलतामे कारण है। जीनेके अभिलाषीने हितबुद्धि-से ग्रहण किया खरीदे हुए विषका पान उपमान है। उसीके समान यह आलोचना है। भक्त पान आदि देकर या वन्दनाके द्वारा गुरुको खरीदकर अपनी बुद्धिसे की गई आलोचना शुद्धि नही करती जैसे विषपान जीवन नही देता। खरीदकर प्राप्त करना और दुष्टता उपमान और उपमेयका साधारण धर्म है। उपमान उपमेय और उन दोषोमे पाये जाने वाले साधारण धर्मको लेकर सर्वत्र उपमान उपमेय व्यवहार होता है। जैसे 'चन्द्रमुखी कन्या' आदिमे चन्द्र उपमान है मुख उपमेय है। और गोलपना तथा सब लोगोके मनको प्रिय होना दोनोका साधारण धर्म है ॥५६७॥

अन्य उपमानके द्वारा उपमेय आलोचनाको कहते है—

गा०-टी०—किंपाक नामक वृक्षका फल वर्णरसगन्धसे युक्त होनेपर भी जैसे परिणाममें दु:ख देता है। वृक्षका फल वर्ण आदिसे शून्य नही होता अत उसका रूपादिमान होना सिद्ध है। फिर भी जो उसे वर्णादियुक्त कहा है वह विशिष्टरूप रसगन्ध आदिका सूचक है। अत यह अर्थ होता है—किंपाक वृक्षका फल नेत्रोको अत्यन्त प्रियरूपवाला होता है। मधुररससे युक्त होता है और नाकको सुखदायक होता है। परन्तु सेवन करनेपर दु:खकारी होता है उसे खानेसे मृत्यु हो जाती है। अत: सेवन करनेके पश्चात् निश्चयसे कटुक होता है। यह आलोचना शुद्धि

---

१. गृहीता अहिता त्रीत–अ० मु०। २ जीवितविक्रयण लब्ध पान दु–आ० मु०। १. स्या-भावादवचन–आ०।

किंपाकफलोपसेवा उपमान, उपमेयं आलोचना, दुःखविपाकता साधारणो धर्मः ॥५६८॥

किमिरागकंबलस्स व सोधी जदुरागवत्थसोधीव ।
अवि सा हवेज्ज किहइ ण[1] इमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६९॥

'**किमिरागकंबलस्स व**' कृमिभुक्ताहारवर्णतन्तुभिरूतं कंबलं कृमिरागकबलं । '**तस्स सोधी**' विशुद्धिरिव पीतनीलरक्तादीना अन्यतमवर्णस्य शुक्लतेव । '**जदुरागवत्थसोधीव**' जतुवर्णवस्त्रशुद्धिरिव वा यथासौ क्लेशेन प्रवर्तमानापि न भवत्येवमियमपीति सधर्मता । '**अहवा**' अथ वा । '**अवि सा**' कृमिरागकम्बलशुद्धिर्जन्तुरागवस्त्रशुद्धिर्वा '**हवेज्ज**' भवेत् । [2]इमा इय सल्लुद्धरणसोधी मायाशल्योद्धरणशुद्धिर्न भवत्येव ॥५६९॥ इति अणुकपिय ।

द्वितीयमालोचनादोषमाचष्टे—

धीरपुरिसचिण्णाइं पवददि अदिधम्मिओ व सव्वाइं ।
धण्णा ते भगवंता कुव्वंति तवं विकट्ठं जे ॥५७०॥

,**धीरपुरिसचीण्णाइं**' धीरैः पुरुषैराचरितानि । '**पवदति**' प्रवदति । '**अदिधम्मिणो व**' अतीव धार्मिक इव । '**सव्वाइं**' सर्वाणि । '**धण्णा**' धन्याः पुण्यवन्त । '**ते भगवंता**' माहात्म्यवन्त । '**जे**' ये । '**कुव्वति**' कुर्वन्ति । '**तवं**' तप. । '**विकट्ठ**' उत्कृष्ट इति वदति ॥५७०॥

भी उसीके समान है। यहाँ किंपाकफलका सेवन उपमान है। आलोचना उपमेय है। परिणाममे दुःख होना दोनोंका साधारण धर्म है ॥५६८॥

गा०-टी०—कीडोंके द्वारा खाये गये आहारके रगमे रगे धागोंसे बने कम्बलको कृमिराग कम्बल कहते है। उसकी विशुद्धिकी तरह, जैसे पीला-नीला-लाल आदिमेसे कोई एकवर्ण सफेद नही होता उसकी तरह कृमिराग कम्बलकी विशुद्धि नही होती। अथवा लाखके रगमें रगे वस्त्रकी शुद्धि बहुत प्रयत्न करनेपर भी नहीं होती। उसी तरह मायाशल्ययुक्त आलोचनासे भी शुद्धि नही होती। अथवा कृमिराग कम्बलकी शुद्धि और लाखके रंगमें रंगे वस्त्रकी शुद्धि हो भी जावे किन्तु यह मायाशल्यके निकलनेरूप शुद्धि नही होती ॥५६९॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें कृमिराग कम्बलकी कई व्याख्या दी हैं एक तो उक्त संस्कृत टीका विजयोदया की है। दूसरी टिप्पन की है—कृमिके द्वारा त्यागे गये रक्त आहारसे रंजित तन्तुओसे बना कम्बल कृमिरागकम्बल है। तीसरी व्याख्या प्राकृतटीका की है। उसमे कहा है—उत्तरापथमें चर्मरंग (?) म्लेच्छ देशमें म्लेच्छ जोकोंके द्वारा मनुष्यका रक्त लेकर बरतनोंमें रखते हैं। उस रक्तमें कुछ दिनोंमे कृमि उत्पन्न हो जाते है तब उससे धागोंको रंगकर कम्बल बुनते है। उसे कृमिरागकम्बल कहते हैं। वह अत्यन्त लाल रंगका होता है। आगमे जलानेपर भी वह कृमिराग नही जाता।

दूसरे आलोचना दोषको कहते है—

गा०—आलोचना करनेवाला मुनि अत्यन्त धार्मिककी तरह कहता है—धीर पुरुषोंके द्वारा आचरित उत्कृष्ट तपको जो करते हैं वे धन्य हैं, माहात्म्यशाली हैं ॥५७०॥

---

१ ण माया स—आ० । २. इण इय ।

थामापहारपासत्थदाए सुहसीलदाए देहेसु ।
वददि णिहीणो हु अहं जं ण समत्थो अणसणस्स ॥५७१॥

'**थामापहारपासत्थदाए**' बलनिगूहनेन पार्श्वस्थतया च । '**सुहसीलदाए च**' सुखशीलतया च । '**तदो**' तत. । '**सो**' सः । '**वददि**' कथयति । '**णिहीणो**' जघन्य । '**अहं**' अहक । '**जं**' यस्मात् । '**ण समत्थो**' असमर्थोऽशक्त । '**अणसणस्स**' अनशनस्य ॥५७१॥

जाणह य मज्झ थामं अंगाणं दुब्बलदा अणारोगं ।
णेव समत्थोमि अहं तवं विकट्ठं पि कादुं जे ॥५७२॥

'**जाणह य**' अस्मद्बल युष्माभिरवसितमेव । '**अंगाणं दुब्बलदा**' उदराग्निदौर्बल्य । '**अणारोगं**' रोगवत्ता च । '**अहं तवं विकट्ठं कादुं णेव समत्थोमि**' अहं तप उत्कृष्ट कर्तुं नैव समर्थोऽस्मि ॥५७२॥

आलोचेमि य सव्वं जइ मे पच्छा अणुग्गहं कुणह ।
तुज्झ सिरीए इच्छं सोधी जह णिच्छरेज्जामि ॥५७३॥

'**आलोचेमि य सव्वं**' सर्वमतिचारजातं आलोचयामि । '**जदि पच्छा अणुग्गहं कुणह**' मम यदि पश्चादनुग्रह क्रियते भवद्भि । '**तुज्झ सिरिए**' भवता श्रिया । '**इच्छं**' इच्छामि । '**सोधी**' शुद्धि । '**णिच्छरेज्जामि**' निस्तारयिष्याम्यात्मानं ॥५७३॥

अणुमाणेदूण गुरुं एवं आलोचणं तदो पच्छा ।
कुणइ ससल्लं सो से विदिओ आलोयणा दोसो ॥५७४॥

'**एव अणुमाणेदूण**' एव अनुमानेन ज्ञात्वा । गुरु प्रार्थित. करिष्यति स्वल्पप्रायश्चित्तदानेन ममानुग्रहं इति । '**पच्छा आलोयणं कुणइ**' पश्चादालोचना करोति । '**ससल्लं**' [१]शल्यसहित. । '**सो**' स । '**से**' तस्य । '**विदिओ**' द्वितीय '**आलोयणादोसो**' आलोचनादोष ॥५७४॥

गुणकारि ओत्ति भुंजइ जहा सुहत्थी अपच्छमाहारं ।
पच्छा विवायकडुगं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५७५॥

गा०—अपनी शक्तिको छिपाने, पार्श्वस्थ मुनि होने तथा शरीरमें सुखशील होनेसे वह कहता है—मैं तो एक जघन्य प्राणी हूँ, उपवास करनेमें असमर्थ हूँ ॥५७१॥

गा०—आप मेरे बलको जानते ही हैं। यह भी जानते हैं कि मेरी उदराग्नि दुर्बल है, मै रोगी हूँ। अतः मैं उत्कृष्ट तप करनेमे असमर्थ हूँ ॥५७२॥

गा०—मै समस्त अतिचारोकी आलोचना करूँ यदि आप उन्हे सुनकर मुझपर कृपा करें अर्थात् लघु प्रायश्चित्त दें। मै आपकी कृपासे शुद्ध होना चाहता हूँ और शुद्ध होकर अपना निस्तार करूँगा ॥५७३॥

गा०—प्रार्थना करनेपर लघु प्रायश्चित्त देकर गुरु मेरेपर अनुग्रह करेंगे, ऐसा अनुमानसे जानकर पीछे वह शल्यसहित आलोचना करता है। यह दूसरा आलोचना दोष है ॥५७४॥

---

१. गहणिदोब्बलदंव–अ० । मूलाराध० । २. शल्य सहित–आ० मु०

'गुणकारिओत्ति भुंजइ' गुणमुपकारं करोति इति भुङ्क्ते। **'जहा सुहत्थी'** यथा सुखार्थी। **'अपच्छमाहारं'** अपथ्यमाहार। कीदृग्भूत **'पच्छाविवागकडुगं'** भोजनोत्तरकाल विपाककटुक। **'तधिमा'** तथा इमा। **'सल्लुद्धरणसोधी'** शल्योद्धरणशुद्धि अपथ्यमाहार स्वबुद्धया गुणकारीति संकल्प्य यदि नाम भुङ्क्ते तथापि विपाककटुक एवासौ। एव गुर्वभिप्रायानुमानेन [1]प्रवृत्ता हितबुद्धया गृहीताप्यालोचना अनर्थावहेति। न हि सकल्पवशाद्वस्तुनोऽन्यथाभाव। नापथ्यस्याहारस्य पथ्यतास्ति सकल्पमात्रेण। अणुमाणिय ॥५७५॥

जं होदि अण्णदिट्ठ तं आलोचेदि गुरुसयासम्मि।
अदिट्ठं गूहंतो माइल्लो होदि णायव्वो ॥५७६॥

'जं अण्णदिट्ठं होदि' यदन्यदृष्ट भवति अपराधजात। **'तं आलोचेदि'** कथयति। **'गुरुसयासंमि'** गुरुसमीपे। **'अदिट्ठं'** परैरदृष्ट। **'गूहंतो'** प्रच्छादयन्। **'माइल्लो इति णादव्वो होदि'** मायावानिति ज्ञातव्यो भवति ॥५७६॥

दिट्ठं व अदिट्ठं वा जदि ण कहेइ परमेण विणएण।
आयरियपायमूले तदिओ आलोयणादोसो ॥५७७॥

'दिट्ठं व अदिट्ठं वा' परैर्दृष्टमदृष्ट वापराध। **'परमेण विणएण जदि ण कहेइ'** प्रकृष्टेन विनयेन यदि न कथयेत्। क्व **'आयरियपादमूले'** आचार्यपादमूले। **'तदिओ आलोयणादोसो'** तृतीय आलोचनादोष ॥५७७॥

जह वालुयाए अवडो पूरदि उक्कीरमाणओ चेव।
तह कम्मादाणकरी इमा हु सल्लुद्धरणसुद्धी ॥५७८॥

'जह वालुयाए' यथा वालुकाभि। **'पूरदि'** पूर्यते। **'अवडो'** वालुकामध्यकृतो गर्त। **'उक्कीरमाणगो चेव'** उत्कीर्यमाणोऽपि सन्। **'तह कम्मादाणकरी'** तथा कर्मग्रहणकारिणी। **'इमा सल्लुद्धरणसोधी'** इयमालो-

---

गा०—जैसे सुखका इच्छुक पुरुष अपथ्य भोजनको अपनी बुद्धिसे गुणकारी मानकर खाता है तथापि भोजन करनेके पश्चात् उसका परिपाक दुःखदायी होता है। उसीके समान यह अनुमानित दोषसहित शल्यको दूर करके शुद्धि करनेवाला है। अर्थात् अनुमानसे गुरुके अभिप्रायको जानकर हितबुद्धिसे की गई भी आलोचना अनर्थकारी होती है। संकल्पसे वस्तुका अन्यथाभाव नही होता। सकल्पमात्रसे अपथ्य आहार पथ्य नही हो सकता ॥५७५॥

अनुमानित दोषका कथन हुआ।

गा०—जो अपराध दूसरे ने देख लिया है, गुरुके पासमे उसकी आलोचना करता है। और जो अपराध दूसरोने नही देखा है उसे छिपाता है। वह मायावी है ऐसा जानना ॥५७६॥

गा०—दूसरेके द्वारा देखे गये अथवा न देखे गये, अपराधको यदि आचार्यके पादमूलमे अत्यन्त विनयपूर्वक नही कहता तो यह तीसरा आलोचना दोष है ॥५७७॥

गा०—जैसे रेतके मध्यमे गढा खोदने पर वह गढ़ा खोदते खोदते ही रेतसे भर जाता है,

---

१ प्रवृत आ०, प्रवृत्तो मु०। प्रवृत्तहित–मूला०।

चनाख्या शुद्धिः। मायाशल्यनिराकरणार्थमालोचनाया प्रवृत्तोऽन्यया माययात्मानं प्रच्छादयति। यथा वालुकाविक्षेपो गर्तसंस्कारार्थो वालुकाभिरापूरयति गर्तमिति ॥५७८॥

बादरमालोचेंतो जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो।
सुहुमं पच्छादेंतो जिणवयणपरंमुहो होइ ॥५७९॥

'**बादरमालोचेंतो**'। अत्रैवं पदसम्बन्धः, '**जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो**' यस्माद्यस्माद्व्रतात्प्रतिभग्नः। तत्र '**बादरं आलोचेंतो**' स्थूलं कथयन्। '**सुहुमं पच्छादेंतो**' सूक्ष्मदोषं प्रच्छादयन्। '**जिणवयणपरंमुहो होइ**' जिनवचनपराङ्मुखो भवति ॥५७९॥

सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण सुगुरूणं।
आलोचणाए दोसो एसो हु चउत्थओ होदि ॥५८०॥

स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वातिचारजातस्यानालोचना चतुर्थो दोषः इति '**सुहुमं व**' इत्यस्यार्थः ॥५८०॥

जह कंसियभिंगारो अंतो णीलमइलो बहिं चोक्खो।
अंतो ससल्लदोसा तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५८१॥

बादर ॥४॥ '**जह कंसियभिंगारो**' यथा कांस्यरचितो भृङ्गारः। '**अंतो**' अभ्यन्तरे। '**णीलमइलो**' नील: सन्मलिनः। '**बहिं चोक्खो**' बहिः शुद्धः। '**अंतो ससल्लदोसा**' अन्तः सशल्यदोषा इमालोचना शुद्धिः ॥५८१॥

चंकमणे य ट्ठाणे णिसेज्जउवट्टणे य सयणे य।
उल्लामाससरक्खे य गब्भिणी बालवत्थाए ॥५८२॥

'**चंकमणे**' अवश्यायबहुलेन पथा व्याकुलितचित्तो मनागीर्यायामनुपयुक्तो गतवान्। '**ठाणे णिसेज्ज उवट्टणे य सयणे य**' प्रमार्जनमकृत्वा स्थानं, निषद्या, शय्या च कृता। '**उल्लामाससरक्खे य**' [1]आर्द्रगात्राधिक

उसी प्रकार यह आलोचना शुद्धि कर्मोको लाने वाली है इससे नवीन कर्मोका बन्ध होता है। आशय यह है कि मायाशल्यके दूर करनेके लिए साधु आलोचना करता हुआ भी अन्य मायासे अपनेको आच्छादित करता है। जैसे गढ़ा बनानेके लिए उसमेसे रेत निकाली जाती है किन्तु उसमें और रेत भर जाती है ॥५७८॥

गा०—जिन-जिन व्रतोमे जो दोष लगे हो उनमेंसे जो साधु स्थूल दोषोकी तो आलोचना करता है और सूक्ष्म दोषोंको छिपाता है वह साधु जिनागमसे विमुख होता है ॥५७९॥

गा०—यदि साधु विनयपूर्वक सुगुरुसे सूक्ष्म अथवा बादर दोषको नही कहता तो यह आलोचनाका चतुर्थ दोष है ॥५८०॥

गा०—जैसे काँसेका बना भृगार अन्दरसे नीला और मलिन होता है तथा बाहरसे स्वच्छ होता है वैसे ही यह आलोचना शुद्धि मायाशल्य दोषसे युक्त होती है ॥५८१॥

गा०-टी०—साधु गुरुसे निवेदन करता है—ओससे भीगे हुए मार्गसे ईर्यासमितिकी ओर ध्यान न रखते हुए मै चला था। उस समय मेरा चित्त व्याकुल था। या प्रतिलेखना किए बिना

---

१. आर्द्रया गा०-आ० मु०।

स्पृष्टं । **'सरक्खे य'** सचित्तधूलिसहिते स्थाने स्थित सुप्तमासित वा । **'गब्भिणी'** गर्भिण्या । **'बालवच्छाए'** बालवत्सया वा । दीयमानं गृहीतं इति ॥५८२॥

इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गूहदे थूलं ।
भयमयमायाहिदओ जिणवयणपरंमुहो होदि ॥५८३॥

'इय' एवं । **'जो'** य । **'दोस'** अतिचार । कीदृग्भूत ? **'लहुग'** स्वल्प । **'आलोचेदि'** कथयति । **'विणिगूहदि'** विनिगूहयति । किं ? **'थूलं'** स्थूल । **'भयमयमायाहिदओ'** भयमयमायामहितचित्त । महतो दोषान्यदि ब्रवीमि महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति भय, त्यजन्ति मामिति वा । वृथा निरतिचारचरित्रसर्वसमानभङ्गासह स्थूलान्न शक्नोति **वक्तुं** । कश्चित्प्रकृत्यैव मायावी सोऽपि न निगदति । **'जिणवयणपरंमुहो होदि'** जिनवचनपराङ्मुखो भवति ॥५८३॥

सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण स गुरूणं ।
आलायणाए दोसो पंचमओ गुरुसयासे से ॥५८४॥

मायाशल्यत्यागस्य जिनवचनोपदर्शितस्य अकरणात् प्रसिद्धार्था ॥५८४॥

उत्तर गाथा—

रसपीदयं व कडयं अहवा कवडुक्कडं जहा कडयं ।
अहवा जदुपूरिदयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५८५॥

'रसपीवगं व कडयं' रसोपलेमान्मनाग्बहि पीतवर्णकटकमिव । **'अथवा कवडुत्तरं'** तनुसुवर्णपत्राच्छादितमिव वा अन्तर्निस्सार । **'अथवा जदुपूरिदगं'** अन्तश्छिद्रं जतुपूर्णकटकमिव । पीतता रसोपलिप्तस्य यथा तथाल्पा शुद्धिरिति प्रथमो दृष्टान्त । गुरुतरपापप्रच्छादनमात्रताप्रकाशनाय द्वितीयो दृष्टान्त । गुरुतर-

---

मे बैठा, या सोया या खड़ा हुआ । या जलादिसे मैने शरीरको छुआ । या सचित्त धूलिसे सहित स्थानमे मैं खडा हुआ या बैठा या सोया । अथवा आठ आदि मासका गर्भ धारण करने वाली या जिसे प्रसव किए एक माह भी नही बीता था ऐसी स्त्रीसे मैने आहार ग्रहण किया ॥५८२॥

गा०—इस प्रकार जो अपने सूक्ष्म दोषको कहता है और भय, मद, माया सहित चित्त होनेसे स्थूल दोषको छिपाता है। यदि मै महान् दोष कहता हूँ तो गुरु मुझे महान् प्रायश्चित्त देंगे या मुझे त्याग देंगे यह भय है। मेरा चारित्र निरतिचार है ऐसा गर्व करके स्थूल दोषोंको नही कहता ।

कोई स्वभावसे ही मायावी होनेसे अपने दोषोको नही कहता । ऐसा करने वाला साधु जिनागमसे विमुख होता है ॥५८३॥

गा०—यदि साधु विनयपूर्वक गुरुके सामने सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषको नही कहता तो यह आलोचनाका पाँचवाँ दोष है क्योकि उसने जिनागममें कहा मायाशल्यका त्याग नही किया ॥५८४॥

गा०-टी०—जैसे सोनेके रसके लेपसे लोहेका कडा बाहरसे पीला दिखाई देता है। अथवा जैसे सोनेके पतले पत्रसे ढका लोहेका कडा अन्दरसे निःसार होता है। अथवा लाखसे भरा कड़ा जैसा होता है उन्हींके समान यह आलोचना शुद्धि है। यहाँ तीन दृष्टान्तोंके द्वारा सूक्ष्म दोषकी आलोचनाकी निन्दा की गई है। जैसे सोनेके रससे लिप्त कड़ा ऊपरसे पीला होता है उसी प्रकार

मय प्रभृति निस्सार वस्तु बाह्ये तु सुवर्णशकलेन प्रच्छादितं यथा तथा स्वल्पानपराधान्कथयति । पापभीरुता-प्रकर्षादियं मुनिरित्थं सयतः कथं महत्यतिचारे प्रवर्तेत इति प्रत्ययजननाय अतः[1]साररहितता तृतीयेनोच्यते । सुहुमं ॥५८५॥

जदि मूलगुणे उत्तरगुणे य कस्सइ विराहणा होज्ज ।
पढमे विदिए तदिए चउत्थए पंचमे च वदे ॥५८६॥

यदि मूलगुणे उत्तरगुणे च कस्यचिद्विद्यते मूलगुणे, चारित्रे, तपसि वा अनशनादावुत्तरगुणे अतिचारो भवेत् । अहिंसादिके व्रते ॥५८६॥

को तस्स दिज्जइ तवो केण उवाएण वा हवदि सुद्धो ।
इय पच्छण्णं पुच्छदि पायच्छित्तं करिस्सत्ति ॥५८७॥

'को तस्स दिज्जइ तवो' किं तस्मै दीयते तपः ? **'केण उवाएण होदि वा सुद्धो'** केनोपायेन वा शुद्धो भवतीति । **'पच्छण्णं'** प्रच्छन्नं । **'पुच्छदि'** पृच्छति । आत्मानमुद्दिश्य मयायमपराधः कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्त इति न पृच्छति । किमर्थमेवं प्रच्छन्नं पृच्छति । ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं करिस्सति करिष्यामि ॥५८७॥

इय पच्छण्णं पुच्छिय साधू जो कुणइ अप्पणो सुद्धिं ।
तो सो जिणेहिं वुत्तो छट्ठो आलोयणा दोसो ॥५८८॥

'इय' एवं । **'पच्छण्णं'** प्रच्छन्नं । **'पुच्छिय'** पृष्ट्वा । **'जो साहू'** यः साधुः । **'अप्पणो सोधिं कुणदि'** आत्मनः शुद्धिं करोति । **'सो छट्ठो आलोयणा दोसो वुत्तो जिणेहिं'** । षष्ठोऽसावालोचनादोषस्तस्य भवतीति जिनैरुक्तः ॥५८८॥

अल्प शुद्धि होती है यह प्रथम दृष्टान्तका भाव है । गुरुतर पापको ढाँकने मात्रको प्रकट करनेके लिए दूसरा दृष्टान्त है । भारी लोहा वगैरह वस्तु निस्सार होती है, बाहरसे उसे सोनेके पत्रसे जैसे ढाक देते हैं उसी प्रकार वह सूक्ष्म अपराधोको कहता है । ऐसा वह यह विश्वास उत्पन्न करनेके लिए करता है कि गुरु समझे कि यह मुनि पापसे इतना भयभीत है कि सूक्ष्म पापको भी नही छिपाता तब बडा पाप कैसे कर सकता है ? तीसरे दृष्टान्तके द्वारा इसे अन्तःसार रहित कहा है ॥५८५॥

गा०—यदि किसीके मूलगुण चारित्र अथवा उत्तर गुण अनशन आदि तपमे या अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग व्रतमे अतिचार लग जाये ॥५८६॥

गा०—तो उसे कौन सा तप दिया जाता है ? वह किस उपायसे शुद्ध होता है ? ऐसा प्रच्छन्न रूपसे पूछता है । अर्थात् अपनेको लक्ष करके कि मुझसे यह अपराध हुआ है उसका क्या प्रायश्चित्त है ऐसा नही पूछता । किन्तु यह जानकर प्रायश्चित्त करूँगा इस भावसे पूछता है ॥५८७॥

गा०—इस प्रकार प्रच्छन्नरूपसे पूछकर जो साधु अपनी शुद्धि करता है उसको छठा आलोचना दोष होता है ऐसा जिनदेवने कहा है ॥५८८॥

---

1. अंतस्सार-अ० ।

धादो हवेज्ज अण्णो जदि अण्णम्मि जिमिदम्मि संतम्मि ।
तो परववदेसकदा सोधी अण्णं विसोधेज्ज ॥५८९॥

'**धादो हवेज्ज अण्णो**' तृप्तो भवेदन्य । '**जदि अण्णम्मि जिमिदम्मि सतम्मि**' यद्यन्यस्मिन्भुक्तवति सति । '**तो**' तत । '**परववदेसकदा सोधी**' परव्यपदेशकृता शुद्धि । '**अण्णं विसोधेज्ज**' अन्य विशोधयेत् ॥५८९॥

तवसंजमम्मि अण्णेण कदे जदि सुग्गदिं लहदि अण्णो ।
तो परववदेसकदा सोधी सोधिज्ज अण्णंपि ॥५९०॥

स्पष्टोत्तरा गाथा ।

मयतण्हादो उदयं इच्छइ चंदपरिवेसणा कूरं ।
जो सो इच्छइ सोधी अकहंतो अप्पणो दोसे ॥५९१॥

'**मयतण्हादो**' इत्यत्र पदघटनेत्थ । '**जो अप्पणो दोसे अकथेंतो सोधी इच्छइ सो मयतण्हादो उदग इच्छइ, चंदपरिवेसणे कूरं इच्छइ य**' । य आत्मनो दोषाननभिधाय गुरुणा शुद्धिमिच्छति स मृगतृष्णिकात उदक वाछति, चन्द्रपरिवेशादशनमिच्छति । निष्फलतासाधर्म्यादय दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव । छन्नं ॥५९१॥

पक्खियचाउम्मासियसंवच्छरिएसु सोधिकालेसु ।
बहुजणसद्दाउलए कहेदि दोसे जहिच्छाए ॥५९२॥

'**पक्खियचाउम्मासिय**' पक्षाद्यतिचारशुद्धिकालेषु । '**बहुजणसद्दाउलए**' बहुजनशब्दसकटे । '**जधिच्छाए दोसे कथेदि**' यथेच्छया दोषानात्मीयान्कथयति ॥५९२॥

गा०—यदि अन्यके भोजन करनेपर अन्यको तृप्ति हो तो दूसरेके नामसे की गई विशुद्धि उससे अन्यकी शुद्धि कर सकती है ॥५८९॥

गा०—अन्यके द्वारा तपसयम करनेपर यदि अन्य व्यक्ति सुगतिको प्राप्त हो सकता हो तो दूसरेके नामसे किया गया प्रायश्चित्त भी दूसरेको शुद्ध कर सकता है ॥५९०॥

गा०—जो अपने दोषोको न कहकर गुरुसे शुद्धि चाहता है वह मरीचिकासे जल और चन्द्रके परिवेशसे भोजन प्राप्त करना चाहता है। अर्थात् जैसे मरीचिकासे जल और चन्द्रके परिवेशसे भोजन नही प्राप्त होता उसी तरह अपने दोषोको कहे विना शुद्धि नही होती। इस तरह निष्फलताकी समानता होनेसे दोनोमे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकभाव है ॥५९१॥

विशेषार्थ—चन्द्रपरिवेशसे भोजन न मिलनेका अर्थ श्रीचन्द्रके टिप्पणमे इस प्रकार किया है—राजाने चन्द्रनामक रसोइयेको निकाल दिया। यह जानकर उसके परिवारने भोजन करना छोड दिया। एक दिन जब राजा भोजनके लिए बैठा तो आकाशमें चन्द्रका परिवेश देखकर लोगोने कहा चन्द्रका परिवेष (प्रवेश) हो गया। यह सुनकर परिवारने समझा कि राजकुलमे चन्द्रनामक रसोइयेका प्रवेश हो गया। वह भोजनके लिए गया किन्तु भोजन नही मिला ॥५९१॥

गा०—पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रायश्चित्तके समय जब सब मुनिगण अपने-अपने दोष निवेदन करते है और इस तरह बहुतसे मनुष्योंके शब्दोंका कोलाहल होता है उस समय जा मुनि अपनी इच्छानुसार दोषको कहता है ॥५९२॥

इय अव्वत्तं जइ सावेंतो दोसे कहेइ सगुरूणं ।
आलोचणाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ।।५९३।।

'**जदि इय अव्वत्तं सावेंतो दोसे कहेइ सगुरूणं**' यद्येवमव्यक्तं श्रावयन्दोषान्कथयति स्वगुरुभ्यः । '**सत्तमगो आलोयणादोसो**' सप्तम आलोचनादोषः । '**गुरुसयासे**' गुरुसमीपे प्रवृत्तो भवति ।।५९३।।

अरहट्टघडीसरिसी अहवा चुंदछुदोवमा होइ ।
भिण्णघडसरिच्छा वा इमा हु सल्लुद्धरणसोधी ।।५९४।।

'**अरहट्टघडीसरिसी**' अरगर्तघटीसदृशी यथा घटी पूर्णाप्यपूर्णा । एवमपराधकथनं स्वमुखेन प्रवृत्तमपि अप्रवृत्तमेव गुरुणा अश्रुतत्वात् । '**अहवा चुंदछुदोवमा होइ**' अथवा मथनचर्मपालिका इव, सा यथा मुक्तापि बध्नाति एवमिय वाङ् मुखकुहरमुक्तापि मायाशल्यसहितेति बध्नाति । '**भिण्णघडसरिच्छा वा**' भिन्नघटसदृशी वा । यथा भिन्नो घटो घटकार्यं जलधारण जलाद्यानयन वा कर्तुमसमर्थ एवमियमालोचना न निर्जरा संपादयतीति साधर्म्य । सद्दाउलय ।।५९४।।

आयरियपादमूले हु उवगदो वदिऊण तिविहेण ।
कोई आलोचेज्ज हु सव्वे दोसे जहावत्ते ।।५९५।।

'**आयरियपादमूले उवगदो**' आचार्यपादमूलमुपगतः । '**तिविधेण वंदिदूण**' मनोवाक्कायशुद्धधा वन्दना कृत्वा । '**कोई**' कश्चित् । '**आलोएज्ज हु**' कथयेत् । '**सव्वे दोसे जहावत्ते**' सर्वान्दोषान्स्थूलान्सूक्ष्माश्च [1]यथावृत्तान्मनोवाक्कायक्रियारूपान् कृतकारितानुमतभेदान् ।।५९५।।

तो दंसणचरणाधारएहिं सुत्तत्थमुव्वहंतेहिं ।
पवयणकुसलेहिं जहारिहं तवो तेहिं से दिण्णो ।।५९६।।

गा०—यदि अपने गुरुओंको स्पष्टरूपसे सुनाई न दे इस प्रकार दोषोको कहता है तो गुरुके निकट शब्दाकुल नामक सातवें आलोचना दोषका भागी होता है ।।५९३।।

गा०-टी०—जैसे रहटमे लगी हुई पानी भरनेकी घटिकाएँ भरकर भी रीति होती जाती है उसी प्रकार वह आलोचना करनेवाला मुनि है। वह अपने मुखसे अपराध प्रकट करनेके लिए प्रवृत्त हुआ भी अप्रवृत्त ही है क्योकि गुरुने उसे नही सुना। अथवा वह मन्थन चर्मपालिकाके समान है। जैसे मथानी डोरीसे छूटते हुए भी डोरीसे बँधती जाती है उसी प्रकार उसकी आलोचनावाणी मुखरूपी गर्तसे छूटकर भी मायाशल्यसे सहित होनेसे कर्मसे बद्ध करती है। अथवा फूटे घटके समान है। जैसे फूटा घड़ा घटका कार्य जलधारण अथवा जल आदिका लाना करनेमें असमर्थ होता है। उसी प्रकार यह आलोचना निर्जरारूप कार्यको नही करती। यह इन दृष्टान्तोमे और दार्ष्टान्तिमें समानता है। यह शब्दाकुलित नामक सातवाँ आलोचना दोष है ।।५९४।।

गा०—कोई साधु आचार्यके पादमूलमे जाकर, मनवचनकायकी शुद्धिपूर्वक वन्दना करके मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदनाके भेदरूप सब स्थूल और सूक्ष्म दोषोंको कहता है ।।५९५।।

---

१ यथावृत्त अ० ।

'तो' पश्चात् आलोचनोत्तरकालं । **'दंसणचरणाधारएहिं'** समीचीनदर्शनचारित्रधारणोद्यतै । **'सुत्तत्थमुव्वंहतेहिं'** सूत्रार्थमुद्वहद्भि । **'पवयणकुसलेहिं'** सूत्रार्थमुद्वहद्भिरित्यनेनैव गतत्वात्किमनेन 'प्रवचनकुशलै' इति । अयमभिप्राय'—प्रायश्चित्तग्रन्थवृत्ति प्रवचनशब्द तेन प्रायश्चित्तकुशलैरित्यर्थ । अन्यशास्त्रज्ञोऽपि न शोधयति न चेत्प्रायश्चित्तज्ञ इति प्राधान्यकथनार्थं पृथगुपादान । **'तेहिं'** तैः । **'से'** तस्मै । **'जधारिहं तवो दिण्णो'** अपराधानुरूपं तपो दत्त । तपोग्रहण प्रायश्चित्तोपलक्षणार्थं तेन प्रायश्चित्त दत्त इत्यर्थ ॥५९६॥

[2]णवमम्मि य जं पुव्वे भणिदं कप्पे तहेव ववहारो ।
अंगेसु सेसएसु य पइण्णए चावि तं दिण्णं ॥५९७॥

तेसिं असद्दहंतो आइरियाणं पुणो वि अण्णाणं ।
जइ पुच्छइ सो आलोयणाए दोसो हु अट्ठमओ ॥५९८॥

'तेसिं' तेषा । **'आयरियाणं'** आचार्यणा वचन । **'असद्दहंतो'** अश्रद्दधान । **'पुणो वि जदि'** पुनरपि यदि पृच्छत्यन्यानसौ । **'अट्ठमगो आलोयणादोसो'** सोऽष्टम आलोचनादोष ॥५९७-९८॥

पगुणो वणो ससल्लं जध पच्छा आदुरं ण तावेदि ।
बहुवेदणाहिं बहुसो तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५९९॥

'पगुणो वणो' प्रगुण वा व्रणं उपचितं । **'ससल्लं'** शल्यसहित । **'पच्छा'** पश्चात् । **'आदुरं'** व्याधित । **'किमु न तावेदि'** किमु न तापयति तापयत्येव । **'बहुवेदणाहिं'** बह्वीभिर्वेदनाभि । **'बहुसो'** बहुशः[3] । **'तधिमा'**

गा०-टी०—आलोचनाके पश्चात् सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके धारण करनेमे तत्पर, सूत्रोके अर्थको वहन करनेवाले और प्रवचन कुशल आचार्योंने उसे अपराधके अनुरूप तप दिया । यहाँ तपका ग्रहण प्रायश्चित्तके उपलक्षणके लिए है अत आचार्योंने उसे प्रायश्चित्त दिया ।

शङ्का—सूत्रके अर्थको वहन करनेसे प्रवचनकुशलका भाव आ जाता है फिर उसे अलग ग्रहण क्यो किया ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ प्रवचन शब्दका अर्थ प्रायश्चित्तग्रन्थ है । अत उसका अर्थ होता है प्रायश्चित्तशास्त्रमे कुशल । अन्य शास्त्रोका ज्ञाता होते हुए भी यदि प्रायश्चित्तका ज्ञाता नही है तो दोषका शोधन नही कर सकता । इसलिए प्रायश्चित्तकी प्रधानता कहनेके लिए 'वचनकुशल' पदका अलगसे ग्रहण किया है ॥५९६॥

गा०—प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्वमें तथा कल्प और व्यवहार नामक अग बाह्यमे, तथा शेष अगो और प्रकीर्णकोमे जो प्रायश्चित्तका कथन है तदनुसार ही आचार्यने उसे प्रायश्चित्त दिया ॥५९७॥

गा०—किन्तु वह साधु उन आचार्योंके वचनोंपर श्रद्धान न करके फिर भी यदि अन्य आचार्योंसे पूछता है तो यह आलोचनाका आठवाँ दोष है ॥५९८॥

गा०—ऊपरसे अच्छा हुआ किन्तु भीतरमे कील सहित घाव पीछे बढकर क्या बहुत कष्ट

---

१ ज्ञो न ददाति न चेत् आ० मु० । २. अ० ज० प्रति में यह गाथा नही है । ३ श । यथा तथा इमा स–अ० आ० ।

तथा इयं । '**सल्लुद्धरणसोधी**' आलोचनाशुद्धिः । मायामृषापरित्यागेन कृता अतिशोभना सद्वृत्ता दोषा[1] गुरुदत्तप्रायश्चित्ताश्रद्धानशल्यसमन्वितत्वाद्दुःखावह[2]त्वात् । बहुजण ॥५९९॥

आगमदो वा बालो परियाएण व हवेज्ज जो बालो ।
तस्स सगं दुच्चरियं आलोचेदूण बालमदी ॥६००॥

'**आगमदो वा बालो**' आगमेन ज्ञानेन वा बाल । '**परियाएण व हवेज्ज जो बालो**' चारित्रबालो वा यो भवेत् । यः स '**तस्स**' तस्मै । '**सगं दुच्चरिदं**' आत्मीयमतिचारं । '**आलोचेदूण बालमदी**' उक्त्वा बालबुद्धि ॥६००॥

आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि ।
बालस्सालोचेंतो णवमो आलोचणा दोसो ॥६०१॥

'**आलोचिदं**' कथित । '**असेसं सव्वं**' निरवशेषं सर्वं । मनोवाक्कायकृतोऽतिचारः सर्वशब्देन उच्यते । कृतकारितानुमतविकल्पा अशेषा इत्याख्यायन्ते । '**मएत्ति जाणादि**' मयेति जानाति । '**बालस्सालोचेंतो**' ज्ञानबालाय चारित्रबालाय वा कथयति । '**णवमो आलोयणादोसो**' नवम आलोचनादोष ॥६०१॥

कूडहिरण्णं जह णिच्छएण दुज्जणकदा जहा मेत्ती ।
पच्छा होदि अपत्थं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥६०२॥

कूडहिरण्णं जह पच्छा अपत्था णिच्छएण होदित्ति पदघटना । यथा कूटहिरण्य धनमिति गृहीत पश्चादपथ्य निश्चयतो भवति अभिमतद्रव्यग्रहणे अनुपायत्वात् । एवमपि इयमपि बालस्य क्रियमाणालोचना अनुरूपप्रायश्चित्तप्राप्तो अनुपायत्वात् सदृशी । न ज्ञानबाल परार्थयोग्यप्रायश्चित्त दातुं क्षम । '**दुज्जणकदा य मेत्ती**'

नही देता ? देता ही है । उक्त आलोचना भी उसी घावकी तरह है । यद्यपि यह आलोचना माया और असत्यको त्यागकर की जानेसे अति सुन्दर है, दोष रहित है । तथापि गुरुके द्वारा दिए गये प्रायश्चित्तके प्रति अश्रद्धान रूपी शल्यसे युक्त होनेसे दुःखदायी है । यह बहुजन नामक दोष है ॥५९९॥

गा०—जो मुनि आगम अर्थात् ज्ञानसे बालक है अथवा जो चारित्रसे बालक है अर्थात् जिसे शास्त्रज्ञान भी नही है और चारित्र भी जिसका हीन है उसके सन्मुख जो अज्ञानी अपने दोषकी आलोचना करता है ॥६००॥

गा०—और मैने अपने मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे किए सब दोष कह दिये, ऐसा जानता है । इस प्रकार ज्ञान बालक और चारित्र बालक मुनिसे दोषोका निवेदन करना नौवाँ आलोचना दोष है । इसे अव्यक्त दोष कहते है ॥६०१॥

गा०-टी०—जैसे नकली सोनेको धन समझकर ग्रहण करे तो पीछेसे वह निश्चय ही अहितकर होता है क्योंकि उससे यदि कुछ इच्छित वस्तु खरीदना चाहे तो नही खरीद सकते । इसी प्रकार बालमुनिके सन्मुख की गई आलोचना भी अनुरूप प्रायश्चित्तकी प्राप्तिका उपाय न होनेसे नकली सोनेके ही समान अहितकारी है । क्योकि ज्ञानसे बालमुनि परमार्थके योग्य प्रायश्चित्त

१. महुतदोषापि–मूलारा० । २ दुःखावहा–आ० ।

जहा पच्छा होइ अपत्थं इति सम्बन्धः कार्य.। दुर्जने कृता मैत्री यथा न पथ्यं, दु.खं प्रयच्छतीति एवं चारित्र-बालस्य सयमोभयविकलस्य कृतापि प्रायश्चित्तालाभमूला अनेकानर्थावहेति भाव ॥६०२॥

पासत्थो पासत्थस्स अणुगदो दुक्कडं परिकहेइ ।
एसो वि मज्झसरिसो सव्वत्थवि दोससंचइओ ॥६०३॥

'पासत्थो पासत्थस्स' पार्श्वस्थ पार्श्वस्थमनुगतः। **'दुक्कडं परिकहेदि'** दुष्कृतं परिकथयति। **'एसो वि'** एषोऽपि। **'मज्झसरिसो'** मत्सदृश। **'सव्वत्थ वि'** सर्वेष्वपि व्रतेषु। **'दोससंचइओ'** दोषसचयोद्यत ॥६०३॥

जाणइ य मज्झ एसो सुहसीलत्तं च सव्वदोसे य ।
तो एस मे ण दाहिदि पायच्छित्तं महल्लत्ति ॥६०४॥

'एसो मज्झ सुहसीलत्तं जाणदि' एष मम दु:खासहत्व वेत्ति। [1]**'सव्वदोसे य जाणदि'** सर्वांश्च व्रताति-चारानवगच्छति। **'तो'** तस्मात्। **'एस मे न दाहिदि'** एष मे न दास्यति। **'महल्लं पायच्छित्तंति'** महत्प्राय-श्चित्तमिति मत्वा कथयतीति सम्बन्धः ॥६०४॥

आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि ।
सो पवयणपडिकुद्धो दसमो आलोचणा दोसो ॥६०५॥

स्पष्टार्थो ॥६०५॥

उत्तर गाथा—

जह कोइ लोहिदकयं वत्थं धोवेज्ज लोहिदेणेव ।
ण य तं होदि विसुद्धं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥६०६॥

'जह कोइ लोहिदकयं' करोति क्रियासामान्यवाची इह लेपे वर्तते तेनायमर्थ —यथा कश्चिल्लोहितेन लिप्त वस्त्र। **'धोवेज्ज'** प्रक्षालयेत्। **'लोहिदेणेव'** लोहितेनैव। **'ण य तं हवदि विसुद्ध'** नैतद् भवति विसुद्ध।

देनेमे समर्थ नही होता। अथवा जैसे दुर्जनसे की गई मित्रता हितकर नही होती, दुःखदायक होती है उसी प्रकार प्राणिसंयम और इन्द्रियसयमसे रहित चारित्र बालमुनिके सन्मुख की गई भी आलो-चना प्रायश्चित्तका लाभ न होनेसे अनेक अनर्थोंको लानेवाली है ॥६०२॥

गा०—पार्श्वस्थमुनि पार्श्वस्थमुनिके पास जाकर अपने दोषोको कहता है। वह जानता है कि यह भी मेरे समान है। सब व्रतोमें दोषोसे भरा है ॥६०३॥

गा०—यह मेरी सुखशीलताको जानता है कि मैं दु ख सहन नही कर सकता। मेरे सब व्रतोंके दोषोको भी यह जानता है। अतः यह मुझे बडा प्रायश्चित्त नही देगा। यह मानकर वह उससे अपने दोष कहता है ॥६०४॥

गा०—यह पार्श्वस्थमुनि मेरे द्वारा कहे सब दोषोको जानता है ऐसा मानकर उससे प्रायश्चित लेना आगमसे निषिद्ध है। और यह आलोचनाका दसवाँ दोष है ॥६०५॥

गा०—जैसे कोई रुधिरसे सने हुए वस्त्रको रुधिरसे ही धोता है तो वह विशुद्ध नही होता।

---

१. सव्वदोसे य जानाति सर्वदोषाश्च। तो–मु०।

'तधिमा सल्लुद्धरणसोधी' आलोचनाशुद्धिः दोषं न निरस्यति। तद्विलक्षणं वस्तु यथा निर्मलजलं पङ्क वस्त्रस्य न तु लोहितेन लिप्त वस्त्र शोधयति तथाभूतमेव लोहितं। एवमतीचाराशुद्धिः अशुद्धरत्नत्रयोद्देशप्रवृत्तेः अशुद्धयालोचनया न निराक्रियते इति साधर्म्यनियोजना ॥६०६॥

पवयणणिण्हवयाणं जह दुक्कडपावयं करेंताणं।
सिद्धिगमणमइदूरं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥६०७॥

'पवयणणिह्नवयाणं' जिनप्रणीतवचननिह्नवकारिणा। 'दुक्कडपावगं करेंताणं' दुष्करपापकारिणा। 'जह सिद्धिगमणमइदूरं' यथा सिद्धगमनमतिदुष्कर। तस्सेवी गद ॥६०७॥

सो दस वि तदो दोसे भयमायामोसमाणलज्जाओ।
णिज्जूहिय संसुद्धो करेदि आलोयणं विधिणा ॥६०८॥

'सो' क्षपक। 'तदो' ततः आलोचनया दुष्टया शुद्धेरभावात्। 'दोसे णिज्जूहिय' दोषास्त्यक्त्वा। 'दस वि' दशापि। 'भयमायामोसमाणलज्जाओ' भयं माया मनोगता मृषा वचनगता, मान लज्जा च त्यक्त्वा। 'संशुद्धो' सम्यक्शुद्ध। 'विधिना आलोयणं करेदि' विधिना आलोचनां करोति ॥६०८॥

कोऽसावालोचनाविधिरित्याशंक्याह—

णट्टचलवलियगिहिभासमूगदद्दुरसरं च मोत्तूण।
आलोचेदि विणीदो सम्मं गुरुणो अहिमुहत्थो ॥६०९॥

'णट्टचलवलियगिहिभासमूगदद्दुरसरं च' हस्तनर्त्तनं, भ्रूक्षेप, चलनं गात्रस्य, वलित, गृहिवचनं, मूकवत्संज्ञाकरण, घर्घरस्वर च मुक्त्वा। 'आलोचेदि' कथयति। 'विणीदो' कृताञ्जलिपुटोऽवनतशिरस्क। 'अद्दुदं' अद्रुतं। अविलम्बितं। स्पष्ट। 'गुरुणो अहिमुहत्थो' गुरोरभिमुखः ॥६०९॥

उसी तरह यह आलोचना शुद्धि दोषको दूर नही करती। उसके विपरीत निर्मल जल वस्त्रमें लगे कीचड़को दूर करता है। किन्तु रुधिरसे लिप्त वस्त्रको रुधिर शुद्ध नही कर सकता। इसी प्रकार अशुद्ध रत्नत्रयवाले मुनिसे की गई अशुद्ध आलोचनासे अतीचार सम्बन्धी अशुद्धि दूर नही होती। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिमें समानता जानना ॥६०६॥

गा०—जैसे जिन भगवान्के वचनोका लोप करनेवाले और दुष्कर पाप करनेवालोका मुक्तिगमन अति दुष्कर है उसी प्रकार पार्श्वस्थ मुनिसे दोषोको कहनेवालोंकी शुद्धि अति दुष्कर है। यह तत्सेवी नामक दसवें दोषका कथन हुआ ॥६०७॥

गा०—सदोष आलोचनासे शुद्धि नही होती, इसलिए निर्यापकाचार्यके पादमूलमे उपस्थित क्षपक दसो दोषोको तथा भय, माया, असत्यवचन, मान और लज्जाको त्यागकर सम्यक्प्रकारसे शुद्ध होकर विधिपूर्वक आलोचना करता है ॥६०८॥

वह आलोचनाकी विधि क्या है, यह कहते हैं—

गा०—हाथका नचाना, भौं मटकाना, शरीरको मोड़ना, गृहस्थकी तरह बोलना, गूँगेकी तरह संकेत करना और घर्घर स्वरको त्याग कर, दोनों हाथोकी अंजली बनाकर, सिर नवाकर गुरुके सामने उनकी बायी ओर एक हाथ दूर गवासनसे बैठकर, न अति जल्दीमे और न अति रुकरुक कर स्पष्ट आलोचना करता है ॥६०९॥

पुढविदगागणिपवणे य बीयपत्तेयणंतकाए य।
विगतिगचदुपंचिंदियसत्तारंभे अणेयविहे ॥६१०॥

'पुढविदगागणिपवणे य' पृथिव्यामुदकेऽग्नौ पवने च। **'बीअपत्तेयणंतकाए य'** बीजे प्रत्येककाये च वनस्पतौ। **'विगतिगचदुपंचेंदियसत्तारंभे'** द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसत्त्वविषये चारम्भे। **'अणेगविधे'** अनेकप्रकारे। पृथिव्या मृत्तिकोपलशर्करासिकतालवणा¹ब्रजमित्यादिकाया खननं, विलेखन, दहनं, कुट्टन, भञ्जन इत्यादिकयारम्भः। उदककरकावश्यायतुषारादीना अब्भेदाना पान, स्नानमवगाहन, तरण हस्तेन, पादेन, गात्रेण वा मर्द्दन इत्यादिकं। ²अग्निज्वाला, प्रदीप उल्मुकं इत्यादिकस्य तेजस उपर्युदकस्य, पाषाणस्य, मृत्तिकाया. सिकताया वा प्रक्षेपण, पाषाणकाष्ठादिभिर्हननं इत्यादिकं। झंझामण्डलिकादौ वायौ वातिव्यजनेन, तालवृन्तेन, शूर्पेण, चेलादिना वा समीरणोत्थापनादिक वाते वाभिगमन। बीजाना प्रत्येककायानां अनन्तकायाना च वृक्षवल्लीगुल्मलतातृणपुष्पफलादीना दहन, छेदन, मर्दन, भञ्जनं, स्पर्शन, भक्षणमित्यादिकं। द्वीन्द्रियादीना मारण, छेदनं, ताडन, बन्धन, रोधनमित्यादिकं ॥६१०॥

पिंडोवधिसेज्जाए गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगे।
तेणिक्कराइभत्ते मेहूणपरिग्गहे मोसे ॥६११॥

'पिंडोवधिसेज्जाए' पिण्डे, उपकरणे, वसतौ च उद्गमोत्पादनैषणादानातिचारः। **'गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगे'**। गृहस्थाना भाजनेषु कुम्भकरकशरावादिषु कस्यचिन्निक्षेपण, तैर्वा कस्यचिदादान च चारित्रातिचारः। दुःप्रतिलेख्यत्वाच्छोधयितुमशक्यत्वाच्च। पीठिकायामासन्द्या, खट्वाया, मञ्चे वा आसन निषद्यो-

गा०-टी०—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येककायिक वनस्पति, साधारणकायिक वनस्पति, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवसम्बन्धी अनेक प्रकारके आरम्भ की आलोचना करता है। मिट्टी, पत्थर, शर्करा, रेत, नमक इत्यादिका खोदना, हलसे जोतना, जलाना, कूटना, तोडना आदि पृथिवी सम्बन्धी आरम्भ है। जल, बर्फ, ओस, तुषार आदि पानीके भेदोका पीना, स्नान, अवगाहन, तैरना, हाथ पैर या शरीरसे मर्दन करना आदि जलसम्बन्धी आरम्भ है। आग, ज्वाला, दीपक, उल्मुक इत्यादि आगके ऊपर पानी, पत्थर, मिट्टी, अथवा रेत फेकना या पत्थर लकडी आदिसे आगको पीटना आगसम्बन्धी आरम्भ है। झंझा और माण्डलिक आदि वायुको ताडके पत्रसे, सूपसे, लकडी आदिसे रोकना, या पखे आदिसे हवा करना, वायुके सन्मुख गमन करना ये सब वायुकायसम्बन्धी आरम्भ हैं। बीज, प्रत्येक काय और अनन्तकाय वृक्ष, लता, बेल, झाडी, तृण, पुष्पफल आदिको जलाना, छेदना, मसलना, तोडना, छूना, खाना आदि वनस्पतिकाय सम्बन्धी आरम्भ हैं। दो इन्द्रिय आदि जीवोको मारना, छेदना, पीटना, बाँधना, रोकना आदि दो इन्द्रिय आदि सम्बन्धी आरम्भ हैं। ये सब आरम्भ मुझसे हुए है ॥६१०॥

गा०-टी०—भोजन, उपकरण और वसतिमे उद्गम, उत्पादन और एषणासम्बन्धी अतिचार होते है। गृहस्थोके पात्र घट, झारी, सकोरा आदिमें किसी वस्तुका निक्षेपण करना अथवा उनके द्वारा किसी वस्तुका ग्रहण चारित्रसम्बन्धी अतिचार हैं क्योकि उन पात्रोंकी प्रति-

१. णाभ्रकमि–आ० मु०। लवणवज्रादिकाया मूलारा०। २. अग्नेर्ज्वाला आ० मु०।

च्यते । पीठिकादिष्वनेकच्छिद्राकुलासु दु:प्रेक्ष्या प्राणिनो दृष्टाश्च नापकर्तुं शक्यन्ते । ततोऽहिंसाव्रतातिचार । तथा चोक्तम्—

पीठिकासंदपल्लके [1]मंचए मालए तथा । अणाचरिदमज्जाणं आसिदुं सइदुं पि वा ।।
गंभीरवासिणो पाणा दुप्पेक्खा दुव्विकिंचणा । तम्हा दुप्पडिलेहं च वज्जए पढमव्वए ।। [ ]

अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु निषद्याया कस्तत्र दोष इति चेत् ब्रह्मचर्यस्य विनाश स्त्रीभि सह सवासात् ? असकृत्तदीयकुचतटबिम्बाधरादिसमवलोकनाद् भोजनार्थिना च विघ्न । कथमिव यतिसमीपे भुजिक्रिया सम्पादयाम । अशुचि वेद [2]वेत्कथमस्यामासन्द्या तु तावदमी इति क्रुध्यन्ति वा गृहस्था । किमर्थमयमत्र दाराणा मध्ये निषण्णो यतिर्भुङ्क्ते न यातीति । स्नानमुद्वर्तनं, गात्रप्रक्षालन च वाकुसमित्युच्यते । स्नानेन उष्णोदकेन शीतजलेन सौवीरकादिना वा बिलस्था धात्रीक्षुद्रविवरस्था इतरेऽपि स्वल्पकाया कुन्थुपिपीलिकादयो वा नश्यन्ति । तथा चोक्तम्—

सुहुमा संति पाणा खु पासेसु अ बिलेसु अ ।
सिण्हायंतो यतो भिक्खू विकट्टेणोपपीडए ।।
ण सिण्हायंति तम्हा ते सीदुसणोदगेण वि ।
जावजीवं वद घोर अण्हाणगमधिट्ठिदं ।।

लेखना कठिन है तथा उनकी शुद्धि अशक्य होती है। पीढेपर, आसनपर, खाट या मचपर बैठना निषद्या है। अनेक छिद्रवाली पीठिका आदिमे रहनेवाले जन्तुओको देखना अशक्य होता है और देख भी लिया जाये तो उन्हे दूर करना शक्य नही होता। और उससे अहिसाव्रतमे अतिचार लगता है। कहा भी है—

पीढा, आसद, पलका, मच आदि आसनोपर स्नान न करनेवाले साधुओका बैठना या शयन करना उचित नही है। गहराईमें रहनेवाले जीवजन्तु देखे नही जाते। उनका बचाव कष्ट साध्य होता है। इसलिए अहिसा नामक प्रथम व्रतमे 'ठीकसे नही देखना' छोडना चाहिए।

अथवा गोचरीके लिए जाकर घरमे प्रवेश करना और वहाँ बैठना निषद्या है।

शङ्का—इसमे क्या दोष है ?

समाधान—स्त्रियोके साथ रहनेसे ब्रह्मचर्यका विनाश होता है। क्योकि बार-बार उनके कुचो और ओष्ठोपर दृष्टि जाती है। तथा भोजन करनेके इच्छुक गृहस्थोको बाधा होती है। वे सोचते है—हम यतियोके सामने कैसे भोजन करे ? अथवा उन्हे क्रोध हो सकता है कि इस अपवित्र पलके पर ये क्यो बैठे है ? यह यति यहाँ स्त्रियोके मध्यमे बैठकर क्यो भोजन करता है, जाता क्यो नही है।

स्नान, उबटन और शरीर धोनेको वाकुस कहते है। गर्मजल, ठडे जल अथवा सौवीरक आदिसे स्नान करनेसे पृथ्वीके बिलोमे स्थित प्राणी अथवा अन्य कुन्थु चीटी आदि क्षुद्रजीव मर जाते है। कहा है—

'बिलोमे तथा आस-पासमे सूक्ष्मजन्तु रहते है। यदि भिक्षु स्नान करे तो वे पीडित होते हैं। इसलिए वे भिक्षु ठडे या गर्मजलसे या कांजीसे स्नान नही करते। वे जीवन पर्यन्त घोर अस्नानव्रतको धारण करते है।'

---

१ मंचयासालये—अ० मु० । २. बेश्मस्याद्या अ० ।

लोध्रगन्धादिभि· उद्वर्तनं च नाचरन्ति । लिङ्गविकाशनक्रिया तात्स्थ्याल्लिङ्गशब्देनोच्यते । 'तेणिक्का-राविभत्ते' अदत्तादानं रात्रिभोजनं च । अदत्तादाने कृते तत्स्वामिन प्राणापहार एव कृतो भवति । बहिश्चराः प्राणा धनानि प्राणभृतां राजानो दण्डयन्तीह । रात्रौ च भोजनं अनेकासयममूल । रात्रौ भ्रमणे षड्जीवनि-कायबधो । अयोग्यस्य प्रत्याख्यातस्य च भोजनं । दातृपरीक्षासम्भव· । करस्थ, भाजनस्योच्छिष्टनिपतनदेशस्य, दायिकागमनमार्गस्य तस्यात्मनश्चावस्थानदेशस्य अपरीक्षा । 'मेहुणपरिग्गहे चेव' मैथुन परिग्रहश्चैव । 'मोसे' मृषा च ॥४११॥

णाणे दंसणतववीरिये य मणवयणकायजोगेहिं ।
कदकारिदेणुमोदे आदपरपओगकरणे य ॥६१२॥

'णाणे' ज्ञाने । 'दंसणतववीरिए' श्रद्धाया तपसि वीर्ये च योऽतिचार । 'मणवयणकायजोगेहिं' मनोवाक्कायक्रियाभि । मनसा सम्यग्ज्ञानस्यावज्ञा, किमनेन ज्ञानेन, तपश्चारित्रमेव फलदाय्यनुष्ठेयमिति । सम्यग्ज्ञानस्य वा मिथ्याज्ञानमिदमिति दूषण । मनसा वाचा कायेन वा स्वारुचिप्रकाशन, मुखवैवर्ण्येन नैतदेवमिति शिर-कम्पनेन वा । शङ्काकाङ्क्षादि दर्शनेऽतिचारः । तपस्यसयम । वीर्ये स्वशक्तिगूहन । स चातीचार सर्वस्त्रि-प्रकार इति कथयति । 'कदकारिदे अणुमोदे' कृत·, कारितोऽनुमतश्च । 'आदपरपओगकरणे य' आत्मनैव कृत कारितोऽनुमतश्च, परयोगक्रियया कृत कारितोऽनुमतो वा ॥६१२॥

वे भिक्षु लोध्र वगैरह सुगन्धित द्रव्योका उबटन भी शरीरपर नही लगाते है । लिंगशब्दसे लिंगको विकसित करनेकी क्रिया ली गई है । वह भी भिक्षु नही करते ।

तेणिक्क चोरीको कहते है । भिक्षु विना दी हुई वस्तुका ग्रहण और रात्रिभोजन नही करते । विना दी हुई वस्तुका ग्रहण अर्थात् चोरी करनेपर उसके स्वामीका प्राण ही हर लिया जाता है क्योकि धन मनुष्योका बाहिरी प्राण होता है । इसी लोकमे राजा उसे दण्ड देते हैं । तथा रात्रिमें भोजन अनेक असयमोका मूल है । रात्रिमे साधु भ्रमण करे तो छहकायके प्राणियो-का घात होता है । तथा रात्रिमे दृष्टिगोचर न होनेसे त्यागी हुई तथा अयोग्य वस्तु भी खानेमे आ जाती है । दाताकी परीक्षा भी असम्भव होती है । हाथमे स्थित भोजन, जूठन गिरनेका स्थान, आहार देनेवालेके आने जानेका मार्ग, उसके तथा अपने खडे होनेके प्रदेशकी परीक्षा भी रातमे नही होती । मैथुन, परिग्रह और असत्यके वे त्यागी होते है ॥६११॥

गा०-टी०—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और वीर्यके सम्बन्धमे मन वचन कायकी क्रियाके द्वारा अतिचार हुए है—

मनसे सम्यग्ज्ञानकी अवज्ञा करना, इस ज्ञानसे क्या लाभ है, तप और चारित्र ही फल-दायक है । उन्हे ही करना चाहिए । अथवा सम्यग्ज्ञानको यह मिथ्याज्ञान है, ऐसा दूषण लगाना । अथवा मनसे वचनसे कायसे अपनी अरुचि प्रकट करना । अथवा मुखकी विरूपतासे या सिर हिलाकर 'यह ऐसा नही है' यह प्रकट करना सम्यग्ज्ञानके अतिचार है । सम्यग्दर्शनमे शका कांक्षा आदि अतिचार कहे है । तपमें असयम अतिचार है । वीर्यमे अपनी शक्तिको छिपाना अतीचार है । वह सब अतिचार कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे तीन प्रकार है । तथा स्वयं ही करना कराना अनुमोदना करना और परके द्वारा करना, कराना, अनुमोदना करना इस तरह कृत कारित अनुमोदनाके भी दो प्रकार हैं ॥६१२॥

अद्धाण रोहगे जणवए य रादो दिवा सिवे ऊमे ।
दप्पादिसमावण्णे उद्धरदि कमं अभिंदंतो ॥६१३॥

'**अद्धाण रोहगे जणवदे**' यस्यावस्थिते जनपदे यावन्तो मार्गास्तेषा रोधके परचक्रे जाते यदि निस्सतुं न लभते संक्लिष्टा भिक्षा चर्या तत्र अयोग्यस्य सेवा कृता आत्मना तामपि कथयति । '**रादो दिवा**' रात्रौ अयमतिचारो जातो दिवसे इति वा कथनं । मार्या उपद्रुते संघे विद्यया मन्त्रेण वा तन्निषेधनायामयमतिचारो जात इति वा । दुर्भिक्षे वा महति अवमोदर्यभग्नेन यदात्मना सेवितं, अन्ये वाऽयोग्यभिक्षाग्रहणे इत्थं प्रवर्तिता इति वा कथनं । '**दप्पादिसमावण्णे**' दर्पादिभि समापन्नः ।

दप्पपमादअणाभोगआपगा आउरे य तित्तिणिदा ।
संकिदसहसाकारे य भयपदोसे य मीमंसं ॥
अण्णाणणेहगारव अणप्पवसअलस उवधि सुमिणंते ।
पलिकुंचणं ससोधी करेंति वीसंतये भेदे ॥

इति दर्पादि । अत्र दर्पोऽनेकप्रकार. क्रीडासंघर्ष', व्यायामकुहकं, रसायनसेवा, हास्य, गीतशृंगारवचन, प्लवनमित्यादिको दर्प । प्रमादः पञ्चविधः–विकथा', कषाया, इन्द्रियविषयासक्तता, निद्रा, प्रणयश्चेति । अथवा प्रमादो नाम सक्लिष्टहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति', बाह्यशास्त्रशिक्षणं, काव्यकरण, समितिष्वनुपयुक्तता । छेदन भेदन, पेषणमभिघातो, व्यधनं, बन्धन, स्फाटन, प्रक्षालन, रञ्जन, वेष्टन, ग्रथन, पूरण, समुदायकरण, लेपन, क्षेपणं, आलेखनमित्यादिक सक्लिष्टहस्तकर्म, स्त्रीपुरुषलक्षण निमित्त, ज्योतिर्ज्ञानं, छंद', अर्थशास्त्र, वैद्यं, लौकिकवैदिकसमयाश्च बाह्यशास्त्राणि । उपयुक्तोऽपि सम्यगतीचार न वेत्ति सोऽनाभोगकृतः, व्याक्षिप्तचेतसा

गा०-टी०—देशसे बाहर जानेके जितने मार्ग हैं, शत्रुसेनाके द्वारा उन सबके बन्द कर देनेपर साधु निकल नही पाता । उस समय परवश होकर साधुको भिक्षाचर्या करनेमे जो सक्लेश हुआ हो, अथवा अपने द्वारा अयोग्य पदार्थका सेवन हुआ है उसे भी गुरुसे कहता है । रातमे यह अतिचार हुआ, दिनमे यह अतिचार हुआ, यह भी कहता है । अथवा संघमे भारी रोगका उपद्रव होनेपर विद्या या मन्त्रके द्वारा उसे रोकनेमें यह अतिचार लगा, यह भी कहता है । महान् दुर्भिक्ष पडनेपर अवमौदर्य तपको भंग करके स्वयंने जो सेवन किया हो, अथवा दूसरे साधुओको अमुक प्रकारसे अयोग्य भिक्षाके ग्रहण करनेमे प्रवृत्त किया हो, वह भी कहता है । दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आपात, आर्तता, तित्तिणिदा, शकित, सहसा, भय, प्रदोष, मीमांसा, अज्ञान, स्नेह, गारव, अनात्मवशता, आलस्य, उपधि, स्वप्नान्त, पलिकुंचन, और स्वयशुद्धि ये बीस दर्पादि कहे है । इनका विवरण—

इनमेसे दर्पके अनेक प्रकार हैं—१ खेलकूदमें संघर्ष, व्यायाम, इन्द्रजाल, रसायन सेवन, हास्य, गीत, शृङ्गार, दौड़ना, तैरना आदिको लेकर घमंड करना । २ प्रमादके पाँच भेद हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रियोंके विषयमें आसक्ति, निद्रा और प्रणय (स्नेह) । अथवा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्रोंकी रचना करना, काव्यरचना और समितियोमे उपयोग न लगाना ये पाँच प्रमाद है । छेदना, भेदना, पीसना, अभिघात, बीधना, खोदना, बाँधना, फाड़ना, धोना, रंगना, वेष्ठित करना, गूँथना, पूरना, समुदाय करना, लीपना, फेकना, चित्रकारी करना ये सब संक्लिष्ट हस्तकर्म हैं । स्त्री पुरुषके लक्षण जिसमें बतलाये हों ऐसा शास्त्र, निमित्तशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र तथा लौकिक और वैदिकशास्त्र बाह्यशास्त्र हैं—

वा कृत । नदीपूर , अग्न्युत्थापनं, महावातापातः, वर्षाभिघात , परचक्ररोध इत्यादिका आपाता । रोगार्त , शोकार्तो, वेदनार्त इत्यार्तता त्रिविधा । रसासक्तता [1]मुखरता चेति द्विप्रकारता तित्तिणिदा शब्दवाच्या । सचित्त किमचित्तमिति शङ्किते द्रव्ये भञ्जनभेदनभक्षणादिभिराहारस्योपकरणस्य, वसतेर्वा उद्गमादिदोषोपहतिरस्ति न वेति शङ्कायामप्युपादानं । अशुभस्य मनसो वाचो वा झटिति प्रवृत्ति सहसेत्युच्यते ।

एकान्ताया वसतौ व्यालमृगव्याघ्रादयस्तेना वा प्रविशन्ति इति भयेन द्वारस्थगने जातोऽतिचारस्तीव्रकषायपरिणाम प्रदोष इत्युच्यते । उदकराज्यादिसमानतया प्रत्येकं चतुर्विकल्पाश्चत्वार कषाया । आत्मन. परस्य वा बललाघवादिपरीक्षा मीमासा तत्र जातोऽतिचार । प्रसारितकराकुञ्चितम् आकुञ्चितकरप्रसारण धनुषाद्यारोपण उपलाद्युत्क्षेपण, बाधन, वृतिकण्टकाद्युल्लङ्घन, पशुसर्पादीना मन्त्रपरीक्षणा[2]र्थं वा धारण, औषधवीर्यपरीक्षणार्थमञ्जनस्य, चूर्णस्य वा प्रयोग , द्रव्यसयोजनया त्रसानामेकेन्द्रियाणा च समूर्च्छना परीक्षा । अज्ञानामाचरण दृष्ट्वा स्वयमपि तथा चरति तत्र दोषानभिज्ञ । अथवाऽज्ञानिनोपनीतमुद्गमादिदोषोपहत उपकरणादिकं सेवते इति अज्ञानात्प्रवृत्तोऽतीचार । शरीरे, उपकरणे, वसतौ, कुले, ग्रामे, नगरे, देशे, बन्धुषु, पार्श्वस्थेषु वा ममेदमाव स्नेहस्तेन प्रवर्तित अ[3]तीचार । मम शरीरमिद शीतो वातो बाधयति कटादि-

३ उपयोग लगानेपर भी सम्यक्रूपसे अतीचारको नही जानना अथवा चित्त चचल होनेसे अतीचारको न जानना अनाभोगकृत है। ४ नदीमे बाढ आना, आग लग जाना, महती आँधी आना, वर्षाकी अत्यधिकता, शत्रुसेनाका आक्रमण इत्यादि आपात है। ५ आर्तताके तीन प्रकार है—रोगसे पीडित, शोकसे पीड़ित, कष्टसे पीडित। ६ रसमे आसक्ति और बकवादमे आसक्ति इन दोनोको तित्तिणदा कहते हैं। ७. यह सचित्त है या अचित्त ऐसी आशंका होनेपर भी उसको तोडना-फोडना खाना, अथवा आहार, उपकरण और वसतिमे उद्गम आदि दोष है या नही, ऐसी शका होते हुए भी ग्रहण करना शंकित है। ८ अशुभ मन और वचनकी झटपट प्रवृत्ति सहसा है।

९ एकान्त वसतिमे सिंह मृग सर्प और चोर आदि प्रवेश करते है इस भयसे द्वार वन्द कर देना भय है। १० तीव्र कषाय युक्त परिणामको प्रदोष कहते है। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय है इनमेसे प्रत्येकके चार-चार भेद है जैसे जलकी रेखा, धूलकी रेखा, पृथ्वीकी रेखा और पत्थरकी रेखाके समान क्रोध होता है।

११ अपने या दूसरेके बल लाघव आदिकी परीक्षाको मीमासा कहते है। फैले हुए हाथको मोडने, मोडे हुए हाथको फैलाने, धनुष आदिके चढ़ाने, पत्थर आदिके फेकने, दौडने, बाड कण्टक आदिको लाँघने, मन्त्र परीक्षाके लिए पशु सर्प आदिको धारण करने, औषधकी शक्तिकी परीक्षाके लिए अजन अथवा चूर्णका प्रयोग करने, द्रव्योके संयोगसे त्रस जीवो और एकेन्द्रिय जीवोकी उत्पत्ति करने आदिकी परीक्षा मीमासा है।

१२ अज्ञानी जनोका आचरण देखकर स्वय भी वैसा करता है उसमे दोष नही जानता। अथवा अज्ञानीके द्वारा लाये गये उद्गम आदि दोषोसे दूषित उपकरण आदिका सेवन करता है। यह अज्ञानवश हुआ अतिचार है।

१३ शरीरमे, उपकरणमें, वसतिमें, कुलमे, ग्राममे, नगरमे, देशमें, बन्धुमे और पार्श्वस्थ

१ मुखरतता–आ० । २ णार्थं धा–आ० मु० । ३ आचार –मु० ।

भिरन्तर्धानं, अग्निसेवा [1]शीतापनोदनार्थं प्रावरणग्रहणं वा, उद्वर्तनं, म्रक्षणं वा। उपकरणं विनश्यतीति तेन स्वकार्याकरणं यथा पिच्छविनाशभयादप्रमार्जनं इत्यादिकं। म्रक्षणं तैलादिना, कमण्डल्वादीना प्रक्षालनं वा, वसतितृणादिभक्षणस्य भञ्जनादेर्वा ममतया निवारणं, बहूना यतीना प्रवेशन मदीयं कुलं न सहते इति भाषणं, प्रवेशे कोप., बहूना न दातव्यमिति निषेधनं, कुलस्यैव वैयावृत्यकरणं। निमित्ताद्युपदेशश्च तत्र म[2]मतया ग्रामे नगरे देशे वा अवस्थाननिषेधनं। यतीना सम्बन्धिनां सुखेन सुखमात्मनो दु खेन दु खमित्यादिरतिचारं। पार्श्वस्थाना वन्दना, उपकरणादिदानं वा तदुल्लङ्घनासमर्थता। गुरुता ऋद्धित्यागासहता, ऋद्धिगौरवं, परिवारे कृतादरं। परकीयमात्मसात्करोति प्रियवचनेन उपकरणदानेन। अभिमतर[3]सात्यागोऽनभिमतानादरश्च नितरा रसगौरवं। निकामभोजने, निकामशयनादौ वा आसक्तिः। मातगौरव अनात्मवशतया प्रवर्तितातिचारः। उन्मादेन, पित्तेन पिशाचादेशेन वा परवशता। अथवा ज्ञातिभि परिगृहीतस्य बलात्कारेण गन्धमाल्यादिसेवा प्रत्याख्या[4]तभोजनं, रात्रिभोजनं मुखवासताबूलादिभक्षणं वा स्त्रीभिर्नपुंसकैर्वा बलादब्रह्मकरणं। चतुर्षु स्वाध्यायेषु आवश्यकेषु वा आलस्यं। उवधिशब्देन मायोच्यते प्रच्छन्नमनाचारे वृत्तिः। ज्ञात्वा दातृकुलं पूर्वमन्येभ्य·

मुनियोंमे ममत्वभाव स्नेह है। उससे हुआ अतीचार स्नेह कहाता है। मेरे इस शरीरको शीत कष्ट देता है। इसलिए चटाई वगैरहसे शीतको रोकना, आग तापना, शीत दूर करनेके लिए कुछ प्रावरण ग्रहण करना, उबटन लगाना, तेलकी मालिश करना। उपकरण नष्ट हो जायेगा इसलिए उससे अपना कार्य न करना, जैसे पिच्छीके नाशके भयसे उससे प्रमार्जन न करना, कमडलु आदिको धोना। वसतिके तृण आदि खानेको अथवा उसके टूटने आदिको ममत्व भावसे रोकना, मेरे कुलमे बहुत यतियोंका प्रवेश सह्य नही है ऐसा कहना, प्रवेश करने पर कोप करना, बहुत यतियोका प्रवेश देनेका निषेध करना, अपने कुलकी ही वैयावृत्य करना, निमित्त आदिका उपदेश देना, ममत्व होनेसे ग्राम नगर अथवा देशमे ठहरनेका निषेध न करना, सम्बन्धी यतियोके सुखसे अपनेको सुखी और दु खसे दु खी मानना इत्यादि अतिचार है। पार्श्वस्थ आदि मुनियोकी वन्दना करना, उन्हे उपकरण आदि देना, उनका उल्लघन करनेमे असमर्थ होना, इत्यादि अतीचारोकी आलोचना करता है।

१४ ऋद्धिके त्यागमे असमर्थ होना ऋद्धिगारव है। मुनि परिवारमे आदरभाव होनेसे प्रिय वचन और उपकरण दानके द्वारा दूसरोका अपनाना है। इष्ट रसका त्याग न करना और अनिष्ट रसमे अनादर होना रसगारव है। अति भोजन अथवा अतिशयनमे आसक्ति सात गौरव है। ये गारव सम्बन्धी अतिचार है।

१५ अपने वशमे स्वयं न होनेसे अतिचार होते है। उन्मादसे, पित्तके प्रकोपसे अथवा पिशाच आदिके कारण परवशता होती है। अथवा जातिके लोगोके द्वारा बलपूर्वक पकड़कर गन्ध माल्य आदिका सेवन, त्यागी हुई वस्तुका भोजन, रात्रि भोजन, मुखवास, ताम्बूल आदिका भक्षण कराया गया है। स्त्रियो अथवा नपुंसकोके द्वारा बलपूर्वक अब्रह्म सेवन कराया गया हो।

१६ चार प्रकारकी स्वाध्याय अथवा आवश्यकोंमे आलस्य किया हो।

१७ उपधि शब्दसे माया कही है अर्थात् छिपकर अनाचार करना। दाताका घर जानकर

१ ग्रीष्मातपनो–आ० मु०। २. मतस्य ग्रा–आ०। ३. रसत्या–अ० आ०। ४. ख्यान भो–अ० आ०।

प्रवेशः । कार्यापदेशेन यथा परे न जानन्ति तथा वा । भद्रकं भुक्त्वा विरसमशनं भुक्तमिति कथनं । ग्लानस्याचार्यादेर्वा वैयावृत्यं करिष्यामि इति किञ्चिद्गृहीत्वा स्वय तस्य सेवा । स्वप्नेनाऽयोग्यप्रतिसेवा सुमिणमित्युच्यते । द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयेण प्रवृत्तस्यातिचारस्यान्यथा कथन पलिकुञ्चनशब्देनोच्यते । कथं ? सचित्तसेवां कृत्वा अचित्तं सेवितमिति । अचित्तं सेवित्वा सचित्तं सेवितमिति वदति । तथा स्वावस्थाने कृतमध्वनि कृतमिति, सुभिक्षे कृतं दुर्भिक्षे कृतमिति, दिवसे कृत रात्रौ कृतमिति, अकषायतया संपादित तीव्रक्रोधादिना संपादितमिति । यथावत्कृतालोचनो यतिर्यावत्सूरि: प्रायश्चित्त न प्रयच्छति तावत्स्वयमेवेदं मम प्रायश्चित्त इति स्वयं गृह्णाति स स्वय शोधक । एवं मया स्वशुद्धिरनुष्ठितेति निवेदन । एवमेतैर्दर्पादिभिः समापन्नोऽतिचार 'उद्धरदि' कथयति । 'कमं' स्वकृतातिचारक्रम । 'अभिदंतो' अनिराकुर्वन् ॥६१३॥

इय पयविभागियाए व ओघियाए व सल्लमुद्धरिय ।
सव्वगुणसोधिकंखी गुरूवएसं समायरइ ॥६१४॥

'इय' एव । पदविभागियाए व विशेषालोचनया वा । **'ओघियाए व'** सामान्यालोचनया वा । **'सल्लं'** मायाशल्यं । **'उद्धरिय'** उद्धृत्य । **'सव्वगुणसोधिकंखी'** सर्वेषा गुणाना दर्शनज्ञानचारित्रतपसा शुद्धिमभिलषन् । **'गुरूवएसं'** गुरुणोपदिष्ट प्रायश्चित्त । **'समाचियदि'** सम्यगादत्ते । रोष दैन्यमश्रद्धान च त्यक्त्वा ॥६१४॥

परिहार्यालोचनादोषानुक्त्वा गुरुसकाशे आलोचना निन्दना गुणवतीति वदति—

दूसरे साधुओसे पहले ही किसी बहानेसे भिक्षाके लिए पहुँचना जिससे दूसरे न जान सके । या अच्छा भोजन करके यह कहना कि मैंने नीरस भोजन किया है । मै रोगीकी या आचार्यकी वैयावृत्य करूँगा, इस बहानेसे कुछ वस्तु ग्रहण करके स्वयं उसका सेवन करना ।

१८ स्वप्नमें अयोग्य वस्तुके सेवनको सुमिण कहते है ।

१९ द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे हुए अतिचारको अन्य रूपसे कहना पलिकुंचन शब्दसे कहा जाता है । जैसे सचित्तका सेवन करके कहना कि मैने अचित्तका सेवन किया है । अचित्तका सेवन करके कहना कि सचित्तका सेवन किया है । तथा अपने स्थान पर किये गये दोषको 'मार्गमे किया है' ऐसा कहना । सुभिक्षमें किये गये दोषको दुर्भिक्षमें किया कहना । दिनमें किये को रातमे किया कहना । अकषाय पूर्वक कियेको कषायपूर्वक किया कहना ।

२० विधिपूर्वक आलोचना करके आचार्यके प्रायश्चित्त देनेसे पहले स्वय ही 'यह मेरा प्रायश्चित्त है' इस प्रकार जो स्वय प्रायश्चित्त ग्रहण करता है उमे स्वय शोधक कहते हैं । उसे आचार्यसे निवेदन करना चाहिए मैंने इस प्रकार स्वयं शुद्धि की है ।

इस प्रकार क्षपक अपने द्वारा किये गये दोषोके क्रमका उल्लघन न करके दर्पादिसे हुए अतिचारोको गुरुसे कहता है ॥६१३॥

गा०—इस प्रकार विशेष आलोचना अथवा सामान्य आलोचनाके द्वारा मायाशल्यको दूर करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन सब गुणोकी शुद्धिका इच्छुक क्षपक गुरुके द्वारा कहे प्रायश्चित्तको रोष, दीनता और अश्रद्धाको त्यागकर स्वीकार करता है ॥६१४॥

त्यागने योग्य आलोचना दोषोंको कहकर गुरुके समीपमे आलोचना और निन्दनाके गुण कहते है—

कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिंदओ गुरुसयासे ।
होदि अचिरेण लहुओ उरुहियभारोव्व भारवहो ॥६१५॥

'कदपावो वि मणुस्सो' कृतपापोऽपि मनुष्य समर्जिताशुभकर्मसंचयोऽपि मनुष्य' । अथवा पापस्याशुभकर्मण कारणभूताऽसंयमादिरिह पापशब्देनोच्यते, तेनायमर्थ —कदपावोऽवि कृतासंयमादिकोऽपि । **'आलोयणणिंदओ'** कृतालोचन' कृतनिन्दितश्च । क्व ? **'गुरुसयासे'** गुरुसमीपे । **'होदि'** भवति । **'अचिरेण लहुओ'** लघुनम **'उरुहियभारोव्व'** अवतारितभार इव । **'भारवहो'** भारस्य वोढा ॥६१५॥

भावशुद्धयर्था आलोचना असत्या भावशुद्धौ को वा दोष इत्याह—

सुबहुस्सुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेसु ।
ण उवेंति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा होंति ॥६१६॥

'सुबहुस्सुदा वि संता' सुष्ठु बहुश्रुता अपि सन्त' । **'जे मूढा'** ये मूढा । **'सीलसंजमगुणेसु'** शीले क्षमादिके धर्मे, सयमे, व्रतेषु गुणेषु ज्ञानदर्शनतप सु च । **'भावसुद्धिं'** परिणामेन शुद्धि । **'ण उवेंति'** नोपयान्ति ते । **'दुक्खणिहेलणा'** दु खैर्निष्पीड्या । **'होंति'** भवन्ति ॥६१६॥

कृतायामालोचनाया गुरुणा कि कर्तव्यमित्यत आह—

आलोयणं सुणित्ता तिक्खुत्तो भिक्खुणो उवायेण ।
जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पट्ठवेदव्वं ॥६१७॥

'आलोयणं' आलोचना । **'सुणित्ता'** श्रुत्वा । **'तिक्खुत्तो'** त्रि पृष्ट्वा । **'भिक्खुणो'** भिक्षो । **'उपायेण'** उपायेन । **'जदि उज्जुगोत्ति य'** यदि ऋजुरयमिति । **'णज्जइ'** ज्ञायते । वचनेन आचरणेन वा ज्ञायते प्रायेण ऋजुता । **'जहा'** यथा । **'कद'** कृतं पाप सुज्झदिति शेषः शुद्धयति तथा **'पट्ठवेदव्वं'** प्रायश्चित्त दातव्य ।

गा०—'कृतपाप' अर्थात् अशुभकर्मका सचय करनेवाला भी मनुष्य । अथवा पाप अर्थात् अशुभकर्मके कारणभूत असंयम आदिको यहाँ पापशब्दसे कहा है । तब यह अर्थ होता है—असयम आदि करनेवाला भी मनुष्य गुरुके समीप आलोचना और निन्दा करके शीघ्र ही हलका हो जाता है जैसे बोझको उतारनेपर बोझा ढोनेवाला हलका हो जाता है ॥६१५॥

भावोकी शुद्धिके लिए आलोचना की जाती है । भावशुद्धिके अभावमे दोष कहते है—

गा०—जो मूढ मुनि बहुत अच्छे बहुश्रुत विद्वान् होकर भी क्षमा आदि धर्ममे, संयममें, व्रतोमे, ज्ञान दर्शन और तप गुणोमे भावशुद्धि नही रखते वे दु.खोसे पीडित होते है ॥६१६॥

आलोचना करनेपर गुरुको क्या करना चाहिए, यह कहते है—

गा०—आलोचना सुनकर गुरु भिक्षुसे तीन वार उपायसे पूछते हैं—तुम्हारा अपराध क्या है मै भूल गया या मैने सुना नही । इत्यादि उपायसे गुरु तीन बार पूछते है । यदि 'वचन' कहनेके ढंगसे और आचरणसे जानते हैं कि यह सरल हृदय है तो जिस प्रकार किया पापशुद्ध हो

---

१ ते तनुभवनेन वाचर–आ० ।

अनृजोर्भावशुद्धयभावान्न व्यवहारिणः प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति सूरयः। भावशुद्धिमन्तरेण पापानपायात् रत्नत्रयस्य निरतिचारत्वाभावात् ॥६१७॥

ऋज्वी इतरा वा आलोचना कीदृशी यस्या सत्या प्रायश्चित्तं दीयते न च दीयते इत्यत्र आचष्टे—

आदुरसल्ले मोसे मालागररायकज्ज तिक्खुत्तो ।
आलोयणाए वक्काए उज्जुगाए य आहरणे ॥६१८॥

'आदुरसल्ले' आतुरो व्याधितः स वैद्येन वारत्रयं पृच्छ्यते। किं भुक्तं ? किमाचरितं ? कीदृशी वा रोगस्य वृत्तिरिति। शल्यमपि शरीरलग्नं त्रिः परीक्ष्यते। शुद्धता व्रणस्य जाता न वेति। **'रायकज्जं तिक्खुत्तो'** राज्ञा आज्ञप्तं कार्यं किमेवं करिष्यामीति त्रिः पृच्छ्यते। **'आलोयणाए'** आलोचनायाः। **'वक्काए'** वक्रायाः। **'उज्जुगाए'** ऋज्व्याश्च। **'आहरणे'** दृष्टान्तः। यदि वारत्रयमप्येकरूपेण वक्ति ततो ऋज्वी अन्यथा अन्यदन्यदाचष्टे वक्रेति ग्राह्य ॥६१८॥

पडिसेवणातिचारे जदि[1] णो जंपदि जधाकमं सव्वे ।
ण करेंति तदो सुद्धिं आगमववहारिणो तस्स ॥६१९॥

'पडिसेवणातिचारे' प्रतिसेवनानिमित्तानतीचारान्। तत्र प्रतिसेवा चतुर्विधा द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन। द्रव्यप्रतिसेवा त्रिप्रकारा सचित्तमचित्तं मिश्रमिति द्रव्यस्य त्रिविधत्वात्। चित्तं ज्ञानं तथा च प्रयोगः—चित्तमात्रं जगत्तत्त्वं ज्ञानमात्रमिति यावत्। ज्ञानस्यात्मनः कथञ्चिदव्यतिरेकात्तात्स्थ्याद्वा चित्तशब्देनाभि-

---

उस प्रकार प्रायश्चित्त देना चाहिए। जो सरल हृदय नही होता उसके भावशुद्धि नही होती। इसलिए व्यवहार कुशल आचार्य उसे प्रायश्चित्त नही देते। भावशुद्धिके विना पाप दूर नही होता। इसलिए उसके रत्नत्रय निरतिचार नही होते ॥६१७॥

सरल या वक्र आलोचना कैसी होनी है जिसके होनेपर प्रायश्चित्त दिया जाता है या नही दिया जाता, यह कहते है—

गा०-टी०—वैद्य रोगीसे तीन बार पूछता है—तुमने क्या खाया था, क्या किया था, रोगकी क्या दशा है ? शरीरमें लगे घावकी भी तीन बार परीक्षा की जाती हे कि घाव भरा या नही ? चोरी होनेपर तीन बार पूछा जाता है कि क्या-क्या चोरीमें गया है, कैसे चोरी हुई है ? मालाकारसे भी तीन बार पूछा जाता है कि तेरी मालाका क्या मूल्य है। राजाने जिसे कार्य करनेकी आज्ञा दी है वह तीन बार पूछता है कि क्या इस प्रकार करूँ ? इसी प्रकार आलोचनाकी परीक्षा भी तीन बार की जाती है। अपना अपराध पुनः कहो ? ये सरल और वक्र आलोचनाके सम्बन्धमे पाँच दृष्टान्त हैं। यदि तीनो बार भी एकरूपसे ही कहता है तो सरल आलोचना है। यदि अन्य अन्यरूपसे कहता है तो वक्र आलोचना है ऐसा समझना चाहिए ॥६१८॥

गा०-टी०—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे प्रतिसेवनाके चार भेद हैं। द्रव्यप्रतिसेवनाके तीन प्रकार हैं क्योंकि सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे द्रव्यके तीन प्रकार हैं। चित्त ज्ञानको कहते हैं। कहा जाता है—जगत् तत्त्व चित्तमात्र है अर्थात् ज्ञानमात्र है। ज्ञान आत्मासे

---

१. णाउ टेदि अ० ।

धानं । सह चित्तेनात्मना वर्तते इति सचित्तं जीवशरीरत्वेनावस्थितं पुद्गलद्रव्य । न विद्यते चित्तं आत्मा यस्मिन्पुद्गले तदचित्त । मिश्र नाम सचित्ताचित्तपुद्गलसंहति. । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय जीवपरिगृहीता सचित्तशब्देनोच्यन्ते । अचित्त जीवेन परित्यक्तं शरीर [1]तयोरुपादाय क्षेत्रादिप्रतिसेवना च योज्या । 'अवि णो[2] जपदि' न कथयेद्यदि । 'जहाकमं' यथाक्रम । 'सव्वे' सर्वान् स्थूलान्सूक्ष्मांश्चातिचारान् । 'ण करंति' न कुर्वन्ति । 'तदो' तत । 'तस्स सोधि' तस्य शुद्धि । 'आगमववहारिणो' आगमानुसारेण व्यवहरन्त ।

एत्थ दु उज्जुगभावा ववहरिदव्वा भवंति ते पुरिसा ।
संका परिहरिदव्वा सेसे [3]पदुहि जहि विसुद्धा ॥ [ ]

इति वचनात् सर्वमतिचारं निवेदयत एव ऋजुता, तस्यैव प्रायश्चित्तदान ॥६१९॥

पडिसेवणादिचारे जदि [4]आजंपदि जहाकमं सव्वे ।
कुव्वंति तदो सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥६२०॥

स्पष्टा गाथा ॥६२०॥

यतिना निर्दोषायामालोचनायां कृतायां गणिना कि कर्तव्यमित्याशङ्किते तद्व्यापार कथयति—

सम्मं खवएणालोचिदम्मि छेदसुदजाणगो गणी सो ।
तो आगममीमंसं करेदि सुत्ते य अत्थे य ॥६२१॥

कथञ्चित् अभिन्न होता है अथवा आत्मामें रहता है इसलिए उसे चित्त शब्दसे कहते है। जो चित्त अर्थात् आत्माके साथ रहता है वह सचित्त है। अर्थात् जीवके शरीररूपमे स्थित पुद्गलद्रव्य सचित्त है। और जिस पुद्गलमें चित्त अर्थात् आत्मा नही है वह अचित्त है। सचित्त और अचित्त पुद्गलोका समूह मिश्र है। जीवके द्वारा ग्रहण किये गये अर्थात् जिनमे जीव वर्तमान है उन पृथिवी, जल, आग, वायु और वनस्पतिको सचित्त कहते हैं। जीवके द्वारा त्यागे हुए शरीरको अचित्त कहते है। इन सचित्त अचित्तको लेकर क्षेत्र प्रतिसेवना, काल प्रतिसेवना और भाव प्रतिसेवना लगा लेना चाहिए। इन प्रतिसेवनाके निमित्तसे हुए सब सूक्ष्म और स्थूल दोषोको यथाक्रम यदि नही कहता तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि नही करते। आगममें कहा है—

'जो पुरुष सरल भावसे अपने दोष कहते हैं वे प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्धि करने योग्य होते है। और जिनके विषयमे शका हो वे प्रायश्चित्त देनेके योग्य नही है।'

अत: सब अतिचारोको कहने वालेके ही सरलता होती है। उसीको प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥६१९॥

गा०—प्रतिसेवना सम्बन्धी सब अतिचारोको क्रमानुसार यदि कहता है तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि करते है ॥६२०॥

यतिके निर्दोष आलोचना करने पर आचार्यको क्या करना चाहिए? ऐसी आशका करने पर उसे कहते हैं—

---

१. तयोरुपादान क्षेत्रादि प्रतिसेवना योज्या—आ० मु०। २. जदि णाकुटिदि—अ०। ३. पादहि अ०। ४. आउंटेदि अ०।

'खवगेण सम्मं आलोचिदम्मि' क्षपकेन सम्यगालोचिते । **'छेदसुदजाणगो गणी सो'** छेदसूत्रज्ञ सूरि स । **'सो'** पश्चात् । **'आगममीमंसं'** आगमविचार । **'करेदि'** करोति । कथ ? **'सुत्ते य अत्थे य'** सूत्रे च अर्थे च । इदं सूत्रं अस्य चायमर्थ इति अपराधस्यैवभूतस्य इद प्रायश्चित्तमनेन सूत्रेण चेद निर्दिष्ट इति प्राग्निरूपयति ॥६२१॥

परिणामश्च निरूपयितव्यस्तदीय किमर्थमित्यत आह—

पडिसेवादो हाणी वड्ढी वा होइ पावकम्मस्स ।
परिणामेण दु जीवस्स तत्थ तिव्वा व मंदा वा ॥६२२॥

'पडिसेवादो जातस्स पावकम्मस परिणामेण हाणी वड्ढी वा होदि' । कीदृशी ? **तिव्वा वा मन्दा वा** इति पदघटना । प्रतिसेवनातो जातस्य पापकर्मण परिणामेन पाश्चात्येन करणेन हानिर्वा वृद्धिर्वा भवति । तीव्रा हानिस्तीव्रा वृद्धि । मन्दा वा हानिर्मन्दा वा वृद्धि ॥६२२॥

तदुभयव्याख्यानाय गाथाद्वयमुत्तरम्—

सावज्जसंकिलिट्ठो गालेइ गुणे णवं च आदियदि ।
पुव्वकदं व दढं सो दुग्गदिभ[1]वबंधणं कुणदि ॥६२३॥

'सावज्जसंकिलिट्ठो' सावद्य[2]सक्लेशो द्विप्रकार । सह अवद्येन पापेन वर्तत इति सावद्य एक । अन्यस्तु सक्लेशश्चित्तबाधा । न तु सावद्य । ज्ञान विमल किं मम न जायते, सम्पूर्ण चारित्र शरीर वा किमर्थमिदमति-

गा०—क्षपकके द्वारा सम्यक् आलोचना करने पर छेद सूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता आचार्य सूत्र और उसके अर्थको लेकर आगमका विचार करता है कि यह सूत्र है और इसका यह अर्थ है । इस प्रकारके अपराधका यह प्रायश्चित्त इस सूत्रमे कहा है, ऐसा पहले विचार करता है ॥६२१॥

दोषके अनुसार प्रायश्चित्तका विचार करने वाले आचार्यको अतिचारके समय तथा उसके बाद होने वाले क्षपकके परिणामोका भी विचार करना चाहिए क्योकि—

गा०—प्रतिसेवना अर्थात् असयम आदिका सेवन करनेसे उत्पन्न हुए पापकर्मकी पीछे हुए शुभ या अशुभ परिणामोंसे तीव्र हानि अथवा तीव्र वृद्धि, मन्द हानि अथवा मन्द वृद्धि होती है । अर्थात् असंयम सेवन करते समय जैसे तीव्र अशुभ परिणामसे तीव्र पाप बन्ध और मन्द अशुभ परिणामसे मन्द पापबन्ध हुआ था वैसे ही आलोचनाके पश्चात् तीव्र शुभ परिणाम होनेसे पापकी तीव्र हानि और मन्द शुभ परिणाम होनेसे पापकी मन्द हानि होती है इसका विचार भी आचार्य करते हैं ॥६२२॥

इन दोनो का व्याख्यान आगे दो गाथाओंसे करते है—

गा०-टी०—सावद्य सक्लेश दो प्रकारका है । एक वह जो अवद्य अर्थात् पापके साथ होता है । दूसरा सक्लेश है चित्तको बाधा । वह सावद्य रूप नही होता । जैसे मेरा ज्ञान निर्मल क्यो

१ भयवधण—मूलारा० । २. सावद्यसंक्लेशसहित क्लेशो—आ० ।

दुर्बलं तपोयोगासहमिति एवमादिकस्तन्निरासाय सावद्यविशेषणं सावद्यसंक्लिष्ट' । '**गालेवि गुणे**' गालयति गुणान् दर्शनज्ञानचारित्राणि । '**णवं च आदियदि**' कर्म च आदत्ते अभिनवं । '**पुव्वकदं च बढं कुणदि**' पूर्वाजितं च दृढीकरोति कषायपरिणामनिमित्तत्वात् स्थितिबन्धस्य । '**दुग्गदिभयकारणं**' दुर्गतय नारकत्वादय विचित्रवेदना-सहस्रसकुलास्तासु भय वर्द्धयति, यत्कर्माशुभ तदादत्ते स्थिरयति ॥६२३॥

पडिसेवित्ता कोई पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो ।
संवेगजणिदकरणो देसं घाएज्ज सव्वं वा ॥६२४॥

'**पडिसेवित्ता कोई**' कश्चित्कृतासयमादिसेवनोऽपि । '**पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो**' पश्चात्तापेन दह्यमान-चित्त । '**सवेगजणिदकरणो**' संसारभीरुताजनितसयमनक्रिय । '**देसं सव्वं वा घादेज्ज**' आत्माभिनवसचितकर्म-पुद्गलस्कधैकदेशनिर्जरा वा करोति, समस्त वा तद् घातयेत् । यदि मध्यमो मन्दो वा परिणामो देशं घात-यति । अथ तीव्र समस्त इति भाव. ॥६२४॥

तो णच्चा सुत्तविदू णालियधमगो व तस्स परिणामं ।
जावदिएण विसुज्झदि तावदियं देदि जिदकरणो ॥६२५॥

'**तो**' तस्मात् । '**णच्चा**' ज्ञात्वा । '**सुत्तविदू**' प्रायश्चित्तसूत्रज्ञः सूरि । किं ? '**तस्स परिणामं**' कृता-पराधस्य परिणाम । कथ परकीय परिणामो ज्ञायते इति चेत् सहवासेन तीव्रक्रोधस्तीव्रमान इत्यादिक सुज्ञात-मेव तत्कार्योपलम्भात्, तमेव वा परिपृच्छ्य, कीदृग्भवत परिणामोऽतिचारसमकाल वृत्त इति । किमिव ? '**णालि-यधमगोव्व**' नालिकया यो धमति सुवर्णकारः सोऽग्नेर्बलाबल विदित्वा धमन करोति, एव सूरिरपि अस्य कर्म तनुतर महद्वेति विदित्वा । '**जावदिगेण**' यावता प्रायश्चित्तेन । '**विसुज्झदि**' विशुद्धयति । '**तावदिगं**' तावत्परि-माण पायश्चित्त अल्प महद्वा । '**देदि**' ददाति । '**जिदकरणो**' परिचितप्रायश्चित्तदानक्रिय ॥६२५॥

नही होता ? या मेरे सम्पूर्ण चारित्र क्यों नही है ? मेरा शरीर क्यो इतना दुर्बल है कि तपोयोग-को सहन नही करता ? इत्यादि सक्लेश चित्त बाधारूप है। उससे अलग करनेके लिए सावद्य विशेषण देकर 'सावद्य सक्लिष्ट' कहा है। यह सावद्य सक्लेश सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र गुणोका नाश करता है। नवीन कर्मका बन्ध करता है। पूर्व सचित कर्मोंको दृढ करता है। क्योकि स्थिति बन्ध कषाययुक्त परिणामके निमित्तसे होता है। नाना प्रकारके हजारो वेद-नाओसे व्याप्त नारक आदि दुर्गतियोके भयको बढ़ाता है। अशुभ कर्मको स्थिर करता है ॥६२३॥

गा०-टी०—कोई असयम आदिका सेवन करके भी पश्चात्तापके द्वारा अपने चित्तको जलाता है अर्थात् उसे अपने कर्म पर पश्चात्ताप होता है और वह संसारसे भयभीत होकर सयम-का पालन करता है। तब वह अपने द्वारा संचित नवीन कर्म पुद्गल स्कन्धोके एक देशकी निर्जरा करता है अथवा समस्त कर्म पुद्गल स्कन्धका घात करता है। यदि परिणाम मध्यम या मन्द होते है तब एक देशकी निर्जरा करता है। और तीव्र होते है तो समस्तका घात करता है ॥६२४॥

गा०-टी०—अतः प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता और प्रायश्चित्त देनेकी क्रियासे परिचित आचार्य उस अपराधी भिक्षुके परिणामोको जानकर जितने प्रायश्चित्तसे उसकी विशुद्धि हो उतना ही थोड़ा या बहुत प्रायश्चित्त देते है। जैसे सुवर्णकार आगका बलाबल जानकर तदनुसार उसे धौकनी से धौकता है। उसी प्रकार आचार्य भी उसका अपराध थोड़ा या बहुत है यह जानकर प्रायश्चित्त देते है। दूसरेके परिणाम आचार्य कैसे जानते है ? इसका उत्तर है कि साथ रहनेसे यह

आउव्वेदसमत्ती तिगिंछिदे मदिविसारदो वेज्जो ।
रोगादंकाभिहदं जह णिरुजं आदुरं कुणइ ।।६२६।।

'**आउव्वेदसमत्ती**' निर्ज्ञातसमस्तायुर्वेद । '**तिगिंछिदे**' चिकित्सायां । '**मदिविसारदो**' बुद्धया निपुण । '**वेज्जो**' वैद्य. । '**रोगातंकाभिहदं**' महता अल्पेन वा व्याधिना पीडित । '**आदुरं**' व्याधित । '**जह**' यथा । '**णिरुजं कुणदि**' विशुद्धं करोति ।।६२६।।

एवं पवयणसारसुयपारगो सो चरित्तसोधीए ।
पायच्छित्तविदण्हू कुणइ विसुद्धं तयं खवयं ।।६२७।।

'**एवं पवयणसारसुयपारगो**' प्रवचने यत्सारभूत श्रुतं तस्य पारगत । '**पायच्छित्तविदण्हू**' प्रायश्चित्त-क्रमज्ञ. । '**चरित्तसोधीए**' चारित्रशुद्धया । '**तयं खवयं**' तक क्षपकं । '**विसुद्ध कुणदि**' विशुद्ध करोति ।।६२७।।

स्थविरे व्यार्वाणतगुणे असत्यन्योऽपि भवति निर्यापक इति शङ्कायां कथयति—

एदारिसंमि थेरे असदि गणत्थे तहा उवज्झाए ।
होदि पवत्ती थेरो गणधरवसहो य जदणाए ।।६२८।।

'**एदारिसम्मि**' व्यावर्णितगुणे । '**थेरे**' स्थविरे अविद्यमाने । '**गणत्थे**' गणस्थे । '**तहा**' तथा । '**उवज्झाए**' उपाध्याये वाऽसति । '**होदि**' भवति । '**णिज्जवओ**' निर्यापक । '**पवत्ती**' प्रवर्तक । '**थेरो**' स्थविरश्चिरप्रव्र-जितो मार्गज्ञो । '**गणधरवसहो य**' बालाचार्यो वा । '**जदणाए**' यत्नेन प्रवर्तमान । एवमालोचनायां गुणदोष-निरूपणा समाप्ता ।।६२८।।

सो कदसामाचारी सोज्झं कट्टु विधिणा गुरुसयासे ।
विहरदि सुविसुद्धप्पा अब्भुज्जदचरणगुणकंखी ।।६२९।।

'**सो कदसामाचारी**' स क्षपक कृतसमाचार । '**सोज्झं**' शुद्धि । '**कट्टु**' कृत्वा '**विधिणा**' विधिना ।

ज्ञात हो जाता है कि यह तीव्र क्रोधी या तीव्र मानी है। अथवा उसीसे पूछनेसे कि दोष करते समय आपके परिणाम कैसे थे, ज्ञात हो जाता है ।।६२५।।

गा०—अथवा जैसे समस्त आयुर्वेदका ज्ञाता और चिकित्सामे निपुण बुद्धि वाला वैद्य महती अथवा अल्प व्याधिसे पीडित रोगीको नीरोग करता है ।।६२६।।

गा०—उसी प्रकार प्रवचनके सारभूत श्रुतका पारगामी और प्रायश्चित्तके क्रमका ज्ञाता आचार्य चारित्रकी शुद्धिके द्वारा उस क्षपकको विशुद्ध करता है ।।६२७।।

उक्त गुणवाला आचार्य न होने पर क्या अन्य भी निर्यापक हो सकता है ? इसका समाधान करते है—

गा०—उक्त गुणवाले आचार्यके तथा उपाध्यायके संघमें न होने पर सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला प्रर्वतक अथवा स्थविर अथवा बालाचार्य निर्यापक होता है। जो अल्प शास्त्रज्ञ होते हुए भी सर्व संघकी मर्यादा चर्याको जानता है उसे प्रवर्तक कहते हैं। जिसे दीक्षा लिए बहुत काल बीत गया है तथा जो मार्गको जानता है उसे स्थविर कहते है ।।६२८।।

'गुरुसयासे' गुरुसमीपे । 'विहरदि' प्रवर्तते । 'सुविसुद्धप्पा' सुष्टु विशुद्धात्मा । 'अब्भुज्जदचरणगुणकंखी' अभ्युद्यतचारित्रगुणकांक्षासमन्वितः ॥६२९॥

एवं वासारत्ते फासेदूण विविधं तवोकम्मं ।
संथारं पडिवज्जदि हेमंते सुहविहारम्मि ॥६३०॥

'एवं वासारत्ते' वर्षाकाले 'फासेदूण' स्पृष्ट्वा । 'विविध' नानाप्रकारं । 'तवोकम्मं' तपःकर्म। 'संथारं' संस्तरं । 'पडिवज्जदि' प्रतिपद्यते । 'हेमंते' शीतकाले । 'सुहविहारम्मि' सुखविहारे । अनशने समुद्यतस्य महान्परिश्रमो न भवति तत्र काले इति सुखविहारमित्युच्यते ॥६३०॥

सव्वपरियाइयस्स य पडिक्कमित्तु गुरुणो णिओगेण ।
सव्वं समारुहित्ता गुणसंभारं पविहरिज्जा ॥६३१॥

'सव्वपरियाइयस्सय' सर्वस्य ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायस्य अतिचारान् । 'पडिक्कमित्तु' प्रतिनिवृत्तो भूत्वा । 'गुरुणिओगेण' गुरूपदेशेन । 'गुणसंभारं' गुणानां समूहं । 'सव्वं' कृत्स्नं 'समारुहित्ता' सम्यगारुह्य । 'पविहरिज्ज' प्रवर्तेत । आलोचनागुणदोषा ॥६३१॥

कीदृशी वसतिर्योग्या का वा नेत्येतद्व्याचष्टे उत्तरेण ग्रन्थेन तथा योग्या निरूपयति—

गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य ।
णत्तियरजया पाडहियडोंबणडरायमग्गे य ॥६३२॥

'गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य' गायकानां, नर्तकानां, गजानामश्वानां च शालायां, तिलमर्दनकुम्भकारशालायां च यन्त्रशालायां रजकपाटहिकडोंबनटगृहाणां समीपे । राजमार्गस्य वा समीपभूतायां वसतौ ॥६३२॥

गा०—वह क्षपक सामाचारी करके विधिपूर्वक प्रायश्चित्त द्वारा अपने दोषोकी विशुद्धि करता है। और अच्छी तरहसे आत्माको विशुद्ध करके स्वीकृत चारित्रमे गुणोकी इच्छा करता हुआ गुरुके पासमे साधना करता है ॥६२९॥

गा०—इस प्रकार वर्षाकालमें नाना प्रकारके तप करके सुख विहार वाले हेमन्त ऋतुमें संस्तरका आश्रय लेता है। हेमन्त ऋतुमे अनशन आदि करने पर महान् परिश्रम नही होता, सुखपूर्वक हो जाता है इसलिए उसे सुखविहार कहा है ॥६३०॥

गा०—समस्त ज्ञान दर्शन और चारित्रके अतिचारोसे शुद्ध होकर, गुरुके उपदेशसे समस्त गुणोके समूहको धारण करके क्षपकको समाधि मरणमे लगना चाहिए ॥६३१॥

आगे कौन वसतिका योग्य है और कौन अयोग्य है यह कहते हैं। प्रथम अयोग्यका कथन करते है--

गा०—गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, कुम्भकारशाला, यन्त्रशाला, शंख हाथी दाँत आदिका काम करने वालोका स्थान, कोलिक, धोबी, बाजा बजाने वाले, डोम, नट और राजमार्गके समीपका स्थान ॥६३२॥

चारणकोट्टगकल्लालकरकचे पुप्फदयसमीपे य ।
एवंविधवसधीए होज्ज समाधीए वाघादो ॥६३३॥

'चारणकोट्टगकल्लालकरकचे' चारणकोट्टकशालाया, रजकशालायां, रसवणिक्शालाया । पुष्पवाटस्य वा जलाशयस्य वा समीपभूताया । **'एवंविधवसधीए'** ईदृश्या वसतौ वसत । **'होज्ज वाघादो'** भवति व्याघात । कस्य ? **'समाधीए'** समाधेश्चित्तैकाग्र्यस्य । इन्द्रियविषयाणा मनोज्ञाना शब्दाना रूपादीना च सन्निधानाच्छब्दबहुलत्वाच्च ध्यानविघ्नो भवतीति प्रतिषिध्यते व्यावर्णिता वसति ॥६३३॥

क्व तर्हि कथ तिष्ठत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पंचिदियप्पयारो मणसंखोभकरणो जहिं णत्थि ।
चिट्ठदि तहिं तिगुत्तो ज्झाणेण सुहप्पवत्तेण ॥६३४॥

'पंचिदियप्पयारो' पञ्चानामिन्द्रियाणां स्वविषयाभिमुख्येनादरात् प्रकृष्ट गमन । **'जहिं'** यस्या वसतौ नास्ति । कीदृगिन्द्रियप्रचारो **'मणसखोभकरणो'** मन सक्षोभकारी । **'तहिं'** तस्या वसतौ । **'चिट्ठदि'** तिष्ठति । **'तिगुत्तो'** कृतमनोवाक्कायसरक्षक । **'ज्झाणेण'** ध्यानेन । **'सुहप्पवत्तेण'** सुखप्रवृत्तेन ॥६३४॥

मन सक्षोभहेतु पञ्चानामिन्द्रियाणा प्रचारो यस्या वसतौ नास्ति तस्या सर्वस्या तिष्ठति न वेत्याचष्टे—

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए हु ।
वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥६३५॥

'उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए' उद्गमोत्पादनैषणादोषरहिताया । **'अकिरियाए हु'** [1]आत्मानमुद्दिश्य उपलेपनमार्जनक्रियारहिताया । **'वसदि'** वसति आस्ते । **'असंसत्ताए'** तत्रस्थैरागन्तुकैश्च सत्त्वैर्वर्जिताया ।

गा०-टी०—चारणशाला, पत्थरका काम करनेवालोका स्थान, कलालोका स्थान, आरासे चीरने वालोका स्थान, पुष्पवाटिका, मालाकारका स्थान, जलाशयके समीपका स्थान वसतिके योग्य नही है। ऐसी वसतिकामे रहनेसे समाधिका व्याघात होता है। इन्द्रियोके विषय मनोज्ञ शब्द रूप आदिके सम्बन्धसे तथा शब्दोकी बहुलता—होहल्लेसे ध्यानमे विघ्न होता है। इसलिए ऊपर कही वसतिकाओका निषेध किया है ॥६३३॥

तब कहाँ रहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जहाँ मनको सक्षोभ करने वाला पाँचो इन्द्रियोका अपने विषयोमे उत्सुकतापूर्वक गमन सभव नही है उस वसतिकामें साधु क्षपक मन वचन कायको गुप्त करके, सुखपूर्वक ध्यान करता हुआ निवास करता है ॥६३४॥

मनको सक्षोभका कारण पाँचों इन्द्रियोंका विषयोंमे गमन जहाँ नही है ऐसी सब वसतिकाओमें क्या निवास करता हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जो वसति उद्गम उत्पादन और एषणा दोषसे रहित होती है, अपने उद्देशसे जिसमें लिपाई पुताई आदि नही कराई गई है जिसमें उसी वसतिकामें रहने वाले तथा बाहरसे

---

१. आत्मना उप–आ० मु० ।

'णिप्पाहुडिगाए' सस्काररहिताया । **'सेज्जाए'** वसतौ ।।६३५।।

निर्दोषा वसतिस्तर्हि का आश्रयितव्या इत्यत्र वसतिं व्यावर्णयति—

सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ अवियडअणंधयाराओ ।
दो तिण्णि वि ¹वसधीओ घेत्तव्वाओ विसालाओ ।।६३६।।

'सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ' अक्लेशप्रवेशनिर्गमन²घना । **'अवियडअणधयाराओ'** अविवृतद्वारा अनन्धकाराश्च जघन्यतो द्वे शाले ग्राह्ये । एकत्र क्षपको वसति, अन्यस्या अन्ये यतयो बाह्यजनाश्च धर्मश्रवणार्थमायाता । विवृतद्वारतया शीतवातादिप्रवेशात्त्वगस्थिमात्रतनोर्दुस्सह दु ख स्यात् । शरीरमलत्यागोऽपि कथमप्रच्छन्ने क्रियेत । अन्धकारबहुले असयम स्यात् । असुखनिष्क्रमणप्रवेशनाया आत्मविराधना सयमविराधना च ।।६३६।।

अन्यच्चाचष्टे—

घणकुडुडे सकवाडे गामबहिं बालवुड्ढगणजोग्गे ।
उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे ।।६३७।।

'घणकुड्डे' दृढकुड्ये । **'सकवाडे'** कपाटसहिते । **'गामबहिं'** ग्रामबाह्ये देशे । **'बालवुड्ढगणजोग्गे'** बालाना वृद्धाना गणस्य चतुर्विधस्य योग्ये उद्यानगृहे । **'गुहाए'** गुहाया । वा **'सुण्णघरे'** शून्यगृहे वा । **'संथारो होदित्ति'** क्रियापदाभिसम्बन्ध. ।।६३७।।

आने वाले प्राणी आकर वास नही करते, तथा जो सस्कार रहित वसति है उसमे साधु निवास करते है ।।६३५।।

तब कैसी निर्दोष वसतिमें रहना चाहिए, इसके उत्तरमे वसतिका वर्णन करते है—

गा०-टी०—जिसमे विना कष्टके सुखपूर्वक प्रवेश और निर्गमन होता हो, जिसका द्वार खुला न हो तथा जिसमे अन्धकार न हो। ऐसी दो अथवा तीन विशालवसतिका ग्रहण करनी चाहिए। जघन्यसे दो वसति लेना चाहिए। एकमे क्षपक रहता है। दूसरीमे अन्य यति और धर्म सुननेके लिए आये बाहरके आदमी रहते हैं। [यदि तीन ग्रहण करते हैं तो एकमे क्षपक, एकमें अन्य यति और एकमे धर्मोपदेश होता है] यदि वसतिका द्वार खुला हो तो शीतवायु आदिके प्रवेशसे हाडचाममात्र शेष रहे क्षपकको दुसह दु ख होता है। खुले स्थानमें वह मलमूत्रका त्याग भी कैसे करेगा ? अन्धेरी वसतिमे असंयम होगा–जीवजन्तु दृष्टिगोचर नही होगे। सुखपूर्वक आना जाना सम्भव न होनेसे अपनी भी विराधना होती है और सयम की भी विराधना होती है ।।६३६।।

और भी कहते है—

गा०—जिसकी दीवार मजबूत हो, कपाट सहित हो, गाँवके बाहर ऐसे प्रदेशमे हो जहाँ बच्चे बूढे और चार प्रकारका संघ जा सकता हो, ऐसी वसतिमें, उद्यानघरमे, गुफामें अथवा शून्यघरमे क्षपकका सथरा होता है ।।६३७।।

---

१. शालाओ–मु० । २. मना अपि–आ० मु० ।

आगंतुघरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलीहिं कायव्वो।
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥६३८॥

'आगंतुघरादीसु वि' आगन्तुकै. स्कन्धावारायातै सार्थिकै कृतेषु गृहादिषु **'संथारो होदित्ति'** वक्ष्यमाणेन सम्बन्ध । उक्तानां वसतीनामलाभे **'कडएहिं खवगस्सोच्छागारो कायव्वो'** कटकै. क्षपकस्य अवस्थितये प्रच्छादनं कार्यं । **'धम्मसवणमंडवादी य'** धर्मश्रवणमडपादिक च । अनेन बहुतरासयमनिमित्तवसतित्याग:, सयमसाधनवसतिविकल्पश्च कथित । सेज्जा ॥६३८॥

एवंभूताया वसतौ सस्तर इत्थंभूत इत्याचष्टे—

पुढवीसिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संथारो।
होदि समाधिणिमित्तं उत्तरसिर अह व पुव्वसिरो ॥६३९॥

'पुढवीसंथारो होदि' पृथ्वीसस्तरो भवति । **'सिलामओ वा'** शिलामयो वा । **'फलकमओ वा'** फलकमयो वा । **'तणमओ वा'** तृणमयो वा **'समाधिणिमित्त'** समाध्यर्थं । **'उत्तरसिरमथ पुव्वसिर'** पूर्वोत्तमाग उत्तरोत्तमागो वा सस्तर कार्य । प्राची दिगभ्युदयिकेषु कार्येषु प्रशस्ता । अथवोत्तरा दिक् स्वयप्रभाद्युत्तरदिग्गततीर्थकरभक्त्युद्देशेन ॥६३९॥

भूमिसंस्तरनिरूपणाय गाथा—

अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य।
असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो ॥६४०॥

'अघसे' अमृद्वी । **'समे'** अनिम्नोन्नता । **'असुसिरे'** असुषिरा **'अबिला'** । **'अहिसुया'** उद्देहिकारहिता । **'अप्पपाणे'** निर्जन्तुका । **'असिणिद्धे'** अनार्द्रा । **'घणगुत्ते'** घना गुप्ता । **'उज्जोवे'** उद्योतवती भूमि

गा०—सेनाके पडावके साथ आये हुए व्यापारियोके द्वारा बनाये गये घरोमे और आदि शब्दसे इस प्रकारके श्रमणोंके योग्य उद्यानगृह आदिमे क्षपकका सन्थरा करना चाहिए। उक्त प्रकारकी वसतियोके न मिलनेपर क्षपकके रहनेके लिए बाँसके पत्तोसे आच्छादित और प्रकाशके लिए झीरी सहित घर बना देना चाहिए। तथा धर्म सुननेके लिए मण्डप आदि भी बना देना चाहिए। इससे बहुत असयममें निमित्त वसतिका त्याग और सयममे साधन वसतिका निर्माण कहा ॥६३८॥

गा०—इस प्रकारकी वसतिमें इस प्रकारका सस्तर होना चाहिए, यह कहते है—समाधिके निमित्त संथरा पृथिवीमय, या शिलामय या फलकमय—लकडीका, अथवा तृणोका होता है। उसका सिर उत्तर की ओर अथवा पूरब की ओर होना चाहिए, क्योकि लोकमे मांगलिककार्योंमे पूरब दिशा अच्छी मानी जाती है उसीमे सूर्यका उदय होता है। अथवा उत्तर दिशामे विदेह क्षेत्रमें स्थित तीर्थंकरोंके प्रति भक्ति प्रदर्शित करनेके उद्देशसे उत्तरदिशा भी शुभ मानी जाती है ॥६३९॥

पृथ्वीमय संस्तरका कथन करते हैं—

गा०-टी०—जो भूमि कठोर हो, ऊँची नीची न हो, सम हो, छिद्र रहित हो, चींटी आदिसे

'भूमिसंथारो' भूमिसंस्तरः । मृद्वी भूमिर्बाध्यते गात्रकरचरणमर्दनेन । असमाने तदात्मनो बाधा । सुषिरे बिले वा प्रविष्टा निर्गतास्तत्रस्याः पीड्यन्ते । आर्द्रा चेदप्कायिकाना पीडा । अनुद्योते अपश्यत कथमसयमपरिहारः । अन्ये तु सप्तम्यन्तता व्याचक्षते । अमृद्वयां अनिम्नोन्नतायामसुषिराया इति तदयुक्त । आधेयस्य सस्तरस्य अन्यस्याभावात् । अपि च पुढवी सिलामओ वा इति वचनेन पृथिवीरूपतया संस्तरस्योक्ते ॥६४०॥

विद्धत्थो य अफुडिदो णिक्कंपो सव्वदो असंसत्तो ।
समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो ॥६४१॥

विद्धत्थो य विध्वस्त दाहात्कुट्टनाद्घर्षणाद्वा । **'अफुडिदो'** अस्फुटितः । **'णिक्कंपो'** निश्चल । **'सव्वदो'** समन्तात् । **'असंसत्तो'** जीवरहित । पाषाणमत्कुणादिरहित इति यावत् । **'समपट्ठो'** समपृष्ठ. । **'उज्जोए'** उद्योते । **'सिलामओ होदि संथारो'** शिलामयो भवति सस्तर ॥६४१॥

भूमिसमरुंदलहुओ अकुक्कुचोकंग[1] अप्पमाणो य ।
अच्छिद्दो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसंथारो ॥६४२॥

'भूमिसमरुंदलहुगो' भूम्यवलग्न , महान् लघु. । [1]**'अकुक्कुचोगंगि अप्पमाणो य'** अचल , एकशरीर , निर्जन्तुक । **'अच्छिद्दो य'** अच्छिद्र । **'अफुडिदो'** अस्फुटित । **'लण्हो'** मसृण । **फलगसंथारो'** फलकसस्तर ॥६४२॥

रहित हो, जन्तुरहित हो, क्षपकके शरीरके बराबर प्रमाणवाली हो, गीली न हो, मजबूत और गुप्त हो, प्रकाशसहित हो वही भूमि सस्तररूप होती है। कोमल भूमि शरीर हाथ पैरके दबावसे दब जाती है। ऊँची-नीची भूमिमे क्षपकको कष्ट होता है। बिल होनेसे उनमे रहनेवाले या उनसे निकलनेवाले जीवोंको पीड़ा होती है। गीली होनेसे जलकायिक जीवोंको पीडा पहुँचती है। प्रकाशरहित भूमिमे कुछ दिखाई न देनेसे असयमसे बचाव नही होता।

अन्य व्याख्याकार उक्त शब्दोंकी सप्तमी विभक्तिपरक व्याख्या करते है कि कठोर भूमिमे, छिद्ररहितमे सस्तर होना चाहिए आदि। किन्तु यह युक्त नही है क्योंकि आधेय संस्तर भूमिसे भिन्न नही है भूमि ही सस्तररूप होती है। तथा 'पुढवीसिलामओवा' गाथाके इस पदसे सस्तरको पृथ्वीरूप कहा है।

विशेषार्थ—यदि भूमिमे चीटी आदिका वास होता है तो सन्यासकालमे वे क्षपकको काट सकती है। जन्तुसहित होनेपर प्राणिसयमकी विराधना होती है। क्षपकके शरीरके प्रमाणसे अधिक होनेपर व्यर्थ प्रतिलेखना आदि करना होती है। शरीरके प्रमाणसे कम होनेपर क्षपकको शरीर सकोचनेसे दुख होता है। यदि भूमि दृढ न हो तो शरीरके भारसे दबनेपर उसके अन्दर जन्तु हो तो उन्हे बाधा होती है और क्षपकको भी कष्ट होता है। प्रकट भूमि होनेपर मिथ्यादृष्टिजनोंका सम्पर्क होता है ॥६४०॥

गा०—शिलामय सस्तर आगसे, कूटनेसे अथवा घिसनेसे प्रासुक हुआ हो, टूटा-फूटा न हो, निश्चल हो, सब ओरसे जीवरहित हो, अर्थात् पत्थरमे रहनेवाले खटमल आदिसे रहित हो। समतल हो, ऊँचा-नीचा न हो। प्रकाशयुक्त हो। ऐसा शिलामय संस्तर होता है ॥६४१॥

गा०—फलकसंस्तर सब ओरसे भूमिसे लगा हो, विस्तीर्ण हो, हलका हो, उठाने लाने ले

---

१. अकुडिलएगगि आ० मु० । १. अवक्त एवंगंगि—आ० ।

णिस्संधी य अपोल्लो णिरुवहदो समधिवास्सणिज्जतु ।
सुहपडिलेहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो ॥६४३॥

'**णिस्संधी य**' ग्रन्थिरहित । '**अपोल्लो**' अच्छिद्र । '**णिरुवहदो**' निरुपहत अचूर्णित । **समधिवास्स-णिज्जन्तु** मृदुस्पर्शो निर्जन्तुकश्च । '**सुहपडिलेहो** सुखेन प्रतिलेखनीय सुखेन शोध्य इति यावत् । '**मउगो**' मृदु । **तणसंथारो हवे चरिमो**' तृणसस्तरो भवेदन्त्य ॥६४३॥

जुत्तो पमाणरइओ उभयकालपडिलेहणासुद्धो ।
विधिविहिदो संथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण ॥६४४॥

'**जुत्तो**' युक्तो योग्य । '**पमाणरइदो**' प्रमाणसमन्वित । नात्यल्पो नातिमहान् । '**उभयकालपडि-लेहणासुद्धो**' सूर्योदयास्तमनकालद्वये प्रतिलेखनेन शुद्ध । '**विधिविहिदो सथारो**' शास्त्रनिर्दिष्टक्रमकृतसस्तर । '**आरोहव्वो**' आरोढव्य । केन ? '**तिगुत्तेण**' त्रिगुप्तेन कृताशुभमनोवाक्कायनिरोधेन ॥६४४॥

णिसिदित्ता अप्पाणं सव्वगुणसमण्णिदंमि णिज्जवए ।
संथारम्मि णिसण्णो विहरदि सल्लेहणाविधिणा ॥६४५॥

'**णिसिदित्ता**' स्थापयित्वा त्यक्त्वा । '**अप्पाणं**' आत्मान । '**सव्वगुणसमण्णिदम्मि**' सर्वगुणसमन्विते **णिज्जवगे**' निर्यापके । '**संथारम्मि**' सस्तरे । '**णिसण्णो**' निषण्णो । '**विहरदि**' चेष्टते । '**सल्लेहणा विहिणा**' सल्लेखना द्विप्रकारा बाह्याभ्यन्तरा चेति । द्रव्यसल्लेखना भावसल्लेखना च । आहार परिहाय शरीरसल्लेखना

जानेमें सुकर हो, अचल हो—शब्द न करता हो, एकरूप हो, जन्तुरहित हो, छिद्ररहित हो, टूटा-फूटा न हो, चिकना हो। ऐसा फलक सस्तर होता है ॥६४२॥

विशेषार्थ—प० आशाधरजीने अपनी टीकामे 'अप्पपाणो' के स्थानमे 'अप्पमाणो' पाठ रखकर उसका अर्थ पुरुष प्रमाण किया है अर्थात् फलक क्षपकके शरीरके प्रमाण होना चाहिए ॥६४२॥

गा०—तृणसस्तर गाँठरहित तृणोसे बना हो, तृणोके मध्यमे छिद्र न हो, टूटे तृण न लगे हो, मृदुस्पर्शवाला हो, जन्तुरहित हो, सुखपूर्वक शुद्धि करनेके योग्य हो, और कोमल हो। ऐसा अन्तिम तृणसस्तर होता है ॥६४३॥

विशेषार्थ—प० आशाधरजी ने अपनी टीकामे 'समधिवास्स' का अर्थ 'सम्यक् रूपसे अधिवास करनेके योग्य' किया है अर्थात् जिसपर लेटनेसे खाज पैदा न हो ॥६४३॥

गा० - इस प्रकार सस्तर योग्य हो, प्रमाणयुक्त हो—न बहुत छोटा हो और न बहुत बडा हो, दोनो समय अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्तके समय प्रतिलेखना द्वारा शुद्ध किया गया हो, और शास्त्रमें निर्दिष्ट क्रमके अनुसार बनाया गया हो। ऐसे सस्तर पर अशुभ मन वचन कायका निरोध करके क्षपकको आरोहण करना चाहिए ॥६४४॥

गा०-टी०—सर्वगुणोसे सम्पन्न निर्यापकाचार्य पर अपनेको समर्पित करके क्षपक सस्तर पर आरोहण करता है और सल्लेखनाकी विधिसे विचरता है। सल्लेखनाके दो प्रकार हैं—बाह्य और अभ्यन्तर। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भावसल्लेखना। आहारको त्यागकर शरीरकी सल्ले-

करोति । सम्यग्दर्शनादिभावनया मिथ्यात्वादिपरिणामास्तनूकरोति । [1]एव वसतिसंस्तरोति एवं वसतिसंस्तरौ निरूपितौ ॥६४५॥

निर्यापकान्निरूपयति—

पियधम्मा दढधम्मा संविग्गा वज्जभीरुणो धीरा।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥६४६॥

'**पियधम्मा**' प्रियो धर्मो येषा ते भवन्ति प्रियधर्माण. । '**दढधम्मा**' धर्मे स्थिरा । '**संविग्गा**' सविग्ना ससारभीरवः । '**वज्जभीरुणो**' पापभीरवो । '**धीरा**' धृतिमन्त । '**छंदण्हू**' अभिप्रायज्ञा । '**पच्चइगा**' प्रत्ययिता । '**पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू**' प्रत्याख्यानक्रमज्ञा । धर्मश्चारित्र तेन प्रियचारित्रा यतय । ततश्चारित्रे क्षपकमपि वर्तयितुमुत्सहन्ते तत्साहाय्यता च कर्तुं । यद्यपि चारित्रेऽनुरागवन्त सम्यग्दृष्टितया तथापि चारित्रमोहोदयाददृढचारित्रा भवन्ति इति विशेषणमुपादत्ते दृढचारित्रा इति । अदृढचारित्रा हि न असयमं परिहरेयु । कस्मादसयम परिहरन्ति पापभीरवो यस्मात् ? संविग्ना विचित्रव्यसननि[2]धानभूतचतुर्गतिभ्रमणभयव्याकुला । धीरा इत्यनेन परीषहसहा इत्याख्यायते । परिषहै पराजितो न सयम परिपालयतीति मन्यते । क्षपकेण अनुक्तमपि तदिङ्गितेनावगततत्प्रयोजना वैयावृत्ये वर्तन्ते । [3]नानभिप्रायज्ञा इति दर्शयितु छन्दण्हू इत्युक्त । प्रत्ययितव्या गुरूणांमी असयमं कुर्वन्ति क्षपके वैयावृत्योद्यता इति साकारनिराकारप्रत्याख्यानक्रमज्ञा ॥६४६॥

खना करता है। और सम्यग्दर्शन आदि भावनासे मिथ्यात्व आदि परिणामोको कृश करता है। इस प्रकार वसति और सस्तरका कथन किया ॥६४५॥

अब निर्यापकोका कथन करते है—

गा०—जिन्हे धर्म प्रिय है, जो धर्ममे स्थिर है, ससारसे भीरु है, पापसे डरते है, धैर्यवान् है, अभिप्रायको जानते हैं, विश्वासके योग्य हैं, प्रत्याख्यानके क्रमको जानते है, ऐसे यति निर्यापक होते है ॥६४६॥

टी०—यहाँ धर्मसे चारित्रका अभिप्राय है। अतः निर्यापक यतियोको चारित्र प्रिय होता है। इससे वे क्षपकको भी चारित्रमे प्रवृत्ति करनेके लिए उत्साहित करते है और उसकी सहायता करते है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि होनेसे यति चारित्रमे अनुराग रखते है तथापि चारित्र मोहका उदय होनेसे चारित्रमे दृढ नही होते। इसलिए 'दृढ चारित्र' विशेषण दिया है। जिनका चारित्र दृढ़ नही होता वे असयमका परिहार नही करते। पापभीरु होनेसे असयमका परिहार करते है क्योकि वे विचित्र दुःखोकी खानरूप चार गतियोमें भ्रमणके भयसे व्याकुल होते है। तथा 'धीर' पदसे परीषहोका सहने वाले कहा है। जो परीषहोसे हार जाता है वह सयमका पालन नही करता ऐसा माना जाता है। क्षपकके न कहने पर भी उसके संकेत मात्रसे उसका अभिप्राय जानकर वैयावृत्यमे प्रवृत्त होते हैं इसलिए निर्यापक अभिप्रायको न जानने वाले नही होते। यह बतलानेके लिए 'छंदण्हु' कहा है। तथा गुरुओके द्वारा विश्वास योग्य होते हैं कि ये असयम नही करते और क्षपककी वैयावृत्यमें तत्पर रहते हैं। वे साकार और निराकार प्रत्याख्यानके क्रमको जानते है। अर्थात् उक्त गुण युक्त होने पर भी जिन्होने पहले किसी क्षपककी समाधि नही देखी है ऐसे यतियो-

---

१ 'एवं सस्तरोति' इति पाठो नास्ति आ० मु०। २ विधान–अ०। ३ नानाभि–अ० मु०।

कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जुदा सुदरहस्सा ।
गीदत्था भयवंतो अडदालीसं तु णिज्जवया ॥६४७॥

'**कप्पाकप्पे कुसला**' योग्यमिदमयोग्यमिति भक्तपानपरीक्षाया कुशला । '**समाधिकरणुज्जुदा**' क्षपक-चित्तसमाधानकरणोद्यता । '**सुदरहस्सा**' श्रुतप्रायश्चित्तग्रन्था । '**गीदत्था**' गृहीतसूत्रार्था. । भगवन्ते भगवन्त स्वपरोद्धरणमाहात्म्यवन्त । '**अडदालीसं तु**' अष्टचत्वारिंशत्सख्या । '**णिज्जवगा**' निर्यापिका यतय ॥६४७॥

निर्यापिका इम इममुपकारं कुर्वन्तीति कथनायोत्तरप्रबन्ध —

आमासणपरिमासणचंकमणसयण-णिसीदणे ठाणे ।
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा-उंटणादीसु ॥६४८॥

'**आमासणपरिमासणचंकमणसयणणिसीयणे ठाणे**' क्षपकस्य शरीरैकदेशस्य स्पर्शन आमर्शन, समस्त-शरीरस्य हस्तेन स्पर्शन परिमर्शन । चकमणमितस्तो गमन शयन । '**णिसीदणे ठाणे**' निषद्यास्थानमित्येतेषु । '**उव्वत्तणपरियत्तणपसारणाउंटणादीसु**' उद्वर्तने पार्श्वात्पार्श्वान्तरसचरणे । हस्तपादादिप्रसारणे आकुञ्चन-मित्यादिषु च ॥६४८॥

संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता ।
चदुरो समाधिकामा ओलग्गंता पडिचरंति ॥६४९॥

'**संजदकमेण**' प्रयत्नेनैव । '**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**देहकिरियासु**' शरीरक्रियासु व्यावर्णितासु । '**णिच्च**' प्रतिदिन । '**आउत्ता**' आयुक्ता । '**चदुरो**' चत्वारो यतय । समाधिकामा क्षपकस्य समाधिकरणमभिलषन्त । '**ओलग्गंता**' उपासना कुर्वन्त । '**पडिचरन्ति**' प्रतिचारका भवन्ति ॥६४९॥

को गुरु क्षपककी परिचर्यामे नियुक्त नही करते । किन्तु जो विश्वस्त होते है उन्हे ही नियुक्त करते हैं ॥६४६॥

गा०—जो यह योग्य है और यह अयोग्य है इस प्रकार भोजन और पानकी परीक्षामे कुशल होते हैं, क्षपकके चित्तका समाधान करनेमे तत्पर रहते है, जिन्होने प्रायश्चित्त ग्रन्थोको सुना है, जो सूत्रक अर्थको हृदयसे स्वीकार किये है, अपने और दूसरोके उद्धार करनेके माहात्म्यसे शोभित है । ऐसे अडतालीस निर्यापक यति होते है ॥६४७॥

निर्यापक क्या-क्या करते है, यह कहते है—

गा०—क्षपकके शरीरके एकदेशके स्पर्शन करनेको आमर्शन कहते हैं । और समस्त शरीर-का हस्तसे स्पर्शन करनेको परिमर्शन कहते है । इधर-उधर जानेको चंक्रमण कहते हैं । अर्थात् परिचारक मुनि क्षपकके शरीरको अपने हाथसे सहलाते है, दबाते है । चलने फिरनेमें सहायता करते हैं । सोने, बैठने, उठनेमें सहायता करते हैं । उद्वर्तन अर्थात् एक करवटसे दूसरी करवट लिवाते हैं । हाथ पैर फैलानेमें संकोचनेमें सहायता करते है ॥६४८॥

गा०—चार परिचारक यति मुनिमार्गके अनुसार क्षपककी ऊपर कही शारीरिक क्रियाओंमें प्रतिदिन लगे रहते हैं । वे क्षपककी समाधिकी कामना करते हुए उपासनापूर्वक परिचर्या करते हैं ॥६४९॥

'चत्तारि जणा धम्म कहंति विकथाओ वज्जित्ता' इति पदसम्बन्धः चत्वारो धर्मं कथयन्ति विकथाः परित्यज्य । कास्ता विकथा भवन्ति—

भत्तित्थिरायजणवदकंदप्पत्थणडणट्टियकहाओ ।
वज्जित्ता विकहाओ अज्झप्पविराधणकरीओ ॥६५०॥

'**भत्तित्थिराय जणवदकंदप्पत्थणडणट्टिगकहाओ**' भक्तं भज्यते सेव्यते इति भक्त चतुर्विधाहार । भक्तस्य, स्त्रीणा, राज्ञा, जनपदाना रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्राशिष्टवाक्प्रयोग कन्दर्प तस्य अर्थस्य, नटाना, नर्तिकाना च या कथास्ता । '**अज्झप्पविराधणकरीओ**' आत्मानमधिवर्तते इत्याध्यात्मिक । आत्मनस्तत्त्व-निश्चयनिरूपणं ध्यान (?) तस्य '**विराधणकरीओ**' विराधनाकारिणी ॥६५०॥

कथं तर्हि कथयन्ति—

अखलिदममिडिदमव्वाइद्धमणुच्चमविलंबिदममंदं ।
कंतममिच्छामेलिदमणत्थहीणं अपुणरुत्त ॥६५१॥

'**अक्खलिदं**' अस्खलित अन्यथा शब्दोच्चारण शब्दस्खलना, विपरीतार्थनिरूपणा अर्थस्खलना । '**अमि-डिदं**' अनाम्रेडित । असमुग्ध । '**अव्वाइद्धं**' अव्याहत अप्रतिहत प्रत्यक्षादिना । '**अणुच्चं**' नातिमहद्ध्वनि-समेत । '**अविलंबिदं**' नातिशनै । '**अमंदं**' नात्यल्पघोषं । '**कंत**' श्रोत्रमनोहर । '**अमिच्छामेलिद**' मिथ्यात्वे-नानुन्मिश्र । '**अणत्थहीणं**' अभिधेयशून्यं यन्न भवति । '**अपुणरुत्तं**' उक्तस्य अविशेषेण भूयोऽभिधान पुनरुक्तं यथा तत्पौनरुक्त न भवति ॥६५१॥

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्ज पत्थं च ।
चत्तारि जणा धम्मं कहंति णिच्चं विचित्तकहा ॥६५२॥

चार परिचारक मुनि विकथा त्यागकर धर्मकथा कहते है ऐसा आगे कहेगे । यहाँ विकथाओ-को कहते है—

गा०—जो भोगा या सेवन किया जाता है वह भक्त है अर्थात् चार प्रकारका आहार । आहारकी कथा, स्त्रीकी कथा, राजाकी कथा, देशोंकी कथा । रागके उद्रेकसे हँसीसे मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प हे । उसकी कथा, नटोकी और नाचनेवालियोकी कथा विकथा हैं । ये अध्यात्मकी विराधना करती है । जो आत्मासे सम्बद्ध हो उसे आध्यात्मिक कहते है । आत्म-तत्त्वके यथार्थ कथनको अध्यात्म कहते है । ये कथाएँ उसका विघात करती हैं ॥६५०॥

गा०-टी०—वे मुनि अस्खलित धर्मकथा कहते हैं । कुछका कुछ शब्द बोलना शब्दस्खलन है । विपरीत अर्थ करना अर्थस्खलन है । इस स्खलनसे रहित कथा कहते है । एक बातको दुहराते नही । सन्देहमे डालनेवाला कथन नहीं करते । प्रत्यक्ष आदिसे अविरुद्ध कथन करते हैं । बहुत जोरसे नहीं बोलते । न बहुत रुक-रुककर बोलते हैं । बहुत मन्द आवाजसे भी नही बोलते । कानोको प्रिय वचन बोलते है । मिथ्यात्वकी बात नहीं करते । ऐसी बात नही कहते जिसका कुछ अर्थ ही न हो । जो बात कही हो उसे ही पुनः कहना पुनरुक्त है । वे पुनरुक्त कथन नही करते ॥६५१॥

'**पिद्ध**' प्रिय । '**मधुरं**' ललितपदवर्णरचनं । '**हिदयंगमं**' श्रोतृहृदयानुप्रवेशि । '**पल्हादणिज्ज पत्थं च**' सुखद पथ्य च । '**कहंति**' कथयन्ति '**णिच्चं**' अनुपरत । '**विचित्तकहा**' विचित्रकथा नानाकथाकुशला ॥६५२॥

कीदृशी क्षपकस्य कथा भणितव्या इत्यत्राचष्टे—

खवयस्स कहेदव्वा दु सा कहा जं सुणित्तु सो खवओ ।
जहिदविसोत्तिगभावो गच्छदि संवेगणिव्वेगं ॥६५३॥

'**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**सा कहा**' सा कथा । '**कहेदव्वा**' कथयितव्या । '**सो खवगो**' असौ क्षपकः । '**जं**' या कथा । '**सुणित्तु**' श्रुत्वा । '**जहिदविसोत्तिगभावो**' त्यक्ताशुभपरिणाम । '**गच्छदि संवेगणिव्वेगं**' ससारभीरुता शरीरभोगनिर्वेद च प्रतिपद्यते ॥६५३॥

आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स ।
पावोग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥६५४॥

आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेजनी चेति चतस्र कथा. । तासा मध्ये का योग्या ? का वायोग्येत्यत्रोत्तर ब्रवीति । '**आक्खेवणी य**' इति आक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेजनी च कथा क्षपकस्य श्रोतु, आख्यान्तु च योग्या । विक्षेपणी तु कथा न योग्या इति सूत्रार्थ. ॥६५४॥

तासा कथाना स्वरूपनिर्देशायोत्तर गाथाद्वय—

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ ।
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥६५५॥

'**आक्खेवणी कहा सा**' सा आक्षेपणी कथा भण्यते । '**जत्थ**' यस्या कथाया । '**विज्जाचरणमुवदिस्सदे**' ज्ञान चारित्र चोपदिश्यते । एवभूतानि मत्यादीनि ज्ञानानि सामायिकादीनि वा चारित्राण्येवस्वरूपाणि इति । '**ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम**' या कथा स्वसमय परसमय वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी

गा०—नाना कथाओमे कुशल वे चार परिचारक यति प्रिय, मधुर अर्थात् ललितपद और वर्णवाली, श्रोताके हृदयमे प्रवेश करनेवाली सुखदायक हितकारी कथा निरन्तर कहते हैं ॥६५२॥

गा०—क्षपकको किस प्रकारकी कथा कहनी चाहिए, यह कहते हैं—क्षपकको ऐसी कथा कहनी चाहिए जिसे सुनकर वह अशुभ परिणामोको छोडे और ससारसे तथा शरीरसे विरक्त होवे ॥६५३॥

गा०—चार प्रकारकी कथाएँ होती है—आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेजनी। इनमेंसे कौन योग्य ह और कौन अयोग्य है ? इसका उत्तर देते हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी और निर्वेजनी कथा क्षपकके सुनने और कहनेके योग्य है किन्तु विक्षेपणी कथा योग्य नही है ॥६५४॥

आगे दो गाथाओसे उनका स्वरूप कहते है—

गा०-टी०—जिसमें ज्ञान और चारित्रका उपदेश हो उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। यथा, मति आदि ज्ञान इस प्रकारके होते हैं अथवा सामायिक आदि चारित्रोका ऐसा स्वरूप है।

१. जहदि विसुत्तिय भावं–अ० ।

भण्यते। सर्वथा नित्य, सर्वथा क्षणिक, एकमेवानेकमेव वा, सदेव असदेव वा, विज्ञानमात्रमेव। शून्यमेवे-त्यादिकं परसमय पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन आगमेन च विरोध प्रदर्श्य कथचिन्नित्य, कथंचिदनित्य, कथ-चिदेकं, कथचिदनेकं, इत्यादिस्वसमयनिरूपणा च विक्षेपणी ॥६५५॥

संवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततववीरियइड्ढिगदा।
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ॥६५६॥

'**संवेयणी पुण कहा**' सवेजनी पुन कथा। '**णाणचरित्ततववीरियइड्ढिगदा**' ज्ञानचारित्रतपोभावना जनितशक्तिसम्पन्निरूपणपरा। '**णिव्वेअणी पुण कथा**' निर्वेजनी पुन कथा सा। '**सरीरभोगे भवोघे य**' शरीरे, भोगे, भवसन्ततौ च पराङ्मुखताकारिणी। शरीराण्यशुचीनि, रसादिसप्तधातुमयत्वात् शुक्रशोणितबीजत्वात्, अशुच्याहारपरिवर्द्धितत्वात् अशुचिस्थाननिर्गतत्वात् च। न केवलमशुच्यसारमपि अनित्यकायस्वभावा प्राणभृत इति शरीरतत्त्वश्रवणात्[1]। तथा भोगा दुर्लभा स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यभोजनादयो लब्धा अपि कथचिन्न तृप्ति जनयन्ति। अलाभे तेषा, लब्धाना वा विनाशे शोको महानुदेति। देवमनुजभवावपि दुर्लभौ, दु खबहुलौ अल्प-सुखौ इति निरूपणात्। तथा ॥६५६॥

विक्खेवणी अणुरदस्स आउगं जदि हवेज्ज पक्खीणं।
होज्ज असमाधिमरणं अप्पागमियस्स खवगस्स ॥६५७॥

'**विक्खेवणी अणुरदस्स**' विक्षेपण्या परसमनिरूपणाया अनुरक्तस्य। '**आउगं**' आयुष्कं। '**जदि हवेज्ज**' यदि भवेत्। '**पक्खीणं**' प्रक्षीण। '**होज्ज**' भवेत् '**असमाधिमरणं**'। '**अप्पागमियस्स खवगस्स**' अल्पश्रुतस्य

जिस कथामे स्वसमय और परसमयकी चर्चा होती है वह विक्षेपणी है। वस्तु सर्वथा नित्य है, या सर्वथा क्षणिक है, अथवा एक ही है या अनेक ही है, अथवा सत् ही है या असत् ही है, अथवा विज्ञानमात्र ही है या शून्य ही है, इत्यादि परसमयको पूर्वपक्ष बनाकर प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे उसमे विरोध दर्शाकर वस्तुको कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथचित् एक, कथचित् अनेक इत्यादि स्वसमयका कथन करना विक्षेपणी कथा है ॥६५५॥

गा०-टी०—ज्ञान चारित्र और तपोभावनासे उत्पन्न शक्तिसम्पदाका निरूपण करनेवाली कथा सवेजनी है। शरीर भोग और भवसन्ततिकी ओरसे विमुख करनेवाली कथा निर्वेजनी है। जैसे, शरीर अशुचि है क्योकि वह रस आदि सात धातुओसे बना है, रज और वीर्य उसके बीज है। अशुचि आहारसे वह बढ़ता है और अशुचि स्थानसे निकलता है। शरीर केवल अपवित्र ही नही है वह निस्सार भी है, क्योकि प्राणियोका शरीर स्वभावसे अनित्य है ऐसा शरीरके विषयमे सुना जाता है। तथा स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला, भोजन आदि दुर्लभ भोग किसी तरह प्राप्त होनेपर भी तृप्ति नही देते। उनके प्राप्त न होनेपर अथवा प्राप्त होकर नष्ट होनेपर महान् शोक होता है। तथा देव और मनुष्यभव भी दुर्लभ हैं, दुखसे भरे हैं, सुख अल्प है। इस प्रकारका कथन निर्वेजनी कथा है ॥६५६॥

गा०—विक्षेपणी कथामें अनुरक्तदशामें यदि क्षपककी आयु समाप्त हो जाये तो अल्प-

---

१. तत्त्वाश्रयणात्—आ० मु०।

क्षपकस्य । यदेव पूर्वपक्षीकृतं दूषणाभिधानाय तदेव तत्त्वमित्यध्यवसायादसमीचीनज्ञानदर्शनस्य रत्नत्रयैकाग्र्यं नास्तीति मन्यते ॥६५७॥

बहुश्रुतस्य तह्युपयोगिनी विक्षेपणीतीमा शङ्का निरस्यति—

आगममाहप्पगओ विकहा विक्खेवणी अपाउग्गा ।
अब्भुज्जदम्मि मरणे तस्स वि एदं अणायदणं ॥६५८॥

'**आगममाहप्पगदो वि**' बहुश्रुतस्यापि । '**विक्खेवणी**' विक्षेपणी । '**अपाउग्गा**' अप्रायोग्या । '**अब्भुज्जदंमि मरणे**' रत्नत्रयाराधनपरे मरणे । '**तस्स वि**' बहुश्रुतस्यापि '**एवं**' एतत् । '**अणायदणं**' अनायतन अनाधार ॥६५८॥

अब्भुज्जदंमि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए ।
तिविहं पि कहंति कहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥६५९॥

'**अब्भुज्जदंमि मरणे**' निकटभूते मरणे । कस्य '**सथारत्थस्स चरिमवेलाए**' सस्तरस्थस्य अन्तकाले । '**तिविहं वि' कहंति कथं** सवेजनी, निर्वेजनी आक्षेपणी वा कथा कथयन्ति । '**तिवडपरिमोडया**' अशुभमनोवाक्काया दण्डशब्देनोच्यन्ते तद्भेदनकारिण सूरय' । '**तम्हा**' तस्मात् अनायतनत्वाद्विक्षेपिण्या ॥६५९॥

जुत्तस्स तवधुराए अब्भुज्जदमरणवेणुसीसंमि ।
तह ते कहेंति धीरा जह सो आराहओ होदि ॥६६०॥

'**जुत्तस्स**' युक्तस्य । '**तवधुराए**' तपोभारेण । '**अब्भुज्जदमरणवेणुसीसम्मि**' समीपीभूतमरणवशस्य शिरसि स्थितस्य क्षपकस्य । '**ते धीरा तह कहेंति**' ते धीरास्तथा कथयन्ति । '**जध सो आराधगो होदि**' यथासावाराधको भवति रत्नत्रयस्य ॥६६०॥

ज्ञानी क्षपकका असमाधिपूर्वक मरण होगा; क्योकि विक्षेपणीमे दूषण देनेके लिए पहले परमतका कथन होता है । अल्पज्ञानी क्षपक उसे तत्त्व समझ बैठे तो मिथ्याज्ञान और मिथ्या श्रद्धान होनेसे रत्नत्रयकी एकाग्रता नही रहती ॥६५७॥

तो क्या बहुशास्त्राभ्यासी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी है ? इस शकाका निरसन करते हैं—

गा०—बहुश्रुत भी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी नही है; क्योकि मरणके समय रत्नत्रयकी आराधनामे तत्पर रहना होता है । अत उसके लिए भी यह कथा अनायतन है वह उसका आधार नही है ॥६५८॥

गा०—जब सस्तरपर स्थित क्षपकका अन्तकाल होता है और मरण निकट होता है तब अशुभ मनवचनकायको निर्मूल करनेवाले साधु सवेजनी, निर्वेजनी और आक्षेपणी इन तीन ही कथाओंको कहते हैं । अत विक्षेपणी कथा अनायतनरूप है ॥६५९॥

गा०—जो तपका भार उठाये हुए है अर्थात् तपस्यामे लीन है और निकटवर्ती मरणरूपी बाँसके अग्रभागपर खडा है उस क्षपकको वे धीर परिचारक ऐसा उपदेश देते हैं जिससे वह रत्नत्रयका आराधक होता है । अर्थात् क्षपककी स्थिति उस नटके समान है जो सिरपर बोझ

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं ।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६१॥

'चत्तारि जणा' चत्वारो यतय । **'भत्तं'** अशन । **'पाउग्गं'** प्रायोग्य उद्गमादिदोषानुपहत । **'उवकप्पेंति'** आनयन्ति । **'अगिलाए'** ग्लानिमन्तरेण । कियन्तं कालमानयाम इति सक्लेश विना । **'छंदिय'** क्षपकेण इष्ट अशन पान वा । क्षुत्पिपासापरीषहप्रशान्तिकरणक्षममित्येतावता तेनेष्ट न तु लौल्यात् । **'अवगददोसं'** वातपित्तश्लेष्मणामजनक । क आनयन्ति ? **'अमाइणो'** मायारहिता अयोग्य योग्यमिति ये नानयन्ति । **'लद्धिसंपण्णा'** मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विता । अलब्धिमान्क्षपक क्लेशयति । मायावी अयोग्य योग्यमिति कल्पयेत् ॥६६१॥

चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं ।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६२॥

चत्तारि जणा पाणगा इति स्पष्टार्था गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्त पृथक्पान चानयत ॥६६२॥

चत्तारि जणा रक्खन्ति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं ।
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥६६३॥

तैरानीत भक्त पान वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमादरहिता त्रसा यथा न प्रविशन्ति, यथा वापरे न पातयन्ति ॥६६३॥

उठाये बाँसके अग्रभागपर अपनी कलाका प्रदर्शन करता है अत परिचारक ऐसा ही प्रयत्न करते है जिससे वह सफल हो ॥६६०॥

गा०—चार परिचारक यति उस क्षपकके लिए उसको इष्ट खान-पान विना ग्लानिके लाते है। उन्हे ऐसा सक्लेश नही होता कि कबतक हम इसके लिए लावे। तथा खान-पान उद्गम आदि दोषोसे रहित होना है। और वात पित्त कफको उत्पन्न करनेवाला नही होता। क्षपक भी लिप्सावश आहार पसन्द नही करता। किन्तु भूख और प्यास परीषहको शान्त करनेमे समर्थ खान-पानकी इच्छा करता है। जो यति आहार लाते है वे मायावी नही होते, अयोग्य आहारको योग्य नही कहते। मायावी अयोग्यको योग्य कह सकता है। तथा वे मोह और अन्तरायकर्मोका क्षयोपशम होनेसे भिक्षालब्धिसे युक्त होते है। उन्हे भिक्षा अवश्य मिल जाती है। अलब्धिमान् मुनि भिक्षा न मिलनेपर खाली हाथ लौटकर क्षपकको कष्ट पहुँचाता है ॥६६१॥

गा०—चार परिचारक मुनि क्षपकके लिए विना ग्लानिके उद्गम आदि दोषोसे रहित, वात पित्त कफको पैदा न करनेवाला तथा क्षपककी प्यास परिषहको शान्त करनेवाला पानक लाते हैं। वे लानेवाले यति मायारहित और भिक्षालब्धिसे सम्पन्न होते है। आचार्यकी अनुज्ञासे स्वयं अपनेको उपस्थित करनेवाले दो-दो परिचारक भोजन और पान अलग-अलग लाते हैं ॥६६२॥

गा०—चार यति उन यतियोके द्वारा लाये गये खान-पानकी विना किसी प्रकारकी ग्लानिके प्रमादरहित होकर रक्षा करते है कि उसमे त्रसादि न गिरे अथवा कोई उसमे त्रसादि

काइयमादी सव्वं चत्तारि पदिट्ठवन्ति खवयस्स ।
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधिसंथारं ॥६६४॥

'काइयमादी सव्वं' पुरीषप्रभृतिक मलं सर्वं । क्षपकस्य चत्वारः । **'पदिट्ठवन्ति'** प्रतिष्ठापयन्ति । **'पडिलेहंति य'** प्रतिलिखन्ति च । **'उवधो काले'** उदयास्तमनकालवेलयो । **'सेज्जुवधिसंथार'** वसतिमुपकरण, संस्तरं च ॥६६४॥

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जदणाए दु चत्तारि ।
चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खंति जदणाए ॥६६५॥

'खवगस्स' क्षपकस्य । **'घरदुवारं'** गृहद्वार । **'सारक्खंति'** पालयन्ति । **'जदणाए'** यत्नेन । **'चत्तारि'** चत्वार । असयतान् शिक्षकाश्च निषेद्धु द्वारपालायन्ते । **'चत्तारि'** चत्वारः । **'समोसरणदुवारं'** समवशरण-द्वार । **'जदणाए'** यत्नेन । **'आरक्षंति'** पालयन्ति ॥६६५॥

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादो जग्गंति तह य चत्तारि ।
चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥६६६॥

'जितणिद्दा' जितनिद्रा **'तल्लिच्छा'** निद्राजयलिप्सव । **'रादो'** रात्रौ । **'जग्गंति'** जागर कुर्वन्ति । **'तह य'** तत्र क्षपकसकाशे । **'चत्तारि'** चत्वार । **'गवेसंति खु'** परीक्षा कुर्वन्ति । **'खेत्ते'** क्षेत्रे स्वाध्युषिते । **'देसपवत्तीओ'** देशस्य क्षेमवार्ता ॥६६६॥

वाहिं असद्दवडियं कहंति चउरो चदुव्विधकहाओ ।
ससमयपरसमयविदू परिसाए समोसदाए दु ॥६६७॥

जन्तु न गिरा दे। वे सब क्षपककी समाधिके इच्छुक होते है कि उसकी समाधि निर्विघ्न पूर्ण हो ॥६६३॥

गा०—चार मुनि क्षपकके सब मलमूत्र उठानेका कार्य करते है। और सूर्यके उदय तथा अस्त होनेके समय वसति, उपकरण और संथरेकी प्रतिलेखना करते है ॥६६४॥

गा०—चार यति सावधानतापूर्वक क्षपकके घरके द्वारकी रक्षा करते है। ऐसा वे असंयमी जनो और शिक्षकोको अन्दर प्रवेश करनेसे रोकनेके लिए करते है। चार मुनि सावधानतापूर्वक समवसरण द्वार अर्थात् धर्मोपदेश करनेके घरके द्वारको रक्षा करते है ॥६६५॥

गा०—निद्राको जीत लेनेवाले और निद्राको जीतनेके इच्छुक चार यति रातमे क्षपकके पास जागते हैं। और चार मुनि अपने रहनेके क्षेत्रमे देशकी अच्छी बुरी प्रवृत्तियोंकी परीक्षा करते हैं। अर्थात् जिस क्षेत्रमे क्षपक समाधि मरण करता है उस देशके अच्छे बुरे समाचारोकी खबर रखकर उनकी परीक्षा करते है कि समाधिमें कोई बाधा आनेका तो खतरा नही है ॥६६६॥

विशेषार्थ—गाथामे 'तल्लिच्छा' पाठ है और विजयोदयामे उसका अर्थ निद्राको जीतनेके इच्छुक किया है। किन्तु पं० आशाधरजीने अपनी टीकामे 'तण्णिट्ठा' पाठ रखकर उसका अर्थ क्षपककी सेवामे तत्पर किया है। जितनिद्राके साथ यह पाठ संगत प्रतीत होता है ॥६६६॥

'**बाहिं**' बहि क्षपकावासात् । '**असद्दपविगं**' यावत् दूरे स्थितानां शब्दो न श्रूयते तत्र स्थित्वा । '**चउरो**' चत्वार. पर्यायेण । '**कधाओ**' चतुर्विधाः कथाः पूर्वव्यावर्णिता । कीदृग्भूतास्ते कथका अत आह— '**ससमयपरसमयविदू**' स्वपरपक्षसिद्धान्तज्ञा । '**परिसाए**' परिषदे । '**समोसवाए**' द्राक् समागतायै ॥६६७॥

वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविदू ।
धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ॥६६८॥

'**वादी**' वादिन. । '**चत्तारि जणा**' चत्वार. । '**सीहाणुग**' सिंहसमाना । '**अणेगसत्थविदू**' अनेकशास्त्रज्ञ **धम्मकहयाण** धर्मं कथयता । '**रक्खाहेदु**' रक्षार्थं । '**विहरंति**' इतस्ततो यान्ति । '**परिसाए**' परिषदि ॥६६८॥

उपसहरन्ति प्रस्तुत—

एवं महाणुभावा पग्गहिदाए समाधिजदणाए ।
तं णिज्जवंति खवयं अडयालीसं हि[1] णिज्जवया ॥६६९॥

'**एवं महाणुभावा**' एवं माहात्म्यवन्त. । '**पग्गहिदाए**' प्रकृष्टया । '**समाधिजदणाए**' समाधौ क्षपकस्य प्रयत्नवृत्त्या । '**तं णिज्जवंति खवयं**' त निर्यापयन्ति क्षपक । '**अडयालीसं हि**' अष्टचत्वारिंशत्प्रमाणा । '**णिज्जवया**' निर्यापका ॥६६९॥

व्यावर्णितगुणा एव निर्यापका इति न ग्राह्य, किन्तु भरतैरावतयोर्विचित्रकालस्य परावृत्ते कालानुसारेण प्राणिना गुणा प्रवर्तन्ते तेन यदा यथाभूता शोभनगुणा सम्भवन्ति तदा तथाभूता यतयो निर्यापकत्वेन ग्राह्या इति दर्शयति—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु ।
ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया ॥६७०॥

गा०—क्षपकके आवासके बाहर स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तके ज्ञाता चार यति क्रमसे एक एक करके सभामें धर्म सुननेके लिए आये हुए श्रोताओको पूर्ववर्णित चार कथाएँ इस प्रकार कहते है कि दूरवर्ती मनुष्य उनका शब्द न सुन सके। अर्थात् क्षपकको सुनाई न दे इतने धीरेसे बोलते हैं। उससे क्षपकको किसी प्रकारकी बाधा नही होती ॥६६७॥

गा०—अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता और वाद करनेमे कुशल चार मुनि धर्मकथा करनेवालोकी रक्षाके लिए सभामे सिंहके समान विचरते है। अर्थात् धर्मकथामे कोई विवादी विवाद खड़ा कर दे तो वाद करनेमे कुशल मुनि उसका उत्तर देनेके लिए तत्पर रहते हैं ॥६६८॥

प्रस्तुत चर्चाका उपसहार करते है—

गा०—इस प्रकार माहात्म्यशाली अड़तालीस निर्यापक यति क्षपककी समाधिमे उत्कृष्ट प्रयत्नशील रहते हुए उस क्षपकको ससार समुद्रसे निकलनेके लिए प्रेरित करते है ॥६६९॥

ऊपर कहे गुणवाले यति ही निर्यापक होते हैं ऐसा अर्थ नही लेना। किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें कालका विचित्र परिवर्तन होता रहता है। और कालके अनुसार प्राणियोके गुण भी बदलते रहते हैं। अतः जिस कालमें जिस प्रकारके शोभनीय गुण सम्भव है

---

१. संपिणिज्ज–आ० । सं पणिज्ज–अ० ।

'**जो जारिसओ कालो इत्यादिना**' यो यादृक्कालो। '**भरदेरवदेसु वासेसु**' भरतैरावतेषु जनपदेषु। पञ्चभरता पञ्चैरावतास्ते निर्यापकास्तारिसगा तादृग्भूता कालानुगुणा इति यावत्। '**तइया**' तस्मिन्काले ग्राह्या इत्यर्थ. ॥६७०॥

एवं चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए।
कालम्मि संकिलिट्ठंमि जाव चत्तारि सावेंति ॥६७१॥

णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥६७२॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथाद्वयमिति न व्याख्यायते।

जघन्यतो द्वौ निर्यापकौ इति किमर्थमुच्यते। एकौ जघन्यतो निर्यापक कस्मान्नोपन्यस्त इत्याशङ्कायां एकस्मिन्निर्यापके दोषमाचष्टे—

एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परो पवयणं च।
वसणमसमाधिमरणं उड्डाहो दुग्गदी चावि ॥६७३॥

एको यदि निर्यापक। '**अप्पा चत्तो**' आत्मा त्यक्तो भवति निर्यापकेण, पर क्षपकस्त्यक्तो भवति। '**पवयणं च**' प्रवचन च त्यक्त भवति। '**वसणं**' व्यसनं दु ख भवति। '**असमाधिमरणं**' समाधानमन्तरेण मृति स्यात्। '**उड्डाहो**' धर्मदूषणा भवति। '**दुग्गदी चावि**' दुर्गतिश्च भवति ॥६७३॥

एवं निर्यापकेणात्मा त्यक्तो भवति, एव क्षपक इत्येतत्कथयन्ति—

खवगपडिजग्गणाए भिक्खग्गहणादिमकुणमाणेण।
अप्पा चत्तो तव्विवरीदो खवगो हवदि चत्तो ॥६७४॥

उस कालमे उन गुणवाले यति निर्यापकरूपसे ग्राह्य है यह कहते है—

गा०—पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रोमे जब जैसा काल हो तब उसी कालके अनुकूल गुणवाले चवालीस निर्यापक स्थापित करना चाहिए ॥६७०॥

गा०—इस प्रकार ज्यो-ज्यो काल खराब होता जाये त्यो-त्यो देशकालके अनुसार सावधानतापूर्वक चार-चार निर्यापक कम करते जाना चाहिए। अन्तमे चार निर्यापक ही समाधिमरणको सम्पन्न करते है। अधिक काल खराब होनेपर कमसे कम दो निर्यापक भी होते है। किन्तु जिनागममे किसी भी अवस्थामे एक निर्यापक नहीं कहा ॥६७१-६७२॥

जघन्यसे दो निर्यापक क्यो कहे ? जघन्यसे एक निर्यापक क्यो नहीं कहा ? ऐसी आशंकामें एक निर्यापकमे दोष कहते हैं—

गा०—यदि एक निर्यापक होता है तो निर्यापकके द्वारा आत्माका भी त्याग होता है, क्षपकका भी त्याग होता है और प्रवचनका भी त्याग होता है। तथा दुःख उठाना होता है। क्षपकका असमाधिपूर्वक मरण होता है, धर्ममे दूषण लगता है और दुर्गति होती है ॥६७३॥

एक निर्यापकके द्वारा आत्मा और क्षपक इस प्रकार त्यक्त होते है, यह कहते है—

खवगपडिजग्गणाए इत्यनया गाथया अयमेवं पदघटना '**भिक्खग्गहणादिमकुणमाणेण**' भिक्षाग्रहणं, निद्रा, कायमलत्याग वाऽकुर्वता निर्यापकेण '**खवगपडिजग्गणाए**' क्षपककार्यकरणे। '**अप्पा चत्तो**' आत्मा त्यक्तो भवति। अशनाग्रहणान्निद्राया अभावात् कायमलाना वाऽनिराकरणान्महती निर्यापकस्य पीडा। '**तव्विवरीदो यदि**' निर्यापको भिक्षा भ्रमति निद्रातिशयशरीरमलनिरासार्थं याति, '**खवगो चत्तो भवति**' क्षपकस्त्यक्तो भवति ॥६७४॥

खवयस्स अप्पणो वा चाए चत्तो हु होइ जइधम्मो।
णाणस्स य वुच्छेदो पवयणचाओ कओ होदि ॥६७५॥

'**खवगस्स अप्पणो वा चाए**' क्षपकस्यात्मनो वा त्यागे।'**चत्तो खु होदि जइधम्मो**' त्यक्तो भवति यतिधर्म'। यतेर्धर्मो वैयावृत्यकरण म परित्यक्तो भवति क्षपकमपहाय गमने। अगमने तु आवश्यकानि यतिधर्मेषु त्यक्तानि भवन्ति शक्तिवैकल्यात्। '**णाणस्स य वुच्छेदो**' ज्ञानस्यापि व्युच्छेदो भवति, निर्यापकेन सह मृतिमुपयाति। '**तदो**' तस्मान्। '**पवयणचागो होदि**' पवचनत्यागो भवति। प्रवचनशब्देनागम उच्यते। प्राज्ञा हि केचिदेव[1] भवन्तीति चेदेकका निर्यापका अनशनादिनातिखिन्ना मृतिमुपेयु क शास्त्राण्युपदिशेत्[2] कश्च धारयेद्वेति प्रवचनत्याग ॥६७५॥

व्यसन व्याचष्टे—

चायम्मि कीरमाणे वसणं खवयस्स अप्पणो चावि।
खवयस्स अप्पणो वा चायम्मि हवेज्ज असमाधि ॥६७६॥

'**चायम्मि कीरमाणे**' त्यागे क्रियमाणे। '**वसणं खवगस्स**' क्षपकस्य दु ख भवति, प्रतिकाराभावात्। '**अप्पणो वा वसणं**' निर्यापकस्य वा व्यसन भवति अशनादित्यागात्। असमाधिमरण व्याचष्टे—'**चागम्मि**'

गा०-टी०—क्षपकका कार्य करते रहनेसे निर्यापक भिक्षाग्रहण, निद्रा और मलमूत्रका त्याग नही कर सकता। अत वह आत्माका त्याग करता है क्योकि भोजन न करने से निद्रा नही आती। और शारीरिक मल न त्यागनेसे निर्यापकको कष्ट होता है। यदि निर्यापक भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तथा सोता है और शरीरमल त्यागने जाता है तो क्षपकका त्याग करता है ॥६७४॥

गा०-टी०—अपना अथवा क्षपकका त्याग करनेपर यतिधर्मका त्याग होता है। अर्थात् यतिका धर्म वैयावृत्य करना है। क्षपकको छोडकर जानेपर उसका त्याग होता है। न जानेपर यतिधर्ममे आवश्यक प्रधान है उनका त्याग होता है। ज्ञानका भी व्युच्छेद होता है क्योकि निर्यापकके साथ वह भी मर जाता है। और ऐसा होनेसे प्रवचनका त्याग होता है। यहाँ प्रवचन शब्दसे आगम कहा है। विद्वान् तो विरल ही होते है। अकेला निर्यापक उपवास आदिसे अतिखिन्न होकर यदि मर जाये तो कौन शास्त्रोका उपदेश देगा और कौन शास्त्रोको याद रखेगा। अत प्रवचनका त्याग होता है ॥६७५॥

गा०—क्षपकको त्यागने पर क्षपकको दुःख होता है क्योकि उसका कोई प्रतिकार नही

---

१. देव भणंतीति चे–आ०। २ शेदवधारयेद्व–आ०।

त्यागे सति । **'खवगस्स असमाधि'** क्षपकस्य असमाधिमरणं भवति, चित्तसमाधिं कुर्वतः समीपे अभावात् । **'अप्पणो वा'** निर्यापकस्य वा । **'हवेज्ज'** भवेत्, असमाधिः अशनादित्यागजनितदुःखव्याकुलस्य ॥६७६॥

उड्डाहो इत्येतत् सूत्रं व्याचष्टे—

सेवेज्ज वा अकप्पं कुज्जा वा जायणाइ उड्डाहं ।
तण्हाछुधादिभग्गो खवओ सुण्णम्मि णिज्जवहे ॥६७७॥

'सेवेज्ज वा अकप्पं' अयोग्यसेवा कुर्यात्, अस्थितभोजनादिकं पार्श्ववर्तिन्यसति । **'कुज्जा वा'** कुर्याद्वा । **'जायणाइ उड्डाहं'** मिथ्यादृष्टीना गत्वा याचते क्षुधा वा तृषा वा अभिभूतोऽहं अशनं पानं वा देहीति । **सुण्णम्मि णिज्जवगे'** असति निर्यापके ॥६७७॥

दुग्गदि एतद्व्याचष्टे—

असमाधिणा व कालं करिज्ज सो सुण्णगम्मि णिज्जवगे ।
गच्छेज्ज तदो खवओ दुग्गदिमसमाधिकरणेण ॥६७८॥

'असमाधिणा वा' असति निर्यापके समीपस्थे समाधिमन्तरेण कालं कुर्यात् । ततस्तेन असमाधिमरणेन । **'खवगो दुग्गदिं गच्छेज्ज'** क्षपको दुर्गतिं यायात् अशुभध्यानात् ॥६७८॥

सल्लेहणं सुणित्ता जुत्ताचारेण णिज्जवेज्जंतं ।
सव्वेहिं वि गंतव्वं जदीहिं इदरत्थ भयणिज्जं ॥६७९॥

'सल्लेहणं' सल्लेखना । **'सुणित्ता'** श्रुत्वा । **'जुत्ताचारेण'** युक्ताचारेण सूरिणा **'णिज्जवेज्जंतं'** प्रवर्त्यमाना । सर्वैरपि गन्तव्यं यतिभिरितरत्र निर्यापके सूरौ मन्दचारित्रे भाज्यं। यान्ति न यान्ति वा यतयः ॥६७९॥

सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्वभत्तिरायेण ।
भोत्तूण य देवसुहं सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥६८०॥

है । और भोजनादि त्यागनेसे निर्यापकको दुःख है । तथा क्षपकको त्यागने पर क्षपकका असमाधिमरण होता है क्योंकि उसके समीपमें कोई चित्तको समाधान देने वाला नहीं है । अथवा निर्यापक की असमाधि होती है क्योंकि वह भोजन आदिके त्यागसे उत्पन्न दुःखसे व्याकुल होता है ॥६७६॥

गा०—यदि एक निर्यापक आहारादिके लिए गया तो उसके अभावमें क्षपक अयोग्य सेवन करेगा अर्थात् बैठकर भोजनादि करेगा । अथवा मिथ्यादृष्टियोंके पास जाकर याचना करेगा कि मैं भूख वा प्याससे पीड़ित हूँ । मुझे खानेको वा पीनेको दो ॥६७७॥

गा०—समीपमें निर्यापक न होने पर क्षपक समाधिके बिना मरण कर सकता है । और उस असमाधिमरणसे अशुभ ध्यानवश दुर्गतिमें जा सकता है ॥६७८॥

गा०—युक्त आचार वाले आचार्यके द्वारा क्षपककी सल्लेखना हो रही है यह सुनकर सब यतियोंको वहाँ जाना चाहिए । किन्तु यदि निर्यापक आचार्य मन्द चारित्र वाला हो तो यति चाहे तो जा सकते हैं, न चाहे तो न जायें ॥६७९॥

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूण ॥६८१॥
[1]सोदूण उत्तमट्ठस्स साधणं तिव्वभत्तिसंजुत्तो।
जदि णोवयादि का उत्तमट्ठमरणम्मि से भत्ती ॥६८२॥

सोदूण श्रुत्वा उत्तमार्थसाधनं। तीव्रभक्तिसयुक्तो यदि न गच्छेत्। नैव तस्य उत्तमार्थमरणे भक्ति ॥६८२॥

उत्तमार्थमरणभक्त्यभावे दोषमाचष्टे—

जत्थ पुण उत्तमट्ठमरणम्मि भत्ती ण विज्जदे तस्स।
किह उत्तमट्ठमरणं संपज्जदि मरणकालम्मि ॥६८३॥

'जस्स पुण' यस्य पुन उत्तमार्थमरणे भक्तिर्न विद्यते तस्य मरणकाले कथमुत्तमार्थमरण सम्पद्यते इति दोष· सूचित ॥६८३॥

सद्दवदीणं पासं अल्लियदु असंवुडाण दादव्वं।
तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खगयस्स असमाधी ॥६८४॥

'असंवुडाण पासं सद्दवदीणं अल्लियदु ण दादव्वं'। असवृताना क्षपकसमीप ढौकन न दातव्य। यावद्देश-स्थाना तेषा वचो न श्रूयते। कस्मादसंवृतजनसमीपागमनं निषिध्यते इत्याचष्टे—**'तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी'**। तेषामसवृताभिर्वाग्भिर्भवेत्क्षपकस्य असमाधि·। क्षीणो हि जनो यत्किंचिच्छ्रुत्वा कुप्यति सक्लेशमुपयाति वा ॥६८४॥

गा०—जो यति तीव्र भक्तिरागसे सल्लेखनाके स्थान पर जाते हैं वे देवगतिका सुख भोग कर उत्तम स्थान मोक्षको प्राप्त करते है ॥६८०॥

गा०—जो जीव एक भवमे समाधिमरण पूर्वक करता है वह सात आठ भवसे अधिक काल तक संसारमें परिभ्रमण नही करता ॥६८१॥

विशेषार्थ—इन पर टीका नही है। पं० आशाधरने लिखा है—यहाँ ये दो गाथा परम्परा-से सुनी जाती हैं। इन्हे विजयोदयाके कर्ता आचार्य नही स्वीकार करते है।

गा०—उत्तमार्थ-समाधिका साधन कोई मुनि करता है ऐसा सुनकर भी जो तीव्र भक्तिसे युक्त होकर यदि नही जाता तो उसकी समाधिमरणमें क्या भक्ति हो सकती है ? ॥६८२॥

समाधिमरणमे भक्ति न होनेमें दोष कहते है—

गा०—जिसकी समाधिमरणमें भक्ति नही है उसका मरते समय समाधिपूर्वक मरण नही होता ॥६८३॥

गा०-टी०—वचन गुप्ति और वचन समितिसे रहित जो हल्ला-गुल्ला करने वाले लोग हैं उन्हें क्षपकके समीप नही जाने देना चाहिए। यदि जावें तो वही तक जावें जहाँसे उनके वचन क्षपकको सुनाई न देवे। ऐसे असंवृत जनोका क्षपकके समीप जानेका निषेध करनेका प्रयोजन यह

1. एते गाथे श्री विजयो नेच्छति।

भत्तादीणं तत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कादव्वा ।
आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ।।६८५।।

'**भत्तादीणं तत्ती**' भक्तादिकथा । गृहीतार्थैरपि यतिभिस्तत्र क्षपकसकाशे न कर्तव्येति । '**आलोयणा वि खु**' आलोचनागोचराद्यतिचारविषया । '**तत्थ**' क्षपकसमीपे । '**पसत्थमेव कादव्वा**' यथासौ न शृणोति तथा कार्या । बहुषु युक्ताचारेषु सत्सु ।।६८५।।

पच्चक्खाणपडिक्कमणुवदेसणिओगतिविहवोसरणे ।
पट्ठवणापुच्छाए उवसंपण्णो पमाणं से ।।६८६।।

प्रत्याख्यान प्रतिक्रमणादिक[2] । कस्य सकाशे सर्वं कर्तव्यमिति यावत् । यदि शक्तोऽसौ, न चेत्तदनुज्ञा-तस्य समीपे ।।६८६।।

तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा ।
जिब्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंडं च से विसदं ।।६८७।।

'**तेल्लकसायादीहिं य**' तैलेन कषायादिभिश्च । '**बहुसो**' बहुशो । '**गडूसगा दु**' गडूषा । '**घेत्तव्वा**' ग्राह्या । तत्र गुण वदति—'**जिब्भाकण्णाण बलं**' जिह्वाया कर्णयोश्च बल शक्ति वचने श्रवणे च । '**होहिदि**'

है कि उनके मर्यादा-रहित वचनोको सुनकर क्षपककी समाधिमे बाधा हो सकती है, क्योकि कम-जोर व्यक्ति ऐसे वैसे वचन सुनकर क्रुद्ध हो सकता है अथवा सक्लेशरूप परिणाम कर सकता है ।।६८४।।

विशेषार्थ—टीकामे 'असंवुडाण पासं सद्दवदीण अल्लियदु ण दादव्व' ऐसा पाठ है। तथा 'सद्दवदीण' का अर्थ नही किया है। आशाधरजीने 'शब्दपतीना शब्दव्रतीना' लिखकर उसका अर्थ 'कल-कल करने वाले' किया है।

गा०—आगमके अर्थके ज्ञाता यतियोको भी क्षपकके पासमे भोजन आदिकी कथा नही करनी चाहिए और आलोचना सम्बधी अतिचारोकी भी चर्चा नही करनी चाहिए। यदि करना ही हो तो बहुतसे युक्त आचार वाले आचार्योंके रहते हुए प्रच्छन्न रूपसे ही करना चाहिए जिससे क्षपक उसे न सुन सके ।।६८५।।

गा०—प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, उपदेश, नियोग—आज्ञादान, जलके सिवाय तीन प्रकारके आहारका त्याग, प्रायश्चित्त, आदि सब प्रथम स्वीकार किये आचार्यके पास ही करना चाहिए, क्योकि जिसे उस क्षपकने अपना निर्यापक बनाया है वही उसके लिए प्रमाण होता है। किन्तु वह निर्यापकाचार्य ऐसा करनेमे असमर्थ हो तो उसकी अनुज्ञासे अन्य भी प्रमाण होता है ।।६८६।।

विशेषार्थ—युक्त आचार वाले अनेक आचार्योंके होते हुए भी क्षपकको प्रत्याख्यान आदि प्रथम स्वीकार किये निर्यापकके पास ही करना चाहिए यह आशय उक्त गाथाका है।

गा०—तेल और कसैले आदिसे क्षपकको बहुत बार कुल्ले करना चाहिए। इससे जीभ

---

१. भत्ती—आ० । २ दिकं से तस्य सकाशे-आ० मु० ।

भविष्यति । 'तुंडं च से विसदं होदित्ति' पदसम्बन्धः । तुण्डवैशद्यं अपि क्षपकस्य भविष्यति । निर्यापकव्यावर्णना समाप्ता ॥६८७॥

णिज्जावयपगासणा इत्येतद्वदति—

दव्वपयासमकिच्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरणं ।
कह्मिवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥६८८॥

'दव्वपगासमकिच्चा' द्रव्यस्याहारस्य प्रकाशन तं प्रति ढौकन अकृत्वा । 'जइ कीरइ' यदि क्रियते । 'तस्स' तस्य क्षपकस्य । 'तिविहवोसरणं' त्रिविधाहारत्याग । 'कम्हिवि' कस्मिंश्चिदपि । 'भत्तविसेसम्मि' भक्तविशेषे । 'उस्सुगो होज्ज सो खवओ' उत्सुको भवेत्स क्षपक । आहारौत्सुक्य च चित्त व्याकुलयति ॥६८८॥

तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि ।
सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥६८९॥

पासित्तु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९०॥

'पासित्तु' दृष्ट्वा आहारमुपदर्शित । 'कोइ' कश्चित् । 'तादो' यति । 'तीरं पत्तस्स' तीर प्राप्त य । 'इमेहिं' अमीभिर्मनोज्ञैराहारै । 'किं मेत्ति' कि ममेति । 'वेरग्गमणुप्पत्तो' भोगवैराग्यमनुप्राप्त उपगत । 'संवेगपरायणो होदि' ससारभयत्यागे[1] प्रधानो भवति ॥६९०॥

आसादित्ता कोई तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९१॥

और कानोको बल मिलता है और मुख साफ होता है ॥६८७॥

इस प्रकार निर्यापकका कथन समाप्त हुआ ।

अब निर्यापकके द्वारा आहारके प्रकाशनका कथन करते है—

गा०—आहारका प्रकाशन अर्थात् क्षपकके सामने विविध भोजनोको उपस्थित न करके यदि तीन प्रकारके आहारका त्याग कराया जाता है तो क्षपक किसी भी भोजन विशेषमे उत्सुक बना रह सकता है । और आहारमे उत्सुकता चित्तको व्याकुल करती है ॥६८८॥

गा०—अत: उत्तम-उत्तम भोजन पात्रोमें अलग-अलग उसके सामने रखकर जब वह सन्तुष्ट हो जाये तो अन्तिम आहार उपस्थित करे । ऐसा करनेसे क्षपक तीनो प्रकारके आहारको छोड देगा ॥६८९॥

विशेषार्थ—टीकाकारने यह गाथा नही मानी ।

गा०—कोई यति दिखाये गये आहारोंको देखकर 'मरणको प्राप्त मुझे इन मनोज्ञ आहारोंसे क्या प्रयोजन' ऐसा विचार भोगोंसे विरक्त होकर ससारके भयको त्यागनेमे प्रमुख होता है ॥६९०॥

---

१. भयात्यागे—आ० मु० ।

देसं भोच्चा हा हा तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९२॥
सव्वं भोच्चा धिद्धी तीर पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होइ ॥६९३॥

मनोज्ञविषयसेवा हि पौन पुन्येन प्रवर्तमाना अभिलाष जनयति जन्तो । स चानुराग कर्मपुद्गलादाने हेतु, तत्तो भीम[1] भवाम्भोधिप्रवेशन भवभृतामिति स्पष्टार्थं गाथात्रय[2]। उत्तर प्रकाशना समाप्ता पयासणा ॥६९३॥

हाणी इति सूत्रपद व्याचष्टे—

कोई तमादइत्ता मणुण्णरसवेदणाए संविद्धो ।
तं चेवणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए ॥६९४॥

'**कोई**' कश्चिद्यति । '**तं**' दर्शितमाहार । '**आदयित्ता**' भुक्त्वा । '**मणुण्णरसवेदणाए**' मनोज्ञरसानुभवनेन । '**संविद्धो**' मूर्च्छित । '**तं चेवणुबंधेज्ज हु**' तमेवास्वादित मनोज्ञाहारमनुबध्नीयात् । दर्शितेष्वेकं वा, '**गिद्धीए**' गृद्धया ॥६९४॥

तत्थ अवाओवायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो ।
उद्धरिदु मणोसल्लं सुहुमं सण्णिव्ववेमाणो ॥६९५॥

गा०—कोई क्षपक भोजनका स्वाद मात्र लेकर 'मरणको प्राप्त' मुझे इस मनोज्ञ भोजनसे क्या, ऐसा विचार विरक्त हो, ससारके भयको त्यागनेमे तत्पर होता है ॥६९१॥

गा०—कोई क्षपक थोडा सा खाकर 'मरणको प्राप्त मुझे इस मनोज्ञ आहारमे क्या' ऐसा विचार विरक्त हो ससारके भयको त्यागनेमे तत्पर होता है ॥६९२॥

गा०-टी०—कोई सब आहारको भोगकर 'मुझे बार-बार धिक्कार है। मरणको प्राप्त मुझे इस मनोज्ञ आहारसे क्या प्रयोजन' इस प्रकार विरक्त हो ससारके भयसे मुक्त होनेमे तत्पर होता है।

बार-बार मनोज्ञ विषयोका सेवन यदि चलता रहे तो उससे जीवमे उसकी अभिलाषा बनी रहती है। और वह अनुराग कर्म पुद्गलोंके ग्रहणमें कारण होता है और उससे प्राणिगण ससार समुद्रमे पडे रहते है। यह स्पष्ट करनेके लिए ये तीन गाथा कही हैं ॥६९३॥

आहारका प्रकाशन समाप्त हुआ।

हानिका कथन करते है—

गा०—कोई क्षपक उस दिखाये आहारको खाकर मनोज्ञ रसके स्वादसे मूर्च्छित होकर तृष्णावश उस खाये आहारमे से सबको अथवा किसी एक वस्तुको ही खानेकी इच्छा करता है ॥६९४॥

---

१ त्तो भोग-भ—आ० मु० । २ त्रयोत्तरं अ० ।

'तत्थ' तत्राहारासक्तो जातायां । 'अवाओपायं' इन्द्रियसंयमस्यापायं, असंयमस्य च ढौकनं । 'दंसेदि' दर्शयति । 'विसेसदो' विशेषेण । 'उवदिसंतो' उपदिशन् । 'उद्धरिदुं' उद्धर्तुं । 'मणोसल्लं' मनःशल्यं । 'सुहुमं' सूक्ष्मं । 'सण्णिव्ववेमाणो' सम्यक् प्रशमयन् ॥६९५॥

सोच्चा सल्लमणत्थं उद्धरदि असेसमप्पमादेण ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो खवओ ॥६९६॥

'सोच्चा' श्रुत्वा वैराग्यकथा । 'सल्लं' शल्यं । 'उद्धरदि' उत्पाटयति । 'असेसं' अशेषं । 'अप्पमादेण' प्रमादं विना । 'वेरग्गमणुप्पत्तो' वैराग्यमनुप्राप्तः । 'संवेगपरायणः' संवेगपरः । क्षपकः शल्योद्धरणपरो भवति ॥६९६॥

अणुसज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वमुवहरिय ।
एक्केक्कं हावेंतो ठवेदि पोराणमाहारे ॥६९७॥

'अणुसज्जमाणए पुण' कृतेऽप्याहाराभिलाषस्य दोषोपदर्शने । 'अणुसज्जमाणगे' आहारे अनुरागवति क्षपके । 'समाधिकामस्स' समाधिमरणमिच्छतः । 'सव्वमुवहरिय' सर्वमाहारमुपसहृत्य । कथं ? 'एक्केक्कं हावेंतो' एकैकं आहारं हापयन् सूरिः । 'ठवेदि' स्थापयति क्षपकं । 'पोराणमाहारे' प्राक्तने आहारे ॥६९७॥

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टेदूण सव्वमाहारं ।
पाणयपरिक्कमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥६९८॥

'ठविदो' स्थापितः सूरिणा प्राक्तनाहारे क्षपकः पश्चात्किं करोत्यत आह-'सव्वमाहारं', अशनं स्वाद्यं, खाद्यं च । '[1]अणुक्कमेण' क्रमेण । 'संवट्टेदूण' उपसहृत्य । 'पाणगपरिक्कमेण दु' पानकाल्येन परिकरेण । 'अप्पाणं' आत्मानं । 'पच्छा भावेदि' पश्चाद्भावयति । हानिर्व्याख्याता । हाणित्ति ॥६९८॥

कतिप्रकारं पानकमित्यारेकायामाचष्टे—

गा०—इस प्रकार आहारमे आसक्ति होने पर आचार्य उस क्षपकके मनसे सूक्ष्म शल्यको निकालनेके लिए इन्द्रिय संयमका विनाश और असंयमकी प्राप्ति बतलाते हुए विशेषरूपसे उपदेश देते हैं और इस तरह उसे सम्यक् रूपसे शान्त करते हैं ॥६९५॥

गा०—वैराग्यका उपदेश सुनकर वैराग्यको प्राप्त हुआ क्षपक प्रमाद छोड़कर समस्त अनर्थकारी शल्यको निकाल देता है और संवेगमे तत्पर होता है ॥६९६॥

गा०—आहारकी अभिलाषामे दोष दिखानेपर भी यदि क्षपक आहारमे अनुरागी रहता है तो आचार्य समाधिमरणके इच्छुक क्षपकको सब आहार दिखलाकर एक-एक आहार छुड़ाते हुए उसे अपने पूर्व आहार पर ले आते है ॥६९७॥

गा०—आचार्यके द्वारा पूर्व आहारपर स्थापित होनेके पश्चात् क्षपक क्रमसे अशन खाद्य स्वाद्य सब आहारोका त्याग करके पीछे अपनेको पानक आहारमे लगाता है ॥६९८॥

हानिका कथन समाप्त हुआ ।

पानकके भेद कहते हैं—

१ अणुपुव्वेण अनुक्रमेण-मूलारा० ।

सत्थं बहलं लेवडमलेवडं च ससित्थयमसित्थं ।
छव्विहपाणयमेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं ।।६९९।।

'**सत्थं**' स्वच्छं एकं पानकं उष्णोदक सौवीरक । तिन्तिणीकाफलरसप्रभृतिक च अन्यद्बहल । दध्यादिक '**लेवडं**' लेपसहित । '**अलेवडं**' अलेपसहितं यन्न हस्ततल विलिंपति । '**ससित्थगं**' सिक्थसहित, '**असित्थगं**' सिक्थरहित । '**छद्धा**' षोढा । '**पाणयमेदं**' एतत्पानकं । '**पाणयपरिकम्मपाओग्गं**' पानकाख्यपरिकर्मप्रायोग्यं ।।६९९।।

आयंबिलेण सिंभं खीयदि पित्तं च उवसमं जादि ।
वादस्स रक्खणट्ठं एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ।।७००।।

'**आयंबिलेण**' आचाम्लेन । '**सिंभं खीयदि**' श्लेष्मा क्षयमुपयाति । '**पित्तं च**' पित्त च । '**उवसमं जादि**' उपशममुपयाति । '**वादस्स**' वातस्य । '**रक्खणट्ठं**' रक्षणार्थं । '**एत्थ**' अत्र । '**पयत्तं खु कादव्वं**' प्रयत्न. कर्तव्य. ।।७००।।

पानभावनोत्तरकालभाविन व्यापारं दर्शयति—

तो पाणएण परिभाविदस्स उदरमलसोधणिच्छाए ।
मधुरं पज्जेदव्वो मंडं व विरेयणं खवओ ।।७०१।।

'**तो**' पश्चात् । '**पाणगेण**' पानेन । '**परिभाविदो**' भावित क्षपक । '**मधुर पज्जेदव्वो**' मधुर पाययितव्य । किमर्थ ' '**उदरमलसोधणिच्छाए**' उदरगतमलनिरासाय ।।७०१।।

आणाहवत्तियादीहिं वा वि कादव्वमुदरसोधणयं ।
वेदणमुप्पादेज्ज हु करिसं अत्थंतयं उदरे ।।७०२।।

'**आणाहवत्तियादीहिं**' अनुवासनादिभि । '**कादव्वं**' कर्तव्य । '**उदरसोधणयं**' उदरस्थमलमुदरशब्देनोच्यते तस्य निराक्रिया उदरमलशोधना । किमर्थमेव प्रयासेन महता मल निराक्रियते इत्यत्राचष्टे । '**वेदणमुप्पादेज्ज**

गा०—पानकके छह भेद है—एक भेद स्वच्छ है। जैसे गर्मजल सौवीरक। इमली आदि फलोके रसको बहल कहते है। यह दूसरा भेद है। दही आदि लेवड है जो हाथसे लिप्त हो जाता है। यह तीसरा भेद है। जो हाथसे लिप्त न हो वह चौथा भेद अलेवड है। सिक्थ सहित पेय पाँचवाँ भेद है और सिक्थरहित पेय छठा भेद है। ये छह प्रकारका पानक पानक परिकर्मके योग्य है ।।६९९।।

गा०—आचाम्लसे कफका क्षय होता है, पित्त शान्त होता है और वातसे रक्षा होती है। इसलिए आचाम्लके सेवनका प्रयत्न करना चाहिए ।।७००।।

पानककी भावनाके पश्चात्का कार्य बतलाते हैं—

गा०—पानकका सेवन करनेवाले क्षपकको पेटके मलकी शुद्धिके लिए माँडकी तरह मधुर विरेचन पिलाना चाहिए ।।७०१।।

गा०—अनुवासन और गुदाद्वारमें बत्ती आदि चढाकर पेटके मलकी शुद्धि करना चाहिए।

खु' वेदनामुत्पादयेदेव । 'उदरे करिस्सगं' पुरीषं 'अत्थंतगं' स्थितं ॥७०२॥

एवं कृतोदरशोधनस्य क्षपकस्य योग्यं व्यापारं निर्यापकसूरिसपाद्यमादर्शयति—

जावज्जीवं सव्वाहारं तिविहं च वोसरिहिदित्ति ।
णिज्जवओ आयरिओ संघस्स णिवेदणं कुज्जा ॥७०३॥

'जावज्जीवं' जीवितावधिक । 'सव्वाहारं' सर्वाहारं । 'तिविहं' त्रिविध अशन, खाद्य, स्वाद्यं च । 'वोसरिहिदित्ति' त्यजतीति । 'णिज्जवगो आयरिओ' निर्यापक सूरि । 'संघस्स णिवेदणं कुज्जा' सङ्घं निवेदयेत् ॥७०३॥

खामेदि तुम्ह खवओत्ति कुंचओ तस्स चेव खवगस्स ।
दावेदव्वो णेदूण सव्वसंघस्स वसधीसु ॥७०४॥

'खामेदि' क्षमा ग्राहयति । 'तुम्ह' युष्मान् । 'खवओत्ति' क्षपक इति । 'तस्स चेव खवगस्स' तस्यैव क्षपकस्य । 'कुंचगो' प्रतिलेखन । 'दावेदव्वो' दर्शयितव्य । 'णेदूण' नीत्वा । 'सव्वसंघस्स वसदीए' सर्व-सङ्घस्य वसतीषु ॥७०४॥

तेन सङ्घेन ज्ञातक्षपकाभिप्रायेण कर्तव्यमित्याचष्टे—

आराधणपत्तीयं खवयस्स व णिरुवसग्गपत्तीयं ।
काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण कादव्वो ॥७०५॥

'आराधणपत्तीगं' रत्नत्रयाराधना क्षपकस्य यथा स्यादित्येवमर्थं । 'खवगस्स णिरुवसग्गपत्तीयं' क्षप-कस्योपसर्गा मा भूवन्नेवमर्थं च । 'काओसग्गो' कायोत्सर्ग । 'सघेण सव्वेण' सर्वेण सङ्घेन । 'होदि कायव्वो' कर्तव्यो भवति ॥७०५॥

गाथामे आये उदर शब्दसे पेटका मल लेना चाहिए । उसको निकालना उदरमलका शोधन है । ऐसे महान् प्रयासके द्वारा पेटके मलको निकालनेका यह कारण है कि उदरमे रहा हुआ मल कष्ट देता है ॥७०२॥

इस प्रकार क्षपकके उदरके मलकी शुद्धि हो जानेपर निर्यापकाचार्य क्षपकके योग्य जो कार्य करते है उसे कहते हैं—

गा०—निर्यापकाचार्य सघसे निवेदन करते हैं कि अब यह क्षपक जीवनपर्यन्तके लिए अशन, खाद्य और स्वाद्य तीनो प्रकारके सब आहारका त्याग करता है ॥७०३॥

गा०—तथा यह क्षपक आप सबमे क्षमा माँगता है । इसके प्रमाणके लिए आचार्य उस क्षपककी पिच्छिका लेकर सर्वसघकी वसतियोमे दिखलाते हैं । अर्थात् क्षपक सबके पास क्षमा माँगने स्वयं नही जा सकता, इसलिए उसकी पीछी सर्वत्र ले जाकर दिखलाते हैं कि वह आप सबसे क्षमा माँगता है ॥७०४॥

क्षपकका अभिप्राय जानकर संघको क्या करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—क्षपककी रत्नत्रयकी आराधनापूर्ण हो और उसमें कोई विघ्न न आवे, इसके लिए सर्वसंघको कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥७०५॥

खवयं पच्चक्खावेदि तदो सव्वं च चदुविधाहारं ।
संघसमवायमज्झे सागारं गुरुणिओगेण ॥७०६॥

'खवगं' क्षपक । **'पच्चक्खावेदि'** प्रत्याख्यानं कारयति, निर्यापक सूरि । **'तदो'** पश्चात् । **'सव्वं'** सर्वं । **'चदुव्विधाहारं'** चतुर्विधाहार । **'संघसमवायमज्झे'** सङ्घसमुदायमध्ये । **'सागारं'** साकार । **'गुरु-णियोगेन'** इतरं गुर्वनुज्ञया ॥७०६॥

अहवा समाधिहेदुं कायव्वो पाणयस्स आहारो ।
तो पाणयंपि पच्छा वोसरिदव्वं जहाकाले ॥७०७॥

'अहवा' अथवा । **'समाधिहेदुं'** समाधिश्चित्तैकाग्र्यं, तदर्थं । **'कायव्वो'** कर्तव्य **'पाणगस्स आहारो'** पानकस्य विकल्प । **'तो'** पश्चात् । **'पाणगंपि'** पानकमपि । **'वोसरिदव्वं'** त्यक्तव्यं । **'जहाकाले'** यथाकाले नितरा शक्तिहानिकाले । पूर्वगाथया चतुर्विधाहारत्याग कार्य इति, योऽतिशयेन परीषहबाधाक्षमस्त प्रयुक्त । अनया तु यो न तथा भवति त प्रति त्रिविधाहारत्याग इति निर्दिश्यते ॥७०७॥

कीदृक्पानं तस्य योग्यमित्यत्राह—

जं पाणयपरियम्मम्मि पाणयं छव्विहं समक्खादं ।
तं से ताहे कप्पदि तिविहाहारस्स वोसरणे ॥७०८॥

'जं' यत् । **'पाणयपरियम्मम्मि'** पानकाख्ये परिकरे । **'पाणगं'** पान । **'छव्विहं'** षड्विध । **'सम-क्खादं'** समाख्यातं । सच्छ बहलमित्यादिकं । **'तं'** तत्पान । **'से'** तस्य । **'ताहे'** तदा । **'कप्पदि'** योग्य भवति । **'तिविधाहारस्स'** अशनस्य, खाद्यस्य, स्वाद्यस्य च त्यागे । पच्चक्खाणं ॥७०८॥

तो आयरियउवज्झायसिस्ससाधम्मिगे कुलगणे य ।
जो होज्ज कसाओ से तं सव्वं तिविहेण खामेदि ॥७०९॥

'तो' प्रत्याख्यानोत्तरकाले । **'आयरियउवज्झायसिस्ससाधम्मिगे'** आचार्ये, उपाध्याये, शिष्ये, सधर्मिणि । **'कुलगणे'** य कुले गणे च । **'जो होज्ज कसाओ'** यो भवेत्कषाय क्रोधो, मानो, लोभो वा । **'तं सव्वं'** निरव-

---

गा०—उसके पश्चात् निर्यापकाचार्य संघके समुदायके मध्यमें चारो प्रकारके आहारका सविकल्पक त्याग करता है और क्षपक गुरुकी आज्ञासे ऐसा करता है ॥७०६॥

गा०—अथवा समाधि अर्थात् चित्तकी एकाग्रताके लिए पानकको छोडकर शेष सब आहारका त्याग करता है और अत्यन्त शक्तिहीन होनेपर पानकका भी त्याग करता है ॥७०७॥

विशेषार्थ—पूर्वगाथामे चार प्रकारके आहारका त्याग उस क्षपकके लिए कहा है जो अत्यन्त परीषहकी बाधाको सहनेमें समर्थ होता है और इस गाथासे जो ऐसा नही होता उसके लिए तीन प्रकारके आहारका त्याग कहा है ॥७०७॥

उसके योग्य पानक किस प्रकारका है यह बतलाते हैं—

गा०—पानकके प्रकरणमें जो छह प्रकारका पानक कहा है, तीन प्रकारके आहारका त्याग करनेपर वह उस क्षपकके योग्य होता है ॥७०८॥

गा०—आहार त्याग करनेके पश्चात् आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मी, कुल और गणके

शेषं । 'तिविहेण' त्रिविधेन । 'खामेदि' क्षपयति निराकरोति ॥७०९॥

अब्भहियजादहासो मत्थम्मि कदंजली कदपणामो ।
खामेइ सव्वसंघं संवेगं संजणेमाणो ॥७१०॥

'अब्भहियजादहासो' नितरामुपजातचित्तप्रसादः । कर्तव्यं मुमुक्षुणा यत्तत्सकलं मयानुष्ठितं इति । 'मत्थम्मि कदंजली' मस्तकन्यस्ताञ्जलिः । 'कदपणामो' कृतप्रणामः । 'खामेदि' क्षमां ग्राहयति । 'सव्वसघं' सर्वं श्रमणगणं । 'संवेगं' धर्मानुरागं । 'सजणेमाणो' सम्यगुत्पादयन् सर्वस्य सङ्घस्य ॥७१०॥

मणवयणकायजोगेहिं पुरा कदकारिदे अणुमदे वा ।
सव्वे अवराधपदे एस खमावेमि णिस्सल्लो ॥७११॥

'मणवयणकायजोगेहिं' मनोवाक्काययोगैः । 'पुरा' पूर्वं । 'कदकारिदे अणुमदे वा' कृतकारितानुमतांश्च । 'सव्वे अवराधपदे' सर्वानपराधविशेषान् । 'एस' एष । 'खमावेमि' क्षमां ग्राहयामि । 'णिस्सल्लो' शल्यरहितोऽहमिति ॥७११॥

अम्मापिदुसरिसो मे खमदु खु जगसीयलो जगाधारो ।
अहमवि खमामि सुद्धो गुणसंघायस्स संघस्स ॥७१२॥

'अम्मापिदुसरिसो' मात्रा पित्रा च सदृशो । 'मे' मम 'खमदु' क्षमां करोतु । 'जगसीयलो' जगतः सर्वप्राणिलोकस्य शीतलः । 'जगाधारो' आसन्नभव्यलोकस्य आधारः । 'अहमवि खमामि' परकृतमपराधं मनसि न करोमि । 'सुद्धो' शुद्धः क्रोधादिकलङ्कविरहात् । 'गुणसंघायस्स' गुणसमुदायस्य 'संघस्स' सङ्घस्य । खमणा ॥७१२॥

संघो गुणसंघाओ संघो य विमोचओ य कम्माणं ।
दंसणणाणचरित्ते सघायंतो हवे संघो ॥७१३॥

सम्बन्धमे क्षपकके अन्दर जो क्रोध, मान, माया या लोभ कषाय होती है उसे सबको वह मन-वचनकायसे निकाल देता है ॥७०९॥

गा०—मुमुक्षुका जो कर्तव्य है वह सब मैने किया, इस विचारसे उस क्षपकके चित्तमे अत्यन्त प्रसन्नता होती है और धर्मानुरागको प्रकट करते हुए दोनो हाथोकी अजलि मस्तकसे लगाकर प्रणामपूर्वक समस्त मुनिसंघसे वह क्षमा मॉगता है ॥७१०॥

गा०—कि मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदनासे पूर्वमे किये गये सब अपराधो की मैं निःशल्य होकर क्षमा माँगता हूँ ॥७११॥

गा०—गुणोंका समूहरूप यह संघ समस्त प्राणियोको सुख देनेवाला है, निकट भव्यजीवोका आधार है। वह सघ मुझे माता-पिताके समान क्षमा प्रदान करे। मै भी क्रोधादि दोषोसे शुद्ध होकर किये हुए अपराधको मनसे निकाल देता हूँ ॥७१२॥

गा०—गुणोंके समूहका नाम संघ है। यह संघ कर्मोंसे छुड़ाता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके मेलसे संघ होता हैं ॥७१३॥

इय खामिय वेरग्गं अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ॥७१४॥

वट्टंति अपरिदंता दिवा य रादो य सव्वपरियम्मे ।
पडिचरया गणहरया कम्मरयं णिज्जरेमाणा ॥७१५॥

'**वट्टंति**' वर्तन्ते । '**अपरिदंता**' अपरिश्रान्ता । '**दिवा य रादो य**' दिने रात्रौ च । '**सव्वपरिकम्मे**' सर्वपरिचरणे । '**पडिचरगा**' निर्यापका । **गणहरया** गणान् धर्मस्थान् धारयन्तीति गणधरा '**कम्मरयं**' कर्माख्य रज '**णिज्जरेमाणा**' निर्जरयन्त ॥७१५॥

जं बद्धमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ।
सम्मत्तुप्पत्तीए खवेइ तं एयसमयेण ॥७१६॥

'**जं**' यत् । '**बद्धं रयं**' बद्ध रज कर्म । यथा रजश्छादयति परस्य गुण शरीरादे कच्छूदद्रुप्रभृतिक दोषमावहति तद्वद्बोधादिगुणमवच्छादयति च विचित्रा विपद तेन रज इव रज इत्युच्यते । '**भवसदसहस्स कोडीहिं**' भवशतसहस्रकोटिभि । तद्रज '**खवेंति**' क्षपयन्ति । केन ? '**सम्मत्तुप्पत्तीए**' श्रद्धानोत्पत्त्या । '**एग-समयेण**' एकेनैव समयेन । तथा चोक्त—**सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोह क्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा इति** ॥ [तत्त्वा० ९।४५] ॥७१६॥

एयसमएण विधुणदि उवउत्तो बहुभवज्जियं कम्मं ।
अण्णयरम्मि य जोग्गे पच्चक्खाणे विसेसेण ॥७१७॥

'**एगसमयेण विधुणदि**' अल्पेन कालेन निर्धुनाति । '**उवउत्तो**' परिणत । क्व ? '**अण्णयरम्मि जोगे**' यस्मिन्कस्मिश्चित् तपसि । किं ? '**बहुभवज्जियं**' अनेकभवसचित । '**कम्मं**' कर्म । '**पच्चक्खाणे उवजुत्तो विसेसेण**'

गा०—इस प्रकार सर्वसघको क्षमा प्रदान करके उत्कृष्ट वैराग्यको धारणकर, तप और समाधिमें लीन हुआ क्षपक भवभवमे कष्ट देनेवाले कर्मोकी निर्जरा करता है ॥७१४॥

गा०—धार्मिकोंका संरक्षण करनेवाले निर्यापक मुनिगण रात दिन विना थके उस क्षपक-की समस्त परिचर्यामे लगे रहते है । और इस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा करते हैं ॥७१५॥

गा०—असख्यात लक्षकोटिभवोमे जो कर्मरज बाँधा है उसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर एक समयमे ही जीव नष्ट कर देता है ॥७१६॥

टी०—जैसे रज अर्थात् धूल शरीर आदिके सौन्दर्यको ढाँक देती है और शरीरमे दाद खाज आदि दोष उत्पन्न करती है वैसे ही कर्म जीवके ज्ञानादिगुणोको ढाँकता है और अनेक कष्ट देता है इसलिए उसे रजके समान होनेसे रज कहा है। असंख्यातभवोमे सचित कर्मरज सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेपर एक समयमे ही निर्जीर्ण हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्रमे कहा है—सम्यग्दृष्टी, श्रावक, प्रमत्तविरत, अनन्तानुबन्धीका विसयोजक, दर्शनमोहका क्षपक, उपशम श्रेणिवाला, उपशान्तमोही, क्षपकश्रेणिवाला, क्षीणमोही और अरहन्तके उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥७१६॥

गा०—जिस किसी तपमे लीन हुआ आत्मा अनेकभवोमे संचितकर्मोंको अल्पसमयमें ही

'**णिधुणदि**' यावज्जीव चतुर्विधाहारत्यागे परिणत' विशेषेण निरस्यति ॥७१७॥

एवं पडिक्कमणाए काउसग्गे य विणयसज्झाए ।
अणुपेहासु य जुत्तो संथारगओ धुणदि कम्मं ॥७१८॥

'**एवं**' उक्तेन क्रमेण । '**पडिक्कमणगे**' प्रतिक्रमणे । '**काउस्सगे य**' कायोत्सर्गे च । '**विणयसज्झाए**' विनयस्वाध्यायो । '**अणुपेहासु य जुत्तो**' अनुप्रेक्षासु च युक्त । '**संथारगवो**' सस्तरारूढ. । '**कम्मं धुणदि**' कर्म क्षपयति । खवण गदं ॥७१८॥

इत उत्तर अनुशासन प्रक्रम्यते इति निगदति—

णिज्जवया आयरिया संथारत्थस्स दिंति अणुसिट्ठि ।
संवेगं णिव्वेगं जणंतयं कण्णजावं से ॥७१९॥

'**णिज्जवया आइरिया**' निर्यापका सूरय । '**अणुसिट्ठि दिंति**' श्रुतज्ञानानुसारेण शिक्षा प्रयच्छन्ति । '**संथारत्थस्स**' सस्तरस्थस्य । '**संवेगं**' ससारभीरुता । '**णिव्वेगं**' वैराग्य च । '**जणंतगं**' उत्पादयन्त । '**कण्णजावं**' कर्णजाप । '**से**' तस्मै क्षपकाय ॥७१९॥

णिस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंथारं ।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥७२०॥

'**णिस्सल्लो**' मिथ्यादर्शन, माया, निदान इति त्रीणि शल्यानि तेभ्यो नि क्रान्त । तत्त्वश्रद्धानेन, ऋजुतया, भोगनिस्पृहतया वा '**कदसुद्धी**' कृता शुद्धिर्निर्मलता रत्नत्रये येन स कृतशुद्धि । **विज्जावच्चकरवसधिसंथारं**' विविधा आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याधय, उपसर्गा, परीषहा, असयमो, मिथ्याज्ञान इत्यादिभेदेन तस्यामापदि यत्प्रतिविधान तद्वैयावृत्य तत्करोति य आत्मन स वैयावृत्यकरस्त । **वसतिसंथारं**

निर्जीर्ण कर देता है । और जो जीवनपर्यन्त चारो प्रकारके आहारका त्याग करता है वह विशेषरूपसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१७॥

गा०—इस प्रकार सस्तरपर आरूढ क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय और बारह भावनाओमे लगनेपर कर्मोकी निर्जरा करता है ॥७१८॥

आगे कहते हैं कि क्षपकको सूरि शिक्षा देते है—

गा०—निर्यापक आचार्य संस्तरपर आरूढ क्षपकको श्रुतज्ञानके अनुसार उसके कानमे शिक्षा देते है। वह शिक्षा ससारसे भय और वैराग्यको उत्पन्न करती है ॥७१९॥

कानमे क्या शिक्षा देते है, यह कहते है—

गा०—हे क्षपक ! निःशल्य होकर, रत्नत्रयको निर्मल करके तथा वैयावृत्य करनेवाले, वसति संस्तर और पीछी आदि उपधिका शोधन करके अब सल्लेखना करो ॥७२०॥

टी०—मिथ्यादर्शन, माया, निदान ये तीन शल्य है। तत्त्वश्रद्धानसे मिथ्यादर्शनको, सरलतासे मायाको और भोगोकी निस्पृहतासे निदानको दूर करके नि शल्य बनो। व्याधि, उपसर्ग, परीषह, असंयम, मिथ्याज्ञान आदिके भेदसे विविध आपदाओंको विपदा कहते है। उस विपदाके आनेपर उसके प्रतिकार करनेको वैयावृत्य कहते है। जो क्षपककी वैयावृत्य करता है

वसतिसस्तरं । उवधिं पिच्छादिकं च । 'सोधयित्ता' विशोध्य । 'सल्लेहणं' सल्लेखना । 'कुण' कुरु । 'इदाणि' इदानी । किं ? सयमासंयमविवेकज्ञा असयम त्रिधा मनोवाक्कायै परिहरन्ति न वेति परोक्ष्य अयोग्यवैयावृत्यकराणा त्याग । योग्याना चानुज्ञा । पूर्वापराह्णयोर्वसते., सस्तरस्योपकरणाना च शुद्धि कुरुतेति आज्ञापयता तच्छुद्धि कृता भवति ॥७२०॥

मिच्छत्तस्स य वमणं सम्मत्ते भावणा परा भत्ती ।
भावणमोक्काररदिं णाणुवजुत्ता सदा कुणसु ॥७२१॥

'**मिच्छत्तस्स य वमणं**' मिथ्यात्वस्य वमन । '**सम्मत्ते भावणा**' तत्त्वश्रद्धाने असकृद्वृत्ति । '**परा भत्ती**' । उत्कृष्टा भक्ति । '**भावणमोक्काररदी**' नमस्कारो द्विविध द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कार इति । नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारण, उत्तमाङ्गावनति , कृताञ्जलिता च द्रव्यनमस्कार. । नमस्कर्तव्याना गुणानुरागो भावनमस्कारस्तत्र रति । '**णाणुवयोगं**' श्रुतज्ञानोपयोग च । सदा '**कुणसु**' कुर्विति । सूत्रमिद ॥७२१॥

पंचमहव्वयरक्खा कोहचउक्कस्स णिग्गहं परमं ।
दुद्दंतिंदियविजयं दुविहतवे उज्जमं कुणसु ॥७२२॥

'**पंचमहव्वयरक्खा**' पञ्चाना महाव्रताना रक्षा । '**कोहचउक्कस्स**' रोषचतुष्कस्य । '**णिग्गहं**' निग्रह । '**परमं**' प्रकृष्ट । '**दुद्दंतिंदियविजयं**' दुर्दान्तेन्द्रियविजय । '**दुविहतवे**' द्विप्रकारे तपसि । '**उज्जमं**' उद्योग । '**कुणसु**' कुरु ॥७२२॥

'**मिच्छत्तस्स य वमणं**' इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—

वह वैयावृत्य करनेवाला है। हे क्षपक ! वैयावृत्य करनेवाला, वसति, सस्तर और पीछी आदिका शोधन करके तुम सल्लेखना करो। इसका अभिप्राय यह है क्षपक यह देखे कि वैयावृत्य करनेवाले मुनि संयम और असयमके भेदको जानते है या नहीं ? वे मनवचनकायसे असयमका परिहार करते है या नही ? यह परीक्षा करके अयोग्य वैयावृत्य करनेवालोंको हटा दे और योग्य वैयावृत्य करनेवालोंको स्वीकार करे। पूर्वाह्न और अपराह्णमे वसति, सस्तर और उपकरणोकी शुद्धि करो ऐसी आज्ञा देनेपर उनकी शुद्धि मानी जाती है। इनकी शुद्धिपूर्वक तुम समाधि करो। अब तुम्हारा मरणसमय निकट है। ऐसा क्षपकके कानमे कहते है ॥७२०॥

गा०—मिथ्यात्वका त्याग करो। तत्त्वश्रद्धानकी भावना करो। अर्हन्त आदिमे उत्कृष्ट भक्ति करो। भावनमस्कारमे मन लगाओ। नमस्कारके दो भेद है—द्रव्यनमस्कार और भावनमस्कार। जिनदेवको नमस्कार हो इत्यादि शब्दोका उच्चारण करना, मस्तक झुकाना, दोनो हाथ जोडना, ये सब द्रव्यनमस्कार है और नमस्कार करने योग्य अर्हन्त आदिके गुणोमें अनुराग होना भावनमस्कार है। उस भावनमस्कारमे मन लगाओ और सदा श्रुतज्ञानमे उपयोग लगाओ ॥७२१॥

गा०—पाँच महाव्रतोंकी रक्षा करो। क्रोध आदि चार कषायोका उत्कृष्ट निग्रह करो। दुर्दान्त इन्द्रियोंको जीतो और दो प्रकारके तपमें उद्योग करो ॥७२२॥

'मिथ्यात्वका त्याग करो' गाथाके इस पदका व्याख्यान करते हैं—

संसारमूलहेदुं मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि ।
बुद्धी गुणण्णिदं पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि ॥७२३॥

'**संसारमूलहेदुं**' संसारस्य मूलकारणं । '**मिच्छत्तं**' अश्रद्धानं । '**सव्वधा**' मनोवाक्कायैः । '**विवज्जेहि**' वर्जय । '**बुद्धी**' बुद्धि । '**गुणण्णिदं पि हु**' गुणान्वितामपि । '**मिच्छत्तं**' मिथ्यात्वं '**मोहिदं**' मुग्धा । '**कुणदि**' करोति । अत्रेदं विचार्यते । कथ प्रथमता मिथ्यात्वस्य ? न ह्येद संभाव्यते असयमादिभ्यो मिथ्यात्व प्रथममुपजातमिति कुत ? यथा मिथ्यात्व स्वनिमित्तसन्निधानाद्भवति, एवमसयमादयोऽपीति का तस्य प्रथमता ? अथ तद्धेतुरेव दर्शनमोह प्रथम भवति पश्चाच्चारित्रमोहादीनीत्येतदपि असत् सदा कर्माष्टकसद्भावात् । [1]एवं प्रामाण्यते सूत्रकार '**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः**' इति वचने मिथ्यात्व बन्धहेतुषु पूर्वमुपन्यस्त बन्धपुरःसरश्च संसार', संसारमूलहेतुर्मिथ्यात्वमिति बुद्धि अर्थयाथात्म्यपरिच्छेदगुणसमन्वितामपि मिथ्यात्व विपरीता करोति । अन्ये तु वदन्ति । '**बुद्धी गुणण्णिया पि हु**' शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणादयो बुद्धेर्गुणास्तद्वंतुमपीति ॥७२३॥

अतद्रूपवस्तुनि तद्रूपावभासिता कथ विज्ञानस्येत्याशङ्काया विपर्यस्तमपि ज्ञानमुदेति तन्निमित्तसद्भावादित्याचष्टे—

मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति जह सतण्हयगा ।
तह य णरा वि असद्भूदं सद्भूतं ति मण्णंति मोहेण ॥७२४॥

'**मयतण्हिया**' मृगतृष्णिकाशब्देन आदित्यरश्मयो भौमेनोष्मणा सपृक्ता उच्यन्ते । ता अजलभूता । '**मया मण्णंति उदगंति**' मृगा मन्यते उदकमिति । '**यथा सतण्हगा**' तृष्णासतप्तलोचना । '**तह य**' तथैव । मृगा

गा०—मिथ्यात्व ससारका मूल कारण है उसका मनवचनकायसे त्याग करो; क्योकि मिथ्यात्व गुणयुक्त बुद्धिको भी मूढ बना देता है ॥७२३॥

टी०—**शङ्का**—यहाँ विचारणीय यह है कि मिथ्यात्वको प्रथमस्थान क्यो दिया गया है ? असयम आदिसे मिथ्यात्व पहले उत्पन्न हुआ है यह सम्भावना भी सम्भव वही है क्योकि जैसे मिथ्यात्व अपने निमित्तके होनेपर होता है वैसे ही असयम आदि भी होते है तब वह प्रथम क्यो ? यदि कहोगे कि उसका हेतु दर्शनमोह पहले होता है पीछे चारित्रमोह आदि होते है तो यह भी ठीक नही है क्योकि आठो कर्म सदा रहते है ?

समाधान—सूत्रकारने तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है—'मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्धके कारण है ।' यहाँ उन्होने बन्धके कारणोमे मिथ्यात्वको प्रथम स्थान दिया है और बन्धपूर्वक ससार होता है अत ससारका मूल कारण मिथ्यात्व है । वह पदार्थको यथार्थ रूपसे जाननेका गुण रखने वाली बुद्धिको भी विपरीत कर देता है ।

अन्य आचार्य ऐसा व्याख्यान करते है—सुननेकी इच्छा, सुनना, ग्रहण करना और धारण करना आदि बुद्धिके गुण है । ऐसी गुणयुक्त बुद्धिको भी मिथ्यात्व विपरीत कर देता है ॥७२३॥

जो वस्तु जिस रूप नही है उसे ज्ञान उस रूप कैसे दिखलाता है ? ऐसी आशका होने पर आचार्य कहते है कि मिथ्यात्व रूप निमित्तके सद्भावमे ज्ञान विपरीत भी होता है—

गा०—सूर्यकी किरणें पृथ्वीकी ऊष्मासे मिलकर जलका भ्रम उत्पन्न करती हैं उसे मृग-

---

१. एव सामान्यत सू०-आ० मु० ।

इव नरा अपि । '**असब्भूवं सब्भूदंति मण्णंति मोहेण**' अतत्त्वमपि तत्त्वमित्यवगच्छन्ति दर्शनमोहेन हेतुना ॥७२४॥

परिहर तं मिच्छत्तं सम्मत्ताराहणाए दढचित्तो ।
होदि णमोक्कारम्मि य णाणे वदभावणासु धिया ॥७२५॥

मिथ्यात्वजन्यमोहमाहात्म्यप्रख्यापनायाह—

मिच्छत्तमोहणादो धत्तूरयमोहण वर होदि ।
वड्ढेदि जम्ममरणं दसणमोहो दु ण दु इदरं ॥७२६॥

'**मिच्छत्तमोहणादो**' मिथ्यात्वजन्यान्मोहात् । '**धत्तूरयमोहणं**' उन्मत्तरससेवाजनितमोहन । '**वरं होदि**' शोभन भवति । कथ ? '**वड्ढेदि**' वर्धयति । '**जम्ममरणं**' जन्ममरण च विचित्रासु योनिषु । कि ? '**दंसणमोहो**' दर्शनमोहजन्य कलङ्क । '**ण दु इदरं जम्ममरण वड्ढेदि**' नैव धत्तूरकमोहन जन्ममरणपरम्परा आनयति कतिपयदिनभाविमोहसम्पादनोद्यता-(-त्) अनन्तकालवर्तिवैपरीत्यजननक्षममोहन अतिशयेन निकृष्टमिति भाव. । ततो जन्मरणप्रवाहभीरुणा भवता त्याज्य मिथ्यात्व इति ॥७२६॥

ननु प्रागेव परित्यक्त मिथ्यात्व तत्कथ इदानी तत्त्यागोपदेश इत्यत्राशङ्कायामिदमुच्यते—

जीवो अणादिकालं पवत्तमिच्छत्तभाविदो संतो ।
ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥७२७॥

'**जीवो अणादिकालं पवत्तमिच्छत्तभाविदो सन्तो**' जीवोऽनादिकालप्रवृत्तमिथ्यात्वभावित सन् । '**ण रमिज्ज खु**' नैव रमेत । '**सम्मत्ते**' सम्यक्त्वे, '**एत्थ**' अत्र सम्यक्त्वे । '**पयत्तं**' प्रयत्न '**कादव्वं खु**' कर्तव्य एव ।

तृष्णा कहते है। जैसे प्याससे पीड़ित मृग उसे पानी जानते हैं वैसे ही मनुष्य भी दर्शनमोहके कारण अतत्त्वको भी तत्त्व जानता है ॥७२४॥

गा०—अत हे क्षपक, सम्यक्त्वकी आराधनाके द्वारा उस मिथ्यात्वको दूर कर। ऐसा करनेसे पचपमेष्ठीके नमस्कारमे ज्ञान और व्रतोंकी भावनामे चित्त दृढ़ होता है ॥७२५॥

मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुए मोहका माहात्म्य कहते है—

गा०-टी०—मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न हुए मोहसे धतूरेके सेवनसे उत्पन्न हुआ मोह (मूर्छा) उत्तम है; क्योकि दर्शन मोहसे उत्पन्न हुआ मोह नाना योनियोंमे जन्ममरणको बढाता है किन्तु धतूरेके सेवनसे उत्पन्न हुआ मोह जन्ममरणकी परम्पराको नही बढ़ाता। अत. कुछ दिनोके लिए मोह उत्पन्न करने वाले धतूरेके मदसे अनन्त कालके लिए विपरीत बुद्धि उत्पन्न करनेमे समर्थ मिथ्यात्वका मोह अत्यन्त बुरा है। अत जन्ममरणकी परम्परासे भीत आपको मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिए ॥७२६॥

यहाँ यह शंका होती है कि मिथ्यात्वका त्याग तो पहले ही कर दिया यहाँ उसके त्यागका उपदेश क्यो ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—यह जीव अनादि कालसे चले आते हुए मिथ्यात्वसे भावित होता आया है इससे

अनन्तकाले परिभावितं मिथ्यात्वं दुस्त्यजं तदेव दुःखत्याज्य। यथोरगश्चिरपरिचित छिद्र निवार्यमाणोऽपि बलात्प्रविशति इति कर्तव्य सम्यक्त्वे दार्ढ्यं ॥७२७॥

अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं ण तं करेज्जण्हू।
जं कुणदि महादोसं तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं ॥७२८॥

'**अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि**' अग्निर्विष कृष्णसर्प इत्यादीनि। '**दोस ण त करेज्जण्हू**' दोष त न कुर्युः। '**जं कुणदि**' य करोति। '**महादोस**' महान्त दोषं। '**जीवस्स**' जीवस्य। '**तिव्वं**' तीव्र। किं? '**मिच्छत्तं**' मिथ्यात्वं अश्रद्धान ॥७२८॥

अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं करंति एयभवे।
मिच्छत्तं पुण दोसं करेदि भवकोडिकोडीसु ॥७२९॥

अग्न्यादिभि क्रियमाणस्य अल्पता मिथ्यात्वेन सपाद्यस्य च महत्ता दर्शयत्युत्तरगाथया। अग्न्यादीन्येकभवदुःखदानि मिथ्यात्व पुनर्दोषं करोति भवाना कोटाकोटीषु ॥७२९॥

मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति।
विसलित्तकंडविद्धा जह पुरिसा णिप्पडीयारा ॥७३०॥

'**मिच्छत्तसल्लविद्धा**' मिथ्यात्वाख्येन शल्येन विद्धा '**तिव्वाओ वेदणाओ**' तीव्रा वेदना। '**वेदंति**' अनुभवन्ति। '**विसलित्तकंडविद्धा**' विषलिप्तेन शरेण विद्धा। '**जह**' यथा। '**पुरिसा**' पुरुषा। '**णिप्पडीयारा**' निष्प्रतीकारा ॥७३०॥

अच्छीणि संघसिरिणो मिच्छत्तणिकाचणेण पडिदाइं।
कालगदो वि य सतो जादो सो दीहसंसारे ॥७३१॥

'**अच्छीणि**' अक्षिणी। '**संघसिरिणो**' सङ्घश्रीसंज्ञितस्य। '**मिच्छत्तणिकाचणेण**' मिथ्यात्वप्रकर्षेण। '**पडिदाणि**' पतिते। '**इहैव**' जन्मनि। '**कालगदो वि य सतो**' मृत्वापि। '**जादो सो**' जातोऽसौ। '**दीहसंसारे**' दीर्घससारे ॥७३१॥

सम्यक्त्वमे वह नही रमता। इसलिए सम्यक्त्वमे प्रयत्न करना ही चाहिए। अनन्त कालमे अच्छी तरह भाया गया मिथ्यात्व बडे कष्टसे छूटता है। जैसे सर्प रोकने पर भी अपने चिर परिचित बिलमे बलपूर्वक घुस जाता है। अत सम्यक्त्वमे दृढता कर्तव्य है ॥७२७॥

गा०—आग, विष, काला सर्प आदि जीवका उतना दोष नही करते जैसा महादोष तीव्र मिथ्यात्व करता है ॥७२८॥

आगेकी गाथासे आग आदिके द्वारा किये गये दोषकी अल्पता और मिथ्यात्वके द्वारा किये गये दोषकी महत्ता बतलाते है—

गा०—आग आदि तो एक भवमे ही दुःख देते हैं। किन्तु मिथ्यात्व करोडो भवोमे दुःख देता है ॥७२९॥

गा०—मिथ्यात्व नामक शल्यसे बीधे गये जीव तीव्र वेदना भोगते हैं। जैसे विषैले बाणसे छेदे गये मनुष्योंका कोई प्रतीकार नही होता। अर्थात् वे अवश्य मर जाते हैं ॥७३०॥

यदि नाम उपगतमिथ्यात्वोऽस्मि तथापि दुर्धरं चारित्रमनुष्ठितं मया तदस्मान्निस्तरणे समर्थमित्याशा न कर्तव्येति निदर्शयति—

कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं ।
होदि णिहिदं तु णिव्वलियम्मि य मधुरं सुगंघ च ॥७३२॥

'**कडुगम्मि दुद्धिए**' कटुकालाब्वां । '**अणिव्वलिदम्मि**' अशुद्धायां । '**णिहिदं खीरं**' निक्षिप्तं क्षीरं । '**जह कडुगमेव होदि**' यथा कटुकरसमेव भवति । एवकारेण माधुर्यव्यावृत्ति क्रियते । '**णिव्वलियम्मि य**' शुद्धायामलाब्वा । '**णिहिदं**' निक्षिप्त क्षीरं '**जह मधुरं होदि सुगंध च**' यथा मधुरं भवति सुरभि च ॥७३२॥

तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाणचरणविरियाणि ।
णासंति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ॥७३३॥

'**तह**' तथा '**मिच्छत्तकडुगिदे**' मिथ्यात्वेन कटूकृते जीवे । '**तवणाणचरणविरियाणि**' तपो, ज्ञानं, चारित्रं, वीर्यमित्येतानि '**णासंति**' नश्यन्ति [1]सम्यक्रूपविनाशात् । समीचीन तपो, ज्ञान, चरण, वीर्यनिगूहनं च मुक्त्युपायो न तपःप्रभृतिमात्रं । स च सम्यक्श्रद्धाबलेनैव नान्यथा । '**वंतमिच्छम्मि**' निरस्तमिथ्यात्वे जीवे । **सफलानि** फलसमन्वितानि तपःप्रभृतीनि । '**जायन्ति**' जायन्ते । [किं[2] तपसः फलं ? अभ्युदयसुखं, निःश्रेयससुखं वा । मि छत्तस्स य वमणं इत्येतद्व्याख्यातं । मिच्छत्त] ॥७३३॥

[3]सम्मत्त भावणा इत्येतद्व्याचष्टे—

मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे ।
सम्मत्तं खु पदिट्ठा णाणचरणवीरियतवाणं ॥७३४॥

गा०—मंत्रश्री नामक राजमन्त्रीकी आँखे तीव्र मिथ्यात्वके कारण फूट गई और वह मर कर भी दीर्घ संसारी हुआ ॥७३१॥

शायद क्षपक विचारे कि यदि मै मिथ्यादृष्टि हूँ तब भी मैने दुर्धर चारित्रका पालन किया है अतः मै संसार समुद्रको पार करनेमे समर्थ हूँ ? आचार्य कहते हैं कि ऐसी आशा नही करना—

गा०—जैसे अशुद्ध कडुवी तूम्बीमे रखा दूध कटुक ही होता है और शुद्ध तूम्बीमे रखा दूध मीठा तथा सुगन्धित होता है ॥७३२॥

गा०—वैसे ही मिथ्यात्वसे दूषित जीवमे तप, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, ये सब नष्ट हो जाते हैं क्योकि सम्यक् रूप नही होते । समीचीन तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य मुक्तिके उपाय है, केवल तप आदि मात्र मुक्तिका उपाय नही है । और समीचीन तप आदि श्रद्धाके बलसे ही होते है, श्रद्धाके अभावमे नही होते । अतः मिथ्यात्वको दूर कर देने वाले जीवमे तप आदि सफल होते है । तपका फल सांसारिक सुख अथवा मोक्षका सुख है । इस प्रकार मिथ्यात्वके वमनका कथन किया ।।७३३॥

अब सम्यक्त्वकी भावनाका कथन करते हैं—

---

१ सम्यक्स्वरूपविनाशात्–मूलारा० मु० । २. [ ] एतदन्तर्गत पाठ 'अ' प्रतौ नास्ति । ३ कि त्येतद्व्याचष्टे–अ० ।

'मा कासि' मा कार्षीः । **'तं'** भवान् । **'पमादं'** प्रमादं । **'सम्मत्ते'** सम्यक्त्वे । **'सव्वदुःखणासयणे'** सर्वदुःखनिर्मूलनोद्यते । कथं सम्यक्त्वं सर्वदुःखनाशकारि ? ननु ज्ञानादीन्यपि सर्वदुःखनिवृत्तिनिमित्तानि इत्यत आह—

'सम्मत्तं खु' श्रद्धानमेव तत्त्वस्य । **'पविट्ठा'** आधारः । **'णाणचरणवीरियतवाणं'** ज्ञानस्य, चरणस्य, वीर्याचारस्य, तपसश्च । ननु सर्व एव परिणामः परिणामिद्रव्याधारो न परस्परमधिकरणता याति तत कथमुच्यते सम्यक्त्वमाधार इति । यथा परिणामिद्रव्यमन्तरेण ज्ञानादीनामनवस्थितिरेवं समीचीनता तेषां न दर्शनं विनेति दर्शनस्याधारता ।।७३४।।

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं ।।७३५।।

'णगरस्स जह दुवारं' नगरस्य द्वारमिव नगरप्रवेशनोपायो यथा द्वारं । **'तहा'** तथा **'सम्मत्तं'** सम्यक्त्वं द्वारं । **'णाणचरणवीरियतवाणं'** ज्ञानादीनां । एवं हि ज्ञानादीन्यनुप्रविष्टो भवति जीवो यदि परिणतो भवेत्सम्यक्त्वे तदन्तरेण सम्यग्ज्ञानाद्यनुप्रवेशस्यासंभवात् । न हि सातिशयमवध्यादि, यथाख्यातं चारित्रं, बहुतरनिर्जरानिमित्तं वा तपः प्रतिलभते जन्तुः सम्यक्त्वं विना । **'मुहस्स चक्खू जहा'** मुखस्य चक्षुर्यथा शोभाविधायि तथा ज्ञानादीनां सम्यक्त्वं विधत्ते श्रद्धानं । **'तरुस्स मूलं यथा'** तरोर्मूलं यथा स्थितिनिबन्धनं, तथा सम्यक्त्वं ज्ञानादिस्थितिनिमित्तं ।।७३५।।

भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो व्वा ।
धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं ।।७३६।।

गा०-टी०—सब दुःखोंको जड़मूलसे उखाड़नेमें तत्पर सम्यक्त्वके विषयमें आप प्रमाद न करें । 'सम्यक्त्व ही सब दुःखोंका नाश करने वाला कैसे है ? ज्ञान आदि भी तो सब दुःखोंको दूर करनेमें निमित्त है ? ऐसा कोई कहे तो आचार्य कहते हैं—ज्ञान, चारित्र, वीर्याचार और तपका आधार तत्त्वका श्रद्धान ही है ।

शंका—सब परिणाम परिणामी द्रव्यके आधारसे रहते हैं । वे परस्परमें एक दूसरेके आधार नहीं होते । तब आप सम्यक्त्वको ज्ञानादिका आधार कैसे कहते हैं ?

समाधान—जैसे परिणामी द्रव्यके बिना ज्ञानादि नहीं रहते वैसे ही वे सम्यग्दर्शनके बिना समीचीन नहीं होते । इसलिए सम्यग्दर्शन उनका आधार होता है ।।७३४।।

गा०-टी०—जैसे नगरमें प्रवेश करनेका उपाय उसका द्वार होता है वैसे ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका द्वार सम्यक्त्व है । यदि जीव सम्यक्त्व रूपसे परिणत होता है तो वह ज्ञानादिमें प्रवेश कर सकता है । सम्यक्त्वके बिना ज्ञानादिमें प्रवेश सम्भव नहीं है । सम्यक्त्वके बिना जीव सातिशय अवधि ज्ञान आदि, यथाख्यात चारित्र अथवा बहुत निर्जरामें निमित्त तपको प्राप्त नहीं कर सकता । तथा जैसे नेत्र मुखको शोभा प्रदान करते हैं वैसे ही सम्यक्त्वसे ज्ञानादि शोभित होते हैं । तथा जैसे जड़ वृक्षकी स्थितिमें कारण है वैसे ही सम्यक्त्व ज्ञानादिकी स्थितिमें निमित्त है ।।७३५।।

गा०—इस जगत्‌में लोग परपदार्थोंमें अनुराग रूप है, स्नेही जनोंमें प्रेमानुरागी हैं । कोई

दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥७३७॥
दंसणभट्ठो भट्ठो ण हु भट्ठो होइ चरणभट्ठो हु ।
दंसणममुयत्तस्स हु परिवडणं णत्थि संसारे ॥७३८॥

'**दंसणभट्टो भट्टो**' दर्शनाद्भ्रष्टो भ्रष्टतम. । '**चरणभट्टो वि**' चारित्रभ्रष्टोऽपि दर्शनादभ्रष्टः । '**ण हु**' न वा । '**भट्टो होदित्ति**' वाक्यशेष कृत्वा सबन्ध । न तु तथा भ्रष्टो भवति चारित्रभ्रष्ट यथा दर्शनाद्भ्रष्टः । '**दंसणं**' श्रद्धान । '**अमुयत्तस्स**' अत्यजत । चारित्राद्भ्रष्टस्यापि '**परिवडणं संसारे णत्थि खु**' परिपतन संसारे नास्त्येव । असयमनिमित्तार्जितपापसंहतेरस्त्येव ससार । किमुच्यते परिपतन नास्तीति ? अयमभिप्राय —परि समन्तात्सर्वासु गतिषु चतसृषु सचरण नास्तीति । स्वल्पत्वात्संसार सन्नपि नास्तीति व्यवह्रियते । तथा हि स्वल्पद्रविणोऽधन इत्युच्यते । दर्शनात्तु प्रभ्रष्टस्य अर्धपुद्गलपरिवर्तन भवत्यतिमहत्ससारमिति निकृष्टतमो दर्शनाद्भ्रष्ट ॥७३८॥

एकैकस्य दर्शनस्य माहात्म्य कथयति—

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ।
जादो दु सेणिगो आगमेसिं अरुहो अविरदो वि ॥७३९॥

'**सुद्धे**' शुद्धे । '**सम्मत्ते**' सम्यक्त्वे । शङ्काद्यतिचाराभावात् । '**अविरदो वि**' अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानामुदयात् हिंसादिनिवृत्तिपरिणामरहितोऽपि । '**तित्थयरणामकम्मं**' तीर्थकरत्वस्य कारणं कर्म

मज्जानुरागी है। किन्तु तुम जिनशासनमे रहकर सदा धर्मानुरागी रहो ॥७३६॥

गा०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टका अनन्तानन्त कालमे भी निर्वाण नही होता। जो चारित्रसे भ्रष्ट है किन्तु सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नही है उसका कुछ कालमे निर्वाण होगा। परन्तु जिसके सम्यग्दर्शन नही है उसका निर्वाण अनन्त कालमे भी नही होगा ॥७३७॥

गा०-टी०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह अत्यन्त भ्रष्ट है। किन्तु चारित्रसे भ्रष्ट होने पर भी सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नही है वह भ्रष्ट नही है। सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट जैसा होता है चारित्रसे भ्रष्ट वैसा नही होता। चारित्रसे भ्रष्ट होकर भी जो सम्यग्दर्शनको नही त्यागता उसका ससारमे पतन नही होता।

शंका—असयमके निमित्तसे उपार्जित पाप कर्मके होनेसे उसका ससार रहता ही है। आप कैसे कहते है कि उसका ससारमे पतन नही होता ?

समाधान—हमारे कथनका अभिप्राय यह है कि उसका चारो गतियोमे भ्रमण नही होता। यद्यपि ससार रहता है किन्तु स्वल्प रहता है अत 'नही रहता' ऐसा कहनेमे आता है जैसे स्वल्प धन वालेको निर्धन कहा जाता है। किन्तु जो सम्यग्दर्शन पाकर उससे भ्रष्ट हो जाता है उसका संसार अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण रहनेसे महान् संसार होता है। अतः चारित्र भ्रष्टसे दर्शन भ्रष्ट अति निकृष्ट होता है ॥७३८॥

गा०-टी०—एकाकी सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कहते हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान

अर्जयति । विनयसपन्नतादिरपि तीर्थकरनामकर्मणो हेतुरेव ततः कोऽतिशयो दर्शनस्य इति चेत् दर्शने सत्येव तेषां तीर्थकरनामकर्मणः कारणता, नान्यथेति मन्यते । '**जादो खु**' जात खलु । '**सेणिगो**' श्रेणिक । '**आग-मेसि**' भविष्यति काले । **अरहो** अर्हन् '**अविरदो वि**' असंयतोऽपि सन् । ननु श्रेणिको भविष्यत्यर्हन् न त्वर्हत्त्व तस्यातीत तेन कथमुच्यते जात इति ? भविष्यदर्हत्त्व न निष्पन्न इति युक्तमुच्यते जात इति ॥७३९॥

कल्लाणपरंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।
सम्मद्दंसणरयणं णग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥७४०॥

'**कल्लाणपरंपरयं**' कल्याणपरम्परा इन्द्रत्व, सकलचक्रलाछनता, अहमिन्द्रत्व, तीर्थकृत्त्वमित्यादिक लभन्ते जीवाः । '**विसुद्धसम्मत्ता**' विशुद्धसम्यक्त्वा । '**सम्मद्दंसणरयणं**' सम्यग्दर्शनरत्न '**णग्घदि ससुरासुरो लोओ**' सकलो लोको मूल्यतया दीयमानोऽपि न लभते सम्यक्त्वरत्नमित्यर्थः ॥७४०॥

सम्मत्तस्स य लंभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो ।
सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥७४१॥
लद्धूण वि तेलोक्कं परिवडदि हु परिमिदेण कालेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं हवदि मोक्खं ॥७४२॥

स्पष्टार्थतया न व्याख्यायते गाथाद्वयम् अनन्तर सम्मत्ते भावणा इत्येतद्व्याख्यात । सम्मत्त ॥७४२॥

माया लोभके उदयमे हिसा आदिकी निवृत्ति रूप परिणामोसे रहित अविरत भी शका आदि अति-चारोसे रहित शुद्ध सम्यक्त्वके होने पर तीर्थंकर पदके कारणभूत कर्मका उपार्जन करता है ।

शंका—विनय सम्पन्नता आदि भी तीर्थंकर नाम कर्मके आस्रवमे कारण होते है तब उनसे सम्यग्दर्शनकी क्या विशेषता हुई ?

समाधान—सम्यग्दर्शनके होने पर ही विनय सम्पन्नता आदि तीर्थंकर नाम कर्मके कारण होते है, उसके अभावमे कारण नही होते । देखो, असयमी भी श्रेणिक भविष्यमे तीर्थंकर हुआ ।

शङ्का—श्रेणिक तीर्थंकर होगा, भविष्यकालमे, अभी वह हुआ नही है, फिर उसे 'हुआ' क्यो कहा ?

समाधान—श्रेणिकका अर्हन्तपना आगे होगा, अभी हुआ नही है इसलिए 'भविष्यमे हुआ' ऐसा कहा है ॥७३९॥

गा०—विशुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव इन्द्रपद, चक्रवर्तिपद, अहमिन्द्रपद, तीर्थंकरपद आदि कल्याणपरम्पराको प्राप्त करते है । मूल्यके रूपमे समस्तलोक देनेपर भी सम्यक्त्वरत्न प्राप्त नही होता ॥७४०॥

गा०—सम्यक्त्वकी प्राप्तिके बदलेमे यदि तीनो लोक प्राप्त होते हो तो त्रैलोक्यकी प्राप्तिसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति श्रेष्ठ है ॥७४१॥

गा०—तीनो लोक प्राप्त करके भी कुछ काल बीतनेपर वे छूट जाते है । किन्तु सम्यक्त्वको प्राप्त करके अविनाशी सुखवाला मोक्ष प्राप्त होता है ॥७४२॥

सम्यक्त्वभावनाका कथन समाप्त हुआ ।

परा भत्ती इत्येतद्व्याख्यानाय प्रबन्ध उत्तर—

अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसव्वसाहूसु ।
तिव्वं करेहि भत्ती णिव्विदिगिंच्छेण भावेण ॥७४३॥

'**अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसव्वसाहूसु**' अर्हत्सिद्धेसु तत्प्रतिबिम्बेषु, प्रवचने, आचार्येषु सर्वसाधुषु च । '**तिव्वं भत्ति करेहि**' तीव्रां भक्ति कुर्विति । '**णिव्विदिगिंछेण**' विचिकित्सारहितेन । '**भावेण**' परिणामेन ॥७४३॥

जिनभक्तिमाहात्म्यं कथयन्ति—

संवेगजणिदकरणा णिस्सल्ला मंदरोव्व णिक्कंपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥७४४॥

'**संवेगजणिदकरणा**' संसारभीरुतया उत्पादितात्मलाभा । '**णिसल्ला**' मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन, च रहिता । '**मंदरोव्व णिक्कप्पा**' मन्दर इव निश्चला । '**जस्स दढा जिणभत्ती**' यस्य दृढा जिनभक्ति । '**तस्स संसारे भय णत्थि**' तस्य संसारनिमित्तं भयं नास्ति ॥७४४॥

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेदि ।
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपरसुहाणं ॥७४५ ॥

तह सिद्धचेदिए पवयणे य आइरियसव्वसाधूसु ।
भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिव्वा ॥७४६॥

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ।
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमंतस्स ॥७४७॥

'**विज्जा**' विद्यापि । '**भत्तिवंतस्स**' भक्तिमत । '**सिद्धिमुवयादि**' सिद्धिमुपयाति । '**होदि सफला य**' फलवती च भवति । '**किध पुण**' कथं पुन । '**णिव्वुदिबीजं**' निर्वृतेर्बीजं रत्नत्रयं '**सिज्झहिदि**' सेत्स्यति ।

अब 'परा भक्ति' का व्याख्यान करते हैं—

गा०—हे क्षपक ! ग्लानिरहित भावसे अर्हन्त, सिद्ध, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्वसाधुओमे तीव्र भक्ति करो ॥७४३॥

जिन भक्तिका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—संसारके भयसे उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व माया और निदान शल्योंसे रहित तथा सुमेरुकी तरह निश्चल दृढ़ जिनभक्ति जिसकी है उसे ससारका भय नहीं है ॥७४४॥

गा०—एक ही जिनभक्ति दुर्गतिका निवारण करनेमे, पुण्यकर्मोंको पूर्ण करनेमें और मोक्षपर्यन्त सुखोंको परम्पराको देनेमे समर्थ है ॥७४५॥

गा०—तथा सिद्ध, परमेष्ठी, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्वसाधुओंमें तीव्रभक्ति संसारका विनाश करनेमे समर्थ है ॥७४६॥

'अभत्तिमंतस्स' भक्तिरहितस्य क्व ? अर्हदादिषु ॥७४७॥

तेसिं आराधणणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्ति ।
धत्तिं पि संजमंतो सालिं सो ऊसरे ववदि ॥७४८॥

'तेसिं आराधणणायगाणं' अर्हदादीना आराधनाया नायकाना । **'ण करिज्ज जो णरो भत्ति'** यो नरो भक्ति न करोति । **सो धत्ति पि संजमंतो'** नितरा सयमे उद्यतोऽपि शालीनूषरे देशे वपति । ऊषरे शालिवपन अफलं यथा क. करोत्येव दुश्चरं संयमं चरत्यय अर्हदादिषु भक्तिरहितो मिथ्यादृष्टिः सन्निति भाव' ॥७४८॥

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ।
आराधणमिच्छन्तो आराधणभत्तिमकरंतो ॥७४९॥

'बीजेण विणा सस्सं' शस्यमिच्छति बीजेन विना । **'वासमब्भएण विणा'** वर्षं वाञ्छति अभ्रेण विना । कारणेन विना कार्यमिच्छतीति यावत् । **'आराधणं'**[1] रत्नत्रयससिद्धि इच्छति अकुर्वन्नाराधनाभक्ति हेतुभूता ॥७४९॥

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ।
तह अरहादिगभत्ती णाणचरणदंसणतवाणं ॥७५०॥

'विधिणा कदस्स' विधीयते जन्यते कार्यमनेनेति कारणसदोहो विधि । तेन कारणकलापेन कृतस्योप्तस्य । **'सस्सस्स'** सस्यस्य । **'वास जह 'णिप्पादय हवदि'** वर्षं यथा फलनिष्पत्ति करोति । **'तह'** तथैव । **'आराहगभत्ती'** आराधकेषु अर्हदादिषु **'भत्ती'** भक्ति । **'णाणचरणदसणतवाण'** ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च निष्पादिका भवति ॥७५०॥

गा०—विद्या भी भक्तिमानकी ही सिद्ध और सफल होती है । तब जो अर्हन्त आदिमें भक्ति नहीं रखता उसके मोक्षका बीज रत्नत्रय कैसे सिद्ध-प्राप्त हो सकता है ? ॥७४७॥

गा०—दर्शन आदि आराधनाओके नायक अर्हन्त आदिकी जो मनुष्य भक्ति नही करता वह सयममे अत्यन्त तत्पर होते हुए भी धान्यको ऊसर भूमिमे बोता है ॥६४८॥

विशेषार्थ—इसका भाव यह है कि ऊसर भूमिमे कौन धान बोता है । क्योकि उसका कोई फल नहीं है । उसी प्रकार यह अर्हन्त आदिमे भक्तिरहित अर्थात् मिथ्यादृष्टि होते हुए कठिन सयमका आचरण करे तो वह निष्फल है ॥७४८॥

गा०—आराधनाके नायकोकी भक्ति न करके जो आराधना अर्थात् रत्नत्रयकी सिद्धि चाहता है वह बीजके विना धान्य चाहता है और बादलोके विना वर्षा चाहता है ॥७४९॥

गा०—जिससे कार्य किये जाते है उसे विधि कहते हैं अत. विधिका अर्थ होता है—कारणोंका समूह । उस विधिसे बोये गये धान्यको वर्षा जैसे उत्पन्न करती है उसी प्रकार अर्हन्त आदिकी भक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तपकी उत्पादक होती है ॥७५०॥

---

१. णिम्मावगं-अ० आ० ।

भक्तिमाहात्म्यं फलातिशयोपदर्शनेन कथयितुकामोऽख्यानमुपक्षिपति गाथायाम्—

वंदणभत्तीमित्तेण मिहिलाहिओ य पउमरहो ।
देविंदपाडिहेरं पत्तो जादो गणधरो य ॥७५१॥

'**वंदणभत्तीमित्तेण**' वन्दनानुरागमात्रेण चैव । '**मिहिलाहिओ य पउमरहो**' मिथिलानगराधिपति पद्मरथो नाम । '**देविंदपाडिहेरं पत्तो**' देवेन्द्रकृता पूजा प्राप्तवान् । '**जादो गणधरो य**' गणधरश्च जात । भत्ती ॥७५१॥

आराधणापुरस्सरमणण्णहिदओ विसुद्धलेस्साओ ।
संसारस्स खयकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥७५२॥

'**आराधणापुरस्सर णमोक्कार मा मोचीओ**' आराधनाया अग्रसर नमस्कार मा मुञ्च । कीदृग्भूत ? '**संसारस्स खयकरं**' ससारस्य पञ्चविधपरिवर्तमानस्य क्षयकरं । '**अणण्णहिदओ**' अनन्यगतचित्त. सन् । '**विसुद्धलेस्साओ**' विशुद्धलेश्यया परिणत । तत्र नमस्कार नामस्थापनाद्रव्यभावविकल्पेन चतुर्द्धा व्यवस्थित । तत्र नाम नमस्कारो नाम यस्य कस्यचिन्नमस्कार इति कृता सज्ञा इदमस्य नामधेय यथा स्यादिति नियुज्यमान पद सर्व सर्वत्र प्रवर्तते । एव नमस्करणव्यापृतो जीवस्तस्य कृताञ्जलिपुटस्य यथाभूतेनाकारेणात्रस्थापिता मूर्ति स्थापनानमस्कारः । नमस्कारप्राभृत नामास्ति ग्रन्थ यत्र नयप्रमाणनिक्षेपादिमुखेन नमस्कारो निरूप्यते, त यो वेत्ति न च साम्प्रत तन्निरूप्येऽर्थे उपयुक्तोऽन्यगतचित्तत्वात् स नमस्कारयाथात्म्यग्राहिश्रुतज्ञानस्य कारणत्वादागमद्रव्यनमस्कार इत्युच्यते । नो आगमद्रव्यनमस्कारस्त्रिविध , ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदान् । नमस्कार-

---

विशिष्ट फलके द्वारा भक्तिका माहात्म्य कहनेकी इच्छासे ग्रन्थकार उदाहरण उपस्थित करते हैं—

गा०—तीर्थंकरकी वन्दनाके अनुरागमात्रसे मिथिला नगरका स्वामी पद्मरथ देवेन्द्रके द्वारा पूजित हुआ और वासुपूज्य तीर्थंकरका गणधर हुआ ॥७५१॥

विशेषार्थ—मिथिलाका राजा पद्मरथ भगवान् वासुपूज्य तीर्थंकरकी वन्दनाके लिए गया। मार्गमे दो देवोने उसकी परीक्षाके लिए घोर उपसर्ग किया। किन्तु वह विचलित नही हुआ। देवोने उसकी दृढभक्तिसे प्रसन्न होकर उसकी पूजा की। और वह भगवान् वासुपूज्यके समवशरणमे जाकर दीक्षा ग्रहण करके उनका गणधर बन गया ॥७५१॥

गा०—नमस्कार मन्त्र आराधनाका अग्रेसर है, नमस्कारमन्त्रपूर्वक ही आराधना की जाती है। पाँच परावर्तनरूप ससारका क्षय करनेवाला है। सब ओरसे मनको हटाकर विशुद्ध लेश्यापूर्वक नमस्कार मन्त्रकी आराधना कर। इसे छोडना नही ॥७५२॥

टी०—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे नमस्कार चार प्रकारका होता है। जिस किसीका नमस्कार नाम रखना नाम नमस्कार है। इसका यह नाम है इस प्रकारका व्यवहार सर्वत्र चलता है। इसी प्रकार नमस्कार करते हुए जीवकी दोनो हाथोंको जोड़े हुए आकारकी स्थापित मूर्ति स्थापना नमस्कार है। नमस्कार प्राभृत नामक ग्रन्थमें नय, प्रमाण, निक्षेप आदिके द्वारा नमस्कारका कथन है। जो उसे जानता है किन्तु वर्तमानमे उसमे कहे हुए अर्थमे उपयुक्त नही है, उसका मन अन्यत्र लगा है। वह व्यक्ति नमस्कारके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले श्रुतज्ञानका कारण होनेसे आगमद्रव्य नमस्कार कहाता है। नो आगमद्रव्य नमस्कारके तीन भेद

प्राभृतज्ञस्य यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तदप्यन्तरेण श्रुतज्ञानं नोपजायते इति शरीरमपि कारणं तत्रापि नमस्कार-शब्दो वर्तते। यत् तद् भूतशरीरं त्रिविकल्प च्युत, च्यावितं त्यक्तमिति। आयुषो नि शेषगलनादात्मनश्च्युत एकं। चेतनस्य वा उपसर्गस्य बलाद् च्यावितं च्यावितशब्देनोच्यते। आयुषोऽभावमवेत्य आत्मनैव यत्त्यक्त तत्त्य-क्तशब्देनोच्यते। तत्त्रिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानं, प्रायोपगमन, इङ्गिनीमरण इति। तेष्वन्यतमेन त्यक्त विधिना कायकषायसल्लेखनापुरःसर प्रव्रज्यात प्रभृति निर्यापकगुरुसमाश्रयणदिवसमन्त्य कृत्वा मध्ये प्रवृत्तान् ज्ञानदर्शन-चारित्राणा अतिचारानालोच्य तदभिमतप्रायश्चित्तानुसारिण द्रव्यभावसल्लेखनामुपगतस्य त्रिविधाहारप्रत्या-ख्यानादिक्रमेण रत्नत्रयाराधन भक्तप्रत्याख्यान। इङ्गिणीमरणप्रायोपगमने वक्ष्यमाणलक्षणे। तैं परित्यक्त त्यक्तमुच्यते। यदेव तत्सति जीवे नमस्कारोपयोगवति जीववदेव कारणमासीन्नमस्कारोपयोगस्य तदेवेदमिति तत्रापि नमस्कारशब्द प्रवर्तते। नमस्कारोपयोगरूपेण यो भविष्यति स भावीति भण्यते। स्थापना अर्हदा-दीनां नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तनोकर्मनमस्कारशब्देनोच्यते। आगमनमस्कारज्ञान आगमभावनमस्कार। नमस्क्रि-यमाणार्हदादिगुणानुरागवत मुकुलीकृतकरकमलस्य, प्रणामो नो आगमभावनमस्कार इह गृह्यते।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानैरनुयोगद्वारैर्निरूप्यते। अर्हदादिगुणानुरागवत आत्मनो वाक्कायक्रियास्तवनशिरोवनतिरूपो नमस्कार। सम्यग्दृष्टिर्नो आगमभावनमस्कारस्य स्वामीति। मतिश्रुत-

---

है—ज्ञायकशरीर, भावि, तद्व्यतिरिक्त। नमस्कार प्राभृतके ज्ञाताका जो त्रिकालवर्ती शरीर है, उसके विना भी श्रुतज्ञान नहीं होता, इसलिए शरीर भी कारण है अत उसे भी नमस्कार शब्दसे कहते है। उनमेसे जो भूत शरीर है उसके तीन भेद है—च्युत, च्यावित, त्यक्त। आयुकर्मके पूर्णरूपसे समाप्त होनेपर छूटा शरीर च्युत कहाता है। उपसर्गके कारण छूटा शरीर च्यावित कहाता है। आयुका अभाव जानकर स्वय ही त्याग किया शरीर त्यक्त कहाता है। उस त्यक्त शरीरके तीन भेद है—भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोपगमन, इंगिनीमरण। उनमेसे किसी एक विधिसे शरीर और कषायकी सल्लेखनापूर्वक छोडा गया शरीर त्यक्त है। दीक्षा ग्रहण करनेसे लेकर निर्यापक गुरुके पास आश्रय लेनेके अन्तिम दिनतक लगे ज्ञान दर्शन और चारित्रके अतिचारोकी आलोचना करके गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको स्वीकार करके द्रव्यसल्लेखना और भाव-सल्लेखनापूर्वक तीन प्रकारके आहारके त्याग आदिके क्रमसे रत्नत्रयकी आराधना करना भक्त-प्रत्याख्यान है। इगिनीमरण और प्रायोपगमनका कथन आगे करेगे। इन तीनोके द्वारा त्यागा गया शरीर त्यक्त कहाता है। जब शरीरके रहनेपर जीव नमस्कारमे उपयोग लगाता था तब जीवकी तरह ही शरीर भी नमस्कारमे उपयोग लगानेमे कारण था। वही यह शरीर है इस प्रकार शरीरमे नमस्कार शब्दकी प्रवृत्ति होती है। जो भविष्यमे नमस्कारमे उपयोगरूपसे परिणत होगा उसे भावि कहते है। अर्हन्त आदिकी स्थापनाको नोआगमद्रव्य व्यतिरिक्त नोकर्म नमस्कार शब्दसे कहते है।

नमस्कार विषयक आगमके ज्ञानको आगमभाव नमस्कार कहते है। जिन अर्हन्त आदिको नमस्कार करता है उनके गुणोमे अनुरागपूर्वक दोनो हाथोको जोड नमस्कार करनेवालेका जो नमस्कार है वह नोआगमभाव नमस्कार है।

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन अनुयोग द्वारोंसे नमस्कार-का कथन करते हैं।

अर्हन्त आदिके गुणोमे अनुरागी आत्माका वचनके द्वारा स्तवन और कायके द्वारा सिरको

ज्ञानावरणक्षयोपशमः, दर्शनमोहोपशमः, क्षयः, क्षयोपशमश्च बाह्यं साधनं, अभ्यन्तरं आत्मा प्रत्यासन्नभव्यः । आत्मनि वर्तते नमस्कारः । अन्तर्मुहूर्तस्थितिकः । अर्हदादिनमस्कार्यभेदेन पञ्चविधः । अर्हदादीनां प्रत्येकमनेकविकल्पत्वात् नमस्कारोऽपि तावद्धा भिद्यते ।।७५२।।

मणसा गुणपरिणामो वाचा गुणभासणं च पंचण्हं ।
काएण संपणामो एस पयत्थो णमोक्कारो ।।७५३।।

अत्र नमस्कारसूत्रेण '**णमो लोए सव्वसाहूणं**' इत्यत्र लोकग्रहणं च सर्वग्रहणं प्रत्येकमभिसम्बध्यते । णमो लोए सव्वेसिं अरहंताणं, णमो लोए सव्वेसिं सिद्धाणं, णमो लोए सव्वेसिं आइरियाणं, णमो लोए सव्वेसिं उवज्झायाणं' इति । अरहंताणमित्यादि बहुवचननिर्देशादेव सर्वेषामर्हदादीनां ग्रहणं सिद्धमतो न कर्तव्यं सर्वशब्दोपादानं इति चेत् । अर्द्धतृतीयद्वीपगतभरतेषु, ऐरावतेषु विदेहेषु च ये अर्हन्तः, सिद्धा, आचार्या, उपाध्याया, साधवश्चातीता, वर्तमाना, भविष्यन्तश्च तेषां ग्रहणार्थं सर्वशब्द उपात्तः । सादरविशेषख्यापनार्थं प्रत्येकं नमःशब्दोपादानं ।।७५३।।

अरहंतणमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो मरणकाले ।
सो जिणवयणे दिट्ठो संसारुच्छेदणसमत्थो ।।७५४।।

'**अरहंतणमोक्कारो**' अर्हतां नमस्कारः । '**जो मरणकाले भवेज्ज एक्को वि**' यो मरणकाले भवेदेकोऽपि । '**सो**' सः । '**जिणवयणे दिट्ठो**' जिनवचने दृष्टः । '**संसारोच्छेदणसमत्थो**' संसारोच्छेदनसमर्थः ।।७५४।।

झुकाना नमस्कार है। नोआगमभाव-नमस्कारका स्वामी सम्यग्दृष्टी होता है। मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम तथा दर्शनमोहका उपशम, क्षय और क्षयोपशम उसका बाह्य साधन है और निकट भव्य आत्मा अभ्यन्तर साधन है। नमस्कार आत्मामें रहता है। उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। नमस्कार करनेयोग्य अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुके भेदसे नमस्कारके पाँच भेद हैं। अर्हन्त आदिमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद होनेसे नमस्कारके भी उतने ही भेद होते हैं ।।७५२।।

गा०—अरहन्त आदि पाँचोका मनसे गुणानुस्मरण, वचनसे गुणानुवाद और कायसे नमस्कार यह नमस्कार पदका अर्थ है ।।७५३

टी०—नमस्कार मन्त्रमे आये 'णमो लोए सव्वसाहूण' में जो लोक और सर्वशब्दका ग्रहण किया है उन्हे प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए। लोकके सब अर्हन्तोंको नमस्कार हो। लोकमें सब सिद्धोको नमस्कार हो। लोकके आचार्योंको नमस्कार हो। लोकके सब उपाध्यायोको नमस्कार हो।

शङ्का—'अरहंताण' इत्यादिमे बहुवचनके निर्देशसे ही सब अर्हन्तोंका ग्रहण सिद्ध है अतः सर्वशब्दका ग्रहण उचित नही है ?

समाधान—अढ़ाईद्वीपके भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोमें जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु अतीतकालमे हुए, वर्तमानमें है और भविष्यमें होंगे उनके ग्रहणके लिए सर्व शब्द ग्रहण किया है। और विशेष आदर बतलानेके लिए प्रत्येकके साथ 'णमो' शब्द लगाया है।।७५३।।

गा०—मरते समय यदि एक बार भी अर्हन्तोको नमस्कार किया तो उसे जिनागममें

ननु सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपांसि संसारमुच्छिन्दन्ति यद्यपि न स्यान्नमस्कार इत्याशंकायामाह—

जो भावनमोक्कारेण विणा सम्मत्तणाणचरणतवा ।
ण हु ते होंति समत्था संसारुच्छेदणं कादुं ॥७५५॥

'**जो भावणमोक्कारेण विणा**' यो भावनमस्कारेण विना सम्यक्त्वं, ज्ञान, चारित्र, तपश्च । '**खु**' शब्द एवकारार्थः । '**ण हु ते संसारुच्छेदणं कादुं समत्था होंति**' न हि ते संसारोच्छेदनं कर्तुं समर्था भवन्ति ॥७५५॥

यद्येवं 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति सूत्रेण विरुध्यते । नमस्कारमात्रमेव कर्मणा विनाशने उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकथनादित्याशङ्कायामाह—

चदुरंगाए सेणाए णायगो जह पवत्तओ होदि ।
तह भावणमोक्कारो मरणे तवणाणचरणाणं ॥७५६॥

'**चदुरंगाए सेणाए णायगो**' चतुरङ्गाया सेनाया नायको । '**जह पवत्तगो होज्ज**' यथा प्रवर्तको भवति । '**तह भावणमोक्कारो**' तथा भावनमस्कारः । '**मरणे**' मरणगोचरः । '**तवणाणचरणाणं**' तपोज्ञानचरणानां । क्षायिकसम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्यगुणात्मका अर्हन्त इत्येव श्रद्धानात्मको भावनमस्कारः सम्यग्दर्शनत्वात् समीचीन तपो, ज्ञान, चारित्र च प्रवर्तयति । न ह्याप्तगुणश्रद्धानं विना शब्दश्रुतस्य प्रामाण्यमय व्यवस्थापयितुमीश । वक्तृप्रामाण्याद्विना वचनप्रामाण्यासिद्धे । न [1]ह्यतीन्द्रियविषयज्ञानमयथार्थमिदमेतद्यथार्थमिति वा विवेक्तु शक्यते अस्मदादिना । अर्थयाथात्म्यवेदिनो वीतरागद्वेषस्य च यतो वचस्ततो यथार्थमेव विज्ञानं जनयति, नायथार्थमिति समीचीनज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानपुरस्सरतया चरण तपश्च समीचीन सत्कर्मापनोदे निमित्तं

संसारका उच्छेद करनेमें समर्थ कहा है ॥७५४॥

नमस्कारके विना भी सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र संसारका उच्छेद करते है ? ऐसी आशंकामे उत्तर देते है—

गा०—भाव नमस्कारके विना जो सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र होते हैं वे संसारका उच्छेद करनेमे समर्थ नही हैं ॥७५५॥

यदि ऐसा है तो 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र मोक्षका मार्ग है' इस सूत्रके साथ विरोध आता है क्योकि आप नमस्कार मात्रको ही कर्मोंके विनाशका उपाय मानकर मुक्तिका एक ही मार्ग कहते हैं ? इसका उत्तर देते है—

गा०-टी०—जैसे चतुरंग सेनाका नायक प्रवर्तक होता है वैसे ही मरते समय भाव नमस्कार—क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक वीर्य गुण वाले अर्हन्त हैं इस प्रकार श्रद्धान रूप भाव नमस्कार सम्यग्दर्शन-रूप होनेसे समीचीन ज्ञान, तप और चारित्रका प्रवर्तक होता है । आप्तके गुणोके श्रद्धानके विना शब्दरूप श्रुतके प्रामाण्यकी व्यवस्था नही की जा सकती, क्योंकि वक्ताके प्रामाण्यके विना वचनोंका प्रामाण्य सिद्ध नही होता । अतीन्द्रिय विषयोका ज्ञान अयथार्थ है और 'यह' आदि ज्ञान यथार्थ है, ऐसा विवेक हम लोग नही कर सकते । यतः अर्थके यथार्थ स्वरूपको जानने वाले और राग द्वेषसे रहित आप्तका वचन यथार्थ ज्ञानको ही उत्पन्न करता है, अयथार्थ ज्ञानको नहीं. इस प्रकारके सच्चे ज्ञानीका सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्

---

१ हीन्द्रिय—आ० मु० ।

नान्यथेति प्रवर्तकता भावनमस्कारस्य ततः [1]प्रधानत्वाद्भावनमस्कारः संसारोच्छेदकारीति व्यपदिश्यते ।।७५६।।

आराधणापडायं गेण्हंतस्स हु करो णमोक्कारो ।
मल्लस्स जयपडायं जह हत्थो घेत्तुकामस्स ।।७५७।।

आराधनापताका ग्रहीतुकामस्य भावनमस्कार एव करो जयपताका ग्रहीतुकामस्य मल्लस्य हस्त इवेत्युत्तरगाथार्थः ।।७५७।।

अण्णाणी वि य गोवो आराधित्ता मदो णमोक्कारं ।
चंपाए सेट्ठिकुले जादो पत्तो य सामण्णं ।।७५८।।

अर्हद्गुणज्ञानरहितोऽपि गोपो द्रव्यनमस्कारमाराध्य मृतश्चम्पापुरे श्रेष्ठिकुले जातः श्रामण्यं च प्राप्तवान् इति च द्रव्यनमस्कारोऽप्येवं विपुलं प्रयच्छति फलं किं न कुर्याद् भावनमस्कार इति भावः । भावनमस्कारो व्याख्यातः । णमोक्कार ।।७५८।।

णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं ।
णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ।।७५९।।

णाणुवओगं इत्येतद्व्याख्यानायोत्तर प्रबन्धः—**'णाणोवओगरहिदेण'** ज्ञानपरिणामरहितेन पुंसा । **'ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं'** चित्तनिग्रहः कर्तुमशक्यः । कस्मात् ज्ञानमन्तरेण न शक्यश्चित्तनिग्रहः कर्तुमित्याशंकायां—ज्ञानं निग्रहकरणे साधकतमं ततस्तदन्तरेण न भवति चित्तनिग्रह इत्याचष्टे । **'णाणं अंकुसभूदं**

चारित्र और सम्यक् तप विद्यमान कर्मों को दूर करनेमे निमित्त होता है, अन्यथा नही होता। इसलिए भाव नमस्कार ज्ञान चारित्र और तपका प्रवर्तक होनेसे प्रधान है और संसारका उच्छेद करने वाला कहाता है ।।७५६।।

गा०—जैसे विजय पताकाको ग्रहण करनेके अभिलाषी मल्लके लिए हाथ है। हाथसे ही वह जय पताका ग्रहण करता है। वैसे ही आराधना पताका (ध्वजा) को ग्रहण करनेके इच्छुक आराधकका हाथ भाव नमस्कार है। भाव नमस्कार पूर्वक ही वह आराधनामें सफलता पाता है ।।७५७।।

गा०—सुभग नामका ग्वाला अज्ञानी था, उसे अर्हन्तके गुणोका ज्ञान नही था। वह द्रव्यनमस्कारकी आराधना करके अर्थात् मुखसे णमोकर मन्त्रका जप करते हुए मरा और चम्पा नगरीमें एक श्रेष्ठीके वशमे उत्पन्न हुआ। तथा मुनि पदको धारण कर मुक्त हुआ। इस प्रकार द्रव्यनमस्कारसे भी विपुल फलकी प्राप्ति होती है। तब भावनमस्कारका तो कहना ही क्या है। इस प्रकार भावनमस्कारका कथन समाप्त हुआ ।।७५८।।

अब ज्ञानोपयोगका कथन करते हैं—

गा०-टी०—ज्ञानोपयोगसे रहित मनुष्य अपने चित्तका निग्रह नहीं कर सकता।

शङ्का—ज्ञानके बिना चित्तका निग्रह क्यों नही कर सकता?

समाधान—ज्ञान चित्तका निग्रह करनेमे साधकतम है अतः उसके बिना चित्तका निग्रह

---

१ प्रभावत्वा—आ० मु०।

मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स' ज्ञानमङ्कुशभूतं मत्तस्य चित्तहस्तिन । इदमत्र चोद्यते—इह चित्तशब्देन किमुच्यते ? अन्यत्र सचित्तशीतसवृत इत्यादौ चित्तं चैतन्यमिति गृहीतं । इहापि यदि तदेव तस्य निग्रहो नाम क ? अत्रोच्यते—विपर्ययज्ञानमया अशुभध्यानलेश्यातया वा परिणति.[1] प्राणभृतो यस्य तस्य निरोधो यथार्थज्ञान-परिणामेन क्रियते । परिणामो हि परिणामिन निरुणद्धि, परिणामोऽस्मा[2]द्विरुद्धस्त्वया नादातव्य इति । यथा मत्तो हस्ती न क्वचिदवतिष्ठते बन्धनमर्दनादिक विना तद्वच्चित्तहस्त्यपि यत्र क्वचनाशुभपरिणामे प्रवर्तते इति ॥७५९॥

विज्जा जहा पिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ।
णाणं हिदयपिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥७६०॥

'**विज्जा सुट्ठु पउत्ता जहा पिसाय पुरिसवसं करेदि**' विद्या सुष्ठु प्रयुक्ता सम्यगाराधिता यथा पिशाच पुरुषस्य वश्य करोति । '**तह णाणं सुट्ठुवजुत्तं वसं करेदि हिदयपिसायं**' । तथा ज्ञान सुष्ठु प्रयुक्त वश करोति किं ? हृदयपिशाच । चित्तं पिशाचवदयोग्यकारितया ज्ञानं समीचीन असकृत्प्रवर्तमान शुभे शुद्धे वा परिणामे प्रवर्तयति चेतनामिति यावत् ॥७६०॥

उवसमइ किण्हसप्पो जह मंतेण विधिणा पउत्तेण ।
तह हिदयकिण्हसप्पो सुट्ठुवजुत्तेण णाणेण ॥७६१॥

'**उवसमदि किण्हसप्पो**' उपशाम्यति कृष्णसर्प । '**जह**' यथा । '**मंतेण सुप्पजुत्तेण**' स्वाहाकारान्ता विद्या[3] नि स्वाहाकारो मन्त्रशब्देनोच्यते । मन्त्रेण सुष्ठु प्रयुक्तेन । '**तह**' तथैव । '**हिदयकिण्हसप्पो उवसमदि**' हृदयकृष्णसर्प उपशाम्यति । '**सुट्ठुवजुत्तेण णाणेण**' सुष्ठु प्रवृत्तेन ज्ञानपरिणामेन । अशुभनिग्रहहेतुता ज्ञानस्य

नहीं होता, यह कहते है—मदोन्मत्त चित्तरूपी हाथीके लिए ज्ञान अकुश रूप है ।

शङ्का—यहाँ चित्त शब्दसे क्या लिया है ? तत्त्वार्थ सूत्रमे 'सचित्त शीत संवृत' इत्यादि सूत्रमे चित्तसे चैतन्यका ग्रहण किया है । यहाँ भी यदि चैतन्य ही लिया है तो उसका निग्रह कैसा ?

समाधान—जिस प्राणीकी परिणति विपरीत ज्ञान रूप या अशुभ ध्यान और अशुभ लेश्या रूप होती है उसका निरोध यथार्थ ज्ञानरूप परिणामसे किया जाता है । परिणाम परिणामीको रोकता है जैसे तुम्हे हमारे विरुद्ध परिणाम नही करना चाहिए । अत जैसे मत्त हाथी बन्धन मर्दन आदिके विना वशमे नही होता वैसे ही चित्तरूपी हाथी भी जिस किसी भी अशुभ परिणाम मे प्रवृत्त होता है ॥७५९॥

गा०—जैसे सम्यक् रीतिसे साधी गई विद्या पिशाचको पुरुषके वशमें कर देती है । वैसे ही सम्यक् रूपसे आराधित ज्ञान हृदय रूपी पिशाचको वशमे करता है । अयोग्य काम करनेसे चित्त पिशाचके समान है । बार-बार प्रयुक्त सम्यग्ज्ञान चेतनाको शुभ अथवा शुद्ध परिणाममे प्रवृत्त करता है ॥७६०॥

गा०—जैसे विधिपूर्वक प्रयोग किये गये मंत्रसे कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है । वैसे ही अच्छी तरहसे भावित ज्ञानसे हृदयरूपी कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है । प्रथम गाथा (७५९) से

---

१ तिं प्राकृत यस्य निरोध अ० । २. स्मद्वि—अ० मु० । ३. द्या इति स्वा—आ० मु० ।

आद्यया गाथयोक्ता। द्वितीयया चित्तस्य स्ववशकारित्वं ज्ञानभावनयोक्तं। अनया तु अशुभपरिणामप्रशान्तिकारिता ज्ञानभावनया निरूप्यते ॥७६१॥

आरण्णवो वि मत्तो हत्थी णियमिज्जदे वरत्ताए।
जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहत्थी ॥७६२॥

'**आरण्णवो वि मत्तो हत्थी**' अरण्यचारी मत्तो हस्ती। '**णियमिज्जदे वरत्ताए**' नियम्यते निरुध्यते वरत्रेण यथा। तथा '**मणहत्थी णियमिज्जदे**' मनोहस्ती नियम्यते। '**णाणवरत्ताए**' ज्ञानवरत्रेण। प्राणिनामहितकारितया, दुर्निवारतया च मनो हस्तीवेति मनोहस्तीति भण्यते। ज्ञानमशुभप्रवाहं निरुणद्धि। इत्यनयोच्यते ॥७६२॥

ज्ञानवरत्रानियमितस्य मनसो व्यापार निरूपयत्युत्तरगाथा—

जह मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदु ण सक्केइ।
तह खणमवि मज्झत्थो विसएहिं विणा ण होइ मणो ॥७६३॥

'**मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदुं ण जहा सक्कवि**' मर्कटकः क्षणमपि मध्यस्थो निर्विकार सन् स्थातु न शक्नोति। '**तहा मणो विसएहिं विणा मज्झत्थो खणमवि ण होदि**' तथा मनो विषयैं शब्दादिविषयनिमित्ता रागादय इह विषयशब्दवाच्या विषयकार्यत्वात्। ततोऽयमर्थ, अत्र रागद्वेषो विना मध्यस्थ मनो भवति। ज्ञानभावनायामसत्या रागद्वेषयोर्वृत्तिरेव मनसो व्यापार इत्यर्थ। एतया ज्ञान मनसो माध्यस्थ करोतीत्याख्यायते। यस्मान्न मनसो माध्यस्थ्यमस्ति सन्निहितमनोज्ञामनोज्ञविषयरागद्वेषसहचारितया ॥७६३॥

तम्हा सो उड्डहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण।
रामेदव्वो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥७६४॥

ज्ञानको अशुभका निग्रह करनेमे हेतु कहा। दूसरी गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा चित्त अपने वशमे होता है यह कहा। इस गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा अशुभ परिणामोकी शान्ति होती है यह कहा ॥७६१॥

गा०—जैसे चमडेके कोडेसे जगली भी मस्त हाथी वशमे किया जाता हे। वैसे ही ज्ञान रूपी चर्मदण्डसे मन रूपी हाथी वशमे किया जाता है। प्राणियोका अहितकारी तथा दुर्निवार होनेसे मनको हाथीकी तरह कहा है। ज्ञान अशुभ प्रवाहको रोकता है यह इस गाथासे कहा है ॥७६२॥

आगे ज्ञानरूपी चर्मदण्डसे वशमे किये गये मनका व्यापार कहते है—

गा०—जैसे बन्दर एक क्षण भी निर्विकार होकर ठहर नही सकता, वैसे ही मन एक क्षण भी विषयोके विना नही रहता। यहाँ विषय शब्दसे शब्द आदिके निमित्तसे होने वाले रागादिको लिया है क्योकि वे विषयोसे उत्पन्न होते है। इसलिए ऐसा अर्थ होता है कि रागद्वेषके विना मन मध्यस्थ नही होता है। अर्थात् ज्ञान भावनाके अभावमे रागद्वेषमे प्रवृत्ति करना ही मनका व्यापार है। इस गाथासे कहा है कि ज्ञान मनको मध्यस्थ करता है। निकटवर्ती प्रिय और अप्रिय विषयोंमे रागद्वेष करनेसे मन मध्यस्थ नही होता ॥७६३॥

'**तम्हा**' तस्मात् । '**सो मणमक्कडओ**' मनोमर्कटः । '**उड्डहणो**' इतस्तत उल्लंघनपर. । '**रामेदव्वो णियदं**' सर्वकालं रमयितव्य । क्व '**जिणोवदेसम्मि**' जिनागमे । '**तो**' ततो जिनागमरते । '**सो**' मनोमर्कटः । '**दोस**' रागद्वेषादिक । '**ण काहिदि**' न करिष्यति । '**से**' तस्य ज्ञानाभ्यासकारिण. ॥७६४॥

यस्माज्ज्ञानाभ्यासे सति मनोमर्कटको दोष अशुभपरिणाम न करोति—

तम्हा णाणुवओगो खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो ।
जह विंधणोवओगो चंदयवेज्झं करंतस्स ॥७६५॥

'**तम्हा णाणुवओगो**' तस्माज्ज्ञानपरिणाम । '**खवगस्स विसेसदो सदा भणिदो**' क्षपकस्य विशेषत सदा निरूपित । '**जह विंधणोवओगो**' यथा व्यधनाभ्यासो विशेषतो भणित । कस्य ? '**चंदयवेज्झं करंतस्स**' चन्द्रकवेध कुर्वत ॥७६५॥

णाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स ।
जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि ॥७६६॥

'**णाणपदीओ**' ध्यानप्रदीप । '**पज्जलइ**' प्रज्वलति । यस्य विशुद्धलेश्यस्य हृदये । तस्य ससारावर्ते पतित्वा विनष्टोऽस्मीति विनाशभय नास्ति । '**जिणदिट्ठमोक्खमग्गे**' जिनदृष्टे श्रुते । रत्नत्रयवृत्तिरपि मोक्षमार्ग-शब्द इह श्रुतवृत्तिर्ग्राह्य ॥७६६॥

ज्ञानप्रकाशमाहात्म्य कथयति—

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ।
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं ॥७६७॥

'**णाणुज्जोवो**' ज्ञानोद्योत एव द्योतोऽतिशयित । कस्तस्यातिशय इत्यत्र आह—'**णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो**' ज्ञानोद्यतस्य नास्ति प्रतिघात । '**दीवेदि**' प्रकाशयति । '**खेत्तमप्पं**' स्वल्प क्षेत्र । क ? '**सूरो**'

गा०—इसलिये इधर-उधर कूदने वाले मनरूपी बन्दरको जिनागममे सदा लगाना चाहिए। जिनागममे लगे रहनेसे वह मनरूपी बन्दर उस ज्ञानाभ्यास करने वालेमे रागद्वेष उत्पन्न नही कर सकेगा ॥७६४॥

गा०—यत ज्ञानाभ्यास करने पर मनरूपी बन्दर अशुभ परिणामरूप दोप उत्पन्न नही करता। इसलिये क्षपकके लिये सदा ज्ञानोपयोग विशेष रूपसे कहा है। जैसे चन्द्रक यत्रका वेध करने वालेके लिये सदा बीधनेका अभ्यास विशेष रूपसे कहा है ॥७६५॥

गा०—जिस विशुद्ध लेश्या वालेके हृदयमे ज्ञानरूपी दीपक जलता है उसको जिन भगवान्-के द्वारा कहे गये आगममें प्रवृत्त रहते हुए 'मै ससारकी भँवरमे गिरकर नष्ट होऊँगा', ऐसा भय नही रहता ॥७६६॥

ज्ञानरूपी प्रकाशका माहात्म्य कहते है—

गा०—ज्ञानरूप प्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है, क्योकि ज्ञानरूपी प्रकाशमे रहनेवालेका

---

१. ज्ञानप्र—आ० ।

आदित्यः । 'णाणं जगमसेसं' ज्ञानं जगदशेषं । 'दोवेदि' प्रकाशयति । समस्तवस्तुव्यापिज्ञानवदन्य. प्रकाशो नास्तीत्यर्थः ।।७६७।।

णाणं पयासओ सोधओ तवो संजमो य गुत्तियरो ।
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ।।७६८।।

'णाणं पयासगं' ज्ञानं प्रकाशयति 'संसारं' ससारकारण, 'मुत्ति' मुक्तिकारण च ।। 'सोधओ तवो' नर्जरानिमित्त तप. । 'संजमो य गुत्तियरो' संयमश्च गुप्तिकर' । 'तिण्हंपि' त्रयाणामपि । 'समाओगे' संयोगे । 'मोक्खो' मोक्ष. । 'जिणसासणे दिट्ठो' जिनशासने दृष्ट' ।।७६८।।

णाणं करणविहूणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि ।।७६९।।

णाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं ।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्मि ।।७७०।।

'णाणुज्जोएण विणा' ज्ञानोद्योतेन विना । 'जो इच्छदि' यो वाछति । 'मोक्खमग्गमुवगंतु' चारित्र तपश्च इह मोक्षमार्ग इत्युच्यते चारित्र तपश्चोपगन्तु । 'गतुं कडिल्लमिच्छदि' गन्तु दुर्गमिच्छति । क ? 'अंधलओ' अन्ध । 'अंधयारम्मि' अन्धकारे तमसि । यथा वृक्षतृणगुल्मादिनिचिते प्रदेशे गमन अतिदुष्कर अप्रकाशे सति । तद्वद्धिसादिपरिहारो जीवनिकायाकुले दुष्कर इति मन्यते ।।७७०।।

जइदा खंडसिलोगेण जमो मरणादु फेडिदो राया ।
पत्तो य सुसामण्णं किं पुण जिणउत्तसुत्तेण ।।७७१।।

'जइदा खण्डसिलोगेण' यदि तावत्खण्डेन श्लोकस्य । 'जमो राया मरणादो फेडिदो' यमो राजा मरणा-

---

पतन नही होता। सूर्य तो अल्पक्षेत्रको ही प्रकाशित करता है किन्तु ज्ञान समस्त जगत्को प्रकाशित करता है। आशय यह है समस्त वस्तुओमे व्याप्त ज्ञानके समान अन्य प्रकाश नही है ।।७६७।।

गा०—ज्ञान ससार, ससारके कारण, मोक्ष और मोक्षके कारणोंको प्रकाशित करता है। तप निर्जराका कारण है। सयम गुप्तिकारक है। इन तीनोके मिलनेपर जिनागममे मोक्ष कहा है ।।७६८।।

गा०—आचरणहीन ज्ञान, श्रद्धानके विना मुनि दीक्षाका ग्रहण और सयमके विना तप जो करता है वह सब निरर्थक करता है ।।७६९।।

गा०—ज्ञानरूप प्रकाशके विना मोक्षमार्गको जो प्राप्त करना चाहता है, यहाँ चारित्र और तपको मोक्षमार्ग कहा है अत. जो ज्ञानके विना चारित्र और तपको प्राप्त करना चाहता है वह अन्धा अन्धकारमे दुर्गपर जाना चाहता है। जैसे प्रकाशके अभावमें वृक्ष, तृण, झाड़ी आदिसे भरे प्रदेशमे जाना अति कठिन है वैसे ही जीवोसे भरे प्रदेशमे हिंसा आदिका बचाव कठिन है ।।७७०।।

दपसारितः । '**पत्तो य सुसामण्णं**' प्राप्तश्च शोभनं श्रामण्यं । '**किं पुण जिणउत्तसुत्तेण**' किं पुनर्जिनोक्तसूत्रेण प्राप्यफले आश्चर्यं । वाच्यमत्राख्यानकं च । तदुक्तं—

[1]भवत्यन्धेनाज्ञेन जीवितार्थिना यत्किचिदुक्तं वचनं श्रुत्वा ह्यास्यपरेण राज्ञा भाव्यमानं यद्यापदपसारणे निमित्तं विश्ववेदिना वचो भाव्यमानं किमभिलषितं न प्रापयति ॥ ७७१॥

स्वल्पस्यापि श्रुतस्य भावना मरणकाले महाफलं ददातीत्येवं तत्कथयति—

दढसुप्पो सूलहदो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे ।
उवजुत्तो कालगदो देवो जादो महड्ढिओ ॥७७२॥

'**दढसुप्पो सूलहदो**' दृढसूर्पो नाम चौरः शूलमारूढः । '**पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे उवजुत्तो कालगदो**' पञ्चनमस्कार एव श्रुतज्ञाने उपयुक्तः सन् कालगतः । '**महड्ढिगो देवो जादो**' महर्द्धिको देवो जातः ॥७७२॥

ण य तम्मि देसयाले सव्वो बारसविधो सुदक्खंधो ।
सक्को अणुचिंतेदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण ॥७७३॥

'**सव्वो बारसविधो वि सुदक्खंधो तम्मि देसयाले ण य सक्को अणुचिंतेदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण**' सर्वो द्वादशविधोऽपि श्रुतस्कधस्तस्मिन्मरणे देशे काले च नैव शक्योऽनुस्मर्तुं नितरामपि समर्थचित्तेन । बहुश्रुतस्यापि न ध्यानालम्बनं समस्तं श्रुतं किं तु किंचिदेव सूत्रं । तथा ह्युक्तं 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति' [त० सू० ९।४५] ॥७७३॥

एक्कम्मि वि जम्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गम्मि ।
गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥७७४॥

गा०-टी०—यदि श्लोकके एक खण्डके पाठसे राजा यम मृत्युसे बचा और शोभनीय मुनिपदको प्राप्त हुआ तो जिनभगवान्के द्वारा प्रतिपादित सूत्रकी स्वाध्यायसे प्राप्त होनेवाले फलमे क्या आश्चर्य है । इस विषयमे हरिषेणकृत वृहत् कथाकोशमें यममुनि की कथा है । कहा भी है—

जीवनके अर्थी अज्ञानी अन्धेके द्वारा कहे गये अनर्गलवचनको सुनकर राजाने हँसीमे उसे ग्रहण किया और वह उसकी आपत्ति दूर करनेमे निमित्त हुआ तो सर्वज्ञके वचनका अभ्यास किस इच्छित वस्तुको नही देता ? अर्थात् सब देता है ॥७७१॥

आगे कहते है कि थोडे से भी शास्त्र की भावना मरते समय महाफल देती है—

गा०—दृढसूर्प नामक चोरको सूली पर चढाया गया तो वह पच नमस्कार मन्त्र-मात्र श्रुतज्ञानमे उपयोग लगाकर मरा अर्थात् पच नमस्कार मंत्र का पाठ करते हुए मरा और मरकर महान् ऋद्धिका धारी देव हुआ ॥७७२॥

गा०—मरते समय बलवान भी सामर्थ्यसम्पन्न मनुष्य समस्त द्वादशांग श्रुत स्कन्धका अनुचिन्तन नहीं कर सकता । बहुत शास्त्रोंका ज्ञाता भी समस्त श्रुतका ध्यान मरते समय नहीं कर सकता । किन्तु किसी एक का ही ध्यान सम्भव है । कहा भी है—एक विषयमें चिन्ताके निरोध को ध्यान कहते हैं ॥७७३॥

१, भवेत्पाथेनाज्ञेन-आ० ।

'तेण एकम्मि वि अम्मि पदे' यस्मिन्नेकस्मिन्नपि पदे युक्तः । **'संवेगं गच्छदि'** रत्नत्रये श्रद्धामुपैति । **'अभिक्ख'** पुन पुन. । **'तं'** तत्पद । **'मरणंते'** शरीराद्वियोगकाले । **'ण मोत्तव्वं'** न मोक्तव्यं । णाणुवओग इत्येतद्व्याख्यातं । णाणं गद ॥७७४॥

पञ्चमहव्वदरक्खा इत्येतद्व्याचिख्यासुराद्यमहिंसाव्रतं पालयेति कथयति—

परिहर छज्जीवणिकायवहं मणवयणकायजोगेहिं ।
जावज्जीवं कदकारिदाणुमोदेहिं उवजुत्तो ॥७७५॥

'परिहर छज्जीवणिकायवहं' षण्णा जीवनिकायाना वध मा कृथा मनोवाक्काययोगै प्रत्येक कृत-कारितानुमतविकल्पै । कालप्रमाणमाह—**'जावज्जीवं'** यावज्जीव । सर्वजीवविषयसर्वप्रकारहिंसापरिहार-रूपत्वात् सर्वस्मिन्नेव भवपर्यायकाले प्रवृत्तत्वादहिंसाव्रतस्य महत्ता निवेदिता । **'छज्जीवणिकाय'** इत्यत्र व्यक्तयो जीवनिकायाना परिगृहीता । **'मणवयणकायजोगेहिं कदकारिदाणुमोदेहिं'** ,इत्यनेन हिंसाविकल्पा सगृहीता । **'जावज्जीवमित्यनेन** निरवशेषमनुजजीवितकालग्रहण । **'उवजुत्तो समिदीसु'** इति शेष उपयुक्त समितिषु समाहितचित्त । इह **वा सावज्जकिरियापरिहारे** इति शेष । सावद्यक्रियापरिहारप्रणिहित-चित्त ॥७७५॥

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिंपि जाण जीवाणं ।
एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा ॥७७६॥

'जह ते ण पियं दुःखं' यथा तव न प्रिय दु.ख । **'तधेव तेसिं पि जीवाणं दुःखं न पियंत्ति'** तथैव तेषामपि जीवाना न दु ख प्रियमिति । **'जाण'** जानीहि । **'एवं णच्चा'** एव ज्ञात्वा । **अप्पोवमिवो** आत्मो-पमान । **'सदा होहि जीवेसु'** सदा भव जीवेसु । परजीवदु खाप्रियो भवेति यावत् ॥७७६॥

गा०—अत जिस एक भी पदमें मन लगानेसे मनुष्यमें रत्नत्रयके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है उस पदको बार-बार विचारना चाहिये और मरते समय भी नही छोडना चाहिये ॥७७४॥

'पच महाव्रत रक्षा' का व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार अहिसाव्रतके पालनका कथन करते हैं—

गा०-टी०—मन वचन काय और उनमे से प्रत्येकके कृत कारित और अनुमत भेदोके साथ छह कायके जीवो की हिंसा जीवन पर्यन्त मत करो। क्योकि सब जीवोकी सब प्रकारकी हिंसाका त्याग अहिसा महाव्रत है सभी भवोमे इसका पालन करना, आवश्यक है। इससे अहिंसाव्रतकी महत्ता सूचित की है। 'छह जीव निकाय' पदसे जीव निकायोके सब जीवोका ग्रहण किया है। मन वचन काय और कृत कारित, अनुमोदनासे हिंसाके भेदोका ग्रहण किया है अर्थात् हिंसा नौ प्रकार से होती है, 'यावज्जीवन' पदसे मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन काल ग्रहण किया है। 'उपयुक्त' पदसे समितियो मे सावधान चित्त व्यक्तिका ग्रहण किया है। जो व्यक्ति सावद्य कार्यों के परिहारमें दत्त-चित्त है वही जीवन पर्यन्त छह काय के सब जीवोंकी मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से हिंसा नही करता ॥७७५॥

गा०—जैसे तुझे दुःख प्रिय नही है वैसे ही उन जीवोंको भी दुःख प्रिय नही है। ऐसा जानकर अपनी ही तरह सदा जीवोंमें व्यवहार करो अर्थात् किसी को दुःख मत दो ॥७७६॥

तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि जीवाण घादणं किच्चा ।
पडियारं कादुं जे मा तं चिंतेसु लभसु सदिं ॥७७७॥

'**तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि**' तृषा, क्षुधा, रोगेण, शीतेन, आतपेन बाधितोऽपि सन् । '**जीवाणं घादणं किच्चा**' जीवानामुपघातं कृत्वा । '**पडिगारं कादुं जे**' तृडादीनां प्रतिकारं कर्तुं । '**तं मा चिंतेहि**' मा कार्षीश्चित्तं । '**लभसु सदिं**' लभस्व स्मृतिं । पिबामि हिमशीतलं जलं कर्पूरक्षोदवासितं । अगाधं वा सरः सुरभितरोत्पलरजोवगुंठितं प्रविश्य मदान्धसिन्धुर इव निमज्जनोन्मज्जने करोमि । ललाटे, शिरसि, पृथुले चोरस्थले करकप्रकरनिपातो यदि स्याद्भद्रं भवेत् । कल्हारसिकताधिकपल्लवशयनादिलाभे वा जीवामि इति वा । आतपति वा दिवानिशं तर्षं । अपसारिततीक्ष्णकरकरनिकुरुम्बमिति व्यजनतालवृन्तसमुपनीतशीतमारुतापातेन श्रममशेषमपाकुर्वन्तु भवन्त । हिमानी पततु । वान्तु वा मातरिश्वान इति वा । आमुपक्वानपूपान्सुरभिघृताद्रान् भक्षयामीति । सम्यक् क्वथितं क्षीरं शर्करामिश्रं सुखोष्णं पिबामीति वा । धगधगायमानं खादिरमग्निं कुरुत । शीतेन स्फुटन्ति ममाङ्गानि इत्येवमादिका प्रतिक्रिया मनसि न कार्येत्यर्थः । असद्वेद्योदयाशनौ महति निपतति, को नु तस्य प्रतीकारः ? तदुपशमकालभाविन एव बाह्यद्रव्यसंपाद्या प्रतीकारा इति मनो निधेहि ॥७७७॥

रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तो वि ।
भोगपरिभोगहेदुं मा हु विचिंतेहि जीववहं ॥७७८॥

'**रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तोऽवि**' । शब्दादिविषया प्रीती रतिः । अमनोज्ञविषयसन्निधाने या विमुखता सा अरतिः । हास्यकर्मोदयनिमित्तः परिणामो हर्षः । भय, उत्सुकता, दीनतेत्येवमादिभिर्युक्तोऽपि । '**भोगपरिभोगहेदुं**' भोगोपभोगार्थं वा जीववधं मा कृथा मनसि ॥७७८॥

गा०-टी०—भूख, प्यास, रोग, शीत अथवा आतपसे पीडित होने पर भी जीवोका घात करके प्यास आदिका प्रतीकार करनेका विचार मत करो । मैं कपूरके चूर्णसे सुवासित तथा बर्फसे शीतल जलका पान करूँ ? अथवा अति सुगन्धित कमलकी रजसे व्याप्त गहरे तालाबमें घुसकर मदोन्मत्त हाथी की तरह डुबकियाँ लूँ । मस्तक, सिर और विशाल छाती पर यदि ओलोंकी वर्षा हो तो उत्तम हो । अथवा यदि कमल बालु और कोमल पल्लवो आदिकी शय्या मिले तो मैं जीवित रह सकूँ । रात दिन प्यास सताती है । सूर्यकी किरणेके समूह को दूर करके पखेकी शीतल वायु से मेरी सब थकान आप दूर करे । बर्फ गिरे । शीतल पवन बहे । सुगन्धित घीमें अगार पर पके पुओ को खाऊँगा । अथवा सम्यक् रूपसे उबाले गये और शक्कर मिलाये तथा सुखकर उष्णता को लिये दूधको पीऊँ । खैरकी लकडीकी धक् धक् करती हुई आग जलाओ, मेरे अग ठडसे ठिठुर रहे हैं । इस प्रकारका प्रतिकार मनमे नही लाना चाहिये । यह उक्त कथनका आशय है । महान् असाता वेदनीय रूप वज्रपात होने पर उसका क्या प्रतीकार हो सकता है ? उसका उपशमन काल आने पर ही बाह्य द्रव्योंके द्वारा प्रतीकार सभव है, ऐसा मनमें विचार होना चाहिये ॥७७७॥

गा०-टी०—शब्द आदि विषयोंमें प्रीतिको रति कहते हैं । अप्रिय विषयोके प्राप्त होनेपर उनसे विमुख होनेको अरति कहते है । हास्यकर्मके उदयके निमित्तसे जो भाव होता है उसे हर्ष कहते है ।

१ दयः स नो महानिति—आ० मु० ।

महुकरिसमज्जियमहुं व संजमं थोवथोवसंगलियं ।
तेलोक्कसव्वसारं णो वा पूरेहि मा जहसु ॥७७९॥

'**महुकरिसमज्जियमहुं व**' मधुकरीभि समर्जितं मध्विव । '**संजमं**' चारित्रं । '**थोवथोवसंगलियं**' स्तोक-स्तोकेनोपचितं । '**तेलोक्कसव्वसारं**' त्रैलोक्यस्य सर्वसारं विष्टपत्रये यदतिशयवत् स्थानं, मान, ऐश्वर्यं सुखं वा तस्य कारणत्वात् त्रैलोक्यसर्वसारं । '**मा जहसु**' मा त्याक्षी ॥७७९॥

दुक्खेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणाचरित्तं ।
दुक्खज्जियसामण्णं मा जहसु तणं व अगणंतो ॥७८०॥

'**दुक्खेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणचरित्तं**' दुःखेन लभते मनुष्यजन्म जंतु । सूत्रे यद्यपि मणुस्सजादिशब्द सामान्यवाच्युपात्तस्तथापि विशेष[1]मत्रासौ वदति इति ग्राह्य । मनुजा हि चतु प्रकारा.—

> कर्मभूमिसमुत्थाश्च भोगभूमिभवास्तथा ।
> अंतरद्वीपजाश्चैव तथा सम्मूर्च्छिमा इति ॥
> असिर्मषिः कृषिः शिल्पं वाणिज्यं व्यवहारिता ।
> इति यत्र प्रवर्तंते नृणामाजीवयोनयः ॥
> प्रपाल्यसंयमं यत्र तपःकर्मपरा नराः ।
> सुरसंग[2]तीव सिद्धिं प्रयांति हतशत्रव ॥
> एताः कर्मभुवो ज्ञेयाः पूर्वोक्ता दश पञ्च च ।
> यत्र संभूय पर्याप्तिं यान्ति ते कर्मभूमिजाः ॥
> मद्यतूर्याम्बराहारपात्राभरणमाल्यदैः ।

इन रति, अरति, हर्ष, भय, उत्सुकता, दीनता आदि भावोसे युक्त होने पर भी अपने भोग अथवा उपभोगके लिये मनमे जीव हिंसाका विचार मत करो ॥७७८॥

गा०—मधु-मक्खियाँ जिस प्रकार थोडा-थोडा करके मधुका सचय करती है उसी प्रकार थोडा-थोडा करके संचित किया गया सयम तीनो लोकोमे जो सातिशय स्थान मान ऐश्वर्य अथवा सुख है उस सबका कारण होनेसे सारभूत है । उसे यदि पूर्ण नही कर सकते तो उसका त्याग तो मत करो ॥७७९॥

गा०-टी०—प्राणी बड़े दु खसे मनुष्य जन्म पाता है । गाथामे यद्यपि मनुष्य जाति शब्द सामान्य वाची है तथापि यह विशेष मनुष्यको कहता है, ऐसा अर्थ लेना चाहिये । मनुष्य चार प्रकारके होते हैं—कर्म भूमिमें उत्पन्न हुए, भोग भूमिमे उत्पन्न हुए, अन्तर्द्वीपोमे उत्पन्न हुए तथा सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न हुए । जहाँ मनुष्य असि, मषि, कृषि, शिल्प, व्यापार और सेवाके द्वारा जीवन यापन करते हैं, तथा जहाँ मनुष्य संयमका पालन करके तपस्यामे तत्पर होकर देवगति प्राप्त करते हैं अथवा कर्म शत्रुओंको मारकर मोक्ष जाते हैं वे कर्मभूमियाँ है। वे कर्मभूमियाँ पन्द्रह हैं। उनमे जन्म लेकर वे कर्मभूमिज मनुष्य पर्याप्तियाँ पूर्ण करते हैं। और

---

१ षमवसादयति इति आ० ।—षमवसाययति इति मु० ।

२. संगतिवत् सि–आ० ।—संगति वा सि–मु० ।

गृहदीपज्योतिषाख्यैस्तरुभिस्तत्र जीविका: ॥
पुरग्रामादयो यत्र न निवेशा न चाधिपा. ।
न कुल कर्म शिल्पानि न वर्णाश्रमसंस्थिति: ॥
यत्र नार्यो नराश्चैव मैथुनीभूय नीरजा: ।
रमन्ते पूर्वपुण्याना प्राप्नुवन्त: परं फल ॥
यत्र प्रकृतिभद्रत्वात् दिवं यान्ति मृता अपि ।
ता भोगभूमयश्चोक्तास्तत्र स्युर्भोगभूमिजा: ॥
अभाषका एकोरुका लाङ्गूलिकविषाणिका: ।
आदर्शमुखहस्त्यश्वविद्युदुल्कमुखा अपि ॥
हयकर्णा गजकर्णा: कर्णप्रावरणास्तथा ।
इत्येवमादयो ज्ञेया अन्तरद्वीपजा नरा: ॥
समुद्रद्वीपमध्यस्था: कन्दमूलफलाशिन: ।
वेदयन्ते मनुष्यायुस्ते मृगोपमचेष्टिता: ॥
कर्मभूमिषु चक्रास्त्रहलभृद्भूरिभूभुजां ।
स्कधावारसमूहेषु प्रस्रावोच्चारभूमिषु ॥
शुक्रसिघाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलेषु च ।
अत्यन्ताशुचिदेशेषु सद्य:सम्मुर्च्छनेन ये ॥
भूत्वाङ्गुलस्यासख्येयभागमात्रशरीरका: ।
आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्यु: सम्मूर्च्छिमा नरा: ॥

एतेषु कर्मभूमिजमानवाना एव रत्नत्रयपरिणामयोग्यता नेतरेषां इति तदेव मनुजजन्म गृह्यते । लब्धेऽपि

जहाँ मनुष्य मद्य, तूर्य, वस्त्र, आहार, पात्र, आभरण, माला, घर, दीप और ज्योति प्रदान करने वाले दस प्रकारके कल्प वृक्षोसे जीवन यापन करते है, जहाँ पुर ग्राम आदि नही होते, न राजा होते हैं न कुल, न कर्म और न शिल्प होता है, न वर्ण और आश्रमका चलन होता है, जहाँ स्त्री और पुरुष निरोग रहकर पति पत्नी की तरह रमण करते हुए पूर्व जन्ममे किये पुण्य कर्मका फल भोगते है, और जो स्वभावसे ही भद्र होनेके कारण मरकर भी स्वर्गमे जाते है वे भोगभूमियाँ कही हैं। उनमे जन्म लेने वाले मनुष्य भोगभूमिज होते है। अभाषका—जो भाषा नही जानते-मूक रहते है, एकोरुका—जिनके एक पैर होता है, लागूलिका जिनके पूँछ होती है, विषाणिका—जिनके सीग होते है, आदर्शमुखा—जिनका मुख दर्पण की तरह होता है, हस्तिमुखा—हाथी की तरह मुख वाले, अश्वमुख—घोडेकी तरह मुखवाले, विद्युन्मुख, बिजलीकी तरह मुखवाले, उल्का-मुख, हयकर्ण—घोडेकी तरह कानवाले, गजकर्ण—हाथीकी तरह कान वाले, कर्ण प्रावरण—कान ही जिनका आवरण है, इत्यादि अन्तर्द्वीपज मनुष्य होते है। ये समुद्रके द्वीपोके मध्यमे रहते है, कन्दमूल फल खाते है, तथा हिरनोकी तरह चेष्टा करते हुए मनुष्यायु भोगते हैं। कर्म भूमियोमे चक्रवर्ती, बलदेव, राजाओंकी सेनाके पड़ावोमे मलमूत्र त्यागनेके स्थानोमें, वीर्य, नाकके मल, कफ, कान और दाँतोंके मलमे और अत्यन्त गन्दे प्रदेशोमे शीघ्र ही सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न होकर तत्काल ही अपर्याप्त दशामे मरणको प्राप्त होनेवाले सम्मूर्छन मनुष्य होते है। उनका शरीर अगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। इन चार प्रकारके मनुष्योंमेसे कर्मभूमि मनुष्योंमें ही रत्नत्रय

तस्मिन् ज्ञानावरणोदयाद्धिताहितपरीक्षाया समर्था बुद्धिर्न सुलभा । तया विना लब्धमपि मनुजजन्म विफलमेव दृष्टिरहितमिवायत लोचन, द्रविणसपद विना कुलीनत्वमिव, सुभगतामन्तरेण रूपमिव, यथार्थतारहित वचनमिव, सत्यामपि मतौ यदि नाप्ताना वच श्रृणुयात् सापि विफलैव सरोजरहिता सरसीव । इहापि **श्रवणं** आप्तवचनगोचरमेव गृहीत, श्रवणमपि श्रद्धानरहित सुलभमेव । इद यथा येन प्रतिपादित तथैवेति श्रद्धान दुर्लभ दर्शनमोहोदयात् । सत्यपि श्रद्धाने चारित्रमोहोदयात् ज्ञातेऽभिरुचिते मार्गे प्रवृत्तिर्दुर्लभा । एव '**दुरवज्जि-दसामण्णं**' दु खेनार्जितश्रामण्य । **मा जहसु** मा त्याक्षी । '**तण व अगणितो**' तृणमिव अगणयन् ॥७८०॥

जीवघातदोषमाहात्म्य कथयति गाथाद्वयेन—

तेलोक्कजीविदादो वरेहि एक्कदरमत्ति देवेहिं ।
भणिदो को तेलोक्कं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा ॥७८१॥
जं एवं तेलोक्कं णग्घदि सव्वस्स जीविद तम्हा ।
जीविदघादो जीवस्स होदि तेलोक्कघादसमो ॥७८२॥

त्रैलोक्यजीवितयारेक गृहाणेति देवैश्चोदित कस्त्रैलोक्य वृणीते [1]स्वजीवित त्यक्त्वा, जीवनमेव ग्रहीतु वाञ्छति । यस्मादेव त्रैलोक्यस्य मूल्य जीवित सर्वप्राणिनस्तस्माज्जीवितघातो । जीवस्य [जीवितस्य] जीवादन्यत्रावृत्ते[2]र्जीवस्येहवचनमनर्थकमिति चेन्न, उत्तरेण सम्बन्धात् । जीवस्य हतुस्त्रैलोक्यघातसमो महा-न्दोषो भवतीति यावत् ॥७८१॥

रूप परिणामो की योग्यता होता है, शेष तीन मे नही होती । इसलिये यहाँ उसी मनुष्य जन्मका ग्रहण होता है । उस मनुष्य जन्मको प्राप्त करके भी ज्ञानावरण कर्मके उदयमे हित अहितका विचार करनेमे समर्थ बुद्धि सुलभ नही है । उसके विना प्राप्त भी मनुष्य जन्म उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे देखनेकी शक्तिसे रहित लम्बी आँखे, धन सम्पत्तिके बिना कुलीनता, सौभाग्यके बिना रूप, और यथार्थतासे रहित वचन व्यर्थ है । बुद्धिके होनेपर भी यदि आप्त पुरुषोका वचन न सुने तो वह बुद्धि भी कमलोसे रहित सरोवरकी तरह निष्फल ही है । यहाँ श्रवण भी आप्तके वचन विषयक ही ग्रहण किया है । श्रद्धान रहित सुनना भी सुलभ ही है । 'जिसने जैसा कहा है वैसा ही है' इस प्रकारका श्रद्धान दर्शन मोहके उदयमे दुर्लभ है । श्रद्धान होने पर भी चारित्र मोहके उदयसे जाने हुए और रुचने वाले मार्गमे प्रवृत्ति दुर्लभ है । इस प्रकार बडे कष्टसे प्राप्त मुनिधर्मको तृणकी तरह मानकर त्यागना नही ॥७८०॥

टी०—आगे दो गाथाओसे जीवघातसे हुए दोषका महत्त्व बतलाते है—

गा०—तीनो लोक और जीवनमेसे एकको स्वीकार करो ? ऐसा देवोंके द्वारा कहे जानेपर कौन प्राणी अपना जीवन त्यागकर तीनो लोकोंको ग्रहण करेगा ? अत इस प्रकार सब प्राणियोके जीवनका मूल्य तीनो लोक है अत जीवका घात करनेवालोको तीनो लोकोका घात करनेके समान दोष होता है ।

शङ्का—जीवितपना जीवको छोडकर अन्यत्र नही रहता अत: 'जीवस्स' यह वचन व्यर्थ है ?

समाधान—गाथामे आये जीवस्सका सम्बन्ध आगेके कथनसे है—जीवके घातकको तीनो लोकोके घातके समान दोष होता है ॥७८१-७८२॥

१ तं जीवस्य जी–मु० । २ त्त्यैव व–अ० ।

अहिंसाव्रतमहत्ता निवेदयन्ति—

णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि ।
जह जह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥७८३॥

'णत्थि अणूदो अप्प' नास्त्यणोरल्प अन्यत्किंचिद्द्रव्य । **'आयासादो अणूणय णत्थि'** । आकाशाद्वा अन्यन्महन्नास्ति यथा तथान्यद्व्रत अहिंसातो महन्नास्ति ॥७८३॥

जह पव्वदेसु मेरू उच्चावो होइ सव्वलोयम्मि ।
तह जाणसु उच्चायं सीलेसु वदेसु य अहिंसा ॥७८४॥

'जह पव्वदेसु' सर्वस्मिंल्लोके पर्वतेभ्यो मेरुर्यथार्च्चैस्तथा अहिंसा शीलेषु व्रतेषु च उन्नततमेति जानीहि ॥७८४॥

व्रताना, शीलाना, गुणाना च अधिष्ठानमहिंसेति वदन्ति—

सव्वो हि जहायासे लोगो भूमीए सव्वदीउदधी ।
तह जाण अहिंसाए वदगुणशीलाणि तिट्ठंति ॥७८५॥

यथा सर्वलोक ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्विकल्प आकाशाधिकरण । भूमौ च समवस्थिता सर्वे द्वीपा उदधयश्च । तथैव **'जाण'** जानीहि । व्रतगुणशीलान्यहिंसाया तिष्ठन्ति इति ॥७८५॥

कुव्वतस्स वि जत्तं तुबेण विणा ण ठंति जह अरया ।
अरएहिं विणा य जहा णट्ठं णेमी दु चक्कस्स ॥७८६॥

'कुव्वंतस्स वि जत्तं' यत्न कुर्वतोऽपि । तुम्बमन्तरेण यथा न तिष्ठन्त्यराणि । अरैर्विना नेम्यवस्थान चक्रस्य यथा नास्ति ॥७८६॥

तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सव्वाणि ।
तिस्सेव रक्खणट्ठं सीलाणि वदीव सस्सस्स ॥७८७॥

'तह जाण' तथैव जानीहि । अहिंसा विना सर्वाणि शीलानि न तिष्ठन्ति इति । अहिंसाया एव रक्षार्थं शीलानि वृतिरिव सस्यस्य ॥७८७॥

गा०—जैसे अणुसे छोटा कोई अन्य द्रव्य नही है और आकाशसे बडा कोई नही है वैसे ही अहिंसासे महान् कोई अन्य व्रत नही है ॥७८३॥

गा०—जैसे सब लोकमे मेरु सब पर्वतोसे ऊँचा है वैसे ही शीलो और व्रतोमे अहिंसा सबसे ऊँची है ॥७८४॥

अहिंसा व्रतो शीलो और गुणोका अधिष्ठान है, ऐसा कहते हैं—

गा०—जैसे ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकके भेदसे सब लोक आकाशके आधार है और सब द्वीप और समुद्र भूमिके आधार है वैसे ही व्रत गुण और शील अहिंसाके आधार रहते हैं ॥७८५॥

गा०—लाख प्रयत्न करनेपर भी जैसे चकेके आरे तुम्बीके विना नही ठहरते और आरोके विना नेमि नही ठहरती, वैसे ही अहिंसाके विना सब शील नही ठहरते। उसीकी रक्षाके लिए शील हैं जैसे धान्यकी रक्षाके लिए बाड होती है ॥७८६–७८७॥

अहिंसाव्रतमन्तरेणेतरेषां नैष्फल्यमाचष्टे—

सीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ ।
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति ॥७८८॥

शीलादीनि हि सवरनिर्जरा चोद्दिश्यानुष्ठीयन्ते । हिंसायां तु सत्या न स्त फलभूते सवरनिर्जरे मुक्त्यु-पायभूते इति निष्फलता मन्यते ॥७८८॥

सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ।
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु ॥७८९॥

'**सव्वेसिमासमाणं**' सर्वेषामाश्रमाणा हृदयं शास्त्राणा गर्भः । सर्वेषा व्रताना गुणाना च पिण्डीभूतसारो भवत्यहिंसा ॥७८९॥

जम्हा असच्चवयणादिएहिं दुक्खं परस्स होदित्ति ।
तप्परिहारो तम्हा सव्वे वि गुणा अहिंसाए ॥७९०॥

'**जम्हा असच्चवयणादिएहिं**' यस्मादसत्यवचनेन, अदत्तादानेन, मैथुनेन, परिग्रहेण च परस्य दु ख भवति । तस्मात्तेषा असत्यवचनादीना परिहार इति सर्वेऽपि अहिंसाया गुणा ।

गोबंभणित्थिवधमेत्तणियत्ति जदि हवे परमधम्मो ।
परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया ॥७९१॥

'**गोबंभणित्थिवधमेत्तणियत्ति**' गवा, ब्राह्मणाना, स्त्रीणां च वधमात्रनिवृत्तिर्यदि भवेदुत्कृष्टो धर्म परमो धर्म कथ न भवति या सर्वजीवदया ॥७९१॥

हिंसानिवृत्ति उपायेन कारयन्ति कृतापकारानपि बान्धवान्स्नेहान्न मारयितुमीहते जन । [1]तवपुरस-

---

अहिंसाव्रतके विना शील आदिकी निष्फलता बतलाते है—

गा०—जीवोकी हिंसा करनेवालेके शील, व्रत, गुण, ज्ञान, नि सगता और विषय सुखका त्याग ये सभी ही निरर्थक होते है ॥७८८॥

विशेषार्थ—शील आदि सवर और निर्जराके उद्देशसे किये जाते हैं। हिंसाके होते हुए मुक्तिके उपायभूत सवर निर्जरारूप फल नही होते । इसलिए निष्फल कहा है ॥७८८॥

गा०—सब आश्रमोका हृदय, सब शास्त्रोका गर्भ और सब व्रतो और गुणोका पिण्डीभूत सार अहिंसा ही है ॥७८९॥

गा०—यत असत्य बोलनेसे, विना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे, मैथुनसे, और परिग्रहसे दूसरों-को दुःख होता है। इसलिए उन सबका त्याग किया जाता है। अत वे सब सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अहिंसाके ही गुण हैं ॥७९०॥

गा०—यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्रियोके वधमात्रसे निवृत्ति उत्कृष्ट धर्म है तो सब प्राणियों-पर दया परमधर्म क्यो नही है ? ॥७९१॥

लोग सावधानीपूर्वक हिंसासे बचते है। अपकार करनेवाले भी बन्धु-बान्धवोंको स्नेहवश

---

१ तव पुरस्साउधर स-आ० ।

कुज्जन्मान्तरे पितृपुत्रादिभावमुपागतानां मारणमयुक्तं इति वदति—

सव्वे वि य संबंधा पत्ता सव्वेण सव्वजीवेहिं ।
तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ ॥७९२॥

'सव्वे वि य' सर्वेऽपि च । **'संबंधा'** सम्बन्धा प्राप्ता । **'सव्वेण'** सर्वेण जीवेन । **'सव्वजीवेहिं'** सर्वजीवै । **'तो'** तस्मात् । जीवो मारणोद्यत सम्बन्धिन एव घातयति ॥७९२॥

तच्च सम्बन्धिहनन लोके अतिनिन्दित—

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया ।
विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि ॥७९३॥

'जीववहो अप्पवहो' जीवाना घात आत्मघात एव । जीवाना क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति । सकृदेकजीवघातनोद्यत स्वयमनेकेषु जन्मसु मार्यते । कृतैकजीवदयोऽपि स्वयमनेकेषु जन्मसु परै रक्ष्यते । इति विषलिप्तकण्टकवत् परिहार्या हिंसा दु खभीरुणा ॥७९३॥

हिंसादोषमिहैव जन्मनि दर्शयति—

मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुव्व उव्वेगं ।
संबंधिणो वि ण य विस्संभं मारिंतए जंति ॥७९४॥

'मारणसीलो हु' मारणशील परहननोद्यत । राक्षस इव जीवानामुद्वेग करोति । सम्बन्धिनोऽपि न विस्रम्भं उपयान्ति तस्मिन्वधके ॥७९४॥

वधबंधरोधधणहरणजादणाओ य वेरमिह चेव ।
णिव्विसयमभोजित्तं जीवे मारंतगो लभदि ॥७९५॥

मारना नही चाहते । तब पूर्व नाना जन्मोंमें पिता पुत्र आदि सम्बन्ध जिनके साथ रहा है, उन जीवोको मारना अनुचित है, यह कहते हैं—

गा०—सब जीवोंके साथ सब जीवोके सब प्रकारके सम्बन्ध पूर्वभवोंमे रहे हैं। अत उनको मारनेवाला अपने सम्बन्धीको ही मारता है और सम्बन्धीको मारना लोकमे अत्यन्त निन्दित माना जाता है ॥७९२॥

गा०-टी०—जीवोका घात अपना ही घात है। और जीवोंपर की गई दया अपनेपर ही की गई दया है। जो एक बार एक जीवका घात करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमे मारा जाता है। और जो एक जीवपर दया करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें दूसरे जीवोंके द्वारा रक्षा किया जाता है। इसलिए दु खसे डरनेवाले मनुष्यको विषैले काँटेकी तरह हिंसासे बचना चाहिए ॥७९३॥

इसी जन्ममे हिंसाके दोष दिखलाते हैं—

गा०—जो दूसरोंका घात करनेमे तत्पर होता है उससे प्राणी वैसे ही डरते हैं जैसे राक्षससे। उस हिंसकका विश्वास सम्बन्धीजन भी नहीं करते ॥७९४॥

[1]'वध बन्ध उत्कोटकादिकं वध बन्धं मारण। रोधन, धनहरण। यातनाश्च वैर विषयाद्वाडन अभोज्यतां च रोषाद्ब्राह्मणादिहननात्। 'मारेंतगो' हन्ता। 'लभदि' लभते ॥७९५॥

रुट्ठो परं वधित्ता सयंपि कालेण मरइ जंतेण।
हदघादयाण णत्थि विसेसो मुत्तूण तं कालं ॥७९६॥

[2]'रुट्ठो पर बधित्ता'—रुष्ट पर बधित्वा। स्वयमपि कालेन जन्तेण—गच्छता कालेन। मरदि—मृतिमुपैति। 'हदघादगाणं'—हतस्य घातकस्य च। णत्थि विसेसो—नास्ति विशेष। तं कालं मुत्तूण—तं कालं मुक्त्वा। पूर्वमसौ मृत पश्चात्स्वयमिति ॥७९६॥

अप्पाउगरोगिदयाविरूवदाविगलदा अवलदा य।
दुम्मेहवण्णरसगंधदा य से होइ परलोए ॥७९७॥

'अप्पाउगरोगिदयाविरूवदाविगलदा अवलदा य' अल्पजीवितरोगिता विरूपता, विकलेन्द्रियता दुर्बलता। 'दुम्मेघवण्णरसगंधदा य' दुर्मेधता, दुर्वर्णता, दूरसदुर्गन्धिता च। 'से' तस्य। 'होदि' भवति। 'परलोए' जन्मान्तरे ॥७९७॥

मारेदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जम्मकोडीसु।
अवसो मारिज्जंतो मरदि विधाणेहिं बहुएहिं ॥७९८॥

'मारेदि' हन्ति। 'एगमवि' एकमपि। 'जो जीवं' यो जीव। 'सो' स। 'बहुसु जम्मकोडीसु' बह्वीषु जन्मकोटीषु। 'अवसो मरदि मारिज्जतो' परवशो मरति मार्यमाणो। 'विधाणेहिं बहुगेहिं' बहुभि प्रकारैर्मार्यमाण ॥७९८॥

जावइयाइं दुक्खाइं होंति लोयम्मि चदुगदिगदाइं।
सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥७९९॥

गा०—मारनेवाला इसी जन्ममे वध, बन्ध मारण, धनहरण, अनेक यातनाएँ, बैर, देश निष्कासन तथा क्रोधमे आकर ब्राह्मण आदिकी हत्या करनेपर जातिबहिष्कारका दण्ड पाता है ॥७९५॥

गा०—क्रोधी मनुष्य दूसरेको मारकर समय आनेपर स्वय भी मर जाता है। अत मरनेवाले और मारनेवालेमे कालके सिवाय अन्य भेद नही है। पहले वह जिसे मारता है वह मरता है और पीछे स्वय भी मरता है ॥७९६॥

गा०—हिंसक परलोक अर्थात् जन्मान्तरमे अल्पायु, रोगी, कुरूप, विकलेन्द्रिय, दुर्बल, मूर्ख, बुरेरूप, बुरेरस और दुर्गन्धयुक्त होता है ॥७९७॥

गा०—जो एक भी जीवको मारता है वह करोडो जन्मोमे परवश होकर अनेक प्रकारसे मारा जाकर मरता है ॥७९८॥

---

१ वध मारण, बध बन्धन, रोध उत्कटादिक, रोधन धनहरण रिक्थोद्दालन यातनाश्च कदर्थनानि वैर—आ० मु०। २ 'क्रुद्धो पर वधित्ता' क्रुद्ध सन् परमन्य बधित्वा स्वयमपि गच्छता कालेन म्रियते हतघातकयोर्नास्ति विशेष —आ० मु०।

'जावदियाइं' यावन्ति । **'दुक्खाइं'** दुःखानि । **'हुंति'** भवन्ति । **'चदुगदिगदाइं'** गतिचतुष्टयगतानि । **'सव्वाणि ताणि' 'हिंसाफलाणि'** सर्वाणि तानि हिंसाफलानि । **'जीवस्स जाणाहि'** जीवस्येति जानीहि ॥७९९॥

का हिंसा नाम यस्या इमे दोषा निरूप्यन्ते इत्याचष्टे—

हिंसादो अविरमणं वहपरिणामो य होइ हिंसा हु ।
तम्हा पमत्तजोगो पाणव्ववरोबओ णिच्चं ॥८००॥

'हिंसादो अविरमणं' हिंसातोऽविरतिर्हिंसेति सम्बन्धनीयं । प्राणान् प्राणिनो[1] न व्यपरोपयामीति सकल्पाकरणं हिंसा इत्यर्थ । **'वधपरिणामो वा'** हन्मीति एव परिणामो वा हिंसा । **'तम्हा'** तस्मात् । **'पमत्तजोगो'** प्रमत्तता सम्बन्ध । **पाणव्ववरोवओ** प्राणानपनयति । **'णिच्चं'** नित्य । विकथा, कषाय इत्येवमादय. पञ्चदशपरिणामा आत्मनो भावप्राणाना परस्य च द्रव्यभावप्राणाना वियोजका इति हिंसेत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा जं पयुंजवि पओगं ।
हिंसा वि तत्थ जायदि तम्हा सो हिंसगो होइ ॥ [ ]

रक्तो द्विष्टो मूढो वा सन् यं प्रयोगं प्रारभते तस्मिन्हिंसा जायते । न प्राणिन. प्राणाना वियोजनमात्रेण । आत्मनि रागादीनामनुत्पादक सोऽभिधीयते अहिंसक इति । यस्माद्रागाद्युत्पत्तिरेव हिंसा । न हि जीवान्तरगतदेशतया अन्यतमप्राणवियोगापेक्षा हिंसा, तदभावकृता वा अहिंसा, किन्तु आत्मैव हिंसा आत्मा चैव अहिंसा । प्रमादपरिणत आत्मैव हिंसा अप्रमत्त एव च अहिंसा । उक्त च—

अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसत्ति णिच्छओ समये ।
जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥ [ ]

गा०—इस लोकमे चारो गतियोमे जितने दुःख होते है वे सब उस जीवकी हिंसाके फल जानो ॥७९९॥

जिसके ये दोष कहे है वह हिंसा किसे कहते है, यह बतलाते है—

गा०-टी०—हिंसासे विरत न होना हिंसा है । अर्थात् 'मै प्राणीके प्राणोका घात नही करूँगा' ऐसा सकल्प न करना हिंसा है । अथवा 'मै मारूँ' ऐसा परिणाम हिंसा है । इसलिए प्रमादीपना नित्य प्राणोका घातक है । अर्थात् विकथा कषाय इत्यादि पन्द्रह प्रमादरूप परिणाम अपने भाव प्राणोके और दूसरेके द्रव्यप्राण तथा भावप्राणोके घातक होनेसे हिंसा कहे जाते है । कहा भी है—

रागी, द्वेषी और मोही होकर जो कार्य करता है उसमे हिसा होती है । प्राणियोके प्राणोका घात हो जाने मात्रसे हिसा नही होती । जो अपने रागादि भावोको नही करता, उसे अहिंसक कहते है, क्योंकि रागादिकी उत्पत्ति ही हिंसा है । अन्य जीवके किसी प्राणके घातकी अपेक्षा हिंसा और उसका घात न होना अहिंसा नही है । किन्तु आत्मा ही हिंसा और आत्मा ही अहिंसा है । प्रमादभावसे युक्त आत्मा ही हिंसा है और अप्रमादी आत्मा ही अहिंसा है । कहा है—

निश्चयसे आगममे आत्माको ही अहिसा और आत्माको ही हिंसा कहा है । जो अप्रमादी आत्मा है वह अहिंसक है और जो प्रमादभावसे युक्त है वह हिंसा है ।

---

१ नो व्यपरोपयामीति संकल्पक–आ० मु० ।

जीवपरिणामायत्तो बन्धो जीवो मृतिमुपैतु नोपेयाद्वा । तथा चाभाणि—

> [1]अज्झवसिदेण बंधो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेत्थ ।
> एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ [–समय० २६२]

जीवास्तदीयानि शरीराणि शरीरग्रहणस्थानं योनिसज्ञित यो च वरोवगो वेत्ति तत्सम्भवकाल तत्पीडा-परिहारेच्छु[2]रशठस्तप:क्रियाया लोभसत्काराद्यनपेक्ष्य प्रवृत्तो भवत्यहिंसक । उक्त च--

> णाणी कम्मस्स खयत्थमुट्ठिदो णोट्ठिदो य हिंसाए ।
> अददि असढो हि यत्थं अप्पमत्तो अवधगो सो ॥ [ ]

शुभपरिणामसमन्वितस्याप्यात्मन: स्वशरीरनिमित्तान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण बन्ध स्यान्न कस्यचिन्मुक्ति: स्यात् । योगिनामपि वायुकायिकवधनिमित्तबन्धसद्भावात् । अभाणि च—

> जदि सुद्धस्स य बंधो होहिदि बाहिरंगवत्थुजोगेण ।
> णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु ॥ [ ]

तस्मान्निश्चयनयाश्रये ण प्राण्यन्तरप्राणवियोगापेक्षा हिसा ॥८००॥

हिंसागतक्रियाभेदान्निरूपयति—

पादोसिय अधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए ।
एदे पंचपओगा किरियाओ होंति हिंसाओ ॥८०१॥

जीव मरे या न मरे, जीवके परिणामोके अधीन बन्ध होता है कहा है—

जीव मरे या न मरे हिंसायुक्त परिणामसे बन्ध होता है। निश्चयनयसे यह जीवके बन्धका सार है।

जीव, उनके शरीर, शरीर ग्रहण करनेके स्थान जिसे योनि कहते है, उनका उत्पत्तिकाल, इन सबको जो जानता है और उनकी पीडाको दूर करना चाहता है तथा लोभ सन्मान आदिकी अपेक्षा न करके मायाचार रहित तपमे लीन है वह अहिंसक है। कहा है—

ज्ञानी कर्मके क्षयके लिए उद्यत होता है, हिंसाके लिए उद्यत नही होता। वह मायाचारसे रहित होता है। अतः अप्रमत्त होनेसे वह अहिंसक है। शुभपरिणामसे युक्त आत्माके भी यदि अपने शरीरके निमित्तसे अन्य प्राणियोके प्राणोका घात हो जानेमात्रसे बन्ध हो तो किसीकी मुक्ति ही न हो। क्योंकि योगियोंके भी वायुकायिक जीवोके घातके निमित्तसे बन्धका प्रसंग आता है वे भी श्वास लेते हैं और उससे वायुकायिक जीवोंका घात होता है। कहा है—

यदि बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धसे शुद्धपरिणामवाले जीवके भी बन्ध होता हो तो कोई अहिंसक हो ही नहीं सकता, क्योंकि शुद्धपरिणामीके श्वाससे वायुकायिक जीवोंका बध होता है।

इसलिए निश्चयनयकी दृष्टिसे दूसरे प्राणियोके प्राणोके घातकी अपेक्षामात्रसे हिंसा नही होती ॥८००॥

हिंसा सम्बन्धी क्रियाओके भेदोका कथन करते हैं—

---

१. अज्झवसिदो य बद्धो–आ० मु०। २. रसकृत्तप –आ० मु०।

'पादोसियमाधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए' पादोसिय शब्देनेष्टदारवित्तहरणादिनिमित्तः कोपः प्रद्वेष इत्युच्यते। प्रद्वेष एव प्राद्वेषिको यथा विनय एव वैनयिकमिति। हिंसाया उपकरणमधिकरणमित्युच्यते। हिंसोपकरणादानक्रिया आधिकरणिकी। दुष्टस्य सत 'कायेन वा चलनक्रिया कायिकी। परितापो दुःखं दुःखोत्पत्तिनिमित्ता क्रिया पारितापिकी। आयुरिन्द्रियबलप्राणाना वियोगकारिणी प्राणातिपातिकी। 'एदे पंच पओगा' एते पञ्च प्रयोगा.। 'हिंसाकिरिआओ' हिंसासम्बन्धिन्य क्रिया ॥८०१॥

तिहिं चदुहिं पंचहिं वा कमेण हिंसा समप्पदि हु ताहिं।
बंधो वि सिया सरिसो जइ सरिसो काइयपदोसो ॥८०२॥

'तिहिं चदुहिं पंचहिं वा' त्रिभिर्मनोवाक्कायै, चतुर्भि क्रोधमानमायालोभैः, पञ्चभि स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैर्वा। 'कमेण हिंसा समप्पदि हु' क्रमेण हिंसा समाप्तिमुपैति। ताभिर्मनसा प्रद्वेषो वचसा द्विष्टोऽस्मीति वचन वाग्द्वेष। कायेन मुखवैवर्ण्यादिकरण कायद्वेष। मनसा हिंसोपकरणादानं, वाचा शस्त्रं[2] उपगृह्णामीति हस्तादिताडन इति अधिकरणमपि त्रिविध। मनसा उत्तिष्ठामीति चिन्ता कायक्रिया। वचसा उत्तिष्ठामि इति, हन्तु ताडयितुमिति उक्ति। कायेन चलन कायिकी। मनसा दुःखमुत्पादयामीति चिन्ता, दुःखं भवत करोमि इति उक्तिर्वाचा पारितापिकी क्रिया। हस्तादिताडनेन दुःखोत्पादन कायेन पारितापिकी क्रिया। प्राणान्वियोजयामीति चिन्ता मनसा प्राणातिपात, हन्मीति वच वाक्प्राणातिपात.। कायव्यापार. कायिकप्राणातिपात क्रोधनिमित्ता कस्मैश्चिदपीति, माननिमित्ता, मायानिमित्ता, लोभनिमित्ता, क्रोधादिना शस्त्रग्रहणं

गा०—'पादोसिय' शब्दसे इष्ट स्त्री, धन हरने आदिके निमित्तसे होनेवाला कोप प्रद्वेष कहलाता है। प्रद्वेष ही प्राद्वेषिक है जैसे विनय ही वैनयिक है। हिंसाके उपकरणको अधिकरण कहते है। हिसाके उपकरणोका लेन-देन अधिकरणिकी क्रिया है। दुष्टतापूर्वक हलन-चलन कायिकी क्रिया है। परितापका अर्थ दुःख है। दुःखकी उत्पत्तिमे निमित्त क्रिया पारितापिकी है। आयु इन्द्रिय और बल प्राणोका वियोग करनेवाली क्रिया प्राणातिपातिकी है। पाँच प्रकारके प्रयोग हिंसासे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाएँ है ॥८०१॥

गा०-टी०—मन वचन काय इन तीनसे, क्रोध मान माया लोभ इन चारसे और स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंसे क्रमसे हिंसा होती है। मनसे द्वेष करना, वचनसे मैं द्वेषयुक्त हूँ ऐसा कहना वचनद्वेष है। शरीरसे मुखको विकृत आदि करना कायद्वेष है। मनसे हिंसाके उपकरण स्वीकार करना, वचनसे मै शस्त्र ग्रहण करता हूँ ऐसा कहना, कायसे हाथ आदि भाजना ये अधिकरणके तीन भेद हैं। मनसे विचारना 'मैं मारनेके लिए उठूँ' वचनसे कहना मै मारनेके लिए उठता हूँ। और कायसे हलन-चलन ये तीन कायिकी क्रिया है। मनमे चिन्ता करना 'मै दुःख दूँ' यह मानसिक पारितापिकी क्रिया है। आपको दुःख दूँ ऐसा कहना वाचनिक पारितापिकी क्रिया है। हाथ आदिके द्वारा ताडन करनेसे दुःख देना कायिक पारितापिकी क्रिया है। मै प्राणोंका वियोग करूँ ऐसा चिन्तन करना मानसिक प्राणातिपात है। मै घात करता हूँ ऐसा कहना वाचनिक प्राणातिपात है। शरीरसे व्यापार करना कायिक प्राणातिपात है। यह किसीमे क्रोधके निमित्तसे, किसीमें मानके निमित्तसे, किसीमें मायाके निमित्तसे और किसीमें लोभके निमित्तसे होता है। क्रोध आदि-

१ काये भवा चा—आ०। २. स्त्रं नोप—अ०।

क्रोधादिनिमित्त' कायपरिस्पन्द'। क्रोधादिनिमित्तपरपरितापकरण, प्राणातिपातो वा क्रोधादिना भवति। **स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तो वा प्रद्वेष'**, इन्द्रियसुखार्थं वा फलपल्लवप्रसूनादिछेदननिमित्तसाधनोपादान, तत्सुखार्थमेव **विषयप्रत्यासत्तिमभिप्रे**त्य यत: कायपरिस्पन्द । परस्य वा गाढालिङ्गननखक्षतादिना सन्तापकरण, मासाद्यर्थं **वा प्राणिप्राणवियोजनमिति**। किमेताभिर्हिसाभि सपाद्य कर्मबन्ध समान उत न्यूनाधिकभावो **बन्धस्येत्या-शङ्कायामाचष्टे 'बंधोऽपि'** कर्मबन्धोऽपि **'सिया सरिसो'** स्यात्सदृश । कथ ? **'जदि सरिसो'** यदि सदृश.। **'कायिकपदोसो'** कायिकी क्रिया प्रद्वेषश्च यदि सम स्यात्कारणसामान्यात्कार्यस्यापि बन्धस्य सादृश्य, अन्यथा न सदृशता। तीव्रमध्यमन्दरूपा परिणामा तीव्र, मध्य, मन्द च बन्धमापादयन्ति इति भाव ॥८०२॥

अधिकरणभेद निरूपयति—

वीसं[1] पलिया पंचेत्थ मोदया चारि पंच दस पलिया।
तिणि चदु पंच सत्तमोदय तेसिं पि समो हवे बंधो॥
वीस पल तिण्णि मोदय पण्णरह पला तहेव चत्तारि।
बारह पलिया पंच दु तेसिं पि समो हवे बंधो॥८०३॥
जीवगदमजीवगद समासदो होदि दुविहमधिकरणं।
अट्ठुत्तरसयभेदं पढमं विदियं चदुब्भेदं॥८०४॥

के वशमे होकर शस्त्र ग्रहण करना क्रोधादि निमित्तसे होने वाला काय परिस्पन्द है। क्रोध आदि-के निमित्तसे दूसरोको दु ख देना अथवा प्राणोका घात करना क्रोध आदिसे होता है। अथवा स्पर्शन आदि इन्द्रियोके निमित्तसे प्रद्वेष होता है। इन्द्रिय सुखके लिए फल पत्र, फूल आदि तोड़नेके लिए उसके साधन ग्रहण किये जाते हैं। इन्द्रिय सुखके लिए ही विषयोको स्वीकार किया जाता है, शरीरसे हलन-चलन किया जाता है, गाढ़ आलिंगन तथा नख द्वारा नोचना आदिसे दूसरोको सताप दिया जाता है। अथवा मास आदिके लिये प्राणीके प्राणोका घात किया जाता है।

इस प्रकार प्राद्वेषिकी क्रिया, आधिकरिणिकी क्रिया, कायिकी क्रिया, पारितापिकी क्रिया और प्राणातिपातिकी क्रिया मन वचन काय, क्रोध मान माया लोभ और स्पर्शन रसन घ्राण, चक्षु श्रोत्रसे होती हैं।

शङ्का—इन क्रियाओसे होने वाला कर्मबन्ध समान होता है या हीनाधिक होता है?

समाधान—यदि कायिकी क्रिया और प्रद्वेष समान होता है तो समान कर्मबन्ध होता है। क्योकि कारणमे समानता होनेसे कार्य बन्धमे भी समानता होती है, अन्यथा समानता नही होती। तीव्र मध्य या मन्दरूप परिणामोसे तीव्र मध्य या मन्द बन्ध होता है॥८०२॥

अधिकरणके भेद कहते है—

[गाथा ८०३ दो रूपोमे मिलती है किन्तु उसका भाव स्पष्ट नहीं होता। प० सदासुखजीने भी ऐसा ही लिखा है। अत: इनका अर्थ नही किया। किसी टीकाकारने भी इसकी व्याख्या नही की।]

१ आ० प्रति में दोनो गाथायें है न० दोनो पर ९६ ही है।

'जीवगदमजीवगदं इति' जीवगत इति जीवपर्याय उच्यते । न हि जीवद्रव्यत्वमात्रमेव हिंसाया उपकरण भवति । किन्तु जीवस्य पर्याय आस्रवस्य हिंसादेर्जीवपरिणामो युक्तोऽभ्यन्तरकारणं । अजीवगतः पर्याय. द्रव्यत्वाच्च सदा सन्निहितकार्य स्यात्कादाचित्कता कथमिव सम्पादयति । पर्यायस्तु स्वकारणसान्निध्यात्कदाचिदेवेति । यदा स्वय सन्ति सन्निहितसहकारिकारणास्तदैव स्वकार्यं कुर्वन्ति नान्यदेति युक्ता कादाचित्कता कार्यस्येति भाव । **'समासदो दुविधमधिकरणं'** सक्षेपतो द्विविधं हिंसाधिकरण **'अट्ठुत्तरसयभेद'** अष्टोत्तरशतभेद । **'पढमं जीवगदमधिकरण'** प्रथम जीवगतमधिकरणं । **'बिदियं'** द्वितीय अजीवगतमधिकरण **'चदुभेदं'** चतुर्विकल्पं ॥८०४॥

प्रथमस्य भेदान्निरूपयति—

संरंभसमारंभारंभं जोगेहिं तह कसाएहिं ।
कदकारिदाणुमोदेहिं तहा गुणिदा पढमभेदा ॥८०५॥

'संरंभसमारंभारभजोगेहि तह कसाएहि' प्राणव्यपरोपणादौ प्रमादवत संरम्भ । साध्याया हिंसादिक्रियाया साधनाना समाहार समारम्भ । सञ्चितहिंसाद्युपकरणस्य आद्य प्रक्रम आरम्भ. । योगशब्देन मनोवाक्कायव्यापारा उच्यन्ते । एतै सरम्भसमारम्भारम्भयोगै । **'तधा'** तथा **'कसाएहि'** कषायै **'कदकारिदाणुमोदेहि'** कृतकारितानुमोदितै । **'तहा गुणिदा'** तथा गुणिता । **'पढमभेदा'** जीवाधिकरणभेदा । प्रयत्नपूर्वकत्वाच्चेतनावतो व्यापारस्यादौ सरम्भस्य वचन । अनुपाया साध्यसिद्धिर्न भवति प्रयत्नवतोऽपि तत साधनसमाहरण प्रयत्नादनन्तरमिति समारम्भो युक्त । साध्य पुन. उपसाधनसहतौ सत्या प्रक्रमते क्रियामिति आरम्भः

गा०-टी०—अधिकरणके दो भेद है—जीवगत और अजीवगत । जीवगतका अर्थ है जीवपर्याय । केवल जीवद्रव्य हिंसामे सहायक नही होता किन्तु जीवकी पर्याय होती है । हिसा आदिसे युक्त जीवका परिणाम हिंसाका अभ्यन्तर कारण होता है । इसी तरह अजीवगतसे अजीवपर्याय लेना चाहिए, क्योंकि अजीवद्रव्य तो सदा रहनेसे सदा कार्यकारी रहता है अत. कार्य सदा होता रहेगा । किन्तु पर्याय तो अपने कारणोके होने पर ही होती है अत. कदाचित् होती है । जब सहकारी कारण होते है तभी अपना कार्य करते है, अन्य कालमे नही करते । अतः कार्य सदा न होकर कदाचित् होता है ।

इस तरह सक्षेपसे अधिकरणके दो भेद है । उनमेसे प्रथम जीवाधिकरणके एक सौ आठ भेद है और दूसरे अजीवाधिकरणके चार भेद हैं ॥८०४॥

जीवाधिकरणके भेद कहते है—

गा०-टी०—प्राणोके घात आदिमे प्रमाद युक्त व्यक्ति जो प्रयत्न करता है वह संरभ है । साध्य हिंसा आदि क्रियाके साधनोको एकत्र करना समारंभ है । हिंसा आदिके उपकरणोंका सचय हो जाने पर हिसाका आरम्भ करना आरम्भ है । योग शब्दसे मन वचन और कायका व्यापार लिया गया है । इन सरभ, समारम्भ, आरम्भको, योग, कषाय और कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करने पर जीवाधिकरणके भेद होते हैं ।

चेतन जीवका व्यापार प्रयत्नपूर्वक होता है इसलिए प्रथम सरम्भ कहा है । प्रयत्न करनेपर भी उपायोके बिना कार्यसिद्धि नही होती, अत संरम्भके पश्चात् समारम्भ कहा है । साधनोंके एकत्र होनेपर कार्य प्रारम्भ होता है । अत समारम्भके पश्चात् आरम्भको रखा है । जीवके द्वारा

पर्यायाद्युपन्यस्तः । स्वातन्त्र्यविशिष्टेन आत्मना यत् क्रियते तत् कृतं । परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमुपयाति यत्तत्कारितं । स्वयं न करोति न च कारयति, किन्त्वभ्युपैति यत्तदनुमननं अभ्युपगमः । तत्र संरंभस्तावदुच्यते क्रोधनिमित्तं स्वतन्त्रस्य हिंसाविषयः प्रयत्नावेश. क्रोधकृतकायसंरम्भ. । मानकृतकायसंरम्भ, मायाकृतकायसंरम्भः, लोभकृतकायसंरम्भः । क्रोधकारितकायसंरम्भः, मानकारितकायसंरम्भ मायाकारितकायसंरम्भ, लोभकारितकायसंरम्भः । क्रोधानुमतकायसंरम्भः, मानानुमतकायसंरम्भः, मायानुमतकायसंरम्भः, लोभानुमतकायसंरम्भ. । इति द्वादशधा संरम्भः । क्रोधकृतकायसमारम्भः, मानकृतकायसमारम्भ., मायाकृतकायसमारम्भ, लोभकृतकायसमारम्भः । क्रोधकारितकायसमारम्भ., मानकारितकायसमारम्भ । मायाकारितकायसमारम्भ, लोभकारितकायसमारम्भ । क्रोधानुमतकायसमारम्भः, मानानुमतकायसमारम्भ., मायानुमतकायसमारम्भ., लोभानुमतकायसमारम्भ इति द्वादशधा समारम्भ. । क्रोधकृतकायारम्भः, मानकृतकायारम्भः, मायाकृतकायारम्भ, लोभकृतकायारम्भ । क्रोधकारितकायारम्भ. मानकारितकायारम्भ., मायाकारितकायारम्भ, लोभकारितकायारम्भ । क्रोधानुमतकायारम्भ, मानानुमतकायारम्भ., मायानुमतकायारम्भः, लोभानुमतकायारम्भश्च । इत्येव आरम्भोऽपि द्वादशधा । एवं संविदिता कायारम्भा षट्त्रिंशत् । एते सपिण्डिता जीवाधिकरणास्रवभेदा अष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति ॥८०५॥

संरंभो संकप्पो परिदावकदो हवे समारंभो ।
आरंभो उद्दवओ सव्वणयाणं विसुद्धाणं ॥८०६॥

स्वतन्त्रता पूर्वक जो किया जाता है वह कृत है। जो दूसरेके द्वारा सिद्ध होता है वह कारित है। न स्वयं करता है न कराता है किन्तु जो करता है उसे स्वीकार करता है वह अनुमत है। इनमेसे संरम्भके भेद कहते हैं—

क्रोधके निमित्तसे स्वतन्त्रता पूर्वक हिंसा विषयक प्रयत्न करना क्रोध कृत काय सरम्भ है। इसी तरह मान कृत काय सरम्भ, मायाकृत काय सरम्भ, लोभकृत काय संरम्भ, क्रोध कारित काय संरम्भ, मान कारित काय संरम्भ, माया कारित काय सरम्भ, लोभ कारित काय सरम्भ। क्रोधानुमत काय सरम्भ, मानानुमत काय सरम्भ, मायानुमत काय सरभ, लोभानुमत काय सरम्भ इस तरह बारह प्रकारका सरम्भ है। क्रोधकृत काय समारम्भ, मानकृत काय समारम्भ, मायाकृत काय समारम्भ, लोभ कृत काय समारम्भ। क्रोध कारित काय समारम्भ, मान कारित काय समारम्भ, माया कारित काय समारम्भ, लोभ कारित काय समारम्भ। क्रोधानुमत काय समारम्भ, मानानुमत काय समारम्भ, मायानुमत काय समारम्भ, लोभानुमत काय समारम्भ। इस तरह बारह प्रकारका समारम्भ है। क्रोधकृत काय आरम्भ, मानकृत काय आरम्भ, मायाकृत काय आरम्भ, लोभकृत काय आरम्भ, क्रोध कारित काय आरम्भ, मान कारित काय आरम्भ, माया कारित काय आरम्भ, लोभ कारित काय आरम्भ, क्रोधानुमत काय आरम्भ, मानानुमत काय आरम्भ, मायानुमत काय आरम्भ, लोभानुमत् काय आरम्भ। इस प्रकार आरम्भ भी बारह प्रकारका है। ये मिलकर कायारम्भके छत्तीस भेद होते हैं। छत्तीस ही भेद वचन सम्बन्धी आरम्भके और छत्तीस ही भेद मन सम्बन्धी आरम्भके होते हैं। ये सब मिलकर जीवाधिकरण सम्बन्धी आस्रवके एक सौ आठ भेद होते हैं ॥८०५॥

गा०—संकल्पको संरम्भ कहते हैं। संताप देनेको समारम्भ कहते हैं और आरम्भ सब

आजीवाधिकरणस्य चतुरो भेदानाचष्टे—

णिक्खेवो णिव्वत्ति तहा य संजोयणा णिसग्गो य।
कमसो चदु दुग दुग तिय भेदा होंति हु बिदियस्स ॥८०७॥

'**णिक्खेवो णिव्वत्ति तहा य संजोयणा णिसग्गो य**' निक्षेपो निर्वर्तना संयोजना निसर्ग इति। '**कमसो**' यथाक्रमेण। '**चदु दुग दुग तिय भेदा**' निक्षेपश्चतुःप्रकारः। निर्वर्तना द्विप्रकारा। संयोजना द्विप्रकारा। निसर्गस्त्रिविध इति सम्बध्यते ॥८०७॥

निक्षेपस्य चतुरो विकल्पानाचष्टे—

सहसाणाभोगिय दुप्पमज्जिद अपच्चवेक्खणिक्खेवो।
देहो व दुप्पउत्तो तहोवकरणं च णिव्वत्ति ॥८०८॥

'**सहसाणाभोगियदुप्पमज्जिद अप्पच्चवेक्खणिक्खेवो**' सहसानिक्षेपाधिकरणं, अनाभोगनिक्षेपाधिकरणं, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं, अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं चेति। निक्षिप्यते इति निक्षेपः। उपकरणं पुस्तकादि, शरीरं, शरीरमलानि वा सहसा शीघ्रं निक्षिप्यमाणानि भयात् कुतश्चित्कार्यान्तरकरणप्रयुक्तेन वा त्वरितेन षड्जीवनिकायबाधाधिकरणतां प्रतिपद्यन्ते। असत्यामपि त्वरायां जीवाः सन्ति न सन्तीति निरूपणामन्तरेण निक्षिप्यमाणं तदेवोपकरणादिकं अनाभोगनिक्षेपाधिकरणमुच्यते। दुष्प्रमृष्टमुपकरणादि निक्षिप्यमाणं दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं स्थाप्यमानाधिकरणं वा दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं। प्रमार्जनोत्तरकाले जीवाः सन्ति न सन्तीति अप्रत्यवेक्षितं यन्निक्षिप्यते तदप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं। निर्वर्तनाभेदमाचष्टे—'**देहो य दुप्पउत्तो**' दुःप्रयुक्तं शरीरं हिंसोपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तनाधिकरणं भवति। उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीवबाधा-

---

विशुद्ध व्रतोंका घातक है ॥८०६॥

अजीवाधिकरणके चार भेदोको कहते है—

गा०—अजीवाधिकरणके चार भेद है—निक्षेप, निर्वतना, संयोजना और निसर्ग। क्रमानुसार निक्षेपके चार भेद है। निर्वर्तनाके दो भेद हैं। संयोजनाके दो भेद है और निसर्गके तीन भेद हैं ॥८०७॥

निक्षेपके चार भेद कहते है—

गा०-टी०—निक्षेपके चार भेद हैं—सहसानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगनिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण और अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण। रखनेको निक्षेप कहते हैं। उपकरण, पुस्तक आदि, शरीर अथवा शरीरके मल भयसे अथवा किसी अन्य कारणान्तरसे सहसा शीघ्र रखनेसे त्यागनेसे छहकायके जीवोकी बाधाके आधार हो जाते है। यह सहसानिक्षेपाधिकरण है। जल्दी नही होनेपर भी 'पृथ्वी आदिपर जन्तु है या नहीं' यह देखे विना ही उपकरण आदिको रखना अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है। उपकरण आदिको असावधानतासे या दुष्टतासे साफ करके रखना अथवा जिस स्थानपर उन्हे रखना है उस स्थानकी दुष्टतासे सफाई करना, जिससे जीवोको कष्ट पहुचे, दुष्प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण है। स्थानकी सफाई करनेके पश्चात् वहां जीव हैं या नही यह देखे विना उपकरणादि रखना अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण है। दुष्प्रयुक्त शरीर—शरीरकी असावधानतापूर्वक प्रवृत्ति हिंसाका कारण होती है उसे निर्वतनाधिकरण कहते है। छिद्रवाले

निमित्तानि निर्वर्त्यन्ते ताग्यपि निर्वर्तनाधिकरणं । अस्मिन्सौवीरादिभाजने प्रविष्टा म्रियन्ते ॥८०८॥

संजोयणमुवकरणाणं च तहा पाणभोयणाणं च ।
दुट्ठणिसिट्ठा मणवचिकाया भेदा णिसग्गस्स ॥८०९॥

'**संजोजणमुवकरणाणं**' उपकरणाना पिच्छादीना अन्योन्येन सयोजना । शीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य कमण्डल्वादेर्वा आतपादितप्तेन पिच्छेन प्रमार्जन इत्यादिक । '**तहा**' तथा । '**पाणभोजणाणं च**' पानभोजनयोश्च पान पानेन, पान भोजनेन, भोजन भोजनेन, भोजनं पानेनेत्येवमादिक सयोजन यस्य सम्मूर्च्छन सम्भवति सा हिंसाधिकरणत्वेनात्रोपात्ता न सर्वा । '**दुट्ठणिसिट्ठा मणवचिकाया**' दुष्टप्रवृत्ता मनोवाक्कायप्रभेदा निसर्गशब्देनोच्यन्ते ॥८०९॥

अहिंसारक्षणोपायमाचष्टे—

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकयं सुहं णत्थि ।
तम्हि सुहे णिस्संगो तम्हा सो रक्खदि अहिंसा ॥८१०॥

'**ज जीवणिकायवहेण**' यस्माज्जीवनिकायघात विना । '**इंदियसुहं**' इन्द्रियसुख नास्ति । स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादिसेवा विचित्रा जीवनिकायपीडाकारिणी आरम्भेण महतोपार्जनीयत्वात् । तस्मिन्निन्द्रियसुखे । णिस्सगो यस्स पात्यहिंसा नेन्द्रियसुखार्थी । तस्मान्दिन्द्रियसुखादर मा कृथा इत्युपदिशति सूरि ॥८१०॥

उपकरण जो जीवोको बाधा पहुँचाते है उनकी निर्वर्तना—रचना करना भी निर्वर्तनाधिकरण है। जैसे काजी आदि रखनेके ऐसे सछिद्रपात्र बनाना जिसमे प्रविष्ट जीव मर जाते हैं।

विशेषार्थ—सर्वार्थसिद्धिमे पूज्यपाद स्वामीने निर्वर्तनाधिकरणके दो भेद कहे है एक मूलगुणनिर्वर्तना, एक उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीर वचन मन, उच्छ्वास निश्वासकी रचना मूलगुण निर्वर्तना है। लकडीके पट्टपर चित्रकर्म आदि रचना करना उत्तर गुणनिर्वर्तना है। इन क्रियाओसे जीवोको कष्ट पहुँचता है। चित्रकर्ममे छेदन-भेदनकी भावना उत्पन्न होती है ॥८०८॥

संयोजनाधिकरण और निसर्गाधिकरणका स्वरूप कहते है—

गा०-टी०—पिच्छी आदि उपकरणोको परस्परमे मिलाना। जैसे शीतस्पर्शवाली पुस्तक अथवा कमडलु आदिको धूपसे तप्त पीछीसे साफ करना उपकरण सयोजना है। एक जलमे दूसरा जल मिलाना, एक भोजनमे दूसरा भोजन मिलाना अथवा भोजनमे पेय मिलाना आदि भक्तपान सयोजना है। यहाँ इतना विशेष जानना कि जिस पेय या भोजनमे सम्मूर्च्छन जीव होते है उसे ही हिसाका अधिकरण स्वीकार किया है, सबको नही। दुष्टतापूर्वक मन वचन कायकी प्रवृत्तिको निसर्गाधिकरण कहते हैं ॥८०९॥

अहिंसाकी रक्षाके उपाय कहते हैं—

गा०-टी०—यत छहकायके जीवोकी हिंसाके विना इन्द्रियजन्य सुख नही होता। विचित्र प्रकारके स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदिका सेवन जीवोंको पीड़ा करनेवाला होता है क्योंकि बहुत आरम्भसे उसकी प्राप्ति होती है। अत जो इन्द्रियजन्य सुखमे आसक्त नही है वही अहिंसा की रक्षा करता है। जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह नहीं रक्षा करता। अतः आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियसुखका आदर मत करो ॥८१०॥

हिंसा कषाये प्रवर्तते, ततोऽहिंसामिच्छता एते परिहर्तव्या इत्युत्तरसूत्रार्थम्—

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणइ ।
सो जीववहं परिहरइ सया जो णिज्जियकसाओ ॥८११॥

प्रमादो हिंसाया प्रवर्तक स परित्याज्योऽहिंसाव्रतार्थिना इति गाथार्थ.—

आदाणे णिक्खेवे वोसरणे ठाणगमणसयणेसु ।
सव्वत्थ अप्पमत्तो दयावरो होइ हु अहिंसो ॥८१२॥

काएसु णिरारंभे फासुगभोजिम्मि णाणरइयम्मि ।
मणवयणकायगुत्तिम्मि होइ सयला अहिंसा हु ॥८१३॥

परित्यक्तारम्भे य प्रासुकभोजिनि ज्ञानभावनावहितमनसि गुप्तित्रयोपेते सम्पूर्णा भवत्यहिंसा इति सूत्रार्थ ॥८१३॥

आरंभे जीववहो अप्पासुगसेवणे य अणुमोदो ।
आरंभादीसु मणो णाणरदीए विणा चरइ ॥८१४॥

पृथिव्यादिविषयो व्यापार आरम्भ । तस्मिन्सति तदाश्रयप्राण्युपद्रव इति जीववधो भवति । उद्गमादिदोषोपहतस्य आहारस्य भोजने जीवनिकायवधानुमोदो भवति । ज्ञानरतिमन्तरेण आरम्भे कषाये च मन प्रवर्तते ॥८१४॥

तम्हा इहपरलोए दुक्खाणि सदा अणिच्छमाणेण ।
उवओगो कायव्वो जीवदयाए सदा मुणिणो ॥८१५॥

हिंसा कषायसे होती है। अत अहिंसाके अभिलाषीको कषाय त्यागना चाहिए, यह कहते है—

गा०—जो जीव कषायकी अधिकता रखता है वह जीवोका घात करता है। और जो कषायोको जीत लेता है वह सदा जीवोकी हिंसासे दूर रहता है। अत प्रमाद हिंसाका कारण है। अहिंसाव्रतके अभिलाषीको प्रमादको त्यागना चाहिए ॥८११॥

गा०—उपकरणोको ग्रहण करनेमे, रखनेमे, उठने बैठने, चलने और शयनमे जो दयालु सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह अहिंसक होता है ॥८१२॥

गा० जो आरम्भका त्यागी है, प्रासुक भोजन करता है, ज्ञानभावनामे मनको लगाता है और तीन गुप्तियोंका धारी है वही सम्पूर्ण अहिंसाका पालक है यह उक्त गाथासूत्रका अर्थ है ॥८१३॥

गा०–टी०—पृथिवी आदिके विषयमे जो खोदना आदि व्यापार किया जाता है उसे आरम्भ कहते हैं। उसके करने पर पृथिवी आदिमे रहने वाले जीवोंका घात होता है। उद्गम आदि दोषोसे युक्त आहार ग्रहण करने पर जीव समूहके वधकी अनुमोदना होती है, ज्ञानमे लीनता न होने पर आरम्भ और कषायमे मनकी प्रवृत्ति होती है ॥८१४॥

तम्हा तस्मात् । आरम्भो भवता त्याज्य', प्रासुकभोजनं भोज्य, ज्ञाने अरतिश्च अपाकार्या इति क्षपक-शिक्षा । अहिंसा जीवदया तस्याः फलमुपदर्शयति—तम्हा इत्यनया उभयलोकगतदुःखपरिहारमिच्छता दया-भावना कार्या इति कथयति क्षपकस्य ॥८१५॥

स्वल्पकालवर्त्यपि अहिंसाव्रत करोत्यात्मनो महान्तमुपकारमित्याख्यान कथयति—

पाणो वि पाडिहेरं पत्तो छूढो वि सुंसुमारहदे ।
एगेण एक्कदिवसकदेण हिंसावदगुणेण ॥८१६॥

'**पाणो वि**' चण्डालोऽपि '**पाडिहेरं**' प्रातिहार्यं '**पत्तो**' प्राप्त. । '**सुंसुमारहदे छूढो**' शिशुमाराकुले ह्रदे निक्षिप्तोऽपि । '**एक्केण हिंसावदगुणेण**' एकेनैव अहिंसाव्रताख्येन गुणेन । '**अप्पकालकदेन**' अल्पकालकृतेन । अहिंसा ॥८१६॥

द्वितीयव्रतनिरूपणाय उत्तरप्रबन्ध —

परिहर असंतवयणं सव्वं पि चदुव्विधं पयत्तेण ।
धत्तं पि संजमित्तो भासादोसेण लिप्पदि हु ॥८१७॥

'**परिहर**' परित्यज । '**असंतवयणं**' असद् अशोभन वचन । यत्कर्मबन्धनिमित्त वचस्तदशोभन । तथा चोक्तं—'**असदभिधानमनृतं** [त० सू० ७] । ननु वचनमात्मपरिणामो न भवति । द्रव्यान्तर हि तत्पुद्गलाख्य, आत्मपरिणामो हि परित्याज्यो यो बन्धस्य बन्धस्थितेर्वा निमित्तभूतो मिथ्यात्वमसयम कषायो योग इत्येव-प्रकार । तस्मादसद्वचनपरिहारोपदेशोऽनुपयोगी कस्मात्कृत इति अत्रोच्यते— असयमो हि त्रिप्रकार कृत

गा०—अत इस लोक और परलोकमे दुःखको नही चाहने वाले मुनिजनोको सदा जीव दयामे उपयोग लगाना चाहिए और उसके लिए आरम्भ त्यागना चाहिए, प्रासुक भोजन करना चाहिए और ज्ञानमें मन लगाना चाहिए। आचार्य क्षपकको यह उपदेश करते है ॥८१५॥

थोड़े समयके लिए पाला गया भी अहिसा व्रत आत्माका महान् उपकार करता है यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—यमपाल चण्डाल भी एक चतुर्दशीके दिन किसीको फाँसी न देनेके एक अहिंसाव्रतके गुणसे मगरमच्छोसे भरे तालाबमे फेक दिए जाने पर प्रातिहार्यको प्राप्त हुआ—देवोने उसकी पूजा की ॥८१६॥

अहिंसाव्रतका कथन समाप्त हुआ ।

दूसरे सत्यव्रतका कथन आगे करते हैं—

गा०-टी०—असत् अर्थात् अशोभन वचन मत बोलो । जो वचन कर्मबन्धमे निमित्त होता है उसे अशोभन कहते हैं । कहा है—असत् वचन बोलना असत्य है ।

शंका—वचन आत्माका परिणाम नही है, पुद्गल नामक अन्य द्रव्य है । कर्मबन्ध या कर्म स्थितिके बन्धमे निमित्त मिथ्यात्व, असयम, कषाय योग, इस प्रकारका आत्मपरिणाम त्यागने योग्य है । अतः असत् वचनके त्यागका उपदेश उपयोगी नही है उसे क्यो कहा ?

कारितोऽनुमतश्च । इममस्मिन्नसंयमे प्रवर्तयामि अनेन वचनेन प्रवृत्तं वानुजानामि । इत्यभिसन्धिमन्तरेण[1] तस्य वचनस्याप्रवृत्तेस्तद्वचनकारणभूतोऽभिसन्धिरात्मपरिणामो भवति कर्मनिमित्तमिति परिहार्यस्तस्य परिहारे तत्कार्यं वचनमपि परिहृतं भवति । न ह्यसति कारणे कार्यप्रतिपत्तिरित्यसद्वचनपरिहारोऽनेन क्रमेणोपन्यस्त इति । स्वयमसद्वचनैकदेशपरिहारेऽप्यपहृतमसद्वचनं भवति इत्याशङ्कां परिहरति सर्वमिति चतुर्विधमिति तदीयभेदोपन्यासं । '**पयत्तेणेति**' तत्र अप्रमत्ततामुपदिशति । '**चत्तं पि संजमंतो**' नितरामपि सयममाचरन्नपि । '**भासादोसेण**' भाषावचन तन्निमित्तत्वाद्वाग्योगाख्य आत्मपरिणामो भाषाशब्देनोच्यते । भाषादुष्टः भाषादोषः । वाग्योगेन दुष्टेन निमित्तेन जात यत्कर्म तेन । '**लिप्पदि**' लिप्यत एव संबध्यत एव आत्मा । एतेन कर्मबन्धनिमित्ततादोषकथनेन असद्वचनपरिहारे दाढर्यं करोति क्षपकस्य ॥८१७॥

प्रतिज्ञात चातुर्विध्य व्याचष्टे—

पढमं असंतवयणं सभूदत्थस्स होदि पडिसेहो ।
णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जधेवमादीयं ॥८१८॥

'**पढमं असंतवयण**' चतुर्षु आद्यमसद्वचन '**संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो**' सतोऽर्थस्य प्रतिषेध । सता[2] सतो न वचन असद्वचनमित्येकोऽर्थ । तस्योदाहरणमाह—'**णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति**' एवमादिकं नास्त्यकाले मनुष्यस्य मृतिरिति एवमादिकं वचन । आयुष स्थितिकाल काल इत्युच्यते । तस्मात्कालादन्य कालोऽकाल । तस्मिन्नकाले । ननु च भोगभूमिनराणामनपवर्त्यमायुरत अकाले मरण नास्त्येव अतो युक्तमुच्यते **णत्थि णरस्स**

समाधान—असयमके कृत कारित और अनुमतके भेदसे तीन प्रकार हैं। इस पुरुषको इस असंयममे प्रवृत्त करता हू अथवा असंयममे प्रवृत्त पुरुषकी इस वचनके द्वारा अनुमोदना करता हूं। इस अभिप्रायके बिना उस प्रकारका वचन नही बोला जाता। अत उस प्रकारके वचनमे कारणभूत आत्मपरिणाम कर्मबन्धमे निमित्त होता है अत. त्यागने योग्य है। उस परिणामके त्यागने पर उसका कार्य वचन भी त्यागा जाता है, क्योंकि कारणके अभावमे कार्य नहीं होता। इसलिए असत् वचनका त्याग कहा है। यदि कोई असत् वचनके एक देशका त्याग करे तब भी असत् वचनका त्याग हो जाता है क्या ? ऐसी आशकाका परिहार करते है कि चारों ही प्रकारके असत्य वचनका त्याग प्रमाद छोडकर करना चाहिए। क्योंकि अतिशय युक्त सयमका आचरण करता हुआ भी भाषादोषसे कर्मसे लिप्त होता है। यहाँ निमित्त होनेमे भाषा शब्दसे वचन योग रूप आत्मपरिणाम कहा है। दुष्ट भाषाको भाषा दोष कहते है। अत. दुष्ट वचनयोगके निमित्तसे जो कर्म बन्ध होता है उससे आत्मा लिप्त होता है। इससे असत्य वचनको कर्मबन्धमे निमित्त होनेका दोष बतलाकर उसके त्यागमे क्षपकको दृढ करते हैं ॥८१७॥

असत्य वचनके चार भेद कहते हैं—

गा०-टी०—चार भेदोंमे सद्भूत अर्थका निषेध करना प्रथम असत्य वचन है। जैसे मनुष्यकी अकालमे मृत्यु नही होती इत्यादि वचन। आयुके स्थिति कालको काल कहते है। उस कालसे अन्य कालको अकाल कहते है। उसमे मरण नही होता। ऐसा कहना सद्भूतका निषेध रूप असत्य वचन है।

शङ्का—भोगभूमिके मनुष्योंकी आयु अनपवर्त्य होती है अत मनुष्योका अकालमे मरण

---

1. ण वास्य—आ० मु०। 2. सता सदेतत् वचन सद्वचनमि—आ०। सता सतो नमस—अ०।

अकाले मच्चुत्ति । नरशब्दस्य सामान्यवाचित्वात्सर्वनरविषय अकालमरणाभावोऽयुक्त केषुचित्कर्मभूमिजेषु तस्य सतो निषेधादित्यभिप्राय ॥८१८॥

अहवा सयबुद्धीए पडिसेधे खेत्तकालभावेहिं ।
अविचारिय णत्थि इह घडोत्ति तह एवमादीयं ॥८१९॥

'**अथवा विचारबुद्धीए पडिसेधे खेत्तकालभावेहि अविचारिय भावमिति शेषः**' । स्वबुद्धया क्षेत्रकालभावैरभावमविचार्यमाण अत्र नास्ति इदानी न विद्यते, [1]शुक्ल कृष्णो न वेत्यनिरूप्य घटस्य भाव इत्थं अनेनप्रकारेण '**णत्थि घडो जह एवमादिगं**' नास्ति घट इत्येवमादिक । सतो घटस्य अविशेषेण असतवचन असद्वचनमित्युदाहरणान्तरमिद ॥८१९॥

जं असभूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु ।
अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं ॥८२०॥

'**जं असभूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु**' यदसदुद्भावनं द्वितीय असद्वचस्तस्योदाहरणमुत्तर । '**अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीय**' सुराणामकाले मृत्युरस्तीत्येवमादिक यथा असदेव अकालमरणमनेनोच्यते इत्यसद्वचनम् ॥८२०॥

नही होता अत उक्त कथन उचित ही है ।

समाधान—गाथामे आगत नर' शब्द सामान्यवाची होनेसे सभी मनुष्योके अकालमरणका अभाव कहना अयुक्त है। किन्ही कर्मभूमिज मनुष्योमे अकाल मरण होता है अत सत्का निषेध करनेसे उक्त कथनको असत्य कहा है ॥८१८॥

गा०—अथवा क्षेत्रकालभावसे अभावका विचार न करके—घट यहाँ नही है, इस समय नही है, या सफेद अथवा कृष्णरूप नही है, ऐसा न विचारकर अपनी बुद्धिसे घटका सर्वथा अभाव कहना असत्य वचन है ॥८१९॥

विशेषार्थ—किसी वस्तुका निषेध या विधि द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षासे होती है। न तो वस्तुका सर्वथा निषेध होता है और न सर्वथा विधि होती है। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है और परद्रव्य क्षेत्रकालभावकी अपेक्षा अस्तिरूप है जैसे घट अपने द्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप है और अन्य घटोकी अपेक्षा नास्तिरूप है। तथा जिस क्षेत्रमे वह घट है उस क्षेत्रमे अस्तिरूप है, अन्य घटोके क्षेत्रमे नास्तिरूप है। जिस कालमे है उस कालमे अस्तिरूप है, अन्यकालोमे नास्तिरूप है। जिस भावमें स्थित है उस भावसे अस्तिरूप है अन्यभावकी अपेक्षा नास्तिरूप है। ऐसे द्रव्य क्षेत्र काल भावका विचार किये विना यह कह देना कि घट नही है यह असत्यवचनका दूसरा उदाहरण है ॥८१९॥

गा०—जो नही है उसे 'है' कहना दूसरा असत्यवचन है। जैसे देवोके अकालमे मरण होता है ऐसा कहना। किन्तु देवोमे अकालमरण नही होता। अतः यह असत्का उद्भावन करनेसे असत्यवचन है ॥८२०॥

---

१. शुक्ल कृष्णो भवत्यनिरूप्य—आ० ।

अहवा जं उब्भावेदि असंतं खेत्तकालभावेहिं ।
अविचारिय अत्थि इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥८२१॥

अथवा 'जं उब्भावेदि' यद्वचन उद्भावयति । असन्तं घटं । कथमसन्तं ? खेत्तकालभावेहिं क्षेत्रान्तरसम्बन्धित्वेन (अ) सन्त इहत्य घट कालान्तरसम्बन्धेन अतीते अनागते वा असन्तं भावान्तरसम्बन्धित्वेन कृष्णत्वादिनाऽसन्त । 'अविचारिय' अविचार्य इत्थं सत् इत्थमसत इति अस्ति घट इत्येवमादिक सर्वथास्तित्वमसद्भावयतीति असद्वचन ॥८२१॥

तदियं असंतवयणं संतं जं कुणदि अण्णजादीगं ।
अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीयं ॥८२२॥

'तदीयं असंतवयण' तृतीयमसद्वचनं । 'संतं जं कुणदि अण्णजादीगं' सद्यत्करोति अन्यजातीय । 'अविचारित्ता गोण अस्सोत्ति जहेवमादीगं' । अश्वमित्येवमादिक । सतो बलीवर्द्दत्वात् अश्वत्वं असतस्य वचन ॥८२२॥

चतुर्थमसद्वचनमाचष्टे—

जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जसंजुदं वयणं ।
जं वा अप्पियवयणं असच्चवयणं चउत्थं च ॥८२३॥

'ज वा गरहिदवयण' यद्वा गर्हित वचन । 'जं वा सावज्जसंजुदं वयणं' यद्वा सावद्यसयुत वचनं । 'जं वा अप्पियवयणं' यद्वा अप्रियवचन । 'तत् चउत्थं' चतुर्थं असतवयण असद्वचन ॥८२३॥

तेषु वचनेषु गर्हितवचन व्याचष्टे—

गा०—अथवा जो वचन क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् घटका विचार न करके 'घट है' ऐसा कहता है वह असत्यवचन है ॥८२१॥

विशेषार्थ—यह पहले कहा है कि कोई वस्तु न सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है। जो स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सत् है वही पर द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् है। जैसे जो घट इस क्षेत्रकी अपेक्षा सत् है वही अन्य क्षेत्रकी अपेक्षा असत् है। जो इस कालकी अपेक्षा सत् है वही अतीत और अनागतकालकी अपेक्षा असत् है, जो स्वभावकी अपेक्षा सत् है वही भावान्तरकी अपेक्षा असत् है। अत. घट इस रूपसे सत् है और इस रूपसे असत् है ऐसा विचार न करके 'घट है' इस तरह घटको सर्वथा सत् कहना असत्का उद्भावन होनेसे असत्य वचन है ॥८२१॥

गा०—एक जातिकी वस्तुको अन्य जातिकी कहना तीसरा असत्य वचन है। जैसे विना विचारे बैलको घोडा कहना ॥८२२॥

चतुर्थ असत्य वचनको कहते हैं—

गा०—जो गर्हित वचन है, सावद्ययुक्त वचन है, अप्रिय वचन है वह चतुर्थ असत्य वचन है ॥८२३॥

उनमेसे गर्हित वचनको कहते है—

कक्कस्सवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च ।
जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण ॥८२४॥

'**कक्कस्सवयण**' कर्कशवचनं नाम सगर्ववचनमिति केचिद्वदन्त्यन्ये असत्यवचनमिति । '**णिट्ठुरवयणं**' निष्ठुरवचनं । '**पेसुण्णहासवयणं च**' परदोषसूचनपर वचन पैशुन्यवचन हासावहं वचन । '**जं किंचि विप्पलावं**' यत्किंचित्प्रलपनं च मुखरतया । '**गरहिदवयणं**' गर्हितवचन । '**समासेण**' सक्षेपेण ॥८२४॥

सावद्यवचनं निरूपयति—

जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च ।
अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीयं ॥८२५॥

'**जत्तो पाणवधादी दोसा जायंतीति**' यस्माद्वचनाद्धेतो प्राणवधादयो दोषा जायन्ते । '**सावज्जवयण त**' सावद्य वचन पृथिवी खन[1], महिषी वोहक (?) पयसा, प्रसूनानि चिनु । इत्येवमादिकानि '**अविचारित्ता**' अविचार्य किमेव वक्तुं युक्त [2]न वेति । अथवा दोषोऽनेन वचसा न वेति अपरीक्ष्य चौर चौरोऽयमिति कथन ॥८२५॥

परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ ।
उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण ॥८२६॥

हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण ।
एवं असंतवयणं परिहरिदव्वं विसेसेण ॥८२७॥

'**हासभय**' हास्येन, भयेन, लोभेन, क्रोधेन, प्रदोषेणेत्येवमादिना कारणेन । '**एवं असंतवयणं**' एतद-सद्वचन । '**तुमे**' त्वया । '**पत्तेण**' प्रयत्नेन । '**परिहरिदव्वं**' परिहर्तव्य । '**विसेसेण**' विशेषेण ॥८२७॥

एवमसद्विवाद परिहार्यमुपदर्श्य सत्यवचनलक्षणमुक्तासद्वचनविलक्षणतया दर्शयति—

गा०—कर्कश वचन अर्थात् घमण्डयुक्त वचन, निष्ठुर वचन, दूसरेके दोषोका सूचन करने-वाले वचन, हास्यवचन और जो कुछ भी बकवाद करना, ये सब सक्षेपमे गर्हित वचन हैं ॥८२४॥

सावद्य वचन कहते हैं—

गा०—जिस वचनसे प्राणोका घात आदि दोष उत्पन्न होते है वह सावद्यवचन है । जैसे पृथ्वी खोदो । नांदका पानी भैंसने पी लिया उसे पानीसे भरो । फूल चुनो आदि । अथवा ऐसा कहनेमे दोष है या नही, यह विचार न करके चोरको चोर कहना सावद्य वचन है ॥८२५॥

गा०—कठोर वचन, कटुक वचन, जिस वचनसे वैर, कलह और भय पैदा हो, अति त्रास देनेवाले वचन, तिरस्कार सूचक वचन ये सक्षेपमे अप्रियवचन है ॥८२६॥

गा०—हास्य, भय, लोभ, क्रोध और द्वेष आदि कारणोसे बोले जानेवाले असत्य वचनोंको हे क्षपक, तुम्हे प्रयत्नपूर्वक विशेष रूपसे नही बोलना चाहिए ॥८२७॥

इस प्रकार असत्यवचनोंको त्यागने योग्य बतलाकर उक्त असत्यवचनोसे विलक्षण सत्य-वचनोंका लक्षण कहते हैं—

---

१. खन । प्रहिं पीतोदकं पयसा पूरय—आ० । खन । महिषी पीतोदका पयसा प्रपूरय, मु० ।
२. ममेति—आ० मु० ।

तव्विवरीदं सच्चं कज्जे काले मिदं सविसए य ।
भत्तादिकहारहियं भणाहि तं चेव य सुणाहि ॥८२८॥

'**तव्विवरीदं**' असद्वचनविपरीतं । '**सच्चं**' सत्यं । '**भणाहि**' भण । '**कज्जे**' कार्ये ज्ञानचारित्रादि शिक्षालक्षणे, असंयमपरिहारे परस्य वा सन्मार्गस्थापनारूपे । **काले** आवश्यकादीना कालादन्य काल इत्य-कालशब्देनोच्यते । अथवा कालशब्देन प्रस्ताव उच्यते । '**मिदं**' परिमित वचन । '**सविसए य**' भवतो ज्ञानस्य विषये प्रवृत्तं वचन । '**भणाहि**' भण । ज्ञानमेव वचनानीति यावत् । **भत्ताविकथारहिदं** भक्तचोरस्त्रीराजकथादि-रहित । '**तं चेव य**' तथाभूतमेव सत्यमेव वचन । '**सुणाहि**' शृणु । अयमयोग्य न ब्रवीति एतावता सत्यव्रतं पालितमिति आशा न कार्या । परेणोच्यमानमसद्वचन शृण्वतो मनोऽशुभतया च कर्मबन्धो महानिति भाव ॥८२८॥

सत्यवचनगुण हृदयनिर्वाण ख्यापयति गाथोत्तरा स्पष्टा—

जलचंदणससि[1]मुत्ताचंदमणी तह णरस्स णिव्वाणं ।
ण करंति कुणइ जह अत्थज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥८२९॥

न सत्यमित्येतावता वचन वक्तव्यं, सत्यमेव सदेव वक्तव्यमेव नेति ब्रवीति—

अण्णस्स अप्पणो वा वि धम्मिए विद्दवंतए कज्जे ।
जं पि अपुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जप ॥८३०॥

'**अण्णस्स अप्पणो वावि**' अन्यस्य आत्मनो वा धार्मिके कार्ये विनश्यति सति अपृष्टोऽपि ब्रूहि । अनति-पातिनि कार्ये पृष्ट एव वद नापृष्ट इत्यर्थ ॥८३०॥

गा०-टी०—हे क्षपक, ज्ञान चारित्र आदिकी शिक्षारूप कार्यमे, असंयमका त्याग कराने या दूसरेको सन्मार्गमे स्थापित करनेके कार्यमे, आवश्यक आदिके कालसे भिन्नकालमे, और ज्ञानके विषयमे असत्यवचनसे विपरीत सत्यवचन बोलो। तथा भक्तकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा और राज-कथामे रहित वचन बोलो—इन कथाओकी चर्चा मत करो। तथा इसी प्रकारके सत्य वचनोको सुनो। अमुक-वक्ता अयोग्य बात नही बोलता अतः यह सत्यव्रतका पालक है ऐसी आशा मत करो। दूसरेके द्वारा कहे असत्यवचनको जो सुनता है उसका मन बुरा होता है और मनके बुरे होनेसे महान् कर्मबन्ध होता है ॥८२८॥

आगे सत्यवचनका गुण हृदयको सुख देना है, यह कहते हैं—

गा०—अर्थसे भरे हितकारी परिमित मधुर वचन इस जीवको जैसा सुख देते हैं वैसा सुख जल, चन्दन, चन्द्रमा, मोती और चन्द्रकान्तमणि भी नही देते ॥८२९॥

आगे कहते हैं कि सत्य होनेसे बोलना चाहिए ऐसी बात नही है और सदा सत्य बोलना ही चाहिए ऐसी भी बात नही है—

गा०—अपना या दूसरोंका धार्मिक कार्य नष्ट होता हो तो विना पूछे भी बोलना चाहिए। किन्तु यदि कार्य नष्ट न होता हो तो पूछनेपर ही बोलो, विना उनके द्वारा पूछे जानेपर मत बोलो ॥८३०॥

---

१. मुत्तामणिमाला तह–आ० ।

सच्चं वदंति रिसओ रिसीहिं विहिदाउ सव्व विज्जाओ ।
मिच्छस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ सच्चवादिस्स ॥८३१॥

'सच्चं वदंति रिसओ' सत्यं वदन्ति यतय. । **'रिसीहिं विहिदाओ'** यतिभिर्विहिता सर्वविद्या । **'मिच्छस्सवि'** म्लेच्छस्यापि । **'सिज्झति'** सिध्यन्ति । **'विज्जाओ'** विद्या । **'सच्चवादिस्स'** सत्यवादिन ॥८३१॥

ण डहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुड्डेइ ।
सच्चबलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदी वि ॥८३२॥

'ण डहदि अग्गी णरं' न दहत्यग्नि सत्येन नर । **'जलं च तन्न बुड्डेदि'** जल च तन्न निमज्जति । **'सच्चबलियं'** सत्यमेव बल तद्यस्यास्ति त **'न वहदि'** नाकर्षयति । **'तिक्खा गिरिनदीवि'** तीव्रवेगा गिरिनद्यपि ॥८३२॥

सच्चेण देवदावो णवंति पुरिसस्स ठंति य वसम्मि ।
सच्चेण य गहगहिदं मोएइ करेंति रक्खं च ॥८३३॥

'सच्चेण देवदाओ णमंति' सत्येन देवता नमस्यन्ति । **'पुरिसस्स ठंति य वसम्मि'** पुरुषस्य च वशे तिष्ठन्ति । **'गहगहिदं सच्चेण मोएइ'** पिशाचग्रहण मोचयन्ति सत्येन । **'करेंति सच्चेण रक्खं च'** कुर्वन्ति सत्येन ग्रहादिरक्षा ॥८३३॥

माया व होइ विस्सस्सणिज्जो पुज्जो गुरुव्व लोगस्स ।
पुरिसो हु सच्चवाई होदि हु [1]सणियल्लओ व पिओ ॥८३४॥

'माया व होदि विस्सस्सणिज्जो' मातेव भवति विश्वसनीय । **'पुज्जो गुरुव्व लोगस्स'** पूज्यो गुरुवल्लोकस्स । क ? **'सच्चवादी पुरिसो'** सत्यवादी पुरुष । **'पिओ होदि सणियल्लओव'** प्रियो भवति बन्धुरिव ॥८३४॥

सच्चं अवगददोसं वुत्तूण जणस्स मज्झयारम्मि ।
पीदिं पावदि परमं जसं च जगविस्सुदं लहइ ॥८३५॥

गा०—ऋषिगण सत्य बोलते है। ऋषियोने ही सब विद्याओंका विधान किया है। सत्यवादी यदि म्लेच्छ भी हो तो उसे विद्याएँ सिद्ध होती हैं ॥८३१॥

गा०—सत्यवादी मनुष्यको आग नही जलाती। पानी उसे नही डुबाता। जिसके पास सत्यका बल है उसे तीव्र वेगवाली नदी भी नही बहाती ॥८३२॥

गा०—सत्यसे देवता नमस्कार करते है। सत्यसे देवता पुरुषके वशमे होते हैं। सत्यसे पिशाच पकडा हुआ मनुष्य भी छूट जाता है और उसकी रक्षा देव करते है ॥८३३॥

गा०—सत्यवादी माताके समान विश्वासयोग्य, गुरुके समान पूज्य, और बन्धुके समान लोकप्रिय होता है ॥८३४॥

१ सुणि–आ० ।

'**सच्चं वुत्तूण**' सत्यवचनमुक्त्वा । कीदृग्भूतं ? '**अवगददोसं**' दोषरहितं । क्व ? '**जणस्स मज्झयारम्मि**' जनमध्ये । '**पीदिं पावदि**' परमा प्रीतिं प्राप्नोति, परा '**जसं लभदि**' यशश्च लभते । '**जगविस्सुदं**' जगति विश्रुत ॥८३५॥

सच्चम्मि तवो सच्चम्मि संजमो तह वसे सया वि गुणा ।
सच्चं णिबंधणं हि य गुणाणमुदधीव मच्छाणं ॥८३६॥

'**सच्चम्मि संजमो**' सत्याधारौ तप संयमो, शेषाश्च गुणा. । '**सच्चं णिबंधणं गुणाणं**' गुणाना निबन्धन सत्य । '**मच्छाणं उदधीव**' मत्स्यानामुदधिरिव ॥८३६॥

सच्चेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि ।
अदिसंजदो य मोसेण होदि पुरिसेसु तणलहुओ ॥८३७॥

'**सच्चेण जगे होदि**' सत्येन जगति भवति । '**पमाणं**' प्रमाणं । यद्यप्यन्यो गुणो नास्ति । अतीव सयतोऽपि सता मध्ये तृणवल्लघुर्भवति मृषावचनेनेति गाथार्थ ॥८३७॥

होदु सिहंडी व जडी मुंडी वा णग्गओ व [1]चीरधरो ।
जदि भणदि अलियवयणं विलंबणा तस्स सा सव्वा ॥८३८॥

'**होदु सिहंडो**' भवतु नाम शिखावान् । '**जडी मुंडी वा**' नग्नश्चीवरधरो वा यद्यलीक वदति तस्य सा सर्वा विलम्बना ॥८३८॥

जह परमण्णस्स विसं विणासयं जह व जोव्वणस्स जरा ।
तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसच्चं ॥८३९॥

'**जह परमण्णस्स**' यथा परमान्नस्य विनाशक विष । यथा वा जरा यौवनस्य, तथा जानीहि अहिंसादिगुणाना विनाशक असत्य ॥८३९॥

गा०—जनसमुदायके बीच में दोषरहित सत्यवचन बोलनेसे मनुष्य जनताका प्रेम तथा जगत्में प्रसिद्ध उत्कृष्ट यश पाता है ॥८३५॥

गा०—तप, सयम तथा अन्यगुण सत्यके आधार हैं। जैसे समुद्र मगरमच्छोका कारण है उसमें मगरमच्छ पैदा होते और रहते हैं वैसे ही सत्य गुणोका कारण है ॥८३६॥

गा०—यदि मनुष्यमे अन्य गुण न हों तब भी वह एक सत्यके कारण जगमें प्रमाण माना जाता है। अति सयमी भी मनुष्य यदि असत्य बोलता है तो सज्जनोके मध्यमे तृणसे तुच्छ होता है ॥८३७॥

गा०—भले ही मनुष्य शिखाधारी हो, जटाधारी हो, सिर मुडाए हो, नगा रहता हो या चीवर धारण किये हो, यदि वह झूठ बोलता है तो यह सब उसकी विडम्बनामात्र है ॥८३८॥

गा०—जैसे विष उत्तमोत्तम भोजनका विनाशक है, बुढ़ापा यौवनका विनाशक है वैसे ही असत्य वचन अहिंसा आदि गुणोंका विनाशक है ॥८३९॥

---

१ चीवर-मु० ।

मादाए वि वेसो पुरिसो अलिएण होइ एक्केण ।
किं पुण अवसेसाणं ण होइ अलिएण सत्तु व्व ॥८४०॥

'**मादाए वि य**' मातुरप्यविश्वास्यो भवत्यलीकेन एकेन पुरुष । शेषाणा पुनर्न किं भवेदलीकेन शत्रु-रिव ॥८४०॥

अलियं स किं पि भणियं घादं कुणदि बहुगाण सच्चाणं ।
अदिसंकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो ॥८४१॥

'**अलियं स किंपि भणियं**' सकृदप्युक्त अलीकं सत्यानि बहूनि नाशयति । अलीकवादी पुरुष. स्वयमपि शङ्कितो भवति नितरां ॥८४१॥

अप्पच्चओ अकित्ती संकिलेसारदिकलहवेरभयसोगा ।
वधबंधभेय[1] धणणासा वि य मोसम्मि सण्णिहिदा ॥८४२॥

'**अप्पच्चओ**' अप्रत्यय. । अकीर्ति , संक्लेश., अरति , कलहो, वैर, भय, शोक , वधो, बन्ध , स्वजन-भेद , धननाशश्चेत्यमी दोषा सन्निहिता मृषावचने ॥८४२॥

पापस्सासवदारं असच्चवयणं भणंति हु जिणिंदा ।
हिदएण अपावो वि हु मोसेण गदो वसू णिरयं ॥८४३॥

'**पावस्सासवदारं**' पापस्यागमद्वारमिति वदन्त्यसत्य जिनेन्द्रा । हृदये अपापोऽपि मृषामात्रेण वसुर्गतो नरकं इत्याख्यानकं वाच्यं ॥८४३॥

परलोगम्मि वि दोसा ते चेव हवंति अलियवादिस्स ।
मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स ॥८४४॥

गा०—एक असत्य वचनसे मनुष्य माताका भी विश्वास-भाजन नहीं रहता । तब असत्य बोलनेसे शेषजनोको वह शत्रुके समान क्यों नहीं प्रतीत होगा ॥८४०॥

गा०—एक बार भी बोला गया झूठ बहुत बार बोले गये सत्यवचनोका घात कर देता है । लोग उसके सत्यकथनको भी झूठ मानने लगते है । झूठ बोलनेवाला मनुष्य स्वयं भी अति-भीत रहता है ॥८४१॥

गा०—असत्य भाषणमें अविश्वास, अपयश, सक्लेश, अरति, कलह, वैर, भय, शोक, वध, बन्ध, कुटुम्बमें फूट, धनका नाश इत्यादि दोष पाये जाते है ॥८४२॥

गा०—जिनेन्द्रदेव असत्यको पापास्रवका द्वार कहते हैं, उससे पापका आगमन होता है । राजा वसु हृदयसे पापी नहीं था फिर भी झूठ बोलनेसे नरकमें गया । इसकी कथा कथाकोशमें है ॥८४३॥

---

१. यणणासा–आ० ।—भेदणाणा सव्वे मो–मु० ।

'परलोगम्मि वि दोसा' परभवेऽपि दोषास्त एव अप्रत्ययादय एव भवन्त्यलीकवादिनः। यत्नेनापि परिहरत । किं ? **'मोसादिम्मे दोसे'** मृषादिकान्दोषान् । मृषा आदिर्येषां स्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां ते मृषादयः । अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरत्र ग्राह्यः । स्तेयादिदोषान्परिहरतोऽपीत्यर्थः ॥८४४॥

भवतु नाम अप्रत्ययत्वादिका मृषावादस्य दोषा कर्कशवचनादिना परभवे इह वाथ के दोषा इत्यत्राचष्टे—

इहलोइय परलोइय दोसा जे होंति अलियवयणस्स ।
कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव णादव्वा ॥८४५॥

'इहलोगिग परलोगिग दोसा' अस्मिञ्जन्मनि परत्र च ये दोषा भवन्ति अलीकवादिन । कर्कशवचनादीनामपि त एव दोषा इति ज्ञातव्याः ॥८४५॥

उपसंहारगाथा—

एदेसिं दोसाणं मुक्को होदि अलिआदिवचिदोसे ।
परिहरमाणो साधू तव्विवरीदे य लभदि गुणे ॥८४६॥

एतेभ्यो दोषेभ्यो मुक्तो भवति व्यलीकादिवचनदोषान्य. परिहरति साधु लभते [1]नापि ? दोषप्रतिपक्षभूतान्प्रत्ययितत्वादिगुणान् । प्रत्यय., कीर्ति., असक्लेश, रति, कलहाभाव., निर्भयतादिकश्च । **'सच्चं'** ॥८४६॥

व्याख्याय सत्यव्रतं तृतीयव्रत निगदति—

मा कुणसु तुमं बुद्धिं बहुमप्पं वा परादियं घेत्तुं ।
दंतंतरसोधणयं कलिंदमेत्तं पि अविदिण्णं ॥८४७॥

गा०—असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप दोषोका प्रयत्नपूर्वक त्याग करनेवाले भी असत्यवादीके परलोकमें भी अविश्वास आदि दोष होते हैं। अर्थात् असत्यवादी मरकर भी इन दोषोंका भागी होता है ॥८४४॥

असत्य भाषणसे अविश्वास आदि दोष भले ही होते हो, किन्तु कर्कश आदि वचन बोलनेसे इस भव या परभवमें क्या हानि है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—इस लोक और परलोकमें असत्यवादी जिन दोषोका पात्र होता है, कर्कश आदि वचन बोलनेवाला भी उन्हीं दोषोंका पात्र होता है ॥८४५॥

गा०—जो साधु असत्य भाषण आदि दोषोंको दूर कर देता है वह ऊपर कहे दोषोंसे मुक्त होता है—उसमें वे दोष नही होते। तथा उन दोषोंसे विपरीत विश्वास, यश, असंक्लेश, रति कलहका अभाव, निर्भयता आदि गुणोंका भाजन होता है ॥८४६॥

सत्य महाव्रतका कथन समाप्त हुआ ।

सत्य व्रतका कथन करके तीसरे व्रतका कथन करते हैं—

---

1. ते तद्विपरोते नेति नापि—आ० मु० ।

'मा कुणसु तुम बुद्धि' मा कृथास्त्व बुद्धि । कीदृशी ? **'पराधियं घेतु'** परकीयं वस्तु ग्रहीतु । परकीय-वस्तु विशेषणमाचष्टे—**'बहुमप्पं वा'** महदल्प वा । अल्पद्रव्यपरिमाणमभिदधाति—**'दंततरसोधणग कलिंच-मेत्तंपि'** दन्तान्तरशुद्धिकारि तृणशलाकामात्रमपि । **'अविदिण्णं'** अदत्त ॥८४७॥

जह मक्कडओ धादो वि फलं दट्ठूण लोहिदं तस्स ।
दूरत्थस्स वि डेवदि जइ वि घित्तूण छंडेदि ॥८४८॥

'जह मक्कडगो' यथा मर्कटो वानर । **'धावो वि'** तृप्तोऽपि । **'बट्ठूण फलं'** दृष्ट्वापि फल । **'लोहिदं'** रक्तं । **'तस्स दूरत्थस्स वि डेवदि'** दूरस्थमपि फलमुद्दिश्योल्लंघनं करोति । **'जदि वि घित्तूण छंडेदि'** यद्यपि गृहीत्वा त्यजति ॥८४८॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं ।
सव्वजगेण वि जीवो लोभाइट्ठो न तिप्पेदि ॥८४९॥

'एवं जं जं पस्सदि' एवं यद्यत्पश्यति द्रव्य । **'तं तं पाविदुमहिलसदि'** तत्तद्द्रव्य प्राप्तुमभिलषति । **'सव्वजगेण वि'** सर्वेणापि जगता । **'लोभाइट्ठो जीवो ण तिप्पेदि'** जीवो लोभाविष्टो न तृप्यति ॥८४९॥

जह मारुओ पवड्ढइ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा ।
जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥८५०॥

'जह मारुओ पवड्ढइ' यथा मारुत प्रवर्द्धते । **'खणेण'** क्षणेन । **'वित्थरदि'** विस्तीर्णो भवति । **'अब्भयं च जहा'** यथा चाभ्र । **'जीवस्स'** जीवस्य । **'तह'** तथा । लोभो मन्दोऽपि क्षणेनैव विस्तीर्णता-मुपयाति ॥८५०॥

बाह्यद्रव्यसन्निधिमपेक्ष्य लोभकर्मण उदयो जायते तस्य लोभश्च वर्द्धते तदवृद्धौ चाय दोष इति व्याचष्टे—

लोभे पवड्ढिदे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि ।
तो अप्पणो वि मरणं अगणिंतो साहसं कुणइ ॥८५१॥

गा०—हे क्षपक ! तुम पराई बहुत या अल्प वस्तुको भी ग्रहण करनेकी भावना मत करो । दाँतका मल शोधनेके लिए एक तिनका भी विना दिया मत ग्रहण करो ॥८४७॥

गा०—जैसे बन्दर पेट भरा होनेपर भी लाल पके फलको देखकर दूरसे ही फल ग्रहण करनेके लिए कूदता है, यद्यपि वह उसे फिर छोड देता है ॥८४८॥

गा०—वैसे ही मनुष्य जो जो वस्तु देखता है उस उसको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है । लोभसे घिरा मनुष्य समस्त जगत्को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता ॥८४९॥

गा०—जैसे मन्द वायु बढकर क्षणभरमें फैल जाती है या मेघ बढते-बढते आकाशमें फैल जाते हैं । वैसे ही जीवका थोडा-सा भी लोभ क्षणभरमें बढ जाता है ॥८५०॥

आगे कहते हैं कि बाह्य द्रव्यका सान्निध्य पाकर लोभकर्मका उदय होता है उससे मनुष्य-

'**लोभे पवड्ढिदे पुण**' लोभे प्रकर्षेण वृद्धिमुपगते पुन । '**कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि**' कार्यं अकार्यं च न मनसा निरूपयति । इद कर्तुं युक्त न वेति । '**तो**' तत. युक्तायुक्तविचारणाभावात् । '**अप्पणो मरणमवि अगणित्ता**' आत्मनो मृत्युमप्यगणय्य । '**चोरियं कुणदि**' चौर्यं करोति । बन्दीग्रहणतालोद्घाटनसंप्रवेशादिकं च भयं मृत्यो. कष्टतरमवस्थितमपि न गणयति नरश्चौर्ये प्रवृत्त इति भावः ॥८५१॥

न केवलमात्मन एवोपद्रवकारि चौर्यं अपि तु परेषामपि महतीमानयति विपदमिति कथयति—

सव्वो उवहिदबुद्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सव्वो वि ।
सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हिययंमि अदिदुहिदो ॥८५२॥

'**सव्वो उवहिदबुद्धी**' सर्वो जन उपहितबुद्धि. स्थापितचित्त । क्व ? '**अत्थे**' वस्तुनि इदं भवत्विति । '**अत्थे हिदे य सव्वो वि**' सर्वोऽपि जनो अर्थे हृते । '**अतिदुहिदो**' अतीव दुःखितो भवति । किमिव ? '**सत्तिप्पहारविद्धोव हियये**' शक्त्याख्येन शस्त्रेण हृदये विद्ध इव ॥८५२॥

अत्थम्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगयचेयणो होदि ।
मरदि व हक्कारकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥८५३॥

'**अत्थम्मि हिदे**' अर्थे हृते परेणात्मीये '**पुरिसो**' पुरुषः । '**उम्मत्तो विगदचेयणो होदि**' उन्मत्तो विगतचेतनो भवति । चेतनाविशेषे ज्ञानपर्याये चेतनाशब्दो वर्तते नष्टज्ञानो भवतीति यावत् । अन्यथा चैतन्यस्य विनाशाभावात् । '**मरदि व**' म्रियेत वा अर्थे हृते । **अत्थे हक्कारकिदो** अर्थे [1]हाकार कुर्वन् । '**अत्थो जीवं खु पुरिसस्स**' पुरुषस्य जीवितमर्थ ॥८५३॥

का लोभ बढता है । लोभ बढनेपर यह दोष होता है—

गा०-टी०—लोभ बढनेपर मनुष्य 'यह करना योग्य है और यह योग्य नही है' इस प्रकार मनमे कार्य और अकार्यका विचार नही करता । युक्त अयुक्तका विचार न करनेसे अपनी मृत्युकी परवाह न करके चोरी करता है—ताले तोडकर घरोमे प्रवेश करता है, जेल जाता है । इस प्रकार चोरीमें लगा मनुष्य मृत्युका कठोर भय उपस्थित होते हुए भी उसकी अवहेलना करता है ॥८५१॥

आगे कहते हैं कि चोरी केवल चोरी करनेवालेपर ही विपत्ति नही लाती किन्तु दूसरोपर भी महती विपदा लाती है—

गा०—सभी मनुष्य धनासक्त हैं—उनका मन धनमे लगा रहता है । अतः धन चुरानेपर सभी जन हृदयमे शक्ति नामक अस्त्रसे आघात होनेकी तरह अत्यन्त दुःखी होते है ॥८५२॥

गा०-टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन हरे जानेपर मनुष्य पागल हो जाता है, उसकी चेतना नष्ट हो जाती है । यहाँ चेतना शब्द चेतनाके भेद ज्ञानपर्यायमे प्रयुक्त हुआ है अतः उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा अर्थ लेना चाहिए, क्योकि चेतनाका तो विनाश होता नही । तथा हाहाकार करके मर जाता है । ठीक ही कहा है—धन मनुष्यका प्राण है ॥८५३॥

---

१. हारव–आ० मु० ।

अडईगिरिदरिसागरजुद्धाणि अडंति अत्थलोभादो ।
पियबंधु चेवि जीवं पि णरा पयहंति धणहेदुं ॥८५४॥

'अडईगिरिदरिसागर' अटवी, दरी, गिरिं, सागरं, युद्ध प्रविशन्ति अर्थलोभात् । प्रियान्बन्धून् जीवितं च नरा जहति धननिमित्तं । सर्वेभ्यो धनं प्रियतम यतस्तदर्थिन सर्वं त्यजन्ति इति भावार्थो गाथायाः ॥८५४॥

अत्थे संतम्मि सुहं जीवदि सकलत्तपुत्तसंबंधी ।
अत्थं हरमाणेण य हिदं हवदि जीविदं तेसिं ॥८५५॥

'अत्थे संतम्मि सुहं' अर्थे सति सुखं **'जीवदि सकलत्तपुत्तसम्बन्धी'** जीवति सह कलत्रैर्भार्याभि , पुत्रै-र्बंधुभिश्च । अर्थं हरता तेषां कलत्रादीना जीवितमेव हृत भवति ॥८५५॥

चोरस्स णत्थि हियए दया य लज्जा दमो व विस्सासो ।
चोरस्स अत्थहेदुं णत्थि अकादव्वयं किं पि ॥८५६॥

'चोरस्स णत्थि हियए' चौरस्य नास्ति हृदये । दया, लज्जा, दमो, विश्वासो वा । चौरस्य नास्ति अकर्तव्यं किंचित् । अर्थार्थिन इति भावार्थ ॥८५६॥

लोगम्मि अत्थि पक्खो अवरद्धंतस्स अण्णमवराधं ।
णीयल्लया वि पक्खे ण होंति चोरिक्कसीलस्स ॥८५७॥

'लोगम्मि अत्थि पक्खो' लोकेऽस्ति पक्षोऽन्यमपराधं हिंसादिकं कुर्वतो बन्धवोऽपि न पक्षता प्रतिपद्यन्ते ये चौर्यकारिणः ॥८५७॥

अण्णं अवरज्झंतस्स दिंति णियये घरम्मि ओगासं ।
माया वि य ओगासं ण देइ चोरिक्कसीलस्स ॥८५८॥

'अण्णं अवरज्झंतस्स' अन्य अपराध कुर्वत ददति स्वावासे अवकाश । मातान्यवकाश न ददाति चुराया प्रवृत्तस्य ॥८५८॥

गा०—धनके लोभसे मनुष्य जंगल, पर्वत, गुफा और समुद्रमे भटकता है, युद्ध करता है। धनके लिए मनुष्य प्रियजनोका और अपने जीवनका भी त्याग करता है। साराश यह है कि मनुष्यको धन सबसे प्रिय है उसके लिए वह सबको छोड़ देता है ॥८५४॥

गा०—धनके होनेपर मनुष्य स्त्री पुत्र और बन्धु बान्धवोके साथ सुखपूर्वक जीवन यापन करता है। धनके हरे जानेपर उन स्त्री आदिका जीवन ही हर लिया जाता है ॥८५५॥

गा०—चोरके हृदयमे दया, लज्जा, साहस और विश्वास नही होते। चोर धनके लिए कुछ भी कर सकता है उसके लिए न करने योग्य कुछ भी नही है ॥८५६॥

गा०—हिंसा आदि अन्य अपराध करनेवालेके पक्षमे तो लोग रहते है किन्तु चोरी करने-वालेके पक्षमें बन्धु बान्धव भी नही होते ॥८५७॥

गा०—अन्य अपराध करनेवालेको लोग अपने घरमें आश्रय देते हैं। किन्तु चोरी करने-वालेको माता भी आश्रय नही देती ॥८५८॥

परदव्वहरणमेदं आसवदारं खु बेंति पावस्स ।
सोगरियवाहपरदारिएहिं चोरो हु पापदरो ॥८५९॥

'परदव्वहरणमेदं' परद्रव्यापहरणमेतत् पापस्यास्रवद्वारं ब्रुवन्ति । शौकरिकात्, व्याधात्, परदाररतिप्रियाच्च चौरः पापीयान् ॥८५९॥

सयणं मित्तं आसयमल्लीणं पि य महल्लए दोसे ।
पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खम्मि य महल्ले ॥८६०॥

'सयणं मित्तं' बन्धून्मित्राणि आश्रयभूत समीपस्थ च महति दोषे बन्धवधधनापहरणादिके पातयति चौर्यं । महत्ययशसि दुःखे च निपातयति ॥८६०॥

बंधवधजादणाओ छायाघादपरिभवभयं सोयं ।
पावदि चोरो सयमवि मरणं सव्वस्सहरणं वा ॥८६१॥

'बंधवधजादणाओ' बन्धं, वधं, यातनाश्च, छायाघातं, परिभवं, भयं, शोकं प्राप्नोति । स्वयमपि चौरो मरण सर्वस्वहरण वा ॥८६१॥

णिच्चं दिया य रत्तिं च संकमाणो ण णिद्दमुवलमदि ।
तेणं तओ समंता उव्विग्गमओ य पिच्छंतो ॥८६२॥

'णिच्चं दिया य रत्तिं च संकमाणो' नित्यं दिवारात्रिं शङ्कमानः न निद्रामुपलभते चौरः । समन्तात्प्रेक्षते उद्विग्नहरिण इव ॥८६२॥

उंदुरकदंपि सद्दं सुच्चा परिवेवमाणसव्वंगो ।
सहसा समुच्छिदभओ उव्विग्गो धावदि खलंतो ॥८६३॥

'उंदुरकदंपि सद्दं' मूषकचलनकृतमपि शब्दं श्रुत्वा प्रस्फुरत्सर्वगात्रः सहसोत्थभयोद्विग्नो धावति स्खलन्पदे पदे ॥८६३॥

गा०—यह परद्रव्यका हरण पापके आनेका द्वार कहा जाता है। मृग पशु पक्षियोका घात करनेवाले और परस्त्रीगमनके प्रेमीजनोंसे चोर अधिक पापी होता है ॥८५९॥

गा०—चोरीका व्यसन बन्धु, मित्र, अपने आश्रित, और निकटमे रहनेवालोको भी वध, बन्ध, धनका हरना आदि दोषोंमे डाल देता है वे भी ऐसे बुरे काम करने लगते हैं। तथा वे महान् अपयश और दुखके भागी होते हैं ॥८६०॥

गा०—चोर स्वयं भी बन्ध, वध, कष्ट, तिरस्कार, भय, शोक, मरण और सर्वस्व हरणका भागी होता है ॥८६१॥

गा०—चोर दिन रात पकड़े जानेकी आशंकासे सोता नही है और भयभीत हरिनकी तरह चारों ओर देखा करता है ॥८६२॥

गा०—चूहेके द्वारा भी किये शब्दको सुनकर उसका सर्वांग थरथर काँपने लगता है, एकदम भयसे भीत हो, घबराकर दौड़ता है और पद-पदपर गिरता उठता है ॥८६३॥

घत्तिं पि संजमंतो घेत्तूण किलिंचमेत्तमविदिण्णं ।
होदि हु तणं व लहुओ अप्पच्चइओ य चोरो व्व ॥८६४॥

'**घत्तिं पि संजमंतो**' नितरामपि सयमं कुर्वन् । अदत्तं तृणमात्रमपि गृहीत्वा तृणवल्लघुर्भवति, अप्रत्ययितश्चौर इव ॥८६४॥

परलोगम्मि य चोरो करेदि णिरयम्मि अप्पणो वसदिं ।
तिव्वाओ वेदणाओ अणुभवहिदि तत्थ सुचिरंपि ॥८६५॥

'**परलोगम्मि य चोरो करेदि**' परलोके चौर करोत्यात्मनो नरके वसतिं । कीदृग्भूतो यत्र नरकेषु सुचिरं दीर्घकाल पच्यमान तीव्रवेदना अनुभवति ॥८६५॥

तिरियगदीए वि तहा चोरो पाउणदि तिव्वदुक्खाणि ।
पाएण णीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरंपि ॥८६६॥

'**तिरियगदीए वि तहा**' तिर्यग्गतावपि चौर प्राप्नोति तीव्राणि दु खानि । प्रायेण नीचयोनिष्वेव ससरति सुचिरमपि ॥८६६॥

माणुसभवे वि अत्था हिदा व अहिदा व तस्स णस्संति ।
ण य से धणमुवचीयदि सयं च ओलट्ठदि घणादो ॥८६७॥

'**माणुसभवे वि**' मनुष्यभवेऽपि तस्य अर्था नश्यन्ति हृता वा अहृता वा । न चोपयाति संचय धन, तस्य उपचितेऽपि धने स्वय तस्मादपयाति धनात् ॥८६७॥

परदव्वहरणबुद्धी सिरिभूदी णयरमज्झयारम्मि ।
होदूण हदो पहदो पत्तो सो दीहसंसारं ॥ ८६८॥

'**परदव्वहरणबुद्धी**' परद्रव्यहरणबुद्धि । '**सिरिभूदी**' श्रीभूतिर्नगरमध्ये ताडित प्रहतश्च भूत्वा दीर्घसंसार प्राप्त ॥८६८॥

गा०—महान् सयमका धारी साधु भी विना दिया तृणमात्र भी ग्रहण करके अविश्वसनीय चोरकी तरह तिनकेके समान लघु हो जाता है॥८६४॥

गा०—चोर मरकर भी नरकमे वास करता है और वहाँ चिरकालतक तीव्र कष्ट भोगता है ॥८६५॥

गा०—तथा चोर तिर्यञ्चगतिमें भी तीव्र दुःख पाता है। वह प्राय चिरकालतक नीच योनियोंमें ही जन्ममरण करता है ॥८६६॥

गा०—मनुष्यभवमे भी उसका धन किसीके द्वारा हरा जाकर अथवा विना हरे नष्ट हो जाता है। वह धनका संचय नही कर पाता। धनका संचय हुआ भी तो वह स्वय उस धनसे वंचित हो जाता है ॥८६७॥

गा०—परद्रव्यको हरनेमें आसक्त श्रीभूतिनामक ब्राह्मण नगरके मध्यमें मारा गया और मरकर दीर्घससारी हुआ इसकी कथा कथाकोशमे है ॥८६८॥

अदत्तादानदोषानुपदर्श्य दत्तं योग्यं गृहाणेति व्याचष्टे—

एदे सव्वे दोसा ण होंति परदव्वहरणविरदस्स ।
तव्विवरीदा य गुणा होंति सदा दत्तभोइस्स ॥८६९॥

देविंदरायगहवइदेवदसाहम्मि उग्गहं तम्हा ।
उग्गहविहिणा दिण्णं गेण्हसु सामण्णसाहणयं ॥८७०॥

'**देविंदरायगहवइ**' देवेन्द्राणा, राज्ञा, गृहपतीनां, राष्ट्रकूटानां, देवतानां, सधर्मणां च परिग्रहं । '**उग्गह विहिणा**' अवग्रहविधिना । '**दिण्णं**' दत्त । '**गिण्हसु**' गृहाण । '**सामण्णसाहणयं**' श्रामण्यसाधनं ज्ञानसंयमस्य वा साधनं । अदत्तं ॥८७०॥

चतुर्थं व्रतं निरूपयति—

रक्खाहि बंभचेरं अब्बंभं दसविधं तु वज्जित्ता ।
णिच्चं पि अप्पमत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥८७१॥

'**रक्खाहि बंभचेरं**' पालय ब्रह्मचर्यं । अब्रह्म दशप्रकारमपि वर्जयित्वा नित्यमप्रमत्त पञ्चविधे स्त्रीवैराग्ये ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यं पालयेत्युक्त तदेव न ज्ञायते इत्यारेकाया तद्व्याचष्टे—

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ।
तं जाण बंभचरं विमुक्कपरदेहतत्तिस्स ॥८७२॥

'**जीवो बंभा**' ब्रह्मशब्देन जीवो भण्यते । ज्ञानदर्शनादिरूपेण वर्द्धते इति वा । यावल्लोकाकाश वर्धते लोकपूरणाख्याया क्रियाया इति वा । '**जीवम्मि चेव**' ब्रह्मण्येव चर्या । जीवस्वरूपमनन्तपर्यायात्मकमेव निरूप-

---

अदत्तादानके दोष बतलाकर योग्य दत्तवस्तुको ग्रहण करनेकी प्रेरणा करते हैं—

गा०—जो परद्रव्य हरनेका त्यागी होता है उसे ये सब दोष नही होते । तथा जो दत्त-वस्तुका ही उपभोग करता है उसमें उक्त दोषोंसे विपरीत गुण सदा होते है ॥८६९॥

गा०—हे क्षपक ! देवेन्द्र, राजा, गृहपति, देवता और साधर्मी साधुओंके द्वारा विधिपूर्वक दी गई परिग्रहको, जो ज्ञान और सयमकी साधक हो, ग्रहण कर ॥८७०॥

अदत्तविरत व्रतका कथन समाप्त हुआ ।

चतुर्थ व्रतका कथन करते हैं—

गा०—हे क्षपक ! दस प्रकारके अब्रह्मको त्याग कर ब्रह्मचर्यकी रक्षा कर । और पांच प्रकार के स्त्री वैराग्यमे सदा सावधान रह ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेको तो कहा । किन्तु ब्रह्मचर्य क्या है यही नहीं जानते । इसके लिए कहते हैं—

गा०-टी०—ब्रह्म शब्दसे जीव कहा जाता है । अथवा 'बृह' धातुसे ब्रह्म शब्द बना है उसका अर्थ होता है बढ़ना । ज्ञान दर्शन आदि रूपसे बढनेको ब्रह्म कहते हैं । अथवा जब सयोग केवली जिन लोकपूरण समुद्घात करते है तो उनके आत्म प्रदेश लोकाकाश प्रमाण बढकर फैल

यतो वृत्तिर्या 'तं' तां 'जाण' जानीहि। 'बंभचरियं' ब्रह्मचर्यं। 'विमुक्कपरदेहतत्तिस्स' विमुक्तपरदेहव्यापारस्य ॥८७२॥

मनसा वचसा शरीरेण परशरीरगोचरव्यापारातिशय त्यक्तवत दशविधाब्रह्मत्यागात् दशविधं ब्रह्मचर्यं भवतीति वक्तुकामो ब्रह्मभेदमाचष्टे—

इत्थिविसयाभिलासो वत्थिविमोक्खो य पणिदरससेवा।
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव ॥८७३॥

'**इत्थिविसयाभिलासो**' स्त्रीसम्बन्धिनो ये इन्द्रियाणा विषयास्तासा रूप, तदीयोऽधररस, तासा वक्त्रप्रभवो गन्धः तासा कल गीत, हासो, मधुर वच, मृदुस्पर्शश्च तत्र अभिलाष। आत्मस्वरूपपरिज्ञानपरिणतिलक्षणं ब्रह्मचर्यं 'वहतीति आत्मा ब्रह्म ततोऽन्यो वामलोचनाशरीरगतो रूपादिपर्याय सोऽत्र भण्यते अब्रह्मशब्देन तत्र चर्या नामाभिलाषपरिणति। '**वत्थिविमोक्खो**' मेहनविकारानिवारण[2]। '**पणिदरससेवा**' वृष्याहारसेवना। '**संसत्तदव्वसेवा**' स्त्रीभि ससक्ताना सम्बद्धाना शय्यादीना सेवा तदङ्गस्पर्शवदेव कामिना तनुप्राप्तद्रव्यस्पर्शोऽपि प्रीतिं जनयति। '**तदिंदियालोयणं चेव**' तासा वराङ्गावलोकन च ॥८७३॥

सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासो।
इट्ठविसयसेवा वि य अब्बंभ दसविहं एदं ॥८७४॥

'**सक्कारो**' सत्कार सन्मानना। स च तनुरागप्रवर्तित। '**संकारो**' सस्कार तासा वस्त्रमाल्यादिभिः।

जाते हैं। इस प्रकारसे जो बढता है वह ब्रह्म जीव है उस ब्रह्ममें ही चर्या ब्रह्मचर्य है। पराये शरीर सम्बन्धी व्यापारसे अर्थात् स्त्री रमणादिसे विरत मुनि अनन्त पर्यायात्मक जीव स्वरूप का ही अवलोकन करते हुए जो उसीमें रमण करता है वह ब्रह्मचर्य है ॥८७२॥

मन वचन कायसे पर शरीर सम्बन्धी व्यापार विशेषको जिसने त्याग दिया है उसके दस प्रकारके अब्रह्मका त्याग करनेसे दस प्रकारका ब्रह्मचर्य होता है यह कहनेकी इच्छासे आचार्य अब्रह्मके भेद कहते हैं—

गा०-टी०—स्त्री सम्बन्धी जो इन्द्रियोंके विषय है—उनका रूप, उनके अधरका रस, उनके मुखकी सुगन्ध, उनका मनोहर गायन, हास, मधुर वचन और कोमल स्पर्श, उनकी अभिलाषा करना अब्रह्मका प्रथम भेद है। आत्माके स्वरूपको जानकर उसीमे लीन होना ब्रह्मचर्य है। उसको वहन करनेसे आत्मा ब्रह्म है। उससे अन्य स्त्रीके शरीर सम्बन्धी जो रूप रसादि हैं उन्हे यहाँ अब्रह्म शब्दसे कहा है। उसमे चर्या अर्थात् अभिलाषा रूप परिणति अब्रह्मचर्य है। लिंगमे हुए विकारको दूर न करना दूसरा अब्रह्मका भेद है। इन्द्रियमद कारक आहार करना तीसरा भेद है। स्त्रियोसे सम्बद्ध शय्या आदिका सेवन चतुर्थ भेद है। स्त्रियोंके शरीरके स्पर्शकी ही तरह उनके शरीरसे सम्बद्ध वस्तुओका स्पर्श भी कामी जनोको रागकारक होता है। स्त्रियोंके उत्तम अंगोंका अवलोकन पाँचवाँ भेद है ॥८७३॥

गा०—स्त्रियोंका सम्मान करना छठा भेद है। वस्त्र माला आदिसे उन्हें आभूषित करना

---

१. विहरति-अ०। २ कारनिवा-अ० आ०।

'**अदीदसुमरणं**' अतीतकालवृत्तिरतिक्रीडास्मरणं । '**अणागदभिलासो**' भविष्यति काले एवं ताभि क्रीडा करिष्यामि इति रत्यभिलाष । '**इट्ठविसयसेवा वि य**' इष्टविषयसेवापि च । '**अब्बंभं दसविधं एवं**' दशप्रकारमब्रह्मैतत् । अक्षीणरागस्य परद्रव्योपयोगाद्रागद्वेषौ भवत. । तेन संवृत्त्योपयोगं, परद्रव्यालम्बन[1] श्रद्धानमिति वीतरागतादिषु चरणं ब्रह्मचर्यं ततोऽन्यदिदं दशविधमब्रह्मेति निरूपितं ॥८७४॥

एवं विसग्गिभूदं अब्बंभं दसविहंपि णादव्वं ।
आवादे मधुरमिव होदि विवागे य कडुयदरं ॥८७५॥

'**एवं विसग्गिभूदं**' विषाग्निना सदृश एतदब्रह्म दशप्रकारमिति ज्ञातव्यं । आपाते मधुरमिव भवति विपाके तु कटुकतमं ॥८७५॥

स्त्रीविषयो रागोऽब्रह्म स च तत्प्रतिपक्षभूतवैराग्येन नाशयितुं शक्यते इति मत्वा वैराग्योपायकथनायाचष्टे—

कामकदा इत्थिकदा दोसा असुचित्तवुड्ढसेवा य ।
संसग्गादोसा वि य करंति इत्थीसु वेरग्गं ॥८७६॥

'**कामकदा इत्थिकदा**' कामकृता स्त्रीकृताश्च दोषा । अशुचित्वं, वृद्धसेवा, संसर्गदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीषु वैराग्य ॥८७६॥

कामकृतदोषनिरूपणा प्रबन्धेन उत्तरेण क्रियते—

जावइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होंति ।
सव्वे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सस्स ॥८७७॥

'**जावदिया किर दोसा**' इत्यादिना यावन्त किल जन्मद्वये, '**दुहावहा**' दु खावहा भवन्ति दोषा हिंसादयस्तान्सर्वानपि आवहति मैथुनसज्ञा मनुष्यस्य ॥८७७॥

सातवाँ भेद है । अतीत कालमें की गई रति क्रीडाका स्मरण करना आठवाँ भेद है । भविष्य कालमे मैं उनके साथ इस प्रकार क्रीडा करूँगा इस प्रकार अनागत रतिमे अभिलाषा नौवाँ भेद है । इष्ट विषयोंका सेवन दसवाँ भेद है । इस प्रकार अब्रह्मके ये दस भेद है ॥८७४॥

गा०—इस प्रकार विष और आगके समान अब्रह्मके दस भेद जानना । यह प्रारम्भमे मधुर प्रतीत होता है किन्तु परिणाममें अत्यन्त कटु होता है ॥८७५॥

स्त्री विषयक राग अब्रह्म है । वह अपने विरोधी वैराग्यसे ही नष्ट किया जा सकता है । ऐसा मानकर वैराग्यके उपायोंका कथन करते हैं—

गा०—काम विकारसे उत्पन्न हुए दोष, स्त्रियोके द्वारा किये गये दोष, शरीरकी अशुचिता, वृद्ध जनोंकी सेवा, स्त्रीके ससर्गसे उत्पन्न हुए दोष, इनके चिन्तनसे स्त्रियोमे वैराग्य उत्पन्न होता है ॥८७६॥

आगे कामजन्य दोष कहते हैं—

गा०—इस लोक और परलोकमे दु खदायी जितने भी दोष है मनुष्यकी मैथुन सज्ञामे वे

---

१. नं ज्ञान श्रद्धा–आ० मु० ।

सोयदि विलवदि परितप्पदी य कामादुरो विसीयदि य ।
रत्तिंदिया य णिद्दं ण लहदि पज्झादि विमणो य ।।८७८।।

'**सोयदि विलवदि**' शोचते, विलपति । परितप्यते । '**कामादुरो विसीयदि य**' कामातुरो विषीदति च । नक्तं दिनं निद्रा न लभते । **पज्झादि** विमनस्को भवति ।।८७८।।

सयणे जणे य सयणासणे य गामे घरे व रण्णे वा ।
कामपिसायग्गहिदो ण रमदि य तह भोयणादीसु ।।८७९।।

'**सयणे जणे य**' स्वजने परजने, शयने, आसने, ग्रामे, गृहे, अरण्ये, भोजनादिक्रियासु च न रमते कामपिशाचगृहीत. ।।८७९।।

कामादुरस्स गच्छदि खणो वि संवच्छरो व पुरिसस्स ।
सीदंति य अंगाइं होदि अ उक्कंठिओ पुरिसो ।।८८०।।

'**कामादुरस्स गच्छदि खणो वि**' कामव्याधितस्य गच्छति क्षणोऽपि सवत्सर इव । अङ्गानि च सीदन्ति । भवत्युत्कण्ठितश्च पुरुष ।।८८०।।

पाणिदलधरिदगंडो बहुसो चिंतेदि किं पि दीणमुहो ।
सीदे वि णिवाइज्जइ वेवदि य अकारणे अंगं ।।८८१।।

'**पाणिदलधरिदगंडो**' पाणितलधृतगड , '**बहुसो चिंतेदि**' बहुशश्चिता करोति । किमपि दीनमुख । शीतेऽपि स्विद्यते । वेपते च अङ्ग कारणमन्यदन्तरेण ।।८८१।।

कामुम्मत्तो संतो अंतो डज्झदि य कामचिंताए ।
पीदो व कलकलो मो रदग्गिजाले जलंतम्मि ।।८८२।।

'**कामुम्मत्तो**' कामोन्मत्त । कामचिन्तया चिर दह्यते । पीतताम्रद्रव इव । अरत्यग्नेर्ज्वालासु ज्वलन्तीषु ।।८८२।।

सब दोष वर्तमान हैं ।।८७७।।

गा०—काममे पीडित मनुष्य शोक करता है, विलाप करता है, परिताप करता है, विषाद करता है, रात दिन नही सोता । इष्ट स्त्री आदिका स्मरण करता है और अन्यमनस्क होकर धर्म कर्म भी भूल जाता है ।।८७८।।

गा०—कामरूपी पिशाचके द्वारा पकडे गये मनुष्यका मन स्वजनमें, अन्य मनुष्योंमे, शयनमे, आसनमे, ग्राममें, घरमे, वनमे और भोजन आदिमे नही रमता ।।८७९।।

गा०—कामसे पीडित मनुष्यका एक क्षण भी एक वर्षकी तरह बीतता है। उसके सब अग वेदनाकारक होते हे । और वह उत्कण्ठित होता है उसका मन उसीमे लगा रहता है खानपानमे नहीं लगता । वह उसे रुचता नही ।।८८०।।

गा०—वह अपनी हथेलीपर गाल रखकर दीनमुखसे बहुत-सी व्यर्थ चिन्ता किया करता है । शीतकालमे भी पसीनेसे भीग जाता है । विना कारण ही उसके अग काँपते है ।।८८१।।

कामादुरो णरो पुण कामिज्जंते जणे हु अलहंतो ।
घत्तदि मरिदुं बहुधा मरुप्पवादादिकरणेहिं ॥८८३॥

'कामादुरो' कामातुरो नरः । स्वाभिलषिते जने अलभ्यमाने चेष्टते बहुधा मर्तुं । पर्वतोदधिनिपातेन तरुशाखावलम्बनेन, अग्निप्रवेशादिना वा ॥८८३॥

संकप्पंडयजादेण रागदोसचलजमलजीहेण ।
विसयबिलवासिणा रदिमुहेण चिंतादिरोसेण ॥८८४॥

'संकप्पंडयजादेण' सकल्पाण्डप्रसूतेन । रागद्वेषचलयमलजिह्वेन । विषयबिलवासिना रतिमुखेन चिन्तातिरोषेण ॥८८४॥

कामभुजगेण दट्ठा लज्जाणिम्मोगदप्पदाढेण ।
णासंति णरा अवसा अणेयदुक्खावहविसेण ॥८८५॥

'कामभुजगेण' कामसर्पेण । लज्जात्वक्निर्मोचनकारिसदर्पदंष्ट्रेण दष्टा अनेकदु खावहविषेणावशा नरा नश्यन्ति ॥८८५॥

आसीविसेण अवरुद्धस्स वि वेगा हवंति सत्तेव ।
दस होंति पुणो वेगा कामभुअंगावरुद्धस्स ॥८८६॥

'आसीविसेण' आशीविषेण सर्पाग्रणिना दष्टस्यापि सप्तैव वेगा भवन्ति । कामभुजङ्गेन दष्टस्य दशवेगा भवन्ति ॥८८६॥

तान्दशापि वेगान्क्रमेण दर्शयति—

गा०—कामसे उन्मत्त पुरुष अन्तरगमे कामकी चिन्तासे जला करता है। जैसे आगसे तपा ताम्बेका द्रव पीकर मनुष्य अन्तरगमे जलता है वैसे ही वह इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर अन्तरगमे जलती हुई अरतिरूप आगकी ज्वालामें जलता है ॥८८२॥

गा०—कामसे पीड़ित मनुष्य अपनी इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर प्राय. पर्वतसे गिरकर या समुद्रमे डूबकर या वृक्षकी शाखासे लटककर अथवा आगमे कूदकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥८८३॥

गा०—कामरूप सर्प मानसिक संकल्परूप अण्डेसे उत्पन्न होता है। उसके रागद्वेषरूप दो जिह्वाएँ होती हैं जो सदा चला करती हैं। विषयरूपी बिलमें उसका निवास है। रति उसका मुख है। चिन्तारूप अतिरोष है। लज्जा उसकी काचली है उसे वह छोड़ देता है। मद उसकी दाढ़ है। अनेक प्रकारके दु ख उसका जहर हैं। ऐसे कामरूप सर्पसे डँसा हुआ मनुष्य नाशको प्राप्त होता है ॥८८४-८८५॥

गा०—सब सर्पोंमे प्रमुख आशीविष सर्प होता है। उसके द्वारा डसे मनुष्यके तो सात ही वेग होते हैं। किन्तु कामरूपी सर्पके द्वारा डसे मनुष्यके दस वेग होते हैं ॥८८६॥

उन दस वेगोको क्रमसे कहते हैं—

पढमे सोयदि वेगे दट्ठुं तं इच्छदे विदियवेगे ।
णिस्ससदि तदियवेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि ॥८८७॥

'**पढमे सोयदि वेगे**' प्रथमे वेगे शोचति । द्वितीये वेगे स त द्रष्टुमिच्छति । नि श्वसिति च तृतीये वेगे । आरोहति ज्वरश्चतुर्थे वेगे ॥८८७॥

डज्झदि पंचमवेगे अंगं छट्ठे ण रोचदे भत्तं ।
मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होइ अट्ठमए ॥८८८॥

'**डज्झदि पंचमवेगे**' पञ्चमवेगेऽङ्गं दह्यते । भक्तारुचि षष्ठे वेगे । सप्तमवेगे मूर्च्छति । उन्मत्तो भवत्यष्टमे ॥८८८॥

णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो ।
संकप्पवसेण पुणो वेगा तिव्वा व मंदा वा ॥८८९॥

नवमे नात्मानं वेत्ति । दशमे वेगे प्राणैर्विमुच्यते । मदान्धस्य सकल्पवशेन पुनस्तीव्रा मन्दा वा भवन्ति वेगा. ॥८८९॥

जेट्ठामूले जोण्हे सूरो विमले णहम्मि मज्झण्हे ।
ण डहदि तह जह पुरिसं डहदि विवड्ढंतओ कामो ॥८९०॥

'**जेट्ठामूले**' ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे विमले नभसि मध्याह्ने रवि स न दहति तथा यथा पुरुष दहति प्रवर्द्धमान. काम ॥८९०॥

सूरग्गी डहदि दिवा रत्तिं च दिया य डहइ कामग्गी ।
सूरस्स अत्थि उच्छागारो कामग्गिणो णत्थि ॥८९१॥

'**सूरग्गी डहदि दिवा**' सूर्याग्निर्दहति दिवा, नक्त दिवा दहति कामाग्नि । सूर्यस्याच्छादनकारी छत्रादिकमस्ति न कामाग्ने' ॥८९१॥

गा०—कामके प्रथम वेगमें सोचता है जिसको देखा या सुना उसके बारेमे चिन्ता करता है। दूसरे वेगमें उसे देखनेकी इच्छा करता है। तीसरे वेगमे दीर्घ निश्वास लेता है। चतुर्थ वेगमे शरीरमे ज्वर चढ जाता है ॥८८७॥

गा०—पाँचवें वेगमे अग जलने लगते हैं। छठे वेगमें भोजन नही रुचता। सातवें वेगमे मूर्छित हो जाता है। आठवें वेगमे उन्मत्त हो जाता है ॥८८८॥

गा०—नौवें वेगमे अपनेको भी नही जानता। दसवें वेगमे मर जाता है। इस प्रकार कामान्ध पुरुषके सकल्पवश तीव्र या मन्द वेग होते हैं ॥८८९॥

गा०—ज्येष्ठमासके शुक्लपक्षमें मध्याह्नकालमें आकाशके निर्मल रहते हुए सूर्य वैसा नहीं जलाता जैसा पुरुषको प्रज्वलित काम जलाता है ॥८९०॥

गा०—सूर्य अग्नि तो केवल दिनको ही जलाती है किन्तु कामाग्नि रात दिन जलाती है। सूर्यके तापसे बचनेके उपाय तो छाता आदि हैं किन्तु कामाग्निका कोई उपाय नही है ॥८९१॥

विज्झायदि सूरग्गी जलादिएहिं ण तहा दु कामग्गी ।
सूरग्गी डहइ तयं अब्भंतरबाहिरं इदरो ॥८९२॥

'विज्झायदि सूरग्गी' विध्याति सूर्यजनितस्तापो जलादिभिर्न तथा जलादिभि कामाग्निः प्रशाम्यति । सूर्यस्योष्णत्व त्वचं दहति । कामाग्निरन्तर्बहिश्च दहति ॥८९२॥

आदिकुलं संवासं धम्मं णियबंधवम्मि अगणित्ता ।
कुणदि अकज्जं पुरिसो मेहुणसण्णापसंमूढो ॥८९३॥

'आदिकुलं' मातृपितृवंश । 'संवासं' [1]सहवमत । धर्म बान्धवानपि अवगणय्य पुरुषोऽकार्यं करोति मैथुनसंज्ञामूढः ॥८९३॥

कामपिसायग्गहिदो हिदमहिदं वा ण अप्पणो मुणदि ।
होइ पिसायग्गहिदो व सदा पुरिसो अणप्पवसो ॥८९४॥

'कामपिसायग्गहिदो' कामपिशाचगृहीत हितमहित वा न वेत्ति, पिशाचेन गृहीत पुरुष इव सदा अनात्मवशो भवति ॥८९५॥

णीचो व णरो बहुगं पि कदं कुलपुत्तओ वि ण गणेदि ।
कामुम्मत्तो लज्जालुओ वि तह होदि णिल्लज्जो ॥८९५॥

'णीचो व णरो' नीच इव नर कृतमपि बहुमुपकार न गणयति । कुलपुत्रोऽपि सन्कामोन्मत्तो, लज्जावानपि पूर्वं विगतलज्जो भवति ॥८९५॥

कामी सुसंजदाण वि रूसदि चोरो व जग्गमाणाणं ।
पिच्छदि कामग्घत्थो हिदं भणंते वि सत्तू व ॥८९६॥

'कामी सुसंजदाण वि' कामी सुसयतानामपि रुष्यति । जाग्रता चोर इव कामग्रस्त , प्रेक्षते हित प्रतिपादवत शत्रुरिव ॥८९६॥

गा०—सूर्यसे उत्पन्न हुआ ताप तो जल आदिसे शान्त हो जाता है किन्तु कामाग्नि जलादिसे शान्त नही होती । सूर्यकी गर्मी तो चर्मको ही जलाती है किन्तु कामाग्नि शरीर और आत्मा दोनोको जलाती है ॥८९२॥

गा०—मैथुन सज्ञासे मूढ हुआ मनुष्य मातृवंश, पितृवश, साथमें रहनेवाले मित्रादि, धर्म, और बन्धु बान्धवोकी भी परवाह न करके अकार्य करता है ॥८९३॥

गा०—कामरूपी पिशाचके द्वारा पकडा गया मनुष्य अपने हित अहितको नही जानता । पिशाचके द्वारा पकड़े गये मनुष्यकी तरह अपने वशमें नहीं रहता ॥८९४॥

गा०—जैसे नीच मनुष्य किये गये उपकारको भुला देता है वैसे ही कुलीन वंशका भी व्यक्ति कामसे उन्मत्त होकर पूर्वमे लज्जावान होते हुए निर्लज्ज हो जाता है ॥८९५॥

गा०—जैसे चोर जागते हुए व्यक्तियोंपर रोष करता है वैसे ही कामी संयमीजनोंपर रोष

1. सहवसन–आ० मु० । संवासं सहवसतो जनान् मित्रादीन्–मूलारा० ।

आयरियउवज्झाए कुलगणसंघस्स होदि पडिणीओ ।
कामकलिला हु घत्थो धम्मियभावं पयहिदूणं ॥८९७॥

'**आयरियउवज्झायव**' आचार्याणा अध्यापकाना, कुलस्य गुरुशिष्यवर्गस्य, गुरुधर्मभ्रातृशिष्याणा वा चातुर्वर्ण्यस्य वा संघस्य च भवति प्रतिकूल. कामकलिना ग्रस्त धार्मिकत्व विहाय ॥८९७॥

कामग्घत्थो पुरिसो तिलोयसारं जहदि सुदलाभं ।
तेलोक्कपूइदं पि य माहप्पं जहदि विसयंधो । ८९८॥

'**कामग्घत्थो**' कामग्रस्त । त्रैलोक्यसर्वसारमपि श्रुतलाभ जहाति । त्रैलोक्येन पूजितमपि माहात्म्य त्यजति विषयान्ध ॥८९८॥

तह विसयामिसघत्थो तणं व तवचरणदंसणं जहइ ।
विसयामिसगिद्धस्स हु णत्थि अकायव्वयं किंचि ॥८९९॥

'**तह विसयामिसघत्थो**' विषयामिषलंपट । तृणमिव तपश्चरण दर्शन च जहाति । विषयामिषलपटस्य नास्त्यकार्यं किञ्चित् ॥८९९॥

अरहंतसिद्ध आयरिय उवज्झाय साहु सव्ववग्गाणं ।
कुणदि अवण्णं णिच्चं कामुम्मत्तो विगयवेसो ॥९००॥

अरहंतसिद्धआयरिय' अर्हता, सिद्धाना, आचार्याणा, उपाध्यायाना, सर्वेषा यतीना चावर्णवाद करोति नित्य विकृतवेष. ॥९००॥

अयसमणत्थं दुःखं इहलोए दुग्गदा य परलोए ।
संसारं पि अणंतं ण मुणदि विसयामिसे गिद्धो ॥९०१॥

करता है। तथा कामी हितकारी बात कहनेवालेको शत्रुके समान देखता है ॥८९६॥

गा०—कामरूपी कलिकालसे ग्रस्त मनुष्य धार्मिक भावको त्याग आचार्य, उपाध्याय, कुल—गुरुका शिष्य समुदाय, गण—गुरुके धर्मबन्धुओंका शिष्य समुदाय और चतुर्विध सघका विरोधी बन जाता है ॥८९७॥

गा०—कामसे ग्रस्त मनुष्य तीनो लोकोंके सारभूत श्रुतज्ञानके लाभको भी छोड़ देता है। वह विषयान्ध होकर तीनो लोकोंसे पूजित माहात्म्यको भी छोड देता है अर्थात् उसे शास्त्र स्वाध्यायमें रस नही रहता और कामके पीछे अपना महत्त्व भी भुला देता है ॥८९८॥

गा०—तथा विषयरूपी मांसमे आसक्त होकर तप चारित्र और सम्यग्दर्शनको तिनकेकी तरह त्याग देता है। ठीक ही है विषयरूपी मासके लोभीके लिए कुछ भी अकार्य नही है, वह सब कुछ अनर्थ कर सकता है ॥८९९॥

गा०—कामसे उन्मत्त साधु साधुरूपको त्यागकर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुजनोंका अवर्णवाद करता है, उनपर मिथ्या दोषारोपण करता है ॥९००॥

गा०—विषयरूपी मासका लोभी मनुष्य अनर्थकारी अपयश, इस लोकके दुःख, परलोकमें दुर्गति और भविष्यमे ससारकी अनन्तताको नही जानता। अर्थात् वह इस बातको भुला देता है

'**अयसमनर्थं**' अयशः अनर्थं । दुःखं चेहलोके परलोके दुर्गति, संसारमप्यनन्तं भाविनं न वेत्ति विषयामिषे गृद्धः ॥९०१॥

णिच्चं पि विसयहेदुं सेवदि उच्चो वि विसयलुद्धमदी ।
बहुगं पि य अवमाणं विसयंधो सहइ माणीवि ॥९०२॥

'**णिच्चं पि विसयहेदु**' ज्ञानकुलादिभिरतीव न्यूनमपि सेवते कुलीनो बुद्धिमानपि विषयलुब्धमतिः । परिभवं महान्तमपि धनिभिः क्रियमाणं सहते विषयान्ध. ॥९०२॥

णीचं पि कुणदि कम्मं कुलपुत्तदुगुंछियं विगदमाणो ।
[1]वारत्तओ वि कम्मं अकासि जह लंघियाहेदुं ॥९०३॥

'**णीचं पि कुणदि**' नीचमपि करोति कर्म उच्छिष्टभोजनादिकं कुलीननिन्दित विनष्टाभिमानः । वारत्तिगो नाम यतिरतिगर्हित कर्म कृतवान् तथा कुलीन स्त्रीनिमित्तं ॥९०३॥

सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ।
विसयामिसम्मि गिद्धो माणं रोसं च मोत्तूणं ॥९०४॥

'**सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ**' सूरस्तीक्ष्णो मुख्योऽपि धनिनो जनस्य वशवर्ती भवति । विषयाभिलाषे लुब्ध. गृद्ध अभिमान रोषं मुक्त्वा ॥९०४॥

माणी वि असरिसस्स वि चडुयम्मं कुणदि णिच्चमविलज्जो ।
मादापिदरे दासं वायाए परस्स कामेंतो ॥९०५॥

'**माणी वि असरिसस्स वि**' मानी असदृशस्यापि चाटुं करोति । वाचा आत्मीया मातरं पितरं वा दास्यमापादयति । तवाहं दासो गृहे भवामीति वदन्पर कामयमानः ॥९०५॥

कि विषयासक्तिका फल संसारमें अपयश, इस लोकमें कष्ट, परलोकमें दुर्गति है तथा संसारका अन्त होना दुष्कर है ॥९०१॥

गा०—विषयोंका लोभी मनुष्य कुलीन और बुद्धिमान् होते हुए भी विषय सेवनके लिए ज्ञान और कुल आदिसे अत्यन्तहीन की भी सेवा करता है। वह विषयान्ध धनी पुरुषोंके द्वारा किये गये महान् तिरस्कारको भी सहन करता है ॥९०२॥

गा०—वह अपना सन्मान खोकर कुलीन पुरुषोंके द्वारा निन्दित उच्छिष्ट भोजन आदि नीचकर्म करता है। जैसे वारत्रक नामक कुलीन यतिने नर्तकीके लिए अत्यन्त निन्दित काम किया ॥९०३॥

गा०—विषयरूपी मांसका लोभी मनुष्य अभिमान और रोष त्यागकर सूरवीर, असहनशील और प्रमुख होते हुए भी धनी मनुष्यके वशमें हो जाता है ॥९०४॥

गा०—अभिमानी भी निर्लज्ज होकर अपनेसे नीच पुरुषका नित्य चाटुकर्म—पैर दबाना आदि करता है। अपने माता पिताको उसका दास दासी कहता है और कहता है कि मैं तुम्हारे

---

1. वारत्तिओ आ० मु० । वारत्तओ वारत्रको नाम यतिः—मूलारा० ।

वयणपडिवत्तिकुसलत्तणं पि णासइ णरस्स कामिस्स ।
सत्थप्पहव्व तिक्खा वि मदी मंदा तहा हवदि ॥९०६॥

'**वयणपडिवत्तिकुसलत्तणं पि**' वचने प्रतिपत्तौ च कुशलतापि नश्यति कामिनो नरस्य । शास्त्रप्रहता शास्त्रे घटिता अतितीक्ष्णापि मति कुंठा भवति ॥९०६॥

होदि सचक्खू वि अचक्खु व वधिरो वा वि होइ सुणमाणो ।
दुट्ठकरेणुपसत्तो वणहत्थी चेव संमूढो ॥९०७॥

'**होदि सचक्खू वि अचक्खु व**' चक्षुष्मानपि अचक्षुरिव भवति । पर समीपस्थमपि यतो न पश्यति । '**बहिरो वा वि होदि**' बधिर इव भवति । '**सुणमाणो**' शृण्वन्नपि अव्यक्तश्रवणात् । '**दुट्ठकरेणुपसत्तो**' दुष्टकरिणी-प्रसक्तः । '**वणहत्थी चेव**' वनहस्तीव । '**संमूढः**' ॥९०७॥

सलिलणिवुढोव्व णरो बुज्झंतो विगयचेयणो होदि ।
दक्खो वि होइ मंदो विसयपिसाओवहदचित्तो ॥९०८॥

'**सलिलणिवुढो बुज्झतो णरोव्व**' सलिलनिमग्न. प्रवाहेणोह्यमानो नरो यथा । '**विगयचेयणो**' विगत-चैतन्यो भवति । '**दक्खो वि होदि मंदो**' दक्षोऽपि सर्वकार्येषु प्रवीणोऽपि जडो भवति । '**विसयपिसाओवहद-चित्तो**' विषयपिशाचोपहतचित्त. विषया रूपादयश्चेतोविभ्रमहेतुत्वात्पिशाचा इवेति विषया पिशाचा इत्युक्ता ॥९०८॥

बारसवासाणि वि संवसित्तु कामादुरो ण णासीय ।
पादंगुट्ठमसंतं गणियाए गोरसंदीवो ॥९०९॥

'**बारसवासाणि**' द्वादशवर्षमात्र सहोषित्वापि । '**कामादुरोपि**' कामातुरोऽपि । न ज्ञातवान्गोरसंदीपः । किं ? गणिकाया पादागुष्ठमसन्त ॥९०९॥

घरमे दास बनकर रहूँगा ॥९०५॥

गा०—कामी मनुष्यकी वचन कुशलता और समझदारी नष्ट हो जाती है। शास्त्रमे प्रविष्ट अति तीक्ष्ण भी बुद्धि मन्द हो जाती है ॥९०६॥

गा०—दुष्ट हथनीमे आसक्त जगली हाथीकी तरह मूढ कामी पुरुष नेत्रवाला होकर भी अन्धा होता है क्योंकि उसे समीपकी वस्तु भी नही दिखाई देती। तथा कानवाला होकर भी बहरा होता है ॥९०७॥

गा०—जैसे जलमे डूबा और प्रवाहमे बहता मनुष्य चेतनारहित होता है। वैसे ही जिसका चित्त विषयरूपी पिशाचके द्वारा गृहीत है वह मनुष्य सब कार्योंमें प्रवीण होते हुए भी मन्द होता है। यहाँ विषयोको पिशाच कहा है क्योंकि रूपादि विषय चित्तको मोहमें डाल देते है इसलिए वे पिशाचके समान है ॥९०८॥

गा०—गोरसदीप नामक कामपीडित मनुष्य बारह वर्ष तक गणिकाके साथ रहकर भी यह नही जान सका कि गणिकाके पैर मे अँगूठा नही है ॥९०९॥

सीदं उण्हं तण्हं खुहं च दुस्सेज्ज भत्त पंथसमं ।
सुकुमारो वि य कामी सहइ वहइ भार[1]मवि गरुयं ॥९१०॥

'**सीदं उण्हं तण्हं**' शीतं, उष्णं, तृष्णा, क्षुधां, दुःशयनं, दुराहारं कृत, अध्वगमनश्रम च सहते । कामी सुकुमारोऽपि गुरुमपि भार वहति ॥९१०॥

गायदि णच्चदि धावदि कसइ ववदि लवदि तह मलेइ णरो ।
तुण्णेइ वुणइ जाचइ कुलम्मि जादो वि विसयवसो ॥९११॥

'**गायदि णच्चदि**' गायति, नृत्यति, धावति, कृषति, वपति, लुनाति, मर्द्यति, सीव्यति, पट्टवस्त्रादिवयनं करोति । याचते कुलप्रसूतोऽपि सन्विषयमुपगत आत्मान भार्यां च पोषयितु ॥९११॥

सेवदि णियादि रक्खदि गोमहिसिमजाविय हय हत्थिं ।
ववहरदि कुणदि सिप्पं सिणेहपासेण दढबद्धो ॥९१२॥

'**सेवदि णियादि**' सेवति सस्यान्तर्गत तृणादिकमेव । निजति, रक्षति गा, महिषी, अजा, आविक, हयं, हस्तिनो वा । वाणिज्य करोति । समस्तनैपुण्य अतीव तत्कर्मादिक करोति कामिनीगतस्नेहभावेन दृढबद्ध ॥९१२॥

वेढेइ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोएहिं ।
कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पाणं ॥९१३॥

'**वेढेइ विसयहेदुं**' वेष्टयति विषयहेतुनिमित्त । आत्मान कलत्रपाशैर्मोचयितुमशक्यै कोशेन कोशकारकीट इव दुर्मति ॥९१३॥

गा०—सुकुमार भी कामी पुरुष सर्दी, गर्मी, प्यास, भूख, खोटी शय्या, खराब भोजन, मार्गमे चलनेका श्रम सहता है और भारी बोझा ढोता है ॥९१०॥

गा०—उच्चकुलमे जन्मा भी मनुष्य विषयासक्त होकर गाता है, नाचता है, दौड़ता है, खेत जोतता है, अन्न बोता है, खेती काटता है, अनाज निकालता है, कपडे सीता है, बुनता है ? यह सब काम विषय परवश होकर अपने और अपनी पत्नीके भरणपोषणके लिए करता है ॥९११॥

गा०—स्त्रीके स्नेहजालमे दृढ़तापूर्वक वँधा मनुष्य राजा आदिकी सेवा करता है, धानके खेतमें लगी घासको उपाडता है । गाय, भैंस, बकरी, भेडे, घोडा, हाथी आदि पालता है । व्यापार करता है । शिल्पकर्म-चित्रकला आदि करता है ॥९१२॥

गा०—जैसे रेशमका कीडा अपने ही मुखमेंसे तार निकालकर उससे अपनेको बाँधता है । वैसे ही दुर्बुद्धि मनुष्य विषयोंके लिए स्त्रीरूप पाशके द्वारा, जिसका छूटना अशक्य है, नित्य अपनेको बाँधता है ॥९१३॥

---

१. -मवि गभयं अ० ज० ।

रागो दोसो मोहो कसायपेसुण्ण संकिलेसो य ।
ईसा हिंसा मोसा सूया तेणिक्क कलहो य ॥९१४॥

'रागो दोसो' रागो द्वेष., अज्ञान, कषाया , परदोषसस्तवन, संक्लेश., ईर्ष्या, हिंसा, मृषा, परगुणासहनं, स्तैन्यं कलहश्च ॥९१४॥

जंपणपरिभवणियडिपरिवादरिपुरोगसोगधणणासो ।
विसयाउलम्मि सुलहा सव्वे दुक्खावहा दोसा ॥९१५॥

'जंपणपरिभव' जल्पन परिभव वचना परोक्षेऽपवाद. । शत्रु , रोग शोको, धननाश इत्यादय. । **'विसयाउलम्मि सुलहा'** विषयाकुले सुलभा सर्वेऽपि दु खावहा दोषा ॥९१५॥

न केवलमात्मन एव उपद्रवः अपि तु परोपद्रवमपि करोति कामीति वदति—

अवि य वहो जीवाणं मेहुणसेवाए होइ बहुगाणं ।
तिलणालीए तत्ता सलायवेसो व जोणीए ॥९१६॥

'अवि य वहो जीवाणं' अपि च बहूना जीवाना वधो भवति । मैथुनसेवया । **'जोणीए'** योन्या तिलैः पूर्णाया नालिकाया तप्ताय शलाकाप्रवेश इव ॥९१६॥

कामुम्मत्तो महिलं गम्मागम्मं पुणो अविण्णाय ।
सुलहं दुलहं इच्छियमणिच्छियं चावि पत्थेदि ॥९१७॥

'कामुम्मत्तो' कामोन्मत्तो । स्त्रिय शरीरमात्मनश्च[1] गम्य भोग्य उतस्विदगम्यमभोग्यमिति अविज्ञाय इदमित्थमशुचि इति । सुलभा दुर्लभा आत्मन्यभिलापवती च प्रार्थयते ॥९१७॥

गा०—राग, द्वेष, मोह, कषाय, पैशुन्य—दूसरेके दोष कहना, सक्लेश, ईर्ष्या, हिंसा, झूठ, असूया—दूसरेके गुणोको न सहना, चोरी, कलह, वृथा बकवाद, तिरस्कार, ठगना, पीठ पीछे बुराई करना, शत्रु, रोग, शोक, धननाश इत्यादि सब दु खदायी दोष विषयासक्त व्यक्तिमे सुलभ होते है ॥९१४–९१५॥

आगे कहते हैं कि कामी पुरुष केवल अपना ही घात नही करता, दूसरोंका भी घात करता है—

गा०—जैसे तिलोमे भरी नलिकामे तपाये हुए लोहेकी सलाईके प्रवेशसे तिलोका घात होता है वैसे ही मैथुन सेवनसे योनिमे स्थित बहुतसे जीवोका घात होता है ॥९१६॥

गा०—काममे उन्मत्त पुरुष यह स्त्री भोगने योग्य है या अयोग्य है, सुलभ है या दुर्लभ है, मुझे चाहती है या नही चाहती, इत्यादि जाने विना उसकी याचना करता है ॥९१७॥

---

१ श्च गम्य भोग्य उतस्विदगम्यमभोग्य मिति अवि–मु० । गम्मागम्म स्त्रिया शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्य उतस्विदगम्यमभोग्यमिति टीकाकार । अन्ये तु गम्मागम्ममित्यपि महिलाविशेषणमाहु । तथा च तद्ग्रन्थः 'कामोन्मत्तो गम्यामगम्यरूपा च दुर्लभा सुलभाम् । अज्ञात्वा प्रार्थयते भोक्तुं सेच्छामथानिच्छाम्' ।

—मूलारा० ।

दट्ठूण परकलत्तं किहिदा पत्थेइ णिग्घिणो जीवो ।
ण य तत्थ किं पि सुक्खं पावदि पावं च अज्जेदि ॥९१८

'दट्ठूण परकलत्तं' परेषा कलत्रं दृष्ट्वा । कथं तावत् प्रार्थयते जीवो निरस्तलज्जो ममेय भवतीति । एतस्यां प्रार्थनामात्राधिगतायां दुःखं प्राप्नोति । पापं नियोगेनार्जयति ॥९१८॥

आहट्ठिदूण चिरमवि परस्स महिलं लभित्तु दुक्खेण ।
उप्पित्थमवीसत्थं अणिव्वुदं तारिसं चेव ॥९१९॥

'आहट्ठिदूण चिरमवि' चिरकालमभिलष्यापि । **'परस्स महिलं'** परस्य महिला परस्य स्त्रिय । **'दुक्खेण लभित्तु'** क्लेशेन लब्ध्वा । **'उप्पित्थं'** व्याकुलवदविश्वस्तमनिर्वृत चरण इति क्रियाविशेषत्वेन नेयं । **'तारिसो चेव'** यथा तदैवाप्राप्ते पूर्वमतृप्तहृदय. पश्चादपि तथैवातृप्तहृदयत्वात्तादृश इत्युच्यते ॥९१९॥

कहमवि तमंधयारे संपत्तो जत्थ तत्थ वा देसे ।
किं पावदि रइसुक्कं भीदो तुरिदो वि उल्लावो ॥९२०॥

'कथमपि तमंधकारे' केनचित्प्रकारेण परवञ्चन ज्ञात्वा[1] । अधकार[2] सप्राप्त. । ता यत्र तत्र वा देशे, शून्यगृहे शून्यायतने, अटव्या च किं प्राप्नोति ? रतिसौख्य । प्रकाशे स्वाभिलषितानवयवास्तस्या पश्यतो मृदुनि शयनतले विगतमनोव्याकुलस्य सुख भवति । नान्यथेति भाव । किं प्राप्नोति रतिसुख भीत सन् राजपुरुषेभ्यस्तस्य वा सबन्धिभ्य । पश्यन्ति मा परे, बध्नन्ति मा, परपत्नी[3] निवास भाषण अपि तया त्वरित कि पुना रतम् ॥९२०॥

परमहिलं सेवंतो वेरं वधबंधकलहधणनासं ।
पावदि रायकुलादो तिस्से णीयल्लयादो वा ॥९२१॥

गा०—पर स्त्रीको देखकर कामान्ध पुरुष लज्जा त्याग कैसे प्रार्थना करता है कि यह मेरी होवे : उसमे उसे कुछ भी सुख नही उल्टे, पापका ही उपार्जन करता है ॥९१८॥

गा०– चिरकाल तक अभिलाषा करनेपर कदाचित् बड़े कष्टसे परस्त्रीका लाभ भी हो जाये तो उसके मिलनेसे पूर्व वह जैसा व्याकुल, अविश्वस्त और अतृप्त रहता है मिलनेपर भी वैसा ही रहता है ॥९१९॥

गा०-टी०—किसी प्रकार दूसरोको धोखा देकर अन्धकारमे किसी शून्य घरमे या जगलमे उसे पाकर भी क्या रति सुख पाता है वह कामी । प्रकाशमे कोमल शय्यापर मनकी व्याकुलताके अभावमें उस नारीके इच्छित अगोको देखते हुए सुख होता है, अन्यथा नही होता । किन्तु राजपुरुषोंसे अथवा उस नारीके सम्बन्धियोसे भयके होते हुए कि मुझे कोई देखे नही, कोई बाँधे नहीं, कि पर पत्नीके साथ निवास करता है, ऐसी स्थितिमे भाषण करनेकी भी जल्दी रहती है, रमण करनेकी तो बात ही क्या ? तब क्या सुख मिल सकता है ? ॥९२०॥

१. कृत्वा–आ० । २ अन्वकाल–अ० । अन्धकालं आ०–अन्नकाल ज० । ३. त्नीति वा संभा०–आ० मु० ।

'परमहिलं सेवंतो' परस्त्रियं सेवमान , वैरं, वध, बन्धं, कलह, धननाश च प्राप्नोति [1]राजमूलात् तस्याः स्वजनाद्वा ॥९२१॥

जदि दा जणेइ मेहुणसेवा[2] प्पवंस दारम्मि ।
अदितिव्वं कह पावं ण हुज्ज परदारसेविस्स ॥९२२॥

'जदि ता जणेइ' यदि तावज्जनयति मैथुनकर्मसेवा । किं ? पाप स्वभार्यायां । अतितीव्र कथ पाप न भवेत् **'परदारसेविस्स'** परस्त्रीसेविन अदत्तादानमब्रह्मेति द्वौ यतो दोषौ ॥९२२॥

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्पयम्मि कदे ।
जह दुक्खमप्पणो होइ तहा अण्णस्स वि णरस्स ॥९२३॥

'मादा धूदा' मातरि दुहितरि भगिन्या परेण विप्रिये कृते कर्माणि यथा दु.खमात्मनो भवति । तथाऽन्य-स्यापि नरस्य दु ख भवति । तन्मात्रादिविषये असद्व्यवहारे सति ॥९२३॥

एवं परजणदुक्खे णिरवेक्खो दुक्खबीयमज्जेदि ।
णीयं गोदं इत्थीणउंसवेदं च अदितिव्वं ॥९२४॥

'एव परजणदुःखे' एवमन्यजनदु खे निरपेक्ष' परदाररतिप्रियो दु खबीज मन्विनोति । किं ? असद्वेद्यं कर्म, नीचैर्गोत्र, स्त्रीत्व, नपुसकत्व च ॥९२४॥

जमणिच्छंती महिलं अवसं परिभुंजदे जहिच्छाए ।
तह य किलिस्सइ जं सो तं मे परदारगमणफलं ॥९२५॥

'जमणिच्छंती महिलं' यन्नेच्छन्ती पुमास स्त्रीत्वेन अवशा यथेच्छया परिभुज्यमाना यत्क्लिश्यति तत्तस्या जन्मान्तराचरितपरदारगमनफल ॥९२५॥

गा०—परस्त्रीका सेवन करने वालेके सब वैरी होते हैं। वह राजाके पुरुषोंमे अथवा उस स्त्रीके सम्बन्धियोसे बध, बन्धन, कलह और धन नाशका कष्ट पाता है ॥९२१॥

गा०—यदि अपनी पत्नीमे भी मैथुन सेवनसे पाप कर्मका बन्ध होता है तो परस्त्री सेवीको अति तीव्र पापका बन्ध क्यो नही होगा; क्योंकि उसमे चोरी और अब्रह्म सेवन दो दोष है ॥९२२॥

गा०—अपनी माता, पुत्री और बहिनके प्रति यदि कोई अप्रिय व्यवहार करे तो जैसे हमे दु.ख होता है वैसे ही दूसरोकी माता आदिके विषयमे असद् व्यवहार करने पर दूसरो को भी दुःख होता है ॥९२३॥

गा०—इस प्रकार दूसरोके दु खका ध्यान न रखनेवाला परस्त्रीगामी पुरुष दुःखके बीज नीचगोत्र, स्त्रीवेद और नपुसक वेदका अति तीव्र बन्ध करता है ॥९२४॥

गा०—इस जन्ममे जो स्त्री परवश होकर ऐसे पुरुषके द्वारा, जिसे वह नहीं चाहती, यथेच्छ भोगी जाती और कष्ट पाती है यह उसके पूर्वजन्ममे किये गये पर स्त्री-गमनका फल है ॥९२५॥

---

१. राजकुलात्-आ० । २. वा पावं सगम्मि दारम्मि-आ० मु० ।

महिलावेसविलंवी जं णीचं कुणइ कम्मयं पुरिसो ।
तह वि ण पूरइ इच्छा तं से परदारगमणफलं ॥९२६॥

'महिलावेसविलंबी' स्त्रीवेषविलम्बनापरः पुरुषो यन्नीचं कर्म करोति । तथापि न पूर्यते इच्छा तत्तस्य षंढत्वं परदारगमनफलम् ॥९२६॥

भज्जा भगिणी मादा सुदा य बहुएसु [1]भवसयसहस्सेसु ।
अयसायामकरीओ होंति विसीला य णिच्चं से ॥९२७॥

'भज्जा भगिणी मादा' भार्या भगिनी माता सुता च बहुषु भवसहस्रेषु अयशः आयास कुर्वन्त्यो भवन्ति नित्यं विशीलास्मदा तस्य ॥९२७॥

होइ सयं पि विसीलो पुरिसो अदिदुब्भगो परभवेसु ।
पावइ वधबंधादि कलहं णिच्चं अदोसो वि ॥९२८॥

'होदि सय पि' भवति स्वयमपि विशील, पुरुषो[2] दुर्भगश्च प्राप्नोति नित्य च वधबन्ध आत्मा सकलह च अदोषोऽपि ॥९२८॥

इहलोए वि महल्लं दोसं कामस्स वसगदो पत्तो ।
कालगदो वि य पच्छा कडारपिंगो गदो णिरयं ॥९२९॥

'इहलोए वि महल्लं कडारपिंगो' इहलोकेऽपि महान्त दोष प्राप्त कामवशङ्गत । काल कृत्वा पश्चान्नरके प्रविष्ट कडारपिङ्ग । वाच्यमत्राख्यानकम् ॥९२९॥

एदे सव्वे दोसा ण होंति पुरिसस्स बंभचारिस्स ।
तव्विवरीया य गुणा हवंति बहुगा विरागिस्स ॥९३०॥

विशेषार्थ—प० आशाधरजीने अपनी टीकामे 'अन्ये' कहकर इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार लिखा है—जो पुरुष उसे न चाहनेवाली नारीको बलपूर्वक यथेच्छ भोगता है और भोगते हुए भी सुख नही पाता, यह उसके परस्त्री भोगका फल है जो कष्टरूप है ॥९२५॥

गा०—स्त्रीका वेश धारण करनेवाला जो पुरुष (नपुसक) नीच कर्म करता है, और यहाँ वहाँ काम क्रीडा करके भी सन्तुष्ट नही होता, उसका यह नपुसकपना परस्त्रीगमनका फल है ॥९२६॥

गा०—परस्त्रीगामीकी भार्या, बहन, माता, पुत्री, लाखों जन्मोमे अपयश और दुःख देनेवाली सदा व्यभिचारिणी होती हैं ॥९२७॥

गा०—परस्त्रीगामी स्वयं भी परभवोंमें (आगामी जन्मोंमें) दुराचारी और अभागा होता है और विना अपराधके भी कलहपूर्वक नित्य बध, बन्ध आदिका कष्ट उठाता है ॥९२८॥

गा०—कामके वशीभूत होकर कडारपिंग इसी जन्ममें महान् दोषका भागी हुआ। पीछे मरकर नरकमें गया ॥९२९॥

---

१. भवसहस्सेसु—आ० । २ परेषु—अ० आ० ।

'एदे सब्वे' एते सर्वे दोषा न भवन्ति ब्रह्मचारिण. पुंसः। तद्विपरीताश्च गुणा भवन्ति बहवो विरागस्य ॥९३०॥

कामग्गिणा धगधगंतेण य डज्झंतयं जगं सव्वं ।
पिच्छइ पिच्छयभूदो सीदीभूदो विगदरागो ॥९३१॥

'कामग्गिणा' कामाग्निना । धगधगायमानेन दह्यमानेन । दह्यमान जगत्सर्वं प्रेक्षते प्रेक्षकभूत स्वय विरतीभूतः । कः ? वीतरागः ॥९३१॥

इत्थिकथा इत्येतद्व्याख्यानायोत्तर प्रबन्ध । कामकदा—

महिला कुलं सवासं पदिं सुदं मादरं च पिदरं च ।
विसयंधा अगणंती दुक्खसमुद्दम्मि पाडेइ ॥९३२॥

महिला दु खसमुद्रे पातयति विषयान्धा अगणयन्ती । किं ? कुल महवासिन. पति, सुत, मातरं च पितरं च ॥९३२॥

माणुण्णयस्स पुरिसद्दुमस्स णीचो वि आरुहदि सीसं ।
महिलाणिस्सेणीए णिस्सेणीए व्व दीहदुमं ॥९३३॥

'माणुण्णयस्स' मानोन्नतस्य पुरुषद्रुमस्य शिर आरोहति नीचपुरुषोऽपि महिलानि श्रेयिण्या निश्रेण्या दीर्घमिव द्रुम ॥९३३॥

पव्वदमित्ता माणा पुंसाणं होंदि कुलबलधणेहिं ।
बलिएहिं वि अक्खोहा गिरीव लोगप्पयासा य ॥९३४॥

'पव्वदमित्ता माणा' भवन्ति मानानि पुरुषाणा कुलबलधनै । बलिभि अक्षोम्याणि गिरिवल्लोके प्रकाशभूतानि च ॥९३४॥

विशेषार्थ—कडारपिंगकी कथा सोमदेवके उपासकाध्ययनमे आई है ।

गा०—ब्रह्मचारी पुरुषके ये सब दोष नही होते । प्रत्युत विरागीके इन दोषोंसे विपरीत बहुतसे गुण होते है ॥९३०॥

गा०—विरागी मुक्तात्माकी तरह प्रज्वलित कामाग्निसे जलते हुए सब जगत्को एक प्रेक्षकके रूपमे देखता है । अर्थात् वह केवल द्रष्टा ही रहता है उसके कष्टसे स्वयं पीड़ित नहीं होता ॥९३१॥

आगे 'इत्थी कथा'—स्त्री कथाका व्याख्यान करते हैं—

गा०—विषयसे अन्धी हुई स्त्री किसीकी परवाह न करके अपने कुलको, साथमे रहने वाले पति, पुत्र, माता और पिताको दुःखके समुद्रमें गिरा देती है ॥९३२॥

गा०—जैसे नसैनीके द्वारा छोटा आदमी भी ऊँचे वृक्ष पर चढ जाता है वैसे ही महिला रूपी नसैनीके द्वारा नीच पुरुष भी मानसे उन्नत पुरुष रूपी वृक्षके सिर पर चढ़ जाता है अर्थात् स्त्रीके कारण नीच पुरुषके द्वारा गर्वोन्नत मनुष्यका भी सिर नीचा हो जाता है ॥९३३॥

गा०—कुल बल और धनसे पुरुषोका अहंकार सुमेरुपर्वतके समान जगत्मे विख्यात है ।

ते तारिसया माणा ओमच्छिज्जंति दुट्ठमहिलाहिं ।
जह अंकुसेण [1]णिस्साइज्ज हत्थी अदिबलो वि ॥९३५॥

'**ते तारिसणा माणा**' तानि तथाभूतानि मानानि अवमथ्यन्ते दुष्टस्त्रीभिः । यथा अङ्कुशेन निषद्या कार्यते हस्ती अतिबलोऽपि ॥९३५॥

आसीय महाजुद्धाइं इत्थिहेदुं जणम्मि बहुगाणि ।
भयजणणाणि जणाणं भारहरामायणादीणि ॥९३६॥

'**आसीय महाजुद्धाणि**' आसन्महायुद्धानि जगति स्त्रीनिमित्तानि बहूनि भयजननानि जनाना भारत-रामायणादीनि ॥९३६॥

महिलासु णत्थि वीसभपणयपरिचयकदण्णदा णेहो ।
लहुमेव परगयमणा[2] ताओ सकुलंपि जहंति ॥९३७॥

'**महिलासु**' स्त्रीषु न सन्ति विस्रम्भ प्रणय, परिचय, कृतज्ञता, स्नेहश्च । सहसा परगतचित्तास्ता स्वकुलं जहति ॥९३७॥

पुरिसस्स दु वीसंभं करेदि महिला बहुप्पयारेहिं ।
महिला वीसंभेदुं बहुप्पयारेहिं वि ण सक्का ॥९३८॥

'**पुरिसस्स दु वीसंभं**' पुरुषस्य विस्रम्भं जनयन्ति स्त्रियो बहुभिः प्रकारैर्युवतीर्विस्रम्भं नेतुं न शक्ताः पुमासः ॥९३८॥

अदिलहुयगे वि दोसे कदम्मि सुकदस्सहस्समगणंती ।
पइ अप्पाणं च कुलं धणं च णासंति महिलाओ ॥९३९॥

'**अदिलहुयगे वि दोसे**' स्वल्पेऽपि दोषे कृते सुकृतशतमप्यगणय्य पतिं, आत्मानं, कुलं, धनं च नाशयन्ति युवतयः ॥९३९॥

उसे बलवान भी नही हिला सकते ॥९३४॥

गा०—किन्तु इस प्रकारके अहंकार भी दुष्ट स्त्रियोके द्वारा नष्ट कर दिये जाते है। जैसे अंकुशसे अति बलवान हाथी भी बैठा दिया जाता है ॥९३५॥

गा०—स्त्रीके कारण इस जगत्मे भारत रामायण आदिमे वर्णित अनेक महायुद्ध हुए जो लोगोंके लिये भयकारक थे ॥९३६॥

गा०—स्त्रियोमे विश्वास, स्नेह, परिचय, कृतज्ञता नही है। वे पर पुरुषपर आसक्त होने-पर शीघ्र ही अपने कुलको अथवा कुलीन भी पतिको छोड देती है ॥९३७॥

गा०—स्त्री अनेक प्रकारोंसे पुरुषमे विश्वास उत्पन्न करती हैं किन्तु पुरुष अनेक उपायोसे भी स्त्रीमे विश्वास उत्पन्न करनेमें समर्थ नही होता ॥९३८॥

गा०—थोड़ा-सा भी अपराध होनेपर स्त्री सैकडो उपकारोंको भुलाकर अपना, पतिका,

---

१ णिसियाविज्जादि–मूलारा० । २ णाओ–आ० मु० ।

आसीविसो व्व कुविदा ताओ दूरेण [1]णिहुदपावाओ ।
रुट्ठो चंडो राया व ताओ कुव्वंति कुलघादं ॥९४०॥

'**आसीविसो व्व**' आशीविष इव कुपितास्ता दूरेण ढौकितु न शक्या. । रुष्टश्चण्डो राजेव ताः कुर्वन्ति कुलघात ॥९४०॥

अकदम्मि वि अवराधे ताओ वीसत्थमिच्छमाणीओ ।
कुव्वंति वहं पदिणो सुदस्स ससुरस्स पिदुणो वा ॥९४१॥

'**अकदम्मि वि**' अकृतेऽपि । '**अवराधे**' अपराधे । '**ताओ**' ता । '**वीसत्थमिच्छमाणीओ**' स्वेच्छाप्रवृत्तिमभिलषन्त्यः । '**पदिणो वधं कुव्वंति**' पत्युर्वध कुर्वन्ति, '**सुदस्स**' सुतस्य, '**ससुरस्स**' श्वशुरस्यापि । '**पिदुणो वा**' पितुर्वा वधं कुर्वन्ति ॥९४१॥

सक्कारं उवकारं गुणं व सुहलालणं च णेहो वा ।
मधुरवयणं च महिला परगदहिदया ण चिंतेइ ॥ ९४२॥

'**सक्कारं**' सत्कार सन्मानं । '**उवयार**' उपकार, '**गुण**' कुलरूपयौवनादिक गुण च पत्यु । '**सुहलालणं**' सुखेन पोषणं च । '**णेहो वा**' स्नेहं च '**महुरवयणं च**' मधुरवचन च । '**महिला**' युवति । '**परगदहिदया**' परपुरुषानुरक्तचित्ता । '**ण चिंतेइ**' न चिन्तयति ॥९४२॥

साकेदपुराधिवदी देवरदी रज्जसुक्खपब्भट्ठो ।
पंगुलहेदुं छूडो णदीए रत्ताए देवीए ॥९४३॥

'**साकेदपुराधिवदी**' साकेतपुरस्य स्वामी । '**देवरदी**' देवरतिसज्ञित । '**रज्जसोक्खपब्भट्ठो**' राज्येन सौख्येन च नितरा भ्रष्ट । '**पंगुलहेदु**' पङ्गुलनिमित्त गन्धर्वप्रवीणेन पङ्गुना सह जीवितुमभिलषन्त्या । '**छूडो**' विक्षिप्त । '**णदीए**' नद्या । '**रत्ताए देवीए**' रक्तानामधेयया देव्या ॥९४३॥

कुलका और धनका नाश कर देती है ॥९३९॥

गा०—क्रुद्ध सर्पकी तरह उन स्त्रियोको दूरसे ही त्यागना चाहिए। रुष्ट प्रचण्ड राजाकी तरह वे कुलका नाश कर देती हैं ॥९४०॥

गा०—वे स्वच्छन्द प्रवृत्तिकी इच्छासे बिना किसी अपराधके पति, पुत्र, श्वसुर अथवा पिताका घात कर देती है ॥९४१॥

गा०—परपुरुषमे जिसका चित्त लग जाता है वह स्त्री अपने पतिके, सन्मान, उपकार, कुल, रूप, यौवन आदि गुण, स्नेह, सुखपूर्वक लालन-पालन और मधुर वचनोका भी विचार नही करती ॥९४२॥

गा०—अयोध्या नगरीका स्वामी देवरति राज्य सुखसे वंचित हो गया उसको रक्ता नामकी रानीने गान-विद्यामे प्रवीण एक लगडे व्यक्तिपर आसक्त होकर अपने पतिको नदीमें फेंक दिया ॥९४३॥

---

१. दूरेण अणादिअप्पावो-अ०

ईसालुयाए गोववदीए [1]गामकूडधूयिया चेव ।
छिण्णं पहदो सीसं भल्लेण पासे सीहबलो ॥९४४॥

'**ईसालुयाए**' ईर्ष्यावत्या । '[2]**कोववदीए**' कोपवतीनामधेया तया । '**गामकूडधूविगा एव**' ग्रामकूटस्य दुहितु । '**सीसं छिण्णं**' शिरश्छिन्नं । '**पहदो**' प्रहतस्तथा । '**भल्लएण**' शक्त्या । '**पासम्मि**' पार्श्वदेशे । '**सीहबलो**' सिहबलसंज्ञित ॥९४४॥

वीरमदीए सूलगदचोरदट्ठोट्ठिगाए वाणियओ ।
पहदो दत्तो य तहा छिण्णो ओट्ठोत्ति आलविदो ॥९४५॥

'**वीरवदीए**' [3]वीरपतीमज्ञिकया । '**सूलगदचोरदट्ठोट्ठिगाए**' शूलस्थचोरदष्टाधरया । '**वाणियगो**' वणिक्सुत । '**पहदो**' प्रहत । '**दत्तो य**' दत्तश्च । '**तहा**' तथा । '**छिण्णो ओट्ठोत्ति**' ओष्ठच्छेदोऽनेन कृत इति च । '**आलविदो**' भणित ॥९४५॥

वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकण्हसप्पसत्तूसु ।
सो वीसंभं गच्छदि वीसंभदि जो महिलियासु ॥९४६॥

'**वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकिण्हसप्पसत्तूसु**' व्याघ्रे, विषे, चोरे, अग्नौ, जले, मत्तगजे, कृष्णसर्पे, शत्रौ च । '**सो विस्संभं गच्छदि**' स विस्रम्भ गच्छति । '**विस्सभदि जो महिलियासु**' विस्रम्भ य करोति वनितासु ॥९४६॥

वग्घादीया एदे दोसो ण णरस्स तह करेज्जण्हू ।
जं कुणइ महादोसं दुट्ठा महिला मणुस्सस्स ॥९४७॥

गा०—ईर्ष्यालु कोपवतीने ग्रामकूटकी पुत्रीका सिर काट दिया और सिहबलकी कोखमे भाला भोक दिया ॥९४४॥

विशेषार्थ देवरति और सिंहबलकी कथा बृहत्कथाकोशमे ८५-८६ नम्बरपर हैं । उसमे गोमती नाम है ॥९४४॥

गा०—वीरमती एक चोरसे फँसी थी । उसे सूली दी गई तो वह उससे मिलने गई । चोरने कहा—अपने मुखका पान दो । इस बहाने चोरने उसका ओठ काट लिया । उसने कहा कि मेरे पति दत्तने मेरा ओठ काट लिया ॥९४५॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमे वीरवतीकी कथाका क्रमाङ्क ८७ है ॥९४५॥

गा०—जो स्त्रियोका विश्वास करता है वह व्याघ्र, विष, चोर, आग, पानी, मत्त हाथी, कृष्ण सर्प, और शत्रुका विश्वास करता है अर्थात् स्त्रीपर विश्वास ऐसा ही भयानक है जैसा इनपर विश्वास करना भयानक है ॥९४६॥

---

१ 'गामकूडधूदिया सीसं । छिण्ण पहदो तध भल्लएण पासम्मि '' ।—मु० । २ गोववदीए गोपवती''—मु० । गोववदीए गोपवती संज्ञया—मूलारा० । ३. वीरमती—आ० ।

व्याघ्रादिषु विस्रम्भगमनात्पापीयो विस्रम्भगमन वनितास्विति कथयत्युत्तरगाथा। '**वग्घादीया**' व्याघ्र-विषादय पूर्वसूत्रनिर्दिष्टा। '**दोसं**' दोष। '**नरस्य**' नरस्य। '**ण करिज्जण्हू**' न कुर्युः। '**जं कुणदि महादोसं**' यं करोति महान्तं दोष। '**दुट्ठा महिला**' दुष्टा वनिता। '**मणुस्सस्स**' मनुष्यस्य ॥९४७॥

पाउसकालणदीवोव्व ताओ णिच्चंपि कलुसहिदयाओ।
धणहरणकदमदीओ चोरोव्व सकज्जगुरुयाओ ॥९४८॥

'**पाउसकालणदीवोव्व**' प्रावृट्कालस्य नद्य इव। '**ताओ**' ता। '**णिच्च पि**' नित्यमपि। '**कलुस्स-हिदयाओ**' कलुषहृदया। स्त्रीषु हृदमशब्देन चित्तमुच्यते। नदीष्वभ्यन्तर। रागेण, द्वेषेण, मोहेन, ईर्ष्यया, असूयया, मायया वा कलुषीकृतमेव चित्त तासा। '**चोरोव्व**' चोर इव। '**सकज्जगुरुगाओ**' स्वकार्ये गुर्व्य। '**धणहरणकदमदीओ**' धनापहरणे कृतबुद्धय। चौरा अपि कथमस्माभिरिदमेतदीयमात्मसात्कृत भवतीति कृत-बुद्धय। ता अपि मधुरवचनेन रतिक्रीडानुकूलतया वा पुरुषस्य द्रव्यमाहर्तुं मुद्यता ॥९४८॥

रोगो दारिद्दं वा जरा व ण उवेइ जाव पुरिसस्स।
ताव पिओ होदि णरो कुलपुत्तीए वि महिलाए ॥९४९॥

'**रोगो दारिद्दं वा**' व्याधिर्दारिद्र्य वा। जरा वा। '**ण उवदि**' न ढौकते यावत्पुरुष। '**ताव पिओ होदि णरो**' तावत्प्रियो भवति नर। '**कुलपुत्तीए वि**' कुलपुत्र्या अपि। **महिलाए** कान्ताया। कुलपुत्रीषु वान्या[1] किमस्ति साध्यो हि प्रायेण कुलपुत्र्य पतिमेव देवतेति मन्यमाना प्रिय त्यजन्तीति ॥९४९॥

जुण्णो व दरिद्दो वा रोगी सो चेव होइ से वेसो।
णिप्पीलिओव्व उच्छू मालाव मिलाय गदगंधा ॥९५०॥

व्याघ्रादिमे विश्वास करनेकी अपेक्षा स्त्रियोमे विश्वास करना अधिक खतरनाक है यह कहते हैं—

गा०—पूर्वगाथामे कहे गये व्याघ्र आदि मनुष्यका उतना अहित नही करते, जितना महान् अहित दुष्ट स्त्री करती है ॥९४७॥

गा०-टी०—वर्षाकालकी नदियोकी तरह स्त्रियोका हृदय भी नित्य कलुषित रहता है। स्त्रियोके पक्षमे हृदय शब्दका अर्थ चित्त है और नदियोके पक्षमे अभ्यन्तर है। राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, परनिन्दा अथवा मायाचारसे स्त्रियोका चित्त सदा कलुषित रहता है। चोरकी तरह वे भी अपना कार्य करनेमे तत्पर रहती है और उनकी बुद्धि मनुष्यका धन हरनेमे रहती है। चोर भी यही विचारते रहते है कि कैसे हम इनका धन हरण करे। स्त्रियाँ भी मीठे वचनोसे अथवा रतिक्रीड़ामें अनुकूल बनकर पुरुषका द्रव्य हरनेमे तत्पर रहती है ॥९४८॥

गा०—कुलीन महिलाएँ प्रायः पतिको ही देवता मानकर अपने प्रियको छोड़ देती हैं। किन्तु कुलीन नारियोका भी मनुष्य तभी तक प्रिय रहता है जब तक उसे रोग या दारिद्र्य, बुढ़ापा नही सताता ॥९४९॥

---

१ वान्य ज०।

'**जुण्णो**' वृद्धो वा '**दरिद्दो**' दरिद्र । '**रोगिदो**' व्याधित । '**सो चेव**' स एव युवत्वे धनित्वे नीरोगत्वे वा य. प्रिय स एव '**होदि**' भवति । '**से**' तस्या. । '**वेसो**' द्वेष्य. । '**णिप्पीलिदोव्व**' निष्पीडित इव '**उच्छू**' इक्षु. । '**मालाव मिलाय गवगंधा**' मालेव म्लाना नष्टगन्धा । अपहृतरस इक्षु शोभारहितनिर्गन्धमाला च यथाऽप्रिया । यौवन, धन, शक्तिश्च पुंसोऽतिशयस्तदपाये नैवासाविष्यते स्त्रीभिः ॥९५०॥

महिला पुरिसमवण्णाए चेव वंचइ णियडिकवडेहिं ।
महिला पुण पुरिसकदं जाणइ कवडं अवण्णाए ॥९५१॥

'**महिला पुरिसमवण्णाए**' वनिता पुरुषमनादरेणैव वञ्चयति । निकृत्या कपटतया च स्त्रीभि. कृतां निकृति वञ्चना शठता च न जानन्ति पुमास. । '**महिला पुण**' वामलोचना पुन '**जाणदि**' जानाति । किं ? कपटशत '**पुरिसकदं**' पुरुषेण कृत । '**अवण्णाए**' अवज्ञया औदासीन्येनैव अक्लेशेनेति यावत् ॥९५१॥

नरो ह्येव मन्यते प्रियोऽहमेतस्या इति न[1] च सा इत्याचष्टे—

जह जह मण्णेइ णरो तह तह परिभवइ त णरं महिला ।
जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ ॥९५२॥

'**जह जह मण्णेइ णरो**' यथा यथा मानयति नर तथा तथा परिभवति त नर युवति । '**जह जह कामेदि णरो**' यथा यथा कामयते मनुष्यस्तथा तथा '**पुरिसं विमाणेदि**' तथा तथा पुरुष विमानयति ॥९५२॥

मत्तो गउव्व णिच्चं पि ताउ मदविंभलाओ महिलाओ ।
दासेव सगे पुरिसे किं पि य ण गणंति महिलाओ ॥९५३॥

'**मत्तो गओव्व**' मत्तगज इव । '**णिच्चं**' नित्य । '**ताओ मदविंभलाओ**' मदेन विह्वला युवतय । '**दासे व सगे पुरिसे**' दासे वा स्वपुरुषे वा । '**किंचिवि**' किञ्चिदपि विशेषजात । '**ण गणंति**' नैव गणयन्ति । कुलीनोऽय मान्यो भर्त्ता स्वामी मम । दास्या पुत्रोऽयं जघन्य अहमस्य [2]स्वामिनीति विवेक (न) करोति ॥९५३॥

गा०-टी०—युवावस्थामे, धनी अवस्थामे अथवा नीरोग अवस्थामे जो मनुष्य स्त्रियोको प्रिय होता है वही मनुष्य वृद्ध, दरिद्र अथवा रोगी होने पर रस निकाली हुई ईखकी तरह अथवा गन्ध रहित मलिन मालाकी तरह अप्रिय होता है। अर्थात् रस निकाली हुई ईख और शोभा रहित गन्धहीन माला जैसे अप्रिय होती है वैसे ही यौवन धन और शक्ति पुरुष की विशेषताएँ हैं, उनके न रहने पर उसे स्त्रियाँ पसन्द नही करती ॥९५०॥

गा०—स्त्री पुरुषको छल कपटके द्वारा अनायास ही ठग लेती है, पुरुष स्त्रियोके छल कपटको जान भी नही पाता। किन्तु पुरुषके द्वारा किये गये कपटको स्त्री तुरन्त जान लेती हैं उसे उसके लिये कुछ भी कष्ट उठाना नही होता ॥९५१॥

पुरुष समझता है कि मै इसको प्रिय हूँ किन्तु स्त्री ऐसा नही समझती, यह कहते है—

गा०—जैसे जैसे पुरुष स्त्रीका आदर करता है वैसे वैसे स्त्री उसका निरादर करती है। जैसे जैसे मनुष्य उसकी कामना करता है वैसे वैसे वह पुरुषकी अवज्ञा करती है ॥९५२॥

गा०—मत्त हाथीको तरह स्त्रियाँ मदसे उन्मत्त रहती हैं। वे अपने दासमे और पतिमें कुछ

१ न चासौ प्रिय इ—आ० मु० । २ स्वामी नेति—ज० ।

अणिहुदपरगदहिदया ताओ वग्घीव दुट्ठहिदयाओ ।
पुरिसस्स ताव सत्तू व सदा पावं विचिंतंति ॥९५४॥

'अणिहुदपरगदहिदया ताओ' अनिभृतं परगत हृदयमासामिति अनिभृतपरगतहृदया भवन्ति । अनिवारितपरासक्तचित्तत्तादोषः । **'वग्घीव दुट्ठहिदयाओ'** दुष्टहृदयमासा अकृतेऽप्यपकारे यथा व्याघ्री पर मारयितुमेव कृतचित्तेति दुष्टहृदया एवमिमा अपि । **'पुरिसस्स ताव'** पुरुषस्य तावत् । **'सत्तू व सदा पावं विचिंतंति'** शत्रुरिव सदा पापमेव अशुभमेव चेतसि कुर्वन्ति । यथा यो रिपु कश्चित्कस्यचित्सर्वदा धनमस्य [1]विनश्यतु, विपदोऽस्य [2]भवन्त्विति चित्त करोति तथैव ता अपि ॥९५४॥

संझाव णरेसु सदा ताओ हुंति खणमेत्तरागाओ ।
वादोव महिलियाण हिदयं अदिचंचलं णिच्चं ॥९५५॥

'संझाव णरेसु सदा ताओ होंति' सध्या इव नरेषु सदा ता भवन्ति । **'खणमित्तरागाओ'** अल्पकालरागा । अस्थिररागता नाम दोष प्रकटित । यथा सध्याया रक्तता विनाशिनी । **'महिलियाण हिदयं अविचंचलं णिच्चं'** स्त्रीणा हृदय अतिचञ्चल नित्य । किमिव ? **'वादो व'** वात इव ॥९५५॥

जावइयाइं तणाइं वीचीओ वालिगाव रोमाइं ।
लोए हवेज्ज तत्तो महिलाचिंताइं बहुगाइं ॥९५६॥

'जावइयाइं' यावन्ति तृणानि, **'वीचय'**, वालुका, **रोमाणि'** च जगति ततो युवतीना चिन्ता बह्व्यः ॥९५६॥

आगास भूमि उदधी जल मेरू वाउणो वि परिमाण ।
मादुं सक्का ण पुणो सक्का इत्थीण चित्ताइं ॥९५७॥

भी अन्तर नही करती। यह मेरा मान्य कुलीन पति है और यह दासीका पुत्र नीच है, मै इसकी स्वामिनी हूँ यह भेद नही करती ॥९५३॥

गा०-टी०—उनका चित्त निरन्तर पर पुरुषमे रहता है। तथा व्याघ्रीकी तरह उनका हृदय दुष्ट होता है। जैसे व्याघ्री कोई अपकार न करने पर भी दूसरेको मारनेका ही विचार रखती है उसी तरह ये स्त्रियाँ भी होती है। वे शत्रुके समान सदा पुरुषके अशुभका ही चिन्तन करती हैं। जैसे किसीका कोई शत्रु सदा चित्तमे सोचता रहता है—इसका धन नष्ट हो जाये, इस पर विपत्तियाँ आयें, वैसे ही स्त्रियाँ भी सदा बुरा विचारा करती है ॥९५४॥

गा०—सन्ध्याकी तरह स्त्रियोका राग भी अल्प काल रहता है। जैसे सन्ध्याकी लालिमा विनाशीक है वैसी ही स्त्रियोका अनुराग भी विनाशीक है। इससे अस्थिर रागता नामक दोष प्रकट किया है। तथा महिलाओका हृदय वायु को तरह सदा अति चचल होता है ॥९५५॥

गा०—लोकमे जितने तृण हैं, (समुद्रमे) जितनी लहरें हैं, बालुके जितने कण है तथा जितने रोम हैं, उनसे भी अधिक स्त्रियोके मनोविकल्प हैं ॥९५६॥

---

१ विनश्यति–अ० आ० । २ भवन्तीति–अ० आ० ।

'**आगासभूमि**' आकाशस्य भूमेरुदधेर्जलस्य, मेरोर्वायोश्च परिमाणमस्ति। स्त्रीणां चित्तं पुनर्मातुं न शक्यमस्ति ॥९५७॥

चिट्ठंति जहा ण चिरं विज्जुज्जलबुब्बुदो व उक्का वा।
तह ण चिरं महिलाए एक्के पुरिसे हवदि पीदी ॥९५८॥

'**जहा ण चिरं चिट्ठंति**' यथा न चिरं तिष्ठन्ति विद्युत.। जलबुद्‌बुदा उल्काश्च तथा वनितानां न कस्मिंश्चित्पुरुषे प्रीतिश्चिरं तिष्ठति ॥९५८॥

परमाणू वि कहंचिवि आगच्छेज्ज गहणं मणुस्सस्स।
ण य सक्का घेत्तुं जे चित्तं महिलाए अदिसण्हं ॥९५९॥

परमाणुरपि कथंचिन्मनुष्यस्य ग्रहणमागच्छेत्। वनितानां चित्त पुन ग्रहीतुं न शक्यमतिसूक्ष्मं ॥९५९॥

कुविदो व किण्हसप्पो दुट्ठो सीहो गओ मदगलो वा।
सक्का हवेज्ज घेत्तुं ण य चित्तं दुट्ठमहिलाए ॥९६०॥

'**कुविदो व**' कुपित कृष्णसर्प. दुष्टः सिंहो, मदगजो वा ग्रहीतुं शक्यते। न तु ग्रहीतुं शक्यते दुष्टवनिताचित्तम् ॥९६०॥

सक्कं हविज्ज दट्ठुं विज्जुज्जोएण रूवमच्छिम्मि।
ण य महिलाए चित्तं सक्का अदिचंचलं णादुं ॥९६१॥

'**सक्कं हवेज्ज**' विद्युद्द्योतेन अक्षिस्थं रूपं द्रष्टुं शक्यं न पुनर्युवतिचित्तमतिचपलं अवगन्तुं शक्यम् ॥९६१॥

गा०—आकाशकी भूमि, समुद्रके जल, सुमेरु और वायुका भी परिमाण मापना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके चित्तका मापना शक्य नहीं है ॥९५७॥

गा०—जैसे बिजली, पानीका बुलबुला और उल्का बहुत समय तक नहीं रहते, वैसे ही स्त्रियोंकी प्रीति एक पुरुषमें बहुत समय तक नहीं रहती ॥९५८॥

गा०—परमाणु भी किसी प्रकार मनुष्यकी पकड़में आ सकता है। किन्तु स्त्रियोंका चित्त पकड़में आना शक्य नहीं है वह परमाणुसे भी अति सूक्ष्म है ॥९५९॥

गा०—क्रुद्ध कृष्ण सर्प, दुष्ट सिंह, मदोन्मत्त हाथीको पकड़ना शक्य हो सकता है किन्तु दुष्ट स्त्रीके चित्तको पकड़ पाना शक्य नहीं है ॥९६०॥

गा०—बिजलीके प्रकाशमें नेत्रमें स्थित रूपको देखना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके अति चंचल चित्तको जान लेना शक्य नहीं है ॥९६१॥

[1]अणुवत्तणाए गुणवयणेहि य चित्तं हरंति पुरिसस्स ।
मादा व जाव ताओ रत्तं पुरिस ण याणंति ॥९६२॥

[2]अलिएहिं हसियवयणेहिं अलियरुयणेहिं अलियसवहेहिं ।
पुरिसस्स चलं चित्तं हरंति कवडाओ महिलाओ ॥९६३॥

महिला पुरिसं वयणेहिं हरदि पहणदि य पावहिदएण ।
वयणे अमयं चिट्ठदि हियए य विसं महिलियाए ॥९६४॥

'महिला पुरिसं वयणेहिं' वनिता पुरुष वचनैर्हरति । हन्ति च पापेन हृदयेन । वाक्ये मधु तिष्ठति । हृदये विषं युवतीनाम् ॥९६४॥

[3]तो जाणिऊण रत्तं पुरिसं चम्मट्ठिमंसपरिसेसं ।
उद्दाहंति वधंति य बडिसामिसलग्गमच्छं व ॥९६५॥

उदए पवेज्ज हि सिला अग्गी ण डहिज्ज सीयलो होज्ज ।
ण य महिलाण कदाई उज्जुयभावो णरेसु हवे ॥९६६॥

'उदए पवेज्ज खु' उदके तरेदपि शिला, अग्निरपि न दहेत्, शीतलो वा भवेत् । नैव वनितानां कदाचिन्नरेषु ऋजु भवति मन ॥९६६॥

उज्जुयभावम्मि असन्तयम्मि किध होदि तासु वीसभो ।
विस्संभम्मि असंते का होज्ज रदी महिलियासु ॥९६७॥

गा०—जब तक वे पुरुषको अपनेमे अनुरक्त नही जानती तब तक वे पुरुषके अनुकूल वर्तनके द्वारा तथा प्रशसा परक वचनोके द्वारा पुरुषके मनको उसी प्रकार आकृष्ट करती है जैसे माता बालकके मनको आकृष्ट करती है ॥९६२॥

गा०—बनावटी हास्य वचनोसे, बनावटी रुदनसे, झूंठी शपथोसे कपटी स्त्रियां पुरुषके चंचल चित्तको हरती है ॥९६३॥

गा०—स्त्री वचनोके द्वारा पुरुषको आकृष्ट करती है और पापपूर्ण हृदयसे उसका घात करती है । स्त्रीके वचनोमे अमृत भरा रहता है और हृदयमे विष भरा होता है ॥९६४॥

गा०—जब वे जानती हैं कि हमारेमे अनुरक्त पुरुषके पास चाम हड्डी और मांस ही शेष है तो उसे वशोमे लगे मासके लोभसे फँसे मत्स्यकी तरह संताप देकर मार डालती हैं ॥९६५॥

गा०—शिला पानीमे तिर सकती है । आग भी न जलाकर शीतल हो सकती है किन्तु स्त्रीका मनुष्यके प्रति कभी भी सरल भाव नही होता ॥९६६॥

गा०—सरल भावके अभावमें कैसे उनमे विश्वास हो सकता है । और विश्वासके अभावमे स्त्रियोमें प्रेम कैसे हो सकता है ॥९६७॥

१-२. एते द्वे अपि गाथे टीकाकारो नेच्छति । ३. एता टीकाकारो नेच्छति ।

'उज्जुगभावम्मि' ऋजुभावे असति कथं भवति तासु विस्रम्भः। असति विस्रम्भे का वनितासु रतिः ॥९६७॥

गच्छिज्ज समुद्दस्स वि पारं पुरिसो तरित्तु ओघबलो ।
मायाजलमहिलोदधिपारं ण य सक्कदे गंतुं ॥९६८॥

'गच्छिज्ज' गच्छेत् समुद्रस्य अपि परं पारं तीर्त्वा महाबलः। मायाजलवनितोदधिपार नैव गन्तुं शक्नोति ॥९६८॥

रदणाउला सवग्घावगुहा गाहाउला च रम्मणदी ।
मधुरा रमणिज्जावि य सढा य महिला सदोसा य ॥९६९॥

'रदणाउला' रत्नसंकीर्णा सव्याघ्रा गुहेव रम्या नदी ग्राहाकुलेव मधुरा रम्या शठा सदोषा च वनिता ॥९६९॥

दिट्ठं पि सब्भावं पडिज्जदि णियडिमेव उद्देदि ।
गोधाणुलुकमिच्छी करेदि पुरिसस्स कुलजावि ॥९७०॥

'दिट्ठंपि' दृष्टमपि न प्रतिपद्यते सद्भावं निकृतिमेवोपन्यस्यति ॥९७०॥

पुरिसं वधमुवणेदित्ति होदि बहुगा णिरुत्तिवादम्मि ।
दोसे [1]संघादिंदि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स ॥९७१॥

'पुरिसं वधमुवणेदित्ति' पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति निरुच्यते। मनुष्यस्य दोषान्सहतान्करोतीति स्त्रीति निगद्यते ॥९७१॥

गा०—महाबलशाली मनुष्य समुद्रको भी पार करके जा सकता है। किन्तु मायारूपी जलसे भरे स्त्रीरूपी समुद्रको पार नही कर सकता ॥९६८॥

गा०—रत्नोंसे भरी किन्तु व्याघ्रके निवाससे युक्त गुफा और मगरमच्छसे भरी सुन्दर नदीकी तरह स्त्री मधुर और रमणीय होते हुए भी कुटिल और सदोष होती है ॥९६९॥

गा०—दूसरेने स्त्रीमे दोष देखा हो तो भी स्त्री यह स्वीकार नही करती कि मेरेमे यह दोष है। प्रत्युत यही कहती है कि मेरा यह दोष नही है या मैंने ऐसा नही किया है। इस विषयमें दृष्टान्त कहते है—जैसे गोह जिस भूमिको पकड लेती है, बलपूर्वक छुडाने पर भी उसे नही छोडती। उसी प्रकार स्त्री भी अपने द्वारा गृहीत पदको नही छोडती। अन्य भी अर्थ टीकाकारोंने किया है—जैसे गोह पुरुषको देखकर उससे अपनेको छिपाती है उसी प्रकार स्त्री भी पुरुषको देखकर अपनेको छिपाती है कि यह मुझे न देख सकें। अथवा दूसरेने कोई अच्छा कार्य किया और स्त्रीने उसे देखा भी, फिर भी वह उसे स्वीकार नही करती, बल्कि व्यंग रूपसे उसको बुरा ही कहती है ॥९७०॥

गा०—स्त्री वाचक शब्दोंकी निरुक्तिके द्वारा भी स्त्रीके दोष प्रकट होते हैं—पुरुषका वध करती है इसलिये उसे वधू कहते है। मनुष्यमे दोषोंको एकत्र करती है इसलिये स्त्री कहते है ॥९७१॥

---

१. संघाडेत्ति–मूलारा०।

तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णोत्ति उच्चदे णारी ।
पुरिसं सदा पमत्तं कुणदित्ति य उच्चदे पमदा ॥९७२॥

'तारिसओ' तादृगन्यो नरस्य नारिरस्तीति नारीत्युच्यते । पुरुषं सदा प्रमत्तं करोतोति प्रमदेति निरुच्यते ॥९७२॥

[1]गलए लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा ।
जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य ॥९७३॥
[2]अबलत्ति होदि जं से ण दढं हिदयम्मि धिदिबलं अत्थि ।
कुम्मरणोपायं जं जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी ॥९७४॥
[3]आलं जणेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा ।
एयं महिलाणामाणि होंति असुभाणि सव्वाणि ॥९७५॥
णिलओ कलीए अलियस्स आलओ अविणयस्स आवासो ।
आयसस्सावसघो महिला मूलं च कलहस्स ॥९७६॥

'णिलओ कलीए' कलेर्निलय । व्यलीकस्यालय' । अविनयस्याकर । आयासस्यावकाश: । कलहस्य च मूलं युवति. ॥९७६॥

सोगस्स सरी वेरस्स खणी णिवहो वि होइ कोहस्स ।
णिचओ णियडीणं आसवो महिला अकित्तीए ॥९७७॥

'सोगस्स सरी' [4]शोकनिम्नगाया नदी । वैरस्य खनि । निवह कोपस्य । निचयो निकृतीनां । अकीर्तेराश्रयो युवति. ॥९७७॥

गा०—मनुष्यका ऐसा 'अरि' शत्रु दूसरा नही है इसलिए उसे नारी कहते है। पुरुषको सदा प्रमत्त करती है इसलिये उसे प्रमदा कहते हैं ॥९७२॥

गा०—पुरुषके गलेमें अनर्थ लाती है । अथवा पुरुषको देखकर विलीन होती है इसलिए विलया कहते हैं । पुरुषको दु:खसे योजित करती है इससे युवती और योषा कहते हैं ॥९७३॥

गा०—उसके हृदयमें धैर्यरूपी बल नही होता अत वह अबला कही जाती है । कुमरणका उपाय उत्पन्न करनेसे कुमारी कहते हैं ॥९७४॥

गा०—पुरुष पर आल—दोषारोप करती है इसलिए महिला कहते है । इस प्रकार स्त्रियोके सब नाम अशुभ होते हैं ॥९७५॥

गा०—स्त्री रागद्वेषका घर है । असत्यका आश्रय है । अविनयका आवास है, कष्टका निकेतन है और कलहका मूल है ॥९७६॥

गा०—शोकको नदी है । वैरकी खान है । क्रोधका पुंज है । मायाचारका ढेर है । अपयश-का आश्रय है ॥९७७॥

१-२-३. एतद् गाथात्रय टीकाकारो नेच्छति । ४. शोकस्य नदी, वैरस्यावनि'—आ० मु० ।

णासो अत्थस्स खओ देहस्स य दुग्गदीपमग्गो य ।
आवाहो य अणत्थस्स होइ पहवो य दोसाणं ॥९७८॥

'णासो अत्थस्स' अर्थस्य नाशः । देहस्य क्षयः । दुर्गतेर्मार्गः । अनर्थस्य कुल्या । दोषाणा प्रभवः ॥९७८॥

महिला विग्घो धम्मस्स होदि परिहो य मोक्खमग्गस्स ।
दुक्खाण य उप्पत्ती महिला सुक्खाण य विपत्ती[1] ॥९७९॥

'महिला विग्घो' वनिता विघ्नो भवति । 'धम्मस्स' धर्मस्य । 'परिघो' मोक्षमार्गस्य । दुःखाना चोत्पत्ति । सौख्याना च विपत्तिः ॥९७९॥

पासो व बंधिदुं जे छेत्तुं महिला असीव पुरिसस्स ।
सिल्लं व विंधिदुं जे पंकोव निमज्जिदुं महिला ॥९८०॥

'पासो व बंधिदुं जे' पाश इव बधितुं । सुगमा गाथा इति नादरो व्याख्याने ॥९८०॥

सूलो इव भित्तुं जे होइ पवोढुं तहा गिरिणदी वा ।
पुरिसस्स खुप्पदुं कद्दमोव मचुव्व मरिदुं जे ॥९८१॥
अग्गीवि य डहिदुं जे मदोव पुरिसस्स मुज्झिदुं महिला ।
महिला णिकत्तिदुं करकचोव कंडुव पउलेढुं ॥९८२॥
पाडेदुं परसू वा होदि तह मुग्गरो व ताडेदुं ।
अवहणणं पि य चुण्णेदुं जे महिला मणुस्सस्स ॥९८३॥

गा०—धनका नाश करने वाली है । शरीरका क्षय करती है । दुर्गतिका मार्ग है । अनर्थके लिए प्याऊ है और दोषोका उत्पत्ति स्थान है ॥९७८॥

गा०—स्त्री धर्ममे विघ्नरूप है । मोक्षमार्गके लिए अर्गला (साकल) है, दु.खोकी उत्पत्तिका स्थान है और सुखोके लिए विपत्ति है ॥९७९॥

गा०—स्त्री पुरुषको बाँधनेके लिए पाशके समान है । मनुष्यको काटनेके लिए तलवारके समान है । बीधनेके लिये भालेके समान है और डूबनेके लिये पकके समान है ॥९८०॥

गा०—स्त्री मनुष्यके भेदनेके लिए शूलके समान है । ससार रूपी समुद्रमे गिरनेके लिए नदीके समान है । खपानेके लिए दलदलके समान है । मारनेको मृत्युके समान है ॥९८१॥

गा०—जलानेको आगके समान है । मदहोश करनेके लिए मदिराके समान है । काटनेके लिए आरेके समान है । पकानेके लिए हलवाईके समान है ॥९८२॥

गा०—विदारण करनेके लिए फरसाके समान है । तोड़नेके लिए मुदगरके समान है, चूर्ण करनेके लिए लुहारके घनके समान है ॥९८३॥

---

१ विक्ती–मु०, मूलारा० ।

चंदो हविज्ज उण्हो सीदो सूरो वि थड्डमागासं ।
ण य होज्ज अदोसा भद्दिया वि कुलबालिया महिला ॥९८४॥

एए अण्णेय बहुदोसे महिलाकदे वि चिंतयदो ।
महिलाहितो विचित्तं उव्वियदि विसग्गिसरसीहिं ॥९८५॥

वग्घादीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ।
तह महिलाणं दोसे दट्ठुं महिलाओ परिहरइ ॥९८६॥

महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीयाणं ।
तत्तो अहियदरा वा तेसिं बलसत्तिजुत्ताणं ॥९८७॥

जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ ।
तह सीलरक्खियाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा ॥९८८॥

किं पुण गुणसहिदाओ इत्थिओ अत्थि वित्थडजसाओ ।
णरलोगदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥९८९॥

तित्थयरचक्कधरवासुदेवबलदेवगणधरवराण ।
जणणीओ महिलाओ सुरणरवरेहिं महियाओ ॥९९०॥

गा०—कदाचित् चन्द्रमा उष्ण हो जाय, सूर्य शीतल हो जाय, आकाश कठोर हो जाय, किन्तु कुलीन स्त्री भी निर्दोष और भद्र परिणामी नहीं होती ॥९८४॥

गा०—स्त्रियोंके इन तथा अन्य बहुतसे दोषोंका विचार करने वाले पुरुषोंका मन विष और आगके समान स्त्रियोंसे विमुख हो जाता है ॥९८५॥

गा०—जैसे पुरुष व्याघ्र आदिके दोष देखकर व्याघ्र आदिको त्याग देता है उनसे दूर रहता है, वैसे ही स्त्रियोंके दोष देखकर मनुष्य स्त्रियोंसे दूर हो जाता है ॥९८६॥

गा०—स्त्रियोंमें जो दोष होते हैं वे दोष नीच पुरुषोंमें भी होते हैं अथवा मनुष्योंमें जो बल और शक्तिसे युक्त होते है उनमें स्त्रियोंसे भी अधिक दोष होते है ॥९८७॥

गा०—जैसे अपने शीलकी रक्षा करने वाले पुरुषोंके लिए स्त्रियाँ निन्दनीय हैं। वैसे ही अपने शीलकी रक्षा करने वाली स्त्रियोंके लिए पुरुष निन्दनीय है ॥९८८॥

गा०—जो गुणसहित स्त्रियाँ है, जिनका यश लोकमे फैला हुआ है, तथा जो मनुष्य लोकमें देवता समान हैं और देवोंसे पूजनीय हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाये, कम है ॥९८९॥

गा०—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरोंको जन्म देने वाली महिलाएँ श्रेष्ठ देवो और उत्तम पुरुषोके द्वारा पूजनीय होती है ॥९९०॥

एगपदिव्वइकण्णावयाणि धारिंति किंचि[1] महिलाओ ।
वेधव्वतिव्वदुक्खं आजीवं णिंति काओ वि ॥९९१॥

सीलवदीओ सुव्वंति महीयले पत्तपाडिहेराओ ।
सावाणुग्गहसमत्थाओ वि य काओवि महिलाओ ॥९९२॥

ओग्घेण ण वूढाओ जलंतघोरग्गिणा ण दड्ढाओ ।
सप्पेहिं [2]सावदेहिं य परिहरिदाओव काओ वि ॥९९३॥

सव्वगुणसमग्गाणं साहूणं पुरिसपवरसीहाणं ।
चरमाणं जणणित्तं पत्ताओ हवंति काओ वि ॥९९४॥

मोहोदयेण जीवो सव्वो दुस्सीलमइलिदो होदि ।
सो पुण सव्वो महिला पुरिसाणं होइ सामण्णो ॥९९५॥

तम्हा सा [3]पल्लवणा पउरा महिलाण होदि अधिकिच्चा ।
सीलवदीओ भणिदे दोसे किह णाम पावंति ॥९९६॥

इत्थिगदा ॥९९६॥

स्त्रीगतान्दोषानभिधाय अशुचिनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

देहस्स बीयणिप्पत्तिखेत्तआहारजम्मवुड्ढीओ ।
अवयवणिग्गमअसुई पिच्छसु वाधी य अधुवत्तं ॥९९७॥

गा०—कितनी ही महिलाएँ एक पतिव्रत और कौमार ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती है। कितनी ही जीवन पर्यन्त वैधव्यका तीव्र दुःख भोगती हैं ॥९९१॥ ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं जिन्हे देवोके द्वारा सन्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शीलके प्रभावसे शाप देने और अनुग्रह करनेमें समर्थ थी ॥९९२॥ कितनी ही शीलवती स्त्रियाँ महानदीके जल प्रवाहमे भी नही डूब सकीं और प्रज्वलित घोर आगमें भी नही जल सकी तथा सर्प व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नही कर सके ॥९९३॥ कितनी ही स्त्रियाँ सर्व गुणोंसे सम्पन्न साधुओं और पुरुषोमे श्रेष्ठ चरम शरीरी पुरुषोको जन्म देने वाली माताएँ हुई हैं ॥९९४॥ सब जीव मोहके उदयसे कुशीलसे मलिन होते हैं। और वह मोहका उदय स्त्री-पुरुषोके समान रूपसे होता है ॥९९५॥

गा०—अतः ऊपर जो स्त्रियोके दोषोंका वर्णन किया है वह स्त्री सामान्यकी दृष्टिसे किया है। शीलवती स्त्रियोमे ऊपर कहे दोष कैसे हो सकते हैं ॥९९६॥

इस प्रकार स्त्रियोके गुण-दोषोका वर्णन सम्पूर्ण हुआ। स्त्रियोके दोषोको कहनेके पश्चात् अशुचित्वका कथन करते हैं—

---

१. किंत्तिमालाओ इति पाठान्तरं मूलारा० । २. सावज्जेहि वि हरिदा खद्धाण काओवि–आ०मु० ।
३. पण्णवणा आ० ।

देहस्य बीज इत्यादिकः । देहस्य बीजं, निष्पत्तिः, क्षेत्रं, आहारः, जन्म, वृद्धिः, अवयव, निर्गमः, अशुचिः, व्याधिरध्रुवतेत्येतान्पश्येति सूरिर्ब्रवीति क्षपकं ॥९९७॥

देहस्य बीजमित्येतद्व्याख्यानायोत्तरगाथा—

देहस्स सुक्कसोणिय असुई परिणामिकारणं जम्हा ।
देहो वि होइ असुई अमेज्झघदपूरओ व तदो ॥९९८॥

'देहस्य बीजं' मनुजाना शुक्रशोणितं । अशुचि शुक्रं पुस, शोणितं च वनितायाः परिणामि कारण । **'जम्हा'** यस्मात् । परिणामिकारण शरीरत्वेन तदुभय परिणमति तस्मात्परिणामिकारण । **'देहोवि असुइ'** शरीरमपि अशुचि तत एव । **'अमेज्झघदपूरओ व'** अमेध्यघृतपूरक इव । यदशुचिपरिणामि कारणं तदशुचि यथाऽमेध्यघृतपूरकः अशुचिपरिणामकारणं च शरीर इति सूत्रार्थ ॥९९८॥

दट्ठुं वि अमेज्झमिव विहिंसणीयं कुदो पुणो होज्ज ।
ओज्जिग्घिदुमालद्धुं परिभोत्तुं चावि तं बीयं ॥९९९॥

'दट्ठुं वि य' द्रष्टुमपि । **'विहिंसणीय'** जुगुप्सनीय । **'अमेज्झमिव'** अमेध्यमिव । **'कुदो पुणो होज्ज ओज्जिग्घिदु'** कुत पुनर्भवेदाघ्रातु । **'आलद्धु'** आलिङ्गितु । **'परिभोत्तुं चावि'** परिभोक्तु चापि । **'त बीजं'** तत् शुक्रशोणिताख्य बीज । तत्परिणामत्वाच्छरीरमपि तदेव बीजमिद शरीरमिति मत्वा बीजमिति उक्तं ॥९९९॥

परिणामिकारणशुद्धया तत्परिणामरूप कार्यं शुद्ध भवति शरीर न तथेति कथयति—

समिदकदो घदपुण्णो सुज्झदि सुद्धत्तणेण समिदस्स ।
असुचिम्मि तम्मि बीए कह देहो सो हवे सुद्धो ॥१०००॥

गा०—हे क्षपक ! ब्रह्मचर्य व्रतकी सिद्धिके लिए मनुष्योंके शरीरके बीज, उत्पत्ति, क्षेत्र, आहार, जन्म, जन्मके पश्चात् होने वाली वृद्धि, अवयव, कान आदि अंगोसे निकलने वाला मल, अशुचिता, व्याधि और अध्रुवपनको देखो । ऐसा आचार्य कहते है ॥९९७॥

गा०-टी०—मनुष्योंके शरीरका बीज रज और वीर्य है जो अशुचि है । वही परिणामिकारण है । पुरुषका वीर्य और स्त्रीका रज ये दोनो शरीर रूपसे परिणमन करते है इसलिए ये दोनों परिणामिकारण है । इसीसे शरीर भी अशुचि है जैसे मलसे बना घेवर अशुचि होता है । जिसका परिणामिकारण अशुचि होता है वह अशुचि होता है । जैसे मलिन वस्तुसे बना घेवर । शरीरका परिणामिकारण रज और वीर्य अशुचि है इसलिए शरीर अशुचि है । यह इस गाथा सूत्रका अभिप्राय है ॥९९८॥

गा०—जो विष्टाकी तरह देखनेमे भी ग्लानिके योग्य है वह रज और वीर्य नामक बीज सूंघने, आलिंगन करने और भोगनेके योग्य कैसे हो सकता है ? रज और वीर्य रूप बीज शरीरका परिणामिकारण है अतः शरीरको बीज मानकर 'बीज' शब्दसे शरीरका निर्देश किया है ॥९९९॥

आगे कहते हैं कि परिणामिकारणके शुद्ध होनेसे उसका परिणाम रूप कार्य शुद्ध होता है—

गा०—जैसे 'समिद' अर्थात् गेहूँके चूर्णसे बना घेवर शुद्ध होता है क्योंकि उसका परिणामि-

'समिदकदो घदपुण्णो सुज्झदि' कणिकाकृत घृतपूर्णकं **'सुज्झदि'** शुद्धयति। **'सुद्धत्तणेण'** शुद्धतया। **'समिदस्स'** कणिकाद्रव्यस्य। **'असुचिम्मि बीए'** अशुचिबीजे तस्मिन्स्थिते। **'कह देहो सो हवे सुद्धो'** देह परिणाम कथं शुद्धयति। बीयं ॥१०००॥

शरीरनिष्पत्तिक्रमनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं ॥१००१॥

'कललगद' कललत्व नाम पर्याय त गत प्राप्त बीज दश दिनमात्र। **'अच्छदि'** आस्ते। **'कलुसीकदं'** च कलुषीकृतं च। दश रात्रमात्रं अवतिष्ठते। **'थिरभूदं दसरत्तं'** स्थिरभूत यावद्दशदिनमात्र। **'अच्छदि'** आस्ते। **'गब्भम्मि'** गर्भे। **'तं बीजं'** तद्बीज ॥१००१॥

तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं।
जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण ॥१००२॥

'तत्तो' स्थिरभावोत्तरकाल। **'मासं बुब्बुदभूत अच्छदि'** मासमात्र बुद्बुद इव आस्ते। **'पुणो वि घणभूदं'** पुनरपि घनभूत। **'जायदि मासेण'** जायते मासेन ततोऽपि घनभावादुत्तरकाल। **'मासेण'** मासेन। **'मंसप्पेसीय'** मासपेशी भवति ॥१००२॥

मासेण पंच पुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण।
अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भम्मि ॥१००३॥

'मासेण पंच पुलगा' मासेन पञ्च पुलका भवन्ति। **'पुणो वि मासेण'** पुनरुत्तरेण मासेन। **'अंगाणि उवंगाणि य'** अङ्गान्युपाङ्गानि च। **'णरस्स जायंति गब्भम्मि'** नरस्य जायन्ते गर्भे ॥१००३॥

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती।
फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥१००४॥

कारण गेहूँका चूर्ण शुद्ध है। किन्तु जिसका बीज अशुद्ध है उससे बना शरीर शुद्ध कैसे हो सकता है ॥१०००॥

शरीरकी रचनाका क्रम कहते हैं—

गा०—गर्भमें स्थित माताका रज और पिताका वीर्यरूप बीज दस दिनतक कललरूपमें रहता है। फिर दस दिन तक कालिमारूप होता है फिर दस दिन तक स्थिर रहता है ॥१००१॥

गा०—स्थिर होनेके पश्चात् एक मास तक बुलबुलेकी तरह रहता है। पुनः एक मास तक घनभूत अर्थात् कठोररूप रहता है। फिर एकमासमे मांसके पिण्डरूप होता है ॥१००२॥

गा०—पाँचवें मासमें उस मासपिण्डमेंसे दो हाथ, दो पैर और सिरके रूपमें पाँच अंकुर उगते हैं। छठे मासमे उस बालकके अंग और उपांग बनते हैं ॥१००३॥

विशेषार्थ—दो पैर, दो हाथ, एक नितम्ब, एक छाती, एक पीठ, एक सिर ये आठ अंग हैं। और कान, नाक, गाल, ओठ, आँख, अँगुलि आदि उपाग है ॥१००३॥

'**मासम्मि सत्तमे**' सप्तमे मासे । '**तस्स**' तस्य गर्भस्थस्य । '**चम्मणहरोमणिप्पत्ती होदि**' चर्मनखरोम-निष्पत्तिर्भवति । '**फंदणमट्ठममासे**' स्पंदनमीषच्चलनं अष्टमे मासे । '**णवमे दसमे य णिग्गमणं**' नवमे दशमे चोदरान्निर्गमनं भवति ॥१००४॥

सव्वासु अवत्थासु वि कललादीयाणि ताणि सव्वाणि ।
असुईणि अमिज्झाणि य विहिंसणिज्जाणि णिच्चंपि ॥१००५॥

'**सव्वासु अवत्थासु वि**' सर्वास्वप्यवस्थासु शुक्रशोणितयो । '**कललादियाणि**' कललमर्बुदमित्यादि-कानि । '**सव्वाणि असुईणि**' सर्वाणि अशुचीनि । '**अमेज्झाणिव**' अमेध्यमिव । '**विहिंसणिज्जाणि**' जुगुप्सनी-यानि । '**णिच्चं पि**' नित्यमपि ॥१००५॥ णिप्पत्ति गद ।

गर्भेऽवस्थानक्रम अशुभं कथयत्युत्तरगाथया—

आमासयम्मि पक्कासयस्स उवरिं अमेज्झमज्झम्मि ।
वत्थिपडलपच्छण्णो अच्छइ गब्भे हु णवमासं ॥१००६॥

'**आमासयम्मि**' आमाशये । आममुच्यते भुक्तमशनमुदराग्निना अपक्व तस्य आशय स्थान तस्मिन् । '**पक्कासयस्स उवरिं**' जाठरेण अग्निना पक्व आहार पक्व तस्य आशय स्थान । तत उपरि । '**अमेज्झमज्झम्मि**' अमेध्ययोः पक्वापक्कयोर्मध्ये । '**गब्भो अच्छदि**' आस्ते गर्भ. । कीदृक् '**वत्थिपडलपच्छण्णो**' वितत मास-शोणित जालसंस्थानीयं वत्थिपडलशब्देनोच्यते तेन प्रतिच्छन्न । कियन्त कालमास्ते ? णवमासं उपलक्षण नव-मासग्रहणं दशमासमात्रमप्यवस्थानात् ॥१००६॥

अशुचिस्थाने अवस्थितः स्वल्पकालं यदि जुगुप्स्यते चिरकालावस्थित कथमय न जुगुप्सनीय इत्याचष्टे—

वमिदा अमेज्झमज्झे मासंपि समक्खमच्छिदो पुरिसो ।
होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि सयणीयल्लओ होज्ज ॥१००७॥

गा०—सातवें मासमें उस गर्भस्थ पिण्डपर चर्म, नख और रोम बनते हैं। आठवें मासमे उसमें हलन-चलन होने लगता है। नौवें अथवा दसवे मासमें उसका जन्म होता है ॥१००४॥

गा०—रज और वीर्यकी सब अवस्थाओमें वे सब कलिल आदि अशुचि और विष्टाकी तरह सदा ग्लानिकारक होते हैं ॥१००५॥

आगे गर्भका स्थान और उसकी अशुचिता कहते हैं—

गा०—आमाशयसे नीचे और पक्वाशयसे ऊपर इन दोनो अशुचि स्थानोके मध्यमें गर्भाशय होता है। उसमें वस्तिपटलसे वेष्ठित होकर प्राणी नौमास तक रहता है ॥१००६॥

टी०—खाया हुआ भोजन, उदराग्निके द्वारा पकता नही है उसे आम कहते है उसके स्थानको आमाशय कहते हैं। और उदराग्निके द्वारा पके आहारको पक्व कहते हैं। उसके स्थान-को पक्वाशय कहते हैं। इन अपक्व और पक्वके मध्यमें गर्भस्थान होता है। उसमें शिशु नौ मास तक रहता हैं। नौ मास तो उपलक्षण है अतः दस माससमात्र भी रहता है। रुधिर और मांसके जालको वस्तिपटल कहते हैं। उससे गर्भस्थ बालक चारों ओरसे वेष्ठित रहता है ॥१००६॥

आगे कहते हैं कि अपवित्र गन्दे स्थानमें थोड़े समयके लिए भी यदि रहना पड़े तो ग्लानि होती है तब नौ दस मास तक ऐसे स्थानमें रहनेवाला ग्लानिका पात्र क्यों नहीं है ?

'**वमिदा अमेज्झमज्झे**' वान्तस्य अमेध्यस्य च मध्ये । '**मासंपि**' मासमात्रमपि '**समक्खमच्छिओ**' स्वप्रत्यक्षतया स्थितः पुरुष. । खु शब्द एवकारार्थ. स च क्रियापदात्परो द्रष्टव्य' । '**विहिंसणिज्जो**' इत्यतः परत. । '**विहिंसणीओ होदि**' इति जुगुप्सनीय एव भवति नाजुगुप्स्य इति ·यावत् । '**जदि वि सयणीयल्लओ होज्ज**' यद्यपि बन्धुर्भवेत् ॥१००७॥

किह पुण णवदसमासे उसिदो वमिगा अमेज्झमज्झम्मि ।
होज्ज ण विहिंसणिज्जो जदि वि सय णीयल्लओ होज्ज ॥१००८॥

'**किह पुण**' कथ पुन । '**न होज्ज विहिंसणिज्जो**' न भवेज्जुगुप्सनीय । '**णवदसमासं उसिदो**' नवमास दशमासं वावस्थित । '**वमिगा अमेज्झमज्झम्मि**' मात्रा उपयुक्त आहारो वमिगाशब्देनोच्यते । शेष सुगमः ॥१००८॥ खिस्त गदं ।

येनाहारेणासावुपचितशरीरो जातस्तमाचष्टे—

दंतेहिं चव्विदं वीलण च सिंभेण मेलिदं संतं ।
मायाहारियमण्णं जुत्तं पित्तेण कडुएण ॥१००९॥

'**दतेहि चव्विद**' दतैश्चूर्णित । '**वीलणं**' पिच्छिल । कथ '**सिंभेण मेलिदं संत**' श्लेष्मणा मिश्रित सत् । '**मायाहारियमण्णं**' मात्रा भुक्तमन्न । '**कडुएण पित्तेण जुत्त**' कटुकेन पित्तेन युक्तं ॥१००९॥

वमिगं अमेज्झसरिसं वादविओजिदरसं खलं गब्भे ।
आहारेदि समंता उवरिं थिप्पंतगं णिच्चं ॥१०१०॥

'**वमिगं**' वान्त । '**अमिज्झसरिसं**' अमेध्येन सदृश । '**वादविओजिदरसं खलं**' वातेन पृथक्कृत रस खलभाग । '**गब्भे आहारेदि णिच्च**' नित्य गर्भस्थो भुङ्क्ते । '**समंता**' समन्तात् । '**उवरि**' उपरि । '**थिप्पंतगं**' विगलद्बिन्दुक । [1]एतेनान्तर समाहारयतीति ज्ञायते ॥१०१०॥

तो सत्तमम्मि मासे उप्पलणालसरिसी हवइ णाही ।
तत्तो पभूदि [2]पाए वमियं त आहारेदि णाहीए ॥१०११॥

गा०—गन्दे वमनके मध्यमे एकमास पर्यन्त प्रत्यक्षरूपसे रहनेवाला पुरुष, यदि अपना इष्टमित्र भी हो तो भी ग्लानिका ही पात्र होता है ॥१००७॥

गा०—तब माताके द्वारा खाये गये वमनरूप आहारको खाकर गन्दे स्थानमे नौ दस मास रहनेवाला ग्लानिका पात्र क्यो नही है, भले ही वह अपना निकट बन्धु हो ॥१००८॥

गा०—जिस आहारसे उसका शरीर बना उसे कहते है—माताके द्वारा खाया हुआ अन्न पहले दाँतोसे चबाया गया। फिर कफके साथ मिलकर चिकना हुआ फिर कटुक पित्तसे युक्त हुआ।।१००९॥

गा०—ऐसा होनेपर वह वमनके समान गन्दा होता है। वायुके द्वारा उसका रस भाग अलग हो जाता है और खलभाग अलग। उसमेसे गिरती हुई बूदको सर्वागसे गर्भस्थपिण्ड नित्य ग्रहण करता है। इससे यह ज्ञात होता है कि वह अन्नका रस ग्रहण करता है ॥१०१०॥

---

१ एतेनान्नरसमाहरतीति मु०, मूलारा० । २ दि माये व–आ० । तत्तो पाए मु०, मूलारा० ।

तेषां मासानां 'रत्तं सत्तमम्मि मासे' रक्तं सप्तमे मासे। 'उप्पलणालसरिसी णाही हवइ' उत्पलनालसदृशीनाभिर्भवति। 'तत्तो' नाभिनिष्पत्त्युत्तरकालं। 'वमिणं तं आहारेदि णाभीए' वान्तमाहारयति नाभ्या ॥१०११॥

वमियं व अमेज्झं वा आहारिदवं स किं पि ससमक्खं।
होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि य णियल्लओ होज्ज ॥१०१२॥

'वमिगं व अमिज्झं वा' वान्तममेध्य वा। 'आहारिदवं' भुक्तवान्। 'स किं पि' सकृदपि एकवार। 'ससमक्खं' स्वप्रत्यक्ष। 'होदि खु विहिंसणिज्जो' भवति जुगुप्सनीयो। 'यदि वि य णियल्लिओ होज्ज' यद्यपि बन्धुर्भवेत् ॥१०१२॥

किह पुण णवदसमासे आहारेदूण तं णरो वमियं।
होज्ज ण विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥१०१३॥

स्पष्टोत्तरा गाथा। आहारगदं सम्मत्त। आहारो निरूपित ॥१०१३॥

जन्मनिरूपणायोत्तरगाथा—

असुचिं अपेच्छणिज्जं दुग्गंधं मुत्तसोणियदुवारं।
वोत्तुं पि लज्जणिज्जं पोट्टमुहं जम्मभूमी से ॥१०१४॥

'असुचिं' अशुचि। 'अपेच्छणिज्जं' अप्रेक्षणीय। 'दुग्गंधं' दुर्गन्ध। 'मुत्तसोणियदुवारं' मूत्रस्य शोणितस्य च द्वारं। 'वोत्तुं पि लज्जणिज्जं' वक्तुमपि स्वनाम्ना लज्जनीय। 'पोट्टमुहं' उदरमुख वराङ्ग। 'जम्मभूमी से' जन्मभूमिस्तस्य ॥१०१४॥

जदि दाव विहिंसज्जइ वत्थीए मुहं परस्स आलेट्टु।
कह सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज सल्लीढपोट्टमुहो ॥१०१५॥

गा०—इसके पश्चात् सातवे मासमे कमलकी नालके समान नाभि होती है। नाभिके बननेके पश्चात् उस वमन किये आहारको नाभिके द्वारा ग्रहण करता है ॥१०११॥

गा०—यदि कोई अपने सामने एक बार भी वमन किये गये आहारको या गन्दे विष्टाको खाता है तो अपना प्रिय बन्धु भी यदि हो तो उससे ग्लानि होती है ॥१०१२॥

गा०—तब जो मनुष्य नौ दस महीने उस वमन तुल्य आहारको खाता है वह ग्लानिका पात्र क्यो नही होगा, भले ही वह अपना प्रियबन्धु हो ॥१०१३॥

इस प्रकार आहारकी अशुचिताका कथन हुआ।

आगे जन्मका कथन करते है—

गा०—उदरका मुख योनि उसका जन्मस्थान है। वहीसे उसका जन्म होता है। वह स्थान अशुचि है, देखने योग्य नही है, दुर्गन्धयुक्त है, मूत्र और रक्तके निकलनेका द्वार है। उसका नाम लेनेमें भी लज्जा आती है ॥१०१४॥

गा०—यदि दूसरेके वस्तिमुख—गुदा अथवा योनिको देखनेमे भी ग्लानि होती है तो जो उसका आस्वादन करता है वह ग्लानिका पात्र क्यों नही है ॥१०१५॥

'**जदि दाव विहिंसज्जदि**' यदि तावज्जुगुप्स्यते । '**वत्थीए मुहं**' वस्तिमुखं । '**परस्स आलट्टुं**' परस्य द्रष्टुं । '**किध सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज**' कथमसौ न जुगुप्सनीयो भवेत् । '**सल्लीढपोट्टमुहो**' आस्वादितवराङ्ग. ॥१०१५॥

जन्मवृद्धि निरूपयति—

बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि तह चेव लज्जणिज्जाणि ।
मेज्झामेज्झं कज्जाकज्जं किंचिवि अयाणंतो ॥१०१६॥

'**बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि**' बालो जुगुप्सनीयानि कर्माणि करोति । '**तथा चेव लज्जणिज्जाणि**' तथा चैव लज्जनीयानि । '**मेज्झामेज्झं**' शुच्यशुचि च । '**कज्जाकज्जं किं चि वि अयाणंतो**' कार्याकार्यं किंचिदप्यजानन् ॥१०१६॥

अण्णस्स अप्पणो वा सिंहाणयखेलमुत्तपुरिसाणि ।
चम्मट्ठिवसापूयादीणि य तुंडे सगे छुभदि ॥१०१७॥

'**अण्णस्स अप्पणो वा**' अन्यस्यात्मनो वा । **सिंघाणगं** श्लेष्माण । मूत्र, पुरीष, '**चम्मट्ठिवसापूयाणि य**' चर्म अस्थि वसा पूयादिक वा । '**सगे तुंडे छुभदि**' आत्मीये मुखे क्षिपति ॥१०१७॥

जं किं चि खादि जं किं चि कुणदि जं किं चिं जंपदि अलज्जो ।
ज किं चि जत्थ तत्थ वि वोसरदि अयाणगो बालो ॥१०१८॥

'**जं किं चि खादि**' यत्किंचिदत्ति, यत्किंचित्करोति, यत्किंचिज्जल्पत्यलज्ज । '**जं किं चि जत्थ तत्थ वि**' यत्किंचिद्यत्र तत्र वा शुचावशुचौ वा देशे । '**वोसरदि**' व्युत्सृजति । '**अणाणगो बालो**' अज्ञो बाल ॥१०१८॥

बालत्तणे कदं सव्वमेव जदि णाम संभरिज्ज तदो ।
अप्पाणम्मि वि गच्छे णिव्वेदं किं पुण परंमि ॥१०१९॥

'**बालत्तणे कदं**' बालत्वे कृत । सर्वमेव यदि स्मरेत्तत आत्मन्यपि गच्छेन्निर्वेद कि पुनरन्यस्मिन् । उड्ढि ॥१०१९॥

जन्मके पश्चात् शरीरकी वृद्धिका कथन करते है—

गा०—बालक शुचि अशुचि और कार्य अकार्यको कुछ भी नही जानता । तथा निन्दनीय और लज्जाके योग्य कार्य करता है ॥१०१६॥

गा०—अपना अथवा दूसरेका कफ, मूत्र, विष्ठा, चमडा, हड्डी, चर्वी, पीव, आदि अपने मुखमे रख लेता है ॥१०१७॥

गा०—अनजान बालक जो कुछ भी खा लेता है, जो कुछ भी करता है, निर्लज्ज होकर जो कुछ भी बोलता है । जिस किसी भी पवित्र या अपवित्र स्थानमे टट्टी पेशाब कर देता है ॥१०१८॥

गा०—यदि बचपनमे किये गये सब कार्योंको याद किया जाये तो दूसरेकी तो बात ही क्या, अपनेसे ही वैराग्य हो जाय ॥१०१९॥

कुणिमकुडी कुणिमेहिं य भरिदा कुणिमं च सवदि सव्वत्तो ।
[1]ताणं व अमेज्झमयं अमेज्झभरिदं सरीरमिणं ॥१०२०॥

'**कुणिमकुडी**' कुथिता कुटी, '**कुणिमेहि भरिदा**' कुथितैर्भरिता । '**कुणिम च सवदि सव्वत्तो**' कुथितं सर्वत स्रवति समन्तात् । '[2]**ताणं व अमेज्झमयं**' [3]तार्णमिव अमेध्यमय । '**अमेज्झभरिदं**' अमेध्यपूर्णं । '**सरीरमिमं**' शरीरमिदं ॥१०२०॥

वृद्धिक्रमं निरूप्य शरीरावयवानाचष्टे—

अट्ठीणि हुंति तिण्णि हु सदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए ।
सव्वम्मि चेव देहे संधीणि हवंति तावदिया ॥१०२१॥

'**अट्ठीणि हुंति तिण्णि हु सदाणि**' त्रिशतान्यस्थीनि । '**भरिदाणि कुणिममज्जाए**' पूर्णानि कुथितेन मज्जासंज्ञितेन । '**सव्वम्मि चेव देहम्मि**' सर्वस्मिन्नेव शरीरे । '**संधीणि हवंति तावदिया**' सन्धिप्रमाणमपि त्रिशतमेव ॥१०२१॥

ण्हारूण णवसदाइं सिरासदाणि हवंति सत्तेव ।
देहम्मि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि ॥१०२२॥

'**ण्हारूण णवसदाइं**' स्नायूना नवशतानि । '**सिरासदाणि य हवंति सत्तेव**' सिराणां सप्तशतानि । '**देहम्मि मंसपेसीण हवंति पंचेव य सदानि**' पंचशतानि शरीरे मांसपेश्य ॥१०२२॥

चत्तारि सिराजालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तहा ।
छच्चेव सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जू य ॥१०२३॥

'**चत्तारि सिराजालाणि**' चत्वारि शिराजालानि शिरासघाता । '**सोलस य कंडराणि तहा**' षोडश कण्डरसंज्ञितानि तथा । '**छच्चेव सिराकुच्चा**' षडेव शिरामूलानि । '**देहे दो मंसरज्जू य**' शरीरे मांसरज्जूद्वय ॥१०२३॥

गा०—यह शरीर कुथित अर्थात् मलिन वस्तुओंकी कुटी है और मलिन वस्तुओंसे ही भरी है। सब तरफसे महामलिन मल ही उससे बहता रहता है। मलसे भरे पात्रके समान यह शरीर मलसे भरा होनेसे मलमय ही है ॥१०२०॥

शरीरकी वृद्धिका क्रम कहकर शरीरके अवयवोंको कहते हैं—

गा०—इस शरीरमे तीन सौ हड्डियाँ है जो कुथित मज्जासे भरी है। तथा सम्पूर्ण शरीरमे तीन सौ ही सन्धियाँ है ॥१०२१॥

गा०—नौ सौ स्नायु है। सिराएँ सात सौ हैं। पाँच सौ मांस पेशिया हैं १०२२॥

गा०—चार शिराजाल है। सोलह रक्तसे पूर्ण महाशिराएँ है। छह शिराओंके मूल हैं। दो मांस रज्जु है एक पीठ और एक पेटके आश्रित है ॥१०२३॥

१, २, ३ भाण आ० ।

सत्त तयाओ कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि ।
देहम्मि रोमकोडीण होंति [1]असीदिं सदसहस्सा ॥१०२४॥

'**सत्त तयाओ**' सप्त त्वच । '**कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि**' सप्तैव कालेयकानि देहे । '**देहम्मि रोमकोडीण [2]असीदिं सदसहस्सा**' शरीरे रोमकोटीनां अशीतिशतसहस्राणि ॥१०२४॥

पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवंति ।
कुणिमस्स आसया सत्त हुंति देहे मणुस्सस्स ॥१०२५॥

'**पक्कामयासयत्था**' पक्वाशये आमाशये अवस्थिता । '**अंतगुंजाओ**' अन्त्रयष्टय. । '**सोलस हवंति**' षोडशैव भवन्ति । '**कुणिमस्स आसया**' कुथितस्य आश्रया सप्त भवन्ति देहे मनुजस्य ॥१०२५॥

थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति सत्तुत्तरं च मम्मसदं ।
णव होंति वणमुहाइं णिच्चं कुणिमं सवंताइं ॥१०२६॥

'**थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति**' स्थूणास्तिस्रो भवन्ति देहे । '**सत्तुत्तरं च मम्मसदं**' मर्मणा शत सप्ताधिक । '**णव होंति वणमुहाइं**' व्रणमुखानि नव भवन्ति । '**णिच्चं कुणिमं**' नित्यं कुथित स्रवन्ति यानि ॥१०२६॥

देहम्मि मच्छुलिंगं अंजलिमित्तं सयप्पमाणेण ।
अंजलिमित्तो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव ॥१०२७॥

'**देहम्मि**' शरीरे । '**मच्छुलिंगं**' मस्तिष्क । '**अंजलिमित्तो सगप्पमाणेण**' स्वाञ्जलिप्रमाण परिच्छिन्न । मेदोऽप्यञ्जलिप्रमाण । '**ओजोवि तत्तिगो चेव**' शुक्रमपि तावन्मात्रमेव ॥१०२७॥

तिण्णि य वसंजलीओ छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स ।
सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्धाढगं होदि ॥१०२८॥

'**तिण्णि य वसंजलीओ**' तिस्रो वसाञ्जलय । '**छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स**' षडञ्जलय पित्तस्य । '**सिंभो पित्तसमाणो**' श्लेष्मा पित्तप्रमाण । '**लोहिदमद्धाढगं होदि**' लोहितोऽप्यर्धाढक भवति ॥१०२८॥

गा०—सात त्वचाएँ हैं। सात कालेयक-मांसखण्ड है। और अस्सी लाख करोड रोम हैं ॥१०२४॥

गा०—पक्वाशय और आमाशयमे सोलह आते है। तथा मनुष्यके शरीरमें सात मलस्थान है ॥१०२५॥

गा०—शरीरमे वात पित्त कफ ये तीन थूणाए है। एक सौ सात मर्मस्थान है। नौ व्रण-मुख-मलद्वार हैं जिनसे सदा मल बहता रहता है ॥१०२६॥

गा०—तथा अपनी एक अंजुलीप्रमाण मस्तिष्क है। एक अजुलिप्रमाण मेद है और एक अंगुलिप्रमाण वीर्य है ॥१०२७॥

गा०—तीन अजुलिप्रमाण बसा—चर्बी है। छह अजुलिप्रमाण पित्त है। पित्त प्रमाण ही कफ़ है। रुधिर आधे आठक या बत्तीस पल प्रमाण है ॥१०२८॥

---

१. सीदि आ० मु० । २. सीदी आ० मु० ।

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा ।
वीसं णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए ॥१०२९॥

'**मुत्तं आढयमेत्तं**' मूत्रं आढकमात्रं । '**उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा**' षट्प्रस्थप्रमाण उच्चारः । '**वीसं णहाणि**' विंशतिसंख्या नखानां । '**दंता बत्तीसं होंति**' द्वात्रिंशद्भवन्ति दन्ता । '**पगदीए**' प्रकृत्या ॥१०२९॥

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहिं बहुगेहिं ।
सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच ॥१०३०॥

'**किमिणो व वणो**' संजातक्रिमिव्रणवत् । '**बहुगेहिं किमिकुलेहिं भरिदं सरीरमिति**' सम्बन्ध । बहुभि क्रिमीणा कुलैर्भरित । '**सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच**' समस्त शरीर व्याप्य पञ्च वायव स्थिता ॥१०३०॥

एवं सव्वे देहम्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव ।
एक्कं पि णत्थि अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥१०३१॥

'**एवं**' उक्तेन प्रकारेण । '**देहम्मि सव्वे अवयवा**' शरीराधारा सर्वे अवयवा । '**कुणिमपुग्गला चेव**' अशुभपुद्गला एव । '**एक्कं पि णत्थि अंगं**' एकोऽपि नास्त्यवयव । '**जं पूयं सुचियं च होज्ज**' योऽवयव पूत शुचिर्वा भवेत् ॥१०३१॥

परिदड्ढसव्वचम्मं पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं ।
सुट्ठु वि दइदं महिलं दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज ॥१०३२॥

'**परिदड्ढसव्वचम्मं**' परितो दग्धसर्वत्वक्पटल । '**पंडुरगत्तं**' पाण्डुरतनु । '**मुयंतवणरसियं**' विगलद्रस '**सुट्ठु वि दइदं महिलं**' प्रियतमामपि वनिता । '**दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज**' द्रष्टुमपि नरो न वाञ्छति ॥१०३२॥

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरिसियाए णो [1]थगिदं ।
को णाम कुणिमभरियं सरीरमालद्धुमिच्छेज्ज ॥१०३३॥

गा०—मूत्र एक आठक प्रमाण है । विष्टा छह प्रस्थ प्रमाण है । स्वाभाविकरूपमे वीस नख और बत्तीस दाँत होते हैं ॥१०२९॥

गा०—जैसे घावमे कीडे भरे रहते है वैसे ही शरीर बहुतसे कीडोसे भरा है । समस्त शरीरको घेरे हुए पाँच वायु है ॥१०३०॥

गा०—इस प्रकार शरीरके सब अवयव अशुभ पुद्गलरूप ही है । एक भी अवयव ऐसा नहीं है जो पवित्र और सुन्दर हो ॥१०३१॥

गा०—जिसकी सब चमडी जल जानेसे शरीर सफेद वर्णका हो गया है, और उससे पीव बहता है ऐसी नारी अतिप्रिय भी हो तो उसे मनुष्य देखना भी नही चाहता ॥१०३२॥

---

१. पिहिद–अ० आ० ।

'**जदि होज्ज तयाए ण थगिदं**' यदि त्वचा न स्थगित भवेत्। कीदृश्या? '**मक्खियापत्तसरिसियाए**' मक्षिकापत्रवदिति। '**तदा को णाम इच्छेज्ज कुणिमभरिदं सरीरं**' को नाम वाञ्छेत्? किं कुथितपूर्णं शरीरं। '**आलद्धुं**' स्प्रष्टुं। अवयवा ॥१०३३॥

कण्णेसु कण्णगूघो जायदि अच्छीसु चिक्कणंसूणि।
णासागूघो सिंघाणयं च णासापुडेसु तहा ॥१०३४॥

'**कण्णेसु**' कर्णयोः। '**कण्णगूघो**' कर्णगूथ। '**जायदि**' जायते। '**अच्छी सु**' अक्ष्णोः। '**चिक्कणंसूणि**' मलमश्रुबिन्दवश्च। '**णासागूघो**' नासिकामलं। '**सिंघाणगं च**' सिंघाणकं च '**णासापुडेसु**' नासापुटयो ॥१०३४॥

खेलो पित्तो सिंभो वमिया जिब्भामलो य दंतमलो।
लाला जायदि तुंडम्मि[1]णिच्चं मुत्तपुरिससुक्कमुदरत्थ[2] ॥१०३५॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

सेदो जायदि सिलेसो व चिक्कणो सव्वरोमकूवेसु।
जायंति जूवलिक्खा छप्पदियासो य सेदेण ॥१०३६॥

'**सेदो जायदि**' स्वेदो जायते। '**सिलेसो व चिक्कणो**' चर्मकारश्लेष्मवच्चिक्कण। '**सव्वलोमकूवेसु**' सर्वलोमकूपेषु। '**जायंति**' जायन्ते। '**जूका**' यूका। '**लिक्खा**' लिक्षाश्च। '**छप्पदिगाओ य**' चर्मयूकाश्च। '**सेदेण**' स्वेदेन हेतुना। एतावता प्रबन्धेन शरीरावयवा व्याख्याता ॥१०३६॥

णिग्गमण। निर्गमनव्याख्यानायाचष्टे—

विट्ठापुण्णो भिण्णो व घडो कुणिमं समंतदो गलइ।
पूदिंगालो किमिणोव वणो पूदिं च वादि सदा ॥१०३७॥

गा०—यदि शरीर मक्खीके पंखके समान त्वचासे वेष्टित न हो तो मलसे भरे शरीरको कौन छूना पसन्द करेगा ॥१०३३॥

गा०—कानोंसे कानका मल उत्पन्न होता है। आँखोमे आँखका मल और आँसू रहते हैं। तथा नाकमें नाकका मल और सिंघाडे रहते है ॥१०३४॥

गा०—मुखमे खखार, पित्त, कफ, वमन, जीभका मल, दन्तमल और लार उत्पन्न होते हैं। और उदरमें मूत्र, विष्टा तथा वीर्य उत्पन्न होते हैं ॥१०३५॥

गा०—शरीरके सब रोमकूपोंसे चमारके सिरेसके समान चिपचिपा पसीना निकलता है। और पसीनेके कारण लीख और जूं उत्पन्न होते है। इस प्रकार शरीरके अवयवोंका कथन हुआ ॥१०३६॥

अब मलके निकलनेका कथन करते हैं—

गा०—जैसे विष्टासे भरे और फूटे हुए घड़ेसे चारों ओरसे गन्दगी बहती है अथवा जैसे कृमियोंसे भरे घावसे दुर्गन्धयुक्त पीव बहती है वैसे ही शरीरसे निरन्तर मल बहता है ॥१०३७॥

निर्गमनका कथन समाप्त हुआ।

---

१ म्मि मुत्त पुरिसं च सु–आ० मु०। २ मिदरत्थ–ज० मु०। इदरत्थे मेहन योनि-गुदयोः–मूलारा०।

'विट्ठापुण्णो' विष्टाभिः पूर्णः। **'भिण्णो व घडो'** भिन्नघट इव। **'कुथिमं'** कुथितं। **'समंतदो'** समन्तात्। **'गलदि'** क्षरति **'पूइंगालोव्ववणो'** गलत्पूतिनिचितक्रिमिव्रणवत्। **'पूविं व वादि सदा'** दुरभिवाति सदा। **'णिच्चमणं सम्मत्तं'** ॥१०३७॥

इंगालो धोवंते ण सुज्झदि [1]जहा पयत्तेण।
सव्वेहिं समुद्देहिम्मि सुज्झदि देहो ण धुव्वंतो ॥१०३८॥

सिण्हाणुब्भंगुव्वट्टणेहिं मुहदंतअच्छिधुवणेहिं।
णिच्चंपि धोवमाणो वादि सदा पूदियं देहो ॥१०३९॥

'सिण्हाणुब्भंगुव्वट्ठणेहिं य' स्नानेन, अभ्यङ्गेन, उद्वर्तनेन। **'मुहदंतअच्छिधुवणेहिं'** मुखस्य दन्तानामक्ष्णोश्च प्रक्षालनेन। **'णिच्चंपि धुव्वमाणो'** नित्यमपि क्रियामाणशौच। **'वाति सदा पूदियं देहो'** दुरभिगन्धता न त्यजति देह ॥१०३९॥

पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलेहिं।
मुहकेसवासतंबोलगंधमल्लेहिं धूवेहिं ॥१०४०॥

'पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलेहिं' पाषाणशब्देन रत्नान्युच्यन्ते। धातुर्जलं। अञ्जण अञ्जनं मषी च। **'पुढवी'** मृत्तिका। **'तया'** त्वक्। **'मुखवासः'**। मुख वास्यते मुख गन्धता नीयते येनासौ मुखवास। केशा सुरभिता प्राप्नुवन्ति येनासौ केशवासः, एतै पाषाणादिभि ॥१०४०॥

अभिभूददुव्विगंधं परिभुज्जदि मोहिएहिं परदेहं।
खज्जति पूइयमं संजुत्तं जह कडुगभंडेण ॥१०४१॥

'अभिभूददुव्विगंधो' निरस्ताशुभगन्ध। **'परदेहं संजुत्तं'** परस्य देह सयुक्त। **'मोहिदेहिं'** मूढै। परिभुज्यते। **'खज्जदि'** भुज्यते। **'पूइयग मांस'** यथा युक्त सस्कृत। **'कडुगभंडेण'** मरिचहिंग्वादिभिश्च ॥१०४१॥

गा०—जैसे कोयलेको सब समुद्रके जलसे प्रयत्नपूर्वक धोनेपर भी वह उजला नहीं होता, उसमेंसे कालापन ही निकलता है, वैसे ही शरीरको बहुत जलादिसे धोनेपर भी वह शुद्ध नहीं होता, उसमेसे मल ही निकलता है ॥१०३८॥

गा०—स्नान, इत्र फुलेल, उबटन आदिसे तथा मुख दाँत और आँखोका धोनेसे नित्य ही स्वच्छ करनेपर भी शरीर सदा दुर्गन्ध देता है, वह उसे छोड़ता नहीं ॥१०३९॥

गा०-टी०—पाषाण शब्दसे रत्नोंको कहा है। धातुसे जल लिया है। पृथ्वीसे मिट्टीका ग्रहण किया है। त्वचासे मध्यकी त्वचा ली है और छालसे ऊपरकी छाल ली है। अतः रत्न, जल, अंजन, मिट्टी, त्वचा, छाल बेल और जड़से तथा मुखको सुवासित करनेवाले ताम्बूल आदि और केशोको सुगन्धित करनेवाले गन्धमाला धूप आदिसे परके शरीरकी दुर्गन्ध दूर करके मूढ़जन मोहित होकर पराये शरीरको भोगते हैं। जैसे मिर्च, हींग आदि मसालें मिलाकर, दुर्गन्धयुक्त

---

१. जह महापयत्तेण–आ० मु०।

अब्भंगादीहिं विणा सभावदो चेव जदि सरीरमिमं ।
सोभेज्ज मोरदेहुव्व होज्ज तो णाम से सोभा ॥१०४२॥

'अब्भंगादीहिं विणा' सुगन्धतैलेन म्रक्षणं, उद्वर्तनं, स्नानमालेपनमित्यादिभिर्विना । **'सभावदो चेव यदि सोभेज्ज इमं शरीरं'** स्वभावत एव यदि शोभेत इदं शरीरं । **'मोरदेहुव्व'** मयूरदेहवत् । **'होज्ज तो णाम से सोभा'** भवेत्तत् स्फुट देहस्य शोभा ॥१०४२॥

जदि दा विहिंसदि णरो आलवुधुं पडिदमप्पणो खेलं ।
कधदा णिपिबेज्ज बुधो महिलामुहजायकुणिमजलं ॥१०४३॥

'जदि दा विहिंसदि णरो आलवुधु पडिदमप्पणो खेलं' यदि तावन्नरो जुगुप्सते स्प्रष्टुमात्मनोऽपि कासं । **'कधदा णिपिबेज्ज बुधो'** कथमिदानी पिबेद्बुध । **'महिलामुहजणिदकुणिमजलं'** युवतिमुखसमुद्भवमशुचिजलं ॥१०४३॥

अतो बहिं च मज्झे व कोइ सारो सरीरगे णत्थि ।
एरंडगो व देहो णिस्सारो सव्वहिं चेव ॥१०४४॥

'अंतो बहिं च मज्झे' अन्तर्बहिर्मध्ये । **'को वि सारो सरीरगे णत्थि'** शरीरेऽङ्गे सारभूतं न किंचिदस्ति । **'एरंडको वा णिस्सारो सव्वहिं चेव'** साररहित सर्वत्र चैव ॥१०४४॥

चमरीबालं खग्गिविसाणं गयदंतसप्पमणिगादी ।
दिट्ठो सारो ण य अत्थि कोइ सारो मणुयस्सदेहम्मि ॥१०४५॥

'चमरीबालं' चमरीणा रोमाणि । **'खग्गिविसाणं'** खड्गिना मृगाणा विषाणं । गजाना दन्ता । सर्पाणा रत्नादिक च दृष्टं सारभूत । **'ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि'** नास्ति किञ्चित्सार मनुष्यदेहे ॥१०४५॥

मासको मासभोजी जन खाते है वैसे ही कामीजन स्त्रीके दुर्गन्धयुक्त शरीरको तेल फुलेल आदिसे सुवासित करके भोगते हैं ॥१०४०-१०४१॥

गा०—जैसे मोरका शरीर स्वभावसे ही सुन्दर होता है वैसे ही यदि सुगन्धयुक्त तेलसे मालिश, उबटन, स्नान, आदिके विना स्वभावसे यह शरीर शोभायुक्त होता तो उसे सुन्दर कहना उचित होता ॥१०४२॥

गा०—यदि मनुष्य बाहरमे पडे अपने कफको भी छूनेमें ग्लानि करता है तो ज्ञानीपुरुष युवती स्त्रीके मुखसे उत्पन्न हुई दुर्गन्धयुक्त लारको कैसे पीवेगा ॥१०४३॥

गा०—अन्तरमे, बाहरमे और मध्यमे शरीरमे कुछ भी सार नही है। ऐरण्डके वृक्षकी तरह शरीर पूर्णरूपसे निःसार है ॥१०४४॥

गा०—चमरी गायकी पूँछके बाल, गैडे वा हिरनके सीग, हाथीके दाँत, सर्पकी मणि, आदि शब्दसे मयूरके पख, मृगकी कस्तूरी आदि अवयव तो सारभूत देखे गये है अर्थात् इन सबके शरीरोंमें तो कुछ सार है किन्तु मनुष्यके शरीरमे कोई सार नही है ॥१०४५॥

छगलं मुत्तं दुद्धं गोणीए रोयणा य गोणस्स ।
सुचिया दिट्ठा ण य अत्थि किंचि सुचि मणुयदेहे ॥१०४६॥

असुइ ॥१०४६॥

व्याधि इत्येतद्व्याचष्टे प्रबन्धेनोत्तरेण—

वाइयपित्तियसिंभियरोगा तण्हा छुहा समादी य ।
णिच्चं तवंति देहं अद्दहिदजलं व जह अग्गी ॥१०४७॥

'**वाइयपित्तियसिंभियरोगा**' दोषत्रयप्रभवा व्याधयः । तृष्णाक्षुधाश्रम इत्यादयश्च । देहं नित्यं तपन्ति ज्वलितोऽग्निर्जलमिव चुल्ल्युपरिस्थितभाजनगतं ॥१०४७॥

जदिदा रोगा एक्कम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी ।
सव्वम्मि[1] दाइं देहे होदव्वं कदिहिं रोगेहिं ॥१०४८॥

'**जदिदा रोगा एकम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णवदी**' यदि तावद्रोगा एकस्मिन्नेव नेत्रे षण्णवतिसंख्या भवन्ति । '**सव्वम्मि दाइं देहे**' समस्ते इदानीं शरीरे । '**होदव्वं कदिहिं रोगेहिं**' कतिभिर्व्याधिभिर्भवितव्यम् ॥वाधिगद॥१०४८॥

अध्रुवतामुत्तरया गाथयाचष्टे—

पीणत्थणिंदुवदणा जा पुव्वं णयणदइदिया आसे ।
सा चेव होदि संकुडिदंगी विरसा य परिजुण्णा ॥१०४९॥

'**पीणत्थणिंदुवदणा**' पीनस्तनभागासम्पूर्णचन्द्रानना । '**जा पुव्वं**' या पूर्वं । '**णयणदयिदिया**' नयनवल्लभा

गा०—बकरेका मूत्र, गायका दूध, बैलका गोरचन लोकमे पवित्र माने गये है परन्तु मनुष्यके शरीरमे किञ्चित् भी शुचिता नही है ॥१०४६॥

इस तरह शरीरकी अशुचिताका कथन किया, आगे व्याधिका कथन करते है—

गा०—जैसे आग चूल्हेके ऊपर स्थित पात्रके जलको तपाती है वैसे ही वात पित्त और कफसे उत्पन्न हुए रोग तथा भूख प्यास श्रम आदि शरीरको सदा तपाते है दुःख देते है ॥१०४७॥

गा०—यदि एक नेत्रमे ही छियानबे रोग होते हैं तो समस्त शरीरमें कितने रोग होगे[2] ॥१०४८॥

आगेकी गाथासे अध्रुवत्वका कथन करते हैं—

गा०—इस शरीरका स्वरूप तो देखो। जो स्त्री पूर्व यौवन अवस्थामे पुष्टस्तनवाली, सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली और नेत्रोको प्रिय थी वही स्त्री वृद्धावस्थामे सकुचित

---

१. म्मि चेव दे–अ० ।

२ इस गाथाके पश्चात् आशाधरने नीचे लिखी गाथा दी है—

पंचेव य कोडीओ भवंति तह अट्ठमट्ठिलक्खाइं ।
णवणवदिं च सहस्सा पंचसया होंति चुलसीदी ॥

पाँच करोड़ अड़सठ लाख, निन्यानबे हजार पाँच सौ चौरासी रोग शरीरमें होते है ।

जाता । 'सा चेव होदि संकुडिदंगी' सैव भवति संकुटिततनुः । 'विरसा' कामरसरहिता । 'परिजुण्णा' परितो जीर्णा जरत्कुटीव ॥१०४९॥

जा सव्वसुंदरंगी सविलासा पढमजोव्वणे कंता ।
सा चेव मदा संती होदि हु विरसा य बीभच्छा ॥१०५०॥

'जा सव्वसुदरगी' यस्या सर्वाणि अङ्गानि सुन्दराणि । 'सविलासा' विलाससहिता । 'पढमजोव्वणा' प्रथमयौवना । 'कंता' कान्ता । 'सा चेव मदा संती' सैव मृता सती । 'होहि हु विरसा' भवति विरसा । 'बीभच्छा' जुगुप्सनीया ॥१०५०॥

शरीरसम्पदोऽध्रुवता व्याख्याता गाथाद्वयेन । दम्पत्यो सयोगस्याध्रुवता व्याचष्टे—

मरदि सयं वा पुव्वं सा वा पुव्वं मरिज्ज से कंता ।
जीवंतस्स व सा जीवंती हरिज्ज बलिएहिं ॥१०५१॥

'मरदि सयं वा पुव्वं' म्रियते स्वय वा पूर्व पुमान् । 'सा वा पूर्वं म्रियेत' । 'से' तस्य पुन. कान्ता । 'जीवंतस्स' जीवतो वा, सा जीवन्ती ह्रियते 'बलिगेहिं' बलिभिरपरै । इत्थ सयोगस्य बहुधाऽनित्यता ॥१०५१॥

सा वा हवे विरत्ता महिला अण्णेण सह पलाएज्ज ।
अपलायंती व तगी करिज्ज से वेमणस्साणि ॥१०५२॥

'सा वा होज्ज विरत्ता' सा भवेद्विरक्ता पुरुषे तथापि तयो सगति । 'महिला अण्णेण वा सह पलाएज्ज' सा विरक्ता युवतिरन्येन वा सह पलायन कुर्यात् । 'अपलायन्ती' अपलायमाना वा । 'तगी' सा । 'करेज्ज से वेमणस्साणि' कुर्यात्तस्य चेतोदु खानि ॥१०५२॥

शरीरस्याध्रुवतामाचष्टे—

अगवाली, शृङ्गार हास्य आदि काम रससे रहित अत्यन्त जीर्ण झोपड़ीकी तरह दिखाई देती है ॥१०४९॥

गा०—जो स्त्री यौवनके प्रारम्भमे सर्वागसुन्दर तथा विलाससे पूर्ण थी वही मरनेपर विरस और ग्लानियोग्य दिखाई देती है ॥१०५०॥

इस प्रकार दो गाथाओसे शरीरकी सुन्दरताको अस्थायी कहा । अब पति-पत्नीके सयोगको अस्थायी कहते हैं—

गा०—पहले पति मर जाता है अथवा पहले पत्नी मर जाती है। अथवा पतिके जीवित रहते हुए अन्य बलवान् पुरुष उसकी जीवित पत्नीको हरकर ले जाते है। इस प्रकार पति-पत्नी-सयोग अनित्य होता है ॥१०५१॥

गा०—अथवा पत्नी पतिसे विरक्त हो जाती है और विरक्त होकर वह दूसरेके साथ भाग जाती है। न भी भागे तो पतिके चित्तको दु ख देनेवाले कार्य करती है ॥१०५२॥

अब शरीरकी अस्थिरता बतलाते हैं—

रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि चिट्ठंति सारवेंतस्स ।
धणिदं पि सारवेंतस्स ठादि ण चिरं सरीरमिमं ॥१०५३॥

'**रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि**' काष्ठे उत्कीर्णानि रूपाणि स्त्रीणां पुंसां अन्येषां च आदिशब्देन शिलादन्तादिरूपपरिग्रहश्चिरं '**चिट्ठंति सारवेंतस्स**' चिरं तिष्ठन्ति संस्कुर्वतः । '**धणिदं पि सारवेंतस्स**' नितरामपि संस्कुर्वतः । '**ठादि ण चिरं शरीरमिमं**' न तिष्ठति चिरं शरीरमिदं ॥१०५३॥

न च केवलं शरीरमेव अनित्यमपि त्वन्यदपि इति व्याचष्टे—

मेघहिमफेणउक्कासंझाजलबुब्बुदो व मणुगाणं ।
इंदियजोव्वणमदिरूवतेयबलवीरियमणिच्चं ॥१०५४॥

'**मेघहिमफेणउक्कासंझाजलबुब्बुदोव**' मेघवद्धिमवत्फेनवदुल्कावत्सन्ध्यावज्जलबुद्बुदवच्च । '**मणुगाणं**' मनुजानां । '**इंदियजोव्वणमदिरूवतेअबलवीरियमणिच्चं**' इन्द्रियाणि, यौवनं, मतिः, रूपं तेजो, बलं वीर्यं, चानित्यं ॥१०५४॥

झटिति शरीरसम्पद्विघावर्तते इत्याख्यानकं दर्शयति—

साधुं पडिलाहेदुं गदस्स सुरयस्स अग्गमहिसीए ।
णट्ठं सदीए अंगं कोढेण जहा मुहुत्तेण ॥१०५५॥

'**साधुं पडिलाहेदुं गदस्स**' साधोराहारदानार्थं गतस्य । '**सुरयस्य**' सुरतनामधेयस्य राज्ञः । '**अग्गमहिसीए**' अग्रमहिष्याः । '**सदीए**' सत्याः शोभनायाः । '**अंगं णट्ठं**' शरीरं नष्टं । '**कोढेण**' कुष्ठेन । '**जहा मुहुत्तेण**' यथा मुहूर्तेन ॥१०५५॥

वज्झो य णिज्जमाणो जह पियइ सुरं च खादि तंबोलं ।
कालेण य णिज्जंतो विसए सेवंति तह मूढा ॥१०५६॥

गा०—सार सम्हाल करनेपर काष्ठ, पाषाण, हाथी दाँत आदिमें अंकित किये गये स्त्री पुरुषोंके रूप चिरकाल तक रहते है। किन्तु यह शरीर अति सम्हाल करनेपर भी चिरकाल तक नही रहता ॥१०५३॥

आगे कहते है कि केवल शरीर ही अनित्य नही है किन्तु वस्तुएँ भी अनित्य है—

गा०—मनुष्योंके इन्द्रियाँ, यौवन, मति, रूप, तेज, बल और वीर्य ये सब मेघ, बर्फ, फेन, उल्का, सन्ध्या और जलके बुलबुलेकी तरह अनित्य हैं ॥१०५४॥

शरीररूप सम्पदा झट नष्ट हो जाती है यह एक कथा द्वारा कहते है—

गा०—राजा सुरत साधुको आहार देने गया। इतनेमे ही उसकी पटरानी सतीका शरीर एक मुहूर्तमें ही कोढसे नष्ट हो गया ॥१०५५॥

गा०—जैसे मारनेके लिए कोई किसी पुरुषको ले जाये और वह पुरुष मरनेकी चिन्ता न करके शराब पिये और पान खाये। वैसे ही मूढ मनुष्य मृत्युकी चिन्ता न करके विषयोंका सेवन करते हैं ॥१०५६॥

'**वज्झो य णिज्जमाणो**' हन्तु नियमानः । '**जह पियइ**' यथा सुरा पिबति । '**खादि तंबोलं**' ताम्बूल भक्षयति । तथा '**कालेण य णिज्जंता**' मृत्युना नीयमाना मूढाः । '**विसए सेवंति**' विषयाननुभवन्ति ॥१०५६॥

वग्घपरद्धो लग्गो मूले य जहा ससप्पबिलपडिदो ।
पडिदमधुबिंदुचक्खणरदिओ मूलम्मि छिज्जंते ॥१०५७॥

'**वग्घपरद्धो**' व्याघ्रेणाभिद्रुतः । '**लग्गो**' लग्नः । '**मूलम्मि**' लतायाः मूले । '**ससप्पबिलपडिदो**' ससर्पवति बिले पतितः । '**पडिदमधुबिंदुचक्खणरदिओ**' स स्वमुखस्थानपतितमधुबिन्द्वास्वादनरतिकः । '**मूलम्मि छिज्जंते**' मूले छिद्यमाने मूषिकाभिर्यथा ॥१०५७॥

तह चेव मच्चुवग्घपरद्धो बहुदुक्खसप्पबहुलम्मि ।
संसारबिले पडिदो आसामूलम्मि संलग्गो ॥१०५८॥

'**तह चेव**' तथैव । '**मच्चुवग्घपरद्धो**' मृत्युव्याघ्रेण[१]उपद्रुतः । '**संसारबिले पडिदो**' संसार एव बिलं तस्मिन्पतितः । कीदृग्भूते ? बहुदुःखसर्पाकुले आशामूले । '**संलग्गो**' सम्यग्लग्नः ॥१०५८॥

बहुविग्घमूसएहिं आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते ।
लेहदि तहवि अलज्जो अप्पसुहं विसयमधुबिंदुं ॥१०५९॥

'**बहुविग्घमूसगेहिं य**' बहुभिर्विघ्नमूषकैः । '**आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते**' आशाख्ये मूले तस्मिंश्छिद्यमाने । '**लेहदि**' खादति । '**विभयविलज्जो**'[२] निर्भयो निर्लज्जश्च । '**अप्पसुहं विसयमधुबिंदुं**' अल्पसुखं विषयमधुबिन्दुं । अल्पसुखनिमित्तत्वादल्पसुखमित्युच्यते । विषयमधुबिन्दुं विषयशब्देन रूपादय इत्युच्यन्ते । तेषु पुरोऽवस्थितपुद्गलस्कन्धस्य वर्तमाना कतिपया पर्याया अतिस्वल्पास्त एव मधुबिन्दवः । अधुवत्तं ॥१०५९॥

गा०-टी०—जैसे पीछे लगे व्याघ्रके भयसे भागता हुआ कोई मनुष्य एक ऐसे कूपमें गिरा जिसमे सर्प रहता था । उस कूपकी दीवारमे एक वृक्ष उगा था । उसकी जडको पकड़कर वह लटक गया । उस जडको चूहे काट रहे थे । किन्तु उस वृक्षपर मधुमक्खियोका एक छत्ता लगा था और उसमेंसे मधुकी बूँद टपककर उसके ओठोंमें आती थी । वह सकट भूल उसी मधु-बिन्दुके स्वादमे आसक्त था ॥१०५७॥

गा०—उसी मनुष्यकी तरह मृत्युरूपी व्याघ्रसे भीत प्राणी अनेक दुःखरूपी सर्पोंसे भरे ससार कूपमे पड़ा है और आशारूपी जड़को पकड़े हुए है ॥१०५८॥

गा०-टी०—किन्तु उस आशारूप जड़को बहुतसे विघ्नरूपी चूहे काट रहे हैं । फिर भी वह निर्लज्ज निर्भय होकर क्षणिक सुखमे निमित्त विषयरूपी मधुकी बूँदके आस्वादमे डूबा हुआ है । यहाँ विषय शब्दसे रूप आदिको कहा है । उसके सामने वर्तमान जो पुद्गल स्कन्धकी कुछ थोडी-सी पर्यायें है वे ही मधुकी बूँद है । उसीमें वह आसक्त है ॥१०५९॥

इस प्रकार ससारकी अनित्यताका कथन किया ।

१. ण अभिद्रुत -आ० मु० । २. दि विभयविल-आ० मु० ।

बालो अमेज्झलित्तो अमेज्झमज्झम्मि चेव जह रमदि ।
तह रमदि णरो मूढो महिलामेज्झे सयममेज्झो ॥१०६०॥

'**बालो अमेज्झलित्तो**' बालोऽमेध्येन लिप्त.। '**अमेज्झमज्झम्मि चेव**' अमेध्यमध्ये एव। '**जह रमइ**' यथा रमते प्रीतिमुपैति। '**तथा रमदि णरो मूढो**' तथा रमते मूढ नर। '**महिलामेज्झे**' योषिदेव अनेकाशुचिपूर्णशरीरतया अमेध्यशब्देनोच्यते। **सयममेज्झो** स्वयममेध्यभूत ॥१०६०॥

कुणिमरसकुणिमगंधं सेविंता महिलियाए कुणिमकुडी ।
जं होंति सोचयत्ता एदं हासावहं तेसिं ॥१०६१॥

'**कुणिमरसकुणिमगंधं**' अशुचिरसमशुचिगन्धं। '**सेविंता**' सेवमाना। '**महिलियाए**' महिलाया युवत्या.। '**कुणिमकुडि**' अशुचिशरीरकुटिं। '**जं होदि सोयवत्ता**' यद्भवन्ति शौचवन्त। '**एवं हासावहं**' **एतच्छौचवत्व** हास्यावह। '**तेसिं**' तेषा ॥१०६१॥

एवं एदे अत्थे देहे चिंतंतयस्स पुरिसस्स ।
परदेहं परिभोत्तुं इच्छा कह होज्ज सघिणस्स ॥१०६२॥

'**एवं एदे अत्थे**' एवमेतानर्थान्। '**देहे**' शरीरविषयान्। '**चिंततयस्य**' चिन्तयत। '**पुरिसस्स**' पुरुषस्य। '**परदेहं**' परस्य शरीरं। '**परिभोत्तु**' परितो भोक्तु। '**इच्छा किह होज्ज**' इच्छा कथ भवेत्। '**सघिणस्स**' लज्जावत ॥१०६२॥

एदे अत्थे सम्मं दोसं पिच्छंतओ णरो सघिणो ।
ससरीरे वि विरज्जइ किं पुण अण्णस्स देहम्मि ॥१०६३॥

'**एदे अत्थे देहस्स बीजणिप्पत्तिखेत्त**' इत्येतत्सूत्रनिर्दिष्टानेतानर्थान्। '**देहे**' शरीरे। '**पिच्छितगो**' सम्यङ् निरूपयन्। '**ससरीरे वि विरज्जइ**' आत्मनोऽपि शरीरे विरक्ततामुपैति। '**किं पुण अण्णस्स देहम्मि**' किं पुनरन्यशरीरे विरक्तता नोपेयात्। 'अशुचि' अशुचित्व व्याख्यात ॥१०६३॥

गा०—जैसे मलसे लिप्त बालक मलमे ही रमता है वैसे ही मूढ मनुष्य स्वय अत्यन्त मलिन है और मलिनता भरे स्त्रीके शरीरमे रमण करता है ॥१०६०॥

गा०—युवतीका शरीर अशुचि रस और दुर्गन्धसे पूर्ण है। ऐसे अशुचि शरीरको सेवन करता हुआ कामी पुरुष अपनेको शुचि-पवित्र मानता है उसकी यह पवित्रता हास्यास्पद है ॥१०६१॥

गा०—इस प्रकार शरीरके विषयमें विचार करनेवाले पुरुषको शरीरसे ग्लानि हो जाती है तब उसे स्त्रीके शरीरको भोगनेकी इच्छा कैसे हो सकती है ॥१०६२॥

गा०—शरीरका बीज, उसकी निष्पत्ति आदिको सम्यक्रूपसे निरीक्षण करनेवाला लज्जाशील मनुष्य अपने शरीरसे भी विरक्त हो जाता है तब अन्यके शरीरमे क्यों विरक्त नहीं होगा ॥१०६३॥

इस प्रकार शरीरकी अशुचिताका कथन हुआ।

वृद्धसेवानिरूपणाय उत्तरः प्रबन्धः थेरावा तरुणा वा इत्यादिक. । शीलवृद्धता भवति न केवलेन वयसा इत्याचष्टे—

थेरा वा तरुणा वा वुड्ढा सीलेहिं होंति वुड्ढीहिं ।
थेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहिं तरुणेहिं ॥१०६४॥

'**थेरा वा तरुणा वा**' स्थविरास्तरुणाश्च । '**वुड्ढा होंति**' वृद्धा भवन्ति । '**सीलेहिं वुड्ढीहिं**' शीलैः प्रवृद्धैः । क्षमा, मार्दवं, ऋजुत्व, सन्तोष,इत्यादिकं शीलशब्देनोच्यन्ते । '**थेरा वा तरुणा वा**' स्थविरास्तरुणाश्च । तरुणा एव । '**सीलेहिं तरुणेहिं**' तरुणैः शीलैः । एतेन शीलवृद्धा इह वृद्धशब्देन गृहीता । एतेषा सेवा वृद्धसेवेति कथित भवति । वृद्धगुणाना सेवात स्वयमपि गुणोत्कर्षमुपैतीति मन्यते ॥१०६४॥

अपि [1]चेहवरयादिनामवयोवृद्धानामपि संसर्गो गुणवान्यतस्तेऽपि वयसैव[2] मन्दीभूतकामरतिदर्पक्रीडा इति वदति—

जह जह वयपरिणामो तह तह णस्सदि णरस्स बलरूवं ।
मंदा य हवदि कामरदिदप्पकीडा य लोभे य ॥१०६५॥

'**जह जह वयपरिणामो**' अतिक्रामति यथा यथा वयःपरिणामो युवत्वमध्यमत्वसज्ञित । '**णरस्स परिणामो**' प्राणिन परिणाम नश्यति । '**तध तध से**' तथा तथा तस्य '**मंदा हवंति**' मन्दा भवन्ति । '**कामरदिदप्पकीडा**' काम्यन्त इति कामा विषयास्तत्र रतिर्दर्प , क्रीडा, '**लोभो य**' लोभश्च । मन्दविषयरत्यादिपरिणामेन वृद्धेन मह संवासात् स्वयमेवापि मन्दकामादिपरिणामो भवतीति भाव ॥१०६५॥

खोमेदि पत्थरो जह दहे पडंतो पसण्णमवि पंकं ।
खोमेइ तहा मोहं पसण्णमवि तरुणसंसग्गी ॥१०६६॥

आगे वृद्धसेवाका कथन करते हुए कहते हैं कि केवल अवस्थासे वृद्धता नही होती—

गा०-टी०—अवस्थासे वृद्ध हो अथवा तरुण हो, जिसके शील अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि बढे हुए है वे वृद्ध हैं। तथा अवस्थासे वृद्ध हो अथवा तरुण हो जिनके शील तरुण है—वृद्धिको प्राप्त नही है वे तरुण है। अत. यहाँ जो शीलसे वृद्ध है वृद्ध शब्दसे उनका ग्रहण किया है। उनकी सेवा वृद्ध सेवा है, यह कथनका अभिप्राय है। गुणोसे वृद्ध पुरुषोकी सेवा करनेमे स्वयं भी मनुष्य गुणोमे उत्कर्षको प्राप्त होता है ॥१०६४॥

आगे कहते है कि अवस्थासे वृद्धोंका ससर्ग भी लाभकारी है क्योकि अवस्थाके कारण ही उनका कामज्वर आदि मन्द हुआ है—

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यकी युवावस्था, मध्यावस्था बीतती जाती है वैसे-वैसे उसकी कामविषयक रति, मद, लोभ आदि मन्द होते जाते है। इसका भाव यह है कि जिसका कामभावरूप परिणाम मन्द होता है उस वृद्धके साथ रहनेसे मनुष्य स्वय भी मन्द कामभाव आदिसे युक्त होता है ॥१०६५॥

---

१. चेह यत्यादीनामपि संसर्गो गुणवान्यतस्तेपि तपसैव—आ० मु० । २ तपसैव सम्यग्भूत काम—ज०।

'खोभेदि' क्षोभयति । 'पत्थरो' शिला महती । 'जह' यथा । 'दहे' ह्रदे 'पडंतो' पतन् । 'पसण्णमवि पंकं' प्रशान्तमपि पङ्कं । 'खोभेदि' चालयति । 'तथा मोहं' । 'पसण्णमवि' प्रशान्तमपि । 'तरुणसंसग्गी' तरुणगोष्ठी ॥१०६६॥

कलुसीकदंपि उदगं अच्छं जह होइ कदयजोएण ।
कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु वुड्ढसेवाए ॥१०६७॥

'कलुसीकदंपि उदगं' कलुषीकृतमप्युदकं । 'कदगजोएण' कतकफलसम्बन्धेन । 'अच्छं' स्वच्छं । 'जह होदि' यथा भवति । 'कलुसोऽपि' कलुषितोऽपि । 'मोहो' मोह । 'उवसमदि' उपशाम्यति । 'वुड्ढसेवाए' वृद्धसेवया ॥१०६७॥

लीणो वि मट्टियाए उदीरदि जलासयेण जह गंधो ।
लीणो उदीरदि णरे मोहो तरुणासयेण तहा ॥१०६८॥

'लीणो वि' लीनोऽपि । 'मट्टियाए' मृत्तिकाया । 'गंधो' गन्ध । यथा 'जलासयेण' जलाश्रयेण । 'उदीरदि' उदयमुपैति । 'लीणो वि मोहो' लीनोऽपि नरे मोह । 'उदीरदि' उदयमुपनीयते । 'तरुणासएण' तरुणाश्रयेण तथा ॥१०६८॥

संतो वि मट्टियाए गंधो लीणो हवदि जलेण विणा ।
जह तह गुट्ठीए विणा णरस्स लीणो हवदि मोहो ॥१०६९॥

'संतो वि' सन्नपि मृत्तिकाया गन्ध । जलेन विना लीनो भवति यथा तथा गोष्ठ्या विना मोहो नरस्य लीनो भवति ॥१०६९॥

तरुणो वि वुड्ढसीलो होदि णरो वुड्ढसंसिओ अचिरा ।
लज्जासंकामाणावमाणभयधम्मबुद्धीहिं ॥१०७०॥

गा०—जैसे तालाबमें गिरकर पत्थर उसकी तलसे बैठी हुई पंकको उभारकर निर्मल जलको मलिन कर देता है, वैसे ही तरुणोंका संसर्ग प्रशान्त पुरुषके भी मोहको उद्रिक्त कर देता है ॥१०६६॥

गा०—और जैसे कतकफल डालनेसे गदला पानी भी निर्मल हो जाता है वैसे ही वृद्ध पुरुषोंकी सेवासे कलुषित मोह भी शान्त हो जाता है ॥१०६७॥

गा०—जैसे मिट्टीमे छिपी हुई गन्ध जलका आश्रय पाकर प्रकट हो जाती है। वैसे ही तरुणोके संसर्गसे मनुष्यमें छिपा हुआ मोह उदयमे आ जाता है ॥१०६८॥

गा०—और जैसे मिट्टीमे वर्तमान होते हुए भी गन्ध जलके बिना मिट्टीमें ही लीन रहती है। वैसे ही तरुणोंके संसर्गके बिना मनुष्यका मोह उसीमें लीन रहता है, बाहरमे प्रकट नहीं होता ॥१०६९॥

गा०—वृद्ध पुरुषोंके संसर्गसे तरुण भी शीघ्र ही लज्जासे, शंकासे, मानसे, अपमानके भयसे और धर्मबुद्धिसे वृद्धशील हो जाता है ॥१०७०॥

'तरुणो वि' तरुणोऽपि । वृद्धशीलो भवति । वृद्धं संश्रितोऽचिरात् लज्जया, शंकया, मानेन, अपमान-भयेन धर्मबुद्धया च ॥१०७०॥

वुड्ढो वि तरुणसीलो होइ णरो तरुणसंसिओ अचिरा ।
वीसंभणिव्विसंको समोहणिज्जो य पयडीए ॥१०७१॥

'वुड्ढो वि' वृद्धोऽपि तरुणशीलो भवति तरुणसंश्रितः क्षिप्रं । 'विस्संभणिव्विसंको' विश्रभेन निर्विशक 'समोहणिज्जो य' सह मोहनीयेन वर्तमान. । 'पयडीए' प्रकृत्या ॥१०७१॥

सुंडयसंसग्गीए जह पादुं सुंडओऽभिलसदि सुरं ।
विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोट्ठीए ॥१०७२॥

'सुंडयसंसग्गीए' यथा शौडगोष्ठ्या । 'जह पादुं सुरमभिलसदि' यथा पातु सुरामभिलषति । तथा 'पयडीए संमोहो' तथा प्रकृत्या समोह । 'तरुणगोट्ठीए विसए अभिलसदि' तरुणगोष्ठ्या विषयान-भिलषति ॥१०७२॥

तरुणेहिं सह वसंतो चलिंदिओ चलमणो य वीसत्थो ।
अचिरेण सइरचारी पावदि महिलाकदं दोसं ॥१०७३॥

'तरुणेहिं' तरुणै सह वसन् चलेन्द्रियश्चलचित्त', सुष्ठु विश्वस्त' अचिरेण स्वैरचारी । 'पावदि' प्राप्नोति । 'महिलाकदं दोसं' वनिताविषयं दोषं ॥१०७३॥

पुरिसस्स अप्पसत्थो भावो तिहिं कारणेहिं संभवइ ।
[1]विरहम्मि अंधयारे कुसीलसेवाए ससमक्खं ॥१०७४॥

'पुरिसस्स' पुरुषस्य अप्रशस्तो भावस्त्रिभि' कारणै संभवति । एकान्ते, अन्धकारे, कुमीलसेवादर्शनेन च प्रत्यक्षम् ॥१०७४॥

गा०—तथा तरुण पुरुषोकी संगतिसे वृद्ध पुरुष भी शीघ्र ही विश्वासके कारण निर्भय होनेसे और स्वभावमे ही मोहयुक्त होनेसे तरुणशील तरुणोंके स्वभाववाला हो जाता है ॥१०७१॥

गा०—जैसे मद्य पीनेवालोके ससर्गसे मद्यपी मद्यपान करनेकी अभिलाषा करने लगता है वैसे ही स्वभावसे ही मोही जीव तरुणोंके ससर्गसे विषयोकी अभिलाषा करता है ॥१०७२॥

गा०—जो तरुणोकी सगतिमे रहता है उसकी इन्द्रियाँ चचल होती है, मन चंचल होता है, और पूरा विश्वासी होता है। फलत शीघ्र ही स्वच्छन्द होकर स्त्रीविषयक दोषोंका भागी होता है ॥१०७३॥

पुरुषमे (और स्त्रीमें भी) तीन कारणोसे अप्रशस्तभाव अर्थात् काम सेवनकी अभिलाषा युक्तभाव होता है—

गा०—एकान्तमें स्त्रीके साथ पुरुषका और पुरुषके साथ स्त्रीका होना, अन्धकारमे तथा स्त्री पुरुषके काम सेवनको प्रत्यक्ष देखनेपर ॥१०७४॥

---

१ वियदम्मि मु०, मूलारा० ।

पासिय सुच्चा व सुरं पिज्जंतं सुंडओ भिलसदि जहा ।
विसए य तह समोहा पासिय सोच्चा व भिलसइ ॥१०७५॥

'पासिया सुच्चा व सुरं' सुरां पीयमानां दृष्ट्वा वा श्रुत्वा वा शौंडोऽभिलषति । यथा तथा समोहो विषयानभिलषति दृष्ट्वा श्रुत्वा वा ॥१०७५॥

जादो खु चारुदत्तो गोट्ठीदोसेण तह विणीदो वि ।
गणियासत्तो मज्जासत्तो कुलदूसओ य तहा ॥१०७६॥

'जादो खु चारुदत्तो' विनीतोऽपि चारुदत्तो गोष्ठीदोषेण गणिकासक्तो जात मद्यावसक्तः कुल दूषकश्च ॥१०७६॥

तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हाविज्जदि णरस्स वुड्ढेहिं ।
पण्हाविज्जइ पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ॥१०७७॥

'तरुणस्स वि' तरुणस्यापि वैराग्य जन्यते ज्ञानवयस्तपोवृद्धैः । वत्सस्य स्पर्शेन यथा गौः प्रस्नुतक्षीरा क्रियते ॥१०७७॥

परिहरइ तरुणगोट्ठी विसं व वुड्ढाउले य आयदणे ।
जो वसइ कुणइ गुरुणिद्देसं सो णिच्छरइ बंभं ॥१०७८॥

'परिहरइ तरुणगोट्ठी' परिहरति तरुणैः सह गोष्ठीं विषमिव यः, वृद्धैराकीर्णे चायतने यो वसति । करोति च गुर्वाज्ञां स निस्तरति ब्रह्मचर्यमिति संक्षेपोपदेश । वृद्धसेवा गता ॥१०७८॥

स्त्रीसंसर्गकृतदोषावेक्षणं स्वमनसा ससग्गीदोसावि य इत्यस्य सूत्रपदस्यार्थ माध्याहारतया सूत्राणा पि-च्छिज्जंता इति वाक्यशेषात्—

गा०—जैसे मद्यपी किसीको मद्य पीते देखकर अथवा सुनकर मद्यपानकी अभिलाषा करता है। वैसे ही मोही मनुष्य विषयोको देखकर अथवा सुनकर विषयोकी अभिलाषा करता है ॥१०७५॥

गा०—विनयवान भी चारुदत्त सेठ संगतिके दोषसे गणिकामे आसक्त हुआ, मद्यपानमे आसक्त हुआ और अपने कुलका दूषक हुआ ॥१०७६॥

गा०—ज्ञान, वय और तपसे वृद्ध पुरुषोंकी सगति तरुणपुरुषोमे भी वैराग्य उत्पन्न करती है जैसे बछड़ेके स्पर्शसे गौके स्तनोंमें दूध उत्पन्न होता है ॥१०७७॥

गा०—जो तरुणोंकी संगतिको विषकी तरह जानकर छोड़ देता है और ज्ञान तप शीलसे वृद्ध पुरुषोंके वासस्थानमे रहता है वह गुरुकी आज्ञाका पालन करता है और ब्रह्मचर्यको पालता है ॥१०७८॥

वृद्ध संगतिका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अब स्त्रीके संसर्गसे होनेवाले दोषोंको कहते है—

आलोयणेण हिदयं पचलदि पुरिसस्स अप्पसारस्स ।
पेच्छंतयस्स बहुसो इत्थीथणजहणवदणाणि ॥१०७९॥

आलोयणेण आलोकनेन । 'हिदयं' हृदयं प्रचलति । अल्पधृतिकस्य पुंसः प्रेक्षमाणस्य बहुशो युवतीना वदनपयोधरपृथुजघनानि ॥१०७९॥

लज्जं तदो विहिंसं परिजयमध णिव्विसंकिदं चेव ।
लज्जालुओ कमेणारुहंतओ होदि वीसत्थो ॥१०८०॥

'लज्जं तदो विहिंसं' ततो हृदयचलनोत्तरकाल लज्जां विनाशयति । विनष्टलज्जः परिचयमुपैति । ताभिर्दर्शनसमीपगमनहसनादिक करोतीति यावत् । पश्चान्निर्विशको भवतीति मामनया सह स्थित पश्यन्ति इति या शंका तामपाकरोति । लज्जावानपि नर क्रमेण अभिहिता अवस्था उपारोहन्, विश्वस्तो भवति ॥१०८०॥

वीसत्थदाए पुरिसो वीसंभं महिलियासु उवयादि ।
वीसंभादो पणयो पणयादो रदि हवदि पच्छा ॥१०८१॥

'वीसत्थदाए' विश्वस्ततया मनस विश्रभमुपयाति युवतिषु । विश्रभात्प्रणय प्रणयाद्रतिर्भवति ॥१०८१॥

उल्लावसमुल्लावएहिं चा वि अल्लियणपेच्छणेहिं तहा ।
महिलासु सइरचारिस्स मणो अचिरेण खुब्भदि हु ॥१०८२॥

'उल्लावसमुल्लावेहिं' सभाषणप्रतिवचनै , ढौकनेन, प्रेक्षणेन, तथा वनिताभिः स्वेच्छाचारी तस्य शीघ्रं मनश्चलति ॥१०८२॥

ठिदिगदिविलासविब्भमसहासचेट्ठिदकडक्खदिट्ठीहिं ।
लीलाजुदिरदिसम्मेलणोवयारेहिं इत्थीणं ॥१०८३॥

गा०—युवती स्त्रियोका मुख, स्तन और स्थूल नितम्बोंको बराबर ताकते रहनेसे चंचल चित्त मनुष्यका हृदय विचलित हो जाता है ॥१०७९॥

गा०-टी०—हृदयके विचलित होनेके पश्चात् उसकी लज्जा जाती रहती है। निर्लज्ज होनेके पश्चात् वह उन स्त्रियोको देखना, उनके समीप जाना, उनसे हँसी ठठोली करना आदिके द्वारा परिचय प्राप्त करता है। पीछे उसका यह भय जाता रहता है कि लोग मुझे इनके साथ देखेंगे। इस तरह लज्जाशील मनुष्य भी क्रमसे कही गई अवस्थाओंको प्राप्त करता हुआ स्त्रियोंके विषयमें विश्वस्त हो जाता है कि यह मुझसे अनुराग करती है और किसीसे यह कहेगी नही आदि ॥१०८०॥

गा०—अपने मनमें ऐसा विश्वास होनेसे वह स्त्रियोंमे भी विश्वास करने लगता है और प्रेमसे आसक्ति बढ़ती है ॥१०८१॥

गा०—आसक्ति बढनेसे परस्परमें वार्तालाप होने लगता है। बार-बार मिलना और परस्पर देखना होता है। इससे स्त्रियोंके सम्बन्धमे स्वेच्छाचारी मनुष्यका चित्त शीघ्र ही विचलित हो जाता है ॥१०८२॥

'ठिविगदि'—स्त्रीणा स्थित्या, गत्या विभ्रमेण, नर्तनाभिप्रायेण, निगूहनेन, कटाक्षावलोकनेन, शोभया, द्युत्या, क्रीडया, सहगमनासनादिना उपचारेण च ॥१०८३॥

हासोवहासकीडारहस्सवीसत्थजंपिएहिं तहा ।
लज्जामज्जादीणं मेरं पुरिसो अदिक्कमदि ॥१०८४॥

'हासोपहासकीडा' हासेन प्रतिहासेन च, क्रीडया, एकान्ते विस्वस्तजल्पितेन च लज्जामर्यादयो सीमातिक्रम करोति नर. ॥१०८४॥

ठाणगदिपेच्छिदुल्लावादी सव्वेसिमेव इत्थीणं ।
सविलासा चेव सदा पुरिसस्स मणोहरा हुंति ॥१०८५॥

'ठाणगदि' स्थान, गति , प्रेक्षितमुल्लापमत्यादय सर्वासामेव स्त्रीणा सविलासा पुरुषस्य मन. सदापहरन्ति ॥५०८५॥

संसग्गीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लद्धपसरस्स ।
अग्गिसमीवे[1] व घयं मणो लहुमेव हि विलाइ ॥१०८६॥

'संसग्गीए' सहगमनेन, गमनेन, आसनेन च पुरुषस्य अल्पसारस्य लब्धप्रसरस्य मना द्रवीभवति । अग्निनिकटस्थिता लाक्षेव ॥१०८६॥

संसग्गीसम्मूढो मेहुणसहिदो मणो हु [2]दुम्मेरो ।
पुव्वावरमगणंतो [3]लंघेज्ज सुसीलपायारं ॥१०८७॥

'संसग्गीसम्मूढो' स्त्रीससर्गसमूढ मनो मिथुनकर्मपरिणत निमर्याद पूर्वापरमगणयदुल्लघयेच्छीलप्राकार ॥१०८७॥

गा०-टी०—तथा स्त्रियोके खडे होने, गमन करने नेत्रोके अनुराग, कटाक्ष क्षेप, हास्य-पूर्ण चेष्टा, शोभा, कान्ति, क्रीड़ा, साथ-साथ चलना, बैठना आदि उपचारोंसे, ह्रास उपहाससे, तथा एकान्तमे विश्वासयुक्त वार्तालापसे पुरुष लज्जा और मर्यादाकी सीमाका उल्लघन करता है ॥१०८३-१०८४॥

गा०—सब ही स्त्रियोंका विलास सहित खडा होना, गमन करना, देखना, बोलना आदि सदा पुरुषोके मनको हरता है ॥१०८५॥

गा०—निर्बल चित्त और स्वेच्छाचारी मनुष्यका मन स्त्रियोके संसर्गसे उनके साथ उठने बैठने और आने जानेसे आगके पासमे रखे घी या लाखको तरह द्रवीभूत हो जाता है ॥१०८६॥

गा०—इस प्रकार स्त्रीके सहवाससे मूढ-मोहित हुआ मन मैथुन संज्ञासे पीडित होकर निर्मर्याद हो जाता है और आगे पीछे न देखते हुए सुन्दर शीलरूपी परिकोटको लाँघ जाता है ॥१०८७॥

---

१. वे लक्खेव म-मु० । २. णिम्मेरो-मूलारा० । ३. उट्ठवेदि उल्लंघयति-मूलारा० ।

इंदियकसयसण्णागारवगुरुया समावदो सव्वे ।
संसग्गिलद्धपसरस्स ते उदीरंति अचिरेण ॥१०८८॥

'**इंदियकसायसण्णागारवगुरुका**' इंद्रियैः, कषायैः, संज्ञाभिराहारभयमैथुनपरिग्रहविषयाभिः ऋद्धिरस-सातगौरवैश्च गुरुका । स्वभावात् सर्वे एव प्राणभृतः ससर्गलब्धप्रसरस्य अतीव अशुभपरिणामा अचिरादेवोत्पद्यन्ते ॥१०८८॥

मादं सुदं च भगिणीमेगंते अल्लियंतगस्स मणो ।
खुब्भइ णरस्स सहसा किं पुण सेसासु महिलासु ॥१०८९॥

स्पष्टार्था ॥१०८९॥

उत्तरा—

जुण्णं पोच्चलमइलं रोगियबीभस्सदंसणविरूवं ।
मेहुणपडिगं पच्छेदि मणो तिरियं च खु णरस्स ॥१०९०॥

'**जुण्णं**' जीर्णतरा । '**पोच्चलमइलं**' निःसारमलिना । '**रोगियबीभस्सदंसणविरूवं**' व्याधिता बीभत्सलोचना विरूपामपि स्त्रियं । '**मेहुणपडिगं**' मैथुनकर्मनिमित्तं '**पच्छेदि**' प्रार्थयते । '**मणो**' मन '**तिरिय खु**' तिरश्ची वा दृष्ट्वा हि तीव्रकामावेशात् तिर्यक्ष्वपि नराणां प्रवृत्ति ॥१०९०॥

दिट्ठाणुभूदसुदविसयाण अभिलाससुमरणं सव्वं ।
एसा वि होइ महिलासंसग्गी इत्थिविरहम्मि ॥१०९१॥

'**दिट्ठाणुभूदसुदविसयाण**' दृष्टानां, अनुभूतानां, श्रुतानां च विषयाणां । '**अभिलाससुमरणं**' अभिलाषस्मरणं । '**सव्वं एसोवि होदि महिलासंसग्गी**' एषोऽपि भवति युवतिससर्गः । '**इत्थिविरहे**' स्त्रीविरहे ॥१०९१॥

थेरो बहुस्सुदो[1] वा पच्चईओ तह गणी तवस्सित्ति ।
अचिरेण लभदि दोसं महिलावग्गम्मि वीसत्थो ॥१०९२॥

गा०—स्वभावसे ही सब प्राणी इन्द्रिय, कषाय, आहार भय मैथुन और परिग्रह विषयक संज्ञा तथा ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरवसे युक्त होते हैं। अतः स्त्रीकी संगतिका साहाय्य पाकर वे इन्द्रियादिरूप अशुभ परिणाम तत्काल प्रबल हो उठते है ॥१०८८॥

गा०—एकान्तमे माता, पुत्री और बहनको पाकर जब मनुष्यका मन सहसा चंचल हो उठता है तब शेष स्त्रियोंके सम्बन्धमे तो कहना ही क्या है ॥१०८९॥

गा०—मनुष्यका मन अति वृद्धा, सारहीन, मैली, कुचैली, रोगी, देखनेमे भयानक कुरूप स्त्रीको भी मैथुन करनेके लिए चाहता है। तथा तीव्र कामके आवेशमे पशुओके साथ भी मनुष्य मैथुन कर्म करता है ॥१०९०॥

अन्य प्रकारसे स्त्री संसर्ग दिखलाते हैं—

गा०—स्त्रीके अभावमें देखे हुए, भोगे हुए, सुने हुए विषयोंकी अभिलाषा करना, स्मरण करना, ये सब भी स्त्री ससर्ग ही है ॥१०९१॥

---

1. दो पच्चई पमाण गणी—मु० ।

'थेरो' स्थविरः, बहुश्रुत , प्रत्ययित., प्रमाणभूत गणधरः, तपस्वीत्येव प्रकारः । **'अचिरेण'** चिरकालमन्तरेण । **'लभदि दोसं'** अयशो लभते । **'महिलावग्गम्मि'** युवतिवर्गे । **'वीसत्थो'** विश्वस्त. ॥१०९२॥

किं पुण तरुणा अबहुस्सुदा य सइरा य विगदवेसा य ।
महिलासंसग्गीए णट्ठा अचिरेण होहंति ॥१०९३॥

'किं पुण तरुणा' सयौवना , अबहुश्रुता , स्वैरचारिण , विकृतवेगाश्च युवतिससर्गेण झटिति नष्टा न भवन्ति ? किं पुनर्भवन्त्येवेति यावत् ॥१०९३॥

सगडो हु जइणिगाए संसग्गीए दु चरणपब्भट्ठो ।
गणियासंसग्गीय य कूववारो तहा णट्ठो ॥१०९४॥

'सगडो हु' सगडा नामधेय. । **'जइणिगाए संसग्गीए'** जइणिगासज्ञायाः ससर्गेण । **'चरणपब्भट्ठो'** चारित्राद्भ्रष्टः । **'गणिकासंसग्गीए'** गणिकागोष्ठ्या । **'कूववारो वि'** कूपारनामक. । **'तहा णट्ठो'** तथा चारित्रान्नष्ट. ॥१०९४॥

रुद्दो परासरो सच्चईय रायरिसि देवपुत्तो य ।
महिलारूवालोई णट्ठा संसत्तदिट्ठीए ॥१०९५॥

'रुद्दो परासरो' रुद्र , पराशर., सात्यकि., राजर्षिर्देवपुत्रश्च युवतिरूपावलोकिन । ससक्तया दृष्टया नष्टा. ॥१०९५॥

जो महिलासंसग्गी विसंव दट्ठूण परिहरइ णिच्चं ।
णित्थरइ बंभचेरं जावज्जीवं अकंपा सो ॥१०९६॥

जो महिलाया स्त्रीणा ससर्ग विषमिव दृष्ट्वा नित्य परिहरति । असौ ब्रह्मचर्य उद्वहति यावज्जीव निश्चल. ॥१०९६॥

गा०—वृद्ध, बहुश्रुत, सबका विश्वास भाजन, सबके लिए प्राणभूत, गणधर और तपस्वी मनुष्य भी यदि स्त्रियोंके विषयमें विश्वस्त है उनसे ससर्ग रखता है तो वह भी शीघ्र ही अपयशका भागी होता है ॥१०९२॥

गा०—तब जो तरुण हैं, अल्पज्ञानी है, स्वच्छन्द और विकार पैदा करनेवाला वेष रखते हैं वे स्त्रियोंके ससर्गसे शीघ्र ही नष्ट क्यो न होगे ? अवश्य ही होगे ॥१०९३॥

गा०—शकट नामक मुनि जैनिका नामक ब्राह्मणीके संसर्गसे चारित्रसे भ्रष्ट हुए । और कूपार नामक मुनि वेश्याकी संगतिके कारण चारित्रसे भ्रष्ट हुए ॥१०९४॥

गा०—रुद्र, पाराशर ऋषि, सात्यकि मुनि, राजर्षि, और देवपुत्र ये स्त्रीके रूपको देखनेमें आसक्त होकर भ्रष्ट हुए ॥१०९५॥

गा०—जो पुरुष स्त्रीके संसर्गको विषकी तरह देखकर नित्य ही उससे बचता है वह निश्चल होकर जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यका पालन करता है ॥१०९६॥

सव्वम्मि इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सदा अवीसत्थो ।
बंभं णिच्छरदि वदं चरित्तमूलं चरणसारं ॥१०९७॥

'सव्वम्मि' सर्वस्त्रीवर्गे । अप्रमत्त सदा अविश्वस्तः, ब्रह्मव्रतमुद्वहति चारित्रस्य मूलं सारं च ॥१०९७॥

किं मे जंपदि किं मे पस्सदि अण्णो कहं च वट्टामि ।
इदि जो सदाणुपेक्खइ सो दढबंभव्वदो होदि ॥१०९८॥

'किं मे जंपदि' किं जल्पति मा जनोऽन्यः । किं पश्यति, कीदृशी वा मम वृत्तिरिति य सदानुप्रेक्षते असौ दृढब्रह्मचर्यव्रतो भवति ॥१०९८॥

मज्झण्हतिक्खसूरं व इत्थिरूवं ण पासदि चिरं जो ।
खिप्पं पडिसंहरदि दिट्ठिं सो णिच्छरदि बंभं ॥१०९९॥

'मज्झण्हतिक्खसूरं व' मध्यान्हे स्थित तीक्ष्णमादित्यमिव स्त्रीणा रूपं चिरं यो न पश्यति । क्षिप्रमुपसंहरति दृष्टिं य स निस्तरति ब्रह्मचर्यं ॥१०९९॥

एवं जो महिलाए सद्दे रूवे तहेव संफासे ।
ण चिरं जस्स सज्जदि दु मणं खु णिच्छरदि सो बंभं ॥११००॥

'एवं जो महिलाए' एवं यो युवतिशब्दे, रूपे, सस्पर्शे च चिरं मनो न सधत्तेऽसौ ब्रह्म निस्तरति । **'संसग्गी'** ॥११००॥

इह परलोए जदि दे मेहुणविस्सुत्तिया हवे जण्हु ।
तो होहि तमुवउत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥११०१॥

'इह परलोए' इह परलोके च यदि मैथुनपरिणामो भवेत् । पचविधे स्त्रीवैराग्ये त्वमुपयुक्तो भव । तदुपयोगाद्विनश्यत्यमावशुभतम परिणाम इति सूरेरुपदेश ॥११०१॥

गा०—जो पुरुष सम्पूर्ण स्त्री वर्गमें प्रमाद रहित है और सदा स्त्रियोका विश्वास नही करता। वह ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है जो ब्रह्मचर्य व्रत चारित्रका मूल और उसका सार है ॥१०९७॥

गा०—अन्य लोग मेरे सम्बन्धमे क्या कहते हैं ? मुझे किस दृष्टिसे देखते हैं ? मेरी प्रवृत्ति कैसी है ? ऐसा जो सदा विचार करता है उसका ब्रह्मचर्यव्रत दृढ़ होता है ॥१०९८॥

गा०--जो मध्याह्नकालके तीक्ष्ण सूर्यकी तरह स्त्रीके रूपकी ओर देर तक नही देखता और शीघ्र ही अपनी दृष्टिको उसकी ओरसे हटा लेता है वह ब्रह्मचर्यका निर्वाह करता है ॥१०९९॥

गा०—इस प्रकार स्त्रीके शब्द, रूप और स्पर्शमे जिसका मन चिरकाल तक नही ठहरता, वह ब्रह्मचर्यका पालक होता है ॥११००॥

इस प्रकार स्त्री ससर्गके दोषोंका कथन किया।

गा०-टी०—हे क्षपक ! यदि इस लोक और परलोकमें तुम्हारे मैथुन सेवनके परिणाम हों तो पाँच प्रकारके स्त्री वैराग्यमें मनको लगाओ। अर्थात् स्त्रीकृत दोष, मैथुनके दोष, स्त्री-

उदयम्मि जायवड्ढिय उदएण ण लिप्पदे जहा पउमं ।
तह विसएहिं ण लिप्पदि साहू विसएसु उसिओ वि ॥११०२॥

'**उदयम्मि जायवड्ढिय**' उदके जातं परिवृद्धं च यथा पद्म उदकेन न लिप्यते । तथा न लिप्यते विषयैः साधुर्विषयेषु वर्तमानोऽपि ॥११०२॥

उग्गाहिंतस्सुदधिं अच्छेरमणोल्लणं जह जलेण ।
तह विसयजलमणोमच्छेरं विसयजलहिम्मि ॥११०३॥

'**ओग्गाहंतस्सुदधिं**' अवगाहमानस्योदधिं आश्चर्यं यथा जलेनास्पर्शनं । तथा विषयजलेनार्द्रचित्तता आश्चर्यं विषयजलधिमध्यमध्यासीनस्य ॥११०३॥

मायागहणे बहुदोसमावए अलियदुमगणे भीमे ।
असुइतणिल्ले साहू ण विप्पणस्संति इत्थिवणे ॥११०४॥

'**मायागहणे**' यथा गहनं परेषां दुःप्रवेशं एवं मायापि परैर्दुरधिगमेति मायापि गहनमित्युच्यते । मायागहनं यस्मिन्वने तन्मायागहनं तस्मिन् । '**बहुदोससावदे**' बहवो दोषा बहुदोषा असूया, पिशुनता, चपलता, भीरुता, नितरां प्रमत्तता चेत्येवमादयस्ते श्वापदा यस्मिन् । '**अलियदुमगणे**' यथा द्रुमो महाननेकशाखोपशाखाकुलश्च तद्वद्व्यलीकता द्रुमगणो यस्मिन् । भीमे भयकरे । '**असुचितणिल्ले**' अशुचितृणकुले । यतयो न विप्रणश्यन्ति स्त्रीवने ॥११०४॥

सिंगारतरंगाए विलासवेगाए जोव्वणजलाए ।
विहसियफेणाए मुणी णारिणईए ण वुज्झंति ॥११०५॥

संसर्गके दोष, शरीरकी अशुचिता और वृद्धसेवाका चिन्तन करो। ऐसा करनेसे तुम्हारे अति अशुभ परिणाम नष्ट होगे ॥११०१॥

गा०—जैसे जलमें उत्पन्न हुआ और जलमे ही बढा कमल जलसे लिप्त नही होता। वैसे ही विषयोंके मध्यमे रहते हुए भी साधु विषयोसे लिप्त नही होता ॥११०२॥

गा०—जैसे समुद्रका अवगाहन करके भी समुद्रके जलसे शरीरका निर्लिप्त रहना आश्चर्यकारी है। वैसे ही विषयरूपी समुद्रके मध्यमे रहकर विषयरूपी जलसे चित्तका न भीगना आश्चर्यकारी है ॥११०३॥

गा०-टी०—यह स्त्री रूपी वन मायाचारमे गहन है। जैसे गहन वनमे दूसरोका प्रवेश करना कठिन होता है वैसे ही मायाको भी जानना कठिन है इसलिए मायाको गहन कहा है। अत स्त्रीरूपी वनमें माया ही गहनबेल आदि झाड़ियोंका समूह है। वनमें हिंसक जन्तु रहते हैं। स्त्रीरूप वनमे परनिन्दा, चुगली, चंचलता, भीरुता, प्रमत्तपना आदि बहुदोषरूपी हिंसक जन्तुओंका आवास है। वनमे वृक्ष होते हैं जो अनेक शाखा उपशाखाओंसे फैले रहते हैं। स्त्रीरूपी वनमें झूँठरूपी वृक्ष अपने भेद प्रभेदोंके साथ रहता है। वनकी तरह स्त्रीरूप वन भी भयंकर है। वनमे घास फूँस रहता है। स्त्री रूपी वनमे अशुचि शरीरके अंग-उपांग ही घास फूँस हैं। ऐसे स्त्रीरूपी वनमे साधु नही भटकता ॥११०४॥

'सिंगारतरंगाए' शृङ्गारतरङ्गया, विलासवेगया, यौवनजलया, विहसितफेनया, नारीनद्या मुनिर्नो-ह्यते ॥११०५॥

ते अदिसूरा जे ते विलाससलिलमदिचवलरदिवेगं ।
जोव्वणणईसु तिण्णा ण य गहिया इत्थिगाहेहिं ॥११०६॥

'ते अदिसूरा' ते अतिशूरा । ये विलाससलिलामतिचपलरतिवेगा यौवननदीमुत्तीर्ण , न च गृहीता युवतिग्राहैः ॥११०६॥

महिलावाहविमुक्का विलासपुंक्खा कडक्खदिट्ठिसरा ।
जण्ण वधंति सदा विसयवणचरं सो हवइ धण्णो ॥११०७॥

'महिलावाहविमुक्का' युवतिव्याधविमुक्ताः । विलासपुंखका , कटाक्षदृष्टिशराः । यं न घ्नन्ति सदा विषयवने चरन्त भवति स धन्य ॥११०७॥

विब्बोगतिक्खदंतो विलासखंधो कडक्खदिट्ठिणहो ।
पगिहरदि जोव्वणवणे जमित्थिवग्घो तगो धण्णो ॥११०८॥

'विब्बोगतिक्खदंतो' विलासस्कन्धो । विभ्रमतीक्ष्णदन्तो विलासस्कन्ध कटाक्षदृष्टिनखः परिहरति यौवनवने य युवतिव्याघ्र स धन्य ॥११०८॥

तेल्लोक्काडविडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ ।
जोव्वणतणिल्लचारी जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ॥११०९॥

गा०—स्त्री एक नदीके समान है। उसमें शृङ्गाररूप तरगे हैं। विलासरूप वेग है। यौवनरूप जल है तथा मन्द-मन्द हँसना ही झाग है। ऐसी स्त्रीरूपी नदी मुनिको नहीं बहा सकती ॥११०५॥

गा०—यह यौवनरूप नदी विलासरूप जलसे पूर्ण है अति चचल रतिरूप इसका प्रवाह है। जो इस यौवनरूप नदीको पारकर गये और स्त्रीरूपी मगरमच्छोने जिन्हे नही पकडा वे इस जगतमे अति शूरवीर हैं अर्थात् जवानीमे भी जिन्हे स्त्रीकी चाहने नहीं घेरा वे ही सच्चे शूरवीर हैं ॥११०६॥

गा०-टी०—विषयरूपी वनमें विचरण करने वाले जिस पुरुषको स्त्रीरूपी शिकारीके द्वारा छोडे गये कटाक्षदृष्टिरूपी बाणोने नहीं बींधा वह धन्य है। इन बाणोमे लगा पख स्त्रीका विलास है। विलासके साथ कटाक्ष दृष्टिरूपी बाण स्त्रीरूपी शिकारी विषयरूपी बनमें विचरण करने वालो पर चलाता है। जो उससे बचे रहते हैं वे धन्य है ॥११०७॥

गा०—स्त्री व्याघ्रके समान है भृकुटि विकार उसके तीक्ष्ण दाँत है। विलासरूपी कन्धा है। कटाक्षदृष्टि उसके नख है। यौवनरूपी बनमें विचरण करने वाले जिस पुरुषको यह स्त्रीरूपी व्याघ्र नही पकड़ता, वह धन्य है ॥११०८॥

गा०—तीनों लोकरूपी बनको जलाने वाली और विषयरूपी वृक्षोसे प्रज्वलित यह काम-रूप आग यौवन रूपी तृणो पर चलने में चतुर जिस मनुष्यको नहीं जलाती वह धन्य है ॥११०९॥

'तेल्लोक्काडविडहणो' त्रैलोक्याटविदहनः । कामाग्निर्विषयवृक्षे प्रज्वलिते यौवनतृणसञ्चरणचतुरं यन्न दहत्यसौ धन्यः ॥११०९॥

विसयसमुद्दं जोव्वणसलिलं हसियगइपेक्खिदुम्मीयं ।
धण्णा समुत्तरंति हु महिलामयरेहिं अच्छिक्का ॥१११०॥

'विसयसमुद्दं' विषयसमुद्रं । 'यौवनसलिलं' हसनगमनप्रेक्षणतरङ्गनिचितं । धन्याः सम्युत्तरन्ति युवतिमकरैरस्पृष्टा. ॥ चतुर्थं व्रतं व्याख्यातं ॥ चदुत्थ ॥१११०॥

पञ्चममहाव्रतनिरूपणायोत्तरप्रबन्ध —

अब्भंतरबाहिरए सव्वे गंथे तुमं विवज्जेहि ।
कदकारिदाणुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं ॥११११॥

'अब्भंतरबाहिरगे' अभ्यन्तरान्बाह्यांश्च । 'सव्वे गंथे' सर्वान्ग्रन्थान् । 'तुमं विवज्जेहि' वर्जय भवान् । 'कदकारिदाणुमोदेहिं' कृतकारितानुमननैः । 'कायमणवयणजोगेहिं' कायेन मनसा वाचा वा ॥११११॥

तत्राभ्यन्तरपरिग्रहभेदं निरूपयति गाथा—

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा ।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा ॥१११२॥

'मिच्छत्तवेदरागा' वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं मिथ्यात्वं, वेदशब्देन स्त्रीपुन्नपुंसकवेदाख्यानां कर्मणां ग्रहणं । तज्जनिताः स्त्र्यादीनां अन्योन्यविषयरागाः । स्त्रियः पुंसु रागः, पुंसो युवतिषु, नपुंसकस्योभयत्र । 'हस्सादिगा य छद्दोसा' हास्यं, रतिररतिः शोको, भयं जुगुप्सेति । एते षड्दोषा । 'चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा' चत्वारस्तथा कषायाश्चतुर्दशैते अभ्यन्तरा परिग्रहा ॥१११२॥

बाहिरसंगा खेत्तं वत्थुं धणधण्णकुप्पभंडाणि ।
दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासणे य तहा ॥१११३॥

गा०—इस विषयरूप समुद्रमें यौवनरूप जल है, स्त्रीका हँसना चलना देखना उसके लहरे हैं। और स्त्रीरूप मगरमच्छ है जो इन मगरमच्छोसे अछूते रहकर इस समुद्रको पार करते हैं वे धन्य हैं ॥१११०॥

इस प्रकार चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रतका व्याख्यान हुआ । पचम महाव्रतका कथन करते हैं—

गा०—हे क्षपक ? कृत कारित अनुमोदना और मन वचन कायसे तुम सब अन्तरग और बहिरग परिग्रहका त्याग करो ॥११११॥ मिथ्यात्व, वेद राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और चार कषाय ये चौदह अन्तरग परिग्रह हैं ॥१११२॥

टी०—वस्तुके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है। वेद शब्दसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद नामक कर्मोंका ग्रहण किया है। उनके उदयसे उत्पन्न स्त्री आदिके पारस्परिक रागको यहाँ अन्तरंग परिग्रह कहा है। स्त्रियोंका पुरुषोंमे राग, पुरुषोंका स्त्रियोंमें राग और नपुंसकोंका दोनोंमे राग पारस्परिक राग है ॥१११२॥

'बाहिरसंगा' बाह्यपरिग्रहा । **'खेत'** कर्षणाद्यधिकरणं । **'वत्थु'** वास्तु गृहं । **'धणं'** सुवर्णादि । **'धण्ण'** धान्यं व्रीह्यादि । **'कुप्प'** कुप्यं वस्त्र । **'भंड'** भाण्डशब्देन हिङ्गुमरिचादिकमुच्यते । द्विपदशब्देन दासदासीभृत्यवर्गादि । **'चउप्पय'** गजतुरगादयश्चतुष्पदा । **'जाणाणि'** शिबिकाविमानादिक यान । **'सयणासणे'** शयनानि आसनानि च ।।१०१३।।

बाह्यमलमनिराकृत्याभ्यन्तरकर्ममलं ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रवीर्याव्याबाधत्वानामात्मगुणाना छादने व्यापृत न निराकर्तुं शक्यते इत्येतद्दृष्टान्तमुखेनाचष्टे—

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स ।
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ।।१११४।।

'जह कुंडओ ण सक्का' तुषसहितस्य तन्दुलस्यान्तर्मलं बाह्ये तुषेऽनपनीते यथा शोधयितुमशक्य । तथा बाह्यपरिग्रहमलससक्तस्याभ्यन्तरकर्ममल अशक्य शोधयितुमिति गाथार्थ । सपरिग्रहस्य कस्मान्न कर्मविमोक्षो ? जीवाजीवद्रव्ये बाह्यपरिग्रहशब्देनोच्येते । तौ च सर्वदा सर्वत्र सन्निहिताविति बन्धक एवायमात्मा स्यादिति । एवं च मुक्त्यभाव इति चोदिते, न तयो सम्बन्धहेतुरपि तु लोभादय परिणामा । लोभादिपरिणामहेतुक बाह्यद्रव्यग्रहण ।।१०१४।।

अतो यो बाह्यमुपादत्तेऽभ्यन्तरपरिणाममन्तरेण नैवादत्ते इति वदति—

रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा ।
तो तइया घेत्तुं जे गंथे बुद्धी णरो कुणइ ।।१११५।।

गा०—खेती आदिका स्थान क्षेत्र, मकान, सुवर्ण आदि धन, जौ आदि धान्य, कुप्य अर्थात् वस्त्र, भाण्ड शब्दसे हीग मिर्च आदि, दुपद शब्दसे दास दासी सेवक आदि, हाथी घोड़े आदि चौपाये, पालकी विमान आदि यान तथा शयन आसन आदि ये दस बाह्य परिग्रह है ।।१११३।।

बाह्य परिग्रहके त्याग किये बिना ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य और अव्याबाधत्व नामक आत्म गुणोको ढाँकने वाले अभ्यन्तर कर्ममलको दूर नही किया जा सकता, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे तुष सहित चावलका तुष दूर किये विना उसका अन्तर्मलका शोधन करना शक्य नही है । वैसे ही जो बाह्य परिग्रहरूपी मलसे सम्बद्ध है उसका अभ्यन्तर कर्ममल शोधन करना शक्य नही है ।

शंका—परिग्रह सहित व्यक्तिका कर्मबन्धनसे छुटकारा क्यो नही होता । जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य बाह्य परिग्रह कहे जाते है । और वे दोनो सदा सर्वत्र जीवके समीप रहते है अत आत्मा सदा कर्मका बन्धक ही रहेगा । और उसे कभी मुक्ति नही होगी ।

समाधान—ऐसा नही है, उन जीव द्रव्य और अजीव द्रव्यके निकट रहते हुए भी लोभादिरूप परिणाम उनसे सम्बन्धमें कारण होते है । लोभादिरूप परिणामोके कारण जीव बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है ।।१११४।।

अतः जो अभ्यन्तर लोभादि परिणामके विना बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है, वह ग्रहण नही करता, यह कहते हैं—

रागो लोभो मोहो' ममेदं भावो रागः, द्रव्यगतगुणासक्तिर्लोभ , परिग्रहेच्छा मोहो । ममेदं भाव संज्ञा । किञ्चित् मम भवति शोभनमिति इच्छानुगतं ज्ञान । तीव्रोऽभिलाषो य. परिग्रहगत. स गौरवशब्देनोच्यते । एते यदोदिता परिणामास्तदा ग्रन्थान्बाह्यान् ग्रहीतुं मन करोति नान्यथा । तस्माद्यो बाह्यं गृह्णाति परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्यशुभपरिणामवानेवेति कर्मणा बन्धको भवति । ततस्त्याज्या परिग्रहाः. ॥१११५॥

स च परिग्रहत्यागो न स्वमनीषिकार्चितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्य तयोपदिष्ट इत्याचष्टे—

चेलादिसव्वसंगच्चाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो ।
इहपरलोइयदोसे सव्वे आवहदि संगो हु ॥१११६॥

'चेलादिसव्वसंगच्चाओ इति' दशविधा हि स्थितिकल्पा निरूपिता अचेलतादय । तत्र आचेलक्य नाम चेलमात्रत्यागो न भवति । किन्तु चेलादिसर्वसंगत्याग प्रथम स्थितिकल्पो दशानामाद्य । **'इहपरलोगिगदोसे'** ऐहिकामुष्मिकाश्च दोषानावहति परिग्रहो, यस्मात्तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारेणादरवता सकल परिग्रहस्त्याज्य' । इति भाव ॥१११६॥

श्रुत चेलपरित्यागमेव सूचयति आचेलक्कमिति न इतरत्यागमित्याशङ्कायामाचष्टे—

देसामासियसुत्तं आचेलक्कंति तं खु ठिदिकप्पे ।
लुत्तोत्थ आदिसद्दो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥१११७॥

'देसामासियसुत्तं' परिग्रहैकदेशामर्शकारिसूत्र **'आचेलक्कंति'** आचेलक्यमिति । **'तं खु'** तत् । 'ठिदि-

---

गा०-टी०—'यह मेरा है' ऐसे भावको राग कहते हैं। द्रव्यके गुणोमे आसक्तिको लोभ कहते हैं। परिग्रहकी इच्छाको मोह कहते हैं। मेरे पास कुछ होता तो अच्छा होता, इस प्रकारके ममत्व भावको सज्ञा कहते हैं। परिग्रहविषयक तीव्र अभिलाषाको गारव शब्दसे कहते हैं। ये परिणाम जब उत्पन्न होते हैं तब बाह्य परिग्रहको ग्रहण करनेका मन होता है, उनके अभावमे नही होता। अत जो बाह्य परिग्रह ग्रहण करता है वह नियमसे लोभ आदि रूप अशुभ परिणाम वाला होनेसे कर्मका बन्ध करता है। अत परिग्रह त्याज्य है ॥१११५॥

आगे कहते हैं कि यह परिग्रह त्याग हमने अपनी बुद्धिसे नही कहा, किन्तु निश्चयसे आगममें इसके पालनेका उपदेश है—

गा०—आगममे दस प्रकारका स्थितिकल्प कहा है। उसमे पहला कल्प आचेलक्य है। आचेलक्यका अर्थ केवल वस्त्र मात्रका त्याग नही है किन्तु वस्त्र आदि सर्व परिग्रहका त्याग है। यह दस कल्पोमेंसे पहला स्थितिकल्प है। यत परिग्रह इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोषोंको लाती है अत जो दोनो लोक सम्बन्धी दोषोंसे बचना चाहता है उसे सब परिग्रह छोड़ना चाहिए। यह इस गाथाका भाव है ॥१११६॥

कोई आशंका करता है कि आगममें वस्त्र मात्रके त्यागकी सूचना है अन्यके त्यागकी नही ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—स्थितिकल्पका कथन करते हुए जो 'आचेलक्य' आदि सूत्र कहा है वह देशा-

---

१ त्य तथोप-अ० आ०।

कप्पे' स्थितिकल्पे वाच्ये प्रवृत्तं सूत्रं नियोगतो मुमुक्षूणां यत्कर्तव्यतया स्थितं तत्स्थितमुच्यते स्थितकल्पः, स्थित-प्रकार.। एतदुक्तं भवति–चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षण, तेन सकलग्रन्थत्याग आचेलक्यशब्दस्यार्थ इति। **तालपलंब ण कप्पदित्ति** सूत्रे तालशब्दो न तरुविशेषवचन, किन्तु वनस्पत्येकदेशस्तरुविशेष उपलक्षणाय वन-स्पतीनां गृहीत । तथाचोक्तं कल्पे—

> **हरिततणोसहिगुच्छा गुम्मा वल्लीलदा य रुक्खा य ।**
> **एवं वणप्फदीओ तालोद्देसेण आदिट्ठा ॥ इति ॥**
> **तालेदि दलेदित्ति य तलेव जादेसि उस्सिदो वत्ति ।**
> **तालादिणो तदसियवणप्फदीणं हवदि णामं ॥**

प्रलम्ब द्विविध मूलप्रलम्ब च, अग्रप्रलम्बं च क न्दमूलफलाख्यं, भूम्यनुप्रवेशितमूलप्रलम्ब, अकुरप्रवालफल-पत्राणि अग्रप्रलम्बानि । तालस्य प्रलम्बं तालप्रलम्बं वनस्पतेरंकुरादिक च लभ्यते इति यथा सूत्रार्थस्तथेहापीति मन्यते । अथवा '**लुप्तोथ आदिशब्दो**' लुप्तोथ सूत्रे आदिशब्दः । अचेलादित्वमिति प्राप्ते । यथा '**तालपलंब-सुत्तम्मि**' यथा तालप्रलम्बसूत्रं । तालादीति शब्दप्रयोगमकृत्वा तालपलम्बमित्युक्त । तथाचोक्त सिद्धान्ताविति[1] **निश्चयेनैव** सूत्रकारेण देशामर्शकसूत्र ह्येतत्कृत । आदिशब्दलोपोऽत्र तालप्रलम्बसूत्रं न तु देशामर्शक भवतीति ॥१११७॥

मर्शक है। ममुक्षुओको जो नियमसे करना चाहिए उसे स्थित कहते हैं और उसके भेदोको स्थिति-कल्प कहते है। उसमें 'चेल' शब्द परिग्रहका उपलक्षण है। अतः आचेलक्य शब्दका अर्थ सर्व परिग्रहका त्याग है। जैसे 'तालपलब ण कप्पदि' इस सूत्रमे ताल शब्द वृक्ष विशेष ताडका वाचक नही है, किन्तु वनस्पतिका एक देश वृक्ष विशेष सब वनस्पतियोके उपलक्षणके लिये रखा है। कल्पसूत्रमे कहा है—

'ताल शब्दसे हरित तृण, औषधि, गुच्छा, बेल, लता, वृक्ष इत्यादि वनस्पतियोका कथन किया है।' 'ताल शब्द तल धातुसे निष्पन्न हुआ है। तल शब्दका अर्थ ऊँचाई भी है। जो स्कन्ध रूपसे ऊँचा वृक्ष विशेष होता है वह ताल वृक्ष है। तालादिमे आदि शब्दसे वृक्ष फूल पत्ता आदि वनस्पति लेना चाहिए।

प्रलम्बके दो प्रकार है—मूल प्रलम्ब और अग्रप्रलम्ब। कन्दमूल फल जो भूमिमे रहते है वे मूल प्रलम्ब हैं। और अकुर, प्रवाल, फल, पत्ते अग्रप्रलम्ब है। तालके प्रलम्बको ताल प्रलम्ब कहते हैं। इससे वनस्पतिके अंकुर आदिका ग्रहण होता है। अतः जैसे तालप्रलम्बसूत्रमें ताल प्रलम्बसे अन्य वनस्पतियोका ग्रहण किया है वैसे ही आचेलक्यसे अन्य परिग्रहका भी ग्रहण किया है। अथवा सूत्रमे अचेलत्वादिका आदि शब्द लुप्त हो गया है। जैसे तालप्रलम्ब सूत्रमे 'तालादि' शब्दका प्रयोग न करके 'तालप्रलम्ब' कहा है। आचेलक्य आदि सूत्रको सूत्रकारने देशामर्शक सूत्ररूपसे बनाया है अर्थात् परिग्रहके एक देश वस्त्रका ग्रहण न करनेका निर्देश करके समस्त परिग्रहका त्याग बतलाया है। किन्तु ताल प्रलम्ब सूत्रमे आदि शब्दका लोप है अतः वह सूत्र देशामर्षक नहीं है ॥१११७॥

विशेषार्थ—दस स्थितकल्पोंमें पहला स्थितिकल्प आचेलक्य है। चेलका अर्थ वस्त्र है। अतः कोई शका करता है कि आचेलक्यसे केवल वस्त्रका ही त्याग कहा है। सब परिग्रहका

१ ताविति।

ण य होदि संजदो वत्थमित्तचागेण सेससंगेहिं ।
तम्हा आचेलक्कं चाओ सव्वेसि होइ संगाणं ॥१११८॥

'ण य होदि संजदो' नैव संयतो भवति इति वस्त्रमात्रत्यागेन शेषपरिग्रहसमन्वित । वस्त्रादन्य. शेष. इत्युच्यते । आचेलक्कमित्यत्र चेलत्यागमात्रमेव यदि निर्दिष्टं स्याच्चेलादन्यपरिग्रह गृह्णन् सयत स न भवति यस्मात्तस्मादाचेलक्यं नाम सर्वसंगपरित्यागोऽत्र मन्तव्य इति युक्तिरुपन्यस्ता चेलशब्दस्य परिग्रहोपलक्षणतायां । किं च महाव्रतोपदेशप्रवृत्तानि च सूत्राणि ज्ञापकानि सर्वसगत्याग आचेलक्कमित्यत्र निर्दिष्ट इत्यस्य ॥१११८॥

कथ यदि चेलमात्रमेव त्याज्यं स्यान्नेतर अहिंसादिव्रतानि न स्यु इत्येतद्व्याचष्टे उत्तरगाथाया—

संगणिमित्तं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिक्कं ।
भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो ॥१११९॥

'संगणिमित्त मारेदि' परिग्रहनिमित्त प्राणिनो हिनस्ति षट्कर्मप्रवृत्ते । अथ द्रव्य परकीय ग्रहीतुकामस्त हिनस्ति, भणत्यलीक, करोति स्तैन्य, भजते अपरिमितामिच्छा, मैथुने च प्रवर्तते । सत्येवमहिंसादि-

---

त्याग नही कहा । इसके समाधानमें दो बातें कही है । प्रथम यह सूत्र देशामर्षक है—एक देश चेलके द्वारा सब परिग्रहका त्याग कहा है । दूसरे, इसमे आदि शब्दका लोप हो गया है आचेलक्यादिकी जगह आचेलक्य कहा है अत आदि शब्दसे सब परिग्रहका त्याग बतलाया है । अपने इस कथनकी पुष्टिमे ग्रन्थकारने ताल प्रलम्ब सूत्रका उदाहरण दिया है ।

कल्पसूत्रमे पहला सूत्र है—

'नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा आमे तालपलबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ।'

अर्थात् निर्ग्रन्थ साधु और साध्वियोंको ताल प्रलम्ब ग्रहण नही करना चाहिए । इसके भाष्यमे कहा है कि तालवृक्षके फलको ताल कहते है उसे अग्रप्रलम्ब कहते है । और उसके आधारभूत वृक्षको तल कहते है । और प्रलम्ब मूलको कहते है । यहाँ यद्यपि सूत्रमे तालप्रलम्ब जो कच्चा हो और टूटा न हो उसके ग्रहणका निषेध किया है । तथापि तालफलसे नारियल, लकुच, कैथ, आम्र आदि सभी लिए है । इसी तरह आचेलक्यमे भी केवल वस्त्रका ही त्याग नही कहा किन्तु सर्वपरिग्रहका त्याग कहा है ॥१११७॥

गा०-टी०—केवल वस्त्रमात्रका त्याग करनेसे और शेष परिग्रह रखनेसे साधु नही होता । यदि 'आचेलक्य' से वस्त्रमात्रका त्याग ही कहा होता तो वस्त्रके सिवाय अन्य परिग्रहको ग्रहण करनेवाला साधु नही हो सकता । अतः आचेलक्यका अर्थ सर्वपरिग्रहका त्याग मानना चाहिए । 'चेल शब्द परिग्रहका उपलक्षण है' इसके सम्बन्धमे यह युक्ति दी गई है । तथा महाव्रतका कथन करनेवाले सूत्र इस बातके ज्ञापक है कि आचेलक्यमे सर्वपरिग्रहका त्याग कहा है ॥१११८॥

आगे कहते हैं कि यदि साधुके लिए केवल वस्त्रमात्र ही त्याज्य है, अन्य परिग्रह त्याज्य नही है तो अहिंसादिव्रत नही हो सकते—

गा०-टी०—परिग्रहके लिए असि मसि कृषि आदि षट्कर्म करके मनुष्य प्राणियोंका घात करता है । पराये द्रव्यको ग्रहण करनेकी इच्छासे उसका घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी

व्रतानि न स्युः । परिग्रहस्य च त्यागे तिष्ठन्ति निश्चलान्यहिंसादीनि ॥१११९॥

अपि चाशुभपरिणामसंवरणमन्तरेण प्रत्यग्रकर्मोपचयः कथं निवार्यते । प्रत्यग्रकर्मोपचयेन कर्मणां सैवानन्तकाला संसृतिरित्येतच्चेतसि कृत्वा परिग्रहग्रहणभाविनोऽशुभान्परिणामानाचष्टे—

सण्णागारवपेसुण्णकलहफरुसाणि णिट्ठुरविवादा ।
संगणिमित्तं ईसासूयासल्लाणि जायंति ॥११२०॥

'**सण्णागारवपेसुण्ण**' परिग्रहसंज्ञा 'तत्सन्निधेर्गौरवं[1]' च जायते सपरिग्रहस्य । पिशुनयति सूचयति परदोषानिति पिशुनस्तस्य कर्म पैशुन्यं । परिग्रहवानात्मनैव स्वधनपरिपालनेच्छु परस्य दोषान्प्रकाश्य तदीयं धनं हारयति, कलहं वा करोति । धनार्थं पुरुषं वचो वदति, विवादं वा कुर्यात्, ईर्ष्यासूयाशल्यानि च जायन्ते । अयमेतस्मै प्रयच्छति न मह्य इति सङ्कल्प ईर्ष्या । परस्य धनवत्तासहनमसूया ॥११२०॥

कोधो माणो माया लोभो हास रइ अरदि भयसोगा ।
संगणिमित्तं जायइ दुगुंच्छ तह रादिभत्तं च ॥११२१॥

'**तह कोधो माणो**' क्रोध परिग्रहतस्तस्य परिणामो[2] दाने जायते । धन्योऽहमिति गर्वितो भवति । परो धनं दृष्ट्वा गृह्णातीति तन्निगूहनकरणान्माया च भवति । काकणिलाभे कार्षापणं वाञ्छति । तल्लब्ध्या कार्षापणसहस्रादिकमिति लोभस्य हेतुर्द्रव्यलाभ । निर्द्रविणं लोको हसतीति हास्यस्यापि कारणं । द्रव्यमात्मीयं पश्यत तत्रानुरागो रति । तद्विनाशे अरति । तदन्ये हरन्ति इति भय । शोको वा । जुगुप्सते

करता है, अपरिमित तृष्णा रखता है और मैथुन करता है। ऐसा करनेपर अहिंसा आदि व्रत नही हो सकते। किन्तु परिग्रहका त्याग करनेपर अहिंसादिव्रत स्थिर रहते है ॥१११९॥

तथा अशुभ परिणामोके संवरके विना नवीन कर्मोका संचय कैसे रोका जा सकता है? और नवीन कर्मोका सचय होनेसे वही अनन्तकालीन ससार है। ऐसा चित्तमे स्थिर करके ग्रन्थकार परिग्रहके ग्रहणसे होनेवाले अशुभ परिणामोको कहते हैं—

गा०-टी०—परिग्रहीके परिग्रह सज्ञा और परिग्रहमे आसक्ति होती। वह दूसरेके दोषोको इधर-उधर कहता है। परिग्रही पुरुष दूसरेका धन लेनेके लिए दूसरोंके दोष प्रकट करके उसका धन हरता है। कलह करता है। धनके लिए कठोर वचन बोलता है, झगडा करता है। ईर्षा और असूया करता है। यह व्यक्ति अमुकको तो देता है मुझे नही देता, इस प्रकारके संकल्पको ईर्षा कहते हैं। दूसरेके धनी होनेको न सहना असूया है ॥११२०॥

गा०-टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन ग्रहण किये जाने पर क्रोध होता है। मैं धनाढ्य हूँ ऐसा गर्व होता है। दूसरा व्यक्ति मेरा धन देखकर उसे ले लेगा, इस भयसे उसे छिपाता है अतः माया होती है। एक कौड़ीका लाभ होने पर एक रुपया आदिका लाभ चाहता है। या धनका लाभ होनेसे लोभ होता है। धनी निर्धनको देखकर हँसता है अतः परिग्रह हास्यका भी कारण है। अपना द्रव्य देखकर उससे अनुराग होता है। अत परिग्रह रतिका कारण है। द्रव्यका नाश होने पर अरति होती है। उसे दूसरे हर लेगे यह भय होता है। धन हर लेने पर शोक होता है।

१. संधिगौर–ज० । २ परिणामादाने ज० । परिणामोऽदाने मु० ।

वा विरूपं परिग्रहं । परिग्रहपरिपालनार्थं रात्रावपि भुङ्क्ते मदीयं भोजन परे दृष्ट्वार्थिनो भवन्ति इति मन्यमानः ॥११२१॥

गंथो भयं णराणं सहोदरा एयरत्थजा जं ते ।
अण्णोण्णं मारेदुं अत्थणिमित्तं मदिमकासी ॥११२२॥

'**गंथो भयं नराणं**' ग्रन्थो नराणा भयं । ननु भयसंज्ञस्य कर्मण. उदयादुपजात. परिणाम आत्मनो भय न वास्तुक्षेत्रादिको ग्रन्थः तथाभूतस्तत किमुच्यते ग्रन्थो भयमिति, भयहेतुत्वाद्भयमिति न दोष । '**सहोदरा**' एकोदरे प्रसवा अपि सन्त' '**एयरत्थजा**' एकरथ्यनगरे जाता । '**जं**' यस्मात् । '**ते अण्णोण्णं मारेदु**' अन्योन्य हन्तुं । '**अत्थणिमित्तं**' वसुनिमित्त '**मदिमकासी**' बुद्धि कृतवन्तः ॥११२२॥

अत्थणिमित्तमदिभयं जादं चोराणमेक्कमेक्केहिं ।
मज्जे मसे य विसं संजोइय मारिया जं ते ॥११२३॥

'**अत्थणिमित्तं**' धननिमित्त । '**अदिभय जाद**' अतीव भय जातं । '**चोराणं एक्कमेक्केहिं**' चौराणामन्योन्यै' सह । '**मज्जे मंसे य विसं संजोइय**' मद्ये मांसे च विष सयोज्य । '**मारिदा जं ते**' यस्मात्ते मारिता' ॥११२३॥

संगो महाभयं जं विहेडिदो सावगेण संतेण ।
पुत्तेण चेव अत्थे हिदम्मि णिहिदेल्लए साहुं ॥११२४॥

'**संगो महाभयं**' परिग्रहो महद्भय । '**जं**' यस्मात् । '**विहेडिदो**' बाधित । '**सावगेण संतेण**' श्रावकेण सता । '**पुत्रेण चेव**' पुत्रेणैव । '**णिहिदल्लगे अत्थे हिदंहि**' निक्षिप्तेऽर्थे हृते साधु ॥११२४॥

विरूप परिग्रह होने पर ग्लानि होती है। मेरा भोजन देखकर दूसरे माँगेगे इसलिए रातमे भी भोजन करता है। अथवा मालिककी सेवामे रहनेसे रातमे भोजन करता है। इस तरह परिग्रहके कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और रात्रि भोजन होते है ॥११२१॥

गा०-टी०—परिग्रह मनुष्यमे भय उत्पन्न करता है।

शङ्का—भय नामक कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ आत्माका परिणाम भय है। घर खेत आदि परिग्रह भय नही है तब आप परिग्रहको भय कैसे कहते हैं ?

समाधान—परिग्रह भयका कारण होनेसे भय कही जाती है। एक ही माताके उदरसे उत्पन्न हुए और एक ही नगरमें उत्पन्न हुए भी धनके लिए परस्परमे मारनेका भाव करते हैं ॥११२२॥

गा०—धनके कारण चोरोको परस्परमें एक दूसरेसे भय उत्पन्न हुआ। और उन्होंने मद्य और मांसमे विष मिलाकर एक दूसरेको मार डाला ॥११२३॥

गा०—परिग्रह महाभयरूप है क्योकि जमीनमे गाड़े गये धनको अपना पुत्र ही ले गया और सत्पुरुष श्रावकको भी यह सन्देह हुआ कि मेरे इस पृथ्वीमे गड़े धनको साधु जानता था। सो कहीं इसी साधुने मेरा धन हरा हो। ऐसा सन्देह करके उस श्रावकने साधुपर कथाओके द्वारा अपना सन्देह प्रकट किया ॥११२४॥

दूओ बंमणि वग्घो लोओ हत्थी य तह य रीयसुयं ।
परियणरो वि य राया सुवण्णयारयस्स[1] अक्खाणं ॥११२५॥

वण्णरणउलो विज्जो वसहो तावस तहेव [2]चूदवणं ।
रुक्खसिवण्णीडुं डुह मेदज्ज मुणिस्स अक्खाणं ॥११२६॥

[3]सीदुण्हादववादं वरिसं तण्हा छुहासमं पंथं ।
दुस्सेज्ज दुज्भत्तं सहइ वहइ भारमवि गुरुयं ॥११२७॥

गायदि णच्चइ धावइ कसइ ववइ लवदि तह मलेइ णरो ।
तुण्णदि वुणइ याचइ कुलम्मि जादो वि गंथत्थी ॥११२८॥

'गायदि' गायति, नृत्यति, धावति, कृषति, वपति, कणिशच्छेदं करोति, मर्द्दनं करोति, सीव्यति, वयति, याचते कुले जातोऽपि परिग्रहार्थं ॥११२८॥

सेवइ णियादि रक्खइ गोमहिसिमजावियं हयं हत्थि ।
ववहरदि कुणदि सिप्पं अहो य रत्ती य गयणिद्दो ॥११२९॥

गा०-टी०—ये कथाएँ इस प्रकार हैं। पहले श्रावक जिनदत्तने दूत और बन्दरकी कथा कही। फिर साधुने ब्राह्मणी और नेवलेकी कथा कही। फिर श्रावकने व्याघ्र और वैद्यकी कथा कही। तब साधुने बैल और लोगोंकी कही। फिर श्रावकने हाथी और तापसकी कथा कही। तब साधुने राजा और आम्रवनकी कथा कही। फिर श्रावकने पार्थक मनुष्य और शिवनिवृक्षकी कथा कही। तब साधुने राजा और सर्पकी कथा कही। तब श्रावकने एक चोर और सेठकी कथा कही। अन्तमे साधुने मणिपालक और मेतार्यमुनिकी कथा कही ॥११२५-११२६॥

विशेषार्थ—इन दोनो गाथाओमें उस श्रावक और साधुके मध्यमे हुई कथाओके पात्रोके नाम दिये है। ये दस कथाएँ बृहत्कथाकोशमे जिनदत्त कथानक १०२ के अवान्तरमे दी गई है। दसवीं कथाके अन्तमे धन चुरानेवाला पुत्र प्रबुद्ध होकर पिताको धन अर्पित करके उन साधुके समीप दीक्षा ग्रहण करता है। इन दोनों गाथाओंपर न तो अपराजित सूरिकी टीका है। न आशाधरकी और न अमितगतिके संस्कृत पद्य ही हैं ॥११२५-११२६॥

गा०—परिग्रहका इच्छुक मनुष्य गर्मी, सर्दी, घाम, वायु, वर्षा, प्यास, भूख, श्रम, मार्ग चलना आदिका दुस्सह कष्ट सहन करता है और अपनी शक्तिसे भी अधिक भार ढोता है ॥११२७॥

गा०—तथा श्रेष्ठकुलमें जन्म लेकर भी धनके लिए गाता है, नाचता है, दौड़ता है, खेती करता है, बीज बोता है, धान्य काटता है, मालिश करता है, कपड़े सीता है, कपड़े बुनता है, और भीख माँगता है ॥११२८॥

गा०—रात दिन न सोकर सेवा करता है, घर छोड़कर देशान्तर जाता है। गाय, भैंस,

---

१. णरयस्स–अ० । णयारस्स–आ० मु० । २. च्चवणं–अ० ज० । ३. एता टीकाकारो नेच्छति ।

आउधवासस्स उरं देइ रणमुहम्मि गंथलोभादो ।
मगरादिभीमसावदबहुलं अदिगच्छदि समुद्दं ॥११३०॥

'आउधवासस्स उरं देइ' आयुधवर्षस्य उरो ददाति । 'रणमुहे' रणमुखे । 'गंथलोहादो' ग्रन्थलोभात् मकरादिभीमं श्वापदबहुलं प्रविशति समुद्र ॥११३०॥

जदि सो तत्थ मरिज्जो गंथो भोगा य कस्स ते होज्ज ।
महिलाविहिंसणिज्जो लूसिददेहो व सो होज्ज ॥११३१॥

'जदि सो तत्थ मरिज्जो' यद्यसौ रणमुखे मृतिमियात् । ग्रन्था भोगाश्च ते तावत्कस्य भवेयु. । वनिताभिर्निन्द्यः विनष्टकरचरणाद्यवयवो भवेद्यद्यपि न मृतः ॥११३१॥

गंथणिमित्तमदीदिय गुहाओ भीमाओ तह य अडवीओ ।
गंथणिमित्तं कम्मं कुणइ अकादव्वयंपि णरो ॥११३२॥

'गंथणिमित्तमदीदिय' ग्रन्थनिमित्तं प्रविशति गुहा तथा भीमाश्चाटवी. । ग्रन्थनिमित्त कर्म अकर्तव्यमपि करोति नर· ॥११३२॥

सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ।
माणी वि सहइ गंथणिमित्तं बहुयं पि अवमाणं ॥११३३॥

'सूरो तिक्खो मुक्खो वि' शूरस्तीक्ष्णो मूर्खश्च वशवर्ती भवति जनस्य सधनस्य । अभिमानवानपि सहते ग्रन्थनिमित्त महान्त अपि परिभवं ॥११३३॥

गंथणिमित्तं घोरं परितावं पाविदूण कंपिल्ले ।
लल्लक्कं संपत्तो णिरयं पिण्णागगंधो खु ॥११३४॥

'अत्थणिमित्तं' वसुनिमित्तं महत् दु ख प्राप्य । 'कंपिल्ले' कम्पिल्लनगरे । 'लल्लकं' लल्लकनामधेयं संप्राप्तो नरकं पिण्याकगन्धसंज्ञ ॥११३४॥

बकरी, भेड़, हाथी, घोड़े पालता है । लेन-देन करता है । शिल्पकर्म करता है ॥११२९॥

गा०—परिग्रहके लोभसे युद्धभूमिमें अपनी छातीपर आयुधोंकी वर्षा सहता है । मगरमच्छ आदि भयंकर जन्तुओंसे भरे समुद्रमें प्रवेश करता है ॥११३०॥

गा०—यदि कदाचित् धनका लोभी रणमें मर जावे तो परिग्रह और भोग कौन करेगा । यदि न भी मरे और हाथ पैर कट जाये तो भी स्त्रियोंके द्वारा तिरस्कृत होगा ॥११३१॥

गा०—परिग्रहके निमित्त भयानक गुफामें प्रवेश करता है, भयानक जंगलमें जाता है । इस प्रकार मनुष्य परिग्रहके लिए नहीं करने योग्य काम भी करता है ॥११३२॥

गा०—परिग्रहके निमित्त शूरवीर, असहनशील और मूर्ख पुरुष भी धनी मनुष्यके वशमें होता है और अभिमानी भी बहुत अपमान सहता है ॥११३३॥

गा०—परिग्रहके निमित्तसे कंपिला नगरीमें पिण्याकगन्ध नामका लोभी पुरुष घोर दुःख सहकर मरकर लल्लक नामक नरक बिलमें उत्पन्न हुआ ॥११३४॥

एवं चेट्ठंतस्स वि संसइदो चेव गंथलाहो दु ।
ण य संचीयदि गंथो सुइरेणवि मंदभागस्स ॥११३५॥

'**एवं चेट्ठंतस्स वि**' एवं चेष्टमानस्यापि संशयित एव ग्रन्थलाभः। न च संचयमुपयाति ग्रन्थः । सुचिरेणापि मन्दभाग्यस्य ॥११३५॥

जदि वि कहंचि वि गंथा संचीएज्जण्ह तह वि से णत्थि ।
तित्ती गंथेहिं सदा लोभो लाभेण वड्ढदि खु ॥११३६॥

'**जदि वि**' यद्यपि कथंचित्केनचित् प्रकारेण ग्रन्थाः सचयमुपेयुः । तथापि तस्य तृप्तिर्नास्ति ग्रन्थैः । सदा लोभो लाभेन वर्द्धते ॥११३६॥

जध इंधणेहिं अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
तह जीवस्स ण तित्ती अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि ॥११३७॥

'**जध इंधणेहिं**' इन्धनैर्यथाग्निः, यथा वा समुद्रो नदीसहस्रैः । तथा परिग्रहैर्न तृप्यति जीवस्त्रैलोक्ये लब्धेऽपि ॥११३७॥

पडहत्थस्स ण तित्ती आसी य महाधणस्स लुद्धस्स ।
संगेसु मुच्छिदमदी जादो सो दीहसंसारी ॥११३८॥

'**पडहत्थस्स**' पटहस्तनामधेयस्य वणिजः न तृप्तिरासीत्तथा महाधनस्य लुब्धस्य । परिग्रह मूर्च्छितमतिरसौ जातो दीर्घससारः ॥११३८॥

तित्तीए असंतीए हाहाभूदस्स घण्णचित्तस्स ।
किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स ॥११३९॥

'**तित्तीए असंतीए**' तृप्तावसत्या । '**हाहाभूदस्स**' लम्पटचित्तस्य किं तत्र सुख भवेत् । आशया गृहीतस्य ॥११३९॥

गा०—इस प्रकार नाना चेष्टाएँ करनेपर भी परिग्रहकी प्राप्तिमे सन्देह ही रहता है। क्योकि अभागे पुरुषको चिरकाल प्रयत्न करनेपर भी धनकी प्राप्ति नही होती ॥११३५॥

गा०—यदि किसी प्रकार धन मिल भी जाये तो उससे सन्तोष नही होता; क्योकि धनलाभ होनेसे लोभ बढता है ॥११३६॥

गा०—जैसे ईंधनसे आगकी तृप्ति नही होती, और हजारों नदियोके मिलनेसे लवणसमुद्रकी तृप्ति नही होती। वैसे ही तीनों लोक मिल जानेपर भी जीवकी परिग्रहसे तृप्ति नही होती ॥११३७॥

गा०—पटहस्त नामक वणिक्के पास बहुत धन था। किन्तु वह बड़ा लोभी था। उसे सन्तोष नहीं था। अतः परिग्रहमें आसक्त रहते हुए उसका मरण हुआ और वह दीर्घससारी हुआ ॥११३८॥

गा०—परिग्रहसे तृप्ति नही होनेपर हाय-हाय करनेवाले परिग्रहके लम्पटीको, जो सदा तृष्णासे व्याकुल रहता है, परिग्रहसे क्या सुख हो सकता है ॥११३९॥

हम्मदि मारिज्जदि वा बज्झदि रुंभदि य अणवराधो वि ।
आमिसहेदुं वण्णो खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी ।।११४०।।

'हम्मदि' आहन्यते । 'मारिज्जदि' मार्यते, बध्यते रुध्यते चानपराधोऽपि । आमिषनिमित्तं लम्पट खाद्यते यथा पक्षिभि· पक्षी गृहीताहार· ।।११४०।।

मादुपिदुपुत्तदारेसु वि पुरिसो ण उवयाइ वीसंभं ।
गंथणिमित्तं जग्गइ रक्खंतो[1] सव्वरत्तीए ।।११४१।।

'मादुपिदुपुत्तदारेसु वि' विश्वसनोयेष्वपि मात्रादिषु विश्रभ नोपयाति । जागति सर्वरात्रीः पालयन्[2] ।।११४१।।

सव्वं पि संकमाणो गामे णयरे घरे व रण्णे वा ।
आधारमग्गणपरो अणप्पवसिओ सदा होइ ।।११४२।।

'सव्वं पि संकमाणो' सर्वमपि शङ्कमान ग्रामे, नगरे, गृहे, अरण्ये वा, आधारान्वेषणपरोऽनात्मवशः सदा भवति ।।११४२।।

गंथपडियाए लुद्धो धीराचरियं विचित्तमावसधं ।
णेच्छदि बहुजणमज्झे वसदि य सागारिगावसए ।।११४३।।

'गंथपडिगाए लुद्धो' ग्रन्थनिमित्त लुब्धो धीरैराचरित विविक्तमावसथं नेच्छति । बहुजनमध्ये वसति । गृहस्थाना वा वेदमनि ।।११४३।।

सोदूण किंचि सद्दं सग्गंथो होइ उट्ठिदो सहसा ।
सव्वत्तो पिच्छंतो परिमस द पलादि मुज्झदि य ।।११४४।।

गा०—जैसे मासके लिए मासका लोभी पक्षी दूसरे मांस ले जाते पक्षीको मारता काटता है वैसे ही लोभी धनाढ्य मनुष्य विना अपराधके ही दूसरोके द्वारा घाता जाता है, मारा जाता है और पकडा जाता है ।।११४०।।

गा०—परिग्रहके कारण मनुष्य माता, पिता, पुत्र और पत्नीका भी विश्वास नही करता । और रातभर जागकर परिग्रहकी रखवाली करता है ।।११४१।।

गा०—वह सबको शकाकी दृष्टिसे देखता है कि ये मेरा धन हरनेवाले हैं। और गाँव, नगर, घर अथवा वनमे किसीका आश्रय खोजता फिरता है इस तरह वह सदा पराधीन रहता है ।।११४२।।

गा०—वह परिग्रहका लोभी धीर पुरुषोंके रहने योग्य एकान्त स्थानमे रहना पसन्द नहीं करता । वह बहुत जनसमुदायके मध्य गृहस्थोंके घरमें रहना पसन्द करता है ।।११४३।।

गा०—किंचित् भी शब्द सुनकर परिग्रही एकदम उठकर सब ओर देखता है, अपने धनको टटोलता है और लेकर भागता है अथवा मूर्छित हो जाता है ।।११४४।।

---

१ कक्खंतो–आ० मु० । २. प्रलयन्–आ० मु० ।

'सोचूण किंचि सद्दं' श्रुत्वा कञ्चन शब्दं परिग्रहवान्सहसोत्थितः सर्वा दिशः प्रेक्षमाणः परामृशति स्वं द्रव्यं, पलायते, मुह्यति वा ॥११४४॥

तेणभएणारोहइ तरुं गिरिं उप्पहेण व पलादि ।
पविसदि य ¹दहं दुग्गं जीवाण वहं करेमाणो ॥११४५॥

'तेणभएण' स्तेनभयेन । 'आरोहदि' आरोहति तरुं गिरिं वा । उन्मार्गे वा धावति । प्रविशति वा ह्रदं दुर्गं वा स्थानं जीवानां घातनं कुर्वन् ॥११४५॥

तह वि य चोरा चारभडा वा गच्छं हरेज्ज अवसस्स ।
गेण्हिज्ज ²दाइया वा रायाणो वा विलुंपिज्ज ॥११४६॥

तथापि पलायनधावनादिकं कुर्वतो द्रव्यं हरन्ति चोरा वा चारभटा वा । परवशस्य दायादा वा गृह्णन्ति राजानो वा विलुम्पन्ति ॥११४६॥

संगणिमित्तं कुद्धो कलहं रोलं करिज्ज वेरं वा ।
पहणेज्ज व मारेज्ज व मरिजेज्ज व तह य ³हम्मेज्ज ॥११४७॥

'संगणिमित्त कुद्धो' रुष्टः परिग्रहनिमित्तं कलहं वैरं वा करोति हन्ति, ताडयति । परं स्वयं प्राणान्वियोजयति वा परेण वा ताड्यते मार्यते वा परैः ॥११४७॥

अहवा होइ विणासो गंथस्स जलग्गिमूसयादीहिं ।
णट्ठे गंथे य पुणो तिव्वं पुरिसो लहदि दुक्खं ॥११४८॥

'अथवा होज्ज विणासो' अथवा ग्रन्थस्य विनाशो भवेत् अग्निजलमूषकादिभिः । नष्टे पुनर्ग्रन्थे तीव्रं दुःखं लभते मनुष्यः ॥११४८॥

सोयइ विलवइ कंदइ णट्ठे गंथम्मि होइ विसण्णो ।
पज्झादि णिवाइज्जइ वेवइ उक्कंठिओ होइ ॥११४९॥

गा०—चोरके भयसे वृक्ष अथवा पहाड़पर चढ़ जाता है । अथवा मार्गसे न जाकर कुमार्गसे जाता है और जीवोंका घात करते हुए तालाब या किलेमें छिप जाता है ॥११४५॥

गा०—इस प्रकार दौड-धूप करनेपर भी चोर अथवा बलवान् मनुष्य उसे परवश करके उसके द्रव्यको हर लेते है । अथवा भाई वगैरह ले लेते हैं या राजा लूट लेता है ॥११४६॥

गा०—परिग्रहके कारण मनुष्य क्रोध करता है, कलह करता है, विवाद करता है, वैर करता है, मारपीट करता है, दूसरोंके द्वारा मारा जाता है, पीटा जाता है, या स्वयं मर जाता है ॥११४७॥

गा०—अथवा आगसे, जलसे और मूषकों आदिसे परिग्रहका विनाश हो जाता है तब विनाश होनेपर मनुष्यको तीव्र दुःख होता है ॥११४८॥

---

१. ह्रदं-मु० । २ यासिया वा-अ० । बासिया-वा० आ० । ३ कामेज्जा-अ० आ० ।

'सोचदि विलवदि' शोचति, विलपति, क्रन्दति नष्टे परिग्रहे विषण्णश्च भवति। चिन्तां करोति। पिबत्यन्तस्सन्तापाज्जलादिकं, वेपते उत्कण्ठितो भवति ॥११४९॥

डज्झदि अंतो पुरिसो अप्पियै णट्ठे सगम्मि गंथम्मि ।
वायावि य अक्खिप्पइ बुद्धी वि य होइ से मूढा ॥११५०॥

'डज्झदि' दह्यते अन्तः पुरुष आत्मीये नष्टे परिग्रहे। वागपि नश्यति बुद्धिरपि मन्दा भवति ॥११५०॥

उम्मत्तो होइ णरो णट्ठे गंथे गहोवसिट्ठो वा ।
घट्टदि मरुप्पवादादिएहिं बहुधा णरो मरिदुं ॥११५१॥

'उम्मत्तो होइ णरो' उन्मत्तो भवति नरः। नष्टे परिग्रहे ग्रहगृहीत इव चेष्टते मरुत्प्रतापादि-भिर्मर्तुं ॥११५१॥

चेलादीया संगा संसज्जंति विविहेहिं जंतूहिं ।
आगंतुगा वि जंतू हवंति गंथेसु सण्णिहिदा ॥११५२॥

'चेलाविगा' सगाश्चेलप्रावरणादयः परिग्रहा। 'संसज्जंति' सम्मूर्च्छनामुपयान्ति। 'विविहेहिं जंतूहिं' नानाप्रकारैर्जन्तुभिः। 'आगंतुगा वि जंतू' आगन्तुकाश्च जन्तवः। 'गंथेसु सण्णिहिदा भवंति' ग्रन्थेषु सन्निहिता भवन्ति यूकापिपीलिकामत्कुणादयः। धान्येषु कीटादयः गुडपूपादिषु रसजा तेषामादाने ॥११५२॥

आदाणे णिक्खेवे [1]सरेमणे चावि तेसि गंथाणं ।
उकस्सणे वेकसणे [2]फालणपप्फोडणे चेव ॥११५३॥

आदाने, निक्षेपे, संस्करणे, बहिर्नयने, बन्धने, मोचने, तेषां ग्रन्थानां पाटने विधूनने च ॥११५३॥

छेदणबंधणवेढणआदावणधोव्वणादिकिरियासु ।
संघट्टणपरिदावणहणणादी होदि जीवाणं ॥११५४॥

गा०—वह शोक करता है, विलाप करता है, चिल्लाता है, खेद-खिन्न होता है। चिन्ता करता है। अन्तरंगमें सन्ताप होनेसे जलादि पीता है, काँपता है, उत्कंठित होता है ॥११४९॥

गा० अपने परिग्रहके नष्ट होनेपर पुरुष अन्दर ही अन्दर जला करता है। उसकी वाणी नष्ट हो जाती है तथा बुद्धि भी मूढ़ हो जाती है ॥११५०॥

गा०—परिग्रहके नष्ट होनेपर मनुष्य पिशाचसे पकड़े हुए मनुष्यकी तरह उन्मत्त हो जाता है। और प्राय. पर्वत आदिसे गिरकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥११५१॥

गा०—वस्त्रादि परिग्रहमें नाना प्रकार सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। बाहरसे आकर भी जू, चींटी, खटमल वगैरह बस जाते हैं। धान्यमे कीड़े लग जाते हैं। गुड़ आदि सचय करनेपर उसमें भी जीव पैदा हो जाते हैं ॥११५२॥

गा०—परिग्रहके ग्रहण करने, रखने, संस्कार करने, बाहर ले जाने, बन्धन खोलने,

१. पसारणे-अ० आ०। २. फंसण-अ० आ०।

छेदण छेदने, बन्धने, वेष्ठने, शोषणे प्रक्षालने च। सम्मर्दने परितापनहननादिकं भवति जीवानां ॥११५४॥

जदि वि विकिंचदि जंतू दोसा ते चेव हुंति से लग्गा।
होदि य विकिंचणे वि हु तज्जोणिविओजणा णिययं ॥११५५॥

'जदि वि विकिंचदि' यद्यपि निराक्रियन्ते जीवास्त एव सघट्टादयो दोषा भवन्ति। भवति च पृथक्करणे तेषां तद्योनिवियोजना निश्चयेन ॥११५५॥

एवमचित्तपरिग्रहगतदोषमभिधाय सचित्तपरिग्रहदोषमाचष्टे—

सच्चित्ता पुण गंथा वधंति जीवे सयं च दुक्खंति।
पावं च तण्णिमित्तं परिगिण्हंतस्स से होई ॥११५६॥

'सच्चित्ता पुण गंथा वधंति जीवे' परिग्रहा दासीदासगोमहिष्यादयो घ्नन्ति जीवान्स्वयं च दुःखिता भवन्ति। कर्मणि नियुज्यमानाः कृष्यादिके पापं च स्वपरिगृहीतजीवकृतासंयमनिमित्तं तस्य भवति ॥११५६॥

इंदियमयं सरीरं गंथं गेण्हदि य देहसुक्खत्थं।
इंदियसुहाभिलासो गंथग्गहणेण तो सिद्धो ॥११५७॥

'इंदियमयं सरीरं' इन्द्रियमयं शरीरं। स्पर्शनादिपञ्चेन्द्रियाधारत्वात्। परिग्रहं च चेलप्रावरणादिकं इन्द्रियसुखार्थमेव गृह्णाति वातातपाद्यनभिमतस्पर्शनिषेधाय। आत्मशरीरे वस्त्रालङ्कारादिभिरलंकृते पराभिलाषमुत्पाद्य तदङ्गासगजनितप्रीत्यर्थितया अभिमत[2]मापादयति। सेवनाद्यर्थं च तत् इन्द्रियसुखाभिलाषो ग्रन्थं गृह्णतः सिध्यति ॥११५७॥

फाड़ने, झाडने, छेदने, बाँधने, ढाँकने, सुखाने, धोने, मलने आदिमें जीवोंका घात आदि होता है ॥११५३-५४॥

गा०—यदि वस्त्रादि परिग्रहसे जन्तुओंको अलग किया जाये तब भी वे ही दोष लगते हैं। क्योंकि उन जन्तुओंको दूर करनेपर उनका योनिस्थान छूट जाता है और इससे उनका मरण हो जाता है ॥११५५॥

इस प्रकार अचित्त परिग्रहके दोष कहकर सचित्त परिग्रहके दोष कहते हैं—

गा०—दासी-दास, गाय-भैंस आदि सचित्त परिग्रह जीवोंका घात करते हैं और स्वयं दुखी होते हैं। तथा उन्हें खेती आदि कामोंमें लगानेपर वे जो पापाचरण करते हैं उसका भागी उनका स्वामी भी होता है ॥११५६॥

इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा कर्मबन्धमें निमित्त होती है अतः मुमुक्षुको उसे छोड़ना चाहिए। परिग्रह स्वीकार करनेपर इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा अवश्य होती है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शरीर इन्द्रियमय है क्योंकि स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंका आधार है। वस्त्र ओढ़ना आदि परिग्रह मनुष्य इन्द्रियजन्य सुखके लिए ही ग्रहण करता है। ऐसा वह हवा धूप आदिके अनिष्ट स्पर्शसे बचनेके लिए करता है। तथा वस्त्र अलंकार आदिसे अपने शरीरको

---

१ विविचदि-अ० आ० मु०। २. मतं व्याघातारः सेवना-अ० ज०।

स्वाध्यायध्यानाख्ययोस्तपसो विघ्नकारी परिग्रहस्तदुभयं चान्तरेण न संवरनिर्जरे। तयोरभावे कुतो निरवशेषकर्मापायो भवतीति कथयति—

गंथस्स गहणरक्खणसारवणाणि णियदं करेमाणो।
विक्खित्तमणो ज्झाणं उवेदि कह मुक्कसज्झाओ ॥११५८॥

'गंथस्स गहणरक्खण' परिग्रहादानं, तद्रक्षण, तत्संस्कार च नित्यं कुर्वन् व्याक्षिप्तचित्त कथं शुभध्यानं कुर्यात् विमुक्तस्वाध्याय। एतदुक्तं भवति—व्याक्षिप्तचित्तस्य न स्वाध्यायः असति तस्मिन्वस्तुयाथात्म्याविदुषः ध्येयैकनिष्ठ ध्यानं कथमिव वर्तते ॥११५८॥

परभवव्याप्य दोष परिग्रहमुखायातमुपदर्शयति—

गंथेसु घडिदहिदओ होइ दरिद्दो भवेसु बहुगेसु।
होदि कुणंतो णिच्चं कम्मं आहारहेदुम्मि ॥११५९॥

'गंथेसु घडिदहिदओ' ग्रन्थासक्तचित्त· बहुषु भवेषु दरिद्रो भवति। आहारमात्रमुद्दिश्य नीचकर्मकारी भविष्यति। शिबिकोद्वहनं, उपानद्वेचन, पुरीषमूत्राद्यपनयन इत्यादिक नीचं कर्म ॥११५९॥

विविहाओ जायणाओ पावदि परभवगदो वि धणहेदुं।
लुद्धो पंपागहिदो हाहाभूदो किलिस्सदि य ॥११६०॥

'विविहाओ जायणाओ पावदि' विविधा यातनाः प्राप्स्यति। परभवगतोऽपि धननिमित्त लुब्ध आशया

भूषित करके मनुष्य दूसरेमें अभिलाषा उत्पन्न करता है और इस तरह उसके शरीरके ससर्गसे उत्पन्न अनुरागका इच्छुक होकर उसका सेवन करता है अतः परिग्रहको स्वीकार करनेवालेके इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा सिद्ध होती है ॥११५७॥

परिग्रह स्वाध्याय और ध्यान नामक तपमें विघ्न पैदा करता है तथा स्वाध्याय और ध्यानके विना संवर और निर्जरा नही होती। और सवर निर्जराके अभावमे समस्त कर्मो का विनाश कैसे हो सकता है ? यह कहते हैं—

गा०-टी०—परिग्रहको ग्रहण, रक्षण और उसके सार सम्हालमे सदा लगा रहनेवाले पुरुषका मन उसीमें व्याकुल रहता है। तब वह स्वाध्याय छूट जानेसे शुभध्यान कैसे कर सकता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसका चित व्याकुल रहता है वह स्वाध्याय नही कर सकता। और स्वाध्यायके अभावमे वस्तुके यथार्थस्वरूपको न जानते हुए ध्येयमें एकनिष्ठ ध्यान कैसे हो सकता है ॥११५८॥

परिग्रहसे उत्पन्न हुआ दोष भव-भवमें दुःख देता है यह कहते हैं—

गा०—जिसका चित्त परिग्रहमें आसक्त होता है वह भव-भवमें दरिद्र होता है। केवल पेट भरनेके लिए उसे पालकी उठाना, जूते बेचना, टट्टी पेशाब साफ करने आदिका नीच काम करना पड़ता है ॥११५९॥

गा०—परिग्रहमे आसक्त पुरुष पर भवमें भी धनके लिए अनेक कष्ट उठाता है। लोभके

प्रकृष्टया गृहीतो हा मम क्लेशशतं कुर्वतोऽपि मम धन न भवति, जातं वा नष्टमिति कृतहाहाकार क्लिश्यति ॥११६०॥

एदेसिं दोसाणं मुंचइ गंथजहणेण सव्वेसिं ।
तव्विवरीया य गुणा लभदि य गंथस्स जहणेण ॥११६१॥

'**एदेसि दोसाण मुचइ**' पूर्वोक्तान्परिग्रहग्रहणगतान्दोषानशेषान्त्यजेदिति दोषप्रतिपक्षभूतान्गुणानपि लभते ॥११६१॥

गंथच्चाओ इंदियणिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स ।
णयरस्स खाइया वि य इंदियगुत्ती असंगत्तं ॥११६२॥

'**गंथच्चाओ**' ग्रन्थत्याग । '**इंदियनिवारणे**' इत्ययमिन्द्रियशब्द उपयोगेन्द्रियविषय सप्तमी च निमित्तलक्षणा । तेनायमर्थ —इन्द्रियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निवारणे निमित्तभूतोऽकुश इव हस्तिनो निवारणे उत्पथयानात् । '**नगरस्स खाविगा वि य**' नगरस्य खातिका इव । '**असंगत्त**' निष्परिग्रहता । '**इंवियगुत्ती**' इन्द्रियगुप्तिरिन्द्रियरक्षा रागोत्पत्तिनिमित्तेन्द्रियज्ञानरक्षा ॥११६२॥

सप्पबहुलम्मि रण्णे अमंतविज्जोसहो जहा पुरिसो ।
होइ दढमप्पमत्तो तह णिग्गंथो वि विसएसु ॥११६३॥

'**सप्पबहुलम्मि**' सर्पबहुले । '**रण्णे**' अरण्ये । '**अमंतविज्जोसहो**' मन्त्रेण, विद्यया औषधेन च रहित पुमान् । '**दढमप्पमत्तो होदि**' नितरा अप्रमत्तो भवति । तथा निर्ग्रन्थोऽपि[1] क्षायिकश्रद्धानकेवलज्ञानयथाख्यात-

---

वशीभूत हो तृष्णामे पडकर हाहाकार करता है कि इतना कष्ट उठानेपर भी मुझे धनकी प्राप्ति नही होती या प्राप्त हुआ धन भी नष्ट हो गया । और इस प्रकार दुःखी होता है ॥११६०॥

गा०—परिग्रहका त्याग करनेमे ये सब दोष नही होते । तथा इनके विपरीत गुणोकी प्राप्ति होती है ॥११६१॥

गा०-टी०—'इदियणिवारणे' मे आये इन्द्रिय शब्दका अर्थ उपयोगरूप इन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियजन्यज्ञान है । तथा सप्तमी विभक्तिका अर्थ निमित्त है । अत उसका अर्थ होता है—

परिग्रहका त्याग इन्द्रियज्ञानको रोकनेमे निमित्त है जैसे अंकुश हाथीको रोकनेमे निमित्त है । अर्थात् जैसे अकुश हाथीको उन्मार्गपर जानेसे रोकता है वैसे ही परिग्रहका त्याग इन्द्रियोको विषयोमे जानेसे रोकता है । इन्द्रियाँ ही रागद्वेषकी मूल है । अथवा जैसे खाई नगरको रक्षा करती है वसे ही परिग्रहका त्याग रागकी उत्पत्तिमे निमित्त इन्द्रियोसे रक्षा करता है ॥११६२॥

गा०-टी०—जैसे मंत्र, विद्या और औषधीसे रहित पुरुष सर्पोसे भरे जगलमे अत्यन्त सावधान रहता है । वैसे ही निर्ग्रन्थ साधु भी जो क्षायिक सम्यग्दर्शन केवलज्ञान और यथाख्यात

---

१. तथा निर्ग्रन्थोऽपि विषयेष्वप्रमत्तो भवति इन्द्रियजयो अप्रमत्तताया उपाय अपरिग्रहतापीत्यनेन गाथाद्वयेनाख्यातं —ज० ।

चारित्रमन्त्रविद्यौषधिरहितो विषयारण्ये रागादिसर्प[1]बहुले सावधानोऽपि भवेत् ॥११६३॥

रागो हवे मणुण्णे गंथे दोसो य होइ अमणुण्णे ।
गंथच्चाएण पुणो रागद्दोसा हवे चत्ता ॥११६४॥

रागद्वेषयो कर्मणा मूलयोर्निमित्त परिग्रह , परिग्रहत्यागे रागद्वेषौ एव त्यक्तौ भवत । बाह्यद्रव्य मनसा स्वीकृतं रागद्वेषयोर्बीज, तस्मिन्नसति सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्रागद्वेषवृत्तिर्यथा सत्यपि मृत्पिण्डे दण्डाद्यनन्तकारणवैकल्ये न घटोत्पत्तिर्यथेति मन्यते ॥११६४॥

कर्मणा निर्जरणे उपाय परीषहसहन । तथा चोक्त 'पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा ' [त०सू० ९।८] ते च परीषहा सोढा भवन्ति ग्रन्थचेलप्रावरणादिक त्यजतेति व्याचष्टे—

सीदुण्हदंसमसयादियाण दिण्णो परीसहाण उरो ।
सीदादिणिवारणए गंथे णिययं जहंतेण ॥११६५॥

''**सीदुण्हदसमसयादियाण**' । ननु च दु खोपनिपाते सक्लेशरहितता परीषहजय , न तु शीतोष्णादयो । नहि ते आत्मपरिणामा । अनात्मपरिणामाश्च बन्धसवरनिर्जरादीनामुपायो न भवन्ति । योऽनात्मपरिणामो

चारित्ररूप मंत्र विद्या और औषधिसे रहित है अर्थात् जिसे इन सबकी प्राप्ति अभी नही हुई है वह रागद्वेषरूप सर्पोसे भरे विषयरूप वनमे सावधान रहता है ॥११६३॥

विशेषार्थ—इसका भाव यह है कि मनमे बाह्य द्रव्यके प्रति अनुराग रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाले मोहनीयकर्मका सहकारी कारण है अतः उसका त्याग करनेपर रागद्वेषरूप प्रवृत्ति नही होती। उसके अभावमे नवीन कर्मबन्ध नही होता। अत परिग्रहका त्याग ही मोक्षका उपाय है ॥११६३॥

गा०—मनोज्ञ विषयमे राग होता है और अमनोज्ञ विषयमे द्वेष होता है। अत परिग्रहका त्याग करनेसे राग-द्वेषका त्याग हो जाता है ॥११६४॥

टी०—कर्मबन्धके मूल रागद्वेष है और रागद्वेषका निमित्त परिग्रह है। परिग्रहको त्यागने पर रागद्वेषका त्याग हो जाता है। बाह्य द्रव्यको मनमे स्वीकार करना ही रागद्वेषका बीज है। उस सहकारी कारणके अभावमे केवल कर्ममात्रसे रागद्वेष नही होते। जैसे मिट्टीके होने पर भी दण्ड आदि सहायक कारणोंके अभावमे घटकी उत्पत्ति नही होती ॥११६४॥

परीषहोंका सहना कर्मोकी निर्जराका उपाय है। कहा भी है—पूर्वमे बाँधे गये कर्मोकी निर्जराके लिए परीषह सहना चाहिए। वस्त्रादि परिग्रहका त्याग करनेसे उन परीषहोंका सहना होता है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शीत आदिका निवारण करने वाले वस्त्र आदि परिग्रहोंको जो नियमसे त्याग देता है वह शीत, उष्ण, डांस मच्छर आदि परीषहोंको सहनेके लिए अपनी छाती आगे कर देता है।

शंका—दुःख आने पर संक्लेश न करना परीषह जय है। शीत उष्ण आदि परीषह जय नहीं हैं, क्योंकि वे आत्माके परिणाम नही है। और जो आत्माके परिणाम नहीं है वे बन्ध, संवर,

१ विसए आ० मु०।

नासौ निर्जराहेतु यथा पुद्गलद्रव्यगतरूपादय । अनात्मपरिणामाश्च शीतादय क्षुत्पिपासादयो दु.खहेतव ,' न तु दु.ख, तत् किमुच्यते क्षुत्पिपासादय परीषहा इति । नैव दोष । क्षुदादिजन्यदु खविषयत्वात् क्षुदादि-शब्दानां । तेन क्षुत्पिपासाशीतोष्ण-दशमशकनाग्न्यादीना परीषहवाचोयुक्तिर्न विरुध्यते । **'सीदुण्हदंसमसयादियाण'** शीतोष्णदसमशकादीनां । **'परिस्सहाणं उरो दिण्णो'** परीषहाणा उरो दत्त । केन ? **'सीदादिणिवारणगे'** शीता-दीनां निषेधकान् । **'गंथे णियद जहंतेण'** ग्रन्थान्नियतं त्यजता ॥११६५॥

देहे आदर सर्वस्य हिंसादेरसयमस्य मूल परित्यक्तो भवति परिग्रह त्यजतेत्याचष्टे—

जम्हा णिग्गंथो सो वादादवसीददंसमसयाणं ।
सहदि य विविधा बाधा तेण सदेहे अणादरदा ॥११६६॥

'जम्हा' यस्मात । **'णिग्गंथो सो'** निष्परिग्रहोऽसो **'वादादवसीददंसमसयाण'** विविधा बाधा वातात-पशीतदंशमशकाना विविध दु ख **'सहदि'** सहते । **'तेण'** सहनेन । **'सदेहे'** स्वदेहे **'अणादरदा'** आदराभाव । शरीरे अकृतादरश्च जहात्यशेष हिंसादिक, तपसि च स्वशक्त्यनिगूहनेन प्रयतते ॥११६६॥

संगपरिमग्गणादी णिम्मंगे णत्थि सव्वविक्खेवा ।
ज्झाणज्झेणाणि तओ तस्स अविग्घेण वच्चंति ॥११६७॥

'संगपरिमग्गणादी' परिग्रहान्वेषणादि परिग्रहस्य स्वाभिलषितस्य अस्तित्वगवेषणे क्लेशमस्तीति । तथा तत्स्वामिना कोऽस्य [1]स्वामित्व वा क्वासौ अवतिष्ठते इति पुनर्याञ्चा ? लाभे सन्तोष., अलाभे दीनमनस्कता,

---

निर्जरा आदिके उपाय नही होते । जो आत्माका परिणाम नही है वह निर्जराका कारण नही है । जैसे पुद्गल द्रव्यके रूपादि । शीत आदि आत्माके परिणाम नही है । तथा भूख प्यास आदि दु ख-के कारण है किन्तु स्वय दु खरूप नही है । तब आप कैसे कहते है कि भूख प्यास आदि परीषह हैं ?

समाधान—उक्त दोष ठीक नही है क्योकि भूख आदि शब्दोका अर्थ भूख आदिसे होने वाला दु.ख है । अत. भूख, प्यास, शीत, उष्ण, डास-मच्छर, नाग्न्य आदिको परीषह कहनेमे कोई विरोध नही है । अत. जो इन परीषहोको दूर करनेके उपायोको त्याग देता है वह शीत आदिका कष्ट होने पर भी अपने मनमे कोई सक्लेश नही करता ॥११६५॥

समस्त हिंसा आदि असयमका मूल शरीरमे आदरभाव है । परिग्रहको त्यागने पर वह भी त्याग दिया जाता है, यह कहते हैं—

गा०—यत परिग्रहका त्यागी निर्ग्रन्थ वायु, धूप, शीत, डासमच्छर आदिके अनेक कष्टोको सहता है । उस सहनसे उसका शरीरमे अनादरभाव प्रकट होता है । और शरीरका आदर न करने वाला समस्त हिसा आदिको छोड़ देता है और अपनी शक्तिको न छिपाकर तपका प्रयत्न करता है ॥११६६॥

गा०-टी०—अपनेको इष्ट परिग्रहको खोजनेमे कष्ट होता है । तथा वह मिल भी जाये तो उसके स्वामीको खोजनमें कष्ट होता है कि वह कहाँ रहता है । स्वामी मिल जाये तो उससे

---

1 स्वामित्व च न क्वा–अ० ।

तदानयनं तत्संस्करणं, तद्रक्षणं इत्यादिकं आदिशब्देन गृहीतं। 'निःसगे' सङ्गरहिते 'णत्थि सव्वविक्खेवा' न सन्ति सर्वे व्याक्षेपाः। 'ज्झाणज्झेणाणि' ध्यानं अध्ययनं च। 'तवो' व्याक्षेपाभावात् चेतसि। 'तस्स' अपरिग्रहस्य। 'अविग्घेण वच्चंति' विघ्नमन्तरेण वर्तते। सर्वेषु तपस्सु प्रधानयोर्ध्यानस्वाध्याययोरुपायो अपरिग्रहता इत्याख्यातमनया गाथया ॥११६७॥

गथच्चाएण पुणो भावविसुद्धी वि 'दाविदा होइ।
ण हु सगघडिदबुद्धी संगे जहिदु कुणदि बुद्धी ॥११६८॥

'संगच्चाएण पुणो' सङ्गत्यागेन पुनः। 'भावविसुद्धी वि दाविदा होदि' परिणामस्य [2]विशुद्धिर्दर्शिता भवति। 'ण हु सगघडिदबुद्धी' नैव परिग्रहघटितबुद्धिः। 'संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी' परिग्रहास्त्यक्तुं करोति बुद्धिं ॥११६८॥

या च प्रक्रान्ता सल्लेखना कषायविषया सा च परिग्रहत्यागमूलेति कथयति—

णिस्संगो चेव सदा कसायसल्लेहणं कुणदि भिक्खू।
संगा हु उदीरेंति कसाय अग्गीव कट्ठाणि ॥११६९॥

'णिस्संगो चेव' निष्परिग्रहश्चैव सदा कषायपरिणामास्तनून्[3] करोति न सपरिग्रहः। कथं इति तदाचष्टे—'संगा खु उदीरेंति' परिग्रहा उदीरयन्ति। 'कसाए' कषायान्। 'अग्गीव' अग्निरिव 'कट्ठाणि' काष्ठानि ॥११६९॥

सव्वत्थ होइ लहुगो रूवं विस्सासियं हवदि तस्स।
गुरुगो हि संगसत्तो संकिज्जइ चावि सव्वत्थ ॥११७०॥

याचना करनी होती है। याचना करने पर मिल जाये तो सन्तोष होता है न मिले तो मनमे दीनताका भाव रहता है। मिलने पर उसको लाना, उसका संस्कार करना, उसकी रक्षा करना 'आदि' शब्दसे लिया है। इस तरह परिग्रहके निमित्त ये सब करना पड़ता है। किन्तु परिग्रहका त्याग करके निर्ग्रन्थ बन जाने पर ये सब परेशानियाँ नही होती। तब चित्तमे किसी प्रकारकी आकुलता न होनेसे उस निर्ग्रन्थ साधुका ध्यान और स्वाध्याय बिना विघ्नके चलते है। अतः इस गाथाके द्वारा कहा है कि सब तपोमे ध्यान और स्वाध्याय प्रधान है और परिग्रहका त्याग उनका उपाय है ॥११६७॥

गा०—परिग्रहके त्यागसे परिणामोकी निर्मलता भी प्रकट होती है, क्योकि जिसकी मति परिग्रहमे आसक्त होती है वह परिग्रहको छोडनेका विचार नही रखता ॥११६८॥

आगे कहते है कि यहाँ जिस कषाय विषयक सल्लेखनाका प्रकरण चला है उसका मूल परिग्रहत्याग ही है—

गा०—जो परिग्रहसे रहित है वही सदा कषाय रूप परिणामोको कृश करता है परिग्रही नही। क्योकि जैसे लकडी डालनेसे आग भडकती है वैसे ही परिग्रहसे कषाय भडकती है ॥११६९॥

---

१ दीविदा–मु०। २ द्धिर्दीपिता दर्शिता–मु०। ३ तनूकरोति–आ० मु०।

'**सव्वत्थ होइ**' सर्वत्र भवति गमने आगमने च '**लघुगो**' लघु.। '**रूवं वेसासिगं**' रूप विश्वासकारि च भवति । '**तस्स**' निर्ग्रन्थस्य । वस्त्रप्रावरणादिकप्रच्छादितशस्त्रोऽस्माकमुपद्रव करोति धन वा स्वेन चीवरादिना प्रच्छाद्य नयतीति शङ्का कुर्वन्ति परिग्रह दृष्ट्वा ॥११७०॥

सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिब्भओ य सव्वत्थ ।
होदि य णिप्परियम्मो णिप्पडिकम्मो य सव्वत्थ ॥११७१॥

'**सव्वत्थ अप्पवसिगो**' सर्वत्र ग्रामे, नगरे, अरण्ये च आत्मवशक । '**णिस्संगो**' निष्परिग्रहः । '**सव्वत्थ य णिब्भओ**' सर्वत्र निर्भयश्च । '**होदि य णिप्परिकम्मो**' भवति च निर्व्यापार कृष्यादिक्रियाप्रारम्भरहित । '**णिप्पडिकम्मा य**' इद पूर्वकृत इद परत्रावशिष्ट कार्यमित्येतच्चास्य न विद्यते ॥११७१॥

सुखार्थिनो महत्सुख भवति सगपारत्यागेनेति वदति—

भारक्कंतो पुरिसो भार ऊरुहिय णिव्वुदो होइ ।
जह तह पयहिय गंथे णिस्संगो णिव्वुदो होइ ॥११७२॥

'**भारक्कंतो पुरिसो**' भाराक्रान्त पुरुष । '**भारं ऊरुहिय**' भारमवतार्य । '**णिव्वुदो होदि**' सुखी भवति । यथा तथा '**णिस्संगो णिव्वुदो होदि**' निष्परिग्रह सुखी भवति । '**गंथे पयहिय**' ग्रन्थान्परित्यज्य । बाधाभाव-लक्षण हि सुख सर्वमेव । तथाहि—अशनादिना क्षुधादावपगते जात स्वास्थ्यमेव सुखमिति [1]लोके मन्यते ॥११७२॥

यस्मादेव परिग्रहणेऽतिबहवो जन्मद्वयभाविनो दोषाश्च—

तम्हा सव्वं संगं अणागए वट्टमाणए तीदे ।
तं सव्वत्थ णिवारेहि करणकारावणाणुमोदेहिं ॥११७३॥

गा०—अपरिग्रही सर्वत्र जाने आनेमे हल्का रहता है । उसका रूप नग्न दिगम्बर विश्वास-कारी होता है । और परिग्रही परिग्रहके भारसे भारी होता है । और उसके परिग्रहको देखकर लोग शङ्का करते है कि यह अपने वस्त्रोमे शस्त्र छिपाये हुए है कोई उपद्रव न करे । अथवा यह अपने चीवर आदिमें छिपाकर धन तो नही ले जाता ? ॥११७०॥

गा०—जो अपरिग्रही होता है वह सर्वत्र गॉव, नगर और वनमे स्वाधीन रहता है । उसे किसीका आश्रय लेना नही होता । और वह सर्वत्र निर्भय रहता है । उसे कृषि आदि काम करना नही होता । तथा इतना काम पहले कर लिया, इतना करना शेष है, इत्यादि चिन्ता उसे नही रहती ॥११७१॥

आगे कहते है कि सुखके अभिलाषीको परिग्रहके त्यागसे महान् सुख होता है—

गा०—जैसे भारसे लदा हुआ मनुष्य भारको उतारकर सुखी होता है वैसे ही परिग्रहको त्यागकर परिग्रहरहित साधु सुखी होता है । सर्वत्र सुखका लक्षण बाधाका अभाव है । लोकमे भी भोजनके द्वारा भूख प्यास चले जाने पर उत्पन्न हुई स्वस्थताको ही सुख माना जाता है ॥११७२॥

१ लोको—आ० मु० ।

'तम्हा' तस्मात् । **'सव्वे संगे'** सर्वान्परिग्रहान् । **'अणागदे'** अनागतान् । **'वट्टमाणगे तीदे'** वर्तमाना-नतीतांश्च **'त'** भवान् । **'सव्वत्थ णिवारेहि'** सर्वथा निवारय । **करणकारावणाणुण्णाहिं'** कृतकारिताभ्यामनु-मोदनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो बन्धकारणं येन निवार्यते ? अयमभिप्रायः अतीतम्वस्वामिसम्बन्धेऽपि वस्तुनि ममेदं वस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बन्धो भवतीति मा कृथास्तदनुस्मरणं अनुरागं वा । एवं भविष्यति इत्थंभूतं मम द्रविणं इति ॥११७३॥

जावंति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ।
तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ॥११७४॥

'जावंति केइ सगा' यावन्त केचन परिग्रहा । **'विराधगा'** विनाशका । कस्य ? रत्नत्रयस्य । **'तिविध-कालसंभूवा'** कालत्रयप्रवृत्ता । **'तेहिं तिविधेण विरदो'** तेभ्यो मनोवाक्कायैर्विरतः सन् **'विमुत्तसगो'** विमुक्तसङ्गः । **'जह सरीरं'** त्यज शरीरं ॥११७४॥

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चेव सव्वत्थ ।
आसं तण्हं संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च ॥११७५॥

'एवं कदकरणिज्जो' एवं कृतकरणीयः । यत्कर्तव्यमाराधना वाञ्छता आहारशरीरत्यागादिकं स एवंभूतः । **'तिकाले वि'** कालत्रयेऽपि । **'तिविधेण'** त्रिविधेन । **'सव्वत्थ'** सर्वविषया सुखसाधनगोचरा । **'आसं'** आशा । **'तण्हं'** तृष्णा । **'संगं'** परिग्रहभूता । **'छिंद ममत्ति'** ममेदमिति संकल्पं छिंद्धि । **'मुच्छं'** मोहमिति यावत् ॥११७५॥

गा०–टी०—यतः परिग्रह रखने पर इस लोक और परलोकमें बहुतसे दोष होते हैं अतः हे क्षपक तुम सब अनागत, वर्तमान और अतीत परिग्रहोको कृतकारित अनुमोदनासे सर्वथा दूर करो।

शंका—अतीत और भावि परिग्रह बन्धका कारण कैसे है जिससे उसका त्याग कराते हो ?

समाधान—इसका यह अभिप्राय है यद्यपि अतीत वस्तुके साथ जो स्वामी सम्बन्ध था वह जाता रहा, फिर भी उसमें 'मेरे पास अमुक वस्तु थी' इस प्रकारके स्मरण और अनुराग आदिरूप अशुभ परिणामोसे बन्ध होता है इसलिए उसका स्मरण वा अनुराग मत करो। इसी प्रकार 'मेरे पास आगामीमें अमुक धन आदि होगा' ऐसा चिन्तन करनेसे भी कर्मका बन्ध होता है ॥११७३॥

गा०—अतः हे क्षपक ! तीनो कालोका जितना भी परिग्रह रत्नत्रयका विनाशक है उस सबको मन वचन कायसे छोड़कर अपरिग्रही बनो और तब शरीरका त्याग करो ॥११७४॥

गा०—इस प्रकार आराधनाके इच्छुकका आहार शरीर आदिका त्याग रूप जो कर्तव्य है वह जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक ! तीन कालोके परिग्रहोंमें मन वचन कायसे आशा, तृष्णा, संग, ममत्व और मूर्च्छाको दूर करो ॥११७५॥

टी०—ये इस प्रकारके विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हों यह आशा है। ये कभी भी मुझसे अलग नहीं हो इस प्रकारकी अभिलाषा तृष्णा है। परिग्रहमें आसक्ति संग है। ये मेरे भोग्य हैं मैं इनका भोक्ता हूं ऐसा संकल्प ममत्व है। अत्यासक्ति मूर्च्छा है ॥११७५॥

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्यं निर्दिशत्युत्तरगाथा—

सव्वगंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥११७६॥

'**सव्वगंथविमुक्को**' परित्यक्ताशेषबाह्याभ्यन्तरग्रन्थः । '**सीदीभूदो**' शीतीभूतः । '**पसण्णचित्तो य**' प्रसन्नचित्तः सन् । '**जं पावदि पीयिसुहं**' यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मकं सुखं । '**न चक्कवट्टी वि तं लभदि**' चक्रवर्त्यपि तन्न लभेत ॥११७६॥

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पताया कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्णादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ॥११७७॥

रागविवागसतण्हाइगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं । रागो विपाक फलमस्येति रागविपाकरूप विषय-सुखमासेव्यमानं रञ्जयति विषयेष्विति रागो विपाकः फलं सुखस्येत्युच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्णं, अतिशयेन गृद्धि काङ्क्षा जनयति इति अतिगृद्धि । न विद्यते तृप्तिरस्मिन्नित्यतृप्ति । यदेवभूतं चक्रवर्तिसुखं '**णिस्संगणिव्वुदिसुहस्स**' निःसंगस्य यन्निर्वृतिसुखं तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥११७७॥

महाव्रतसंज्ञा अहिंसादीनां अन्वर्था इति दर्शयति—

पञ्चमहव्वयं ।

साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं ॥११७८॥

'**साधेंति जं महत्थं**' साधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजनं असंयमनिमित्तप्रत्ययकर्मकदम्बकनिवारणं महत्प्रयो-

आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्यागसे अतिशय सुख इसी जन्ममे प्राप्त होता है—

गा०—समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होनेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्न-चित्त होता है वह जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नही होता ॥११७६॥

चक्रवर्तीका सुख कम क्यों है इसका कारण कहते है—

गा०—चक्रवर्तीके सुखका फल राग है क्योंकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमे अनुरक्त करता है। तथा वह तृष्णाको बढाता है। अत्यन्त गृद्धिको–लम्पटताको उत्पन्न करता है। उसमे तृप्ति नही है। अतः चक्रवर्तीका सुख अपरिग्रहीको जो परिग्रहका त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तवे भाग भी नहीं है ॥११७७॥

अहिंसा आदिका महाव्रत नाम सार्थक है, यह कहते है—

गा०—यतः ये असंयमके निमित्तसे होने वाले नवीन कर्म समूहका निवारण रूप महान्

१. स्यासक्यमा–अ० ।

जनं सम्पादयन्तीति महाव्रतानि । **'आयरिवाइं च जं महल्लेहिं'** यस्मादाचरितानि महद्भिः तस्मान्महाव्रतानि इति निरुक्ति.। **'जं च'** यस्मात् **'महल्लाणि'** स्वयं महान्ति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदसकलहिंसादिविरूपतया वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चेव वदाणं' तेषामेवाहिंसादिव्रताना । **'रक्खत्थं'** रक्षणार्थं । **'रादिभोयणणियत्ती'** रात्रिभोजनान्निवृत्ति । रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्स्थावराश्च हन्याद्दुरालोकत्वात् । न च दायकागमनमार्गं, तस्यान्नावस्थानदेश, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेश, दीयमान वाहार योग्य न वेति विरूपयितुमय कथ समर्थ ? दिवापि दु परिहारान् जानाति रससूक्ष्मानय कथ परिहरेत् । **'कडुच्छुगं करं वा'** दायिकाया भाजन वा कथ शोधयति । पदविभागिका वा एषणामित्यालोचना मम्यगपरीक्षितविषया कुर्वतः कथमिव । सत्यव्रतमवतिष्ठते ? सुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तमप्याहार गृह्णतोऽदत्तादान स्यात् । क्वचिद्भाजने दिवैव स्थापित, आत्मवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोप स्यात् । रात्रिभोजनात्तु व्यावृत्ते सकलानि व्रतान्यवतिष्ठन्ते सम्पूर्णानि । **'अट्ठप्पवयणमादाओ'** अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सद्व्रतपरिपालनाया । एव पञ्च समितय तिस्रो

प्रयोजनको साधते है, इसलिए महाव्रत है । यत. महान् पुरुषोके द्वारा इनका आचरण किया जाता है इसलिए महाव्रत है । और यत ये स्वय महान् है—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिसा आदिका इससे त्याग होता है अनः इन्हे महाव्रत कहते हैं ॥११७८॥

विशेषार्थ—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरतिरूप होनेसे शुद्ध चिद्रूप है । नोआगमभाव व्रतकी अपेक्षा चारित्रमोहके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि निवृत्ति रूप परिणाम—मै जीवन पर्यन्त हिंसा नही करूँगा, असत्य नही बोलूगा, विना दी हुई वस्तु ग्रहण नही करूँगा, मैथुन नही करूँगा और न परिग्रह स्वीकार करूँगा, महाव्रत है ॥११७८॥

गा०–टी०—उन्ही अहिंसा आदि व्रतोकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा है । यदि मुनि रात्रिमे भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोका घात करता है क्योंकि रात्रिमे उनको देख सकना कठिन है । देनेवालेके आनेका मार्ग, उसके अन्न रखनेका स्थान, अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नही, ये सब वह कैसे देख सकता है ? दिनमे भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवोंका परिहार रात्रिमे कैसे कर सकता है । करछुल, अथवा देनेवालीका हाथ अथवा पात्रको देखे विना कैसे शोधन कर सकता है । इन सबकी सम्यक्रूपसे परीक्षा किये विना पदविभागी अथवा एषणा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है ? दानका स्वामी सोया हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—विना दी हुई वस्तुका ग्रहण कहलायेगा । किसी भाजनमे दिनमे लाकर रखे और रात्रिमे भोजन करे तो अपरिग्रहव्रतका लोप होगा । किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं ।

आठ प्रवचन माता महाव्रतकी रक्षक हैं । पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये आठ

---

१. श्रुतेन अ० आ० ।

गुप्तयश्च प्रवचनमातृकाः । रत्नत्रयं प्रवचन तस्य मातर इवेमाः । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणा अपाय-परिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वा । वीर्यान्त-रायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यतेऽसकृत्प्रवर्त्यते इति भावना । अथ किमिदं व्रतं नाम ? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मिथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः कथंचित्तथैव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्ध । जीवादितत्त्व-परिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्थमुपयोगाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा तत. किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्यु-पयोगो न तदा नानृत वदामीत्येवमादय सन्ति परिणामाः । किं पुन. परिणामान्तरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्ति-परिणामवत आत्मन शरीरस्य बन्धं प्रत्येकत्वात् आकार सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाद्व्रत । भाविव्रतत्वग्राहिज्ञानपरिणतिरात्मा आगमद्रव्यव्रत । व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रत । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामा. स भाविव्रत । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थित चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं । न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भण्यते आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रत नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है । रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं । जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोंकी रक्षा करती हैं । तथा सब भावनाएँ महाव्रतोकी रक्षक हैं । वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्मा-के द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं ।

शङ्का—मै जीवन पर्यन्त हिंसा नही करूँगा, झूठ नहीं बोलूंगा, विना दी हुई वस्तु ग्रहण नही करूँगा, मैथुन कर्म नही करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है ? वैसा ही बना रहना तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमे प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता । यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी ? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है । तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती हैं । जिस समय 'मै हिंसा नही करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नही बोलता' इत्यादि परिणाम नही होते । तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं । किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है । आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है । भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है । व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होगे वह आत्मा भाविव्रत है । उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है । 'मै हिंसा नही करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

परिणामाभावः अहिंसादिव्रतं । प्राणिनां वियोजने प्राणानां, असदभिधाने, अदत्तस्यादाने, मिथुनकर्मविशेषे, मूर्च्छायां वाऽपरिणतिरिति यावत् । तथा चोक्तं—'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमिति' [त०सू० ७।१] हिंसादयः क्रियाविशेषा आत्मनः परिणामास्तेभ्यो आत्मनो व्यावृत्तिर्हिंसादिष्वपरिणतिर्व्रतमिति सूत्रार्थः । हिंसादिव्यावृत्तत्वं नाम यद्रूपं जीवस्य व्रतसंज्ञितं तत्परिपाल्यते रात्रिभोजननिवृत्त्या प्रवचनमातृकाभिश्च । यस्मिन्नसति तद्विनश्यति सति च न विनश्यति तत्तत्पालयति यथा दुर्गो राजानं । सत्यां रात्रिभोजननिवृत्तौ प्रवचनमातृकासु भावनासु वा सतीषु हिंसादिव्यावृत्तत्वं भवति, न तास्वसतीषु इति युक्तमुक्त सूत्रकारेण ॥११७९॥

तेसिं पंचण्हं पि य अंहयाणमावज्जणं व संका वा ।
आदविवत्ती य हवे रादीभत्तप्पसंगम्मि ॥११८०॥

'तेसिं पंचण्हं पि य अंहयाणमावज्जणं' तेषां पञ्चानां हिंसादीना प्राप्ति । **'संका वा'** शङ्का वा मम हिंसादयः किं संवृत्ता न वेति । **'हवे'** भवेत् । **'रादीभत्तप्पसंगम्मि'** रात्रावाहाराप्रसंगे सति न केवल हिंसादिषु परिणतिः । **'विवत्ती य हविज्ज'** आत्मनश्च यते स्वस्यापि विपद्भवेत् स्थाणुसर्पकण्टकादिभिः ॥११८०॥

हिंसादि परिणामोंका अभाव रूप अहिंसादि व्रत नोआगमभाव व्रत है । इसका मतलब है प्राणियों के प्राणोंके घातमें, झूंठ बोलनेमें, विना दी हुई वस्तुके ग्रहणमें, मैथुन रूप विशेष कर्ममे तथा ममत्व भावमें परिणतिका न होना । तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा भी है—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विरति व्रत है।' हिंसा आदि क्रिया विशेष आत्माके परिणाम है । उनसे आत्माकी निवृत्ति अर्थात् हिंसादि रूप परिणतिका न होना व्रत है। यह सूत्रका अर्थ है। जीवकी हिंसा आदिसे व्यावृत्ति रूप जो अवस्था है उसका नाम व्रत है। रात्रि भोजन त्याग और प्रवचन माताओंके द्वारा जीवके उस रूपका संरक्षण होता है । जिसके नही होने पर जो नष्ट हो जाता है और जिसके होने पर जो नष्ट नही होता वह उसका रक्षक होता है । जैसे दुर्ग राजाका रक्षक है । रात्रि भोजनसे निवृत्ति और प्रवचन माता तथा भावनाओके होने पर हिंसादिसे निवृत्ति होती है और उनके नहीं होने पर नही होती है । अत. गाथा सूत्रकारने ठीक ही कहा है कि ये व्रतोकी रक्षक हैं । आशय यह है कि जीवन पर्यन्त हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणत आत्माका कथंचित् उसी रूपसे बने रहना ही यहाँ विवक्षित है । परिणामोंमे परिवर्तन होते हुए भी निवृत्ति रूप परिणाम तदवस्थ रहता है ॥११७९॥

गा०—रात्रिमें आहार करने पर उन हिंसा आदि पाचों पापोंकी प्राप्ति होती है अथवा यह शंका रहती है कि हिंसा आदि पाप हुए तो नही ? इसके सिवाय साधुको स्वयं भी ठूठ, सर्प, कण्टक आदिसे विपत्तिका सामना करना पड़ सकता[1] है ॥११८०॥

---

१. इस गाथाके पश्चात् मुद्रित प्रतिमें नीचे लिखी गाथा है जिसपर आशाधरकी टीका है किन्तु यह किसी प्रतिमें नही है । पं० जिनदासजी ने भी न तो इसका अर्थ किया है और न इसपर पृथक् क्रमांक दिया है—

अण्हयदारोपरमणदरस्स गुत्तीओ होन्ति तिण्णेव ।
चेट्ठिदुकामस्स पुणो समिदीओ पंच दिट्ठाओ ॥

आस्रवके द्वारको रोकनेमें आसक्त भिक्षुके तीन गुप्तियाँ होती हैं । और गमन तथा बोलने आदिकी चेष्टा करने पर पाँच समितियाँ कही हैं ।

प्रवचनमातृकाव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तत्र मनोगुप्ति वाग्गुप्ति व्याख्यातुमायातोत्तरगाथा—

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ति ।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती ॥११८१॥

'जा रागादिणियत्तो मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ति' या रागद्वेषाभ्यां निवृत्तिर्मनसस्तां जानीहि मनोगुप्ति । अत्रेद परीक्ष्यते । मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरथाप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्त चेद शुभ मन तस्य का रक्षा । अप्रवृत्त यदि तथापि असत का रक्षा ? सतोऽप्यपायपरिहारायायुक्तस्येत्युच्यते ? किं च मन शब्देन किमुच्यते द्रव्यमन उत भावमन ? मनोद्रव्यवर्गणा मनश्चेत तस्य कोऽपायो नाम यस्य परिहारो रक्षा स्यात् ? किं च द्रव्यान्तरेण तेन रक्षितेनास्य जीवस्य फल य आत्मन परिणामोऽशुभमावहति । ततोऽयुक्ता रक्षात्मन । अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमसमुत्पन्न ज्ञान मन इति गृह्यते तस्य अपाय क ? यदि विनाश स न परिहर्तुं शक्यते यतोऽनुभवसिद्धो विनाश । अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरात्मन स्यात् । ज्ञानानीह वीचय इवानारतमुत्पद्यन्ते न चास्ति तदविनाशोपाय । अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्यावृत्तिरिष्टैव किमुच्यते रागादिणियत्ती मणस्स इति ।

अत्र प्रतिविधीयते—नो इन्द्रियमतिरिह मन शब्देनोच्यते । सा रागादिपरिणामै सह एककाल आत्मनि प्रवर्तते । न हि विषयावग्रहादिज्ञानमन्तरेणास्ति रागद्वेषयो प्रवृत्ति , अनुभवसिद्धैवास्ति नापरा युक्ति अनुगम्यते । वस्तुतत्त्वानुयायिना मानसेन ज्ञानेन सम रागद्वेषौ न वर्तेते इत्येतदप्यात्मसाक्षिकमेव । तेन मनसस्त-

---

आगे प्रवचन माताओका व्याख्यान करते है । उनमे से प्रथम मनोगुप्ति और वचनगुप्तिका व्याख्यान करते हैं—

गा०-टी०—मनकी जो रागादिसे निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो ।

शंका—यहाँ यह विचार करते हैं कि यह जो आप मनकी गुप्ति कहते हैं सो यह गुप्ति प्रवृत्त मनकी है या अप्रवृत्त मनकी है ? प्रवृत्त मन तो शुभ रूप होता है उसकी रक्षा कैसी ? यदि मन अप्रवृत्त है तो वह असत् हुआ, उसकी रक्षा कैसी । प्रवृत्त मनकी अपायमें बचाव करनेमें उपयोगिता होती है । तथा मन शब्दसे द्रव्यमन लेते हैं या भावमन ? यदि द्रव्यवर्गणा रूप मन लेते हैं तो उसका अपाय क्या, जिससे बचनेसे उसकी रक्षा हो । तथा द्रव्यवर्गणा रूप मन तो भिन्न द्रव्य है । उसकी रक्षा करनेसे इस जीवको क्या लाभ जो आत्माके अशुभ परिणाम करता है। अत आत्माकी रक्षाकी बात युक्त नही है । यदि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरणके क्षयोपशममें उत्पन्न हुए ज्ञानको मन शब्दमे ग्रहण करते हैं तो उसका अपाय क्या है ? यदि अपायसे मतलब विनाश है तो उसका परिहार शक्य नही है क्योंकि विनाश तो अनुभवमे सिद्ध है । यदि ज्ञानका विनाश न हो तो आत्माकी प्रवृत्ति सदा एक ही ज्ञानमे रहे । किन्तु ज्ञान तो तरगोंकी तरह निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं । उनके विनाश न होनेका कोई उपाय नही है । तथा इन्द्रियजन्य मतिकी भी रागादिसे व्यावृत्ति मान्य है तब 'मनकी रागादिसे निवृत्ति' क्या कहते है ?

समाधान—यहाँ मन शब्दसे नोइन्द्रिय जन्य मति कही है । वह आत्मामे रागादि परिणामोंके साथ एक ही कालमे प्रवृत्तिशील है । विषयोंका अवग्रहादिज्ञान हुए विना रागद्वेषमे प्रवृत्ति नही होती, यह बात अनुभव सिद्ध है । इसमे अन्य कोई युक्ति नही है । जो मानस ज्ञान वस्तुतत्त्वके अनुसार होता है उस ज्ञानके साथ रागद्वेष नही होते यह बात आत्मसाक्षिक है । अत तत्त्व-

त्वावग्राहिणो रागादिभिरसहचारिता या सा मनोगुप्ति । मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तराग-द्वेषकलङ्को मनोगुप्तिरन्यथा इन्द्रियमतौ श्रुते, अवधौ, मनःपर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्ति स्यात् । इष्यते च । अथवा मन शब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्ति रागद्वेषरूपेण या अपरिणति सा मनोगुप्तिरित्युच्यते । अथैवं ब्रूषे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति दृष्टफलमनपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्ति । 'अलिणादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती' विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्मार्था व्यावृत्ति सा वाग्गुप्ति । ननु च वाच पुद्गलत्वात् विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुर्वाचो धर्मो न चासौ संवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात् । शब्दादिवत् । एवं तर्हि व्यलीकात्परुषादात्मप्रशंसापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथाभूतस्य वचसोऽप्रवर्तिका वाग्गुप्ति । या [1]वाच प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं वाग्गुप्तिरित्यत्र तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाच परिहारो वाग्गुप्ति । मौनं वा सकलाया वाचो या परिहृति सा वाग्गुप्ति । अयोग्यवचनेऽप्रवृत्ति प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा । भाषासमितिस्तु

का ग्रहण करने वाले मनका रागादि भावके साथ साहचर्य न होना मनोगुप्ति है। 'मन' शब्द ज्ञानका उपलक्षण है। अत रागद्वेषकी कालिमासे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है। यदि ऐसा न माना जाय तो जब आत्मा इन्द्रिय ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मन पर्ययज्ञान रूपसे परिणत हो उस समय मनोगुप्ति नही हो सकेगी। किन्तु उस समय भी मनोगुप्ति मानी जाती है। अथवा जो आत्मा 'मनुते' अर्थात् पदार्थोको जानता है वही मन शब्दसे कहा जाता है। उसकी जो रागादिसे निवृत्ति है अथवा रागद्वेषसे परिणमन करना वह मनोगुप्ति कही जाती है। ऐसा होने पर 'सम्यक् रूपसे योगका निग्रह गुप्ति है' ऐसा कहनेमे भी कोई विरोध नही है। सम्यक् अर्थात् किसी लौकिक फलकी अपेक्षा न करके वीर्य परिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेसे रोकना मनोगुप्ति है।

तथा विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमे कारण होनेसे और दूसरोको दुःखकी उत्पत्तिमे निमित्त होनेसे जो अधर्म मूलक वचनसे निवृत्ति है वह वचन गुप्ति है।

शङ्का—वचन तो पौद्गलिक है अत विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमे हेतु आदि होनेसे व्यावृत्ति वचनका धर्म है और वह संवरमे कारण नही है क्योकि वह तो पुद्गलका परिणाम है, आत्माका परिणाम नही है जैसे शब्द वगैरह पुद्गलके परिणाम हैं।

समाधान—मिथ्या, कठोर, अपनी प्रशंसा और परकी निन्दा करने वाले तथा दूसरोमे उपद्रव कराने वाले वचनसे आत्माकी निवृत्ति, जो इस प्रकारके वचनोकी प्रवृत्तिको रोकती है वह वचन गुप्ति है। वचन गुप्तिमे वचन शब्दसे जिस वचनको सुनकर प्रवृत्ति करता हुआ आत्मा अशुभ कर्म करता है उस वचनका ग्रहण है। अत वचन विशेषको उत्पन्न न करना वचनका परिहार है और वही वचन गुप्ति है। अथवा समस्त प्रकारके वचनोका परिहार रूप मौन वचनगुप्ति है। अयोग्य वचनमे अप्रवृत्ति वचनगुप्ति है। प्रेक्षापूर्वकारी होनेसे वह योग्य वचन बोले या न बोले। किन्तु योग्य वचन बोलना—उसका कर्ता होना भाषासमिति है। अत. गुप्ति और

---

१ वाचा—अ० आ० ज०।

योग्यवचस कर्तृता ततो महान्भेदो गुप्तिसमित्यो । मौन वाग्गुप्तिरत्र स्फुटतरो वचोभेद । योग्यस्य वचस प्रवर्तकता । वाच कस्याश्चित्तदनुत्पादकतेति ॥११८१॥

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥११८२॥

'कायकिरियाणियत्ती' कायस्यौदारिकादे शरीरस्य या क्रिया तस्या निवृत्ति 'सरीरगे गुत्ती' शरीरविषया गुप्ति कायगुप्तिरिति यावत् । आसनस्थानशयनादीना क्रियात्वात् तासा चात्मना [1]प्रवर्तितत्वात् कथमात्मन कायक्रियाभ्यो व्यावृत्ति । अथ मत, कायस्य पर्याय क्रिया, कायाच्चार्थान्तरमात्मा ततो द्रव्यान्तरपर्यायात् द्रव्यान्तर तत्परिणामशून्य तथाऽपरिणत व्यावृत्त भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरात्मनो भण्यते । सर्वेषामेवात्मनामित्थ कायगुप्ति स्यात् न चेष्टेति ।

अत्रोच्यते—कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया कायशब्देनोच्यते । तस्या कारणभूतात्मन क्रिया कायक्रिया तस्य निवृत्ति । 'काउस्सग्गो' कायोत्सर्ग शरीरस्याशुचितामसारतामापन्निमित्तता चावेत्य तद्गतममतापरिहार कायगुप्ति । अन्यथा शरीरमायु श्रृङ्खलावबद्ध त्यक्तु न शक्यते इत्यसम्भव कायोत्सर्गस्य । धातूनामनेकार्थत्वात् गुप्तिर्निवृत्तिवचन इहेति सूत्रकाराभिप्रायोऽन्यथा 'कायकिरियाणिवत्ती सरीरगे गुत्ती' इति कथ ब्रूयात् । कायोत्सर्गग्रहणेन निश्चलता भण्यते । यद्येव कायकिरियाणिवत्ती इति न वक्तव्य, कायोत्सर्ग काय-

---

समितिमे महान् अन्तर है। मौन वचन गुप्ति है ऐसा कहने पर गुप्ति और समितिका भेद स्पष्ट हो जाता है। समिति योग्य वचनमे प्रवृत्ति कराती है। और गुप्ति किसी वचनकी उत्पादक नही है ॥११८१॥

गा०–टी०—काय अर्थात् औदारिक आदि शरीरकी जो क्रिया है उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है।

शङ्का—बैठना, ठहरना, सोना आदि क्रियाएँ हैं। और वे क्रियाएँ आत्माके द्वारा प्रवर्तित हैं। तब आत्मा कायकी क्रियाओंसे कैसे निवृत्त हो सकता है। यदि कहोगे कि क्रिया कायकी पर्याय है और कायसे आत्मा भिन्न है। अत द्रव्यान्तर कायकी पर्यायसे द्रव्यान्तर आत्मा उस पर्यायमे रहित होनेसे कायकी पर्यायरूप परिणत नही होता अत उससे वह निवृत्त है और इसीको आत्माकी कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति कही है। तो इस प्रकारसे सभी आत्माओके कायगुप्तिका प्रसग आता है।

समाधान—कायशब्दसे कायसम्बन्धी क्रिया कही है। उसकी कारणभूत आत्माकी क्रिया कायक्रिया है और उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है। अथवा कायोत्सर्ग अर्थात् शरीरकी अपवित्रता, असारता और आपत्तिमे निमित्तपना जानकर उसमे ममत्व न करना कायगुप्ति है। अन्यथा शरीर तो आयुकी साकलसे बंधा है। जब तक आयु है शरीरका त्याग नहीं किया जा सकता। यदि शरीर त्यागको कायोत्सर्ग कहेंगे तो कायोत्सर्ग असम्भव हो जायगा। धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं अत यहाँ गुप्तिका अर्थ निवृत्ति है ऐसा गाथासूत्रकार आचार्यका अभिप्राय है। यदि ऐसा न होता तो 'कायक्रिया निवृत्ति शरीर गुप्ति है' ऐसा कैसे कहते।

---

१ प्रवर्तकत्वात् कथमात्मन कार्या क्रियाभ्यो–आ० मु०।

गुप्तिरित्येतदेव वाच्य इति चेत् न कायविषय ममेदभावरहितत्वमात्रमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य प्रवृत्ते धावनगमनलङ्घनादिक्रियासु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्ति स्यात् नेष्यते । अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्येतावदुच्यते मूर्च्छापिरिगतस्यापि अपरिस्पन्दता विद्यते इति कायगुप्ति स्यात् । तत उभयोपादान व्यभिचारनिवृत्तये । कर्मादाननिमित्तसकलकायक्रियानिवृत्ति कायगोचरममतात्यागपरा वा कायगुप्तिरिति सूत्रार्थ । 'हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा' हिंसादिनिवृत्तीर्वा शरीरगुप्तिरिति दृष्टा जिनागमे, प्राणिप्राणवियोजन, अदत्तादान, मिथुनकर्म शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका या विशिष्टा क्रिया सेह कायशब्देनोच्यते । कायिकोपक्रतेर्गुप्तिर्व्यावृत्ति कायगुप्तिरिति व्याख्यात सूरिणा ॥११८२ ।

छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो ।
तह पावस्स णिरोहे ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥११८३॥

छेत्तस्स वदी' क्षेत्रस्य वृति **'नगरस्य खातिका अथवा पागारो** अथवा प्राकारो भवति नगरस्य । **'तधा पावस्स णिरोधो'** पापस्य निराध उपाय । **'ताओ गुत्तीओ'** ता गुप्तय साधो ॥११८३॥

तम्हा तिविहेवि तुम मणवचिकायप्पओगजोगम्मि ।
होहि सुसमाहिदमदी णिरंतर झाणसज्झाए ॥११८४॥

'तम्हा तिविधेण मणवचिकायपओगजोगम्मि' मनोवाक्कायविषये प्रकृष्टे योगे । **'तुम'** त्व । **'सुसमा-**

शङ्का – यदि कायोत्सर्गसे निश्चलता कही जाती है तो 'कायक्रियानिवृत्ति कायगुप्ति है' ऐसा नही कहना चाहिए । किन्तु कायोत्सर्ग कायगुप्ति है ऐसा ही कहना चाहिए ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि कायमे यह मेरा है' इस भावके न होने मात्रकी अपेक्षासे कायोत्सग शब्दको प्रवृत्ति होती है । किन्तु यदि कायगुप्ति यही है तो दौडना, जाना, लाघना आदि क्रियाओंको करते हुए भी कायगुप्ति हो सकेगी । किन्तु ऐसा नही माना जाता । और 'कायक्रियाकी निवृत्ति कायगुप्ति है' इतना ही कहा जाता है तो मूर्छित अवस्थामे भी कायक्रियाको निवृत्ति होनेसे कायगुप्तिका प्रसग आता है । इसलिए व्यभिचार दोषकी निवृत्तिके लिए दोनोका ग्रहण गाथामे किया है ।

अत कर्मके ग्रहणमे निमित्त समस्त कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति और कायविषयक ममत्वका त्याग कायगुप्ति है, यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

अथवा आगममे हिंसा आदिसे निवृत्तिको कायगुप्ति कहा है । यहाँ काय शब्दसे प्राणियोके प्राणोका घात, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, शरीरसे मैथुन कर्म और परिग्रहका ग्रहण इत्यादि विशिष्ट क्रिया कही गई है । कायिक क्रियाओंसे गुप्ति अर्थात् व्यावृत्ति कायगुप्ति है ऐसा आचार्यने व्याख्यान किया है ॥११८२॥

गा०—जैसे खेतकी बाड और नगरकी खाई अथवा चारदिवारी होती है वैसे ही पापको रोकनेमे साधुकी गुप्तिया होती है ॥११८३॥

गा०—इसलिए हे क्षपक ! तुम निरन्तर ध्यान और स्वाध्यायमे लगे रहकर मन वचन काय विषयक तीन प्रकारके प्रकृष्ट योगमे सावधान रहो । क्योकि ध्यान और स्वाध्यायके विना गुप्तियाँ नही ठहरती ॥११८४॥

हिदमदो होहि' सुष्टु समाहितमतिर्भव । कथ ? 'णिरतर ज्झाणसज्झाए' निरन्तरप्रवृत्तध्यानस्वाध्याये । न हि ध्यानस्वाध्यायावन्तरेण गुप्तयोऽवतिष्ठन्त इति भाव ॥११८४॥

समितिव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तत्रेर्यासमितिनिरूपणायोत्तरा गाथा—

मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ।
सुत्ताणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवयणम्मि ॥११८५॥

'मग्गुज्जोवुपओगालबणसुद्धीहि' मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धिरुपयोगशुद्धिश्चालम्बनशुद्धिरिति चतस्र शुद्धयस्ताभि करणभूताभि । 'इरियदो' गच्छत । 'मुणिणो' मुने । 'सुत्ताणुवीचि' सूत्रानुसारेण । 'भणिदा' कथिता । 'इरियासमिदी' ईर्यासमिति । 'पवयणम्मि' प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम अप्रचुरपिपीलिकादित्रसता, बीजाङ्कुरतृणहरितपलाशकर्दमादिरहितता । स्फुटतरता व्यापिता च उद्योतशुद्धि । निशाकरनक्षत्रादीनामस्फुट प्रकाश, अव्यापी प्रदीपादिप्रकाश । [1]पादोद्धारनिक्षेपदेशजीवपरिहरणावहितचेतस्ता उपयोगशुद्धि । गुरुतीर्थचैत्ययतिवन्दनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहण, सयतप्रायोग्यक्षेत्रमार्गण, वैयावृत्यकरण, अनियतावासस्वास्थ्यसम्पादने श्रमपराजय, नानादेशभाषाशिक्षण, विनेयजनप्रतिबोधन चेति प्रयोजनापेक्षया आलम्बनशुद्धि । कि तत् सूत्रानुसारिगमन, अद्रुत, नातिविलम्बित, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्ति, अविकृष्टचरणन्यास, भयविस्मयान्तरेणासलील [2]मनत्युत्क्षेप परिहृतलङ्घनधावन प्रविलम्बितभुज, निर्विकार, अचपलमसभ्रान्तमनूर्ध्वतिर्यक्प्रेक्षण, हस्तमात्रपरिहृततरुणतृणपल्लव, अकृतपशुपक्षिमृगोद्वेजन, विरुद्धयोनिसक्रमणजातबाधाव्युदासाय

आगे समितिका व्याख्यान करते हैं। प्रथम ईर्यासमितिका कथन करते हैं—

गा०-टी०—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन शुद्धि, इन चार शुद्धियोके द्वारा सूत्रके अनुसार गमन करते हुए मुनिके प्रवचनमे ईर्यासमिति कही है।

मार्गमे चीटी आदि त्रस जीवोकी अधिकताका न होना तथा बीज, अकुर, तृण, हरे पत्ते और कीचड आदिका न होना मार्गशुद्धि है। सूर्यके प्रकाशका स्पष्ट फैलाव और उसकी व्यापकता उद्योतशुद्धि है। चन्द्रमा नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश व्यापक नही होता। पैर उठाने और रखनेके देशमे जीवोकी रक्षामे चित्तकी सावधानता उपयोग शुद्धि है। गुरु, तीर्थ, चैत्य और यतिकी वन्दनाके लिए गमन करना आदि किसीके पास शास्त्रका अपूर्व अर्थ या अपूर्व शास्त्रके अर्थका ग्रहण करनेके लिए गमन करना, मुनियोंके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए गमन करना, वैयावृत्य करनेके उद्देशसे गमन करना, अनियत आवासके उद्देशमे गमन करना, स्वास्थ्य लाभके लिए गमन करना, श्रमपर विजय पानेके लिए गमन करना, नाना देशोकी भाषा सीखनेके लिए गमन करना, शिष्य समुदायका प्रतिबोधन करनेके लिए गमन करना, इत्यादि प्रयोजनोकी अपेक्षा गमन करना आलम्बन शुद्धि है।

सूत्रानुसार गमन इस प्रकार है—न बहुत जल्दी और न बहुत विलम्बसे सामने युगमात्र भूमि देखकर चलना, पादनिक्षेप अधिक दूर न करना, भय और आश्चर्यके बिना गमन करना, लीलापूर्वक गमन न करना, पैर अधिक ऊँचा न उठाते हुए गमन करना, लाघना दौडना आदि नही, दोनो भुजा लटकाकर गमन करना, विकार रहित, चपलता रहित, ऊपर तिर्यक् अवलोकन

---

१ पादोपरिवि-अ०आ० । २ मनत्क्षेप-अ० । मनन्यत्रक्षेप आ० । मनत्युत्क्षेप-मूलारा० ।

कृतानुकृत्यतिरेगेन, अप्रतिसारितप्रतिमार्गायामिघट्टन दुष्टधेनुबलीवर्दसारमेयादिपरिहृतिचतुर, परिहृतबुस-तुषमषीभस्मार्द्रगोमयतृणनिचयजलोपलफलक, दूरीकृतचोरीकलह, [2]अनारूढमक्रम निरूपयता यतेरीर्यासमिति ॥११८५॥

भाषासमितिनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ।

वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा ॥११८६॥

चतुर्विधा वाक्—सत्या, मृषा, सत्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति । सता हिता सत्या । न सत्या न च मृषा या सा असच्चमोसा । द्विप्रकारा वाचमित्यभता । 'अलिगादिदोसवज्ज' व्यलीकता अर्थाभाव, पारुष्य, पैशुन्यमित्यादिदोषरहित । 'अणवज्ज' पापास्रवो न भवति इत्यनवद्य । 'वदमाणस्स' व्याहरत । 'अणुवीचि' सूत्रानुसारेण 'भासासमिदी सुद्धा हवदि' भाषासमिति शुद्धा भवति ॥११८६॥

सत्यवचनभेदं निरूपयति—

जणवदसमदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे ।

संभावणववहारे भावेणोपम्मसच्चेण ॥११८७॥

'जणवदसमदि' नानाजनपदप्रसिद्धा गुणवेतानुविधायिनी वाणी जनपदसत्य । गच्छति इति गौ, गर्ज-

---

रहित गमन करना, तरुण तृण पत्तोसे एक हाथ दूर रहते हुए गमन करना, पशु पक्षी और मृगोंको भयभीत न करते हुए गमन करना, विरुद्ध योनिवाले जीवोंके मध्यसे जानेपर उनको होनेवाली बाधाको दूर करनेके लिए पीछीमे अपने शरीरको बारबार प्रतिलेखना करते हुए गमन करना, सामनेसे आते हुए मनुष्योंसे न टकराते हुए गमन करना, दुष्ट गाय, दुष्ट बैल, कुत्ता आदिसे चतुरतापूर्वक बचते हुए गमन करना, भुस, तुष, मसी, गीला गोबर, तृणसमूह, जल, पाषाण और लकडीके तख्तसे बचकर गमन करना, चोरी और कलहसे दूर रहना और पुलपर न चढना । ये सब करते हुए गमन करना ईर्यासमिति है ॥११८५॥

आगे भाषासमितिका कथन करते हैं—

गा०—वचनके चार प्रकार हैं—सत्य, असत्य, सत्यसहित असत्य और असत्यमृषा । सज्जनोंके हितकारी वचनको सत्य कहते हैं । जो वचन न सत्य होता है और न असत्य उसे असत्यमृषा कहते हैं । इस प्रकार सत्य और असत्यमृषा वचनको बोलना तथा असत्य, कठोरता, चुगली आदि दोषोंसे रहित और अनवद्य अर्थात् जिससे पापका आस्रव न हो ऐसा वचन सूत्रानुसार बोलनेवालेके शुद्ध भाषासमिति होती है ॥११८६॥

सत्यवचनके भेद कहते हैं—

गा०—जनपद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, सम्भावना सत्य, व्यवहार सत्य, भाव सत्य और उपमा सत्य इस प्रकार सत्यवचनके दस भेद हैं।

टी०—विभिन्न जनपदोंमे जो उस उस जनपदके संकेतके अनुसार प्रचलित वाणी है वह

१ यदक्रो–अ० । २ अनूढ–अ० ।

तीनि गज इत्येवमादिका अवयवार्थानुगमाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता। सम्मतिशब्देन सस्थानाभ्युपगम उच्यते। गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिका शब्दा शुभलक्षणयोगात् केषाञ्चित स्वतो लक्षणत्वा नामीश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य क्वचिद्गजे मानवे वा प्रयुज्यमाना सम्मतिसत्यशब्देनोच्यन्ते। अर्हन्निन्द्र स्कन्द इत्येवमादय सद्भावासद्भावस्थापनाविषया स्थापनासत्य। अरिहनन, रजोहनन, इन्दन इत्येवमादीना क्रियाणा तत्राभावाद्व्यलीकता नाशङ्कनीया आकारमात्रे परमार्थत्वात्सवभावाना। तस्य च स्थापनाया वस्त्वास्तित्वाद् बुद्धिपरिग्रहेण वा सद्भावात। इन्द्रादिसज्ञा स्वप्रवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयसम्बन्धपरिणतिमात्रेण वस्तुन प्रवृत्ता नामसत्य। रूपग्रहण उपलक्षण प्रवृत्तिनिमित्ताना नीलमुत्पल धवलो हि मृगलाञ्छन इत्येवमादिक रूपसत्य। सम्बन्ध्यन्तरापेक्षाभिव्यग्य च वस्तुस्वरूपालम्बन दीर्घो ह्रस्व इत्येवमादिक प्रतीत्यसत्य। वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात सम्भावनया वृत्त सम्भावनासत्य। अपि दोर्भ्या समुद्र तरेत्, शिरसा पर्वत भिन्द्यात् इत्यादि। वर्तमानकाले स परिणामो यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानागत-

---

जनपद सत्य है। जैसे गमन करे वह गाय है गर्जन करे वह गज—हाथी है। यद्यपि गमनरूप और गर्जनरूप अर्थ नहीं होनेपर भी इन अर्थोकी प्रवृत्तिमे निमित्तभूत वाणी जनपद सत्य है। अर्थात् जैसे गाय और गजशब्द गमन और गर्जन अर्थको लेकर निष्पन्न हुए हैं और उनका सकेत गाय और गजमे किया गया है। गाय बैठी हो तब भी उसे गाय कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक देशकी भाषामे शब्द जनपद सत्य हैं।

सम्मति शब्दसे आकार विशेषकी स्वीकृति कही जाती है। जैसे गजेन्द्र नरेन्द्र इत्यादि शब्द शुभलक्षणके योगसे व्यवहृत होते हैं। किन्हीमे स्वय शुभलक्षण पाये जानेसे उन्हे इन्द्र या ईश्वरके रूपमे स्वीकार करके किसी गजको गजेन्द्र या मनुष्यको सुरेन्द्र कहना सम्मति सत्य है। किसी तदाकार या अतदाकार वस्तुमे अर्हन्त, इन्द्र या स्कन्दकी स्थापना करके उसे अर्हन्त आदि कहना स्थापना सत्य है। मूर्तिमे स्थापित अर्हन्त या इन्द्रमे अर्हन्तशब्दका अर्थ अरि—कर्मशत्रुका हनन करना या कर्मरजका हनन करना और इन्द्र शब्दका अर्थ इन्दन क्रिया नही पाई जाती, इसलिए उसमे असत्यपनेकी आशका नही करनी चाहिए। क्योकि सभी पदार्थ आकारमात्रमे परमार्थ माने जाते हैं। और वह आकार तदाकार स्थापनामे वस्तुरूपसे रहता है अथवा अतदाकार स्थापनामे उसमे उस प्रकारकी बुद्धि कर ली जाती है।

इन्द्रादि नामोकी प्रवृत्तिमे निमित्त जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यकी अपेक्षा न करके जो उस शब्दका अपने वाच्यार्थके साथ सम्बन्ध है केवल उसी दृष्टिसे रखा वस्तुका इन्द्रादि नाम नामसत्य है। रूपका ग्रहण शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्तोका उपलक्षण है। जैसे कमलका नीला रूप देखकर नीलकमल कहना या चन्द्रमा सफेद कहना रूप सत्य है। अन्य वस्तुके सम्बन्धसे व्यक्त होनेवाला वस्तुका स्वरूप प्रतीत्य सत्य है जैसे किसीको लम्बा या ठिगना कहना।

वस्तुमे वैसा नही होने पर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यता देखकर जो सभावना मूलक वचन है वह सभावना सत्य है। जैसे कहना अमुक व्यक्ति हाथोंसे समुद्र पार कर सकता है या सिरसे पर्वत तोड सकता है। इत्यादि। यद्यपि वर्तमान कालमे वस्तुमे वह परिणाम नही है तथापि

---

१ सन्दमा—आ०। सन्वादी—मु०। सावासी—मूलारा०।

परिणामा[1] इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि वचांसि ओदनं पच, कटं कुर्वित्येवमादीनि व्यवहारसत्यं। अहिंसालक्षणो भाव पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्यं निरीक्ष्य स्वप्रयताचारो भवेत्येवमादिकं। पल्योपममागरोपमादिकमुपमा सत्यम् ॥११८७॥

मृषादिवचनत्रयलक्षणं कथयन्ति—

तव्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सच्चमोसं तं।
तव्विवरीया भासा असच्चमोसा हवे दिट्ठा ॥११८८॥

'तव्विवरीदं' सत्यविपरीतं। मोसं' मृषा। 'असदभिधानमनृतं' [त० सू० ७।] इति वचनात्। मिथ्याज्ञानमिथ्यादर्शनयोरसंयमस्य वा निमित्तं वचनमसदभिधानं अप्रशस्तं तत्सत्यविपरीतं। 'तं उभयं' तत्सत्यमनृतं च उभयं। जत्थ' यस्मिन् वाक्ये। 'तं' तद्वाक्यं। 'सच्चमोसं' सत्यमृषेत्युच्यते। तव्विवरीदा भासा' सत्यादनृतान्मिश्राच्च पृथग्भूता। भासा' भाषा वचनं 'असच्चमोसा' असत्यमृषेति। 'हवे' भवेत्। 'दिट्ठा' दृष्टा पूर्वागमेषु। एकान्तेन न सत्या नापि मृषा नोभयमिश्रा किंतु जात्यन्तरं यथा वस्तु नैकान्तेन नित्यं नापि अनित्यं नापि सर्वथा एकान्तयो समुच्चयं किंतु कथंचिद्रूपान्नित्यानित्यात्मकं। एवमियं भारती ॥११८८॥

सा नवप्रकारा तस्याश्च भेदा[2] इयन्त इति गाथाद्वयेनाचष्टे—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥११८९॥

अतीत और अनागत परिणाम रूप यही द्रव्य है ऐसा मानकर किया गया वचन व्यवहार सत्य है जैसे भात पकाओ या चटाई बुनो। ये दोनो परिणाम वर्तमानमे नही है क्योकि चावल पकने पर भात बनेगा और बुनने पर चटाई होगी। फिर भी अनागत परिणामकी अपेक्षा इनका व्यवहार होता है। जिस वचनके द्वारा अहिंसा रूप भाव पाला जाता है वह वचन भाव सत्य है। जैसे देखकर सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करो आदि। पल्योपम, सागरोपम आदिका जो कथन आगममें कहा है वह उपमा सत्य है ॥११८७॥

असत्य आदि तीन वचनोका लक्षण कहते है—

गा०-टी०—सत्यसे विपरीत वचन असत्य है। तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है 'असत् कहना झूठ है।' जो वचन मिथ्याज्ञानमे, मिथ्याश्रद्धानमे और असयममें निमित्त होता है वह वचन असत् कथन रूप होनेसे अप्रशस्त है। अत सत्यसे विपरीत है। जो वचन सत्य और असत्य दोनो रूप होता है वह वचन सत्यमृषा है। जो वचन सत्य, असत्य और सत्य असत्यसे विपरीत होता है उसे पूर्व आगमोमे असत्यमृषा कहा है। वह वचन न तो एकान्तसे सत्य होता है न एकान्तसे असत्य होता है और न सत्यासत्य होता है किन्तु जात्यन्तर होता है। जैसे वस्तु न तो एकान्तसे नित्य है, न अनित्य है और न सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य है, किन्तु कथचित् नित्यानित्य है। उसी प्रकार यह असत्यमृषा वचन भी होता है ॥११८८॥

उस असत्यमृषा वचनके नौ भेद दो गाथाओंसे कहते हैं—

---

१ सम्प्रति इद–मु०। भिधेयाग–आ० मु०। २ दा यत इति–अ०। दा य इति–आ०।

'आमतणी' यया वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमन्त्रणी। हे देवदत्त इत्यादि। अगृहीतसंकेत नाभिमुखी करोति इति न सत्यैकान्तेन गृहीतमभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतसंकेतयो प्रतीतिनिमित्तमनिमित्त चेति द्वयात्मकता। स्वाध्याय कुरुत, विरमतामसयमात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आणवणी। चोदितायां क्रियायां करणमकरण वापेक्ष्य नैकान्तेन सत्या न मृषैव वा। 'जायणी' ज्ञानोपकरण पिच्छादिक वा भवद्भिर्दातव्य इत्यादिका याचनी। दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा। निरोध[1] वेदनास्ति भवता न वेति प्रश्नवाक् 'सपुच्छणी'। यद्यस्ति सत्या न चेदितरा इति। वेदनाभावाभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता। 'पण्णवणी' नाम धर्म्मकथा। सा बहून्निर्दिश्य प्रवृत्ता कैश्चिन्मनसि करणमितरैरकरण चापेक्ष्य द्विरूपा। 'पच्चक्खाणी' नाम केनचिदगुरुमननुज्ञाप्य इद क्षीरादिक इयन्त काल मया प्रत्याख्यात इत्युक्त कार्यान्तरमुद्दिश्य[2] तत्कुर्वित्युदित गुरुणा प्रत्याख्यानावधिकालो[3] न पूर्ण इति नैकान्तत सत्यता गुरुवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति न मृषैकान्त। 'इच्छानुलोमा य' ज्वरितेन पृष्ट घृतशर्करामिश्र क्षीर न शोभनमिति। यदि परो ब्रूयात शोभनमिति माधुर्यादि-

गा०—आमन्त्रणी आणवणी, याचनी, सपुच्छणी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी और इच्छानुलोमा।

टी०—जिस वचनसे दूसरेको बुलाया जाता है वह आमन्त्रणी भाषा है। जैसे हे देवदत्त। यह वचन जिसने संकेत ग्रहण नही किया उसे बुलाने वालेके अभिमुख नही करता अर्थात् वह बुलाने पर नही आता। इसलिए यह वचन सत्य भी नही है और जिसने सर्वथा सकेत ग्रहण किया है उसे अभिमुख करता है इसलिए असत्य भी नही है। इस तरह यह वचन गृहीत सकेत वालेको तो प्रतीति करानेमे निमित्त होता है किन्तु जिसने सकेत ग्रहण नही किया उसको प्रतीति करानेमें निमित्त नही होनेमें दो रूप है। 'स्वाध्याय करो, असयमसे विरत होओ,' इत्यादि अनुशासन वचन आणवणी है। जो काम करनेकी प्रेरणा की गई है वह करने या करनेकी अपेक्षा यह वचन न तो एकान्तसे सत्य है और न एकान्तसे असत्य है। आप मुझे ज्ञानके उपकरण अथवा पीछी आदि प्रदान करें, इत्यादि वचन याचनी भाषा है। यह भी दाताकी अपेक्षा पहलेकी तरह न तो सर्वथा सत्य है और न सर्वथा असत्य है क्योकि मांगने पर दाता दे भी सकता है और नही भी दे सकता।

आपकी वेदना—कष्ट रुका या नही ? या निरोध—जेलमे आपको कष्ट है या नही ? इस प्रकार पूछना सपृच्छनी भाषा है। यदि वेदना है तो सत्य है, नही है तो मिथ्या है। इस प्रकार वेदनाके भाव और अभावकी अपेक्षासे प्रवृत्त होनेसे यह वचन उभयरूप है।

धर्मकथाको पण्णवणी या प्रज्ञापनी कहते हैं। यह बहुतसे श्रोताओंको लक्ष करके होती है अत कुछ तो अपने मनमे उसका पालन करनेका विचार करते हैं और कुछ नही करते। इस अपेक्षा यह भी उभयरूप है। प्रत्याख्यानी भाषा इस प्रकार है—किसीने गुरुसे निवेदन किये विना यह दूध आदि मैंने इतने कालतक त्यागा' ऐसा नियम किया। किसी अन्य कार्यको लक्ष करके गुरुने कहा ऐसा करो। उसके त्याग करनेकी मर्यादाका काल पूरा नही हुआ, इसलिए उसका प्रत्याख्यान सर्वथा सत्य नही है और गुरुकी आज्ञासे उसने त्यागी हुई वस्तुमे प्रवृत्ति की इसलिए दोष भी न होनेसे सर्वथा असत्य भी नही है।

इच्छानुलोमा भाषा इस प्रकार है—किसी ज्वरके रोगीने पूछा—घी और शक्कर मिला

१ धो वेदनाया अस्ति–आ०। निरोधो वेदनास्ति–ज० २ श्य तद्गुरुहित–ज० श्य तम्हित्वगु–अ०। श्य तद्गुहित ग–आ०। ३ कालेन पूर्व इति–अ०। कालो न पूर्व इति–ज०।

प्रशस्यगुणसद्भाव ज्वरवृद्धिनिमित्तता चापेक्ष्य न शोभनमिति वचो मृषैकान्ततो नापि सत्यमेवेति द्वयात्मकता ॥११८९॥

ससयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा ।
णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया ॥११९०॥

'ससयवयणी' किमयं स्थाणुरुत पुरुष इत्यादिका द्वयोरेकस्य सद्भावमितरस्याभाव चापेक्ष्य द्विरूपता । 'अणक्खरगदा' अङ्गुलिस्फोटादिध्वनि कृताकृतसंकेतपुरुषापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्तता च प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा ॥११९०॥

उग्गमउप्पायणएसणाहिं पिंडमुवधिं सेज्जं च ।
सोधिंतस्स य मुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ॥११९१॥

'उग्गमउप्पादणएसणाहिं' उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितं भक्तमुपकरणं वसतिं च गृह्णत एषणासमितिर्भवतीति सूत्रार्थ । दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यन्ते ॥११९१॥

आदाननिक्षेपणसमितिनिरूपणा गाथा—

सहसाणाभोगिददुप्पमज्जिय अपच्चवेक्खणा दोसो ।
परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवो ॥११९२॥

'सहसाणाभोगिद' आलोकनप्रमार्जने कृत्वा आदान निक्षेप इत्येको भङ्ग । अनालोक्य प्रमार्जन कृत्वा

दूध उत्तम नहीं है ? यदि दूसरा कहे कि माधुर्य आदि प्रशस्त गुणोंकी अपेक्षा तो उत्तम है किन्तु ज्वरको बढ़ानेवाला होनेसे उत्तम नहीं है तो इस प्रकारके वचन न सर्वथा असत्य हैं और न सर्वथा सत्य हैं किन्तु दोनों रूप होनेसे उभयात्मक हैं। यहाँ उभयात्मकसे इन वचनोंको सत्य और असत्यरूप नहीं समझना चाहिए। किन्तु सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं अर्थात् अनुभयरूप समझना चाहिए ॥११८९॥

गा०—आठवीं असत्यमृषा भाषा संशय वचनों हैं। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष। दोनोंमेंसे एकके सद्भाव और दूसरेके अभावकी अपेक्षा यह वचन उभयरूप है। और नौवीं असत्यमृषा भाषा अनक्षरात्मक भाषा है। जैसे अंगुलि चटकाने आदिका शब्द। जिस पुरुषने संकेत ग्रहण किया है उसे तो ध्वनिसे प्रतीति होती है दूसरेको नहीं होती। इस तरह यह वचन उभयरूप है ॥११९०॥

अब एषणा समितिका कथन करते हैं—

गा०—उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित भोजन, उपकरण और वसतिको ग्रहण करनेवाले मुनिकी एषणा समिति निर्मल होती है ॥११९१॥

आदाननिक्षेपण समितिका कथन करते हैं—

गा०-टी०—बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना

आदान निक्षेपो वेति द्वितीयो भङ्ग । आलोक्य दु प्रमृष्ट इति तृतीय । आलोकित प्रमृष्ट च न पुनरालोकित शुद्ध न शुद्ध वेति चतुर्थो भङ्ग । एतद्दोषचतुष्टय परिहरतो भवति आदाननिक्षेपणसमिति ॥११९२॥

एदेण चेव पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिया होदि ।
वोसरणिज्जं दव्वं थंडिल्ले वोसरितस्स ॥११९३॥

'एदेण चेव' आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन । 'पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिदा होदि' प्रतिष्ठापनसमिति-र्वर्णिता भवति । 'वोसरणिज्ज' परित्यक्तव्य मूत्रपुरीषादिक मल । 'थडिल्ले वोसरितस्स' स्थडिले निर्जन्तुके, निश्छिद्रे, समे व्युत्सृजत ॥११९३॥

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु ।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहू ॥११९४॥

'एदाहिं समिदीहिं एताभि । 'सदा जुत्तो' सदा युक्त । 'जगम्मि विहरमाणो दु' जगति विचरन्नपि । कीदृशो ? जीवणिकायाउले' षड्जीवनिकायाकीर्णे । हिंसादीहिं' हिंसादिभि । 'ण लिप्पदि' न लिप्यते साधु । आदिग्रहणेन परितापन, सघट्टन, अङ्गन्यूनताकरणादिपरिग्रह । समितिषु प्रवर्तमान प्रमादरहित । प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसेत्युच्यते' । हिंसादिसहितानि कर्माणि हिंसादिशब्देनोच्यन्ते । कार्ये कारणशब्द-प्रवृत्ति [1]प्रतीततरत्वात् ॥११९४॥

यद्यपि विवर्जननिमित्तगुणान्वित तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणान्वित तामरसपत्र

सहसा नामक प्रथम दोष है। बिना देखे प्रमार्जन करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है। देखकर भी सम्यक् प्रतिलेखना न करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना दुष्प्रमृष्ट नामक तीसरा दोष है। देखा भी और प्रमार्जन भी किया किन्तु यह शुद्ध है या अशुद्ध, यह नही देखा यह चतुर्थ अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है। इन चारो दोषोको जो दूर करता है उसके आदान निक्षेपण समिति होती है ॥११९२॥

प्रतिष्ठापन समिति कहते हैं—

गा०—आदान और निक्षेप विषयक सावधानताका कथन करनेसे प्रतिष्ठापन समितिका कथन हो जाता है। त्यागने योग्य मूत्र विष्टा आदिको जन्तुरहित और छिद्ररहित समभूमिमें त्यागना प्रतिष्ठापन समिति है ॥११९३॥

गा०-टी०—इन पाँच समितियोका सदा पालन करनेवाला मुनि छ प्रकारके जीवनिकायो-से भरे हुए लोकमे गमनागमन आदि करता हुआ भी हिंसा आदिमे लिप्त नही होता। 'आदि' शब्दसे छहकायके जीवोको कष्ट देना उनका परस्परमे सघट्टन करना, उनके अग उपागोको छिन्न-भिन्न करना आदि पापोसे लिप्त नही होता। समितियोमे प्रवृत्ति करते हुए मुनि प्रमादसे रहित होता है। और प्रमत्तयोगसे प्राणोके घातको हिंसा कहा है। हिंसा आदिसे सहित कर्म हिंसा आदि शब्दसे कहे जाते है। क्योकि कार्यमे कारणशब्दकी प्रवृत्ति अति प्रसिद्ध है। आदान निक्षेपमे निमित्त गुणोसे युक्त मुनि प्रवृत्ति करते हुए भी हिंसा आदि पापसे लिप्त नही होता ॥११९४॥

जैसे चिक्कणगुणसे युक्त कमल नीलमणिके समान निर्मल जलमे सदा रहते हुए भी

---

१. प्रतीतिमात्रत्वात् । यद्यपि–आ० ।

वाचनीलनीरनिरन्तरवत्यपि नाम्बुना लिप्यते। निरन्तरनिचितजीवनिकायाकुलेऽपि जगति सञ्चरन्नपि मुनिर्न लिप्यते' अप्रमततया प्रवृत्त पञ्चसु समितिष्विति कथयति—

पउमणिपत्त व जहा उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्त ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो ॥११९५॥

पउमणिपत्त' इत्यनया गाथया-पद्मपत्र यथा नोदकेन विलिप्यते स्नेहगुणसमन्वित । तथा कायेसु शरीरेषु प्राणभृता प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते साधु समितिभिर्हेतुभूताभि ॥११९५॥

सरवासे वि पडते जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहि ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो ॥११९६॥

सरवासे वि पडते शरवर्षेऽपि पतति सति च रणाङ्गणे यथा दृढकवचो न शरैर्भिद्यत, यथा समिति-भिर्हेतुभूताभिर्न लिप्यते कायेषु वर्तमानो मुनि ॥११९६॥

जत्थेव चरइ बालो परिहारण्हू वि चरइ तत्थेव ।
बज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू वि मुच्चइ सो ॥११९७॥

जत्थव चरइ बालो यत्रैव क्षेत्र चरति जीवपरिहारक्रमानभिज्ञ । परिहारण्हू वि जीवबाधापरिहार-क्रमज्ञोऽपि तत्रैव चरति। तथापि बज्झदि सो पुण बालो' बध्यते पुनरसौ ज्ञानबालश्चारित्रबालश्चासौ। परि-हारण्हू' परिहारज्ञ । मुच्चइ' मुच्यते कर्मलेपात् ॥११९७॥

उक्तमर्थमुपसंहरत्युत्तरगाथया—

तम्हा चेट्ठिदुकामो जइया तइया भवाहि त समिदो ।
समिदो हु अण्णमण्ण णादियदि खवेदि पोराण ॥११९८॥

जलसे लिप्त नही होता। पाँचो समितियामे अप्रमादीरूपमे प्रवृत्ति करनेवाला मुनि भी निरन्तर जीव निकायोंसे भरे हुए जगत्मे गमनागमन करते हुए पापसे लिप्त नही होता। यह कहते हैं—

गा०—जैसे स्नेह गुणसे युक्त कमलपत्र जलसे लिप्त नही होता। उसी प्रकार प्राणियोंके शरीरोंके मध्यमेंसे गमनागमन करते हुए भी साधु समितिका पालन करनेसे पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९५॥

गा०—जैसे दृढ कवचसे युक्त योद्धा युद्धभूमिमे बाणोंकी वर्षा होते हुए भी बाणोंसे नही छिदता। उसी प्रकार षट्कायके जीवोंके मध्यमे विचरण करता हुआ भी समितियोंके कारण हिंसा आदिसे लिप्त नही होता ॥११९६॥

गा०—जीवोंकी हिंसासे बचनेके उपायोंको न जाननेवाला जिस क्षेत्रमे विचरण करता है, जीवोंकी हिंसासे बचनेके उपायोको जाननेवाला भी उसी क्षेत्रमे विचरण करता है। तथापि वह ज्ञान और चारित्रमे बालकके समान अज्ञ तो पापसे बद्ध होता है किन्तु उपायोंको जाननेवाला पापसे लिप्त नहीं होता बल्कि उससे मुक्त होता है ॥११९७॥

आगे उक्त कथनका उपसहार करते हैं—

---

१ प्रते अप्रमत्ततया प्रमत्त प–आ० ज०।

यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न बध्यते, पापेन मुच्यते। असमितस्तु महता बध्यते कर्मसमूहेन 'तम्हा' तस्मात्। 'चेट्ठिदुकामो' गमनभाषणाद्यभिलाषी। 'जइया तइया' यदा तदा। 'त' भवान् 'समिदो भवाहि' समितिपरो भवेति निर्यापकसूरिराह क्षपक। 'समिदो खु' समित सम्यक्प्रवृत्त ईर्यादिषु। 'अण्णमण्ण कम्मं' अन्यत् अन्यत्। प्रत्यग्र। 'णादियदि' नैवादत्ते। 'खवेदि पोराण' प्राक्तन च कर्म क्षपयति निजरति ॥११९८॥

एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदसणचरित्त।
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्त व पयदाओ ॥११९९॥

'एदाओ अट्ठपवयणमादाओ' एता अष्टप्रवचनमातृका 'पयदाओ' प्रयता। 'णाणदसणचरित्त रक्खंति' समीचीनज्ञानदर्शनचारित्राणि पालयन्ति सदा मुने। 'मादा पुत्त व जधा' जननी पुत्र यथा। प्रयता माता पुत्र पालयत्यपायस्थानेभ्य ॥११९९॥

व्रतभावनानिरूपणायोत्तरप्रबन्ध। त्रयोदशा वध चारित्र अखण्डमाराधयतश्चारित्राराधना। तत्र व्रताना स्थैर्य सम्पादयितु भावना एकैकस्य पञ्च पञ्चाभिहितास्तत्रेमा अहिंसाव्रतभावना इति बोधयति।

एषणासमितिर्निरूप्यते—

एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी तहा मणोगुत्ती।
आलोयभोयण वि य अहिंसाए भावणा होंति ॥१२००॥

'एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी' एसणसमिदी एषणासमितिरादाननिक्षेपणासमिति, ईर्यासमितिरतथा मनोगुप्ति। 'आलोयभोअण च' आलोकभोजन च। 'अहिंसाए' अहिंसाव्रतस्य। 'भावणा' भावना। 'होंति' भवन्ति।

भिक्षाकाल, बुभुक्षाकालोऽवग्रहकालश्चेति कालत्रय ज्ञातव्य। ग्रामनगरादिषु इयता कालेन आहार-

---

गा०—टी०—यत समितियोका पालक पापसे लिप्त नहीं होता किन्तु उससे छूटता है और समितिका पालन न करनेवाला महान् कर्मसमूहसे बंधता है अत जब तुम गमन करना या बोलना चाहो तो समितिमे तत्पर रहो। ऐसा निर्यापकाचार्य क्षपकसे कहते है। क्योंकि ईर्या आदिमे सम्यक् प्रवृत्ति करनेवाला नवीन नवीन कर्मोका बन्ध नहीं करता और पूर्वमे बाँधे कर्मो की निर्जरा करता है ॥११९८॥

गा०—जैसे सावधान माता पुत्रकी अनिष्टोसे रक्षा करके उसका पालन करती है। वैसे ही सम्यक् रूपसे पालित ये आठ प्रवचन मातायें मुनिके सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रक्षा करती हैं ॥११९९॥

आगे व्रतोकी भावनाओका कथन करते हैं। जो तेरह प्रकारके चारित्रको निर्दोष आराधना करता है उसके चारित्राराधना होती है। उनमेसे व्रतोको स्थिर करनेके लिए एक-एक व्रतकी पाँच-पाँच भावना कही हैं। उनमेसे अहिंसाव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—टी—एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोक भोजन ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना हैं। उनमेसे एषणा समिति कहते हैं—भिक्षाकाल, बुभुक्षा-काल और अवग्रहकाल ये तीन काल जानना चाहिए। अमुक मासोमे ग्राम नगर आदिमे अमुक

निष्पत्तिर्भवति, अमीषु मासेषु, अस्य वा कुलस्य वाय भोजनकाल इच्छाया प्रमाणादिना भिक्षाकालोऽव-गन्तव्यः । क्षुदद्य मम तीव्रा मन्दा वेति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणीया । अयमवग्रहः पूर्वं गृहीत एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्य इति । अद्यायमवग्रहो ममेति मीमांसा कार्या । तदनन्तरं पुरतो युगान्तरमात्रभूभागाव-लोकनरतः अद्रुतं, अविलम्बितं, असंभ्रान्तं व्रजेत् प्रलम्बबाहुरविकृष्टचरणन्यासो निर्विकार ईषदवनतोत्तमाङ्गः अकर्दमेनानुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्त्मना । दृष्ट्वा तु खरान्, करभान्, बलीवर्दान्, गजान्तुरगान्महिषान्सा-रमेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्दूरतः परिहरेत । पक्षिणो मृगाश्चाहारकालोद्यता वा यथा न बिभ्यति यथा वा स्वमाहारं मुक्त्वा न व्रजन्ति तथा यायात् । मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो गच्छेद्यदि निरन्तरानुप-मार्गितफलादिकं वाग्रतो भवेत मार्गान्तरमस्ति भिन्नवर्णा वा भूमिं प्रविशन्तद्वर्णभूभाग एव अङ्गप्रमार्जनं कुर्यात् । तुषगोमयभस्मबुसपलालनिचयं दलोपलफलादिकं च परिहरेत् । निन्द्यमानो न क्रुध्येत्, पूज्यमानो-ऽपि न तुष्येत् । न गीतनृत्यबहुलं, उच्छ्रितपताकं वा गृहं प्रविशेत् । तथा मत्तानां गृहं न प्रविशेत् । सुरापण्या-ङ्गनालोकगर्हितकुलं वा यज्ञशाला दानशाला, विवाहगृहं वार्यमाणानि रक्ष्यमाणानि, अनुत्तानि च गृहाणि परिहरेत् । दरिद्रकुलानि उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठान्यमध्यानि सममेवाटेत् । द्वारमर्गलं कवाटं वा नोद्घाटयेत् । बालवत्सं एलकं शुनो वा नोल्लङ्घयेत् । पुष्पैः फलैर्बीजैर्वावकीर्णां भूमिं वर्जयेत् तदानीमेव अव-लिप्ता । भिक्षाचरेषु परेषु लाभार्थिषु स्थितेषु तद्गेहं न प्रविशेत् । तथा कुटुम्बिषु व्यग्रविमनस्कदीनमुखेषु च

समय भोजन बनता है अथवा अमुक कुलका या अमुक मुहल्लेका अमुक समय भोजनका है। इस प्रकार इच्छाके प्रमाण आदिसे भिक्षाका काल जानना चाहिए। तथा मेरी भूख आज मन्द है या तीव्र है इस प्रकार अपने शरीरकी स्थितिकी परीक्षा करनी चाहिये। मैंने पहले यह नियम लिया था कि इस प्रकारका आहार मैं नहीं लूँगा और आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार करना चाहिए। उसके पश्चात् आगे केवल चार हाथ प्रमाण जमीन देखते हुए न अधिक शीघ्रता-से न रुक-रुककर किसी प्रकारके वेगके बिना गमन करना चाहिए। गमन करते समय हाथ लटकते हुए हों चरण निक्षेप अधिक अन्तरालसे न हो, शरीर विकाररहित हो, सिर थोड़ा झुका हुआ हो, मार्गमें कीचड़ और जल न हो तथा त्रसजीवों और हरितकायकी बहुलता न हो। यदि मार्गमें गधे ऊँट, बैल, हाथी, घोड़े, भैंसे, कुत्ते अथवा कलह करनेवाले मनुष्य हों तो उस मार्गसे दूर हो जावे। पक्षी और खाते पीते हुए मृग भयभीत न हों और अपना आहार छोड़कर न भागें, इस प्रकारसे गमन करे। आवश्यक होनेपर पीछीसे अपने शरीरकी प्रतिलेखना करे। यदि मार्गमें आगे निरन्तर इधर उधर फलादि पड़े हों, या मार्ग बदलता हो या भिन्न वर्णवाली भूमिमें प्रवेश करना हो तो उस वर्णवाले भूमिभागमें ही पीछीसे अपने शरीरको साफ कर लेना चाहिये। तुष, गोबर, राख, भुस, और घासके ढेरसे तथा पत्ते, फल, पत्थर आदिसे बचते हुए चलना चाहिये, इनपर पैर नहीं पड़ना चाहिये। कोई निन्दा करे तो क्रोध न करे और पूजा करे तो प्रसन्न न हो। जिस घरमें गाना नाचना होता हो, झण्डिया लगी हों उस घरमें न जावे। तथा मतवालोंके घरमें न जावे। शराबी, वेश्या, लोकमें निन्दित कुल, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहवाला घर तथा जिन घरोंमें जानेकी मनाई हो, आगे रक्षक खड़ा हो, सब कोई न जा सकता हो ऐसे घरोंमें नहीं जावे। दरिद्रकुलोंमें और आचारहीन सम्पन्नकुलोंमें भी प्रवेश न करे। बड़े छोटे और मध्यम गृहोंमें एक साथ ही भ्रमण करे। द्वारपर यदि साकल लगी हो या कपाट बन्द हो तो उन्हें खोले नहीं। बालक, बछड़ा, मेढ़ा और कुत्तेको लाँघकर न जावे। जिस भूमिमें पुष्प, फल और बीज फैले हों उसपरसे न जावे। तत्कालकी लिपी भूमिपर न जावे। जिस घरपर अन्य भिक्षार्थी

सत्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षाचर भिक्षामार्गणभूमिमतिक्रम्य न गच्छेत् । याञ्चामव्यक्तस्वन वा स्वागमननिवेदनार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्वां तनु[1] च दर्शयेत् कोऽस्मलभिक्षा दास्यतीति अभिसंधिं न कुर्यात् । रहस्यगृह, वनगृह, कदलीलतागुल्मगृह, नाट्यगान्धर्वशालाश्च अभिनन्द्यमानोऽपि न प्रविशेत् । बहुजनप्रचारे प्राणिरहिते अशुच्यपरोपरोधवर्जिते अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्रे, भूभागे चतुरङ्गुल्पादान्तरो निश्चल कुड्यस्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वार कवाट, प्राकार वा न पश्येत चार इव । दातुरागमनमार्ग अवस्थानदेश, कडुच्छुभाजनादिक च शोधयेत । स्तन प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमान न गृह्णीयात । रोगिणा, अतिवृद्धेन, बालेनोन्मत्तेन पिशाचेन, मुग्धेनान्धेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन, शङ्कितेन, अत्यासन्नेन[2], दूरेण, लज्जाव्यावृतमुख्या, आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्यस्तपादेन वा जनेनोन्नतदेशावस्थितेन वा दीयमान न गृह्णीयात् । न खण्डेन भिन्नेन वा कडच्छुकेन दीयमान कपालोच्छिष्टभाजने पद्मकदलीपत्रादि भाजने निक्षिप्य दीयमान वा मास, मधु, नवनीत, फल [3]अदारित, मूल, पत्र, साङ्कुर, कन्द च वर्जयेत् । तत्संस्पृष्टानि सिद्धान्यपि विपन्नरूपरसगन्धानि, कुथितानि, पुष्पितानि, पुराणानि, जन्तुसंस्पृष्टानि च[4] न दद्यात खादेत, न स्पृशेच्च । उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्ट नाभ्यवहरेत् । नवकोटिपरिशुद्धाहारग्रहणमेषणासमिति ।

भिक्षाके लिए खडे हो उस घरमे प्रवेश न करे। जिस घरके कुटुम्बी घबराये हों, उनके मुखपर विषाद और दीनता हो वहाँ न ठहरे। भिक्षार्थियोके लिए भिक्षा माँगनेकी जो भूमि हो, उस भूमिमें आगे न जावे। अपना आगमन बतलानेके लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करे। बिजली की तरह अपना शरीरमात्र दिखला दे। कौन मुझे निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा भाव न करे। एकान्त घरमें, उद्यान घरमें, केले लता और झाडियोसे बने घरमें, नाट्यशाला और गायनशालामें आदरपूर्वक आतिथ्य पानेपर भी प्रवेश न करे। जहाँ बहुतसे मनुष्योका आना जाना हो, जीव जन्तुसे रहित, अपवित्रता रहित, दूसरेके द्वारा रोक-टोकसे रहित तथा जाने आनेके मार्गसे रहित स्थानमें गृहस्थोकी प्रार्थनामे ठहरे। सम और छिद्ररहित जमीनपर दोनो पैरोके मध्यमें चार अगुलका अन्तर रखकर निश्चल खडा हो और दीवार स्तम्भ आदिका सहारा न ले। चोरकी तरह द्वारमे लगे कपाटोके छिद्र अथवा चार दीवारीके छिद्रमेसे न देखे। दाताके आनेके मार्ग, उसके खडे होनेके स्थान और करछुल आदि भाजनोकी शुद्धताकी ओर ध्यान रखे। जो स्त्री बालकको दूध पिलाती हो या गर्भिणी हो, उसके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण न करे। रोगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ, अन्धा, गूँगा, दुर्बल, डरपोक, शकालु, अति निकटवर्ती, दूरवर्ती मनुष्यके द्वारा, जिसने लज्जासे अपना मुख फेर लिया या मुखपर घूँघट डाला है ऐसी स्त्रीके द्वारा, जिसका पैर जूतेपर रखा है या जो ऊँचे स्थानपर खडा है ऐसे व्यक्तियोके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण नही करे। टूटे हुए या फूटे हुए करछुल आदिसे दिया हुआ आहार ग्रहण न करे। तथा कपालमें, जूठे पात्रमें, कमल केले आदिके पत्ते आदिमें रखकर दिया हुआ आहार ग्रहण न करे। मास, मधु, मक्खन, विना कटा फल, मूल, पत्र, अकुरित तथा कन्द ग्रहण न करे। इनमे जो भोजन छू गया हो उसे भी ग्रहण न करे। जिस भोजनका रूप रस गन्ध बिगड गया हो, दुर्गन्ध आती हो, फफून्द आ गई हो, पुराना हो गया हो और जीव-जन्तु जिसमें पडे हो उसे न तो किसीको देना चाहिये, न स्वय खाना चाहिये और उसे छूनातक

---

१ तनु न च–अ० ज० । २ न्नेन अदूरे–अ० ज० मु० । ३ फलाई हरित–अ० ।
४ चरादं–अ० । च दीनादं–ज० ।

यन्निक्षिप्यते यत्र यदादीयते यतस्तदुभय प्रतिलेखनायोग्य न वति विलोक्य पश्चात्कृतमार्जन पुनरवलोक्य निक्षिपेद् गृह्णीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणसमिति । ईर्यासमितिर्निरूपितैव तथा मनोगुप्तिश्च । स्फुटतरप्रकाशावलोकितस्य अन्नस्य भोजनमित्यहिंसाव्रतभावना पञ्च ॥१२००॥

द्वितीयव्रतभावना उच्यन्ते—

कोधभयलोभहस्सपदिण्णा अणुवीचिभासण चेव ।
विदियस्स भावणाओ वदस्स पचेव ता होंति ॥१२०१॥

क्रोधभयलोभहास्याना प्रत्याख्यानानि चतस्र । 'अणुवीचिभासण चेव' सूत्रानुसारेण च भाषण । सत्या, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा चेति चतस्रो वाच । तत्र सत्या असत्यमृषा वा व्यवहरणीया नेतरद्द्वय । क्रोधादीनामसत्यवचनकारणाना प्रत्याख्याने असत्यावाक्परिहृता भवति नान्यया ॥१२०१॥

तृतीयव्रतभावना उच्यन्ते—

अणणुण्णादग्गहण असगवुद्धी अणुण्णवित्ता वि ।
एदावंतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्स ॥१२०२॥

'अणणुण्णादग्गहण' तस्य स्वामिभिरननुज्ञातस्य अग्रहण ज्ञानोपकरणादे । 'असगवुद्धी अणुण्ण वित्ता वि' परानुज्ञा सम्पाद्य गृहीतेऽपि असक्तबुद्धिता । 'एदावतिय 'उग्गहजायण' एतत्परिमाणमिद भवता दातव्यमिति प्रयोजनमात्रपरिग्रह यावन्याचितो यावदगृह्णामि इति न बुद्धि कार्या । उग्गहाणुस्स' ग्राह्यवस्तुनस्य इद

नही चाहिये। जो भोजन उद्‌गम, उत्पादन और एषणा दोषसे दुष्ट है उसे नही खाना चाहिये। इस तरह नौ कोटियोमे शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है। जो वस्तु जिस स्थानपर रखी जाय और जो वस्तु जिस स्थानसे उठाई जाये वे दोनो प्रतिलेखनाके योग्य हैं या नही, यह देखनेके पश्चात् पीछीसे उनको झाडकर पुन देखे और तब रखे या ग्रहण करे। यह आदान निक्षेपण समिति है। ईर्यासमिति पहले कही है और मनोगुप्ति भी कही है। अति स्पष्ट प्रकाशमें देखे गये अन्नका भोजन आलोकभोजन है। ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना हैं ॥१२००॥

दूसरे सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—क्रोधका त्याग, भयका त्याग, लोभका त्याग, हास्यका त्याग और सूत्रके अनुसार बोलना ये पाँच सत्यव्रतकी भावना हैं। वचनके चार भेद हैं—सत्य, असत्य, सत्य असत्य तथा न सत्य न असत्य। इनमेसे सत्य और अनुभय वचन बोलने योग्य हैं। शेष दो नही बोलने चाहिये। क्रोध आदि झूठ बोलनेमे कारण होते हैं। उनको त्याग देने पर असत्य वचनका त्याग हो जाता है अन्यथा नही होता ॥१२०१॥

तीसरे व्रतकी भावना कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञानोपकरण आदिके स्वामीकी स्वीकृतिके विना ज्ञानोपकरण आदिको स्वीकार न करना, स्वामीकी स्वीकृति मिलने पर स्वीकार की गई वस्तुमें भी आसक्ति न होना, 'आपको इतना देना चाहिये' इस प्रकार जितनेसे प्रयोजन हो उतना ही ग्रहण करना, जितना मांगा है उतना ही ग्रहण करूँगा ऐसी बुद्धि नही रखनी चाहिये। जो ग्रहण करने योग्य वस्तुको

ज्ञानसयमयोरन्यतरस्य साधनमन्तरेण ज्ञान चारित्र वा मम न सिध्यतीति तस्य ग्रहण नानुपयोगि नो [1]याचतश्च ते ॥१२०२॥

वज्जणमणण्णुणादगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु ।
उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए ॥१२०३॥

'वज्जणमणणुण्णादगिहप्पवेसस्स' गृहस्वामिभिरननुज्ञानगृहप्रवेशवर्जन भावना । 'गोयरादीसु' गोचरादिषु इद वेश्म प्रविश, अत्र वा तिष्ठेति योऽननुज्ञातो देशस्तस्य अप्रवेशन । 'उग्गहजायणअणुवीचिए' अवग्रहयाचना सूत्रानुसारेण तृतीये भावना ॥१२०३॥

महिलालोयणपुव्वरदिसरणससत्तवसहिविकहाहिं ।
पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पच बभस्स ॥१२०४॥

'महिलालोअणपुव्वरदिसरणससत्तवसदिविकहाहिं' स्त्रीणामालोकन, पूर्वरतस्मरण, स्त्रीभिराकुला या वसति शृङ्गारकथा इत्येतद्विरतय । 'पणिदरसेहिं य विरदी' वलदपकरेभ्यो विरतिश्चेति पञ्च व्रतभावना ॥१२०४॥

अपडिग्गहस्स मुणिणो सद्दफरिसरसरूवगधेसु ।
रागद्दोसादीण परिहारो भावणा हुति ॥१२०५॥

'अपरिग्गहस्स' परिग्रहरहितस्य । 'मुणिणो' मुने । सद्दफरिसरसरूवगधेसु' शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु । मनोज्ञामनोज्ञेषु । 'रागद्दोसादीण' रागद्वेषयो परिहारो विषयभेदात्पञ्चप्रकारभावना पञ्चमस्य ॥१०२५॥

जानता है कि यह वस्तु ज्ञान और सयममेंसे एककी साधन है इसके बिना मुझे ज्ञान अथवा चारित्रकी सिद्धि नही होगी और उसीको ग्रहण करता है, अनुपयोगी वस्तुको ग्रहण नही करता । उसीके ये भावना होती है ॥१२०२॥

गा०—गोचरी आदिमे गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञा नही दिये घरमे प्रवेश न करना अर्थात् इस घरमे प्रवेश करें, अथवा यहाँ ठहरें इस प्रकारसे जहाँ गृहस्वामीकी अनुज्ञा प्राप्त न हो उस देशमे प्रवेश न करे और शास्त्रके अनुसार ग्रहण करने योग्य वस्तुकी याचना करना, ये पाँच अदत्तादानविरमणव्रत की भावना हैं ॥१२०३॥

गा०—स्त्रियोकी ओर देखना, पूर्वमे भोगे हुए भोगोका स्मरण, स्त्रियोसे युक्त वसतिका, शृङ्गारकथा और इन्द्रियोमे मद और वल पैदा करनेवाले रस, इन सबसे विरत होना ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥१२०४॥

गा०—परिग्रह रहित मुनिका मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमे राग और द्वेषका त्याग अर्थात् मनोज्ञमे राग और अमनोज्ञसे द्वेष न करना विषयोंके भेदसे पाँच प्रकारकी भावना पाँचवें अपरिग्रह व्रत की हैं ॥१२०५॥

---

१ नो याच्यन स्यन्ते–अ० । नो योग्य लभ्यन्ते–ज० । ग्रहण, इत्यस्य अग्रे पाठो नास्ति आ० ।

भाव माहात्म्य कथयति—

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीड वदाण सव्वेसि।
साधू पासुत्तो समुहदो व किमिदाणि वेदंतो ॥१२०६॥

'ण करेदि खु' न करोत्येव । क ? 'भावणाभाविदो' भावनाभिर्भावित । 'पीड' पीडा । 'वदाण' व्रताना । 'सव्वेसि' सर्वेषा । 'साधू' साधु । 'पासुत्तो' प्रकर्षेण निद्रामुपगत । 'समुहदो व' समुद्घात गतो वा । 'किमिदाणि' किमिदानो । 'वेदितो' चेतयमान ॥१२०६॥

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहि अप्पमत्तो त ।
अच्छिद्दाणि अखंडाणि ते भविस्सति हु वदाणि ॥१२०७॥

'एदाहिं' एताभि । 'भावणाहिं' भावनाभि । 'तम्हा' तस्मान् । 'भावेहि' भावय । 'अप्पमत्तो त' अप्रमत्तस्त्व । 'अच्छिद्दाणि' अच्छिद्राणि । नैरन्तर्येण प्रवृत्तानि । 'अखडानि' सम्पूर्णानि तव भविष्यन्ति व्रतानि ॥१२०७॥

व्रतपरिणामोपघातनिमित्तानि शल्यानि ततस्तद्वर्जन कार्यमित्याचष्टे—

णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइ हवंति सव्वाइं ।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥१२०८॥

'णिस्सल्लस्सेव' शल्यरहितस्यैव । शृणाति हिनस्तीति शल्य शरकण्टकादि शरीरादिप्रवेशि तेन तुल्य यत्प्राणिनो बाधानिमित्त, अन्तर्निविष्ट परिणामजात तच्छल्यमिह गृहीत । 'महव्वदाइ' महाव्रतानि भवन्ति । शल्य कस्यचिदेव व्रतस्योपघातक, यथा एषणासमित्यभावो अहिसाव्रतस्येत्याशङ्का निरस्यति सर्वशब्दो । ननु च महत्वेन व्रतमवशेष्य । मिथ्यात्वादिशल्य अणुव्रतान्यपि हन्त्येव । सत्य प्रस्तुतत्वान्महाव्रतानामित्यमुक्त ।

भावनाका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—भावनाओंसे भावित साधु गहरी नीदमें सोता हुआ भी अथवा मूर्छित हुआ भी सब व्रतोमे दोष नही लगाता । तब जागते हुए की तो बात ही क्या है ॥१२०६॥

गा०—इसलिये हे क्षपक ! तुम प्रमाद त्यागकर इन भावनाओंसे अपनेको भावित करो । इससे तुम्हारे व्रत निरन्तर बने रहेंगे और सम्पूर्ण होंगे ॥१२०७॥

शल्य व्रतरूप परिणामोके घातमे निमित्त होते हैं । अत उनको त्यागना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शल्यरहितके ही सब महाव्रत होते हैं। 'शृणाति' अर्थात् जो कष्ट देता है वह शल्य है । जैसे शरीर आदिमे घुसनेवाला बाण, कॉटा आदि । उनके समान जो अन्तरगमें घुसा परिणाम प्राणीको कष्ट पहुँचानेमें निमित्त है उसे यहाँ शल्य शब्दसे कहा है । जैसे एषणासमिति-का अभाव अहिसा व्रतका घातक है वैसे ही शल्य किसी एक व्रतका घातक है क्या ? इस आशकाको दूर करनेके लिये सर्व शब्दका प्रयोग किया है ।

शका—मिथ्यात्व आदि शल्य अणुव्रतोका भी घात करते हैं । यहाँ उन्हे महाव्रतोका घातक क्यो कहा ?

अत्र चोद्य—हिंसादिभ्यो विरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि । शल्ये मिथ्यात्वादिके सति किं न भवन्ति । येनैवमुच्यते निःशल्यस्यैव महाव्रतानि भवन्ति इति ? एतत्प्रतिविधानायाह—'वदमुवहम्मदि' व्रतमुपहन्यते । 'तीहिं दु' त्रिभिः । 'णिदाणमिच्छत्तमायाहिं निदानमिथ्यात्वमायाभिः । अल्पाच्तरत्वान्मायाशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेन्न—मिथ्यात्वं व्रतविधानं प्रकर्षेण करोतीति प्रधानं ततो मिथ्यात्वं माया चेति द्विपदे द्वन्द्वे मिथ्यात्वशब्दस्य पूर्वनिपातः पश्चान्निदानशब्देन द्वन्द्वः तस्याल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपातः । सम्यक्चारित्रमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं, तच्च नामतो सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्भवति । सति मिथ्यात्वे विरोधिनि न ते स्तः समीचीनज्ञानदर्शने[1] । रत्नत्रयत्वान्मुक्तेः अनन्तज्ञानादिकाच्चान्यत्र चित्तप्रणिधानं इदमेतत्फलं स्यादिति निदानं । तच्च सम्यग्दर्शनादि[2]परम्परया व्रतोपघातकारि । मनसा स्वातिचारनिगूहनलक्षणा माया च व्रतमुपहन्तीति मन्यते ॥१२०८॥

तत्थ णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकदं ।
तिविधं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स ॥१२०९॥

तत्र तेषु शल्येषु । 'णिदाणं' निदानाख्यं शल्यं । 'तिविधं' त्रिविधं । 'होदि' भवति । 'पसत्थमप्पसत्थभोगकदं' प्रशस्तनिदानमप्रशस्तनिदानं, भोगनिदानं चेति । 'तिविधं पि तं निदानं' त्रिप्रकारमपि निदानं । 'परिपथो विघ्नः । सिद्धिमग्गस्स' रत्नत्रयस्य ॥१२०९॥

समाधान—आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ महाव्रतका प्रकरण होनेसे महाव्रतोंका घातक कहा है।

शंका—व्रत तो हिंसा आदिसे विरतिरूप परिणाम मात्र हैं। वे मिथ्यात्व आदि शल्यके होने पर क्यों नहीं होते, जिससे यह कहा गया है कि निःशल्यके ही महाव्रत होते हैं ?

समाधान—इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—निदान, मिथ्यात्व और माया इन तीनोंके द्वारा व्रतका घात होता है।

शंका—माया शब्द अल्प अच्वाला है अतः उसे पहले रखना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व व्रतका घात प्रकर्ष रूपसे करता है अतः प्रधान है। तब 'मिथ्यात्व और माया' ऐसा द्वन्द्व समास करने पर मिथ्यात्व शब्दका पूर्व निपात होता है। फिर निदान शब्दके साथ द्वन्द्व करने पर निदान शब्दका पूर्व निपात होता है क्योंकि वह अल्प अच्वाला है। यहाँ मोक्षके मार्ग रूपसे सम्यक्चारित्रका कथन है। वह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके अभावमें नहीं होता। क्योंकि विरोधी मिथ्यात्वके रहते हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं होते। रत्नत्रयरूप अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप मुक्तिसे अन्यत्र चित्तका उपयोग लगाना कि इसका यह फल मुझे मिले, निदान है। वह सम्यग्दर्शन आदिकी परम्परासे व्रतका घातक है। तथा मनसे अपने दोषोंको छिपाने रूप माया भी व्रतका घात करती है।

विशेषार्थ—निदानसे सम्यग्दर्शनमें अतिचार लगता है और व्रतका मूल सम्यग्दर्शन है। तथा निदानसे व्रतोंका घात होता है ॥१२०८॥

गा०—उन शल्योंमें निदान नामक शल्यके तीन भेद हैं—प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोग निदान। तीनों ही प्रकारका निदान मोक्षके मार्ग रत्नत्रयका विरोधी है ॥१२०९॥

---

१. र्शनचारित्ररत्न—आ० मु०। २. नानि प—आ०।

प्रशस्तनिदाननिरूपणार्थोत्तरगाथा—

सजमहेदु पुरिसत्तसबलविरियसघदणवुद्धी।
सावअबधुकुलादीणि णिदाण होदि हु पसत्थ ॥१२१०॥

'सजमहेदु' सयमनिमित्त। 'पुरिसत्तसत्तबलविरियसघडणबुद्धी' पुरुषत्वमुत्साह, बल शरीरगत दार्ढ्य, वीर्य वीर्यान्तरायक्षयोपशमज परिणाम। अस्थिबन्धविषया वज्रऋषभनाराचसहननादि। एतानि पुरुषत्वादीनि सयमसाधनानि मम स्युरिति चित्तप्रणिधान प्रशस्तनिदान। 'सावयबधुकुलादिनिदान' श्रावकत्वन्नुनिदान। [1]अदरिद्रकुले, अबन्धुकुले वा उत्पत्ति प्रार्थना प्रशस्तनिदान ॥१२१०॥

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्त।
सोभग्गाणादेय पत्थतो अप्पसत्थ तु ॥१२११॥

माणेण' मानेन हेतुना। 'जातिकुलरूवमादि' जातिर्मातृवश, कुल पितृवश, जातिकुलरूपमात्रस्य सुलभत्वात्प्रशस्तजात्यादिपरिग्रह। इह 'आइरियगणधरजिणत्त' आचार्यत्व, गणधरत्व, जिनत्व। 'सोभग्गाणादेज्ज' सौभाग्य, आज्ञा, आदेयत्व च। 'पच्छेंतो' प्रार्थयत। 'अप्पसत्थ तु' अप्रशस्तमेव निदान मानकषायदूषितत्वात ॥१२११॥

प्रशस्त निदानका कथन करते है—

गा०—सयममे निमित्त होनेसे पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढता, वीर्यान्तरायके क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियोंके बन्धन विशेष रूप वज्रऋषभनाराच सहनन आदि, ये सयम साधन मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार चित्तमें विचार होना प्रशस्त निदान है। तथा मेरा जन्म श्रावक कुलमें हो, ऐसे कुलमे हो जो दरिद्र न हो, बन्धु बान्धव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना प्रशस्त निदान है ॥१२१०॥

विशेषार्थ—एक प्रतिमे दरिद्रकुल तथा एकमे बन्धुकुल पाठ भी मिलता है। दीक्षा लेनेके लिये दरिद्रकुल भी उपयोगी हो सकता है और सम्पन्न घर भी उपयोगी हो सकता है। इसी तरह बन्धु बान्धव परिवारवाला कुल भी उपयोगी हो सकता है और एकाकीपना भी। मनुष्यके मनमे विरक्ति उत्पन्न होने की बात है ॥१२१०॥

अप्रशस्त निदान कहते हैं—

गा०—मानकषायके वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधरपद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा और आदेय आदिकी प्राप्तिकी प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

टी०—माताके वशको जाति और पिताके वशको कुल कहते है। जाति कुल और रूप मात्र तो सुलभ है क्योंकि मनुष्य पर्यायमे जन्म लेनेपर ये तीनो अवश्य मिलते है। इसलिये यहाँ जाति कुल और रूपसे प्रशसनीय जाति आदि लेना चाहिये। मान कषायसे दूषित होनेसे यह अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

---

१ दरिद्रकुले–अ०।

कुद्धो वि अप्पसत्थ मरणे पत्थेइ परवधादीयं ।
जह उग्गसेणघादे कद णिदाणं वसिट्ठेण ॥१२१२॥

'कुद्धो वि' क्रुद्धोऽपि । 'अप्पसत्थ' परवधादिकं । 'मरणे' मरणकाले । 'पत्थेदि' प्रार्थयते । 'जधा' यथा 'उग्गसेणघादे' उग्रसेनमरणे । 'कद णिदाणं' कृतं निदानं 'वसिट्ठेण' वसिष्ठेन यतिना ॥१२१२॥

भोगनिदाननिरूपणा—

देविगमाणुसभोगे णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं ।
केसवचक्कधरत्तं पत्थंते होदि भोगकदं ॥१२१३॥

'देविगमाणुसभोगे' देवेषु मनुजेषु च भवान्भोगान् । 'पत्थेंते' अभिलषति । 'भोगकदं' भोगकृतं निदानं । 'णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं' नारीत्वं, ईश्वरत्वं, श्रेष्ठित्वं, सार्थवाहत्वं च । 'केसवचक्कधरत्तं' वासुदेवत्वं सकलचक्रवर्तित्वं च वाञ्छति भोगार्थं । भोगनिदानं भवति ॥१२१३॥

संजमसिहरारूढो घोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि ।
पगरिज्ज जइ णिदाणं सोवि य वड्ढेइ दीहसंसारं ॥१२१४॥

'संजमसिहरारूढो' संयमं शिखरमिव दुरारोहत्वादचलत्वाद्वा । एतदुक्तं भवति । प्रकृष्टसंयमोऽपि । 'घोरतवपरक्कमो' घोरे तपसि पराक्रम उत्साहो यस्य सोऽपि दुर्धरतपोऽनुष्ठाय्यपि । 'तिगुत्तो वि' गुप्तित्रयसमन्वितोऽपि । 'पगरिज्ज जइ णिदाणं' निदानं यदि कुर्यात् । "सो विय' व्यावर्णितगुणोऽपि 'वड्ढेइ' वर्धयति संसारमात्मनः । किमपरस्मिन्निदानकारिणि वाच्यम् ॥१२१४॥

जो अप्पसुक्खहेदुं कुणइ णिदाणमविगणियपरमसुहं ।
सो कागणीए विक्केइ मणिं बहुकोडिसयमोल्लं ॥१२१५॥

गा०—क्रोध कषायके वश होकर भी कोई मरते समय दूसरेका वध करनेकी प्रार्थना करता है। जैसे वसिष्ठ ऋषिने उग्रसेनका घात करनेका निदान किया था ॥१२१२॥

विशेषार्थ—वसिष्ठतापसने उग्रसेनको मारनेका निदान किया था। इस निदानके फलसे वह मरकर उग्रसेनका पुत्र कंस हुआ। और उसने पिताको जेलमें डालकर राज्यपद प्राप्त किया। पीछे कृष्णके द्वारा स्वयं भी मारा गया ॥१२१२॥

भोगनिदानका कथन करते हैं—

गा०—देवों और मनुष्योंमें होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना तथा भोगोंके लिए नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्थवाहपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होनेकी वांछा करना भोगनिदान है ॥१२१३॥

गा०-टी०—संयम पर्वतके शिखरके समान है क्योंकि जैसे पर्वतका शिखर अचल और दुर्गम चढ़ने योग्य है वैसा संयम भी है। उस संयमपर जो आरूढ़ है अर्थात् उत्कृष्ट संयमका धारी है, घोर तप करनेमें उत्साही है अर्थात् दुर्धर तप करता है और तीन गुप्तियोंका धारी है, वह भी यदि निदान करता है तो अपना संसार बढ़ाता है, फिर दूसरे निदान करनेवालेका तो कहना ही क्या है ॥१२१४॥

'जो अप्पसुक्खहेदु' योऽल्पसुखनिमित्त निदान करोति परमे मुक्तिसुखे अनादर कृत्वा। स काकण्या विक्रीणीते मणि बहुकोटिशतमल्यम् ॥१२१५॥

सो भिंदइ लोहत्थं णावं भिंदइ मणिं च सुत्तत्थं ।
छारकदे गोसीरं डहदि णिदाणं खु जो कुणदि ॥१२१६॥

'सो भिंदइ' स भिनत्ति कीललोहार्थं नाव अनेकवस्तुभृता। भिनत्ति रत्न च सूत्रार्थं। गोशीर्ष चन्दन दहति भस्मार्थं यो निदान करोति स्वल्पार्थं। सारविनाशसाधर्म्यादिमेदमाचष्टे—'सूपकारोपरि[1] यथा यो निदानकारी, तेन नौप्रभृतिक विनाशित। अर्थाख्यानकानि वाच्यानि ॥१२१६॥

कोढी सतो लद्धूण डहइ उच्छु रसायण एसो ।
सो सामण्ण णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण ॥१२१७॥

'कोढी सतो' कुष्ठी सन् रसायनभूतमिक्षु लब्ध्वा दहति य समानता नाशयति सर्वदुखव्याधिविनाशोद्यता भोगार्थनिदानेन ॥१२१७॥

पुरिसत्तादिणिदाणं पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छंति ।
ज पुरिसत्ताइमओ भवो भवमओ य ससारो ॥१२१८॥

पुरिसत्तादिणिदाणंपि' पुंस्त्वादिनिदानमपि मोक्षाभिलाषिणो मुनयो न वाञ्छन्ति। यस्मात्पुंस्त्वादिम्यो भवपर्याय। भवात्मकश्च ससार भवपर्यायपरिवर्तस्वरूपत्वात ॥१२१८॥

दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरणं च बोधिलाभो य ।
एयं पत्थेयव्वं ण पत्थणीयं तओ अण्णं ॥१२१९॥

गा०—जो मुक्तिके उत्कृष्ट सुखका अनादर करके अल्पसुखके लिए निदान करता है वह करोडो रुपयोके मूल्यवाली मणिको एक कौडीके बदले बेचता है ॥१२१५॥

गा०—जो निदान करता है वह लोहेकी कीलके लिए अनेक वस्तुओंसे भरी नाव को—जो समुद्रमे जा रही है तोडता है, भस्मके लिए गोशीर्षचन्दनको जलाता है और धागा प्राप्त करनेके लिए मणिनिर्मित हारको तोडता है। इस तरह जो निदान करता है वह थोडेसे लाभके लिए बहुत हानि करता है। एक सूपकारने अपनी मूर्खतासे अपनी नाव नष्ट कर डाली थी। इनकी कथाएँ (कथाकोशोसे) जानना ॥१२१६॥

गा०—जैसे कोई कोढी मनुष्य अपने रोगके लिए रसायनके समान ईखको पाकर उसे जलाकर नष्ट करता है वैसे ही भोगके लिए निदान करके मूर्ख मुनि सर्व दुख और व्याधियोका विनाश करनेमे तत्पर मुनि पदको नष्ट करता है ॥१२१७॥

गा०—मोक्षके अभिलाषी मुनिगण 'मैं मरकर पुरुष होऊँ' या मेरे वज्रऋषभनाराच सहनन आदि हो, इस प्रकारका भी निदान नही करते। क्योकि पुरुष आदि पर्याय भवरूप है और भवपर्यायका परिवर्तन स्वरूप होनेसे ससार भवमय है। अर्थात् नाना भवधारण करने रूप ही तो ससार है ॥१२१८॥

---

1. सूपकारोपरिया—अ० ज०।

'दुक्खक्खय' दुःखानां शारीराणां, आगन्तुकानां स्वाभाविकानां च क्षयो भवतु। तथा कर्मणां तत्कारणभूतानां रत्नत्रयसम्पादनपुरःसरं मरणं, दीक्षाभिमुखो बोधिलाभश्च एतत्प्रार्थनीयं नान्यत् ॥१२१९॥

पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलाभो य होइ परलोए।
आराधयस्स णियमा तदत्थमकदे णिदाणे वि ॥१२२०॥

'पुरिसत्तादीणि' पुरुषत्वादिकं, संयमलाभश्च भविष्यति परजन्मनि। कस्य? कृतरत्नत्रयाराधनस्य निश्चयेन। तदर्थमकृतेऽपि निदाने ॥१२२०॥

माणस्स भंजणत्थं चिंतेदव्वो सरीरणिव्वेदो।
दोसा माणस्स तहा तहेव संसारणिव्वेदो ॥१२२१॥

'माणस्स भंजणत्थं' मानभञ्जनार्थं ध्यातव्यः शरीरनिर्वेदः। तथा दोषाश्च मानस्य। तथैव संसारनिर्वेदश्च ध्यातव्य इति क्षपकं निर्यापकसूरिः शिक्षयति। शरीरस्य अशुचित्वादिस्वभावचिन्तनं। किमनेन शरीरेणेति शरीरे अनादरः शरीरनिर्वेदः। स कथं मानस्य भञ्जने निमित्तं। स हि शरीरानुरागमेव[1] विहन्ति तत्प्रतिपक्षत्वात्। अत्रोच्यते—मानशब्दः सामान्यवचनोऽपि रूपाभिमानविषयो गृहीतः। स च शरीरनिर्वेदेन भज्यते। मानस्य दोषा नीचकुलेषूत्पत्तिर्मान्यगुणालाभः, सर्वविद्वेष्यता, रत्नत्रयाद्यलाभ इत्यादिकाः। संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनरूपस्य पराङ्मुखता संसारनिर्वेदः। तत्रोपयुक्तस्य अहङ्कारनिमित्तानां विनाशनं,

---

गा०—हमारे शारीरिक, आगन्तुक और स्वाभाविक दुःखोंका नाश हो। तथा उनके कारणभूत कर्मोका क्षय हो। रत्नत्रयका पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षाकी ओर अभिमुख करनेवाले ज्ञानका लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है। इनके सिवाय अन्य प्रार्थना करना योग्य नहीं है ॥१२१९॥

गा०—जो रत्नत्रयकी आराधना करता है उसे निदान न करने पर भी आगामी जन्ममें पुरुषत्व आदि का तथा संयमका लाभ निश्चय ही होता है ॥१२२०॥

गा०-टी०—निर्यापकाचार्य क्षपकको शिक्षा देता है कि तुम्हें मानकषायका विनाश करनेके लिए शरीरमें निर्वेदका, मानके दोषों का और संसारसे निर्वेदका चिन्तन करना चाहिये। शरीरके अशुचित्व आदि स्वभावका चिन्तन करनेसे 'इस शरीरसे क्या लाभ' इस प्रकार शरीरमें अनादर होता है उसे ही शरीर निर्वेद कहते हैं।

शङ्का—शरीरका चिन्तन मानकषायको दूर करनेमें निमित्त कैसे हो सकता है उससे तो शरीरमें अनुराग का ही घात होता है क्योंकि शरीर निर्वेद उसका प्रतिपक्षी है?

समाधान—यद्यपि मान शब्द मानसामान्यका वाचक है तथापि यहाँ रूपविषयक अभिमान लिया है। वह शरीरके निर्वेदसे नष्ट होता है। नीच कुलोंमें जन्म, आदरणीय गुणोंका प्राप्त न होना, सबका अपनेसे द्वेष करना, रत्नत्रय आदिका लाभ न होना, ये सब मानकषायमें होनेवाले दोष हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवपरिवर्तन रूप संसारसे विमुख होना संसारनिर्वेद है। संसारनिर्वेदमें उपयोग लगानेसे अहंकारके निमित्तोंका विनाश होता है। क्योंकि

---

१. मेवावहति—आ० मु०।

निन्द्याना च गुणाना बहूना असत्प्रवृत्ति अनेकप्राणिलभ्यत्वात् । स्वप्राप्तेभ्यो[1] गुणेभ्योऽतिशयिताना गुणानामन्यैरुपलम्भनात् ॥१२२१॥

कुलाभिमाननिरासोपायमाचष्टे—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तण पुण उवेइ ।
जीवाणं खु कुलाइं पधियस्स व विस्समंताणं ॥१२२२॥

'णीचो वि होदि' स्थानमानैश्वर्यादिभिस्तिरोभूतो नीच इत्युच्यते । सोपि 'होदि' भवति । 'उच्चो' तैरेवोन्नत । स उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकोऽपि 'णीचत्तण' तैर्न्यूनता । 'पुण उवेदि' पुन उपैति । 'जीवानं खु' जीवाना खलु । 'कुलाइ' कुलानि । कीदृग्भूताना ? 'विस्समत्ताण' विश्रमता बहूनि कुलानि कुलबहुत्वप्रकटनेन कुलानित्यता दर्शिता । अनियतकुलस्य क कुलगर्व । 'पधिकस्सव' पथिकस्य यथा विश्रामस्थान न नियतमस्ति तद्वदेवास्येति भाव ॥१२२२॥

किं च सर्वो ह्यात्मनो वृद्धि परस्य वा हानि बुद्ध्या सकल्पते तस्य युक्तोऽहकार न चास्य वृद्धिहानी स्त इति कथयति—

उच्चासु व णीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ।
वड्ढी वा हाणी वा सव्वत्थ वि तित्तिओ चेव ॥१२२३॥

'उच्चासु व णीचासु व' यत्र स्थित आत्मा शरीर निष्पादयति तद्योनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा तत किमुच्यते उच्चासु व णीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशब्देन कुलमेवात्रोच्यते । तेनायमर्थ । मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्हानिर्वा सर्वत्र तत्परिमाण एव ज्ञानादि-

---

अनेक निन्दनीय गुण, जो अहकारमे निमित्त होते है, अनेक प्राणियोमे पाये जाते हैं । तथा अपनेको जो गुण प्राप्त हैं उनसे भी अतिशयशाली गुण दूसरोको प्राप्त हैं । अत उनका अभिमान कैसा ? ॥१२२१॥

कुलका अभिमान दूर करनेका उपाय कहते हैं—

गा०टी०—स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन व्यक्तिको नीच कहते हैं । जो स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन होता है वही नीच हो जाता है । जीवोंके कुल पथिकके विश्राम स्थानकी तरह हैं । जैसे पथिकके विश्राम लेनेका स्थान नियत नही है वैसे ही कुल भी नियत नही है । तब अनियत कुलका गर्व कैसा ? 'कुलानि' पद बहुवचनान्त होनेसे कुलोकी बहुतायत प्रकट करता है । और कुलोकी बहुतायतसे कुलोकी अनित्यता दिखलाई है ॥१२२२॥

आगे कहते हैं कि अपनी वृद्धि और दूसरेकी हानिकी भावनासे गर्व होता है उसका अहकार करना युक्त है किन्तु उच्च या नीच कुलमे जन्म लेनेसे आत्माकी हानि वृद्धि नही होती—

गा०-टी०-शंका—जिसमे रहकर जीव अपने शरीरको रचता है उसे योनि कहते हैं । योनि तो उच्च या नीच होती नही । तब 'उच्चासु व णीचासु' क्यो कहा ?

समाधान—यहाँ योनि शब्दसे कुलको ही कहा है । अत ऐसा अर्थ होता है—मान्य कुलमे अथवा निन्दनीय कुलमे उत्पन्न हुए जीवकी वृद्धि या हानि नही होती । सर्वत्र जीवका परिमाण

---

१ सुप्राप्येभ्यो—आ० मु० ।

गुणातिशयादेव उत्कृष्टता । निन्दितगुण कुलीनोऽपि न पूज्यतेतरामन्यै । अमान्येऽपि कुले सम्भूतो यदि गुणी स्यात् । उक्त च—

> ससारवासे भ्रमतो हि जतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ।
> स एव नीचोत्तममध्यजाती स्वकर्मवश्य· समुपैति तास्ता ॥
>
> नृपश्च दास· श्वपचश्च विप्रो दरिद्रवशश्च समृद्धवश ।
> चोराग्निदावाहितयाचिता (?) च सजायते कर्मवशात्स एव ॥
>
> को वाधिकार सुकुलेषु नृणा का वा विहिसान्यकुलप्रसूतौ ।
> कार्योऽधिकारो ननु धर्म एव कार्या विहिसापि च दुष्कृतेषु ॥ [ ] ॥१२२३॥

कालमणत णीचागोदो होदूण लहइ सगिमुच्च ।
जोणीमिदरसलाग ताओ वि गदा अणंताओ ॥१२२४॥

'कालमणत णीचागोदो होदूण' अनन्तकाल नीचैर्गोत्रो भूत्वा । 'लभदि सगिमुच्च जोणि' लभते सकृदुच्चैर्गोत्र । कीदृशी 'इदरसलाग' इतरशलाका । इतरा नीचैर्योनिय शलाका यस्या उच्चैर्योनिस्ता इतरशलाका । 'ताओ वि' ता अपि [1]अन्तराले लब्धा अपि उच्चैर्योनय । 'गदा अणताओ' अनन्ता प्राप्ता एकेन जीवेन ॥१२२४॥

उतना ही रहता है। ज्ञानादि गुणोमे अतिशय होनेसे ही उत्कृष्टता होती है। कुलीन भी यदि निन्दित गुण वाला होता है तो दूसरे उसका आदर सम्मान नही करते। और अनादरणीय कुलमे उत्पन्न होकर भी यदि गुणी होता है तो दूसरे उसका सन्मान करते हैं। कहा है—ससारमे भ्रमण करते हुए प्राणीका कोई कुल स्थायी नही है। वही जीव अपने कर्मके अधीन होकर नीच, उत्तम अथवा मध्यम कुलोमे जन्म लेता है। वही जीव अपने कर्मके वश होकर राजा और दास, चाण्डाल या ब्राह्मण, दरिद्र वश वाला या सम्पन्न वश वाला होता है तथा चोर, आग और दावानलसे पीडित तथा माँगने वाला होता है। उच्च कुलोमे मनुष्योको जन्म लेनेका गर्व कैसा? और नीच कुलोमे जन्म लेने पर घृणा कैसी? गर्व करना हो तो धर्ममे ही करना चाहिए और घृणा भी पापसे करनी चाहिए ॥१२२३॥

गा०-टी०—यह जीव अनन्तकाल तक नीच गोत्रमे जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमे जन्म लेता है। इस प्रकार उच्च गोत्रकी शलाका नीच गोत्र है। शलाकासे मतलब है अनन्तकाल नीच गोत्रमे जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमे जन्म। नीच गोत्रोके अन्तरालमे प्राप्त उच्च गोत्र भी एक जीवने अनन्त वार प्राप्त किये हैं ॥१२२४॥

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव ससारमे भ्रमण करते हुए अनन्तबार नीच गोत्रमे जन्म लेता है तब कही एक बार उच्च गोत्रमे जन्म लेता है। तथापि अनन्त बार नीच गोत्रमे जन्म लेनेके पश्चात् एक बार उच्च गोत्रमे जन्म लेनेकी परम्पराको भी इसने अनन्त बार प्राप्त किया है अर्थात् इस क्रमसे इसने उच्च गोत्रमे भी अनन्त वार जन्म लिया है ॥१२२४॥

---

१ अन्तराले अन्तराले लब्ध्वा अपि—ज० मूलारा० ।

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चत्तम्मि विब्भओ णाम ।
बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि किं दुक्खं ॥१२२५॥

'एव बहुसो वि' बहुशोऽपि, 'लद्धविजडे' लब्धपरित्यक्ते च । 'उच्चत्तम्मि' मान्यकुलप्रसूतत्वे । 'को णाम विब्भओ' को नाम विस्मयः । कदाचिदलब्धपूर्वमिदानीमेव लब्धमिति भवेद्गर्वः । 'बहुसो वि' बहुशोऽपि । 'लद्धविजडे' लब्धपरित्यक्ते । 'णीचत्ते चावि' नीचैर्गोत्रप्रसूतत्वे अपि । किं दुक्खं' किमिदं दुःखं ॥१२२५॥

उच्चत्तणम्मि पीदी सकप्पवसेण होइ जीवस्स ।
णीचत्तणे ण दुक्खं तह होइ कसायबहुलस्स ॥१२२६॥

'उच्चत्तणम्मि' मान्यकुलत्वे । 'पीदी' प्रीतिः । सकप्पवसेण' सकल्पवशेन 'होदि जीवस्स' भवति जीवस्य प्रशस्ते कुले जातोऽहमिति मनोनिधानात् प्रीतो भवत्ययं जनः नेत्यभूत सकल्पमन्तरेण सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति । नीचकुलत्वमेव च न दुःखस्य निमित्त । अपि च 'णीचत्तणे य' नीचैर्गोत्रत्वे च दुःख 'तधा होदि' तथा भवति । प्रीतिरिव परनिमित्तकं भवति । कस्य ? कसायबहुलस्स' कसायशब्दः सामान्यवचनोऽपि मानकषाये वर्तते । तेनायमर्थः प्रचुरमानकषायो जनयति दुःखमस्य न नीचैर्गोत्रत्वमेव ॥१२२६॥

प्रीतिपरितापौ सकल्पायत्तावित्येतत्पष्टयत्युत्तरगाथया—

उच्चत्तण व जो णीचत्त पिच्छेज्ज भावदो तस्स ।
उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥१२२७॥

'उच्चत्तण व' उच्चैर्गोत्रत्वमिव 'जो णीचत्त पेच्छदि' यो नीचैर्गोत्र प्रेक्षते इद चण्डालत्व वरमिति । भावशब्दोऽनेकार्थवाच्यपि इह चित्तवाची । यत् येन लब्ध तत्तस्य शोभन । अलब्धेन शोभनतापि किं नेनेति मनसि करोति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति वदति उच्चत्तणे वि' मान्यकुलत्व इव णीचत्तणेऽवि' नीचैर्गोत्रत्वेऽपि । 'पीदी किं ण होज्ज' प्रीति किं न भवेत् भवत्येवेति यावत् ॥१२२७॥

गा०—इस प्रकार अनन्त बार प्राप्त करके छोडे हुए उच्च कुलमे जन्म लेनेका गर्व कैसा ? गर्व तो तब होता जब अभी तक न पानेके बाद प्रथम बार ही इसे प्राप्त किया होता । तथा अनन्त बार प्राप्त करके छोडे हुए नीच गोत्रमे जन्म लेनेका दुःख कैसा ॥१२२५॥

गा०-टी०—'मैं उच्च कुलमे जन्मा हूं' ऐसा मनमे सकल्प होनेसे जीवका उच्चकुलमे अत्यन्त अनुराग होता है । इस प्रकारके सकल्पके बिना सामान्य कुलमे जन्म होने पर भी अनुराग नही होता । तथा नीच कुलमे जन्म लेना ही दुःखका कारण नहीं है । दुःखका कारण है मानकषायकी बहुतायत । गाथामे कषाय शब्द सामान्यवाची है तथापि यहाँ उसका अर्थ मानकषाय लेना चाहिए । मानकषायकी बहुतायत जीवको दुःख देती है, केवल नीच गोत्रमे जन्म ही दुःखका कारण नही होता ॥१२२६॥

अनुराग और दुःख सकल्पके अधीन हैं, यह कहते हैं—

गा०-टी०—गाथामे आये भाव शब्दके यद्यपि अनेक अर्थ है तथापि यहां उसका अर्थ चित्त लिया है । जो मनसे उच्च गोत्रके समान नीच गोत्रको देखता है अर्थात् यह चाण्डाल कुलमे जन्म श्रेष्ठ है ऐसा मानता है । मनमे विचारता है कि जो जिसको प्राप्त है वही उसके लिए उत्तम है । जो प्राप्त नहीं है वह श्रेष्ठ भी हो तो उससे क्या ? ऐसा विचार करते ही उच्च कुलके समान नीच

णीचत्तणं व जो उच्चत्त पेच्छेज्ज भावदो तस्स।
णीचत्तणेव उच्चत्तणे वि दुक्ख ण किं होज्ज ॥१२२८॥

एतद्विपरीतार्थोत्तरगाथा। स्पष्टतया[1] वस्तुस्थितिं नापेक्षते। सङ्कल्पायत्ता प्रीतिरप्रीतिर्वेत्यनुभवसिद्धमेतदखिलस्य जगत इति वदति। यस्मादुच्चैर्गोत्रत्वेऽपि न सुखदुःखयोर्भावाभावौ च भवत सङ्कल्पात ॥१२२८॥

तम्हा ण उच्चणीचत्तणाइ पीदिं करेंति दुःक्खं वा।
सकप्पो से पीदीं करेदि दुक्खं च जीवस्स ॥१२२९॥

'तम्हा' तस्मात्। 'उच्चणीचत्तणाणि' मान्यामान्यकुलत्वानि। 'न करेंति पीदिं दुक्खं वा' न कुरुत प्रीतिं दुःखं वा। 'सकप्पो पीदिं करेदि' सङ्कल्पो 'से' अस्य जीवस्य तस्मात प्रीतिं करोति दुःखं वा। सति सङ्कल्पे भावादसति अभावाच्च ॥१२२९॥

मानकषायमात्योऽस्य दोष इति कथयति—

कुणदि य माणो णीयागोदं पुरिसं भवेसु बहुएसु।
पत्ता हु णीचजोणी बहुसो माणेण लच्छिमदी ॥१२३०॥

'कुणदि य' करोति। 'माणो' अहङ्कारः। 'णीयागोदं पुरिसं' नीचैर्गोत्रमस्येति नीचैर्गोत्र 'पुरिसं' आत्मानं। 'भवेसु' जन्मसु। 'बहुगेसु' बहुषु। 'पत्ता' प्राप्ता। 'णीचजोणी खु' नीचैर्गोत्रमेव। का? 'लच्छिमदी' लक्ष्मीमती। केन निमित्तेन? 'माणेण' सुरूपा यौवनानुकूला कुलीना चेति गर्वेण ॥१२३०॥

कुलमें भी अनुराग क्यों नहीं होगा? अवश्य ही होगा ॥१२२७॥

आगेकी गाथामें इससे विपरीत कथन करते हैं—

गा०—जो जीव भावसे उच्चपनेको नीचपनेकी तरह देखता है उसको नीचपनेकी तरह उच्चपनामें क्या दुःख नहीं होता? होता ही है। किसीसे प्रीति या अप्रीति तो सकल्पके अधीन है यह बात समस्त जगत्के अनुभवमें सिद्ध है। क्योंकि सकल्पसे उच्च गोत्र होते हुए भी सुखका भाव और दुःखका अभाव नहीं होता ॥१२२८॥

गा०—अतः उच्च कुल या नीच कुल सुख या दुःख नहीं देता। किन्तु जीवका सकल्प सुख या दुःख करता है। सकल्पके होने पर सुख दुःख होता है और सकल्पके अभावमें नहीं होता ॥१२२९॥

आगे कहते हैं कि मानकषायके कारण यह दोष होता है—

गा०—मानकषाय अर्थात् अहकार पुरुषको अनेक जन्मोंमें नीच गोत्री बनाता है। देखो, लक्ष्मीमती, मैं सुन्दर हूँ, कुलीन हूँ यौवनवती हूँ इस गर्वके कारण अनेक बार नीच गोत्रमें उत्पन्न हुई ॥१२३०॥

विशेषार्थ—बृहत्कथा कोशमें १०८ नम्बरमें इसकी कथा दी है ॥१२३०॥

---

1 स्पष्टासा-अ०।

पूयावमाणरूवविरूवं सुभगत्तदुब्भगत्तं च ।
आणाणाणा य तहा विधिणा तेणेव पडिसेज्ज ॥१२३१॥

'पूयावमाणरूवविरूव' पूजा, अवमान परिभव । रूपशब्द सामान्यवचनोऽपि शोभनाशोभनरूपविषयतया इह विरूपशब्दसन्निधाने प्रयुज्यमानोऽतिशयिते रूपे प्रवर्तते । तेन सौरूप्य वैरूप्यं । 'सुभगत्तदुब्भगत्त च' सौभाग्य दौर्भाग्य च सर्वेषा प्रियत्व द्वेष्यत्व चेति यावत् । 'आणाणाणा य तहा' आज्ञा आदेशाप्रतिघात अनाज्ञा च तथा । विधिना' माननिषेधप्रकारेणैव । 'पडिसेज्ज' प्रतिषेध्या । अभिधेयवशाल्लिङ्गवचनप्रवृत्तिरिति लिङ्गान्तरेण पूजादिशब्दोपनीतेन प्रतिषेध्यशब्दस्याभिसम्बन्ध । परिभव प्राप्तोऽपि बहुश कदाचित्पूज्यते । एवमपि प्राप्ता ह्यनन्तेषु पूजास्तत्र कोऽनुरोगोऽस्य । दुःख वा परिभवप्राप्तौ । पूज्यमानोऽपि बहुषु पुन परिभवानवाप्स्यति । न चात्मन पूजाया काचिद् वृद्धि परिभवे वा हानि । सङ्कल्पवशादेवात्मनो जायेते प्रीतिपरितापौ न केवल पूजापरिभवाभ्यामेवेति । उक्त च—

य स्तूयते शुचिगुणैर्मधुरैर्वचोभि स निन्द्यते च परुषैर्वचनैर्विचित्रै ।
हा चित्रतां कथमय भवसङ्कटस्थ प्राणी यनेकविविधकर्मफलोपभोग ॥
भूत्वा मनुष्यपतय पुनरेव दासा हीना भवन्ति शुचयोऽशुचयश्च भूय ।
कान्त्या[3] च ये युवतिभिर्विषमानुरूपा द्वेष्या भवन्त्यसुभगत्वमुपेत्य भूय ॥
दृष्टः क्वचित्प्रवररत्नविभूषणो य सदृश्यते विकलपुण्यतया दरिद्र ।
भूयश्च मित्रबहुबन्धुजनोपगूढ सलक्ष्यते व्यसनभारभृदेक[4] एव ॥ [ ] ॥१२३१॥

गा०–टी०—मानकषायका जैसे निषेध किया है वैसे ही पूजा, अपमान, सौरूप्य, वैरूप्य, सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा अनाज्ञाका भी निषेध जानना । गाथामे आगत रूपशब्द यद्यपि सामान्यवाची होनेसे सुन्दर और असुन्दर दोनो ही प्रकारके रूपका वाचक है तथापि विरूप शब्दके साथमे प्रयुक्त होनेसे अतिशयरूपको कहता है। अत उसका अर्थ सौरूप्य और वैरूप्य लिया गया है। सौभाग्यका अर्थ है सबको प्रिय होना और दुर्भाग्यका अर्थ है सबके द्वारा तिरस्कृत होना। जिसने अनेक जन्मोमे तिरस्कार पाया है वह भी कभी पूजा जाता है। इसी प्रकार अनन्त जन्मोमे पूजा प्राप्त करनेवाला भी तिरस्कृत होता है। अत उनमे अनुराग कैसा और तिरस्कार पानेपर दुःख कैसा ? जो बहुत जन्मोमे पूजा जाता है वह पुन निरस्कारको प्राप्त करेगा। पूजा होनेपर आत्मामे वृद्धि नही होती और तिरस्कार होनेपर आत्मामे कोई हानि नही होती। सकल्पके कारण ही प्रीति और सन्ताप होते हैं केवल पूजा और तिरस्कारसे नही होते। कहा भी है—

जो मधुर वचनोंके द्वारा अपने निर्मल गुणोंके लिये सस्तुत होता है वही नाना प्रकारके कठोर वचनोंसे निन्दाका पात्र होता है। कैसा आश्चर्य है कि ससाररूपी सकटमे पडा हुआ यह प्राणी अनेक प्रकारके कर्मोंके फलको भोगता है। मनुष्योंका स्वामी होकर उनका नीच दास हो जाता है। पवित्र होकर पुन अपवित्र हो जाता है। जो युवतियोंके प्रिय होते हैं वे ही दुर्भाग्य आनेपर द्वेषके पात्र बनते हैं। जो मनुष्य कभी उत्कृष्ट रत्नभूषणोंसे भूषित देखा गया है वही मनुष्य पुण्यहीन होनेपर दरिद्र देखा जाता है। जो बहुतसे मित्रों और बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ

१ पूजातोऽपि–अ० । २ नैकविधत्वा–अ० ज० । ३ कान्ता च येषु युवति –ज० विषमाणरूपा द्वेष्या भवन्त्यशुभवन्धमुपेत्य भूय –आ० ज० । ४ बहुये च–अ० ।

इच्चेवमादि अविचिंतयदो माणो हवेज्ज पुरिसस्स ।
एदे सम्मं अत्थे पसदो णो होइ माणो हु ॥१२३२॥

जइदा उच्चत्तादिणिदाणं संसारवड्ढण होदि ।
कह दीहं ण करिस्सदि ससार परवघणिदाण ॥१२३३॥

'जइदा' यदि तावत् । 'उच्चत्तादिणिदाणं' उच्चैर्गोत्रता, पुस्त्व, स्थिरशरीरता, अदरिद्रकुलप्रसूति-र्बन्धुनेत्येवमादिक मुक्तेः परम्परया कारणमपि चित्ते क्रियमाणमपि । 'ससारवड्ढण होदि' ससारवृद्धिं करोति । 'किध ण करिस्सदि' कथ न करिष्यति । 'दीहससार' दीर्घससार । 'परवघणिदाण' परवधे चित्तप्रणि-धान ॥१२३३॥

आचार्यगणधरत्वादिप्रार्थना कथमशोभना रत्नत्रयातिशयलाभप्रार्थिना हि [1]सेत्याशङ्कायामुच्यते—

आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे णत्थि तस्स तम्मि भवे ।
धणिद पि संजमंतस्स सिज्झण माणदोसेण ॥१२३४॥

'आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे' आचार्यत्वादिनिदानेऽपि कृते । 'णत्थि तस्स' नास्ति तस्य । 'तम्मि भवे' तस्मिन्भवे निदानकरणभवे । 'धणिद पि सजमतस्स' नितरामपि सयम कुर्वत । किं नास्ति 'सिज्झण' सेधन मुक्तिः । केन ? 'माणदोसेण' मानकषायदोषेण । स ह्याचार्यत्वादिप्रार्थना करोति । पूज्यो भविष्यामीति सकल्पेन, ततोऽस्याहयुता ॥१२३४॥

भोगदोषचिन्तायां सत्या निदान तथा न भवति इति कथयति—

होता है, विपत्तिमे पडनेपर वही एकाकी देखा जाता है ॥१२३१॥

गा०—इत्यादि वातोका विचार न करनेवाले पुरुषको मान होता है। और जो इन वातोको सम्यक्रूपसे देखता है उसको मान नहीं होता ॥१२३२॥

गा०—उच्चगोत्र, पुरुषत्व, शरीरकी स्थिरता, अदरिद्रकुलमे जन्म, बन्धु-बान्धव आदि परम्परासे मुक्तिके कारण हैं ऐसा चित्तमे विचारकर इनका निदान करना कि ये मुझे प्राप्त हो, यदि ससारको बढानेवाला है तो दूसरेके वधका चित्तमे निदान करना दीर्घ ससारका कारण क्यों नहीं है ? अवश्य है ॥१२३३॥

यहाँ कोई शका करता है कि रत्नत्रयमे अतिशय लाभकी भावनासे मैं आचार्य गणधर आदि बनूँ ऐसी प्रार्थना क्यो बुरी है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—आचार्य पद आदिका निदान करनेपर भी जिस भवमे निदान किया है उस भवमे अत्यन्त सयमका पालन करनेपर भी मानकषायके दोषके कारण उसकी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि वह 'मैं पूज्य होऊँ' इस सकल्पसे आचार्य आदि होनेकी प्रार्थना करता है। इससे उसका अहकार प्रकट होता है ॥१२३४॥

आगे कहते हैं कि भोगोंके दोषोका चिन्तवन करनेसे भोगोका निदान नहीं होता—

---

१ एता टीकाकारो नेच्छति । २ हि सनीत्या—आ० ।

भोगा चिंतेदव्वा किंपागफलोवमा कडुविवागा।
महुरा व भुंजमाणा पच्छा बहुदुक्खभयपउरा ॥१२३५॥

'भोगा चिंतेदव्वा' भोगाश्चिन्त्या। 'किंपागफलोवमा' किम्पाकफलसदृशा। 'कडुविवागा' कटु अनिष्ट विपाकः फलं एषामिति कटुविपाका। 'मधुरा व' मधुरा इव। 'भुंजमाणा' भुज्यमाना। 'मज्झे' मध्ये। 'बहुदुक्खभयपउरा' विचित्रदुःखभया ॥१२३५॥

भोगनिदानदोषं कथयति—

भोगणिदाणेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कदं।
[1]साहालंगा जह अत्थिदो वणे को वि भोगत्थं ॥१२३६॥

'भोगणिदाणेण य' भोगनिदानेन वा। 'सामण्ण' श्रामण्य। 'भोगत्थमेव होइ कद' भोगार्थमेव कृत न कर्मक्षयार्थं भवति। भोगनिदाने सति रागव्याकुलितचित्तस्य प्रत्यग्रकर्मप्रवाहस्वीकृतौ उद्यतस्य का सदृता ॥१२३६॥

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो।
सणिदाणबंभचेरं अब्बंभत्थं तहा होइ ॥१२३७॥

'आवडणत्थ' अभिघातार्थं। 'जह' यथा। 'ओसरण' उपगमः। 'मेसस्स होदि' मेषस्य भवति। 'मेसादो' मेषात्। 'सणिदाणबंभचेर' सनिदानस्य यतेर्ब्रह्मचर्यं। 'अब्बंभत्थ' मैथुनार्थं। 'तहा होदि' तथा भवति ॥१२३७॥

जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विक्किणंति लोभेण।
भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो ॥१२३८॥

गा०—ये भोग किंपाकफलके समान हैं। जैसे किंपाकफल खाते समय मीठा लगता है किन्तु उसका परिणाम अतिकटुक होता है। उसको खानेवाला मर जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें मधुर लगते हैं किन्तु उनका फल अतिकटु होता है पीछेसे जीवको बहुत दुःख और भय भोगना पड़ता है ॥१२३५॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

गा०-टी०—मुनिपद धारण करके भोगका निदान करनेसे तो मुनिपद भोगोंके लिए ही धारण किया कहलायेगा। कर्मक्षयके लिये नहीं कहलायेगा। क्योंकि भोगका निदान करनेपर चित्त रागसे व्याकुल रहता है और ऐसा होनेसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है तब उसके मुनिपद कैसा? जैसे कोई वनमें वृक्षकी शाखामें लगे फलोंको खानेमें लग जाये तो उसके अपने इच्छित स्थानपर पहुँचनेमें विघ्न आ जाता है वैसे ही भोगका निदान करनेवाले श्रमणकी भी दशा होती है ॥१२३६॥

गा०—जैसे एक मेढा दूसरे मेढ़ेपर अभिघात करनेके लिये पीछे हटता है वैसे ही भोगोंका निदान करनेवाले यतिका ब्रह्मचर्य भी अब्रह्म अर्थात् मैथुनके लिए ही होता है ॥१२३७॥

---

१ साहोलबो–मु०, मूलारा०। साहासगा–आ०।

'जह वाणिया' यथा वणिज । 'पणिय' पण्य। 'लाभत्थं' लाभार्थं। 'विक्किणति' विक्रीणन्ति। 'लोभेण' लोभेन। 'भोगाण' भोगाना। 'पणिदो भूदो' पण्यभूत। 'सणिदाणो' सनिदान। 'तहा धम्मो होदि' तथा धर्मो भवति ॥१२३८॥

भोगनिदानवत[1] श्रामण्य प्रणिद्यति—

सपरिग्गहस्स अब्बभचारिणो अविरदस्स से मणसा।
काएण सीलवहण होदि हु णडसमणरूव व ॥१२३९॥

'सपरिग्गहस्स' सपरिग्रहस्य भोगनिदानवतो वेदजनितो रागोऽभ्यन्तर परिग्रह इति सपरिग्रह। तस्य। 'अब्बभचारिणो' मनसा मैथुनकर्मणि प्रवृत्तस्य। 'अविरदस्स' अव्यावृत्तस्य मैथुनात्। 'मनसा' चित्तेन। 'से' तस्य कायेन तु शरीरेणैव। 'सीलवहण' ब्रह्मव्रतवहन। 'होदि' भवति। 'णडसमणरूव व' नटाना श्रमणरूपमिव। कायेन भावश्रामण्यरहित यथा अफलमेवमिदमपि इति भाव ॥१२३९॥

रोग इच्छेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोई।
तह अण्णेसदि दुक्ख सणिदाणो भोगतण्हाए ॥१२४०॥

'रोग इच्छेज्ज' व्याधिमभिलषति। 'जहा कोइ' यथा कश्चित्। किमर्थ ? 'पडियारसुहस्स कारणे' औषधमेवासुखाविगमनाय। 'तह' तथा 'अविरदस्स' अव्यावृत्तस्य। 'अण्णेसदि' अन्वेषते। 'दुक्ख' दुख। क ? 'सणिदाणो' सनिदान। 'भोगतण्हाए' भोगतृष्णाया ॥१२४०॥

खधेण आसणत्थ वहेज्ज गरुग सिलं जहा कोइ।
तह भोगत्थ होदि हु संजमवहणं णिदाणेण ॥१२४१॥

'खधेण' स्कन्धेन। 'जहा कोइ' यथा कश्चित्। 'गरुग सिल' गुर्वी शिला। 'वहेज्ज' वहति। किमर्थ ?

गा०—जैसे व्यापारी लोभवश लाभके लिये अपना माल बेचता है। वैसे ही निदान करनेवाला मुनि भोगोंके लिए धर्मको बेचता है ॥१२३८॥

भोगोंका निदान करनेवालेके मुनिपदकी निन्दा करते हैं—

गा०-टी०—भोगोंका निदान करनेवालेके अभ्यन्तरमे वेदजनित राग रहता है अत वह परिग्रही है। तथा वह मनसे मैथुन कर्ममे प्रवृत्त होनेसे अब्रह्मचारी है और मनसे मैथुनसे निवृत्त न होनेसे अविरत है। वह केवल शरीरसे ब्रह्मचर्यव्रत धारण करता है अत वह नटश्रमण है। जैसे नट श्रमणका वेश धारण करता है वैसे ही उसने भी श्रमणका वेश धारण किया है। भावश्रामण्यके विना केवल शरीरसे मुनि बनना जैसे व्यर्थ है उसी तरह उस मुनिका मुनिपद भी व्यर्थ है ॥१२३९॥

गा०—जैसे कोई औषधि सेवनके सुखकी अभिलाषासे रोगी होना चाहता है वैसे ही निदान करनेवाला भोगोंकी तृष्णासे दुख चाहता है ॥१२४०॥

गा०—मैं इसके ऊपर सुखपूर्वक बैठूँगा, ऐसा मानकर जैसे कोई भारी शिलाको कन्धेपर उठाता है और उसके उठानेके कष्टकी परवाह नहीं करता। वैसे ही इस दुर्धर सयमको धारण

---

1 -वत अमान्य प्रणिगदति-आ०।

'आसणत्थं आसनार्थं । अस्या उपरि सुखेनासे इति मत्वा स यथा गुरुशिलोद्वहनखेदं नानेऽहते, स्वल्प तस्या उपर्यासनसुखमपेक्षते स्वबुद्धचा । 'तह भोगत्थ खु' तथा भोगार्थमेव । 'होदि' भवति । 'सञ्जमवहण' दुर्वहं सयमधारण । 'णिदाणेण' निदानेन सह ॥१२४१॥

बाह्यवस्तुजनितादिन्द्रियसुखात्तन्निमित्तवस्तुविनाशे यज्जायते दु ख तदधिक तम अत स्वल्पसुखनिमित्त को नाम सचेतनो दु खभीरुर्दु खाब्धौ पतेदिति दर्शयति—

भोगोवभोगसोक्खं ज ज दुक्खं च भोगणासम्मि ।
एदेसु भोगणासे जातं दुक्ख पडिविसिट्ठं ॥१२४२॥

'भोगोवभोगसोक्ख' मृष्टाशनताम्बूलादिकं स्त्रीवस्त्रालङ्कारादिभिश्च जनित सत्सुख । 'भोगणासम्मि' सुखसाधनस्य वस्तुनो विनाशे च । 'ज जं दुक्ख च' यद्यद्दु ख जायते । 'एदेसु' एतयो सुखदु खयो 'भोगनाशे' सुखसाधनाना विनाशे च । 'जात दुक्ख पडिविसिट्ठं' अधिकतममिति यावत् ॥१२४२॥

देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं ।
दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चेव सोक्खं खु ॥१२४३॥

'देहे' शरीरे मनुजाना । 'छुहादिमहिदे' क्षुधा, पिपासया, शीतोष्णेन, व्याधिभिश्च मथिते । 'चले' अनित्ये च । 'सत्तस्स' आसक्तस्य । 'किं च सुख होज्ज' किमत्र सुख भवेत् । 'दुक्खस्स य पडियारो' दु खस्य प्रतीकार । 'रहस्सण चेव' ह्रस्वकरण एव 'सोक्ख' सौख्य । खु शब्द पादपूरणे दु खप्रतीकारोऽल्पता वा दु खस्य सुखमित्यनेनाख्यातम् ॥१२४३॥

सुखमन्तरेणापि अस्ति दु ख, सुख पुनरैन्द्रियक न जायते दु ख विना तत सुखार्थी दु खमेव प्रागात्म-

करनेसे मुझे भोगोकी प्राप्ति हो इस निदानके साथ जो सयम धारण करता है उसका सयम धारण भोगोंके लिये है अर्थात् स्वल्पसुखके लिए बहुत दु ख उठाता है ॥१२४१॥

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तुमे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रिय सुखसे उस सुखमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर जो दु ख होता है वह अधिक है, अत थोडेसे सुखके लिये कौन दु खभीरु ज्ञानी दु खके समुद्रमे गिरना पसन्द करेगा—

गा०—भोग अर्थात् सुस्वादु भोजन पान आदि और उपभोग अर्थात् स्त्री वस्त्र अलकार आदिमे होनेवाला सुख तथा सुखके साधनमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर होनेवाला दु ख, इन दोनो सुख और दु खमेंसे भोगके साधनोका विनाश होनेपर होनेवाला दु ख बहुत अधिक होता है ॥१२४२॥

गा०—यह शरीर भूख, प्यास, शीत, उष्ण तथा रोगोंसे पीडित और विनाशशील है। इसमे जो आसक्त है उसे क्या सुख होता है ? वास्तवमे दु खका प्रतीकार अथवा दु खको कम करना ही सुख है । अर्थात् दु खके प्रतीकारको या दु खकी कमीको ही सुख मान लिया गया है। वास्तवमे सुख नही है ॥१२४३॥

सुखके विना भी दु ख होता है किन्तु इन्द्रियजन्य सुख दु खके विना नही होता। अत

१ नारोतस्तौ वा—आ० मु० ।

नोऽभिलषति न च दु खाभिलाष प्राज्ञस्य युक्त इति कथयति—

सोक्खं अणवेक्खित्ता बाधदि दुक्खमणुगपि जह पुरिसं ।
तह अणवेक्खिय दुक्खं णत्थि सुहं णाम लोगम्मि ॥१२४४॥

'सोक्ख' सौख्य । 'अणवखित्ता' अनपेक्ष्य । बाधति दुक्खमणुग पि बाधते दु खमण्वपि । जह पुरिस' यथा पुरुष । 'तह' तथा । अणवेक्खिय' अनपेक्ष्य । 'दुक्ख' दु ख । 'लोगम्मि णत्थि सुह' लोके नास्ति सुख नामेन्द्रियक । क्षुत्पिपासाभ्या पीडित एवाशन पान चान्विषते । कठोरातपतप्त एव शीत, शीतसकुचिततनुरेव प्रावरणादिक, वातातपाम्बुभिरेवोपद्रुतो भवनमभिलषति । स्थानासनोपजातश्रम एव शय्या कामयते । पादगमनजातखेदव्यपोहनार्थंव शिबिकादिक, वैरूप्यनिराकृतये एव वस्त्राणि भूषणानि च दौर्गन्ध्यनाशनार्थंव तुरुष्ककालागुर्वादिक, खेदगमनार्थंव रमण्य इति सव दु खप्रतीकारमेव । त्रिविधवेदोदयजनित प्राणिना लिङ्गत्रयवर्तिना परस्पराभिलाष । स तेषा परस्परशरीरससर्गे सत्यपि न विनश्यति । अभिलापनिमित्ताना कर्मणा सद्भावात् । न हि कार्यमविकलकारणसन्निधौ न भवति । कामो हि सेव्यमानो वेदत्रय प्रत्यग्रमाकर्षति । सतोऽप्यनुभवमुपबृ हयते । कारणसम्पर्कात्कार्यसम्पादो नित्यमिति निरन्तराभिलापदहनदह्यमानचेतसो न कदाचिन्निवृ तिरस्ति । अपनीते तु वेदत्रये कारणाभावात् कार्याभाव इति निरवशेषवेदापगमे स्वास्थ्य यदस्य तदेव सुखमिति मन्यमानो दृष्टान्त दर्शयति ॥१२४४॥

जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह पहले दु ख चाहता है किन्तु विद्वानके लिए दु खकी चाह युक्त नही है यह कहते हैं—

गा०—जैसे सुखकी अपेक्षाके विना थोडा-सा भी दु ख पुरुषको कष्टदायक होता है वैसे ही लोकमे इन्द्रियजन्य सुख दु खकी अपेक्षाके विना नही है ॥१२४४॥

टी०—भूख और प्याससे पीडित पुरुष ही भोजन और पेयको खोजता है। कठोर घामसे पीडित शीतल प्रदेश खोजता है। शीतसे जिसका शरीर ठिठुर गया है वही ओढना आदि खोजता है। वायु घाम वर्षा आदिसे पीडित ही मकान खोजता है। उठने बैठनेमे थका हुआ ही शय्या चाहता है। पैदल चलनेसे हुए कष्टको दूर करनेके लिए ही सवारी आदि चाहता है। विरूपता दूर करनेके लिए ही वस्त्र आभूषण चाहता है। दुर्गन्ध दूर करनेके लिए ही सुगन्धित द्रव्य लोबान आदि होते हैं। खेद दूर करनेके लिए ही सुन्दर स्त्रियाँ होती हैं। इस तरह सब दु खके प्रतीकारके लिए हैं। स्त्री लिङ्गी, पुरुष लिङ्गी और नपुसक लिङ्गी प्राणियोको स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुसकवेदके उदयसे परस्परमे रमण करनेकी अभिलाषा होती है। किन्तु वह अभिलाषा परस्परमे शारीरिक ससर्ग होनेपर भी नष्ट नही होती, क्योकि उस अभिलाषामे निमित्त वेदकर्मका सद्भाव है। कारणोंके अविकल होते हुए कार्य अवश्य होता है। कामका सेवन करनेसे नवीन स्त्रीवेद पुरुषवेद या नपुसकवेदका बन्ध होता है। तथा सत्तामे स्थित इन कर्मोके अनुभागमे वृद्धि होती है क्योकि कारणके होनेपर कार्य नित्य ही हुआ करता है। जिनके चित्त निरन्तर अभिलापारूप आगसे जलते हैं उन्हे कभी भी शान्ति नही मिलती। तीनो वेदोंके चले जानेपर कारणका अभाव होनेसे कार्यका भी अभाव होता है। अत वेदोका पूर्णरूपसे अभाव होनेपर जो स्वास्थ्य होता है वही सुख है ॥१२४४॥

जह कोडिल्लो अग्गिं तप्पंतो णेव उवसमं लभदि ।
तह भोगे भुंजतो खणं पि णो उवसमं लभदि ॥१२४५॥

'जह कोडिल्लो' यथा कुष्ठेनोपद्रुत । 'अग्गिं तप्पतो' अग्निना दह्यमानमूर्तिरपि । 'णेव उवसमं लभदि' नैव व्याधेरुपशम लभते । न ह्यग्निरुपशामक कुष्टस्यापि तु वर्द्धक । यच्चस्य वृद्धिनिमित्त न तत्तदुपशमयति । यथा कुष्ठ नोपशमयति वह्नि । वर्धयति चाभिलाष अबलादिसगम 'तह' तथा । 'भोगे भुजतो' भोगानुभवनोद्यत । 'खणदि णो उवसम लभदि' क्षणमात्रमपि नोपशम लभते भोगाभिलाषरोगस्य ॥१२४५॥

कच्छुं कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे ।
दुक्खे सुहाभिमाण मेहुण आदीहिं कुणदि तहा ॥१२४६॥

'कच्छु' कच्छु । 'कडुयमाणो' नखैर्मर्दयन् । 'सुहाभिमाण करेइ' सुखाभिमान करोति । 'जह दुक्ख' यथा दु खे । 'तह मेहुण आदीहिं' तथा मैथुनादिदु खे रभसालिङ्गने, अधरदशने, उरस्ताडने नखैर्निशितैरङ्गच्छेदने कचाकर्षणे । उक्त च—

> नग्न प्रेत इवाविष्ट स्वनन्निव शवन्निव ।
> श्वासायासपरिश्रान्त स कामी रमते किल ॥१॥ इति ॥ [ ] ॥१२४६॥

घोसादकीं य जह किमि खतो मधुरित्ति मण्णदि वराओ ।
तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्ख जणो कामी ॥१२४७॥

'घोसादकीं' घोषातकी । 'किमि' कृमि । 'खतो' भक्षयन् । 'जहा मधुरित्ति' यथा मधुरमिति मन्यते वराक । 'तहं' तथैव । 'दुक्ख वेदतो' दु खमनुभवन् । 'मण्णदि सोक्ख जणो कामो' मन्यते कामिजन सुख ॥१२४७॥

इसे दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

गा०—जैसे कुष्ठ रोगसे पीडित व्यक्तिका शरीर आगमे जलने पर भी कुष्ठ रोग शान्त नही होता, क्योकि आग कुष्ठ रोगको शान्त नही करती, बल्कि बढाती है । और जो जिसको बढाता है वह उसको शान्त नही कर सकता । जैसे आग कुष्ठ रोगको शान्त नही करती । उसी प्रकार स्त्रीका सगम स्त्री विषयक अभिलाषाको बढाता है । अत जो भोगोंके भोगनेमे तत्पर है उसकी भोगकी अभिलाषा रूप रोग एक क्षणके लिए भी शान्त नही होता ॥१२४५॥

गा०-टी०—जैसे खाजको नखोसे खुजाने वाला दु खको सुख मानता है । उसी प्रकार मैथुनके समय वेगपूर्वक आलिंगन, ओष्ठ काटना, छाती मसलना, तीक्ष्ण नखोंसे शरीर नोचना, केश खीचना आदिसे होने वाले दु खको कामी सुख मानता है । कहा भी है—कामी पुरुष पिशाचसे ग्रहीत पुरुषकी तरह नग्न होकर स्त्रीके साथ रमण करता है और श्वास तथा थकानसे पीडित होकर शब्द करते हुए श्वास लेता है ॥१२४६॥

गा०—जैसे बेचारा कीट घोषा नामक लताको खाते हुए उसे मीठी मानता है उसी प्रकार कामी जन दु खका अनुभव करते हुए उसे सुख मानता है ॥१२४७॥

सुट्ठु वि मग्गिज्जतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो।
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जते भोगेसु अप्पं पि ॥१२४८॥

'सुट्ठु वि' सुष्टु अपि। 'मग्गिज्जतो' मृग्यमाणोऽपि। सारं कदल्या क्वचिदपि मूले मध्येऽन्ते वा यथा नास्ति तथा भोगेष्वन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥१२४८॥

ण लहदि जह लेहंतो सुक्खल्लयमट्ठियं रसं सुणहो।
से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुखं ॥१२४९॥

'जध सुणगो सुक्खल्लगमट्ठियं लेहंतो रसं जहा ण लभदि' श्वा शुष्कमस्थि लिहन् सन् यथा रसं न लभते। 'सगतालुगरुहिरं लेहतो सो सोक्खं मण्णदे' तीक्ष्णास्थिछिन्नस्वतालुगलितरुधिरमास्वादयन्सुखाभिमानं करोति। 'जह तह' यथा तथा। 'पुरिसो ण किंचि सुखं लभइ' पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥१२४९॥

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो।
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥१२५०॥

'महिलादिभोगसेवी' स्त्र्यादिभोगसेवनोद्यतः। तथा 'पुरिसो ण किंचि वि सुहं लहदि' तथा पुरुषो न किंचिदपि सुखं लभते एव। 'सो वराओ सगकायपरिस्समं सोक्खं मण्णदे' स वराकः स्वकायश्रमं सौख्यं मन्यते ॥१२५०॥

अनुभवसिद्धं सुखं कथं नास्तीति शक्यते वक्तुं इत्याशङ्क्य असत्यपि सुखे सुखज्ञानं जगतो भवति विपर्यस्तं सुखकारणमस्येति दृष्टान्तोपन्यासेन वदति—

दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स।
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स ॥१२५१॥

'दीसइ वणमयस्स तिसिदस्स जहा जलं मयतण्हिया' वने मृगेण हरिणादिना तृषाभिभूतेन जलकांक्षा-

---

गा०—जैसे अच्छी तरह खोजने पर भी केलेके वृक्षमें मूल मध्य या अन्तमें कहीं भी कुछ सार नहीं है वैसे ही खोजने पर भी भोगोंमें कुछ भी सार नहीं है ॥१२४८॥

गा०—जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते हुए रस प्राप्त नहीं करता। किन्तु तीक्ष्ण हड्डीके द्वारा कटे अपने तालुसे झरते हुए रक्तका स्वाद लेते हुए सुख मानता है ॥१२४९॥

गा०—उसी तरह पुरुष स्त्री आदि विषयभोगमें किञ्चित् भी सुख प्राप्त नहीं करता वह बेचारा अपने शरीरके श्रमको ही सुख मानता है ॥१२५०॥

विषयभोगमें सुख अनुभवसे सिद्ध है आप कैसे कहते हैं कि उसमें सुख नहीं है ऐसी आशंका करने पर दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि सुखके नहीं होने पर भी सुखके कारणमें विपरीत बुद्धि होनेसे जगत्को सुखका बोध होता है—

गा०—जैसे वनमें हरिण आदि जब प्याससे व्याकुल होकर जलकी इच्छा करते हैं तो उन्हें मरीचिका जलके समान प्रतीत होती है किन्तु हरिणके उसे जल मानने पर भी वह जल रूप नहीं होती। उसी प्रकार रागके प्यासेको भोग सुखकी तरह प्रतीत होते हैं ॥१२५१॥

वता जलमिव दृश्यते मृगतृष्णिका । न वा मृगेण जलतयोपलब्धेऽपि जलं भवति । तथा 'रागेण तिसिदस्स भोगा सुहं व दोसति' रागतृषितेन भोगा सुखमिव दृश्यन्ते ॥१२५१॥

वग्घो सुखेज्ज मदय अवगासेऊण जह मसाणम्मि ।
तह कुणिमदेहसफरुणेण अवुहा सुहायंति ॥१२५२॥

वग्घो सुखेज्ज' श्मशाने व्याघ्रो मृतकमवग्रास्य तृप्यति यथा तथा कुथितदेहसम्पर्शनेनावुधा सुखाधिगमहृष्टनिर्भरा भवन्ति ॥१२५२॥

भवतु नाम सुखं भोगस्तथापि तदत्यल्पमिति निवेदयति—

तह अप्पं भोगसुहं जह धावतस्स अहिदवेगस्स ।
गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्पं ॥१२५३॥

तया अप्पं भोगसुहं धावतस्स अहिदवेगस्स गिम्हे उण्हातत्तस्स जहा छायासुहं अप्पं तह अप्पं भोगसुहं' धावतोऽस्यितवेगस्य ग्रीष्मे उष्णाभितप्तस्य यथा मार्गस्थैकतरुच्छायासुखमल्पं भोगसुखं तथा ॥१२५३॥

अहवा अप्पं आसासमुहं सरिदाए उप्पियंतस्स ।
भूमिच्छिक्कगुट्ठस्स उव्भमाणस्स होदि सोत्तेण ॥१२५४॥

अहवा' अथवा । 'अप्पं' अल्पं । 'आसासमुहं' आश्वास एव सुखं । 'सरिदाए' नद्या । 'उप्पियंतस्स' निमज्जन । भूमिच्छिक्कगुट्ठस्स' भूमिस्पृष्टाङ्गुष्ठस्य । 'सोत्तेण उव्भमाणस्स' स्रोतसा प्रवाहेणोह्यमानस्य । अल्पं आश्वासमुखं तद्वदिन्द्रियसुखमत्यल्पमित्यतिक्रान्तेन संबन्धः ॥१२५४॥

इन्द्रियसुखानि यद्यलब्धपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तत्र तानि सर्वाणि अनन्तवारपरिभुक्तानि, तेषु भुक्तेषु परिचयवत्सु न युक्तो विस्मय इति अनादरं जनयति तेषु सूरिः—

जावंति केइ भोगा पत्ता सव्वे अणंतखुत्ता ते ।
को णाम तत्थ भोगेसु विभओ लद्धविजढेसु ॥१२५५॥

गा०—जैसे श्मशानमें व्याघ्र मुर्देको खाकर सुखी होता है वैसे ही दुर्गन्धित शरीरके आलिंगनमें अज्ञानी सुख मानकर हर्षसे भर जाते हैं ॥१२५२॥

आगे कहते हैं कि भोगमें भले ही सुख हो किन्तु वह सुख अति अल्प है—

गा०—जैसे ग्रीष्म ऋतुमें अत्यन्त वेगसे दौड़ते हुए और मध्यकालके सूर्यकी किरणोंसे सतप्त पुरुषको मार्गमें स्थित एक वृक्षकी छायामें जानेमें थोड़ा-सा सुख होता है वैसे ही भोगमें अति अल्प सुख है ॥१२५३॥

गा०—अथवा नदीमें डूबते हुए और प्रवाहके द्वारा बहाकर ले जाते हुए मनुष्यको भूमिसे अंगूठेके छू जाने पर जैसा अल्प आश्वास सुख होता है कि मैं तट पर लग जाऊँगा, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य सुख अति अल्प होता है ॥१२५४॥

गा०—यदि इन्द्रिय सुख पूर्वमें कभी प्राप्त न हुए होते तो उनकी प्राप्तिमें हर्ष होना

---

१. श्मशाने मृतं शवं भुक्त्वा व्याघ्रस्तृप्यति—आ० ।

'जावंति केइ भोगा' यावन्त केचन भोगा । 'ते सव्वे पत्ता अणतखुत्ता ते' सर्वे प्राप्ता अनन्तवार तव । 'को णाम तस्य भोगेसु' को नाम तेषु भोगेषु विस्मय- लब्धेषूज्झितेषु ॥१२५५॥

भोगतृष्णा निरन्तर दहति भवन्त, सेव्यमाना पुनर्भोगास्तामेव तृष्णा वर्द्धयन्ति ततो भोगेच्छा शिथिलता नेयेति वदति—

जह जह भुजइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा ।
अग्गीव इधणाइ तण्ह दीविंति से भोगा ॥१२५६॥

'जह जह भु जदि भोगे' यथा यथा भोगान्भुङ्क्ते । 'तह तह' तथा तथा । 'भोगेसु वड्ढदे तण्हा' भोगेषु वर्धते तृष्णा । 'अग्गि व' अग्नि वा । यथा 'इधणाइ' इन्धनानि । 'दीविंति' दीपयन्ति । 'तहा' तथा । 'तण्ह' तृष्णा दीपयन्ति । 'से' तस्य भोक्तुर्भोगा । तथा चोक्तम्—

तृष्णार्चिष परिदहन्ति न शान्तिरासा । इष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ॥ [वृहत्स्वयभू०] ॥१२५६॥

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरं पि भोएहिं भु जमाणेहिं ।
तित्तीए विणा चित्तं उव्वूर उव्वुद होइ ॥१२५७॥

'जीवस्स जीवस्य । नास्ति तृप्तिश्चिरकालमपि भोगाननुभवत पल्योपमत्रय काल भोगभूमीषु त्रयस्त्रिशत्सागरोपमकाल अमरेषु । तृप्त्या च विना चित्त । 'उव्वूर उव्वुद' उत्पूर उन्द्रुत भवतीति सूत्रार्थ ॥१२५७॥

जह इधणेहि अग्गी जह व समुद्दो णदीसहस्सेहि ।
तह जीवा ण हु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥१२५८॥

'जह इधणेहिं' यथेन्धनैरग्निर्न तृप्यति । यथा वा समुद्रो नदीसहस्रैः । तथा जीवो न शक्यो भोगैस्तर्पयितु ॥१२५८॥

उचित था, किन्तु उन सबको तुमने अनन्त बार भोगा है। उन भोगकर छोडे गये विषयोमे हर्ष मानना उचित नही है। इस प्रकार आचार्य विषयोके प्रति अनादर भाव उत्पन्न करते हैं—जितने ससारके भोग हैं वे सब तुमने अनन्त बार प्राप्त किये हैं उन प्राप्त करके छोडे गये विषयोमे आश्चर्य कैसा ? ॥१२५५॥

आगे कहते हैं कि तुम्हे भोगोकी तृष्णा निरन्तर जलाती है। भोगोका सेवन उसी तृष्णाको बढाता है अत भोगोकी इच्छाको कम करो—

गा०—जैसे जैसे भोगोको भोगते हो वैसे वैसे भोगोकी तृष्णा बढती है। जैसे इधनसे आग प्रज्वलित होती है वैसे ही भोगोमे तृष्णा बढती है। कहा भी है—यह तृष्णारूपी ज्वाला सदा जलाती है, इष्ट इन्द्रियोके विषयोमे इनकी तृप्ति नही होती, बल्कि बढती है ॥१२५६॥

गा०—तीन पल्य तक भोगभूमिमे, तेतीस सागर तक देवोमे इस तरह चिरकाल तक भोगो को भोगते हुए भी तृप्ति नही होती और तृप्तिके बिना चित्त अत्यन्त उत्कण्ठित रहता है ॥१२५७॥

गा०—जैसे ईधनसे आगकी तृप्ति नही होती। अथवा जैसे हजारो नदियोसे समुद्रकी

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमीया ।
भोगेहि ण तिप्पति हु तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥१२५९॥

'देविंद' देवानामधिपतय, चक्रलाञ्छना वासुदेवा अर्धचक्रवर्तिन, भोगभूमिजाश्च भोगैर्न तृप्यन्ति । कथमन्यो जनस्तृप्तिमुपेयाद्भोगे । सुलभामितभोगसाधनाश्चिरजीविन स्वतन्त्राश्चामी । अन्ये तु भवादृशा जठरभरणमात्रमपि कर्तुं अशक्ता स्वल्पायुष, पराधीनवृत्तयश्च तृप्यन्तीति का कथा ॥१२५९॥

सपत्तिविवत्तीसु य अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु ।
भोगत्थ होदि णरो उद्धुयचित्तो य घण्णो य ॥१२६०॥

संपत्तिविवत्तीसु य' सम्पत्सु विपत्सु च । 'अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु' द्रव्यस्यालब्धस्यार्जने[1], पुञ्जीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणे । पर हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे । आदिशब्देन तद्व्ययकरणे वा । भोगत्थ अनुभवार्थं । अजनादिषु प्रवृत्त । 'उध्दुदचित्तो य णरो होदि' चलचित्त उत्कण्ठावाश्च भवति नर । द्रव्यसम्पदि जाताया रागाच्चलचित्त भवति । द्रविणादिविनाशे कथ जीवामि पुनर्द्रव्यार्जन करोमीति ॥१२६०॥

उद्धुयमणस्स ण सुह सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी ।
पीदीए विणा ण रदी उद्धुयचित्तस्य घण्णस्स ॥१२६१॥

'उद्धुदमणस्स' व्याकुलचित्तस्य 'ण सुह' न सुख भवति । 'सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी' सुखेन विना कुतो भवति प्रीतिस्तृप्ति । 'पीदीए विणा' प्रीत्या विना । 'ण रदी' न रति । 'उद्धुदचित्तस्स' व्याकुलचेतस । 'घण्णस्स' उत्कण्ठाडाकिन्या गृहीतस्य ॥१२६१॥

तृप्ति नही होती, वैसे ही भोगोसे जीवकी तृप्ति नही होती ॥१२५८॥

गा०–टी०—देवोके अधिपति इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव अर्थात् अर्धचक्री और भोगभूमियाँ जीव भी भोगोसे तृप्त नही होते । तब साधारण मनुष्य कैसे भोगोसे तृप्त हो सकता है ? अर्थात् इनके लिए भोगोके अपरिमित साधन सुलभ हैं, तथा इनकी आयु भी बहुत होनेसे चिरकालतक ये जीवित रहते हैं और किसीके अधीन न होनेसे स्वतन्त्र होते हैं । आप सरीखे साधारण मनुष्य तो पेट भरनेमे भी असमर्थ और थोडी आयुवाले तथा पराधीन होते हैं । अत उनकी भोगोसे तृप्ति होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥१२५९॥

गा०—सम्पत्ति होनेपर मनुष्य अप्राप्त द्रव्यके कमानेमे, एकत्र हुए द्रव्यके रक्षणमे, दूसरेके हाथमे गई सम्पत्तिको उससे लेनेमें और आदि शब्दसे उसे खर्च करनेमे, तथा भोगनेमें व्याकुल रहता है और विपत्तिमे अर्थात् धन आदिका विनाश होनेपर कैसे मैं जीवित रहूँगा ? कैसे पुन द्रव्य कमाऊँगा इस उत्कण्ठासे व्याकुल रहता है ॥१२६०॥

गा०—जिसका चित्त व्याकुल रहता है उसे सुख नही होता । सुखके बिना प्रीति नही होती । प्रीतिके बिना रति नही होती । इस तरह जिसका चित्त व्याकुल रहता है और जो उत्कण्ठारूपी डाकिनीसे ग्रस्त है उसे सुख कैसे हो सकता है और सुखके बिना प्रीति और प्रीतिके बिना रति सम्भव नही है ॥१२६१॥

---

१ स्यावर्जन पु०–आ० ।

जो पुण इच्छदि रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुदिकरम्मि ।
कुणदि रदिं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी ॥१२६२॥

'जो पुण इच्छदि रमिदु' य पुना रमितु इच्छति । 'सो कुणदि रदि' स करोतु रति । क्व ? 'अज्झप्पसुखम्मि' अध्यात्ममुखे । 'णिव्वुदिकरम्मि' निर्वृतिकरे । 'उवसंतो' उपशान्तरागकोप । एतदुक्त भवति—मनोज्ञामनोज्ञविषयसन्निधाने स्वसकल्पहेतुकौ यौ रागद्वेषौ तौ परित्यज्य निर्वृत्तितृप्तिकरे अध्यात्ममुखे रति करोतु । 'अज्झप्पसमा' आत्मस्वरूपविषया रतिरध्यात्मशब्देनाच्यते । तया सदृशी रति । 'णत्थि खु' न विद्यते एव । यस्मात् भोगरतिरध्यात्मनो रत्या न सदृशी ॥१२६२॥

कथम् ?

अप्पायत्ता अज्झपरदी भोगरमण परायत्तं ।
भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण ॥१२६३॥

'अप्पायत्ता' स्वायत्ता । 'अज्झप्परदी' आत्मस्वरूपविषया रति परद्रव्यानपेक्षणात् । 'भोगरमण' भोगरति 'परायत्त' परायत्ता परद्रव्यालम्बनत्वात् । तेषा च कथंचिदेव सानिध्य क्वचिदेव कस्यचिदवेति । एतेन स्वायत्ततया परायत्ततया चासाम्यमाख्यात । प्रकारान्तरेणापि वैषम्य दर्शयति । 'भोगरदीए चइदो होदि' भोगरत्या च्युतो भवति । न प्रच्युतो भवति 'अज्झप्परमणेण' अध्यात्मरत्या ॥१२६३॥

अनेकविघ्नसहिता विनाशिनी च भोगरति, अध्यात्मरतेस्तु भाविताया न नाशो नापि विघ्न इति कथयत्युत्तरगाथा—

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥१२६४॥

गा०—टी०—हे क्षपक ! जो तू रमण करना चाहता है तो रागद्वेपका शमन करके परम तृप्तिकारक अध्यात्म मुखमें रति कर । कहनेका अभिप्राय यह है कि इष्ट और अनिष्ट विषयोंके प्राप्त होनेपर 'यह अच्छा है और यह बुरा है' इस प्रकारके सकल्पके कारण जो रागद्वेष होते हैं उन्हें त्यागकर तृप्तिकारक अध्यात्म मुखमें रमण कर । यहाँ अध्यात्म शब्दसे आत्मस्वरूप विषयक रति कही है । उसके समान कोई रति नहीं है । क्योंकि भोगसम्बन्धी रति अध्यात्म विषयक रतिके समान नहीं है ॥१२६२॥

गा०—टी०—क्योंकि आत्मस्वरूप विषयक रति अपने अधीन है उसमे परद्रव्यकी अपेक्षा नहीं है । किन्तु भोग रति पराधीन है क्योंकि उसमे परद्रव्यका अवलम्बन लेना होता है । और परद्रव्य कभी-कभी ही किसी किसीको ही थोडे बहुत प्राप्त होते हैं । इससे स्वाधीन और पराधीन होनेसे दोनोमें असमानता कही । अन्य प्रकारसे भी दोनोमें विषमता बतलाते हैं—

भोग रतिसे तो मनुष्य वंचित हो जाता है किन्तु अध्यात्म रतिसे नहीं होता क्योंकि आत्म द्रव्य सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा उसके पास रहता है ॥१२६३॥

भोग रतिमें अनेक विघ्न रहते हैं और वह नष्ट होने वाली है किन्तु भावित अध्यात्म रतिका कभी नाश नहीं होता और न उसमे विघ्न आता है, यह आगे कहते हैं—

'भोगरदीए' भोगरतया । 'णियदो णासो' नियतो विनाश । 'विग्घा य हु ति' विघ्नाश्च भवन्ति । 'अदिबहुगा' अतीव बहव । 'अज्झप्परदीए' अध्यात्मरते । 'सुभाविदाए' सुष्ठु भावितायाः । 'णासो' नाशो, न विद्यते । 'विग्घा वा' विघ्ना वा न सन्ति । नियत नश्वरतयाऽनश्वरतया वा बहुविघ्नतया, निर्विघ्नतया च तयो रत्योर्वैषम्यमिति भाव ॥१२६४॥

इन्द्रियसुख शत्रुतया सङ्कलनीय तथा च तत्रादरो जन्तोर्निवृत्तेः अतो अतीन्द्रियसुखत्वमेव वीतरागत्व-हेतुः इ भवरे इति मत्वा सूरिचूलामणिराह—

दुक्खं उप्पादिंता पुरिसा पुरिसस्स होंति जदि सत्तू ।
अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सत्तू किहु ण हुती ॥१२६५॥

'दुक्ख उप्पादिंता' दुःखमुत्पाद्य । 'जदि सत्तू होंति' यदि शत्रवो भवन्ति । 'पुरिसा पुरिसस्स पुरुषा पुरुषस्य । अदिदुक्ख कुणमाणा भोगा' अतीव दुःख कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि । 'किध सत्तू ण हु ति' कथ शत्रवो न भवन्ति भवन्त्येवेति । कथ भोगाना दुःखहेतुता एव मन्यते ? इन्द्रियसुख नाम स्त्रीवस्त्रगन्धमालादि-परद्रव्यसन्निधानजन्य । तच्च स्त्र्यादिक दुर्लभतम निर्द्रविणस्य, तेन तदर्थं कृष्यादिकर्मणि प्रयतितव्य । ततो महानायास । इहैव भवानुगामी दुःखनिमित्त च कर्म हिंसादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति । तदिम दुरन्ते ससाराम्भोधौ निमज्जयति । तत्र च निमग्नेन कतम दुःखमनेन नावाप्यते ॥१२६५॥

शत्रुतमा भोगा इति कथयति—

इहइ परलोगे वा सत्तू मित्तत्तण पुणमुवेंति ।
इहइ परलोगे वा सदावि दुःखावहा भोगा ॥१२६६॥

'इहइ' अस्मिन्नेव जन्मनि । 'परलोगे वा' परजन्मनि वा । 'सत्तू' शत्रव । 'मित्तत्तण' मित्रता ।

गा०—भोग रतिका नियमसे विनाश होता है तथा उसमें विघ्न भी बहुत हैं । किन्तु अच्छी रीतिसे भावित अध्यात्म रतिका न विनाश होता है और न उसमे कोई विघ्न आते हैं । इस तरह भोगरति नियमसे नश्वर और बहुत विघ्न वाली है तथा अध्यात्मरति निर्विघ्न और अविनाशी है इसलिए दोनोमे कोई समानता नही है ॥१२६४॥

आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय सुखको शत्रुके समान मानो । ऐसा करनेसे उनमे जो आदर-भाव है वह दूर होगा । तथा अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागताका कारण होनेसे सवर रूप है—

गा०-टी०—यदि दुःख देने वाले पुरुष पुरुषके शत्रु होते हैं तो अति दुःख देने वाले भोग अर्थात् इन्द्रिय सुख शत्रु क्यो नही हैं ? अवश्य हैं । भोग दुःखके कारण क्यों हैं यह विचार करें । स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदि परद्रव्यके मिलनेसे जो होता है उसे इन्द्रिय सुख कहते हैं । वह स्त्री आदि धनहीनके लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं । अत धनकी प्राप्तिके लिए कृषि आदि कर्म करना चाहिए । उससे महान् आरम्भ होता है । हिंसा आदिमे प्रवृत्ति करनेसे इसी भव तथा परभवमे दुःख देने वाले कर्मका उपार्जन करता है । और वह कर्म उसे ऐसे ससार समुद्रमे डुबाता है जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है । उस ससार समुद्रमें डूबकर यह जीव कौन दुःख नही भोगता ॥१२६५॥

आगे कहते हैं कि भोग सबसे बडे शत्रु हैं—

गा०—इस जन्ममे अथवा परजन्ममे शत्रु शत्रुताको छोड़कर मित्र बन जाते हैं । अर्थात्

'पुणमुवेंति' पुनर्ढौकन्ते । शत्रव शत्रुतामपि जह्यु । कार्यवशात्, उपकारातिशयसम्पादनान्मित्रता वा यान्ति च । वाचा न स्फुटतरा । इहैव तथा परलोके वा 'सव्वदा दुक्खावहा भोगा' सर्वदा दु खावहा भोगा । तत शत्रुतमा इति भावनीय ॥१२६६॥

एगम्मि चेव देहे करेज्ज दुक्ख ण वा करेज्ज अरी।
भोगा से पुण दुक्ख करति भवकोडिकोडीसु ॥१२६७॥

'एगम्मि चेव देहे' एकस्मिन्नेव देहे । 'करेज्ज दुक्ख ण वा करेज्ज अरी' कुर्याद्दुःख न वा शत्रु । 'भोगा पुण' भोगा पुन । 'से' तस्य । 'दु क्ख करति' दु ख कुर्वन्ति । 'भवकोडिकोडीसु' अनन्तेषु भवेषु । एव भागदोषानवेत्यात्र निदान त्वया न काय इत्युपदिष्ट सूरिणा ॥१२६७।

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलंबो ण पिच्छदि पपादं ।
तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहससार ॥१२६८॥

'मधुमेव पिच्छदि' मध्वेव पश्यति यथा तटेऽवलम्बमान । 'ण पिच्छदि' न प्रेक्षते । 'पपाद' प्रपातमात्मन । 'तह' तथा 'सणिदाणो' निदानसहित । 'भोगे पिच्छदि' भोगान्प्रेक्षते । 'ण हु पेच्छदि' नैव प्रेक्षते । 'दीहससार' दीर्घसंसार ॥१२६८॥

जालस्स जहा अते रमति मच्छा भय अयाणता ।
तह सगादिसु जीवा रमति संसारमगणता ॥१२६९॥

'जालस्स' जालस्य । 'अते' मध्ये । 'जहा मच्छा रमति' यथा मत्स्या रमन्ते । 'भयमयाणंता' भयमनवबुध्यमाना । 'तह सगादिसु' तथा परिग्रहादिषु । 'जीवा रमति' जीवा रमन्ते । 'ससारमगणंता' ससारमगणयन्त ॥१२६९॥

दुक्खेण देवमाणुसभोगे लद्धूण चावि परिवडिदो ।
णियदमदीदि कुजोणीं जीवो सघर पउत्थो वा ॥१२७०॥

उपकार आदि करनेसे प्रभावित होकर शत्रु मित्र बन जाते हैं वह भी केवल कहनेके लिए नही किन्तु खुले दिलमे मित्र बन जाते हैं। किन्तु भोग इस जन्ममे और परजन्ममे सदा ही दु खदायी होते हैं। इसलिए वे शत्रुसे भी बडे शत्रु हैं ॥१२६६॥

गा०—शत्रु एक ही भवमे दु ख दे या न भी दे। किन्तु भोग तो अनन्त भवोमे दु ख देते हैं ॥१२६७॥

इस प्रकार भोगोंके दोष जानकर हे क्षपक तुम्हे निदान नही करना चाहिए, ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं—

गा०—इस प्रकार जैसे कुएँकी दीवारके एक ओर लटका हुआ मनुष्य टपकने वाले मधुकी बूँदोको ही देखता है किन्तु अपने गिरनेको नही देखता। वैसे ही निदान करने वाला भोगोको तो देखता है किन्तु अपने दीर्घ ससारको नही देखता ॥१२६८॥

गा०—जैसे मत्स्य भयको न जानते हुए जालके मध्यमे उछलते-कूदते हैं, वैसे ही जीव ससारकी चिन्ता न करके परिग्रह आदिमे आनन्द मानते हैं ॥१२६९॥

'दुक्खेण लद्धूण' क्लेशेन लब्ध्वा। 'देवमाणुसभोगे' देवान्मानुषाश्च भोगान्। 'परिवडिदो' परिपतित प्रच्युतस्ततो भोगाज्जीव। 'कुजोणीं णियदमदीदि' कुत्सिता योनि नियतमुपैति। किमिव ? 'सघर' स्वगृह, 'पउत्थो वा' प्रवासीव ॥११७०॥

जीवस्स कुजोणिगदस्स तस्स दुक्खाणि वेदयंतस्स।
किं ते करंति भोगा मदोव वेज्जो मरंतस्स ॥१२७१॥

'जीवस्स कुजोणिगदस्स' कुयोनिगतस्य जीवस्य। 'दुक्खाणि वेदयतस्स' दु खानि वेदयमानस्य। 'किं ते करेंति भोगा' किं ते कुर्वन्ति भोगा स्त्रीवस्त्रादय। नैव किञ्चिदपि दु खल्वमपनेतु क्षमा। 'मदोव वेज्जो' वैद्यो मृतो यथा। 'मरंतस्स' म्रियमाणस्य न किञ्चित्कर्तु क्षम ॥१२७१॥

जह सुत्तबद्धसउणो दूरंपि गदो पुणो व एदि तहि।
तह ससारमदीहि हु दूरंपि गदो णिदाणगदो ॥१२७२॥

'जह सुत्तबद्धसउणो' यथा सूत्रेण दीर्घेण बद्ध पक्षी। 'दूरपि गदो' दूरमपि गत। 'पुणो एदि तहिं' पुनरप्येति तमेव देश। 'तह ससारमदीदि खु' ससारशब्दात्पर खु शब्दो द्रष्टव्य, ततोऽयमर्थ—ससारमेवाधिगच्छतीति। 'दूर पि गदो' महर्द्धिक स्वर्गादिस्थानमुपगत। 'णिदाणगदो' निदान परभवसुखातिशये मन प्रणिधान गत ॥१२७२॥

कश्चिद्बद्ध कारागृहे इयता कालेन तव द्रविण दास्यामि त्वदीयमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा द्रव्य रोधकेभ्य प्रदाय स्वगृहे सुख वसन्नपि पुनर्यथा तैरुत्तमर्णपर्यन्ते तथैव निदानकारी स्वकृतेन पुण्येन परिप्राप्तस्वर्गोऽपि पुनरथ पततीति निगदति—

इन्द्रिय सुख नियमसे कुयोनियोमे भ्रमण करनेका मूल कारण है क्योंकि अत्यधिक राग-द्वेषकी उत्पत्तिमे निमित्त है। उन कुयोनियोमे उत्पन्न होकर नाना प्रकारके दु खोका अनुभव करने वाले जीवके दु खोको, देवगति आदिके भोग वस्त्र अलकार भोजन आदि दूर करनेमे समर्थ नही है, ऐसा आगे कहते है—

गा०—जैसे देशान्तरमे गया व्यक्ति सर्वत्र घूमकर अपने घरको ही जाता है वैसे ही बडे कष्टसे प्राप्त देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोको भोगकर उन भोगोंके नष्ट हो जाने पर नियमसे कुयोनिमे जाता है ॥१२७०॥

गा०—जैसे मरा हुआ वैद्य मरते हुएकी रक्षा नही कर सकता। वैसे ही कुयोनिमे जाकर उस दु ख भोगते हुए जीवका स्त्री वस्त्र आदि भोग क्या कर सकते है ? वे उसका किञ्चित् भी दु ख दूर नही कर सकते ॥१२७१॥

गा०—जैसे लम्बे धागेमे बधा पक्षी सुदूर जाकर भी पुन वही लौट आता है। वैसे ही परभव सम्बन्धी विषय सुखमे मन लगाने वाला निदानी महान् ऋद्धिसे सम्पन्न स्वर्गादि स्थानोमे जाकर भी ससारमे ही लौट आता है ॥१२७२॥

जैसे कोई जेलखानेमे पडा व्यक्ति, मैं इतना समय बीतने पर तुम्हारा धन तुम्हे लौटा दूगा तुम मुझे धन दो, ऐसा वादा करके धन लेता है और वह धन जेलके रक्षकोको देकर अपने घरमे सुखपूर्वक निवास करता है किन्तु उसे पुन कर्ज देने वाले पकड लेते हैं उसी प्रकार निदान करने

दाऊण जहा अत्थ रोघणमुक्को सुह घरे वसइ ।
पत्ते समए य पुणो रुभइ तह चेव धारणिओ ॥१२७३॥

'दाऊण' दत्वा । 'अत्थ अर्थ । 'जह' यथा । रोघणमुक्को' रोधेन मुक्त । 'सुह घरे वसदि सु' सुखेन गृहे वसति । 'पत्ते समये य' प्राप्ते चावधिकाले । 'पुणो रु भइ' पश्चाच्च रुध्यते । 'तथा चेव' पूर्ववदेव । 'धारणीओ' अधमर्ण ॥१२७३॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

तह सामण्णं किच्चा किलेसमुक्क सुहं वसइ सग्गे ।
ससारमेव गच्छइ तत्तो य चुदो णिदाणकदो ॥१२७४॥

सभूदो वि णिदाणेण देवसुक्ख च चक्कहरसुक्ख ।
पत्तो तत्तो य चुदो उववण्णो [1]तिरियवासम्मि ॥१२७५॥

'सभूदो वि णिदाणेण' निदानेन सभूत कश्चित् । 'देवसुक्ख' देवसुख । चक्कधरसोक्ख' चक्रधर-सौख्य । 'पत्तो' प्राप्त । 'तत्तो य चुदो' तस्मात्सुखाच्च्युत उत्पन्न । 'उववण्णो' उपपन्न । '[2]तिरियवासम्मि' [3]तिर्यगावासे ॥१२७४॥

णच्चा दुरतमद्धुयमत्ताणमतप्पय अविस्साय ।
भोगसुह तो तम्हा विरदो मोक्खे मदि कुज्जा ॥१२७६॥

'णच्चा ज्ञात्वा । 'दुरत दुरवसानदु खफलमिति यावत् । 'अद्धुव' अनित्य । 'अत्ताण' अत्राण । 'अतप्पग' अतर्पक । 'अविस्साय' असकृद्वृत्त । 'भोगसुख भोज्यन्ते, सेव्यन्ते इति भोगा स्त्र्यादय , तज्जनित सुख । 'तो' पश्चात् । 'तम्हा' तस्मात् । भोगसुखात्, दुरन्तादिदुष्टदोषात । 'विरदो' व्यावृत्त । 'मोक्खे' मोक्षे

वाला अपने द्वारा किये गये पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त करके भी पुन गिरता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे धन देकर कारागारसे मुक्त हुआ कर्जदार सुखपूर्वक घरमे रहता है। किन्तु कर्ज चुकानेका समय आने पर पुन पकडकर बन्द कर दिया जाता है ॥१२७३॥

गा०—वैसे ही मुनिपद धारण करके निदान करने वाला स्वर्गमे क्लेश रहित सुखपूर्वक रहता है और वहाँसे च्युत होकर ससारमे ही भ्रमण करता है ॥१२७४॥

गा०—सभूत नामक व्यक्ति निदानके द्वारा देवगतिके सुख और चक्रवर्तीके सुखको प्राप्त हुआ अर्थात् मरकार सौधर्म स्वर्गमे उत्पन्न हुआ और वहाँसे मरकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुआ । उसके पश्चात् मरकर तिर्यञ्चगति (नरक गति) मे उत्पन्न हुआ ॥१२७५॥

गा०—जो भोगे जाते हैं उन स्त्री आदिको भोग कहते हैं। उनमे होने वाला सुख ऐसा दु ख देता है जिसका अन्त होना दुष्कर है, तथा वह भोग जन्य सुख अनित्य है, अरक्षक है उसमे तृप्ति नही होती, अनादि ससारमे उसे जीवने अनेक बार भोगा है। अत उसमे मनको हटाकर समस्त कर्मोंके अपायरूप मोक्षमे मन लगाना चाहिए। अर्थात् चारित्र और तपका पालन करनेमे

१-२-३ णिरय–मु० ।

निरवशेषकर्मापाये । 'मदि कुज्जा' मति कुर्यात्, अनुष्ठीयमानेन चारित्रेण तपसा वा कर्मक्षयोऽस्तीति मति कुर्यात्, न निदान कुर्यादित्यर्थ ॥१२७६॥

निदानदोष विस्तरत उपदर्श्य अनिदानत्वे गुण व्याचष्टे—

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाणचरणं विसोधेदि ।

तो सुद्धणाणचरणो तवसा कम्मक्खय कुणइ ॥१२७७॥

अणिदाणो य मुणिवरो' अनिदानो यतिवृषभ, 'दसणणाणचरण' रत्नत्रय, विसोधेदि' विशोधयति, निदानाभावादनतिचार सम्यग्दर्शन शुद्ध भवति, तस्मिन्निर्मले निर्मल ज्ञान, निर्मल विशुद्धज्ञानपुरोग चारित्र विशुद्ध भवति, 'तवसा कम्मक्खय कुणदि' तपसा कर्माणि निरवशेषाणि वियोजयत्यात्मन' ॥१२७७॥

इच्चेवमेदमविचितयदो होज्ज हु णिदाणकरणमदी ।

इच्चेव पस्सतो ण हु होदि णिदाणकरणमदी ॥१२७८॥

'इच्चेवमेदमविचितयदो' इत्येवमेतद्वस्तुजात अविचिन्तयत । 'होज्ज हु' भवेदेव, णिदाणकरणमदी' निदानकरणे बुद्धि , 'इच्चेव पस्सतो' इत्येवमेतत्पश्यन्, न खु होदि' नैव भवति 'णिदाणकरणमदी' निदानकरणमति । णिदाण ॥१२७८॥

मायामल्लस्सालोयणाधियारम्मि वण्णिदा दोसा ।

मिच्छत्तसल्लदोसा य पुव्वमुववण्णिया सव्वे ॥१२७९॥

'मायासल्लस्स' मायाशल्यस्य, 'आलोयणाधियारम्मि आलोचनाधिकारे 'वण्णिदा दोसा' वर्णिता दोषा , 'मिच्छत्तसल्लदोसा' मिथ्यात्वशल्यदोषाश्च । 'सव्वे' सर्वे, 'पुव्वमुववण्णिदा' पूर्वमेव व्यावर्णिता , शल्यत्रयगतदोषा भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूरिरेतत्कथयति आबुद्धदोषेण शल्यत्रय त्वया त्याज्यमिति ॥१२७९॥

मायाशल्यापरित्यागात्प्राप्तदोषमथाख्यानेन दर्शयति—

कर्मक्षय होता है ऐसी मति करना चाहिए । निदान नहीं करना चाहिए ॥१२७६॥

विस्तारसे निदानके दोष बतलाकर निदान न करनेमे गुण कहते हैं—

गा०—निदान न करने वाले मुनिवर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रयको विशुद्ध करते हैं । अर्थात् निदान न करनेसे निरतिचार सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है। सम्यग्दर्शनके निर्मल होने पर ज्ञान निर्मल होता है । और निर्मल विशुद्ध ज्ञान पूर्वक चारित्र विशुद्ध होता है। तब विशुद्ध ज्ञान चारित्रसे सम्पन्न मुनि तपके द्वारा सब कर्मोका क्षय करता है ॥१२७७॥

गा०—उक्त प्रकारसे जो वस्तुस्वरूपका विचार नहीं करता उसकी मति निदान करनेमें लगती है । और जो उसका विचार करता है उसकी मति निदान करनेमे नही लगती ॥१२७८॥

गा०—आलोचना अधिकारमे मायाशल्यके दोष कह आये हैं । और मिथ्यात्व शल्यके दोष पूर्वमें ही कहे हैं । इस प्रकार हे क्षपक ! तीनो शल्योंके दोष आपसे हमने कहे हैं । अब इन दोषोको जानकर तुम्हे तीनो शल्योका त्याग करना चाहिए । इससे आचार्य क्षपकके प्रति ऐसा कहते हैं ॥१२७९॥

मायाशल्यका त्याग न करनेसे प्राप्त हुए दोषको दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

पब्भट्ठबोधिलाभा मायासल्लेण आसि पूदिमुही ।
दासी सागरदत्तस्स पुप्फदंता हु विरदा वि ॥१२८०॥

'पब्भट्ठबोधिलाभा' प्रभ्रष्टो विनष्टो दीक्षाभिमुखबुद्धिलाभो यस्या सा प्रभ्रष्टबोधिलाभा । 'आसी' आसीत् । का ? 'पूदीमुही' पूतिमुखीसंज्ञिता । 'सागरदत्तस्स दासी' सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? 'मायासल्लेण' मायाशल्येन । 'पुप्फदंता हु विरदा वि मायासल्लेण पब्भट्ठबोधिलाभा आसी' इति पदसम्बन्धः पुष्पदन्ताख्या सयता च मायया प्रभ्रष्टबोधिलाभा आसीत् । मायाशल्य ॥१२८०॥

मिच्छत्तसल्लदोसा पियधम्मो साधुवच्छलो संतो ।
बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ मरीची ॥१२८१॥

'मिच्छत्तसल्लदोसा' मिथ्यात्वशल्यदोषात् । 'पियधम्मो' प्रियधर्म । 'साधुवच्छलो संतो' साधूनां वत्सलोऽपि सन् मरीचि । 'संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ' संसारे सुचिरं भ्रान्त , कीदृशे ? 'बहुदुक्खे' बहुदुःखे । मिथ्याशल्य ॥१२८१॥

एवं निर्यापकेण सूरिणा सस्तूयमानः साधुवर्गो निर्वाणपुरं प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रबन्धेन—

इय पव्वज्जाभंडिं समिदिबइल्लं तिगुत्तिदिढचक्कं ।
रादियभोयणउद्धं सम्मत्तक्खं सणाणधुरं ॥१२८२॥

[1]'इय सारमिज्जंतो साधुवग्गसत्थो साधुवणियगो संसारमहाडविं तरदित्ति' पदघटना । व्यावर्णितक्रमेण सन्त्रियमाण साधुवृन्दसार्थ संसारमहाटवी तरति । 'पव्वज्जाभंडिमारुहिय पच्छिदो' प्रव्रज्याभण्डिमारुह्य प्रस्थित , 'समिदिबइल्लं' समितिबलीवर्दां, 'तिगुत्तिदिढचक्कं' त्रिगुप्तिदृढचक्रां, 'सम्मत्तक्खं' सम्यक्त्वाक्षां, 'सणाणधुरं' समीचीनज्ञानधूर्वंतीं ॥१२८२॥

गा०—पुष्पदन्ता नामकी आर्यिका आर्यिका होनेपर भी मायाशल्यके कारण दीक्षाके अभिमुख होनेकी बुद्धिके लाभसे भ्रष्ट होकर सागरदत्त वैश्यके घरमें पूतिमुखी नामकी दासी हुई ॥१२८०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमें ११० नम्बरपर कही है ॥१२८०॥

मायाशल्यका वर्णन हुआ ।

गा०—धर्मप्रेमी और साधुओंके प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाला मरीचिकुमार मिथ्यात्वशल्य दोषके कारण बहु दुःखपूर्ण संसारमें भ्रमता हुआ ॥१२८१॥

विशेषार्थ—यह मरीचिकुमार भरतका पुत्र था जो महावीर तीर्थंकर हुआ । भगवान् आदिनाथके मुखसे अपना तीर्थंकर होना सुनकर यह भ्रष्ट हो गया था ॥१२८१॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा सस्तुत साधुवर्गके साथ क्षपक मोक्षनगरमें प्रवेश करते हैं—

गा०—इस प्रकार क्षपकसाधुरूपी व्यापारी दीक्षारूपी गाडीपर साधुओंके संघके साथ चढकर निर्वाणरूपी भाँडके लिए सिद्धिपुरीकी ओर प्रस्थान करता है । उस दीक्षारूपी गाडीमें

---

1. 'इयसारमिज्जंतो साधुवृन्दसार्थ संसारमहाटवी तरति'—आ० ।

वदभडभरिदमारुहिदसाधुमत्थेण पत्थिदो ममय ।
णिव्वाणभडहेदु सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥१२८३॥

'वदभडभरिद' व्रतभाण्डपूर्ण । 'साधुसत्थेण पत्थिदो समग' साधुसार्थेन सह प्रस्थित । किं प्रति ? सिद्धिपुर । 'निव्वाणभडहेदु' निर्वाणद्रव्यनिमित्त । 'साधुवाणियगो' क्षपकसाधुवणिक् ॥१२८३॥

आयरियसत्थवाहेण णिच्चजुत्तेण मागविज्जतो ।
सो साहुवग्गसत्थो संसारमहाडविं तरइ ॥१२८४॥

'आयरियसत्थवाहेण' आचार्यसार्थवाहेन । 'णिच्चजुत्तेण' सर्वदानपायिना । 'सारविज्जतो' 'सस्यमाण ॥१२८४॥

तो भावणादियतं रक्खदि त साधुसत्थमाउत्त ।
इदियचोरेहिंतो कसायबहुसावदेहिं च ॥१२८५॥

'तो' तत । 'भावणादियत रक्खदि' भावनादिभि प्रयत्न रक्षति । 'त साधुसत्थ' त साधुसार्थं । 'आउत' आयुक्त आत्मना । कुतो रक्षति इत्याशङ्कायां उत्तर—'इदियचोरेहिंतो' इन्द्रियचौरेभ्य । 'कसायबहुसावदेहि वा' कषायबहुश्वापदेभ्यश्च ॥१२८५॥

विसयाडवीए मज्झे ओहीणो जो पमाददोसेण ।
इ दियचोरा तो से चरित्तभड विलुंपति ॥१२८६॥

'विसयाडवीए मज्झे' स्पर्शरसरूपगन्धशब्दादिविषया अटवीव ते दुरतिक्रामणीया । तस्या विषयाटव्या मध्ये । 'जो ओहीणो' य साधुरपसृत । 'पमाददोसेण' प्रमादाख्येन दोषेण । 'इदियचोरा' इन्द्रियाख्याश्चोरा । 'से' तस्यापसृतस्य साधुवणिज । 'चरित्तभड' चरित्रभाण्ड । 'विलुपति' अपहरन्ति । सन्निहितमनोज्ञामनोज्ञविषयजा इन्द्रियमत्यनुयायिनो रागद्वेषाश्चारित्रं विनाशयन्ति प्रमादिन । आचार्यस्तु ध्याने स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नेन्द्रियचौरैर्बध्यते इति भाव ॥१२८६॥

समितिरूपी बैल जुडे है, तीन गुप्तिरूपी उसके मजबूत चक्के हैं। रात्रि भोजनसे निवृत्तिरूप दो दीर्घ दण्डे हैं। सम्यक्त्वरूपी अक्ष है समीचीनज्ञानरूपी घुरा है ॥१२८२–८३॥

गा०—आचार्य उस सघके नायक है जो निरन्तर सावधान हैं। उनके द्वारा बार-बार सन्मार्गमे लगाया गया वह आराधक साधु समुदाय ससाररूपी महावनको पार करता है ॥१२८४॥

गा०—वह सघपति आचार्य अपने द्वारा भावना आदिमे नियुक्त उस साधु समुदायकी इन्द्रियरूपी चोरोंसे और कषायरूपी अनेक जगली हिंसक जानवरोंसे रक्षा करता है ॥१२८५॥

गा०–टी०—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द आदि विषय अटवीके समान बडे कष्टसे लाघे जाते हैं इसलिए उन्हे अटवी (घोर वन) की उपमा दी है। उस विषयरूपी अटवीके मध्यमे जो साधु प्रमाद दोषसे जाता है उसके चारित्ररूपी धनको इन्द्रियरूपी चोर चुरा लेते हैं। अर्थात् प्राप्त इष्ट अनिष्ट विषयोको लेकर इन्द्रिय बुद्धिके अनुसार उत्पन्न हुए रागद्वेष उस प्रमादी मुनिके चारित्रको नष्ट कर देते हैं। किन्तु आचार्य ध्यान और स्वाध्यायमे लगाकर प्रमादोको दूर करता

१ सस्क्रियमाण–मु०, मूलारा०।

अहवा तल्लिच्छाइं कूराइं कसायसावदाइं तं ।
खज्जति असजमदाढाहिं संकिलेसादिदसेहिं ॥१२८७॥

'अहवा' अथवा । 'तल्लिच्छाइं' अपसृतजनलिप्सावन्त । 'कूराइं' क्रूरा । 'कसायसावदाइं' कषाय-व्यालमृगा । त अपसृत । 'खज्जति' भक्षयेयु । 'असजमदाढाहिं' असयमदष्ट्राभि । 'संकिलेसादिदसेहिं' सक्लेशादिदशैश्च । इन्द्रियाणा कषायाणा वा वशे निपतन्त्यसति निर्यापके सूराविति भाव ॥१२८७॥

तयोरिन्द्रियकषाययो प्रवृत्तिरनेकदोषमूलेति कथयति—

ओमण्णमेवणाओ पडिसेवंतो असजदो होइ ।
सिद्धिपहपच्छिदाओ ओहीणो साधुसत्थादो ॥१२८८॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुहसीलभाविदो समणो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥१२८९॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' तीव्रेन्द्रियकषायपरिणामतया । 'सुहसीलभाविदो समणो' सुखसमाधिभावित श्रमण । 'करणालसो' त्रयोदशविधासु क्रियासु अलस । 'भवित्ता' भूत्वा । 'सेवदि' सेवते । 'ओसण्णसेवाओ' अवसन्नसेवा भ्रष्टचारित्राणा क्रियासु प्रवर्तते इति यावत् । ओसण्णो ॥१२८९॥

केई गहिदा इंदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ।
पंथ छंडिय णिज्जंति साधुसत्थस्स पासम्मि ॥१२९०॥

'केई गहिदा इंदियचोरेहिं' केचिद्गृहीता इन्द्रियचौरै । 'कसायसावदेहिं तहा' तथा कषायश्वापदैश्च गृहीता । 'साधुसत्थस्स पंथ छंडिय' साधुसार्थस्य पन्थान त्यक्त्वा । 'पासम्मि णिज्जंति' पार्श्वे यान्ति ॥१२९०॥

है इसलिए इन्द्रिय चोर नहीं सताते, यह उक्त कथनका भाव है ॥१२८६॥

गा०—अथवा उस विषयरूपी अटवीमें फँसे हुए लोगोंको खानेके इच्छुक क्रूर कषायरूपी सिंहादि उस आगत साधुको असयमरूपी दाढ़ोंसे और रागद्वेष मोहरूपी दाँतोंसे खा जाते हैं। कहनेका भाव यह है कि निर्यापकाचार्यके अभावमें क्षपक इन्द्रियों और कषायोंके फन्देमें फँस जाता है ॥१२८७॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायकी प्रवृत्ति अनेक दोषोंका मूल है—

गा०—जो साधु चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करता है वह असयमी होकर साधुओंके सघसे बाहर हो जाता है और मोक्षमार्गसे दूर हो जाता है ॥१२८८॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होनेसे सुखपूर्वक समाधिमें लगा साधु तेरह प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी होकर चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करने लगता है ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है ॥१२८९॥

गा०—कोई साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवोंके द्वारा पकड़े जाकर साधु सघके मार्गको छोड़कर साधुओंके पार्श्ववर्ती हो जाते हैं। साधु सघके पार्श्ववर्ती होनेसे इन्हें पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं ॥१२९०॥

तो साधुसत्थपंथं छंडिय पासम्मि णिज्जमाणा ते ।
गारवगहिणकुडिल्ले पडिदा पावेंति दुक्खाणि ॥१२९१॥

'तो साधुसत्थपथ' साधुसार्थस्य पन्थान । 'छडिय' त्यक्त्वा । 'पासम्मि' पार्श्वे । 'णिज्जमाणा ते' नीयमानास्ते । 'गारव गहिण कुडिल्ले' चिरऋद्धिरससातगौरवसञ्छन्ने गहने । 'पडिदा' पतिता । 'पावेंति' प्राप्नुवन्ति । 'दुक्खाणि' दु खानि ॥१२९१॥

सल्लविसकटएहिं विद्धा पडिदा पडति दुक्खेसु ।
विसकटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥१२९२॥

'सल्लविसकटएहिं विद्धा' मिथ्यात्वमायानिदानशल्यकण्टकैर्वा विद्धा 'पडिदा' पतिता । 'दुक्खेसु पडति' दु खेषु पतन्ति । 'विसकटयविद्धा अडवीए एगागी पडिदा इव' विषकण्टकेन विद्धा अटव्यामेकाकिन पतिता यथा दु खेषु पतन्ति तथैवेति दार्ष्टान्तिके योजना ॥१२९२॥

पथ छंडिय सो जादि साधुसत्थस्स चेव [1]पासाओ ।
जो पडिसेवदि पासत्थसेवणाओ हु णिद्धम्मो ॥१२९३॥

साधुसार्थस्य पन्थान त्यक्त्वा कस्य पार्श्वे याति यस्यामी दोषा व्यावर्णिता —गौरवगहने पात शल्यविषकण्टकवेधादयस्तेरयाशङ्कायां वदति । 'पथ छंडिय साधुसत्थस्स सो जादि' परित्यज्य साधुसार्थस्य पन्थानमसौ याति । 'पासम्मि' पार्श्वे । 'जो पडिसेवदि' य प्रतिसेवते, 'पासत्थसेवणाओ दु' पार्श्वस्थसेवना , 'णिद्धम्मो' धर्मश्चारित्र तस्मादपगत , धर्मादपगत सन्पार्श्वस्थाचरणीयासु क्रियासु प्रवर्तते ॥१२९३॥

सैव कथ निर्धर्मता तस्येत्याशङ्क्य वदन्ति—

इंदियकसायगरुयत्तणेण चरणं तणं व पस्सतो ।
णिद्धम्मो हु सविंत्ता सेवदि पासत्थसेवाओ ॥१२९४॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' इन्द्रियकषायविषयैर्गौरवाच्च रागद्वेषपरिणामयो क्रोधादिपरिणामाना च

गा०—साधु समूहके मार्गको छोडकर पार्श्वस्थ मुनिपनेको प्राप्त हुए वे ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरवसे भरे गहन वनमे पडकर तीव्र दु ख पाते है ॥१२९१॥

गा०—अथवा जैसे विषैले कांटोसे बिंधे हुए मनुष्य अटवीमे अकेले पडे हुए दु ख पाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व माया और निदानशल्यरूपी कांटोसे बीधे हुए वे पार्श्वस्थ मुनि दु ख पाते हैं ॥१२९२॥

गा०—वह पार्श्वस्थ मुनि साधु सघका मार्ग त्यागकर ऐसे मुनिके पास जाता है जो चारित्रसे भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियोका आचरण करता है ॥१२९३॥

वह मुनि चारित्र भ्रष्ट क्यो है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—इन्द्रिय, कषाय और विषयोके कारण रागद्वेषरूप परिणामो और क्रोधादि

---

१ पासम्मि–ज० ।

तीव्रत्वात् । 'चरण' चारित्रं, 'तण व' तृणमिव, 'पस्सतो' पश्यन् रागादयोऽप्यशुभपरिणामास्तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकास्तेन सकलुषं ज्ञानचारित्रं निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्राकृतादरः चारित्रादपैतीति निर्द्धर्मतास्य । ततः पार्श्वस्थसेवासु प्रयतते । 'पासत्थो' ॥१२९४॥

इंदियचोरपरद्धा कसायसावदभएण वा केई ।
उम्मग्गेण पलायंति साधुसत्थस्स दूरेण ॥१२९५॥

'इंदियचोरपरद्धा' इन्द्रियचोरकृतोपद्रवा । 'कसायसावदभएण वा केई' कषायव्यालमृगभयेन वा केचित् । 'उम्मग्गेण' उन्मार्गेण 'पलायंति' पलायनं कुर्वन्ति । 'साधुसत्थस्स दूरेण' साधुसार्थस्य दूरात् ॥१२९५॥

तो ते कुसीलपडिसेवणावणे उप्पधेण धावंता ।
सण्णाणदीसु पडिदा किलेससोदेण वुड्ढंति ॥१२९६॥

'तो' ततः साधुसार्थाद्दूरादपसृताः, 'कुसीलपडिसेवणावणे' कुशीलप्रतिसेवनावने, 'उप्पधेण' उन्मार्गेण । 'धावंता' धावन्तः । 'सण्णाणदीसु' सज्ञानदीषु । 'पडिदा' पतिताः । 'किलेससोदेण' क्लेशस्रोतसा । 'वुड्ढन्ति' ते ब्रुडन्ति ॥१२९६॥

सण्णाणदीसु ऊढा वुड्ढा थाहं कहंपि अलहंता ।
तो ते संसारोदधिमदंति बहुदुक्खभीसम्मि ॥१२९७॥

'सण्णाणदीसु ऊढा' सज्ञानदीभिराकृष्टाः सतो निर्मग्नाः 'थाहं' अवस्थानं 'कहिंपि' क्वचिदपि 'अलहंता' अलभमानाः । 'तो' पश्चात् । 'संसारोदधिमदंति' संसारसागरं प्रविशन्ति । 'बहुदुक्खभीसम्मि' बहुदुःखभीष्मे ॥१२९७॥

आमागिरिदुग्गाणि य अदिगम्म तिदंडकक्खडसिलासु ।
ऊलोडिदपब्भट्ठा खुप्पंति अणंतयं कालं ॥१२९८॥

परिणामोंके तीव्र होनेसे वह चारित्रको तृणके समान मानता है। क्योंकि रागादिरूप अशुभ परिणाम तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक होते हैं। अतः उसका ज्ञान दूषित होनेसे वह चारित्रको सारहीन मानता है। इसीसे वह उसमें आदरभाव न रखनेके कारण चारित्रसे च्युत होता है। इसीसे उसे चारित्र भ्रष्ट कहा है। चारित्र भ्रष्ट होकर वह पार्श्वस्थ मुनियोंकी सेवामें लग जाता है। यह पार्श्वस्थ मुनिका कथन है ॥१२९४॥

गा०—अथवा कोई मुनि इन्द्रियरूपी चोरोंसे पीडित होकर कषायरूप हिंसक प्राणियोंके भयसे साधु संघसे दूर होकर उन्मार्गमें चले जाते हैं ॥१२९५॥

गा०—साधु संघसे दूर होकर वे मुनि कुशील प्रतिसेवनारूप वनमें उन्मार्गसे दौडते हुए आहार भय मैथुन परिग्रहरूप संज्ञानदीमें गिरकर कष्टरूपी प्रवाहमें पडकर डूब जाते हैं ॥१२९६॥

गा०—संज्ञारूप नदीमें डूबनेपर उन्हें कहीं भी ठहरनेका स्थान नहीं मिलता तब वे बहुत दुःखोंसे भयानक संसार समुद्रमें प्रवेश करते हैं ॥१२९७॥

गा०—संसार समुद्रमें प्रवेश करनेपर आशारूपी पहाडोंको लांघते हुए मन-वचन-कायकी

'आसागिरिदुग्गाणि य' आशागिरिदुर्गा इव। 'अदिगम्म' अतिक्रम्य। 'लिदडक्कक्कडसिलासु' विरण्डक-कर्दशिलासु। 'ऊलोडिद' 'पब्भट्ठा' अवलुण्ठिता सन्त प्रभ्रष्टा 'खवेंति' गमयन्ति। 'अणतय काल' अनत काल ॥१२९८॥

बहुपावकम्मकरणाडवीसु महदीसु विप्पणट्ठा वा।
अदिट्ठणिव्वुदिपधा भमंति सुचिरंपि तत्थेव ॥१२९९॥

'बहुपावकम्मकरणाडवीसु' बहुविधान्यशुभकर्माण्येवाटव्य तासु 'महदीसु' दीर्घासु। 'विप्पणट्ठा' विनष्टा। 'अदिट्ठणिव्वुदिपधा' अदृष्टनिर्वृत्तिमार्गा। 'भमंति' भ्रमन्ति। 'सुचिरंपि' सुचिरमपि। 'तत्थेव' तत्रैव ॥१२९९॥

दूरेण साधुसत्थ छंडिय सो उप्पधेण खु पलादि।
सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिट्ठाओ ॥१३००॥

'दूरेण साधुसत्थं' दूरात्साधुसार्थं। 'छडिय' त्यक्त्वा। 'सो' स। 'उप्पधेण खु' उन्मार्गेण। 'पलादि' पलायते। 'सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ' सेवते कुशीलप्रतिसेवना। 'जो' य। 'सुत्तणिदिट्ठाओ' सूत्र-निर्दिष्टा ॥१३००॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण चरण तण व पस्सतो।
णिद्धसो भवित्ता सेवदि हु कुसीलसेवाओ ॥१३०१॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' इन्द्रियकषायपरिणामाना गुरुत्वेन। 'चरण तण व पस्संतो' चरण तृणमिव पश्यन्। 'णिद्धसो भवित्ता' अह्रीको भूत्वा। 'सेवदि' सेवते कुशीलसेवा ॥ कुसीला ॥१३०१॥

सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि केइ इदियकसायचोरेहिं।
पविलुत्तचरणभडा उवहदमाणा णिवट्टंति ॥१३०२॥

दुष्प्रवृत्तिरूप शिलाओपर लुढकते हुए गिरकर अनन्तकाल विताते हैं ॥१२९८॥

विशेषार्थ—पहले वे उत्तरगुण छोडते हैं फिर मूलगुण और सम्यक्त्वसे भी भ्रष्ट होकर ससारमे भ्रमण करते हैं ॥१२९८॥

गा०—अनेक प्रकारके अशुभकर्मरूप सुदीर्घ अटवीमे भटकते हुए वे निर्वाणका मार्ग कभी देखा न होनेसे चिरकालतक वही भ्रमण करते रहते हैं ॥१२९९॥

गा०—वे दूरसे ही साधुसघको त्यागकर कुमार्गमे दौडते हैं। और आगममे कहे कुशील मुनिके दोषोको करते हैं ॥१३००॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोकी तीव्रताके कारण चारित्रको तृणके समान मानते हैं और निर्लज्ज होकर कुशीलका सेवन करते है ॥१३०१॥

इस प्रकार कुशील मुनिका कथन हुआ।

गा०—कोई-कोई मुक्तिपुरीके निकट तक आकर भी इन्द्रिय और कषायरूपी चोरोंके द्वारा चारित्ररूपी धन चुराये जानेपर सयमका अभिमान त्यागकर उससे लौट आते हैं ॥१३०२॥

'सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि' सिद्धिपुरमुपलीना अपि । 'केई' केचित् । 'इंदियकसायचोरेहिं' इन्द्रियकषायचोरैः । 'पविलुत्तचरणभंडा' अपहृतचारित्रभाण्डा । 'उवहदमाणा' उपहताभिमाना । 'निवट्टंति' निवर्तन्ते ॥१३०२॥

तो ते सीलदरिद्दा दुक्खमणंत सदा वि पावंति ।
बहुपरियणो दरिद्दो पावदि तिव्वं जधा दुक्खं ॥१३०३॥

'तो' पश्चात् । 'ते सीलदरिद्दा' ते शीलदरिद्रा । 'दुक्खं' दुःखं । 'अणंतं' अन्तातीतं । 'सदा वि पावंति' सदा प्राप्नुवन्ति । 'बहुपरियणो' बहुपरिजनो । 'दरिद्दो' दरिद्रः । 'पावदि दुक्खं तिव्वं' प्राप्नोति दुःखं तीव्रं यथा ॥१३०३॥

सो होदि साधुसत्थादु णिग्गदो जो भवे जधाछंदो ।
उस्सुत्तमणुवदिट्ठं च जधिच्छाए विकप्पंतो ॥१३०४॥

'सो होदि' स भवति । 'साधुसत्थादु णिग्गदो' साधुमार्गान्निर्गतः । 'जो हवे जधाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृत्तिः । 'उस्सुत्तं' उत्सूत्रं । 'अणुवदिट्ठं' अनुपदिष्टं च स्थविरैः । 'जदिच्छाए विकप्पंतो' यथेच्छया विकल्पयन् ॥१३०४॥

जो होदि जधाछंदो तस्स धणिदंपि संजमिंतस्स ।
णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥१३०५॥

'जो होदि जधाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृत्तिः । 'तस्स धणिदंपि संजमिंतस्स' तस्य नितरामपि संयमे प्रवर्तमानस्य । 'णत्थि दु' नास्त्येव । 'चरणं' चारित्रं । 'चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी' सम्यक्त्वसहचार्येव यतेश्चारित्रं । स्वच्छन्दवृत्तेस्तु यत्किंचित्परिकल्पयतः सूत्रमननुसरतः नैव सम्यग्दर्शनमस्ति । तदन्तरेण सम्यक्चारित्रं नैव भवति ॥१३०५॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुत्तं पमाणमकरंतो ।
परिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे सच्छंददो चेव ॥१३०६॥

गा०—पश्चात् वे शीलसे दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं। जैसे बहुत परिवारवाला दरिद्र मनुष्य तीव्र दुःख पाता है ॥१३०३॥

अब यथाच्छन्द मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—साधुसंघसे निकलकर जो पूर्वाचार्योंके द्वारा नहीं कहे आगम विरुद्ध मार्गकी अपनी इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाच्छन्द मुनि होता है ॥१३०४॥

गा०-टी०—जो स्वच्छन्दचारी मुनि होता है वह संयममें अत्यन्त प्रवृत्ति भी करे तो भी उसका चारित्र चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यक्त्वके साथ जो चारित्र होता है वही चारित्र होता है। जो स्वच्छन्दचारी होता है वह तो जो उसकी इच्छा होती है तदनुसार आचरण करता है। आगमका अनुसरण नहीं करता, अतः उसके सम्यग्दर्शन नहीं है। और सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता ॥१३०५॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' कषायाक्षगुरुकृत्वेन सूत्रमप्रमाणयन्। 'परिमाणेदि' अन्यथा गृह्णाति। 'जिणुत्ते अत्थे' जिनोक्तानर्थान्। 'सच्छंददो चेव' स्वेच्छाभिप्रायेणैव ॥ जधाछंद ॥१३०६॥

इंदियकसायदोसेहिं अधवा सामण्णजोगपरितंतो।
जो उव्वायदि सो होदि णियत्तो साधुसत्थादो ॥१३०७॥

'इंदियकसायदोसेहिं' इन्द्रियकषायदोषैः। अधवा सामण्णजोगपरितंतो' अथवा सामान्ययोगेन दान्तः। 'जो उव्वायदि' यश्चारित्राच्च्यवते। 'सो होदि' स भवति। 'णियत्तो साधुसत्थादो' निवृत्तः साधुसार्थात् ॥१३०७॥

इंदियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि।
पाविज्जते दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता ॥१३०८॥

इंदियकसायवसिया' इन्द्रियकषायवशगाः। केई' केचित्। 'ठाणाणि ताणि सव्वाणि' तान्यशुभस्थानपरिणामानि। पाविज्जति' प्राप्यन्ते। 'दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता' दोषैस्तैः सर्वैः संसक्ताः। संसत्ता ॥१३०८॥

इय एदे पंचविधा जिणेहिं सवणा दुगुंच्छिदा सुत्ते।
इंदियकसायगुरुयत्तणेण णिच्चंपि पडिकुट्ठा ॥१३०९॥

पासत्थपत्तिगदं ॥१३०९॥

दुट्ठा चवला अदिदुज्जया य णिच्चं पि समणुबद्धा य।
दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इंदियकसाया ॥१३१०॥

'दुट्ठा' दुष्टा आत्मोपद्रवकारित्वात्। चपला' अनवस्थितत्वात्। अदिदुज्जया य' अतीव दुर्जया अनुपलब्धचारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षेण जीवेन दुःखेन अभिभूयन्ते इति। 'णिच्चंपि' नित्यमपि। 'समणुबद्धा य'

गा०—इन्द्रिय और कषायोंकी प्रबलताके कारण वह आगमको प्रमाण नहीं मानता। और अपनी इच्छाके अनुसार जिनभगवान्‌के द्वारा कहे गये अर्थको विपरीतरूपसे ग्रहण करता है ॥१३०६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अथवा सामान्य योगसे विरक्त होकर जो चारित्रसे गिर जाता है वह साधु संघसे अलग हो जाता है ॥१३०७॥

अब संसक्त मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हुए कोई मुनि उन सब दोषोंमें संसक्त होकर उन सब अशुभ स्थान रूप परिणामोंको प्राप्त होते हैं ॥१३०८॥

गा०—इस प्रकार ये पांच प्रकारके मुनि जिन भगवान्‌के द्वारा आगममें निन्दनीय कहे हैं। ये इन्द्रिय और कषायोंकी प्रबलता होनेसे नित्य ही जिनागमसे विमुख रहते हैं ॥१३०९॥

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणाम बड़े दुष्ट हैं क्योंकि ये आत्मामें उपद्रव पैदा करते हैं। अनवस्थित होनेसे चपल हैं। इनको जीतना अति कठिन है क्योंकि जिन जीवके चारित्र-

सम्यगनुबद्धाश्चारित्रमोहोदयस्य स्वकारणस्य सदा सद्भावात् । नित्यास्चेत्कथ चपला । नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्त किन्त्वभीक्ष्णे मुहुर्मुहुरनुबद्धा इत्यर्थ । चपलता तु परिणामाना अनवस्थितत्व अतो न विरोध । 'दु खावहा य' दु खावहाश्च । 'जीवाण' जीवाना । अभिमतभोगालाभे प्राप्तस्य वाऽपाये महत दु खमित्यनुभवसिद्ध-मेव सर्वप्राणभृता । कषायास्तु क्रोधादय कषायन्ति[1] हृदय । अथवा दु खकारणासद्वेद्यार्जने[2]निमित्तत्वात् दु खावहा । इन्द्रियकषायवशगो जीवान् हिनस्ति । दु खकरणेन चास्रवत्यसद्वेद्य इति । यत एव दु खावहा अतएव भीमा । 'इ दियकसाया' इन्द्रियकषायपरिणामा ॥१३१०॥

मरुतेल्लपि पियतो वत्थो जह वादि पूदिय गध ।
तध दिक्खिदो वि इ दियकसायगध वहदि कोई ॥१३११॥

'तुरुष्कतैलमपि' 'पियतो' पिबन्, 'वत्थो' बस्त अजपोत । 'जह वादि पूदिय गध' पूतिगन्ध यथा वाति । प्राकृतगन्ध यथा न जहाति सम्रियमाणोऽपि सुरभिणा द्रव्येण, 'तध दिक्खिदो वि' तथा दीक्षितो-ऽपि परित्यक्तासयमोऽपि । इदियकषायगध वहदि' इन्द्रियकषायदुर्गन्धमुद्वहति इति यावत् ॥१३११॥

भु जतो वि सुभोयणमिच्छदि जध सूयरो समलमेव ।
तध दिक्खिदो वि इंदियकसायमलिणो हवदि कोइ ॥१३१२॥

'भु जतो वि सुभोयण' भुञ्जानोऽपि शोभनमाहार । 'सूयरो जध समलमेव इच्छदि' सूकरो यथा समलमेवाभिलषति चिरन्तनाभ्यासात । 'तह' तथा । 'दिक्खिदो वि' दीक्षितोऽपि कृतव्रतपरिग्रहसंस्कारोऽपि । 'कोइ' कश्चित् । 'इदियकषायमलिणो हवदि' इन्द्रियकषायाख्याशुभपरिणामोपनतो भवति । भव्योऽपि जन

मोहके क्षयोपशमका प्रकर्ष नही है वह जीव बडे कष्टमे इन्हे वशमे कर पाता है। तथा इनका कारण चारित्रमोहका उदय सदा रहता है अत ये नित्य बने रहते है।

शङ्का—यदि ये नित्य हैं तो चपल कैसे है ?

समाधान—नित्य शब्दका प्रयोग ध्रौव्यके अर्थमे नही है किन्तु बार-बारके अर्थमे है। और परिणामोके स्थिर न होनेको चपलता कहते हैं अत कोई विरोध नही है।

तथा ये जीवोको दु खदायी हैं। इष्ट भोगकी प्राप्ति न होने पर अथवा प्राप्त भोगका विनाश होने पर महान् दु ख होता है यह सभी प्राणियोको अनुभवसिद्ध है। क्रोधादि कषाय हृदयको सताप पहुचाती है। अथवा दु खका कारण जो असातावेदनीय कर्म है उसके बन्धमे निमित्त है इसलिए दु खदायी हैं। जो इन्द्रिय और कषायके वशमे होता है वह जीवोका घात करता है। जीवोंके दु ख देनेमे असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। और यत ये इन्द्रिय तथा कषाय दु खदायी है, अतएव भयकर है ॥१३१०॥

गा०—जैसे बकरीका बच्चा सुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्धको नही छोडता। उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थात् असयमको त्यागने पर भी कोई कोई इन्द्रिय और कषाय रूप दुर्गन्धको नही छोड पाते ॥१३११॥

जैसे सुअर सुन्दर स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरतन अभ्यास वश विष्टा ही खाना पसन्द करता है। उसी प्रकार व्रतोको ग्रहण करके भी कोई कोई इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ

---

१ तपन्ति अ० । २ द्याना नि–आ० मु० ।

गुरूपदेशादधिगतदु खनिवृत्युपायतया परित्यक्तेन्द्रियकषायोऽपि गार्हस्थ्यपरित्यागकाले पुनरपि तत्रापतःतीति ॥१३१२॥

एतद अनेकदृष्टान्तोपन्यासेन दर्शयति सूरिरुत्तरप्रबन्धेन—

वाहभएण पलादो जूह दट्ठूण वागुरापडिद ।
सयमेव मओ वागुरमदीदि जह जूहतण्हाए ॥१३१३॥

'वाहभएण' व्याधभयेन । 'पलादो मगो' कृतपलायनो मृग । 'वागुरापडिद जूह दट्ठूण' वागुरापतितं स्वयूथ दृष्ट्वा । 'सयमेव वागुरमदीदि मगो' स्वयमेव वागुरा प्रविशति मृग । 'जह' यथा, कृत । 'जूहतण्हाए' यूथतृष्णया । 'एव के वि गिहवास मुच्चा' इत्यनया गाथया सबन्ध कार्य ॥१३१३॥

पंजरमुक्को सउणो सुइर आरामएसु विहरंतो ।
सयमेव पुणो पजरमदीदि जध णीडतण्हाए ॥१३१४॥

'पजरमुक्को सउणो' पञ्जरान्मुक्त पक्षी । 'सुइर आरामएसु विहरतो' आरामेषु स्वेच्छया विहरन् । 'सयमेव' स्वयमेव । पुणो' पुन । 'पजरमदीदि' पञ्जरमुपैति । 'जह णीडतण्हाए' यथा नीडतृष्णया ॥१३१४॥

कलभो गएण पकादुद्धरिदो दुत्तरादु बलिएण ।
सयमेव पुणो पके जलतण्हाए जह अदीदि ॥१३१५॥

'कलभो' गजपोत महति कर्दमे पतित । 'गएण पकादुद्धरिदो' गजेन परेण पङ्कादुद्धृतो । 'दुत्तरादु' दुस्तरात पङ्कात बलिष्ठातिशयवता गजेन । 'सयमेव पुणो पक जह अदीदि' स्वयमेव कलभो यथा पङ्कमुपैति । 'जलतण्हाए' जलतृष्णया ॥१३१५॥

अग्गिपरिक्खित्तादो सउणो रुक्खादु उप्पडित्ताण ।
सयमेव त दुम सो णीडणिमित्त जध अदीदि ॥१३१६॥

परिणाम वाले होते है । भव्य जीव भी गुरुके उपदेशसे गृहस्थाश्रमका परित्याग करते समय दु खकी निवृत्तिका उपाय जानकर इन्द्रिय और कषाय रूप परिणामोका त्याग करता है किन्तु फिर भी वह उन्हीके चक्रमे पड जाता है ॥१३१२॥

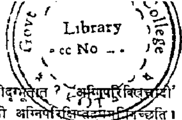
आगे आचार्य अनेक दृष्टान्तोके द्वारा इसीको दर्शाते है—

गा०—जैसे व्याधके भयसे भागा हुआ हिरन अपने झुण्डको जालमे फँसा देखकर झुण्डके मोहसे स्वय भी जालमे फँस जाता है वैसे ही कोई मुनि गृह त्यागनेके बाद स्वय ही उसमे फँस जाता है ॥१३१३॥

गा०—जैसे पीजरेसे मुक्त हुआ पक्षी उद्यानोमे स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए स्वय ही अपने आवासके प्रेमवश पीजरेमे चला जाता है ॥१३१४॥

गा०—जैसे महती कीचडमे फँसा हाथीका बच्चा बलवान् हाथीके द्वारा निकाला गया । किन्तु पानीकी प्यासवश वह स्वय ही कीचडमे फँस जाता है ॥१३१५॥

गा०—जैसे पक्षी आगसे घिरे वृक्षसे उडकर स्वय ही अपने घोसलेके कारण उस वृक्षपर जा पहुँचता है ॥१३१६॥



'रुक्खादो सउणो उप्पडित्ताण' वृक्षादुत्पत्य शकुन । कीदृग्भूतात् ? 'अग्गिपरिविखत्तादो' अग्निना समन्ताद्वेष्टितान् । 'सयमेव त दुम जह अदीदि' स्वयमेवासौ पक्षी अग्निपरिक्षिप्तद्रुममभिगच्छति। 'णीडणिमित्त' स्वावासनिमित्त ॥१३१६॥

लघिज्जतो अहिणा पासुत्तो कोइ जग्गमाणेण ।
उट्ठविदो त घेत्तुं इच्छदि जध कोदुगहल्लेण ॥१३१७॥

'लघिज्जतो अहिणा' लङ्घ्यमानोऽहिना, 'कोइ पासुत्तो' कश्चित्प्रसुप्त , 'जग्गमाणेण उट्ठविदो' जाग्रता उत्थापित । 'जह त घेत्तुमिच्छदि' यथा सर्प ग्रहीतुमिच्छति, 'कोदुगहल्लेण' कौतूहलेन ॥१३१७॥

सयमेव वतमसण णिल्लज्जो णिग्घिणो सय चेव ।
लोलो किविणो भुंजदि सुणहो जध असणतण्हाए ॥१३१८॥

'सयमेव वतमसण' स्वयमेव वान्तमशन । 'सुणहो णिल्लज्जो णिग्घणो' श्वा निर्लज्ज निर्घृण । 'जहा' यथा । 'सयमेव भु जदि' स्वयमेव भुङ्क्ते । लोलो' आसक्त । किविणो' कृपण । असणतण्हाए' अशनतृष्णया ॥१३१८॥

एव केई गिहवासदोसमुक्का वि दिक्खिदा सता ।
इंदियकसायदोसेहि पुणो ते चेव गिण्हति ॥१३१९॥

'एव केइ' एव केचित् । 'गिहिवासदोसमुक्का वि' गृहवासेभ्यो ये दोषास्तेभ्यो मुक्ता । 'दिक्खिदा वि सता' दीक्षिता अपि सन्त । 'इ दियकसायदोसे' इन्द्रियकषायदोषान् । 'ते चेव' तानेव गृहवासगतान् । 'गिण्हति' गृह्णन्ति । कीदृग्गृहवासो येन दुष्ट इति भण्यते । ममेद भावाधिष्ठान अनुपरतमायालोभोत्पादनप्रवीणजीवनोपायप्रवृत्त कषायाणामाकर परेषा पीडानुग्रहयोरारब्धपरिकर पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिष्वनारत[1]वृत्तव्यापारो, मनोवाक्कायै सचित्ताचित्तानेकाणुस्थूलद्रविणग्रहणवर्द्धनोपजातायास , यत्र स्थितो जनोऽसारे सारता, अनित्ये नित्यता, अशरणे शरणता, अशुचौ शुचिता, दु खे सुखिता, अहिते हितता, असश्रये सश्रयणीयता,

गा०—जैसे किसी सोते हुए मनुष्यपरसे सर्प जा रहा है। उसे कोई जागता हुआ मनुष्य उठाता है और वह उठकर कौतूहलवश उस सर्पको पकडना चाहता है ॥१३१७॥

गा०—जैसे कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता अपने ही वमन किये भोजनको भोजनकी तृष्णावश लोलुपतासे खाता है ॥१३१८॥

गा०-टी०—वैसे ही गृहवासके दोषोसे मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवासके उन्ही इन्द्रिय और कषायरूप दोषोको स्वीकार करता है। गृहवासको बुरा क्यो कहा यह बतलाते हैं—

गृहस्थाश्रम 'यह मेरा है' इस भावका अधिष्ठान है, निरन्तर माया और लोभको उत्पन्न करनेमे दक्ष जीवनके उपायोमे लगानेवाला है, कषायोकी खान है, दूसरोको पीडा देने और अनुग्रह करनेमे तत्पर रहता है, पृथिवी जल आग वायु और वनस्पतिमे उसका व्यापार सदा चला करता है, मन वचन कायसे सचित्त अचित्त अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्योंके ग्रहण और बढानेके लिए उसमे प्रयास करना होता है। उसमे रहकर मनुष्य असारमे सारता, अनित्यमे नित्यता, अशरणमे शरणता, अशुचिमे शुचिता, दु खमे सुखपना, अहितमे हितपना,

१ रजवृत्तव्यावृतव्या—आ० मु० ।

शत्रुभूते मित्रता च मन्यमानः परितः परिधावति । सभयसशङ्कोऽपि पदमधिगच्छति । दुस्तरकाललोहपञ्जरोदरगतो हरिरिव, वागुरापतितमृगकुलमिव, अन्यायकर्दमोन्मग्नो जरत्कुञ्जर इव हताशः, पाशबद्धो विहग इव, चारकावरुद्धस्तस्कर इव, व्याघ्रमध्यमध्यासीनोऽल्पबलो मृग इव, तदन्तिकोपयानजातसङ्कटः कूटपाशावकृष्टो जलचर इव, यत्रावस्थितो जनः कालमहत्तमःपटलेनाव्रियते। रागमहानागैरुपद्रुतः चिन्ताडाकिनीभिः कवलीक्रियते शोकवृकैरनुगम्यते, कोपपावकेन भस्मसात् क्रियते, दुराशालतिकाभिर्निश्चलं बध्यते, प्रियविप्रयोगाशनिभिरनिशं शकलीक्रियते, प्रार्थनालाभशरशतैस्तूणीरतां नीयते, मायास्थविरिकया गाढमालिङ्ग्यते, परिभवकठिनकुठारैर्विदार्यते, अयशोमलेन लिप्यते, मोहमहावनवारणेन हन्यते, पापघातकैरबोधं पात्यते, भयायःशलाकाभिस्तुद्यते, आयासवायसैः प्रतिवासरं [1]भक्ष्यते, ईर्ष्यामष्या विरूपतां परिप्राप्यते, परिग्रहग्राहैर्गृह्यते। यत्रावस्थितोऽसंयमाभिमुखो भवति । असूयाजायायाः प्रियतां याति, मानदानवाधिपतितां अनुभवति, विशालधवलचारित्रातपत्रत्रयच्छायासुखं न लभते, ममकारचारकादात्मानं नापनयति, कर्मनिर्मूलनाय न प्रभवति, मरणविषपादपं न दहति, मोहघनशृङ्खलां न त्रोटयति, विचित्रयोनिमुखगमनं न निषेधति । ततः इत्थंभूताद्गृहवास-[2]दोषात्त्यक्त्वा गन्तोऽपि दीक्षिताः 'इ दियकसायदोसे हिं' इन्द्रियकषायदोषान् । हि शब्दः समुच्चयार्थः । तेनैवमभिसंबध्यते 'पुणो हिं' पुनरपि 'ते चेव' तानेव । 'गिण्हंति' गृह्णन्ति ॥१३१९॥

अनाश्रयमें आश्रयपना, शत्रुमें मित्रता मानता हुआ सब ओर दौडता है । भय और शकासे युक्त होते हुए भी आश्रय प्राप्त करता है । जिससे निकलना कठिन है ऐसे कालरूपी लोहेके पीजरेके पेटमें गये सिंहकी तरह, जालमें फसे हिरणोंकी तरह, अन्यायरूपी कीचडमें फँसे बूढे हाथीकी तरह, पाशसे बद्ध पक्षीकी तरह, जेलमें बन्द चोरकी तरह, व्याघ्रोंके मध्यमें बैठे हुए दुर्बल हिरणकी तरह, जिसके पाससे जानेमें सकट आया है ऐसे जालमें फँसे मगरमच्छकी तरह, जिस गृहस्थाश्रममें रहनेवाला मनुष्य कालरूपी अत्यन्त गाढे अन्धकारके पटलसे आच्छादित हो जाता है । रागरूपी महानाग उसे सताते हैं । चिन्तारूपी डाकिनी उसे खा जाती है । शोकरूपी भेडिये उसके पीछे लगे रहते हैं । कोपरूप आग उसे जलाकर राख कर देती है । दुराशारूपी लताओंसे वह ऐसा बँध जाता है कि हाथ पैर भी नही हिला पाता । प्रियका वियोगरूपी वज्रपात उसके टुकडे कर डालता है । प्रार्थना करनेपर न मिलनेरूपी सैकडो बाणोंका वह तरकस बन जाता है अर्थात् जैसे तरकसमें बाण रहते हैं वैसे ही गृहस्थाश्रममें वांछित वस्तुका लाभ न होनेरूपी बाण भरे हैं । मायारूपी बुढिया उसे जोरसे चिपकाये रहती है । तिरस्काररूपी कठोर कुठार उसे काटते रहते हैं । अपयशरूपी मलसे वह लिप्त होता है । महामोहरूपी जगली हाथीके द्वारा वह मारा जाता है । पापरूपी घातकोंके द्वारा वह ज्ञानशून्य कर दिया जाता है । भयरूपी लोहेकी सुइयोंसे कोचा जाता है । प्रतिदिन श्रमरूपी कौओंके द्वारा खाया जाता है । ईर्षारूपी काजलसे विरूप किया जाता है । परिग्रहरूपी मगरमच्छोंके द्वारा पकडा जाता है । जिस गृहस्थाश्रममें रहकर असयमकी ओर जाता है । असूयारूपी पत्नीका प्यारा होता है । अर्थात् दूसरोंके गुणोंमें भी दोष देखता है अपनेको मानरूपी दानवका स्वामी मानने लगता है । विशाल धवल चारित्ररूपी तीन छत्रोंकी छायाका सुख उसे नहीं मिलता । वह अपनेको ममाररूपी जेलसे नहीं छुडा पाता । कर्मोका जडमूलसे विनाश नही कर पाता । मृत्युरूपी विषवृक्षको नही जला पाता । मोहरूपी मजबूत साकलको नही तोडता । विचित्र योनियोंमें जानेको नही रोक पाता । दीक्षा

---

१ भोक्ष्यते आ० मु० । २ दोषान्मुना आ० ।

बंधणमुक्को पुनरेव बधणं सो अचेयणोदीदि ।
इंदियकसायबंधणमुवेदि जो दिक्खिदो संतो ॥१३२०॥

'बधणमुक्को' बन्धनमुक्त । 'पुनरेव बधणं' पुनर्बन्धन । 'अदीदि' प्रतिपद्यते । 'सो अचेदणो' मोऽज्ञ । क ? 'जो दिक्खिदो सतो इंदियकसायबंधणमुवेदि' यो दीक्षित सन्निन्द्रियकषायबन्धमुपैति । इन्द्रियकषायपरिणामा कर्मबन्धनक्रियाया साधकतमतया इह बन्धनशब्देनाच्यन्ते ॥१३२०॥

मुक्को वि णरो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं सो ।
जो दिक्खिदो वि इंदियकसायमइय कलिमुवेदि ॥१३२१॥

प्रसिद्धार्था ॥१३२१॥

उत्तरगाथा—

सो णिच्छदि मोत्तुं जे हत्थगय उम्मुय सुपज्जलिय ।
सो अक्कमदि कण्हसप्प छाद वग्घ च परिमसदि ॥१३२२॥

'सो णिच्छदि' स नेच्छति । 'मोत्तु' मोक्तु । किं ? 'हत्थगय' हस्तस्थित हस्तगत वा । 'उम्मुक सपज्जलिय' उल्मुक सुष्ठु प्रज्वलित । 'सो कण्हसप्पमक्कमदि' स कृष्णसर्पमाक्रामति । 'छाद वग्घ च परिमसदि' क्षुधोपद्रुत व्याघ्र च स्पृशति ॥१३२२॥

सो कठोल्लगिदसिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी ।
जो दिक्खिदो वि इंदियकसायवसिगो हवे साधू ॥१३२३॥

'सो कठोल्लगिदसिलो' स कण्ठावलम्बितशिल । 'दहमत्थाह' ह्रदमगाध । 'अदीदि' प्रविशति । 'अण्णाणी' अज्ञ । 'जो दिक्खिदो वि य' यो दीक्षितोऽपि 'इंदियकसायवसिगो' इन्द्रियकषायवशवर्ती साधु स्यादभेदव्यवहार ॥१३२३॥

धारण करके इस प्रकारके गृहवास सम्बन्धी दोषोंसे मुक्त होकर भी पुन उन्हीं दोषोंको स्वीकार करता है ॥१३१९॥

गा०—जो दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायोंके बन्धनमें पड़ता है वह अज्ञानी बन्धनसे मुक्त होकर पुन बन्धनको प्राप्त होता है ॥१३२०॥

गा०—जो दीक्षित होकर भी इन्द्रिय कषायमयी कलिको स्वीकार करता है वह मनुष्य कलिकालसे मुक्त होकर भी पुन उसी कलिको खोजता है ॥१३२१॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायोंके बन्धनमें पड़ता है वह हाथमें स्थित जलते हुए अलातको छोड़ना नहीं चाहता, वह काले सांपको लांघता है और भूखे व्याघ्रका स्पर्श करता है ॥१३२२॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायके अधीन होता है वह अज्ञानी अपने गलेमें पत्थर बांधकर अगाध तालाबमें प्रवेश करता है ॥१३२३॥

इंदियगहोवसिट्ठो उवसिट्ठो ण दु गहेण उवसिट्ठो ।
कुणदि गहो एयभवे दोस इदरो भवसदेसु ॥१३२४॥

'इंदियगहोवसिट्ठो' इन्द्रियग्रहगृहीत । 'उवसिट्ठो' गृहीत । 'ण दु गहेण उवसिट्ठो' नैव ग्रहेणोपसृष्ट । कुत ? यस्मात् । 'कुणदि गहो एयभवे दोस' एकस्मिन्नेव भवे ग्रहो बुद्धिव्यामोहलक्षण दोष करोति । 'इदरो भवसदेसु' इन्द्रियकषायग्रहो भवशतेषु दोष करोति ॥१३२४॥

होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो ।
ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पाव इदरो जधुम्मत्तो ॥१३२५॥

'होदि कसाउम्मत्तो' अत्रैव पदघटना । 'उम्मत्तो होदि' उन्मत्तो भवति यथा । क ? 'कसायउम्मत्तो' कषायोन्मत्त । यथा 'उम्मत्तो ण होदित्ति' पदघटना तथा उन्मत्तो न भवति । क ? 'पित्तउम्मत्तो' पित्तोन्मत्त । एतेन पित्तकृतादुन्मादात् कषायकृतस्योन्मादस्य जघन्यता ख्याता । कथ ? 'न कुणदि पित्तुम्मत्तो' पाप न करोति पित्तोन्मत्त । 'पाप इदरो जधुम्मत्तो' कषायोन्मत्तो यथा पाप करोति, तथाभूत न करोति । यत एकैकोऽपि क्रोधादि हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणा स्थितिबन्ध दीर्घीकरोति । विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति पित्तोन्माद । ततोऽनयोर्महदन्तर इति भाव ॥१३२५॥

इंदियकसायमइओ णर पिसाय करंति हु पिसाया ।
पावकरणवेलव पेच्छणयकर सुयणमज्झे ॥१३२६॥

'इंदियकसायमइओ' इन्द्रियकषायमय पिशाच । 'णर पिसाय करेदि' नर पिशाच करोति । कीदृग्भूत पिशाच करोति ? 'सुजणमज्झे पेच्छणयकर' सुजनमध्ये प्रेक्षणिककारण । 'पावकरणवेलव' हिंसादिपापक्रियाविलम्बना प्रेक्षणीयत्वेन सपादयन्त पिशाच करोतीति यावत् ॥१३२६॥

कुलजसम जसमिच्छत्तगस्स णिधणं वर खु पुरिसस्स ।
ण य दिक्खिदेण इंदियकसायवसिएण जेदुंजे ॥१३२७॥

गा०—जो इन्द्रियरूपी ग्रहसे पकडा हुआ है वही ग्रह पीडित है। जो ग्रहने पकडा हुआ है वह ग्रहपीडित नही है। क्योकि ग्रह तो एक ही भवमे कष्ट देता है किन्तु इन्द्रियरूपी ग्रह सैकडो भवोमे कष्ट देता है ॥१३२४॥

गा०-टी०—जो कषायसे उन्मत्त (पागल) है वही उन्मत्त है। जो पित्तसे उन्मत्त है वह उन्मत्त नही है। इससे पित्तके द्वारा हुए उन्मादमे कषायके द्वारा हुए उन्मादको निकृष्ट बतलाया है। क्योकि कषायसे उन्मत्त पुरुष जैसा पाप करता है पित्तसे उन्मत्त वैसा पाप नही करता। एक-एक भी क्रोधादि कषाय हिंसा आदिमे प्रवृत्त करता है। कर्मकि स्थितिबन्धको बढाता है। किन्तु पित्तसे हुआ उन्माद केवल विवेकमूलक ज्ञानका ही तिरस्कार करता है। इसलिए इन दोनोमे बहुत अन्तर है ॥१३२५॥

गा०—इन्द्रिय और कषायमय पिशाच मनुष्यको सुजनोंके मध्यमे देखने योग्य पापक्रियाकी विडम्बनाओको करनेवाला पिशाच बना देता है ॥१३२६॥

'कुलजस्स पुरिसस्स जसमिच्छत्तगस्स' कुलप्रसूतस्य पुंसः यशोऽभिलाषिणः । 'णिधणं वरं' मृतिः शोभना । 'ण दु जीविदुं जे' नैव वरं जीवनं । 'दिक्खिदेण इंदियक्सायवसिएण' दीक्षितस्येन्द्रियकषायवशवर्तिनः जीवनं न शोभनमित्यर्थः ॥१३२७॥

जध सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो रधी पलायंतो ।
णिंदिज्जदि तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥१३२८॥

'यथा रथी पलायंतो णिंदिज्जदि' यथा रथी पलायन्निन्द्यते । कीदृक् ? 'सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो' सन्नद्धः उपगृहीतचापकाण्डः । तथा 'इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो' तथा इन्द्रियकषायवशवर्त्यपि प्रव्रजितो निन्द्यते ॥१३२८॥

जध भिक्खं हिंडंतो मउडादि अलंकिदो गहिदसत्थो ।
णिंदिज्जइ तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥१३२९॥

'जध भिक्खं हिंडंतो' मुकुटादिभिरलंकृतो गृहीतशस्त्रो भिक्षां भ्रमन् निन्द्यते । तथा निन्द्यते इन्द्रियकषायवशवर्ती प्रव्रजितः ॥१३२९॥

इंदियकसायवसिगो मुंडो णग्गो य जो मलिणगत्तो ।
सो चित्तकम्मसमणोव्व समणरूवो असमणो हु ॥१३३०॥

'इंदियकसायवसिगो' इन्द्रियकषायवशीकृतः, मुण्डो नग्नश्च यो मलिनगात्रः सन् । 'सो समणरूवो ण समणो' स श्रमणरूपो न श्रमणः 'स चित्तकम्मसमणो व्व' स चित्रकर्मश्रमण इव । परमार्थश्रमणसदृशरूपोऽपि यथा चित्रश्रमणो न श्रमणस्तद्वदशुभपरिणामप्रवणः ॥१३३०॥

ज्ञानं नरस्य दोषानपहरति इन्द्रियकषायजयमुखेन यथा सत्त्ववतः प्रहरणमावरणं च शत्रुं नाशयतो-

---

गा०—कुलीन और यशके अभिलाषी पुरुषका मरना श्रेष्ठ है किन्तु दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमें रहकर जीना श्रेष्ठ नहीं है ॥१३२७॥

गा०—जैसे धनुष बाण लेकर युद्धके लिए तैयार रथारोही यदि युद्धमें भागता है तो निन्दाका पात्र होता है। उसी प्रकार दीक्षित साधु यदि इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है तो निन्दाका पात्र होता है ॥१३२८॥

गा०—जैसे मुकुट आदिसे सुशोभित और हाथमें शस्त्र लिये हुए कोई भिक्षाके लिए घूमता है तो निन्दाका पात्र होता है। वैसे ही दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमें होनेवाला भी निन्दाका पात्र होता है ॥१३२९॥

गा०-टी०—जो मुण्डित नग्न और मलिन शरीरवाला होकर भी इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह चित्रमें अंकित श्रमणके समान श्रमणरूपका धारी होनेपर भी श्रमण नहीं है। अर्थात् जैसे चित्रमें अंकित श्रमण वास्तविक श्रमणके समान रूपवाला होनेपर भी श्रमण नहीं है उसी प्रकार श्रमणका वेष धारण करके भी जिसके परिणाम अशुभ हैं वह श्रमण नहीं है ॥१३३०॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायको जीतनेके द्वारा ज्ञान मनुष्यके दोषोंको दूर करता

त्युत्तरगाथार्थं इन्द्रियकषायाजये ज्ञानं दोषापहारित्वाख्यं अतिशयं न लभते यथा सत्त्वहीनस्यावरणसन्नाहाख्यं प्रहरणं च खड्गचक्रादिकं शत्रुजयत्वमतिशयं नासादयति—

णाणं दोसे णासिदि णरस्स इंदियकसायविजयेण ।
आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं समत्तस्स ॥१३३१॥

'णाण' ज्ञानं 'दोसे' दोषान् । 'णासिदि' नाशयति । 'णरस्स' नरस्य । 'इंदियकसायविजयेन' 'जह' यथा । 'आउहरणं पहरणं' आयुषो हरणं प्रहरणं शस्त्रं । सह सत्त्वेन वर्तते इति ससत्त्वस्तस्य । 'अरिं' रिपुं । 'णासेदि' नाशयति ॥१३३१॥

णाणंपि कुणदि दोसे णरस्स इंदियकसायदोसेण ।
आहारो वि हु पाणो णरस्स विसमजुदो हरदि ॥१३३२॥

'णाणंपि कुणदि दोसे णरस्स' ज्ञानं दोषानपि करोति नरस्य । 'इंदियकसायदोसेण' इंद्रियकषायपरिणामदोषेण । उपकार्यपि अनुपकारितामुद्वहति परससर्गेण । यथा प्राणधारणनिमित्तोऽप्याहारो विषमिश्रः प्राणान्विनाशयति ॥१३३२॥

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण ।
बलरूववण्णमाऊ करेहि जुत्तो जधाहारो ॥१३३३॥

'णाणं करेदि' ज्ञानं करोति । 'पुरिसस्स गुणे' पुरुषस्य गुणान् । कथं ? 'इंदियकसायविजएण' इन्द्रियकषायविजयेन । 'बलवण्णरूवमाऊ करेदि' बलं, रूपं, तेजः, आयुश्च करोति । 'जुत्तो जधाहारो' युक्तः शोभनो यथाहारः विषेणामिश्रितः ॥१३३३॥

णाणं पि गुणे णासेदि णरस्स इंदियकसायदोसेण ।
अप्पवधाए सत्थं होदि हु कापुरिसहत्थगयं ॥१३३४॥

है। जैसे सत्त्वसम्पन्न मनुष्यका शस्त्र और कवच शत्रुका नाश करता है। तथा इन्द्रिय और कषायको न जीतनेपर ज्ञान दोषोंको दूर करनेरूप अतिशयको प्राप्त नहीं करता। जैसे सत्त्वहीन पुरुषका कवच और तलवार चक्र आदि शस्त्र शत्रुको जीतनेरूप अतिशयको नहीं प्राप्त करता ॥१३३०॥

गा०—इन्द्रिय और कषायको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोंको नष्ट करता है। जैसे सत्त्वशालीका आयुको हरनेवाला शस्त्र शत्रुको नष्ट करता है ॥१३३१॥

गा० इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी मनुष्योंमें दोष उत्पन्न करता है। दूसरेके संसर्गसे उपकारी भी अनुपकारी हो जाता है। जैसे आहार प्राण धारणमें निमित्त है किन्तु विषसे मिला आहार प्राणोंका घातक होता है ॥१३३२॥

गा०—और इन्द्रिय तथा कषायोंको जीतनेसे ज्ञान पुरुषमें गुण उत्पन्न करता है। जैसे विषसे रहित उत्तम आहार बल, रूप, तेज और आयुको बढ़ाता है ॥१३३३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी पुरुषके गुणोंको नष्ट करता है। जैसे कायर पुरुषके हाथमें गया शस्त्र उसके ही वधमें निमित्त होता है ॥१३३४॥

ज्ञानमपि गुणानाशयति नरस्य इन्द्रियकषायपरिणामदोषेण । आत्मवधाय भवति शस्त्र कापुरुषहस्तगत इति ॥१३३४॥

उत्तरगाथार्थ —

सुवहुस्सुदो वि अवमाणिज्जदि इंदियकसाय दोसेण ।
णरमाउधहत्थंपि हु मदय गिद्धा परिभवंति ॥१३३५॥

'सुवहुस्सुदोवि' सुष्ठुबहुश्रुतोऽप्यवमन्यते इन्द्रियकषायदोषेण । गृहीतास्त्रमपि नर मृत गृद्धा परिभवन्ति यथा ॥१३३५॥

इंदियकसायवसगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि ।
पक्खीव छिण्णपक्खो ण उप्पडदि इच्छमाणो वि ॥१३३६॥

'इंदियक्सायवसगो' इन्द्रियकषायवशग बहुश्रुतोऽपि चारित्रे नोद्यम करोति । यथा छिन्नपक्ष पक्षी नोत्पतति इच्छन्नपि ॥१३३६

णस्सदि सग बहुगं पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं ।
विसमस्सिमिदद्दुद्धं णस्सदि जध सक्कराकढिद ॥१३३७॥

'णस्सदि सग बहुगपि णाण' नश्यति स्वय बहुपि ज्ञान इन्द्रियकषायसमिश्र । शर्कराक्वथित दुग्ध विषमिश्रमिव । माधुर्यात्सातिशयता दुग्धस्य शर्कराक्वथितशब्देन कथ्यते ॥१३३७॥

इंदियकसायदोसमलिणं णाणं वट्टदि हिदे से ।
वट्टदि अण्णस्स हिदे खरेण जह चदणं ऊढ ॥१३३८॥

ज्ञान यदीय तस्मै उपकारितया प्रसिद्धमपि तन्नोपकारि भवति इन्द्रियकषायमलिन, परोपकारि तु भवति खरेणोढ चन्दनादिकमिवेति सूत्रार्थ ॥१३३८॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अच्छे प्रकारसे बहुतसे शास्त्रोंका ज्ञाता भी विद्वान् अपमानका पात्र होता है। जैसे हाथमें अस्त्रके होते हुए भी मरे मनुष्यको गृद्ध खा जाते हैं ॥१३३५॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हुआ बहुश्रुत भी विद्वान् चारित्रमें उद्योग नहीं करता। जैसे जिसका पर कट गया है ऐसा पक्षी इच्छा करते हुए भी नहीं उड सकता ॥१३३६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायके योगसे बहुत भी ज्ञान स्वय नष्ट हो जाता है। जैसे शक्करके साथ कढा हुआ दूध विषके मिलनेसे नष्ट हो जाता[1] है अर्थात् अपने स्वभावको छोड देता है। यहाँ शक्करके साथ कढाया हुआ कहनेसे मिठासके कारण दूधकी सातिशयता बतलाई है। ऐसा दूध भी विषके मेलसे हानिकर होता है ॥१३३७॥

गा०—जिसका ज्ञान होता है उसीका उपकारी होता है यह बात प्रसिद्ध है किन्तु इन्द्रिय और कषायसे मलिन ज्ञान जिसका होता है उसका उपकार नहीं करता, दूसरोंका उपकार

---

१ सयोगेन अ० ।

ज्ञान प्रकाशकत्वमपि स्व जहाति इन्द्रियकषायपरिणामवशादिति निगदति—

इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स हु पयासदि ण णाणं ।
रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जधा दीवो सुपज्जलिदो ॥१३३९॥

इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स' इन्द्रियकषाय निग्रहे निमीलितस्यात्मनो ज्ञान न प्रकाशते । 'रत्तिं' रात्राविव । 'चक्खुणिमिलिदस्स' निमीलितचक्षुष पुस । 'जह दीवो सुपज्जलिदो' यथा सुप्रज्वलित प्रदीप ॥१३३९॥

इंदियकसायमइलो बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण ।
आवहदि को वि विसए सउणो बादसगेणेव ॥१३४०॥

इंदियकसायमइलो' इन्द्रियकषायपरिणाममलिन । 'बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण' बाह्याया गमनागमनादिकाया क्रियाया निभृतेन वेषेण । 'कोई विसए आवहदि' कश्चिद्विषयमानावहति आत्मनो भोगाय ॥१३४०॥

घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भतरम्मि कुधिदस्स ।
बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ॥१३४१॥

घोडगलिंडसमाणस्स' घोटकलिण्डसमानस्य यथा बहिर्मसृणता न तद्वदन्तमसृणता । तद्वत्कस्यचिद्बाह्याचरण समीचीन नाभ्यन्तरा परिणामा शुद्धा । स एवमुच्यते । 'बाहिरकरण किं काहिदि' बाह्यक्रिया अनशनादिका किं करिष्यति । 'अब्भतरम्मि कुधिदस्स' अन्त कुथितस्य । इन्द्रियकषायसज्ञाऽशुभपरिणामैन नष्टाभ्यन्तरतपोवृत्तेरिति यावत् । 'बगणिहुदकरणस्स' बकवन्निभृतक्रियस्य ॥१३४१॥

करता है । जैसे गधेपर लदा चन्दन दूसरोका उपकार करता है ॥१३३८॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान अपने प्रकाशकत्व धर्मको भी छोड़ देता है—

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायोका निग्रह करनेमे जो अपना उपयोग नही लगाता अर्थात् जो इन्द्रिय और कषायोसे प्रभावित है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूपका प्रकाशक नही होता। जैसे, जिसने आँखे मूँदी है उसके लिए तीव्रतासे जलता हुआ दीपक पदार्थोका प्रकाश नही करता ॥१३३९॥

गा०—जिसका परिणाम इन्द्रिय और कषायसे मलिन होता है ऐसा कोई साधु बाह्य गमन आगमन आदि क्रियाओके द्वारा अपने वेशको छिपाकर अपने भोगके लिये विषयोको ग्रहण करता है जैसे निश्चल बैठा पक्षी अपनी चोचमे अपने शिकारको ग्रहण करता है ॥१३४०॥

गा०-टी०—जैसे घोडेकी लीद ऊपरसे चिकनी और भीतरसे खुरदरी होती है वैसे ही किसीका बाह्य आचरण तो समीचीन होता है किन्तु अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नही होते। उसे घोडेकी लीदके समान कहा है। जिसके अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नही हैं उसकी बाह्यक्रिया अनशन आदि क्या करेगी? अर्थात् इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ परिणामके द्वारा अभ्यन्तर तपोवृत्ति जिसकी नष्ट हो चुकी है वह बाह्य अनशन आदि तप करे भी तो क्या लाभ है। वह तो नदीके तटपर निश्चल बैठे हुए बगुलेकी तरह है ॥१३४१॥

---

१ घायानि–आ० । २ बोदसगे–ज०, मु०, मूलारा० ।

बाह्य तपः करणीयतयोपदिष्टं तत्स्वफलं सम्पादयत्येव किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्याशङ्क्य सूरिराचष्टे—

बाहिरकरणविसुद्धी अब्भतरकरणसोधणत्थाए ।
ण हु कुडयस्स सोधी सक्का सतुसस्स कादु जे ॥१३४२॥

'बाहिरकरणविसुद्धी' बाह्यक्रियाविशुद्धिः । 'अब्भतरकरणशोधणत्थाए' अभ्यन्तरक्रियाणां विनयादीनां शुद्धये, अभ्यन्तरतपसा लघ्वेव बहुतरकर्मनिर्जराक्षमाणां परिवृद्धये श्रूयन्ते बाह्यान्यनशनादितपांसि । ततोऽन्वर्थतया बाह्यान्युपदिष्टानि। यद्धि यदर्थ तत्प्रधानं इति प्रधानताभ्यन्तरतपसः तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मकं । तेन विना न निर्जरायै बाह्यमलं । उक्तं च—बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृहणार्थं । इति । 'ण खु कुडयस्स सोधी सक्का कादु जे' नैवान्तर्मलस्य शुद्धिः शक्या कर्तुं । कस्य ? 'सतुसस्स' सतुषस्य धान्यस्य ।।१३४२।।

अब्भतरसोधीए सुद्ध णियमेण बाहिरं करणं ।
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरं दोसं ॥१३४३॥

'अब्भतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया । 'सुद्ध णियमेण बाहिर करणं' शुद्धं निश्चयेन बाह्यं करणं । 'अब्भतरदोसेण खु' अन्तःपरिणामदोषेणैव इन्द्रियकषायपरिणामादिना । 'कुणदि णरो बाहिर दोसं' करोति नरो बाह्यान्दोषान्वाक्कायाश्रयान् ॥१३४३॥

लिंगं च होदि अब्भतरस्स सोधीए बाहिरा सोधी ।
भिउडीकरणं लिंगं जह अतोआदकोधस्स ॥१३४४॥

'लिंग च होदि' चिह्नं च भवति । 'अब्भतरस्स परिणामसोधीए' अभ्यन्तरस्य परिणामस्य शुद्धेः । 'बाहिरा सोधी' बाह्या शुद्धिरशनादितपोविषया । 'भिउडीकरण लिंग' भृकुटीकरणं लिङ्गं । 'जह' यथा ।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि ऊपर बाह्यतप करनेका उपदेश किया है वह अपना फल अवश्य देता है। तब आप कैसे कहते हैं कि बाह्यक्रिया क्या करेगी ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०-टी०—अभ्यन्तर क्रिया विनय आदिकी शुद्धिके लिये बाह्यक्रियाकी विशुद्धि कही है। शीघ्र ही बहुतसे कर्मोकी निर्जरामें समर्थ अभ्यन्तर तपोंकी वृद्धिके लिए बाह्य अनशन आदि तप सुने जाते हैं। इसीलिए उनका बाह्य नाम सार्थक है। जो जिसके लिये होता है वह प्रधान होता है। इसलिए अभ्यन्तर तपकी प्रधानता है। वह अभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामरूप होता है। उसके बिना बाह्यतप निर्जरामें समर्थ नहीं होता। कहा भी है—'भगवन् ! आपने आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिए अत्यन्त कठोर बाह्यतप किया।' ठीक ही है, क्योंकि छिलकेके रहते हुए धान्यकी अन्तः शुद्धि सम्भव नहीं है ॥१३४२॥

गा०—नियमसे अभ्यन्तर शुद्धिके होनेसे ही बाह्यशुद्धि होती है। इन्द्रियकषाय परिणाम आदि अन्तरंग परिणाम दोषसे ही मनुष्य वचन और कायसम्बन्धी बाह्य दोषोंको करता है ॥१३४३॥

गा०-टी०—अनशन आदि तपविषयक बाह्यशुद्धि अभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धिका

'अतोजादकोधस्स' अन्तर्जातस्य कोपस्य लिङ्ग लिङ्गिभाव । बाह्यानामभ्यन्तराणा चैव भवति यदि परस्परा-विनाभाविता स्यादग्निधूमयोरिव। प्रसिद्धश्च लिङ्गलिङ्गिभाव कार्येण बाह्येन कारणस्याभ्यन्तरस्येति भावार्थ ॥१३४४॥

ते चेव इ दियाणं दोसा सव्वे हवंति णादव्वा ।
कामस्स य भोगाण य जे दोसा पुव्वणिदिट्ठा ॥१३४५॥

'ते चेव इदियाण दोसा' त एवेन्द्रियाणा सर्वेषा दोषा भवन्ति इति ज्ञातव्या । के ? 'ये दोसा पुव्व णिद्दिट्ठा' ये दोषा पूर्वनिर्दिष्टा । 'कामस्स य भोगाण य' कामस्य भोगाना च सबन्धितया निर्दिष्टा दोषा ॥१३४५॥

महुलित्त असिधार तिक्ख लेहिज्ज जध णरो कोई ।
तध विसयसुह सेवदि दुहावह इहहि परलोगे ॥१३४६॥

'मधुलित्त' मधुना लिप्ता । 'असिधार' असेर्धारा । तिक्ख' तीक्ष्णा । 'जह णरो कोई लेहिज्ज' यथा नर कश्चिदास्वादयति जिह्वया । 'तह विसयसुह सेवदि' तथा विषयसुख सेवते । 'दुहावह इह य परलोए' दु खावहमत्र जन्मनि परत्र च, स्वल्पसुखतया बहुदु खतया च साम्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो ॥१३४६॥

एकैकेन्द्रियविषयवशवर्तिभिर्मृगादिभिरुपद्रवो ह्याप्त, कि पुनरशेषेन्द्रियविषयलम्पटैर्जनै प्राप्योऽनर्थ वाच्यमिति मत्वाचष्टे—

सद्देण मओ रूवेण पदगो वणगओ वि फरिसेण ।
मच्छो रसेण भमरो गधेण य पाविदो दोस ॥१३४७॥

चिह्न है। जैसे क्रोध उत्पन्न होनेका चिह्न भृकुटी चढाना होता है। इस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तरको अग्नि और धूमकी तरह परस्परमें अविनाभाविता है। अर्थात् जैसे आगके होनेपर ही धूम होता है अत जहाँ धूम होता है वहाँ आग अवश्य होती है। इसीको अविनाभाविता कहते हैं। धूम लिंग है आग लिंगी है। इसी प्रकार बाह्य कार्यके साथ अभ्यन्तर कारणका लिंग-लिंगी भाव सम्बन्ध जानना ॥१३४४॥

गा०—जो दोष पहले काम और भोगके सम्बन्धमे कहे हैं वे ही सब दोष इन्द्रियोंके सम्बन्धमे जानना ॥१३४५॥

गा०-टी०—जैसे कोई मनुष्य जिह्वाके द्वारा मधुसे लिप्त तलवारकी तीक्ष्ण धारको चाटता है वैसे ही मनुष्य विषय सुखका सेवन करता है जो इस जन्ममे और परजन्ममें दु खदाया है। जैसे मधुलिप्त तलवारकी धारको जिह्वासे चाटनेसे प्रारम्भमे मधुके कारण थोडा सुख होता है किन्तु जीभ कट जानेपर बहुत दु ख होता है उसी प्रकार विषय भोगमे भी सुख अल्प है दु ख बहुत है ॥१४४६॥

आगे कहते हैं कि एक एक इन्द्रियके विषयमे आसक्त हिरन आदि कष्ट भोगते हैं तब समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमे आसक्त जनोंके द्वारा प्राप्य अनर्थका क्या कहना है—

'सद्देण मओ' शब्देन मृग वाष्पच्छेद्यसरससुरभितृणाग्रग्रासेन, मृदुपवनानीतशैत्यस्फटिकमकाशपानीयपानेन च पुष्टमूर्तिरन्त करणमिव लघुतरप्रयाणो हरिणो व्याधकलगीतश्रवणेन मुखाकूणितलोचन दुष्टयमदंष्ट्रासमाननिशितविशिखावलीभिस्तनुर्जहाति प्रियतमान्प्राणान् । 'रूवेण पदगो य' एककलिकाकारप्रदीपरूपेण जनितानुराग पतगो दीपार्चिषि भस्मसाद्भावमुपयाति । 'वणगजो वि फरिसेण' वनगजश्च विलासिनीहृदयमिव दुष्प्रवेशासु ससृतिरिव महतीषु अरण्यानीषु विपद इव दुरतिक्रमणीयासु सल्लकीतरुणतरुशाखाहार, रम्यगिरिनदीविपुलन्हदेषु, स्वेच्छापानस्नानमज्जनोन्मज्जनैरूपगतप्रीति, अनुकूलानेककरिणीकदम्बकेनानुगम्यमानो वासिताविशालजघनस्पर्शनोपनीतप्रीतिर्मदकलो विचेतनो रागबहलतिमिरपटलावगुण्ठितलोचनो महति गर्ते निपतित पर व्यसनमवगाहते । 'मच्छो' मत्स्य युवजनमन 'सरोनपायिविलासिनी विलोचनविभ्रमविलम्बनोद्यत स्वल्पाहाररसलोलुपो विपदमाशुवश प्रयाति । विचित्रसुरभिप्रसूनप्रकररजोऽङ्गरागो भ्रमर विषपादपकुसुमगन्धेनापहृतप्रियतमप्राणो भवति । एवमेते दोषान्प्राप्तिा ॥१३४७॥

तिरश्चा दु ख प्रतिपाद्य विषयरागजनित मनुजगतौ दर्शयति—

इंदि पचहिं पच हदा सद्दरसफरिसगधरूवेहिं ।
इक्को कह ण हम्मदि जो सेवदि पच पचेहिं ॥१३४८॥

गा०-टी०—वनमे हिरण मुखके वाष्पसे टूटनेवाले सरस सुगन्धित तृणोके अग्रभागोको खाकर और कोमल वायुके द्वारा शीतल किये गये स्फटिकके समान स्वच्छ जलको पीकर पुष्ट होता है । उसकी गति मनमे भी तीव्र होती है । वह व्याधके मनोहर गीतको सुनकर मुखमे अपनी आँखें मूँद लेता है । और दुष्ट यमराजकी दाढके समान तीक्ष्ण विशाल बाणोके द्वारा छेदा जाकर अत्यन्त प्रिय प्राणोको त्याग देता है । एक कलिकाके आकार दीपकके रूपसे अनुराग करनेवाला पतगा दीपककी लौमे जलकर भस्म हो जाता है । वनका हाथी स्त्रीके हृदयकी तरह जिसमे प्रवेश करना कठिन है, जो ससारकी तरह महान् है और विपत्तिकी तरह जिसे लाघना अशक्य है ऐसे महान् वनमे सल्लकीके तरुण वृक्षोकी शाखा खाता है, रमणीक पहाडी नदी और बडे-बडे तालाबोमे स्वेच्छापूर्वक जल पीता है, अवगाहन करता है, डुबकी लगाता है, अनेक अनुकूल हथिनियोका समूह उसके पीछे चलता है, हथिनीके विशाल जघन भागके स्पर्शनमे अनुरक्त होकर मदमत्त हो, रागकी अधिकतारूपी अन्धकारके पटलमें आँखे बन्द कर लेता है और महान् गर्तमे गिरकर कष्ट भोगता है । युवा पुरुषोके मनरूपी सरोवरमे विलास करनेवाली स्त्रियोके लोचनके हावभावका अनुकरण करनेवाला मच्छ थोडेमे भोजनकी लोलुपतावश शीघ्र ही विपत्तिमे पड जाता है । अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोके समूहकी रजमे आवेष्ठित भौरा विषवृक्षके फूलकी गन्धमे प्राण खो देता है । इस प्रकार एक एक इन्द्रियके वश होकर ये कष्ट उठाते हैं ॥१३४७॥

तिर्यञ्चोका विषयरागमे उत्पन्न दु ख कहकर मनुष्य गतिमे कहते हैं—

गा०—इस प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गन्ध, रूप इन पाँच विषयोके द्वारा पाँच जीव अपने प्राण गँवाते हैं । तब जो एक ही पुरुष पाँचो इन्द्रियोके द्वारा पाँचो विषयोका सेवन करता है वह प्राण क्यो न गँवायेगा ॥१३४८॥

१ सम्मार्गो–आ० । २ एता टीकाकारो नेच्छति ।

सरजूए गंधमित्तो घाणिंदियवसगदो विणीदाए ।
विसपुप्फगंधमग्घाय मदो णिरयं च संपत्तो ॥१३४९॥

'सरजूए' सरय्वा नद्या । 'गंधमित्तो' गंधमित्रो नाम भूपाल । 'मदो' मृत । 'विणीदाए' विनीतापुरीपति । 'घाणिंदियवसगदो' घ्राणेन्द्रियवशगत । 'विसगंधपुप्फमग्घाय' विषचूर्णवासितपुष्पमाघ्राय । 'मदो' मृत । णिरय च संपत्तो नरक च सप्राप्त तीव्रविषयरागाज्जातेन कर्मभारेण ॥१३४९॥

पाडलिपुत्ते पंचालगीदसद्देण मुच्छिदा संती ।
पासादादो पडिदा णट्ठा गंधव्वदत्ता वि ॥१३५०॥

पाटलिपुत्रे पाचालस्य गीतशब्देन मूर्छिता सती प्रासादात्पतिता नष्टा गन्धर्वदत्ता नामधेया गणिका ॥१३५०॥

माणुसमंसपसत्तो कंपिल्लवदी तधेव भीमो वि ।
रज्जब्भट्ठो णट्ठो मदो य पच्छा गदो णिरयं ॥१३५१॥

'मानुसमंसपसत्तो' मानुषमांसप्रसक्त काम्पिल्यपुराधिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृत पश्चान्नरकमुपयात ॥१३५१॥

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवम्मि रत्तदिट्ठीओ ।
विद्धो सरेण अच्छीसु मदो णिरय च संपत्तो ॥१३५२॥

'चोरो वि तह सुवेगो' सुवेगनामधेयश्चौरोऽपि युवतिरूपावृष्टदृष्टि शरविद्धेक्षणे मृतो नरकमुपगत ॥१३५२॥

फासिंदिएण गोवे सत्ता गिहवदिपिया वि णासक्के ।
मारेदूण सपुत्तं धूयाए मारिदा पच्छा ॥१३५३॥

'फासिदिएण' स्पर्शनेन्द्रियेण हेतुना । 'गोवे सत्ता' आत्मीये गोपाले आसक्ता । '[1]गिहवदिपिया'

गा०—अयोध्यापुरीका राजा गन्धमित्र घ्राणेन्द्रियके वशमें होकर सरयू नदीमें विषसे फूलकी गन्धको सूंघकर मरा और नरकमें गया ॥१३४९॥

विशेषार्थ—उसके बडे भाईने भयकर विषसे फूलको सुवासित करके दिया था। इसकी कथा वृहत्कथाकोशमें ११३ नम्बर पर है।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमें गधर्वदत्ता नामक गणिका पचालके गीतके शब्द सुनकर मूर्छित हो महलसे नीचे गिरकर मर गई ॥१३५०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा वृहत्कथाकोशमें ११४ नम्बर पर है।

गा०—कपिला नगरीका राजा भीम मनुष्यके मासका प्रेमी था। वह राज्यसे निकाला जाकर मरकर नरकमें गया ॥१३५१॥

विशेषार्थ—वृहत्कथाकोशमें ११५ नम्बर पर इसकी कथा है।

---

१ वदि गिहिणी–अ० आ०।

राष्ट्रकूटभार्या। 'णासक्के' नासिक्ये नगरे। 'मारेदूण सपुत्त' स्वपुत्रं हत्वा। 'धूदाए' दुहित्रा। 'पच्छा' पश्चात्। 'मरिदा' मृतिं नीता ॥१३५३॥ इंदिया।

एवमिन्द्रियदोषानुपदर्श्य क्रोधदोषप्रकटनार्थं प्रक्रम्यते—

रोसाइट्ठो णीलो हदप्पभो अरदिअग्गिससत्तो।
सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिट्ठो व ॥१३५४॥

'रोसाविट्ठो' रोषाविष्टः। नीलवर्णो भवति 'हदप्पभो' विनष्टदीप्तिः। 'अरदिअग्गिसतत्तो' अरत्यग्निसतप्तः। 'सीदे वि णिवाइज्जइ' शीतेऽपि तृषितो भवति। 'वेवदि' वेपते च। 'गहोवसिट्ठोव' ग्रहेणोपसृष्ट इव ॥१३५४॥

भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो।
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥१३५५॥

'भिउडीतिवलियवयणो' भृकुटीत्रिवलितवदनो। 'उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो' उद्गतनिश्चलसुरक्तरूक्षेक्षणः। 'रोसेण' रोषेण हेतुना। रक्खसो' राक्षस इव। णराण भीमो णरो होदि' नराणां भीमो भयावहो भवति नरः ॥१३५५॥

जह कोइ तत्तलोहं गहाय रुट्ठो परं हणामित्ति।
पुव्वदरं सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥१३५६॥

'जह कोइ' यथा कश्चित् 'तत्तलोहं गहाय' तप्तलोहं गृहीत्वा। किमर्थं? 'रुट्ठो परं हणामित्ति'

गा०—सुवेग नामक चोर युवती स्त्रियोंके रूपको देखनेका अनुरागी था। उसकी आँखमे वाण लगा और वह मरकर नरक गया ॥१३५२॥

विशेषार्थ—वृ० क० को० मे इसकी कथा ११६ वी है। उसमे सुवेगको म्लेच्छराज कहा है ॥१३५२॥

गा०—नासिक नगरमे गृहपति सागरदत्तकी भार्या नागदत्ता स्पर्शन इन्द्रियके कारण अपने ग्वाले पर आसक्त थी। उसने अपने पुत्रको मारा तो उसकी लडकीने अपनी माको मार दिया ॥१५५३॥

विशेषार्थ—इसकी कथा उसी कथाकोशमे ११७ नम्बर पर है ॥१३५३॥

इस प्रकार इन्द्रियके दोष बतलाकर क्रोधके दोष बतलाते हैं—

गा०-टी०—जो क्रोधसे ग्रस्त होता है उसका रग नीला पड जाता है, कान्ति नष्ट हो जाती है, अरतिरूपी आगमे सतप्त होता है। ठडमे भी उसे प्यास सताती है और पिशाचसे गृहीत की तरह क्रोधसे काँपता है ॥१३५४॥ भृकुटी चढनेसे मस्तक पर तीन रेखाएँ पड जाती है, लाल लाल निश्चल आँखें बाहर निकल आती हैं। इस तरह क्रोधसे मनुष्य दूसरे मनुष्योंके लिए राक्षसकी तरह भयानक हो जाता है ॥१३५५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष रुष्ट होकर दूसरेका घात करनेके लिए तपा लोहा उठाता है। ऐसा करनेसे दूसरा उससे जले या न जले, पहले वह स्वयं जलता है ॥१३५६॥

रुष्ट पर हन्मीति । 'पुव्वदर सो डज्झदि' पूर्वतर स एव दह्यते तेन तप्तेन लोहेन गृहीतेन । 'डज्झिज्ज परो ण वा पुरिसो' दह्यते पर पुरुषो न वा दह्यते ॥१३५६॥

तध रोसेण सय पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव ।
अण्णस्स पुणो दुक्ख करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्ज ॥१३५७॥

'तध रोसेण' तथा रोषेण स्वय पूर्वं दह्यते द्रवीकृतलोहसस्थानीयेन । अन्यस्य पुनर्दु ख कुर्यान्न वा रुष्ट ॥१३५७॥

णासेदूण कसाय अग्गी णसदि सय जधा पच्छा ।
णासेदूण तध णर णिरासवो णस्सदे कोधो ॥१३५८॥

कोधो सत्तुगुणकरो णीयाण अप्पणो य मण्णुकरो ।
परिभवकरो सवासे रोसो णासेदि णरमवस ॥१३५९॥

'रोसो सत्तुगुणकरो' रोष शत्रोर्यो गुणो धर्मोऽपकारित्व नाम त करोति । अथवा शत्रूणा गुणमुपकार करोति रोष । यतोऽस्य हि रोषदहनेन दह्यमान त दृष्ट्वा ते तुष्यन्ति । कथमस्य रोषमुत्पादयाम इत्येव-मादृतास्ते सदापीति । 'णीयाण अप्पणो वा' बान्धवाना आत्मनश्च शोक करोति । 'परिभवकरो सवासे' स्वनिवासस्थाने परिभवमानयति । 'रोसो णासेदि णरमवस' रोषो नरमवश नाशयति ॥१३५९॥

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जंपदि अजपिदव्वं च ।
रोसेण रुद्दहिदओ णारगसीलो णरो होदि ॥१३६०॥

'ण गुणे पेच्छदि' गुण न पश्यति, यस्मै कुप्यति । 'अववददि' निन्दति । 'गुणे' गुणानपि तदीयान् । 'जपदि अजपिदव्व च' वदत्यवाच्यमपि । 'रोसेण रुद्दहिदओ' रोषेण रौद्रचित्त: । 'णारगसीलो णरो हवदि' नारकशीलो भवति नर ॥१३६०॥

गा०—उसी प्रकार पिघले हुए लोहेकी तरह क्रोधसे पहले वह स्वय जलता है। दूसरेको वह दु खी करे या न करे ॥१३५७॥

गा०—जैसे आग ई धनको नष्ट करके पीछे स्वय बुझ जाती है उसी प्रकार क्रोध पहले क्रोधी मनुष्यको नष्ट करके पीछे निराधार होनेसे स्वय नष्ट हो जाता है ॥१३५८॥

गा०-टी०—क्रोध शत्रुका जो धर्म है अपकार करना, उसे करता है अथवा क्रोध शत्रुका उपकार करता है क्योकि उसे क्रोधकी आगमे जलते हुए देखकर शत्रु प्रसन्न होते हैं। वे सदा इस प्रयत्नमे रहते हैं कि कैसे इसे क्रोध उत्पन्न करे। क्रोध अपने और बन्धु बान्धवोको शोकमे डालता है। अपने ही घरमे अपना तिरस्कार कराता है। परवश मनुष्यका नाश करता है ॥१३५९॥

गा०—क्रोधी जिसपर क्रोध करता है उसके गुणोको नही देखता। उसके गुणोकी भी निन्दा करता है। जो कहने योग्य नही है वह भी कहता है इस प्रकार क्रोधसे रौद्र हृदय मनुष्य-का स्वभाव नारकी जैसा होता है ॥१३६०॥

जघ करिसयस्स धण्ण वरिसेण समज्जिद खल पत्त।
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसार ॥१३६१॥

'जह करिसगस्स' यथा कर्षकस्य धान्यं वर्षेण समाजितं खलप्राप्तं दहति विस्फुलिङ्गो दीप्तस्तथा क्रोधाग्निर्दहति श्रमणस्य सारं पुण्यपण्यं ॥१३६१॥

जध उग्गविसो उरगो दब्भतणंकुरहदो पकुप्पतो।
अचिरेण होदि अविसो तध होदि जदी वि णिस्सारो ॥१३६२॥

'जह उग्गविसो उरगो' यथोग्रविष उरगो। दर्भतृणाङ्कुरहतं तत्प्रकृष्टरोषवशमुपनयन् स्पष्टं तृणादिकं भक्षयित्वा झटिति निर्विषो भवति। तथा यतिरपि निस्सारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशात् ॥१३६२॥

पुरिसो मक्कडसरिसो होदि सरूवो वि रोसहदरूवो।
होदि य रोसणिमित्त जम्मसहस्सेसु य दुरूवो ॥१३६३॥

'पुरिसो मक्कडसरिसो' पुरुषो मर्कटसदृशो भवति सुरूपोऽपि सन् रोषापहृतरूप। इह जन्मनि दोषानुपदर्श्य पारभविकमाचष्टे—'होदि' भवति। जन्मसहस्रेषु दुरूप एकभवकृतात्कोपात् ॥१३६३॥

सुट्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥१३६४॥

'सुट्ठुवि' नितरामपि। जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव द्वेष्यो भवति रोषेण प्रथितमपि यशो नश्यति। कस्य? 'कुद्धस्स अक्कज्जकरणेन' क्रुद्धस्य अकार्यकरणेन ॥१३६४॥

णीयल्लगो वि रुट्ठो[1] कुणदि अणीयल्ल एव मत्त वा।
मारेदि तेहिं मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाण ॥१३६५॥

गा०—जैसे चिनगारी एक वर्षके श्रममे प्राप्त खलिहानमे आये किसानके धान्यको जला देती है उसी प्रकार क्रोधरूपी आग श्रमणके जीवन भरमे उपार्जित पुण्य धनको जला देती है ॥१३६१॥

गा०—जैसे उग्र विषवाले सर्पको घासके एक तिनकेमे मारने पर वह अत्यन्त रोषमे आकर उस तिनके पर अपना विष वमन करके तत्काल विष रहित हो जाता है उसी प्रकार यति भी क्रोध करके अपने रत्नत्रयका विनाश करता है और शीघ्र ही निस्सार हो जाता है ॥१३६२॥

गा०—सुन्दर सुरूप पुरुष भी क्रोधसे रूपके नष्ट हो जाने पर बन्दरके समान लाल मुखवाला विरूप हो जाता है। इस जन्ममें क्रोधके दोष दिखलाकर परलोकमे दिखलाते हैं एक भवमे क्रोध करनेसे हजारो जन्मोमे कुरूप होना है ॥१३६३॥

गा०—क्रोध करनेसे अत्यन्त प्रिय व्यक्ति भी मुहूर्त-मात्रमें ही द्वेषका पात्र होता है। तथा क्रोधी मनुष्यके अनुचित काम करनेसे उसका फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है ॥१३६४॥

---

१ वि कुद्धो आ० मु०।

'गोमल्लो वि 'रुट्ठो' बन्धुरपि बन्धूकरोति शत्रुवत् । हन्ति बान्धवान् । मार्यते वा स्वय तैरात्मान वा हन्यात् ॥१३६५॥

पुज्जो वि णरो अवमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चेव ।
जगविस्सुद वि णस्सदि माहप्पं कोहवसियस्स ॥१३६६॥

'पुज्जो वि' पूज्योऽपि नरो अवमन्यते रोषेण । तत्क्षण एव जगति विश्रुतमपि माहात्म्य नश्यति रोषिण ॥१३६६॥

हिंस अलिय चोज्ज आचरदि जणस्स रोसदोसेण ।
तो ते सव्वे हिंसालिया[^2]दि दोसा भवे तस्स ॥१३६७॥

'हिंस अलिय चोज्ज' हिंसामसत्य चौर्यं चाचरति जनस्य रोपदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसादिप्रभवा दोषा भवे भविष्यन्ति ॥१३६७॥

बारवदीप असेसा दड्ढा दीवायणेण रोसेण ।
बद्ध च तेण पाव दुग्गदिभयवघणं घोर ॥१३६८॥

'बारवती' द्वारवती । निरशेषा दग्धा रुष्टेन द्वीपायनेन । घोर च पाप बद्ध दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्त । 'कोधुत्ति गद' ॥१३६८॥

मानदोषप्रकटनार्थं प्रबन्ध उत्तर —

कुलरूवाणाबलसुदलाभस्सरयत्थमदितवादीहि ।
अप्पाणमुण्णमतो नीचागोदं कुणदि कम्मं ॥१३६९॥

'कुलरूवाणा' कुलेन रूपेण आज्ञया, बलेन, श्रुतेन, लाभेन, ऐश्वर्येण मत्या तपसाऽन्यैश्च आत्मानमुत्कर्षयन्नीचैर्गोत्र कर्म बध्नाति ॥१३६९॥

गा०—क्रोधी मनुष्य अपने निकट सम्बन्धियोको भी असम्बन्धी अथवा शत्रु बना लेता है। उनको मारता है या उनके द्वारा मारा जाता है अथवा स्वय मर जाता है ॥१३६५॥

गा०—पूजनीय मनुष्य भी क्रोध करनेसे तत्काल अपमानित होता है। क्रोधीका जगत्मे प्रसिद्ध भी माहात्म्य नष्ट हो जाता है ॥१३६६॥

गा०—क्रोधके कारण मनुष्य लोगोकी हिंसा करता है, उनके सम्बन्धमे झूठ बोलता है, चोरी करता है। अत उसमे हिंसा झूठ आदि सब दोष होते हैं ॥१३६७॥

गा०—दीपायन मुनिने क्रोधसे समस्त द्वारका नगरी भस्म कर दी। और दुर्गतिमे ले जाने वाले घोर पापका बन्ध किया ॥१३६८॥

क्रोध का कथन समाप्त हुआ ।

आगे मानके दोष कहते है—

गा०—कुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य बातोमे अपनेको वडा

---

१. विसुदो आ० । २ लियचोज्ज समुब्भवा दोसा–मु० ।

दट्ठूण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकलिं ।
दट्ठूण अप्पणादो अधिए माणं णयंति बुधा ॥१३७०॥

'दट्ठूण अप्पणादो' आत्मनो हीनान् दृष्ट्वा मूर्खा मानकलिं उद्वहन्ति। बुधा पुनरात्मनोऽधिकान्बुद्धयावलोक्य मान निरस्यन्ति ॥१३७०॥

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ।
पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥१३७१॥

'माणी विस्सो सव्वस्स' मानी सर्वस्य द्वेष्यो भवति। कलह, भय, वैर, जन्मान्तरानुग दुःख च प्राप्नोति। नियोगत इह परत्र चावमान ॥१३७१॥

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होंदि णादव्वा ।
माणेण चेव मेघुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३७२॥

'सव्वे वि कोधदोसा' क्रोधस्य वर्णिता दोषाः। 'न गुणे पिच्छदि' इत्येवमादिसूत्रेण ते सर्वे मानकषायस्यापि ज्ञातव्याः। मानेन मैथुने चौर्ये हिंसायामसत्याभिधाने च प्रयतते ॥१३७२॥

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥१३७३॥

'सयणस्स' मानरहितः स्वजनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति। 'लोए' लोके। 'णाण' ज्ञान। 'जस' यशः, 'अत्थ' द्रविण लभते स्व कार्यमन्यदपि साधयति ॥१३७३॥

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ।
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाण ॥१३७४॥

'ण य परिहायदि' मार्दवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो हीयते येनार्थहानिभयात् मान कुर्यात्। मार्दवे तु प्रयुक्ते इह जन्मान्तरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याण ॥१३७४॥

मानने वाला, उनका अहंकार करनेवाला नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध करता है ॥१३६९॥

गा०—अपनेमें हीन व्यक्तियोंको देखकर मूर्ख लोग मान करते हैं। किन्तु विद्वान् अपनेमें बड़ोंको देखकर मान दूर करते हैं ॥१३७०॥

गा०—मानीसे सब द्वेष करते हैं। वह कलह, भय, वैर और दुःखका पात्र होता है तथा इस लोक और परलोकमें नियमसे अपमानका पात्र होता है ॥१३७१॥

गा०—पहले जो क्रोधके दोष कहे हैं वे सब दोष मानकषायके भी जानना। मानसे मनुष्य हिंसा, असत्य बोलना, चोरी और मैथुनमें प्रवृत्ति करता है ॥१३७२॥

गा०—मान रहित व्यक्ति जगत्‌में स्वजन और परजन सदा सबका प्रिय होता है। वह ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है तथा अन्य भी अपने कार्यको सिद्ध करता है ॥१३७३॥

गा०—मार्दव युक्त व्यवहार करने पर कोई धनहानि नहीं होती जिससे धनहानिके भयसे मनुष्य मान करे। विनयसे इस जन्ममें और जन्मान्तरमें सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं ॥१३७४॥

सट्ठिं साहस्सीओ पुत्ता सगरस्स रायसीहस्स ।
अदिबलवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥१३७५॥

'सट्ठि साहस्सीओ' सगरस्य राजसिंहस्य चक्रिणः षष्टिसहस्रसंख्या पुत्रा महाबला विनष्टा मानदोषेण ॥१३७५॥ माणनिगद ।

मायादोषनिरूपणायोत्तरगाथा—

जध कोडिसमिद्धो वि ससल्लो ण लभदि सरीरणिव्वाणं ।
मायासल्लेण तहा ण णिव्वुदिं तवसमिद्धो वि ॥१३७६॥

'जध कोडिसमिद्धो वि' यथा कोटिसमृद्धोऽपि शरीरानुप्रविष्टशल्यो न शरीरसुखं लभते । तथा मायाशल्येन न निर्वृत्तिं लभते तपःसमृद्धोऽपि ॥१३७६॥

होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तध अवमदो य सुजणस्स ।
होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥१३७७॥

'होदि य वेस्सो' द्वेष्यो भवत्यप्रत्ययित तथा सुजनस्याबमतः । बान्धवानामपि शत्रुरचिरेण भवति मायादोषेण ॥१३७७॥

पावइ दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि ।
सच्चाण सहस्साणि वि माया एक्का वि णासेदि ॥१३७८॥

'पावदि दोसं' प्राप्नोति दोषं महान्तं अल्पापराधोऽपि मायया । एकापि माया सत्यसहस्राणि नाशयति । महादोषप्रापणं सत्यसहस्रविनाशनं च मायादोषो ॥१३७८॥

मायाए मित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी ।
णासदि मायादोसा विसजुददुद्धं व सामण्णं ॥१३७९॥

गा०—सगर चक्रवर्तीके साठ हजार पुत्र महाबलशाली होते हुए भी मान दोषके कारण मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७५॥

मानके दोषोका वर्णन पूर्ण हुआ ।

आगे मायाके दोष कहते है—

गा०—जैसे एक कोटी धनका स्वामी होने पर भी यदि शरीरमे कीलकाँटा घुसा हो तो शारीरिक सुख नही मिलता । उसी प्रकार तपमे समृद्ध होने पर भी यदि अन्तरमे मायारूपी शल्य घुसा है तो मोक्ष लाभ नही हो सकता ॥१३७६॥

गा०—माया दोषसे मनुष्य सबके द्वेषका पात्र होता है उसका कोई विश्वास नहीं करता। सुजन भी उसका अपमान करते हैं। वह शीघ्र ही अपने बन्धु-बान्धवोका भी शत्रु बन जाता है ॥१३७७॥

गा०—अपने द्वारा थोडा सा अपराध होने पर भी मायाचारी महान् दोषका भागी बनता है। एक बारका भी मायाचार हजारो सत्योंको नष्ट कर देता है इस प्रकार महादोषका भागी होना और हजार सत्योंका विनाश ये मायाके दोष हैं ॥१३७८॥

'मायाए' मायया । 'मित्तभेदे' मैत्र्या विनाशे कृते । 'इह लोगिगच्छपरिहाणी' ऐहलौकिककार्यविनाश । 'णासदि सामण्ण' नश्यति श्रामण्य । 'मायादोसा' मायाख्य दोषाद्धेतो । 'विसजुददुद्ध व' विषयुतदुग्धमिव । मित्रकार्यविनाश श्रामण्यहानिश्च मायाजनितदोषौ ॥१३७९॥

माया करेदि णीचागोद इत्थी णवुंसय तिरिय ।
मायादोसेण य भवसएसु डंभिज्जदे बहुसो ॥१३८०॥

'माया करेदि णीचागोद' माया करोति नीचैर्गोत्र कर्म । नीचैर्वा गोत्रमस्य जन्मान्तरे । 'इत्थी णवुसय-तिरिय' स्त्रीवेद, नपुसकवेद तिर्यग्गति च नामकर्म करोति । अथवा स्त्रीत्व, नपुसकत्व, तिर्यक्त्व वा । 'मायादोसेण' [1]मायासज्ञितेन दोषेण । 'भवसदेसु' जन्मशतेपु । 'डंभिज्जदि' वच्यते । 'बहुसो' बहुश ॥१३८०॥

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ।
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति ॥१३८१॥

'कोधो माणो' क्रोधमानलोभास्तत्र जीवे सन्निहिता यत्र स्थिता माया । क्रोधमानलोभजन्या दोषा सर्वेऽपि मायावतो भवन्ति ॥१३८१॥

सस्सो य भरघगामस्स सत्तसवच्छराणि णिस्सेसो ।
दड्ढो डंभणदोसेण कुंभकारेण रुट्ठेण ॥१३८२॥

'सस्सो' सस्य । 'भरधगामस्स' भरतनामधेयग्रामस्य । 'सत्तसवच्छराणि' वर्षसप्तक । 'णिस्सेसो दड्ढो' निरवशेष दग्ध । 'डंभणदोसेण' मायादोषेण हेतुना । 'रुट्ठेण कुंभकारेण' रुष्टेन कुम्भकारेण ॥१३८२॥ मायात्तिगदा ।

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाधत्तो पावइ दोसे बहुं कुणदि पाव ।
णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥१३८३॥

गा०—मायाचारसे मित्रता नष्ट हो जाती है और उससे इस लोक सम्बन्धी कार्योंका विनाश होता है। तथा मायादोषसे विष मिश्रित दूधकी तरह मुनि धर्म नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मित्रता और कार्यका नाश तथा मुनि धर्मकी हानि ये मायाके दोष हैं ॥१३७९॥

गा०-टी०—मायासे नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध होता है, जिससे दूसरे जन्ममें नीच कुलमें जन्म होता है। तथा स्त्रीवेद, नपुसकवेद और तिर्यञ्चगति नाम कर्मका बन्ध करती है। अथवा मायासे स्त्रीपना, नपुसकपना और तिर्यञ्चपना प्राप्त होता है। मायासे उत्पन्न हुए दोषसे सैकडों जन्मोंमें बहुत बार ठगाया जाता है अर्थात् किसीको एक बार ठगनेमें बार-बार ठगा जाता है ॥१३८०॥

गा०—जहाँ मायाचार है वहाँ क्रोध, मान लोभ भी रहते हैं। क्रोध मान और लोभसे उत्पन्न होने वाले सब दोष मायाचारीमें होते हैं ॥१३८१॥

गा०—मायाचारके दोषसे रुष्ट हुए कुम्भकारने भरत नामक गाँवका धान्य सात वर्ष तक पूर्ण रूपसे जलाया था ॥१३८२॥

---

1. मायासजनितेन—मु० ।

'लोभेण' लोभेन हेतुना । 'आसाधत्तो' ममेदभविष्यतीत्याशया ग्रस्त । 'पावदि दोसे' प्राप्नोति दोषान् । बहु कुणदि पाव' पाप च बहु करोत्याशावान् । 'णीए' बान्धवान् । 'अप्पाण वा' आत्मान वा । 'लोभेण' लोभेन । णरो ण विगणेदि' न विगणयति । बान्धवानपि बाधते स्वशरीरश्रम च नापेक्षते इति यावत् ॥१३८३॥

वस्तुन सारासारतया न कश्चित् कर्मबन्धातिशय येन केनचिद्द्रव्येण जनिता मूर्च्छा कर्मबन्धे निमित्त आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा सूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्च ।
[१]लगिदमउडादिसगस्स वि हु ण पाव अलोहस्स ॥१३८४॥

'लोभो तणे वि जादो' लोभस्तृणेऽपि जातो । 'जणेदि पाव' जनयति पाप । 'इदरत्थ' इतरत्र सारवति वस्तुनि । 'किं वच्च' कि वाच्य । 'लगिदमगुडादिसंगस्स वि' स्वशरीरविलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पाप भवति । 'अलोहस्स' लोभकषायवर्जितस्य मुकुटादे सारद्रव्यस्यापि प्रत्यासत्तिर्न बन्धायेति मन्यते ॥१३८४॥

साकेदपुरे सीमधरस्स पुत्तो मियद्धओ नाम ।
भद्दयमहिसनिमित्त जुवरायया केवली जादो ॥१३८५॥

तृप्तिमापादयति द्रव्यमिति योऽत्रास्यानुराग स नास्ति द्रव्यत इत्याचष्टे—

विशेषार्थ—इसकी कथा वृ० क० को० मे १२० नम्बर पर है उसमे गाँवका नाम भरण दिया है ॥१३८२॥

लोभके दोष कहते है—

गा०—लोभसे मनुष्य 'यह वस्तु मेरी होगी' इस आशासे ग्रस्त होकर बहुत दोष करता है, बहुत पाप करता है । लोभसे अपने कुटुम्बियोकी और अपनी भी चिन्ता नही करता । उन्हे भी कष्ट देता है और अपने शरीरको भी कष्ट देता है ॥१३८३॥

वस्तुके सारवान या असार होनेसे कर्मबन्धमे कोई विशेषता नही होती । जिसमे किसी द्रव्यमे उत्पन्न हुआ ममत्व भाव कर्मबधमे निमित्त होता है क्योकि वह ममत्व भाव आत्माके अशुभ परिणाममे निमित्त होता है, ऐसा मानकर आचार्य कहते हैं—

गा०—तृणमे भी हुआ लोभ पापको उत्पन्न करता है तब सारवान् वस्तुमे हुए लोभका तो कहना ही क्या है ? जो लोभकषायसे रहित है उसके शरीरपर मुकुट आदि परिग्रह होनेपर भी पाप नही होता । अर्थात् सारवान् द्रव्यका सम्बन्ध भी लोभके अभावमे बन्धका कारण नही है ॥१३८४॥

गा०—साकेत नगरीमे सीमन्धरका पुत्र मृगध्वज नामका था । वह भद्रक नामक भैंसेके निमित्तसे केवली हुआ ॥१३८५॥

विशेषार्थ—वृ क को मे मृगध्वजकी कथा १२१ नम्बर पर है ।

'द्रव्य तृप्ति देता है' इस भावनासे मनुष्यका द्रव्यमे जो अनुराग है वह नही होनेसे बन्ध नही होता, यह कहते हैं—

---

१ रइदम-अ० आ० ।

तेलोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स ।
संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिद्दो वि णिव्वाण ॥१३८६॥

'तेलोक्केण वि' त्रैलोक्येनापि । 'चित्तस्स णिव्वुदो णत्थि' चित्तस्य निवृत्तिर्नास्ति । 'लोभघत्यस्स' लोभग्रस्तस्य । 'संतुट्ठो' सन्तुष्ट लब्धेन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन । 'अलोभो' द्रव्यगतमूर्च्छारहित । 'लभदि' लभते । 'दरिद्दो वि' दरिद्रोऽपि । 'णिव्वाण' निर्वाण । सन्तोषायत्ता चित्तनिवृतिर्न द्रव्यायत्ता, सत्यपि द्रव्ये महति असन्तुष्टस्य हृदये महति दु खासिका ॥१३८६॥

सव्वे वि गथदोसा लोभकसायस्स हुति णादव्वा ।
लोभेण चेव मेहुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३८७॥

'सव्वे वि गथदोसा' सर्वेऽपि परिग्रहस्य ये दोषा पूर्वमाख्यातास्ते सर्वेऽपि । 'लोभकसायस्स' लोभकषायवत लोभ कषायोऽस्येति लोभकषाय इति गृहीतत्वात । अथवा लोभसज्ञितस्य कषायस्य दोषा इति सम्बन्धनीय । 'लोभेण चेव' लोभेन चव । मैथुन, हिंसा, अलीक, चौर्य चाचरति । तत सावद्यक्रियाया सर्वस्या आदिमान् लोभ ॥१३८७॥

रामस्स जामदग्गिस्स वज्ज घित्तूण कत्तविरिओ वि ।
णिघणं पत्तो सकुलोससाहणो लोभदोसेण ॥१३८८॥

'रामस्स' रामस्य । 'जामदग्गिस्स' जामदग्न्यस्य । 'वज्ज' व्रज । 'घित्तूण' गृहीत्वा । 'कत्तविरिओ वि' कार्तवीर्योऽपि । 'णिघण पत्तो' निधन प्राप्त 'सकुलो' सबन्धुवर्ग । 'ससाहणो' सबल । 'लोभदोसेण' लोभदोषेण ॥१३८८॥ लोभ ।

ण हि त कुणिज्ज सत्तू अग्गी वग्घो व कण्हसप्पो वा ।
जं कुणइ महादोस णिव्वुदिविग्घ कसायरिवू ॥१३८९॥

स्पष्टा ॥१३८९॥

गा०-टी०—जो लोभमे ग्रस्त हैं उसके चित्तको तीनो लोक प्राप्त करके भी सन्तोष नही होता। और जो शरीरकी स्थितिमे कारण किसी भी वस्तुको पाकर सन्तुष्ट रहता है जिसे वस्तुमे ममत्वभाव नही है वह दरिद्र होते हुए भी सुख प्राप्त करता है। अत चित्तकी शान्ति सन्तोषके अधीन है, द्रव्यके अधीन नही है। महान् द्रव्य होते हुए भी जो असन्तुष्ट है उसके हृदयमे महान् दु ख रहता है ॥१३८६॥

गा०—पूर्वमे परिग्रहके जो दोष कहे हैं वे सब दोष लोभकषायवालेके अथवा लोभ नामक कषायके जानना। लोभसे ही मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन करता है। अत समस्त पापक्रियाओका प्रथम कारण लोभ है ॥१३८७॥

गा०——जमदग्निके पुत्र परशुरामकी गायोको ग्रहणकर लेनेके कारण राजा कार्तवीर्य लोभदोषसे समस्त परिवार और सेनाके साथ मृत्युको प्राप्त हुआ। परशुरामने सबको मार डाला ॥१३८८॥

विशेषार्थ—बृ क को मे कार्तवीर्यकी कथा १२२ नम्बर पर है।

उत्तरगाथा—

इंदियकसायदुद्दंतस्सा पाडेंति दोसविसमेसु ।
दुःखावहेसु पुरिसे पसढिलणिव्वेदखलिया हु ॥१३९०॥

'इंदियकसायदुद्दंतस्सा' इन्द्रियकषायदुर्दान्ताश्वा । 'पाडेंति' पातयन्ति । 'दोसविसमेसु' पापविषमस्थानेषु । दुक्खावहेसु' दुःखावहेषु । 'पुरिसे' पुरुषान् । 'पसढिलणिव्वेदखलिआ' प्रशिथिलनिर्वेदखलिना ॥१३९०॥

इंदियकसायदुद्दंतस्सा णिव्वेदखणिलिदा संता ।
ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति ॥१३९१॥

'इंदियकसायदुद्दंतस्सा' इन्द्रियकषायदुर्दान्ततुरङ्गा वैराग्यखलीननियमिता सन्त ध्यानकशाभीता न दोषविषमेषु पातयन्ति ॥१३९१॥

इंदियकसायपण्णगदट्ठा बहुवेदणुद्दिदा पुरिसा ।
पब्भट्ठज्झाणसुक्खा संजमजीयं पविजहंति ॥१३९२॥

इन्द्रियकषायपन्नगदष्टा, बहुवेदनावष्टब्धा पुमांस प्रभ्रष्टध्यानसुखा संयमजीव परित्यजन्ति ॥१३९२॥

ज्झाणागदेहिं इंदियकसायभुजगा विरागमंतेहिं ।
णियमिज्जंता संजमजीयं साहुस्स ण हरंति ॥१३९३॥

ध्यानागदैरिन्द्रियकषायभुजगा वैराग्यमन्त्रैर्नियम्यमाणा साधो संयमजीवितं न हरन्ति ॥१३९३॥

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा ।
मणधणुमुक्का इंदियकंडा विंधंति पुरिसमयं ॥१३९४॥

गा०—शत्रु, आग, व्याघ्र और कृष्ण सर्प भी वह बुराई नहीं करता जो बुराई कषायरूपी शत्रु करता है। वह कषायरूप शत्रु मोक्षमें बाधारूप महादोषका कारण है ॥१३८९॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी घोड़े दुर्दमनीय हैं इनको वशमें करना बहुत कठिन है। वैराग्यरूपी लगामसे ही ये वशमें होते हैं। किन्तु उस लगामके ढीले होनेपर वे पुरुषको दुःखदायी पापरूपी विषम स्थानोंमें गिरा देते हैं ॥१३९०॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय कषायरूपी दुर्दमनीय घोड़े जब वैराग्यरूपी लगामसे नियमित होते हैं और ध्यानरूपी कोड़ेसे भयभीत रहते हैं तो विषम पापस्थानमें नहीं गिराते ॥१३९१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी सर्पोंसे डसे हुए मनुष्य बहुत कष्टसे पीड़ित होकर, उत्तमध्यानरूपी सुखसे भ्रष्ट हो, संयमरूपी जीवनको त्याग देते हैं ॥१३९२॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय और कषायरूपी सर्प सम्यग्ध्यानरूपी सिद्ध औषधि और वैराग्यरूपी मंत्रोंसे वशमें होनेपर साधुके संयमरूपी जीवनको नहीं हरते ॥१३९३॥

'सुमरणपुखा' स्मरणपुङ्खा 'चितावेगा' विषयविषेणालिप्ता रतिधारा येषा ते मनोधनुर्मुक्ता इन्द्रिय-बाणा पुरुषमृग घातयन्ति ॥१३९४॥

तान्बाणान्पुरुषमृगहननोद्यतान्यतय एव वारयन्तीति कथयति—

> धिदिखेडएहिं इ दियकडे ज्झाणवरसत्तिसंजुत्ता ।
> 'वारंति समणजोहा सुणाणदिट्ठीहिं दट्ठूण ॥१३९५॥

'धिदिखेडएहिं' धृतिखेटै इन्द्रियशरान्वारयन्ति ध्यानसत्वसमन्विता । 'समणजोहा' श्रमणयोधा सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या दृष्ट्वा ॥१३९५॥

> गथाडवीचरत कसायविसकंटया पमायमुहा ।
> विद्धति विसयतिक्खा अधिदिदढोवाणह पुरिस ॥१३९६॥

'गथाडवोचरत' परिग्रहवने चरन्त कषायविषकटका प्रमादमुखा विध्यन्ति विषयैस्तीक्ष्णा धृतिदृढोपान-द्रहित पुरुष ॥१३९६॥

सयतस्य पुनरेवपरिकरस्य कषायविषकटका किञ्चिदपि न कुर्वन्ति इत्याचष्टे सूरि—

> आइद्धधिदिदढोवाणहस्स उवओगदिट्ठिजुत्तस्स ।
> ण करिंति किंचि दुक्ख कसायविसकंटया मुणिणो ॥१३९७॥

'आबद्धधिदिदढोवाणहस्स' आबद्धधृतिदृढोपानत्कस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेर्मुने स्वल्पमपि दु ख न कुर्वन्ति कषायविषकटका ॥१३९७॥

गा०—इन्द्रियाँ बाणके समान पुरुषरूपी हिरनको बीधती है। बाणमे पुख होते हैं। भोगे हुए भोगोका स्मरण इनका पुख है। भोगोकी चिन्ता इनका वेग है। रति इनकी धारा-नोक है जो विषयरूपी विषसे लिप्त है। ये इन्द्रियरूप बाण मनरूपी धनुषके द्वारा छोडे जाते हैं ॥१३९४॥

आगे कहते हैं कि पुरुषरूप मृगोका घात करनेमे तत्पर उन बाणोको सयमीजन ही निवारण करते हैं—

गा०—ध्यानरूपी श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त श्रमण योद्धा सम्यग्ज्ञानरूप दृष्टिसे देखकर धैर्यरूप फलकके द्वारा इन्द्रियरूप बाणोका वारण करते हैं ॥१३९५॥

गा०—परिग्रहरूपी घोर वनमे कषायरूपी विषैले कॉटे फैले हैं। प्रमाद उनका मुख है और विषयोकी चाहमे वे तीक्ष्ण हैं। धैर्यरूपी दृढ जूतेको धारण किये विना जो उस वनमे विचरण करता है, उसे वे कॉटे बीध देते हैं ॥१३९६॥

आगे कहते हैं इस प्रकारके धैर्यरूपी जूता धारण करनेवाले सयमीका वे कषायरूप विषैले काटे कुछ भी नही करते—

गा०—जिस मुनिने धैर्यरूपी दृढ जूता धारण किया है और जो सम्यग्ज्ञानोपयोग दृष्टिसे सम्पन्न है उसको वे कषायरूपी विषैले कॉटे कुछ भी दु ख नही देते ॥१३९७॥

---

१ फेडन्ति—मु० मूलारा०।

उड्डहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा ।
गंथफललोलहिदया णासंति हु संजमाराम ॥१३९८॥

'उड्डहणा' अगयता अतिचपला अनिगृहीता कषायमर्कटा, परिग्रहफलासक्तहृदया नाशयन्ति सयमाराम ॥१३९८॥

णिच्च पि अमज्झत्थे तिकालदोसाणुसरणपरिहत्थे ।
संजमरज्जूहिं जदी बधंति कसायमक्कडए ॥१३९९॥

'णिच्च पि' नित्यमपि अमाध्यस्थान् त्रिकालविषयदोषानुसरणपटून्, कषायमर्कटान्यतय सयमरज्जूभिर्बध्नन्ति ॥१३९९॥

धिदिवम्मिएहि उवसमसरेहि साधूहिं णाणसत्थेहिं ।
इंदियकसायसत्तू सक्का जुत्ते हि जेदु जे ॥१४००॥

'धिदिवम्मिएहि' धृतिसन्नद्धैः, उपशमशरैः साधुभिर्ज्ञानशस्त्रैरुपयुक्तैरिन्द्रियकषायशत्रवो जेतु शक्या ॥१४००॥

इंदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहि वज्झंति ।
ता ते ण विकुव्वंति चोरा जह संकलाबद्धा ॥१४०१॥

'इ दियकसायचोरा' इन्द्रियकषायचौरा शुभध्यानभावश्रृङ्खलाभिर्बध्यन्ते । बन्धस्थास्ते न विकार कुर्वन्ति श्रृङ्खलाबद्धचोरा इव ॥१४०१॥

इंदियकसायवग्घा संजमणरखादणे अदिपसत्ता ।
वेरग्गलोहदढपंजरेहि सक्का हु णियमेदु ॥१४०२॥

'इ दियकसायवग्घा' इन्द्रियकषायव्याघ्रा सयमनरभक्षणे अत्यासक्ता वैराग्यलोहदृढपञ्जरै नियन्तु शक्या ॥१४०२॥

गा०—ये कषायरूपी बन्दर असयत हैं अतिचपल हैं, पापी हैं, इनका हृदय परिग्रहरूपी फलमें आसक्त है। इनका यदि निग्रह नहीं किया तो ये सयमरूपी उद्यानका विनाश कर देते हैं ॥१३९८॥

गा०—ये कषायरूपी बन्दर, निरन्तर चपल हैं, त्रिकालवर्ती दोषोका अनुसरण करनेमे चतुर हैं। इन्हे सयमी सयमरूपी रस्सीसे बाँधता है ॥१३९९॥

गा०—सन्तोषरूपी कवच, उपशमरूपी बाण और ज्ञानरूपी शस्त्रोसे सहित साधुओंके द्वारा वे इन्द्रिय और कषायरूप शत्रु जीते जा सकते हैं ॥१४००॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी चोर शुभध्यानरूप भावोंकी साकलसे बाधे जाते हैं। बाँधे जानेपर वे साकलसे बँधे चोरोकी तरह विकार नही करते ॥१४०१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी व्याघ्र सयमरूपी मनुष्यको खानेके बडे प्रेमी होते हैं। इन्हे वैराग्यरूपी लोहके मजबूत पींजरेमें रोका जा सकता है ॥१४०२॥

इंदियकसायहत्थी वयवारिमे हीणिदा उवायेण ।
विणयवरत्तावद्धा सक्का अवसा वसे कादु ॥१४०३॥

'इंदियकसायहत्थी' इन्द्रियकषायहस्तिन उपायेन व्रतवारीमुपनीता विनयवरत्रावद्धा अवशा अपि शक्या वशे नेतु ॥१४०३॥

इंदियकसायहत्थी वोलेदु सीलफलियमिच्छंता ।
धीरेहि रुभिदव्वा धिदिजमलारुप्पहारेहिं ॥१४०४॥

इन्द्रियकषायहस्तिन शीलपरिघालङ्घनैषिणा रोद्धव्या धीरैर्धृतिकर्णतोदप्रहरैः ॥१४०४॥

इंदियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज ।
णाणंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥१४०५॥

'इंदियकसायहत्थी' इन्द्रियकषायहस्तिन दुःशीलवनं प्रवेष्टुं यदाभिलषन्ति तदा अवशा अपि वशे कर्तुं शक्यन्ते ज्ञानाङ्कुशेन ॥१४०५॥

जदि विसयगंधहत्थी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता ।
विण्णाणज्झाणजोहस्स वसे णाणकुसेण विणा ॥१४०६॥

'जदि विसयगंधहत्थी' यद्यपि विषयगन्धहस्तिन स्वयं गन्धाटवीं प्रविशन्ति रागद्वेषमत्ता न तिष्ठेयुर्विज्ञानध्यानयोधस्य वशे ज्ञानाङ्कुशेन विना ॥१४०६॥

विसयवणरमणलोला वाला इंदियकसायहत्थी ते ।
पसमे रमेदव्वा तो ते दोसं ण काहिंति ॥१४०७॥

'विसयवणरमणलोला' विषयवनरमणलोला बाला इन्द्रियकषायहस्तिन ते रतिमुपनेया प्रशमेन ततस्ते दोषं न कुर्वन्ति ॥१४०७॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी हाथी यद्यपि स्वच्छन्द है तथापि व्रतरूपी बाड़ेमें ले जाकर विनयरूपी रस्सीसे उपायपूर्वक बाँधे जानेपर वशमें लाये जा सकते हैं ॥१४०३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी शीलरूपी अर्गलाको लाँघना पसन्द करते हैं। अतः धीर पुरुषोंको उनके दोनों कानोंके पास धैर्यरूपी प्रहार करके रोकना चाहिए ॥१४०४॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी जब दुःशीलरूपी वनमें प्रवेश करना चाहें तो उसे ज्ञानरूपी अंकुशसे वशमें करना शक्य है ॥१४०५॥

गा०—यदि रागद्वेषरूपी मदसे मस्त विषयरूपी गन्धहस्ती ज्ञानांकुशके बिना विज्ञान ध्यानरूपी योधाके वशमें नहीं रहता और परिग्रहरूपी वनमें प्रवेश करता है ॥१४०६॥

गा०—तो इन्द्रिय और कषायरूप बालहस्ती विषयरूपी वनमें क्रीडा करनेके प्रेमी होते हैं। उन्हें प्रशमरूपी वनमें अर्थात् आत्मा और शरीरके भेदज्ञानसे प्रकट हुए स्वाभाविक वैराग्यमें रमण कराना चाहिए तब वे दोष नहीं करेंगे ॥१४०७॥

---

१ सर्गीणि–आ० मु०, मूलारा० । २ चेट्टदेज्ज णाण–मूलारा० ।

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे सुभे य असुभे य ।
तम्हा रागद्दोसं परिहर तं इंदियजएण ॥१४०८॥

'सद्दे रूवे गंधे रसे य' शुभाशुभेषु शब्दादिषु रागद्वेषं च निराकुरु त्वं इन्द्रियजयेनेत्युत्तरसूत्रस्यार्थः ॥१४०८॥

जह णीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदत्थिओ पियदि ।
कडुयं पि इंदियजयं णिव्वुइहेदुं तहं [1]पिविज्ज ॥१४०९॥

'जह णीरसं पि' यथा स्वादुरहितं कटुकमप्यौषधं जीवितार्थं पिबति । तथा इन्द्रियजयं भजते कटुकमपि निर्वृतिहेतुम् ॥१४०९॥

इन्द्रियजये क उपाय इत्याशङ्कायां इन्द्रियकषायविषयाणां शुभाशुभत्वं अनवस्थितं । ये शुभास्त एवेदानीं अशुभा, अशुभा ये ते एव शुभा । ये तु अशुभतया दोषा इदानीं हरि ? से शुभा इति गृहीता न त्वशुभा जातास्त एवामी इति कथं नानुरागस्तत्र ये वाऽशुभास्तेषु कथं द्वेषः शुभतां प्रतिपत्स्यमानेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुभा एण्हिं असुभा ते चेव पुग्गला जादा ।
जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्हिं ॥१४१०॥

'जे आसि सुभा एण्हिं' ये पुद्गलाः शुभा आसन्निदानीं त एवाशुभा जाताः । ये चामन्तदा अशुभा ते चैव शुभा इदानीं इति तौ न युक्तौ रागद्वेषौ इति शिक्षयति ॥१४१०॥

सव्वे वि य ते भुत्ता चत्ता वि य तह अणंतखुत्तो मे ।
सव्वेसु एत्थ को मज्झ विंभओ भुत्तविजडेसु ॥१४११॥

गा०—इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियको जीतकर तू शुभ और अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शमें रागद्वेष मत कर ॥१४०८॥

गा०—जैसे जीवनका इच्छुक रोगी स्वादरहित कड़ुवी औषधी पीता है वैसे ही तू मोक्षके लिए कटुक भी इन्द्रियजयका सेवन कर ॥१४०९॥

इन्द्रिय जयका क्या उपाय है ऐसी शंका करनेपर कहते हैं—

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायके विषयोंमें अच्छा और बुरापना स्थिर नहीं है। जो विषय आज अच्छे लगते हैं कल वे ही बुरे लगते हैं। जो आज बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगते हैं। जिन्हें अच्छा मानकर स्वीकार किया वे ही बुरा लगनेपर द्वेषके पात्र होते हैं तो उनमें अनुराग कैसा ? और जो बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगनेवाले हैं अतः उनमें द्वेष कैसा ? जो पुद्गल इस समय अच्छे प्रतीत होते हैं वे ही बुरे लगने लगते हैं। जो पहले बुरे प्रतीत होते थे वे ही अब अच्छे प्रतीत होते हैं इसलिए उनमें रागद्वेष करना उचित नहीं है ॥१४१०॥

गा०—वे अच्छे बुरे सभी पुद्गल मैंने अनन्तबार भोगे हैं और अनन्तबार त्यागे हैं। उन भोगे और त्यागे हुए सब पुद्गलोंमें मुझे अचरज कैसा ? इस प्रकार हे क्षपक ! तुम्हें विचारना चाहिए ॥१४११॥

---

१. भजेज्ज मु०, मूलारा० ।

'सव्वे वि ते मुत्ता' सर्वेऽपि च ते पुद्गला शुभाशुभरूपा अनुभूतास्त्यक्ता अनन्तवार मया। तेपु द्रव्येपु मुक्तत्यक्तार्थेषु को विस्मयो ममेति त्वया चिन्ता कार्या ॥१४११॥

सुखसाधनतया यदि तवानुरागो, दु खसाधनतया च रोप सैव सुखदु खसाधनता शुभाशुभादीना रूपाणा नैवास्ति सङ्कल्पमन्तरेणात्मन इति वदति—

रूव सुभ च असुभं किंचि वि दुक्ख सुह च ण य कुणदि।
मकप्पविसेसेण हु सुह च दुःख च होइ जए ॥१४१२॥

'रूव सुभ च असुभ' रूप शुभमशुभ वा किञ्चिद्दु ख सुख च नैव करोति। सङ्कल्पवशेनैव सुख वा दुख भवति जगति ॥१४१२॥

इह य परत्त य लोए दोमे बहुगे य आवहइ चक्खू।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि चक्खू ॥१४१३॥

'इह य परत्त य' जन्मद्वयेऽपि बहून्दोषानावहति चक्षुरित्यात्मनावगणय्य निर्जेतव्य चक्षु ॥१४१३॥

एव सम्म सद्दरसगंधफासे विचारयित्ताण।
सेमाणि इंदियाणि वि णिज्जेदव्वाणि बुद्धिमदा ॥१४१४॥

'एव सम्म' उभयजन्मगोचरानेकदोपावहत्व विचार्य स्वबुद्धया शेपाण्यपीन्द्रियाणि शब्दरसगन्धस्पर्श विषयाणि निर्जेतव्यानि बुद्धिमता। 'सद्दरसगधफासे' इति वैषयिकी सप्तमी ॥१४१४॥

क्रोधजयोपायमाचष्टे—

जदिदा मवदि असतेण परो त णत्थि मेत्ति खमिदव्व।
अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पाव वरावोत्ति ॥१४१५॥

'जदिदा सवदि असतेण' यदि तावदसता दोषेण शपति पर स दोषो न ममास्तीति क्षमा कार्या। असद्दोपख्यापनेनाप्य मम किं नष्ट इति। अथवानुकम्पा आक्रोशके कुर्याद्वराकोऽसदभिधानेन ममार्जयति पाप-

---

आगे कहते हैं यदि सुखका साधन होनेसे इनमें तेरा अनुराग है और दु खका साधन होनेसे द्वेष है तो अच्छे बुरे पुद्गलोंमें वही सुख-दु ख साधनता तेरे सकल्पके सिवाय यथार्थमे नही है—

गा०—कोई अच्छा या बुरा रूप सुख या दु ख नही करता। जगत्मे सकल्पवश ही सुख-दुःख होता है ॥१४१२॥

गा०—इस लोक और परलोकमे ये आँखें बहुत बुराई उत्पन्न करती हैं ऐसा जानकर चक्षु इन्द्रियको जीतना चाहिए ॥१४१३॥

गा०—इस प्रकार दोनो लोकोमे अनेक दोष उत्पन्न करने वाली जान अपनी बुद्धिसे विचारकर शब्द रस, गन्ध और स्पर्शको विषय करने वाली शेष इन्द्रियोंको भी बुद्धिमान् पुरुषको जीतना चाहिए ॥१४१४॥

क्रोधको जीतनेका उपाय कहते हैं—

गा०-टी०—यदि दूसरा व्यक्ति मेरेमे अविद्यमान दोषको कहता है तो वह दोष मुझमे नही है अत उसे क्षमा करना चाहिए, क्योंकि असत् दोषको कहनेसे मेरी क्या हानि हुई ? अथवा

भार अनेक दु खावह । मदीयैर्दोषैरस्य किञ्चिन्नायाति दोषजात । गुणैर्वा किमस्मै किञ्चिद्भवति ? प्राणिना प्रतिनियता गुणदोषास्तत्तमेव प्रति सुखदु खयोजना[1]स्ततो पुरसुतो (?) मृषानेन कर्मबन्ध सम्पाद्यते इति ॥१४१५॥

निन्दा करुणात्मिका रोष परपम्पसारयति—

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदव्व ।
सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं तेण भणिदत्ति ॥१४१६॥

'जदि वा सवेज्ज' यदि वा शपेच्च सता दोषेण तथापि क्षमा कार्या । सोऽनेन वच्यमानो दोषो ममास्ति न व्यलीक तेनोक्तमिति [2]सङ्कल्पतया न हि [3]सन्तो दोषा परे चेद् न ब्रुवन्ति इति विनश्यन्ति ॥१४१६॥

यो यस्य समुपकार महान्त चेतसि करोति स तस्यापराध अल्प सहते इति प्रसिद्धमेव लोके इति कथयति—

सत्तो वि ण चेव हदो हदो वि ण य मारिदो त्ति य खमेज्ज ।
मारिज्जंतो [4]वि सहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥१४१७॥

'सत्तो वि चेव' शप्त एवास्मि न हत इत्यहनन गुण पृथु चेतसि सस्थाप्य विमतेन शपनेन मे नष्टमिति क्षन्तव्य । एवमितरत्रापि योज्य । हत एव न मृत्यु प्रापित । मार्यमाणोऽपि सहेत विपन्निमूर्लन-क्षमोऽभिलषितसुखसम्पादनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥१४१७॥

उपायान्तरमपि रोषविजये निरूपयति—

निन्दा करने वाले पर दया करना चाहिए—बेचारा झूठ बोलकर अनेक दु ख देने वाला पाप भार एकत्र करता है । मेरे दोषोंसे उसमें दोष उत्पन्न नहीं होते और न मेरे गुणोंसे ही उसका कोई लाभ होता है । प्राणियोंके अपने-अपने गुण दोष नियत हैं । उनसे होने वाला सुख-दु ख भी उन्हें ही होता है । अत यह व्यर्थ ही कर्मबन्ध करता है ॥१४१५॥

आगे कहते हैं दया रूप चिन्तनसे कठोर क्रोध दूर होता है—

गा०——यदि दूसरा मेरेमें विद्यमान दोषको कहता है तब भी क्षमा करना चाहिए क्योंकि वह जिस दोषको कहता है वह मेरेमें है । वह झूठ नहीं कहता । विद्यमान दोषोंको दूसरे यदि न कहे तो वे नष्ट हो जाते हैं, ऐसी बात भी नहीं है ऐसा विचार करना चाहिए ॥१४१६॥

आगे कहते हैं कि जो जिसका महान् उपकार करता है वह उसके छोटेसे अपराधको सहता है यह बात लोकमे प्रसिद्ध ही है—

गा०—इसने मुझे अपशब्द ही कहे हैं मारा तो नहीं है, इस प्रकार उसके न मारनेके गुण-को चित्तमें स्थापित करके 'अपशब्द कहनेसे मेरा क्या नष्ट हुआ' अत क्षमा करना चाहिए । मारे तो भी सहन करना चाहिए कि इसने विपत्तिको जडसे दूर करनेमें समर्थ और इष्ट सुखको देने वाले मेरे धर्मका नाश नहीं किया ॥१४१७॥

क्रोधको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

---

१ ना पर सृतो–अ० । ना पुर सुता–आ० । ना परो सृतो–ज० । २ सकल्पतयता–मु० ।
३ सतो दोषान्–आ० । ४ वि समेज्ज–अ० आ० ।

रोसेण महाधम्मो णासिज्ज तणं च अग्गिणा सव्वो ।
पाव च करिज्ज महं बहुगपि णरेण खमिदव्व ॥१४१८॥

'रोसेण महाधम्मो' दुर्जनो दुर्लभो दुश्चरा धर्मोऽनुयायी रोषेण [1]मदीयो नश्यति । अग्निना तृणमिव । तथा चाभ्यधायि—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्ववमानवातै- सघुक्षित परुषवाग्गुरुविस्फुलिंग ।
हिंसाशिखोऽपि भृशमुत्थितवैरधूम क्रोधाग्निरुद्दहति धर्मवन नराणाम् ॥ इति॥ [ ] ॥१४१८॥

उपायान्तरमपि वदति—

पुव्वकदमज्झपाव पत्त परदुःखकरणजाद मे ।
रिणमोक्खो मे जादो अज्जत्ति य होदि खमिदव्व ॥१४१९॥

'पुव्वकदमज्झपाव' पापागमद्वारमजानता [2]अनेनापि प्रमादिना पूर्व कृत मत्कर्म पाप परेषा दु खकारण तदद्य निर्वर्तित । ऋणमोक्षोऽद्य मम जात इति चिन्तयताऽपसारयितव्यो रोष ॥१४१९॥

पुव्व सयमुवभुत्त काले णाएण तेत्तिय दव्व ।
को धारणीओ धणियस्स दिंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१३२०॥

'पुव्व सयमुवभुत्त' पूर्व स्वयमेव भुक्त, अवधिकाले प्राप्ते । 'णायेण' नीत्या । द्रव्य अधमर्ण उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दु ख करोति ॥१४२०॥

गा०-टी०—आगसे तृणकी तरह क्रोधमे दु खसे उपार्जन किया गया दुर्लभ और दुश्चर मेरा धर्म नष्ट होता है । कहा भी है—यह क्रोधरूपी आग मनुष्योंके धर्मवनको जलाती है । यह क्रोधरूपी आग अज्ञानरूपी काष्ठमे उत्पन्न होती है, अपमानरूपी वायु उसे भडकाती है । कठोर वचनरूपी उसके बडे स्फुलिंग है । हिंसा उसकी शिखा है और अत्यन्त उठा वैर उसका धूम है ।

तथा यह क्रोध मुझे पापका बन्ध कराता है जो अनेक भवोंमे दु खका बीज है । इसलिये चित्तमे क्षमा धारण करना चाहिए ॥१४१८॥

अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—पापके आश्रवके द्वारको न जानते हुए मैंने प्रमादवश जो पूर्वमे पापकर्म किया था, जो दूसरोंके दु खका कारण था, वह आज चला गया । आज मै उस ऋणसे मुक्त हो गया। ऐसा विचारकर क्रोधको दूर करना चाहिए ॥१३१९॥

गा०-टी०—पूर्व जन्ममे मैंने जिसका अपराध किया था उसके द्वारा इस जन्ममे उस अपराधमे उपार्जित पापकर्मकी उदीरणा किये जाने पर उसको भोगते हुए मुझे दु ख कैसा ? साहूकार से पहले कर्ज लेकर जिस धनको मैंने स्वय भोगा है, उतना ही धन उस ऋणका अवधिकाल आने पर देते हुए कौन कर्जदार दु खी होता है ॥१४२०॥

---

१ महानपि न–आ० । २ जनेना–ज० ।

इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोधो ।
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वो हवइ कोधो ॥१४२१॥

स्पष्टा उत्तरगाथा ॥१४२१॥

क्रोधजयोपायभूतान्परिणामानुपदर्श्य मानप्रतिपक्षपरिणाम निरूपयति—

को इत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स ।
उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते ॥१४२२॥

'को इत्थ मज्झ माणो' कोऽत्रासकृत्प्राप्ते ज्ञानादिकैरुन्नतत्वे[1] गर्वो मम बहुशो ज्ञानकुलरूपतपोद्रविणप्रभुत्वैरुन्नतता प्राप्तस्य प्राप्तेऽप्युन्नतत्वे अनवस्थायिनि सति उपस्थिते चोत्तरकालनीचत्वे ॥१४२२॥

अधिगेसु बहुसु सतेसु ममादो एत्थ को महं माणो ।
को विब्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥१४२३॥

स्पष्टा ॥१४२३॥

उत्तरगाथा—

जो अवमाणणकरण दोस परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।
सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥१४२४॥

'जो अवमाणणकरण' योऽवमानकरण दोष परिहरति नित्यमुपयुक्तः स मानी भवति। न तु भवति मानी गुणरिक्तेन मानेन ॥१४२४॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो ।
इदि अप्पणो गणित्ता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा ॥१४२५॥

गा०—क्रोध इस लोक और परलोकमें बहुत दोषकारक है ऐसा जानकर क्रोधका त्याग करना चाहिए ॥१४२१॥

क्रोधको जीतनेके उपायभूत परिणामोंको बतलाकर मानके प्रतिपक्षी परिणामोंको कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान, कुल, रूप, तप, धन, प्रभुत्व आदिमें मैं ऊँचा भी होऊँ, तो उसका गर्व कैसा, क्योंकि अनेक बार मैं इनमें नीचा भी हो चुका हूँ। उच्चता और नीचता ये दोनों अनित्य हैं ॥१४२२॥

गा०—इस लोकमें बहुतसे मुझसे भी ज्ञानादिमें अधिक हैं इनका मुझे अभिमान कैसा? तथा पूर्व जन्मोंमें मैं यह उच्चता अनेक बार प्राप्त कर चुका हूँ तब इनके प्राप्त होने पर आश्चर्य कैसा? ॥१४२३॥

जो सदा मन लगाकर अपमान करने रूप दोषका त्याग करता है अर्थात् किसीका अपमान नहीं करता वह मानी होता है। गुण रहित मानसे मानी नहीं होता ॥१४२४॥

---

[1] ज्ञानादिकरत्नत्रयतत्वे–आ० मु०।

इह य परत्तय जन्मद्वये दोषान् बहूनावहति मानमिति विगणय्य माननिग्रह कुर्यात्साधुजन ॥१४२५॥

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूप निगदति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति ।
मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो ॥१४२६॥

'अदिगूहिदा वि दोसा' अतीव सवृता अपि दोपा जनेन ज्ञायन्ते कालान्तरे मायया प्रयुक्तया को गुणो लभ्य इति चिन्तया निहन्ति ॥१४२६॥

[1]परिभागम्मि असते णियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स ।
चदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥१४२७॥

जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण घेप्पए सभागस्स ।
जह ममलत्ति ण घिप्पदि समल पि जए तलायजल ॥१४२८॥

'जडपायडो वि दोसो' लोकप्रकटोऽपि दोपो दोष इति न गृह्यते भाग्यवत । यथा समलमिति न गृह्यते लोके तटाकजल समलमिति सदृश । एतदुक्त भवति पुण्यवतोऽपि मायया न किञ्चित्साध्य । प्रकटेऽपि दोपे यतोऽसौ जगति मान्य । दोपनिगूहन हि मान्यताविनाशभयादिति भाव ॥१४२८॥

अथ माया करोत्यर्थाय तथापि सानर्थिकेति वदति—

डंभमएहिं वहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ।
हत्थ ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ॥१४२९॥

गा०—इस लोक और परलोकमे मान बहुत दोषकारी है। ऐसा जानकर अपने मानका निग्रह करना चाहिए ॥१४२५॥

अब मायाके विरोधी परिणामोका स्वरूप कहते हैं—

गा०—अत्यन्त छिपाकर भी की गई बुराई कालान्तरमे मनुष्योको ज्ञात हो जाती है। तब मायाचार करनेमे क्या लाभ है। इस प्रकारके चिन्तनसे मायाको दूर करना चाहिए ॥१४२६॥

गा०—भाग्य प्रतिकूल हो तो हजार छलसे छिपाया हुआ भी काम चन्द्रमाके ग्रहणकी तरह क्षणमात्रमे प्रकट हो जाता है ॥१४२७॥

गा०-टी०—और भाग्यशालीका लोकमे प्रकट भी दोष दोष नही माना जाता। जैसे तालाबका जल मैला हो तब भी लोग उसे मैला नही मानते। आशय यह है कि पुण्यशालीको मायासे कोई लाभ नही है क्योकि दोष प्रकट होनेपर भी वह जगत्मे मान्य रहता है। मान्यताके विनाशके भयसे ही मनुष्य दोषको छिपाता है ॥१४२८॥

आगे कहते हैं कि मनुष्य धनके लिए मायाचार करता है किन्तु वह व्यर्थ है—

गा०—अच्छी तरह सैकडो छलकपट करनेपर भी पुण्यहीनके हाथमे पुण्यशालीका धन नही आता ॥१४२९॥

---

1 परिभोगम्मि-अ० । एता टीकाकारो नेच्छति ।

'डंभसदेहि बहुगेहि' दम्भशतैर्बहुभि सुप्रयुक्तैरपि अपुण्यस्य हन्त नायात्यर्थ । अन्यस्मात्स-पुण्यात् ॥१४२९॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ।
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥१४३०॥

'इह य परत्त य' इहपरलोकयोर्बहून्दोषानावहति माया। इति आत्मनि निरूप्य परिहर्तव्या भवति माया ॥१४३०॥

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स ।
अकएवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवतस्स ॥१४३१॥

'लोभे कदे' लोभे कृतेऽप्यर्थो न भवति पुरुषस्य अपुण्यस्य । अकृतेऽपि लोभेऽर्थो भवति पुण्यवत । तत अर्थासक्तिरर्थलाभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चिन्तया लोभो निरावार्य ॥१४३१॥

अपि च 'अर्थप्राप्तये जन प्रयतते अर्था पुनरसकृत्प्राप्तास्त्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मन प्रणि-धान कुरु लोभविजयायेति वदति—

सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे ।
अत्थेसु इत्थ को मज्झ विंभओ गहिदविजडेसु ॥१४३२॥

'सव्वे वि जये अत्था' सर्वेऽपि जगत्यर्था परिगृहीता मयानन्तवार ममार्थेष्वमीषु को विस्मयो गृहीत-त्यक्तेषु ॥१४३२॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ॥१४३३॥

इंदियकसायत्तिगद ॥१४३३॥

गा०—माया इस लोक और परलोकमे बहुतसे दोष लाती है ऐसा जानकर मायाका त्याग करना चाहिए ॥१४३०॥

गा०—लोभ करनेपर भी पुण्यहीन पुरुषके पास धन नही होता, और लोभ नही करनेपर भी पुण्यशालीके पास धन होता है। अत धनका लोभ धनलाभमे निमित्त नही है किन्तु पुण्य निमित्त है ऐसा विचारकर लोभको त्यागना चाहिए ॥१४३१॥

अर्थकी प्राप्तिके लिए मनुष्य प्रयत्न करता है। किन्तु अर्थ अनेक बार प्राप्त हुआ और छोडा है। उसमे आश्चर्य कैसा? इस तरह लोभको जीतनेके लिए मनमे चिन्तन करो, यह कहते हैं—

गा०—जगत्मे जितने पदार्थ हैं वे सब मैंने अनन्तवार प्राप्त किये। उन ग्रहण किये और त्यागे हुए पदार्थोमे आश्चर्य कैसा? ॥१४३२॥

गा०—लोभ इस भव और परभवमे बहुतसे दोष पैदा करता है ऐसा जानकर लोभको त्यागना चाहिए ॥१४३३॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायोका कथन किया।

---

१ अप्राप्ताय-अ० ।

एवमिन्द्रियकषायपरिणामनिरोधोपायभूतान्परिणामानुपदिश्य निद्राजयक्रमं निरूपयति सूरि —

णिद्दं जिणाहि णिच्चं णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ ।
वट्टिज्ज हु पासुत्तो खवओ सव्वेसु दोसेसु ॥१४३४॥

'णिद्दं जिणाहि' निद्रां जय नित्यं । अजिता सा किमपकारं करोति इत्याशङ्कय आह 'णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ' निद्रा नरं अचेतनं करोति । चैतन्यरहितावस्थाभावात्किमुच्यते करोतीति । अत्रोच्यते-विवेकज्ञानरहितत्वमेवात्राचेतनशब्देनोच्यते । यत एव योग्यायोग्यविवेकज्ञानरहितः अत एव । 'वट्टिज्ज हु' वर्तते एव । 'पासुत्तो' प्रकर्षेण सुप्तः 'खवगो' क्षपकः । 'सव्वेसु दोसेसु' हिंसामैथुनपरिग्रहादिषु ॥१४३४॥

निद्रा कर्मोदयवशाद्भवति कथं मयापाकर्तव्या इत्यत्राह—

जदि अधिबाधिज्ज तुमं णिद्दा तो तं करेहि सज्झायं ।
सुहुमत्थे वा चिंतेहि सुणसु संवेगणिव्वेगं ॥१४३५॥

'जदि अधिबाधिज्ज तुमं' यद्यधिबाधेत भवन्तं निद्रा । ततस्त्वं कुरु स्वाध्यायं । 'सुहुमत्थे वा चिंतेहि' सूक्ष्मान्वार्थान् चिन्तय । 'सुणसु संवेगणिव्वेगं' शृणुष्व संवेजनीं निर्वेजनीं वा कथां ॥१४३५॥

प्रकारान्तरं निद्राविजयहेतुं निगदति—

पीदी भए य सोगे य तहा णिद्दा ण होइ मणुयाणं ।
एदाणि तुमं तिण्णिवि जागरणत्थं णिसेवेहिं ॥१४३६॥

'पीदी भए य सोगे' प्रीत्यां भये शोके च सति निद्रा मनुष्याणां न भवति । तेन प्रीत्यादिमेवा कुरु त्वं निद्राविजिनये ॥१४३६॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंको रोकनेके उपायरूप परिणामोंको कहकर निद्राको जीतनेका क्रम कहते हैं—

गा०-टी०—सदा निद्रापर विजय प्राप्त करो। नहीं जीतनेपर वह क्या बुराई करती है यह कहते हैं—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है।

शंका—चेतन मनुष्यकी चैतन्यरहित अवस्था नहीं होती। तब कैसे कहते हैं कि निद्रा अचेतन करती है ?

समाधान—यहाँ अचेतन शब्दसे विवेकज्ञानसे रहित होना ही कहा है।

इसलिए जो गहरी नींदमें सोया है वह क्षपक योग्य अयोग्यके विवेकज्ञानसे रहित होनेसे हिंसा मैथुन परिग्रह आदि सब दोषोंमें प्रवृत्ति करता है ॥१४३४॥

निद्रा कर्मके उदयसे होती है। उसे मैं कैसे दूर करूँ ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०—यदि तुम्हें निद्रा सताती है तो स्वाध्याय करो। या सूक्ष्म अर्थोंका विचार करो। अथवा संवेग और निर्वेदको करनेवाली कथा सुनो ॥१४३५॥

निद्राको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—प्रीति, भय अथवा शोक होनेपर मनुष्योंको निद्रा नहीं आती। अतः तुम निद्राको जीतनेके लिए प्रीति आदिका सेवन करो ॥१४३६॥

प्रीतिभयशोकाना अशुभपरिणामत्वात्कर्मास्रवनिमित्तता। निद्राया वा अविशिष्टत्वात् कथं संवरार्थिनो निरूप्यते प्रीत्यादिक इत्याशङ्काया सवरहेतुभूततया तद्व्यपदेश प्रति नियतविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु ससारादो पीदिं च उत्तमट्ठम्मि।
सोग च पुराढुच्चरिदादो णिद्दाविजयहेदुं ॥१४३७॥

'भयमागच्छसु' भय प्रतिपद्यस्व। 'ससारादो' ससारात् पञ्चविधपरावर्तनरूपात्। प्रीति रत्नत्रयाराधनाया। शोक उपेहि पूर्वकृताद्दुश्चरितात् निद्रा विजेतु। नरकादिगतिष्वसकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागन्तुक, मानस, स्वाभाविक च दु ख विविधमनुभूत तत्पुनरप्यायास्यति इति मन प्रणिधेहि। सकलामापन्नहतिमुन्मूलयितु, अभ्युदयनिश्रेयससुखानि च प्रापयितु, असारशरीरभारमपनेतु, अनन्तावबोधदर्शनसाम्राज्यश्रियमाक्रष्टु, कर्मविषविटपानुत्पाटयितु क्षमामिमा, अनन्तेषु भवेषु अनवाप्तपूर्वां रत्नत्रयाराधना कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया। हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेषु मिथ्यात्वकषायेष्वशुभमनोवाक्काययोगेषु विचित्रकर्मार्जनमूलेषु चतुर्विधबन्धपर्यायनिमित्तेषु अनारत मन्दभाग्य प्रवृत्तोऽस्मि हिताहितविचारणाविमुग्धबुद्धितया सन्मार्गस्योपदेष्टृणामनुपलम्भात्प्रबलज्ञाना[1]वरणोदयात्तदुदीरितार्थतत्त्वानवबोधात्। अवगमे सत्यप्यश्रद्धाया, चारित्रमोहोदयात्सन्मार्गेऽप्रवृत्तेश्च दु खाम्भोधौ निमग्नोऽस्मीत्युद्विग्नचित्ततया च निद्रा प्रयाति ॥१४३७॥

यहाँ शका होती है कि प्रीति भय और शोक तो अशुभ परिणामरूप होनेसे कर्मोके आस्रवमे निमित्त होते हैं। अत उनमे और निद्रामे कोई अन्तर नही है। तब जो सवरका इच्छुक है उसके लिए प्रीति आदि करनेको क्यो कहते हैं ? इसके उत्तरमे सवरके हेतु जो प्रीति आदि हैं उनके प्रतिनियत विषयको बतलाते हैं—

गा०-टी०—निद्राको जीतनेके लिये पाँच प्रकारके परावर्तन रूप ससारसे भय करो। रत्नत्रयकी आराधनामे प्रीति करो और पूर्वमे किये दुराचरणके लिये शोक करो। नरकादि गतियोमे बारम्बार आने जानेसे मैंने शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक प्रकारका दु ख भोगा। वही दु ख आगे भी भोगनेमे आवेंगे, ऐसा मनमे विचार करो। समस्त आपत्तियोके समूहका विनाश करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोको प्राप्त करनेके लिये, असार शरीरका भार उतारनेके लिये, अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन रूप साम्राज्य लक्ष्मीको आकर्षित करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोको प्राप्त करनेके लिये और कर्मरूपी विष वृक्षको उखाडनेमे समर्थ इस रत्नत्रय आराधनाको, जिसे पहले अनन्तभवोमे कभी प्राप्त नही किया, करनेके लिये मैं तत्पर हूँ। इस प्रकार प्रीतिकी भावना करो। हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म परिग्रह, मिथ्यात्व कषाय और अशुभ मनोयोग अशुभ वचन योग अशुभ काययोगमे, जो नाना प्रकारके कर्मोके सचयके मूल हैं और चार प्रकारके बन्धमे निमित्त हैं, मैं अभागा निरन्तर लगा रहा, क्योकि हित अहितके विचार मे मूढ बुद्धि होनेसे तथा सन्मार्गका उपदेश देने वालोकी प्राप्ति न होनेसे अथवा प्रबल ज्ञानावरणका उदय होनेसे उनके द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वको न जान सकनेसे, या जान लेने पर भी श्रद्धा न करनेसे और चारित्र मोहके उदयसे सन्मार्गमे प्रवृत्ति न करनेसे मैं दु खके समुद्रमे डूबा हूँ। इस प्रकार चित्तके उद्विग्न होनेसे निद्रा चली जाती है ॥१४३७॥

---

१ ज्ञानावरणोदयात्तदुदीरितार्थान्–अ० मु०।

जागरणत्थं इच्चेवमादिकं कुण कमं सदा उत्तो ।
झाणेण विणा वज्झो कालो हु तुमे ण कायव्वो ॥१४३८॥

जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमादिकं कुरु क्रमं सदोपयुक्त । ध्यानेन विना वन्ध्य कालो न कर्तव्यस्त्वया ॥१४३८॥

संसाराडविणित्थरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहि ।
सोदु ण खमो अहिमणपणीय सोदु व सघरम्मि ॥१४३९॥

संसाराडविणिच्छरणमिच्छदो' ससाराटविनिस्तरणमिच्छतनपाकृत्य दोषान् न हि स्वप्नु क्षम । अहिं अनपनीय स्वप्तुमिव गृहे ॥१४३९॥

को णाम [1]णिरुव्वेगो लोगे मरणादिअग्गिपज्जलिदे ।
पज्जलिदम्मि व णाणी घरम्मि सोदु अभिलसिज्ज ॥१४४०॥

'को णाम णिरुव्वेगो लोगे मरणादि अग्गिपज्जलिदे' जातिजरामरणव्याधय , शोका भयानि, प्रार्थितालाभो, अभिमतवियोग इत्यादिनाग्निना प्रज्वलिते । 'णाणी सोदुमभिलसेज्ज' ज्ञानी स्वप्तुमभिलषेत । 'पज्जलिदम्मि घरम्मि व' प्रज्वलिते गृह इव ॥१४४०॥

को णाम णिरुव्वेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसतेसु ।
गहिदाउहाण वहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥१४४१॥

'को णाम णिरुव्वेगो -को नाम निरुद्वेग स्वपेद्रागादिषु ससारप्रवर्द्धनेषु दोषेषु अनुपशान्तेषु गृहीतायुधाना शत्रूणा बहूना मध्ये इव ॥१४४१॥

णिद्दा तमस्स सरिसो अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साण ।
इदि णच्चा जिणसु तुमं णिद्दा ज्झाणस्स विग्घयरी ॥१४४२॥

गा०—निद्राको दूर करनेके लिये इस प्रकारके चिन्तनमे सदा लगे रहो। ध्यानके विना तुम्हे एक क्षण भी नही गँवाना चाहिए ॥१४३८॥

गा०—जैसे घरमे यदि सर्प घुसा हो तो उसे निकाले विना सोना शक्य नही है। उसी प्रकार जो ससार रूपी महावनसे निकलना चाहता है वह दोषोको दूर किये विना सोनेमे समर्थ नही होता ॥१४३९॥

गा०—जलते हुए घरकी तरह लोकके जन्म, जरा, मरण, व्याधि, शोक, भय, प्रार्थितकी अप्राप्ति और इष्ट वियोग इत्यादि आगमे जलते रहने पर कौन ज्ञानी निर्भय होकर सोना चाहेगा ॥१४४०॥

गा०—जैसे शस्त्रधारी बहुतसे शत्रुओंके मध्यमे कोई निर्भय होकर नही सो सकता, उसी प्रकार ससारको बढानेवाले रागादि दोषोंके उपशान्त हुए विना कौन निर्भय होकर सो सकता है ॥१४४१॥

---

१ अणुव्विग्गो मूलारा० । २ प्रार्थितलाभा आ० ।

'णिद्दा तमस्स सरिसो' तमस्सदृगमन्यत्तमो नास्ति मनुजाना इति ज्ञात्वा निद्रा ध्यानस्य विघ्नकारिणी जयेति ॥१४४२॥

कुण वा णिद्दामोक्खं णिद्दामोक्खस्स भणिदवेलाए।
जह वा होइ समाही खवणकिलितस्स तह कुणह ॥१४४३॥

'कुण वा णिद्दामोक्ख' कुरु वा निद्रामोक्षं। निद्रामोक्षस्य कथितायां वेलायां रात्रेस्तृतीये यामे इति यावत्। यथा वा समाधिर्भवति भवत उपवासपरिश्रान्तस्य तथा वा निद्रामोक्षं कुरु ॥१४४३॥ णिद्दत्तिगदं।

उक्तार्थोपसंहारं वक्ष्यमाणं वाधिकारं दर्शयत्युत्तरगाथा—

एस उवावो कम्मासवदारणिरोहणो हवे सव्वो।
पोराणयस्स कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥१४४४॥

'एस उवाओ' कर्मणामास्रवद्वारनिरोधे उपायोऽयं सर्वोऽभिहितः। पौराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो भवति। संवरपूर्विका निर्जरा मुक्त्यै भवति न संवरहीनेति पूर्वं संवरोपन्यासः ॥१४४४॥

अब्भतरबाहिरगे तवम्मि सत्तिं सगं अगूहंतो।
उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणलसो य ॥१४४५॥

'अब्भतरबाहिरगे' अभ्यन्तरे बाह्ये च तपस्युद्योगं कुरु स्वां शक्तिमगूहमानः। सुखे शरीरे चानासक्तिः अनालस्यं। न हि शरीरे सुखे वा आदरवांस्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते। न[1] सालस्यः प्रवर्तते तपसि। तपसः प्रत्यूहभावेन स्थितं सुखं शरीरे च प्रतिबद्धत्वमलसत्वमावेदितमनेन ॥१४४५॥

गा०—निद्रा रूपी अन्धकारके समान मनुष्योंका कोई दूसरा अन्धकार नहीं है। ऐसा जानकर हे क्षपक! तुम ध्यानमें विघ्न करने वाली निद्राको जीतो ॥१४४२॥

गा०—अथवा यदि निद्राको नहीं जीत सकते हो तो आगममें निद्रा त्यागनेका जो समय रात्रिका तीसरा पहर कहा है उस समय निद्रा त्यागो। अथवा उपवाससे थके हुए आपकी समाधि जिस प्रकार हो उस प्रकार करो ॥१४४३॥

आगे उक्त कथनका उपसंहार और आगेका अधिकार कहते हैं—

गा०—नवीन कर्मके आनेके द्वारको रोकनेका यह सब उपाय कहा है। पूर्व संचित कर्मोंका क्षय तपसे होता है। संवर पूर्वक निर्जरा मोक्षका कारण होती है, संवरके बिना निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है। इसलिये पहले संवरका कथन किया है ॥१४४४॥

गा०-टी०—हे क्षपक! अपनी शक्तिको न छिपाकर अभ्यन्तर और बाह्य तपमें उद्योग करो। सुखमें और शरीरमें आसक्त मत होओ और न आलस्य करो। जो शरीर और सुखमें आदरभाव रखता है वह उनके विरोधी तपमें प्रयत्न नहीं करता। तथा आलसी भी तपमें प्रवृत्ति नहीं करता। इससे सुख और शरीरमें आसक्ति तथा आलस्यको तपके लिये विघ्नकारी कहा है ॥१४४५॥

---

१ न चालस्य -आ०। न चाल्स -मु०, मूलारा०।

सुहसीलदाए अलसत्तणेण देहपडिबद्धदाए य ।
जो सत्ती मतीए ण करिज्ज तव स सत्तिसम ॥१४४६॥

'सुहसील्दाए' सुखासक्ततया, अलसतया, देहप्रतिबद्धतया वा य शक्तो सत्यामपि तपो न करोति शक्तिसमम् ॥१४४६॥

तस्स ण भावो सुद्धो तेण पउत्ता तदो हवदि माया ।
ण य होइ धम्मसद्धा तिव्वा सुहदेहपिक्खाए ॥१४४७॥

'तस्स ण भावो' तस्य परिणामो न शुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्यवर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भाव शुद्ध , धर्मे तीव्रा च श्रद्धा न भवति । केन ? 'सुहदेहपिक्खाए' सुखे देहे च प्रेक्षया तत्र आसक्तया बुद्धया हेतुभूतया ॥१४४७॥

अप्पा य वचिओ तेण होइ विरिय च गूहिय भवदि ।
सुहसीलदाए जीवो बधदि हु असादवेदणिय ॥१४४८॥

'अप्पा य वचिओ' आत्मा वचितस्तेन । शक्त्यनुरूपे तपस्यनभ्युद्यतेन शक्तिश्च प्रच्छादिता भवति । *सुखासक्ततया जीवो बध्नात्यसातवेदनीय चानेकभवेपु दु खावह ॥१४४८॥*

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियतरायमलसत्तणेण बधदि चरित्तमोह च ।
देहपडिबद्धदाए साधू सपरिग्गहो होइ ॥१४४९॥

विरियतराय वीर्यान्तरायमलसतया बध्नाति चारित्रमोहनीय च । शरीरासक्त्या साधु सपरग्रहो भवति ॥१४४९॥

मायादोसा मायाए हुति सव्वे वि पुव्वणिद्दिट्ठा ।
धम्मम्मि [1]णिप्पिवासस्स होइ सो दुल्लहो धम्मो ॥१४५०॥

गा०—सुखमे आसक्त होनेसे, आलस्यसे और शरीरमे प्रतिबद्ध होनेसे जो शक्ति होते हुए भी शक्तिके अनुसार तप नही करता ॥१४४६॥ उसका परिणाम शुद्ध नही है। अत शक्तिके अनुसार तपमे प्रवृत्ति न करने वाला मायाचारी है। तथा सुख और शरीरमे आसक्ति होनेसे उसको धर्ममे तीव्र श्रद्धा नहीं है ॥१४४७॥

गा०—जो शक्तिके अनुसार तपमे तत्पर नही है वह आत्माको ठगता है और अपनी शक्तिको छिपाता है। तथा सुखमे आसक्त होनेसे असातवेदनीयको बांधता है जो अनेक भवोमे दु खदायी है ॥१४४८॥

आलस्यके दोष कहते हैं—

गा०—आलसी होनेसे वह वीर्यान्तराय और चारित्र मोहनीय कर्मका बन्ध करता है। तथा शरीरमे आसक्ति रखनेसे वह साधु परिग्रही होता है ॥१४४९॥

---

१ णिप्पिहासस्स–आ० ।

'मायादोसा' मायादोषा सर्वेऽपि पूर्वनिर्दिष्टा । मायाया तपसि स्वशक्तिनिगूहनलक्षणाया भवन्ति त्ति च धम्मम्मि धर्मे तपोलक्षणे । णिप्पिवासस्स अनादरस्य जन्मान्तरे दुर्लभो भवति धर्म ॥१४५०॥

दोषान्तरमपि निगदति—

पुव्वुत्ततवगुणाण चुक्को ज तेण वंचिओ होइ ।
विरियणिगूही बधदि माय विरियतराय च ॥१४५१॥

पुव्वुत्ततवगुणाण पूर्वोक्तसवरनिर्जरा चेत्येवमादिभिस्तप साध्यैरुपकारै । 'चुक्को' च्युत । 'ज' यस्मात् । 'तेण तेन तप साध्यापकारप्रच्युतत्वेन । 'वंचिदो होदि' वञ्चितो भवति । विरियणिगूही बधदि माय' वीर्यसवरणपरा बध्नाति मायाकर्म 'विरियतराय च' वीर्यान्तराय च ॥१४५१॥

तवमकरितस्सेदे दोसा अण्णे य होंति सतस्स ।
होति य गुणा अणेया सत्तीए तव कुणतस्स ॥१४५२॥

'तवमकरतस्स' तपस्यनुद्यतस्येमे दोषा अन्ये च भवन्तीति ज्ञातव्या । भवन्ति चानेकगुणा शक्त्या तपसि वर्तमानस्य ॥१४५२॥

तपोगुणप्रख्यापनायोत्तरप्रबन्ध —

इह य परत्त य लोए अदिसयपूयाओ लहइ सुतवेण ।
आवज्जिज्जति तहा देवा वि सइंदिया तवसा ॥१४५३॥

इह जन्मनि परत्र च तपसा सम्यक् कृतेन अतिशयपूजा लभ्यते । आवर्ज्यन्ते च तपसा देवा सन्द्रका ॥१४५३॥

अप्पो वि तवो बहुग कल्लाण फलइ सुप्पओगकदो ।
जह अप्प वडबीअं फलइ वडमणेयपारोह ॥१४५४॥

गा०—तपमें अपनी शक्तिको छिपाने रूप मायाचारमें वे सब दोष होते हैं जो पूर्वमें माया-के दोष कहे हैं । जो धर्ममें अनादर भाव रखता है उसको दूसरे जन्ममें धर्मको प्राप्ति दुर्लभ होती है ॥१४५०॥

अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—पूर्वमें जो तपके द्वारा साध्य सवर निर्जरा इत्यादि उपकार कहे हैं उनसे च्युत होने से वह उनसे वंचित होता है । और अपनी शक्तिको छिपानेसे मायाकर्म और वीर्यान्तराय कर्मका बन्ध करता है ॥१४५१॥

गा०—जो तपमें तत्पर नहीं होता उसको ये दोष तथा अन्य दोष होते हैं और जो शक्तिके अनुसार तप करता है उसमें अनेक गुण होते हैं ॥१४५२॥

आगे तपके गुण कहते हैं—

गा०—सम्यक्रूपसे तप करनेसे इस जन्ममें और परजन्ममें सातिशय पूजा प्राप्त होती है । तथा तपसे इन्द्रसहित सब देव भी विनय करते हैं ॥१४५३॥

'अप्पोवि तओ' अल्पमपि तप महाकल्याण फलति सुसयमनिष्पन्न । सुष्ठु प्रयुज्यते प्रवर्त्यतेऽनेनेति च विग्रहे सयम सुप्रयोगशब्देनोच्यते । यथा अल्पमपि वटबीज फलति वटमनेकप्ररोह अल्पमपि पृथुल फलदायितप इत्येतदाख्यातमनया ॥१४५४॥

सुट्ठु कदाण वि सस्सादीण विग्घा हवंति अदिबहुगा ।
सुट्ठु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोइ वि जए विग्घो ॥१४५५॥

'सुट्ठु कदाण वि' सम्यक् कृतानामपि शस्यादीना अतीव विघ्ना भवन्ति । तपस पु सम्यक् कृतस्य जगति न कश्चिद् विघ्न फलदाने । निर्विघ्नफलदायित्व तपसो माहात्म्य कथितम् अनया ॥१४५५॥

जणणमरणादिरोगादुरस्स सुतवो वरोसध होदि ।
रोगादुरस्स अदिविरियमोसधं सुप्पउत्त वा ॥१४५६॥

'जणणमरणादिरोगादुरस्स' जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतपो वरौषध भवति । रोगपीडितस्य सुप्रयुक्तमतिवीर्यमौषधमिव । जननमरणादीना विनाशकत्व तत्कारणकर्मविनाशादनेनाख्यायते ॥१४५६॥

ससारमहाडाहेण डज्झमाणस्स होइ सीयघरं ।
सुतवोदाहेण जहा सीयधर डज्झमाणस्स ॥१४५७॥

'ससारमहाडाहेण' ससारमहादाहेन दह्यमानस्य तपो भवति जलगृह । यथा दह्यमानस्य सूर्यांशुभिर्धारागृहम् । सासारिकदु खनिमू लनकारिता तपसोऽनेन सूच्यते ॥१४५७॥

णीयल्लओ व सुतवेण होइ लोगस्स सुप्पिओ पुरिसो ।
मायाव होइ विस्ससणिज्जो सुतवेण लोगस्स ॥१४५८॥

गा०-टी०—सम्यक् सयमपूर्वक किया गया थोडा भी तप बहुत कल्याणकारी होता है। गाथामे सुप्रयोग शब्दसे 'जिसके द्वारा सुष्ठुरूप प्रवर्तित होता है' इस विग्रहके अनुसार सयम लिया गया है। जैसे छोटा-सा भी वटबीज अनेक शाखा प्रशाखासे पूर्ण वटवृक्षरूपसे फलता है उसी प्रकार थोडा भी तप बहुत फल देता है। यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५४॥

गा०—धान्य आदिकी खेती बहुत सावधानतासे परिश्रमपूर्वक करनेपर भी उसमें बहुत विघ्न आते हैं। किन्तु सम्यक्रूपसे किये गये तपके फल देनेमे कोई विघ्न नही आता। निर्विघ्न फल देना तपका माहात्म्य है यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५५॥

गा०-टी०—जैसे रोगसे पीडित पुरुषके लिए यत्नपूर्वक दी गई अति शक्तिशाली औषध होती है। उसी प्रकार जन्ममरण आदि रोगसे पीडितकी श्रेष्ठ औषध तप है। तप करनेसे जन्ममरणके कारण कर्मोंका विनाश होता है। इससे तपको जन्ममरण आदिका विनाशक कहा है ॥१४५६॥

गा०—ससाररूपी महादाहसे जलते हुए प्राणीके लिए तप जलघर है, जैसे सूर्यकी किरणोसे जलते हुए मनुष्यके लिए धारागृह होता है। तप सासारिक दु खोको निर्मूल करता है, यह इससे सूचित किया है ॥१४५७॥

'णोयल्लओ व' बन्धुरिव लोकस्य नितरां प्रियो भवति पुरुषः। शोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियतां करोति तप इत्यनेन आख्यानम्। 'मादाव होइ विस्सणिज्जो' मातेव विश्वसनीयो भवति लोकस्य। सर्वजगद्विश्वास्यत्व तप सम्पादयमनेन कथ्यते ॥१४५८॥

कल्लाणिड्ढिसुहाइं जावदियाइं हवे सुरणराणं।
जं परमणिव्वुदिसुहं व ताणि सुतवेण लब्भंति ॥१४५९॥

'कल्लाणिड्ढिसुहाइं' कल्याणानि स्वर्गावतरणादीनि ऋद्धयो विभूतयश्चक्रलाञ्छनानां अर्द्धचक्रवर्तिनां सुखानि च यानि देवानां मनुष्याणां च, यच्च परमनिर्वृतिसुखं तानि शोभनेन तपसा लभ्यन्ते ॥१४५९॥

कामदुहा वरधेणू णरस्स चिंतामणिव्व होइ तओ।
तिलओव्व णरस्स तओ माणस्स विहूसणं सुतओ ॥१४६०॥

'कामदुहा' कामदुघा वरधेनुः, चिन्तामणिश्च तपः यदभिलषितं तस्य दानात्। तिलकाख्यालङ्कारो नरस्य शोभनं तपः, मानस्य विभूषणं च। तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मानं शोभते इति ॥१४६०॥

होइ सुतवो य दीओ अण्णाणतमंधयारचारिस्स।
सव्वावत्थासु तओ वट्टदि य पिदा व पुरिसस्स ॥१४६१॥

'होइ सुतओ य दीओ' सम्यक्तपः प्रदीपो भवति अज्ञानतमसि महति सचरतः। एतेन जगतोऽज्ञानाख्यं तमो विनाशयति तपः इति सूचितं। सर्वावस्थासु हिते तपो वर्तते पितेव पुंसः ॥१४६१॥

विसयमहापंकाउलगड्डाए सकमो तवो होइ।
होइ य णावा तरिदुं तवो कसायातिचवलणदिं ॥१४६२॥

गा०—सम्यक् तप करनेसे पुरुष बन्धुकी तरह लोगोंको प्रिय होता है। इससे यह कहा है कि सम्यक् तपसे मनुष्य सब जगत्का प्रिय होता है। तथा सम्यक् तपसे मनुष्य माताकी तरह लोकका विश्वासभाजन होता है। इससे तपसे सर्वजगत्का विश्वासपात्र होना कहा है ॥१४५८॥

गा०—स्वर्गसे अवतरित होना आदि पाँच कल्याणक, चक्रवर्ती और अर्धचक्रियोंकी विभूतियाँ तथा देवों और मनुष्योंके जितने सुख हैं, तथा जो मोक्षका परम सुख है वह सब सम्यक् तपसे प्राप्त होते हैं ॥१४५९॥

गा०-टी०—जो चाहो वह तपसे मिलता है इसलिए सम्यक् तप मनुष्यके लिए कामधेनु और चिन्तामणि रत्नके समान है। तथा मनुष्यके मस्तकपर शोभित होनेवाले तिलक नामक अलंकारके समान है और मानका विशिष्ट भूषण है अर्थात् तपसे सर्वजगत्के द्वारा मान्य पुरुषका मान शोभित होता है ॥१४६०॥

गा०—अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें विचरण करनेवालेके लिए सम्यक् तप दीपकके समान है। इससे सूचित किया है कि तप जगत्के अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करता है। तथा सम्यक् तप सब अवस्थाओंमें पिताकी तरह पुरुषको हितमें लगाता है ॥१४६१॥

गा०—यह विषय महान् कीचडसे भरे गर्तके समान हैं क्योंकि उससे निकलना बहुत कठिन

'विसयमहापकाउल्गड्डाए' विषयो महापङ्काकुलगर्त इव दुस्तरत्वात्। तस्मिन् मग्नो भवति। तदुत्तरणहेतुर्भवति तपः। तपो नौरुल्लङ्घयितुं कषायातिचपलनदीं ॥१४६२॥

फलिहो व दुग्गदीण अणेयदुक्खावहाण होइ तवो।
आमिसतण्हाछेदणसमत्थमुदकं व होइ तवो ॥१४६३॥

'फलिहो व दुग्गदीणं' दुर्गतीनां परिघ इव। कीदृशां दुर्गतीनां ? अनेकदुःखावहानां। किं च विषयतृष्णाच्छेदनसमर्थं च तपः उदकमिव तृष्णाच्छेदने ॥१४६३॥

मणदेहदुक्खवित्तासिदाण सरणं गदी य होइ तवो।
होइ य तवो सुतित्थं सव्वासुहदोसमलहरणं ॥१४६४॥

'मणदेहदुक्खवित्तासिदाण' मानसानां शरीराणां दुःखानां ये वित्रस्तास्तेषां शरणं गतिश्च तपः। भवति च तपस्तीर्थं सर्वाशुभदोषमलनिरासकारि ॥१४६४॥

संसारविसमदुग्गे तवो पणट्ठस्स देसओ होदि।
होइ तवो पच्छयणं भवकंतारम्मि दिग्घम्मि ॥१४६५॥

'संसारविसमदुग्गे' संसारो विषमदुर्ग इव दुस्तरणीयत्वात्। तस्मिन्प्रणष्टस्य दिङ्मूढस्य। 'तवो देसगो होदि' तप उपदेष्टा भवति। संसारविषमदुर्गमुत्तारयतीति। 'होदि तवो पच्छदणं' भवति तपः पथ्यदनं 'भवकंतारम्मि' भवाटव्यां। 'दिग्घम्मि' दीर्घे ॥१४६५॥

रक्खा भएसु सुतवो अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो।
णिस्सेणी होइ तवो अक्खयमोक्खस्स मोक्खस्स ॥१४६६॥

'रक्खा भएसु सुतवो' भयेषु रक्षा सुतपः। अभ्युदयानां चाकरः सुतपः मोक्षस्य अक्षयसुखस्य निश्रयणी भवति तपः ॥१४६६॥

है। तप उसमें निकलनेमें कारण है। तथा तप कषायरूप अति चपल नदीको पार करनेके लिए नौका है ॥१४६२॥

गा०—अनेक दुःखदायी दुर्गतियोंके लिए तप अर्गलाके समान है। तथा विषयोंकी तृष्णाको नष्ट करनेके लिए जलके समान है। जैसे जलसे प्यास बुझ जाती है वैसे ही तपसे विषयोंकी प्यास बुझ जाती है ॥१४६३॥

गा०—जो मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीड़ित हैं उनके लिए तप शरण और गति है। तप सर्व अशुभ दोषरूप मलको दूर करनेवाला तीर्थ है ॥१४६४॥

गा०—यह संसार विषम दुर्गके समान है क्योंकि उससे निकलना कठिन है। उस संसाररूपी दुर्गमें जो दिशा भूल गये हैं उनके लिए तप उपदेशक है अर्थात् संसाररूपी विषम दुर्गसे निकलनेका मार्ग बतलाकर उससे निकालता है। तथा सुदीर्घ भवरूपी भयानक वनमें कलेवाके समान सहायक है ॥१४६५॥

गा०—सम्यक् तप भयसे रक्षा करता है, अभ्युदयोंकी खान है और अविनाशी सुखस्वरूप मोक्षमें जानेके लिए नसैनी है ॥१४६६॥

त णत्थि ज ण लब्भइ तवसा सम्म कएण पुरिसस्स ।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी ॥१४६७॥

'तण्णत्थि' तन्नास्ति यन्न लभ्यते तपसा सम्यक्कृतेन । तपोऽग्नि कर्मतृण दहति तृणमिवाग्नि प्रज्वलित ॥१४६७॥

सम्म कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदु ।
कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भासयसहस्स ॥१४६८॥

'सम्म कदस्स सम्यक् कृतस्य निरास्रवस्य तपस फल वर्णयितु न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिह्वाशतसहस्र यद्यप्यस्ति ॥१४६८॥

एव णादूण तव महागुणं सजमम्मि ठिच्चाणं ।
तवसा भावेदव्वा अप्पा णिच्च पि जुत्तेण ॥१४६९॥

'एव णादूण एव ज्ञात्वा तपो महोपकारि सयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि उपयुक्तेन ॥१४६९॥

जह गहिदवेयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ।
तह चेव दमेयव्वो देहो मुणिणा तवगुणेसु ॥१४७०॥

'जह गहिदवेयणो वि य' यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकार्ये नियुज्यते भृतक । तथैव दमितव्यो देहो मुनिना तपोगुणेषु । उत्तरगुण ॥१४७०॥

इच्चेव समणधम्मो कहिदो मे दसविहो सगुणदोसो ।
एत्थ तुमसप्पमत्तो होहि समण्णागदमदीओ[1] ॥१४७१॥

गा०—ससारमे ऐसा कोई पदार्थ नही है जो सम्यक्रूपसे किये गये तपके द्वारा न प्राप्त होता हो। जैसे प्रज्वलित आग तृणको जलाती है वैसे ही तपरूपी आग कर्मरूपी तृणोको जलाती है ॥१४६७॥

गा०—सम्यक्रूपमे किये गये और कर्मास्रवसे रहित तपके फलका वर्णन करनेमे जिसके एक हजार जिह्वा हो वह भी समर्थ नही है ॥१४६८॥

गा०—इस प्रकार तपको महान् उपकारी जानकर सयममे स्थित सयमीजनोको नित्य ही उपयोग लगाकर आत्मामे तपकी भावना करनी चाहिए ॥१४६९॥

गा०—जैसे वेतन लेनेवाले सेवकको कार्यमे नियुक्त करते समय उसपर दया नही की जाती। उसी प्रकार मुनिको अपने शरीरको तपरूप गुणमें लगाना चाहिए। अर्थात् जब शरीर को भोजनरूपी वेतन दिया जाता है उसपर दया न करके उसको तपकी साधनामें लगाना चाहिए ॥१४७०॥

---

१ दमदी–मु० मूलारा० ।

'इच्चेव समणधम्मो' इत्येव श्रमणधर्मं दशविधं सगुणदोषं कथितो मया। 'एत्थ तुममप्पमत्तो होहि' अत्र दशविधे धर्मे त्वमप्रमत्तो भव, समागतस्मृतिक इति गणिना स्वशिक्षापरिसमाप्तिरादर्शिता ॥१४७१॥

तो खवगवयणकमलं गणिरविणो तेहिं वयणरस्सीहिं।
चित्तप्पमायविमलं पफुल्लिदं पीदिमयरदं ॥१४७२॥

'तो खवगवदणकमलं' ततः शिक्षानन्तरं तस्य क्षपकस्य वदनकमलं प्रफुल्लितं सूरिधर्मरश्मेस्तैर्वचनरश्मिभिः चित्तप्रमादविमलं प्रीतिमकरंदं ॥१४७२॥

वयणकमलेहिं गणिअभिमुहेहिं सा[1]विंभियच्छिपत्तेहिं।
सोभइ इहर[2] सूरोदयम्मि फुल्लं व णलिणिवणं ॥१४७३॥

'वयणकमलेहिं' वदनकमलैः यतीनां गणिनोऽभिमुखैः [3]विस्मिताक्षिपत्रैः सा सभा शोभां वहति स्म। सूर्योदये पुष्पितनलिनवनमिव ॥१४७३॥

गणिउवएसामयपाणएण पल्हादिदम्मि चित्तम्मि।
जाओ य णिव्वुदो सो पादूणय पाणय तिसिओ ॥१४७४॥

'गणिउवएसामयपाणएण' गणिनः उपदेशामृतपानकेन प्रह्लादिते चित्ते जातोऽसौ क्षपकः सुष्ठु निर्वृतः तृषितः पानकं पीत्वेव ॥१४७४॥

तो सो खवओ तं अणुसट्ठिं सोऊण जादसंवेगो ॥
उट्ठित्ता आयरियं वदइ विणएण पणदंगो ॥१४७५॥

गा०—इस प्रकार हे क्षपक! मैंने गुणदोषोंके विवेचनपूर्वक दस प्रकारके श्रमण धर्मका कथन किया। उसको स्मरण करके तुम दस प्रकारके धर्ममें अप्रमादी होओ। इस प्रकार निर्यापकाचार्यने अपनी शिक्षाकी समाप्ति सूचित की है ॥१४७१॥

गा०—इस शिक्षाके अनन्तर उस क्षपकका मुखरूपी कमल आचार्यरूपी सूर्यके वचनरूपी किरणोंसे प्रफुल्लित हो जाता है, चित्तके प्रसन्न होनेसे उस मुख कमलकी विरूपता चली जाती है और उसमेंसे प्रीतिरूपी पुष्परस झरने लगता है ॥१४७२॥

गा०—जैसे सूर्यके उदय होनेपर खिला हुआ कमलोंका वन शोभित होता है उसी प्रकार आचार्यके अभिमुख हुए यतियोंके मुख कमलोंसे, जो आश्चर्ययुक्त नेत्ररूपी पत्रोंसे संयुक्त होते हैं, वह मुनिसभा शोभित होती है ॥१४७३॥

गा०—आचार्यके उपदेशरूपी अमृतका पान करके चित्तके आह्लादयुक्त होनेपर क्षपक वैसा ही सुखी होता है जैसा प्यासा अमृतमय पानक पीकर होता है ॥१४७४॥

गा०—उनके पश्चात् वह क्षपक आचार्यका उपदेश सुनकर वैराग्यसे भर जाता है और उठकर अंगोंको नम्र करके विनयपूर्वक आचार्यको वन्दना करता है ॥१४७५॥

---

१ हि विभि–आ०। सावंभियदच्छिपत्तेहिं–मु०। २ सोभदि समसा सु–मु०। ३ विस्मापित–मु०।

'तो सो खवगो' ततोऽसौ क्षपकः तदनुशासनं श्रुत्वा जातसंवेग उत्थाय आचार्यं वदते विनयेन प्रणताङ्गः ॥१४७५॥

भंते सम्मं णाणं सिरसा य पडिच्छिदं मए एदं ।
जं जह उत्तं तं तह[1] करेमि विणओ तदो भणइ ॥१४७६॥

'भंते सम्मं णाणं' भगवन् सम्यग्ज्ञानं एतच्छिरसा मया परिगृहीतं। यद्यथोक्तं भवद्भिस्तथा करिष्यामि इति वदति ॥१४७६॥

अप्पा णिच्छरदि जहा परमा तुट्ठी य हवदि जह तुज्झ ।
जह तुज्झ य संघस्स य सफलो य परिस्समो होइ ॥१४७७॥

'अप्पा णिच्छरदि जहा' अहं यथा निस्तीर्णो भवामि संसारात। यथा युष्माकं परमा तुष्टिर्भवति। भवता संघस्य चास्मदनुग्रहे प्रवृत्ताना श्रमस्य फलं भवति ॥१४७७॥

जह अप्पणो गणस्स य संघस्स य विस्सुदा हवदि कित्ती ।
संघस्स पसायेण य तहह आराहइस्सामि ॥१४७८॥

'जह अप्पणो गणस्स य' यथा मम गणस्य संघस्य च कीर्तिविश्रुता भवति तथाहमाराधयिष्यामि संघस्य प्रसादेन ॥१४७८॥

[2]धीरपुरिसेहिं जं आयरियं जं च ण तरंति कापुरिसा ।
मणसा वि विचिंतेदुं तमहं आराहणं काहं ॥१४७९॥

[3]धीरपुरिसेहिं [4]धीरैः पुरुषैर्या आचरिता, यां च न शक्नुवन्ति कापुरुषा मनसापि चिन्तयितुं तादृशीमाराधनामहं करिष्यामि ॥१४७९॥

गा०—और कहता है—भगवन् ! मैंने आपके द्वारा दिया सम्यग्ज्ञान सिर नवाकर स्वीकार किया। आपने जो-जो जिस प्रकार कहा है मैं वैसा ही करूँगा ॥१४७६॥

गा०—जिस प्रकारसे मैं संसारसे पार उतरूँ, जिस प्रकारसे आपको परम सन्तोष हो, मेरे कल्याणमें संलग्न आपका और संघका परिश्रम जिस प्रकारसे सफल हो ॥१४७७॥

गा०—जिस प्रकार मेरी और संघकी कीर्ति फैले, मैं संघकी कृपासे उस प्रकार रत्नत्रयकी आराधना करूँगा ॥१४७८॥

गा०—वीर पुरुषोंने जिसका आचरण किया है, कायर पुरुष जिसकी मनसे कल्पना भी नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करूँगा ॥१४७९॥

---

१ तह माहत्तिय गा तदा –मु० । २, ३, ४ धीर –मु० ।

एव तुज्झ उवएसामिदमासाइदत्तु को णाम ।
बीहेज्ज छुहादीणं मरणस्स वि कायरो वि णरो ॥१४८०॥

'एव तुज्झ' एवं भवतामुपदेशामृतमास्वाद्य को नाम बिभेति कातरोऽपि नरः क्षुधादीनां मृत्योर्वा ॥१४८०॥

किं जंपिएण बहुणा देवा वि सइंदिया मह विग्घं ।
तुम्हं पादोवग्गहगुणेण कादुं ण अरिहंति ॥१४८१॥

'किं जंपिएण बहुणा' किं बहुना जल्पितेन देवा अपि शतमखप्रमुखा मम विघ्नं कर्तुं असमर्था भवत्पादोपग्रहणगुणेन ॥१४८१॥

किं पुण छुहा व तण्हा परिस्समो वादियादि रोगो वा ।
काहिंति ज्झाणविग्घं इंदियविसया कसाया वा ॥१४८२॥

'किं पुण' किं पुनः कुर्वन्ति ध्यानस्य विघ्नं क्षुधा, तृषा वा, परिश्रमो वा, वातिकादिरोगा वा इन्द्रियाणां विषयाः, कषाया वा ॥१४८२॥

ठाणा चलेज्ज मेरू भूमी ओमच्छिया भविस्सिहिदि ।
ण य हं गच्छमि विगदिं तुज्झ पायप्पमाएण ॥१४८३॥

'ठाणा चलिज्ज' स्वस्मात्स्थानाच्चलिष्यति मेरुः । भूमिः परावृतमस्तका भविष्यति । नाहं विकृतिं गमिष्यामि भवतः पादप्रसादेन ॥१४८३॥

[1]एव खवओ संथारगओ खवइ विरियं अगूहंतो ।
देदि गणी वि सदा से तह अणुसट्ठिं अपरिदंतो ॥१४८४॥

समासमनुशासनम् ॥१४८४॥

गा०—आपके इस प्रकारके उपदेशामृतको पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूख प्यास और मृत्युसे डरेगा ॥१४८०॥

गा०—अधिक मैं क्या कहूँ, आपके चरणोंके अनुग्रहसे इन्द्रादि प्रमुख देव भी मेरी आराधनामें विघ्न नहीं कर सकते ॥१४८१॥

गा०—तब भूख, प्यास परिश्रम, वातादि जन्य रोग, अथवा इन्द्रियोंके विषय और कषाय ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकते हैं ॥१४८२॥

गा०—सुमेरु अपने स्थानसे विचलित हो जाये और पृथ्वी उलट जाये किन्तु आपके अनुग्रहसे मैं विकारसे विचलित नहीं होऊँगा ॥१४८३॥

गा०—इस प्रकार क्षपक संस्तर पर आरूढ होकर अपनी शक्तिको न छिपाकर पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों की निर्जरा करता है और आचार्य भी बिना विरक्त हुए उसे सदा सत् शिक्षा देता है ॥१४८४॥

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

सारणेत्येतत्सूत्रपदव्याख्यानमुत्तरम्—

अकडुगमतित्तयमणविलच अकसायमलवणममधुरं ।
अविरसं मदुरभिगंध अच्छमणुण्ह अणदिसीद ॥१४८५॥

'अकडुग' अकटुक, अतिक्त, अनाम्ल, अकषाय, अलवण, अमधुर, अविरस, अदुरभिगंध, स्वच्छमनुष्णमशीत ॥१४८५॥

पाणगमसिभल परिपूय खीणस्स तस्स दादव्वं ।
जह वा पच्छं खवयस्स तस्स तह होइ दायव्वं ॥१४८६॥

'पाणगमसिभल' पानकमश्लेष्मकारि परिपूत क्षीणाय क्षपकाय दातव्य । यथाभूत वा क्षपकस्य तस्य पथ्य तथाभूत दातव्यम ॥१४८६॥

सथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया ।
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सोपाणगाहारो ॥१४८७॥

'सथारत्थो' सस्तरस्थ क्षपको यदा क्षीणो भवेत्तदा व्युत्सृष्टव्योऽसौ पानकविकल्प पूर्वविधिनैव ॥१४८७॥

एव सथारगदस्स तस्स कम्मोदएण खवयस्स ।
अगे कत्थइ उट्ठिज्ज वेयणा ज्झाणविग्घयरी ॥१४८८॥

'एव सथारगदस्स' एव सस्तरगतस्य क्षपकस्य कर्मोदयेन क्वचिदुद्वेदनोपजायते ध्यानविघ्नकारिणी ॥१४८८॥

अब पूर्व गाथामे आगत 'सारण' पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०-टी०—क्षपकको दिया जानेवाला पानक कटुक, चरपरा, खट्टा, कसैला, नमकवाला, मीठा, स्वादयुक्त और दुर्गन्ध युक्त नही होना चाहिये अर्थात् वह न कटुक हो, न चरपरा हो, न खट्टा हो, न कसैला हो, न नमकसे युक्त हो, न मीठा हो, तथा स्वादहीन और दुर्गन्धयुक्त भी न हो। स्वच्छ हो, न गर्म हो और न ठडा हो ॥१४८५॥

गा०— कफ पैदा करने वाला न हो। कपडे से छान लिया गया हो। इस प्रकार कमजोर क्षपकको ऐसा पेय देना चाहिये जो उसके लिये पथ्य हो, अर्थात् समाधिमे विघ्न डालने वाला न हो ॥१४८६॥

गा०—जब सस्तरारूढ क्षपक अतिक्षीण हो जाये तब पूर्वविधिसे पानकका त्याग करा देना चाहिये ॥१४८७॥

गा०—इस प्रकार सस्तरारूढ क्षपकके कर्मके उदयसे किसी अगमे ध्यानमे विघ्न डालने वाली वेदना यदि उत्पन्न हो जाये ॥१४८८॥

---

१ मदुब्भिगन्ध –मु०, मूलारा०।

बहुगुणसहस्सभरिया जदि णावा जम्मसायरे भीमे ।
भिज्जदि हु रयणभरियाणावा व समुद्दमज्झम्मि ॥१४८९॥

'बहुगुणसहस्सभरिदा' बहुभिर्गुणसहस्रैः, सम्पूर्णा यतिनौर्जन्मसागरे भीमे यदि भेदमुपेयात रत्नपूर्णा नौरिव समुद्रमध्ये ॥१४८९॥

गुणभरिद जदिणाव दट्टूण भवोदधिम्मि भिज्जत ।
कुणमाणो हु उवेक्ख को अण्णो हुज्ज णिद्धम्मो ॥१४९०॥

'गुणभरिद जदि णाव' गुणैः पूर्णा यतिनाव भवसमुद्रमध्ये भिद्यमाना दृष्ट्वा य करोत्युपेक्षा तस्मात्कोऽन्यो भवेद्धर्मनि क्रान्त ॥१४९०॥

विज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्व वित्थरेण अक्खादा ।
तेसिं फिडिओ सो होइ जो उविक्खिज्ज त खवय ॥१४९१॥

वेज्जावच्चस्स गुणा' वैयावृत्तस्य गुणा ये पूर्व विस्तरेण व्याख्यातास्तेभ्य प्रच्युतो भवति य उपेक्षते क्षपक ॥१४९१॥

तो तस्स तिगिंछाजाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए ।
विज्जादेसेण व से पडिकम्म होइ कायव्व ॥१४९२॥

'तो तस्स' ततस्तस्य क्षपकस्य चिकित्सा जानता सर्वशक्त्या प्रतिकर्म कर्तव्य वैद्यस्य चोपदेशेन ॥१४९२॥

णाऊण विकार वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियार ।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिघाद ॥१४९३॥

'णादूण विकार' ज्ञात्वा विकार तस्या वेदनाया तत प्रतिकार कुर्यात् । योग्यैर्द्रव्यैर्वातकफपित्तप्रतिघात ॥१४९३॥

गा०—समुद्रके मध्यमे रत्नोसे भरी नावकी तरह हजारो गुणोसे भरी यतिरूपी नौका यदि भयकर ससारसागरमे डूबने लगे ॥१४८९॥

गा०—गुणोसे भरी नावको ससार-समुद्रमे डूबते हुए देखकर यदि कोई उपेक्षा करता है तो उससे बडा अधार्मिक दूसरा कौन होगा ॥१४९०॥

गा०—जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह पूर्वमे जो वैयावृत्यके गुण विस्तारसे कहे हैं उनसे च्युत होता है ॥१४९१॥

गा०—अत उस क्षपकके रोगकी चिकित्सा जाननेवाले निर्यापकाचार्यको स्वय अथवा वैद्यके परामर्शसे सर्वशक्तिके साथ इलाज करना चाहिये ॥१४२॥

गा०—उस क्षपककी वेदनाके विकारको जानकर प्रासुक द्रव्योसे वात, पित्त और कफको रोकनेवाला प्रतिकार करना चाहिये ॥१४९३॥

बत्थीहिं अवद्दवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं ।
अब्भगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥१४९४॥

'बत्थीहिं' बस्तिकर्मभिः अवद्दवणतावणेहिं' उष्णकरणतापनैः, आलेपनेन, शीतक्रियया, अभ्यङ्ग-परिमर्दनादिभिश्च चिकित्सते क्षपकं ॥१४९४॥

एव पि कीरमाणो परियम्मे वेदणा उवसमो सो ।
खवयस्स पावकम्पोदएण तिव्वेण हु ण होज्ज ॥१४९५॥

एवं वि कीरमाणे प्रतीकारे क्षपकस्य वेदनोपशमः तीव्रेण पापकर्मोदयेन[1] नापि भवेदपि, नहि बहिर्द्रव्य-माहात्म्येनैव कर्माणि स्वफलं न प्रयच्छन्ति । तदेव हि बहिर्द्रव्यं एकस्य वेदनां प्रशमयति नापरस्येति प्रतीत-तरमेतद् ॥१४९५॥

अहवा तण्हादिपरीसहेहि खवओ हविज्ज अभिभूदो ।
उवसग्गेहिं व खवओ अचेदणो होज्ज अभिभूदो ॥१४९६॥

अहवा तण्हादिपरीसहेहिं' अथवा तृडादिभिः परीषहैरभिभूतो भवेत्क्षपक, उपसर्गैर्वाभिभूतो निश्चेतनः स्यात् ॥१४९६॥

तो वेदणावसट्टो वाउलिदो वा परीसहादीहिं ।
खवओ अणप्पवसिओ सो विप्पलवेज्ज ज किं पि ॥१४९७॥

तो वेदणावसट्टो' ततो वेदनावशार्तो व्याकुलितः परीषहोपसर्गैः क्षपकोऽनात्मवशो विप्रलपेद्यदि किञ्चित ॥१४९७॥

गा०—वस्तिकर्म (एनिमा) गर्म लोहेसे दागना, पसीना लाना, लेप लगाना, प्रासुक जलका सेवन कराना, मालिश, अगमर्दन आदिके द्वारा क्षपककी वेदना दूर करना चाहिये।१४९४।

गा०—इस प्रकार प्रतीकार करने पर भी तीव्र पाप कर्मके उदयसे यदि क्षपककी वेदना शान्त न हो। क्योकि केवल 'बाह्य' द्रव्यके प्रभावसे ही कर्म अपना फल न दें, ऐसी बात नहीं है। वही बाह्य द्रव्य एककी वेदना शान्त करता है दूसरेकी नही करता। यह तो अनुभवसिद्ध है ॥१४९५॥

गा०—अथवा क्षपक प्यास आदिकी वेदनासे अभिभूत हो जाय या उपसर्गोंसे पीडित होकर मूर्छित हो जाये ॥१४९६॥

गा०—या वेदनासे पीडित और परीषह उपसर्गोंसे व्याकुल होकर क्षपक अपने वशमें न रहे और जो कुछ भी बकने लगे ॥१४९७॥

---

१ येन धन वेदनापि नहि —अ० ।

उब्भासेज्ज व गुणसेढीदो उदरणवुद्धिओ खवओ ।
छट्ठ दोच्च पढम व सिया कुटिलिदपदमिछतो ॥१४९८॥

'उब्भासेज्ज' वदेद्वायोग्य, सयमगुणश्रेणित कृतावतरणबुद्धि 'छट्ठ' रात्रिभोजन, 'दोच्च' पाण, दिवमे 'पढम व' अशन वा । 'सिया' कदाचित् । 'कुटिलिदपदमिच्छतो' स्वलत्पद इच्छन् ॥१४९८॥

तह भुज्झतो खवगो सारेदव्वो य सो तओ गणिणा ।
जह सो विसुद्धलेस्सो पच्चागदचेदणो होज्ज ॥१४९९॥

'तह भुज्झतो खवगो' मोहमुपगच्छन् क्षपकस्तथा सारयितव्योऽसौ तेन गणिना । कथ ? यथा विशुद्धलेश्यो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥१४९९॥

सारणोपाय कथयति—

कोसि तुम किं णामो कत्थ वससि को व सपही कालो ।
किं कुणसि तुम कह वा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥१५००॥

'कोऽसि तुम' कस्त्व ? किनामधेय ? 'कत्थ वससि' क्व वससि ? 'को व सपही कालो' को वेदानी काल ? किमय दिवा रात्रिर्वा ? 'किं कुणसि तुम' किं करोषि भवान् ? 'कथ वा अत्थसि' कथ वा तिष्ठसि ? 'किं णामगो वाह' अह वा किनामधेय ? ॥१५००॥

एव आउच्छित्ता परिक्खहेदु गणी तय खवय ।
सारइ वच्छलयाए तस्स य कवय करिस्संति ॥१५०१॥

'एव आउच्छित्ता' एवमनुपरत सारयति गणी त क्षपक । किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितुकाम वत्सलतया । यद्यस्ति चेतना कवच करिष्यामीति मत्वा ॥१५०१॥

गा०—अयोग्य वचन कहे, या सयमगुणकी सीढीसे नीचे उतरना चाहे, या निचले स्थानको चाहते हुए रात्रि भोजन या रात्रिमे पानक लेना चाहे या दिनमे असमयमे भोजन करना चाहे ॥१४९८॥

गा०—इस प्रकार जब क्षपक मोहमे पड जाये तो आचार्यको उसे सब पिछली बातोका स्मरण कराना चाहिये। जिसमे उसके परिणाम विशुद्ध हो और उसका यथार्थ ज्ञान लौट आवे ॥१४९९॥

उसके उपाय कहते हैं—

गा०—तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? कहाँ रहते हो ? इस समय दिन है या रात है ? तुम क्या करते हो ? कहाँ बैठे हो ? मेरा क्या नाम है ॥१५००॥

गा०—इस प्रकार आचार्य उसकी परीक्षाके लिये कि यह सचेत अवस्थामे है या अचेत अवस्थामे है, वात्सल्य भावसे बार-बार उसे स्मरण कराते हैं। उनकी यह भावना रहती है कि यदि यह सचेत है तो उसके सयमकी रक्षा की जाये ॥१५०१॥

जो पुण एवं ण करिज्ज मारण तस्स [1]वियलचक्खुस्स ।
सो तेण होइ णिद्धधसेण खवओ परिचत्तो ॥१५०२॥

'जो पुण एव ण करिज्ज' य पुनरेव न कुर्यात् मारण । स्खलितचित्तवृत्ते स क्षपकस्तेन परित्यक्तो भवति सूरिणा ॥१५०२॥

एव मारिज्जतो कोई कम्मुवसमेण लभदि सदि ।
तह य ण लभिज्ज मदि कोई कम्मे उदिण्णम्मि ॥१५०३॥

'एव सारिज्जतो' एव सार्यमाण कश्चित् चारित्रमोहोपशमेन असद्वेद्योपशमेन वा स्मृति योग्यायोग्यविषया लभते । अयुक्तेय इच्छा मम अकाले भोक्तु पातु वा प्रत्याख्यात कथ कालेऽपि प्रार्थयामीति मायमाणोऽपि । लभते स्मृति कश्चित्कर्मण्युदीर्णे नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणे । सारणा ॥१५०३॥

सदिमलभतस्स वि कादव्व पडिकम्ममट्ठिय गणिणा ।
उवदेसो वि मया से अणुलोमो होदि कायव्वो ॥१५०४॥

'सदिमलभतस्स वि' स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽस्थित कर्तव्य । प्रतिकार , उपदेशोऽपि अनुकूल सदा तस्य कर्तव्य ॥१५०४॥

चेयतो पि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरद्धो ।
उब्भासेज्ज व उवकावेज्ज व भिंदेज्ज आउरो पदिण्ण ॥१५०५॥

'चेदतो पि' चेतयमानोऽपि कर्मोदयेन कश्चित्परीषहपराजितो यत्किञ्चिद्वदेत् आरटेत, भिन्द्याद्वा स्वा प्रत्याख्यानप्रतिज्ञा ॥१५०५॥

गा०—यदि आचार्य उस चलायमान चित्तवाले क्षपकको इस प्रकारसे स्मरण नही करावे तो समझना चाहिये उस निर्दयीने उस क्षपकको त्याग दिया है ॥१५०२॥

गा०—इस प्रकार स्मरण दिलाने पर कोई-कोई क्षपक चारित्र मोह अथवा असातावेदनीय का उपशम होनेसे योग्य अयोग्यके विचारविषयक स्मृतिको प्राप्त होते हैं कि अकालमें खाने पीनेकी इच्छा करना मेरे लिये योग्य नहीं है । जो मैं त्याग कर चुका उसे कालमें भी कैसे ग्रहण करूँ ? आदि । किन्तु कोई नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्मकी उदीरणा होनेपर स्मृति प्राप्त नही करते ॥१५०३॥

गा०—स्मृतिको जो प्राप्त नहीं होता, उसके प्रति भी आचार्यको निरन्तर प्रतिकार करते रहना चाहिये । तथा उसके अनुकूल उपदेश भी करते रहना चाहिये ॥१५०४॥

गा०—कोई क्षपक चेतनाको प्राप्त करके भी कर्मके उदयसे परीषहोंसे हारकर यदि अयोग्य वचन बोले, या रुदन करे या अपनी व्रत प्रतिज्ञाको भग करे तो भी उसके प्रति कटुक वचन

---

1. विप्पलवसस्स (स्खलितचित्तवृत्ते) । —मूलारा० ।

ण हु सो कडुव फरुसं व भणिदव्वो ण खीसिदव्वो य ।
ण य वित्तासेदव्वो ण य वट्टदि हीलणं कादु ॥१५०६॥

'**ण हु सो कडुग**' स एव कुर्वन्क्षपक न कर्तव्य कटुक परुष वा, न भर्त्सनीय, न च त्रास नेतव्य, न च मुक्त परिभव कर्तु तस्य ॥१५०६॥

परुषवचनादिभि को दोषो जायते इत्यत्रोच्यते—

फरुसवयणादिगेहिं दु माणी [1]विप्फुरिओ तओ सतो ।
उद्धाणमवक्कमण कुज्जा असमाधिकरणं वा ॥१५०७॥

'**परुसवचणादिगेहिं**' परुषवचनादिभिर्मानी विराधित सन् ॥१५०७॥

तस्स पदिण्णामेर भित्तुं इच्छतयस्स णिज्जवओ ।
सव्वायरेण कवय परीसहणिवारण कुज्जा ॥१५०८॥

'**तस्स पदिण्णामेर**' तस्य स्वप्रतिज्ञाव्यवस्था भेत्तु वाञ्छतो निर्यापक सूरि कवच कुर्यात् परीषहनिवारणक्षम ॥१५०८॥

णिद्ध मधुरं पल्हादणिज्ज हिदयंगम अतुरिद वा ।
तो सीहावेदव्वो सो खवओ पण्णवतेण ॥१५०९॥

'**णिद्ध**' स्नेहसहित, '**मधुर**' श्रोत्रप्रिय, हृदयसुखविधायि, हृदयप्रवेशि, अत्वरित असौ शिक्षयितव्य क्षपक प्रज्ञापयता ॥१५०९॥

रोगादंके सुविहिद विउल वा वेदण धिदिबलेण ।
तमदीणममूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स ॥१५१०॥

बोलना उचित नही है, न उसका तिरस्कार करना चाहिये, न उसका हास्य करना चाहिये, न उसे त्रास देना चाहिये और न उसका अनादर करना चाहिये ॥१५०५-१५०६॥

उसके प्रति कठोर वचन बोलने आदिसे क्या हानि होती है यह कहते हैं—

गा०—कठोर वचन आदिसे भडककर वह अभिमानी क्षपक मयमसे च्युत हो सकता है या दुर्ध्यानमे लग सकता है अथवा सम्यक्त्वको त्याग सकता है ॥१५०७॥

गा०—यदि वह अपनी प्रतिज्ञारूपी मर्यादाको तोडना चाहे तो निर्यापकाचार्य उसकी रक्षाके लिये ऐसा कवच आदरपूर्वक करे जो परीषहोंका निवारण कर सके ॥१५०८॥

गा०—आचार्यको स्नेहसहित, कानोको प्रिय, हृदयमे सुख देनेवाले तथा हृदयमे प्रवेश करने वाले वचनोंसे क्षपकको धीरे-धीरे सम्बोधना चाहिये ॥१५०९॥

गा०—हे सुन्दर आचार वाले! तुम दीनता और मूढताको त्यागकर चारित्रमे बाधा डालनेवाली छोटी या बडी व्याधियोंको, महती वेदनाको धैर्यरूपी बलसे जीतो। राग और कोपका

---

1. विप्फुरिसिदो-विराधित -मूलारा० ।

रोगातङ्के महतोऽल्पाश्च व्याधीन् । विपुला वा वेदना धृतिबलेन जय त्वमदीनोऽमूढश्च प्रत्यूहान् चारित्रस्य । वीतरागकोपतादि चारित्रं । तद्व्याधिप्रतीकारार्थेषु वस्तुषु आदरवतो व्याधिषु वेदनासु च द्वेषवतो नश्यति । ततश्चारित्रविघ्नास्त्वया जेतव्या इति भाव ॥१५१०॥

सव्वे वि य उवसग्गे परिसहे य तिविहेण णिज्जिणहि तुम ।
णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे ॥१५११॥

'सव्वे वि य उवसग्गे' सर्व्वांश्चोपसर्गान् परीषहाश्च मनोवाक्कायैर्जय । उपसर्गपरीषहजयदु खाभीरुना मनसा जय । भीतोऽयमिति दयया न दु खानि हरन्ति । सन्निहितद्रव्यादिसहकारिकारणमसद्वेद्यमुदयागत अनिवार्यवीर्यं बल प्रयच्छत्येवेति धृतिबलेन भावना मनसा जय । श्रान्तोऽस्मि वेदनादु महात्मता पश्यत मदीयामिमा अतिकष्टामवस्था । दग्धोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदीनवचनानुच्चारण । असकृदनुभूतार्था परीषहा क्षुदादय , उपसर्गाश्च पूर्वं । पूत्कुर्वन्तमपि नामी मुञ्चन्ति । केवल धृतिरहितोऽय वराको रारटीति निन्द्यते । न सन्मार्गात्प्रच्यावयितु इमे क्षमा इति उदारवचनता वचनेन जय । अदीनेक्षणमुखरागवत्ता अचलता च कायेन जय । 'णिज्जिणिय सम्ममेदे' निर्जित्यैव सम्यगेतानुपसर्गपरीषहान्मरण मृतिकाले । आराधओ होहिसि' रत्नत्रयपरिणतो भविष्यसि । उपसर्गपरीषहव्याकुलितचेतसो नैवाराधकता ॥१५११॥

सभर सुविहिय ज ते मज्झम्मि चदुव्विधस्स सघस्स ।
वूढा महापदिण्णा अहय आराहइस्सामि ॥१५१२॥

'सभर' स्मृति निधेहि । 'सुविहिद' सुचारित्र । किं स्मरामि इति चेत् 'त' ता प्रतिज्ञा या कृतवानसि ।

त्याग ही चरित्र है । व्याधिको दूर करनेके उपायोमे आदर करनेवाले तथा व्याधि और वेदनासे द्वेष करनेवालेका चारित्र नष्ट होता है । अत तुम्हे चारित्रके विघ्नोको जीतना चाहिये ॥१५१०॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! तुम सब उपसर्गों और परीषहोको मन वचन कायसे जीतो । उपसर्ग और परीषहोंके जीतनेमे जो दु ख होता है उससे न डरना मनसे जीतना है । यह डरपोक है अत दया करके उपसर्ग परीषह उसे दु ख नही देंगे ऐसी बात नही है । द्रव्यादि सहकारी कारणोंके रहने पर असातावेदनीय कर्म उदयमे आता है और उसको शक्तिको रोकना शक्य नही होता तब वह कष्ट देता ही है । धैर्यरूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना मनसे जीतना है । मैं थक गया हूँ, मेरी इस अतिकष्टकर और दु सह वेदना रूप अवस्थाको देखो, मै दु खमे जल रहा हू, कष्ट ने मुझे मार डाला इत्यादि दीन वचनोका उच्चारण न करना । मैंने पूर्वमे अनेक बार भूख आदि परीषहो और उपसर्गोको सहा है । चिल्लाने पर भी ये छोड़ते नही है । केवल यह बेचारा धैर्य खोकर रोता है ऐसी निन्दा करते हैं । ये मुझे सन्मार्गसे डिगानेमे समर्थ नही हैं । इस प्रकारके उदार वचन बोलना वचनसे जीतना है । आखोमे और मुखपर दीनताका भाव न होना, मुखपर प्रसन्नताका रहना, विचलित न होना कायसे जीतना है । इस प्रकार इन परीषहो और उपसर्गोको सम्यक् रूपसे जीतनेपर मरते समय तुम रत्नत्रयरूपसे परिणत हो सकोगे । जिसका चित्त उपसर्ग और परीषहसे व्याकुल रहता है वह आराधक नही हो सकता ॥१५११॥

गा०—हे सुचारित्रसे सम्पन्न क्षपक ! तुमने चतुर्विध सघके मध्यमे जो महती प्रतिज्ञा की थी कि मैं आराधना करूँगा उसे स्मरण करो ॥१५१२॥

'मज्झम्मि' मध्ये । कस्य ? 'चदुव्विधस्स' चतुर्विधस्य मघस्य । 'वूढा' घृता । 'महापदिण्णा' महती प्रतिज्ञा । 'अहय' अह 'आराधइस्सामि' आराधयिष्यामि इति ॥१५१२॥

को णाम भडो कुलजो माणी थोलाइदूण जणमज्झे ।
जुज्झे पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥१५१३॥

'को णाम भडो' क पलायते युद्धे भट शूर । 'कुलजो' मानी । 'थोलाइदूण' भुजास्फालन कृत्वा । जनमध्ये । एव युद्धे शत्रुपराजय करिष्यामीति उद्घुष्य 'आवडिमेत्तओ' अभिमुखायातशत्रुरेव अरिभीत । क पलायन करोति ॥१५१३॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

थोलाइदूण पुव्व माणी सतो परीसहादीहिं ।
आवडिदमित्तओ चेव को विसण्णो हवे साहू ॥१५१४॥

'थोलाइदूण पुव्व' भुजास्फालन कृत्वा पूव । 'परीसहादीहिं आवडिदमेत्तगो चेव' परीपहारातिभिरभिमुखायात एव । 'को विसण्णो हवे साहू माणी सतो' का विपण्णो भवेत्साधुवर्गो मानी सन् ॥१५१४॥

आवडिया पडिकूला पुरओ चेव कमति रणभूमिं ।
अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वड्ढति ॥१५१५॥

'आवडिदा पडिकूला' अभिमुखायाना शत्रव । पुरवो चेव क्कमति रणभूमिं' पुरस्तादेवोपसर्पन्ति रणभूमि । 'अवि य मरिज्ज रणे' यद्यपि रणे म्रियन्ते । 'ण य पसरमरीण वड्ढन्ति' नैव प्रसरमरीणा वर्धयन्ति ॥१५१५॥

तह आवइपडिकूलदाए साहवो माणिणो सूरा ।
अइतिव्ववेयणाओ सहंति ण य विगडिमुवयति ॥१५१६॥

'तह आवइपडिकूलदाए' तथा आपत्प्रतिकूलतया । 'साधवो' मानिन शूरा । 'अदितिव्ववेदणाओ' अतीव तीव्रवेदना 'सहंति' सहन्ते । 'ण य विगडिमुवयति' नैव विकृतिमुपयाति ॥१५१६॥

गा०—कौन कुलीन स्वाभिमानी शूरवीर मनुष्योके बीचमे अपनी भुजाओंको ठोककर 'मैं युद्धमें इस प्रकार शत्रुओंको हराऊगा' ऐसी घोषणा करके सामने आये शत्रुसे ही डरकर भागना पसन्द करेगा ॥१५१३॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमे भुजाओको ठोककर कौन स्वाभिमानी साधु परीपह आदिके सन्मुख आते ही खेदखिन्न होगा ॥१५१४॥

गा०—जिन सुभटोके शत्रु उनके सन्मुख आते हैं वे सुभट शत्रुओंके आनेसे पूर्व ही युद्ध भूमिमे पहुँच जाते हैं। वे युद्धमे मर जाये भले ही किन्तु शत्रुओका उत्साह नही बढने देते ॥१५१५॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी शूरवीर साधु आपत्तियोकी प्रतिकूलतामे अति तीव्र कष्ट भोगते हैं किन्तु विकारको प्राप्त नही होते । अर्थात् दुर्भाग्यवश उपसर्ग परीषहोंके उपस्थित होनेपर रत्नत्रयकी विराधना नही करते ॥१५१६॥

'धोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वर मरणं ।
ण य लज्जणय काउ जावज्जीवं सुजणमज्झे ॥१५१७॥

'धोलाइयस्स कृतभुजास्फालनस्य । 'माणिणो' मानिन । 'रणमुहे वर मरण' युद्धमुखे मरण शोभन । 'ण य वर' नैव शोभन। 'लज्जणय कादु जावज्जीवं च सुजणमज्झे' सुजनमध्ये यावज्जीव निदाकरण ॥१५१७॥

समणस्स माणिणो संजदस्स णिहणगमणं पि होइ वर ।
ण य लज्जणय कादु कायरदादीणकिविणत्त ॥१५१८॥

'समणस्स' समानस्य श्रवणस्य वा । 'माणिणो' मानिन, 'सजदस्स' संयतस्य । 'णिधणगमणं पि होदि वर' निधनगमनमपि भवति वर । 'ण य लज्जणग कादु' नैव लज्जनीयकरण शोभन । कातरता न वर । 'दीणकिविणत्त' दीनत्व कृपणत्व च न वर ॥१५१८॥

एयस्स अप्पणो को जीविदहेदु कग्जिज जपणय ।
पुत्तपउत्तादीण रणे पलादो सुजणलछ ॥१५१९॥

'एयस्स अप्पणो' एकस्यात्मन । 'जीविदहेदु' जीवितनिमित्त । 'को करिज्ज जपणय' क कुर्यादपवाद । पुत्तपउत्तादीण' पुत्रपौत्रादीना । 'रणे पलादो' रणात्पलायमान । सुजणलछ स्वजनलाछन ॥१५१९॥

तह अप्पणो कुलस्स य सघस्स य मा हु जीवदत्थी त ।
कुणसु जणे जपणय किविण कुव्व सुगणलछ ॥१५२०॥

'तह तथा । 'अप्पणो जीविदत्थ' भवतो जीवितार्थं । 'कुलस्स सघस्स य मा कुणसु जणे दूसणय' कुलस्य सघस्य च दूषण जने मा कार्षी । किविण कुव्व' कृपणत्व कुर्वन् । 'सुगणलछ' स्वगणलाछन ॥१५२०॥

गा०—भुजा स्फालन करनेवाले कुलीन अभिमानीके लिये युद्धमे सन्मुख मरना श्रेष्ठ है किन्तु सुजनोंके मध्यमे जीवनपर्यन्त लज्जा उठाना श्रेष्ठ नही है ॥१५१७॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी सयमी श्रमणका मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु लज्जाजनक कार्य करना श्रेष्ठ नही है, कातरता-विपत्तियोंसे घबराना, दीनता कृपणता-कि मैं कुछ भी नही कर सकता आदि श्रेष्ठ नही है ॥१५१८॥

गा०—एक अपने जीवनके लिये युद्धभूमिसे भागकर कौन अपने पुत्र पौत्र आदिके लिये अपवादका कारण बनेगा और अपने परिवारको लाछन लगायेगा ॥१५१९॥

गा०—उसी प्रकार हे क्षपक ! अपने जीवनके लिये परीषह आदि आनेपर अपनी निर्बलता का परिचय देते हुए अपने कुल और सघको लोकापवादका पात्र मत बनाओ और अपने गणपर लाछन मत लगाओ ॥१५२०॥

१, २ धोवाइय-अ० आ० । ३ सुगणलछ ललाटे कुर्कुरदाहसमान-मूलारा० ।

गाढप्पहारसताविदा वि सूरा रणे अरिसमक्खं ।
ण मुहं भजंति सयं मरंति [1]भिउडीमुहा चेव ॥१५२१॥

'गाढप्पहारसताविदा वि' गाढप्रहारसतापिता अपि शूरा 'रणे' युद्धे । 'सग मुहं अरिसमक्खं ण भजति' स्वमुखभङ्ग अरीणा पुरतो न कुर्वन्ति । 'मरति' म्रियते । भिगुडीए सह चेव' भ्रकुटया सह चैव ॥१५२१॥

सुट्ठु वि आवडपत्ता ण कायरत्तं करिंति सप्पुरिसा ।
कत्तो पुण दीणत्तं किविणत्तं वा वि काहिंति ॥१५२२॥

'सुट्ठु वि आवडपत्ता' निरन्तरमापद प्राप्ता अपि । 'सप्पुरिसा ण कायरत्त करति' सत्पुरुषा न कातरता कुर्वन्ति । 'कत्तो पुण काहिति' कुत पुन करिष्यन्ति । 'दीणत्त किविणत्त चावि' दीनता कृपणता च ॥१५२२॥

केई अग्गिमदिगदा समतओ अग्गिणा वि उज्झता ।
जलमज्झगदा व णरा अत्थंति अचेदणा चेव ॥१५२३॥

केई अत्थति अचेदणा चेव' केचिदासते अचेतना इव । 'अग्गिमदिगदा' अग्नि प्रविष्टा 'समतदो अग्गिणा वि डज्झता' समन्तात् अग्निना दह्यमाना अपि । 'जलमज्झगदा व णरा' जलमध्यगता नरा [2]इव ॥१५२३॥

तत्थ वि साहुक्कारं सगअगुलिचालणेण कुव्वंति ।
केई करंति धीरा उक्किट्ठिं अग्गिमज्झम्मि ॥१५२४॥

'तत्थ वि' तत्राप्यग्निमध्ये । 'साहुक्कार सगअगुलिचालणेण कुव्वति' साधुकार स्वाङ्गुलिचालनया कुर्वते । 'केई अग्गिमज्झगदा धीरा' केचिदग्निमध्यगता धीरा । 'उक्किट्ठि करति' उत्कृष्टि उत्क्रोशनं कुर्वन्ति ॥१५२४॥

गा०—युद्धमे शूरवीर पुरुष जोरदार प्रहारसे पीडित होनेपर भी शत्रुके सामनेसे अपना मुख नही मोडते और मुखपर भौ टेढी किये हुए ही मरते है ॥१५२१॥

गा०—उसी प्रकार सत्पुरुष अत्यन्त आपत्ति आनेपर भी कातर नही होते । तब वे दीनता या कायरता क्यो दिखायेंगे ? ॥१५२२॥

गा०—कितने ही सत्पुरुष आगमे प्रवेश करके सब ओरसे आगसे जलनेपर भी जलके मध्यमे प्रविष्ट हुए मनुष्यकी तरह अथवा अचेतनकी तरह रहते हैं ॥१५२३॥

गा०—तथा आगके मध्यमे भी रहते हुए अपने अगुलि सचालनके द्वारा साधुकार करते हैं कि कितना अच्छा हुआ कि मेरे अशुभ कर्म क्षय हुए । कितने ही धीर वीर पुरुष आगके मध्यमे रहकर अपना आनन्द प्रकट करते हैं ॥१५२४॥

---

१ भिउडीए सह–मु० । २ नरा इव अचेतना इव–आ० मु० ।

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवड्ढणाए लेस्साए ।
तिव्वाए वेदणाए सुहसाउलया करिंति धिदिं ॥१५२५॥

'जदिदा' यदि तावत् । 'तह' तथा । 'अण्णाणी धिदि करिति' तथा अज्ञानिनो धृति कुर्वन्ति 'ससारपवड्ढणाए लेस्साए' ससारप्रवर्द्धनकारिण्या लेश्यया । 'तिव्वाए वेदणाए' तीव्राया वेदनाया सत्या । 'सुहसाउलगा' सुखास्वादनलम्पटा ॥१५२५॥

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खक्खयं करतेण ।
बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण धिदी हवदि कुज्जा ॥१५२६॥

कि पुण जदिणा ण करिज्जा हवदि 'धिदि' कि पुनर्न कार्या भवति धृति यतिना । कीदृशा ? ससारसव्वदुक्खक्खय ससारसर्वदु खक्षय कुर्वता । 'बहुतिव्वदुक्खरसजाणगेण' बहूना चतुर्गतिगताना तीव्राणा दु खाना रस जानता ॥१५२६॥

असिवे दुब्भिक्खे वा कंतारे भएव आगाढे ।
रोगेहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहंति ॥१५२७॥

'असिवे मार्या । 'दुब्भिक्खे वा' दुर्भिक्षे वा । 'कतारे' अटव्या वा । गाढे भये च । उपर्युपरि निपतितभये वा । 'रोगेहि व अभिभूदा' व्याधिभिर्वा अभिभूता । 'ण विजहति कुलजा माण' न जहति कुलप्रसूता मान ॥१५२७॥

ण पियंति सुरं ण य खंति गोमंसं ण य पलंडुमादीयं ।
ण य कुव्वंति विकम्मं तहेव अण्णवि लज्जणयं ॥१५२८॥

'ण पिबति सुर' न पिबन्ति सुरा । 'ण खति' न च भक्षयन्ति गोमास । 'ण य पलडुमादीय' न पलाण्डुप्रभृतिक भक्षयन्ति । 'ण य कुव्वति विकम्म' नैव कुत्सित कर्म परोच्छिष्टभोजनादिक कुर्वन्ति । 'तहेव अण्णपि लज्जणय' तथैव नान्यदपि लज्जनीय कुर्वन्ति ॥१५२८॥

गा०—यदि ससारको बढानेवाली अशुभ लेश्यासे युक्त अज्ञानी पुरुष सासारिक सुखकी लालसासे तीव्र वेदना होते हुए भी धैर्य धारण करते हैं ॥१५२५॥

विशेषार्थ—आगमे जलकर मरनेका कथन उन धर्मवालोंके लिये किया है जो आगमे जलकर मरनेमे धर्म मानते हैं।

गा०—तो जो क्षपक साधु ससारके सब दु खोका क्षय करना चाहता है और चारो गतियोके तीव्र दु खोका स्वाद जानता है वह धैर्य धारण क्यो न करेगा ॥१५२६॥

गा०—भारी रोगमे, दुर्भिक्षमे, भयानक वनमे अत्यन्त प्रगाढ भयमे तथा रोगोसे ग्रस्त भी कुलीन पुरुष स्वाभिमानको नही छोडते ॥१५२७॥

गा०—वे मदिरा पान नही करते । गोमास नही खाते । लहसुन प्याज आदि नही खाते । दूसरेका जूठा खाना आदि बुरे काम नही करते । इसी प्रकार अन्य भी लज्जास्पद काम नही करते ॥१५२८॥

किं पुण कुलगणसघस्स जसमाणिणो लोयपूजिदा माधू ।
माणं पि जहिय काहति विकम्म सुजणलज्जणय ॥१५२९॥

'किं पुण साहू वि कम्म काहिंति' किं पुन साधव कुत्सित कर्म करिष्यन्ति । 'कुलगणसघस्स जसमाणिणो' 'कुलस्य गणस्य सघस्य च यश सपादनाहंकारवन्त । 'लोयपूजिदा साधू' लोके कृतपूजा । 'माण विजहिय' मान त्यक्त्वा 'सुजणलज्जणय' साधुजनेन विलज्जनीय कर्म ॥१५२९॥

जो गच्छिज्ज विसाद महल्लमप्प व आवदिं पत्तो ।
त पुरिसकादरं विंति धीरपुरिसा हु सढुत्ति ॥१५३०॥

'जो गच्छिज्ज विसाद' यो गच्छेद्विषाद । 'महल्ल अप्प व आवइ पत्तो' महती अल्पा वा आपद प्राप्त । 'तं पुरिसकातर' पुरुषेषु कातर । 'धीरपुरिसा सढुत्ति विंति' धीरा सुपुरुषा षण्ढ इति ब्रुवन्ति ॥१५३०॥

मेरुव्व णिप्पकपा अक्खोभा सागरुव्व गभीरा ।
धिदिवंतो सप्पुरिसा हु ति महल्लावईए वि ॥१५३१॥

'मेरुव्व णिप्पकंपा' मेरुरिव निश्चला । 'अक्खोभा' अकम्पा । 'सागरोव्व' सागर इव 'धिदिवंतो सप्पुरिसा' धृतिमन्त सतोषवन सत्पुरुषा । 'महल्लावईए वि' महत्यामापदि ॥१५३१॥

केई विमुत्तसंगा आदारोविदभरा अपडिकम्मा ।
गिरिपब्भारमभिगदा बहुसावदसंकड भीम ॥१५३२॥

'केई उत्तमट्ठ साधेंति' इति वक्ष्यमाणेन सबन्ध । केचिदुत्तम वस्तु रत्नत्रय साधयन्ति । कीदृग्भूता ? 'विमुत्तसंगा' निष्परिग्रहा । 'आदारोविदभरा' आत्मारोपितभरा । 'अपडिकम्मा' निष्प्रतीकारा । 'गिरिपब्भारमभिगदा' गिरिप्राग्भारमभिगता । कीदृग ? 'बहुसावदसकड' बहुव्यालमृगाकुल । 'भीम' भयावह ॥१५३२॥

धिदिधणियबद्धकच्छा अणुत्तरविहारिणो सुदसहाया ।
साहिंति उत्तमट्ठ सावददाढंतरगदा वि ॥१५३३॥

गा०—नव कुल गण और सघके यश सम्पादनका अहकार करनेवाले लोकपूजित साधु स्वाभिमान त्यागकर साधुजनके लिये लज्जाके योग्य बुरा कर्म करेंगे क्या ? कभी नहीं करेंगे ॥१५२९॥

गा०—जो छोटी या बडी विपत्ति आने पर खिन्न होता है उस कायर पुरुषको धीर पुरुष नपुसक कहते हैं ॥१५३०॥

गा०—सज्जन पुरुष महती विपत्तिमें भी सुमेरुकी तरह अकम्प, सागरकी तरह गम्भीर और धैर्यशील रहते हैं ॥१५३१॥

गा०—कितने ही साधु समस्त परिग्रहको त्यागकर, अपने आत्मामें आत्माको आरोपित करके, प्रतीकार रहित होकर, बहुतसे व्याघ्र आदि हिंस जन्तुओंसे भरे भयकर पर्वतोंके शिखरोंपर

'धिदिघणियबद्धकच्छा' धृत्या नितरा बद्धकक्ष्या । 'अणुत्तरविहारिणो प्रकृष्टचारित्रा । 'सुदसहाया' श्रुतज्ञानसहाया । 'साधिति उत्तमट्ठं' साधयन्त्युत्तमार्थं रत्नत्रय । 'सावददाढंतरगदा वि' श्वापददंष्ट्रामध्यगता अपि ॥१५३३॥

भल्लक्किए तिरत्तं खज्जंतो घोरवेदणट्टो वि ।
आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावंतिसुकुमालो ॥१५३४॥

'भल्लक्किए तिरत्त खज्जतो' शृगालेन तिसृषु रात्रिषु भक्ष्यमाण । 'घोरवेदणट्टो वि' घोरवेदनाबाधितोऽपि । 'आराधण पवण्णो ज्झाणेण' शुभध्यानेनाराधना प्रपन्न । क ? 'अवंतिसुकुमालो' अवंतिसुकुमार ॥१५३४॥

[2]पोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवंतो ।
वग्घीए वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥१५३५॥

[3]पुद्गलगिरौ सुकोशलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याघ्र्या जननीचर्या भक्षित सन् प्रतिपन्न उत्तमार्थम् ॥१५३५॥

भूमीए समं कीला[4]कोडिददेहो वि अल्लचम्मं व ।
भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५३६॥

'भूमीए सम भूमौ सम । 'कीलाकोडिददेहो' कीलोत्कृतदेह । 'अल्लचम्म व' आर्द्रचर्मवत् । 'भयव पि' भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५३६॥

कच्छुजरखाससोसो भत्तच्छअच्छिकुच्छिदुक्खाणि ।
अधियासयाणि सम्मं सणक्कुमारेण वाससयं ॥१५३७॥

जाकर दृढ धैर्यको अपनाकर, उत्कृष्ट चारित्रपूर्वक श्रुतज्ञानकी सहायतासे सिंहादिके मुँहमे जाकर भी उत्तमार्थ रत्नत्रयकी साधना करते हैं ॥१५३२-३३॥

गा०—अवन्ती अर्थात् उज्जैनी नगरीमे सुकुमार मुनि तीन रात तक शृगालीके द्वारा खाये जानेपर घोर वेदनासे पीडित होते हुए भी शुभध्यानके द्वारा रत्नत्रयकी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५३४॥

गा०—पुद्गल या मुद्गल नामक पर्वतपर सिद्धार्थ राजाके प्रिय पुत्र भगवान् सुकौशल मुनि अपनी पूर्व जन्मकी माता व्याघ्रीके द्वारा खाये जानेपर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३५॥

गा०—पृथ्वीके साथ गीले चमडेकी तरह शरीरमे कीलें ठोककर एकमेक कर देनेपर भी भगवान् गजकुमार मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३६॥

गा०—सनत्कुमार मुनि ने सौ वर्षों तक खाज, ज्वर, खासी, सूखापन, तीव्र उदराग्नि, नेत्रपीडा, उदरपीडा आदिके दुःख बिना सक्लेशके धैर्यपूर्वक सहन किये ॥१५३७॥

---

१ णगोवि अ० आ० । २-३. मोगिल—मु०, मूलारा० । ४ कीलाहोडिद-अ० ।

'कच्छजरखाससोसो' कच्छूज्वरकासशोषा । 'भत्तच्छंदच्छिकुच्छिदुक्खाणि' तीव्रो जठराग्निः अक्षिदुःखं । कुक्षिदुःखं च । 'अधियासयाणि' असंक्लेशेन धृतानि 'सणक्कुमारेण' सनत्कुमारेण । 'वाससद' वर्षशतं ॥१५३७॥

णावाए णिव्वुडाए गंगामज्झे अमुज्झमाणमदी ।
आराधणं पवण्णो कालगओ एणियापुत्तो ॥१५३८॥

'णावाए णिव्वुडाए' नावि निमग्नायां च । 'गंगामज्झे' गंगाया मध्ये । 'अमुज्झमाणमदी' अमुह्यमानमतिः । 'आराधणं पवण्णो' आराधनां प्रतिपन्नः सन् । 'कालगओ' कालं गतः । 'एणियापुत्तो' एणिकपुत्रनामधेयो यतिः ॥१५३८॥

ओमोदरिए घोराए भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी ।
घोराए [1]तिगिंच्छाए[2] पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५३९॥

'ओमोदरिए घोराए' घोरेणावमोदर्येण तपसा समन्वितः । भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी' भद्रबाहुरसंक्लिष्टचित्तः । 'घोराए विगिंच्छाए' घोरया क्षुधा बाधितोऽपि । 'पडिवण्णो उत्तमं ठाणं' प्रतिपन्न उत्तमार्थं ॥१५३९॥

[3]कोसंबीललियघडा बूढा णइपूरएण जलमज्झे ।
आराधणं पवण्णा पावोवगदा अमूढमदी ॥१५४०॥
चंपाए मासखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए ।
घोराए धम्मघोसो पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५४१॥

'चंपाए' चम्पानगर्यां । 'मासखवणं करित्तु' मासोपवासं कृत्वा । 'गंगातडम्मि' गंगायास्तटे । 'तण्हाए घोराए' तृष्णया तीव्रया बाधितोऽपि । 'धम्मघोसो' धर्मघोषः । उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥१५४०–१५४१॥

गा०—गंगाके मध्यमें नाव डूबनेपर एणिक पुत्र नामके मुनि मोहरहित होकर मरणको प्राप्त हुए और आराधनाके धारक हुए ॥१५३८॥

गा०—घोर अवमोदर्य तपके धारी भद्रबाहु मुनि घोर भूखसे पीडित होनेपर भी संक्लेश रूप परिणाम न करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

गा०—कौशाम्बी नगरीमें सुखपूर्वक पाले गये इन्द्रदत्त आदि बत्तीस श्रेष्ठि पुत्र जलके मध्यमें यमुना नदीके प्रवाहके द्वारा प्रायोपगमन सन्यास पूर्वक मरणको प्राप्त हुए। उन्होंने मोह रहित होकर आराधनाको प्राप्त किया ॥१५४०॥

गा०—चम्पा नगरीमें एक मासका उपवास करते हुए धर्मघोष नामक मुनि गंगाके तटपर तीव्र प्याससे पीडित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

१–२ तिगिञ्छाए मु० मूलारा० । ३ एतां टीकाकारो नेच्छति ।

सीदेण पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण घोरेण ।
सतत्तो सिरिदत्तो पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४२॥

'सीदेण' शीतेन । 'सतत्तो' सतप्त । 'पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण' पूर्वजन्मशत्रुणा देवेनोत्पादितेन 'सिरिदत्त' श्रीदत्त । उत्तमार्थमुपगत ॥१५४२॥

उण्हं वाद उण्ह सिलादल आदव च अदिउण्ह ।
सहिदूण उसहसेणो पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥१५४३॥

'उण्ह वाद' उष्ण वात, 'उण्ह सिलादल' उष्ण शिलातल । 'आदव च अदिउण्ह' आताप चात्युष्ण 'सहिदूण' प्रसह्य वृषभसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४३॥

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ।
त वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४४॥

'रोहेडयम्मि' रोहेडगे नगरे । 'सत्तीए हओ' शक्त्या हत । कोंचेण' क्रौंचनामधेयेन । 'अग्गिदइदो वि' अग्निराजसुतोऽपि । 'त वेदणमधियासिय' ता वेदना प्रसह्य । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४४॥

काइदि अभयघोसो वि चडवेगेण छिण्णसव्वगो ।
त वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥१५४५॥

'काइदि अभयघोसो वि' काकन्द्या नगर्यां अभयघोषोऽपि । 'चडवेगेण छिण्णसव्वगो' चडवेगेन छिन्नसर्वांग ॥१५४५॥

दसेहिं य मसएहिं य खज्जतो वेदण पर घोर ।
विज्जुच्चरोऽधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४६॥

'दसेहिं य' दशैर्मशकैश्च भक्ष्यमाण विद्युच्चरस्ता वेदना अवगणय्य आराधना प्रपन्न ॥ १५४६॥

गा०—पूर्वभवके वैरी देवके द्वारा विक्रिया पूर्वक किये गये शीत से पीडित होकर श्रीदत्त मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४२॥

गा०—गर्म वायु, गर्म शिलातल और अत्यन्त गर्म आतापको सहन करके वृषभसेन उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४३॥

गा०—रोहतक नगरमे क्रोच नामक राजाके द्वारा शक्ति नामक शस्त्र विशेषसे मारा गया अग्नि राजाका पुत्र उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुआ ॥१५४४॥

गा०—काकन्दी नगरीमे चण्डवेगके द्वारा सब अगोंके छेद डालनेपर अभयघोष मुनि उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४५॥

गा०—डास मच्छरोंके द्वारा खाये जानेपर विद्युच्चर मुनि अत्यन्त घोर वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४६॥

हत्थिणपुरगुरुदत्तो सवलिथाली व दोणिमतम्मि
उज्झतो अधियामिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥१५४७॥

'हत्थिणपुरगुरुदत्तो' हास्तिनापुरवास्तव्यो गुरुदत्त । 'सबलियालीव' हरितमकोश निरामाख [?] पूर्णभाजन शर्करपत्रपिहितमिद मुख अधोमुख मस्थाप्य उपरिभाजनम्य अग्निप्रक्षेप सवलीत्युच्यते । तद्वच्छिरसि निक्षिप्ताग्नि । 'दोणिमतम्मि' द्रोणीमत्पर्वते दह्यमान प्रपन्न उत्तमाथ ॥१५४७॥

गाढप्पहारविद्धो पूइंगलियाहिं चालणीव कदो ।
तध वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥१५४८॥

'गाढप्पहारविद्धो' नितरामायुधैर्विद्ध । 'पूइगलियाहिं' कृष्णै स्थूलोत्तमाङ्गै पिपीलिकाभि । 'चालणीव कदो' चालनीव कृतश्चिलातपुत्रस्तथाप्युत्तमाथमुपगत ॥१५४८॥

दडो जउणावकेण तिक्खकडेहिं पूरिदगो वि ।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥१५४९॥

'दडो' दडनामको यति । 'जमुणावकेण' यमुनावक्रसंज्ञितेन । 'तिक्खकडेहिं' तीक्ष्णै शरै 'पूरितागोऽपि' रत्नत्रय समाराधयति स्म ॥१५४९॥

अभिणदणादिया पचसया णयरम्मि कुभकारकडे ।
आराधण पवण्णा पीलिज्जता वि यंतेण ॥१५५०॥

'अभिणदणादिगा' अभिनन्दनप्रभृतय पञ्चशतसख्या, कुम्भकारकटे नगरे यत्रेण पीड्यमाना अप्याराधना प्राप्ता ॥१५५०॥

गा०—हस्तिनापुर नगरके वासी गुरुदत्त मुनि द्रोणगिरि पर्वतपर सबलियालीकी तरह जलते हुए उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४७॥

विशेषार्थ—एक पात्रमे उडदकी फलिया भरकर उसे आकके पत्तोमे ढाककर, उस पात्रका मुख नीचेको करके चारो ओर आगसे घेर देनेपर सबलियाली कहते हैं। द्रोणगिरि पर्वतपर गुरुदत्त मुनिके सिरपर आग जला दी गई थी। बृ० क० कोषमें १३९ नम्बर पर इनकी कथा विस्तारसे दी है।

गा०—चिलातपुत्र नामक मुनिका शरीर काली चीटियोके तीव्र डक प्रहारसे चलनीकी तरह बीध दिया गया था। फिर भी उन्होने उत्तमार्थको प्राप्त किया ॥१५४८॥

गा०—दण्ड नामक मुनिके शरीरको यमुनावक्र नामके राजाने तीक्ष्ण बाणोंसे छेदकर भर दिया था। फिर भी वे उसकी वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४९॥

विशेषार्थ—द० क० कोषमे मुनिका नाम धान्यकुमार दिया है उनकी कथाका क्रमाक १४१ है।

गा०—कुम्भकारकट नामक नगरमे अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि कोल्हूमे पेल दिये जानेपर भी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५०॥

[1]गोट्ठे पाओवगदो सुबंधुणा गोव्वरे पलिवदम्मि ।
उज्झंतो चाणक्को पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५५१॥
वसदीए पलविदाए रिट्ठामच्चेण उसहसेणो वि ।
अराधण पवण्णो सह परिसाए कुणालम्मि ॥१५५२॥

'वसदीए पलविदाए' वसतौ दग्धायां । रिट्ठामच्चनामधेयेन वृषभसेन सह मुनिपरिषदा प्रतिपन्न आराधनाम् ॥१५५१–१५५२॥

जदिदा एव एदे अणगारा तिव्ववेदणट्टा वि ।
एयागी अपडियम्मा पडिवण्णा उत्तम अट्ठं ॥१५५३॥

'जदिदा' एव यदि एदे तावदेवमेते 'अणगारा' यतयस्तीव्रवेदनापीडिता अपि एकाकिनोऽप्रतीकारा उत्तमार्थं पतिपन्ना ॥१५५३॥

किं पुण अणयारसहायगेण [2]कीरयंत पडिकम्मो ।
सघे ओलग्गते आराधेदुं ण सक्केज्ज ॥१५५४॥

'किं पुण अणगारसहायगेण' किं पुनर्न शक्यते आराधयितु अनगारसहायेन भवता क्रियमाणे प्रतिकारे सघे चोपासना कुर्वति सति ॥१५५४॥

जिणवयणममिदभूद महुर कण्णाहुदिं सुणतेण ।
सक्का हु सघमज्झे साहेदुं उत्तम अट्ठं ॥१५५५॥

'जिणवयण' जिनाना वचन । अमृतभूत, मधुर कर्णाहुति शृण्वता त्वया सघमध्ये शक्यमाराधयितु ॥१५५५॥

गा०—चाणक्य मुनि गोकुलमे प्रायोपगमन सन्यासमे स्थित थे। सुबन्धु नामक मत्रीने कण्डोंके ढेरमे आग लगा दी। उसमे जलकर चाणक्य मुनि उत्तम अर्थको प्राप्त हुए ॥१५५१॥

गा०—कुणालपुरीमे रिष्ट नामक मत्रीके द्वारा वसतिकामे आग लगानेपर वृषभसेन मुनि अपने शिष्य परिवारके साथ आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५२॥

गा०—इस प्रकार यदि ये मुनि अकेले प्रतीकार किये विना तीव्र वेदनासे पीडित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५५३॥

गा०—तो तुम्हारी सहायताके लिये तो मुनि समुदाय है वह तुम्हारे कष्टका इलाज करता है, तुम्हारे साथ उपासना करता है तब तुम आराधना क्यों नहीं कर सकते ॥१५५४॥

गा०—अमृतके समान मधुर जिन-वचन तुम्हारे कानोंमे जाता है। उसे सुनते हुए सघके मध्यमे तुम्हारे लिये आराधना करना सरल है ॥१५५५॥

---

१ एना टीकाकारो नेच्छति । २. कीरतयम्मि पडिकम्मे —आ० मु० ।

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य सतेण ।
ज पत्त इह दुक्ख त अणुचितेहि तच्चित्तो ॥१५५६॥

'णिरयतिरिक्खगदीसु य' नरकतिर्यग्गतिषु च । 'माणुसदेवत्तणे य सतेण' मानुषत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्त इह सुखानन्तर दुःख 'त अणुचितेहि' तद्गतचित्तस्तदनुचिन्तय ॥१५५६॥

णिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादबहुलाओ ।
कायणिमित्त पत्तो अणंतखुत्तो व बहुविधाओ ॥१५५७॥

'णिरएसु' नरकेषु । 'वेदणाओ' वेदना । 'अणोवमाओ' अनुपमा । तादृश्या वेदनाया जगत्यन्यस्या अभावात् । 'असादबहुलाओ' असद्वेद्यकर्मबहुल्ग । कारणबहुलत्वेन कार्यानुपरतिराख्याता । 'कायणिमित्त पत्तो' शरीरनिमित्तासयमार्जितकर्मनिमित्तत्वान्मूलकारण निर्दिष्ट कायनिमित्तमिति । 'अणतसो' अणतवार । 'तं' भवान् 'बहुविधाओ' बहुविधा ॥१५५७॥

उष्णनरकेषु उष्णमहत्तासूचनार्थोत्तरा गाथा—

जदि कोइ मेरुमत्त लोहुण्डं पक्खिविज्ज णिरयम्मि ।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलिज्ज मो तत्थ ॥१५५८॥

'णिरयम्मि उण्ह 'लोहुण्ड मेरुमत्त जदि कोइ पक्खिवेज्ज' उष्णनरके लोहपिण्ड मेरुसमान यदि कश्चिद्देवो दानवो वा प्रक्षिपेत् । 'सो तत्थ भूमिमपत्तो चेव विलिज्ज'[2] लोहपिण्डा भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुपयाति । 'उण्हेण' उष्णेन नरकबिलाना ॥१५५८॥

गा०—नरकगति, तिर्यञ्चगतिमे और मनुष्य पर्याय तथा देवपर्यायमे रहते हुए तुमने जो दुःख सुख भोगा, उसमे मन लगाकर उसका विचार करो ॥१५५६॥

गा०-टी०—इस शरीरके निमित्त किये गये असयममे उपार्जित कर्मके निमित्तमे तुमने नरकोमे अनन्तवार नाना प्रकारकी तीव्र वेदना असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयमे भोगी हैं। इस प्रकारकी वेदना जगत्मे दूसरी नही है। उसका मूल कारण यह शरीर है। उसीके निमित्तमे होनेवाले असयमके कारण असातावेदनीयका तीव्रबन्ध होकर वह नरकमे प्रचुरतामे उदयमे आता रहता है। अत कारणकी बहुलता होनेसे वेदना रूप कार्य निरन्तर हुआ करता है ॥१५५७॥

आगेकी गाथामे उष्ण नरकोमे उष्णताकी महत्ता बतलाते हैं—

गा०—यदि कोई देव या दानव मेरुके समान लोहेके पिण्डको उष्ण नरकमे फेंके तो वह लोहपिण्ड वहांकी भूमिको प्राप्त होनेसे ही पहले मार्गमे ही नरकबिलोकी उष्णतामे पिघल जाये ॥१५५८॥

१–२ लोहपिण्ड आ० । ३ विलाइज्ज –अ० आ० ।

तह चेव [1]य तद्देहो पज्जलिदो सीयणिरयपक्खित्तो ।
सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सडिज्ज लोहुण्डं ॥१५५९॥

'तह चेव' तथैव । 'तद्देहो' मेरुमात्रदेह । 'लोहुडो' लोहपिण्ड । 'पज्जलिदो' प्रज्वलित । 'सीदणिरयम्मि' शीतनरके । 'पक्खित्तो' प्रक्षिप्तो भूमिमप्राप्त एव । 'सीदेण सडिज्ज' शीतेन विशीर्यते ॥१५५९॥

शीतोष्णजनितवेदनातिशयमुद्दिश्य शारीरवेदनामाचष्टे—

होदि य णरये तिव्वा सभावदो चेव वेदणा देहे ।
चुण्णीकदस्स वा मुच्छिदस्स खारेण सित्तस्स ॥१५६०॥

'होदि य णरये तिव्वा' भवति च नरके तीव्रं वेदना । 'देहे' शरीरे । 'सभावदो चेव' स्वभावत एव । 'चुण्णीकदस्सेव' चूर्णीकृतस्येव । 'खारेण सित्तस्स' क्षारेण सिक्तस्य । 'अमुच्छिदस्स' अमूर्छितस्य । यादृशी वेदना तादृश्येव शरीरे वेदनेति यावत् ॥१५६०॥

णिरयकडयम्मि पत्तो ज दुक्ख लोहकटएहिं तुम ।
णेरइहिं य[2] तत्तो पडिओ ज पाविओ दुक्ख ॥१५६१॥

'णिरयकडयम्मि' नरकबिलसमूहे-नरकस्कन्धावारे इति केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरयगर्त इति । 'पत्तो ज दुक्ख' यद्दु ख प्राप्त । 'लोहकटएहिं' निशिततरलोहकण्टकै तुद्यमानस्त्व ॥१५६१॥

ज कूडसामलीए दुक्ख पत्तोसि ज च सूलम्मि ।
असिपत्तवणम्मि य ज ज च कय गिद्धककेहि ॥१५६२॥

'ज कूटसामलीहि य' यद्दु ख प्राप्तोऽसि विक्रियाजनितनिशातशाल्मलीभि । ऊर्ध्वमुखैरधोमुखैश्च-तीक्ष्णकण्टकैराकीर्णा कूटशाल्मलीरारोहन् नारकभयात । 'ज च सूलम्मि' यच्च दु खमवाप्नोमि शूलाग्रप्रोत ।

गा०—उसी प्रकार उस पिघले हुए मेरु प्रमाण लोहपिण्डको यदि शीत नरकमे फेंका जाये तो भूमिको प्राप्त होनेमे पहले ही वह वहाँके शीतमे जमकर खण्ड-खण्ड हो जाय ॥१५५९॥

शीत और उष्णसे होनेवाली वेदनाकी महत्ता बतलाकर शारीरिक वेदना कहते हैं—

गा०—जैसे किसी मूर्छारहित मनुष्यके शरीरको कुचलकर उसे खारे तप्त तेलसे सीचनेपर जैसी वेदना होती है वैसी ही तीव्र वेदना नरकमे नारकोके शरीरमे स्वभावसे ही होती है॥१५६०॥

गा०—नरकरूपी स्कन्धावारमे अथवा गढेमे नारकियोके द्वारा लोहेके अत्यन्त नुकीले काटोपर घसीटे जानेसे तुमने जो दु ख भोगा उसका विचार करो ॥१५६१॥

गा०-टी०—विक्रियामे रचे गये तीक्ष्ण शाल्मली वृक्षोपर, जो ऐसे काटोसे घिरे होते हैं जिनमेसे कुछ काटोका मुख ऊपरकी ओर और कुछका नीचेकी ओर होता है, नारकियोके भयमे डरकर चढते हुए तुमने जो दु ख भोगा। सूलोके अग्र भागपर चढाये जानेपर तुमने जो दु ख

[1] यदा तद्देहो च्चिय प-ज० । [2] य सत्तो पडिदो तिमखेहि तुद्दतो' —इति अन्येषा पाठ ।
—मूलारा० ।

'असिपत्तवणम्मि य ज असय एव पत्राणि यस्मिन्वने तदसिपत्रवन । उष्णार्दिताना पूत्कुर्वता नारकाणा असिपत्रवनेऽनेकासुरविक्रियाविनिर्मितविचित्रायुधपत्राणि वनानि । 'ज च कय' यच्च कृत । 'गिद्धककेहिं' गृद्धै कङ्कैश्च वज्रमयैस्तुण्डै[1] ते लुञ्चनैस्तुदन्ति । तीक्ष्णीकृतक्रकचसदृशै पक्षै प्रहरन्ति[2] नितान्तखरपरुषैश्चरणाङ्कुशैस्ताडयन्ति ।।१५६२।।

सामसबलेहिं दोस वइतरणीए य पाविओ ज सि ।
पत्तो कयवत्तालुयमइगम्ममसायमतितिव्व ।।१५६३।।

'सामसबलेहिं' श्यामशबलसज्ञितैरसुरै । 'दोस' दोष दण्डाना । 'वइतरणीए य पाविओ ज सि' वैतरण्या नद्या प्रापितो यदसि । तृडभिभूताना जल मृगयता दिक्षु विन्यस्तदीनलोचनाना शुष्कतालुगलाना वैतरणीनदीमुपदर्शयन्ति । रङ्गत्तरङ्गाकुला, अगाधनीलनीरभरितह्रदा, विषयसुखमेवेव दुरन्ततृष्णानुबन्धनोद्यता, समृतिरिव दुरुत्तरा, आशेव विशाला, कर्मपुद्गलस्कधसहतिरिव विचित्रविपद्विधायिनी, तद्दर्शनाद्दूरादेवोपजातोत्कठा लब्धजीवितास्सवृत्ता स्म इति मन्यमाना द्रुततरगतयस्तामवगाहन्ते । तदवगाहनानन्तरमेव कृताजलय पिबन्ति ताम्रद्रवसन्निभ तदम्भ । परुषवचनमिव हृदयदाहविधायि, हा विप्रलब्धा स्मति करुण रसता शिरासि परुपतमसमीरणप्रेरणोत्थिततरङ्गासिधारा निकृन्तन्ति करचरणानि च । तेनातिक्षारेणोष्णेन, कालकूटविषायमानेन जलेन, व्रणान्तरप्रवेशिना दह्यमाना झटिति घटितकरचरणास्तटमेव रटन्त समारोहन्ति । तेपा च

भोगा। जिस वनमे तलवारकी धारके समान पत्ते होते हैं उसे असिपत्र वन कहते हैं। गर्मीसे पीडित नारकी असिपत्र वनमे जाते हैं जो अनेक असुर कुमार देवोकी विक्रियाके द्वारा निर्मित विचित्र आयुध रूप पत्रोसे युक्त होते हैं और उन आयुध रूप पत्तोके गिरनेपर उनका सर्वांग छिद जाता है। तथा गृद्ध और कङ्क पक्षि अपनी वज्रमय चोचोमे उन्हे नोचते हैं तीक्ष्ण आरेके समान पखोसे प्रहार करते हैं। अत्यन्त तीक्ष्ण कठोर चरणरूपी अकुशोमे मारते हैं। इन सबका जो दु ख तुमने भोगा ।।१५६२।।

गा०-टी०—श्याम शवल नामक असुर कुमारोके द्वारा वैतरणी नदीमे तुमने जो दण्ड भोगा। जब नारकी प्याससे व्याकुल होकर जलकी खोजमे होते हैं और उनकी आँखें दीन तथा कण्ठ और तालु सूख जाता है तो उन्हे वैतरणी नदी दिखलाई जाती है। वह रगीन तरगोसे व्याप्त और अगाध नीले जलसे भरी होती है, विषय सुख सेवनकी तरह तृष्णाकी परम्पराको बढाने वाली होती है, ससारकी तरह उसे पार करना कठिन होता है, आशाकी तरह विशाल होती है, कर्मपुद्गलोके स्कन्धोके समूहकी तरह अनेक विपत्तियां लानेवाली होती है। उसको देखकर दूरसे ही उनकी उत्कण्ठा बढ जाती है। अब हम जी गये, ऐसा मानते हुए दौडकर नदीमे प्रवेश करते हैं। प्रवेश करते ही हाथोकी अजलि बनाकर पिघले हुए तामेके समान उसके जलको पीते हैं। वह जल कठोर वचनकी तरह हृदयको जलानेवाला होता है। 'अरे हम ठगाये गये' ऐसी करुण चीतकार करते हुए उनके सिर और हाथ पैरोको अत्यन्त कठोर वायुसे प्रेरित लहरें, जो तलवारकी धारके समान होती हैं, काट देती हैं। तब कालकूट विषके समान अत्यन्त खारा गर्म जल उनके घावोमे जाता है। उससे जलते हुए वे तत्काल तटकी ओर जाते हैं। उनके कटे हाथ

---

१ तुण्डै तरललोचनै —आ० मु०। ते हि वज्रमयैस्तुण्डैर्नेत्राणि नुदन्ति। २ रन्ति नित्य नखर —आ० मु०।

ग्रीवासु श्यामशवला महती शिलावज्रशृङ्खलाप्रोता बध्नन्ति दुर्विमोचा । बद्ध्वा च तस्यामेव पातयन्ति। पातितास्तत्र कृतोन्मज्जननिमज्जनानामुत्तमाङ्गानि असुरविक्रियानिर्मितमहामकरकरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतन्ति । पुनश्च तटमारूढा[1]न्गच्छतस्तास्तरुभूय निश्चल बध्नन्ति । तानपरिस्पन्दमवस्थितांल्लक्षीकृत्य विध्यन्तीति निशातशरशतसहस्रं । 'पत्तो कयववालुगमदिगम्म' प्राप्त कदम्बप्रसूनाकारा[2]वालिका चित्तदु-प्रवेशा , दलालङ्कृतखदिराङ्गारकणप्रकरोपमाना परिप्राप्य तत्र बलात्मचार्यमाण यत्प्राप्तवानसि दु ख तच्चिन्ते[3] वज्रकुह ॥१५६३॥

ज णीलमडवे तत्तलोहपडिमाउले तुमे पत्त ।
ज पाइओसि खार कडुय तत्त कलयल च ॥१५६४॥

'ज पत्त त चिंतेहि' यत्प्राप्त दु ख तच्चिन्तय । क्व ? 'णीलमडवे' काललोहघटिते मण्डपे । 'तत्तलोह-पडिमाउले' तप्तलोहप्रतिमाकुले । बलात्कारसपाद्यमानस्तप्तलोहप्रतिमायुवत्यालिंगितो यद्दु ख प्राप्तवानसि तन्मर्नास निधेहि । 'ज पाइदोऽसि खार' यत्पायितोऽसि क्षार । 'कडुग' कटुक । 'तत्त' तप्त ॥१५६४॥

ज खाविओसि अवसो लोहगारे य पज्जलते त ।
कडुसु ज सि रद्धो ज सि कवल्लीए तलिओ सि ॥१५६५॥

'ज खाविओसि' यत्खादितोऽसि । 'अवसो'ऽवश । बलाद्यन्त्रविदारितानन । 'लोहगारे य पज्जलंते' त लोहाङ्गारान्प्रज्वलत स्व । 'कडसु ज सि रद्धो' कदुकासु यन्मण्डका इव पक्व ॥१५६५॥

पैर तत्काल जुड जाते है। उनकी गर्दनोमे भारी शिलाएँ वज्रमयी साकलसे बाँध देते हैं जिनको खोलना अति कठिन होता है और उन्हे पुन उसी वैतरणीमे डाल देते है। उसमे गिराये जानेपर वे डूबते उतराते हैं। असुर कुमारोकी विक्रियासे बनाये गये महामच्छोके प्रहारसे उनके मस्तक छिन्न-भिन्न होकर गिर जाते हैं। पुन वे तट पर जाते हैं और उन्हे पुन निश्चल बाध देते हैं। तब उन निश्चल स्थित नारकियोको लक्ष करके लाखो तीक्ष्ण बाणोसे बीध देते हैं। पुन कदम्बके फूलोके आकार वाली बालूमे, जिसमे बालिकाके चित्तकी तरह प्रवेश करना कठिन है और जो वज्रमयदलसे शोभित है तथा खैरकी लकडीके अगारोके कण समूहकी तरह गर्म है, उसमे बल-पूर्वक चलाये जानेपर तुमने जो दु ख पाया है उसका विचार करो ॥१५६३॥

गा०—काललोहमे निर्मित मण्डपमे तपाये हुए लोहेसे बनी प्रतिमारूपी युवतियोसे बल-पूर्वक आलिंगन कराये जानेपर तुमने जो दु ख पाया उसका विचार करो। तथा खारा कडुआ तपा हुआ कलकल पिलाये जानेपर जो दु ख पाया उसका चिन्तन करो ॥१५६४॥

विशेषार्थ—ताम्बा, सीसा, मज्जी, गूगल आदिको पकाकर जो काढा तैयार होता है उसे कलकल कहते हैं।

गा०—बलपूर्वक यन्त्रके द्वारा तुम्हारा मुह फाडकर जो तुम्हे जलते हुए लोहेके अगार खिलाये गये और भट्टीमे माडकी तरह पकाया गया तथा कडाहीमे तला गया ॥१५६५॥

---

१ ढानुगच्छत तस्तत्र भय–अ० । ढान्सत नद्भय–ज० । २ धारावलिकावाल्काचि–ज० । ग तेषा ता शिला पुनर्नि–मूलारा० । ३ तच्चिन्तय–मु० ।

कुट्टाकुट्टिं चुण्णाचुण्णिं मुग्गरमुसुंढिहत्थेहिं ।
जं वि सखंडाखंडि कओ तुमं जणसमूहेण ॥१५६६॥

'कुट्टाकुट्टिं बहुशो' यत्कुट्टितश्चूर्णितः मुद्गरमुसंडिहस्तैः, यच्च जनसमूहेन भवान् असकृत्खण्डितस्तदन्तःकरणे कुरु ॥१५६६॥

अनुवृत्तिक्रिया भाषा सन्नतिः सुखशीलता ।
त्रपा कृपा दमो दानं प्रसादो मार्दवं क्षमा ॥१॥
इत्येवमाद्याः सुगुणाः प्रशस्ता ये शरीरिणां ।
तेषु ते दुर्लभा नित्यं कान्तारेष्विव मानुषाः ॥२॥
शत्रुर्मित्रमुदासीन इत्यन्यत्र त्रिधा जनः ।
शत्रुरेव हि सर्वोऽत्र जनः सर्वस्य नारकः ॥३॥
कम्पनैः क्रकचैश्चक्रैर्नाराचैः क्रकचैर्नखैः ।
गदाभिर्मुशलैः शूलैः प्रासैः पाषाणपट्टिशैः ॥४॥
मुष्टिभिर्यष्टिभिर्लोष्टैः शङ्कुभिः शक्तिभिः शरैः ।
असिभिः क्षुरिकाभिश्च कुन्तैर्दण्डैः सतोमरैः ॥५॥
तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्नैकसंस्थितैः ।
भूस्वभावात्स्वयं जातैर्वैक्रियैरपि चायुधैः ॥६॥
नारकास्तत्र तेऽन्योन्यं रोषवेगेन पूरिताः ।
पूर्ववैराण्यनुस्मृत्य वैभङ्गज्ञानसंभवात् ॥७॥
घ्नन्ति छिंदंति भिंदंति खादंति च तुदंति च ।
विध्यंति चापैर्मंथन्ति प्रहरन्ति हरन्ति च ॥८॥
श्वशृगालवृकव्याघ्रगृध्ररूपाणि चापरे ।
विकृत्य विदयं पापा बाधतेऽत्र परस्परं ॥९॥

गा०-टी०—अनेक बार हाथमें मुद्गर लेकर तुम्हें कूटा गया, मूसलोंसे जनसमूहने तुम्हें चूर्ण कर डाला। उसका मनमें विचार करो।

अनुकूल क्रिया, भाषा, सज्जनता, नम्रता, सुखशीलता, लज्जा, दया, इन्द्रिय दमन, दान, प्रसन्नता, मार्दव, क्षमा आदि जो प्रशस्त सुगुण प्राणियोंमें होते हैं वे गुण नरकमें वैसे ही दुर्लभ हैं जैसे घोर वनमें मनुष्यका मिलना दुर्लभ है। अन्यत्र शत्रु, मित्र और उदासीन तीन प्रकारके लोग होते हैं। किन्तु नारकी सब सबके शत्रु ही होते हैं। नरकमें नारकी अपने विभंगज्ञानसे पूर्व जन्मके वैरोंको स्मरण करके और क्रोधसे भरकर चक्र, बाण, करोत, नख, गदा, मूसल, शूल, भाला, पाषाणसे निर्मित अस्त्र विशेष, मुट्ठी, लकडी, लोष्ट, शङ्कु, शक्ति, तलवार, छुरी भाला, दण्डा, गुर्ज तथा इसी प्रकारके अन्य तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्रोंसे जो वहाँकी पृथिवीके स्वभावसे स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं तथा विक्रियासे निर्मित आयुधसे परस्परमें मारते हैं, छेदते भेदते हैं, खाते हैं कोंचते हैं, प्रहार करते हैं, बींधते हैं। अन्य नारकी कुत्ता, सियार, भेडिया, व्याघ्र, गृद्ध

काष्ठशैलशिलारूपैर्निपतति च केषुचित् ।
पततस्तान्प्रतीच्छति ते च शूलाग्रसंस्थिता ॥१०॥
मज्जयति जलीभूय वायूभूय नुदति च ।
दहति दहनीभूय न दयति परस्पर ॥११॥
तिष्ठ दासीव हन्ति त्वा त्व कुतस्त्य पलायसे ।
निगूहसे महामोहा-मृत्युस्त्वा समुपस्थित ॥१२॥
छिद्धि भिद्धि तुदाकर्ष रु द्धि दधि बधान त ।
बधानेन मुदानाशु दह च्छादय मारय ॥१३॥
प्रबधे पातयाप्येन तुद पिंडीं प्रदीपय ।
विशसेति च सरम्य त मु चति गिरोऽशुभा ॥१४॥

जनेनेदृशा नारकेण प्रापितवेदना बुद्धि निरूपयति—

ज [1]अवद्धदो उप्पाडिदाणि अच्छीणि णिरयवासम्मि ।
अवमस्स उक्खया ज सतूलमूलाय ते जिब्भा ॥१५६७॥

'ज अवद्धदो उप्पाडिदाणि' शिर पृष्ठदेशादुत्पाटिते । 'अच्छीणि' लोचने । 'णिरयवासे य' नरकवासे च । 'अवसस्स' अवशस्य । 'उक्खाता' उत्पाटिता । 'ज' यत् । 'सतूलमूलाय ते जिब्भा' निरवशेषा ते जिह्वा ॥१५६७॥

कुभीपाएसु तुम उक्कढिओ ज चिर पि[2] व सोल्ल ।
ज सुठ्ठिउव्व णिरयम्मि पउलिदो पावकम्मेहिं ॥१५६८॥

'कुभीपाएसु तुम' कुभीपाकेषु त्व । 'उक्कड्ढिदो' उत्क्वथित । 'ज सुट्ठिउव्व' शूलप्रोतमासवत् । 'णिरयम्मि' नरके । 'पोलिदो' अगारप्रकरे पक्व । 'पावकम्मेहिं' पापकर्मभि ॥१५६८॥

आदिका रूप अपनी विक्रियासे बनाकर विस्तारपूर्वक परस्परमे कष्ट देते है । कुछ काष्ठ, पर्वत और शिलारूप बनकर उनपर बरसते है । उनको अपने ऊपर गिरते देखकर दूसरे नारकी जो सूलीके अग्र भागपर टँगे होते हैं उन्हे ग्रहण करते हैं । वे नारकी जल बनकर दूसरे नारकियोको डुबाते हैं, वायु बनकर उडाते हैं । आग बनकर जलाते है । परस्परमे दया नही करते । अरे दासीपुत्र ! ठहर, कहाँ भागा जाता है । मैं तुझे मारूँगा । तेरी मृत्यु आ गई है । इसका छेदन करो, भेदन करो, पकड लो, खीच लो, मार डालो, जला डालो, चीर दो इत्यादि अशुभ वचन बोलते है ॥१५६६॥

नारकी जीवने इस प्रकार जो वेदना भोगी उसे कहते है—

गा०—नरकमे सिरके पिछले भागसे तेरी आँखें निकाली गई । और पराधीनतावश तेरी पूरी जिह्वा जडमूलसे उखाडी गई ॥१५६७॥

गा०—पापी नारकियोके द्वारा नरकमे तुम चिरकाल तक कुम्भीपाकमे औटाये गये । तथा सूलमे पिरोये मासकी तरह अगारोपर पकाये गये ॥१५६८॥

---

१ आवट्टग्गा मु० । अवद्धदो मूलारा० । २ पि सोल्लगे अ० ज० । सोल्ल घृतमिश्रित तैल वघलेप इत्यन्य –मूलारा० ।

ज भज्जिदोमि भज्जिदगपि व ज गालिओमि रमय व ।
ज कप्पिओमि वल्लूरय व चुण्णं व चुण्णकदो ॥१५६९॥

'ज भज्जिदोसि' यद्भृष्टोऽसि 'भजिदवपि' भज्जिदगनामधेयशाकवन । 'ज गालिओसि रसगोव्व' यद्गालितोऽसि रमवन । 'ज कप्पिदोसि' यत्कृ नित । 'ज छिन्नो सि' यत् छिन्न । 'वल्लूरय पि व' वल्लूरवत् । 'चुणव' चूर्णवत् 'चुणकदो' चूर्णीकृत ॥१५६९॥

चक्केहिं करकचेहि य ज सि णिकत्तो विकत्तिओ ज च ।
परसूहिं फाडिओ ताडिओ य ज त मुसुंढीहि ॥१५७०॥

'चक्केहिं करकचेहिं' चक्रै क्रकचैश्च । ज सि णिकत्तो' यदसि निकृत्त । विकत्तिदो' विविध कृत्त । 'परसूहि फालिदो' परशुभि पाटित । 'ताडिदो' ताडित । 'ज' यत् त्व 'मुसु ढीहिं' मुसुंढीभि ॥१५७०॥

पासेहिं ज च गाढ वद्धो भिण्णो य ज सि दुघणेहि ।
ज खारकद्दमे खुप्पिओ मि ओमच्छिओ अवसो ॥१५७१॥

'पासेहिं' पाशैं । 'ज' यत् । 'गाढ बद्धो' दृढ बद्ध । 'भिण्णो य भिन्नश्च । ज सि' यदसि । 'दुघणेहि' घनै । 'ज' यत् । 'खारकद्दमे' क्षारकर्दमे । 'खुप्पिदोसि निखातोऽसि । 'ओमच्छिओ' अधोमस्तक । 'अवसो' परवश ॥१५७१॥

ज छोडिओमि ज मोडिओमि ज फाडिओसि मलिदो सि ।
जं लोडिदोसि सिंघाडएसु तिक्खेसु वेएण ॥१५७२॥

यद्भग्न , पाटित , मर्दित , लोठितश्च तीक्ष्णेषु शृगाटकेषु वेगेन ॥१५७२॥

विच्छिण्णगोवगो खार सिंच्चित्तु वीजिदो ज मि ।
सत्तीहि वि[1]मुक्कीहि य अदयाए खुंचिओ ज मि ॥१५७३॥

'विच्छिन्नगोवगो' विच्छिन्नागोपाग । 'खार सिंच्चित्तु' क्षार सिक्त्वा । 'वीजिदो ज सि यद्वीजित ।

गा०—तुम भाजीकी तरह भूंजे गये हो। गुडके रसकी तरह छाने गये हो। मासके टुकडोकी तरह काटे गये हो और चूर्णकी तरह चूर्ण किये गये हो ॥१५६९॥

गा०—चक्रके द्वारा छेदे गये हो। आरेके द्वारा चीरे गये हो। परसुके द्वारा फाडे गये हो। और मुसुढी अस्त्र विशेषसे पीटे गये हो ॥१५७०॥

गा०—पाशके द्वारा मजबूतीसे बाधे गये हो। घनोके द्वारा छिन्न-भिन्न किये गये हो। पराधीन होकर खारी कीचडमे नीचेको मस्तक करके गाडे गये हो ॥१५७१॥

गा०—जो विदारे गये हो। मोडे गये हो, फाडे गये हो, पैरोंसे मले गये हो, तथा वेगसे तीक्ष्ण लोहमयी सिंघाडोपर घसीटे गये हो ॥१५७२॥

गा०— अग उपागके विच्छिन्न होनेपर खारे जल आदिसे सींचे गये। फिर पखाने

---

१ सुतिक्खीहि आ० ।

'सत्तीहिं' शक्तिभि । 'विमुक्कीहिं य' अयोमयकण्टकाग्रैर्दण्डैः । 'अदयाए' दयामन्तरेण । 'खुचिदो' परा-वर्तित ॥१५७३॥

पगलतरुधिरधारो पलंबचम्मो पभिन्नपोट्टसिरो ।
पउलिदहिदओ ज फुडिदच्छो पडिचूरियंगो य ॥१५७४॥

'पगलतरुधिरधारो' प्रगलद्रुधिरधार । 'पलंबचम्मो' प्रलम्बत्वक् । 'पभिन्नपोट्टसिरो' प्रभिन्नोदर शिरा । 'पउलिदहिदओ' प्रतप्तहृदय । 'जं' यत । 'फुडिदच्छो' स्फुटितलोचन । 'पडिचूरिदंगो य' परिचूर्णि-ताङ्ग ॥१५७४॥

जं [1]चडवडित्तकरचरणंगो पत्तो सि वेदणं तिव्वं ।
णिरए अणंतखुत्तो त अणुचिंतेहिं णिस्सेस ॥१५७५॥

'ज' यत । 'चडवडितकरचरणगो' वेपमानकरचरणाङ्ग । पत्तो सि वेदण तिव्व' प्राप्तोऽसि वेदना तीव्रा । 'णिरए' नरके । 'अणतखुत्तो' अनतवार तत् अणुचिंतेहिं' अनुक्रमेण चिन्तय । णिस्सेस' निरवशेष ॥ नरकगतिदु ख वर्णितम ॥१५७५॥

तिरियगदि अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ।
जम्मणमरणरहट्ट अणतखुत्तो परिगदो जं ॥१५७६॥

'तिरियगदि अणुपत्तो' तिर्यग्गतिमनुप्राप्त । 'भीममहावेदनाउलमपार' । भीममहावेदनाकुलमपार 'जम्मणमरणरहट्ट' जन्ममरणघटीयत्र । 'अणतखुत्तो' अनतवार । 'परिगदो' परिप्राप्तोऽसि । यत् चिंतेहि त इति वक्ष्यमाणेन सबन्ध । तिर्यंचो हि नानाविधा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदेन ॥१५७६॥

हवा की गई जिससे वेदना बढे। फिर शक्ति नामक अस्त्रसे और लोहेके दण्डेसे जिसमें आगे काटे लगे हो, निर्दयतापूर्वक खीचे गये ॥१५७३॥

गा०—रुधिरकी धार वह रही है, चमडा लटक रहा है, उदर और सिर फट गया है, हृदय दुखसे सतप्त है, आंखें फूट गई है। समस्त शरीर छिन्न-भिन्न है ॥१५७४॥

गा०—हाथ पैर कापते है। ऐसी दशामे तुमने नरकमें जो अनन्त बार तीव्र कष्ट भोगा उस सबका क्रमसे चिन्तन करो ॥१५७५॥

नरकगतिके दुखका वर्णन समाप्त हुआ।

गा०-टी०—नरकसे निकलकर तुम तिर्यञ्चगतिमे आये। यह जन्म मरणरूपी घटीयन्त्र (रहट) भयानक महावेदनाओसे भरा है, इसका पार नही है। इसे तुमने अनन्तवार प्राप्त किया है। तिर्यञ्च पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसके भेदसे अनेक प्रकारके है ॥१५७६॥

---

1. चडयडत-मु०, मूलारा०।

आत्मानुभूतान्यपि न स्मरन्ति दु खानि केचिद्धि नरा प्रमत्ता. ।
दृष्टश्रुतान्यन्यसमुद्भवानि ते विस्मरन्तीति न विस्मयोऽत्र ॥१॥
प्रमादलोपार्थमतो नरेभ्यो ज्ञातोऽपि सोऽर्थः परिकथ्य एव ।
सस्मार्यमाणे प्रभवन्ति यस्मिन्गुणा न दोषाश्च समुद्भवन्ति ॥२॥
शीते निवात सलिलादि चोष्णे क्षेम [1]भये सश्रयितु समर्था ।
ये जंगमास्ते न तु सास्ति शक्तिरेकेन्द्रियाणा बत जीवकाना ॥३॥
सर्वोपसर्गानिह मोक्षकामा यथा विरागा मुनय सहन्ते ।
सर्वोपसर्गानवशा वराका एकेन्द्रिया ये च सदा सहन्ते ॥४॥
जात्यन्धमूका बधिराश्च बाला रथ्यासु रक्षाशरणप्रहीणा ।
प्रमर्द्यमाना गजवाजियानैर्यथा [2]म्रियेरन् विवशा वराका ॥५॥
तथा प्रकारो विकलेन्द्रियाणा प्रवर्तते नारकदु खतुल्य ।
मृत्यु समतात् सतत सुघोरो ग्रामेष्वरण्येषु च नि शरण्य ॥६॥
गोऽजाविकाद्यै परिमर्द्यमाना यानादिचक्रैः परिपिष्यमाणा ।
अन्योन्यवक्त्रै परिमुष्यमाणा दु ख च मृत्यु च हि ते लभन्ते ॥७॥
छिन्नै शिरोभिश्चरणैश्च भग्नैश्चजादितैश्चावयवैस्तनूना ।
चिर स्फुरन्त प्रतिकारहीना कृच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायु ॥८॥
निमज्ज्यमाना उदबिन्दुनापि निश्वासवातैरपि चोद्यमाना ।
प्रचोद्यमाना लघुनोष्मणापि नश्यन्ति ये तेषु कथा भवेत् का ॥९॥

कितने ही प्रमादी मनुष्य अपने द्वारा अनुभूत दु खोको भी भूल जाते हैं। तब देखे हुए, सुने हुए और दूसरोंके भोगे हुए दु खोको भूल जायें तो इसमे क्या आश्चर्य है। अत मनुष्योंके द्वारा जाना हुआ भी यथार्थ प्रमाद दूर करनेके लिये कहा जाता है। जिसका स्मरण होनेपर गुण प्रकट होते हैं और दोष प्रकट नही होते। जो जगम प्राणी होते हैं वे शीतमे वायु रहित स्थानमे, गर्मीमे जलादिमे, भय उपस्थित होनेपर निरापद स्थानमे आश्रय ले सकते हैं। किन्तु खेद है कि एकेन्द्रिय जीवोंम ऐसी शक्ति नही होती। जैसे मोक्षके इच्छुक विरागी मुनि सब उपसर्गोंको सहते हैं। पराधीन बेचारे एकेन्द्रिय भी सब उपसर्गोको सदा सहते हैं। जैसे जन्मसे अन्धे गूँगे बहरे बालक रक्षा और शरणसे विहीन हुए बेचारे विवश होकर मार्गोंमे हाथी घोडे सवारी आदिसे कुचलकर मर जाते हैं। विकलेन्द्रिय जीवोकी भी ऐसी ही दशा है। उनका दु ख भी नारकियोंके समान है। ग्रामो और वनोमे भी उनको शरण नही है। उनकी घोर मृत्यु सदा होती रहती है। गाय बैल, बकरा मेढा आदिके द्वारा वे कुचले जाते हैं। गाडी आदिके चकोंके नीचे पिस जाते हैं। परस्परमे एक दूसरेके मुखोंके द्वारा पीडित होकर वे दु ख और मृत्युको प्राप्त होते हैं। सिरोंके भग्न हो जानेपर, पैरोंके टूट जानेपर तथा शरीरके अवयवोंके रोगसे ग्रस्त होनेपर वे चिरकाल तक तडफडाते रहते हैं, उनका कोई इलाज नही करता। बडे कष्टसे वे आयु पूरी करते हैं। जो जलकी एक बूंदमे भी डूब जाते हैं, प्राणियोंके श्वासकी वायुसे भी पीडित होते हैं। जरा सी भी गर्मीसे पीडित होनेपर मर जाते हैं उनकी क्या कथा कही जाये ?

१ भवे मु०। २ म्रियते मु०।

सर प्रविश्येह यथा नर सन्नुमज्जन चैव निमज्जन च ।
क्रीडाप्रसक्तो बहुशोऽपि कुर्यादनन्यकार्यं स्ववशो वयस्य ॥१०॥
प्रविश्य जन्मोदधिमध्यमेव शरीरिणस्ते बहु जन्ममृत्यून् ।
अन्तर्मुहूर्तेऽपि समाप्नुवन्ति पेपीयमाना कटुदु खतोयम् ॥११॥
सूक्ष्मै शरीरैरपि ते महान्ति दु खानि नित्य समवाप्नुवन्ति ।
[1]स्थूलेषु देहेषु समीहितेषु दु खोदयो देहिगणैश्च दृष्ट ॥१२॥
येषा न माता न पिता न बन्धुर्न चापि मित्र न गुरुर्न नाथ ।
न भेषज नाभिजनो न भक्ष्य न ज्ञानमस्त्येव कुत सुख स्यात् ? ॥१३॥
मात्रा वियोगेऽपि सतीह तावत् दु खाम्बु तत्तु न जनो लभेत ।
मात्रा वियोगस्तु भवेन्न येषा स्यात् कथ ते न हि दु खराशे ॥१४॥
मा भैष्ट मा भूत्तव दु [2]खजाल मा विष्ट मा वेति वराक्काणा ।
आश्वासको वाप्यनुकम्पिता वा तेषा जन कोऽस्ति यथा नराणा ॥१५॥
तैस्तै प्रकारै सतत समन्ताच्छश्वद्दधाना अपि मृत्युमुग्र ।
करोति वा को ग्रहण निरीक्ष्य विमुच्य सर्वविदो मनुष्यान् ॥१६॥
अन्योन्यतो मर्त्यजनाच्च पापात् क्षुधादितश्चापि महाभयानि ।
पञ्चेन्द्रिया यानि समाप्नुवन्ति दु खानि तेषामिह कोपमा स्यात् ॥१७॥
स्तनधयान्स्वानपि भक्षयन्त [3]धृताहितश्चोऽपि न निष्कृपाका ।
निहत्य खादत्सु परान्परेषु तिर्यक्षु कि विस्मयनीयमस्ति ॥१८॥

जैसे कोई स्वाधीन वयस्क पुरुष क्रीडासक्त हो, सरोवरमें प्रवेश करके बहुत बार जलमें डूबता और उतराता है। वैसे ही शरीरधारी प्राणी जन्मरूपी समुद्रके मध्यमें प्रवेश करके कटुक दु खरूपी जलको पीते हुए एक अन्तर्मुहूर्तमें भी बहुत बार जन्म लेते और मरते हैं। यद्यपि उनके शरीर सूक्ष्म होते है फिर भी वे महान् दु ख भोगते हैं। स्थूल शरीर मिलने पर उनका दु ख अन्य प्राणी भी देख सकते है। जिनका न पिता है, न माता है, न बन्धु है, न मित्र है, न गुरु है, न स्वामी है, न औषध है, न वश है, न भोजन है और न ज्ञान है उन्हे सुख कैसे हो सकता है। माताका वियोग भी होनेपर इतना दु ख होता है जिसे मनुष्य सह नही पाता। जिनके माता ही नही है उनको दु ख राशिका तो कहना ही क्या है। तुम मत डरो, तुम्हे दु ख न हो, इस प्रकार उन बेचारोको मनुष्योकी तरह न कोई सान्त्वना देनेवाला है और न कोई उनपर दया करनेवाला है। विभिन्न प्रकारोमे निरन्तर सदा चहुँ ओरसे उग्र मृत्युको प्राप्त उन प्राणियोको देखकर उनके सम्बन्धमे जानने वाले मनुष्योके सिवाय अन्य कौन उनकी सुध लेता है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च परस्परमे एक दूसरेसे, पापी मनुष्योमे भूख प्यास आदिसे जिन महाभयकारी दु खोको प्राप्त होते है उनकी कोई उपमा नही है। वे अपने बच्चोको भी खा जाते है। तिर्यञ्च भी दयाहीन नही सुने गये है। किन्तु जो अपने ही बच्चोको खाते हैं वे यदि दूसरोको खा जावें तो इसमे आश्चर्य ही क्या। वे परस्परमे एक दूसरेका घात करनेके लिये प्रहार करते है। उनको मारनेके लिये

---

१ स्थूलानुदेहेषु समीहितेषु सुखोदयो देहिगुणैश्च दृष्ट ।'—अ० । २ दु ख च स्या आविष्ट—अ० ।
३ सुता आ० ।

अन्योन्यघातार्थमनुप्रयाति हन्तु तमन्य कृपणोऽनुयाति ।
न कश्चिदन्य सहसा निहता ही [1]धिक्ततो भीमतर किमन्यत् ॥१९॥
अन्योन्यरन्ध्रेक्षणनष्टनिद्रा अन्योन्यमाहृत्य जिजीविषन्त ।
स्वस्था न येऽन्योन्यभयात्स्वपन्ति किं ते भवेयु सुखिन कदाचित् ॥२०॥
वने मृगास्तोयतृणप्रपुष्टा मृगीसहाया रतिमाप्नुवन्ति ।
व्याधादिभिर्भयमाप्नुवन्ति निरेनस कारणमत्र कर्म ॥२१॥
वियोजिता आत्मसुतैश्च बालैर्मृग्यो मृगैश्चात्ममनोऽनुकूलै ।
दिशस्तु दीनाक्षिभिरीक्ष्यमाणा सुदारुण मारणमाप्नुवन्ति ॥२२॥
स्वभावपापा कुकवीरिताभि प्रोत्साहिता दुश्श्रुतिभि पुनश्च ।
अबिभ्यतो दुर्गतितो यथेष्ट घ्नन्तोऽभ्यदतश्च हितानुमन्यते ? ॥२३॥
वने मृगेभ्य पिशिताशनेभ्यो ग्रामेषु नृभ्यश्च तथाविधेभ्य ।
ते बिभ्यते न क्वचिदाश्वसन्तो यदृच्छया बिभ्रति जीवितानि ॥२४॥
यदङ्कुशादिप्रहतैर्गजाश्च कशादिघातैश्च हया हताशा ।
गावश्च तोत्रादिवधै परेषा कुर्वन्ति कर्मामरणादकामा ॥२५॥
[2]मत्यायुतानामलमेतदेव विरागभावप्रभवे निमित्तम् ।
तादृग्विधाना बहवो हि कोट्य क्व प्रकुर्वन्त्य[3]मितेतरस्य ॥२६॥
दहह्यमानाश्च दवाग्निवेगैर्महाजलौघैश्च समूह्यमाना ।
मृगा खगा सर्पसरीसृपाश्च सार्धं म्रियन्ते बहवो बताऽन्ये ॥२७॥

दूसरा पशु उसके पीछे लग जाता है। उसको भी कोई तीसरा मार देता है। धिक्कार है इसे, इससे भयानक और क्या हो सकता है। परस्परमें एक दूसरेके छिद्रोको देखनेसे जिनकी नीद भाग जाती है, जो एक दूसरेको मारकर जीना चाहते हैं, जो परस्परमें एक दूसरेके भयसे स्वस्थ होकर सो नही सकते वे कभी सुखी कैसे हो सकते हैं ? वनमें मृग जल और तृण खाकर पुष्ट होते हैं। हिरणी उनकी सहचरी होती है। परस्परमें प्रेमसे रहते हैं। बिना किसी अपराधके भी व्याध आदिसे उन्हे भय रहता है। इसमें कारण उनका पूर्व कर्म है। उन्हे अपने बच्चोसे वियोगका दु ख उठाना पडता है। अपने मनके अनुकूल मृगोंकी खोजमें दीन दृष्टिसे दिशाओंको देखा करते हैं और इस तरह भयकर मृत्युको प्राप्त होते हैं। जो स्वभावसे ही पापी है, और कुकवियोंके द्वारा कही गई न सुनने योग्य कविताओंमें उत्साहित होकर, दुर्गतिसे भी नही डरते वे उन पशुओंको यथेच्छ मारते हैं और इसे हित मानते हैं। वनमें मासाहारी पशुओंसे, ग्रामोमें मासाहारी मनुष्योसे डरते हैं। वे कही भी अपनी इच्छानुसार निर्भय जीवन नहीं बिताते। हाथी अकुश आदिके प्रहारोंसे, घोडे कोडे आदिकी मारसे और बैल पैनी आदिके घातसे मरणपर्यन्त दूसरोंका काम करते हैं। जो बुद्धिमान् हैं उनके वैराग्य उत्पन्न होनेमें यह सब ही निमित्त है। उनकी बहुतसी कोटियाँ हैं वे एक दूसरेको कष्ट कैसे दे सकते हैं। जगलकी आगके वेगमें जलते हुए महाजलसमूहके प्रवाहमें बहाये जाते हुए मृग, पक्षी, सर्प, सरीसृप तथा अन्य भी बहुतसे जीव एक साथ मर जाते हैं ॥१५७६॥

---

१ ही धिक्क लोभान्नितरा किमन्यत्' –आ० । २ मर्त्यायुतानामल–आ० । ३ न्त्यमिते नारस्य –आ० ज० ।

ताडणतासणबंधणवाहणलंछणविहेडणं[1] दमणं ।
कण्णच्छेदणणासावेहणणिल्लछणं चेव ॥१५७७॥

'ताडणतासण' ताडनत्रासनबन्धनलाञ्छनवाहनविहेडनकर्णछेदननासिकावेधनबीजविनाशनानि ॥१५७७॥

छेदणभेदणडहण णिपीलण गालण छुहातण्हा ।
भक्खणमद्दणमलणं विकत्तण सीदउण्हं च ॥१५७८॥

छेदनभेदनदहननिपीडनगालनानि क्षुत्तृड्बाधाभक्षणमर्दनमलनविकर्तनानि । शीतमुष्ण च ॥१५७८॥

ज अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणुट्टिओ पडिओ ।
बहुएहि मदो दिवसेहिं चडयडतो अणाहो त ॥१५७९॥

'ज अत्ताणो' यदत्राणो । 'णिप्पडियम्मो' निष्प्रतीकार । 'बहुवदणट्टिओ' बहुवेदनार्दित । 'पडिदो' पतित । 'बहुगेहि मदो दिवसेहि' बहुभिर्मृतो दिवसै । 'चडचडितो' स्फुरद्देह । 'अणाहो' अनाथ । 'त' त्व ॥१५७९॥

रोगा विविहा बाधाओ तह य णिच्च भय च सव्वत्तो ।
तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिघादाओ १५८०॥

'रोगा विविहा' व्याधयो नानाप्रकारा । 'बाधाओ' बाधाश्च । 'तया निच्च भय च सव्वत्तो' नित्यं भय च सर्वत । 'तिव्वाओ वेदणाओ' तीव्रा वेदना घाटनपादाभिघाताश्च ॥१५८०॥

सुविहिय अदीदकाले अणंतकाय तुमे अदिगदेण ।
जम्मणमरण[2]मणंतं अणतखुत्तो मसणुभूद ॥१५८१॥

'सुविहिद' सुचारित्र । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'अणतकाय तुमे अदिगदेण' अनतकाय त्वया प्रविष्टेन । 'जम्मणमरणमणत' जन्ममरण चानन्त । 'अणतखुत्तो' अनन्तवार क्षिप्त । 'समणुभूद' सम्यगनुभूत ॥१५८१॥

गा०—लाठी आदिसे मारना, डराना, रस्सी आदिसे बाधना, बोझा लादकर देशान्तरमे ले जाना, गर्म लोहेसे दागना, पीडा देना, दमन करना, अण्डकोषोको दबा देना । अगोको छेदना, भेदना, जलाना, दबाना, रोग आदि होनेपर रक्त निकालना, भूख प्यासकी बाधा, भक्षण, मर्दन, मलना, कान आदिको काटना, शीत उष्ण इत्यादि दु ख तिर्यञ्च गतिमे तुमने सहे हैं ॥१५७७-७८॥

गा०—जहाँ कोई रक्षक नही, कोई प्रतीकार नही, बहुत कष्टमे पीडित होकर गिरे और अनाथ दशामे तडफडाते हुए तुम बहुत दिनोमे मरे ॥१५७९॥

गा०—तिर्यञ्चगतिमे नाना प्रकारके रोग, नाना प्रकारकी बाधाएँ, सदा सब ओरसे भय, तीव्र वेदनाएँ, पैरसे मारना आदि कष्ट है ॥१५८०॥

गा०—हे चारित्रसे सम्पन्न क्षपक ! अतीतकालमे तुमने अनन्तकायमे जन्म लेकर अनन्त वार अनन्त जन्म मरणोको भोगा ॥१५८१॥

---

१ ण मरण अ० । २ णेण रछण चेव—अ० । ३. णादक अण –अ०, आ० ।

इच्चेवमादिदुक्खं अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ।
जं पत्तोसि अदीदे काले चिंतेहिं तं सव्वं ॥१५८२॥

'इच्चेवमादिदुक्खं' इत्येवमादिदुःखं । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं । 'तिरिक्खजोणीए' तिर्यग्योनौ । 'जं' यत् । 'पत्तोसि' प्राप्तोऽसि । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'चिंतेहिं तं सव्वं' तत्सर्वं चिन्तय । तिरियगदी ॥१५८२॥

देवत्तमाणुसत्ते जं ते जाएण सकयकम्मवसा ।
दुक्खाणि किलेसा वि य अणंतखुत्तो समणुभूदं ॥१५८३॥

'देवत्तमाणुसत्ते' देवत्वमानुषत्वयोः । 'जादेण' जातेन । 'सकयकम्मवसा' स्वकृतकर्मवशात् । 'दुक्खाणि किलेसा वि य' दुःखानि क्लेशाश्च । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं समनुभूता ॥१५८३॥

पियविप्पओगदुक्खं अप्पियसंवासजाददुक्खं च ।
जं वेमणस्सदुक्खं जं दुक्खं पच्छिदालाभे ॥१५८४॥

'पियविप्पओगदुक्खं' प्रियविप्रयोगजातं दुःखं । 'अप्पियसंवासजाददुक्खं च' अप्रियैः सहवासेन जातं च दुःखं । येषां नामश्रवणेऽपि शिरःशूलो जायते, येषां दर्शनाद्नेत्रे घूर्णायेते । 'जं वेमणस्सदुक्खं' यद्वैमनस्यदुःखं 'पच्छिदालाभे जं दुक्खं' यद्दुःखं प्रार्थितालाभे ॥१५८४॥

परभिच्चदाए जं ते असब्भवयणेहिं कडुगफरुसेहिं ।
णिब्भत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं ॥१५८५॥

'परभिच्चदाए' परभृत्यतायां सत्यां 'ते' तव 'जं' यज्जातं । 'असब्भवयणेहिं' अशिष्टवचनैः । 'कडुगफरुसेहिं' कटुकैः परुषैश्च । 'णिब्भत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं' निर्भर्त्सनावमाननतर्जनदुःखानि प्राप्तानि ॥१५८५॥

दीणत्तरोसचिंतामोगामरिसग्गिपउलिदमणो जं ।
पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥१५८६॥

गा०—तिर्यञ्चयोनिमें तुमने अतीतकालमें अनन्तवार जो इस प्रकारके दुःख भोगे हैं उन सबका विचार करो ॥१५८२॥

गा०—अपने किये हुए कर्मके वशीभूत होकर तुमने देवपर्याय और मनुष्य पर्यायमें जन्म लिया और वहाँ भी अनन्तवार दुःख और क्लेशोंको भोगा ॥१५८३॥

गा०-टी०—प्रिय जनके वियोगका दुःख, अप्रियजनोंके साथमें रहनेका दुःख, जिनका नाम सुनकर भी सिरमें दर्द होता है, जिनके देखने मात्रसे आँखें लाल हो जाती हैं उन्हें अप्रिय कहते हैं। उनके साथमें रहनेका दुःख, वैमनस्यका दुःख और इच्छित वस्तुके न मिलनेका दुःख, राजा आदिकी नौकरी करनेपर अशिष्ट और कटुक वचनोंका दुःख, धिक्कार, तिरस्कार, अपमान और डाटनेका दुःख तुमने सहा है ॥१५८४-८५॥

---

१ जं ते माणसदुक्खं —मूलारा० ।

'दीणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपगुलिदमणो ज' दीनत्वरोषचिताशोकामर्षाग्निभि सतप्तमना यन् । 'पत्तो घोर दुक्ख' प्राप्त घोर दु ख। 'माणुसजोणीए सतेण' मनुष्ययोनौ सत्या भवता ॥१५८६॥

दडणमुंडणताडणधरिसणपरिमोससकिलेसा य ।
धणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिधणणाम ॥१५८७॥

दडणमु डण—दण्डनमुण्डनताडणदूषणपरिमोषणसक्लेशा धनापहरणदारदूषणानि गृहदाहजलादिभिर्द्र-विणनाशात ॥१५८७॥

दडकसालट्ठिसदाणि डंगुराकटमद्दण घोर ।
कुंभीपाको मच्छयपलीवणं भत्तवुच्छेदो ॥१५८८॥

'दण्डकसालट्ठिसदाणि' दण्डकशायष्टिशतैस्ताडनानि दण्डादिकार्यत्वाद्दण्टादिशब्देनोच्यन्ते । डगुरा मुष्टि-प्रहारा । 'कटमद्दण' कण्टकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्दन घोर । कुम्भीपाक । 'मच्छयपलीवण' मस्तके अग्नि-प्रज्वलन । 'भत्तवुच्छेदो' आहारनिरोध ॥१५८८॥

दमणं च हत्थिपादस्स णिगलअद्दुवरत्तरज्जूहिं ।
बंधणमाकोडणय ओलवणणिहणण चेव ॥१५८९॥

'दमण च हत्थिपादस्स' हस्तिपादेनोन्मर्द्दन । 'णिगलअद्दुवरत्तरज्जूहि' निगलेन, अन्दुकाभि , वरत्राभि , रज्जूभिश्च बन्धन। 'आकोडणय' हस्तौ पृष्ठतो नीत्वा बन्धन। 'ओलवण' ग्रीवाबद्धपाशस्य तरुशाखासु लम्बन। 'णिहणण' चेव गर्ते निक्षिप्य पूरण ॥१५८९॥

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भजण चेव ।
उप्पाडणं च अच्छीण तहा जिब्भायणीहरणं ॥१५९०॥

'कण्णोट्ठसीसणासाछेदण' कर्णयोरोष्ठयो, शिरसो, नासिकायाश्च छेद । 'दताण भजण चेव' दताना भञ्जन। 'उप्पाडण च अच्छीण' अक्ष्णोरुत्पाटन, तथा 'जिब्भाए णीहरण' जिह्वानिर्हरण ॥१५९०॥

गा०—दीनता, रोष, चिन्ता, शोक और क्रोधरूप आगमे मनके सतप्त होनेपर तुमने मनुष्ययोनिमे रहते हुए घोर दु ख पाया है ॥१५८६॥

गा०—राजा आदिसे दण्डित होना, सिर मुण्डा करा देना, पीटा जाना, तिरस्कारपूर्वक दोप लगाया जाना, चोरी होना, राजा आदिके द्वारा धनका हरण, स्त्रियोको दोप लगाना, घरमे आग लगाना, बाढ वगैरहसे सपत्तिका नष्ट होना, डण्डे कोडे लाठी आदिसे पीटा जाना, मुट्ठीका प्रहार होना, काटोके ऊपर लिटाकर घोर मर्द्दन करना, कडाहीमे डालकर पकाना, मस्तकपर आग जलाना, आहारका रोक देना इत्यादि दु ख तुमने मनुष्यगतिमे सहे हैं ॥१५८७–८८॥

गा०—हाथीके पैरसे दबाया जाना, साकल, चमडेकी रस्सी या साधारण रस्सीसे बाधा जाना, दोनो हाथ पीछे करके बाधना, गर्दनमे रस्सी डालकर वृक्षसे लटकाना, गड्ढेमे डालकर उसे पूर देना। कान, ओष्ठ और नाक काटना, दात तोडना, आखें निकाल लेना, जीभ उखाड लेना, इत्यादि दु ख तुमने भोगे हैं ॥१५८९–९०॥

अग्गिविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं ।
सीदुण्हरोगदसमसएहिं तण्हाछुहादीहिं ॥१५९१॥

'अग्गिविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं' अग्नेर्विषस्य, शत्रूणा, सर्पादेर्व्यालमृगाणा, शस्त्रप्रहारस्य च घातै । 'सीदुण्हरोगदसमसएहिं' शीतोष्णेन, दशमशकै , 'तण्हाछुहादीहिं' तृट्क्षुधादिभि ॥१५९१॥

जं दुक्ख सपत्तो अणंतखुत्तो मणे सरीरे य ।
माणुसभवे वि तं सव्वमेव चिंतेहि त धीर ! ॥१५९२॥

'ज दुक्ख सपत्तो' यद्दु ख सप्राप्त । 'अणतखुत्तो' अनन्तवार । 'मणे सरीरे य' मासि शारीरे च । मानस शारीर च दु ख प्राप्त । माणुसभव वि' मनुष्यभवेऽपि । 'त सव्वमेव चिंतेहि' तत्सर्वमेव चिन्तय । 'त धीर' त्व धीर ! ॥१५९२॥

सारीरादो दुक्खादु होइ देवेसु माणस तिव्व ।
दुक्ख दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥१५९३॥

'सारीरादो दुक्खादु शारीराद्दु खात । होदि' भवति । देवेसु देवेषु । 'माणुस तिव्व' मानस तीव्र दु ख । 'दु स्सह' सोढुमशक्य । 'अवसस्स' अवशस्य । परेण' अन्येन अभिजुज्जमाणस्स' अभियुज्यमानस्य वाहनतया नीयमानस्य ॥१५९३॥

देवो माणी सतो पासिय देवे महद्धिए अण्णे ।
ज दुक्ख सपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥१५९४॥

'देवो माणी सतो' देवो मानी सन् । 'पासिय देवे' देवान् दृष्ट्वा । 'महद्धिए' महर्द्धिकान् । 'अण्णे' अन्यान् । 'ज दुक्ख सपत्तो घोर' यद्घोर दु ख प्राप्त । 'भग्गेण माणेण' भग्नेन मानेन ॥१५९४॥

दिव्वे भोगे अच्छरसाओ अवसस्स सग्गवास च ।
पजहतगस्स ज ते दुक्ख जाद चयणकाले ॥१५९५॥

गा०—आग, विष, शत्रु, सर्प आदि तथा सिंह, शस्त्रके प्रहारसे घात, शीत, उष्ण, डास मच्छर, भूख प्यास, इनसे तुमने मनुष्यभवमे जो शारीरिक और मानसिक दु ख पाया है, हे धीर ! उन सबका विचार करो ॥१५९१-१५९२॥

गा०—जब देवगतिमे अभियोग्य जातिका देव होकर वह परवश होकर इन्द्रादिके द्वारा वाहन बनाया जाता है तब उसे शारीरिक दु खसे तीव्र मानसिक दु ख होता है जो असह्य होता है ॥१५९३॥

गा०—अभिमानी देव हुआ तो अन्य महर्द्धिक देवोको देखकर मानका भग होनेसे जो घोर दु ख हुआ उसका विचार करो ॥१५९४॥

गा०—परवश होकर दिव्य भोग, देवांगनाएँ और स्वर्गवास त्यागनेपर स्वर्गसे च्युत होते समय जो दु ख हुआ उसको स्मरण करो ॥१५९५॥

'दिव्वे भोगे' दिव्यान्भोगान् । 'अच्छरसाओ' देवकन्यका । 'सग्गवास च' स्वर्गवास च । 'पजहत-गस्स' परित्यजत । 'अवसस्स' परवशस्य । 'ज ते दुक्ख जाद' यत्तव दु ख जात । 'चयणकाले' च्यवनकाले ॥१५९५॥

ज गब्भवासकुणिम कुणिमाहार छुहादिदुक्ख च ।
चिंततगस्स य सुचिसुहिदस्स दुक्ख चयणकाले ॥१५९६॥

'ज गब्भवासकुणिम' यद्गर्भवासकुथित । 'कुणिमाहार' कुथिताहार । क्षुधादिदु ख च । 'चिंततगस्स' चिन्तयत । 'सुचिसुहिदस्स' शुचे सुखितस्य । 'ज दुक्ख चयणकाले' स्वर्गाच्च्यवनकाले ॥१५९६॥

एव एद सव्व दुक्ख चदुगदिगदं च जं पत्तो ।
तत्तो अणतभागो होज्ज ण वा दुक्खमिमग ते ॥१५९७॥

'एव एद सव्व' एवमेतत्सर्वं । 'दुक्ख चदुगदिगद' दु ख चतुर्गतिगत । 'ज पत्तो' यत्प्राप्तवान् । 'तत्तो' तत । 'अणतभागो' अनन्तभागा । 'होज्ज ण वा' भवेद्वा न वा । 'दुक्खमिमग ते' दु खमिद[1] तव मनुजजन्मनि ॥१५९७॥

सखेज्जमसंखेज्ज काल ताइ अविस्समंतेण ।
दुक्खाइ सोढाइ किं पुण अदिअप्पकालमिम ॥१५९८॥

'सखिज्जमसखिज्ज काल' सख्यातमसख्यात वा काल । 'ताइ दुक्खाइ सोढाइ' तानि दु खानि सोढानि । 'अविस्समतेण' विश्रामरहितेन । 'किं पुणे' किं पुन सह्यते । 'अदिअप्पकालमिम' अत्यल्पकालमिद दु ख ॥१५९८॥

जदि तारिमाओ तुम्हे सोढाओ वेदणाओ अवसेण ।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कह सोढुं ण तीरेज्ज ॥१५९९॥

'जदि तारिसाओ' यदि तादृश्य । 'तुम्हे सोढाओ वेदणाओ' त्वया सोढा वेदना । 'परवसेण'

गा०—पवित्र और सुखी देव स्वर्गसे च्युत होते समय विचारता है कि मुझे अब दुर्गन्धयुक्त गर्भमे जाना होगा । वहाँ दुर्गन्धित भोजन होगा । भूख प्यासकी बाधा होगी । ऐसा विचार करते समय जो दु ख होता है उसका चिन्तन करो ॥१५९६॥

गा०—इस प्रकार चारो गतियोमे तुमने जो यह सब दु ख भोगा है उसके अनन्तवें भाग दु ख इस मनुष्य जन्ममे हो न भी हो ॥१५९७॥

गा०—तुमने सख्यात वा असख्यात काल पर्यन्त विना विश्राम लिये ये दु ख सहे हैं । तब अति अल्पकालके लिये यह थोडासा दु ख क्यो नही सहते हो ॥१५९८॥

गा०-टी०—यदि तुमने परवश होकर उक्त प्रकारकी वेदनाएँ सही है तो इस समय इस वेदनाको धर्म मानकर स्वय अपनी इच्छासे क्यो नही सहते ।

शका—वेदना धर्म कैसे है ?

---

1. मिद भवं मनु —आ० मु० ।

परवशेन । 'धम्मोत्ति' धर्म इति । 'इमा' इय वेदना । 'सवसेण' स्ववशेन सता । 'सोढुं ण तीरेज्ज' सोढुं न शक्यते ? । कथ वेदना धर्म ? उत्तमक्षमामार्जवार्दवादिभि दशप्रकारो धर्म उच्यते । वेदनासहन धर्म इति कृत्वा कथ न शक्यते सोढुं सवन्धोऽत्र ॥१५९९॥

[1]तण्हा अणतखुत्तो ससारे तारिमी तुम आसी ।
ज पसमेदु सव्वोदधीणमुदगं ण तीरेज्ज ॥१६००॥
आसी अणंतखुत्तो ससारे ते छुधावि तारिसिया ।
ज पसमेदुं सव्वो पुग्गलकाओ ण तीरेज्ज ॥१६०१॥
जदि तारिसया तण्हा छुधा य अवसेण ते तदा सोढा ।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कध सोढुं ण तीरेज्ज ॥१६०२॥
सुदपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य [2]पुणोवगहिएण ।
ज्झाणोसहेण तिव्वा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥१६०३॥

'सुदपाणएण' त्रिविधधर्मकथाश्रुतिपानेन । 'अणुसट्ठिभोयणेण य' अनुशासनभोजनेन । 'उवगहिदेण' उपगृहीतेन । ज्झाणोसधेण' शुभध्यानौषधेन च । 'तिव्वा वि वेदणा' तीव्रापि वेदना । 'तीरदे सहिदु' शक्यते सोढु ॥१६००॥१६०१॥१६०२॥१६०३॥

भीदो व अभीदो वा णिप्पडियम्मो व सपडियम्मो वा ।
मुच्चइ ण वेदणाए जीवो कम्मे उदिण्णम्मि ॥१६०४॥

'भीदो व अभीदो वा' भीतोऽभीतो वा । 'णिप्पडियम्मो सप्पडियम्मो वा' निष्प्रतिकार सप्रतिकारो वा । 'मुच्चदि ण वेदणाए जीवो' न मुच्यते वेदनाया जीव । कम्मे उदिण्णम्मि कर्मण्यसद्वेद्ये उदीर्णे ॥१६०४॥

समाधान—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदिके भेदसे दस प्रकारका धर्म कहा है अत वेदनाको सहना भी धर्म है ॥१५९९॥

गा०—हे क्षपक ! ससारमे तुम्हे ऐसी प्यासकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये सब समुद्रोका जल भी समर्थ नही है ॥१६००॥

गा०—ससारमे तुम्हे ऐसी भूखकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये समस्त पुद्गल काय भी समर्थ नही है ॥१६०१॥

गा०—यदि तुमने परवश होकर वैसी भूख प्यासकी घोर वेदनाको सहा है तो अब धर्म मानकर इस वेदनाको स्वेच्छापूर्वक क्यो नही सहते ॥१६०२॥

गा०—तीन प्रकारकी धर्मकथाको कानोंके द्वारा पीकर, तथा गुरुकी शिक्षारूपी भोजन करके और शुभध्यानरूपी औषधको ग्रहण करके तीव्र भी वेदनाको सहा जा सकता है ॥१६०३॥

गा०—असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेपर डरो या न डरो, प्रतीकार करो या न करो, जीव वेदनासे छुटकारा नही पाता ॥१६०४॥

---

१ एतद् गाथात्रय टीकाकारो नेच्छति । २ पुणो उवक्कमिए,—अ० ।

पुरिसस्स पावकम्मोदएण ण करंति वेदणोवसमं ।
सुट्ठु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरियाणी वि ॥१६०५॥

'पुरिसस्स पावकम्मोदयम्मि' पुरुषस्य पापकर्मोदये 'न करेंति' न कुर्वन्ति । 'वेदणोवसम' वेदनोपशम । 'सुट्ठु पउत्ताणि वि' सुष्ठु प्रयुक्तान्यपि । 'ओसधाणि वि' औषधानि 'अदिवीरियाणि' अतिवीर्याण्यपि ॥१६०५॥

रायादिकुडुंबीणं अदयाए असंजमं करंताण ।
धण्णंतरी वि कादु ण समत्थो वेदणोवसमं ॥१६०६॥

'रायादिकुडुंबीण' राजादीना कुटुम्बीना अनेक द्रव्यसपत्परिचारकसपत्प्रख्याताना । 'अदयाए असजम करेंताण' दयामन्तरेणासयम कुर्वता । 'धण्णतरी वि कादु' धन्वतरिरपि कर्तु असमर्थ । 'वेदणोवसम' वेदनाया उपशम । वैद्यसपत्ता धन्वन्तरेग्रहणेन सूचिता ॥१६०६॥

किं पुण जीवणिकाये दयंतया जादणेण लद्धेहिं ।
फासुगदव्वेहिं करेंति साहुणो वेदणोवसमं ॥१६०७॥

'किं पुण' किं पुन । 'जीवणिकाए जीवनिकायान् । 'दयतगा' दयमाना । 'जादणेण लद्धेहि' याच्ञया लब्धै । 'फासुगदव्वेहि' प्रासुकद्रव्यै । 'करेज्ज' कुर्यात् । 'साहुणो वेदणोवसम' साधोर्वेदनोपशम । परिचारकसपदभावो दश्यते 'जीवणिकाए दयतगा' इत्यनेन । यथा व्याधेरुपशमो भवति तथा कुर्वंति परिचारका । अमी पुनर्यतय षड्जीवनिकायबाधापरिहारोद्यता स्वसयमविनाशभीरवो । 'जायणेण लद्धेहि' इत्यनेन द्रव्यसपदभाव आख्यायते ॥१६०७॥

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं ।
ण य वेदणामित्तं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥१६०८॥

गा०—जब पुरुषके पापकर्मका उदय होता है तो अच्छी तरहसे प्रयुक्त और अतिशक्तिशाली भी औषधियाँ वेदनाको शान्त नहीं करती ॥१६०५॥

गा०-टी०—राजा आदि कुटुम्बी जिनके पास अनेक प्रकारकी धन-सम्पदा और सेवा करनेवाले दास दासियोंकी प्रचुरता होती है, किन्तु जो दयाहीन होकर असयमी जीवन बिताते हैं, उनकी वेदनाको शान्त करनेके लिये धन्वन्तरि भी समर्थ नहीं है। धन्वन्तरिपदसे वैद्यरूपी सम्पदाको सूचित किया है। अर्थात् धन्वन्तरि जैसा वैद्य भी उनकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता ॥१६०६॥

गा०-टी०—तब जीवमात्रपर दया करनेवाले याचनासे प्राप्त प्रासुक द्रव्योंसे साधुकी वेदनाका उपशम कहाँ तक कर सकते हैं ? अर्थात् परिचारक साधु जहाँ तक शक्य होता है व्याधिको शान्त करनेका प्रयत्न करते हैं क्योंकि उनके पास परिचारक रूप सम्पदा—दासदासी तो हैं नहीं और यतिगण छह कायके जीवोंको बाधा न पहुँचे इसके लिये सदा तत्पर रहते हैं तथा अपने सयमके विनाशसे भी भयभीत रहते हैं। साथ 'याचनासे प्राप्त' कहनेसे उनके पास धनसम्पदाका भी अभाव कहा है ॥१६०७॥

'मोक्खाभिलासिणो' निरवशेषकर्मापायाभिलाषिण । 'सजदस्स' प्राणसंयमवत । 'णिधणगमण पि होदि वर' मरणमपि वर । 'ण य' नैव वर युक्त । 'वदणाणिमित्त' वेदनोपशमार्थं । 'अप्पासुगसेवण कादु' अयोग्यद्रव्यसेवन कर्तु म ॥१६०८॥

णिधणगमण एयभवे णासो पुणो पुरिल्लजम्मेसु ।
णास असजमो पुण कुणइ भवसएसु बहुगेसु ॥१६०९॥

'णिधणगमणे एयभवे' निधनगमनमेकभवे । 'णासो' नाश । 'ण पुणो' न पुनर्नाश । 'पुरिल्लजम्मेसु' भाविषु जन्मसु । 'असजमो पुण' असयम पुन । 'भवसएसु' जन्मशतेषु । 'बहुएसु' बहुषु । 'णास कुणइ' नाश करोति । वेदना हि न सयतमनुयाति रत्नत्रयभावनोद्यत । सा हि असात मन्द करोति । असयम पुन असद्वेद्य प्रकृष्टानुभव करोति । उक्त च—'दु खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्येति' [त० सू० ६।११] ॥१६०९॥

ण करेंति णिव्वुइ इच्छया वि देवा सइंदिया सव्वे ।
पुरिसस्स पावकम्मे अणक्कमगे उदिण्णम्मि ॥१६१०॥

'ण करेंति णिव्वुइ' न कुर्वन्ति निर्वृति । 'पुरिसस्स' पुरुषस्य । सइदिया देवा सव्वे इच्छया वि' सेन्द्रका सर्वे देवा इच्छन्तोऽपि । 'पावकम्मे' पापकर्मणि । 'अणुक्कमगे अनुक्रमके । 'उदिण्णम्मि' उदयमुपगते ॥१६१०॥

किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्स णिव्वुदिं पुरिसो ।
हत्थीहिं अतीरंत भंतु भजिहिदि किह ससओ ॥१६११॥

'किह पुण' कथ पुन । अण्णो काहिदि पुरिसो' अन्य करिष्यति पुरुष । 'उदिण्णकम्मस्स' उदया-

---

गा०—समस्त कर्मबन्धनके विनाशरूप मोक्षके अभिलाषी सयमीका मरण होना भी श्रेष्ठ है। किन्तु वेदनाकी शान्तिके लिये अप्रासुक अयोग्य द्रव्यका सेवन करना श्रेष्ठ नही है ॥१६०८॥

गा०-टी०—मरण होना तो एक भवका ही विनाश है भावि जन्मोका नाश नही है किन्तु असयम तो सैकडो जन्मोको नष्ट कर देता है । जो सयमी रत्नत्रयकी भावनामें तत्पर रहते हैं वेदना उनका पीछा नही करती । क्योकि रत्नत्रयकी भावना असाताके उदयको मन्द करती है । और असयम असातावेदनीयके अनुभागको बढाता है । कहा भी है दु ख, शोक, पश्चात्ताप, रुदन, वध और हृदयको व्याकुल करनेवाला रुदन स्वय करनेसे, दूसरोमे करनेसे या दोनोमे करनेसे असातावेदनीयका आस्रव होता है ॥१६०९॥

गा०—पुरुषके पापकर्मके अनुक्रमसे उदय आनेपर इन्द्रसहित सब देव इच्छा करनेपर भी सुखी नही कर सकते ॥१६१०॥

गा०—तब असातावेदनीय कर्मका उदय आनेपर अन्य साधारण पुरुष क्या कर सकते है ? जिसे महाबलशाली हाथी भी तोडनेमे असमर्थ है क्या उसे बेचारा कमजोर खरगोश तोड सकता है ॥१६११॥

---

१ अनुक्रमेण —आ० । अणवक्कमगे निष्प्रतीकारे —मूलारा० ।

गतामद्वेयकर्मण । 'णिव्वुदि' निर्वृति । 'हत्थीहिं अतीरत भंवु' हस्तिभिर्महावले वर्तुमशक्य यद्भ्रुत्न । 'किंघ ससगो भजीहिं' कथ स्वल्पप्राणो भङ्क्ष्यति शशक ॥१६११॥

ते अप्पणो वि देवा कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं ।
वारेदु ण समत्था धणिद पि विकुव्वमाणा वि ॥१६१२॥

'ते देवा अप्पणो वि कम्मोदयपच्चय मरणदुक्ख' ते देवा सेन्द्रका आत्मनोऽपि कर्मोदयहेतुक मरणदु ख 'वारेदु' ण समत्था' निवारयितु न समर्था । 'धणिदवि विकुव्वमाणा' नितरा विक्रिया कुर्वन्तोऽपि ॥१६१२॥

[1]उज्झति जत्थ हत्थी महाबलपरक्कमा महाकाया ।
सुत्ते तम्मि वहते ससया [2]ऊढेल्लया चेव ॥१६१३॥

'उज्झति' यस्मिन् स्रोतसि हस्तिन ऊह्यते महाबल्पराक्रमा महाकाया । तस्मिन् स्रोतसि वहन्ति शशका गता एव ॥१६१३॥

किह पुण अण्णो मुच्चहिदि सगेण उदयागदेण कम्मेण ।
तेलोक्केण वि कम्म अवारणिज्ज खु समुवेद ॥१६१४॥

'किह पुण अण्णो मुच्चहिदि' कथ पुनरन्यो मोक्ष्यते, स्वेन कर्मणा उदयागतेन । त्रैलोक्येनापि कर्मानिवार्यमेव समुपगत ॥१६१४॥

कह ठाइ सुक्कपत्त वाएण पडतयम्मि मेरुम्मि ।
देवे वि य विहेडयदो कम्मस्स तुमम्मि का मण्णा ॥१६१५॥

'कह ठाइ सुक्कपत्त' कथ तिष्ठेत शुष्कपत्र । वातेन पतति मेरौ । अणिमाद्यष्टगुणमपन्ना देवानपि कुत्सीकुर्वत कर्मणो भवत्यल्पबले का सज्ञा ॥१६१५॥

गा०—वे देव कर्मके उदयके कारण होनेवाले अपने भी मरणके दु खको दूर करनेमे समर्थ नही है यद्यपि वे दिव्यशक्तिसे सम्पन्न होनेसे अनेक प्रकारकी विक्रिया करनेमे समर्थ होते हैं ॥१६१२॥

गा०—जिस प्रवाहमे महाबली, महापराक्रमी और विशाल शरीरवाले हाथी वह जाते हैं उस प्रवाहमे बेचारे खरगोश स्वय ही वह जाते हैं ॥१६१३॥

गा०—जब देव भी अपने उदयागत कर्मको टालनेमे असमर्थ है तब अन्य साधारण प्राणी अपने उदयागत कर्मसे कैसे छूट सकता है ? उदयागत कर्मको तीनो लोक भी नही टाल सकते ॥१६१४॥

गा०—जिस वायुसे मेरुपर्वतका पतन हो सकता है उसके सामने सूखा पत्ता कैसे ठहर सकता है ? इसी प्रकार जो कर्म अणिमा आदि आठ गुणोंसे सम्पन्न देवोको भी दुर्गति कर देता है उसके सामने तुम्हारे जैसे मरणोन्मुख मनुष्यकी क्या गिनती है ॥१६१५॥

---

१ वुज्झति—मूलारा० । २ रुढिल्लिया अ० आ० ज० । वूढेल्लया मूलारा० ।

कम्माइ बलियाइ बलिओ कम्मादु णत्थि कोवि जगे ।
सव्वबलाइं कम्म मलेदि हत्थीव णलिणिवण ॥१६१६॥

'कम्माइ' कर्माणि बलवन्ति, कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कस्माद्यस्मात्सर्वाणि बघुविद्याद्रव्य-शरीरपरिवारबलानि कर्म मर्द्दयति हस्तीव नलिनवन ॥१६१६॥

इच्चेव कम्मुदओ अवारणिज्जोत्ति सुट्ठु णाऊण ।
मा दुक्खायसु मणसा कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि ॥१६१७॥

'इच्चेव कम्मुदओ' इतिशब्द प्रक्रान्तपरिसमाप्ति सूचयति । एव इत्युक्तपरामर्शे । 'कम्मुदओ' कर्मोदय । 'अवारणिज्जोत्ति' अनिवार्य इति । 'सुट्ठु णाउण' सम्यग्ज्ञात्वा । 'मा दुक्खायसु मणसा' मा कार्षीर्दु ख मनसा । 'कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि' कर्मणि स्वके उदीर्णे ॥१६१७॥

पडिकूविदे विमण्णे रडिदे दुक्खाइदे किलिट्ठे वा ।
ण य वेदणोवसामदि णेव विसेसो हवदि तिस्से ॥१६१८॥

'पडिकूविदे' परिदेवने कृते शोके । विषादे रटने, दु खे, सक्लेशे वा न वेदनोपशाम्यति । नापि कश्चिदतिशयो भवति वेदनाया ॥१६१८॥

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ सकिलेसेण होइ खवयस्स ।
अट्ट सुसकिलेसो ज्झाण तिरियाउगणिमित्त ॥१६१९॥

'अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ' अन्योऽप्यत्र गुणो न कश्चिच्छोकादिना सक्लेशेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि तत्कर्तुं प्रारभते यस्य साध्य फल अस्ति । सक्लेशेन न किंचित् अपि मुमुक्षो फल अपि तु सक्लेशपरिणामो ह्यात ध्यानममनोज्ञविप्रयोगाख्य तच्च तिर्यगायुषो निमित्त । ततोऽल्पदु खभीरु भवत त्वदीय सक्लेशो दुस्तरे तिर्यगावर्ते निपातयतीति भयोपदर्शन कृत ॥१६१९॥

गा०—कर्म बडे बलवान हैं। जगत्मे कर्मसे बलवान कोई नही है। जैसे हाथी कमलोके वनको रौंद डालता है। वैसे ही कर्म बन्धु, ज्ञान, द्रव्य, शरीर और परिवार आदि सब बलोको नष्ट कर देता है। कर्मके सामने ये सब बल क्षीण हो जाते हैं ॥१६१६॥

गा०—इस प्रकार कर्मका उदय अनिवार्य है उसे रोका नही जा सकता इस बातको अच्छी तरहसे जानकर अपने कर्मका उदय आनेपर मनमे दु ख मत करो ॥१६१७॥

गा०—रोनेपर, विषाद करनेपर, चिल्लानेपर अथवा दु ख और सक्लेश करनेपर वेदना शान्त नही होती और उससे कोई विशेषता भी नही आती ॥१६१८॥

गा०-टी०—शोक आदि सक्लेश करनेसे क्षपकका कोई अन्य लाभ भी नही है। बुद्धिमान पुरुष उसी कार्यको करना प्रारम्भ करते हैं जिससे कोई लाभ होता है। सक्लेशसे मुमुक्षुका जरा भी लाभ नही है। बल्कि इष्ट वियोग नामक आर्तध्यान सक्लेश परिणामरूप होनेसे तिर्यञ्चायुके बन्धका कारण है अत थोडेसे दु खसे डरनेवाले आपको तुम्हारा सक्लेश ऐसी तिर्यञ्चगतिरूपी भँवरमे डाल देगा जिससे निकलना बहुत कठिन है ॥१६१९॥

सक्लेशस्य नैरर्थक्यप्रकटनार्थोत्तरगाथा—

हदमाकासं मुट्ठीहिं होइ तह कडिया तुसा होंति ।
मिगदाओ पीलिदाओ धुमिलिदमुदयं च होइ जहा ॥१६२०॥

'हृदमागास' हत मुष्टिभिराकाश ताडितु । तुषकुट्टन तडुलार्थं । सिकतापीडन तिलयन्त्रे तैलार्थं । जलमथन च घृतार्थं यथापार्थकं तथानर्थक सक्लेशो वेदनातुरस्य । वेदनाया अनिराकरणत्वान्नैरर्थक्य-साम्यादभेदोपन्यासो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो ॥१६२०॥

पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं ।
को धारणिओ धणिदस्स देंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१६२१॥

'पुव्व सयमुवभुत्त' पूर्वं स्वयमुपभुक्त । काले 'णायेण' न्यायेन । 'तेत्तिग दव्व' तावद्द्रव्य । 'को दुक्खिओ होज्ज धारणिगो' को दु खितो भवेदधमर्ण । 'धणिदम्मि' उत्तमर्णे । 'हरते' स्व द्रव्य हरति ॥१६२१॥

तह चेव मय पुव्वं कदस्स कम्मस्स पाककालम्मि ।
णायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंतो ॥१६२२॥

'तह चेव' तथा चैव । 'सय पुव्व कदस्स कम्मस्स' आत्मना पूर्व कृतस्य कर्मण । 'पाककालम्मि' फलदानकाले न्यायेनागते । 'को णाम दुक्खिदो होज्ज जाणतो' को नाम दु खितो भवेज्ज्ञानी ॥१६२२॥

इय पुव्वकद इणमज्ज मह कम्माणुगत्ति णाऊण ।
रिणमुक्खणं च दुक्ख पेच्छसु मा दुक्खिओ होहि ॥१६२३॥

'इय पुव्वकद' 'इय' एवभूत । 'दुक्ख पुव्वकद' पूर्वकर्मणा कृत । 'इण' इद दु ख । 'अज्ज' अद्य । 'मह कम्माणुगत्ति' मम कर्मणामिति । 'णादूण' ज्ञात्वा । 'रिणमुक्खण वा' ऋणमोक्षण इव । 'दुक्ख पिच्छसु' दु ख प्रेक्षस्व । 'मा दुक्खिदो होहि' दु खितो मा भू ॥१६२३॥

आगे सक्लेशकी निरर्थकता बतलाते हैं—

गा०—जैसे मुट्ठियोसे आकाशको मारना, चावलके लिये उसके छिलकोंको कूटना, तेलके लिये कोल्हूमें रेत पेलना, और घीके लिये जलको मथना निरर्थक है उसी प्रकार वेदनासे पीडित व्यक्तिका सक्लेश करना निरर्थक है। सक्लेश करनेसे वेदना दूर नही होती है अत निरर्थक होनेसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिमें समानता है ॥१६२०॥

गा०—जैसे कोई कर्जदार साहूकारसे ऋण लेकर स्वय उसका उपभोग करता है। और ऋण चुकानेका समय आनेपर उतना ही द्रव्य देते हुए उसे दु ख नही होता। उसी प्रकार पूर्वमें स्वय बाधे हुए पापकर्मका फल भोगनेवाले ज्ञानीको दु ख कैसा ? अत पूर्वमें बाधे गये कर्मका उदयकाल आनेपर कौन ज्ञानी दु खी होता है ॥१६२१-२२॥

गा०—यह दु ख मेरे पूर्वमें किये गये कर्मोका ही फल है ऐसा जानकर दु खको ऋण मुक्तिके समान देखो। दु खी मत होओ ॥१६२३॥

पुव्वकदमज्झ कम्मं फलिद दोसो ण इत्थ अण्णस्स ।
इदि अप्पणो पओग णच्चा मा दुक्खिदो होहि ॥१६२४॥

'पुव्वकदमज्झ कम्म' पूर्वकृत मदीय कर्म, फलिद' फलित । 'दोसो ण एत्थ अण्णस्स' दोषो नैवान्यस्य इति । 'अप्पणो पओग णच्चा' ज्ञात्वा । 'मा दुक्खिदो होहि' मा कृथा दु ख ॥१६२४॥

जदिदा अभूदपुव्व अण्णेसिं दुक्खमप्पणो चेव ।
जाद हविज्ज तो णाय होज्ज दुक्खाइदु जुत्त ॥१६२५॥

'जदिदा' यदि तावत । दु खमन्येषा अभूतपूव । 'अप्पणो चेव' आत्मन एव 'जाद हविज्ज' 'जात भवेत्' 'तो णाम होज्ज दुक्खाइदु जुत्त' । ततो नाम दु ख कर्तु युक्त ॥१६२५॥

सव्वेसि मामण्ण अवस्मदायव्वय कर काले ।
णाएण य को दाऊण णगे दुक्खादि विलवदि वा ॥१६२६॥

'सव्वेसि सामण्ण' सर्वेषा भव्याना श्रामण्य । 'काले' कर्मविनाशनकाले । 'अवस्स दायव्वय' अवश्य दातव्य । यस्मात्तस्मात । 'कर' करशब्दवाच्य 'दाऊण' दत्वा । 'णाएण य' न्यायेन च 'को णरो दुक्खदि विलवदि वा' को नरो दु ख करोति विलपति वा ॥१६२६॥

सव्वेसिं सामण्ण करभूदमवस्सभाविकम्मफल ।
इण मज्ज मेत्ति णच्चा लभसु सदिं त धिदिं कुणसु ॥१६२७॥

'सव्वेसिं' सर्वेषा विनेयाना । 'सामण्ण करभूद' श्रामण्य करभूत । 'अवस्सभाविकम्मफल' अवश्य-भाविकर्मफल । 'इणमज्जमेदि' इद'श्रामण्य अद्य करभूत ममेति । 'णच्चा' ज्ञात्वा । 'लभसु सदि' स्मृति प्रतिपद्यस्व । 'त' त्व 'धिदि कुणसु' धृति कुरु ॥१६२७॥

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसघसक्खिस्स ।
पच्चक्खाणस्स कदस्स भजणादो वर मरण ॥१६२८॥

गा०—यह मेरे पूर्वकृत कर्मो का फल है। इसमें किसी दूसरेका दोष नहीं है। अत इसे अपना ही प्रयोग जानकर दु खी मत होओ ॥१६२४॥

गा०—हे क्षपक ! यदि यह दु ख दूसरोको पहिले कभी नहीं हुआ और तुमको ही हुआ होता तो दु ख करना युक्त था ॥१६२५॥

गा०—कर्मो के विनाशका समय आनेपर सभी भव्य जीवोको मुनिपद अवश्य धारण करना होता है। इसलिये इसे 'कर' कहा है। इस करको न्यायपूर्वक देकर कौन मनुष्य दु खी होता है या विलाप करता है ॥१६२६॥

गा०—सभी मोक्षमार्गियोके लिये यह श्रामण्य अवश्य भाविकर्मफल होनेसे करके समान देय है अर्थात् सभीको मुनिपद धारण करना होता है। आज यह श्रामण्य मेरे लिये करके समान देय है ऐसा जानकर अपने स्वरूपका स्मरण करो और धैर्य धारण करो ॥१६२७॥

'अरहृत सिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसघसक्खिस्स' । अर्हत , सिद्धान्, केवलिन , तत्रस्था देवता सर्व च सघ साक्षित्वेनोपादाय कृतस्य । 'पच्चक्खाणस्स भजणादो' प्रत्याख्यानस्य विनाशनात् । 'वर शोभन 'मरण' प्राणपरित्याग ॥१६२८॥

कथ मरणादशोभनता 'प्रत्याख्यानभगस्येत्याशकायामाचष्टे प्रथममुत्तर प्रत्याख्यानभजने दुष्टता निवेदयितुम्—

आमादिदा तओ होंति तेण ते अप्पमाणकरणेण ।
राया विव सक्खिकदो विसंवदतेण कज्जम्मि ॥१६२९॥

'आमादिदा' परिभूता । 'तदो' तत पश्चात् । प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकाल । तेन प्रत्याख्यानभग-कारिणा । ते अर्हदादय । 'अप्पमाणकरणेन अप्रमाणकरणेन । तत्साक्षिक कर्म प्रतिज्ञात विनाशयता ते अप्रमाणीकृता भवन्ति । अप्रमाणकरणेन च ते परिभूता भवन्ति । 'राजा विव सक्खिकदो' राजेव साक्षीकृत । 'कज्जम्मि विसवदतेण' कार्ये विसवदता । एतदुक्त भवति राजसाक्षिक प्रतिज्ञात कर्म चान्यथा कुर्वता राजा यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति ॥१६२९॥

जइ दे कदा पमाण अरहतादी हवेज्ज खवएण ।
तस्सक्खिद कय सो पच्चक्खाण ण भजिज्ज ॥१६३०॥

'जइ दे कदा पमाण यदि ते कृता प्रमाण । 'अरहृतादी' अर्हदादय । हवेज्ज' भवेयु । 'खवएण' क्षपकेण । 'तस्सक्खिद कद पच्चक्खाण' तत्साक्षिक कृत प्रत्याख्यान । सो ण भजिज्ज' क्षपका न नाशयेत् ॥१६३०॥

सक्खिकदरायहीलणमावहइ णरस्स जह महादोस ।
तह जिणवरादिआसादणा वि दोस मह कुणदि ॥१६३१॥

गा०—अरहन्त, सिद्ध केवली, उस स्थानके वासी देवता और सर्व सघको साक्षी बनाकर ग्रहण किये त्यागको तोडनेसे मरण श्रेष्ठ है ॥१६२८॥

त्यागका भग करना मरनेसे भी बुरा कैसे है ऐसी शका होनेपर त्यागके भगकी बुराई कहते है—

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर किये गये कार्यमे विसवाद करनेवाला पुरुष राजाकी अवज्ञा करनेका दोषी होता है। वैसे ही अरहन्त आदि पचपरमेष्ठीकी साक्षीपूर्वक स्वीकार किये गये त्यागको तोडनेवाला मुनि अरहन्त आदिको भी प्रमाण न माननेसे उनकी अवज्ञा करनेका दोषी होता है ॥१६२९॥

गा०—यदि हे क्षपक ! तुम अरहत आदिको प्रमाण मानते हो तो तुम्हे उनकी साक्षिपूर्वक किये गये त्यागको भग नही करना चाहिये ॥ ६३०॥

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर उनकी अवज्ञा करना मनुष्यको महादोषका भागी बनाता है वैसे ही अर्हन्त आदिकी आसादना भी महादोषको करनेवाली है ॥१६३१॥

१ न अन्यत्रयं—अ० ।

'सविषक्दरायहोलण' साक्षीकृतराजपरिभव । 'आवहदि णरस्स जह महादोस' आनयति यथा नरस्य महान्त दोष । 'तह जिणवरादि आसादणा' तथा अर्हदाद्यासादनापि । 'दोस महं कुणदि' दोष महान्त करोति ॥१६३१॥

त महान्तं दोष कथयति—

तित्थयरपवयणसुदे आइरिए गणहरे महड्ढीए ।
एदे आसादंतो पावइ पारंचियं ठाणं ॥१६३२॥

'तित्थयरपवयणसुदे' तीर्थकरान्, रत्नत्रय, आगम । 'आयरिए' आचार्यान् । 'गणहरे' गणधरान् । 'महड्ढीए' महर्द्धिकान् । 'एदे' एतान् । 'असादंतो' असादयन् । 'पावदि' प्राप्नोति । 'पारंचिय ठाण' पारंचिय-नामधेय प्रायश्चित्तस्थान ॥१६३२॥

सक्खीकयरायासादणे हु दोस करे हु एवभवे ।
भवकोडीसु य दोस जिणादि आसादण कुणइ ॥१६३३॥

साक्षीकृतराजावमानजाताद्दोषादर्हदाद्यवमानजनितदोषो महानिति दर्शयति । स्पष्टार्था गाथा ॥१६३३॥

[1]मोक्खाभिलासिणो सजदस्स णिधणगमण पि होइ वरं ।
पच्चक्खाणं भजतस्स ण वरसगहढादिसक्खिकदा ॥१६३४॥
णिधणगमणमेयभवे णासो ण पुणो पुरिल्लजम्मेसु ।
णास वयभंगो पुण कुणइ भवसएसु बहुएसु ॥१६३५॥
ण तहा दोस पावइ पच्चक्खाणमकरित्तु कालगदो ।
जह भजणा हु पावदि पच्चक्खाण महादोसं ॥१६३६॥

उस महान दोषको कहते हैं—

गा०—तीर्थङ्कर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य और महान् ऋद्धिधारियोंकी आसादना करने वाला पारंचिक नामक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥१६३२॥

गा०—साक्षी बनाये गये राजाकी आसादना करनेपर तो एक ही भवमे दोषका भागी होता है । किन्तु अरहन्त आदिकी आसादना करनेपर करोडो भवोमे दोषका भागी होता है । अत साक्षी बनाये गये राजाकी अवज्ञाके दोषसे अर्हन्त आदिकी अवज्ञासे होनेवाला दोष महान होता है ॥१६३३॥

मोक्षके अभिलाषी सयमीका मरना भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अरहन्त आदिको साक्षी करके किये गये त्यागका भग करना श्रेष्ठ नहीं है । मरणको प्राप्त होनेपर तो एक भवका ही विनाश होता है, आगेके भवोका विनाश नहीं होता । किन्तु व्रतका भग बहुतसे भवोमे विनाश-कारी होता है ॥१६३४-३५॥

---

१ एते द्वे गाथे टीकाकारो नेच्छति ।

'ण तहा दोस पावदि' न तथा दोष प्राप्नोति । 'पच्चक्खाणमकरित्तु' प्रत्याख्यानमकृत्वा । बालमरणे मृत । 'जह भजतो पावदि' यथा प्रत्याख्यानभगान्महादोष प्राप्नोति ॥१६३४॥१६३५॥१६३६॥

प्रत्याख्याताहारसेवा हि प्रत्याख्यानभग स चाहार प्रार्थ्यमानो हिंसादिदोषानखिलानानयतीति निगदति—

आहारत्थ हिंसइ भणइ असच्च करेइ तेणेक्क ।
रूसइ लुब्भइ माय करेइ परिगिण्हदि य सगे ॥१६३७॥

'आहारत्थ हिंसइ' आहारार्थं षड्जीवनिकायान्हिनस्ति । असत्य भणति, स्तैन्य करोति । रुष्यत्यलाभे, लुभ्यति लाभे, माया करोति, परिगृण्हाति सगान् ॥१६३७॥

होइ णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदसणचरित्तं ।
आमिमकलिणा ठइओ छाय मइलेइ य कुलस्स ॥१६३८॥

'होइ णरो णिल्लज्जो' निर्लज्जो भवति नर आहाराय परयाञ्चाकरणात । प्रजहाति च तपो, ज्ञान दर्शन चारित्र च । आमिषास्येन कलिनावष्टब्ध छाया कुलस्य मलिनयति परोच्छिष्टभोजनादिना ॥१६३८॥

णासदि बुद्धी जिब्भावसस्स मदा वि होदि तिक्खा वि ।
जो[1]णिगमिलेमलग्गो व होइ पुरिसो अणप्पवसो ॥१६३९॥

'णासदि बुद्धी' बुद्धिनश्यति आहारलम्पटतया युक्तायुक्तविवेकाकरणात् । कस्य ? जिह्वावशस्य तीक्ष्णा पि सती पूर्व बुद्धि कुण्ठा भवति । रसरागमलोपप्लुता अथयाथात्म्य न पश्यतीति पारमीक्कक्लेशलग्नलिंग इव भवति पुरुषोऽनात्मवश ॥१६३९॥

गा०—बिना त्याग ग्रहण किये मरनेपर इतना दोष नही होता जितना महादोष त्याग लेकर उसका भग करनेपर होता है ॥१६३६॥

त्यागे हुए आहारको ग्रहण करना व्रतभग है। वह आहार हिंसा आदि सब दोषोको लानेवाला है यह कहते हैं—

गा०—आहारके लिये मनुष्य छहकायके जीवोका घात करता है। असत्य बोलता है, चोरी करता है। आहार न मिलनेपर क्रोध करता है। मिलनेपर उसका लोभ करता है। मायाचार करता है। घर पत्नी आदि परिग्रह स्वीकार करता है ॥१६३७॥

गा०—आहारके लिये मनुष्य निर्लज्ज होता है क्योकि दूसरोंसे माँगता है। अपना तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्र तक त्याग देता है। आहाररूपी कलिके द्वारा ग्रस्त होकर अपने कुलकी छायाको मलिन करता है दूसरोंका झूठा भोजन खाता है ॥१६३८॥

गा०—जो जिह्वाके वशीभूत है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है क्योकि भोजनका लम्पटी होनेसे वह भक्ष्य अभक्ष्यका विचार नही करता। यदि उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो वह मन्द हो जाती है क्योकि रसोंमें रागरूपी मलसे लिप्त होनेसे बुद्धि भक्ष्य वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नही

---

1. जोणिवविलेस—अ० ।

धीरत्तणमाहप्प कदण्णद विणयधम्मसद्धाओ ।
पयहइ कुणइ अणत्थ गललग्गो मच्छओ चेव ॥१६४०॥

'धीरत्त' धीरत्व, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय, धर्मश्रद्धा च प्रजहाति । करोत्यनर्थश्रद्धा च । प्रजहाति करोत्यनर्थमात्मन । गलावलग्नमत्स्य इव ॥१६४०॥

आहारत्थ पुरिसो माणी कुलजादि पहियकित्ती वि ।
भुंजति अभोज्जाए कुणइ कम्म अकिच्च खु ॥१६४१॥

'आहारत्थ'—आहाराथ, भुजते अभोज्यानि पुरुषो मानी कुलीन, प्रथितकीर्तिरपि अकरणीय करोति ॥१६४१॥

आहारत्थं मज्जारिसुंसुमारी अही मणुस्सी वि ।
दुब्भिक्खादिसु खायति पुत्तभडाणि दइयाणि ॥१६४२॥
इहपरलोइयदुक्खाणि आवहते णरस्स जे दोसा ।
ते दोसे कुणइ णरो सव्वे आहारगिद्धीए ॥१६४३॥

स्पष्टम् उत्तरगाथाद्वयम् ॥१६४२॥१६४३॥

आहारलोलुपतया स्वयभूरमणसमुद्रे तिमितिमिंगिलादयो मत्स्या महाकाया योजनसहस्रायामा षण्मास विवृतवदना स्वपन्ति । निद्राविमोक्षानन्तर पिहिनानना स्वजठरप्रविष्टमत्स्यादीनाहारीकृत्य अवधिष्ठानना-मधेय नरक प्रविशति । तत्कर्णावलग्नमल्लाहारा शालिसिक्थमात्रतनुत्वाच्च शालिसिक्थसज्ञका यदीदृशमस्माक शरीर भवेत् किं नि सृत्य एकोऽपि जन्तुर्लभते ? सर्वान्भक्षयामीति कृतमन प्रणिधानास्ते तमेवावधिस्थान प्रविशति । इति कथयति गाथया—

देख पाती । तथा आहारका लम्पटी मनुष्य विषय सेवन करते हुए मनुष्यकी तरह अपने वशमे नही रहता ॥१६३९॥

गा०—वह धीरता, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय और धर्मश्रद्धाको भी आहारके पीछे छोड देता है और गलेमें फँसी मछलीकी तरह अनर्थ करता है ॥१६४०॥

गा०—मानी, कुलीन और प्रख्यातकीर्ति वाला भी आहारके लिये अभक्ष्यका भक्षण करता है और न करने योग्य कर्म करता है ॥१६४१॥

गा०—भूखसे पीडित होनेपर बिल्ली, मच्छ, सर्पिणि और दुर्भिक्ष आदिमे मनुष्य भी अपने प्रिय पुत्रोको खा जाते हैं ॥१६४२॥

गा०—मनुष्यके जो दोष इस लोक और परलोकमे दुखदायी हैं वे सब दोष मनुष्य आहारकी लम्पटताके कारण ही करता है ॥१६४३॥

आगे कहते हैं—स्वयभूरमण समुद्रमे तिमितिमिंगल आदि महाकाय वाले महामच्छ जो एक हजार योजन लम्बे होते हैं, छह मास तक मुह खोले सोते रहते हैं । जागने पर अपने मुखमे घुसे मच्छो आदिको खाकर मरकर सातवें नरकमे जाते हैं । उनके कानमे एक शालिसिक्थ नामक मत्स्य रहता है जो उनके कानका मैल खाता है । उसका शरीर चावलके बराबर होता

अवघिट्ठाण णिरयं मच्छा आहारहेदु गच्छंति ।
तत्थेवाहारभिलासेण गदो सालिसिच्छो वि ॥१६४४॥

अवधिट्ठाणमित्यादिका गाथा ॥१६४४॥

चक्कधरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीए वंचिओ संतो ।
णट्ठो समुद्दमज्झे सपरिजणो तो गओ णिरयं ॥१६४५॥

'चक्कधरो वि सुभूमो' नाम चक्रलांछन फलरसगृद्धया वंचित समुद्रमध्ये विनष्ट सपरिजन । पश्चाच्च नरक गत ॥१६४५॥

आहारत्थं काऊण पावकम्माणि तं परिगओ सि ।
संसारमणादीयं दुक्खसहस्साणि पावंतो ॥१६४६॥

आहाराय पापानि कर्माणि कृत्वा संसारमनादिकं प्रविष्टो भवान् दुःखसहस्राणि वेदयमान ॥१६४६॥

पुणरवि तहेव संसारं किं भमिदूणमिच्छसि अणंतं ।
जं णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते ॥१६४७॥

'पुणरवि' पुनरपि । तथैव संसारमनन्तमटितु किमिच्छसि ? यस्मादद्याप्याहारे तृष्णा न नश्यति ॥१६४७॥

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरंपि भुंजंतस्स आहारं ।
तित्तीए विणा चित्तं उव्वूरं उद्दुदं होइ ॥१६४८॥

'जीवस्स णत्थि तित्ती' जीवस्य नास्ति तृप्ति चिरमप्याहारं भुञ्जानस्य । तृप्त्या च विना चित्तं नितरामुच्चलं भवति ॥१६४८॥

है इसलिये उसे सालिसिक्थ कहते है। वह कानमे बैठा हुआ मनमे, सोचा करता है कि यदि मेरा शरीर ऐसा होता तो क्या एक भी जन्तु बचकर जा सकता मैं सबको खा जाता। इसी संकल्पसे वह भी मरकर सातवें नरक जाता है—

गा०—महामत्स्य आहारके ही कारण सातवें नरकमे मरकर जाता है और उसी महामत्स्यके कानमें रहनेवाला सालिसिक्थ मत्स्य भी आहारके संकल्पसे मरकर सातवें नरक जाता है ॥१६४४॥

गा०—सुभौम नामक चक्रवर्ती भी एक देवके द्वारा लाये गये फलके रसकी लम्पटताके कारण ठगा जाकर परिवारके साथ समुद्रमे डूब गया और मरकर नरकमे गया ॥१६४५॥

गा०—हे क्षपक ! पूर्वजन्मोमे आहारके ही लिये पाप कर्म करके तुम हजारो दुःख भोगते हुए अनादि संसारमे प्रविष्ट हुए ॥१६४६॥

अब क्या पुन अनन्त संसारमे भ्रमण करनेकी इच्छा है जो अभी भी तुम्हारी आहार संज्ञा नष्ट नही होती ॥१६४७॥

गा०—चिरकाल तक आहार खाकर भी जीवको तृप्ति नही होती। और तृप्तिके बिना चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है ॥१६४८॥

जह इधणेहिं अग्गी जह य समुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
आहारेण ण सक्को तह तिप्पेदु इमो जीवो ॥१६४९॥

'जह इधणेहिं अग्गी' यथेन्धनैरग्निर्नदीसहस्रैरुदधिस्तर्पयितुमशक्यस्तथाहारेण जीव ॥१६४९॥

देविदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमा य ।
आहारेण ण तित्ता तिप्पदी कह भोयण अण्णो ॥१६५०॥

'देविदचक्कवट्टी य' देवेन्द्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षात आत्मीयतनुतेजोनिमित्तेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि षष्ट्यधिकत्रिशतसूपकारैर्वर्षमात्रेणैकदिनाहारं सस्करणोद्यतै ढौकितेन तथार्द्धचक्रवर्तिनोऽपि । भोगभूमिजा भोजनाङ्गकल्पतरप्रभवेन न तृप्ता । कथमन्यो जनस्तृप्यति ॥१६५०॥

उद्धुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो हवदि पीदी ।
पीदीए विणा ण सुह उद्धुदचित्तस्स घण्णस्स ॥१६५१॥

'उद्धुदमणस्स' इतो भद्रमतो भद्रमस्माच्चेदमिति परिप्लवमानचेतसो न रति, क्व च तया विना प्रीति । प्रीत्या च विना न सुख चलचित्तस्य तत्तदाहारलम्पटस्य ॥१६५१॥

सव्वाहारविघाणेहिं तुमे ते सव्वपुग्गला बहुसो ।
आहारिदा अदीदे काले तित्तिं च मि ण पत्तो ॥१६५२॥

'सव्वाहरणविघाणेहिं' अशनपानखाद्यलेह्यविकल्पैस्त्वया सर्वे पुद्गला बहुश आहारिता अतीते काले तृप्ति च न च प्राप्तो भवान् ॥१६५२॥

गा०—जैसे इधनसे आगकी और हजारो नदियोसे समुद्रकी तृप्ति नही होती वैसे ही यह जीव आहारसे तृप्त नही हो सकता ॥१६४९॥

गा०-टी०—देवेन्द्रोंके लाभान्तरायके क्षयोपशमका प्रकर्ष होनेसे अपने शरीरके तेजके निमित्तसे आहार प्राप्त होता है । भोजनकी इच्छा होते ही कण्ठमे अमृत झरता है । चक्रवर्तीके भी तीन सौ साठ रसोइया होते हैं और वे सब मिलकर एक वर्षका आहार एक दिनमें बनाते हैं । अर्धचक्रवर्तीकी भी ऐसी स्थिति है । भोगभूमिके जीवोंको भोजनाग जातिके कल्पवृक्षोंसे यथेच्छ आहार प्राप्त होता है । फिर भी इन सबकी तृप्ति नही होती । तब साधारण मनुष्य भोजन से कैसे तृप्त हो सकता है ॥१६५०॥

गा०-टी०—यह आहार उत्तम है । इससे भी यह आहार उत्तम है इस प्रकारसे जिसका चित्त चचल रहता है उसके चित्तमे अनुराग नही होता । अनुरागके बिना प्रीति नही होती । और प्रीतिके बिना सुख नही होता । इस प्रकार विभिन्न आहारोंके लम्पटी चचलचित्त मनुष्यको आहारसे सुख नही होता ॥१६५१॥

गा०—हे क्षपक ! अतीतकालमे तुमने अन्न, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे चार प्रकारका आहार करके सब पुद्गलोंको बहुत बार खाया है फिर भी तुम्हारी तृप्ति नही हुई ॥१६५२॥

कि पुण कठप्पाणो आहारेदूण अज्जमाहारं ।
लभिहिसि तित्ति पाऊणुदधिं हिमलेहणेणेव ॥१६५३॥

'कि पुण' कि पुन कण्ठप्राणोऽप्याहारं गृहीत्वा प्रीति लप्स्यसे। पीत्वोदधिं न तृप्तो हि यथा हिमलेहनेन ॥१६५३॥

को एत्थ विभओ दे वहुसो आहारभुत्तपुव्वम्मि ।
जुंज्जेज्ज हु अभिलासो अभुत्तपुव्वम्मि आहारे ॥१६५४॥

'को एत्थ विभओ' कोऽत्र विस्मय । आहारे बहुशो भक्तपूर्वे । युज्यते आहारार्थे अभिलाषो ऽभुक्तपूर्वे ॥१६५४॥

आवादमेत्तसोक्खो आहारणो हु सुखमत्थ वहु अत्थि ।
दुःख चेवत्थ वहु आहट्टतस्स गिद्धीए ॥१६५५॥

'आवादमित्तसोक्खो' जिह्वाग्रपातमात्रसुख आहार । न सुखमत्र बह्वस्ति । दु खमेवात्र बहु [1]अभिलषिताहारगृद्धया ॥१६५५॥

सुखस्याल्पताया कारणमाचष्टे—

जिब्भामूल वोलेइ वेगदो वरहओव्व आहारो ।
तत्थेव रस जाणइ ण य परदो ण वि य से पुरदो ॥१६५६॥

जिह्वाया मूल वेगेनातिक्रामत्याहार जात्यश्व इव । जिह्वामात्र एव रस वेत्ति जीवो न आहारानुपरित , न च पुरतोऽग्रत । अल्पा च जिह्वा ॥१६५६॥

गा०—अव तो तुम्हारे प्राण कण्ठगत है अर्थात् तुम्हारी मृत्यु निकट है । जैसे समुद्रको पीकर जो तृप्त नही हुआ वह ओसको चाटनेमे तृप्त नही हो सकता । उसी प्रकार जब तुम समस्त पुद्गलोको खाकर भी तृप्त नही हुए तव मरते समय आज भोजनमे कैसे तृप्त हो सकते हो ॥१६५३॥

गा०—जो आहार तुमने पहले अनेक वार खाया है उसमे तुम्हारी उत्सुकता कैसी ? जो आहार पहले कभी नही खाया है उसमे अभिलाषा होना तो उचित है । जिसे तुम अनेक वार भोग चुके हो उसमे अभिलाषा होना ही आश्चर्यकारी है ॥१६५४॥

गा०—आहारमे वहुत सुख नही है केवल जिह्वाके अग्रभागमे रखनेमात्र ही सुख है । किन्तु इच्छितआहारकी लिप्सासे जो दु ख होता है वह दु ख ही वहुत है ॥१६५५॥

आहारमे स्वल्पसुख होनेका कारण कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे उत्तम घोडा वडा तेज दौडता है वैसे ही आहार भी जिह्वाके मूलको वडे वेगसे पार करता है अर्थात् जिह्वापर ग्रास आते ही वह झट पेटमे चला जाता है । वस जिह्वापर रहते हुए ही जीवको आहारके स्वादकी प्रतीति होती है, न पहले होती है और न

---

१ लषितमाहा—अ० ।

अच्छिणिमिसेणमेत्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो ।
गिद्धीए गिलइ वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुहं ॥१६५७॥

'अच्छिणिमेसणमित्तो' अक्षिनिमेषणमात्र काल । आहाररससेवाजनितसुखस्य । गृद्धया वेगेन निगिरति । यतो गृद्धया च विना नास्तीन्द्रियसुखं ॥१६५७॥

दुक्खं गिद्धीघत्थस्साहट्टंतस्स होइ बहुगं च ।
चिरमाहट्टियदुग्गयचेडस्स व अण्णगिद्धीए ॥१६५८॥

'दुक्ख गिद्धीघत्थस्स' दुःख महद्भवति लम्पटतया ग्रस्तस्याभिलषत । 'चिरमाहट्टियदुग्गदचेडस्स व अण्णगिद्धीए' अन्नगृद्धया चिर व्याकुलस्य दरिद्रसर्वधिनो दासस्येव ॥१६५८॥

को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं बहुसुहस्स चुक्केज्ज ।
चुक्कइ हु संकिलिसेण मुणी सग्गापवग्गाणं ॥१६५९॥

'को णाम अप्पसुक्खस्स कारण' को नामाल्पसुखनिमित्त महतो निर्वृतिसुखात्प्रच्यवने च मुनि सक्लेशेन स्वर्गापवर्गसुखाभ्याम् ॥१६५९॥

महुलित्तं असिधारं लेहइ भुंजइ य सो सविसमण्णं ।
जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहारं ॥१६६०॥

'महुलित्त' मधुना लिप्तामसिधारा आस्वादयति । सविषमन्न भुङ्क्ते यो मरणदेशकाले अयोग्याहारप्रार्थना करोति ॥१६६०॥

वादमे। अर्थात् जब आहार जीभपर नहीं आया और जब आकर गलेमें उतरा तब स्वादकी अनुभूति नहीं होती ॥१६५६॥

गा०—इस प्रकार आहारमें होनेवाले सुखका काल एक बार पलकें बन्द करके खोलनेमें जितना समय लगता है उतना ही है अर्थात् क्षणमात्र है। आहारकी गृद्धि होनेसे आहार वेगसे निगला जाता है और गृद्धिके बिना सुख नहीं होता ॥१६५७॥

गा०—जो आहारविषयक लम्पटताके साथ आहारकी आकांक्षा करता है उसे बहुत दुःख उठाना पड़ता है। जैसे अन्नकी गृद्धिसे चिरकालसे व्याकुल दरिद्र दासको कष्ट होता है वैसा ही कष्ट आहारकी लम्पटतावालेको होता है ॥१६५८॥

गा०-टी०—कौन बुद्धिमान पुरुष थोड़ेसे सुखके लिये बहुत सुखसे वंचित होना चाहेगा। अर्थात् इस अन्तिम अवस्थामें आहारमें आसक्त होनेसे तुम बहुत सुखसे वंचित हो जाओगे। मुनि संक्लेश परिणाम करनेसे स्वर्ग और मोक्षके सुखसे वंचित हो जाता है—उसे स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥१६५९॥

गा०-टी०—जो क्षपक मरते समय अयोग्य आहारकी प्रार्थना करता है वह मधुसे लिप्त *तलवारकी धारको चाटता है और विष मिश्रित अन्नको खाता है।* अर्थात् जैसे मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटनेसे तत्काल सुख होता है किन्तु जीभ कट जाती है वैसे ही मरते समय

असिधार व विस वा दोसं पुरिसस्स कुणइ एयभवे ।
कुणइ दु मुणिणो दोस अकप्पसेवा भवसएसु ॥१६६१॥

'असिधार व' असिधारा वा विष वा पुरुषस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यसेवा भवशतेषु मुनेर्दोष करोति ॥१६६१॥

जावंत किंचि दुक्ख सारीर माणम च ससारे ।
पत्तो अणतखुत्त कायस्स ममत्तिदोसेण ॥१६६२॥

'जावत किं चि दुक्ख' यावत्किंचिद्दु ख शारीर मानस वा ससारे त्वमनतवार प्राप्तवान् । तत्सर्वं शरीरममतादोषेणैव ॥१६६२॥

इण्हि पि जदि ममत्ति कुणसि सरीरे तहेव ताणि तुम ।
दुक्खाणि ससरतो पाविहसि अणतयं कालं ॥१६६३॥

'इण्हि' पि इदानीमपि यदि शरीरे करोषि ममता तथैव तानि दु खानि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽनन्तकाल प्राप्स्यसि ॥१६६३॥

णत्थि भय मरणसम जम्मणसमय ण विज्जदे दुःख ।
जम्मणमरणादक छिण्ण ममत्ति सरीरादो ॥१६६४॥

'णत्थि भय मरणसम' मरणसदृश भय नास्ति । कुयोनिषु जन्मसमान दु ख न विद्यते । जन्ममरणातक छिन्न शरीरममता ॥१६६४॥

अण्ण इम सरीर अण्णो जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ ।
दुक्खभयकिलेसयारी मा हु ममत्तिं कुण सरीरे ॥१६६५॥

यदि अर्हन्त आदिको साक्षीपूर्वक त्यागे हुए आहारकी अभिलाषा करता है और उसे खाता है तो तत्काल उसे अपनी इच्छापूर्ति होनेसे सुख प्रतीत होगा। किन्तु उसकी सब आराधना गल जायेगी ॥१६६०॥

गा०—शहदसे लिप्त तलवार और विषमिश्रित अन्न तो पुरुषका एक भवमें ही अनर्थ करते हैं। किन्तु मुनिका अयोग्य आहारका सेवन सैकडो भवोंमें अनर्थकारी होता है ॥१६६१॥

गा०—हे क्षपक! इस ससारमें तुमने जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दु ख अनन्त वार भोगा है वह सब शरीरमें ममतारूप दोषके कारण ही भोगा है। ॥१६६२॥

गा०—इस समय भी यदि तुम शरीरमें ममता करते हो तो उसी प्रकार चारों गतियोंमें भ्रमण करते हुए अनन्त कालतक दु ख भोगोगे ॥१६६३॥

गा०टी०—मरणके समान भय नहीं है और जन्मके समान दु ख नहीं है। तथा जन्म मरण बडे वेगसे पार क शरीरसे ममत्व है उसको तुम दूर करो ॥१६६४॥

जिह्वापर रहते हुए ६ ——आ० मु०।

१ र्पिनमाह।—

'अण्ण इम सरीर' अन्यदिद शरीर । अन्यो जन्तुरिति निश्चितमतिर्दुःखसक्लेशसपादनोद्यता मा कृथा शरीरे ममताम् ॥१६६५॥

सव्व अधियासतो उवसग्गविधि परीसहविधि च ।
णिस्सगदाए मल्लिह असकिलेसेण त मोह ॥१६६६॥

'सव्व उवसग्गविहिं' सर्वं उपसर्गविकल्प परीषहविकल्प च सहमानो मोह भवास्तनूकुरु । **'णिस्सगतया'** असक्लेशेन च ॥१६६६॥

ण वि कारण तणादोसथारो ण वि य सघसमवाओ ।
साधुस्स सकिलेसतस्स य मरणावसाणम्मि ॥१६६७॥

'ण वि कारण तणादी' नैव कारण तृणादिमस्तर सल्लेखनाया, नापि सघसमुदाय मरणावसाने सक्लिश्यत साधो ॥१६६७॥

जह वाणियगा सागरजलम्मि णावाहिं रयणपुण्णाहिं ।
पट्टणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जति ॥१६६८॥

'जह वाणियगा' यथा वणिजा रत्नसपूर्णाभिर्नौभि सह विनश्यन्ति । समुद्रजलमध्ये प्रमादेन मूढा पत्तनान्तिकमागता अपि ॥१६६८॥

सल्लेहणा विसुद्धा केई तह चेव विविहसगेहि ।
सथारे विहरता वि सकिलिट्ठा विवज्जति ॥१६६९॥

'सल्लेहणा विसुद्धा वि' शरीरसल्लेखनाभावात् । सल्लेखनया विशुद्धा अपि सत । पूर्वं केचित् विविध

गा०—यह शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है ऐसा निश्चय करके दुःख भय और क्लेशको करनेवाली ममता शरीरमे मत कर अर्थात् शरीरसे ममत्वको त्याग, वही सब दुःखोका मूल है ॥१६६५॥

गा०—सब उपसर्गोके प्रकारोको और सब परीषहके प्रकारोको सहन करते हुए तुम निःसगत्वभावनासे सक्लेश परिणामोके बिना मोहको कृश करो ॥१६६६॥

गा०-टी०—यदि मरते समय साधुके परिणाम सक्लेशरूप होते हैं तो तृण आदिका सथरा या वैयावृत्य करनेवाले साधुका जमघट सल्लेखनाका कारण नही हो सकता । अर्थात् तृणादिके सथरा और वैयावृत्य करनेवाले साधु तो सल्लेखनाके बाह्य कारण है अन्तरग कारण तो क्षपकका आर्त रौद्र रहित परिणाम ही है । उसके अभावमे केवल बाह्य कारणोमे सल्लेखना नही हो सकती ॥१६६७॥

गा०—जैसे वणिक् रत्नोसे भरी नावोके साथ नगरके समीप तक आकर भी प्रमादवश मूढ होकर सागरके जलमे डूब जाते हैं ॥१६६८॥

गा०-टी०—उसी प्रकार पहले विशुद्ध भावसे शरीरकी सल्लेखना करनेवाले भी कुछ क्षपक रागद्वेषादि भावरूप विविध परिग्रहोके साथ सथरेपर आरूढ होते हुए भी सक्लेश परिणामो

मर्गोहि विचित्रं रागद्वेषादिभावपरिग्रहैं सह । 'सथारे विहरता वि' सस्तरे प्रवर्तमाना अपि । 'संकिलिट्ठा विवज्जति' संक्लिष्टपरिणता विनश्यन्ति ॥१६६९॥

सल्लेहणापरिस्सममिम कय दुक्कर च सामण्णं ।
मा अप्पसोक्खहेउ तिलोगसार वि णासेइ ॥१६७०॥

'सल्लेहणापरिस्सममिद' शरीरसल्लेखनाया क्रियमाणाया अनशनादितपसा त्रिविधाहारत्यागेन, यावज्जीव वा पानपरिहारेण जात परिश्रममिद । 'दुक्कर च कद सामण्ण' दुष्कर कृत च श्रामण्य । चिरकाल त्रिलोकसार अतिशयितस्वर्गापवर्गसुखदानात् । 'अप्पसुक्खहेदु' अल्पाहारसेवाजनितसुखनिमित्त । 'मा विणसेहि' नैव विनाशय ॥१६७०॥

धीरपुरिसपण्णत्त सप्पुरिसणिसेविय उवणमित्ता ।
धण्णा णिरावयक्खा सथारगया णिसज्जति ॥१६७१॥

'धीरपुरिसपण्णत्त' उपसर्गाणा परिषहाणा चोपनिपाते अविचलधृतयो ये धीरास्तैरुपदिष्ट तत्सव । 'सप्पुरिसणिसेविय' सत्पुरुषनिषेवित माग 'उवणमित्ता' आश्रित्य । 'धण्णा' धन्या पुण्यवत । 'णिरावयक्खा' निरपेक्षा परित्यक्तादाना । 'सथारगया' सस्तरारूढा । 'णिसज्जति' शेरते ॥१६७१॥

तम्हा कलेवरकुडी पव्वोढव्वत्ति णिम्ममो दुक्ख ।
कम्मफलमुवेक्खंतो विसहसु णिव्वेदणो चेव ॥१६७२॥

'तम्हा' तस्मात् । 'कलेवरकुडी' शरीरकुटी । 'पव्वोढव्वत्ति' परित्याज्येति मत्वा । 'णिम्ममो' शरीरे ममतारहित । 'दुक्ख विसहसु' दु ख विसहस्व । 'कम्मफलवेमुवखतो' कर्मफलमुपेक्षमाणो । 'णिव्वेदणो चेव' निर्वेदनमिव ॥१६७२॥

इय पण्णविज्जमाणो सो पुव्व जायसकिलेसादो ।
विणियत्तंतो दुक्ख पस्सइ परदेहदुक्ख वा ॥१६७३॥

के कारण विनाशको प्राप्त होते हैं। अर्थात् प्रथम तो उनकी सल्लेखना ठीक रहती है। पीछे सक्लेश परिणाम होनेसे सथरेपर रहते हुए भी सल्लेखनासे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१६६९॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! अनशन आदि तपके द्वारा तथा तीन प्रकारके आहार और जीवन पर्यन्तके लिये पानका त्याग करके शरीरको कृश करनेमे तुमने जो परिश्रम किया है और यह अत्यन्त कठिन मुनिपद धारण किया है और इन सबसे तुम्हे जो स्वर्ग और मोक्षका सातिशय सुख मिलनेवाला है, इन सबको आहार सेवनसे होनेवाले थोडेसे सुखके लिये नष्ट मत करो ॥१६७०॥

गा०—उपसर्ग और परीषहोके आनेपर भी जो विचलित नही होते उन धीर पुरुषोके द्वारा कहे गये और श्रेष्ठ पुरुषोके द्वारा सेवित इस मार्गको अपनाकर पुण्यशाली क्षपक, त्याग और ग्रहणसे निरपेक्ष होकर सस्तरपर आरूढ होकर विशुद्ध होते हैं ॥१६७१॥

गा०—अत यह शरीररूपी कुटिया त्यागने योग्य है ऐसा मानकर शरीरमे ममत्त्व मत करो। तथा कर्मफलकी उपेक्षा करते हुए दु खका इस प्रकार सहो मानो दु ख है ही नही ॥१६७२॥

'इय' एव । 'पण्णविज्जमाणो' प्रज्ञाप्यमान । 'सो पुव्व आदसकिलेसादो' पूर्व आतसक्लेशात् । 'विणि-यत्तनो' विनिवर्त्यमान । 'दुक्ख पस्सदि' दुःख पश्यति । किमिव ? 'परदेहदुक्ख वा' परशरीरगतमिव दुःख ॥१६७३॥

रायादिमहड्ढीयागमणपओगेण चा वि माणिस्स ।
माणजणणेण कवय कायव्व तस्स खवयस्स ॥१६७४॥

'रायादिमहड्ढीयागमणपओगेण' राजादिमहर्द्धिकागमनप्रयोगेण 'चावि माणिस्स' मानिनोऽपि । 'माणजणणेण' मानजननेन । 'कवय कायव्व' कवच कर्तव्य । 'तस्स खवयस्स' तस्य क्षपकस्य । मम धीरता द्रष्टु अमी महर्द्धिका समायाता । अमीषा पुरस्ताद्यद्यपि प्राणा यान्ति यान्तु काम तथापि स्वा मनस्विता नाह त्यजामीति मानयनो दुःख सहते न कुरुते व्रतभङ्गम् ॥१६७४॥

इच्चेवमाइकवच खणिदं उस्सग्गिय जिणमदम्मि ।
अववादिय च कवय आगाढे होइ कादव्व ॥१६७५॥

'इच्चेवमादिकवच भणिद' इत्येवमादिक कवच कथितो जिनमते । उस्सग्गिगो' औत्सर्गिक सामान्य-भूत । 'अववादिग च कवच कादव्व' विशेषरूपोऽपि कवच कर्तव्यो भवत्यवगाढे मरणे ॥१६७५॥

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तूणं ।
जायइ अलघणिज्जो कम्ममसत्थो य जिणदि य ते ॥१६७६॥

'जह कवचेण' यथा कवचेन । 'अभिज्जेण' अभेद्येन । 'कवचिदो' सन्नद्ध । 'रणमुहे सत्तूणमलघिज्जो

गा०—इस प्रकार उपदेश द्वारा समझानेपर वह क्षपक पूर्वमे हुए सक्लेशरूप परिणामोसे अपनेको हटाकर अपने दुःख इस प्रकार देखता है, मानो वह दुःख उसके शरीरमे नही है किन्तु किसी दूसरेके शरीरमे है ॥१६७३॥

गा०–टी०—महान् ऐश्वर्यशाली राजा आदिको उस क्षपकके पास लाकर भी उस अभि-मानीको मानदान देकर उसका कवच (रक्षाका उपाय) करना चाहिये । उन्हे देख वह विचारता है कि मेरी सहनशीलताको देखनेके लिये ये बडे-बडे ऐश्वर्यशाली आये हुए हैं । इनके सामने भले ही मेरे प्राण जायें तो चले जायें । तथापि मैं अपनी मनस्विताको नही छोडूँगा । इस प्रकार वह मानप्रेमी दुःख सहता है किन्तु व्रतभग नही करता ॥१६७४॥

गा०—इस प्रकार जिनमतमे कवचका औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य स्वरूप कहा है। मृत्यु निकट होनेपर आपवादिक अर्थात् विशेषरूप भी कवच करना चाहिये ॥१६७५॥

विशेषार्थ—जिसका मरण अभी दूर है उसके लिये सामान्यरूपसे ऊपर कवचका कथन किया है। यहाँ निकट मरण वालेके लिये अपवादरूप विशेष कवचका कथन किया है। जिसका अभिप्राय यह है कि तत्काल उत्पन्न हुए ध्यानमे विघ्न डालने वाले भूख आदिके दुःखको दूर करनेके लिये यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये।

गा०—जैसे अभेद्य कवचके द्वारा सुरक्षित योद्धा युद्धभूमिमे शत्रुओके वशमे नही आता। तथा शत्रुपर प्रहार करनेमे समर्थ होता है और इस प्रकार शत्रुओको जीत लेता है ॥१६७६॥

होदि' रणमुखे शत्रूणामलघ्यो भवति। 'कम्मसमत्थो य' प्रहरणादिक्रियासमर्थ। 'जिणदि य ते' जयति च तानरीन् ॥१६७६॥

एव खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसहरिऊणं।
जायइ अलघणिज्जो ज्झाणसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७७॥

'एव खवगो' एवं क्षपक कवचेनोपगृहीत परीषहारिभिर्न लुप्यते, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परीषहारीन् ॥कवचुत्ति ॥१६७७॥

एव अधियासेंतो सम्म खवओ परीसहे एदे।
सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७८॥

'एव अधियासेंतो' एव सहमान सम्यक्परीषहानेतान्। सर्वत्राप्रतिबद्ध शरीरे, वसतौ, गणे, परिचारकेषु च सर्वत्रापि इति समचित्तताम् ॥१६७८॥

सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिच्च ममत्तिदो विजडो।
णिप्पणयदोसमोहो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७९॥

'सव्वेसु' सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्य परित्यक्तममतादोष ममेद सुखसाधन मदीय इति वा। 'णिप्पणयदोसमोहो' निस्नेहो, निर्दोषो, निर्मोह सर्वत्र समतामुपैति ॥१६७९॥

सजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु।
रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिसं दीणत्तणं च तहा ॥१६८०॥

सयोगे रतिं, विप्रयोगे अरति, इष्टे वस्तुन्युत्कण्ठा, इष्टयोगे 'रदि' रति, हर्ष, इष्टविप्रयोगे अरति दीनता। 'उस्सुगत्त' उत्सुकता च तथा 'जहदि' जहाति क्षपक कवचेनोपगृहीत ॥१६८०॥

गा०—उसी प्रकार कवचसे सुरक्षित क्षपक परीषह आदिके वशमे नहीं आता। तथा ध्यान करनेमे समर्थ होता है और उन परीषहरूपी शत्रुओको जीत लेता है ॥१६७७॥

गा०—इस प्रकार इन तत्काल उपस्थित हुई परीषहोको सम्यक् रूपसे सहन करता हुआ क्षपक सर्वत्र शरीर, वसति, सघ और परिचर्या करनेवालोमे अप्रतिबद्ध होता है—ये मेरे हैं मैं इनका हूँ ऐसा सकल्प नहीं करता। तथा सर्वत्र जीवन मरण आदिमे समभावको—रागद्वेषसे रहितताको प्राप्त होता है ॥१६७८॥

गा०—द्रव्य और पर्यायके समस्त भेदोमें नित्य ममता दोषको त्याग स्नेह रहित, दोष रहित और मोहरहित होकर सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यो और पर्यायोमे 'ये मेरे सुखके साधन हैं' इस प्रकारका ममत्व भाव नहीं रखता। किन्तु सबमे समभाव रखता है। न किसीसे प्रीति करता है और न किसीसे द्वेष करता है ॥१६७९॥

गा०—कवचसे उपकृत हुआ क्षपक सयोगमे रति, वियोगमे अरति, इष्ट वस्तुमे उत्कण्ठा, इष्ट वस्तुके सयोगमे रति तथा हर्ष और इष्ट वस्तुके वियोगमे अरति तथा दीनता नहीं करता ॥१६८०॥

मित्ते सुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चावि ।
राग वा दोस वा पुव्व जायपि मो जहइ ॥१६८१॥

'मित्ते सुयणादीसु य' मित्रेषु बन्धुषु वा । शिष्येषु च सधर्मणि कुले वा पूर्वं जात रागद्वेष वासौ जहाति ॥१६८१॥

भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेइ पत्थण खवओ ।
मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥१६८२॥

'भोगेसु देवमाणुस्सगेसु' देवमानवगोचरभोगप्रार्थना न करोति क्षपको व्यावर्णितकवचोपगृहीत । विषयाभिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥१६८२॥

इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ॥१६८३॥
सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा ।
खवयस्स रागदोसा हु उत्तमट्ठं वि[1]णासति ॥१६८४॥

स्पष्ट उत्तरगाथाद्वय। ॥१६८३॥१६८४॥

विशेषार्थ—इष्ट वस्तुके मिलनेपर या अनिष्ट वस्तुके बिछुडनेपर चित्तमे प्रसन्नता होना, अनिष्टका सयोग अथवा इष्टका वियोग होनेपर अरति अर्थात् चित्तका दु खी होना, इष्ट वस्तुमे उत्कण्ठा होना—यदि मुझे अमुक वस्तु मिल जाये तो अच्छा हो इस प्रकार हृदयमे उत्कण्ठा होना, हर्ष अर्थात् इष्टका सयोग होनेपर रोमाच, मुखकी प्रसन्नता आदिसे आनन्द व्यक्त होना, तथा इष्टका वियोग होनेपर मुखकी विरूपतासे विषाद व्यक्त होना, ये सब कवचमे उपगृहीत क्षपक छोड देता है ।

गा०—अथवा कवचसे उपगृहीत वह क्षपक मित्रोमे, बन्धुबान्धवोमे, शिष्योमे साधर्मी जनोमे और कुलमे, पूर्वमे उत्पन्न हुए रागद्वेषको छोड देता है अर्थात् समाधि स्वीकार करनेसे पूर्वमे या दीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्वमे जो रागद्वेष उत्पन्न हुआ है उसे दूर करता है साथ ही आगे भी रागद्वेष नही करता ॥१६८१॥

गा०—तथा ऊपर कहे गये कवचसे उपगृहीत क्षपक यह जानकर कि विषयोकी अभिलाषा मोक्षमार्गकी विराधनाका मूल है, देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोकी प्रार्थना नही करता ॥१६८२॥

गा०-टी०—कवचमे उपगृहीत होनेमे क्षपक इष्ट अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमे, इस लोक और परलोकमे, जीवन और मरणमे, मान और अपमानमे सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्पमे मुक्त और रागद्वेषसे रहित होता है । क्योकि क्षपकके रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् रत्नत्रय, सम्यक् ध्यान और समाधिमरणको नष्ट कर देते है ॥१६८३-१६८४॥

---

१ विराधेति मु० ।

जदि वि य से चरिमंते समुदीरदि मारणंतियमसायं ।
सो तह वि असंमूढो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६८५॥

'जदि वि य से' यद्यपि तस्य क्षपकस्य चरमकालान्ते मारणान्तिक दुःख भवेत् सो कवचेनोपगृहीत क्षपक तथापि असंमूढ समभाव सर्वत्रोपैति ॥१६८५॥

एव सुभाविदप्पा विहरइ सो जाववीरियं काये ।
उट्ठाणे सवेसणे सयणे वा अपरिदंतो ॥१६८६॥

'एव सुभाविदप्पा' निर्यापकेन सूरिणा गदितोर्थ एवमित्युच्यते । तेन सम्यग्भावितचित्त सन्विहरदि प्रवर्तते अपरिश्रान्त । 'जाववीरिय काये' यावच्छरीरे बलमस्ति उत्थाने, शयने आसने वा ॥१६८६॥

जाहे सरीरचेट्ठा विगदत्थामस्स से यदणुभूदा ।
देहादि वि ओसग्गं सव्वत्तो कुणइ णिरवेक्खो ॥१६८७॥

'जाहे सरीरचेट्ठा' यदा शरीरचेष्टा विगतबलस्य तस्य स्वल्पा जाता, तदा शरीरादुत्सर्गं करोति सर्वतो मनोवाक्कार्यैनिरपेक्ष ॥१६८७॥

तदेव शरीरादिक त्याज्यमुत्तरगाथया दर्शयति—

सेज्जा सथार पाणय च उवधिं तहा सरीर च ।
विज्जावच्चकरा वि य वोसरइ समत्तमारूढो ॥१६८८॥

'सेज्जा' वसति । सस्तर तृणादिक, पान पिच्छ, शरीर च वैयावृत्यकरांश्च व्युत्सृजति । 'समत्तमारूढो' समाप्त संपूर्ण रत्नत्रयमारूढ ॥१६८८॥

गा०—यद्यपि उस क्षपकको अन्तिम समयमें मरण प्राप्त होनेतक दुःख होता है तथापि वह कवचसे उपगृहीत क्षपक शरीरमें भी मोह न रखता हुआ सर्वत्र समभाव धारण करता है ॥१६८५॥

गा०—इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा कहे गये पदार्थ स्वरूपसे अपने चित्तको सम्यक् रूपसे भावित करके वह क्षपक जबतक शरीरमें शक्ति रहती है तबतक बिना थके उठने बैठने और सोनेमें स्वय प्रवृत्ति करता है ॥१६८६॥

गा०—जब शक्तिहीन होनेपर उसकी शारीरिक चेष्टा मन्द पड़ जाती है तब वह मन वचन कायसे निरपेक्ष होकर शरीरका भी त्याग करता है ॥१६८७॥

आगेकी गाथासे शरीर आदिको त्याज्य बतलाते हैं—

गा०—सम्पूर्ण रत्नत्रयमें आरूढ हुआ वह क्षपक वसति, तृणादि रूप सस्तर, पानक, पिच्छी, शरीर तथा वैयावृत्य करनेवालोंका भी त्याग कर देता है अर्थात् उन सबसे भी निरपेक्ष हो जाता है ॥१६८८॥

---

१ उट्ठाणे सयणे वा णिसीयणे —आ० मु० ।

अवहट्टु कायजोगे व विप्पओगे य तत्थ सो सव्वे ।
सुद्धे मणप्पओगे होइ णिरुद्धज्झवसियप्पा ॥१६८९॥

'अवहट्टुकायजोगे' वाग्योगान्काययोगाश्च सर्वान्निराकृत्य अमावत्र मनोयोगे शुद्धे स्थितो भवति । विषयान्तरसञ्चारान्निरुद्ध अध्यवसित च आत्मरूप ज्ञानाख्य यस्य स ॥१६८९॥

एवं सव्वत्थेसु वि समभाव उवगओ विसुद्धप्पा ।
मित्ती करुणं मुदिदमुवेक्ख खवओ पुण उवेदि ॥१६९०॥

'एव सव्वत्थेसु वि' एव सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विशुद्धचित्त , मैत्री, करुणा, मुदितामुपेक्षा च पश्चादुपैति क्षपक ॥१६९०॥

मैत्रीप्रभृतीना चिन्ताना विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु मित्तचिंता मेत्ती करुणा य होइ अणुकंपा ।
मुदिदा जदिगुणचिंता सुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥१६९१॥

'जीवेसु मित्तचिता' अनन्तकाल चतसृषु गतिषु परिभ्रमतो घटीयन्त्रवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुश कृत-महोपकारा इति तेषु मित्रताचिन्ता मैत्री । 'करुणा य होइ अणुकपा' शारीर, आगन्तुक मानस स्वाभाविक च दु खमसह्यमाप्नुवतो दृष्ट्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाशुभेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्म-पर्यायपुद्गलस्कन्धतदुदयोद्भवा विपदो विवशा प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकम्पा । मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोषा, विलोभा इत्यादिका । सुखे अरागा दु खे वा अद्वेषा उपेक्षेत्युच्यते ॥१६९१॥ ममता गता ।

गा०—वह सब काययोगो और वचनयोगोको दूरकर शुद्ध मनोयोगमे स्थिर होता है। क्योकि वह अपने ज्ञानरूप आत्माको युक्ति और तर्क वितर्कसे निश्चित करके उसे अन्य विषयोमे जानेसे रोकता है ॥१६८९॥

गा०—इस प्रकार सब वस्तुओमे समताभाव धारण करके वह क्षपक निर्मल चित्त हो जाता है। फिर मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाको अपनाता है ॥१६९०॥

मैत्री आदि भावनाओंको कहते हैं—

गा०-टी०—अनन्तकाल चारो गतियोमे भ्रमण करते हुए घटीयन्त्रकी तरह सभी प्राणियोने मेरा बहुत उपकार किया है अत उनमे मित्रताकी भावना होना मैत्री है। असह्य शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक दु खको भोगते हुए प्राणियोको देखकर अरे बेचारे मिथ्या-दर्शन, अविरति, कषाय और अशुभ योगसे उपार्जित अशुभ कर्मरूप पुद्गल स्कन्धोंके उदयसे उत्पन्न हुई विपदाओको विवश होकर भोगते हैं। इस प्रकारके भावको करुणा या अनुकंपा कहते हैं। यतियोंके गुणोंके चिन्तनको मुदिता कहते हैं। यतिगण विनयी, रागरहित, भयरहित, मान-रहित, रोषरहित और लोभरहित होते हैं इत्यादि चिन्तन मुदिता है। सुखमे राग और दु खमे द्वेष न करना उपेक्षा है ॥१६९१॥

दसणणाणचरित्तं तव च विरियं समाधिजोगं च ।
तिविहेणुवसपज्जिय मव्वुवरिल्लं कम कुणइ ॥१६९२॥

'दसणणाणचरित्त तव विरिय समाधिजोग च' तत्त्वश्रद्धान तत्त्वावगम, वीतरागता, अशनत्याग-क्रिया स्वशक्त्यानिगूहन चित्तैकाग्रयोग । 'तिविधेणुवसपज्जिय' मनोवाक्कायै प्रतिपद्य । 'सव्वुवरिल्ल' मर्वेभ्य पूर्वप्रवृत्तदर्शनादिपरिणामेभ्योऽतिशयित क्रम 'कुणदि' क्रम दर्शनादिपदन्याम करोति ॥१६९२॥

शुभध्यानमारुरक्षत परिकरमाचष्टे—

जिदरागो जिद्दोसो जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।
अरदिरदिमोहमहणो ज्झाणोवगओ सदा होहि ॥१६९३॥

'जिदरागो' स्वतो व्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तेषा पर्यायेषु रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाख्येषु विचित्रभेदेषु तत्सस्थानादिषु च यो राग स जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोज्ञेषु याऽप्रीति स दोष उच्यते स च जितो येन स जितदोष ।

"णेहुत्तुप्पिदगत्तस्स रेणुगो लग्गदे जहा अगे ।
तह रागदोसणेहोल्लिदस्स 'कम्मासवो होदि ॥" [मूलाचार २३६] इति ।

जिनवचनाधिगमाद्दु खभीरुर्यति सर्वदु खाना मूलकारणभूतौ रागद्वेषाविति मनसा विनिश्चित्य

गा०-टी०—दर्शन अर्थात् तत्त्वश्रद्धान, तत्त्वज्ञान और चारित्र अर्थात् वीतरागता, तप अर्थात् भोजनका त्याग, वीर्य अर्थात् अपनी शक्तिको न छिपाना, तथा समाधियोग अर्थात् चित्तकी एकाग्रता, इन सबको मन वचन कायसे प्राप्त करके क्षपक पूर्वके दर्शन आदिसे विशिष्ट दर्शन आदिमे पग धरता है ॥१६९२॥

विशेषार्थ—मैत्री आदि भावनाके बलसे व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करके क्षपक परमार्थ मुक्तिमार्गपर चलनेका प्रयत्न करता है यह इस गाथाके द्वारा कहा है । यह शुभतम ध्यानके लिये प्रयत्नका प्रारम्भ है ॥१६९२॥

आगे शुभध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०—जो जितराग, जितद्वेष, जितेन्द्रिय, जितभय, जितकषाय और अरति रति तथा मोहका मथन करता है वह सदा ध्यानमें लीन रहता है ।

टी०—अपनेसे भिन्न जीव अजीव द्रव्योंमे, रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द रूप उनकी पर्यायोंमें तथा अनेक भेदवाले उनके आकारादिमें जो रागको जीतता है उसे जितराग कहते हैं। तथा अमनोज्ञ वस्तुओंमें प्रीतिका अभाव दोष है । जिसने उसे जीत लिया वह जितदोष है । 'जैसे जिसका शरीर तेलसे लिप्त होता है उसके शरीरमे धूल लगती है । उसी प्रकार जो राग द्वेष और स्नेहसे लिप्त होता है उसके कर्मोंका आस्रव होता है ।'

इस जिनागमको जानकर दु खसे भीत यति सब दु खोका मूल कारण रागद्वेष है ऐसा

---

१ कम्म मुणेयव्व —मूला० ।

यस्तयोर्न विपरिणमते सोऽभिधीयते जितरागद्वेष इति । तस्योपायो जितेन्द्रियत्वं याचष्टे--अह जिदिंदिओ इति वाक्यशेष कृत्वा सम्बन्ध । 'जिदिंदिओ' इन्द्रियशब्देन रूपाद्यालम्बनोपयोग परिगृह्यते स जितो येन स उच्यते जितेन्द्रिय इति । कथमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतु शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोगे एव वृत्ता मन 'सत्या, युगपदुपयोगद्वयस्यात्मन्येकदा विरोधादप्रवृत्ते । न च बाह्यद्रव्यालम्बनमुपयोगमन्तरेणास्ति सभवो रागद्वेषयो । सकल्पपुरोगौ हि ताविति । 'जिदकसायो' क्षमामार्दवार्जवसतोषपरिणामनिरस्तकषायपरिणामप्रसरो जितकषाय इत्युच्यते । अरते रतेश्च कर्मण उदये उपजातौ रत्यरतिपरिणामौ, मोहो, मिथ्याज्ञान च सम्यग्ज्ञानभावनया मथ्नाति य स भण्यते 'अरदिरदिमोहमधणो' । एव निरस्तध्यानप्रतिपक्षपरिणाम । 'ज्झाणोवगदो होदि' ध्यानाख्य परिणाममाश्रितो भवति । न हि रागादिभिर्व्याकुलीकृतस्य अर्थयाथात्म्यग्राहि भवति विज्ञान अविचल च नावतिष्ठते । अविचलमेव वस्तुनिष्ठ ज्ञान ध्यानमिष्यते ॥१६९३॥

धम्म चदुप्पयारं सुक्कं च चदुव्विध किलेसहर ।
ससारदुक्खभीओ दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्झादि ॥१६९४॥

'धम्म चदुप्पयार' धर्मध्यान चतु प्रकार । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्म । स्वभावातिशयादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिक वस्तु भवति । स्वभावातिशयभावादेव वस्तु भण्यते न खरविषाणादि, तेन धर्मशब्दो

मनसे निश्चित करके राग दोषरूप परिणमन नही करता । उस यतिको जितराग द्वेष कहते है। उसका उपाय है जितेन्द्रिय होना । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे रूपादिका आलम्बन लेकर जो उपयोग होता है उसका ग्रहण किया है । उसे जो जीत लेता है वह जितेन्द्रिय है।

यह जो मतिज्ञानरूप उपयोग है इसको कैसे जीता जा सकता है ? श्रुतज्ञानरूप उपयोगमे ही मनकी प्रवृत्ति होनेपर मतिज्ञानरूप उपयोग जीता जा सकता है। क्योंकि एक साथ एक आत्मामे दो उपयोगोका विरोध होनेसे दो उपयोगोकी प्रवृत्ति नही हो सकती । और जबतक उपयोगका आलम्बन बाह्य द्रव्य न हो तबतक रागद्वेष नही हो सकते । क्योकि रागद्वेष सकल्प-पूर्वक होते हैं । तथा जो क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष परिणाममे कषायरूप परिणामोके प्रसारको निरस्त कर देता है उसे जितकषाय कहते हैं। अरति और रति कर्मका उदय होनेपर उत्पन्न हुए रति और अरतिरूप परिणामोको और मोह अर्थात् मिथ्याज्ञानको जो सम्यग्ज्ञानरूप भावनासे मथता है उसे 'अरतिरति मोहमथन' कहते हैं। इस प्रकार जो ध्यानके विरोधी परिणामो को दूर करता है वह ध्यान नामक परिणामको करता है। जो रागादिसे व्याकुल रहता है उसका ज्ञान न तो अर्थके यथार्थस्वरूपको ही ग्रहण करता है और न निश्चल ही रहता है। और वस्तुनिष्ठ निश्चल ज्ञानको ही ध्यान कहते हैं ॥१६९३॥

गा०—धर्मध्यान चार प्रकारका है और शुक्ल ध्यान भी चार प्रकारका है। ये ही ध्यान कष्टको हरनेवाले हैं। चतुर्गति परावर्तनरूप ससारमे जो दुख होते हैं उनसे भीत मुनि धर्म और शुक्लध्यानोको ध्याता है ॥१६९४॥

टी०—जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसे धर्म कहते हैं। चैतन्य आदिरूप स्वभावके अतिशयसे ही जीवादि वस्तु होती है। स्वभावरूप अतिशयके होनेसे ही वस्तु कहलाती

---

१. एव वृत्तामन सत्य आ०-योगे वारमन प्रवृत्तौ सत्या मु० ।

वस्तुस्वभाववाची। धर्माद्वस्तुस्वभावादनपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते। यद्येवमार्तादेरपि धर्मादनपेतत्वमस्ति। सम्प्रयुक्तामनोज्ञवस्तुवियोग, वियुक्तमनोज्ञवस्तुयोग, रोगातङ्कादिप्रशमन, अभिमतप्राप्ति च धर्ममाश्रित्य प्रवर्तमानत्वाद्धर्मादनपेतेति। नैष दोष विवक्षितधर्मविशेषवृत्तिर्धर्मशब्द। अत एव आज्ञापायविपाकसंस्थानमित्यादिके धर्मैर्ध्येयैरनपेतत्वाद्धयानमाज्ञाविचयादिसंज्ञाभिरुच्यते। ध्येयं ज्ञेयवस्तुस्वरूप तदविनाभावि च ज्ञान ध्यानमिति सगताथ व्याख्येय। अन्ये तु व्याचक्षते-क्षमामार्दवार्जवादिकाद्धर्मादनपेतत्वाद्धर्म्यं इति। ननु च ध्यान ध्येयाविनाभावि न च क्षमादयो धर्मा ध्येया येन तदनपेतत्वमुच्यते। अथ क्षमादिको दशविधो धर्मो ध्येयस्तस्मादनपेतस्तस्यान्यत्राप्रवृत्ते 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमिति सूत्र न युज्यते'। उत्तमक्षमादिधर्मपरिणतादात्मनोऽनपेतत्वात् धर्मादनपेततेति धर्म्यमित्युच्यत इति चेन् शुक्लस्यापि धर्मादनपेतत्वा द्धर्म्यध्यानता स्यादत्रोच्यते—रूढिशब्देषु क्वचित्सभाविनी क्रियामाश्रित्य शब्दव्युत्पत्तिमात्र क्रियते। न सा क्रिया तन्त्र आशुगमनादश्व इति व्युत्पाद्यमान स्थिते शयिते च प्रवर्तते न चाशुगामिन्यपि वैनतेयादौ प्रवर्तते। तद्वदिहापि शुक्ले न धर्मशब्दो वर्तते। धर्मादन्यत्राप्याज्ञादौ वर्तते। अथ कि ध्यान, 'उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्ता-

---

है। इसीसे गधेके सीग नामकी कोई वस्तु नही है। अत धर्म शब्द वस्तुस्वभावका वाचक है। धर्म अर्थात् वस्तु स्वभावसे जो सहित है उसे धर्म्य कहते हैं।

शका—यदि ऐसा है तो आर्तध्यान आदि भी धर्मसे सहित है। क्योकि प्राप्त अनिष्ट वस्तुके वियोग, वियुक्त इष्ट वस्तुके सयोग, रोग आदिकी शान्ति और इष्टकी प्राप्ति आदि धर्मको लेकर आर्तध्यान होता है अत वह भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्मध्यान कहा जाना चाहिये ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है। यहाँ धर्म शब्द विवक्षित धर्मविशेषको कहता है। अत आज्ञा, अपाय, विपाक, सस्थान आदि धर्म जिसमे ध्येय होते हैं उस ध्यानको आज्ञाविचय आदि नामोसे कहा जाता है। अन्य कुछ आचार्य क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्मोसे युक्त होनेसे धर्म्य कहते हैं।

शका०—ध्यान ध्येयका अविनाभावी है। ध्येयके बिना ध्यान नही होता। किन्तु क्षमा आदि धर्म ध्येय नही है अत उनसे युक्त ध्यानको धर्म्य नही कह सकते। यदि क्षमा आदि दस प्रकारका धर्म ध्येय है और उससे सहित ध्यान धर्म्य है तो वह ध्यान अन्यत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। तब तत्त्वार्थ सूत्रमे जो कहा है कि आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थानका चिन्तन धर्म्यध्यान है वह नही बनता, क्योकि आत्मा तो उत्तम क्षमा आदि धर्मरूपसे परिणत होनेसे उनसे सहित ही है। वह उनसे हटकर अन्यमे प्रवृत्त होता नही। यदि कहोगे कि धर्मसे युक्तताका नाम धर्म्य है तो शुक्लध्यान भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्म्यध्यान कहलायेगा।

समाधान—रूढिशब्दोमे कहीपर होनेवाली क्रियाको लेकर शब्दकी मात्र व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु वह क्रिया सिद्धान्तरूप नही होती। जैसे आशु-शीघ्र गमन करनेसे अश्व शब्द निष्पन्न होता है। किन्तु जब वह घोडा बैठा होता है या सोता है तब भी उसे अश्व (घोडा) ही कहते हैं। तथा गरुड वगैरह तेज चलते हैं किन्तु उन्हे अश्व नही कहते। उसी तरह यहाँ भी धर्म शब्दसे शुक्लध्यान नही कहा जाता। तथा उत्तम क्षमा आदि धर्मोसे भिन्न आज्ञाविचय आदिको धर्म्य कहा जाता है।

शका—ध्यान किसे कहते हैं ?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है उत्तम संहनन वालेके एकाग्रचिन्ता निरोधको ध्यान

निरोधो ध्यानम्' [त० सू० ९।२७] इति चेत् यदमु सहननेष्वाद्य त्रितय सहनन च वज्रर्षभनाराचसहनन, वज्रनाराचसहनन, नाराचमहननमिति । तेषु निषु एक सहनन यस्य म उत्तमसहननस्तस्य एकमग्र मुखमस्येत्येकाग्रं यश्चिन्तानिरोध स ध्यानमित्युच्यते । ननु चिन्तानिरोध चिन्ताया अभावस्तस्य का एकमुखता, कथ वा कर्मणा भावे अभावे च निमित्तता । आर्त्तरौद्रयोरशुभकर्मनिमित्ततेष्यते । इतरयोस्तु शुभकर्मणा निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुतेष्टा । अत्रोच्यते—न निरोधशब्दोऽत्राभाववाची किंतु रोधवचनो यथा मूत्रनिरोध इति । ननु च परिस्पन्दवतो निरोधो भवति । चिन्तायास्तु को निरोध इत्यत्रोच्यते । **'केचित्प्रवदन्ति'** नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पदवती तस्या एकस्मिन्नग्रे नियमश्चिन्तानिरोध इति त इद [2]प्रष्टव्या । नानार्थाश्रया चिन्ता सा कथमेकत्रैव प्रवर्तते ? एकत्रैव चेन प्रवृत्ता नानार्थावलम्बन परिस्पन्द नामादयतीति निरोधवाचो युक्तिरसगता, **'तस्मादेवमत्र व्याख्यान [3]चिन्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमन्यमन्य बाधमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तते'** इति परिस्पन्दवतस्य निरोधो नाम एकत्रैव विषये प्रवृत्तिस्तथा हि य एकत्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते । उत्तमसहननप्रयोगादेवार्त्तरौद्रयोरनुत्तमसहननेषु तिर्यङ्मानवषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्ध्यानावलम्बनो गतिविभागो न स्यात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानीतनानामपि तयोर्वृत्ते सूत्रान्तरविरोधश्च "तदविरतदेश-

कहते हैं। छह सहननोमेसे आदिके तीन सहनन वज्रर्षभ नाराच सहनन, वज्रनाराच सहनन और नाराच सहनन उत्तम है। इनमेसे एक सहनन जिसके हो उसे उत्तम सहनन कहते हैं। उसके एक है अग्र अर्थात् मुख जिसका उस एकाग्रमे जो चिन्ताका निरोध है वह ध्यान है।

शङ्का—चिन्ता निरोधका अर्थ होता है चिन्ताका अभाव। अभाव एक मुख कैसा ? तथा अभाव कर्मों के भाव या अभावमें निमित्त कैसे हो सकता है ? आगममे आर्तध्यान और रौद्रध्यानको अशुभ कर्मो के आस्रवबन्धमें निमित्त कहा है। तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको शुभ कार्यो मे निमित्त कहा है तथा निर्जराका भी हेतु कहा है।

समाधान—चिन्ता निरोधमे निरोध शब्दका अर्थ अभाव नही है किन्तु उसका अर्थ है रोकना। जैसे मूत्रनिरोध अर्थात् मूत्रको रोकना।

शङ्का—जिसमे हलन चलन होता है उसका निरोध होता है चिन्ता का निरोध कैसा ?

समाधान—कुछ आचार्य कहते हैं, नाना अर्थो का अवलम्बन करनेसे चिन्ता हलन चलन रूप होती है। उसको एक विषयमें नियमित करना चिन्ता निरोध है। उनसे यह पूछना है कि जब चिन्ता नाना अर्थो का आश्रय लेनेवाली है तो वह एक ही स्थानमे कैसे रुक सकती है ? यदि वह एक ही स्थानमे रुक सकती है तो नाना अर्थो के अवलम्बन रूप परिस्पन्द वाली नही हो सकती। इसलिये उसका निरोध कहना असगत है। इसलिये चिन्तानिरोधका अर्थ ऐसा करना चाहिये—चिति धातुसे चिन्ता शब्द बना है उसीसे चैतन्य भी बना है। अत चिन्ता शब्दसे यहाँ चैतन्य कहा है। वह चैतन्य अन्य-अन्य पदार्थो को जानते हुए ज्ञानपर्याय रूपसे वर्तन करना है अत वह परिस्पन्द वाला है। उसका निरोध अर्थात् एक ही विषयमे प्रवृत्ति। क्योकि जो एक ही विषयमे प्रवृत्ति करता है उसे वही निरुद्ध कहा जाता है।

शङ्का—ध्यानके लक्षणमे 'उत्तम सहनन' विशेषणका प्रयोग करनेसे अनुत्तम सहननवाले तिर्यञ्चो और मनुष्योमे आर्तध्यान और रौद्रध्यान नही हो सकेंगे। ऐसा होनेसे उन ध्यानोको लेकर जो गतिका विभाग किया है वह नही बनेगा। तथा ऐसा कहना अनुभवसे भी विरुद्ध है

१ सर्वार्थसिद्धि ९।२७। २ द्रष्टव्या अ०, आ०। ३ चितिशब्देन—अ०।

विरतप्रमत्तसंयतानां" "हिंसानृतस्तेयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो"रिति [त० सू० ९।३५] गुणस्थानमात्राश्रयणेनैव स्वामिनिर्देशकृतत्वात् ।

अत्र प्रतिविधीयते—निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्यानेषु तत्प्रस्तुते युक्तं साक्षात् मुक्त्यङ्गं ध्यानं निर्देष्टुमिति मन्यमानेन उत्तमसंहननग्रहणं कृतं सूत्रकारेण । यद्येवं आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीति सूत्रमुत्तरं नोपपद्यते न निर्जराहेतुतास्त्यार्तरौद्रयोरिति । अत्रोच्यते 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमितीदं सूत्रं' मुख्यं ध्यानं मुक्त्यङ्गमुद्दिश्य प्रवृत्तमुत्तरं तु सूत्रमार्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीत्येतदेकाग्रचिन्तानिरोधसामान्यान्तर्भूतं अनभिमतमपि ध्यानं निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानविविक्तरूपमधिगमयितुमतः प्रासंगिकयो आर्तरौद्रयोरुत्तरन्यास इति न दोषः । अथवोत्तमसंहननग्रहणं वीर्यातिशयवत आत्मनः उपलक्षणं, उत्तमसंहननस्य वीर्यातिशयवतो आत्मनो यदेकवस्तुनिष्ठं ध्यानं तत् ध्यानमिति सूत्रार्थः ॥ 'सुक्कं च चदुविधं' शुक्लं च ध्यानं चतुर्विधं ध्यानं क्लेशहरं संसारदुःखभीरुः चतुर्गतिपरावर्तनेन यानि दुःखानि तेभ्यो भीतः । 'दोण्णि वि' द्वे 'झाणाणि' ध्याने धर्म्यशुक्ले 'सो' क्षपकः 'झादि' ध्यायति ॥१६९४॥

ण परीसहेहिं संताविदो वि सो झाइ अट्टरुद्दाणि ।
सुट्ठुवहाणे सुद्धु वि अट्टरुद्दा वि णासंति ॥१६९५॥

'ण परिस्सहेहिं' स क्षपकः 'परिस्सहेहिं' परीषहैः । 'संताविदो वि' बाधितोऽपि 'अट्टरुद्दाणि' आर्त

क्योंकि आजके मनुष्योंके भी आर्त और रौद्रध्यान होते हैं। तथा उक्त कथनका विरोध अन्य सूत्रोंसे भी होता है। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें ही गुणस्थान मात्रका आश्रय लेकर आर्त और रौद्रध्यानके स्वामियोंका कथन किया है। यथा—आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयतोके होता है। रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है।

समाधान—तत्त्वार्थसूत्रकारने नौवे अध्यायमें निर्जराके कारणोंका विवेचन करते हुए जब ध्यानका वर्णन किया तो 'साक्षात् मुक्तिकारण ध्यानका निर्देश करना उचित है' ऐसा मानकर ध्यानके लक्षणमें उत्तम संहननपदका ग्रहण किया है।

शंका—यदि ऐसा है तो 'आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल' ये चार ध्यान है ऐसा सूत्र नहीं कहना चाहिये था क्योंकि आर्त रौद्र निर्जराके कारण नहीं है।

समाधान—'उत्तम संहनन' इत्यादि सूत्र जो मुख्य ध्यान मुक्तिके कारण हैं उनको लक्ष्य करके रचा गया है। आगेका सूत्र, जिसमें ध्यानके चार भेदोंके नाम गिनाये हैं, एकाग्र चिन्ता निरोध सामान्यमें अन्तर्भूत सब ध्यानोंको बतलाता है। अर्थात् आर्त रौद्रमें भी ध्यान सामान्यका लक्षण घटित होता है इसलिये ध्यानके भेदोंमें उनको गिनाया है। यद्यपि वे मोक्षके कारण नहीं हैं। अतः अनिष्ट ध्यानोंसे भिन्न प्रस्तुत धर्म्य शुक्लध्यानोंका ही स्वरूप बतलानेके लिये सूत्रकारने आर्त और रौद्रध्यानोंका कथन किया है। अथवा उत्तम संहनन पद अतिशय वीर्यशाली आत्माका उपलक्षण है। उत्तमसंहनन अर्थात् अतिशय वीर्यसे विशिष्ट आत्माके जो एक वस्तुनिष्ठ ध्यान होता है वही ध्यान है, ऐसा उस सूत्रका अर्थ होता है। संसारसे भीत क्षपक धर्म्य और शुक्लध्यानोंको ध्याता है ॥१६९४॥

गा०—वह क्षपक परीषहोंसे पीडित होनेपर भी आर्त और रौद्रध्यान नहीं करता। क्योंकि

रौद्र च 'न झाइ' ना ध्याति। 'सुट्ठुवहाणे' सुष्ठु उपधाने। शुद्धमपि 'अट्टरुद्दाणि णासति' आर्तरौद्रध्याने नाशयत ॥१६९५॥

अट्टे चउप्पयारे रुद्दे य चउव्विधे य जे भेदा।
ते सव्वे परिजाणदि सथारगओ तओ खवओ ॥१६९६॥

'अट्टे चदुप्पयारे' आर्ते चतु प्रकारे, 'जे भेदा रुद्दे य चदुव्विधे' ये भेदा । 'ते सव्वे परिजाणदि' तान् सर्वान् विजानाति। 'सथारगदो' सस्तरगत । 'तओ खवगो' असौ क्षपक । यो यत परिहर्तुमिच्छुम्म कथ तत्तत्त्वतोऽनवबुध्यमानो नियोगत परिहरेदिच्छेद्[1] वार्ये आर्तरौद्र परिहरन् तस्मात ज्ञातव्ये ते इति दर्शयति ॥१६९६॥

अमणुण्णसपओगे इट्ठविओए परिस्सहणिदाणे।
अट्ट कसायसहिय झाण भणिय समासेण ॥१६९७॥
तेणिक्कमोसहिंसारक्खणेसु तह चेव छव्विहारभे।
रुद्द कसायसहिय झाण भणिय समासेण ॥१६९८॥
अवहट्टु अट्टरुद्दे महाभये सुग्गदीए पच्चूहे।
धम्मे सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदी सो ॥१६९९॥

'अवहट्टु' अपहृत्य। 'अट्टरुद्दे' आर्त्तरौद्रे। महतो भयस्य हेतुत्वान्महाभये। 'सुग्गदीए पच्चूहे' सुगतेर्विघ्नभूते। 'धम्मे सुक्के वा' धर्म्ये शुक्ले वा ध्यानेऽसौ क्षपक । 'समण्णागदमदी सो होदि' सम्यगनुपरतमतिर्भवति ॥१६९७॥१६९८॥१६९९॥

आर्त और रौद्र ध्यान सुष्ठु उपधान अर्थात् सक्लेशरहित परिणामोसे, विशुद्ध अर्थात् कर्मोको निर्जीर्ण करनेकी शक्तिसहित भी समीचीन ध्यानको नष्ट कर देते हैं ॥१६९५॥

गा०—आर्तध्यानके जो चार भेद हैं और रौद्रध्यानके जो चार भेद हैं वे सब सस्तरपर आरूढ क्षपक जानता है। जो जिसको त्यागना चाहता है वह उसको यदि यथार्थरूपमे नही जानता तो कैसे उसका त्याग कर सकता है। अत क्षपकको आर्त और रौद्र ध्यानोका स्वरूप जानना चाहिये। इसलिये उनको भी बतलाते हैं ॥१६९६॥

गा०—अनिष्ट सयोग, इष्टवियोग, परीषह (वेदना) और निदान ये सक्षेपमे कषायसहित आर्तध्यानके चार भेद हैं ॥१६९७॥

गा०—चोरी, झूठ, और हिंसाका रक्षण तथा छह प्रकारके आरम्भको लेकर सक्षेपमे कषाय सहित रौद्रध्यानके चार भेद हैं ॥१६९८॥

गा०—सुगतिमे विघ्न डालनेवाले और महान् भयके कारण होनेसे महाभयरूप रौद्र और आर्तध्यानको त्यागकर वह सम्यक् बुद्धिसम्पन्न क्षपक धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है ॥१६९९॥

---

1. दिच्छदि वार्य —अ०।

किमर्थमसौ ध्यानयो शुभयोर्वर्तत इत्याशङ्कायां ध्यानप्रवृत्तौ कारणमाचष्टे—

इंदियकसायजोगणिरोधं इच्छं च णिज्जरं विउलं।
चित्तस्स य वसियत्तं मग्गादु अविप्पणासं च ॥१७००॥

'इंदियकसायजोगणिरोधं' स्पर्शादिरूपजात उपयोग इन्द्रियशब्देनोच्यते। कषाया क्रोधादयस्तै योग सम्बन्धस्तस्य निरोध निवारणमिच्छन्निर्जरां च विपुलामिच्छन्, वस्तुयाथात्म्यसमाहितचित्तस्य नेन्द्रियविषयजन्योपयोगमभव, कषायाणा चोत्पत्ति 'चित्तस्स य वसियत्तं' चित्तस्य स्ववशत्वं इच्छन् स्वेष्टे विषये चित्तममवृत्त्यापयतोऽनिष्टाच्च व्यावर्तयत स्ववश भवति चित्त। 'मग्गादो अविप्पणासं च' मार्गाद्रत्नत्रयाद्विप्रणाशं च वाञ्छन्, अशुभध्यानप्रवृत्तौ रत्नत्रयात्प्रच्युतो भवामीति ध्याने प्रयतते ॥१७००॥

ध्यानपरिकरप्रतिपादनायोत्तरगाथा—

किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ।
अप्पाणहिं सदिं संधित्ता संसारमोक्खट्ठं ॥१७०१॥

'किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु' बाह्यद्रव्यालोकान् किंचिच्चक्षुर्व्यावर्तयित्वा। 'झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ' एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्य।[1] दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोऽत्र युक्त। 'अप्पाणहिं' आत्मनि। 'सदिं' स्मृति। 'संधित्ता' संधाय। स्मृतिशब्देनात्र श्रुतज्ञानेनावगतस्यार्थस्य स्मरणमुच्यते, 'संसारमोक्खट्ठं' संसारविमुक्तये ॥१७०१॥

वह क्षपक किसलिये शुभ ध्यान करता है? इस शंकाके उत्तरमें उसके कारण कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंसे सम्बन्धको रोकने, अत्यधिक निर्जराको चाहने, चित्तको वशमें करने और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको नष्ट न होने देनेके लिये क्षपक शुभ ध्यान ही करता है ॥१७००॥

टी०—यहाँ इन्द्रिय शब्दसे स्पर्श आदिसे उत्पन्न हुआ उपयोग कहा है। कषायसे क्रोधादि लिये हैं। जिसका चित्त वस्तुके यथार्थ स्वरूपसे समाधान युक्त होता है उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न हुए उपयोगकी ओर नहीं होती और न कषायोंकी उत्पत्ति होती है। तथा जो अपने इष्ट विषयमें चित्तको बारम्बार स्थापित करता है और अनिष्टसे चित्तको हटाता है उसका चित्त अपने वशमें रहता है। क्षपक जानता है कि यदि मैं अशुभ ध्यानमें लगा तो रत्नत्रयसे च्युत हो जाऊँगा। इन कारणोंसे वह शुभ ध्यान करता है ॥१७००॥

आगे ध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य द्रव्यको देखनेकी ओरसे आँखोंको किञ्चित् हटाकर अर्थात् नाकके अग्र भागपर दृष्टिको स्थिर करके, एक विषयक परोक्षज्ञानमें चैतन्यको रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मामें स्मृतिका अनुसन्धान करे। गाथामें 'निरुद्ध दृष्टि' पद है। यहाँ दृष्टिमें निमित्त चैतन्यमें दृष्टि शब्दका प्रयोग किया है। और स्मृति शब्दसे श्रुतज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका स्मरण लिया है। अर्थात् दृष्टिको नाकके अग्रभागमें स्थापित करके किसी एक परोक्ष वस्तु विषयक

---

१ चैतन्यदृष्टि निमित्ते शब्दोऽत्र युक्त –अ० आ०। –चैतन्य दृष्टिनिमित्ते चैतन्ये दृष्टिशब्दो मूलारा०।

पच्चाहरित्तु विसयेहिं इंदियाइं मण च तेहिंतो ।
अप्पाणम्मि मण तं जोग पणिधाय धारेदि ॥१७०२॥

'पच्चाहरित्तु' प्रत्याहृत्य । 'विसयेहिं' विषयेभ्य । 'इंदियाइं' इन्द्रियाणि 'मण च' मनश्च व्यावर्त्य । 'तेहिंतो' विषयेभ्य । 'मण तं धारेदि' तन्मनो धारयति । क्व ? 'अप्पाणम्हि' आत्मनि । 'जोग' योग वीर्यान्तरायक्षयोपशमजवीर्यपरिणाम । 'पणिधाय' प्रणिधाय स्थाप्य । एवदुक्त भवति वीर्यपरिणामेन नोइंद्रियमति धारयतीति ॥१७०२॥

कृतमनोनिरोध कि करोतीत्याशङ्कयाह—

एयग्गेण मणं रुंभिऊण धम्म चउव्विह झादि ।
आणापायविवाग विचय संठाणविचय च ॥१७०३॥

'एयग्गेण' एकध्येयमुखतया । 'मण रुंभिदूण' मनो निरुध्य । 'धम्म' धर्म्य वस्तुस्वभाव । 'चदुव्विह' चतुर्विध चतुर्विकल्प । 'झादि' ध्यायति । अभ्यन्तरपरिकरोऽयमुक्त सूत्रकारेण । बाह्य परिकर उच्यते । पर्वतगुहायां, गिरिकंदरे, दर्यां, तरुकोटर, नदीपुलिने, पितृवने जीर्णोद्याने शून्यागारे वा व्यालमृगाणा पशूना, पक्षिणा, मनुष्याणा वा ध्यानविघ्नकारिणा सन्निधानशून्ये, तत्रस्थैरागन्तुभिश्च जीवैर्वर्जिते, उष्णशीतातपवातादिविरहिते, निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुचावनुकूलस्पर्शे भूभागे मन्द-मन्द प्राणापानप्रचार नाभेरूर्ध्व हृदि ललाटेऽन्यत्र वा मनोवृत्ति यथापरिचय प्रणिदधानीति बाह्यपरिकर । 'आणापायविपाकविचये' आज्ञा-

---

ज्ञानमे मनको लगाकर श्रुतमे जाने हुए विषयोका स्मरण करते हुए आत्मामे लीन हो। यह ध्यान ससारसे छूटनेके लिये किया जाता है ॥१७०१॥

गा०—विषयोसे इन्द्रियोको और मनको हटाकर वीर्यान्तरायके क्षयोपशममे उत्पन्न हुए वीर्य परिणामको स्थापित करके आत्मामे मनको लगाता है। अर्थात् वीर्य परिणामसे अपनी शुद्ध आत्मामे मनको धारण करता है ॥१७०२॥

मनको रोककर क्या करता है, यह कहते हैं—

गा०—एक विषयमे मनको रोककर आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय इन चार प्रकारके धर्मध्यानको ध्याता है ॥१७०३॥

टी०—ग्रथकारने यह ध्यानकी अभ्यन्तर सामग्री कही है। टीकाकारने बाह्य सामग्री इस प्रकार कही है—

पर्वतकी गुफामे, या पहाडकी कन्दरामे, या वृक्षके कोटरमे या नदीके किनारे या स्मशान मे या उजडे हुए उद्यानमे या शून्य मकानमे, जहाँ ध्यानमे विघ्न करनेवाले सर्प मृग आदि पशु पक्षी और मनुष्योका वास न हो, तथा वहाँ रहनेवाले और इधर-उधरसे आनेवाले जीव जन्तु न हो, गर्म या सर्द, घाम और वायु आदिसे रहित हो, जहाँ इन्द्रिय और मनको चचल करनेके साधन न हो। ऐसे स्थानमे जो जमीनका भाग साफ सुथरा हो, उसका स्पर्श अनुकूल हो, उसपर स्थित होकर धीरे-धीरे श्वास उच्छ्वास लेते हुए नाभिसे ऊपर हृदयमे या मस्तकपर अथवा अन्य स्थानमे अपने मनोव्यापारको रोकता है। यह ध्यानकी बाह्य सामग्री है। ऐसा करके चार प्रकारका धर्मध्यान करता है। उनमेसे आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं—

विचयमपायविचय, विपाकविचय, 'सठाणविचय च' सस्थानविचय च । तत्राज्ञाविचयो निरूप्यते—कर्माणि समूलोत्तरप्रकृतीनि तेषा चतुर्विधो वन्धपर्याय उदयफलविकल्प जीवद्रव्य मुक्त्यवस्थेत्येवमादीनामतीन्द्रियत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावात् बुद्धयतिशये असति दुरवबोध यदि नाम वस्तुतत्त्व तथापि सर्वज्ञज्ञान-प्रामाण्यात आगमविषयतत्त्व तथैव नान्यथेति निश्चय सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोक्षहेतुरित्याज्ञाविचारनिश्चय-ज्ञान आज्ञाविचयाख्य धर्मध्यान । अन्ये तु वदति स्वयमधिगतपदार्थतत्त्वस्य पर प्रतिपादयितु सिद्धान्तनिरू-पितार्थप्रतिपत्तिहेतुभूतयुक्तिगवेषणावहितचिंता सर्वज्ञज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इय सर्वविदामाज्ञाव-बोधयितु शक्येति प्रवर्तमानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यत इति । अनादौ ससारे स्वैरमनोवाक्कायवृत्तेर्मम अशुभ-मनोवाक्कायेभ्योऽपाय क्व स्यादिति अपाये विचयो मीमासास्मिन्नस्तीत्यपायविचय द्वितीय धर्मध्यान । जात्यन्धसस्थानीया मिथ्यादृष्टय समीचीनमुक्तिमार्गापरिज्ञानात् दूरमेवापयन्ति मार्गादिति सन्मार्गापाये प्राणिना विचयो विचारो यस्मिस्तदपायविचय इत्युच्यत इति । मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्य कथमिमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचय ॥ विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतीना कर्मणामष्टप्रकाराणा चतुर्विध-वन्धपर्यायाणा मधुरकटुकविपाकाना तीव्रमध्यमदपरिणामप्रपञ्चकृतानुभवविशेषाणा द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षाणा एतासु गतिपु यानिपु वा इत्थभूत फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचय । वेत्रासनमल्लरीमृदगसस्थानो लोक इति लोकत्रयसस्थाने विचयो विचारोऽस्मिन्निति सस्थानविचयता ॥१७०३॥

मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियो सहित कर्म, उनके चार प्रकारके बन्ध, उदय और फलके भेद, जीव द्रव्य, मुक्ति अवस्था ये सब और इसी प्रकारके अन्य पदार्थ अतीन्द्रिय हैं। तथा श्रुत-ज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष न होनेसे विशेष बुद्धि भी नही है। ऐसी अवस्थामे यद्यपि वस्तु तत्त्व समझमे नही आता तथापि सर्वज्ञके ज्ञानके प्रमाण होनेसे आगममे तो तत्त्व जैसा कहा है, वह वैसा ही है, अन्य रूप नही है इस प्रकारका निश्चय सम्यग्दर्शन रूप होनेसे मोक्षका कारण है। इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञाके विचारका निश्चयरूप ज्ञान आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। अन्य कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं—स्वयको तो पदार्थो और तत्त्वोका सम्यग्ज्ञान है। किन्तु दूसरोको समझानेके लिये सिद्धान्तमे कहे गये अर्थोका ज्ञान करानेमे हेतुभूत युक्तियोकी खोजमे मनको लगाना कि इस युक्तिके द्वारा सर्वज्ञकी आज्ञाको समझाया जा सकता है, इसे भी सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रकाशनमे सलग्न होनेसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। इस अनादि ससारमे स्वच्छन्द मन वचन कायकी प्रवृत्तिमेसे मेरा अशुभ मन वचन कायसे अपाय अर्थात् छुटकारा कैसे हो इस प्रकार अपायका विचय अर्थात् विचार जिसमे हो वह अपायविचय नामक दूसरा धर्मध्यान है। जन्मसे अन्धे मनुष्योंके समान मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन मोक्षमार्गको न जाननेसे मोक्षमार्गसे दूर ही रहते हैं। इस प्रकार सन्मार्गसे प्राणियोंके भटकनेका विचय अर्थात् विचार जिसमे हो उसे अपायविचय कहते हैं। अथवा ससारके ये प्राणी मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे अलग हो, कैसे उसे छोडें इस प्रकार वार-वार चिन्तन करना अपायविचय है। विपाक-विचयका स्वरूप कहते हैं—मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति सहित आठ प्रकारके कर्मोका और उनके चार प्रकारके बन्धोका तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे तीव्र मध्य और मन्द परिणामो के विस्तारसे होनेवाले विपाकका तथा उनके मधुर और कटुक फलोका कि इन गतियोमे अथवा योनियोमे इस प्रकारका फल होता है। इस तरह विपाक अर्थात् कर्मफलका विचय अर्थात् विचार जिसमे हो वह विपाकविचय धर्मध्यान है। अधोलोकका आकार वेत्रासनके समान है, मध्यलोक-

धर्मध्यानस्य लक्षणं निदिशति—

धम्मस्स लक्खणं से अज्जवलहुगत्तमद्दुवदेसा ।
उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥१७०४॥

'धम्मस्स लक्खणं से' से तस्य । 'धम्मस्स' धर्मस्य ध्यानस्य । 'लक्खणं' लक्षणं । लक्ष्यते धर्म्यं ध्यानं येन तल्लक्षणं । 'अज्जवलहुगत्तमद्दवमुवदेसा' आकृष्टान्तद्वयतन्तुवत् कुटिलताविरह आर्जवं । 'लघुगत्तं' लघुता निस्संगता जात्याद्यष्टविधाभिमानाभावो मार्दवं । उपेत्य जिनमतं देशनं कथनमुपदेशः हितोपदेश इति यावत् । आर्जवादिभिः कार्यैर्लक्ष्यते धर्म्यध्यानमिति आर्जवादिकं लक्षणं । न ह्यार्तरौद्रे आर्जवादिकं संपादयतः । यदार्जवादिकं परिणाममात्मनः करोति तद्धर्म्यध्यानमिति लक्षणभावः । अथवा आर्जवादिपरिणामसद्भाव एव धर्म्यध्यानं प्रवर्तते नासत्यार्जवादौ । नहि मानमायालोभकषायाविष्टो धर्मे प्रवर्तते, तेनार्जवादिकं कारणं तेन लक्ष्यते धर्म्यमिति लक्षणतार्जवादीनाम् ॥१७०४॥

आलंबणं च वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१७०५॥

आलम्बनप्रतिपादनायोत्तरगाथा । 'आलम्बणं च' आश्रयश्च । कस्य ? 'धम्मस्स' धर्मध्यानस्य, 'वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ' वाचना प्रश्नः, परिवर्तनमनुप्रेक्षेति स्वाध्यायविकल्पाः । वाचनादिस्वाध्यायाभावे

का आकार झल्लरी गोल झाझके समान और ऊर्ध्वलोकका आकार मृदंगके समान है। इस प्रकार तीनों लोकोंके संस्थानका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह संस्थानविचय धर्मध्यान है॥१७०३॥

धर्मध्यानका लक्षण कहते हैं—

गा०—आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागममें स्वाभाविक रुचि ये धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

टी०—जिसमें धर्मध्यानकी पहचान होती है वह उसका लक्षण है। एक धागेको दोनों ओरसे ताननेपर जैसे उसमें कुटिलता नहीं रहती, सरलता रहती है उसी प्रकारकी सरलताको आर्जव कहते हैं। लघुता अनासक्ति और निर्लोभताको कहते हैं। जाति आदि आठ बातोंका गर्व न करना मार्दव है। 'उप' अर्थात् किसीके पास जाकर 'देश' अर्थात् जिनमतका कथन करना उपदेश है अर्थात् हितोपदेश है। आर्जव आदि कार्योंसे धर्मध्यान पहचाना जाता है इसलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं। आर्त और रौद्रध्यान वालोंको आर्जव आदि नहीं होते। जो आत्माके आर्जव आदिरूप परिणाम करता है वह धर्मध्यान है। इस प्रकार आर्जवादि धर्मध्यानके लक्षण हैं। अथवा आर्जव आदि परिणामके होनेपर ही धर्मध्यान होता है, आर्जव आदिके अभावमें नहीं होता। जो मान, माया और लोभसे घिरा रहता है वह धर्ममें प्रवृत्ति नहीं करता। अतः आर्जवादिक धर्मध्यानके कारण हैं उनसे धर्मध्यानकी पहचान होती है। इसीलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

आगेकी गाथासे धर्मध्यानके आलम्बन कहते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तन और अनुप्रेक्षा ये धर्मध्यानके आलम्बन हैं। तथा सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अविरुद्ध हैं ॥१७०५॥

वस्तुयाथात्म्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभाव । स तु स्वाध्यायो भवति ज्ञानमविचलं ध्यानमभिहितमित्यालम्बनता स्वाध्यायस्य । 'तेण' तेन धर्मेण ध्यानेनाविरुद्धा 'सव्वाणुपेहाओ' सर्वानुप्रेक्षा एकदैकत्राश्रये वृत्तेरविरोध । अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमनुप्रेक्षासावालम्बनं ध्यानमिति । एतेनानुप्रेक्षाया ध्यानेऽन्तःपातित्वमाचक्षाणेनानुप्रेक्षोपन्यासे बीजाधानं कृतम् ॥१७०५॥

पूर्वोक्तान् धर्मस्य चतुरो भेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्गाथाभि । तत्राज्ञाविचयं निरूपयति—

पचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाए दव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥१७०६॥

'पचेव अत्थिकाया' पञ्चास्तिकाया जीवा पुद्गलधर्मास्तिकाया धर्मास्तिकाया अधर्मास्तिकाया आकाशमिति । तान् 'छज्जीवणिकायो' षड्जीवनिकायान्[1] 'दव्व' कालाख्य द्रव्य 'अण्णे य' अन्यांश्च कर्मबन्धमोक्षादीन् । 'आणागेज्झे भावे' सर्वज्ञाज्ञयागम्यान्भावान् । 'आणाविचयेण' आज्ञाविचयाख्येन धर्मध्यानेन 'विचिणादि' विचारयति । सर्वविद्भिरपास्तरागद्वेषै परमकारुणिकै[2] यथामी निरूपितास्ते तथैवेति चिन्ताप्रबन्ध आज्ञाविचय इति यावत् । 'आणापायविवागविचये' इत्यस्मिन्पाठे अपायविचयो नाम धर्मध्यानमिति गाथापूर्वार्धेन व्याचष्टे ॥१७०६॥

कल्लाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च ।
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ॥१७०७॥

'कल्लाणपावगाण उपाये' तीर्थंकरपददायकाना दर्शनविशुद्ध्यादीनामुपायान् नि शङ्कादीन् विचिनोति

टी०—वाचना, प्रश्न करना, पाठ करना, अर्थका चिन्तन करना ये सब स्वाध्यायके भेद हैं। यदि वाचना आदि स्वाध्याय न किया जाये तो उसके अभावमें वस्तुके यथार्थस्वरूपका ज्ञान ही न होनेसे ध्यानका अभाव प्राप्त होता है। वह स्वाध्याय ज्ञान रूप है और निश्चल ज्ञानका नाम ध्यान है। अत स्वाध्याय ध्यानका आलम्बन है। तथा सब अनुप्रेक्षाएँ एक समयमें एक आश्रयमें रह सकती हैं अत वे भी धर्मध्यानके अनुकूल हैं। वस्तुके अनित्य आदि स्वभावका चिन्तन अनुप्रेक्षा है अत वे भी ध्यानकी आलम्बन हैं। इस प्रकार ग्रन्थकारने अनुप्रेक्षाओंको ध्यानमें अन्तर्भूत कहकर आगे अनुप्रेक्षाओंके कथन करनेका बीज बो दिया है ॥१७०५॥

आगे चार गाथाओंसे धर्मध्यानके चार भेदोंको कहते हैं। सबसे प्रथम आज्ञाविचयको कहते हैं—

गा०—टी०—पाँच अस्तिकाय हैं—जीव पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश। इन अस्तिकायोंको, तथा पाँच प्रकारके स्थावरकाय और त्रसकाय इन छह जीवनिकायोंको, कालद्रव्यको तथा अन्य कर्मबन्ध मोक्ष आदिको जो सर्वज्ञकी आज्ञासे ही गम्य है, आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानके द्वारा विचार करता है। परम दयालु और राग-द्वेषसे रहित सर्वज्ञ देवने जिस रूपमें इन्हें कहा है वे उसी रूप हैं। इस प्रकारके चिन्तनको आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥१७०६॥

गा०—तीर्थङ्कर पदको देनेवाले दर्शनविशुद्धि आदिके उपाय नि शकित आदिका विचार

१ यान् कालदव्व कालाख्य –अ० मु०। २. यथानीति –आ०।

'जिनमत' जिनकथित उपदेश। 'विचिणादि वा अपाये जीवाण सुभे य असुभे य' जीवाना शुभाशुभकर्मविषयानपायान् तान्विचारयति। एतदुक्तं भवति शुभाशुभकर्मणः कथमपायो भवति जीवस्य इति चिन्ताप्रवाहोऽपायविचयो नाम। स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१७०७॥

[1]एयाणेयभवगदं जीवाण पुण्णपावकम्मफलं।
उदओदीरणसंकमबंधे मोक्खं च विचिणादि ॥१७०८॥
अह तिरियउड्ढलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे।
एत्थेव अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥१७०९॥

'अह तिरिय उड्ढलोए' ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान्। 'विचिणादि' विचारयति। कीदृग्भूतान्। 'सपज्जए' सपर्ययान् संस्थानसहितान् सपर्यायत्रिभुवनसंस्थानविचारपरं संस्थानविचयाख्यं धर्मध्यानं। 'एत्थेव' अत्रैव। 'अणुगदाओ' अनुगता। 'अणुपेक्खाओ वि' अनुप्रेक्षा अपि। 'विचिणादि' विचारयति। अनित्यत्वादिस्वभावविचारं करोति धर्मध्याने इति कथितं भवति ॥१७०८॥१७०९॥

कास्ता अनुप्रेक्षा इत्याशंकायामध्रुवादीननुप्रेक्षान्निरूपयत्युत्तरप्रबन्धेन—

[2]अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोयमसुइत्तं।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोधिं च चिंतिज्ज ॥१७१०॥

जिनभगवान्‌के द्वारा कथित उपदेशके अनुसार करता है। अथवा जीवोंके शुभ और अशुभ कर्मविषयक अपायोका विचार करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीव शुभ और अशुभ कर्मों से कैसे छूटे इस प्रकारका सतत चिन्तन अपायविचय है ॥१७०७॥

गा०—जीवोंके एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यकर्म और पापकर्मके फलका तथा उदय, उदीरणा, सक्रम, बन्ध और मोक्षका विचार करता है ॥१७०८॥

टी०—कर्मों के फल, उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध तथा मोक्ष आदिका चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान है। क्रमसे कर्मों का अनुभवन होना उदय है और अक्रमसे कर्मो का फल देना उदीरणा है। अर्थात् जो कर्म उदयमें नही आ रहा है उसकी स्थितिको बलपूर्वक घटाकर कर्मका उदयमें लाना उदीरणा है। और एक कर्म प्रकृतिका अपनी सजातीय अन्य प्रकृतिरूप बदलना संक्रम है। इन सबका चिन्तन विपाकविचय धर्मध्यान है ॥१७०९॥

गा०—पर्याय अर्थात् भेद सहित तथा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंगके समान आकार सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकका चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। इसी संस्थानविचयमें सम्बद्ध अनुप्रेक्षाओंका भी विचार करता है अर्थात् धर्मध्यानमें संसारके अनित्यत्वादि स्वभावका विचार करता है ॥१७०९॥

आगे अध्रुव आदि अनुप्रेक्षाओंका कथन करते हैं—

गा०—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिये ॥१७१०॥

---

१ अ० प्रतौ गाथेयं नास्ति। २ एतां श्रीविजयो नेच्छति।

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ।
रिद्धीओ सव्वाओ सुविणयसदसणममाओ ॥१७११॥

'लोगो विलीयदि इमो' लोको विलयमुपयाति । किमिव ? 'फेणोव्व' फेनवत् । 'सदेवमाणुसतिरिक्खो' देवैर्मनुष्यैस्तिर्यग्भिश्च समन्वित । इत्यनेन लोकत्रयस्यापि विनाशितामिहिता । 'रिद्धीओ सव्वाओ' ऋद्धय सर्वा । 'सुमिणगसदसणसमाओ' स्वप्नज्ञानसमा । ननु 'लोगो विलीयदि इमो' इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता, ऋद्धचादयोऽपि लोकान्तर्भूता इति किमर्थं भेदोपन्यास ? । अत्रोच्यते । समुदायस्यावयवात्मकस्यावयवानित्यतामन्तरेण तदनित्यता न सुखेनावगम्यत इति भिदोपन्यस्यते ॥१७१०॥१७११॥

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणभृता तन्मूलत्वादिन्द्रियसुखस्य । प्राणानप्यय त्यजति द्रव्यनिमित्तमतस्तदनित्यतामेव प्रागुपदर्शयति निस्सगतामात्मन सपादयितु—

विज्जूव चचलाइ दिट्ठपणट्ठाइ सव्वसोक्खाइ ।
जलबुब्बुदोव्व अधुवाणि हुति सव्वाणि ठाणाणि ॥१७१२॥

'विज्जूव चचलाइ' विद्युदिव चञ्चलानि, 'दिट्ठपणट्ठाइ' दृष्टप्रणष्टानि, 'सव्वसोक्खाइ' सर्वाणि सुखानि अभिमतरूपादिविषयपञ्चकस्य प्रपञ्चस्य सन्निधानादुपजातानि यानि च मन समुत्थानि सर्वेषा वा मानवाना तिरश्चा दिविजाना वा सुखानि सुखलम्पटतया जन क्लेशाशनिशतनिपातमपि सहते, तानि च नीरभरविन[1]तसभारगम्भीरधारारावनीलनी[2]रदोदरपरिस्फुरत्तडिल्लतेव, एतेनानित्यतादोषोत्प्रकटनेन सासारिकसुखपराङमुखतोपायो निगदित । 'जलबुब्बुदोव्व' जलबुद्बुदवत् । 'अधुवाणि' अध्रुवाणि । 'होंति' भवन्ति ।

गा०-टी०—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोके साथ यह लोक जलके फेनके समान विनाशको प्राप्त होता है। इससे तीनो लोकोको विनाशशील कहा है। सब ऋद्धियाँ भी स्वप्नज्ञानके समान विनाशीक हैं।

शङ्का—'लोक विनाशशील है' इससे सबको अनित्य कह दिया है। ऋद्धि आदि भी लोकमे अन्तर्भूत हैं। फिर अलगसे उनको विनाशी कहनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—समुदाय अवयवात्मक है। अत अवयवोकी अनित्यताके विना समुदायकी अनित्यताका ज्ञान सुखपूर्वक नही होता। इससे ऋद्धियोको अलगसे अनित्य कहा है ॥१७११॥

प्राणियोको द्रव्यका लोभ बहुत अधिक होता है, क्योकि इन्द्रिय सुखका मूल द्रव्य है। इसीसे वह द्रव्यके लिये प्राणो तकको त्याग देता है। अत आत्माको नि सग बनानेके लिये प्रथम द्रव्यकी अनित्यता ही दर्शाते हैं—

गा०-टी०—इष्ट रूप आदि पाँच विषयोके समूहके सम्बन्धसे उत्पन्न तथा मनसे उत्पन्न सब मनुष्यो तिर्यञ्चो और देवोका सब सुख बिजलीके समान चपल है और देखते-देखते नष्ट होनेवाला है। आशय यह है कि मनुष्य सुखका लम्पटी होनेसे सैकडो वज्रपातोके गिरनेसे होनेवाले कष्टको भी सहता है। किन्तु वे सब सुख जलके भारसे नम्र हुए गम्भीर धीर शब्द करने वाले नीले बादलोके उदरमे चमकने वाली बिजुलीकी तरह हैं। इस अनित्यता दोषको प्रकट करनेसे सासारिक सुखसे विमुख होनेका उपाय कहा है। तथा सब स्थान जलके बुलबुलेकी तरह अध्रुव हैं।

---

१ नतभग –अ० । २ नीरदोपपरि –अ० ।

'ठाणाणि सव्वाणि' सर्वाणि स्थानानि । तिष्ठन्त्येतेषु जीवा इति स्थानानि ग्रामनगरपत्तनादीनि । इद मदीय स्थान अत्राह वसामीति मा कृथा सकल्प । तानि अनित्यानि नित्यबुद्धया परिगृहीतानि विनाशे सङ्क्लेशमानयन्तीति कथित । अथवा तिष्ठन्त्यस्मिन्स्वकृतविचित्रकर्मोदयात्प्राणिभृत इतीन्द्रत्व, चक्रलाछनत्व, गणाधिपतित्व वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥१७१२॥

णावागदाव बहुगइपधाविदा हुंति सव्वसबंधी ।
सव्वेसिंआसया वि अणिच्चा जह अब्भमघाया ॥१७१३॥

'णावागदाव' जलयानपात्राख्ढा इव 'बहुगविपधाविदा हु ति सव्वसबंधी' विचित्रशुभाशुभपरिणामोपात्तगतिकर्मवशात्तदुपनीयमानदेवमानवनारकतिर्यक्चाख्यगतिपर्यायग्रहणाय कृतप्रयाणा बन्धव सर्वेऽपि । एतेन बन्धुताया अनित्यतोक्ता । उपात्तगत्यपरित्यागे बन्धुता स्थिरा भवति, उपात्ता येन त्यक्तान्या च गृहीता पितृपुत्रादीना गत्यन्तरमुपगतानामपि बन्धुत्वे स्वजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते । 'सव्वेसि आसया वि' सर्वेषामाश्रया अपि यानाश्रित्य प्राणिनो जीवितुमुत्सहन्ते तेप्याश्रया स्वामी भृत्य पुत्रो भ्रातेत्येवमाश्रयोऽनित्या यथा अब्भसघादा अभ्रसघाता इव ॥१७१३॥

सवासो वि अणिच्चो पहियाण पिण्डण व छाहीए ।
पीदी वि अच्छिरागोव्व अणिच्चा सव्वजीवाण ॥१७१४॥

'सवासो वि' महावस्थानमपि बन्धुभिर्मित्रै परिजनैर्वा, 'अणिच्चो' अनित्य । 'पहियाण पिण्डण व

जिनमे जीव ठहरते हैं उन्हे स्थान कहते हैं । वे स्थान हैं—गाँव, नगर आदि । यह मेरा स्थान है । मैं यहाँ रहता हूँ । ऐसा सकल्प तुम मत करो । वे स्थान अनित्य हैं । उन्हे नित्य समझकर ग्रहण करनेपर यदि वे नष्ट होते है तो मनमे बडा सक्लेश होता है । अथवा अपने किये विचित्र कर्मके उदयमे प्राणी जिनमे रहते है वे स्थान हैं इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, गणधरपद । ये सब स्थान अनित्य हैं ॥१७१२॥

गा०–टी०—सब सम्बन्धी विचित्र शुभ या अशुभ परिणामोंमे बाधे गये गति नामकर्मके वशमे प्राप्त मनुष्यगति, देवगति, नारकगति और तिर्यञ्चगति रूप पर्यायको ग्रहण करनेके लिये जानेवाले हैं अत वे नावपर सवार यात्रियोके समान हैं । जैसे नावपर सवार यात्री अपने-अपने स्थानपर चले जाते हैं उसी प्रकार हमारे सम्बन्धी अपने-अपने परिणामोंके अनुसार गति नामकर्मका बन्ध करके मरकर अपनी-अपनी गतिमे चले जाते हैं । इसमे बन्धुताको अनित्य कहा है । जो जिस गतिमे है वह उसी गतिमे रहे, उसे छोडे नही तो बन्धुपना स्थिर होता है । जिस गतिमे है उसे छोड अन्य गतिको ग्रहण करे तो नित्य कैसे हुई । जो पिता पुत्र आदि मरकर दूसरी गतिमे चले गये फिर भी यदि वे अपने बन्धु हैं तो अपने और परायेका भेद ही नही रहता । तथा जिन आश्रयोमे प्राणी जीवित रहते हैं वे आश्रय भी, जैसे स्वामी और सेवक, पुत्र भ्राता आदि ये सब मेघपटलके समान अनित्य हैं ॥१७१३॥

गा०–टी०—जैसे नाना दिशाओ और नाना देशोंमे आये हुए और भिन्न-भिन्न स्थानोको

---

१ शानात्या—मु० । २ प्राणिनइ—आ० मु० ।

छाहोए' नानादिग्देशागताना पथिकाना भिन्नस्थानयायिना मार्गोपकण्ठस्थितनिविडस[1]रपलाशालकार-विततशाखाकरशतनिवारितघर्मरश्मिप्रसरतरुवरशीतलाविरलविपुलछायाया पान्थाना समाज इव । 'पीदीवि' प्रीतिरपि । 'अच्छि रागोव्व' प्रणयकलहपासुपातदूषितप्रियतमालुठत्पाठीनोदरधवललोचनान्तराग इव अनित्या सर्वजीवाना । तथाह्यप्रियाचरणविषकणिकाप्रणयलोचनप्रलय सविदधातीति प्राणभृतामनुभवसिद्धमेव ॥१७१४॥

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाण पिण्डणं व सजोगो ।
परिवेसोव अणिच्चो इस्सरियाणाधणारोग्गं ॥१७१५॥

'रत्ति' रात्रौ। 'एगम्मि दुमे' एकस्मिन् द्रुमे । 'सगुणाण' पक्षिणा । 'पिण्डण व' पिण्डितमिव 'सजोगो' सयोगो [2]यस्यामस्तद्रुमाभिमुख तत्र वय प्राप्स्यामोन्योन्यमित्यकृतसकल्पाना यथाकथचिदन्योन्यप्राप्तिरल्पकाला तथा प्राणभृतामपि समानकालकालमारुतप्रेरितानामेकस्मि[3]न् कुलविटपिनि कतिपयदिनभावीसप्रयोग । 'परिवेसो व' परिवेष इव । 'अणिच्च' अनित्य । कि ? 'ईसरियाणाधणारोग' ऐश्वर्य प्रभुता आज्ञा धन आरोग्य च ॥१७१५॥

इदियसामग्गी वि अणिच्चा सझाव होइ जीवाणं ।
मज्झण्ह व णराणं जोव्वणमणवट्ठिद लोए ॥१७१६॥

'इदियसामग्गीवि' इन्द्रियाणा सामग्र्यपि । 'अणिच्चा' अनित्या । अधता बधिरता च दृश्यत एव । 'मज्झण्ह व' मध्याह्नवत्, 'णराण जोव्वणमणवट्ठिद लोगे' नराणा यौवनमनवस्थित लोके यौवनोऽहमिति जन

जानेवाले पथिक मार्गके समीपमे स्थित अत्यन्त घने पलाश आदि वृक्षोके फैले हुए शाखाभारसे सूर्यके तेजको दूर करनेवाले वृक्षोकी शीतल और घनी छायामे अपना समाज बनाकर बैठते हैं और धूप ढलनेपर अपने-अपने स्थानोको चले जाते हैं। उन्हीकी तरह मित्र, बन्धु और परिजनोंके साथ सहवास भी अनित्य है। वे भी आयु पूरी होनेपर अपने अपने स्थानोको चले जाते हैं। तथा सब जीवोंकी प्रीति भी अनित्य है। जैसे प्रेमकलहके कारण या धूल पड जानेसे प्रिय स्त्रीकी क्रीडा करती हुई मछलियोंके उदर भागके समान श्वेत लोचनोंके कोनोमे ललामी अनित्य है। अप्रिय आचरणरूपी विषकी कनी प्रेमरूपी नेत्रोंको नष्ट कर देती है यह बात सब प्राणियोंके अनुभवसे सिद्ध है अत प्रीति भी अनित्य है ॥१७१४॥

गा०—जैसे पक्षी सूर्यके अस्त होनेपर हम अमुक वृक्षपर मिलेंगे, ऐसा परस्परमे सकल्प नही करते। फिर भी जिस किसी प्रकार कुछ समयके लिये परस्परमे मिल जाते हैं। उसी प्रकार ससारके प्राणी भी समान कालरूप वायुसे प्रेरित होकर एक कुलरूपी वृक्षपर कुछ दिनोंके लिये आ मिलते हैं। तथा ऐश्वर्य, प्रभुता, आज्ञा, धन और आरोग्य भी सूर्यकी परिधिकी तरह अनित्य हैं ॥१७१५॥

गा०-टी०—सन्ध्याकालकी तरह इन्द्रियोंकी सामग्री भी अनित्य है। क्योंकि लोकमे अन्धे और बहरे मनुष्य देखे जाते हैं। तथा मध्याह्न कालकी तरह लोकमें मनुष्योंका यौवन भी अनव-

---

१ तरुखदिरपलाशालकारविततशा—आ० मु० । २ योग सूर्यस्य अस्ते द्रुमा—आ० ।
३ मेकैव—आ० ।

श्लाघ्यते, यौवनदर्पविकारादेव बुध्यमानोऽपि धर्मे न प्रयतते तदनित्य मध्याह्नवत्। क्षिप्रतर व्यतिवर्तिनि यौवने [1]का यौवनकृतोत्तीर्णमद स्याच्च मनस्विनाम् ॥१७१६॥

चदो हीणो व पुणो वड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि।
णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदछिद चेव ॥१७१७॥

'चदो हीणोव पुणो वड्ढदि' नित्यराहुमुखकुहरप्रवेशाद्धानिमुपगतोऽपि निशानाय कृष्णपक्षे हीयते हीनो भवति। 'पुणो वड्ढदि' पुन शुक्लपक्षे वर्द्धते। प्रतिदिनोपचीयमानकाल। 'एदि य उदू अदीदोवि' हिमशिशिरवसन्तादयोऽतीता अपि ऋतव पुनरायान्ति 'न तु जोव्वण णियत्तेदि' नैव यौवन निवर्ततेऽतिक्रान्तम् तस्मिन्नेव भवे 'नदीजलमदच्छिद चेव' नदीजलमतिक्रान्तमिव न पुनरेति। तद्वदिद यौवनमित्यनेनानित्यतातिशयो यौवनस्य दर्शित ॥१७१७॥

धावदि गिरिणदिसोद व आउग सव्वजीवलोगम्मि।
सुकुमालदा वि हायदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥१७१८॥

धावदि गिरिणदिसोदव' धावति गिरिनदीप्रवाह इव। किं? 'आउग' आयु। 'सव्वजीवलोगहि' सर्वस्मिन् जीवलोके। 'सुकुमालदा वि हीयदि' सुकुमारतापि हीयते। 'पुव्वण्ह छाही व' पूर्वाह्णछाया इव। यथा यथोद्गच्छति तामरसबन्धुस्तथा तथापसहरति छाया शरीरादीना ॥१७१८॥

अवरण्हरुक्खछाही व अट्ठिद वड्ढदे जरा लोगे।
रूव पि णासइ लहु जलेव लिहिदल्लय रूव ॥१७१९॥

'अवरण्हरुक्खछाहीव' अपराह्णवृक्षच्छायेव। 'अट्ठिद वड्ढदे' अस्तित्व वर्द्धते। क्रियाविशेषणत्वान्नपु सकता। 'जरा लोगे' लोके। सौरूप्यपल्लवदवानलशिखा, सौभाग्यप्रसूनकरकावृष्टि, युवतिहरिणालीव्याघ्री,

---

स्थिर है। मनुष्य 'मैं युवा हूं' इस प्रकारसे अपनी प्रशसा करता है। यौवनके घमण्डसे ही जानते हुए भी धममे प्रयत्नशील नही होता। किन्तु वह यौवन मध्याह्नकालको तरह अनवस्थित है। इस प्रकार शीघ्र ही जानेवाले यौवनका मनस्वियोको मद कैसा? अर्थात् यौवनका मद करना उचित नही है ॥१७१६॥

गा०-टी०—प्रतिदिन राहुके मुखरूपी बिलमे प्रवेश करनेसे चन्द्रमा कृष्णपक्षमे घटता है और पुन शुक्लपक्षमे प्रतिदिन बढता है। तथा हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि ऋतुएँ भी जाकर पुन लौटती हैं। किन्तु बीता हुआ यौवन उसी भवनमे नही लौटता। जैसे नदीमे गया जल फिर वापिस नही आता। उसी प्रकार यौवन भी जाकर वापिस नही आता। इससे यौवनकी अत्यन्त अनित्यता दिखलाई है ॥१७१७॥

गा०—सर्व जीवलोकमें आयु पहाडी नदीके प्रवाहकी तरह दौडती है। सुकुमारता भी पूर्वाह्नकी छायाके समान दौडती है। जैसे जैसे सूर्य ऊपर उठता है वैसे-वैसे शरीरादिकी छाया घटती जाती है। उसी तरह ज्यो-ज्यो आयु बढती है त्यो त्यो सुकुमारता कम होती है ॥१७१८॥

गा०-टी०—जैसे अपराह्न कालमे वृक्षोकी छाया बढती है वैसे ही लोकमे एक बार

---

१ को नुगा मद स्याच्च —आ०।

ज्ञानलोचनपांशुवृष्टिस्तपस्तामरसवनस्य हिमानी, दीनताया जननी, परिभवस्य धात्री, मृतेर्दूती, भीते प्रियसखी या जरा सा वर्द्धते। 'रूवपि णासदि लहु' रूपमपि विलासिनीकटाक्षेक्षणशरशततूणीरायमाणं, चेतोवरसूक्ष्म-वसनरञ्जने कौसुम्भरसायमानं, प्रीतिलतिकाया मूलं, सौभाग्यतरुफलं, कूलं पूज्यताया यद्रूपं तल्लघु विनश्यति॥ किमिव ? 'जलेव लिहिदेल्लग रूव' जले लिखितरूपमिव ॥१७१९॥

तेओ वि इदधणुतेजसण्णिहो होइ सव्वजीवाणं।
दिट्ठपणट्ठा बुद्धी वि होइ उक्काव जीवाण ॥१७२०॥

'तेजोवि इदधणुतेजसण्णिहो' शरीरस्य तेजोपि पौलोमीप्रियतमचापस्य तेज इव सर्वजनमनयनचेतः-प्रमोदाधायि क्षणेन क्षयमुपव्रजति। 'दिट्ठपणट्ठा' दृष्टप्रणष्टा बुद्धि वि' सकलवस्तुयाथात्म्यावगुण्ठनाज्ञानतम-पटलपाटनपटीयसी, विचित्रदुःखग्राहनक्राकीर्णकुगतिविशालनिम्नगाप्रवेशनिवारणोद्यता, चारित्रनिधिप्रकट-नक्षमादीपवर्ति, सकलसम्पदाकर्षणविद्या शिवगतिनायिकासखी एवंभूता बुद्धिरुल्केवाशु नाशमुप-याति ॥१७२०॥

अदिवडइ बल खिप्प रूव धूलीकदवरछाए।
वीचीव अद्धुव वीरियपि लोगम्मि जीवाण ॥१७२१॥

'अतिवडइ बल खिप्प' क्षिप्रमतिपतति बलं 'रूव धूलीकदवरछाए' रथ्याया पांसुरचितरूपमिव।

आनेपर बुढापा बढता जाता है। यह बुढापा सुन्दरतारूपी कोमल पत्तोंके लिये वनकी आगकी लपटके समान है। सौभाग्यरूपी पुष्पोंके लिये ओलोंकी वर्षाके समान है। तारुण्यरूपी हरिणोंकी पंक्तिके लिये व्याघ्रके समान है। ज्ञानरूपी नेत्रके लिये धूलकी वर्षाके समान है। तपरूपी कमलोंके वनके लिये बर्फ गिरनेके समान है। अर्थात् वृद्धावस्थाके आनेपर सुन्दरता, सुभगता, तारुण्य, ज्ञान और तप सब क्षीण हो जाते हैं। यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है, तिरस्कारकी धाय है, मृत्युकी दूती है और भयकी प्रिय सखी है। तथा जलमें लिखे हुए रूपके समान रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। यह रूप सुन्दर स्त्रियोंके कटाक्षरूपी सैकड़ों बाणोंके लिये तूणीरके समान है अर्थात् पुरुषके रूपको देखकर स्त्रियाँ उसपर कटाक्षबाण चलाती हैं। चित्तरूपी सूक्ष्मवस्त्रको रंगनेके लिये कुसुम्भके रंगके समान है। प्रीतिरूपी लताका मूल है। सौभाग्यरूपी वृक्षका फल है। पूज्यताका किनारा है। ऐसा रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१७१९॥

गा०-टी०—शरीरका तेज भी इन्द्र धनुषके तेजके समान है। जैसे इन्द्रधनुषकी कान्ति मनुष्योंके नेत्रों और चित्तको आनन्दकारी होती है किन्तु क्षणभरमें नष्ट हो जाती है वही दशा शरीरकी कान्तिकी भी है। जो बुद्धि समस्त वस्तुओंके यथार्थस्वरूपको ढाकनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारके पटलको नष्ट करनेमें अतिशय दक्ष है, विचित्र दुःखरूपी मगरमच्छोंके समूहसे व्याप्त कुगतिरूपी विशाल नदीमें प्रवेश करनेसे रोकनेमें तत्पर है, चारित्ररूपी निधिको प्रकट करनेमें दीपककी बत्तीके समान है, समस्त सम्पदाओंको लानेवाली विद्यातुल्य है और मोक्षगतिरूपी नायिकाकी सखी है, ऐसी बुद्धि भी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१७२०॥

गा०—जैसे मार्गमें धूलीसे रचा गया आकार शीघ्र नष्ट हो जाता है वैसे ही जीवोंका

---

१ कुठनाज्ञान—आ०।

'वीचीव' चण्डप्रभञ्जनाभिघातोत्थापिततरलतरङ्गमालेव, 'अद्धुव' अध्रुव । 'वीरिय' वीर्यमपि । जीवाना शरीरस्य दृढता बल वीर्यमात्मपरिणाम ॥१७२१॥

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणि ।
जमकित्ती वि अणिच्चा लोए सज्झब्भरागोव्व ॥१७२२॥

स्पष्टोत्तरगाथा—

किह दा सत्ता कम्मवसत्ता सारदियमेहसरिसमिणं ।
ण मुणंति जगमणिच्चं मरणभयसमुत्थिया संता ॥१७२३॥

'किह' कथ तावत् । 'अणिच्च जग ण मुणंति' जगदनित्य न जानन्ति । के ? [1]'सत्तादो सीदन्ति स्वकृतपापवशात्तासु तासु योनिष्विति सत्त्वा । सारदिगमेघसरिसमिण' शरदृतुसमुद्गतनैकवर्णविचित्रसंस्थानजीमूतमालासदृश । 'मरणभयसमुच्छिदा संता' मरण विष [2]वृषतमजीवितस्य सरित्कूल प्रियवियोगदारुकस्य, शोकाशनेर्जलदपटल, अयस्कान्तोपल दु खलोहाकर्षणे, बन्धुहृदयोपलाना द्रावकमौषधमायतापदामायतन एवभूतमरणभयसमुत्थिता सन्त । एवमनित्यतामशेषवस्तुविषया ध्येयीकृत्य प्रवर्तते धर्म्य ध्यान । अद्धुव ॥१७२३॥

अशरणताकथनायोत्तरप्रबन्ध । कर्माण्यात्मपरिणामोपार्जितानि कषायपरिणामोपनीतचिरकालस्थितीनि सन्निहितक्षेत्रकालभावास्यसहकारिकारणानि यदा फलमशुभ प्रयच्छति तदा तानि न निवारयितु कश्चित्समर्थोऽस्ति तेनाशरणोऽस्म्यहमिति चिन्ताप्रबन्ध कार्य इत्याचष्टे—

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ ।
अमदंपि विस मत्थं तण पि णीया वि हुंति अरी ॥१७२४॥

बल शीघ्र नष्ट हो जाता है। तथा जीवोंका वीर्य भी प्रचण्ड वायुके अभिघातसे उठी हुई चचल तरगमालाके समान अध्रुव है। जीवोंके शरीरकी दृढताको बल और जीवोंके आत्मपरिणामको वीर्य कहते हैं। ये दोनो ही शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं ॥१७२१॥

गा०—घर, शय्या, आसन, भाण्ड ये सब भी बर्फके समूहकी तरह अध्रुव हैं। तथा लोकमे यशकी कीर्ति भी सन्ध्याके समय आकाशकी लालिमाकी तरह अनित्य है ॥१७२२॥

गा०—मरणके भयसे युक्त होनेपर भी अपने अपने कामोमे लीन प्राणी शरत् कालके मेघके समान इस जगत्को अनित्य क्यो नही जानते ॥१७२३॥

टी०—अपने किये हुए पापके वशसे उन-उन योनियोमे जो कष्ट उठाते हैं उन्हे सत्त्व कहते है। यह जगत् शरद् ऋतुमे उठे हुए अनेक रग और अनेक आकार वाले मेघमालाके समान अनित्य है। तथा जिन्हे अपना जीवन प्रिय है उनके लिये मरण विषके समान है। प्रियजनके वियोगरूपी वृक्षके लिये नदीका तट है। शोकरूपी वज्रपातके लिये मेघपटल है। दु खरूपी लोहको लानेके लिये चुम्बक पत्थर है। बन्धुओंके हृदयरूपी पत्थरको पिघलानेके लिये औषध है। मरने पर कठोर हृदय कुटुम्बियोका भी मन पिघल जाता है। लम्बी विपत्तियोका घर है। ऐसा मरणके भयको जानते हुए भी लोग जगत्की अनित्यताको नही समझते यह आश्चर्य और खेदकी बात है ॥१७२३॥

---

1. सत्ता विदोति स्व—आ० । 2. वृषतनजी—अ० ।

'णासदि मदी' नश्यति मति । 'उदिण्णे कम्मे' उदीर्णे कर्मणि । बुद्धिर्द्विधा स्वाभाविकी आगमभवा च । सा द्वयी यस्यासौ हितमवैति नेतर । उक्तं च—

द्विधेह बुद्धि प्रवदन्ति सत स्वाभाविकीमागमसभवाञ्च ।
बुद्धिर्द्वयी यस्य शरीरिण स्यादिष्ट हित सो लभते न चान्य ॥१॥
स्वाभाविकी यस्य मतिविशुद्धा, तीर्थादवाप्त न तु शास्त्रमस्ति ।
द्रष्टु हित धर्ममसौ न शक्तो भाषा [1]विना रूपमिवाप्यनन्ध ॥२॥
तीर्थादवाप्त श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविको नास्ति मतिविशुद्धा ।
श्रुतस्य नाप्नोति फल स तस्य दीपस्य हस्तेऽपि सतो यथान्ध ॥३॥
कि दर्पणेनावृतलोचनस्य [2]विदान भोगस्य धनेन वा किम् ।
शास्त्रेण किं वा युधि भीरुकस्य तथैव कि मन्दमते श्रुतेन ॥४॥

ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानावरणाख्ये कर्मण्युदयमुपागते । तच्च ज्ञानावरण बध्नाति जन्तुर्ज्ञानिना ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणाना च द्वेषान्निह्नवादुपघातात् मात्सर्याद् विघ्नकरणादासादनाद् दूषणात् । ज्ञानादेर्निग्रहकरणाद-

इस प्रकार अध्रुवभावनाका कथन समाप्त हुआ । आगे अशरणभावनाका कथन करते हैं—

कर्मबन्ध आत्माके परिणामोसे होता है । जीवके ही कषायरूप परिणामोका निमित्त पाकर उन कर्मोकी दीर्घ स्थिति होती है । प्राप्त द्रव्य क्षेत्र काल और भाव उनके सहकारी कारण होते हैं । जब वे कर्म अशुभ फल देते हैं तो उनको कोई रोक नही सकता । अत मैं अशरण हूँ ऐसा विचारना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०-टी०—कर्मका उदय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है । बुद्धि दो प्रकारकी होती है एक स्वाभाविक और दूसरी आगमिक । जिसके दोनो प्रकारकी बुद्धि होती है वह अपने हितको जानता है । जिसके वह बुद्धि नही होती वह नही जानता । कहा भी है—

सन्त पुरुष दो प्रकारकी बुद्धि कहते हैं—एक स्वाभाविक, दूसरी आगमसे उत्पन्न हुई । जिस शरीरधारीके ये दोनो बुद्धियाँ होती हैं वह अपने इष्ट हितको प्राप्त करता है । जिसके दोनो बुद्धिया नही हैं वह हितको प्राप्त नही कर सकता । जिसके पास स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि तो है किन्तु जिसने शास्त्राभ्यास करके आगमिक बुद्धि प्राप्त नही की है वह हितकारी धर्मको उसी प्रकार नही देख सकता, जैसे दृष्टिसम्पन्न पुरुष रूपको देखते हुए भी भाषाके बिना उसको कह नही सकता । जिसके पास गुरुसे प्राप्त शास्त्र तो है किन्तु उसे समझनेकी स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि नही है वह भी श्रुतका फल नही प्राप्त कर सकता । जैसे अन्धा पुरुष हाथमें दीपक होते हुए भी उसका फल नही पाता । जिसके लोचन मुंदे हैं उसे दर्पणसे क्या लाभ ? जो न दान देता है न भोगता है उसे धनसे क्या लाभ ? जो डरपोक है उसे युद्धमें शास्त्रसे क्या लाभ ? इसी तरह मन्दबुद्धि पुरुषको शास्त्रसे क्या लाभ ? ॥

ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय आनेपर इस प्रकारकी बुद्धि नष्ट हो जाती है । ज्ञानियोंसे, ज्ञानसे और ज्ञानके उपकरणोंसे द्वेष करनेसे, ज्ञानको और ज्ञानके साधनोको छिपानेसे, प्रशसनीय ज्ञानमे दूषण लगानेसे, ईर्षावश किसीको ज्ञानदान न करनेसे, किसीके ज्ञानाराधनमें बाधा डालनेसे,

---

१ ना वाचमिवा –आ० । २ स्यावि –अ० ।

काले पठनात परेन्द्रियोपघातकारणाच्चार्जितं अवग्रहेहावायधारणाविकल्पं मतिज्ञानं श्रुतादिकं वा नाशयति । उक्तं च—

अवग्रहीतुं च तयेहितुं च सोवेहितुं धारयितुं च सम्यक ।
नालं भवत्यर्जितवान्पुरा य कर्माधमं ज्ञानवृतेर्निमित्तम् ॥१॥

अन्धश्च पश्यन् बधिरश्च शृण्वन् जिह्वां विनाऽसौ रसनास्तथाऽश्नन् ।
[2]त्वचो विनाशे वरशीतकादि जानन्नसौ कर्मविभावबद्ध ॥२॥

घ्राणं विना गन्धमयं हि जीवो जानाति नित्यं निखिलं जगच्च ।
परन्तु बोधावृतिकर्मनाम्ना प्रोद्यत्तरा न विषयेषु वेत्ति ॥३॥

एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियता भवेषु स त्रीन्द्रियत्वं चतुरिन्द्रियत्वम् ।
तेनावृत कर्ममहाम्बुदेन प्राप्नोति जीवो विमनस्कता च ॥४॥

द्रष्टुं हितं श्रोतुमथेहितुं च कर्तुं च दातुं विधिना च भोक्तुम् ।
स्वकर्मणा तेन नरो वृतस्सन् न बुध्यमानं पशुनेति साम्यम् ॥५॥

स्वबुद्धि[3]मात्रामपि शक्यमाप्तुं श्रेयं समीपस्थमि[4]हाप्यविद्वान् ।
सुदूरसस्थं च [5]श्रुतोऽभिगम्यं स केन विन्द्यात् परलोकपथ्यम् ॥६॥

प्रशस्त ज्ञानकी प्रशंसा न करनेसे, जीव ज्ञानावरण कर्मका बन्ध करता है । तथा ज्ञानादिका निग्रह करनेसे, अकालमें स्वाध्याय करनेसे, दूसरेकी इन्द्रियोंका घात करनेसे संचित मतिज्ञानका, जिसके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा भेद हैं तथा श्रुतज्ञान आदिका नाश हो जाता है । कहा है—

जो पहले ज्ञानको रोकनेमें निमित्त नीच कर्म उपार्जित कर चुका है, वह सम्यक्रूपसे पदार्थको अवग्रहण करनेमें, ईहित करनेमें, अवायरूपसे जाननेमें तथा जाने हुएको धारण करनेमें समर्थ नहीं होता । अर्थात् उसे पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप ज्ञान नहीं होते । यह जीव आँखोंके बिना देखता है । कानोंके बिना सुनता है । जिह्वाके बिना रसोंका स्वाद लेता है । त्वचाके बिना शीत आदिका अनुभव करता है । किन्तु कर्मोंसे बद्ध होनेसे ऐसा नहीं कर सकता । तथा यह जीव बिना नाकके गन्धको जानता है किन्तु ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय होनेसे इन्द्रियोंके बिना विषयोंको नहीं जानता । उस ज्ञानावरण नामक कर्मरूपी महामेघसे ढका होनेसे यह जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय होता है । अपने ज्ञानावरण कर्मके उदयसे मनुष्य न हितको देखता है, न सुनता है, न हितको जाननेकी इच्छा करता है, न विधिपूर्वक धन देता है, न उसे भोगता है । इस प्रकार वह पशुके समान हो रहा है । जो अपने समीपवर्ती भी कल्याणको जो कि अपनी बुद्धिमात्रसे प्राप्त करने योग्य है, नहीं जानता, वह सुदूरवर्ती और शास्त्रके द्वारा जानने योग्य परलोकमें जो हितकर है उसे कैसे जान सकता

---

१ णादार्जि –अ० । २ त्वगीतये सत्यपि विश्वमेव न यो विशेषान् विषयेषु वेत्ति ॥२॥ एकेन्द्रिय –अ०, मु० । ३ द्विमात्र्यानपि –आ० । ४ हास्यति –अ० । ५ च तर्कोऽभिगम्य मेरेन विद्येया –अ० ।

महागुहा भीमतम प्रवेशात् सदाप्यगाधाम्भसि मज्जनाच्च ।
घनाच्चिर चारकरोधनाच्च स्याद्देहिन कष्टतरोऽज्ञभाव ॥७॥
तम प्रवेशोऽम्भसि मज्जन च स्याद्दु खकृच्चारकरोधन च ।
जातावि हैकत्र भवास्त्वनन्तानज्ञानज दुखमनुप्रयाति ॥८॥
नाल विशाल नयन तृतीय श्रुत च मत्या रहितो गृहीतुम् ।
अन्धोऽपि यस्मिन् सति याति मार्गं क्षेमे शिवे मोक्षमहापुरस्य ॥९॥

एव भूतामज्ञतामापादयति ज्ञानावरण न किञ्चितन्निवारणक्षम शरणमस्ति । 'ण तस्स दिस्सदि उवाओ' नैव तस्य कर्मणो निवारणे उपायो दृश्यते । असद्वेदस्य कर्मण उदयात् अमद पि विस होदि' अमृतमपि विष भवति । 'तणमवि सत्य तृणमपि शस्त्र भवति । णीआ वि होति अरी' बन्धवोऽपि शत्रवो भवन्ति ॥१७२४॥

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे किं स्यादित्याह—

मुक्खस्स वि होदि मदी कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ ।
णीया अरी वि सत्थ वि तण अमय च होदि विसं ॥१७२५॥

'मुक्खस्स वि होदि मदी' मूखस्यापि भवति मति । 'कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ' कर्मोपशमे ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे सति उपायो दृश्यते सुभगत्वपुण्यकर्मोदयात । 'णीया अरी वि' शत्रवोऽपि बन्धवो भवन्ति 'सत्य पि तण' शस्त्रमपि तृण भवति, 'अमद होदि विस' विषमप्यमृत भवति सद्वेद्योदये ॥१७२५॥

पाओदएण अत्थो हत्थ पत्तो वि णस्सदि णरस्स ।
दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥१७२६॥

'पावोदयेण' लाभान्तरायस्य कर्मण उदयेन, 'अत्थो हत्थ पत्तो वि णस्सवि णरस्स' हस्तप्राप्तोऽप्यर्थो नश्यति पुस । 'दूरादो वि' दूरतोऽपि । 'सपुण्णस्स' पुण्यवत । 'एदि अत्थो' आयात्यर्था । 'अयत्तेण' अयत्नेन ॥१७२६॥

है । इस प्राणीका अज्ञानभाव महान् गुफाके भीतर भयकर अन्धकारमे प्रवेश करनेसे, सदा अगाध जलमें डूबे रहनेसे और चिरकाल तक जेलखानेमे पडे रहनेसे भी अधिक कष्टदायी है । अन्धकारमे प्रवेश जलमे डूबना और जेलखानेमे पडे रहना तो एक ही भवमे दु खदायी है किन्तु अज्ञानजन्य दु ख अनन्त भवोंमें दु खदायी है । श्रुतज्ञान तीसरा विशाल नेत्र है । किन्तु बुद्धिसे रहित प्राणी उसे ग्रहण नही कर सकता । उस श्रुतज्ञानके होनेपर अन्धा मनुष्य भी मोक्षरूपी महानगरके कल्याणकारी मार्ग पर जाता है ।

ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारकी अज्ञताको लाता है उसको निवारण करनेमे समर्थ कोई शरण नही है । उसके निवारण का कोई उपाय नही है । असातावेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी विष हो जाता है । तृण भी शस्त्र हो जाता है और बन्धु-बान्धव भी शत्रु हो जाते हैं ॥१७२४॥

गा०-टी०—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर क्या होता है, यह कहते है—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर मूर्खको भी बुद्धि प्राप्त होती है । पुण्यकर्मका उदय होनेसे कर्मोंके उपशमका उपाय दृष्टिगोचर होता है तथा सातावेदनीयके उदयमे शत्रु भी बन्धु हो जाते हैं, शस्त्र भी तृण हो जाता है और विष भी अमृत हो जाता है ॥१७२५॥

गा०—पाप अर्थात् लाभान्तराय कर्मके उदयमे मनुष्यके हाथमे आया भी पदार्थ नष्ट हो

पाओदएण सुट्ठु वि चेट्ठंतो को वि पाउणदि दोस ।
पुण्णोदएण दुट्ठु वि चेट्ठंतो को वि लहदि गुण ॥१७२७॥

'पावोदएण' अयशस्कीर्तेरुदयेन । 'सुट्ठु वि चेट्ठतो' सम्यक् चेष्टमान । 'कोवि पाउणदि दोस' कश्चित्प्राप्नोति दोष । 'पुण्णोदयेण' पुण्यकर्मण उदयेन । 'दुट्ठु वि चेट्ठतो' यत्किंचिदकार्यं कुर्वन्नपि । 'कोवि लभदि गुण' कश्चिल्लभते गुणम् ॥१७२७॥

पुण्णोदएण कस्सइ गुणे असते वि होइ जसकित्ती ।
पाओदएण कस्सइ सगुणस्स वि होइ जसघाओ ॥१७२८॥

'पुण्णोदएण' पुण्यस्योदयेन । 'कस्सइ होइ जसकित्ती' कस्यचिद्भवति यशस्कीर्तिश्च । 'पावोदएण' पापस्योदयेन । 'कस्सइ सुगुणस्स वि' कस्यचित् सुगुणवतो पि । 'जसघादो होदि' यशाघातो भवति ॥१७२८॥

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले समुवट्ठिदमि दुक्खमि ।
जादिजरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीए ॥१७२९॥

'णिरुवक्कमस्स' नि प्रतीकारस्य कर्मण. । 'फले समुवट्ठिदहि दुक्खहि' समुपस्थिते दु खे, 'जादि-जरामरणरुजाचितामयवेदणादीगे' जातो, जराया, मरणे, व्याधौ, चिन्ताया, भये, वेदनादौ च समुपस्थिते ॥१७२९॥

जीवाण णत्थि कोई ताण मरण च जो हवेज्ज इध ।
पायालमदिगदो वि य ण मुच्चदि सकम्मउदयम्मि ॥१७३०॥

'जीवाण' जीवस्य । नास्ति कश्चिद्रक्षा शरण वा । 'जो हवेज्ज' यो भवेत् । 'पादालमदिगदो वि' पाताल प्रविष्टोऽपि । 'ण मुच्चदि' । न मुच्यते दु खात् । 'सकम्मउदयेहिं' स्वकर्मोदये सति ॥१७३०॥

गिरिकदर च अडविं सेल भूमिं च उदधि लोगत ।
अदिगतूण वि जीवो ण मुच्चदि उदिण्णकम्मेण ॥१७३१॥

जाता है। और पुण्यवानको विना प्रयत्न किये दूरसे भी पदार्थ प्राप्त होता है ॥१७२६॥

गा०—पाप अर्थात् अयश कीर्ति नामक कर्मके उदयमे सम्यक् चेष्टा करनेवाला भी दोषका भागी होता है। और पुण्य कर्मके उदयसे न करने योग्य भी काम करनेवाला प्रशसाका पात्र होता है ॥१७२७॥

गा०—पुण्यके उदयमे किसीमे गुण न होते भी उसका यश फैलता है। और पापके उदयमे गुणवानका भी अपयश होता है ॥१७२८॥

गा०—जिसका कोई प्रतीकार नही है ऐसे कर्मका उदय आनेपर जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि दु ख भोगने होते हैं ॥१७२९॥

गा०—ऐसी अवस्थामे जीवका कोई रक्षक नहीं है जिसकी वह शरणमे जाये। अपने कर्मके उदयमे पातालमे प्रवेश करनेपर भी कर्मसे छुटकारा नही होता ॥१७३०॥

गिरिकन्दर च' गिरिकन्दर, अटवीं शैलभूमिसमुद्रांश्च । लोकान्तं प्रविशन्नपि जीवो न मुच्यते । उदयागतेन कर्मणा ॥१७३१॥

दुगचदुअणेयपाया परिसप्पादी य जंति भूमीओ ।
मच्छा जलम्मि पक्खी णभम्मि कम्मं तु सव्वत्थ ॥१७३२॥

'दुगचदुअणेयपाया' द्विचतुरनेकपादिका । परिसप्पादी य जंति भूमीओ' परिसर्पादयश्च यान्ति भूमावेव । मत्स्या जले पक्षिणो नभसि यान्ति । कर्म सर्वत्र ॥१७३२॥

रविचदवादवेउव्वियाणमगमा वि अत्थि हु पदेसा ।
ण पुणो अत्थि पएसो अगमो कम्मस्स होइ इह ॥१७३३॥

'रविचदवादवेउव्वियाण' सूर्येण, चन्द्रेण, वातेन, देवैश्चागम्याः सन्ति प्रदेशाः । न कर्मणामगम्योऽत्र प्रदेशोऽस्ति लोके ॥१७३३॥

विज्जोसहमंतबलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा ।
सामादिउवाया वा ण होंति कम्मोदए मरणं ॥१७३४॥

'विज्जामतोसधिबलवीरिय' विद्या स्वाहाकारान्ता तद्रहिता मन्त्रस्य । वीर्यमात्मनः शक्तिविशेषः । बलमाहारव्यायामज शरीरस्य दाढर्य, अश्वेभवन्ध । सामभेददण्डोपप्रदानाख्याश्च हेतवो न शरण ॥१७३४॥

जह आइच्चमुदितं कोई वारंतओ जगे णत्थि ।
तह कम्ममुदीरतं कोई वारतओ जगे णत्थि ॥१७३५॥

'जह आइच्चमुदित' यथा दिनमणिमुदयाचलचूडामणितामुपयान्तं न निवारयति कश्चित् तथा समधिगतसहकारिकारणं कर्म न निषेद्धुमस्ति समर्थः ॥१७३५॥

गा०—पहाडकी गुफा, अटवी, पर्वत, भूमि, समुद्र, यहाँ तक कि लोकके अन्त तक चले जानेपर भी जीव उदयप्राप्त कर्मसे नही छूटता ॥१७३१॥

गा०—दोपाये, चौपाये और अनेक पैर वाले सर्प आदि तो भूमिपर ही जाते हैं। मच्छ जलमें जाते हैं। पक्षी आकाशमे जाते हैं किन्तु कर्म सर्वत्र पहुचता है। उसकी गति सर्वत्र है ॥१७३२॥

गा०—लोकमें ऐसे प्रदेश हैं जो सूर्य, चन्द्र, वायु और देवोंके द्वारा अगम्य हैं अर्थात् जहाँ ये नही जा सकते। किन्तु ऐसा कोई प्रदेश नही है जहाँ कर्मकी गति नही है ॥१७३३॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्या, मन्त्र, औषध, बल वीर्य, घोडे, हाथी, रथ, योद्धा, साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपाय शरण नही हैं ॥१७३४॥

टी०—जिसके अन्तमे स्वाहाकार होता है उसे विद्या कहते हैं। और जिसके अन्तमें स्वाहाकार नहीं होता उसे मन्त्र कहते हैं। वीर्य आत्माकी शक्तिको कहते हैं और बल आहार व्यायामसे उत्पन्न शरीरकी दृढताको कहते हैं ॥१७३४॥

गा०—जैसे सूर्यको उदयाचलके मस्तकपर आनेको जगतमे कोई नही रोक सकता उसी

रोगाणं पडिगारा दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ।
कम्म मलेदि हु जग हत्थीव णिरंकुसो मत्तो ॥१७३६ ।

'रोगाण पडिगारा दिट्ठा' व्याधीना प्रतीकारा दृष्टा औषधादय । कर्मणा नास्ति प्रतीकार । जगदशेष मर्दयति कर्म मदगज इव निरङ्कुशा नलिनीवन ॥१७३६॥

रोगाण पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ।
रोगाण पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमते ॥१७३७॥

'रोगाण पडिगारो' व्याधीना प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वेद्ये प्राप्तोदये सति, पथ्यौषधादिभिरुपशमो रोगादीना सोऽपि कर्मण्युपशम गत एव नानुपशान्तेऽत्र ॥१७३७॥

विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्कवट्टी वा ।
देविंदा व ण सरण कस्सइ कम्मोदए होंति ॥१७३८॥

'विज्जाहरा य' विद्याधरादयो महाबलपराक्रमा अपि न शरण भवन्ति कर्मोदय इति गाथार्थ ॥१७३८॥

वोल्लेज्ज च कमतो भूमिं उदधिं तरिज्ज पवमाणो ।
ण पुणो तीरदि कम्मस्स फलमुदिण्णस्स वोलेदुं ॥१७३९॥

'वोल्लेज्ज' उल्लङ्घयेत् गच्छन् भूमि, समुद्र तरेन् प्लवमान । उदीर्णस्य कमण फलमुल्लङ्घयितु न वेत्ति कोऽन्यो वा महाबलोऽपि ॥१७३९॥

सीहतिमिंगिलगहिदस्स[1] मगो मच्छो व णत्थि जह सरण ।
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरण तहा कोई ॥१७४०॥

'सीहतिमिंगिलगहिदस्स' सिंहेन तिमिंगिलाख्येन महामत्स्येन च गृहीतस्य नैव शरण भवति अन्यो मृगो मत्स्यो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिच्छरणम् ॥१७४०॥

प्रकार सहकारी कारणोंके मिलनेपर उदयमे आये कर्मको जगत्मे कोई रोक नही सकता ॥१७३५॥

गा०—रोगोका प्रतीकार औषध आदि हैं किन्तु कर्मका कोई प्रतीकार नही है। जैसे निरकुश मत्त हाथी कमलिनीके वनको उजाड देता है वैसे ही कर्म समस्त जगत्को मसल देता है ॥१७३६॥

गा०—असातावेदनीय कर्मका उदय होनेपर रोगोका प्रतीकार नही है। पथ्य औषध आदिसे जो रोगोका उपशम होना है वह भी कर्मका उपशम होनेपर ही होता है। कर्मका उपशम न होनेपर औषध आदि भी लाभकारी नही होती ॥१७३७॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्याधर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती अथवा देवेन्द्र जैसे महाबली, महापराक्रमी भी किसीके शरण नही होते। वे भी रक्षा नही कर सकते ॥१७३८॥

गा०—चलता हुआ प्राणी भूमिको लाघ सकता है। तैरता हुआ प्राणी समुद्रको तैर सकता है। किन्तु उदयागत कर्मके फलको उल्लघन कोई महाबली भी नही कर सकता। उसे सबको भोगना पड़ता ही है ॥१७३९॥

गा०—जैसे कोई सिंह किसी मृगको पकड ले तो दूसरा मृग उसकी रक्षा नही कर सकता।

---

१ गिल्दिस्स अ० ।

व्यावर्णितानामशरणत्व मनसावधार्य इद शरणमिति चिन्तनीयमिति कथयति—

दसणणाणचरित्त तवो य ताण च होइ सरणं च ।
जीवस्स कम्मणासणहेदु कम्मे उदिण्णम्मि ॥१७४१॥

'दसणणाणचरित्त तवो य' ज्ञान दर्शन चारित्र तपश्च रक्षा शरण च भवति । जीवस्य कर्मणा नाशहेतु कर्मण्युदीर्णेऽप्यसद्वेद्यादौ । एवमशरणानुप्रेक्षा गता ॥ असरणा ॥१७४१॥

एकत्वानुप्रेक्षा उत्तरेण प्रबन्धेनोच्यते—

पाव करेदि जीवो बधवहेदु सरीरहेदु च ।
णिरयादिसु तस्स फल एक्को सो चेव वेदेदि ॥१७४२॥

पाप करोति जीवो बान्धवनिमित्त शरीरनिमित्त च । बान्धवशरीरपोषणार्थ कृतस्य कर्मण फल नरकादिष्वेक एवानुभवति ॥१७४२॥

नरकादिगतिषु प्राप्त दु खमपश्यतस्तत्रासतो बान्धवा किं कुर्वन्तीति आशङ्का निरस्यति सन्निहिता पश्यन्तोऽप्यकिंचित्करा इति कथनेन—

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं ।
पेच्छता वि समक्ख किंचिवि ण करति से णियया ॥१७४३॥

'रोगादिवेदणाउ' रोगादिदु खानि । 'णिययकम्मफल' निजकर्मफल स्वयोगत्रयोपचितस्य कर्मण फल । 'वेदयमाणस्स' वेदयमानस्य । 'समक्ख पेच्छतावि' प्रत्यक्ष पश्यन्तोऽपि । 'णियया' निजका बान्धवा , 'से' तस्य

या तिमिगल नामक महामत्स्य किसी मच्छको पकड ले तो दूसरा मच्छ उसको नही छुडा सकता । उसी प्रकार कर्मका उदय आनेपर जीवका कोई शरण नही होता ॥१७४०॥

आगे कहते हैं कि ऊपर जिनका वर्णन किया है, वे शरण नही हैं ऐसा मनमे दृढ निश्चय करके आगे कहे पदार्थ शरण हैं ऐसा विचारना चाहिये—

गा०—जीवके असातावेदनीय आदि कर्मका उदय होनेपर कर्मोके नाशके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ही रक्षक हैं और शरण हैं ॥१७४१॥

इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षाका कथन हुआ । आगे एकत्वानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा० - जीव बन्धु-बान्धवोंके निमित्त और शरीरके निमित्त पाप करता है । और बान्धवोंके तथा अपने शरीरके पोषणके लिये जो पापकर्म करता है उसका फल नरकादिमे अकेला ही भोगता है ॥१७४२॥

यहाँ कोई कह सकता है कि नरकादि गतियोमे वह जो दु ख भोगता है उसे उसके बन्धुबान्धव नही देखते क्योंकि वे वहाँ नही हैं इसीसे वे कुछ कर नही सकते । इसके उत्तरमे कहते हैं कि निकट रहकर देखते हुए भी वे कुछ नही कर सकते—

गा०-टी०—अपने मनोयोग, वचनयोग और काययोगसे सचित कर्मका फल जब यह जीव भोगता है तो प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसके बन्धुगण कुछ भी उसका प्रतीकार नही करते । इस

'किंचिवि ण करंति' किंचिदपि प्रतीकारजात न कुर्वन्ति। परत्रेह वा जन्मन्येक एवानुभवति जन्तुर्न तदीय-कर्मफलसविभागकरणे समर्थ कश्चिदिति भाव ॥१७४३॥

तह तथा यथा दु:ख स्वकर्मफलमेक एवानुभवति—

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई।
भोगे भोत्तु णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफल ॥१७४४॥

तथा स्वायुर्गलने। 'एक्कगो चेव मरदि' एक एव प्राणास्त्यजति। 'ण विदिज्जगो होइ कोई' न सहायो भवति कश्चिन। तदीय मरण सविभज्य गृहीत्वा सहायता न कश्चित्करोतीत्यर्थ। अन्यथा एक एव म्रियते इत्यघटमाने बहूनामप्येकदा मरणात्। 'भोगे' भुज्यन्तेऽनुभूयन्त इति भोगा द्रव्याणि अशनवसनमुख-वासादीनि। भोक्तुमनुभवितु निजका बान्धवा। 'विदिज्जगा' सहाया। 'ण पुण' न पुन। 'कम्मफल भोत्तु णीयगा विदिज्जया' तदीयकर्मफल भोक्तु न बन्धवस्सहाया ॥१७४४॥

प्रकारान्तरेणैकत्वभावनामाचष्टे—

णीया अत्था देहादिया य सगा ण कस्स इह होंति।
परलोग अण्णेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥१७४५॥

'णीगा अत्था' बन्धवो धन शरीरादिकाश्च परिग्रहा कस्यचिदपि सम्बन्धिनो न यान्ति परलोक प्रति प्रस्थित। यद्यपि सुष्ठु काम्यन्ते परिग्रहा। गृहीत्वा तान्यदि नामास्य गन्तुमुत्कण्ठा तथापि ते नानुगच्छन्त्येक एव यातीत्येकत्वभावना ॥१७४५॥

इहलोगबन्धवा ते णियया परस्स होंति लोगस्स।
तह चेव धणं देहो सगा सयणासणादी य ॥१७४६॥

लोक और परलोकमे जीव अकेला ही भोगता है। उसके कर्मफलका बटवारा करनेमे समर्थ कोई भी नही है। यह इसका अभिप्राय है ॥१७४३॥

गा०-टी०—जैसे यह जीव अपने कर्मफलको स्वय ही भोगता है उसी प्रकार अपनी आयु समाप्त होनेपर अकेला ही प्राणोको त्यागता है। दूसरा कोई भी उसका सहायक नही है। अर्थात् उसके मरणका भागीदार बनकर कोई भी उसकी सहायता नही करता। यदि एक ही मरता है ऐसा न हो तो एकके साथ बहुतोको मरण प्राप्त होता है। जो भोगे जाते हैं उन्हे भोग कहते हैं। भोजन, वस्त्र, मुखको सुवासित करनेवाले द्रव्य भोग हैं। भोगोको भोगनेमे तो अपने बन्धु-बान्धव सहायक होते हैं। किन्तु उसके कर्मो का फल भोगनेमे कोई सहायक नही होता ॥१७४४॥

प्रकारान्तरसे एकत्व भावनाको कहते हैं—

गा०-टी०—बन्धु-बान्धव धन और शरीर आदि परिग्रह किसीके नही होते। जब यह जीव परलोक जाता है तो उसके साथ नही जाते। यद्यपि मनुष्य परिग्रहोमे बहुत अनुराग रखता है। वह यदि उनको पकडकर साथ ले जाना चाहे तो भी वे उसके साथ नही जाते। जीव अकेला ही जाता है। यह एकत्व भावना है ॥१७४५॥

'इहलोगबन्धवा' अस्मिन्नेव जन्मनि बान्धवा । 'परस्स लोगस्स ण नियया होंति' अन्यस्य जन्मनो न बन्धवो भवन्ति । 'तह चेव बाधवा इव धण देहो सगा सयणासणादी य' धनं शरीरं शयनासनादयश्च परिग्रहा इह लोके एव न परजन्मनि उपकारका भवन्ति । एवं हि ते बान्धवाः परिग्रहाश्च सहाया इति यद्योनु शक्यन्ते यद्यनपायितया उपकारिणः स्युः । इह जन्मन्येव ये प्रयान्ति ते परलोकं गच्छन्तमनुसरन्तीति का प्रत्याशा ॥१७४६॥

यद्येते बान्धवादयो न सहाया कस्तर्हि सहाय इत्याशङ्कायामाचष्टे—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ।
सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥१७४७॥

'जो पुण' यः पुनः । 'जीवेण कदो धम्मो' जीवेन कृतो धर्मः, सम्मत्तचरणसुदमइगो' रत्नत्रयरूपो दुर्गतिप्रस्थितं जीवं धारयति धत्ते वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रयं धर्म इत्युच्यते । 'सो' सः व्यावर्णितो धर्मः । 'जीवस्स' जीवस्य । 'परलोए' परजन्मनि । गुणकारक सहायो भवति अभ्युदयनिःश्रेयससुखप्रदानात् । तथा चोक्तं—

दत्त्वा द्यावापृथिव्योर्वरविषयरतिं वीतभीशुग्विषादां
कृत्वा लोकत्रयेऽस्य सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।
मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे
मोक्षे नित्योरुसौख्ये क्षिपति निरुपमे यस्स नोऽव्याद्सुधर्मः ॥ इति ॥१७४७॥

ननु च 'असहायत्वभावनाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपयुज्यते । नैष दोषः यो येन जन्तुना सहाय-

---

गा०–टी०—जो इस जन्ममें बान्धव हैं वे परलोकमें बान्धव नहीं होते । बान्धवोंकी ही तरह धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह भी इसी लोकमें काम आते हैं परलोकमें नहीं । यदि वे बान्धव और परिग्रह सदा रहनेवाले हों तो उन्हें सहायक कहा जा सकता है । जब वे इसी जन्ममें नष्ट हो जाते हैं तो वे परलोकमें जानेपर साथमें जायेंगे, इसकी आशा कैसी ? ॥१७४६॥

यदि ये बन्धु आदि सहायक नहीं हैं तो कौन सहायक हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०–टी०—जीवने सम्यक्त्वचारित्र ज्ञानरूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म किया है जो दुर्गतिमें जानेवाले जीवका धारण करता है उसे शुभ स्थानमें धरता है वह धर्म है इस तरह रत्नत्रयको धर्म कहते हैं । वह धर्म परलोकमें जीवका गुणकारक सहायक होता है । क्योंकि उससे सांसारिक और पारमार्थिक सुख मिलता है । कहा है—

वह धर्म हमारी रक्षा करे जो मर्त्यलोक और स्वर्गलोकके भय, शोक और विषादसे रहित विषय सुखको देकर देवेन्द्रों और राजेन्द्रोंसे विशिष्ट रूपसे पूजित तीन लोकोंका स्वामी तीर्थङ्कर पद प्रदान करता है तथा अन्तमें मृत्यु, रोग, जन्म, प्रियवियोग, जरा, व्याधि और शोकसे रहित नित्य उत्कृष्ट और अनुपम सुखवाले मोक्षमें ले जाता है ।

शङ्का—यह अधिकार असहाय भावनाका है कि जीवका कोई सहाय नहीं है । इसमें सहायका कथन करना कैसे उचित है ?

---

१ असहायवचनाधिकारे –आ० । २ योऽसौ बन्धुना –आ० ।

त्वेनाध्यवसितो बान्धवादिरसौ सहायो न भवतीति न तत्रादरः कार्यः। सम्यक्त्वज्ञानचारित्रात्मकस्तु धर्मः। धर्मोऽपि जीवपरिणाम उपकारि सहाय इति। तत्रादरो जन्यते सूरिणा। अतिशयितधर्मस्यसहायानिरूपणेन ज्ञातिधनादीनां तथाभूतसहायताभावात् प्रस्तुतैव सहायता समर्थिता भविष्यति। अत्रोच्यते। सम्यक्त्वादयः शुभपरिणामाः प्रशस्तगतिजातिगोत्रसंघातसंहननायुः सद्वेद्यादिकमात्मनि निधाय नश्यन्ति तेन देवो मानवः पञ्चेन्द्रियः पर्याप्तकः कुलीनः शुभनीरोगशरीरश्चिरजीवी सुखी भविष्यति। धर्मानुबन्धिनः पुण्यस्योदयात् दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्निरतिचाररत्नत्रयसंपत्तिश्च भविष्यतीति सभवत्युपकारसहायता धर्मस्य। ननु च ज्ञानपूर्वकत्वाच्चरणस्य 'सम्मत्तचरणसुदमइगो'[1] इति कथमुपन्यस्तं? अयमस्याभिप्रायः सत्यपि श्रुतज्ञाने असंयतसम्यग्दृष्टेश्चारित्राभावान्न महत्यौ संवरनिर्जरे मुख्यगुणे भवतः। तस्मान्मुख्यार्थिनश्चारित्रं प्रधानं किंच तज्ज्ञानमुपायश्चारित्रमुपेयं अतः परार्थत्वाज्ज्ञानमप्रधानं उपेयत्वाच्चरणं प्रधानमिति। 'जो पुण धम्मो जीवेण कदो'[2] इत्यनेन धर्मस्य सर्वथा नित्यत्वं प्रतिषिद्धं फलवैचित्र्यमनुभवसिद्धं, सर्वदैकरूपत्वं धर्मस्य विरुध्यते। सुखसाधनानां स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादीनां वैचित्र्यात् तत्कार्यसुखस्यापि वैरूप्यं नित्यत्वेपि धर्मस्य घटयेदिति चेत् अत्रोच्यते। अतिशयितानतिशयितसुखसाधनता तस्य धर्महेतुता न वेत्यत्र विकल्पद्वये धर्महेतुत्वाभ्युपगमे

समाधान—यह दोष उचित नहीं है क्योंकि जिस जीवने यहाँ जिस बन्धु आदिको अपना सहायक रूपसे माना हुआ है वह सहायक नहीं है इसलिये उसमें आदरभाव नहीं करना चाहिये। सम्यक्त्व ज्ञान चारित्ररूप धर्म जीवका परिणाम होनेसे उसका उपकारी सहायक है। इसलिये आचार्य उसमें आदर कराते हैं।

शङ्का—सातिशय धर्मके सहाय होनेका कथन न करके भी जाति बन्धु धन आदि उस प्रकारके सहायक नहीं होनेसे प्रस्तुत धर्मादिके ही सहायक होनेका समर्थन होता है।

समाधान—सम्यक्त्व आदि शुभपरिणाम आत्मामें उत्तम गति, उत्तम जाति, उत्तम गोत्र, उत्तम संहनन, आयु, सातावेदनीय आदि कर्मोंको उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं। उन कर्मोंके उदयसे जीव, देव अथवा पचेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीन, शुभ नीरोग शरीर वाला चिरजीवी और सुखी होता है तथा धर्मानुबन्धि पुण्यके उदयसे बुद्धि मुनिदीक्षाके अभिमुखी होती है और निरतिचार रत्नत्रयरूप सम्पत्ति होती है। अतः धर्म सहायक और उपकारी है।

शङ्का—चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है अतः ग्रन्थकारने 'सम्यक्त्वचारित्र श्रुतमतिक' कैसे कहा? यहाँ चारित्रके पश्चात् ज्ञानका निर्देश किया है?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि असंयत सम्यग्दृष्टिके श्रुतज्ञान होनेपर भी चारित्रका अभाव होनेसे बहुत अधिक संवर और निर्जरा ये दोनों मुख्य गुण नहीं होते। इसलिये जो संवर और निर्जराके अर्थी हैं उनके लिये चारित्रकी प्रधानता है। तथा ज्ञान उपाय है और चारित्र उपेय है अतः परार्थ होनेसे ज्ञान अप्रधान है तथा उपेय—उपाय द्वारा प्राप्य होनेसे चारित्र प्रधान है। 'जो धर्म जीवने किया' ऐसा कहनेसे धर्मके सर्वथा नित्य होनेका निषेध किया है। धर्मके फलकी विचित्रता अनुभवसे सिद्ध है। अतः धर्मको सर्वदा एकरूपता आगम विरुद्ध है।

शङ्का—सुखके साधन स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदि अनेक हैं अतः उनका कार्य सुख भी अनेक रूप है। इस तरह धर्मको नित्य मानने पर भी फल की विचित्रता बन जाती है।

समाधान—कुछ साधन सातिशय सुखदायक होते हैं और कुछ साधारण सुखदायक होते

---

१ सहायनि—अ० मु०। २ वार—अ०।

कथ न वैचित्र्य धर्मस्य। अथ न धर्मो हेतु [1]स्वहेतुसामान्यायत्तता[2]सुखसाधनाना सातिशयनिरतिशयत-दायत्त फलविभाग इति धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते। ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥१७४७॥

शरीरद्रविणादीना असहायताभावना तद्गोचरानुरागनिवर्तनमुखेन स्थिरयत्युत्तरगाथा—

बद्धस्स वधणेण व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स ।
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥१७४८॥

'बद्धस्स वधणेण व ण रागो' रज्जुशृङ्खलादिभिर्बद्धस्य बन्धनक्रियासाधकतमे रज्ज्वादौ दु खहेतौ यथा न राग । तथा 'देहम्मि होदि णाणिस्स' सुखदु खसाधनविवेकज्ञस्य दु खहेतावसारेऽस्थिरेऽशुचिनि काये न रागो भवति। गुणपक्षपातिनो हि प्राज्ञा । 'विससरिसेसु' विषसदृशेष्वपि 'ण रागो णाणिस्स' ज्ञानिनो नैव राग । केषु ? 'अत्थेसु सव्वेसु'। कथमर्थाना विषसदृशतेति चेत् । यथा विष दु खदायि प्राणान्वियोजयति च तथार्थोऽप्यर्जनरक्षादिषु व्यापृत दु खेन योजयति, प्राणाना च विनाशे निमित्त भवति। तथाहि। प्राणिनोऽर्थार्थं एव परस्पर प्रघाते प्रयतन्ते अतएव महाभयहेतुत्वान्महाभयतार्थाना सूत्रकारेणोक्ता। 'अत्थेसु महाभयेसु' इति। यद्धि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन्न विवेकिन सहायबुद्धिर्यथा विषकण्टकादौ, अपकारि शरीरद्रविणादिकमिति पुन पुनरभ्यस्यतो नेतर सहायोऽयमिति चिन्ताप्रबन्ध प्रवर्तते ॥ एकत्त ॥१७४८॥

है। इसमे धर्म भी कारण है या नही ? यदि धर्म भी कारण है तो धर्ममे वैचित्र्य क्यो नही हुआ। यदि कहोगे कि धर्म कारण नही है, सुखके साधन अपने सामान्य कारणोके अधीन है और उनका जो सातिशय तथा निरतिशय फलभेद पाया जाता है वह भी उन्हीके अधीन है तो धर्म निरर्थक सिद्ध होता है। अत धर्म सर्वथा नित्य नही है ॥१७४७॥

विशेषार्थ—यहाँ टीकाकारका धर्मसे अभिप्राय शुभ परिणामोसे है। शुभ परिणामोकी हीनाधिकताके अनुसार पुण्यबन्धमे विचित्रता होती है और तदनुसार फलमे विचित्रता होती है ॥१७४७॥

शरीर धन आदिमे असहायताकी भावनाको उनके विषयमे जो अनुराग है उस अनुरागको हटानेके द्वारा स्थिर करते है—

गा०-टी०—जैसे पुरुष रस्सी साकल आदिसे बँधा है उसे बन्धन क्रियामे साधकतम रस्सी आदिमे राग नही होता क्योकि वे उसके दु खमे हेतु हैं, उसी प्रकार जो अपने सुख और दु खके साधनोमे भेदको जानता है उसे दु खके हेतु, असार, *अस्थिर अशुचि शरीरमे राग नही होता।* विद्वान्‌जन गुणोके पक्षपाती होते हैं। अत विषके समान सब अर्थो मे ज्ञानीका राग नही होता।

शका—सब अर्थ विषके समान कैसे है ?

समाधान—जैसे विष दु खदायी है, प्राण हरण कर लेता है वैसे ही अर्थ भी जो उसके उपार्जन और रक्षणमे लगता है उसे दु ख देता है। तथा प्राणोके विनाशमे निमित्त होता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—प्राणीगण अर्थके लिये ही परस्परमे घात करनेमे लगते हैं। इसीलिये ग्रंथकारने महाभयका कारण होनेसे अर्थोको महाभयरूप कहा है। जो जिसका उपकार नही करता, बल्कि अनुपकार करता है विवेकी पुरुष उसे अपना सहायक नही मानते। जैसे विषकण्टक

---

१ सहेतु –अ० मु०। २ यत्तसु –अ० मु०।

अन्यत्वभावनानिरूपणार्थमुत्तरप्रबन्ध —

किहदा जीवो अण्णो अण्णं सोयदि हु दुक्खियं णीय ।
ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्पाणं सोयदि अबुद्धी ॥१७४९॥

'किहदा अण्णो जीवो अण्ण णीग किह सोयदिति' पदघटना । अन्यो जीवो नीग स्वस्मादन्य ज्ञातिवर्ग । 'दुक्खिद' दुःखेनाभिभूत कथ तावच्छोचति । 'ण य सोचदि' नैव शोचते । क ? 'अत्ताण आत्मान ? कीदृग्भूत 'बहुदुक्खपुरक्कड' शारीरैरागतुकै, मानसै स्वाभाविकैश्च बहुभिर्दु खै पुरस्कृत । 'अबुद्धि' मयाऽतीते काले चतसृषु गतिषु विचित्रासद्वेद्योदयात् द्रव्यक्षेत्रकालभावसहकारिकारणसान्निध्यापेक्षयानुपरतमापद प्राप्ता पुनरप्यागमिष्यति मा खलीकर्तु । न हि कारणाभ्यासस्थितसहकारिप्रत्यये सति कार्यस्यानुद्भवो नामास्ति, यो यद्भावेपि नासादयेदुदय स कथमिव तद्धेतुक ? यथा सत्यपि यवबीजेऽनुपजायमानश्चूताङ्कुर । तथा सत्य-सद्वेद्योदये यदि न स्युर्भवन्ति च । तस्मादात्मप्रदेशावस्थितस्य दु खबीजस्य केनोपायेनापायो भविष्यतीत्य-कृतबुद्धितया अबुद्धि । एतदुक्त भवति परस्य दुःख आत्मन एव दु खमिति मत्वा शोकमयमुपैति, तद्विनाशे च सतत प्रयत्न करोति । तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदु खनिवृत्तये न प्रारम्भोऽस्ति । ततोय दुःख भोज भोज पर्यटति । न च परो दुःखात्त्रातु शक्यते । तेन हि सञ्चितानि कर्माणि कथ फल न प्रयच्छन्ति । न हि परस्य शोक फलदायिना कर्मणा प्रतिबन्धक, तथा चाभ्यधायि—

आदिको कोई अपना सहायक नही मानता। उसी प्रकार शरीर धन वगैरह भी अपकार करनेवाले हैं। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे 'मेरा कोई अन्य सहाय नही है। ऐसा सतत् चिन्तन चलता है ॥१७४८॥

आगे अन्यत्व भावनाका कथन करते हैं—

गा०—टी०—अन्य जीव अपनेसे अन्य सम्बन्धी जनोको दु खसे पीडित देखकर कैसे शोक करता है ? किन्तु यह अज्ञानी शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक दु खोंसे घिरे हुए अपने आत्माकी चिन्ता नही करता है कि अतीतकालमें मैंने चारो गतियोमें अनेक प्रकारके असातावेदनीयके उदयसे तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सहकारी कारणोंके मिलनेसे निरन्तर आपदाएँ भोगी और वे आपदाएँ पुन मुझे परेशान करनेके लिये भविष्यमें आयेंगी। सहकारी कारणोंके साथ कारणके रहते हुए कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। जो जिसके रहते हुए भी उत्पन्न नहीं होता वह उसका कारण कैसे हो सकता है ? जैसे जौ बोनेपर आमका अकुर पैदा नही होता अत आमके अकुरका कारण जौके बीज नहीं हैं। उसी प्रकार असातावेदनीयका उदय होते हुए भी यदि दुःख नही होता तो असातावेदनीय दु खका कारण नही हो सकता। किन्तु असातावेदनीयके उदयमें दुःख अवश्य होता है। अत आत्माके प्रदेशोंमें जो दु खके कारण उपस्थित हैं उनका विनाश किस उपायसे होगा, ऐसा विचार न करनेसे उसे अबुद्धि कहा है। कहनेका अभिप्राय यह है कि यह अज्ञानी जीव दूसरेके दु खको अपना ही दुःख मानकर शोक करता है और उसके विनाशका निरन्तर प्रयत्न करता है। और ऐसा करनेसे अपने दु खको दूर करनेका प्रारम्भ भी नही कर पाता। इससे दु ख भोगते-भोगते भ्रमण करता है। दूसरेको दु खसे बचाना शक्य नही है। उसने जो कर्मबन्ध किया है वह उसे फल क्यो नही देगा ? दूसरेके शोक करनेसे फल देनेवाले कर्म रुक नही जाते। कहा भी है—

प्रीति पूर्वं कृत कर्म मनोवाक्कायकर्मभि ।
न निवारयितु शक्य सहतस्त्रिदशैरपि ॥ इति ॥

तेनान्यदु खापेक्षा शोकोऽस्य व्यर्थ । अन्यशब्देन च स्वदु खात्पृथक्त्व परदु खस्योच्यते । अन्यत्र परदु खागतस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा एव परदु खस्यान्यतामर प्रेक्षमाण परदु खस्योपहनन वतु न शक्यत इति न शोचति [परदु ख], स्वदु खोन्मूलने प्रयतत इति भावोऽस्य सूरे ॥१७४९॥

सर्वस्य जीवराशेरात्मनोऽन्यत्वस्यैवानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षेति कथयत्युत्तरगाथा—

संसारम्मि अणते सगेण कम्मेण हीरमाणाणं ।
को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥१७५०॥

'ससारमि अणते' अन्तातीते पञ्चविधे ससारे परिवर्तने । 'सगेण कम्मेण' आत्मीयमिथ्यादर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मपर्यायेण पुद्गलस्कन्धेन 'हीरमाणाण' आकृष्यमाणाना बहुविधा गति प्रति । 'को कस्स होदि सयणो' नैव कश्चित् कस्यचित्स्वजनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेऽय विवेक स्वजनोऽय परजनोऽयमिति यदि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतस्स तस्यैव स्वजन सर्वदा भवेत् । परजनो वा स्वजनता नोपेयात् । न चायमस्ति प्रतिनियम स्वकर्म परतन्त्राणामतो न कश्चित् स्वो जन परो वा ममास्ति । सर्वो जीवराशि-मिथ्यात्वादिगुणविकल्पोपनीतनानात्वोऽस्य एवेति कृतव्यवसायस्य क्वचिदेव दया प्रीतिर्वा क्वचिन्निर्दयता द्वेषोऽसमानताख्यो न प्रादुर्भवति ततो विरागद्वेषस्य चारित्रमविकल्प भवति । 'सज्जदि जणमि जणो' आसक्ति

'पूर्वमे मन, वचन, कायमे जो कर्म किये है। सब इन्द्र भी मिलकर उनका निवारण नहीं कर सकते'।

इसलिये दूसरेके दु खको देखकर उसका शोक करना व्यर्थ है। अन्य शब्दसे परके दु खको अपने दु खसे भिन्न कहा है। परके आगत दु खको अपनेसे भिन्न चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार परके दु खको अपनेसे भिन्न विचार करता हुआ जानता है कि परके दु खका विनाश करना शक्य नहीं है इसलिये वह उसका शोक नहीं करता। और अपने दु खके विनाशमे प्रयत्नशील रहता है। यह आचार्यका अभिप्राय है ॥१७४९॥

आगे कहते हैं कि समस्त जीवराशि अपनेसे अन्य है ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है—

गा०-टी०—पचपरावर्तन रूप ससारके अनन्त होते हुए अपने मिथ्यादर्शन आदि परिणामोसे उत्पन्न हुए पुद्गल स्कन्धरूप कर्म पर्यायके द्वारा अनेक गतियोमे भ्रमण करते हुए जीवका कौन किसका स्वजन है? यह स्वजन है और यह परजन है यह भेद हो सकता था यदि जो जिसका स्वजन है वह उसीका स्वजन सदा रहता और परजन कभी भी स्वजन न होता। किन्तु अपने-अपने कर्मोके अधीन जीवोका यह नियम नहीं हो सकता। अत न कोई मेरा स्वजन है और न कोई परजन है। मिथ्यात्व आदि गुणस्थानोके भेदसे नाना भेदरूप हुई समस्त जीवराशि मुझसे भिन्न ही है ऐसा जिसने निश्चय किया है उसका किसीमे ही दया और प्रीति और किसीमे निर्दयता और द्वेष यह असमानतारूप व्यवहार नहीं बनता। इसलिये जो राग-द्वेषसे रहित है

१ सहितैस्त्रिदशै –आ०। स्यानियतापेक्षमाण –आ०।

करोति जन हि जनो ममाय भ्राता पिता पुत्रो भागिनेयो दास स्वामीति[1], वा मोहाद्वस्तुतत्वस्य अन्यतामात्ररूपस्य निरस्तस्वजनत्वस्य[2] [3]परिज्ञानात् ॥१७५०॥

प्रकारातरेण स्वजनपरजनविवेकाभाव दर्शयत्युत्तरगाथा—

सव्वो वि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि ।
एते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥१७५१॥

'सव्वो वि जणो सजणो' निरवशेषो जन्तुरनन्त स्वजन । 'सव्वस्स वि' सर्वस्यापि प्राणभृत । 'तीदकालम्मि' अतीते काले 'आसि' आसीत् । 'एते य तथा काले' भविष्यति तथा काले । होहिदि' भविष्यति । 'सजणो जणस्स जणो' स्वजनो जनस्य जन । एतदनेनाख्यायते अतीते भविष्यति च काले सर्वस्य सर्व स्वजन अभीद्भविष्यति च । ततस्सर्वसाधारणत्वे स्वजनत्वस्य मति ममाय स्वजन इति मिथ्यासकल्प । [4]तेऽप्यन्ये ममाप्य[5]न्यस्तस्य इत्येतदेव तत्त्वमित्यन्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा ॥१७५१॥

रत्तिं रत्तिं रुक्खे रुक्खे जह सउणयाण सगमणं ।
जादीए जादीए जणस्स तह सगमो होई ॥१७५२॥

'रत्ति रत्ति' रात्रौ रात्रौ । 'रुक्खे रुक्खे' वृक्षे वृक्षे । 'जह सउणयाण सगमण' यथा पक्षिणा सगमन । 'जादीए जादीए' जन्मनि जन्मनि । 'जणस्स' जनस्य । 'तहा' तथा । 'सगमो होदि' सगमो भवति । यथा रात्रावाश्रयमन्तरेण स्थातुमसमर्था पक्षिणो योग्य वृक्षमन्विष्य ढौकते । तद्वत्प्राणिनोपि निरवशेषगलितायु पुद्गलस्कन्धा परित्यक्तप्राक्तनशरीरा शरीरातरग्रहणार्थिन शरीरग्रहणयोग्यदेश योनिसज्ञितमास्कन्दन्ति ।

उसका चारित्र सर्वत्र एकरूप होता है। यह मेरा भाई, पिता, पुत्र, भानेज, दास या स्वामी है इस प्रकार आसक्ति मनुष्य मोहवश करता है। वस्तुतत्त्व तो अन्यतामात्र रूप है उसमे कोई स्वजन नही है ॥१७५०॥

प्रकारान्तरसे स्वजन और परजनके भेदका अभाव कहते हैं—

गा०—अतीतकालमे सब प्राणियोंके समस्त अनन्त जीव स्वजन थे। तथा भविष्यत् कालमे सब प्राणियोंके सब जीव स्वजन होंगे ॥१७५१॥

टी०—इस गाथासे यह कहा गया है कि अतीत कालमे सबके सब जीव स्वजन थे और भविष्यमे सबके सब जीव स्वजन होंगे। इस प्रकार जब सभी जीव स्वजन हैं तो यह मेरा स्वजन है इस प्रकारका सकल्प मिथ्या है। वे मुझसे अन्य हैं और मैं उनसे अन्य हूँ, इस स्वपरविषयक अन्यत्व तत्त्वका चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५१॥

गा०—जैसे प्रत्येक रात्रिमें प्रत्येक वृक्षपर पक्षियोका सगम होता है उसी प्रकार जन्म-जन्ममे मनुष्योका सगम होता है ॥१७५२॥

टी०—जैसे रात्रिमे आश्रयके बिना रहनेमे असमर्थ पक्षी योग्य वृक्षको खोजकर उसपर बसेरा लेते हैं। उन्हीकी तरह ससारके प्राणी भी जब उनके आयुकर्मके पुद्गल स्कन्ध पूर्णरूपसे

---

१ नि ध्यामो० –आ० । २ जनपरि –आ० । ३ अपरिज्ञानात् इति प्रतिभाति । ४ तेनान्या ममाप्यनन्येन्य इत्यतदेव –आ० । ५ न्यस्त्यस्य इ –अ० ।

तत्र यथा शुक्रशोणितमयमाश्रितोऽशुचितम तौ पितराविति सकल्पयति । तथाभूतयोरेव शुक्रशोणितयोरुपात्त-देहा भ्रातर इति । [1]अन्ये त एवभूताश्च [2]स्वजनिनोतिसुलभा । कान्तारे पक्षिणा निवासवृक्षा इवेति भाव ॥१७५२॥

पहिया उवासये जह तहिं तहिं अल्लियति ते य पुणो ।
छंडित्ता जंति णरा तह णीयसमागमा सव्वे ॥१७५३॥

'पहिया' पथिका । 'उवासये' उपाश्रये कस्मिश्चित । 'जह' यथा । 'तहि तहि' तस्मिस्तस्मिन् ग्राम-नगरादौ । 'अल्लियति' अन्याग्य ढौकन्ते । 'ते य' ते च सगता पथिका । 'पुणो' पश्चात् । 'छडित्ता' त्यक्त्वा । 'जति' याति स्वाभिमत देश । 'तह णीयसमागमा सव्वे' तथा बन्धुसमागमा सर्वेऽपि च । एतेन बन्धु-समागमस्यानित्यता व्याख्याता ॥१७५३॥

भिण्णपयडिम्मि लोए को कस्स सभावदो पिओ होज्ज ।
कज्ज पडि सवघ वालुयमुट्ठीव जगमिणमो ॥१७५४॥

'भिण्णपयडिम्मि लोगे' नानास्वभावे लोके । 'को कस्स सभावदो पिओ होज्ज' क कस्य स्वभावेन प्रिया भवेत् । समानशीलताया हि सख्य भवति । न च सर्वबन्धव समानशीला कथ तर्हि तेषा वा स बान्धव । 'कज्ज पडि सवघो' कार्यमेवाद्दिश्य सम्बन्ध नासति कार्येऽस्ति सम्बन्ध । 'वालुगमुट्ठीव' वालुका-मुष्टिरिव । 'जगमिणमो' लोकोय । यथा वालुकाना भिन्नप्रकृतीना द्रवद्रव्यमतरेण न स्वाभाविक सम्बन्धो येन सगता मुष्टिमुपेयु । उदकादिद्रव्योपनीतैव सगतिस्तासा, एव कार्योपनीतैव सगति स्वजनाना ॥१७५४॥

गल जाते है, और वे पूर्व शरीरको छोड नवीन शरीर ग्रहण करना चाहते हैं, तो वे शरीर ग्रहण करनेके योग्य देशमे, जिसे योनि कहते हैं, जाते हैं। वहाँ उन्हे जिनके अत्यन्त अपवित्र रजवीर्य रूपका आश्रय प्राप्त होता है उन दोनोमे माता-पिताका सकल्प करते हैं। उसी प्रकारके रजवीर्यसे जिनके शरीर बनते हैं वे भाई होते है। वनमे पक्षियोंके रहनेके वृक्षोंकी तरह इस प्रकारके स्वजनवास सुलभ है। यह उक्त गाथाका अभिप्राय है ॥१७५२॥

गा०—जैसे किसी उपाश्रयमे पथिक विभिन्न ग्राम नगर आदिमे परस्परमे मिलते हैं। पीछे वे सब उस उपाश्रयको छोडकर अपने-अपने देशको चले जाते हैं। उसी प्रकार सब बन्धु-बान्धवोका समागम है। इससे बन्धुसमागमको भी अनित्य कहा है ॥१७५३॥

गा०-टी०—लोगोंके अलग-अलग स्वभाव होते हैं। ऐसे नाना स्वभाववाले लोकमे कौन किसको स्वभावसे प्रिय हो सकता है। समानशील वालोमे ही मित्रता होती है। किन्तु सब बन्धु-बान्धव तो समान शीलवाले नही होते। तब कैसे वह उनका बन्धु हो सकता है। कार्यको लेकर ही सम्बन्ध होता है। कार्यके न रहनेपर सम्बन्ध नही रहता। जैसे रेतका प्रत्येक कण अपना भिन्न स्वभाव रखता है। किसी मिलानेवाले द्रव्यके बिना उनका परस्परमे कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है। पानी आदिके सम्बन्धसे ही वे परस्परमे मिलते हैं। अन्यथा मुट्ठीमे अलग-अलग ही रहते हैं। इसी प्रकार स्वजन भी कार्यवश ही परस्परमे मिलते हैं ॥१७५४॥

---

१ अन्यस्त ए-आ० । २ स्वजातयाति –आ० ।

त च कार्यकृत सम्बन्ध स्पष्टयत्युत्तरगाथा—

माया पोसेइ सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति ।
पोसेदि सुदो माद गब्भे धरिओ इमाएत्ति ॥१७५५॥

'माया पोसेदि सुद' माता पोषयति सुत । 'आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति' अय ममाधारो भविष्यतीति । 'पोसेदि सुदो माद' पोषयति सुतो मातर । 'गब्भे धरिदो इमाएत्ति' गर्भे धारितोऽन्यंयेति ॥१७५५॥

उपकारापकारयो प्रतिबन्धात् शत्रुता मित्रता वेति तत् कथयति—

होउण अरी वि पुणो मित्त उवकारकारणा होइ ।
पुत्तो वि खणेण अरी जायदि अवयारकरणेण ॥१७५६॥

'होऊण अरी वि' शत्रुरपि भूत्वा । 'पुणो' पुन । 'मित्तो होदि' सुहृद्भवति । म एवारि । कुत ? 'उपकारकरणा' उपकारकरणेन । 'पुत्तोवि खणेण अरी जायदि' पुत्रोपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन ? अपकारकरणेन, निर्भर्त्सनताडनाद्यपकरणक्रियया । यस्मादेव ॥१७५६॥

तम्हा ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि ससारे ।
कज्ज पडि हुति जगे णीया व अरी व जीवाणं ॥१७५७॥

'तम्हा' तस्मात् । 'ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि ससारे' नैव कश्चित्कस्यचित्स्वजन परजनो वा विद्यते । 'कज्ज पडि होदि णीगा व अरी व जन ' कार्यमेवोपकारापकारलक्षण प्रति बन्धव शत्रवश्च भवन्ति । न स्वाभाविकी बन्धुता शत्रुता वा जीवानामस्ति उपकारापकारक्रिययोरनवस्थितत्वात्तन्मूलोऽरिमित्रभावोऽप्यनवस्थित इति न रागद्वेषौ क्वचिदपि कार्यौ । मत्तोऽन्ये सर्व एव प्राणभृत इति कार्यान्यत्वानुप्रेक्षेति प्रस्तुताधिकारेणाभिसम्बन्ध ॥१७५७॥

आगे उस कार्यवश हुए सम्बन्धको दृढ करते हैं—

गा०—यह मेरा बुढापेमे आधार होगा इस भावनासे माता पुत्रका पालन करती है और पुत्र माताका पालन करता है कि इसने मुझे गर्भमे धारण किया था ॥१७५५॥

आगे कहते हैं कि शत्रुता और मित्रता उपकार और अपकारसे बँधे हैं—

गा०—शत्रु होकर भी उपकार करनेसे मित्र हो जाता है । अपकार करनेसे पुत्र भी क्षणभरमे शत्रु हो जाता है । अर्थात् यदि पुत्र माता पिताका तिरस्कार करता है उन्हे मारता है तो वह शत्रु ही प्रतीत होता है ॥१७५६॥

गा०—इसलिये ससारमे कोई किसीका न स्वजन है और न परजन है । उपकार और अपकार रूप कार्यको लेकर ही जीवोंके मित्र या शत्रु बनते हैं ॥१७५७॥

टी०—जीवोमे न तो स्वाभाविक शत्रुता है और न स्वाभाविक बन्धुता है । उपकार और अपकाररूप क्रिया भी स्थायी नही है इसलिये उपकार मूलक मित्रता और अपकारमूलक शत्रुता भी स्थायी नही है । अत न किसीसे राग करना चाहिये और न किसीसे द्वेष करना चाहिये । सभी प्राणी मुझसे अन्य है इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा करना चाहिये ॥१७५७॥

शत्रुमित्रयोर्लक्षणमाचष्टे—

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बधवो होदि ।
जो जस्स कुणदि अहिद सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥१७५८॥

'जो जस्स वट्टदि हिदे' यो यस्य उपकारे वर्तते । 'पुरिसो' पुरुष । 'सो तस्स बधवो होदि' स तस्य बन्धुर्भवति । 'जो जस्स कुणदि अहिद' यो यस्य करोत्यहित । 'सो तस्स रिउत्ति णायव्वो' स तस्य रिपुरिति ज्ञातव्य ॥१७५८॥

शत्रुलक्षण बन्धुषु दर्शयति—

णीया करति विग्घ मोक्खब्भुदयावहस्स धम्मस्स ।
कारिंति य अइबहुग असजम तिव्वदुक्खकर ॥१७५९॥

'णीया करति विग्घ' बान्धवा कुर्वन्ति विघ्न । कस्य ? 'धम्मस्स' धर्मस्य, 'कीदृग' ? मोक्खब्भुदयावहस्स' निरवशेषदु खकारिकर्मापाय सासारिकमतिशयवत् सुख च सपादयतो रत्नत्रयस्य । 'कारति य' कारयन्ति च । कि ? 'असयम' हिंसानृतस्तेयादिक, 'अदिबहुग' अतीव महान्त । 'तिव्वदुक्खकर' दु सह-नरकादिदु खोत्पादनोद्यत । हितस्य विघ्नकरणादहिते च प्रवर्तनात् दर्शिता शत्रुता बन्धूनामेतेन । अन्येषा बान्धवाद्यभिमताना शत्रुत्वेनानुप्रेक्षण अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथित भवति ॥१७५९॥

इदानीमन्यशब्देन साधवो भण्यते तेषामुपकारकत्वरूपेणानुप्रेक्षेति चेतसि कृत्वा व्याचष्टे—

णीया सत्तू पुरिसस्स हुति जदिधम्मविग्धकरणेण ।
कारेंति य अतिबहुग असंजम तिव्वदु खयर ॥१७६०॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

गा०—जो पुरुष जिसका उपकार करता है वह उसका बान्धव होता है। और जो जिसका अहित करता है वह उसका शत्रु होता है। यह मित्र और शत्रुका लक्षण जानना ॥१७५८॥

आगे बन्धुओमें शत्रुका लक्षण दिखलाते हैं—

गा०-टी०—बन्धुगण दु ख देनेवाले सब कर्मोका पूर्णरूपसे विनाश और ससारका सातिशय दु ख देनेवाले रत्नत्रयरूप धर्ममें विघ्न करते हैं। और दु सह नरकादिके दु खोंको लानेमें तत्पर हिंसा, झूठ, चोरी आदि असयम कराते हैं। अर्थात् यदि कोई जिनदीक्षा आदि लेकर आत्म-कल्याणमें लगना चाहता है तो परिवारके लोग उसे रोकते हैं तथा अपने पोषणके लिये मनुष्यको बुरे कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं। तो हितसाधनमें विघ्न करनेसे और अहितमें लगानेसे बन्धु शत्रु हैं, यह इसमे दिखलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि जो अन्य बान्धव आदि रूपसे इष्ट हैं उन्हे भी शत्रु रूपसे विचारना कि ये मेरे मित्र नही हैं, शत्रु हैं, अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५९॥

अब अन्य शब्दसे साधुओंको लेते हैं। उन्हे उपकारी रूपसे विचारना अन्यत्वानुप्रेक्षा है, यह कहते हैं—

गा०—पुरुषके यति धर्म स्वीकार करनेमें विघ्न करनेसे बन्धुगण शत्रु होते हैं तथा वे

[1]अन्यथा यतीना बन्धुत्व कथ [2]प्रस्तुताया अन्यत्वानुप्रेक्षायामुपयुज्यते ॥१७६०॥

पुरिसस्स पुणो साधू उज्जोव संजणंति जदिधम्मे ।
तध[3] तिव्वदुक्खकरण असंजमं परिहरावेंति ॥१७६१॥

'पुरिसस्स' पुरुषस्य । 'पुणो साधू' साधव पुन 'उज्जोव सजणंति' उद्योग सम्यग्जनयन्ति । 'जदिधम्मे' सर्वारम्भपरिग्रहत्यागलक्षणे यतिधर्मे, 'तध असजम परिहरावेंति' तथा असयम परिहारयन्ति । कीदृग्भूत ? 'तिव्वदुक्खयर' तीव्राणा दुःखानामुत्पादक ॥१७६१॥

उपसहरति प्रस्तुतमर्थ—

तम्हा णीया पुरिसस्स होंति साहू अणेयसुहहेदु ।
ससारमदीणता णीया य णरस्स होंति अरी ॥१७६२॥

'तम्हा' तस्मात् । हिते प्रवर्त्तनात् अहिते निवर्तनात् । 'णीया पुरिसस्स' बन्धव पुरुषस्य । के ? 'साधू' साधव । 'अणेयसुखहेदू' इन्द्रिया[4]तीन्द्रियसकलसुखहेतव । 'ससारमदीणता' ससारमपारमनेकदु खसङ्कुलमवतारयन्त । 'णीया य णरस्स होंति अरी' शत्रवो भवन्ति मनुष्यस्य बन्धव । एतेन सूत्रेण अन्येषा यतीना बन्धूना मित्रत्वशत्रुत्वानुप्रेक्षण अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथ्यते । एवमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मे तदुपदेशक रिणि च यतिजने महानादरो भवति । अभिमत सकल सुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विघ्न सम्पादयत्सु चतुर्गतिघटीयन्त्रे[5] दुखार-[6]आरोहयत्सु नितरामनादरो भवति ॥१७६२॥ अण्णत्त ।

ससारानुप्रेक्षा कथ्यते प्रबन्धेनोत्तरेण—

मिच्छत्तमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ।
जिणवयणविप्पणट्ठो महाडवीविप्पणट्ठो वा ॥१७६३॥

अत्यन्त दुःसह दुःखदायी असयम कराते हैं इसलिये भी वे शत्रु हैं ॥१७६०॥

गा०—किन्तु साधु सर्व आरम्भ और सर्व परिग्रहके त्यागरूप मुनिधर्ममें पुरुषको तत्पर करते हैं और तीव्र दुःखदायी असयमका त्याग कराते हैं ॥१७६१॥

प्रस्तुत कथनका उपसहार करते हैं—

गा०-टी०—अत हितमें लगाने और अहितसे रोकनेके कारण साधुगण बन्धु हैं। वे इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुखके कारण हैं तथा अनेक दुःखोंसे भरे अपार ससारसे पार उतारते हैं। इस गाथाके द्वारा अपनेसे अन्य साधुगणोंका मित्ररूपसे और बन्धुगणोंका शत्रुरूपसे चिन्तन करनेको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहा है। ऐसा चिन्तन करनेसे धर्ममें और धर्मका उपदेश करनेवाले साधुगणमें महान आदर होता है। और सर्व इष्ट सुखको देनेवाले धर्ममें विघ्न करनेवालोंमें और जिनपरसे उतरना दुष्कर है उस चार गतिरूपी घटीयन्त्रपर चढाने वालोंमें अत्यन्त अनादर होता है ॥१७६२॥

---

१ अन्येषा—आ० मु० । २ कथमत्र—आ० मु० । ३ असजम परिहरावेंति तिव्वदुक्खयर—आ० । ४ यातिन्द्रि—आ० मु० । ५ यन्त्रे दुःखभारे आ—आ० मु० । ६ आरोहत्सु—अ० मु० ।

'मिच्छत्तमोहिदमदी' वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं दर्शनमोहोदयजं मिथ्यात्वं तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोहमुपगता मतिर्यस्यासौ । 'ससारमहाडवीं' ससारो महाटवी दुस्तरत्वादनेकदु खावहत्वाद्विनाशयितुमुद्यतत्वाच्च ता ससारमहाटवी । 'तवो' तस्मात् मिथ्यात्वमूढमतित्वात् । 'अदीदि' प्रविशति । ननु च मिथ्यात्वासयमकषाययोगाश्चत्वारोऽपि ससारस्य निमित्तभूता तत्र किमुच्यते मिथ्यात्वमूढमति ससारमहाटवी प्रविशतीति । अत्रोच्यते—उपलक्षण मिथ्यात्वग्रहण असयमादीना । 'जिणवयणविप्पणट्ठो' द्रव्यभावकर्मारातिजयात जिनास्तेषा वचन जीवाद्यर्थयाथात्म्यप्रकाशनपटु प्रत्यक्षादिप्रमाणातराविरोधि ततो विप्रनष्टस्तदर्थापरिज्ञानाद् यत्तत्वाश्रद्धान तन्निरूपितेन मार्गेणानाचरणाच्च महाटवीं महतीमटवी प्रविशति । 'विप्पणट्ठो वा' मार्गाद्विप्रनष्ट इव । 'ससारमहोदधिमविगम्म जीवपोतो भमदि' ससारमहासमुद्र प्रविश्य जीवयानपात्र भ्रमति । कीदृग्भूत ससारमहोदधि ॥१७६३॥

बहुतिव्वदुक्खसलिल अणतकायप्पवेसपादाल ।
चदुपरिवट्टावत्त चदुगदिबहुपट्टमणत ॥१७६४॥

'बहुतिव्वदुक्खसलिल' बहूनि तीव्राणि दु खानि सलिलानि यस्मिन्ससारमहोदधौ त । 'अणतकायप्पवेसपादाल' अनताना जीवाना काय शरीरमनतकाय अनन्तकाय [1]प्रवेशास्ते पातालस्थानीया यस्य त । अथवा न विद्यते अन्तो निश्चयोऽस्यैव जीवस्येद शरीरमिति बहूना साधारणत्वात् यस्मिन् काये सोऽनत कायोऽस्य

आगे ससार अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०–टी०—दर्शनमोहके उदयसे जो वस्तुके यथार्थस्वरूपका अश्रद्धान है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। उस मिथ्यात्वके कारण जिसकी मति मोहित है वह मिथ्यात्वसे मोहितमति होनेसे ससाररूपी महा अटवीमे प्रवेश करता है। महाअटवीके समान ही ससारको पार करना कठिन है वह अनेक दु खोसे भरा है तथा प्राणीका विनाश करनेवाला है इसलिये ससारको महाटवी कहा है।

शंका—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये चारो भी ससारके हेतु हैं। तब यह क्यो कहा कि मिथ्यात्वमे जिसकी मति मूढ है वह ससार महाटवीमे प्रवेश करता है।

समाधान—मिथ्यात्वका ग्रहण असयम आदिका उपलक्षण है अत मिथ्यात्वके ग्रहणमे असयम आदिका ग्रहण हो जाता है। द्रव्यकर्म और भावकमरूपी शत्रुओको जीतनेसे जो जिन कहे जाते हैं उनके वचन जीवादि पदार्थोके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशनमे दक्ष हैं तथा वे प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणोंमे अविरुद्ध हैं। उन वचनोका अर्थ न जाननेसे जो तत्त्वोका अश्रद्धान है उससे तथा उसमे कहे गये मार्गके अनुसार आचरण न करनेसे ससाररूपी महाअटवीमे प्रवेश करता है। तथा मार्गमे भ्रष्ट होकर जीवरूपी जहाज ससाररूपी महासमुद्रमे प्रवेश करके भटकता है ॥१७६३॥

ससाररूपी महासमुद्र कैसा है, यह बतलाते हैं—

गा०–टी०—जिस ससाररूपी महासमुद्रमे तीव्र दु खरूपी जल भरा है और अनन्त जीवोंके काय अर्थात् शरीरको अनन्तकाय कहते हैं। अनन्तकायमे प्रवेश ही जिस ससार समुद्रमे पाताल हैं। अथवा 'यह शरीर इसी जीवका है' ऐसा अन्त अर्थात् निश्चय जहाँ नही वह काय अनन्त है

---

१ दुस्तरत्वाद् बहुत्वा –आ० मु० । २ कायस्य प्र०, आ० ।

जीवस्येत्यनन्तकाय । अन्तरेणापि भावप्रधानो निर्देश । तेनायमर्थं अनन्तकायत्वस्य प्रवेश अनन्तकाय-प्रवेश स पाताल यस्य त । 'चदुपरिवट्टावत्त' चत्वार द्रव्यक्षेत्रकालभावाख्या परिवर्ता आवर्ता यस्मिस्त । 'चदुगदिबहुपट्टण' चतस्रो गतयो बहूनि महान्ति पत्तनानि यस्मिस्त । 'अणत' अनन्त ॥१७६४॥

हिंसादिदोसमगरादिसावद दुविहजीवबहुमच्छ ।
जाइजरामरणोदयमणेयजादीमदुम्मीयं ॥१७६५॥

'हिंसादिदोसमगरादिसावद' हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहा हिंसादिदोषास्ते मकरादय श्वापदा यस्मिस्त । 'दुविहजीवबहुमच्छ' द्विविधा स्थावरजगमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते बहवो मत्स्या यस्मिन्स्त । 'जादिजरामरणोदय' जातिरभिनवशरीरग्रहण, जरा नाम गृहीतस्य शरीरस्य तेजोबलादिभिरूनता, मरण शरीरादपगम एतानि जातिजरामरणानि उदय उद्गतिर्यस्मिन्स्त । 'अणेयजादीसुदुम्मीग' अनेकानि जाति-शतानि ऊर्मयो यस्मिन्स्त । एकद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियजातय प्रत्येकमवान्तरभेदापेक्षया पृथिवीकायिका, अप्कायिका-स्तेजस्कायिकवनस्पतिकायिका इति । एकेन्द्रियजातिरनेकप्रकारा । षट्त्रिंशद्विकल्पा पृथिवी । आपोऽपि वर्षहिम-हिमानीकरकादिभेदभिन्ना । अग्निरपि प्रदीपोल्मुकमर्चिरित्यनेकभेद । वायुरपि गुञ्जामण्डलिकादिविकल्प । वनस्पतयोऽपि तरुगुल्मवल्लीलतातृणादिभेदास्ततो जातिशतानीत्युक्त ॥१७६५॥

क्योकि एक शरीरमे बहुतसे जीव समानरूपसे रहते हैं। वह अनन्तकाय जिस जीवकी है वह अनन्तकाय है। 'भाव प्रत्ययके विना भी निर्देश भावप्रधान होता है' इस नियमके अनुमार अर्थ होता है अनन्त कायत्वका प्रवेश अनन्तकाय प्रवेश। वही जिसमे पाताल है। तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव परिवर्तन रूप जिसमे चार भँवर हैं। और चारगतिरूप महान् द्वीप हैं तथा जो अनन्त है ॥१७६४॥

विशेषार्थ—ससारको महासमुद्रकी उपमा दी है। समुद्रमे जल होता है ससारमे दु ख ही जल है। जैसे जलका आरपार नही है वैसे ही ससारके दु खका भी आदि अन्त नही है। समुद्रमे पाताल होते हैं जिनमे प्रवेश करके निकलना कठिन है। ससारमे जो अनन्तकाय निगोद हैं वही पाताल है उसमे प्रवेश करके निकलना कठिन है। समुद्रमे भँवर होते है। ससारमे परिवर्तनरूप भँवर है। समुद्रमे द्वीप होते हैं जहाँ कुछ समय ठहर सकते हैं। ससारमे चार गतियाँ ही द्वीप हैं। इसी प्रकार समुद्र भी अनन्त है और ससार भी ॥१७६४॥

गा०-टी०—उस ससाररूपी समुद्रमे हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहरूपी मगर आदि क्रूर जन्तु रहते हैं। स्थावर और जगम जीवरूप बहुतसे मच्छ हैं। जाति अर्थात् नया शरीर धारण करना, जरा अर्थात् वर्तमान शरीरके तेज बल आदिमे कमी होना, मरण अर्थात् शरीरका त्याग। ये जाति जरा और मरण उसके उठाव हैं तथा सैकडो जातियांरूपी उसमें तरगें हैं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये पाँच जातियाँ हैं। इसमेंसे प्रत्येकके अनेक अवान्तर भेद हैं। जैसे एकेन्द्रिय जातिके पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वनस्पतिकायिक आदि अनेक भेद हैं। उनमेंसे भी पृथिवीके छत्तीस भेद हैं। जलके भी वर्षा, हिम, ओले आदि भेद हैं। आगके भी दीपक, अगार, लपट आदि अनेक भेद हैं। वायुके भी गुजा, माण्डलिक आदि भेद हैं। वनस्पतिके भी वृक्ष, झाडी, बेल, लता, तृण आदि भेद हैं। इसीसे सैकडो जातियाँ कही हैं ॥१७६५॥

दुविहपरिणामवाद संसारमहोदधिं परमभीमं ।
अदिगम्म जीवपोदो भमइ चिरं कम्मभण्डभरो ॥१७६६॥

'दुविधपरिणामवाद' द्विविधा शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिंस्तं । 'परमभीमं' अतिभयंकरं । 'अदिगम्म' प्रविश्य । 'जीवपोदो' जीवपोतः । 'भमइ चिरं' चिरकालं भ्रमति । 'कम्मभण्डभरो' कर्मद्रविणभारः । त्रिभिः सम्बन्धः ॥१७६६॥

भवसंसारं निरूपयति—

एगविगतिगचउपंचिंदियाण जाओ हवंति जोणीओ ।
सव्वाओ ताओ पत्तो अणंतखुत्तो इमो जीवो ॥१७६७॥

'एगविगतिगचउपंचिंदियाण' नामकर्म गतिजात्यादिविविधभेदं । तत्र जातिकर्म पञ्चविकल्पं एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिविकल्पेन तासां जातीनामुदयात् । एकेन्द्रियतादिपर्यायभाजो जीवा एकेन्द्रियादिशब्देनोच्यन्ते । तेषामेकेन्द्रियादीनां योनयः आश्रयाः बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकाख्या जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिता । 'सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः' [त० सू० २।३२] इति सूत्रे ये निर्दिष्टाश्चतुरशीतिशतसहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यन्ते । यतः सूत्रान्तरे देवत्वनारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाख्यः भवपर्यायपरावृत्तिर्भवसंसार इत्युक्तः ।

णिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लयादु गेवज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु भवट्ठिदी भज्जिदा बहुसो ॥ इति वचनात् ॥

योनयो न भवशब्दवाच्याः । जीवपर्यायो हि भवस्तत्र भवः संसारस्त्रिंशद्विधः—पृथिव्यप्तेजोवायुवन-

---

गा०- कर्मरूपी भाण्डसे भरा हुआ जीवरूपी जहाज शुभ अशुभ परिणामरूप वायुसे युक्त अतिभयंकर संसार महासागरमें प्रवेश करके चिरकाल तक भ्रमण करता है ॥१७६६॥

अब भवसंसारका कथन करते हैं—

गा०-टी०—नामकर्मके गतिनामकर्म जातिनामकर्म आदि अनेक भेद हैं। उनमेंसे जातिनामकर्मके पाँच भेद हैं—एकेन्द्रिय जातिनाम, दोइन्द्रिय जातिनाम, त्रीन्द्रिय जातिनाम, चतुरिन्द्रिय जातिनाम और पञ्चेन्द्रिय जातिनाम। उन जातिनाम कर्मोंके उदयसे एकेन्द्रिय आदि पर्यायमें जन्म लेनेवाले जीव एकेन्द्रिय आदि शब्दसे कहे जाते हैं। उन एकेन्द्रिय आदिकी बादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त योनियोंको यहाँ जीवद्रव्यका आश्रय कहा है। तत्त्वार्थ सूत्रके 'सचित्तशीतसंवृता' इत्यादि सूत्रमें जो चौरासी लाख योनियाँ कही हैं, यहाँ उनका ग्रहण नहीं किया है। क्योंकि उसी तत्त्वार्थसूत्रके 'संसारिणो मुक्ताश्च' सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकामें देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यञ्च नामक भवपर्यायके परावर्तनको भवसंसार कहा है। कहा है—'इस जीवने नरकगति आदिकी जघन्य स्थितिसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त अनेक भवस्थितियोंको मिथ्यात्वके संसर्गमें भोगा है।'

अतः भवशब्दसे योनियाँ नहीं कही जातीं। जीवकी पर्यायको भव कहते हैं। भवसंसार तीस प्रकारका है—पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकायमेंसे प्रत्येकके

स्पतिकाया प्रत्येक बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तविकल्पाद्विंशतिविधा । द्वित्रिचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञासञ्ज्ञिविकल्पा पञ्चेन्द्रियाश्च पर्याप्तापर्याप्तकविकल्पा दशविधा । अन्ये तु भवपरिवर्तनमेव [1]वदन्ति । नरकगतौ सर्वजघन्य-मायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्न पुन परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्र जायते । एव दशवर्ष-सहस्राणां यावन्त समयास्तावन्त्कृत्वा तत्रैव जातो मृत । पुनरेकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । तत प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ अन्तर्मुहूर्तायु समुत्पन्न । पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि परि-समापितानि । तत प्रच्युत्य एव मनुष्यगतौ । देवगतौ नारकवत् । अय तु विशेष , एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तना सर्वास्ता भवन्ति इति । अनन्तवारमय प्राप्तो जीव ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—

अण्ण गिण्हदि देह त पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्ण ।
घडिजंत व य जीवो भमदि इमो दव्वससारे ॥१७६८॥

अण्ण गेण्हदि देह' अन्यच्छरीर गृह्णाति । 'त पुण मुत्तूण' तच्छरीर मुक्त्वा पुनरन्यद् गृह्णाति । घटीयन्त्रमिव जीवो' घटीयन्त्रवज्जीव । यथा घटीयन्त्र अन्यज्जल गृह्णाति तत त्यक्त्वा पुनरन्यदादत्ते एवमय शरीराणि गृह्णन् मुचश्च भ्रमति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यशब्देनोच्यन्ते तत्स्वात्मन परिवर्तन

बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त चार भेद होनेसे बीस भेद होते हैं । तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिय और सञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होनेसे दसभेद होते हैं ।

अन्य आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते है—

नरकगतिमे सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है । कोई जीव उस आयुको लेकर नरकमे उत्पन्न हुआ । पुन परिभ्रमण करके उतनी ही आयुको लेकर नरकमे उत्पन्न हुआ । इस प्रकार दस हजार वर्षोके जितने समय होते हैं उतनी बार दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमे उत्पन्न हुआ और मरा । पुन दस हजार वर्षकी आयुमे एक-एक समय बढाकर नरकमे उत्पन्न होते हुए वहाँकी उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर पूर्ण की । नरककी आयु पूर्ण करनेके पश्चात् तिर्यञ्च-गतिमे एक अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मरा । नरकगतिमे कहे क्रमानुसार तिर्यञ्चगतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूर्ण की । तिर्यञ्चगतिके समान मनुष्यगतिकी आयु पूर्ण की और नरकगतिके समान देवगतिकी आयु पूर्ण की । किन्तु इतना विशेष है कि उपरिम ग्रैवेयककी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर पूर्ण होने पर समस्त भवपरिवर्तन हो जाते हैं । ऐसे भवपरिवर्तन इस जीवने अनन्तवार किये हैं ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०-टी०—घटीयन्त्रकी तरह जीव अन्य शरीरको छोडकर अन्य शरीरको ग्रहण करता है । उसे भी छोडकर अन्य शरीरको ग्रहण करता है । जैसे घटीयन्त्र नया जल ग्रहण करता है उसे निकालकर फिर नया जल ग्रहण करता है । उसी प्रकार यह जीव शरीरोंको ग्रहण करता और छोडता हुआ भ्रमण करता है । द्रव्यशब्दसे विचित्र शरीर कहे हैं । आत्माके शरीरोंका

---

१ सर्वार्थसि० २।१० ।

द्रव्यससार इति सूत्रकारस्यान्य व्याख्या स्थूलबुद्धीनुद्दिश्य । एव तु द्रव्यपरिवर्तन ग्राह्य । द्रव्यपरिवर्तन द्विविध—नोकर्मपरिवर्तन कर्मपरिवर्तन चेति । तत्र नोकर्मपरिवर्तन नाम त्रयाणा शरीराणा षण्णा पर्याप्तीना योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीता स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिभिस्तीव्रमन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य, मिश्रांश्च अनन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतागृहीताश्च अनन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्समुदित नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन । कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेन अष्टविधकर्मभावेन ये च गृहीता समयाधिकावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तन ।।१७६८।।

रंगगदणडो व इमो बहुविहसठाणवण्णरूवाणि ।
गिण्हदि मुच्चदि य ठिद जीवो ससारमावण्णो ।।१७६९।।

'रगगदणडो व रगप्रविष्टनट इव । 'इमो' अय 'बहुविहसठाणवण्णरूवाणि' बहुविधसस्थानवर्णस्वभावान् । गिण्हदि य 'मुच्चदि य अठिद' गृह्णाति मुञ्चति च [2]अस्थित । क्रियाविशेषणमेतत् । 'जीवो ससारमावण्णो' जीवो द्रव्यससारमापन्न ।।१७६९।।

क्षेत्रससार निरूपयति—

तत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणतसो चेव ।
काले तदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ।।१७७०।।

परिवर्तन द्रव्यससार है । ग्रन्थकारने स्थूलबुद्धि वालोको लक्ष करके द्रव्यससारका यह स्वरूप कहा है, किन्तु द्रव्यपरिवर्तन इस प्रकार लेना ।

द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं—नोकर्म परिवर्तन और कर्म परिवर्तन । उनमेसे नोकर्म परिवर्तन इस प्रकार है—तीन शरीर और छह पर्याप्तियोके योग्य जो पुद्गल एक जीवने एक समयमे ग्रहण किये, उनमे जैसा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहा हो और तीव्र, मन्द या मध्यम भावसे वे ग्रहण किये गये हो, दूसरे आदि समयोमें उन्हे भोगकर छोड दिया । उसके पश्चात् अनन्तवार अगृहीतको ग्रहण करके, अनन्तवार मिश्रको ग्रहण करके, मध्यमे गृहीत और अगृहीतको अनन्तवार ग्रहण करके वे ही पुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारसे जब नोकर्म रूपको प्राप्त होते हैं, उन सबको नोकर्म परिवर्तन कहते है । अब कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं—एक समयमे एक जीवने आठ कर्मरूपसे जो पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली कालके पश्चात् द्वितीय आदि समयोमे उन्हे भोगकर छोड दिया । नोकर्म परिवर्तनमे कहे क्रमके अनुसार वे ही कर्मपुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारसे जब कर्मरूपसे आते हैं उस सबको कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते है ।।१७६८।।

गा०—जैसे रगभूमिमे प्रविष्ट हुआ नट अनेक रूपोको धारण करता है उसी प्रकार द्रव्यससारमे भ्रमण करता हुआ जीव निरन्तर अनेक आकार, रूप, स्वभाव आदिको ग्रहण करता और छोडता है ।।१७६९।।

---

१. दि य ठिद आ० । २. अवस्थित —आ० मु० ।

'जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज' यत्र क्षेत्रे जातो मृतो वा न भवेज्जीव । 'अणतसो चेव' अनन्तवारान् । 'कालेतीदम्मि इमो अतीते कालेऽय । ण सो पदेसो जगे अत्थि' नासौ प्रदेशो जगति विद्यते । अन्ये तु क्षेत्रपरिवर्तन—जगति सूक्ष्मनिगोदजीवो पर्याप्तक सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्न क्षुद्रभवग्रहण जीवित्वा मृत , स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिश्चतुरिति । एव यावन्तोऽङ्गुलस्यासख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवतन । उक्त च—

सव्वम्मि लोगखित्ते कमसो त णत्थि जण्ण उप्पण्ण ।
ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तससारे ।। [बा० अणु० २६]।।१७७०।।

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तक्कालतदाकालसमएसु जीवो अणतसो चेव ।
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ।।१७७१।।

'तक्कालतदाकालसमयेसु' उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसज्ञितयो कालयोर्ये समयास्तेषु । 'जीवो अणतसो चेव' जीवोऽनन्तवारान् । 'जादो मदो य सव्वेसु' जातो मृतश्च सर्वेषु समयेषु । 'इमो तीदम्मि कालम्मि' अयमतीते काले । इयमस्या गाथाया प्रपञ्चव्याख्या—उत्सर्पिण्या प्रथमसमये जात कश्चिज्जीव स्वायुष परिसमाप्तौ मृत , स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जात स्वायुष क्षयान्मृत । स एव पुनस्तृतीयाया-

---

अब क्षेत्रससारको कहते हैं—

गा०—जगत्मे ऐसा कोई प्रदेश नही है जहाँ यह जीव अतीत कालमे अनन्तवार जन्मा और मरा न हो ।।१७७०।।

टी०—अन्य आचार्य क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव सबसे जघन्य प्रदेशवाला शरीर लेकर लोकके आठ मध्यप्रदेशोको अपने शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण करके एक श्वासके अठारहवें भाग समय तक जिया और मरा । वही जीव पुन उसी अवगाहनाको लेकर उसी स्थानमे दुबारा उत्पन्न हुआ, तिबारा उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ । इस तरह अगुलके असख्यातवे भाग प्रमाण आकाशमे जितने प्रदेश होते हैं उतनी बार वही उत्पन्न हुआ । पुन एक-एक प्रदेश बढाते-बढाते सर्वलोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाया । इस सबको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं । कहा भी है—

सब लोकक्षेत्रमे ऐसा कोई स्थान नही है जहाँ यह क्रमसे उत्पन्न नही हुआ । अनेक अवगाहनाके साथ इस जीवने क्षेत्र ससारमे परिभ्रमण किया ।।१७७०।।

कालपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—यह जीव अतीत कालमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोमे अनन्त बार उत्पन्न हुआ और अनन्तबार मरा ।।१७७१।।

टी०—इस गाथाकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है—उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमे उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयुके समाप्त होनेपर मरा । वही जीव पुन दूसरी उत्सर्पिणीके

उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जात । एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथा चावसर्पिणी । एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तं । मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ग्राह्यमेव तावत्कालपरिवर्तनं । उक्तं च—

'उवसप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥' [बा०, अणु० २७] ॥१७७१॥

स्पन्दनसंसारं निरूपयत्युत्तरगाथा—

अट्ठपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ।
तत्तमिव अद्धरणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि ॥१७७३॥

'अट्ठपदेसे मुत्तूण' अष्टौ प्रदेशान्गोस्तनाकारान् मुक्त्वा । 'इमो' अयं जीवः । 'सेसेसु सगपदेसेसु' शेषेषु स्वप्रदेशेषु 'तत्तमिव अद्दहणं' तप्तजलमध्यस्थतन्दुलवत् । 'उव्वत्त परत्तणं कुणदि' उद्वर्तनं परावर्तनं करोति । एतया गाथया स्वप्रदेशेषु संसारतामात्मनः क्षेत्रसंसारत्वेनोच्यते ॥१७७३॥

भावसंसारोत्तरप्रतिपादनार्थं गाथा—

लोगागासपएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया ।
तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥१७७४॥

'लोगागासपदेसा' लोकाकाशस्य प्रदेशाः । 'असंखगुणिदा' असंख्यगुणिताः । 'हवंति जावदिया' यावन्तो भवन्ति । 'तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि' तावदध्यवसायस्थानानि भवन्ति । 'इमस्स जीवस्स' अस्य जीवस्य । जीवस्य असंख्यातलोकप्रमाणेष्वध्यवसायसंज्ञितेषु भावेषु परावृत्तिर्भावसंसारः ॥१७७४॥

दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होने पर मरा। वह जीव पुनः तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ। इस क्रमसे उसने उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी क्रमसे अवसर्पिणी समाप्त की। अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें क्रमसे जन्मा। तथा इसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोंमें मरा भी। इस सबको काल परिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

कालसंसारमें भ्रमण करनेसे यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें अनेक बार जन्मा और अनेक बार मरा ॥१७७१॥

आगे क्षेत्रसंसाररूप स्पन्दन संसारको कहते हैं—

गा०—लोकके मध्यमें स्थित गौके स्तनके आकार आठ प्रदेशोंको छोड़कर यह जीव अपने शेष प्रदेशोंमें तप्त जलके मध्यमें स्थित चावलोंकी तरह उद्वर्तन परावर्तन किया करता है। अर्थात् जैसे आग पर रखे गर्म जलमें पड़े हुए चावल ऊपर नीचे हुआ करते हैं उसी प्रकार आठ मध्य प्रदेशोंको छोड़कर जीवके शेष प्रदेश चल रहते हैं ॥१७७३॥

भाव संसारका कथन करते हैं—

गा०—लोकाकाशके प्रदेशोंको असंख्यातसे गुणा करनेपर जितनी राशि होती है उतने ही इस जीवके अध्यवसाय स्थान होते हैं। इन असंख्यात लोक प्रमाण अध्यवसाय नामक भावोंमें जीवके परावर्तनको भाव संसार कहते हैं ॥१७७४॥

अज्झवसाणठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो हु ।
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥१७७५॥

'अज्झवसाणठाणतराणि जीवो विकुव्वइ इमो खु' अध्यवसायस्थानान्तराणि जीव परिणमत्यय । 'निच्चपि' नित्यमपि, 'यथा सरडो णाणाविहे वण्णे' यथा गाना नानाविधान्वर्णानुपादत्ते । एव ससार ॥१७७५॥

तस्य भयमुपदर्शयति—

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ।
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥१७७६॥

'आयासम्मि वि पक्खी' आकाशे सचरन्त परकीयपक्षिणोऽपि बाधन्ते । 'जले वि मच्छा' जलेऽपि मत्स्या । 'थले वि थलचारी' भूमावपि भूमिचारिण । 'हिंसंति' बाधन्ते । 'एक्कमेक्क' अन्यान्य । 'सव्वत्थ भय खु ससारे' सर्वत्र भय ससारे ॥१६७६॥

गा०—जैसे गिरगिट नित्य ही नाना प्रकारके रग बदलता है वैसे ही यह जीव अध्यवसाय स्थानोको धारण करता हुआ परिणमन करता है ॥१७७५॥

विशेषार्थ—भावपरिवर्तनका विस्तृत स्वरूप इस प्रकार है—पञ्चेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई जीव सबसे जघन्य अपने योग्य ज्ञानावरण कर्मका अन्त कोटिकोटी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करता है । उस जीवके उस स्थितिबन्धके योग्य असख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान होते हैं । उनमेंसे सबसे जघन्य कषायाध्यवसायस्थानमे निमित्त असख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं । इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान, सबसे जघन्य ही अनुभागबन्ध स्थानको प्राप्त उस जीवके उसके योग्य सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है । फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और उसी अनुभागस्थानको प्राप्त उस जीवके दूसरा योगस्थान होता है जो पहलेसे असख्यात भागवृद्धियुक्त होता है । इस प्रकार श्रेणिके असख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके समाप्त होनेपर पुन वही स्थिति और उसी कषायाध्यवसायस्थानको प्राप्त उसी जीवके दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है । उसके भी योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिये । इस प्रकार तीसरे आदि असख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर उसी स्थितिको प्राप्त उसी जीवके दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है । उसके भी अनुभागाध्यवसायस्थान पूर्ववत् जानना । इस प्रकार तीसरे आदि कषायाध्यवसायस्थानोके समाप्त होनेपर वही जीव एक समय अधिक जघन्यस्थितिको बाँधता है । उसके भी कषायादि स्थान पूर्ववत् जानना । इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर पूर्ववत् बाधता है । इसी प्रकार सब मूलकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी सब स्थितियोंको उक्त प्रकारसे बाधता है । इस सबको भावपरिवर्तन कहते हैं ॥१७७५॥

ससारमे भय दर्शाते हैं—

गा०—आकाशमें विचरण करते हुए पक्षियोको दूसरे पक्षी बाधा देते हैं । जलमे मच्छ बाधा करते हैं । थलमे थलचारी बाधा करते हैं । इस प्रकार सर्वत्र एक दूसरेको हिंसा करते हैं । अत ससारमें सर्वत्र भय है ॥१७७६॥

ससगो वाहपरद्धो विलत्ति णाऊण अजगरस्स मुहं ।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥१७७७॥

'ससगो वाहपरद्धो' शशो व्याधेनोपद्रुत , 'विलित्तिणाऊण अजगरस्य मुहं' विलमिति ज्ञात्वा अजगरस्य मुख । 'सरणत्ति मण्णमाणो' शरणमिति मन्यमान । 'मच्चुस मुहं जह अदीदि' मृत्योर्मुख यथा प्रविशति ॥१७७७॥

तह अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं ।
अदिगच्छंति महादुहहेदुं संसारसप्पमुहं ॥१७७८॥

'तह अण्णाणी जीवा' तथा अज्ञानिनो जीवा । 'परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं' 'अनुवाध्यमाना क्षुदादिभि व्याधैं । 'अदिगच्छंति' प्रविशन्ति । 'महादुहहेदु' महतो दु खस्य निमित्त । 'ससारसप्पमुहं' ससारसर्पमुख ॥१७७८॥

जावदियाइ सुहाइ होंति लोगम्मि सव्वजोणीसु ।
ताइंपि बहुविधाइ अणंतखुत्तो इमो पत्तो ॥१७७९॥

'जावदियाइ' यावन्ति । 'सुहाणि होंति लोगम्मि' सुखानि भवन्ति लोके । 'सव्वजोणीसु' सर्वासु योनिषु । 'ताइंपि बहुविधाइ' तान्यपि बहुविधानि । 'अणतखुत्तो इमो पत्तो' अनन्तवारमय जीव प्राप्त ॥१७७९॥

दुक्ख अणतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिं वि ।
तह वि य अणंतखुत्तो सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि ॥१७८०॥

'दुक्ख अणतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिंवि' दु खमपि अनन्तवार प्राप्य सुखमपि प्राप्नोति क्वचित् । 'तह वि य अणतखुत्तो' तथाप्यनन्तवार 'सव्वाणि सुखाणि पत्ताणि' सर्वाणि सुखानि प्राप्तानि गणभृता चक्रवर्तिना पन्चानुत्तरविमानवासिना लौकान्तिकानामहमिन्द्राणा च सुखानि मुक्त्वा ॥१७८०॥

गा०—जैसे खरगोश व्याधसे सताया जानेपर विल समझकर अजगरके मुखमे प्रवेश करता है । वह उसे अपना शरण मानकर मृत्युके मुखमे प्रवेश करता है ॥१७७७॥

गा०—उसी प्रकार अज्ञानी जीव भूख प्यास आदि व्याधोंके द्वारा पीडित होनेपर महान् दु खमे निमित्त ससाररूपी सर्पके मुखमे प्रवेश करते हैं ॥१७७८॥

गा०—लोकमे सब योनियोमे जितने प्रकारके सुख होते हैं उन सब अनेक प्रकारके सुखोको भी इस जीवने अनन्तवार भोगा है ॥१७७९॥

गा०—अनन्तवार दु खोको प्राप्त करके कदाचित् सुखको भी प्राप्त करता है । तथापि अनन्तवार इस जीवने सब सुखोको प्राप्त किया है ॥१७८०॥

टी०—किन्तु गणधर, चक्रवर्ती, पाच अनुत्तर विमानवासी, लौकान्तिक और अनुदिश विमानवासी देवोका सुख इस जीवने प्राप्त नही किया, क्योकि ये चक्रवर्तीको छोडकर शेष सब नियमसे सम्यग्दृष्टि होनेसे मोक्षगामी होते हैं । और चक्रवर्ती पद वार-वार प्राप्त नही होता है ॥१७८०॥

---

१ अनुभाव्यमाना क्षुदादिभिर्व्याघ्रै व्याधैश्च –आ० मु० ।

करणेहिं होदि विगलो बहुसो चित्तवचिसोदणित्तेहिं ।
घाणेण य जिब्भाए चिट्ठाबलविरियजोगेहिं ॥१७८१॥

'करणेहिं होदि विगलो' विकलेन्द्रिय श्चचिद्भवति । 'बहुसो' बहुश । 'चित्तवचिसोदणित्तेहिं' मनसा वचसा श्रोत्रेण नेत्रेण करणेन हीन । स्पर्शनेन्द्रियवैकल्यासभवात तदनुपन्यास । 'घाणेण य' घ्राणेन च । 'जिब्भाए' जिह्वया । 'चेट्टाबलविरियजोगेहिं' चेष्टया बलेन वीर्येण च ॥१७८१॥

जच्चधवहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई ।
भमइ सुचिरंपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥१७८२॥

'जच्चधवधिरमूगो' जात्यन्धो, बधिरो, मूक । 'छादो' क्षुधा पीडित , 'तिसिवो' तृषाभिभूत । 'वणे व एगागी भमदि' असहायो यथा वने भ्रमति । तथा 'सुचिरंपि' चिरकालमपि । जीवो 'जम्मवणे' जन्मवने भ्रमति । 'णट्ठसिद्धिपहो' नष्टसिद्धिमार्ग । उक्त च—

कलुषचरितैर्नष्टज्ञानस्सुसचितकर्मभि , करणविकल [1]कर्मोद्‌धूतो भवार्णवपातत ।
सुचिरमवशो दु खार्तो [2]निमीलितलोचनो, भ्रमति कृपणो नष्टत्राण शुभेतरकर्मकृत् ।
श्रवणविकलो वाग्धीनोऽज्ञो यथावृतलोचन , तृषितमलिनो नष्टोऽटव्यां चरेदसहायक ।
असकृदसकृत् गृह्णन् मुञ्चश्चराचरदेहता, भ्रमति सुचिर जन्माटव्या तथायमदेशक ॥इति॥१७८२॥

एइंदियेसु पचविधेसु वि उत्थाणवीरियविहूणो ।
भमदि अणत काल दुक्खसहस्साणि पावेंतो ॥१७८३॥

'एगिंदियेसु पचविधेसु वि' एकेन्द्रियेषु पञ्च प्रकारेष्वपि । पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरधारिषु ।

गा०—यह जीव बहुत बार मन, वचन, श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिय तथा चेष्टा बल और वीर्यसे हीन विकलेन्द्रिय होता है ।

टी०—किसी प्राणीका स्पर्शन इन्द्रियसे हीन होना तो असभव है अत उसका कथन नही किया है ॥१७८१॥

गा०-टी०—कभी यह जीव जन्मसे ही अन्धा, बहिरा, गूँगा होता है और भूख तथा प्यास से पीडित होकर जैसे कोई मार्ग भूलकर वनमे अकेला भटकता है उसी प्रकार मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होकर जन्मरूपी वनमे अकेला भ्रमण करता है । कहा भी है—अपने बुरे आचरणोसे सचित किये कर्मोके द्वारा अपना ज्ञान खोकर यह जीव विकलेन्द्रिय होता है तथा कर्मोसे प्रेरित हो ससाररूपी समुद्रमे गिरकर चिरकाल तक पराधीन हो, आख बन्द करके भ्रमण करता है । उसका कोई रक्षक नही होता । जैसे कोई बहरा, गूँगा अन्धा मूर्ख प्राणी प्याससे व्याकुल हो, मार्ग भूलकर अकेला वनमे भटकता है । उसी प्रकार यह ससारी प्राणी मार्गदर्शकके बिना बार-बार त्रसस्थावर पर्यायको ग्रहण करता और छोडता हुआ चिरकाल तक जन्मरूपी वनमे भ्रमण करता है ॥१७८२॥

गा०—पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिका शरीर धारण करनेवाले पाँच प्रकारके

---

१ कर्मोभूतभ —आ० । २ तोन्न नि —मु० ।

'उत्थाणवीरियविहीणो' पृथिव्यादिकायान् परित्यज्य त्रसकायप्राप्तिनिमित्तोत्थानवीर्यरहित । 'भमदि अणत काल' भ्रमति अनन्तकाल । 'दुक्खसहस्साणि पावेंतो' दुःखसहस्राणि प्राप्नुवन् ॥१७८३॥

बहुदुक्खावत्ताए ससारणदीए पावकलुसाए ।
भमइ वरागो जीवो अण्णाणनिमीलिदो सुचिरं ॥१७८४॥

'बहुदुक्खावत्ताए' बहुदुःखावर्ताया । 'ससारणदीए' ससृतिनद्या । 'पावकलुसाए' पापकलत्वसहिताया । वरागो जीवो भमदि' दीनो जीवो भ्रमति । 'सुचिर अण्णाणनिमीलिदो' अज्ञानेन निमीलित ॥१७८४॥

विसयामिसारगाढ कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं ।
अण्णाणतुंबधरिदं कसायदढपट्टियाबंध ॥१७८५॥

'विसयामिसारगाढ' विषयाभिलापारैर्गाढं स्तब्ध । 'कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखील' कुत्सितयोनिनेमिक सुखदुःखदृढकील । 'अण्णाणतुबधरिद' अज्ञानतुबधारित । 'कसायदढपट्टिगाबद्ध' कषायदृढपट्टिकाबन्ध ॥१७८५॥

बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणि मोहवेगमदिचवल ।
ससारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥१७८६॥

'बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणि' अनेकजन्मसहस्रविशालमार्गं । 'मोहवेग' मोहवेग । 'ससारचक्कमारुहिय' एवभूत ससारचक्रमारुह्य । 'अणप्पवसो जीवो भमदि' अनात्मवशो जीवो भ्रमति ॥१७८६॥

भार णरो वहंतो कहिंचि विस्समदि ओरुहिय भारं ।
देहभरवाहिणो पुण ण लहति खणं पि विस्समिदु ॥१७८७॥

'भार णरो वहतो' भार वहन्नर । 'कहचि भारमोरुहिय' कस्मिश्चिद्देशे काले च भारमवतार्य । 'विस्समदि' विश्राम्यति । 'देहभरवाहिणो पुण' देहभारोद्वाहिनो जीवा पुन । 'न लभति खण पि विस्समिदु' न लभन्ते क्षणमपि विश्राम कर्तुं । औदारिकवैक्रियिकयोर्विनष्टयोरपि कार्माणतैजसयोरवस्थानात् ॥१७८७॥

एकेन्द्रियोमे यह जीव हजारो कष्ट भोगता हुआ अनन्तकाल तक भ्रमण करता है । उसमे इतनी भी शक्ति नही होती कि पृथिवी आदि कायोका त्याग करके त्रसकायकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर सके ॥१७८३॥

गा०—अज्ञानमे पडा हुआ यह बेचारा जीव पापरूपी मैले पानीसे भरी और बहुत दुःखरूपी भँवरोंसे युक्त ससाररूपी नदीमे चिरकाल भ्रमण करता है ॥१७८४॥

गा०—यह ससाररूपी चक्र (पहिया) विषयोकी अभिलापारूपी आरोंसे जकडा हुआ है, कुयोनिरूपी नेमि—हाल उसपर चढी हुई है। उसमे सुख दुःखरूपी मजबूत कीले लगी हैं। अज्ञानरूपी तुम्बपर वह स्थित है, कषायरूपी दृढ पहियोंसे कसा हुआ है। अनेक हजार जन्मरूपी उसका विशाल मार्ग है। उसपर वह ससार चक्र चलता है। मोहरूपी वेगसे अतिशीघ्र चलता है। ऐसे ससाररूपी चक्रपर सवार होकर यह पराधीन जीव भ्रमण करता है ॥१७८५-८६॥

गा०-टी०—भारवाही मनुष्य तो किसी देश और कालमे अपना भार उतारकर विश्राम कर लेता है। किन्तु शरीरके भारको ढोनेवाले जीव एक क्षणके लिये भी विश्राम नही पाते। औदारिक

कम्माणुभावदुहिदो एव मोहंधयारगहणम्मि ।
अंधो व दुग्गमग्गे भमदि हु समारकंतारे ॥१७८८॥

'कम्माणुभावदुहिदो' असद्वेद्यादिपापकर्ममाहात्म्यजनितदुःख । 'एव'मुक्तेन क्रमेण । 'ससारकतारे भमदि' समारकान्तारे भ्रमति । कीदृशे ? 'मोहंधयारगहणम्मि' मोहान्धकारगहने । 'अंधो व दुग्गमग्गे' अंध इव दुर्गमार्गे ॥१७८८॥

दुक्खस्स पडिगरेंतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ।
पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण सच्छण्णो ॥१७८९॥

'दुक्खस्स पडिगरेंतो' दुःखस्य प्रतीकार कुर्वन । 'सुहमिच्छंतो य' इन्द्रियसुखमभिलषन् । 'इमो जीवो' अय जीव । 'पाणवधादीदोसे' हिंसादिदोषान् । 'करेदि मोहेण सछण्णो' करोति मोहेन सछन्न । एतदुक्त भवति–दुःखभीरुर्निरवशेषदुःखापायस्योपाय न वेत्ति । दुःखनिराकरणाध्यपि दुःखहेतूनेव हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियसुखलम्पटोऽपि तेष्वेव हिंसादिषु दुःखहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽस्य सकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति ॥१७८९॥

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बधदि तदो णव जीवो ।
अध तेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो ॥१७९०॥

'दोसेहिं तेहिं' प्राणिवधादिकैर्दोषै । 'बहुग कम्म बधदि' महत्कर्म बध्नाति । 'नव' प्रत्यग्र । 'तदो' पश्चात् । 'अध' कर्मबन्धानन्तर । 'तेण पच्चदि' तेन बन्धनेन कर्मणा पच्यते । 'पविसित्तु व' प्रविश्येव । किं ? 'अग्गिं' अग्निं । 'अग्गीदो' अग्ने । अग्नेरागत्य अग्निं प्रविश्य यथा बाध्यते एव पूर्वं कर्मभिर्बाधित पुन प्रत्यग्रकर्मानिलेन दह्यते इति ॥१७९०॥

और वैक्रियिक शरीरोंके छूट जानेपर भी कार्मण और तैजस शरीर बराबर बने रहते हैं ॥१७८७॥

गा०—इस प्रकार असातावेदनीय आदि पापकर्मोंके प्रभावसे दुःखी जीव मोहरूपी अन्धकारसे गहन ससाररूपी वनमे उसी प्रकार भ्रमण करता है जैसे अन्धा व्यक्ति दुर्गम मार्गमें भटकता है ॥१७८८॥

गा०-टी०—मोहसे आच्छादित यह जीव दुःखसे बचनेका उपाय करता है और इन्द्रिय सुख की अभिलाषा रखता है और उसके लिये हिंसा आदि दोषोंको करता है। आशय यह है कि दुःखसे डरता है किन्तु समस्त दुःखोंके विनाशका उपाय नहीं जानता। यद्यपि दुःखोंको दूर करना चाहता है किन्तु हिंसा आदि पापोंमें प्रवृत्त होता है जो दुःखके हेतु हैं। इन्द्रिय सुखका लम्पटी होते हुए उन्हीं हिंसा आदि पापोमें लगा रहता है जो दुःखके कारण हैं। इसलिये उसका सब काम दुःखका ही मूल होता है ॥१७८९॥

गा०—उन हिंसा आदि दोषोंको करनेमें जीव बहुत सा नया कर्म बाँधता है। कर्मबन्धके पश्चात् उस कर्मका फल भोगता है। इस प्रकार जैसे कोई एक आगसे निकलकर दूसरी आगमें प्रवेश करके कष्ट उठाता है, वैसे ही पूर्वबद्ध कर्मोंको भोगकर पुन नवीन कर्मरूपी आगमें जलता है ॥१७९०॥

---

१ भीरुतरो विशेषदुःखापायस्योपाय –आ० मु०। निःशेषदुःखापायोपाय—मूलारा०।
२ कर्मनिबन्धेन –आ०।

बधंतो मुच्चंतो एवं कम्म पुणो पुणो जीवो ।
सुहकामो बहुदुक्खं संसारमणादियं भमइ ॥१७९१॥

'बधतो मुच्चतो' बन्धन् मुञ्चन् । 'एव कम्म पुणो पुणो जीवो' कर्म पुन पुनर्जीव दत्तफलानि मुञ्चति, कर्मफलानुभवकालोपजातरागद्वेषादिपरिणामैरभिनवानि कर्माणि बध्नाति । सुहकामो' सुखाभिलाषवान् । 'बहुदुक्ख' विचित्रदु ख । 'ससारमणादिय भमदि' अनादिक ससार भ्रमति । ससारचिन्ता ॥१७९१॥

लोकानुप्रेक्षा निरूप्यते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यलोक एवोच्यते । कथ ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्—

आहिंडयपुरिसस्स व इमस्स णीया तहिं तहिं होंति ।
सव्वे वि इमो पत्तो सबंधे सव्वजीवेहिं ॥१७९२॥

'आहिंडगपुरिसस्स व' देशान्तर भ्रमत पुस इव । 'इमस्स णीगा तहिं तहिं होंति' अस्य बधवस्तत्र तत्र भवन्ति । सव्वेवि इमो पत्तो' सर्वानय प्राप्त । सबधे' सबधान् । सव्वजीवेहिं' सर्वजीवै सह ॥१७९२॥

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तण पुणमुवेदि ।
इय समारे सव्वे परियट्टते हु सबधा ॥१७९३॥

मादा य होदि भज्जा' माता भार्या भवति । भार्या मातृता पुनरपैति । एव ससारे सर्वे सम्बन्धा परिवतन्ते इति गाथार्थ ॥१७९३॥

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि भज्जाओ ।
धणदेवस्स य एक्कम्मि भवे ससारवासम्मि ॥१७९४॥

'जणणी वसततिलया' धनदेवस्य जननी वसततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भार्ये जाते

गा०—इस प्रकार जीव जो कर्म फल दे लेते हैं उन्हें छोड देता है और कर्मोका फल भोगते समय होनेवाले राग-द्वेष रूप परिणामोंसे नवीन कर्मोका बन्ध करता है। सुखकी अभिलाषा रखकर बहुत दु खोंसे भरे अनादि ससारमे भ्रमण करता है ॥१७९१॥ ससार अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब लोकानुप्रेक्षाका कथन करते हैं। यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य आदिके भेदसे लोकके अनेक भेद हैं। तथापि यहाँ लोक शब्दसे जीव द्रव्यलोक ही कहा है क्योंकि गाथामे जीवके प्रवृत्ति क्रमका कथन किया है—

गा०—जैसे देशान्तरमे भ्रमण करनेवाले पुरुषको सर्वत्र इष्ट-मित्र मिलते हैं उसी प्रकार इस जीवके भी जहाँ-जहाँ यह जन्म लेता है वहीं-वहीं बन्धु-बान्धव होते हैं। इस तरह इसने सब जीवोंके साथ सब सम्बन्ध प्राप्त किये हैं ॥१७९२॥

गा०—जो इस जन्म माता है वही दूसरे जन्ममे पत्नी होती है और पत्नी होकर पुन माता बन जाती है। इस प्रकार ससारमे सब सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं ॥१७९३॥

गा०-टी०—दूसरे भवोमे सम्बन्ध बदलनेकी तो बात ही क्या है। किन्तु धनदेवकी माता वसन्ततिलका और बहन कमला, ये दोनो उसी भवमे धनदेवकी पत्नी हुई। कहा भी है—

धनदेवस्य तस्मिन्नेव भवे। भवान्तरेषु सबन्धान्ययाभावे किमस्ति वाच्य ? उक्त च—

> यद्येकदेहवहने लभतेऽपवाद दु ख ततो व्यसनमुग्रबल च पापम्।
> नानाशरीरवहनेषु क्य न दु ख प्राप्नोति को न विषयार्जितपापकर्मा ॥
> कुर्वन्ति तन्मदाजोद्धतदत्तवेग खड्गो विकृष्टबलपाणिविसृष्टधार।
> कुर्वन्ति दु खमधिक विषया नराणा, तस्मात्त्यजन्ति विषयान् परिदृष्टतत्त्वा ॥

एवमय कष्टो लोकधर्म ॥१७९४॥

राया वि होइ दासो दासो रायत्तण पुणमुवेदि।
इय ससारे परिवट्टते ठाणाणि सव्वाणि ॥१७९५॥

'राया वि होइ दासो' राजा दासो भवति, नीचैर्गोत्रार्जनात्, दासो राजता पुनरुपैति उच्चैर्गोत्र-कर्मण उदयात्। एव ससारे परिवर्तन्ते सर्वाणि स्थानानि ॥१७९५॥

कुलरूवतेयभोगाधिगो वि राया विदेहदेसवदी।
वच्चघरम्मि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मेहि ॥१७९६॥

'कुलरूवतेयभोगाधिगो वि' कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोऽपि। विदेहजनपदाधिपती राजा सुभोग-सज्ञ सुवर्चोगृहे कीटो जात स्वै कर्मभि प्रेरित। उक्त च—

> दृष्टा क्वचित्सुरमनुष्यगणप्रधाना सर्वर्द्धिदीप्तवपुष शशिकान्तरूपा।
> भ्रष्टास्त एव पुनरन्यगत प्रणुन्ना दीना भवन्ति कुलरूपधनप्रतापै ॥१७९६॥

यदि एक शरीर धारण करनेपर जीव अनेक अपवादो और दु खोको पाता है और उसमे मनोवेदना और उग्र पापको बाधता है तब विषय सेवनके द्वारा पापकर्मका उपार्जन करनेवाला कौन पुरुष नाना शरीर धारण करनेपर कैसे दु ख नही पाता है अर्थात् अवश्य दु ख पाता है।

मदसे मत्त हाथीके द्वारा वेगपूर्वक किया गया प्रहार तथा बलशाली हाथसे छोडी गयी तीक्ष्ण तलवार दु ख नही देते। उससे भी अधिक दु ख विषय देते हैं। इसलिये तत्त्वज्ञानी जन विषयोको त्याग देते हैं। इस प्रकार यह लोकधर्म दु खदायक है ॥१७९४॥

गा०—नीच गोत्रका बन्ध करनेसे राजा मरकर दास होता है और उच्च गोत्रका बन्ध करनेसे दास राजा हो जाता है। इस प्रकार ससारमे सब स्थान परिवर्तनशील है ॥१७९५॥

गा०—विदेह देशका राजा सुभोग कुल, रूप, तेज और भोगमे अधिक होते हुए भी अपने कर्मोसे प्रेरित होकर विष्टाघरमे कीट हुआ, कहा भी है—जो देव और मनुष्योमे प्रधान थे, जिनका शरीर सब ऋद्धियोसे दीप्तिमान था, जिनका रूप चन्द्रमाकी तरह मनोहर था, वे भी अन्य गतिमे कुल, रूप, धन और प्रतापसे भ्रष्ट होकर दीन होते है ॥१७९६॥

---

१ केन अ०, मु०। २ न्यगतिप्रणु –आ०। –र्गति प्रपन्ना –मु०।

होउण महड्ढीओ देवो सुभवण्णगंधरूवधरो ।
कुणिमम्मि वसदि गब्भे धिगत्थु ससारवासस्स ॥१७९७॥

'होऊण महड्ढीओ देवो' महर्द्धिको देवो भूत्वा । 'सुभवण्णगंधरूवधरो' प्रशस्ततेजोगन्धरूपान्वित ।

इन्द्रचापतडिदम्बुधराणां यद्वदाशु गगने सहसैव ।
जन्म सभवति तद्वदमीषां जन्म देहमशुचिप्रविमुक्तम् ॥
वातपित्तकफजै परिमुक्त व्याधिभिर्विगतखेदमनिद्रम् ।
अच्युत परमयौवनयुक्त सर्वतोऽविकलमुत्तमकान्ति ॥
सर्वतश्च विमलाम्बरवर्णस्पर्शगन्धवरवाङ्मितहास ।
सद्विलासगतिचेष्टित[1]लील ते शरीरमरमत्र लभन्ते ॥
गीतवाद्यततितूर्यनिनादैस्तास्तदाथ समुपेत्य सहर्षाः ।
देवदेव[2]वनिता प्रणिपत्य कुर्वतेऽत्र समुपासनमेषा ॥
फुल्लपङ्कजसमैरथ हस्तैर्दक्षिणै प्रवरलक्षणकीर्णै ।
चारुचन्द्रवदना नतिमेषां स्निग्धदृष्टिहसिता प्रतिगृह्य ॥
मृगपासनमस्तकोपविष्टान् मृगपानप्रवतानिवाचलानां ।
अथ तानभिषेकमापयति मुदितास्तत्र [3]सुरा सुवर्णकुम्भै ॥
प्रविकाशय वक्त्रपङ्कजानि सुरनाथार्कगुणाशुभि सुराणां ।
[4]कुरुम सुचिर स्वमाधिपत्यमिति तान्वाग्भिरभिष्टुवन्ति चैव ॥

गा०-टी०—शुभरूप, शुभगन्ध, और प्रशस्त तेजधारी महती ऋद्धिका धारक देव भी होकर गन्दे गर्भस्थानमें वास करता है ।

देवोंमें उत्पत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—

जैसे आकाशमें सहसा ही शीघ्रतासे इन्द्रधनुष, बिजली और मेघ प्रकट होते हैं उसी प्रकार देवोंका जन्म होता है। उनका शरीर अपवित्र वस्तुओंसे रहित होता है, वात, पित्त और कफसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे रहित होता है। खेद और नीदसे रहित होता है। उत्कृष्ट यौवनसे युक्त होता है, सब रूपसे परिपूर्ण होता है, उत्तम कान्तिसे युक्त होता है। उत्तम रूप, रस गन्धसे युक्त है। वचन-विलास, हास-विलास, गति चेष्टासे लीला सहित होता है। वे देव ऐसा शरीर तत्काल प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् गीत वाद्योंकी पंक्ति तथा भेरोंके शब्दोंके साथ देव-देवांगना बडे हर्षके साथ उनके पास जा, नमस्कार करके उनकी सेवा करते हैं। हास सहित स्निग्ध दृष्टिसे युक्त सुन्दर चन्द्रमुखी देवांगनाएँ खिले हुए कमलके समान तथा उत्तम लक्षणोंसे युक्त दक्षिण हाथोंसे उनका नमस्कार स्वीकार करती हैं।

पर्वतोंके अग्रभाग पर बैठे हुए सिंहके समान सिंहासनके मस्तक पर बैठे हुए उन देवोंका वे देव प्रसन्नतापूर्वक सुवर्ण कलशोंसे अभिषेक करते हैं। हे देवेन्द्ररूपी सूर्य ! अपने गुणरूपी किरणोंसे देवोंके मुखरूपी कमलोंको विकसित करो और चिरकाल तक हमारे स्वामी रहो, इस

१ लीला आ० । २ दिव्यव –आ० । ३ तत्र सुवर्णरत्नकु –आ० । ४ कुरुत –आ० ।

आदाय नैदाघरविं शिरःसु न्यस्तैरिवैर्मुकुटानि भूत्वा।
विभूषिताश्चाभरणैरनर्घैर्हारार्धहारांगदकुण्डलाद्यैः ॥
ज्योतिर्विभूषान् गगनप्रदेशान् विद्युद्विनद्धान् रुचिराम्बुदांश्च।
रत्नार्चितान् हेममहागिरींश्च विशेषयन्तो[1]ऽभ्यधिकं विभान्ति ॥
दिव्यवीर्यबलविक्रमायुषो दिव्यदीप्तवपुषो दिशो दश।
भासयन्ति विमलाम्बरा[2]र्कवद्दिव्यसौम्यवपुषः शशाङ्कवत् ॥
दूरमभ्युत्पतन्ति लाघवान् गौरवाद् गिरिसमा भवन्ति च।
आणवादतिविशन्ति मेदिनीं पार्थिवाश्च महतोऽपि रुन्धते ॥
काष्ठमग्निमनिलं जलं महीं सम्प्रविश्य च तनूः शरीरिणाम्।
निर्विशेषगुणकाः सहासितुं ते भवन्ति[3] सुचिरं सुशक्तयः ॥
पावकाचलपुरान् वनावनीसागरांश्च सहसा निपत्य ते।
स्थानमीप्सिततमं श्रमाद्विना यान्ति चाप्रतिह[4]ताः समीरवत् ॥
उत्क्षिपेयुरवनीं [5]महाबलात् पातयेयुरपि मन्दरान्करैः।
मन्दराग्रशिखरं धरास्थितास्ते स्पृशेयुरपि यद्यभीप्सितम् ॥
ईशितुं सुरनृणामयत्नतः कर्तुमात्मवशगान् मृगानपि।
रूपमात्ममनसा समीप्सितं [6]स्रष्टुमप्यलममी [7]सहस्रधा ॥

प्रकार वे देव अपने वचनोंसे उनकी स्तुति करते हैं॥ उनके मस्तक पर मुकुट शोभित होते हैं जो मानो ग्रीष्म कालके सूर्यको ही पकड कर सिरो पर रख लिया है ऐसे प्रतीत होते हैं। उन मुकुटोंसे तथा हार, अर्द्धहार, बाजूबन्द, कुण्डल आदि बहुमूल्य आभरणोंसे भूषित होकर वे देव सूर्यचन्द्रसे सुशोभित आकाशसे, बिजलीसे सम्बद्ध सुन्दर मेघोंसे और रत्नोंसे खचित स्वर्णमयी पर्वतोंसे भी अधिक सुशोभित होते हैं। दिव्य वीर्य, बल, विक्रम और आयुवाले तथा दिव्य चमकदार शरीरवाले वे देव निर्मल आकाशमें स्थित सूर्य और दिव्य सौम्य शरीरवाले चन्द्रमाकी तरह दसो दिशाओंको प्रकाशित करते हैं। वे लाघवसे सुदूर तक ऊपर उठे हुए हैं और गौरवसे पर्वतके समान होते हैं। सूक्ष्म होनेसे पृथिवीमें प्रवेश करते हैं और महान् होनेसे बडो-बडोको रोकते हैं। अर्थात् अणिमा, महिमा, लघिमा और गरिमा सिद्धिके धारी होते हैं। वे काष्ठ, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वीमें तथा प्राणियोंके शरीरमें प्रवेश करके उन्हींके समान हो जाते हैं। ऐसी उनमें शक्ति होती है॥ वे आग, पर्वत, पृथ्वी और सागरमें, सहसा प्रवेश करके श्रमके बिना बेरोक-टोक वायुकी तरह इच्छित स्थानको चले जाते हैं। वे महान् बलसे पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं। अपने हाथोंसे मन्दराचलको गिरा सकते हैं। वे पृथ्वी पर रहकर यदि चाहे तो सुमेरुकी चोटीके अग्रभागको छू सकते हैं अर्थात् प्राप्ति और प्राकाम्य सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं॥

वे बिना प्रयत्नके देवों और मनुष्योंका स्वामित्व कर सकते हैं। मृगोंको भी अपने वशमें कर सकते हैं और हजारों इच्छित रूप बना सकते हैं। अर्थात् ईशित्व और वशित्व सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं॥ अपनी सुगन्धसे और मिष्ट वचनोंसे दिशाओंको पूरित करके सन्तान आदिके

---

१ तोऽन्यधि –आ०। २ वरा क्वचिद् –आ०। ३ ति विभवान सु–आ०। ४ ता शरीर–अ०। ५ महाबलान –अ० मु०। ६ स्पष्टुम –अ०। ७, सहस्रवा –आ०।

सपूर्णाशा स्वसुरभिगन्धैर्वा[1]म्निमृष्टैः शुभकुसुमैश्च ।
सततार्थैर्विरचितमाला नित्याम्लाना परिवहमाना ॥
माल्यैर्गन्धैः सुखमनुलिप्ता [2]दघ्युर्वस्त्राण्यतिविरजांसि ।
ररम्यते रतिनिपुणाभिस्स्वाभिः सार्धं वरवनिताभिः ॥
[3]सुखेनैव जीवन्तो यान्ति वियोगकृत परिताप ।
तत्र महर्द्धियुता अपि देवाः स्त्रीपुरुषा विषमायुष एव ॥
प्राणभृतामिह मध्यमलोके तीव्रतरादिकषायचतुष्क ।
स्यात्सुरसततय समकालाः, तन्न भवति हि कर्मवशेन ॥
अभ्युपमानितजीवितदेवे, स्त्री चिरजीवितवत्यपि तस्या ।
पल्यमित वत जीवितकाल तेन वियोगमित सुरलोकः ॥
मृत्युकृत च विचिन्त्य सुदुःख भावि सुराः परिभीतमनस्का ।
तत्र भजन्ति मृगा इव बद्धा व्याघ्रसमीपमुपेत्य सभीकाः ॥
गर्भकृतामपि ते दुरवस्था सपरिचिन्त्य पुन समवाप्य ।
शोकभये विपुले परियान्ति चारकरोध इवाभ्युपयाते ॥
मूत्रपथादशुचेरतिदुःख निर्गमन स्मरता च शुचीनां ।
जन्मतयेति भय दिविजाना, स्यादधिक तदवाप्य सुख तत् ॥
तानपि चाशु पतेत् क्षुदनिष्टा पश्यत सर्पवधूरिव कष्टा ।
वर्षसहस्रमितीह गतेऽपि कालदरो न जहात्यहमिन्द्र ॥
उच्छ्वसन श्रमज नृपतेपि पक्षमितैर्दिवसैर्यदि यान्ति ।
कान्यसुरेषु कथा बत लोके हो सभयो जननार्णववास ॥

सुन्दर फूलोमे रचित माला धारण करते हैं जो कभी मुरझाती नही है ॥ सुखपूर्वक माला और गन्धसे विलिप्त वे देव अत्यन्त स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और रतिमे निपुण अपनी देवागनाओ-के साथ रमण करते हैं ॥ इस प्रकार सुखपूर्वक जीवन यापन करते हुए वियोगजन्य सन्तापको सहते हैं। क्योकि स्वर्गमे महर्द्धिक भी देव-देवागना समान आयुवाले नही होते। आगे-पीछे मरते हैं ॥ मध्यलोकसे यहांके प्राणियोकी कषाय तीव्रतर होती है। अत कर्मवश देव-देवागनाओकी आयु समान नही होती ॥ देवकी आयु सागरप्रमाण होती है और देवागना चिरकाल तक भी जीवित रहे तो उसकी आयु पल्यप्रमाण ही होती है इसलिये देवलोकमें वियोगजन्य सन्ताप होता है। भविष्यमें होनेवाले मृत्यु जन्य दुःखका विचार करके देव डर जाते हैं और वहाँ ऐसे भयभीत रहते हैं जैसे व्याघ्रके समीपमे बाधे गये मृग। स्वर्गलोकसे च्युत होनेपर गर्भमें होनेवाली दुरवस्थाका भी विचार करके वे महान् शोक और भयसे युक्त होते हैं जैसे कोई जेलखानेसे डरता है। पवित्र देवोको देवलोकमें जितना सुख होता है उससे भी अधिक भय स्त्रीके अपवित्र मूत्रमार्ग-से जन्म लेनेका स्मरण करके जन्मसे ही होता है। यहाँ स्वर्गमें तो हजार वर्ष बीतनेपर भी भूख नही सताती थी। किन्तु मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेपर सर्पिणीकी तरह भूख सताती है यह भय अहमिन्द्रदेवको भी नही छोडता। स्वर्गमें तो पन्द्रह दिनमे एक बार श्वास लेनेका श्रम उठाना होता

---

१ वामृष्टं –आ० मु०। २ ना वस्त्राव –अ०। ३ तत्र मुखवतोऽपि यान्ति –आ०।

रोगजराविकलत्वविहीनास्तत्र पुनश्च भवम्मनुजानाम् ।
तत्सहित प्रसमीक्ष्य पुरस्तात् प्राप्यमवश्यमतश्च्युतमात्रे ॥
अन्यवशादवशा विलपन्तो देशमिवान्यमुपद्रवयुक्त ।
सप्रतिपत्स्व उग्रभय ते शोकवशा बहुशोऽपि भवन्ति ॥
यत्सुरसौख्यमवाप्य विमाने भूतरुजो जगतीरपि यान्ति ।
तत्परिचिन्तयता कुशलाना केन सुरेषु भवेद्बहुमान ॥
तेऽवधिना विधिना बहुतत्त्व दूरगतान्यपि जानत एव ।
तेन भया यनुभूय पुरस्तादश्नुवते [1]भयकृद्यदपश्चात् ॥
य सहसा भयमभ्युपयाति पूर्वतर न भय स उपैति ।
प्राग्विदितात्मवधस्तु नर प्राक् प्राप्य भय वधमेति हि पश्चात् ॥
अतो न सौख्य तदिहास्ति किंचन विमृश्यमान मनसा भवार्णवे ।
सुखे प्रसक्तो विपुले [2]पुमानय भजेत दु खेन विनाणुनापि यत् ॥
यथाणुकेशोपहतेऽपि भोजने न त नरो रोचयते कुलोदित ।
तथाल्पदो[3]षेऽप्यसुखे सुखे सति न तद्बुधो रोचयते कदाचन ॥
[4]प्रपीयमानेऽम्बुनि पातितो यथा लवोऽपि मूत्रस्य तदबु दूषयेत् ।
तथा लवाशोऽप्यसुखस्य सत्सुखे करोति सर्वस्य सुखस्य दूषण ॥

किन्तु मनुष्यगतिमे तो सतत श्वास लेना होता है। हा, जन्मरूपी समुद्रका वास भयकारक है। यहाँ देवगतिमे तो रोग, बुढापा आदि नही है। किन्तु मनुष्योमे तो ये सब हैं। यहाँसे च्युत होने पर ये सब अवश्य प्राप्त होगे। ऐसा देख वे देव दु खी होते हैं। जैसे कोई परवश होकर उपद्रवसे युक्त अन्य देशमे जानेपर विलाप करता है वैसे ही देव स्वाधीन होते हुए भी परवश होकर देवगतिमे मनुष्यगतिमे जानेका बहुत शोक करते हैं। स्वर्गके विमानोमे देवोका सुख प्राप्त करके भी जीवोको पुन इसी मनुष्यलोकमे जन्म लेना होता है ऐसा विचार करनेवाले बुद्धिमानोको देवोंके प्रति बहुमान कैसे हो सकता है। वे देव अवधिज्ञानके द्वारा दूरवर्ती तत्त्वोको भी जानते ही हैं। इससे पहले ही भयका अनुभव करते हैं।

जो भय अचानक उपस्थित होना है उसका भय पहलेसे नही होता। किन्तु जिस मनुष्यको पहलेसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा वध होगा वह पहले भयभीत होता है, पीछे मारा जाता है। अर्थात् मनुष्यगतिमे तो मृत्युका बोध पहलेसे नही होता। किन्तु देवगतिमे तो मृत्युसे छह मास पूर्व माला मुरझा जाती है। अत मृत्यु पीछे होती है और उसका भय पहले आ जाता है। अत विचार करनेपर इस ससाररूपी समुद्रमे कुछ भी सुख नही है। बहुत सुखमे आसक्त मनुष्य भी एक परमाणु प्रमाण दु खके विना सुख नही भोग सकता। अर्थात् ससारके सुखमे दु खका मिश्रण रहता ही है। जैसे कुलीन मनुष्यको यदि भोजनमे जरा सा भी बाल आदि गिर जाये तो भोजन नही रुचता उसी प्रकार ज्ञानीको बहुतसे सुखमे थोडा सा भी दु ख मिला हो तो वह सुख नही रुचता। जैसे पीनेके पानीमे मूत्रकी एक बूंद भी गिरनेपर वह पानी दूषित

१ भयमप्यय पश्चात् –आ० । २ पुमानय –आ० मु० । ३ दोषोऽत्र–अ० मु० । ४ प्रपीयमाने –अ० आ० ।

गुणैरनेकैरपि समुता स्त्रिय कृतापचारां सकृदप्यनिर्घृण ।
नरो जहात्येव यथा तथा बुधो न दृष्टिदोपादिव सौख्यमिच्छति (?)

'कुणिमम्मि वसति गब्भे' कुथितगर्भे वसति । 'घिगत्थु ससारवासस्स' धिगस्तु ससारवासस्य । उक्त च—

त्याणाद्भोगादेव [1]समुत्थ मनुजेषु गर्भस्मृत्या गर्भनिपात च समीक्ष्य ।
त्रस्तादेव [2]देहाशुचीनपि निरीक्ष्य गर्भाविष्टा दु खमिवान्तेऽनुभवन्ति ॥१७९७॥

इध किं परलोगे वा सत्तू पुरिसस्स हुति णीया वि ।
इहइं परत्त वा खाइ पुत्तमस णियमादा ॥१७९८॥

'इत्थ किं परलोगे वा' इहलोके परलोके वा, 'पुरिसस्स णीया वि सत्तू होंति' बधवोऽपि शत्रवो भवति पुरुपस्य । 'इहइ परत्त वा खाइ' इह वा परत्र वा अत्ति, 'पुत्तमस णियमादा' पुत्रस्य मास आत्मीया जननी अत्ति किमत पर कष्ट ॥१७९८॥

होऊण रिऊ बहुदुक्खकारओ बंधवो पुणो होदि ।
इय परिवत्तइ णीयत्तण च सत्तुत्तणं च जये ॥१७९९॥

'होऊण रिऊ' रिपुर्भूत्वा पूव । 'बहुदुक्खकरो' विचित्रदु खकारी । स एव पुणो पश्चादपि । 'पिय बधवो होदि' प्रियबाधवो भवति । 'इय परिवत्तदि' एव परिवर्तते । 'णीगत्तण च सत्तुत्तण च' बन्धुत्व च शत्रुत्व च । 'जगे' जीवलोके ॥१७९९॥

विमलाहेदु वकेण मारिओ णियपभारियागब्भे ।
जाओ जाओ जादिंभरो सुदिट्ठी सकम्मेहिं ॥१८००॥

'विमलाहेदु' विमलानिमित्त । 'वकेण मारिदो' वक्राख्येन भृतकेन मारित । क ? 'सुदिट्ठो' सुदृष्टि-

---

हो जाता है उसी प्रकार दु खका जरा सा भी अश सब सुखको दूपित कर देता है। जैसे अनेक गुणोंसे युक्त स्त्री यदि एक बार भी व्यभिचार दोपसे दूपित हो जाये तो दयालु भी मनुष्य उसे त्याग देता है। उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी दु खसे मिश्रित सुखको त्याग देता है।

अत कहा है—मनुष्योंमे गर्भका स्मरण करके तथा गर्भपातको देखकर और मनुष्योंके अपवित्र शरीरको देखकर देव दु खी होते हैं और मरण होनेपर गर्भमें प्रवेश करके दु ख भोगते हैं ॥१७९७॥

गा०—इस लोक अथवा परलोकमें बन्धु भी मनुष्यके शत्रु हो जाते हैं। इस लोक तथा परलोकमें माता भी अपने पुत्रके मासको खाती है इससे अधिक कष्टकी बात और क्या है ? ॥१७९८॥

गा०—बहुत दु ख देनेवाला शत्रु भी पुन प्रिय बन्धु हो जाता है। इस प्रकार जगत्में बन्धुता और शत्रुता परिवर्तनशील है ॥१७९९॥

गा०—सुदृष्टि नामक रत्नपारखी मैथुन करते समय अपनी पत्नी विमलाके निमित्तसे

---

१. समुत्थान् अ० । २ त्रस्ता देहचगुचीवि -अ० ।

नामधेय । 'सकम्मेहि' आत्मीयं कर्मभि । 'जादो' उत्पन्न । क्व 'निययभारियागब्भे' निजभार्यागर्भे । 'जादिभरो जादो' जातिस्मरश्च जात ॥१८००॥

होऊण बंभणो सोत्तिओ खु पाव करित्तु माणेण ।
सुणगो व सूगरो वा पाणो वा होइ परलोए ॥१८०१॥

'होऊण बभणो सोत्तिओ' श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा । 'माणेण' जातिमदेन । गुणिजननिन्दावमानाभ्या 'पाप करित्तु' पाप कृत्वा नीचैर्गोत्रमुपचित्य । सुणगो व सूगरो वा पाणो वा होदि परलोए' श्वा सूकरश्चाण्डालो वा भवति परजन्मनि ॥१८०१॥

दारिद्द अड्ढित्त णिंद च थुदिं च वसणमब्भुदय ।
पावदि बहुसो जीवो पुरिमित्थिणवुंसयत्त च ॥१८०२॥

दारिद्द' दारिद्रय । 'बहुसो जीवो पावदि' बहुश जीव प्राप्नोति लाभान्तरायोदयात् । अड्ढित्त' आढ्यता पूर्ववदेव सम्बन्ध । पावदि बहुसो इमो इत्यनेन । लाभान्तरायक्षयोपशमादीप्सितानि द्रव्याणि लभते, लब्धानि च नश्यन्ति तत आढ्यता । णिंदा' श्वपाकश्चण्डाल कुण काणो दुर्भगो मूर्ख कृपण इत्यादिका । 'थुदि च' स्तुति च कुलीना रूपवान् वाग्मी आढ्य प्राज्ञ इत्यादिका यशस्कीर्त्युदयात् । 'एव वसण' दु ख असद्वेद्योदयात् । 'अब्भुदय' देवमनुजभवज सुख सद्वेद्योदयात । पुरिसित्थिणवुसयत्त च' पुरुषत्व च स्त्रीत्व च नपुसकत्व च बहुश प्राप्नोति ॥१८०२॥

कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि ।
कारी वि जणममक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥१८०३॥

'अकारो अपि' दोषमकुर्वन्नपि कारी भवति, 'अप्पडिभोगो जनो' पुण्यरहितो जन । 'कारीवि' कुर्व-

---

अपने सेवक वकके द्वारा मारा गया और मरकर अपनी पत्नी विमलाके गर्भमे उत्पन्न हुआ । उत्पन्न होनेपर उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया ॥१८००॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमे १५३वें नम्बर पर इसकी कथा है ।

गा०—श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर यह जीव अपनी जातिका अभिमान करके गुणी जनोकी निन्दा और अपमानके द्वारा नीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर परलोकमे कुत्ता, सूकर या चण्डाल होता है ॥१८०१॥

गा०-टी०—यह जीव लाभान्तरायका उदय होनेसे अनेक वार दरिद्र अवस्था पाता है । लाभान्तरायका क्षयोपशम होनेसे अनेक वार इच्छित धन पाता है । इस प्रकार अनेक वार धनीसे दरिद्र और दरिद्रसे धनी होता है । अयशकीर्तिका उदय होनेसे चण्डाल, काना, अभागा, मूर्ख, कजूस आदि निन्दाका पात्र होता है । यश कीर्तिका उदय होनेसे कुलीन, रूपवान धनी, पण्डित इत्यादि स्तुतिका पात्र होता है । असातावेदनीयका उदय होनेसे दु ख उठाता है और सातावेदनीयका उदय होनेसे देव और मनुष्य भवका सुख भोगता है । इसी प्रकार अनेक वार स्त्री, पुरुष और नपुसक होता है ॥१८०२॥

गा०—पुण्यहीन मनुष्य लोकमे दोष नही करनेपर भी दोषका भागी होता है । और पुण्यवान अनाचार करके भी लोगोके सन्मुख दुराचारी सिद्ध नही होता ॥१८०३॥

न्यनाचार, 'जणसमक्ख' जनाना प्रत्यक्ष 'अकारो होदि' दुराचारो न भवति। सर्पाडम्भान पुण्यवान् ॥१८०३॥

मरिसीए चंदिगाए कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो।
सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥१८०४॥

सरिसीए चदिगाए' चन्द्रिकाया समानायामपि। 'कालो वेस्सो' कृष्णपक्षो द्वेष्य। पिओ जहा जोण्हो' शुक्लपक्षो यथा प्रिय। सरिसे वि तहाचारे' सदृशेऽप्याचारे द्वयो पुसो। 'कोई वेस्सो पिओ कोई' कश्चित् द्वेष्य कश्चित् प्रिय ॥१८०४॥

इय एस लोगधम्मो चितिज्जतो करेइ णिव्वेद।
धण्णा ते भयवता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥१८०५॥

'इय एस लोगधम्मो' अयमेव प्राणिधर्म। 'चितिज्जतो' चिन्त्यमानो। 'करेइ णिव्वेद' निर्वेद करोति। 'धण्णा ते भयवता' पुण्यवन्तस्ते यतय। जे मुक्का लोगधम्मादो' ये मुक्ता प्राणिधर्माद् व्यावर्णितात् ॥१८०५॥

विज्जू व चचल फेणदुब्वल वाधिमहियमच्चुहद।
णाणी किह पेच्छतो रमेज्ज दुक्खुद्धुद लोग ॥१८०६॥

'विज्जू व चचल' विद्युदिव चचल, फेणदुब्बल' फेनमिव दुर्बल। वाधिमहिदमच्चुहद' व्याधिभिमथित मृत्युना हत। 'लोग पेच्छतो' लोक पश्यन्। 'णाणी किध रमेज्ज' ज्ञानी कथ तत्र रति कुर्यात्। लोगधम्मचिन्ता ॥१८०६॥

अशुभत्वानुप्रेक्षा प्रक्रम्यते—

असुहा अत्था कामा य हुति देहो य सव्वमणुयाणं।
एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो ॥१८०७॥

'असुहा अत्था कामा य हुति' अशुभा अर्था कामाश्च भवन्ति। 'देहो य सव्वमणुयाण' देहश्च सर्व

गा०—जैसे चाँदकी चाँदनीके समान होनेपर भी लोग कृष्णपक्षमे द्वेष करते हैं और शुक्लपक्षसे प्रेम करते हैं। वैसे ही समान आचार होते हुए भी कोई मनुष्य लोगोंको प्रिय होता है और कोई अप्रिय होता है ॥१८०४॥

गा०—इस प्रकार लोकदशाका चिन्तन करनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है। वे पुण्यवान यतिजन धन्य हैं जो इस ऊपर कही ससारकी दशामे मुक्त हो गये हैं ॥१८०५॥

गा०—बिजलीकी तरह चचल, फेनकी तरह दुर्बल, रोगोसे ग्रस्त और मृत्युसे पीडित इस लोकको देखकर ज्ञानी इसमे कैसे अनुराग कर सकता है ॥१८०६॥

इस प्रकार लोकानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब अशुभत्व अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—अर्थ, काम और सब मनुष्योंकी देह अशुभ है। एक मव सुखोंकी खान धर्म ही शुभ है। शेप सब अशुभ है ॥१८०७॥

मनुजानाम् । 'एक्को चेव सुभो' एक एव शुभ पुन । 'सव्वसुखायरो धम्मो' सर्वेषा सौख्यानामाकरो धर्म ॥१८०७॥

अर्थस्याशुभता व्याचष्टे—

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्च ।
अत्थो अणत्थमूल महाभयं मुत्तिपडिपथो ॥१८०८॥

'इहलोगियपरलोगियदोसे' ऐहिकान् पारलौकिकाश्च दोषान् । 'पुरिसस्स आवहइ णिच्च' पुरुषस्य आवहति नित्य । 'अत्थो अणत्थमूल' अर्थोऽनर्थाना मूल, 'महाभय' महतो भयस्य मूलत्वान्महाभय । 'मुत्तिपडिपथो' मुक्तेरर्गलीभूत ॥१८०८॥

कामस्याशुभतान्तामाचष्टे—

कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ।
उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥१८०९॥

'कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया' अशुचिकुटिभवा लघुत्वकारिण । 'अप्पकालिया कामा' अल्पकालेपु भवा कामा । 'उवधो लोए' लोकद्वये दु खावहाश्च । ण य होंति ते सुलभा ' नैव ते सुलभा भवन्ति ॥१८०९॥

कामाशुभत्वमाख्याति—

अट्ठिदलिया छिरावक्कवद्धिया मसमट्टियालित्ता ।
बहुकुणिमभण्डभरिदा विहिंमणिज्जा खु कुणिमकुडी ॥१८१०॥

'अट्ठिदलिया' अस्थिदलनिष्पन्ना । 'छिरावक्कवद्धिया' शिरावल्कलवद्धा । 'मसमट्टियालित्ता' मास

अर्थकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०–टी०—धन सब अनर्थोंकी जड है । यह पुरुषमे इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोष लाता है अर्थात् धन पाकर मनुष्य व्यसनोंमे फँस जाता है और उसमे वह इस लोकमे भी निन्दाका पात्र होता है और परलोकमे भी कष्ट उठाता है । मृत्यु आदि महान् भयोका मूल होनेसे धन महाभय रूप है । और मोक्षमार्गके लिये तो अर्गला है । धनमे मस्त मनुष्य मोक्षकी बात भी सुनना नही चाहता ॥१८०८॥

अब कामकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०—यह कामभोग अपवित्र अपने और परके शरीरके सयोगसे पैदा होता है । यह मनुष्यको गिराता है, उसे लोगोकी दृष्टिमे लघु करता है । यह अल्पकालके लिये होता है तथा दोनों ही लोकोमे दु खदायी है । तथा सुलभ भी नही है ॥१८०९॥

अब शरीरकी अशुचिता कहते हैं—

गा०—यह शरीर रूपी कुटी हड्डी रूपी पत्तोंसे बनी है । सिराएँ रूपी वल्कल (छाल) से

मृत्तिकालिप्ता। 'बहुकुणिमभंडभरिदा' अनेकाशुचिद्रव्यपूर्णा। 'विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडो' जुगुप्सनीया अशुचिकुटी ॥१८१०॥

इगालो धुव्वंतो ण सुद्धिमुवयादि जह जलादीहिं।
तह देहो धोव्वंतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥१८११॥

'इगालो धोव्वंतो' प्रक्षाल्यमाना मषी न शुद्धमुपयाति न शुक्लतामुपयाति। 'जह' यथा। 'जलादीहिं' जलादिभि। 'तह देहो धोव्वंतो' तथा शरीर प्रक्षाल्यमान। 'ण जादि सुद्धिं जलादीहिं' न याति शुद्धिं जलादिभि ॥१८११॥

सलिलादीणि अमेज्झं कुणइ अमेज्झाणि ण दु जलादीणि।
मेज्झममेज्झं कुव्वंति सयमवि मेज्झाणि संताणि ॥१८१२॥

'सलिलादीणि' सलिलादीनि द्रव्याणि शुचीनि। 'अमेज्झं कुणदि' अमेध्य करोति। 'अमेज्झाणि' अशुचीनि। 'ण दु जलादीणि मेज्झं कुणदि' नैव जलादीनि शुचितामापादयन्तीति। 'अमेज्झाणि' अशुचीनि 'सयममेज्झाणि संताणि' अमेध्ययोगात् स्वयमशुचीनि सन्ति ॥१८१२॥

तारिसयममेज्झमयं सरीरयं किह जलादिजोगेण।
मेज्झं हवेज्ज मेज्झं ण हु होदि अमेज्झमयघडओ ॥१८१३॥

'तारिसयममेज्झमयं' शुचीनामशुचिताकरणसमर्थाशुचिमयं शरीरकं। 'किह' कथं। 'जलादिजोगेण' जलादिसम्बन्धेन। 'मेज्झं हवेज्ज' शुचिर्भवेत्। 'अमेज्झमय घडगो' अमेध्यमयो घट। 'ण खु मेज्झो होदि' नैव शुचिर्भवति। यथा जलादियोगेन ॥१८१३॥

यदि शरीरमशुचि किं तर्हि शुचीत्यत्राह—

णवरि हु धम्मो मेज्झो धम्मत्थस्स वि णमंति देवा वि।
धम्मेण चेव[1] जादि खु साहू जल्लोसधादीया ॥१८१४॥

बाँधी हुई है। मासरूपी मिट्टीसे लीपी गई है तथा अनेक अपवित्र वस्तुओंसे भरी हुई है। इस तरह यह शरीररूपी कुटिया घृणास्पद है ॥१८१०॥

गा०—जैसे कोयलोंको जलादिसे धोनेपर भी वे सफेद नहीं होते। उसी प्रकार जलादिसे धोनेपर भी शरीरकी शुद्धि नहीं होती ॥१८११॥

गा०—अपवित्र शरीर जलादिको भी अपवित्र कर देता है। अर्थात् शरीरके सम्बन्धसे निर्मल जल मैला हो जाता है। जल स्वयं मैला नहीं है, स्वयं तो निर्मल ही है किन्तु जल शरीरको पवित्र नहीं बनाता। बल्कि शरीरके संयोगसे जल ही अपवित्र हो जाता है ॥१८१२॥

गा०—निर्मलको मलीन करनेवाला अपवित्र शरीर जलादिके सम्बन्धसे कैसे पवित्र हो सकता है। क्या मलसे भरा घड़ा पानीसे धोनेसे पवित्र हो सकता है ॥१८१३॥

यह शरीर अपवित्र है तो पवित्र कौन है, इसका उत्तर देते हैं—

गा०—किन्तु धर्म पवित्र है क्योंकि रत्नत्रयात्मक धर्ममें स्थितको देव भी नमस्कार करते

---

१. चेव हूंति हु साहू –अ०।

'णवरि हु धम्मो मेज्झो' धर्मं पुन शुचि । कस्मात् सुशब्दो यस्मादित्यर्थे वर्तते । 'धम्मत्थस्स वि णमंति देवा वि' यस्माद्धर्मे रत्नत्रयात्मके स्थितस्य देवा अपि नमस्कार कुर्वन्ति । धर्मेण शुचिना योगादात्मापि शुचिरिति । 'धर्मेण चेव जादि खु साधू धर्मेणैव प्राप्नुवन्ति माधव । किं ? 'जल्लोसधादीया' जल्लौषध्यादिकमृद्धयतिशम् ॥१८१४॥ अशुभत्त ।

आस्रवानुप्रेक्षा निरूप्यते—

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलयराइण्णे ।
जीवस्स दु परिब्भमणम्मि कारण आसवो होदि ॥१८१५॥

'जम्मसमुद्दे' जन्मसमुद्रे । 'बहुदोसवीचिए' विचित्रदोषतरङ्गे । 'दुक्खजलयराकिण्णे' दुखजलचरैराकीर्णे । 'जीवस्स परिब्भमणम्मि' जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारण तत् 'आसवो' आस्रवो भवति । ननु च कर्माणि कारणानि नत्वास्रव । अत्रोच्यते । कर्मणा परिभ्रमणकारणाना कारणत्वादास्रव कारणमित्युक्त ॥१८१५॥

मसारसागरे से कम्मजलममवुडस्स आसवदि ।
आसवणीए णावाए जह सलिल उदधिमज्झम्मि ॥१८१६॥

'ससारसागरे' ससारसमुद्रे । 'से तस्य । 'असवुडस्स' सवररहितस्य सम्यक्त्वसयमक्षमामार्दवार्जवसतोषपरिणामरहितस्य । 'कम्मजलमासवदि' ज्ञानावरणादिकर्मजलमास्रवत्यागच्छति । 'आसवणीए णावाए' आस्रवणशीलाया नावि यथा सलिल प्रविशति । 'उदधिमज्झे' समुद्रमध्ये ॥१८१६॥

धूली णेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा मलो जहा होदि ।
मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स कम्म तहा होदि ॥१७१७॥

हैं। पवित्र धर्मके सम्बन्धसे आत्मा भी पवित्र है। धर्मसे ही साधु भी जल्लौषधी आदि ऋद्धियोंको प्राप्त करते हैं। अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्मका साधन करनेमें साधुओंके शरीरका मल भी औषधीरूप हो जाता है ॥१८१४॥

आगे आस्रवानुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०-टी०—यह जन्ममरणरूपी समुद्र विविध दोषरूपी लहरोंसे युक्त है तथा दुःखरूपी जलचर जीवोंसे भरा है। इस समुद्रमें परिभ्रमणका कारण आस्रव है।

शका—ससार समुद्रमें परिभ्रमणका कारण तो कर्म है, आस्रव नहीं है।

समाधान—परिभ्रमणका कारण कर्म हैं यह ठीक है। किन्तु उन कर्मोंका कारण आस्रव है। अत आस्रवको परिभ्रमणका कारण कहा है ॥१८१५॥

गा०—जैसे समुद्रके मध्यमें छेदयुक्त नावमें जल प्रवेश करता है वैसे ही ससाररूपी समुद्रमें जो जीव सवरसे रहित है अर्थात् सम्यक्त्व, सयम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि रूप परिणामोंसे रहित है उसके ज्ञानावरण आदि कर्मरूप जलका आस्रव होता है ॥१८१६॥

गा०—जैसे तेलसे लिप्त शरीरमें लगी हुई धूल मलरूप हो जाती है वैसे ही जो आत्मा

'घूले णेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा' धूली स्नेहाभ्यक्तशरीरलग्ना । 'जहा मलो होदि' यथा मलं भवति । 'मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स' मिथ्यात्वासंयमकषायपरिणामस्नेहाभ्यक्तस्यात्मनः प्रदेशेष्ववस्थितं कर्मप्रायोग्यं द्रव्यं । 'तहा' तथा । 'कम्म होदि' कर्म भवति । एतदुक्तं भवति-आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकान् विशिष्टं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमयतीति कर्मत्वपर्यायहेतुरात्मनः परिणाम आस्रव इत्यर्थः ॥१८१७॥

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहमेहिं बादरेहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तहेव ॥१८१८॥

'ओगाढगाढणिचिदो' अनुप्रवेशगाढं निचितः । 'पुग्गलदव्वेहिं' पुद्गलद्रव्यैः 'सव्वदो लोगो' कार्त्स्न्येन लोकः । 'सुहमेहिं बादरेहिं य' सूक्ष्मैः स्थूलैश्च । 'दिस्सादिस्सेहिं' चक्षुषा दृश्यैरदृश्यैश्च । 'तहेव' तथैव । एतया गाथया कर्मत्वपर्याययोग्यानां पुद्गलद्रव्याणां सर्वत्र लोकाकाशे बहूनामस्तित्वमाख्यातम् ॥१८१८॥

के ते आस्रवा इत्यत्राह—

मिच्छत्त अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति ।
अरहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्त ॥१८१९॥

'मिच्छत्त अविरमण कसायजोगा य आसवा होंति' मिथ्यात्वमसंयमः कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति । आस्रवत्यागच्छन्ति कर्मत्वपर्यायं पुद्गला एभिः कारणभूतैरिति मिथ्यात्वादय आस्रवशब्दवाच्याः तेष्वास्रवेषु । मिथ्यात्वस्वरूपं कथयति । 'अरहंतवुत्त अत्थेसु' अर्हदुक्तेषु अनन्तद्रव्यपर्यायात्मकेषु अर्थेषु 'विमोहो मिच्छत्त होदि' अश्रद्धानं मिथ्यात्वं भवति ॥१८१९॥

असंयममाचष्टे—

अविरमण हिंसादी पंच वि दोसा हवंति णायव्वा ।
कोधादीया चत्तारि कसाया रागदोसमया ॥१८२०॥

मिथ्यात्व, असंयम और कषायपरिणामरूप तेलसे लिप्त होता है उस आत्माके प्रदेशोंमें स्थित कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप हो जाते हैं। इसका आशय यह है, मिथ्यात्व आदि रूप आत्माके परिणामोंमें विशिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे परिणमन करता है इसलिये कर्मरूप परिणमनमें कारण आत्माके परिणाम ही आस्रव हैं ॥१८१७॥

गा०—यह लोक सर्वत्र पुद्गल द्रव्योंसे ठसाठस भरा हुआ है। वे पुद्गल सूक्ष्म भी है और बादर भी हैं। चक्षुके द्वारा दिखाई देने योग्य भी हैं और न दिखाई देने योग्य भी हैं।

टी०—इस गाथाके द्वारा कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल द्रव्योंका सर्वत्र लोकाकाशमें अस्तित्व बतलाया है ॥१८१८॥

वे आस्रव कौन हैं यह बतलाते हैं—

गा०—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये आस्रव हैं। जिन कारणोंसे पुद्गल कर्मरूप होकर आते हैं उन मिथ्यात्व आदिको आस्रव कहते हैं। उनमेंसे मिथ्यात्वका स्वरूप कहते हैं—अर्हन्त भगवान्‌के द्वारा कहे गये अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थोंमें अश्रद्धान करना मिथ्यात्व है ॥१८१९॥

'अविरमण' अविरमण नाम। 'हिंमादि पंच वि दोसा' हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाख्या पञ्चापि दोषा । 'हवंति णादव्वा' अविरमण भवन्तीति ज्ञातव्या । प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण, असदभिधान, अदत्तादान, मैथुनकर्म विशेष, मूर्छा चेति एते परिणामा अविरमणशब्देनोच्यन्ते । विरमण हि निवृत्तिस्ततोऽन्यत्वात् । प्रवृत्तिरूपा हिंसादय अविरमण इत्युच्यन्ते । 'कोधादीगा' क्रोधमानमायालोभा । 'चत्तारि' चत्वार । 'कसाया' कषाया इत्युच्यन्ते । 'रागदोसमया' रागद्वेषात्मका ॥१८२०॥

रागद्वेषयोर्माहात्म्य दर्शयति—

किहदा राओ रंजेदि णरं कुणिमे वि जाणुग देहे ।
किहदा दोसो वेसं खणेण णीयपि कुणइ णरं ॥१८२१॥

'किहदा राओ रजेदि णर' कथ तावद्रागो रञ्जयति नर । 'कुणिमे वि देहे' अशुचावपि देहे, अनुरागस्यायोग्ये । 'जाणुग' शरीराशुचित्व जानन्त अज्ञ रञ्जयति । सारे वस्तुनि नर रञ्जयतीति न तच्चित्र ज्ञातारमशुचिन्यसारे शरीरे रञ्जयतीत्येतदद्भुतमिति भाव । 'दोसो' दोष, किहदा वेस कुणदि' कथ तावद्द्वेष्य करोति । 'खणेण' क्षणमात्रेण । 'णीयपि णर' बान्धवमपि नर । अनेनापि द्वेषमाहात्म्यमाख्यायते । रागाश्रयानपि बधून् द्वेष्यान् करोतीति ॥१८२१॥

सम्मादिट्ठी वि णरो जेसिं दोसेण कुणइ पावाणि ।
धित्तेसि गारविंदियसण्णामयरागदोसाण ॥१८२२॥

'सम्मादिट्ठी वि णरो' तत्त्वज्ञानश्रद्धानसमन्वितोऽपि नर । 'जेसिं दोसेण कुणदि पावाणि' येषा दोषेण करोति पापानि । 'धित्तेसि गारवेंदियसण्णामयरागदोसाण' धिक्तान्गौरवानिन्द्रियाणि सज्ञामदान् रागद्वेषाश्च ॥१८२२॥

असयमका स्वरूप कहते हैं—

गा०—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच दोषोंको असयम कहते हैं। कषाययुक्त आत्मपरिणामके योगसे प्राणोंके घातको हिंसा कहते हैं। प्राणि पीडाकारक अप्रशस्त वचन बोलनेको असत्य कहते हैं। बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणको चोरी कहते हैं। मैथुन कर्मको अब्रह्म कहते हैं और ममत्व भावको परिग्रह कहते हैं। ये सब परिणाम असयम कहे जाते हैं। इन सबसे निवृत्तिको सयम कहते हैं। और प्रवृत्तिरूप हिंसादि परिणाम असयम हैं। तथा राग-द्वेषमय चार कषाय हैं। अर्थात् हिंसादिरूप परिणाम असयम हैं और क्रोधादि कषाय हैं इनमेंसे क्रोध और मान द्वेषरूप हैं और माया, लोभ रागरूप हैं ॥१८२०॥

राग और द्वेषका माहात्म्य बतलाते हैं—

गा०-टी०—यह शरीर अशुचि है। रागके अयोग्य है। यह राग शरीरकी अशुचिताको जाननेवाले अज्ञानीको उसमें अनुरक्त करता है सारवान् वस्तुमें मनुष्यको अनुरक्त नहीं करता। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य इसमें है कि यह जाननेवालेको भी असार शरीरमें अनुरक्त करता है। तथा द्वेष क्षणमात्रमें बन्धु मनुष्यको भी द्वेषका पात्र बनाता है। इससे द्वेषका माहात्म्य कहते हैं कि जो बन्धु राग करने योग्य हैं उन्हे भी वह द्वेषका पात्र बनाता है ॥१८२१॥

गा०—तत्त्वोंके ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त मनुष्य भी अर्थात् सम्यग्दृष्टी मनुष्य भी जिनके

जो अभिलासो विसएसु तेण ण य पावए सुह पुरिसो।
पावदि य कम्मबंधं पुरिसो विसयाभिलासेण ॥१८२३॥

'जो अभिलासो विसएसु' यो अभिलाषो विषयेषु स्पर्शादिषु। 'तेण विसयाभिलासेण ण य पावदे सुह पुरिसो' प्राप्नोति नैव सुखं पुरुष। 'पावदि य कम्मबंध' प्राप्नोति च कर्मबन्ध, पुरिसो विसयाभिलासेण' पुरुषो विषयाभिलाषेण निमित्तेन। एतेन विषयाभिलाषपरिणामस्य प्राणिनामसकृत् प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुख न प्रयच्छति कर्मबन्धकारण तु भवतीति विषयाभिलाषस्यास्रवस्य स्वरूप कथित ॥१८२३॥

विषयाभिलाषस्य दुष्टता प्रकारान्तरेणाचष्टे—

कोई डहिज्ज जह चदण णरो दारुग च बहुमोल्ल।
णासेइ मणुस्सभव पुरिसो तह विसयलोहेण ॥१८२४॥

'कोई डहिज्ज जह चदण' कश्चिद्यथा दहेच्चन्दन। 'बहुमोल्ल' महामूल्य। 'दारुग च' अगुर्वादिदारु च, यथा दहति भस्मादिक स्वल्प समुद्दिश्य। 'तह णासेदि मणुस्सभव' तथा नाशयति मानुषभव अतीन्द्रियानन्त-सुखकारण। 'पुरिसो तह विसयलोभेण' अतितुच्छविषयगार्ध्येन ॥१८२४॥ उक्त च—

विषया जनितेन्द्रियोत्सवा बहुभिश्चापि समन्विता रसै।
विषगर्भसुसस्कृतान्नवत् परिभुक्ता परिणामदारुणा ॥
विषयसुखप्रतिबद्धलोलचित्तो विषयनिमित्तमनिष्टकर्म कृत्वा।
विषयसुखप्रविहीणजातिजातो विषयसुख लभते न ना विपुण्य ॥

दोषसे पाप करता है उन गारवोको, इन्द्रियोको, सज्ञामदोको और राग द्वेषको धिक्कार हो ॥१८२२॥

गा०—विषयोमे जो अभिलाषा है उसके कारण पुरुष सुख नही पाता विषयोकी चाहके निमित्तसे पुरुष कर्मबन्ध करता है ॥१८२३॥

टी०—इससे प्राणियोमे निरन्तर प्रवर्तमान विषयोकी चाहरूप परिणामको अहितकारी बतलाया है। उसमें सुख तो नही होता, किन्तु कर्मबन्ध होता है। अत विषयोकी अभिलाषाको आस्रवरूप कहा है ॥१८२३॥

गा०-टी०—अन्य प्रकारसे विषयोकी अभिलाषाकी दुष्टता बतलाते हैं—जैसे कोई मनुष्य राख आदिके लिये बहुमूल्य चन्दनकी लकडीको जला देता है। वैसे ही मनुष्य अति तुच्छ विषयो-के लोभमें उस मनुष्य भवको नष्ट कर देता है जिसके द्वारा अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त हो सकता है। कहा भी है—ये विषय इन्द्रियोके लिये आनन्द उत्पन्न करते हैं तो बहुतसे रस उन विषयोमे रहते हैं। किन्तु विषसे सस्कार किये गये अन्नकी तरह उनको भोगनेपर अत्यन्त भयकर परिणाम होता है। जिसका चचल चित्त विषय सुखमे अत्यासक्त होता है वह विषयोकी प्राप्तिके लिये अनिष्ट कार्य करके ऐसी पर्यायमे जन्म लेता है जहाँ उसे विषयसुख मिलता ही नही। ठीक ही है, पुण्यहीन मनुष्य विषयसुखको नही पाता ॥१८२४॥

छड्डिय रयणाणि जहा रयणदीवा हरेज्ज कट्ठाणि ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्म भोगे भिलसदि तहा ॥१८२५॥

'छड्डिय रयणाणि जहा' रत्नानि त्यक्त्वा यथा, 'रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि' रत्नद्वीपात्काष्ठान्याहरति । 'तहा माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि, 'छड्डिय धम्म' धम विहाय । 'भोगे भिलसदि' भोगान्वाञ्छति । एतदुक्त भवति—अनेकमाररत्नास्पद रत्नद्वीप सुदुर्लभ प्राप्य मुधा लभ्यान्यपि रत्नान्यनुपादाय असारमिन्धन सुलभ सारबुद्धया यथा कश्चिदाहरति जड । तथानेकगुणरत्नाकर मनुष्यभव दुरवापमवाप्य अतर्पक पराधीन अल्पकालिक विषयसुखमभिलषति ॥१८२५॥

गतूण णदणवण अमय छडिय विस जह पियइ ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥१८२६॥

'गतूण णदणवण' गत्वा नन्दनवन । 'अमय छड्डिय' अमृत त्यक्त्वा । 'विस जहा पियइ' विष यथा पिबति कश्चित् । 'माणुसभवे वि छड्डिय मनुष्यभवेऽपि त्यक्त्वा । 'धम्म' धर्म । 'भोगेभिलसदि तहा' भोगानाभिलषति तथा ॥१८२६॥

योगशब्दार्थमाचष्टे—

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासव पकुव्वति ।
भुञ्जतो दुब्भत्त वणम्मि जह आसव कुणइ ॥१८२७॥

'पावपओगा' पाप प्रयुञ्ज्यते प्रवर्त्यते एभिरिति पापप्रयोगा । 'मणवचिकाया' मनोवाक्काया, 'कम्मासव पकुव्वति' कर्मस्वपर्यायागम पुद्गलाना कुर्वन्ति । 'भुञ्जतो दुब्भत्त' भुञ्जमानो दुराहार । 'वणमि जह आसव कुणदि' व्रणे यथा आस्रव स्रुति पूतीना करोति ॥१८२७॥

गा०—टी०—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमे जाकर रत्नोको छोड लकडी बीनता है वैसे ही मनुष्यभवमे धर्मको छोड भोगोकी अभिलाषा करता है । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई मूर्ख अनेक बहुमूल्य रत्नोसे भरे तथा अतिदुर्लभ रत्नद्वीपमे जाकर बिना प्रयत्नके ही प्राप्त भी रत्नोको ग्रहण न करके असार और सुलभ ईंधनको ही सारभूत मानकर ग्रहण करता है, उसी प्रकार जो मनुष्यभव अनेक गुणरूपी रत्नोकी खान है, जिसका मिलना बहुत कठिन है उसे प्राप्त करके भी अज्ञानी ऐसे विषयसुखकी अभिलाषा करता है जो तृप्ति प्रदान नही करता तथा पराधीन है और अल्प काल ही रहता है ॥१८२५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष नन्दन वनमे जाकर भी अमृतको छोड विष पीता है । वैसे ही मनुष्यभवको पाकर भी मनुष्य धर्मको छोड भोगोकी अभिलाषा करता है ॥१८२६॥

योगशब्दका अर्थ कहते हैं—

गा०—जिनके द्वारा पापमे प्रवृत्ति की जाती है वे मन, वचन, काय, पुद्गलोको कर्मरूपसे परिणमाते हैं । जैसे अपथ्य सेवन करनेवाला अपने घावमे पीव पैदा करता है । अर्थात् जैसे अपथ्य सेवन करनेसे घावमे पीव आता है वैसे ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्मोका आस्रव होता है ॥१८२७॥

कर्माणि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र कस्य कर्मण क आस्रव इत्यत्राह—

अणुकंपासुद्धुवओगो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं ।
तं विवरीदं आसवदारं पावस्स कम्मस्स ॥१८२८॥

'अणुकंपा' अनुकम्पा । 'सुद्धुवओगो' शुद्धश्च प्रयोग परिणाम , 'पुण्णस्स आसवदुवारं' पुद्गलानां पुण्यत्वपर्यायागमनमुख सद्वेद्य सम्यक्त्व रतिहास्यपुवेदा शुभे नामगोत्रे शुभ चायु पुण्य एतेभ्योऽन्यानि पापानि । अनुकम्पा त्रिप्रकारा । धर्मानुकम्पा मिश्रानुकम्पा सर्वानुकम्पा चेति । तत्र धर्मानुकम्पा नाम परित्यक्तासयमेषु मानावमानसुखदु खलाभालाभतृणसुवर्णादिषु समानचित्तेषु दान्तेन्द्रियान्त करणेषु जननीमिव मुक्तिमाश्रितेषु परिहृतोग्रकषायविषयेषु दिव्येषु भोगेषु दोषान्विचिन्त्य विरागतामुपगतेषु ससारमहासमुद्रभयेन निशास्वप्यल्पनिद्रेषु, अङ्गीकृतनिस्सङ्गत्वेषु, क्षमादिदशविधधर्मपरिणतेषु यानुकम्पा सा धर्मानुकम्पा, यया प्रयुक्तो जनो विवेकी तद्योग्यान्नपानावसथौषधादिक सयमसाधन यतिभ्य प्रयच्छति । स्वामशक्तिनिगुह्य शक्तिं उपसर्गदोषानपसारयति आज्ञाप्यतामिति सेवा करोति भ्रष्टमार्गाणा पन्थानमुपदर्शयति । तै सयोगमवाप्य अहो सपुण्या वयमिति हृष्यति, सभासु तेषा गुणानुत्कीर्तयति[1], तान् गुरुमिव पश्यति । तेषा गुणानामाभीक्ष्ण्य स्मरति, महात्मभि कदा नु मम समागम इति । तैं सयोग समीप्सति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्ण्यमानानिशम्य तुष्यति । इत्यमनुकम्पापर साधुगुणानुमननानुकारी भवति । त्रिधा च सन्तो बन्धमुपदिशन्ति, स्वय कृते, कारणाया , परैं कृतस्यानुमतेश्च । ततो महागुणराशिगतहर्षात् महान् पुण्यास्रव ।

कर्म शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारके हैं। किसने किस कर्मका आस्रव होता है यह कहते हैं—

गा०—अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्य कर्मके आस्रवके द्वार हैं। और अनुकम्पा तथा शुद्ध उपयोगसे विपरीत परिणाम पाप कर्मके आस्रवके द्वार हैं ॥१८२८॥

टी०—अनुकम्पाके तीन भेद हैं—धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा, सर्वानुकम्पा। जिन्होंने असयमका त्याग कर दिया है, मान, अपमान, सुख-दुख, लाभ-अलाभ तथा तृण-सुवर्ण आदिमें जिनका समभाव है, इन्द्रिय और मनका जिन्होंने दमन किया है, जो माताके समान मुक्तिके आश्रित हैं, जिन्होंने उग्र कषाय विषयोंका परित्याग किया है, दिव्य भोगोंमें दोषोंका विचार करके विरागताको अपनाया है, ससाररूपी महासमुद्रके भयसे रात्रिमें भी जो अल्प निद्रा लेते हैं, जिन्होंने नि सगताको स्वीकार किया है और जो उत्तम क्षमा आदि दस प्रकारके धर्मोंमें लीन हैं उनमें जो अनुकम्पा है उसे धर्मानुकम्पा कहते हैं। उस धर्मानुकम्पासे प्रेरित होकर विवेकी जन उन मुनियोंके योग्य अन्नपान, वसतिका आदि सयमके साधन प्रदान करते हैं। अपनी शक्तिको न छिपाकर उपसर्ग और दोषोंको दूर करते हैं। 'हमें आज्ञा कीजिये' इस प्रकार निवेदन करके सेवा करते हैं। जो मार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं उन्हें सन्मार्ग दिखलाते हैं। उन मुनियोंका सयोग प्राप्त होनेपर 'अहो हम बडे पुण्यशाली हैं।' इस प्रकार विचार कर प्रसन्न होते हैं। सभाओंमें उनके गुणोंका बखान करते हैं। उनको गुरुके समान मानते हैं। उनके गुणोंका सदा स्मरण करते हैं कि कब उनका समागम हो। उनके सयोगकी अभिलाषा रखते हैं। दूसरे द्वारा उनके गुणोंकी प्रशसा सुनकर सन्तुष्ट होते हैं। इस प्रकार अनुकम्पामें तत्पर साधु गुणोंकी अनुमोदना करनेवाला

---

१ मातरमिव —आ० मु०। २ ति स्वान्ते मु—आ० मु०।

मिथ्रानुकम्पोच्यते—पृथुपापकर्ममूलेभ्यो हिंसादिभ्यो व्यावृत्ताः संतोषवैराग्यपरता विनीता दिग्विरतिं, देशविरतिं, अनर्थदण्डविरतिं चोपगताः तीव्रदोषाद् भोगोपभोगान्निवृत्य शेषे च भोगे कृतप्रमाणा पापात्परिभीतचित्ता, विशिष्टदेशे काले च विवर्जितसर्वसावद्याः पर्वस्वारम्भयोग सकलं विसृज्य उपवासं ये कुर्वन्ति तेषु संयतासंयतेषु क्रियमाणानुकम्पा मिश्रानुकम्पेत्युच्यते। जीवामि जीवेषु दयां च कृत्वा कृत्स्नामबुध्यमाना जिनसूत्राद्बाह्या येऽन्यपाखण्डरताविनीताः कष्टानि तपांसि कुर्वन्ति, तेषु क्रियमाणानुकम्पा तथा सर्वोऽपि कर्मपुण्यं प्रचिनोति।

देशं प्रवृत्तिर्गृहिणामकृत्स्नात् मिथ्यात्वदोषोपहतोऽन्यधर्मः।
इत्येषु मिश्रो भवतीति धर्मो मिश्रानुकम्पामवगच्छे[1] ज्जन्तु ॥
सद्दृष्टयो वापि कुदृष्टयो वा स्वभावतो मार्दवसंप्रयुक्ताः।
यां कुर्वते सर्वशरीरवर्गे सर्वानुकम्पेत्यभिधीयते सा ॥

छिन्नान् बद्धान् रुद्धान् प्रहतान् विलुप्यमानाश्च मर्त्यान्, सहैनसो निरेनसो वा परिदृश्य मृगान्विहगान् सरीसृपान् पशूंश्च मामादिनिमित्तं प्रहन्यमानान् परलोके परस्परं वा तान् हिंसतो भक्षयतश्च दृष्ट्वा सूक्ष्मानेकान् कुन्थुपिपीलिकाप्रभृति प्राणभृतो मनुजकरभखरशरभकरितुरगादिभिः समृद्यमानानभिवीक्ष्य असाध्यरोगोरगदशनात् परितप्यमानान् मृतोऽस्मि नष्टोऽस्म्यभिधावतेति रोगानुभूयमानान्, गुरुपुत्रकलत्रादिभिर-

---

होता है। पूर्व ज्ञानियोंने बन्धको तीन प्रकारसे कहा है। स्वयं करनेसे, दूसरोंसे करानेसे और दूसरोंके करने पर उसकी अनुमोदना करनेसे। अतः महागुणशाली मुनियोंको देखकर हर्ष प्रकट करनेसे महान् पुण्यास्रव होता है।

अब मिश्रानुकम्पा कहते हैं। जो महान् पाप कर्मके मूल हिंसा आदिसे निवृत्त हैं, सन्तोष और वैराग्यमें तत्पर हैं, विनीत हैं, दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरतिको धारण किये हुए हैं, तीव्र दोषवाले भोग उपभोगोंका त्याग करके शेष भोगोंका जिन्होंने परिमाण कर लिया है, जिनका चित्त पापसे भीत रहता है, जो विशिष्ट देश और कालमें सब सावद्यका त्याग करते हैं अर्थात् त्रिकाल सामायिक करते हैं, पर्वके दिनोंमें समस्त आरम्भको त्याग उपवास करते हैं उन संयमासंयमियोंमें जो अनुकम्पा की जाती है वह मिश्रानुकम्पा है। मैं जिलाता हूं ऐसा मान जो जीवोंपर दया तो करते हैं किन्तु पूर्णरूपसे दयाको नहीं जानते। ऐसे जो जिनागमसे बाह्य अन्य धर्मोंको माननेवाले विनयी तपस्वी हैं कष्टदायक तपस्या करते हैं उनमें अनुकम्पा भी मिश्रानुकम्पा है। उसमें सब जीव पुण्य कर्मका संचय करते हैं। कहा भी है—

गृहस्थ एकदेशमें प्रवृत्तिशील होनेसे पूर्ण संयमका पालक नहीं होता। तथा मिथ्यात्वके दोषसे सदोष अन्य धर्मवालोंमें अनुकम्पा मिश्रानुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जो स्वभावसे ही मार्दव भावसे युक्त हैं वे जो समस्त प्राणियोंमें अनुकम्पा करते हैं उसे सर्वानुकम्पा कहते हैं। जिनके अवयव कट गये हैं, जो बांधे गये हैं, रोके गये हैं, पीटे गये हैं, खोये गये हैं ऐसे निरपराधी अथवा अपराधी मनुष्योंको देखकर तथा मृगों, पक्षियों, सरीसृपों और पशुओंको मांस के लिये दूसरे लोगोंके द्वारा मारा जाना अथवा उन्हें परस्परमें ही एक दूसरेको हिंसा करते और एक दूसरेका भक्षण करते देखकर, तथा कुंथु चींटी आदि अनेक छोटे जन्तुओंको मनुष्य, ऊंट, गधा, शरभ, हाथी, घोड़े आदिके द्वारा कुचले जाते देखकर, तथा असाध्य रोगरूपी सर्पके द्वारा

1. 'पामवगच्छतज अ०।

प्राप्तकाल सहसा वियुज्य ऊर्ध्वभुजान् विक्रोशतः, स्वाङ्गानि घ्नतश्च शोकेन, उपार्जितद्रविणैर्वियुज्यमानान् कृपणान् प्रनष्टबन्धून् धैर्यशिल्पविद्याव्यवसायहीनान् वा १ न् प्रज्ञाप्रसक्त्या वराकान् निरीक्ष्य तद् दु:खमात्मस्थमिव विचिन्त्य स्वास्थ्यमुपशमनमनुकम्पा ।

सुदुर्लभं मानुषजन्म लब्ध्वा मा क्लेशपात्राणि वृथैव भूत ।
धर्मे शुभे भूतहिते यतध्वमित्येवमाद्यैरपि चोपदेशैः ॥

कृतकरिष्यमाणोपकारानपेक्षैरनुकम्पा कृता भवति ।

पुण्यास्रव सा त्रिविधानुकम्पा सुतेषु पुत्रं जननी शुभेव ।
इत्वेतानुकम्पा प्रभवाद्विपुण्यान्नाके मृता अभ्युपपत्तिमीयुः ॥

शुद्धप्रयोगो निरूप्यते स च द्विप्रकारः यतिगृहिगोचरभेदेन । यतेः शुद्धोपयोग इत्थम्भूतः—

जीवान्न हन्यां न मृषा वदेयं चौर्यं न कुर्यान्न भजेय भोगान् ।
धनं न सेवेय न च क्षपासु भुञ्जीय कृच्छ्रेऽपि शरीरतापे ॥१॥
रोषेण मानेन च मायया च लोभेन चाहं बहुदोषकेन ।
युञ्जेय नारम्भपरिग्रहेश्च दीक्षां शुभामभ्युपगम्य भूयः ॥२॥
यथा न भायाच्चलमौलिमालो भिक्षां चरन्कार्मुकबाणपाणिः ।
तथा न भायां यदि दीक्षितः सन् वहेय दोषानपहाय लज्जाम् ॥३॥

इसे जानेसे पीडित मैं मर गया, मैं नष्ट हो गया इत्यादि चिल्लानेवाले रोगियोको देख तथा जिनकी अवस्था अभी मरनेकी नही है ऐसे गुरु, पुत्र, स्त्री आदिका सहसा वियोग हो जानेसे चिल्लाते हुए, अपने अगोको शोकसे पीटते हुए, कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेसे दीन हुए तथा धैर्य, शिल्प, विद्या और व्यवसायसे रहित गरीब प्राणियोको देख उनके दुःखको अपना ही दुःख मानकर उसको शान्त करना अनुकम्पा है। 'अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर वृथा ही क्लेशके पात्र मत बनो। प्राणियोंके लिये कल्याणकारी धर्ममे मन लगाओ' इत्यादि उपदेशोंके द्वारा किये गये अथवा भविष्यमे किये जानेवाले उपकारकी अपेक्षाके विना अनुकम्पा करना चाहिये।

ये तीनो प्रकारकी अनुकम्पा पुण्य कर्मका आस्रव करती है। वह जैसे माता पुत्रके लिये शुभ होती है उसी प्रकार शुभ है। उस अनुकम्पासे हुए पुण्यके विपाकसे मरकर स्वर्गमें देव होते हैं।

अब शुद्ध प्रयोगका स्वरूप कहते हैं—उसके दो भेद है-एक यति सम्बन्धी शुद्धप्रयोग और दूसरा गृहस्थ सम्बन्धी शुद्ध सप्रयोग। यतिका शुद्ध प्रयोग इस प्रकार है—मैं जीवोका घात नही करूँगा। झूठ नही बोलूगा। चोरी नही करूँगा। भोगोको नही भोगूँगा। धनका सेवन नही करूँगा। शरीरमे अत्यन्त कष्ट होनेपर भी रात्रिमें भोजन नही करूँगा। शुभ दीक्षा लेकर बहुदोषपूर्ण क्रोध माना माया लोभसे आरम्भ और परिग्रहसे सम्बन्ध नही रखूँगा। जैसे कोई मनुष्य सिरपर मुकुटमाला धारण करके और हाथमे धनुष बाण लेकर भिक्षा मागे तो शोभा नही देता। उसी प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग दोषोको वहन करूँ तो शोभा नही देता। महान्

१ य वा प्रजा प्रसक्तापकर नि –अ०।

लिङ्गं गृहीत्वा महतामृषीणा, अङ्ग च बिभ्रत्परिकर्महीनम् ।
भङ्ग व्रतानामविचिन्त्य कष्ट सङ्ग क्व कामगुणेषु कुर्याम् ।।४।।
चर्यामनार्याचरितामधैर्यो धैर्येण हीन कृपणत्वमेत्य ।
क्व धृयामुण्डशिराश्चरेय लिङ्गीभवन्नङ्गविकारयुक्त ।।५।।
इत्येवमादि शुभकर्मचिता सिद्धार्हदाचार्यबहुश्रुतेषु ।
चैत्येषु सघे जिनशासने च भक्तिर्विरक्तिर्गुणरागिता च ॥

विनीतता सयमो अप्रमत्तता, मृदुता, क्षमा, आर्जव सतोष, सज्ञाशल्यगौरवविजय, उपसर्ग-परीषहजय, सम्यग्दर्शन, तत्वज्ञान, सरागसयम, दशविधधर्मध्यान, जिनेन्द्रपूजा, पूजोपदेश नि शकित्वादिगुणाष्टक, प्रशस्तरागसमेता तपोभावना, पञ्चसमितय, तिस्रो गुप्तय इत्येवमाद्या शुद्धप्रयोगा । गृहिणा शुद्धोपयोग उच्यते—गृहीतव्रताना धारणपालनयोरिच्छा क्षणमपि व्रतभङ्गोऽनिष्ट, अभीक्ष्ण यतिसप्रयोग अन्नादिदान श्रद्धादिविधिपुरस्सर श्रमनोदनाय भोगान् भुक्त्वापि स्वगित[1]सक्तिविगर्हण, सदा गृहप्रमोक्षप्रार्थना, धर्मश्रवणोपलम्भात्मनसोऽतितुष्टि, भक्त्या पञ्चगुरुस्तवनप्रणमने तत्पूजा, परेषा च स्थिरीकरणमुपबृहण, वात्सल्य, जिनेन्द्रभक्तानामुपकारकरण, जिनेन्द्रशास्त्राभिगम, जिनशासनप्रभावना इत्यादिक । 'तव्विवरीद' अनुकम्पाशुद्धप्रयोगाभ्या विपरीत परिणाम । 'आसवद्दार' आस्रवद्वार, 'पापस्स कम्मस्स' अशुभस्य कर्मण । आस्रव । ॥१८२८॥

ऋषियोका लिग स्वीकार करके और स्नान आदिके बिना शरीर धारण करके व्रतोंके भगका विचार न करते हुए काम सेवन आदिका ससर्ग मैं कैसे कर सकता हू । मैं धैर्य खो, दीन बनकर अनार्योके द्वारा आचरण करके योग्य चर्या कैसे कर सकता हूँ। शरीरमे विकार युक्त होकर घूमने पर साधु होकर सिर मुडाना व्यर्थ है । इत्यादि प्रकारसे शुभ कर्मकी चिन्ता करना, सिद्ध, अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय, प्रतिमा, सघ और जिनशासनमे भक्ति, वैराग्य, गुणोमे अनुराग, विनययुक्त प्रवृत्ति, सयम, अप्रमादीपना, परिणामोमे कोमलता, क्षमा, आर्जव, सन्तोष, आहारादि सज्ञा मिथ्यात्व आदि शल्य और ऋद्धि आदिके मदको जीतना, उपसर्ग और परीषहको जीतना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसयम, दस प्रकारका धर्मध्यान, जिनपूजा, जिनपूजाका उपदेश, नि शकित आदि आठ गुण, प्रशस्तराग, तपोभावना, पाँच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि शुद्ध प्रयोग हैं ।

अब गृहस्थोका शुद्ध प्रयोग कहते हैं—ग्रहण किये हुए व्रतोंके धारण और पालनकी इच्छा, एक क्षणके लिये भी व्रतभगको इष्ट न मानना, निरन्तर यतियोको दान देना, श्रद्धा आदि विधिपूर्वक अन्न आदि देना, भोगोको भोगकर भी थकान दूर करनेके लिये अपनी भोगासक्तिकी निन्दा करना, सदा घर छोडनेकी भावना करना, धर्मका श्रवण करनेको मिले तो मनका अतितुष्ट होना, भक्तिपूर्वक पचपरमेष्ठीका स्तवन और प्रणाम करना, उनकी पूजा करना, दूसरोको धर्ममे स्थिर करना, धर्मका बढाना साधर्मीवात्सल्य, जिनेन्द्रदेवके भक्तोका उपकार करना, जिन शास्त्रोका अभ्यास करना, जिनशासनकी प्रभावना करना आदि श्रावकोका शुद्ध प्रयोग है । अनुकम्पा और शुद्ध प्रयोगमे विपरीत परिणाम अशुभ कर्मके आस्रवके द्वार हैं ॥१८२८॥

---

१ त्तानिवि –अ० मु० ।

संवरानुप्रेक्षा वक्ष्यते । संव्रियन्ते निरुध्यन्तेऽभिनवाः कर्मपर्याया पुद्गलानां येन जीवपरिणामेन । मिथ्यात्वादिपरिणामो वा निरुध्यते स संवरः । तत्राय सूरिर्मिथ्यात्वादिपरिणामसंवरान् सम्यक्त्वादीनां संवरतामाचष्टे—

मिच्छत्तासवदारं रुंभइ सम्मत्तदिढकवाडेण ।
हिंसादिदुवाराणि वि दढवदफलहेहिं रुंभंति ॥१८२९॥

'मिच्छत्तासवदारं' तत्त्वाश्रद्धानमास्रवद्वारं । 'रुंभंति' रुध्यते, 'सम्मत्तदिढकवाडेण' तत्त्वश्रद्धान कवाटेन । 'हिंसादिदुवाराणि वि' हिंसादिद्वाराण्यपि, 'दढवदफलहेहिं रुंभंति' दृढव्रतपरिघैं स्थगयन्ति ॥१८२९॥

उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरेहिं ।
सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चोराणं ॥१८३०॥

'उवसमदयादमाउहकरेण' उपशम कषायवेदनीयस्य कर्मणस्तिरोभवनं, दया सर्वप्राणिविषया, दमः कषायदोषभावनया चित्तनिग्रहः । एते त्रय आयुधा करे यस्य तेन । 'कसायचोरेहिं' कषायचोरेभ्यः । 'रक्खा सक्का कादुं' रक्षा शक्या कर्तुं, 'आयुधकरेण रक्खाव चोरेहिं' आयुधहस्तेन चोरेभ्यो रक्षेव, कषायदोषपरिज्ञानेनामद्गन् प्रवृत्तेन क्रोधादिनिमित्तवस्तुपरिहारेण तत्प्रतिपक्षक्षमादिपरिणामेन च कषायनिवारणं । उक्तं च—

जयेत्सदा क्रोधमुपाश्रितः क्षमां जयेच्च मानं समुपेत्य मार्दवं ।
तथैव मायामपि चार्जवाज्जयेत्, जयेच्च संतोषवशेन लुब्धतां ॥
जिता कषाया यदि किन्न तैर्जितं कषायमूलं सकलं हि बन्धनमिति ॥१८३०॥

मिथ्यात्वसंवरं कषायसंवरं च निरूप्य इन्द्रियसंवरं व्याचष्टे—

इंदियदुद्दंतस्सा णिग्घिप्पंति दमणाणखलिणेहिं ।
उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहिं जह तुरया ॥१८३१॥

अब संवर अनुप्रेक्षा कहते हैं। जिस जीव परिणामसे पुद्गलोंके नवीन कर्म पर्यायें अथवा मिथ्यात्वादि परिणाम रुकते हैं उसे संवर कहते हैं। उनमेंसे ग्रन्थकार मिथ्यात्व आदि परिणामोंका संवर करनेसे सम्यक्त्व आदिको संवर कहते हैं—

गा०—मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्वके अश्रद्धानरूप आस्रवका द्वार सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वके श्रद्धान रूप दृढ कपाटोंके द्वारा रोका जाता है और हिंसा आदि आस्रव द्वारोंको दृढ व्रतरूपी अर्गलाओंसे रोका जाता है ॥१८२९॥

गा०-टी०—कषायवेदनीय कर्मके तिरोभाव अर्थात् उदय अवस्थाको प्राप्त न होनेको उपशम कहते हैं। सब प्राणियोंपर दयाभाव होना दया है। कषायोंके दोषोंका विचार करके चित्तका निग्रह करना दम है। ये तीन अस्त्र जिसके पास हैं वह कषायरूप चोरोंसे अपनी रक्षा कर सकता है। जैसे जिसके हाथमें अस्त्र होता है वह चोरोंसे अपनी रक्षा कर सकता है उसी प्रकार कषायके दोषोंको जाननेसे, क्रोध आदिमें निमित्त वस्तुसे बचनेसे और कषायोंके विरोधी क्षमा आदि परिणामोंसे कषायको दूर किया जा सकता है। कहा भी है—सदा क्षमाकी उपासना करके क्रोधको जीतना चाहिये। मार्दवको धारण करके मानको जीतना चाहिये। तथा आर्जवभावसे मायाको जीतना चाहिये और सन्तोषसे लोभको जीतना चाहिये। जिसने कषायोंको जीत लिया उन्होंने क्या नहीं जीता। अर्थात् सबको जीत लिया। क्योंकि सब बन्धनका मूल कषाय है॥१८३०॥

'इंदियदुद्दतस्सा' इन्द्रियदुर्दान्ताश्वा । 'णिग्घिप्पंति' निगृह्यन्ते निरुध्यन्ते । केन ? 'दमणाणखलिणेहिं' दमप्रधानानि दमज्ञानानि, तान्येव खलिनानि तैः । शब्दादिषु वर्तमानानि इन्द्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानी-हेन्द्रियशब्देनोच्यन्ते । तेषा चास्रवाणां निरोधस्तत्त्वज्ञानभावनया भवति । द्वयो रूपयोर्युगपदेकस्मिन्नात्मन्य-प्रवृत्ते । 'उप्पयगामी' उन्मार्गगामिन । 'जह तुरगा णिग्घिप्पंति' यथाश्वा निगृह्यन्ते । 'खलिणेहिं' खरैः खलिनैः ॥१८३१॥

अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति ।
विज्जामंतोसधहीणेण व आसीविसा सप्पा ॥१८३२॥

'अणिहुदमणसा' ज्ञानेन अनिभृतचेतसा । 'इंदियसप्पाइं' इन्द्रियसर्पा । 'णिगिण्हेदुं' निग्रहीतुं । 'ण तीरंति' न शक्यन्ते । 'विज्जामंतोसहोहीणेण व' विद्यया मन्त्रेण औषधेन वा हीनेन, 'आसीविसा सप्पा' आशीविषा सर्पा यथा न गृह्यन्ते ॥१८३२॥

प्रमादसंवरं कथयत्युत्तरगाथा—

पावपयोगासवदारणिरोधो अप्पमादफलिगेण ।
कीरइ फलिगेण जहा णावाए जलासवणिरोधो ॥१८३३॥

'पावपयोगासवदारणिरोधो' अशुभपरिणामास्रवद्वारनिरोध । विकथादय पञ्चदशप्रमादपरिणामा 'पावपयोगा' इत्युच्यन्ते । तेषा निरोध 'अप्पमादफलगेण' अप्रमादफलकेन । केन फलकेन क' प्रमाद उच्यते सत्यासत्यमृषाभाषा विकथा निराकृता, स्वाध्यायो ध्यान एकाग्रतेति चेति एते प्रमादविकथाप्रतिपक्षभूता ।

मिथ्यात्व और कषायके संवरका कथन करके इन्द्रिय संवर कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे कुमार्गमें जानेवाले दुष्ट घोड़ोको कठोर लगामके द्वारा वशमें किया जाता है। वैसे ही दमप्रधान ज्ञानके द्वारा इन्द्रियरूपी दुर्दान्त घोड़ोको वशमें किया जाता है। यहाँ इन्द्रिय शब्दसे शब्द आदि विषयोंमें प्रवर्तमान इन्द्रिय ज्ञानको कहा है जिसका मूल राग और द्वेष है। उनसे होनेवाले आस्रवोका निरोध तत्त्वज्ञानकी भावनासे होता है क्योंकि एक आत्मामें एक साथ दो रूप—तत्त्वज्ञान भी और इन्द्रिय विषयोंमें प्रवृत्ति भी नहीं हो सकते ॥१८३१॥

गा०—जैसे जिसके पास विद्या, मंत्र और औषध नहीं है वह सर्पोंको वशमें नहीं कर सकता। उसी प्रकार जिसका मन चंचल है वह इन्द्रियरूपी सर्पोंको वशमें नहीं कर सकता॥१८३२॥

आगे प्रमादके संवरको कहते हैं—

गा०—जैसे लकड़ीके पाटिये से नावमें जलका आना रोका जाता है। वैसे ही अप्रमादरूपी पाटियेसे अशुभ परिणामोरूपी आस्रव द्वारको रोका जाता है॥१८३३॥

टी०—किस पाटियेसे किस प्रमादको रोका जाता है यह कहते हैं—सत्य और अनुभयरूप वचन विकथा नामक प्रमादको रोकते हैं। स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा नामक प्रमादके प्रतिपक्षी हैं। इनमें लगे रहनेसे खोटी कथाका अवसर ही नहीं मिलता। क्षमा, मार्दव, आर्जव

---

१ दो रूप्यन इत्याह —आ० मु०।

क्षमामार्दवार्जवसंतोषा, कषायप्रमादस्य प्रत्यनीकभूता। ज्ञानभावना, रागद्वेषेन्द्रियविषयविविक्तदेशावस्थानं ज्ञानेन मनःप्रणिधानं, इन्द्रियविषयरागद्वेषजदोषाणामनुस्मरणं, विषयोपलब्धावनादरश्चेति एते इन्द्रियप्रमादप्रतिपक्षाः। तथा चोक्तं—

वराङ्गनाङ्गानि च रागचोदितो यदृच्छया वा न निरीक्ष्य रज्यति।
तथैव रूपाण्यशुभानि वीक्षितुं, न नेच्छति द्वेषवशप्रचोदितः ॥१॥
निरीक्ष्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता पुरुषः स्वचक्षुषः।
सुगीतवादित्रभवान्मनोहरान् स्वरान्मनोज्ञान्युवतीरितानपि ॥२॥
न वाञ्छति श्रोतुमिहादरेण यो यदृच्छया वा न निशम्य रज्यति।
स्वराननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥३॥
निशम्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता श्रवणेन्द्रियस्य च।
तुरुष्ककालागुरुकुष्ठकुङ्कुमान् तमालपत्रोत्पलचम्पकादिकान् ॥४॥
शुभं न जिघ्रासति गन्धमादरात् यदृच्छयाघ्राय न चापि रज्यति।
तथैव गन्धानशुभानपीह यो न नेच्छति घ्रातुमसूनतद्विषान् ॥५॥
निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स नासेन्द्रियजिन्नरोत्तमः।
न यो महामृष्टविशिष्टभोजनप्रियापलेह्यापि[१] मनोहरान् रसान् ॥६॥
निषेवितुं रागवशेन काङ्क्षति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति।
रसाननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥७॥
निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता रसनेन्द्रियस्य च।

कषायनामक प्रमादके विरोधी हैं। ज्ञानकी भावना, रागद्वेषके कारण इन्द्रिय विषयोंसे रहित देशमें रहना, ज्ञानके द्वारा मनको एकाग्र करना, इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेषमें उत्पन्न हुए दोषोंका स्मरण करना, और विषयोंकी उपलब्धिमें आदरभाव न होना, ये इन्द्रिय नामक प्रमादके विरोधी हैं। कहा भी है—

रागसे प्रेरित होकर अथवा स्वेच्छासे सुन्दर स्त्रीके अंगोंको देखकर राग नहीं करता। तथा द्वेषसे प्रेरित होकर अशुभ रूपोंको देखनेकी इच्छा नहीं करता। जो यदृच्छासे देखकर भी द्वेष नहीं करता वह पुरुष अपनी आँखोंका विजेता है। अच्छे गीत, और वादित्रोंके मनोहर स्वरोंको तथा युवती स्त्रियोंके द्वारा कहे गये शब्दोंको भी जो आदरपूर्वक सुनना नहीं चाहता और अचानक सुनकर भी उनमें अनुराग नहीं करता। तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर स्वरोंको भी सुननेकी इच्छा नहीं करता। अचानक अमनोज्ञ स्वर सुनाई पड जाये तो उससे द्वेष नहीं करता, वह श्रवणेन्द्रियका जेता है। लोबान, काला अगर, कुष्ठ, कुंकुम, तमालपत्र, कमल, चम्पक आदिकी सुगन्धको आदरभावसे जो नहीं सूँघता, और अचानक सूँघनेमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता। उसी प्रकार जो अशुभ गन्धको भी सूँघनेसे द्वेष नहीं करता। और अचानक दुर्गन्ध सूँघ ले तो उससे द्वेष नहीं करता वह श्रेष्ठ पुरुष नासा इन्द्रियको जीतनेवाला है। जो अत्यन्त मीठे विशिष्ट भोजनको और मनोहर रसोंको रागवश सेवन करना नहीं चाहता, अचानक सेवनमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता। तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर रसोंको भी सेवन

१ प्रिय प्रलेह्यादिमनो मनोहरान् —आ०।

मनोज्ञशय्यासनकान्तयोषिता, शुभांश्च य स्पर्शविषोन् मनोहरान् ॥८॥
न सेवितुं रागवशेन वाञ्छति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति ।
प्रमर्दनाच्छादनमार्जनानि वा विलेपनाभ्यञ्जनमज्जनानि च ॥९॥
शरीरसौख्याय न यश्च सेवते विवृद्धवैराग्ययुतो महायतिः ।
हिमोष्णभूशैलशिलातृणादिजानशोभनान् स्पर्शविषोंश्च सर्वदा ॥१०॥
न नेच्छति द्वेष्टि न वाप्युपागतान् त्वगिन्द्रियस्यैव भजेद्विनिष्णुता ।
रणे रिपूणामिव निर्भयो जयेत यथेन्द्रियाणां जयमास्थितो यतिरिति ॥११॥

निद्रायाः प्रतिपक्षभूतोऽप्रमादः, अनशनमवमोदर्यं, रसपरित्यागः, ससाराद्भीतिर्निद्रादोषचिन्ता रत्नत्रयेऽनुरागः स्वदुश्चरितानां स्मरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावनोच्यते–बन्धुताया अनवस्थितत्वभावना, तदर्थानेकारम्भपरिग्रहप्रवृत्तिचिन्ता, धर्मविघ्नता, दोषापेक्षणमित्यादिकः । एवंभूतेनाप्रमादफलकेन प्रवर्तता निरुध्यते । 'कीरदि फलगेण जहा' क्रियते फलकेन यथा । 'णावाए जलासवणिरोधो' नावः जलास्रवनिरोधः ॥१८३३॥

गुत्तिपरिखाइ हि गुत्तं संजमणयरं ण कम्मरिउसेणा ।
बधेइ[3] सत्तुसेणा पुरं व परिखादिहिं सुगुत्तं ॥१८३४॥

'गुत्तिपरिखाहिगुत्तं' गुप्तिपरिखाभिर्गुप्तं, संयमनगरं कर्मरिपुसेना न भक्तुं शक्नोति । परिखादिभिर्गुप्तं शत्रुसेनेवेति । गुप्तं मवरताख्याता ॥१८३४॥

न करनेकी इच्छा नहीं करता। और अचानक सेवनमें आ जाय तो द्वेष नहीं करता, वह रसना इन्द्रियका जेता होता है। जो मनोज्ञ शय्या, मनोज्ञ आसन, सुन्दर स्त्री, तथा मनोहर शुभ स्पर्शवाली वस्तुओंको रागके वशीभूत हो सेवन करनेकी इच्छा नहीं करता। अचानक सेवनमें आनेपर उनसे राग नहीं करता। तथा जो बढ़े हुए वैराग्यसे शोभित महायती शारीरिक सुखके लिये शरीरका दबाना, आच्छादन, मार्जन, लेपन, तेल, स्नान आदिका सेवन नहीं करता। तथा सर्वदा अतिशीतल या अतिउष्ण पृथ्वी, पहाड़, पत्थर, तृण आदि जन्य अप्रिय स्पर्शोको सेवन न करनेकी इच्छा नहीं करता और ऐसे अप्रिय स्पर्श प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करता वह स्पर्शन इन्द्रियका जीतनेवाला होता है। जैसे युद्धमें निर्भय व्यक्ति शत्रुओंको जीतता है। उसी प्रकार वह यति इन्द्रियोंको जीतता है। निद्राका विरोधी है अप्रमाद, अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, संसारसे भय, निद्राके दोषोंका चिन्तन, रत्नत्रयमें अनुराग, अपने बुरे आचरणोंका स्मरण करके शोक करना आदि। स्नेह नामक प्रमादकी विरोधी भावना कहते हैं—बन्धुता अस्थिर है ऐसा विचारना जिनके प्रति स्नेह होता है उनके लिये अनेक आरम्भ परिग्रह आदिकी चिन्ता करना होती है। धर्म साधनमें विघ्न होता है। इत्यादि दोषोंका चिन्तन स्नेहका प्रतिपक्षी है। इस प्रकारके अप्रमादरूप पाटियेसे प्रमादजन्य आश्रवका संवर होता है ॥१८३३॥

गा०—जैसे शत्रुकी सेना परिखा आदिसे सुरक्षित नगरको नष्ट नहीं कर सकती। वैसे ही कर्मरूपी शत्रुकी सेना गुप्तिरूपी परिखा आदिसे युक्त संयमरूपी नगरको नष्ट नहीं कर सकती ॥१८३४॥

---

१. योषित शुभांश्च –आ० । २. मार्जनानि अ० मु० । ३. घसदि—मूलारा० ।

गुप्तीना सवरतामाख्याति—

समिदिदिढणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधि तरदि ।
छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहि अच्छित्तो ॥१८३५॥

'समदिदिढनावमारहिय' समितिसज्ञिता दृढनावमारुह्य । 'अप्पमत्तो' अप्रमत्तो भवोदधि तरति पड्जीवनिकायवधादिपापमकरैरस्पृष्ट । एतेन समिते सवरतास्याता ॥१८३५॥

दारेव दारवालो हिदये सुप्पणिहिदा सदी जस्स ।
दोसा घसति ण त पुर सुगुत्त जहा सत्तू ॥१८३६॥

'दारेव दारवालो' द्वारे द्वारपाल इव । हृदये सम्यक्प्रणिहिता वस्तुतत्त्वाना स्मृतिर्यस्य त दोषा नाऽभिभवन्ति पुर सुगुप्त शत्रव इव ॥१८३६॥

जो हु सदिविप्पहूणो मो दोसरिऊण गेज्झओ होइ ।
अधलगो व चरतो [1]अरीणमविदिज्जओ चेव ॥१८३७॥

'जो खु सदिविप्पहूणो' य स्मृतिहीन । 'सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ' असौ दोपरिपुभिर्ग्राह्यो भवति । अरीणा मध्ये असहायोऽन्ध शत्रुग्राह्यो यथा ॥१८३७॥

अमु[2]यतो सम्मत्त परीसहचमुक्करे उदीरतो ।
णेव मदी मोत्तव्वा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥१८३८॥

'अमुयतेण' अमुञ्चता । 'सम्मत्त' रत्नत्रय । 'परीसहसमोगरे' परीपहप्रकरे अभिभवत्यपि नैव स्मृतिर्मोक्तव्या । अत्राराधना कथिता । सवर । ॥१८३८॥

इससे गुप्तिको सवरका कारण कहा है—

गा०—प्रमादरहित साधु समितिरूपी दृढ नावपर आरूढ होकर छह कायके जीवोंके घातसे होनेवाले पापरूपी मगरमच्छोंसे अछूता रहकर ससार समुद्रको पार करता है ॥१८३५॥

इससे समितिको सवरका कारण कहा है—

गा०—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु ध्वस नही कर सकते, उसी प्रकार द्वारपर खडे द्वारपालकी तरह जिसके हृदयमे वस्तु तत्त्वोंकी स्मृति बनी रहती है, दोष उसका अनिष्ट नही कर सकते ॥१८३६॥

गा०—जैसे शत्रुओंके मध्यमे असहाय अन्धा व्यक्ति शत्रुओंके द्वारा पकडा जाता है । वैसे ही जिसे वस्तु तत्त्वोंका सतत स्मरण नही रहता, वह दोपरूपी शत्रुओंसे पकडा जाता है ॥१८३७॥

गा०—परीपहोंके समूहसे पीडित होते हुए भी साधुको रत्नत्रयको न छोडते हुए तत्त्वोंका स्मरण नही छोडना चाहिये । सदा तत्त्वका स्मरण करते रहना चाहिये । इसीको यहाँ आराधना कहा है ॥१८३८॥

सवर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

---

१ अदवीमवि –अ० आ० । २ अमुयतेण आ० ।

निर्जरानुप्रेक्षोच्यते—

इय सव्वत्थवि संवरसंवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी ।
कुव्वंति तवं विविहं सुत्तुत्तं णिज्जराहेदुं ॥१८३९॥

'इय' एवं । 'सव्वत्थवि' उक्ते संवरप्रकारे । 'संवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी' संवृतकर्मास्रवो भूत्वा मुनिः करोति विविधं तपः सूत्रोक्तं निर्जराहेतुं ॥१८३९॥

तवसा विणा ण मोक्खो संवरमित्तेण होइ कम्मस्स ।
उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु खीयदि सुगुत्तं ॥१८४०॥

'तवसा विणा' तपसोऽन्तरेण न कर्ममोक्षो भवति संवरमात्रेण । सुरक्षितमपि धनं नैव हीयते उपभोगमन्तरेण तथा । तस्मात् तपोनुष्ठातव्यं निर्जरायै । का सा निर्जरा नाम ? पूर्वकृतकर्मशातनं तु निर्जरा ॥१८४०॥

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥१८४१॥

'पुव्वगदकम्मसडणं' पूर्वकृतकर्मपुद्गलस्कंधावृतानामवयवानां जीवप्रदेशेभ्योऽपगमनं निर्जरा । तथा चोक्तं 'एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरेति' । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामशनपानादिद्रव्याणां एकदेशापगमनं वमनादिवत् । भावनिर्जरा नाम कर्मत्वपर्यायविगमः पुद्गलानां । सा पुनर्द्विविधा, आद्या विपाकजाता दत्तफलानां कर्मणां गलनं विपाकजा निर्जरा । द्वितीयाऽविपाकजाता ॥१८४१॥

अब निर्जरा अनुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०—इस प्रकार संवरके उक्त भेदोंके द्वारा मुनि कर्मों का आस्रव रोककर आगममें कहे अनेक प्रकारके तपोंको करता है जो निर्जराके कारण हैं ॥१८३९॥

गा०—जैसे सुरक्षित भी धन उपभोग किये बिना नहीं घटता, उसी प्रकार तपके बिना कर्मों के संवरमात्रसे कर्मों का क्षय नहीं होता । अतः निर्जराके लिये तप करना चाहिये । पूर्वमें बद्ध कर्मों के क्रमसे क्षयको निर्जरा कहते हैं ॥१८४०॥

गा०-टी०—पूर्वमें बांधे हुए पौद्गलिक कर्मस्कन्धोंके अवयवोंका जीवके प्रदेशोंसे अलग होना निर्जरा है । कहा भी है—'कर्मों के एकदेशका क्षय निर्जराका लक्षण है । निर्जराके दो भेद हैं—द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा । खाये हुए भोजन पान आदि द्रव्योंके एकदेशका वमन आदिके द्वारा बाहर निकलना द्रव्यनिर्जरा है । और पुद्गलोंका कर्मरूप पर्यायको त्यागना भावनिर्जरा है । भावनिर्जराके भी दो भेद हैं—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । जो कर्म अपना फल दे चुके हैं उनकी निर्जरा सविपाक निर्जरा है और जिन कर्मों का विपाक काल नहीं आया है उन्हे तप आदिके द्वारा बलात् उदयमें लाकर खिरना अविपाक निर्जरा है ॥१८४१॥

विशेषार्थ—द्रव्यसंग्रह आदिमें भी निर्जराके उक्त भेदोंका कथन है किन्तु उनमें फल दे चुकने वाले कर्म पुद्गलोंका जीवसे पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा है और जीवके जिस भावसे यह द्रव्यनिर्जरा होती है उस भावको भावनिर्जरा कहा है ॥१८४१॥

अत्र दृष्टान्तमाचष्टे द्विविधां निर्जरामवगमयितु—

कालेण उवायेण य पच्चति जहा वणप्फदिफलाइ ।
तह कालेण तवेण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ॥१८४२॥

'कालेण उवाएण य' यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीना फलानि पच्यन्ते तथा कालेन तपसा पच्यन्ते कृतानि कर्माणि ॥१८४२॥

तयोर्निर्जरयो का कस्य भवतीत्याशङ्कायामाचष्टे—

सव्वेसिं उदयमागदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ ।
कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्स वि णिज्जरा होइ ॥१८४३॥

'सव्वेसिमुदयसमयागदस्स' सर्वेषां समयपूर्वके तपसि वृत्ताना अवृत्ताना च अथवा मिथ्यादृष्टयादीना सम्यग्दृष्ट्यादीना वा उदयावलिकाप्रविष्टस्य दत्तस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति । एतेन विपाकनिर्जरा स्वल्पेत्याख्यात भवति । कथ न सर्वाणि कर्माणि गलन्तीति चेदुच्यते—सर्वाणि कर्माणि भिन्नस्थितिकानि सहकारिकारणाना द्रव्यक्षेत्रादीना [1]युगपदसान्निध्यादुदय सर्वस्य नोपव्रजन्ति, ततो यदुदयप्राप्त तदेवागच्छति नेतरदिति । 'तवेण पुणो' तपसा पुन । 'कम्मस्स सव्वस्स वि' कर्मण सर्वस्यापि निर्जरा भवति ॥१८४३॥

ण हु कम्मस्स अवेदिदफलस्स कस्सइ हवेज्ज परिमोक्खो ।
होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा डज्झमाणस्स ॥१८४४॥

दोनो प्रकारकी निर्जराको समझानेके लिये दृष्टान्त कहते हैं—

गा०—जैसे वनस्पतियोंके फल अपने समयपर भी पकते हैं और उपाय करनेसे समयसे पहले भी पक जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म भी अपनी स्थिति पूरी होनेपर अपना फल देते हैं और तपके द्वारा स्थिति पूरी होनेसे पूर्व ही फल देकर चले जाते हैं ॥१८४२॥

उक्त दोनो निर्जराओमेसे किसके कौन निर्जरा होती है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—सभी जीवोंके जो तप करते हैं या तप नही करते, अथवा सम्यग्दृष्टी हो या मिथ्यादृष्टी हो उन सब जीवोंके उदयावलीमे प्रवेश करके अपना फल देनेवाले कर्मो की निर्जरा होती है अर्थात् सविपाक निर्जरा तो सभी जीवोंके सदा हुआ करती हैं क्योंकि सभी जीव सदा कर्म करते हैं और सदा उनका फल भोगते हैं। इससे सविपाक निर्जरा थोडे ही कर्मकी होती है यह सूचित होता है।

शका—सब कर्मो की निर्जरा क्यो नही होती ?

समाधान—सब कर्मोकी स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। तथा सबके सहकारी कारण द्रव्य क्षेत्र आदि एक साथ नही मिलते अत सब कर्म एक साथ उदयमे नही आते। अत जिस कर्मका उदय होता है उसीकी निर्जरा होती है। शेषकी निर्जरा नही होती। किन्तु तप करनेसे सब कर्मो की निर्जरा होती है ॥१८४३॥

---

१ यमसयाग —आ०। २ दुदयमुपव्रजति —अ०।

'कम्मस्स ण हु हवेज्ज परिमोक्खो' अननुभूतफलस्य कर्मणो नैव कस्यचिन् मोक्षो भवति इति। तत फल प्रदायापयाति। एतेन विपाकनिर्जरोक्ता **'होज्ज व तस्स कम्मस्स विणासो'** भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाश। **'तवग्गिणा डज्झमाणस्स'** तपोऽग्निना दह्यमानस्य। एतेन कृत कर्म तत्फलमदत्वा न निवर्तत इत्येतन्निरस्त ॥१८४४॥

डहिऊण जहा अग्गी विद्धंसदि सुबहुगपि तणरासी।
विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतण सुबहुगपि ॥१८४५॥

'डहिऊण जहा अग्गी' यथाग्निर्दग्ध्वा नाशयति महातमपि तृणराशि तथा तपोग्नि सुमहदपि कर्मतृण विनाशयति ॥१८४५॥

तपस कर्मविनाशनक्रममुपदर्शयत्युत्तरगाथा—

कम्म पि परिणमिज्जइ सिणेहपरिसोमएण सुतवेण।
तो त सिणेहमुक्क कम्म परिसडदि धूलिव्व ॥१८४६॥

'कम्म पि परिणमिज्जदि' कर्माण्यपि अभाव नीयन्ते, केण ? **'सुतवेण'** ज्ञानदर्शनचरणसहभाविना तपसा। **'सिणेहपरिसोसगेण'** कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशोषणकारिणा। **'तो'** पश्चात्। स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकाल। **'कम्म परिसडदि'** कर्म परितोऽपयाति, **'सिणेहमुक्क'** स्नेहमुक्त धूलीव। दृश्यते हि स्नेहाद्बन्धमुपागताना तनक्षते परस्परतो वियोग यथा जलेनैव पिण्डतागताना सिक्ताना शुष्के जले वियोगमापद्यमानता ॥१८४६॥

गा०-टी०—जिस कर्मका फल नही भोगा गया है उसका विनाश नही होता। अत कर्म फल देकर जाता है। इससे सविपाक निर्जराका स्वरूप कहा। सविपाक निर्जरा उन्ही कर्मोकी होती है जो अपना फल दे चुकते हैं। किन्तु तपकी अग्निमे जलकर ऐसे कर्मो का भी विनाश होता है जिन्होने फल नही दिया है। इसमे जो मत ऐसा मानते हैं कि किया हुआ कर्म बिना फल दिये नही जाता, उनका खण्डन होता है ॥१८४४॥

गा०—जैसे आग महान् भी तृणराशिको जलाकर खाक कर देती है। उसी प्रकार तपरूपी आग महान् भी कर्मरूपी तृणोके ढेरको जलाकर नष्ट कर देती है ॥१८४५॥

आगे तपसे कर्मो के विनाशका क्रम दिखलाते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान, दर्शन और चारित्रके साथ होनेवाला तप कर्म-पुद्गलोमे रहनेवाले स्नेह परिणामको सोख लेता है। अत उससे कर्मो का अभाव होता है। क्योकि कर्मो मे रहनेवाले स्नेहपरिणामका विनाश होनेके पश्चात् स्नेहरहित धूलकी तरह कर्म नष्ट हो जाते हैं। देखा जाता है जो वस्तुएँ चिक्कणता गुणके कारण परस्परमे बँधी होती हैं, उनकी चिक्कणता नष्ट होनेपर वे परस्परमे अलग हो जाती हैं जैसे जलके सयोगसे धूल बँध जाती है और जलके सूखने पर अलग-अलग हो जाती है। इसी प्रकार कषाय आदि रूप स्नेहके कारण जो कर्मपुद्गल जीवके साथ एकरूप होते हैं, तपके द्वारा कषायके चले जानेपर वे जीवसे पृथक् हो जाते हैं ॥१८४६॥

---

१ कर्माणि सुतवेण शोभनेन तपसाऽन्यथाभाव नीयन्ते। केण ? ज्ञान आ०।

धादुगद जह कणय सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा ।
सुज्झइ तवग्गि धत्तो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥१८४७॥

'धादुगद' यथा सुवर्णपापाणगत कनक महताग्निना दह्यमान शुध्यति, मलात् पृथग्भवति तथा जीव कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना दह्यमान शुध्यति ॥१८४७॥

यद्येव तप एवानुष्ठातव्य किं सवरेणेति शङ्का निराकरोति—

तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।
ण हु सोत्ते पविसते किसिणं परिसुस्सदि तलाय ॥१८४८॥

'तवसा चेव ण मोक्खो' तपसैव न सर्वकर्मापायो भवति, सवरहीनस्य जिनवचने । स्रोतसि प्रविशति न जलादिक कृत्स्न परिशुष्यति ॥१८४८॥

एवं पिणद्धसवरवम्मो सम्मत्तवाहणारूढो ।
सुदणाणमहाधणुगो झाणादितवोमयसरेहिं ॥१८४९॥

'एव पिणद्धसवरवम्मो' एव पिनद्धसवरकवच , सम्यक्त्ववाहनारूढ, श्रुतज्ञानचापधर , ध्यानादितपोमयशरै ॥१८४९॥

सजमरणभूमीए कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ।
पावदि सजमजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिरिं ॥१८५०॥

'सजमरणभूमीए' सयमयुद्धाङ्गणे कर्मारिचमू सर्वामभिभूय प्राप्नोति सयतयोध अनुपमा मोक्षराज्यश्रिय । निर्जरा ॥१८५०॥

गा०—जैसे सुवर्ण पापाणको महान् अग्निमें फूंकने पर उसमेंसे सोना अलग हो जाता है। उसी प्रकार तपरूपी आगसे तपानेपर कर्मरूपी धातुमें घिरा हुआ जीव शुद्ध हो जाता है ॥१८४७॥

इस परसे कोई शका करता है कि यदि तपसे जीव शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए, सवरकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जिनागममें सवरके बिना केवल तपसे ही सब कर्मोका विनाश नही कहा है। क्योंकि यदि तालाबमें जल आता रहता है तो तालाबको पूर्णरूपसे सुखाया नही जा सकता ॥१८४८॥

गा०—अत जिसने सवररूप कवच धारण किया है, जो सम्यक्त्वरूपी रथपर सवार है, और श्रुतज्ञानरूपी धनुष लिये हुए है वह सयमरूपी योद्धा सयमरूपी रणभूमिमें ध्यान आदि तपोमय बाणोंके द्वारा समस्त कर्मरूपी शत्रुओकी सेनाको पराजित करके मोक्षरूपी अनुपम राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥१८५०॥

निर्जरानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

---

१. धम्मो तह –अ० आ० ।

धर्मगुणानुप्रेक्षणायोच्यते—

जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी ।
भावेणुववज्जदि सो धम्मं तं तारिसमुदारं ॥१८५१॥

'जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी' यो जीवः मोक्षावसानकल्याणपरम्परया भाजनभूतः । स धर्मं भावेन प्रतिपद्यते, तं तादृशमुदारं सकलसुखसम्पादनक्षमं महान्तं धर्मं ॥१८५१॥

धम्मेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य ।
सुहसज्झो य णराणं धम्मो मणणिव्वुदिकरो य ॥१८५२॥

'धम्मेण होदि पुज्जो' धर्मेण पूज्यो भवति । विश्वसनीयः प्रियो यशस्वी च भवति, सुखेन च साध्यो नराणां धर्मः । उक्तं च—दृष्टे श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलागमो भवतीति, मनसा निर्वृतिं च करोति ॥१८५२॥

जावदियाइं कल्लाणाइं[1] माणुस्स-देवलोगे य ।
आवहदि ताणि सव्वाणि मोक्खं मोक्खं च वरधम्मो ॥१८५३॥

'जावदियाइं कल्लाणाइं' यावन्ति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सर्वाण्यावहति धर्मो मोक्षसुखं च ॥१८५३॥

ते धण्णा जिणधम्मं जिणदिट्ठं सव्वदुक्खणासयरं ।
पडिवण्णा दिढधिदिया विसुद्धमणसा णिरावेक्खा ॥१८५४॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्तः । जिनदृष्टं धर्मं सर्वदुःखनाशकरं प्रतिपन्नाः शुद्धेन मनसा दृढधृतिकाः, निर्व्याकुलाः ॥१८५४॥

अब धर्मानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—जो जीव सुदेवत्व सुमानुषत्व आदि कल्याण परम्पराके साथ अन्तमें मोक्षको प्राप्त करता है वही समस्त सुख सम्पादनमें समर्थ महान् धर्मको भावपूर्वक धारण करता है। अर्थात् भावपूर्वक धर्मका पालन करनेमें सांसारिक सुखके साथ मोक्षसुख प्राप्त होता है ॥१८५१॥

गा०—धर्मसे मनुष्य पूज्य होता है, सबका विश्वासपात्र होता है, सबका प्रिय और यशस्वी होता है। मनुष्य धर्मको सुखपूर्वक पालन कर सकते हैं। कहा भी है—धर्मको श्रद्धा करनेपर, धर्मको सुननेपर, धर्मको जानने और धर्मका स्मरण करनेपर फलकी प्राप्ति होती है। तथा धर्मसे मनको शान्ति मिलती है ॥१८५२॥

गा०—मनुष्यलोक और देवलोकमें जितने कल्याण हैं उन सबको उत्तमधर्म लाता है और अन्तमें मोक्षसुखको भी लाता है ॥१८५३॥

गा०—जिन्होंने जिन भगवान्के द्वारा कहे गये और सब दुःखोंका नाश करनेवाले जिन धर्मको दृढ धैर्यके साथ निर्मल मनसे और बिना किसी प्रकारकी अपेक्षाके धारण किया वे पुण्यशाली हैं ॥१८५४॥

---

[1] इ मणुंय मणुअलोगे य—मु० ।

विसयाडवीए उम्मग्गविहरिदा सुचिरमिंदियस्सेहिं ।
जिणदिट्ठणिव्वुदिपह धण्णा ओदरिय गच्छंति ॥१८५५॥

'विसयाडवीए' विषयाटव्या उन्मार्गविहारिण सुचिरमिन्द्रियाश्वैर्वला नीता सन्त ये च जिनदृष्ट-निर्वृत्तिमार्गं गच्छन्ति ते धन्या इन्द्रियाश्वेभ्योऽवरुह्य ॥१८५५॥

रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि वीदरागम्मि ।
धम्मम्मि णिरासादम्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥१८५६॥

'रागेण य दोसेण य जगे रमतम्मि' रागद्वेषाभ्या सह जगति क्रीडति । वीतरागे धर्मे निरास्वादे रति-रतीव दुर्लभा भवति । उक्त च—

कुल च रूप च यशश्च कीर्तिर्धन च विद्या च सुखं च लक्ष्मी ।
आरोग्यमाज्ञेप्सितसप्रयोगो ह्यप्रियवियोगोऽपि च दीर्घमायु ॥
स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिष्टा भावा इमेऽन्ये च जगत्प्रशस्ता ।
धर्मेण शक्यत जगतीह लब्धु , हिताय त कर्तुमतोऽर्हसि त्व ॥ [॥१८५६॥]

सहल माणुमजम्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ।
ससारदुक्खकारयकम्मागमदारसरोघ ॥१८५७॥

'सहल माणुसजम्म' तस्य मनुष्यस्य जन्म सफल भवति यस्य चरणमनवद्य । कीदृश ? ससारदु ख-सपादनोद्यनकर्मागमद्वारनिरोधकारी । अनेन चारित्रमिह शब्दो धर्मत्वेनोच्यत इत्याख्यात भवति ॥१८५७॥

जह जह णिव्वेदसम वेरग्गदयादमा पवड्ढंति ।
तह तह अब्भासयर णिव्वाण होइ पुरिसस्स ॥१८५८॥

गा०—जो विषयरूपी वनमे इन्द्रियरूपी घोडोके द्वारा बलपूर्वक ले जाये जाकर चिरकालसे कुमार्गमे विहार करते हैं और एक दिन उन इन्द्रियरूपी घोडेसे उतरकर जिन भगवान्के द्वारा कहे मोक्षमार्गमे चलने लगते हैं वे धन्य हैं ॥१८५५॥

गा०-टी०—जो राग और द्वेषपूर्वक ससारके भोगोमे फँसे हैं, स्वादरहित वीतराग धर्ममे उनकी रुचि होना अतिदुर्लभ है । कहा भी है—जिनेन्द्रदेवने कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन, विद्या, सुख, लक्ष्मी, आरोग्य, इष्टसयोग, अनिष्ट वियोग, दीर्घ आयु, स्वर्ग, मोक्ष तथा अन्य भी जगत्मे प्रशस्त भाव कहे हैं । इस जगत्मे उन्हे धर्मके द्वारा प्राप्त करना शक्य है । अत तुम अपने हितके लिये धर्माचरण करो ॥१८५६॥

गा०—ससारके दु खोको करनेमे समर्थ कर्मोंके आनेके द्वारको रोकनेवाला चारित्र जिसका निर्दोष है उसका मनुष्य जन्म सफल है । यहाँ धर्म शब्दसे चारित्र कहा है, इससे यह प्रकट होता है ॥१८५७॥

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यमे वैराग्य, निर्वेद, उपशम, दया और चित्तका निग्रह बढता है वैसे-वैसे मोक्ष निकट आता है ॥१८५८॥

यथा यथा निर्वेद उपशमो वैराग्य दया चित्तनिग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतर भवति निर्वाण पुरुषस्य ॥१८५८॥

धर्म स्तौति—

सम्मद्दंसणतुंब दुवालसंगारयं जिणिंदाण ।
वयणेमिय जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधार ॥१८५९॥

'सम्मद्दंसणतुंब' सम्यग्दर्शनतुम्ब द्वादशाङ्गारक व्रतनेमिक तपोधार जिनेन्द्राणा धर्मचक्र जगति जयति ॥१८५९॥ धम्म ।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कथ्यते—

दंसणसुदतवचरणमइयम्मि धम्मम्मि दुल्लहा बोही ।
जीवस्स कम्मसत्तस्स संसरंतस्स संसारे ॥१८६०॥

'दंसणसुदतवचरणमइयम्मि' दर्शनश्रुततपश्चरणमये धर्मे दुर्लभा बोधिर्जीवस्य कर्मसक्तस्य संसारे संसरत ॥१८६०॥

तस्या दुर्लभता प्रकटयत्युत्तरप्रबन्धेन—

संसारम्मि अणंते जीवाण दुल्लहं मणुस्सत्तं ।
जुगसमिलासंजोगो जह लवणजले समुद्दम्मि ॥१८६१॥

'संसारम्मि अणंते' अनन्तसंसारे जीवाना मनुष्यत्व दुर्लभ पूर्वापरसमुद्रनिक्षिप्तयुगशम्यधिकाष्ठ-संयोग इव ॥१८६१॥

गा०—जिनेन्द्रका धर्मचक्र जगत्मे जयशील होता है। सम्यग्दर्शन उसकी नाभि है, द्वादशाग उसके अर हैं, व्रत नेमि है और तप धारा अर्थात् दूसरी नमि है ॥१८५८॥

विशेषार्थ—जैसे गाडीके चक्केमे अर होते हैं, बीचमे उसकी नाभि होती है। उसी प्रकार जिनेन्द्रके धर्मचक्रकी नाभि सम्यग्दर्शन है। द्वादशागवाणी या बारह तप उसके डण्डे हैं। और व्रत नेमि है। इनके आधारपर वह धर्मचक्र गतिशील होता है ॥१८५९॥

धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—संसारमे भटकते हुए कर्मलिप्त जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तपश्चरणमयी धर्ममे बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥१८६०॥

आगे उसकी दुर्लभता बतलाते हैं—

गा०—जैसे लवणसमुद्रके पूर्व भागमे जुआ और पश्चिम भागमे उसकी लकडी डाल देनेपर दोनोका संयोग दुर्लभ है। उसी प्रकार अनन्त संसारमे मनुष्य भवका पाना दुर्लभ है ॥१८६१॥

मनुजताया दुर्लभत्वे कारणमाह—

असुहपरिणामबहुलत्तण च लोगस्स अदिमहल्लत्त ।
जोणिबहुत्त च कुणदि सुदुल्लह माणुस जोणी ॥१८६२॥

'असुहपरिणामबहुलत्तण च' अशुभपरिणामाना मिथ्यात्वासयमकषायप्रमादाना परिणामाना बहुत्व मनुजयोनिदुर्लभता करोति । मनुजरहितलोकस्यातिमहत्त्व च तत् दुर्लभता करोति । असख्येया हि द्वीपसमुद्रा नारकावासा , स्वर्गपटलानि, इतरश्च लोकाकाशमतिमहत् । योनीना बहुत्व चेतरासा निबन्धन तद्दुर्लभताया ॥१८६२॥

अपरामपि दुर्लभतापरम्परा दर्शयत्युत्तरगाथा—

[1]देसकुलरूवमारोग्गमाउग बुद्धिसवणगहणाणि ।
लद्धे वि माणुसत्ते ण हुति सुलभाणि जीवस्स ॥१८६३॥

देसकुलरूवमारोग्ग' 'देशकुलरूपमारोग्य । आयुगमायुष्क । 'बुद्धिसवणगहणाणि' बुद्धिश्रवणग्रहणानि । लब्धेऽपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकर्मोदयात, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबहुलो देशो दुर्लभ । अन्तर्द्वीपाना शकयवनकिरातबर्बरपारसीकसिंहलादिदेशाना धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात । लब्धेऽपि देशे सुजनावासे

मनुष्य पर्यायकी दुर्लभताका कारण कहते हैं—

गा०-टी०—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और प्रमादरूप अशुभ परिणामोकी बहुतायतक कारण मनुष्य योनि दुर्लभ है । तथा मनुष्य रहित लोक अतिमहान् है इससे भी मनुष्ययोनि दुर्लभ हो क्योकि असख्यात द्वीप समुद्रो तक तो नरकावास है, ऊपर स्वर्गपटल । शेष लोकाकाश भी महान् है । तथा जीवोकी योनिया बहुत हैं । इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है ॥१८६२॥

विशेषार्थ—लोकके मध्यमे पैतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्र ही मनुष्य लोक है । अढाई द्वीपके बाहर सत्र तिर्यञ्च ही रहते हैं । नारकी रहते हैं । ऊपर देव रहते हैं । तथा जीवोका योनियाँ भी बहुत हैं इसके साथ ही अशुभ परिणामोकी भी बहुलता है । शुभ परिणाम होनेसे ही मनुष्यगतिमे अच्छा क्षेत्र, जाति, कुल आदि उपलब्ध होते हैं तभी तो मनुष्य होकर धर्मलाभ हो सकता है । मनुष्य पर्याय भी पाई किन्तु देश, कुल, जाति ठीक नही मिले तो मनुष्य पर्याय पाकर भी क्या लाभ हुआ । अत धर्मसाधनके योग्य मनुष्य पर्याय दुर्लभ है ॥१८६२॥

आगे और भी दुर्लभताके कारण कहते हैं -

गा०—जीवके मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण सुलभ नही हैं ॥१८६३॥

टी०—मनुष्यगति नाम कर्मके उदयसे मनुष्यपर्याय पानेपर भी जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्ममे दक्ष मनुष्योमे भरा हुआ देश प्राप्त होना दुर्लभ है । क्योकि धर्मके ज्ञाता मनुष्योसे रहित अन्तर्द्वीप तथा शक, यवन, किरात, बर्बर, पारसीक और सिंहल आदि देश अनेक हैं ।

---

१ 'देसकुल जाइ रूव, आरोग्ग आउग च पुण्ण च ।
बुद्धिसवणगहणाणि लद्धे णरत्तेहि दुल्लह होई ॥' -आ० ।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादिकं कुलं दुरधिगमनीयं सुकुलानामल्पत्वात्[1] असकृन्नीचैर्गोत्रबन्धनात्। मिथ्यात्वोदयात् प्रायेण प्राणिनो गुणान् गुणिजनं च निन्दन्त्याक्रोशन्ति, निर्गुणोऽपि कुलाभिमानमतिमहदुद्वहति, तेन नीचैर्गोत्रमुपचिनोति, गुणे गुणिजने चानुरागः कुलाभिमानतिरस्करणं वा कदाचिदेव भवति इति शोभनं कुलं कदाचिदेव लभ्यते। चारित्रमोहोदयात् षड्जीवनिकायबाधाकरणे सततमुद्यतः तदीयरूपशोभोन्मूलनमपादनेनोपार्जितेनाशुभरूपनामकर्मणा विरूपो बहुशो भवति। जीवदया कदाचिदेव क्वचिदेव करोति। प्रशस्तरूपनामकर्मलभ्यं सौरूप्यमपि क्लेशेन लभ्यते। परजीवसंतापकरणे कृतोत्साहः सदैवेति रोगी भवति बहुशः, परसंतापपरिहारं वैयावृत्त्यं च कदाचिदेव करोति। इति नीरोगतापि कादाचित्की दुर्लभा। परेषां प्रायेणायुर्निहन्तीति स्वल्पायुरेवाय जनो जायते। कदाचिदेवाहिंसाव्रतपरिपालनाच्चिरजीविता सदा न लभ्यते। समीचीनज्ञानिजनदूषणात् तन्मात्सर्यात् तद्विघ्नकरणात्तदासादनाच्चक्षुरादीन्द्रियोपघातकरणाच्च मतिश्रुतज्ञानावरणे वराको बध्नातीति दुर्मेधा भवति। बहुषु जन्मशतसहस्रेषु मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् शुभपरिणामोपनीतात् कदाचिदेव विवेककारिणी बुद्धिर्भवति। सत्यामपि बुद्धौ हिताहितविचारणक्षमं धर्मश्रवणमतिदुर्लभं, यतीनां विरागद्वेषाणां, समीचीनज्ञानप्रकाशनान्मूलितदुर्भेद्यमोहान्धतानां, अशेषजीवनिकायदयाक्रियोद्यतानां असौलभ्यात्, तीव्रमिथ्यादर्शनोपनीतगुणिजनद्वेषेण मिथ्याज्ञानलवलाभदुर्विदग्धतया स्वगृहीततत्त्वपरवशतया आलस्येन वा यतीनां

धर्मज्ञजनोंमें बसा हुआ देश मिलनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कुल मिलना कठिन है क्योंकि अच्छे कुल बहुत कम हैं। और इसका कारण यह है कि जीवोंके निरन्तर नीच गोत्रका बन्ध हुआ करता है। मिथ्यात्वके उदयसे प्राय प्राणी गुणी और गुणीजनोंकी निन्दा करते हैं, उनके सम्बन्धमें बका करते हैं। गुणहीन भी अपने कुलका बड़ा अभिमान रखते हैं। उससे वे नीच गोत्रका बन्ध करते हैं। गुणोंमें और गुणीजनोंमें अनुराग तथा कुलके अभिमानका तिरस्कार कम ही देखा जाता है। इसलिये जीवोंको अच्छा कुल कम ही मिलता है। चारित्रमोहके उदयमें जीव छह कायके जीवोंको बाधा देनेमें निरन्तर लगे रहते हैं वे उनके रूपकी शोभाको विनष्ट करते हैं। उससे उपार्जित अशुभ नामकर्मसे जीव अधिकतर विरूप होते हैं। जीवोंपर दया कम ही लोग करते हैं। अत प्रशस्त रूपनामकर्मके द्वारा प्राप्य सुन्दर रूप भी बड़े कष्टसे प्राप्त होता है। प्राणी सर्वदा दूसरे जीवोंको संताप देनेका उत्साह रखते हैं। इसलिये अधिकतर रोगी होते हैं। दूसरोंका कष्ट दूर करनेवाली वैयावृत्त्य कम ही करते हैं। इसलिये नीरोगता भी दुर्लभ है। प्राणी प्राय दूसरोंकी आयुका घात करते हैं उन्हें मार देते हैं। इससे वे अल्प आयुवाले होते हैं। कदाचित् ही अहिंसाव्रतका पालन करनेसे चिरजीवि होते हैं, सदा चिरजीवी नहीं होते। सच्चे ज्ञानिजनोंको दूषण लगानेसे, उनसे डाह करनेसे, उनके ज्ञानार्जनमें विघ्न डालनेसे, उनकी आसादना करनेसे तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंका घात करनेसे प्राणी मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मों का बन्ध करनेसे बुद्धिहीन होते हैं। लाखों जन्मोंमेंसे कुछ ही जन्मोंमें शुभपरिणामवश मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेसे विवेकशील बुद्धि प्राप्त होती है। बुद्धि प्राप्त होनेपर भी हित अहितके विचारमें समर्थ धर्मका सुनना दुर्लभ है। क्योंकि रागद्वेषसे रहित, सच्चे ज्ञानके प्रकाशनसे दुर्भेद्य मोहान्धकारका उन्मूलन करनेवाले और समस्त जीवोंपर दया करनेवाले मुनिगण दुर्लभ हैं। तथा तीव्र मिथ्यादर्शनके कारण गुणीजनोंसे द्वेष करनेवाले या थोड़ा-सा मिथ्याज्ञान प्राप्त करके अपनेको बड़ा विद्वान् माननेवाले या अपने जाने हुए तत्त्वके

---

१ नामसुल्भत्वात् –आ०।

स्वपरोद्धरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न ढौकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता। कदाचिदेव पापोपशमाद्यतिजनान् ढौकनेऽपि नयपुरस्सरे सप्रश्ने प्रशस्तवागनुयायिनि गुरुजने चाभिमुखे सति श्रवणं भवतीति दुर्लभता श्रवणस्य। किञ्च यतिजननिकेतनमुपगतोऽपि यदृच्छया निद्राति, स्वयं परेषां यत्किंचिदसारं वदति, मुग्धानां वा वचनं शृणोति न विनयेन ढौकत इति वा दुर्लभं श्रवणं। श्रुतेऽपि धर्मे तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं श्रुतज्ञानावरणोदयात्। दुःकरत्वं मनःप्रणिधानस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवादितत्त्वस्य। श्रुतज्ञानाधिकरणे क्षयोपशमे मनःप्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठवं चेति सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञानं दुर्लभं। ज्ञातेऽपि धर्मे अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानचरणतपोदानपूजात्मकोऽभ्युदयनिश्रेयसफलदायी जिनैर्व्यावर्णितरूप- इति श्रद्धानं न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात्। उपदेशकालकरणलब्धयश्च कादाचित्का इति ॥१८६३॥

लद्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा।
कुपधाकुलो य लोगो ज बलिया रागदोसा य ॥१८६४॥

'लद्धेसु वि तेसु पुणो' लब्धेष्वपि तेषु मनुजभवादिषु बोधिर्दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्न सुलभा प्रबलत्वात्संयमघातिकर्मणः। कुमार्गाकुलत्वात् लोकस्य बहूनामाचरणमेव प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति, बलवन्तश्च रागद्वेषा ज्ञानश्रद्धानोपेतमपि न सन्मार्गं ढौकितुं ददति ॥१८६४॥

परवश मनुष्योके कारण या यतिगणके आलस्यसे अथवा अपना और दूसरोका उद्धार करनेमे दक्ष न होनेसे यतिजन भी नही आते हैं इससे भी धर्मश्रवणकी दुर्लभता है। कदाचित् पापका उपशम होनेसे यतिजनके पधारनेपर भी विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर और प्रशस्त वचन बोलनेवाले गुरुके सन्मुख होनेपर धर्म सुननेको मिलता है इसलिये धर्मश्रवणकी दुर्लभता है। अथवा मुनिगणके वास स्थानपर जाकर भी सोता है स्वयं जो कुछ असार वचन बोलता है या मूर्खो के वचन सुनता है, विनय पूर्वक वर्ताव नही करता। इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है।

धर्म सुननेपर भी श्रुतज्ञानावरणका उदय होनेसे उसको समझना अतिदुर्लभ है। तथा समझनेपर भी उसमें मन लगाना दुष्कर है क्योकि पहले कभी नही सुना था। तथा जीवादि तत्त्व भी सूक्ष्म है। श्रुतज्ञानका क्षयोपशम, मनका लगना, वक्ताका वचन सौष्ठव ये सब दुर्लभ होनेसे धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्मका ज्ञान होनेपर भी 'जिन भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ स्वर्ग और मोक्षरूप फलको देनेवाला जीवके सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र तप दान पूजा भावरूप धर्म है' ऐसा श्रद्धान दुर्लभ है क्योकि जीवोके दर्शनमोहका उदय रहता है। उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि भी सदा नही होती, कदाचित् ही होती है ॥१८६३॥

गा०-टी०—मनुष्यभव आदिके प्राप्त होनेपर भी 'बोधि' अर्थात् जिन दीक्षाकी ओर अभिमुख बुद्धिका होना सुलभ नही है क्योकि जीवोके सयमको घातनेवाला कर्म प्रबल होता है। तथा यह लोक मिथ्यामतोसे भरा है। अत बहुत लोग जिस धर्मका आचरण करते हैं उसे ही प्रमाण मानकर जो कुछ मनमे आता है, करते हैं। रागद्वेषके बलवान होनेसे ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त भी मनुष्य सन्मार्गपर नही चलता ॥१८६४॥

---

१ नुपढौकने विनय –आ०।

इय दुल्लहाए बोहीए जो पमाइज्ज कह वि लद्धाए ।
सो उल्लट्ठइ दुक्खेण रदणगिरिसिहरमारुहिय ॥१८६५॥

'इय दुल्लहाए बोहीए' उक्तेन क्रमेण दुर्लभाया दीक्षाभिमुखाया बुद्धो लब्धायामपि य प्रमाद्यत्यसौ रत्नगिरिशिखरमारुह्य तत पतति प्रमादी ॥१८६५॥

फिडिदा संती बोधी ण य सुलहा होइ संसरंतस्स ।
पडिद समुद्दमज्झे रदण व तमघयारम्मि ॥१८६६॥

'फिडिदा सती' बोधिर्विनष्टा सती दीक्षाभिमुखा बुद्धि पुनर्न सुलभा भवति ससरत । अन्धकारे समुद्रमध्ये पतित रत्नमिव ॥१८६६॥

ते धण्णा जे जिणवरदिट्ठे धम्मम्मि होंति संबुद्धा ।
जे य पवण्णा धम्म भावेण उवट्ठिदमदीया ॥१८६७॥

स्पष्टोत्तरा गाथा । बोधित्ति ॥१८६७॥

प्रस्तुतमर्थमुपसहरति—

इय आलंबणमणुपेहाओ धम्मस्स होंति ज्झाणस्स ।
ज्झायतो ण वि णस्सदि ज्झाणे आलंबणेहिं मुणी ॥१८६८॥

'इय आलंबण' एवमालम्बन भवन्त्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य । ध्याने प्रवृत्तो न विप्रणश्यति ध्याननिमित्तालम्बनेभ्यो यति । यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्त सतत वस्तुयाथात्म्यान्न प्रच्यवते तस्याविस्मरणात् ॥१८६८॥

गा०—इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दीक्षाके अभिमुख दुर्लभ बुद्धि प्राप्त होनेपर भी जो प्रमाद करता है वह प्रमादी सुमेरुके शिखरपर चढकर भी उससे गिरता है ॥१८६५॥

गा०—जैसे अन्धकारमे समुद्रके मध्यमे गिरा रत्न पाना दुर्लभ है वैसे ही एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि ससारमे भ्रमण करनेवाले जीवको प्राप्त होना दुर्लभ है ॥१८६६॥

गा०—जो जिन भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट धर्ममे प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं। तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धिको प्राप्त करके भावपूर्वक धर्मको अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं ॥१८६७॥

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

प्रस्तुत चर्चाका उपसहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार अनुप्रेक्षा धर्मध्यानका आलम्बन होती है। ध्यान करनेवाला साधु ध्यानमें निमित्त आलम्बनोंका आश्रय लेनेसे ध्यानसे च्युत नहीं होता । जो जिस वस्तुके स्वरूपमें अपने मनको लगाता है वह उस वस्तुके यथार्थस्वरूपसे च्युत नहीं होता, क्योंकि वह उसे भूलता नहीं है ॥१८६८॥

ध्यातुरालम्बनबाहुल्यं दर्शयत्युत्तरा गाथा—

आलंबणं च वायण पुच्छणपरिवट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१८६९॥
आलंबणेहिं भरिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयस्स ।
जं जं मणसा पिच्छदि तं तं आलंबणं हवइ ॥१८७०॥

'धम्मस्स आलंबणेहिं भरिदो' ध्यानस्यालम्बनैः पूर्णो लोको ध्यातुकामस्य क्षपकस्य यद्यन्मनसा पश्यति तत्तदालम्बनं भवति ॥१८६९॥१८७०॥

धर्मध्यानं व्याख्याय ध्यानान्तरं व्याख्यातुमुत्तरप्रबन्धः—

इच्चेवमदिक्कंतो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ ।
सुक्कज्झाणं झायदि तत्तो सुविसुद्धलेस्साओ ॥१८७१॥

'इच्चेवमदिक्कंतो' धर्मध्यानमेवं व्यावर्णितरूपमतिक्रान्तो यदा भवेत् क्षपकः शुक्लध्यानमसौ ध्याति सुविशुद्धलेश्यासमन्वितः । परिणामश्रेण्या हि उत्तरोत्तरातुगुणतया स्थितः क्रमेणैव प्रवर्तते । न हि प्रथमे सोपानेऽस्थापितचरणः द्वितीयादिकं सोपानमारोढुं प्रभवति । एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यानमर्हतीति सूत्रेणानेन ज्ञापितं ॥१८७१॥

चतुर्विधशुक्लध्यानं नामतो दर्शयति गाथाद्वयम्—

ज्झाणं पुधत्तसवितक्कसवीचारं हवे पढमसुक्कं ।
सवितक्केक्कत्तावीचारं ज्झाणं विदियसुक्कं ॥१८७२॥

आगेकी गाथामें ध्यान करनेवालेके अनेक आलम्बन बतलाते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना तथा अनुप्रेक्षाएँ नामक स्वाध्याय धर्मध्यानके आलम्बन हैं। अतः सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अनुकूल आलम्बन हैं अर्थात् उनको लेकर धर्मध्यान किया जाता है ॥१८६९॥

ध्यान करनेके इच्छुक क्षपणके लिये यह लोक आलम्बनोंसे भरा हुआ है। वह मनको जिस ओर लगाता है वही आलम्बन हो जाता है ॥१८७०॥

धर्मध्यानका कथन करके शुक्लध्यानका कथन करते हैं—

गा०-टी०—इस प्रकार ऊपर कहे धर्मध्यानको जब क्षपक पूर्ण कर लेता है तब वह अति विशुद्ध लेश्याके साथ शुक्लध्यानको ध्याता है। क्योंकि परिणामोंकी पंक्ति उत्तरोत्तर निर्मलताको लिये हुए स्थित है अतः वह क्रमसे ही होती है। जिसने पहली सीढ़ीपर पैर नहीं रखा वह दूसरी सीढ़ीपर नहीं चढ़ सकता। अतः धर्मध्यानमें परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करनेमें समर्थ होता है, यह बात इस गाथाके द्वारा कही है ॥१८७१॥

आगे दो गाथाओंके द्वारा चार प्रकारके शुक्लध्यानोंके नाम कहते हैं—

गा०—पहला शुक्लध्यान पृथक्त्व सवितर्क सविचार नामक है। दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क एकत्व अविचार नामक है ॥१८७२॥

'ज्झाण पुनत्तसविनक्कमवीचार' ध्यान पृथक्त्वसवितर्कसवीचार प्रथमशुक्लं भवति । 'सविनक्केक्कत्तावीचार' मवितर्कैकत्वावीचार द्वितीय शुक्लध्यान ॥१८७२॥

सुहुमकिरियं तु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहिं पण्णत्तं ।
बेंति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥१८७३॥

'सुहुमकिरियं तु तदियं' तृतीयं शुक्लध्यानं जिनैः प्रज्ञप्तं सूक्ष्मक्रियमिति । 'बेंति चउत्थ सुक्क' ब्रुवते चतुर्थं शुक्लं जिना समुच्छिन्नक्रियं ॥१८७३॥

पृथक्त्वमवितर्कमवीचारं व्याचष्टे गाथात्रयेण—

दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्झायंति ।
उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तं त्ति तं भणिया ॥१८७४॥

'दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोएहिं जेण ज्झायंति' द्रव्याण्यनेकानि त्रिभिर्योगैः परावर्तमाना येन चिन्तयन्त्युपशान्तमोहनीयास्तेन पृथक्त्वमिति प्रथमध्यानमुक्तम्, एतदर्थं कथयति—अन्यदन्यद्द्रव्यमवलम्ब्य प्रवृत्तेनान्येनान्येन योगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवतीति पृथक्त्वव्यपदेशो ध्यानस्येति ॥१८७४॥

जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।
ज्झायदि ज्झाणं एदं सवितक्कं तेण तं ज्झाणं ॥१८७५॥

'जम्हा सुदं वितक्कं' यस्मात् श्रुतं वितर्कं यस्मात् पूर्वगतार्थकुशलो ध्यानमेतत्प्रवर्तयति । तेन तत् ध्यानं सवितर्कं । चतुर्दशपूर्वाणि श्रुतत्वात्तदुपदिष्टोऽर्थः साहचर्यात् वितर्कशब्देनोच्यते । तेन वितर्केणार्थश्रुतेन

गा०—जिन भगवान्ने तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रिय कहा है और चतुर्थ शुक्ल समुच्छिन्नक्रिय कहा है ॥१८७३॥

आगे तीन गाथाओंसे पृथक्त्व सवितर्क सविचारका कथन करते हैं—

गा०—उपशान्त मोहनीय गुणस्थानवाले यत तीन योगोंके द्वारा अनेक द्रव्योंको बदल बदलकर ध्यान करते हैं इससे इसे पृथक्त्व कहते हैं ॥१८७४॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यानका नाम पृथक्त्व है क्योंकि इसमें योगपरिवर्तनके साथ ध्येयका भी परिवर्तन होता रहता है इसलिये इसको पृथक्त्व कहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यानके स्वामियोंको लेकर मतभेद पाया जाता है। तत्त्वार्थसूत्रमें श्रेणीसे नीचे धर्मध्यान और श्रेणीमें शुक्लध्यान कहा है। श्रेणि आठवें गुणस्थानसे प्रारम्भ होती है। अतः आठवेंसे ही पृथक्त्व शुक्लध्यान कहा है। किन्तु यहां ग्यारहवें गुणस्थानमें पृथक्त्व शुक्लध्यान कहा है। श्वेताम्बर परम्परामें भी ऐसा ही माना गया है। वीरसेन स्वामीने धवला टीका (१३, पृ० ७४) में भी ऐसा ही लिखा है। उनका कथन है कि कषायसहित जीवोंके धर्मध्यान होता है और कषायरहित जीवोंके शुक्लध्यान होता है। क्योंकि कषायका अभाव होनेसे ही उसका नाम शुक्लध्यान है। इस प्रथम शुक्लध्यानमें योगका और ध्येयका परिवर्तन होते रहनेसे इसे पृथक्त्व नाम दिया है ॥१८७४॥

गा०-टी०—यत श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं और यत चौदह पूर्वोंमें आये अर्थमें कुशल

ध्येयेन सह वर्तत इति श्रुतज्ञानमेवावलम्ब्य सवितर्कमित्युच्यते। अथवा वितर्कशब्द श्रुत तद्धेतुत्वात्। श्रुतज्ञान ध्यानसज्ञित सह कारणेन श्रुतेन वर्तत इति सवितर्क ॥१८७५॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो।
तस्स य भावेण तयं सुत्ते उत्तं सवीचारं ॥१८७६॥

'अत्थाण वजणाण य जोगाण य सकमो खु वीचारो' अर्थाना ये व्यञ्जना शब्दास्तेषामिति, वैयधिकरण्येन सम्बन्ध, न पुनरर्थाना व्यञ्जनाना चेति समुच्चय। अर्थपृथक्त्वस्य पृथक्त्वशब्देनोपादानात्। योगाना च सक्रमो वीचार 'तस्स य भावेण' वीचारस्य सद्भावेन। 'तय' तद्धि शुक्लध्यान सूत्रे सवीचारमित्युक्त। 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला' इत्येवमादिपरिमितानेकद्रव्यप्रत्ययपरमश्रुतवाक्योद्भूत ध्यानमिति पृथग्भूतद्रव्यालम्बनत्वेन रूपेण एकद्रव्यालम्बनात् एकत्ववितर्काद्भिद्यते योगत्रयसहायत्वादेकयोगादविचाराद्द्वितीयध्यानाद्भिद्यते। उपशान्तमोहनीयस्वामिकत्वात क्षीणकषायस्वामिकाद्ध्यानाद्भिद्यते। सवितर्कत्वेन अवितर्काभ्या तृतीयचतुर्थाभ्या विलक्षण। अत एव नामनिर्देशेनैव ध्यानान्तरविलक्षण पृथक्त्वमवितर्कसवीचारमिति लक्षणमुक्त ॥१८७६॥

अर्थात् चौदह पूर्वो का ज्ञाता साधु ही इस शुक्लध्यानको ध्याता है इससे इस प्रथम शुक्लध्यानको सवितर्क कहते हैं। अर्थात् चौदह पूर्व श्रुतरूप होनेसे उनमे जो वस्तुविवेचन है उसको भी वितर्क शब्दसे कहते है। प्रथम शुक्लध्यानमे उस अर्थश्रुतरूप वितर्कका ध्यान किया जाता है इससे उसे सवितर्क कहते हैं। अथवा श्रुतका कारण होनेसे वितर्क शब्दका अर्थ श्रुत है। ध्यान श्रुतज्ञानकी सज्ञा है उसका कारण श्रुत है। तो अपने कारण श्रुतके साथ रहनेसे उसे सवितर्क कहते हैं॥१८७५॥

गा०-टी०—तथा अर्थोके वाचक जो शब्द हैं उनके सक्रम अर्थात् परावर्तन को और योगोंके परिवर्तनको विचार कहते हैं। 'अत्थाण वजणाण य' का अर्थ अर्थो के और व्यजनोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं इस प्रकारसे समुच्चयरूप नही लेना चाहिये क्योकि पृथक्त्व शब्दसे अर्थका पृथक्त्व ग्रहण किया है। इस वीचारके होनेसे इस शुक्लध्यानको आगममें सवीचार कहा है।

'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला' इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योका ज्ञान करानेमे समर्थ श्रुतके वचनोंसे उत्पन्न हुआ यह ध्यान भिन्न-भिन्न द्रव्योका आलम्बन करता है अत एक ही द्रव्यका आलम्बन करनेवाले एकत्व वितर्क शुक्लध्यानमे भिन्न होता है। तथा पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान तीनों योगोंकी सहायतासे होता है और एकत्ववितर्क एक ही योगकी सहायतासे होता है। इससे भी वह इससे भिन्न पडता है। पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होता है और एकत्ववितर्कका स्वामी क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती होता है। इससे भी वह इससे भिन्न है। पृथक्त्ववितर्क वितर्क सहित होता है और तीसरा तथा चतुर्थ शुक्लध्यान वितर्क रहित होते हैं। अत वह तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानसे विलक्षण है। अत पृथक्त्ववितर्क सवीचार नामसे ही अन्य ध्यानोंमे इसकी विलक्षणता प्रकट होती है। इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यानका लक्षण कहा है ॥१८७६॥

---

१ मादपरि -आ०। २ यमपरस्य -अ० मु०। -मादिपरिमितानेकद्रव्य प्रत्यायनपरश्रुत-मूलारा०।

जेणेगमेव दव्व जोगेणेगेण अण्णदरगेण ।
खीणकसाओ ज्झायदि तेणेगत्त तय भणिय ॥१८७७॥

'जेणेगमेव दव्व जोगेणेगेण अण्णदरगेण' येनैकमेव द्रव्य अन्यतरण योगेनैकेन सह वृत्त, क्षीणकषायो ध्याति तेनैकत्व तद्भणित एकद्रव्यालम्बनत्वात् । अन्यतरयोगवृत्तेरेवात्मन उत्पत्तेरेकत्व ध्यान क्षीणकषाय-स्वामिक भवेत् ॥१८७७॥

जम्हा सुद वितक्क जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।
ज्झायदि ज्झाणं एव सवितक्क तेण त ज्झाणं ॥१७७८॥
अत्थाण वजणाण य जोगाण सकमो हु वीचारो ।
तस्स अभावेण तय झाण अविचारमिति वुत्त ॥१८७९॥

एकद्रव्यालम्बनत्वेन [1]परिमितानेकसत्रपर्यायद्रव्यालम्बनात प्रथमध्यानात्समस्तवस्तुविषयाभ्या तृतीय-चतुर्थाभ्या च विलक्षणता द्वितीयस्यानया गाथया निवेदिता । क्षीणकषायग्रहणेन उपशान्तमोहस्वामिक-त्वात् । सयोग्ययोगकेवलिस्वामिकाभ्या च भेद । सवितर्कता पूर्ववदेव । पूर्वव्यावर्णितवीचाराभावाद-वीचारत्व ॥१८७८-७९॥

विशेषार्थ—महापुराणके इक्कीसवें पर्वमें ध्यानका वर्णन करते हुए कहा है—अनेकपनेको पृथक्त्व कहते हैं और श्रुतको वितर्क कहते हैं। तथा अर्थ, व्यजन और योगोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं। इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला मुनि एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक वाक्यसे दूसरे वाक्यको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इस ध्यानको ध्याता है। यत तीनों योगोंके धारक और चौदह पूर्वोंके ज्ञाता मुनिराज इस ध्यानको करते हैं अत प्रथम शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार होता है। श्रुतस्कन्धरूपी समुद्रमें जितना वचन और अर्थका विस्तार है वह इस शुक्लध्यान में ध्येय होता है और इसका फल मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय है। यह ध्यान उपशान्त मोह और क्षीणमोह गुणस्थानमें तथा उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिके शेप गुण-स्थानोंमें माना गया है ॥१८७६॥

गा०-टी०—दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितर्क है क्योंकि इसमें एक ही योगका अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्यका ध्यान किया जाता है। अत एक द्रव्यका अवलम्बन लेनेसे इसे एकत्व कहते हैं। यह ध्यान किसी एक योगमें स्थित आत्माके ही होता है। इसका स्वामी क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती मुनि होता है ॥१८७७॥

विशेषार्थ—यहाँ एक शब्दका अर्थ है 'प्रधान' और समस्त छह द्रव्योंमें प्रधान एक आत्मा ही है। सोमदेव उपासकाध्ययन (श्लोक ६२३) में कहा है—मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामें लीन होता है उसे निर्बीजध्यान कहते हैं। यह निर्बीजध्यान एकत्ववितर्क ही है। अत एक द्रव्य और एक योगका अवलम्बन करनेसे प्रथम शुक्लध्यानमें भिन्न है ॥१८७७॥

गा०—यत श्रुतको वितर्क कहते हैं और यत चौदह पूर्वगत अर्थमें कुशल मुनि ही इस ध्यानका ध्याता है। इसमें दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क है। तथा अर्थ, व्यजन और योगोंके परि-

१ नाप–आ० ।

तृतीयध्यानमाचष्टे—

अवितक्कमवीचार सुहुमकिरियत्तबंधण तदियसुक्क ।
सुहमम्मि कायजोगे भणिद त सव्वभावगद ॥१८८०॥

'अवितक्कमवीचार' श्रुतानालम्बनत्वादवितर्क स्वय श्रुतज्ञान भवतीति वा अवितर्क । पूर्वमालम्बीकृतादर्थादर्थान्तरालम्बनत्व नाम वीचारो नास्तीत्यविचार । 'सुहुमकिरियत्तबधण' सूक्ष्मक्रियाश्येति सूक्ष्मक्रिय आत्मसम्बन्धनमाश्रयोऽस्येति सूक्ष्मक्रियाबन्धन तृतीयशुक्ल। 'सुहुमम्मि काययोगे' सूक्ष्मकाययोगे सति प्रवृत्त भणित सूक्ष्मक्रियमिति । 'त सव्वभावगद' तृतीय शुक्लध्यान त्रिकालगोचरानन्तसामान्यविशेषात्मकद्रव्यषटकयुगपत्प्रकाशनस्वरूप, द्रव्यषट्कसमस्तस्वरूपयुगपत्प्रकाशनमेकमग्र मुखमस्येति एकमुखतापि विद्यत इति ध्यानशब्दस्यार्थोऽभिमुखे विद्यते । 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमित्यत्र' सूत्रे चिंताशब्दो ज्ञानसामान्यवचन । तेन श्रुतज्ञान क्वचिद्ध्यानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञान क्वचिच्छ्रुताज्ञान क्वचिन्मतिज्ञान मत्यज्ञान वा, यतोऽविचलत्वमेव ध्यान, ज्ञानस्य तस्याविचलत्व साधारण सर्वज्ञानोपयोगाना ॥१८८०॥

वर्तनको वीचार कहते हैं । उसके न होनेसे दूसरा शुक्लध्यान अवीचार कहा है ॥१८७८-७९॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यान परिमित अनेक द्रव्यो और पर्यायोका अवलम्बन लेता है और दूसरा शुक्लध्यान एक ही द्रव्यका अवलम्बन लेता है । तथा तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानोका विषय समस्त वस्तु है क्योकि केवलज्ञानका विषय सब द्रव्य और सब पर्याय है। अत दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोंमे विलक्षण है । प्रथम शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह होता है और दूसरेका क्षीणकषाय होता है तथा तीसरेका स्वामी सयोग केवली और चतुर्थका स्वामी अयोग केवली होता है । अत स्वामीकी अपेक्षा भी दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोसे भिन्न है । किन्तु प्रथम शुक्लध्यानकी तरह दूसरा भी सवितर्क है । और पूर्व कथित वीचारका अभाव होनेसे अवीचार है ॥१८७८-७९॥

अब तीसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते है—

गा०-टी०—तीसरे शुक्लध्यानका आलम्बन श्रुत नही है अथवा वह स्वय श्रुतज्ञानरूप होता है इसलिये वितर्कसे रहित होता है । पूर्वमे आलम्बन किये हुए अर्थको छोडकर अर्थान्तरके आलम्बन करनेको वीचार कहते हैं । वह भी इसमे नही होता । अत यह अवीचार है । इसमे श्वासोच्छ्वासादिक्रिया सूक्ष्म हो जाती है । तथा यह सूक्ष्मकाययोगके होनेपर होता है इसलिये इसे सूक्ष्मक्रिय कहते हैं । यह तीसरा शुक्लध्यान त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्यविशेषात्मक धर्मो से युक्त छह द्रव्योको एक साथ प्रकाशन करता है अत सर्वगत है । एक साथ समस्त छह द्रव्योंके समस्त स्वरूपको प्रकाशन करना ही इसका एकमात्र मुख होनेसे ध्यानका लक्षण 'एकाग्रचिन्ता निरोध ' इसमे रहता है । एकाग्रचिन्तानिरोधमें चिन्ता शब्द ज्ञान सामान्यका वाचक है । अत कही श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं, कही केवलज्ञानको ध्यान कहते है, कही श्रुतअज्ञानको ध्यान कहते हैं कही मतिज्ञान या मतिअज्ञानको ध्यान कहते हैं । क्योंकि निश्चलताका ही नाम ध्यान है । अत ज्ञानकी निश्चलता सब ज्ञानोपयोगोमें साधारण है । आशय यह है कि ज्ञानकी निश्चलताका ही नाम ध्यान है । अत ध्यानका यह लक्षण सब निश्चल ज्ञानोपयोगोंमे घटित होता है । केवलीका ध्यान केवल ज्ञान मूलक होता है । अत वह तो सर्वथा निश्चल ही होता है । इससे सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानमे भी ध्यानका लक्षण घटित होता है ॥१८८०॥

सुहुमम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कं ।
झायदि णिरुंभिदुं जे सुहुमत्तं कायजोगंपि ॥१८८१॥

'सुहुमम्मि कायजोगे' सूक्ष्मे काययोगे प्रवर्तमानः केवली तृतीयं शुक्लं ध्याति निरोद्धुं तमपि सूक्ष्मं वा काययोगं ॥१८८१॥

अवियक्कमवीचारं अणियट्टिमकिरियं च सीलेसिं ।
ज्झाणं णिरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥१८८२॥

'अविदक्कमवीचारं' पूर्वोक्तवितर्कवीचाररहितत्वात् अवितर्कमवीचारं, 'अणियट्टिं' सकलकर्मसातनमकृत्वा न निवर्तत इत्यनिवर्ति। अकिरियं' समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगपरिस्पन्दनक्रियाव्यापारत्वात् अक्रियं । 'सीलेसिं' शीलानामीशः शीलेशः यथाख्यातचारित्रं । शीलेशस्य भावः शैलेश्यं, तत्सहचारि ध्यानमपि शैलेश्यं । 'णिरुद्धयोगं'। अपश्चिमं न विद्यते पश्चाद्ध्यानमस्मादित्यपश्चिमं । 'उत्तमं सुक्कं' परमं शुक्लं ॥१८८२॥

तं पुण णिरुद्धजोगो सरीरतियणासणं करेमाणो ।
सवण्हु अपडिवादी ज्झायदि ज्झाणं चरिमसुक्कं ॥१८८३॥

'तं पुण' तच्चतुर्थं शुक्लध्यानं । निरुद्धयोगः सर्वज्ञः अप्रतिपातिध्यानं ध्याति 'शरीरत्रिकनाशं कुर्वन्,

गा०—अतः सूक्ष्मकाययोगमें स्थित केवली उस सूक्ष्म भी काययोगको रोकनेके लिये तीसरा शुक्लध्यान ध्याता है ॥१८८१॥

गा०-टी०—यह तीसरा शुक्लध्यान पूर्वोक्त वितर्क और वीचारसे रहित होनेसे अवितर्क और अवीचार होता है। समस्त कर्मोंको नष्ट किये बिना समाप्त नहीं होता इसलिये अनिवर्ति है। इसमें प्राण अपान श्वास उच्छ्वासका प्रचार, समस्त काययोग मनोयोग वचन योगरूप हलन-चलन क्रियाका व्यापार नष्ट हो जाता है। इसलिये यह अक्रिय है। शीलोंके स्वामीको शीलेश कहते हैं। उसके भावको शैलेशीभाव कहते हैं वह है यथाख्यात चारित्र। उसके साथ होनेवाले ध्यानको भी शैलेशी कहा है। उससे सब कर्मोंका आस्रव रुक जाता है अतः उसे निरुद्धयोग कहा है। इसके अनन्तर कोई ध्यान नहीं होता इससे इसे अपश्चिम कहा है। तथा यह परम शुक्लध्यान है ॥१८८२॥

विशेषार्थ—शैलेशीभाव से यथाख्यात चारित्र लिया है किन्तु यथाख्यात चारित्र तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमें भी होता है किन्तु उसे शैलेशी नहीं कहा। क्योंकि शैलेशीपना तीसरे शुक्लध्यानकी अवस्थासे पहले नहीं होता, इसका कारण है कर्मोंका आस्रव होना। तथा तीसरेके पश्चात् भी चतुर्थ शुक्लध्यान होता है फिर भी तीसरेको विवक्षा भेदसे अपश्चिम कहा है ॥१८८२॥

गा०—काययोगका निरोध करके अयोग केवली औदारिक तैजस और कार्मण शरीरों

१ रक्रियता —आ० ।

अयोगात्मपरिणाम केवलज्ञान चतुर्थशुक्ल, तृतीय तु सूक्ष्मकाययोगात्मपरिणाम केवलमिति भेदस्तृतीय-चतुर्थयो ॥१८८३॥

इय सो खवओ ज्झाण एयग्गमणो स'मस्सिदो सम्म ।
विउलाए णिज्जराए वट्टदि गुणसेढिमारूढो ॥१८८४॥

'इय सो खवगो' एवमसौ क्षपक , एकाग्रचित्त सम्यग्ध्यान समाश्रित्य विपुलाया कर्मनिर्जराया वर्तते 'गुणसेढिमारूढो' गुणश्रेणीमारूढ उपशान्तकषायादिका ॥१८८४॥

ध्यानमहात्म्यस्तवनार्थ उत्तरप्रबन्ध —

सुचिर वि सकिलिट्ठ विहरत झाणसवरविहूण ।
ज्झाणेण सवुडप्पा जिणदि अतोमुहुत्तेण ॥१८८५॥

'सुचिरमवि सक्लिलिट्ठ विहरत' पूर्वकोटिकाल दशोन क्लेशसहितचारित्रोद्यत 'ज्झाणसवरविहूण' ध्यानाख्येन सवरेण विहीन । 'जिणदि' जयति । क ? '[1]आहोरत्तमेत्तेण झाणेण सवुडप्पा' अहारात्रमात्रेण ध्यानेन सवृतात्मा ॥१८८५॥

एव कसायजुद्धमि हवदि खवयस्स आउधं झाण ।
ज्झाणविहूणो खवओ [3]रगेव अणाउहो मल्लो ॥१८८६॥

का नाश करता हुआ अन्तिम शुक्ल ध्यानको ध्याता है। सूक्ष्मकाय योग रूप आत्म परिणाम वाला सयोगकेवली तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याता है और अयोगरूप आत्मपरिणाम वाला अयोगकेवली चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है। यह तीसरे और चतुर्थ शुक्ल ध्यान मे भेद है ॥१८८३॥

विशेषार्थ—महापुराणमे कहा है—तीसरेके पश्चात् योगका निरोध करके आस्रव से रहित अयोगकेवली समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है। एक अन्तर्मुहूर्त काल तक अतिनिर्मल उस ध्यानको करके शेष चार अघातिकर्मोका विनाशकर मोक्षको प्राप्त होता है। अयोगकेवलीके उपान्त्य समय मे बासठ और अन्तिम समय मे तेरह प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती है। उसके पश्चात् वह शुद्धात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण एक ही समयमे लोकके अन्त पर्यन्त जाकर सिद्धालयमे विराजमान हो जाता है ॥१८८३॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक एकाग्रमन से सम्यक् ध्यान को ध्याकर उपशान्त कषाय आदि गुण स्थानो की श्रेणि पर आरूढ होकर विपुल कर्म निर्जरा करता है ॥१८८४॥

आगे ध्यानके माहात्म्यको कहते हैं—

गा०—एक अन्तर्मुहूर्त मात्र या एक दिन रात मात्र ध्यान रूप सवरसे युक्त मुनि, कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक ध्यानरूप सवरसे रहित तथा सक्लेशसहित चारित्र का पालन करने वाले साधुसे श्रेष्ठ है ॥१८८५॥

---

१ समस्सिदो –अ० । २ अहोरत्तमित्तेण अन्तर्मुहूर्तेन कर्म जयति । अहोरात्रमात्रेण झाणेण सवुडप्पा ध्यानेन सवृतात्मा कर्मकाण्डकोऽपि न जयति –आ० । ३ रणगावब –आ० । जुद्धेव णिरावुधा होदि –मु० ।

'एव कसायजुद्धहि' कषायसप्रहारे ध्यानमायुध क्षपकस्य भवति। ध्यानहीन क्षपक युद्धे निरायुध इव न प्रतिपक्ष प्रहन्तुमल। कषायविनाशकारित्व ध्यानस्यानया कथित ॥१८८६॥

रणभूमीए कवचं व कसायरणे तय हवे कवचं।
जुद्धे व णिरावरणो झाणेण विणा हवे खवओ ॥१८८७॥

'रणभूमीए' युद्धभूमौ कवचवत्कषाययुद्धे ध्यान कवचो भवति। एतेन कषायपीडारक्षा करोति ध्यानमित्याख्यात। ध्यानाभावे दोषमाचष्टे। 'जुद्धे व णिरावरणो' युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षपक ॥१८८७॥

ज्झाण करेइ खवयस्सोवट्ठंभ सु हीणचेट्ठस्स।
थेरस्स जहा जतस्स कुणदि जट्ठी उवट्ठंभ ॥१८८८॥

'झाण करेदि' ध्यान करोति क्षपकस्योपष्टम्भ हीनचेष्टस्य स्थविरस्य गच्छतो यथा करोति यष्टिरुपष्टम्भ ॥१८८८॥

मल्लस्स णेहपाण व कुणइ खवयस्स दढबल झाणं।
झाणविहीणो खवओ रंगे व अपोसिओ मल्लो ॥१८८९॥

'मल्लस्स णेहपाण व' मल्लस्य स्नेहपानमिव क्षपकस्य ध्यान करोति। ध्यानहीन क्षपको रङ्गे अपोषितो मल्ल इव न प्रतिपक्ष जयति ॥१८८९॥

वइर रदणेसु जहा गोसीसं चदण व गन्धेसु।
वेरुलिय व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स ॥१८९०॥

गा०-टी०—इस प्रकार कषायोंके साथ युद्ध करनेमे अर्थात् कषायोका संहार करनेमे ध्यान क्षपकके लिये आयुध होता है। अर्थात् ध्यानके द्वारा कषायोका विनाश किया जाता है। जैसे विना अस्त्रके युद्धमे शत्रुका घात करना सभव नही है, उसी प्रकार ध्यान हीन क्षपक कषायों को नही जीत सकता। इससे ध्यानको कषायोंका विनाश करने वाला कहा है ॥१८८६॥

गा०-टी०—जैसे युद्ध भूमिमे कवच होता है वैसे ही कषायोंसे युद्ध करनेमे ध्यान कवचके समान है। इससे कहा है कि ध्यान कषायसे रक्षा करता है। ध्यानके अभावमे दोष कहते हैं। जैसे युद्ध मे कवचके विना योद्धा होता है वैसे ही ध्यान के विना क्षपक होता है। अर्थात् युद्धमे विना कवचके योद्धाकी जो स्थिति है वही स्थिति ध्यानके विना क्षपक की होती है। वह भी उसी की तरह मारा जाता है ॥१८८७॥

गा०—जैसे चलनेमे असमर्थ वृद्ध पुरुषको गमन करते समय लाठी सहायक होती है वैसे ही असमर्थ क्षपकका सहायक ध्यान होता है ॥१८८८॥

गा०—जैसे दुग्धपान मल्ल पुरुषके बलको दृढ करता है वैसे ही ध्यान क्षपककी शक्ति को दृढ करता है। जैसे अपुष्ट मल्ल अखाडेमे हार जाता है वैसे ही ध्यानसे रहित क्षपक कषायोंसे हार जाता है ॥१८८९॥

---

१ कवच होदि झाण कसायजुद्धम्मि —मु०।

'वैर रदणेसु जधा' यथा रत्नेषु वज्र गन्धद्रव्येषु गोशीर्षं चन्दन। मणिषु वैडूर्यमिव क्षपकस्य ध्यान सर्वेषु दर्शनचरित्रतपस्सु सारभूत ॥१८९०॥

झाणं किलेससावदरक्खा रक्खाव सावदभयम्मि।
झाण किलेसवसणे मित्त मित्तेव वसणम्मि ॥१८९१॥

'झाणं किलेससावदरक्खा' ध्यान दुःखश्वापदाना रक्षा, श्वापदभये रक्षेव ध्यान क्लेशव्यसने मित्र, व्यसने मित्रमिव ॥१८९१॥

ज्झाण कसायवादे गब्भघरं मारुदेव गब्भघरं।
झाण कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥१८९२॥
झाण कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि।
झाण कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥१८९३॥
झाण कसायपरचक्कभए बलवाहणड्ढओ राया।
परचक्कभए बलवाहणड्ढओ होइ जह राया ॥१८९४॥
झाण कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिंछदे कुसलो।
रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिंछओ कुसलो ॥१८९५॥
झाण विसयछुहाए होइ य छुहाए अण्णं वा।
झाण विसयतिसाए उदय उदयं व तण्हाए ॥१८९६॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१८९२॥१८९३॥१८९४॥१८९५॥१८९६॥

गा०—जैसे रत्नोमे हीरा, सुगन्धित द्रव्योमे गोशीर्ष चन्दन और मणियोमे वैडूर्यमणि सारभूत है। वैसे ही क्षपकके दर्शन चारित्र और तपमे ध्यान सारभूत है ॥१८९०॥

गा०—जैसे हिंसक जन्तुओसे भय होने पर उनसे रक्षा बचाव करती है वैसे ही ध्यान दुःखरूपी हिंसक जन्तुओसे रक्षा करता है। तथा जैसे सकट मे मित्र सहायक होता है वैसे ही दुःखरूपी सकटमे ध्यान सहायक होता है ॥१८९१॥

गा०—जैसे गर्भगृह वायुसे रक्षा करता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी वायुके लिये गर्भगृह है। जैसे घामसे बचनेके लिये छाया है वैसे ही कषायरूपी घामसे बचावके लिये ध्यान छायाके समान है ॥१८९२॥

गा०—जैसे दाहके लिये उत्तम सरोवर है वैसे ही कषायरूप दाहके लिये ध्यान उत्तम सरोवर है। जैसे शीतमे बचावके लिये आग है वैसे कषायरूपी शीतसे बचावके लिये ध्यान आग के समान है ॥१८८३॥

गा०—जैसे सेना और वाहनोसे समृद्ध राजा शत्रु सेनाके आक्रमणके भयसे रक्षा करता है वैसे ही कषायरूपी शत्रु सेनाका भय दूर करनेके लिये ध्यान बल वाहनसे समृद्ध राजाके समान है ॥१८९४॥

इय झायतो खवओ जइया परिहीणवायिओ होइ ।
आराधणाए तइया इमाणि लिंगाणि दंसेई ॥१८९७॥

'इय झायतो खवओ' एवं ध्यानेन प्रवर्तमानः क्षपकः । यदा वक्तुमसमर्थो भवति तदा 'आराधणाए' रत्नत्रयपरिणतेरात्मनो लिङ्गानीमानि दर्शयति ॥१८९७॥

हुकारजलिभमुहगुलीहिं अच्छीहिं वीरमुट्ठीहि ।
सिरचालणेण य तहा सण्णं दावेदि सो खवओ ॥१८९८॥

'हु कारजलिभमुहगुलीहि अच्छीहि' हुकारेण वा अञ्जलिरचनया, भ्रूक्षपेण, अङ्गुलिपञ्चकदर्शनेन उपदेष्टारं प्रति प्रसन्नतया(नया) दृष्ट्या किं समाहितचित्तोऽसीत्युक्ते शिरःकम्पनेन संज्ञा दर्शयति क्षपकः ॥१८९८॥

तो पडिचरया खवयस्स दिंति आराधणाए उवओगं ।
जाणंति सुदरहस्सा कदसण्णा कायरखवएण ॥१८९९॥

'तो पडिचरगा' ततः प्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्याराधनायामुपयोगं जानन्ति श्रुतरहस्याः क्षपकेण कृतसंकेताः । जाणंति ॥१८९९॥

लेश्याया संबन्धं करोति—

इय समभावमुवगदो तह ज्झायंतो पसत्थझाणं च ।
लेस्साहिं विसुज्झंतो गुणसेढिं सो समारुहदि ॥१९००॥

गा०—जैसे वैद्य पुरुषके रोगो की चिकित्सामें कुशल होता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी रोग की चिकित्सा करनेमें कुशलवैद्य है ॥१८९५॥

गा०—जैसे अन्न भूखको दूर करता है वैसे ही विषयोंकी भूख दूर करनेके लिये ध्यान अन्नके समान है। तथा जैसे प्यास लगने पर पानी उसे दूर करता है वैसे ही विषयरूपी प्यासके लिये ध्यान पानीके समान है ॥१८९६॥

गा०—इस प्रकार ध्यानमें संलग्न क्षपक जब बोलनेमें असमर्थ होता है तब मैं रत्नत्रयमें संलग्न हूँ यह बात आगे कहे चिन्होंमे प्रकट करता है ॥१८९७॥

गा०—निर्यापकाचार्यके पूछनेपर कि तुम्हारा चित्त सावधान है, वह क्षपक हुकारसे, हाथो की अंजुलि द्वारा, या भौं के संचालनसे अथवा पाँचो अँगुलियोंकी मुट्ठी बनाकर या सिर हिलाकर प्रसन्न दृष्टिसे संकेत करता है ॥१८९८॥

गा०—तब क्षपकके द्वारा पहलेसे ही संकेत ग्रहण करने वाले और आगमके रहस्यको जानने वाले परिचारक मुनिगण यह जान लेते हैं कि क्षपकका उपयोग आराधनामें है ॥१८९९॥

विशेषार्थ—क्षपक पहले ही कह रखता है या परिचारक पहले ही क्षपकसे कह देते हैं कि बोलनेमें असमर्थ होनेपर मैं अपनी परिणतिको हुकार आदि संकेतोंसे कह दूँगा ॥१८९९॥

आगे क्षपककी लेश्याविशुद्धिका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार समताभावको प्राप्त वह क्षपक प्रशस्त ध्यान ध्याता है और विशुद्ध

'इय समभावमुवगदो' एव समचितता गत प्रास्तध्यान प्रवर्तमेन्, लेश्याभिर्विशुद्धगुणश्रेणी-मारोहति ॥१९००॥

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स ।
अब्भंतरलेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥१९०१॥
किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ ।
पजहइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०२॥

'जह बाहिरलेस्साओ' कृष्णनीलकापोतास्चेति तिस्र अप्रशस्ता प्रजहाति वैराग्यभावनावान् ससार-भीरुता परामुपागत ॥१९०१–१९०२॥

लेश्यापूर्वक अर्थात् क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यारूप परिणमन करता हुआ गुणश्रेणिपर अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥१९००॥

गा०—जैसे पुरुषके शरीरमें कृष्ण आदि द्रव्य लेश्या—शरीरका रंग काला गोरा होता है। वैसे ही अभ्यन्तरमें कृष्ण आदि भावलेश्या होती हैं ॥१९०१॥

विशेषार्थ—लेश्याके दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। मिथ्यात्व आदिके कारण जीवके जो तीव्रतम आदि भाव होते हैं वह भावलेश्या है। आगममें कहा है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगसे प्राणियोंके जो संस्कार होते हैं वह भावलेश्या है। लेश्या छह हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इनमेंसे प्रारम्भकी तीन लेश्या अशुभ हैं और शेष तीन शुभ हैं। अशुभ लेश्याओंमें तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रूपसे तथा शुभलेश्याओंमें मन्द, मन्दतर और मन्दतमरूपसे हानिवृद्धि होती रहती है। जैसे अशुभ लेश्याओंमें कापोत लेश्या तीव्र है, नीललेश्या तीव्रतर है और कृष्णलेश्या तीव्रतम है। इसी तरह शुभलेश्याओंमें पीतलेश्या मन्द, पद्मा मन्दतर और शुक्ला मन्दतम है। उदाहरणके रूपमें जो व्यक्ति फलसे भरे वृक्षको जड़से काटकर फल खाना चाहता है उसके कृष्णलेश्या है। जो जड़को छोड़ केवल तना काटकर फल खाना चाहता है उसके नीललेश्या है। जो एक शाखा काटकर फल खाना चाहता है उसके कापोत लेश्या है। जो एक उपशाखा तोड़कर फल खाना चाहता है उसके पीतलेश्या है। जो केवल फल ही तोड़कर खाना चाहता है उसके पद्मलेश्या है। और जो जमीनपर गिरे हुए फलोंको ही उठाकर खाना चाहता है उसके शुक्ललेश्या होती है। जो रागी, द्वेषी, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभसे युक्त है, निर्दय है, कलहप्रिय है, मद्य मांसके सेवनमें आसक्त है वह कृष्णलेश्या वाला होता है। जो घमण्डी, मायावी, विषयलम्पट, अनेक प्रकारकी परिग्रहमें आसक्त प्राणी है वह नीललेश्यावाला होता है। जो परकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होता है, फिर हानि लाभको भी नहीं देखता, लड़ाई होनेपर मरने मारनेको तैयार रहता है वह कापोतलेश्या वाला है। जो सर्वत्र समदृष्टि है कृत्य अकृत्य, हित अहितको जानता है दयादानका प्रेमी है वह पीतलेश्यावाला होता है। जो त्यागशील, क्षमाशील, भद्र और साधुजनोंकी पूजामें तत्पर रहता है वह पद्मलेश्यावाला होता है। जो माया और निदान नहीं करता, रागद्वेष नहीं करता वह शुक्ल लेश्यावाला है ॥१९०१॥

तेओ पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णि वि दु पसत्थाओ ।
पडिवज्जेइ य कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०३॥

'तेओ पम्मा सुक्का' तेज पद्मशुक्ललेश्या प्रतिपद्यते परिपाट्या ॥१९०३॥

एदेसिं लेस्साण विसोधण पडि उवक्कमो इणमो ।
सव्वेसिं संगाणं विवज्जणं सव्वहा होइ ॥१९०४॥

'एदेसिं लेस्साण' एतासां शुभलेश्यानां शुद्धिं प्रत्ययमुपक्रमः बाह्याभ्यन्तरसर्वपरिग्रहत्यागः ॥१९०४॥

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ।
अज्झवसाणविसोधी मंदकसायस्स णादव्वा ॥१९०५॥

'लेस्सासोधी' लेश्यानां शुद्धिः । 'अज्झवसाणविसोधीए होदि' परिणामविशुद्धया भवति । 'अज्झवसाणविसुद्धी' परिणामविशुद्धिश्च । 'मंदकसायस्स' मन्दकषायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥१९०५॥

कषायाणां मन्दता कथमित्यत्राह—

मंदा हुंति कसाया बाहिरसंगविजडस्स सव्वस्स ।
गिण्हइ कसायबहुलो चेव हु सव्वंपि गंथकलिं ॥१९०६॥

'मंदा हुंति कसाया' कषाया मन्दा भवन्ति, कृतबाह्यसंगपरित्यागस्य । कषायबहुल एवायं सर्वो जीवः सर्वं ग्रन्थकलिं गृह्णाति ॥१९०६॥

जह इंधणेहिं अग्गी वड्ढइ विज्झाइ इंधणेहिं विणा ।
गंथेहिं तह कसाओ वड्ढइ विज्झाइ तेहिं विणा ॥१९०७॥

वही कहते हैं—

गा०—क्षपक कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन अप्रशस्त लेश्याओंको त्यागकर वैराग्य भावनासे युक्त होता है और संसारसे अत्यन्त भयभीत रहता है ॥१९०२॥

गा०—तथा पीत, पद्म, शुक्ल, इन तीन प्रशस्त लेश्याओंको क्रमसे स्वीकार करके उत्कृष्ट संवेगभावको धारण करता है ॥१९०३॥

गा०—इन लेश्याओंकी विशुद्धिका उपक्रम यह है कि समस्त परिग्रहोंका सर्वथा त्याग होता है अर्थात् परिग्रहके त्यागसे लेश्यामें विशुद्धि आती है ॥१९०४॥

गा०—परिणामोंकी विशुद्धि होनेसे लेश्याकी विशुद्धि होती है। और जिसकी कषाय मन्द है उसके परिणामोंमें विशुद्धि होती है ॥१९०५॥

गा०—कषायोंकी मन्दता कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

जो बाह्य परिग्रहका त्याग करता है उसकी कषाय मन्द होती है। जिसकी कषाय तीव्र होती है वही सब परिग्रहरूप पापको स्वीकार करता है ॥१९०६॥

'जह इंधणेहिं अग्गी' इन्धनैर्यथाग्निर्वर्द्धते तैर्विना प्रशाम्यति। ग्रन्थैस्तथा कषायो वर्द्धते, तैर्विना मन्दो भवति ॥१९०७॥

जह पत्थरो पडंतो खोभेइ दहे पसण्णमवि पंकं।
खोभेइ पसण्णमवि कसाय जीवस्स तह गंथो ॥१९०८॥

'जह पत्थरो पडतो' यथा पाषाण पतन् ह्रदे प्रशान्तमपि पङ्कं क्षोभयति, तथा जीवस्य कषाय ग्रन्थाः क्षोभयन्ति ॥१९०८॥

अब्भतरसोधीए गंथे णियमेण बाहिरे चयदि।
अब्भतरमइलो चेव बाहिरे गेण्हदि हु गंथे ॥१९०९॥

'अब्भतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया नियमेन बाह्यान्परिग्रहांस्त्यजति, अभ्यन्तरमलिन एव बाह्यान् गृह्णाति परिग्रहान् ॥१९०९॥

अब्भतरसोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण।
अब्भतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥१९१०॥

'अब्भतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया बाह्यशुद्धिर्नियमेन भवति। अभ्यन्तरदोषेणैव बाह्यान्कायगतान् दोषान् करोति ॥१९१०॥

जध तंडुलस्स कोण्डयसोधी सतुसस्स तीरदि ण कादुं।
तह जीवस्स ण सक्का लिस्सासोधी ससगंस्स ॥१९११॥

'जह तंडुलस्स' यथा तन्दुलस्य अभ्यन्तरमलशुद्धि कर्तुं न शक्यते बाह्यतुषसहितस्य। तथा जीवस्य न शक्या लेश्याशुद्धि कर्तुं सपरिग्रहस्य ॥१९११॥

इत उत्तर लेश्याश्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

सुक्काए लेस्साए उक्कस्सं अंसयं परिणमित्ता।
जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ॥१९१२॥

गा०—जैसे ईंधनसे आग बढ़ती है और ईंधनके अभावमें बुझ जाती है वैसे ही परिग्रहसे कषाय बढ़ती है और परिग्रहके अभावमें मन्द हो जाती है ॥१९०७॥

गा०—जैसे जलमें पत्थर फेंकनेसे नीचे बैठी हुई कीचड़ ऊपर आ जाती है। वैसे ही परिग्रहसे जीवकी दबी हुई कषाय उदयमें आ जाती है ॥१९०८॥

गा०—अन्तरंगमें कषायकी मन्दता होनेपर नियमसे बाह्य परिग्रहका त्याग होता है। अभ्यन्तरमें मलिनता होनेपर ही जीव बाह्य परिग्रहोंको ग्रहण करता है ॥१९०९॥

गा०—अभ्यन्तरमें विशुद्धि होनेपर बाह्य विशुद्धि नियमसे होती है। अभ्यन्तरमें दोष होनेसे ही मनुष्य शारीरिक दोष करता है ॥१९१०॥

गा०—जैसे बाहरमें तुष (छिल्का) रहते हुए चावलकी अभ्यन्तर शुद्धि सम्भव नहीं है। वैसे ही परिग्रही जीवके लेश्याकी विशुद्धि सम्भव नहीं है ॥१९११॥

'सुक्काए लेस्साए' शुक्ललेश्याया उत्कृष्टांशे परिणतो यो मृतिमुपैति स नियमादुत्कृष्टाराधको भवति ॥१९१२॥

खाइयदंसणचरणं खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो ।
तं होइ खीणमोहो आराहित्ता य जो हु अरहंतो ॥१९१३॥
जे सेसा सुक्काए दु असया जे य पम्मलेस्साए ।
तल्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥१९१४॥

'जे सेसा सुक्काए दु असया' उत्कृष्टांशादन्ये ये शुक्ललेश्याया अंशा ये चापि पद्मलेश्याया अंशा तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥१९१३॥१९१४॥

तेजाए लेस्साए ये असा तेसु जो परिणमित्ता ।
कालं करेइ तस्स हु जहण्णियाराधणा भणिदा ॥१९१५॥

'तेजोए लेस्साए' तेजोलेश्याया ये अंशास्तेषु परिणतो यदि कालं कुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति ॥१९१५॥

जो जाए परिणिमित्ता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ।
तल्लेसो उववज्जइ तल्लेसे चेव सो सग्गे ॥१९१६॥

'जो जाए' यो यया लेश्यया परिणतः कालं करोति, स तल्लेश्य एवोपजायते, तल्लेश्यासमन्विते स्वर्गे ॥१९१६॥

अध तेउपउमसुक्कं अदिच्छिदो णाणदंसणसमग्गो ।
आउक्खया दु सुद्धो गच्छदि सुद्धिं चुयकिलेसो ॥१९१७॥

आगे लेश्या के आश्रयसे आराधनाके भेद कहते हैं—

गा०—जो क्षपक शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंश रूपसे परिणत होकर मरण करता है वह नियमसे उत्कृष्ट आराधक होता है ॥१९१२॥

गा०—क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र और क्षायोपशमिक ज्ञानकी आराधना करके क्षीणमोह होता है और वह बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह तदनन्तर अरहंत होता है ॥१९१३॥

गा०—शुक्ललेश्याके शेष मध्यम और जघन्य अंश तथा पद्मलेश्याके उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंश रूपसे परिणत होकर मरण करने वाला क्षपक मध्यम आराधक होता है ॥१९१४॥

गा०—तेजोलेश्याके अंशरूपसे परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है ॥१९१५॥

गा०—जो क्षपक जिस लेश्यारूपसे परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेश्यावाले स्वर्गमें उसी लेश्यावाला ही देव होता है ॥१९१६॥

गा०—जो पीत पद्म और शुक्ललेश्याको भी छोडकर लेश्यारहित अयोग अवस्थाको प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण केवलज्ञान और केवल दर्शनसे युक्त होकर आयुका क्षय होनेपर मोक्ष प्राप्त

'अथ तेउपउमसुक्क' अथ तेज पद्मशुक्ललेश्या अतिक्रान्त अलेश्यतामुपगत ज्ञानदर्शनसमग्र आयुष क्षयात् सिद्धि गच्छति कर्मलेपापगमाद्विशुद्धो निरस्तानेपक्लेश । लेस्सेत्ति ॥१९१७॥

एवं सुभाविदप्पा ज्झाणोवगओ पसत्थलेस्साओ ।
आराधणापडाय हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥१९१८॥

'एव सुभाविदप्पा' एव सुष्ठु भावितात्मा ध्यानमुपगत प्रशस्तलेश्यापरिणत आराधनापताका हरत्यविघ्नेन ॥१९१८॥

तेलोक्कमव्वसारं चउगइससारदुक्खणासयर ।
आराहण पवण्णो सो भयव मुक्खपडिमुल्ल ॥१९१९॥

'तेलोक्कसव्वसार' त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्सारभूता चतुर्गतिससारदु खनाशकरणीमाराधना प्रपन्नोऽसौ भगवान् मोक्षप्रतिमौल्य ॥१९१९॥

एवं जधाक्खादविधिं सपत्ता सुद्धदमणचरिना ।
केई खवंति खवया मोहावरणतरायाणि ॥१९२०॥

'एव जधाक्खादविधि' एव यथाख्यातविधि सप्राप्ता शुद्धदर्शनचारित्रा केचित्क्षपका घातिकर्माणि क्षपयन्ति ॥१९२०॥

केवलकप्प लोगं सपुण्णं दव्वपज्जयविधीहिं ।
ज्झायता एयमणा जहति आराहया देह ॥१९२१॥

'केवलकप्प' केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्य लोक सपूर्णं द्रव्यपर्यायविकल्पै परिच्छिन्दन्त जहति ते स्वदेह ॥१९२१॥

करता है। वह समस्त कर्मलेपके चले जानेसे विशुद्ध होता है तथा समस्त क्लेशोसे छूट जाता है ॥१९१७॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक अच्छी तरहसे आत्माकी भावना भाकर प्रशस्त लेश्यापूर्वक ध्यान करके, किसी विघ्न बाधाके बिना आराधना पताकाको धारण करता है ॥१९१८॥

गा०—वह भगवान् तीनो लोकोमे सारभूत तथा चार गतिरूप ससारके दु खोका नाश करनेवाली आराधनाको प्राप्त करता है जो उस मोक्षका प्रतिमूल्य है अर्थात् आराधनारूपी मूल्य प्रदान करके ही मोक्षको खरीदा जा सकता है ॥१९१९॥

गा०—इस प्रकार कोई-कोई चरमशरीरी क्षपक यथाख्यात चारित्रकी विधिके द्वारा शुद्ध सम्यग्दर्शन और चारित्रको प्राप्त करके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोका क्षय करते हैं ॥१९२०॥

गा०—केवलज्ञानके द्वारा जाननेके योग्य सम्पूर्ण लोकको द्रव्य पर्यायोंके भेदोंके साथ एकाग्रमनसे जानते हुए आराधक अपना शरीर छोडते हैं ॥१९२१॥

सव्वुक्कस्स जोगं जुंजंता दंसणे चरित्ते य ।
कम्मरयविप्पमुक्का हवंति आराधया सिद्धा ॥१९२२॥

'सव्वुक्कस्स' सर्वोत्कृष्टं दर्शनचारित्रयोर्योगं प्रतिपद्यमाना कर्मरजोभ्यो विप्रमुक्ता आराधका सिद्धा भवन्ति ॥१९२२॥

इयमुक्कस्सियमाराधणमणुपालित्तु केवली भविया ।
लोगग्गसिहरवासी हवंति सिद्धा धुयकिलेसा ॥१९२३॥

'इय उक्कस्सिय' एवमुत्कृष्टामाराधनामनुपाल्य केवलिनो भूत्वा निरस्तक्लेशा लोकाग्रशिखरवासिन सिद्धा भवन्ति ॥१९२३॥

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणट्ठमिच्छत्ता ।
हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयणिम्महणा ॥१९२४॥

'अह सावसेसकम्मा' अथ सावशेषकर्माणो मथितकषाया प्रणष्टमिथ्यात्वा हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सा-वेदत्रिकमथना ॥१९२४॥

पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंवुडा सव्वसंगउम्मुक्का ।
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असंमूढा ॥१९२५॥

'पंचसमिदा' समितिपंचकोपेता गुप्तित्रयोपेता सुसंवृता अपाकृतसर्वसंगा धीरा अदीनमनस समसुख-दुःखा असंमूढा ॥१९२५॥

सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिट्ठिदा सम्मं ।
धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥१९२६॥

'सव्वसमाधाणेण' सर्वेण समाधानेन चारित्रे सम्यगवस्थिता धर्मध्याने प्रथमशुक्ले वा उपयुक्ता ॥१९२६॥

गा०—सबसे उत्कृष्ट अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक् चारित्रको प्राप्त करके वे आराधक कर्मरूपी रजसे अर्थात् शेष चार अघाति कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाते हैं ॥१९२२॥

गा०—इस प्रकार उत्कृष्ट आराधनाका पालन करके केवलज्ञानी होकर सम्पूर्ण क्लेशोंसे छूट जाते हैं और लोकके शिखर पर विराजमान होते हैं ॥१९२३॥

गा०—किन्तु जिनके कर्मबन्धन शेष रहता है वे मिथ्यात्वको नष्ट करके तथा कषायोंका और हास्य रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीनों वेदोंका मथन करके, पाँच समिति और तीन गुप्तियोंके द्वारा सम्यक् रूपसे संवर करके समस्त परिग्रहसे रहित होकर धीरतापूर्वक, मनमें दीनताका भाव नहीं लाते। मोहरहित होकर सुख और दुःखमें समभाव रखते हैं। मन, वचन, कायको समाहित करके चारित्रमें सम्यक् निष्ठ रहते हैं तथा धर्मध्यान या प्रथम शुक्लध्यानमें उपयोग लगाते हैं ॥१९२४-२६॥

इय मज्झिममाराघणमणुपालित्ता सरीरपजहित्ता ।
हुति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥१९२७॥

'इय मज्झिम' एवं मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीरं त्यक्त्वा विशुद्धलेश्याधरा अनुत्तरवासिनो देवा भवन्ति ॥१९२७॥

दंसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपधाणा य ।
इरियावहपडिवण्णा हवंति लवसत्तमा देवा ॥१९२८॥

'दंसणणाणचरित्ते' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु उत्कृष्टा उत्तमाभिग्रहा ईर्यापथं प्रपन्ना लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥१९२८॥

कप्पोवगा सुरा जं अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ।
तत्तो अणंतगुणिदं सुहं दु लवसत्तमसुराणं ॥१९२९॥

'कप्पोवगा सुरा जं' कल्पोपपन्ना सुरा अप्सरोभिस्सहिता यत्सुखमनुभवन्ति ततोऽप्यनन्तगुणितं लवसत्तमदेवानां ॥१९२९॥

णाणम्मि दंसणम्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादे ।
वड्ढिदतवोवधाणा अवहियलेस्सा सददमेव ॥१९३०॥

'णाणम्मि दंसणम्मि य' ज्ञानदर्शनयोर्यथाख्याते च संयमे आयुक्ता वर्द्धिततपोऽभिग्रहा सततं विशुद्धलेश्या क्षपका ॥१९३०॥

पजहिय सम्मं देहं सददं सव्वगुणावड्ढिदगुणड्ढा ।
देविंदचरमठाणं लहंति आराधया खवया ॥१९३१॥

'पजहिय देहं' विहाय देहं सम्यक्सदा सर्वगुणवर्धितगुणाढ्या देवेन्द्रचरमस्थानं लभन्ते ॥१९३१॥

गा०—इस प्रकार मध्यम आराधनाका पालन करके शरीर त्याग कर विशुद्ध लेश्याके धारक अनुत्तरवासी देव होते हैं ॥१९२७॥

गा०—वे मध्यम आराधनाके पालक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमें उत्कृष्ट होते हैं। अर्थात् कल्पोपपन्न देवोंमें उत्पन्न कराने वाले रत्नत्रयके आराधकोंसे उत्कृष्ट होते हैं। उनकी तपश्चर्या उत्तम होती है, वे ईर्यापथ आस्रवके धारी होते हैं अर्थात् कषायरहित कायकी क्रियासे होनेवाला शुभास्रव ही उनके होता है। वे मरकर लवसत्तम अर्थात् ग्रैवेयक या अनुदिश विमानवासी देव होते हैं ॥१९२८॥

गा०—कल्पवासी देव अपनी देवांगनाओंके साथ जिस सुखको भोगते हैं उससे अनन्तगुणा सुख अहमिन्द्रदेव भोगते हैं ॥१९२९॥

गा०—जो क्षपक ज्ञान दर्शन और यथाख्यात चारित्रमें लीन रहते हैं, अपनी तपश्चर्याको निरन्तर बढ़ाते हैं, वे विशुद्ध लेश्यावाले होते हैं ॥१९३०॥

गा०—वे आराधक क्षपक सम्यक् भावना पूर्वक शरीर त्यागकर अनन्तगुणी अणिमा आदि ऋद्धियोंसे सम्पन्न उपरिम स्वर्गमें स्थान प्राप्त करते हैं ॥१९३१॥

सुयभत्तीए विसुद्धा उग्गतवणियमजोगसुद्धा ।
लोगंतिया सुरवरा हवंति आराधया धीरा ॥१९३२॥

जावदिया रिद्धिओ हवंति इंदियगदाणि य सुहाणि ।
ताइं लहंति ते आगमेसिं भद्दा सया खवया ॥१९३३॥

'जावदिया रिद्धीओ' यावन्त्य ऋद्धयो भवन्ति यावन्तीन्द्रियसुखानि च भवन्ति तानि सर्वाणि लप्स्यन्ते भद्राशया क्षपका ॥१९३२-१९३३॥

जे वि हु जहण्णिय तेउलेस्समाराहणं उवणमंति ।
ते वि हु सोधम्माइसु हवंति देवा ण हेट्ठिल्ला ॥१९३४॥

'जे वि हु जहण्णिय' येऽपि जघन्यामाराधना तेजोलेश्याप्रवृत्तामुपनमन्ति तेऽपि सौधर्मादिषु देवा भवन्ति, नाधोभाविनो देवा ॥१९३४॥

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स ।
तं अचिरेण लहंते फासित्ताराहणं णिहिलं ॥१९३५॥

'किं जंपिएण बहुणा' किं बहुनोक्तेन यत्सर्वस्यास्य लोकस्य सारभूतं तदचिरेण लभन्ते आराधना प्रपन्ना ॥१९३५॥

भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण तत्तो चुदा सुमाणुस्से ।
इड्ढीमतुलं चइत्ता चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥१९३६॥

'भोगे अणुत्तरे' भोगानुत्कृष्टान् भुक्त्वा स्वर्गच्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृद्धिं तां च त्यक्त्वा जिनाभिहितं धर्मं चरन्ति ॥१९३६॥

गा०—श्रुतभक्तिसे विशुद्ध, उग्रतप, नियम और आतापन आदि योगसे शुद्ध धीर आराधक लौकान्तिक देव होते हैं ॥१९३२॥

गा०—जितनी ऋद्धियां हैं और जितने भी इन्द्रिय सुख हैं उन सबको भद्रपरिणामी क्षपक आगामी कालमें प्राप्त करते हैं ॥१९३३॥

गा०—तेजोलेश्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं वे भी सौधर्म आदि स्वर्गोंमें देव होते हैं, नीचेके देव नहीं होते। अर्थात् भवनत्रिकमें जन्म नहीं लेते ॥ १९३४॥

गा०—अधिक कहनेसे क्या? जो समस्त लोकका सारभूत है उस सबको आराधना करने वाले शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥१९३५॥

गा०—स्वर्गोंके उत्कृष्ट भोगोंको भोगकर स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य भवमें जन्म लेते हैं और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। फिर उसे त्यागकर जिन भगवान्‌के द्वारा कहे हुए धर्मका पालन करते हैं ॥१९३६॥

सदिमंतो धिदिमंतो सद्धासवेगवीरियोवगया ।
जेदा परीसहाणं उवसग्गाणं च अभिभविय ॥१९३७॥

'सदिमंतो' स्मृतिमन्त घृतिसमन्विता श्रद्धासंवेगवीर्यसहिता परीषहाणां विजेतार उपसर्गाणामभिभवितार ॥१९३७॥

इय चरणमधक्खादं पडिवण्णा सुद्धदसणमुवेदा ।
सोधिंति ज्झाणजुत्ता लेस्साओ संकिलिट्ठाओ ॥१९३८॥

'इय चरणमधक्खादं' एवं यथाख्यातचारित्रं प्रतिपन्ना शुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ता संक्लिष्टलेश्या विनाशयन्ति ॥१९३८॥

सुक्क लेस्समुवगदा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा ।
उम्मुक्ककम्मकवया उविंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥१९३९॥

'सुक्क लेस्समुवगदा' शुक्ललेश्यामुपगता शुक्लध्यानेन क्षपितसंसारा उन्मुक्तकर्मकवचा दूरीकृतक्लेशा सिद्धिमुपयान्ति ॥१९३९॥

एव सथारगदो विसोधइत्ता वि दसणचरित्तं ।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥१९४०॥

'एवं संथारगदो' उक्तेन प्रकारेण संस्तरमुपगतोऽपि कृतदर्शनचारित्रशुद्धिरपि कश्चित्कर्मगौरवादार्तरौद्रपरिणतः पतति । तत्र दोषमाचष्टे ॥१९४०॥

ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुद्दं च चरिमकालम्मि ।
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥१९४१॥

गा०—वे शास्त्रोका अनुचिन्तन करते हैं, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा, सवेग और शक्तिसे युक्त होते हैं। परीषहोको जीतते हैं और उपसर्गोको निरस्त करते हैं, उनसे अभिभूत नही होते ॥१९३७॥

गा०—इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्रको प्राप्त करके ध्यानमें मग्न होकर सक्लेशयुक्त अशुभ लेश्याओका विनाश करते हैं ॥१९३८॥

गा०—शुक्ललेश्यासे सम्पन्न होकर शुक्लध्यानके द्वारा ससारका क्षय करते हैं और कर्मोके कवचसे मुक्त हो, सब दु खोको दूर करके मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥१९३९॥

गा०—इस प्रकार सस्तरपर आरूढ होकर और सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्रको निर्मल करके भी कोई-कोई क्षपक कर्मोकी गुरुता होनेसे आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक रत्नत्रय रूप आराधनासे गिर जाता है ॥१९४०॥

गा०—जो क्षपक साधु मरते समय आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक अपने शरीरको छोडता है वह सुगति प्राप्त नही करता ॥१९४१॥

'ज्ञायतो अणगारो' मरणकाले आर्तरौद्रयो परिणतो भूत्वा य स्वदेहं जहाति नासौ क्षपक सुगति लभते ॥१९४१॥

जदि दा सुभाविदप्पा वि चरिमकालम्मि संकिलेसेण ।
परिवडदि वेदणट्टो खवओ संथारमारूढो ॥१९४२॥

'जदि वा सुभाविदप्पा वि' यदि तावत्सुभावितात्मापि संस्तरमारूढः वेदनार्तः क्षपकः संक्लेशेन हेतुना सन्मार्गात्परिपतति ॥१९४२॥

किं पुण जे ओसण्णा णिच्चं जे वा वि णिच्चपासत्था ।
जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहाछंदा ॥१९४३॥

'किं पुण' किं पुनर्न परिपतन्ति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्य पार्श्वस्था ये वा सदा कुशीला संसक्ता वा स्वच्छन्दा ॥१९४३॥

तत्र अवसन्ना निरूप्यन्ते—

गच्छहि केइ पुरिसा पक्खी इव पंजरंतरणिरुद्धा ।
सारणपंजरचकिदा ओसण्णागा पावहरंति ॥१९४४॥

यथा कर्दमे क्षुण्ण मार्गाद्धीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्न । भावावसन्न अशुद्धचरित्र सीदति उपकरणे, वसति संस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिशोधने, गोचारशुद्धौ, ईर्यासमित्यादिषु, स्वाध्यायकालावलोकने, स्वाध्यायविसर्गे, गोचारे, च अनुद्यत , आवश्यकेष्वलस , जनातिरिक्तो वा जनाधिक करोति कुर्वंश्च यथोक्तमावश्यक वाक्कायाभ्यां करोति न भावेन एवंभूतश्चारित्रेऽवसीदतीत्यवसन्न । पन्थानं पश्यन्नपि

गा०—यदि अपनी आत्माकी सम्यक् भावना करने वाले भी संस्तरपर आरूढ़ हो, संक्लेश-के कारण मरते समय सन्मार्गसे गिर जाते हैं ॥१९४२॥

गा०—तो जो नित्य अवसन्न, नित्य पार्श्वस्थ, सदा कुशील संसक्त और स्वच्छन्द साधु हैं उनका कहना ही क्या है ? ॥१९४३॥

गा०-टी०—अवसन्न आदिका स्वरूप कहते हैं—

जैसे कोई पुरुष कीचडमें फँस गया या मार्गमें थक गया तो उसको अवसन्न कहते हैं। वह द्रव्यरूपसे अवसन्न है। उसी प्रकार जिसका चारित्र अशुद्ध होता है वह भाव अवसन्न होता है। वह उपकरणमें, वसतिकामें, सस्तरके शोधनेमें, स्वाध्यायमें, विहार करनेकी भूमिके शोधनेमें, गोचरीकी शुद्धतामें, ईर्यासमिति आदिमें, स्वाध्यायके कालका ध्यान रखनेमें और स्वाध्यायकी समाप्तिमें तत्पर नहीं रहता। छह आवश्यकोंमें आलस्य करता है। या दूसरोंमें करता तो अधिक है किन्तु वचन और कायसे करता है, भावसे नहीं करता। इस प्रकार चारित्रका पालन करते हुए खेदखिन्न होता है इससे उसे अवसन्न कहते हैं।

---

१ इस गाथा पर किसी प्रति में क्रमांक नहीं दिया है। न इस पर किसी की टीका ही है। स०

तत्समीपेऽन्येन कश्चिद् गच्छति, यथासौ मार्गपार्श्वस्थ , एवं निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेनासंयत , न च निरतिचारसंयम[1] सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति । शय्याधरपिण्डम-भिहितं नित्यं च पिण्डं भुङ्क्ते, पूर्वापरकालयोर्दातृस्तवं करोति, उत्पादनैषणादोषदुष्टं वा भुङ्क्ते, नित्यमेकस्यां वसतौ वसति, एकस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति। गृहिणां गृहाभ्यन्तरे निषद्यां करोति, गृहस्थोप-करणैर्व्यवहरति, दुःप्रतिलेखमप्रतिलेख्य वा गृह्णाति, सूचीकर्तरीनखच्छेदसंदंशनपट्टिकाक्षुरकर्णशोधनाजिनग्राही, सीवनप्रक्षालनावधूननरञ्जनादिबहुपरिकर्मव्यापृतश्च वा पार्श्वस्थ । क्षारचूर्णं सौवीरलवणसर्पिरित्यादिकं अनागाढकारणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्श्वस्थ । रात्रौ यथेष्टं शेते, संस्तरं च यथाकामं बहुतरं करोति। उपकरणबकुशो देहबकुश —दिवसे वा शेते च य पार्श्वस्थ । पदप्रक्षालनं [2]म्रक्षणं वा यत्कारण-मन्तरेण करोति, यश्च गणोपजीवी [3]तृणपञ्चकसेवापरश्च पार्श्वस्थ । अयमत्र संक्षेप —अयोग्यं सुखशीलतया यो निषेवते कारणमन्तरेण स सर्वथा पार्श्वस्थ । कुत्सितशील कुशील । यद्येवं अवसन्नादीनां कुशीलत्वं प्राप्नोति, नैवं लोकप्रकटकुत्सितशील कुशील इति विवेकोऽत्र ग्राह्य । स च कुशीलोऽनेकप्रकार कश्चित्कौ-तुकशील औषधविलेपनविद्याप्रयोगेणैव, सौभाग्यकरणं राजद्वारिकौतुकमादर्शयति य स कौतुककुशील ।

जैसे कोई मार्गको देखते हुए भी उस मार्गसे न जाकर अन्य उसके समीपवर्ती मार्गसे जाता है, उसे मार्ग पार्श्वस्थ कहते हैं। इसी प्रकार जो निरतिचार संयमका मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु संयमके पार्श्ववर्ती मार्गमें चलता है, वह न तो एकान्तसे असंयमी है और न निरतिचार संयमी है। उसे पार्श्वस्थ कहते हैं। शय्याधरपिण्डका स्वरूप पहले कहा है उस भोजनको नित्य करता है। भोजन करनेसे पहले और भोजन करनेके पश्चात् दाताकी स्तुति करता है। अथवा उत्पादन और एषणा दोषसे दूषित भोजन करता है। नित्य एक ही वसतिकामें रहता है। एक ही संस्तरपर सोता है। एक ही क्षेत्रमें रहता है। गृहस्थोंके घरके भीतर बैठता है। गृहस्थोंके उपकरणोंका उपयोग करता है। बिना प्रतिलेखनाके वस्तुको ग्रहण करता है या दुष्टता पूर्वक प्रतिलेखना करता है। सुई, कैंची, नख काटनेके लिये नहिनी, छुरा, कानका मैल निकालनेकी सीक, चम आदि पासमें रखता है। और सीना, धोना, रंगना आदि कामोंमें लगा रहता है, वह पार्श्वस्थ है। क्षारचूर्ण, सुर्मा, नमक, घी इत्यादि बिना कारण ग्रहण करके पासमें जो रखता है वह पार्श्वस्थ है। जो रातमें मनमाना सोता है, संस्तरा इच्छानुसार लम्बा चौड़ा बनाता है वह उपकरण बकुश है। जो दिनमें सोता है वह देहबकुश है। ये भी पार्श्वस्थ हैं। जो बिना कारण पैर धोता है और तेल लगाता है तथा जो गणोपजीव है वह पार्श्वस्थ है। सारांश यह है कि सुखशील होनेके कारण जो बिना कारण अयोग्यका सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ है।

जिसका शील कुत्सित है वह कुशील मुनि है

शङ्का—यदि ऐसा है तो अवसन्न आदि भी कुशील कहलायेंगे।

समाधान—नहीं, क्योंकि लोकमें जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है, यह भेद ग्रहण करना चाहिये। वह कुशील अनेक प्रकारका होता है। कोई कौतुक कुशील होता है जो औषध लगानेकी विद्याके प्रयोग द्वारा सौभाग्यके कारण राजद्वारमें कौतुक दिखलाता है।

---

१ म मविधीयते –अ० । २ प्रतिक्षण आ० । ३ तिण अ० ।

कश्चित् भूतिकर्मकुशील भूतिग्रहणमुपलक्षणं भूत्या, धूल्या, सिद्धार्थकैः, पुष्पैः, फलैरुदकादिभिर्वा मन्त्रितैः रक्षा वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशील । उक्तं च—

भूदीयव धूलीय वा सिद्धत्थग पुप्फफलुदकादीहिं।
रक्ख वसिगरण वा करेदि जो भूदिगकुसीलो ॥

कश्चित्प्रसेनिकाकुशील, अगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जनं रञ्जयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति। कश्चिन्निमित्तकुशील विद्याभिर्मन्त्रैरौषधप्रयोगैर्वा असयतं चिकित्सा करोति सोऽप्रसेनिकाकुशील । कश्चिन्निमित्तकुशील अष्टाङ्गनिमित्तं ज्ञात्वा यो लोकस्यादेशं करोति स निमित्तकुशील । आत्मनो जातिं कुलं वा प्रकाश्य यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीवकुशील । केनचिदुपद्रुतं परं शरणं प्रविशति, अनाथशाला वा प्रविश्य आत्मनश्चिकित्सा करोति स वा आजीवकुशील । विद्यायोगादिभि परद्रव्यापहरणदम्भप्रदर्शनपरः कक्वकुशील । इन्द्रजालादिभिर्यो जनं विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति । वृक्षगुल्मादीनां पुष्पाणां, फलानां च सभवमुपदर्शयति गर्भस्थापनादिकं च करोति यः स समूर्छनाकुशील । [1]त्रसजानां, कीटादीनां, वृक्षादीनां, पुष्पफलादीनां, गर्भस्य परिशातनं [2]आभिचारिकं च यः करोति शापं च प्रयच्छति स प्रपातनकुशील ॥ उक्तं च—

कोओतिकभूदिकम्मे पसिणा पसिणे णिमित्तमाजीवे ।
कक्वकुहन समुच्छण पपादणादीकुसीलो दु ॥ इति ॥

कोई भूतिकर्मकुशील होता है। यहाँ भूति शब्दसे भस्म, धूल, सरसों, पुष्प, फल, अथवा जल आदिसे मंत्र पढकर रक्षा या वशीकरण जो करता है वह भूतिकर्म कुशील है। कहा है—

जो भस्म, धूल, सरसों, पुष्प, फल, जल आदिके द्वारा रक्षा या वशीकरण करता है वह भूतिकर्म कुशील है। कोई प्रसेनिकाकुशील होता है जो अगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनिका, शशिप्रसेनिका, सूर्यप्रसेनिका, स्वप्नप्रसेनिका आदि विद्याओंके द्वारा लोगोंका मनोरंजन करता है। कोई अप्रसेनिका कुशील होता है जो विद्या, मंत्र और औषध प्रयोगके द्वारा असयमी जनोंका इलाज करता है। कोई निमित्तकुशील होता है जो अष्टाग निमित्तोंको जानकर लोगोंको इष्ट अनिष्ट बतलाता है। जो अपनी जाति, अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है वह आजीवकुशील है। जो किसीके द्वारा सताये जानेपर दूसरेकी शरणमें जाता है अथवा अनाथशाला-में जाकर अपना इलाज कराता है वह भी आजीव कुशील होता है। जो विद्या प्रयोग आदिके द्वारा दूसरोंका द्रव्य हरने और दम्भप्रदर्शनमें तत्पर रहता है वह कक्वकुशील होता है। जो इन्द्रजाल आदिके द्वारा लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करता है वह कुहनकुशील है। जो वृक्ष, झाडी, पुष्प और फलोंको उत्पन्न करके बताता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है वह सम्मूर्च्छनाकुशील है। जो त्रसजातिके कीट आदिका, वृक्ष आदिका, पुष्प फल आदिका तथा गर्भका विनाश करता है, उनकी हिंसा करता है, शाप देता है वह प्रपातन कुशील है। कहा है—

कौतुक कुशील, भूतिकर्म कुशील, प्रसेनिका कुशील, अप्रसेनिका कुशील, निमित्तकुशील, आजीव कुशील, कक्वकुशील, कुहनकुशील, सम्मूर्च्छनकुशील, प्रपातन कुशील आदि कुशील होते

१ त्रसजातीनां —आ० । २ अभिसारिकं —मु० ।

आदिशब्दपरिगृहीता कुशीला उच्यन्ते—क्षेत्र हिरण्य [1]चतुष्पद च परिग्रह ये गृह्णन्ति हरितकन्दफल-भोजिन कृतकारितानुमतपिण्डोपधिवसतिसेवापरा, स्त्रीकथारतय, मैथुनसेवापरायणा, [2]विवेकास्रवादि [3]अधिकरणोद्यताश्च कुशीला । धृष्ट प्रमत्त विकृतवेपश्च कुशील । ससक्तो निरूप्यते—प्रियचारित्रे प्रियचारित्र अप्रियचारित्रे दृष्टे अप्रियचारित्र, नटवदनेकरूपग्राही ससक्त । पञ्चेन्द्रियेषु प्रमक्त त्रिविधगौरवप्रतिबद्ध, स्त्रीविपये सक्लेशसहित गृहस्थजनप्रियश्च ससक्त । 'अवसण्णो' अवसन्न । पार्श्वस्थससर्गात्स्वयमपि पार्श्वस्थ, कुशीलससर्गात्स्वयमपि कुशील, य स्वच्छन्दसपर्कात्स्वयमपि स्वच्छन्दवृत्ति । यथाछन्दो निरूप्यते—उत्सूत्रमनुपदिष्ट स्वेच्छाविकल्पित यो निरूपयति सोऽभिधीयते यथाछन्द इति । तद्यथा वर्षे पतति जलधारणमसयम क्षुरकर्तरिकादिभि केशापनयनप्रशसन आत्मविराधनान्यथा भवतीति भूमिशय्या तृणपुञ्जे वसत अवस्थितानामाबाधेति, उद्देशिकादिके [4]जनेऽदोष ग्राम सकल पर्यटतो महती जीवनिकायविराधनेति, [5]गृहामत्रेषु भोजनमदोष इति कथन, पाणिपात्रिकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, सप्रति यथोक्तकारी न विद्यत इति च भाषण एवमादिनिरूपणापरा स्वच्छन्दा इत्युच्यन्ते ॥१९४४॥

हैं। गाथामें आये आदि शब्दसे ग्रहण किये कुशीलोंको कहते हैं—जो क्षेत्र, सुवर्ण, चौपाये आदि परिग्रहको स्वीकार करते हैं, हरे कंद, फल खाते हैं, कृत कारित अनुमोदनामें युक्त भोजन, उपधि वसतिकाका सेवन करते हैं, स्त्रीकथामें लीन रहते हैं, मैथुन सेवन करते हैं, आस्रवके अधिकरणोंमें लगे रहते हैं वे सब कुशील हैं। जो धृष्ट, प्रमादी और विकारयुक्त वेष धारण करता है वह कुशील है।

अब ससक्तका स्वरूप कहते हैं। चारित्र प्रेमियोंमें चारित्रप्रेमी, और चारित्रसे प्रेम न करनेवालोंमें चारित्रके अप्रेमी, इस तरह जो नटकी तरह अनेक रूप धारण करते हैं वे ससक्त मुनि हैं। जो पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होते हैं ऋद्धिगारव, सातगारव और रसगारवमें लीन होते हैं, स्त्रियोंके विषयमें रागरूप परिणाम रखते हैं, और गृहस्थजनोंके प्रेमी होते हैं वे ससक्त मुनि हैं। वे पार्श्वस्थके ससर्गसे पार्श्वस्थ, कुशीलके ससर्गसे कुशील और स्वच्छन्दके सम्पर्कसे स्वय भी स्वच्छन्द होते हैं।

अब यथाच्छन्दका स्वरूप कहते हैं—जो बात आगममें नहीं कही है, उसे अपनी इच्छानुसार जो कहता है वह यथाच्छन्द है। जैसे वर्षामें जलधारण करना अर्थात् वृक्षके नीचे बैठकर ध्यान लगाना असयम है। छुरे कैंची आदिसे केश काटनेकी प्रशसा करना और कहना कि केशलोच करनेसे आत्माकी विराधना होती है। पृथ्वीपर सोनेमें तृणोंमें रहनेवाले जन्तुओंको बाधा होती है। उद्दिष्ट भोजनमें कोई दोष नहीं है क्योंकि भिक्षाके लिये पूरे ग्राममें भ्रमण करनेमें जीव निकायकी महती विराधना होती है। घरके पात्रोंमें भोजन करनेमें कोई दोष नहीं है ऐसा कहना। जो हाथमें भोजन करता है उसे परिशातन दोष लगता है ऐसा कहना। आजकल आगमानुसार आचरण करनेवाले नहीं हैं ऐसा कहना। इत्यादि कहने वाले मुनि स्वच्छन्द कहे जाते हैं ॥१९४४॥

---

१ च पुष्प च–अ०। २ विवेकादि –आ०। ३ अकरणा –अ०। ४ वे भोजने मु०। ५ गृह माशासु मो –अ० आ०।

अविसुद्धभावदोसा कसायवसगा य मंदसवेगा ।
अच्चासादणसीला मायासहुला णिदाणकदा ॥१९४५॥

'अविसुद्धभावदोसा' भावा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामा, तेषां दोषा शङ्कादय तै अविशुद्धा अनिराकृता यैस्ते अविशुद्धभावदोषा । 'कसायवसिगा' कषायवशवर्तिन । मन्दसवेगा । 'अच्चासादणसीला' गुणाना गुणिना चापमानकारिण । प्रचुरमायानिदान गता ॥१९४५॥

सुहसादा किंमज्झा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ।
विसयासापडिबद्धा गारवगरुया पमाइल्ला ॥१९४६॥

'सुहसादा' सुखास्वादनपरा । 'किमज्झ' किं मह्य केनचिदिति सर्वेषु सघकार्येष्वनादृता । 'गुणसायी' गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शेरत इव निरुत्साहा । 'पावसुत्तपडिसेवी' आत्मन परेषा वा अशुभपरिणामस्य मिथ्यात्वासयमकषायाणा प्रवर्तक शास्त्र पापसूत्र निमित्त, वैद्यक, कौटिल्य, स्त्रीपुरुषलक्षण, धातुवाद, काव्यनाटकानि, चौरशास्त्र, शस्त्रलक्षण, प्रहरणविद्याचित्रकलागान्धर्वगन्धयुक्त्यादिक एतस्मिन् पापसूत्रे कृतादरास्यामा 'विसयासापडिबद्धा' अभिमतविषयपरिप्राप्त्यर्था या आशा तस्या प्रतिबद्धा, 'तिगारवगुरुका' गारवत्रयैर्गुरव । 'पमाइल्ला' विकथादिपञ्चदशप्रमादसहिता ॥१९४६॥

समिदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेसु ।
परतत्तीसु य तत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ॥१९४७॥

'समिदीसु य' समितिषु गुप्तिषु च सयमगुणेषु भावनारहिता परव्यापारेषु प्रवृत्ता भावशुद्धा वनादृता ॥१९४७॥

उक्त प्रकारके क्षपक मरते समय सन्मार्गसे क्यो च्युत हो जाते हैं यह सात गाथाओंसे कहते हैं—

गा०–टी०—वे क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप परिणामोंके जो शका आदि दोष हैं उन्हे दूर नही करते हैं कषायोंके वशवर्ती होते हैं, उनका सवेगभाव मन्द होता है, गुणोका और गुणीजनोका वे अपमान करते हैं, तथा माया और निदानशल्यकी उनमे प्रचुरता होती है ॥१९४५॥

गा०–टी०—वे सुखशील होते हैं, मुझे किसीसे क्या, ऐसा मानकर वे सघके सब कार्योंमे अनादरभाव रखते हैं, सम्यग्दर्शन आदि गुणोमे उनका उत्साह नही होता। अपने और दूसरोंके अशुभ परिणामको तथा मिथ्यात्व, असयम और कषायको बढानेवाला शास्त्र पापसूत्र है। निमित्त शास्त्र, वैद्यक, कौटिल्यशास्त्र (राजनीति), स्त्री पुरुषके लक्षण बतलानेवाला कामशास्त्र, धातुवाद (भौतिकी), काव्य नाटक, चोरशास्त्र, शस्त्रोंका लक्षण बतलानेवाला शास्त्र, प्रहार करनेकी विद्या, चित्रकला, गान्धर्व (नाच गाना), गन्धशास्त्र, युक्तिशास्त्र आदि पापशास्त्रोंमे उनका आदर होता है उन्हीका वे अध्ययन करते हैं। इष्ट विषयोंकी आशामे लगे रहते हैं, तीन गारवमे आसक्त होते हैं। विकथा आदि पन्द्रह प्रमादोंमे युक्त होते हैं ॥१९४६॥

गा०—समिति, गुप्ति और शील तथा सयमके गुणोंमे भावनासे रहित होते हैं। लौकिक कार्यों मे सलग्न रहते हैं भावोकी शुद्धिकी ओर ध्यान नही देते ॥१९४७॥

गंथअणियत्ततण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ।
सद्दरसरूवगंधे फासेसु य मुच्छिदा ¹घडिदा ॥१९४८॥

'गंथाणियत्ततण्हा' अतृप्तपरिग्रहतृष्णा, 'बहुमोहा' अज्ञानबहुला । शबलसेवनापरा, शब्दादिषु विषयेषु मूर्छिता ²तत्रघटिता ॥१९४८॥

परलोगणिप्पिवासा इहलोगे चेव जे सुपडिबद्धा ।
मज्झायादीसु य जे अणुट्ठिदा संकिलिट्ठमदी ॥१९४९॥

'परलोयणिप्पिवासा' परलोकनिस्पृहा, ऐहिकेष्वेव कार्येषु प्रतिबद्धा, स्वाध्यायादिष्वनुद्यता, संक्लिष्टमतय ॥१९४९॥

सव्वेसु य मूलुत्तरगुणेसु तह ते सदा अइचरता ।
ण लहंति खवोवसमं चरित्तमोहस्स कम्मस्स ॥१९५०॥

मूलोत्तरगुणेषु सदा सातिचारा न लभन्ते चारित्रमोहस्य क्षयोपशमं ॥१९५०॥

एवं मूढमदीया अवंतदोसा करेंति जे कालं ।
ते देवदुब्भगत्तं मायामोसेण पावंति ॥१९५१॥

'एवं मूढमदीया' एवं मूढबुद्धयो अनपास्तदोषा ये कालं कुर्वन्ति ते देवदुर्भगता प्राप्नुवन्ति मायया ॥१९५१॥

किंमज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु ।
ते देवसमिदिवज्झा कप्पंते हुंति सुरमिच्छा ॥१९५२॥

'किं मज्झणिरुच्छाहा' किं ममामिति ये सर्वसंघकार्येष्वनादृतास्ते देवसमितिबाह्या कल्पानामन्ते सुरम्लेच्छा भवन्ति ॥१९५२॥

गा०—उनकी परिग्रहकी तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। अज्ञानमें डूबे रहते हैं। गृहस्थोंके आरम्भमें फँसे होते हैं, शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्शमें ममत्वभाव रखते हैं ॥१९४८॥

गा०—परलोककी चिन्ता नहीं करते। इसी लोक सम्बन्धी कार्योंमें लगे रहते हैं। स्वाध्याय आदिमें उद्यम नहीं करते। उनकी मति सक्लेशमय होती है ॥१९४९॥

गा०—सदा मूलगुणों और उत्तरगुणोंमें अतिचार लगाते हैं। इससे उनके चारित्रमोहका क्षयोपशम नहीं होता ॥१९५०॥

गा०—इस प्रकार दोषोंको दूर न करनेवाले वे मूढबुद्धि जब मरते हैं तो मायाचारके कारण अभागे देव होते हैं ॥१९५१॥

गा०—वे मुनि अवस्थामें 'मुझे इससे क्या' ऐसा मानकर संघके सब कार्योंमें अनादर

---

१. दा वड्डिया —आ० । २. तत्र पतिता आ० । आसवघटि मु० ।

कदप्पभावणाए देवा कदप्पिया मदा होंति ।
खिब्भिसयभावणाए कालगदा होंति खिब्भिसया ॥१९५३॥
अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हुति ।
तह आसुरीए जुत्ता हवंति देवा असुरकाया ॥१९५४।
सम्मोहणाए काल करित्तु दुदुगा सुरा हुति ।
अण्णपि देवदुग्गइ उवयति विराधया मरणे ॥१९५५॥

स्पष्टार्थमुत्तरगाथात्रय ॥१९५३॥१९५४॥१९५५॥

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ।
त तेसि बालमरण होइ फल तस्स पुव्वुत्त ॥१९५६॥

'इय जे विराधयित्ता' एव ये रत्नत्रय विनाश्य मरणकाले असमाधिना मृतिमुपयान्ति तत्तेषा बाल-मरण भवति । तस्य बालमरणस्य फल पूर्वमुक्तमेव ॥१९५६॥

जे सम्मत्त खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जण्हू ।
ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होति ॥१९५७॥

'जे सम्मत्त खवगा' ये क्षपका सम्यक्त्व विनाश्य म्रियन्ते भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यन्तरा वा भवन्ति ॥१९५७॥

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए ।
संसारमण्डलगदा भमंति भवसागरे मूढा ॥१९५८॥

भाव रखनेके कारण देवोकी समितिसे बहिष्कृत सौधर्मादि कल्पोके अन्तमे बसनेवाले चाण्डाल जातिके देव होते हैं ॥१९५२॥

गा०—कन्दर्प भावनासे मरकर कन्दर्प जातिके देव होते हैं। किल्विषभावनासे मरकर किल्विपक जातिके देव होते हैं ॥१९५३॥

गा०—आभियोग्य भावनासे मरकर आभियोग्य जातिके देव होते हैं। तथा आसुरी भावनासे मरकर असुर जातिके देव होते हैं ॥१९५४॥

गा०—सम्मोहन भावनासे मरकर दुदुग जातिके देव होते हैं। अन्य भी विराधना करके मरनेवाले मुनि देवगतिमे हीन देव होते हैं ॥१९५५॥

गा०—इस प्रकार जो क्षपक मरते समय रत्नत्रयको नष्ट करके असमाधिपूर्वक मरते हैं उनका वह मरण बालमरण होता है और उस बालमरणका फल पूर्वमें कहा है ॥१९५६॥

गा०—जो क्षपक सम्यक्त्वको नष्ट करके मरते हैं वे मरकर भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिषीदेव होते हैं ॥१९५७॥

गा०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित वे मूढदेव स्वर्गसे च्युत होकर दुःखकी वेदना-रूपी लहरोंसे भरे ससारसमुद्रमें भ्रमण करते हैं ॥१९५८॥

'दंसणणाणविहीणा' सम्यग्दर्शनज्ञानहीनास्तत स्वर्गाच्च्युता दुःखवेदनोर्मिके भवसागरे मूढा भ्रमन्ति, संसारमण्डल गत्वा ॥१९५८॥

जो मिच्छत्तं गतूण किण्हलेस्सादिपरिणदो मरदि ।
तल्लेस्सो सो जायइ जल्लेस्सो कुणदि सो कालं ॥१९५९॥

'जो मिच्छत्त गतूण' य कृष्णलेश्यादिपरिणतो मिथ्यात्वं गत्वा म्रियते तल्लेश्यो जायते । परत्र च यल्लेश्य काल कृतवान् । फलति ॥१९५९॥

विजहणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमंतोव्व होज्ज बाहिं वा ।
विज्जावच्चकरा त सयं विकिंचंति जदणाए ॥१९६०॥

'एव कालगदस्य' एवं कालगतस्य शरीरमन्तर्वहिर्वावस्थितं वैयावृत्यकराः स्वयमेवापनयन्ति यत्नेन ॥१९६०॥

समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबंधे ।
पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं ॥१९६१॥

'समणाण ठिदिकप्पो' श्रमणानां स्थितिकल्पो वर्षावासे ऋतुप्रारम्भे च नियमेन सर्वे साधुर्निनिषीधिका नियमेन प्रतिलेखनीया ॥१९६१॥

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा ।
वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥१९६२॥

गा०—जो क्षपक मिथ्यादृष्टि होकर कृष्ण आदि लेश्याके साथ मरता है वह जिस लेश्याके साथ मरता है उसी लेश्यावाला होकर जन्म लेता है ॥१५५९॥

गा०—इस प्रकार नगर आदिके मध्यमे या नगरसे बाहर मरणको प्राप्त उस क्षपकके शरीरको वैयावृत्य करनेवाले परिचारक मुनि स्वयं ही सावधानतापूर्वक हटा देते हैं ॥१९६०॥

गा०—वर्षा ऋतुके चार मासोंमे एक स्थानपर वास प्रारम्भ करते समय और ऋतुके प्रारम्भमें सब साधुओंको नियमसे निषीधिकाकी प्रतिलेखना करना चाहिये, यह साधुओंका स्थितिकल्प है ॥१९६१॥

विशेषार्थ—मुमुक्षु साधुगण तो अपने शरीरमे भी निरीह होते हैं वे मृत क्षपकके शरीरको हटानेका प्रयत्न क्यों करते हैं ? ऐसी शंका होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि पूर्वमें साधुओंके जो दस स्थितिकल्पोंका कथन किया है, उसमे एक मास और पज्जोसवण कल्प भी हैं । उसके अनुसार जब साधु वर्षा योग धारण करते हैं या ऋतुका प्रारम्भ होता है तब उन्हें निषीधिका दर्शन करना आवश्यक होता है । जहाँ क्षपकके शरीरको स्थापित किया जाता है उस स्थानको निषीधिका कहते हैं । इसलिये निषद्याका दर्शन साधुओंका आवश्यक कर्तव्य होनेसे मुमुक्षु साधु निषद्याके निर्माणके लिये स्वयं प्रयत्न करते हैं ॥१९६१॥

'एगता सालोगा' एकाता परै प्रायेणादृश्या नातिदूरा नात्यासन्ना विस्तीर्णा विध्वस्ता दूरमवगाढा ॥१९६२॥

[1]अविसुय असुसिर अघमा सा उज्जोवा बहुसमा असिणिद्धा ।
णिज्जंतुगा [2]अरहिदा [3]अविला य तहा अणाबाधा ॥१९६३॥
जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अहव अवराए ।
वसधीदो [4]विग्गइज्जइ णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥१९६४॥

'जा अवरदक्खिणाए' अपरदक्षिणाशाया, दक्षिणस्या, अपरस्या वा दिशि वसतित निषीधिका प्रशस्ता ॥१९६३॥१९६४॥

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तसो सुलभ ।
अवराए सुविहारो होदि य से उवधिलाभो य ॥१९६५॥

'सव्वसमाधी पढमाए' सर्वेषा समाधिर्भवति 'पढमाए' अपरदक्षिणदिगवस्थितायां निषीधिकायां, दक्षिणदिगवस्थिनायामाहार सुलभ । पश्चिमायां सुखविहार उपकरणलाभश्च ॥१९६५॥

जदि तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ॥१९६६॥

'जदि तासि वाघादो' यदि ता निषीधिका न लभ्यन्ते, पूर्वदक्षिणनिषीधिका द्रष्टव्या, अपरोत्तरा वा पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥१९६६॥

निषद्याका लक्षण कहते हैं—

गा०—निषीधिका एकान्त स्थानमे होना चाहिये जहाँ दूसरे लोग उसे न देख सकते हो । नगर आदिसे न अति दूर और न अति निकट होनी चाहिये । विस्तीर्ण होनी चाहिये । प्रासुक होनी चाहिये तथा अतिदृढ होनी चाहिये ॥१९६२॥

गा०—वह चीटियोंसे रहित होनी चाहिये । अन्दर प्रवेश कराने वाले छिद्रोंसे रहित होनी चाहिये । प्रकाशवाली होनी चाहिये । समभूमि होनी चाहिये । गीली नही होनी चाहिये, जन्तु रहित होनी चाहिये । तिरछे छिद्रवाली नहीं होनी चाहिये तथा बाधारहित होनी चाहिये ॥१९६३॥

गा०—तथा वह निषीधिका क्षपकके स्थानसे पश्चिम-दक्षिण दिशामें या दक्षिण दिशामें या पश्चिम दिशामें हो तो उत्तम होती है ॥१९६४॥

गा०—यदि निषीधिका पश्चिम दक्षिण दिशामें हो तो सर्व सघको समाधिलाभ होता है । यदि दक्षिण दिशामें हो तो सघको आहार लाभ सुलभ होता है । यदि पश्चिम दिशामें हो तो सघका विहार सुखपूर्वक होता है तथा उपकरणोंका लाभ होता है ॥१९६५॥

गा०—यदि उक्त दिशाओंमे निषीधिका निर्माणमें बाधा हो तो क्रमसे पूर्व दक्षिणमे, पश्चिम-उत्तरमे, पूरबमे या उत्तरमे या पूर्वोत्तरमे होना चाहिये ॥१९६६॥

---

१ एता टीकाकारो नेच्छति । अविसुद्द–आ०, अविसुआ–मु० । २ अहरिदा मु० । ३ अवला आ० । ४ उवणिज्जइ आ०, वणिज्जदि –मु० ।

एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमतुमा य कलहो य ।
भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥१९६७॥

'एदासु' एतासु निषीधिकासु फलं क्रमशो विजानीयात् । 'तुमतुमा य' पूर्वदक्षिणस्यां स्पर्द्धा अपरोत्तरस्यां कलहः, पूर्वस्यां भेदः उदीच्यां व्याधिः, पूर्वोत्तरस्यां अन्योन्येनापकृष्यते ॥१९६७॥

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं ।
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥१९६८॥

'जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं' यस्यां वेलायां मृतो भिक्षुः तस्यां वेलायामेवापनयनं कर्तव्यं, अवेलायां मृतश्चेत् जागरणं बन्धनं छेदनं वा कर्तव्यं ॥१९६८॥

के जागरणं कुर्वन्तीत्याचष्टे—

बाले वुड्ढे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणए दुहिदे ।
आयरिए य विकिंचिय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ॥१९६९॥

'बाले वुड्ढे' बालवृद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विनः, भीरून्, व्याधितान्, दुःखितानाचार्यांश्च अपाकृत्य धीरा जितनिद्रा जागरणं कुर्वन्ति ॥१९६९॥

के बध्नतीत्याचष्टे—

गीदत्था कदकरणा महाबलपरक्कमा महासत्ता ।
बंधंति य छिंदंति य करचरणंगुट्ठयपदेसे ॥१९७०॥

गा०—किन्तु पूर्व-दक्षिण दिशामें होनेसे 'मैं ऐसा हूँ, तुम ऐसे हो', इत्यादि रूप संघर्ष होता है। पश्चिमोत्तर दिशामें होनेसे कलह होता है। पूर्व दिशामें होनेसे संघमें भेद पड़ता है। उत्तर दिशामें होनेसे व्याधि होती है। पूर्वोत्तर दिशामें होनेसे परस्परमें खींचातानी होती है। यह क्रमसे उक्त दिशाओंमें निषद्या बनानेका फल है ॥१९६७॥

विशेषार्थ—प० आशाधर जीने अपनी टीकामें लिखा है कि पूर्वोत्तर दिशामें निषद्या करनेसे दूसरे मुनिकी मृत्यु होती है ॥१९६७॥

गा०—जिस समय साधु मरे उसी समय उसे वहाँसे हटा देना चाहिये। यदि असमयमें मरा हो तो जागरण, बन्धन या छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

जागरण कौन करते हैं यह कहते हैं—

गा०—बालमुनि, वृद्ध मुनि, शिक्षक मुनि, तपस्वी मुनि, डरपोक मुनि, रोगी मुनि और दुखित हृदय आचार्योंके सिवाय निन्द्राको जीतनेवाले धीर मुनि जागरण करते हैं ॥१९६९॥

बाँधते कौन हैं, यह कहते हैं—

गा०- जो मुनि गृहीतार्थ होते हैं, जिन्होंने अनेक बार क्षपकोंका कर्म किया है, महाबल-

'गीदत्था' गृहीतार्था, कृतकरणा महाबलपराक्रमा महासत्त्वा बध्नन्ति छिन्दन्ति च करचरण अङ्गुष्ठप्रदेश वा ॥१९७०॥

एवमकरणे को दोष इत्याशङ्कायां दोषमाचष्टे—

जदि वा एस ण कीरेज्ज विधि तो तत्थ देवदा कोई ।
आदाय त कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥१९७१॥

'जदि वा एस' यद्येष विधिर्न क्रियते कदाचिद्देवता क्रीडनशीला मृतकमादाय उत्तिष्ठेत् प्रधावेद्रमेत वा बाधयेद्वा तद्दर्शनात बालादीना चित्तमक्षोभ पलायन मरण वा भवेत् ॥१९७१॥

[1]उवसयपडिदावण्ण उवण्णगहिद तु तत्थ उवकरण ।
सागारिय च दुविह परिहारियमपरिहारिय वा ॥१९७२॥
जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जा व होज्ज कालगदा ।
देउलसागारित्ति व सिवियाकरण पि तो होज्ज ॥१९७३॥

'जइ विक्खादा भत्तपदिण्णा' यदि सर्वजनप्रकटा सल्लेखना आर्यिका वा भवेत् कालगता स्थानरक्षका गृहस्था वा तत्र शिविका कर्तव्या ॥१९७२॥१९७३॥

तेण पर सठाविय सथारगद च तत्थ बधित्ता ।
उट्ठेंतरक्खणट्ठं गाम तत्तो सिरं किच्चा ॥१९७४॥

तेन पर सस्थाप्य तेन मृतकेन सस्तरबन्धात्ततो मृतकबन्धन कृत्वा ग्रामाभिमुख शिर कृत्वा उत्थानरक्षणार्थं ॥१९७४॥

शाली, महापराक्रमी, महासत्वशाली वे मुनि मृतकके हाथ, पैर या अगूठेको बाँधते या छेदते हैं ॥१९७०॥

ऐसा नही करनेमे दोष कहते हैं—

गा०—यदि यह विधि न की जाये तो कोई मनो-विनोदी देवता मृतकको उठाकर दौड सकता है, क्रीडा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है और उसे देखकर बालक आदि का चित्त चचल हो सकता है, वे डरकर भाग सकते हैं और उनका मरण भी हो सकता है ॥१९७१॥

क्षपकके उपचारके लिये उपकरणोंके प्रकार बतलाते हैं—

गा०—कुछ उपकरण तो वसतिकामे सम्बद्ध होते हैं। कुछ उपकरण गृहस्थ सम्बन्धी होते हैं। उनमेंसे कुछ त्याज्य होते हैं और कुछ त्यागने योग्य नही हैं ॥१९७२॥

अब आर्यिकाओंकी सन्यास विधि कहते हैं—

गा०—यदि भक्त प्रतिज्ञा मरण करने वाली विख्यात आर्यिका हो या कोई गृहस्था हो या स्थान की रक्षिका हो तो उसके लिये शिविका बनाना चाहिये ॥१९७३॥

गा०—शिविका बनानेके पश्चात् उसके शवको शिविकामे रखकर सस्तरके साथ उसे

---

१ एता टीकाकारा नेच्छति ।

१पुव्वाभोगिय मग्गेण आसु गच्छंति तं समादाय ।
अट्ठिदमणियत्त ता य पिट्ठदो अणिभता ॥१९७५॥

२'पुव्वाभोगियमग्गेण' पूर्वालोकितेन मार्गेण आशु गच्छन्ति तत्समादाय अस्थित अनिवर्तमाना पृष्ठत आलोचन मुक्त्वा ॥१९७५॥

कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गतव्व ।
अट्ठिदअणियत्ततेण पिट्ठदो लोयण मुच्चा ॥१९७६॥

'कुसमुट्ठि घेत्तूण' कुशमुष्टि गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गन्तव्य, अस्थित अनिवर्तमानेन अपृष्ठावलोकिना ॥१९७६॥

तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए ।
सथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥१९७७॥

'तेण कुसमुट्ठिधाराए' तेन पुरस्ताद्गतेन पूर्वनिरूपितनिषेधिकास्थाने कुशमुष्टिधारया अव्युच्छिन्नया समनिपातया सर्वत्र सम सस्तर कार्य सकृत्तत्र ॥१९७७॥

जत्थ ण होज्ज तणाइ चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा ॥
सथरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवुच्छिण्णा ॥१९७८॥

'जत्थ ण होज्ज तणाइ' यत्र न लभ्यन्ते कुशतृणानि तत्र चूर्णैर्वा केसरैर्वा सस्तर कार्य सर्वत्र समोऽव्युच्छिन्न ॥१९७८॥

बांध देना चाहिये जिससे वह उठ न सके। उसका सिर गांवकी ओर रहना चाहिये ॥१९७४॥

गा०—उस शिविकाको लेकर पहले देखे हुए मार्गसे शीघ्र जाते हैं। न तो मार्गमें रुकते हैं और न पीछेकी ओर देखते हैं ॥१९७५॥

गा०—उसके आगे एक मुट्ठीमें कुश लेकर कोई मनुष्य जाना चाहिये। उसको भी न तो मार्ग में रुकना चाहिये और न पीछे देखना चाहिये ॥१९७६॥

गा०—उस आगे गये पुरुषको पहलेसे देखे गये निषीधिकाके स्थानमें जाकर लगातार मुट्ठीसे एक समान कुश डालते हुए एक सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७७॥

गा०—जहाँ कुश न मिलते हों वहाँ प्रासुक चावल आदिके चूर्णसे अथवा प्रासुक केसरसे सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७८॥

विशेषार्थ—गाथामें 'लेहा' पाठ है उसका अर्थ रेखा होता है। अत आशाधर जीने उसका यह अर्थ किया है कि चूर्ण या केसरसे मस्तकसे लेकर पैर तक समान रेखा बनाना चाहिये। हमारी समझके अनुसार यह वह क्रिया है जिसे चौक पूरना कहते हैं। जो सर्वत्र शुभ क्रियामें किया जाता है ॥१९७८॥

१-२ पुव्वालोगिय —आ०।

असमत्वे दोषमाचष्टे—

जदि विसमो संथारो उवरिं मज्झे व होज्ज हेट्ठा वा ।
मरणं गिलाणयं वा गणिवसभजदीण णायव्वा ॥१९७९॥

'जदि विसमो संथारो' यदि विषमः संस्तर उपरिष्टात् मध्ये अधस्ताद्वा । उपरिवैषम्ये गणिनो मरणं व्याधिर्वा, मध्य विषमश्चेत् वृषभस्य मरणं व्याधिर्वा, अधस्ताद्विषमत्वे यतीनां मरणं व्याधिर्वा ॥१९७९॥

जत्तो दिसाए गामो तत्तो सीसं करित्तु सोवधियं ।
उट्ठंतरक्खणट्ठं वोसरिदव्वं सरीरं तं ॥१९८०॥

'जत्तो दिसाए गामो' यस्यां दिशि ग्रामः ततः शिरः कृत्वा सपिच्छकं शरीरं व्युत्स्रष्टव्यं, उत्थानरक्षणार्थं ग्रामादिगमभिमुखतया शिरोरचना ॥१९८०॥

उपकरणस्थापनायां तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करित्तु होज्ज सुरो ।
सो वि विबुज्झदि दट्ठूण सदेहं सोवधिं सज्जो ॥१९८१॥

'जो वि विराधिय' योऽपि दर्शनं विनाश्यान्ते कालगतस्सुरो भवेत् सोऽपि जानाति सोपकरणं स्वदेहं दृष्ट्वा प्रागहं संयत इति ॥१९८१॥

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु [1]सव्वेसिं ।
[2]एक्को दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ॥१९८२॥

संस्तरेके विषम होनेपर दोष कहते हैं—

गा०—यदि संस्तर ऊपर मध्यमे या नीचे विषम होता है तो ऊपरमे विषम होनेपर आचार्य का मरण या उन्हे रोग होता है । मध्यमे विषम होनेपर एलाचार्यका मरण या उन्हे रोग होता है । और नीचे पैरके पास विषम होनेपर अन्य साधुओंका मरण या उन्हे रोग होता है ॥१९७९॥

विशेषार्थ—आशाधर जी ने लिखा है कि उक्त व्याख्यान टीकाकारोंका है । किन्तु टिप्पणकमे कहा है—ऊपरमे विषम होनेपर गणिका मरण होता है । मध्यमें विषम होनेपर एलाचार्यको रोग होता है और नीचेमें विषम होने पर साधुओंको रोग होता है ॥१९७९॥

गा०—जिस दिशामे ग्राम हो, उस ओर सिर करके पीछीके साथ उस शवको रख देना चाहिये । शवके उठनेके भयसे उसका सिर गाँवकी ओर किया जाता है ॥१९८०॥

उपकरण (पीछी) स्थापित करनेके गुण कहते हैं—

गा०—जो सम्यक्त्वकी विराधना करके मरकर देव होता है वह भी पीछीके साथ अपना शरीर (शव) देखकर ही यह जान लेता है कि मैं भी पूर्वभवमें संयमी था ॥१५८१॥

गा०—अल्पनक्षत्रमे यदि क्षपकका मरण होता है तो सबका कल्याण होता है । यदि

---

1 सव्वेहिं—अ० आ० । 2 एक्को दु समे मरिज्ज वत्ते दिवड्ढ खित्ते मरिति दुवो—आ० ।

[1]सदभिसभरणा अद्दा सादा असलेस्स जिट्ठ अवरवरा ।
रोहिणिविसाहपुणव्वसु तिउत्तरा मज्झिमा सेसा ॥१९८३॥

'णत्ता भागे रिक्खे' अल्पनक्षत्रे यदि क्षपक काल गत सर्वस्य शिवं भवति, मध्यमनक्षत्रे यदि मृत अन्येष्वेको मृतिमुपैति, महानक्षत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरण ॥१९८२-१९८३॥

गणरक्खणत्थं तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण ।
एक्कं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥१९८४॥

'गणरक्खणत्थ' गणरक्षणार्थं तस्मात्तृणमयं प्रतिबिम्बकं कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एकं दद्यात्। उत्तमनक्षत्रे प्रतिबिम्बद्वयं ॥१९८४॥

प्रतिबिम्बदानमाचष्टे—

तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि ।
विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥१९८५॥

'तट्ठाणसावण' मृतकपार्श्वे तत्प्रतिबिम्बं स्थाप्य त्रिरुच्चैर्घोषयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोऽर्पित इति एकार्पणेऽयं क्रमः। द्वयोः प्रतिबिम्बयोरर्पणे द्वितीयतृतीयौ दत्ताविति त्रिः श्रावयेत् ॥१९८५॥

मध्यम नक्षत्रमें मरण होता है तो शेष साधुओंमेंसे एकका मरण होता है। यदि महानक्षत्रमें मरण होता है तो दो का मरण होता है ॥१९८२॥

गा०—शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये जघन्य नक्षत्र हैं। रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, उत्तराषाढा ये उत्कृष्ट नक्षत्र हैं। शेष नक्षत्र मध्यम है ॥१९८३॥

विशेषार्थ—प० आशाधर जी ने कहा है, अल्प नक्षत्रसे मतलब है जो पन्द्रह मुहूर्त तक रहते हैं। ऐसे शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा इन छहमेंसे एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर सबका कल्याण होता है। जो नक्षत्र तीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपद, रेवती, इनमेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर एक अन्य मुनिकी भी मृत्यु होती है। जो नक्षत्र पैंतालीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखामेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर दो अन्य मुनियोंकी भी मृत्यु होती है ॥१९८३॥

गा०—इस लिये सबकी रक्षाके अभिप्रायसे तृणोंका पुतला बनाकर यदि मध्यम नक्षत्रमें मरण हुआ है तो उसके साथ एक पुतला देवे। यदि उत्तम नक्षत्रमें मरण हुआ तो उसके साथ दो पुतले देवें ॥१९८४॥

गा०-टी०—मृतकके पासमें उस पुतलेको स्थापित करके तीन बार उच्च स्वरसे घोषणा करे कि मैंने उस दूसरेके स्थानमें यह दूसरा स्थापित किया है। जिसके स्थानमें यह पुतला स्थापित

---

१ एषा गाथा नास्ति 'आ०' प्रतौ।

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्टियादिचुण्णेहिं ।
कादव्वोथ ककारो उवरिं हिट्ठा [1]तकारो से ॥१९८६॥

'असदि तणे' प्रतिबिम्बकरणार्थमसति तृणे चूर्णै पुष्पकेसरैर्वा भस्मना इष्टकाचूर्णैर्वा उपरि ककार लिखित्वा तस्याधस्तात [2]तकार कुर्यात [3]क्त इति लिखेदित्यर्थ ॥१९८६॥

उवगहिद उवकरण हवेज्ज ज तत्थ पाडिहरिय तु ।
पडिबोधित्ता सम्म अप्पेदव्व तय तेसिं ॥१९८७॥

'उवगहिद उवकरण' मृतकशयने यद्गृहीतमुपकरण वस्त्रकाष्ठादिक गृहस्थयाञ्चा कृत्वा तत्रोपकरेण यत्प्रतिनिवर्तनीय वस्त्रादिक तत्पाडिहारिकमित्युच्यते । तदर्पयितव्य तेषा गृहस्थाना सम्यक्प्रतिबोध्य ॥१९८७॥

आराधणपत्तीय काउसग्ग करेदि तो सघो ।
अधिउत्ताए इच्छागार खवयस्स वसधीए ॥१९८८॥

'आराधणपत्तीय' आराधनास्माकमित्येव यथा स्यादिति सघ कायोत्सर्ग करोति, क्षपकस्य वसतौ अधियुक्तदेवता प्रति इच्छाकार काय युष्माकमिच्छया सघोऽत्रासितुमिच्छतीति ॥१९८८॥

सगणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइय च तद्दिवस ।
ण[4]ज्झाइ परगणत्थे भयणिज्ज खमणकरणंपि ॥१९८९॥

'सगणत्थे कालगदे' आत्मीयगणस्थे यतौ काल गते उपवास कार्य स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन्

किया है वह चिरकाल तक जीवित रहकर तपस्या करे। यह एक पुतला देनेका विधान है। दो पुतले स्थापित करने पर तीन बार घोषणा करे कि मैंने दूसरा और तीसरा पुतला स्थापित किया है। ये दोनो जिनके बदलेमे स्थापित किये हैं वे दोनो साधु चिरकाल तक जीवित रहकर तप करें ॥१९८५॥

गा०—यदि पुतला बनानेके लिये तृण न हो तो ईंट पत्थर आदिके चूर्णसे अथवा, केशर, क्षार वगैरहमे ऊपर ककार लिखकर उसके नीचे तकार लिखे। इस प्रकार 'क्त' अक्षर लिखे ॥१९८६॥

गा०-टी०—मृतककी शय्याके निर्माणके लिये गृहस्थोंसे जो वस्त्र काष्ठ आदि लिया गया हो, उनमेंसे जो लौटा देने योग्य हो उसे पाडिहारिक कहते हैं। उस पाडिहारिकको गृहस्थोको सम्यक् रीतिसे समझा बुझाकर लौटा देना चाहिये ॥१९८७॥

गा०—हमे भी इसी प्रकार आराधनाकी प्राप्ति हो इस भावनासे सघ एक कायोत्सर्ग करे। तथा क्षपककी वसतिकाकी जो अधिष्ठात्री देवता हो उसके प्रति इच्छाकार करे कि आपकी इच्छासे सघ इस स्थानपर बैठना चाहता है ॥१९८८॥

गा०-टी०—अपने सघके साधुका स्वर्गवास होनेपर उस दिन उपवास करना चाहिये और

१-२ य कारो आ० मु० । ३ त काय इति –आ० मु० । ४ सज्झाइ –मु० ।

दिने । परगणस्थे काल गते पठन्ति उपवासकरणमपि भाज्य । अन्ये तु पठन्ति, 'ण ज्झाइ परगणत्थे [1]स स्वाध्याय कर्तव्य परगणस्थे मृते उपवासकरणीय भाज्यमिति तेषा व्याख्या ॥१९८९॥

एव पडिट्ठविता पुणो वि तदियदिवसे उवेक्खंति ।
सघस्स सुहविहार तस्स गदी चेव णादु जे ॥१९९०॥

'एव पडिट्ठवित्ता' उक्तेन क्रमेण क्षपकशरीर प्रतिष्ठाप्य पुनस्तृतीये दिवसे गत्वा पश्यन्ति, सघस्य सुखविहार तस्य च गति ज्ञातु ॥१९९०॥

जदि दिवसे सचिट्ठदि तमणालद्ध च अक्खद मडय ।
तदिवासाणि सुभिक्खं खेमसिव तम्हि रज्जम्मि ॥१९९१॥

'जदि दिवसे' यावन्तो दिवसा न वृकादिभिरस्पृष्टमक्षत च तन्मृतक तद्दिवसाणि तावन्ति वर्षाणि सुभिक्ष क्षेम शिव च तस्मिन् राज्ये ॥१९९१॥

ज वा दिसमुवणीद सरीरयं खगचदुप्पदगणेहिं ।
खेमं सिव सुभिक्ख विहरिज्जो तदुदिस सघो ॥१९९२॥

'ज वा दिसमुवणीद' या वा दिशमुपनीत शरीर पक्षिभिश्चतुष्पदैर्वा ता दिश सघो विहरेत् क्षेमादिक तत्र ज्ञात्वा ॥१९९२॥

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे ।
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णादव्वो ॥१९९३॥

'जदि तस्स उत्तमग' यदि तस्य शिरो दृश्यते दन्ता वा गिरिशिखरस्योपरि कर्ममलविप्रमुक्त सिद्धिमसौ प्राप्त इति ज्ञातव्य ॥१९९३॥

स्वाध्याय नही करना चाहिये। दूसरे सघके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय तो नही ही करना चाहिये। उपवास कर भी सकते हैं, नही भी करते। अन्य ऐसा पढते हैं कि दूसरे सघके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय करना चाहिये। उपवास कर भी सकते हैं नही भी करते ॥१९८९॥

गा०—उक्त प्रकारसे क्षपकका शरीर स्थापित करके तीसरे दिन जाकर देखते हैं कि सघका विहार सुखपूर्वक होगा या नही। तथा मृतककी गति अच्छी हुई या बुरी ॥१९९०॥

गा०—जितने दिनो तक वह शव गीदड आदिसे सुरक्षित रहता है उतने वर्षो तक उस राज्यमे सुभिक्ष और शान्ति रहती है ॥१९९१॥

गा०—अथवा पक्षी और पशुओंके द्वारा वह शरीर जिस दिशामे ले जाया गया हो क्षेम-सुभिक्ष आदि जानकर उसी दिशामे सघको विहार करना चाहिये ॥१९९२॥

गा०—यदि उसका सिर और दात पर्वतके शिखरके ऊपर दिखाई दे तो वह मुक्तिको प्राप्त हुआ है, ऐसा जानना चाहिये ॥१९९३॥

---

१ न स्वा –आ० मु०।

वेमाणिओ थलगदो समम्मि जो दिसि य वाणविंतरओ ।
गड्डाए भवणवासी एस गदी से समासेण ॥१९९४॥

'वेमाणिओ थलगदो' वैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्थे उत्तमाङ्गे, समभूमिदेशे यदि दृश्यते ज्योतिष्को व्यन्तरो जात , गर्त्ते यदि दृश्यते भवनवासी देवो जात , एषा गतिस्तस्य सक्षेपेण निरूपिता । विजहणत्ति सूत्र-पद गत । विजहणा ॥१९९४॥

आराधकस्तवनमुत्तर ते सूरा भगवतो—

ते सूरा भयवंतो आहच्चइदूण सघमज्झम्मि ।
आराधणापडाया चउप्पयारा धिदा जेहिं ॥१९९५॥

'ते सूरा भगवत आहच्चइदूण' प्रतिज्ञा कृत्वा सघमध्ये चतुष्प्रकाराराधना पताका यैरागृहीता ॥१९९५॥

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं सव्वेहिं ।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहिं सपुण्णा ॥१९९६॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्त । ते ज्ञानिन , ते लब्धलाभा , सर्वेभ्यो यैराराधना भगवती सपूर्णा प्रति-पन्ना ॥१९९६॥

किं णाम तेहिं लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्त ।
आराधणा भगवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥१९९७॥

'किं णाम तेहिं लागे' किंनाम तैर्लोके महानुभागैरप्राप्त यैराराधिता सकला आराधना भगवती ॥१९९७॥

विशेषार्थ—आशाधरजी ने 'कर्ममल विप्रमुक्त' का अर्थ मिथ्यात्व आदि स्तोक कर्मो से मुक्त किया है। तथा लिखा है कि जयनन्दिके टिप्पणमे 'सिद्धि' का अर्थ सर्वार्थसिद्धि किया है। किन्तु प्राकृतटीकामे सिद्धिका अर्थ निर्वाण किया है ॥१९९३॥

गा०-टी०—यदि मृतकका मस्तक उन्नत भूमिभागमे दिखाई दे तो वह मरकर वैमानिक देव हुआ जानना। यदि सम भूमिभागमे दिखाई दे तो वह ज्योतिष्क देव या व्यन्तर हुआ जानना। यदि गढ्ढेमे दिखाई दे तो वह भवनवासी देव हुआ जानना। इस प्रकार यह उसकी गति सक्षेपमे कही है ॥१९९४॥

आगे आराधक क्षपकका स्तवन करते हैं—

गा०—जिन्होने सघके मध्यमे प्रतिज्ञा करके चार प्रकारकी आराधना रूप पताकाको ग्रहण किया वे शूरवीर और पूज्य हैं ॥१९९५॥

गा०—जिन्होने भगवती आराधनाको सम्पूर्ण किया वे पुण्यशाली और ज्ञानी हैं और उन्होने जो प्राप्त करने योग्य था उसे प्राप्त कर लिया ॥१९९६॥

गा०—जिन्होने सम्पूर्ण भगवती आराधनाका आराधन किया उन महानुभावोने लोकमे क्या प्राप्त नही किया ॥१९९७॥

निर्यापकस्तवनमुत्तर—

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥१९९८॥

'ते वि य महाणुभावा' तेऽपि च महाभागा धन्या यैस्तया तस्य क्षपकस्य सर्वादरेण शक्त्या च सर्वाराधना उपविहिता ॥१९९८॥

निर्यापकाना फलमाचष्टे—

जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधण खु अण्णस्स ।
सपज्जदि णिविग्घा सयला आराधणा तस्स ॥१९९९॥

'जो उवविधेदि' यो ढौकयति सर्वादरेण अन्यस्याराधना तस्य आराधना सकला निर्विघ्ना सपद्यते ॥१९९९॥

ये क्षपकप्रेक्षणाय यान्ति तानपि स्तौति—

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति जे पावकम्ममलहरणे ।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसजुत्ता ॥२०००॥

'ते वि कदत्था' तेऽपि कृतार्था धन्याश्च भवन्ति ये क्षपकतीर्थे पापकर्ममलापहरणे सर्वादराभियुक्ता स्नान्ति ॥२०००॥

क्षपकस्य तीर्थता व्याचष्टे—

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कध ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ ॥२००१॥

आगे निर्यापककी प्रशंसा करते है—

गा०—वे महानुभाव भी धन्य हैं जिन्होने सम्पूर्ण आदर और शक्तिसे उस क्षपककी आराधना सम्पन्न की ॥१९९८॥

निर्यापकोको प्राप्त होनेवाले फलको कहते हैं—

गा०—जो निर्यापक सम्पूर्ण आदरके साथ अन्यकी आराधना कराता है—उसकी समस्त आराधना निर्विघ्न पूर्ण होती है ॥१९९९॥

जो क्षपकको देखने जाते हैं उनकी भी प्रशसा करते हैं—

गा०-टी०—क्षपक एक तीर्थ है क्योकि ससारसे पार उतारनेमे निमित्त है। उसमे स्नान करनेसे पापकर्म रूपी मल दूर होता है। अत जो दर्शक समस्त आदर भक्तिके साथ उस महातीर्थमे स्नान करते है वे भी कृतकृत्य होते हैं तथा वे भी सौभाग्यशाली हैं ॥२०००॥

क्षपकके तीर्थ होनेका समर्थन करते हैं—

गा०—यदि तपस्वियोके द्वारा सेवित पहाड नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते है तो तपस्यारूप गुणोकी राशि क्षपक स्वय तीर्थ क्यो नही है ॥२००१॥

'गिरिणदियादिपदेसा' गिरिनद्यादिप्रदेशा यदि तपोधनैरुषितानि तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षपकस्तपोगुणराशि ॥२००१॥

पुव्वरिसीण पडिमाओ वदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।
खवयस्स वदओ किह पुण्णं विउल ण पाविज्ज ॥२००२॥

'पुव्वरिसीण पडिमाउ' पूर्वेषां ऋषीणां प्रतिमा वदमानस्य यदि पुण्यं भवति क्षपके वन्दनोद्यतः कथं विपुलं पुण्यं न प्राप्नुयात् ॥२००२॥

जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिसजुत्तो ।
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराहणा सयला ॥२००३॥

'जो ओलग्गदि आराधयं' यस्सेवते आराधकं सदा तीव्रभक्तिसंयुक्तः, संपद्यते निर्विघ्ना तस्याप्याराधना सकला ॥२००३॥

सविचारभत्तवोसरणमेवमुववण्णिदं सवित्थारं ।
अविचारभत्तपच्चक्खाणं एत्तो परं वुच्छं ॥२००४॥

'सविचारभत्तवोसरण' सविचारभक्तप्रत्याख्यानमेवमुपवर्णितं सविस्तरं अविचारभक्तप्रत्याख्यानं अतः परं प्रवक्ष्यामि ॥२००४॥

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ।
अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥२००५॥

'तत्थ अविचारभत्तपदिण्णा' अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य यतेः सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले असति ॥२००५॥

तत्थ पढमं णिरुद्धं णिरुद्धतरयं तहा हवे विदियं ।
तदियं परमणिरुद्धं एवं तिविधं अवीचारं ॥२००६॥

'तत्थ पढमं णिरुद्धं' तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथमं निरुद्धं, द्वितीयं निरुद्धतरं, तृतीयं परमनिरुद्धं एवं त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यानं ॥२००६॥

गा०—यदि प्राचीन ऋषियोंकी प्रतिमाओंकी वन्दना करनेवालेको पुण्य होता है तो क्षपककी वन्दना करने वालोंको विपुल पुण्य क्यों नहीं प्राप्त होगा ॥२००२॥

गा०—जो तीव्र भक्तिपूर्वक क्षपककी सेवा करता है उसकी भी सम्पूर्ण आराधना सफल होती है ॥२००३॥

गा०—इस प्रकार विस्तारसे विचारपूर्वक किये गये भक्तप्रत्याख्यानका कथन किया। आगे अविचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन करते हैं ॥२००४॥

गा०—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान करनेका समय न रहे, और सहसा मरण उपस्थित हो जाये तो कुछ करनेमें असमर्थ मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००५॥

गा०—अविचार भक्तप्रत्याख्यानके तीन भेद हैं—प्रथम निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और तीसरा परमनिरुद्ध ॥२००६॥

निरुद्धमेवभूतस्य भवतीत्याचष्टे—

तस्स णिरुद्धं भणिद रोगादकेहिं जो समभिभूदो ।
जघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥२००७॥

तस्स णिरुद्ध भणिद' तस्य निरुद्धमुक्त रोगेण आतङ्केन वा यस्समभिभूत जङ्घाबलपरिहीना वा परगणगमनासमर्थो य ॥२००७॥

जावय बलविरिय से सो विहरदि ताव णिप्पडीयारो ।
पच्छा विहरदि पडिजग्गिज्जतो तेण सगणेण ॥२००८॥

जावय बलविरिय' यावद्बलवीय चास्ति । 'से' तस्य । सो विहरदि' स तावद्गणे प्रवर्तते निष्प्रतीकार यदा शक्तिस्तीव्रन्यूना तदा पश्चाद्विहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकार ॥२००८॥

इय सण्णिरुद्धमरण भणिय अणिहारिम अवीचार ।
सो चेव जधाजोग्ग पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥२००९॥

'इय सण्णिरुद्धमरण भणिद' एव सन्निरुद्धमरण भणित, जङ्घाबलपरिहीनतया व्याध्यभिभवेन वा स्वस्मिन्गणे निरुद्धो यस्तस्य मरण निरुद्धमरण । अणिहारिम' सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परित्यागहीन अनियतविहारादिविधिविचारणाभावादवीचार । आत्मीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रव्रज्यातीचार उक्त्वा निन्दागर्हापर कृतप्रतिक्रम कृतप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निष्प्रतीकारो विहरति, यदा हीनसर्वचेष्टस्तदा परैरनुगृह्यमाणो विहरति ॥२००९॥

निरुद्ध किसके होता है, यह कहते हैं—

गा०—जो रोगमे ग्रस्त है, पैरोमे चलनेकी शक्ति न होनेसे दूसरे सघमे जानेमे असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार प्रत्याख्यान होता है ॥२००७॥

गा०—जबतक उसमे शक्ति रहती है तबतक वह अपने सघमे रहते हुए किसीसे परिचर्या नही कराता । पीछे शक्तिहीन होनेपर अपने सघके द्वारा परिचर्या कराता हुआ विहरता है ॥२००८॥

गा०-टी०—पैरोमे चलनेकी शक्ति न होनेसे तथा रोगसे ग्रस्त होनेके कारण जो अपने ही सघमे निरुद्ध है—रुका है उसके मरणको निरुद्धमरण कहते हैं । इस प्रकार निरुद्धमरणका स्वरूप कहा है । सविचार भक्तप्रत्याख्यानमे जिस प्रकार सघ आदिका त्याग किया जाता है वह इसमे सभव न होनेसे यह मरण परित्यागसे रहित है । और इसमे अनियत विहार आदि विधिका विचार न होनेसे यह अवीचार है । अर्थात् अपने ही सघमे आचार्यके समीपमे दीक्षा लेकर उनसे अपने दोष कहकर अपनी निन्दा और गर्हा करता है, प्रतिक्रमण करता है, प्रायश्चित्त लेता है । और जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरेकी सहायताके बिना अपनी आराधना करता है । जब शक्ति अत्यन्त हीन हो जाती है तब दूसरोंसे सहायता लेकर अपनी आराधनाओंका पालन करता है ॥२००९॥

दुविधं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पगासं च ।
जणणादं च पगासं इदरं च जणेण अण्णादं ॥२०१०॥

'दुविधं तं पि अणीहारिमं' द्विविध तदपि अणीहारमभिति भक्तप्रत्याख्यानं प्रकाशरूपमप्रकाशरूपमिति। ज्ञात प्रकाशरूपमितरदप्रकाशात्मक ॥२०१०॥

खवयस्स चित्तसारं खित्तं कालं पडुच्च सजणं वा ।
अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु ॥२०११॥

'खवगस्स चित्तसारं' क्षपकस्य वृद्धिं, बलं, क्षेत्रं, कालं, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे कारणे जाते अप्रकाशभक्तप्रत्याख्यानं, यदि क्षपक: क्षुदादिपरीषहासह:, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वा अतिरूक्षो, बान्धवो वा यदि परित्यागविघ्नं कुर्वन्ति न प्रकाशं कार्यं । निरुद्धं गदं ॥२०११॥

निरुद्धतरग व्याचष्टे—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिछपडिणीय तेण मिच्छेहिं ।
मुच्छाविसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती ॥२०१२॥

'वालग्गिवग्घमहिस' व्यालेनाग्निना, व्याघ्रेण, महिषेण, गजेन, ऋक्षेण, शत्रुणा, स्तेनेन, म्लेच्छेन, मूर्च्छया, विसूचिकादिभिर्वा सद्यो व्यापत्तिर्भवेत् ॥२०१२॥

जाव ण वाया खिवदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि ।
तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खित्तं ॥२०१३॥

'जाव ण वाया खिवदि' यावद्वाग्न विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीव्रया वेदनया यावच्चित्तं न व्याक्षिप्तं भवति तावत् ॥२०१३॥

गा०-टी०—वह अनिहार नामक भक्तप्रत्याख्यान, जिसमें अपना संघ नहीं छोड़ा जाता है, और इसीलिये जिसे स्वगणस्थ भी कहा जाता है, दो प्रकार है—एक प्रकाशरूप और दूसरा अप्रकाशरूप। जो लोगोंके द्वारा ज्ञात होता है वह प्रकाशरूप है और जिसकी लोगोंको खबर नहीं होती, वह अप्रकाशरूप है ॥२०१०॥

गा०-टी०—क्षपकके मनोबल, क्षेत्र, काल अथवा स्वजन तथा इस प्रकारके अन्य कारणके होनेपर उन्हें दृष्टिमें रखकर अप्रकट भक्तप्रत्याख्यान होता है। अर्थात् यदि क्षपक भूख प्यास आदिकी परीषह सहनेमें असमर्थ होता है, या, वसति एकान्तमें नहीं होती, या ग्रीष्म आदि ऋतु होती हैं या परिवारके लोग विघ्न कर सकते हैं तो समाधिको प्रकट नहीं किया जाता ॥२०११॥

अब निरुद्ध समाधिकी विधि कहते हैं—

गा०—सर्प, आग, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्छा या विसूचिका आदि रोगसे तत्काल यदि मरण उपस्थित हो ॥२०१२॥

गा०—तो जब तक बोली बन्द न हो, जब तक शरीरमें बल और शक्ति रहे, और जब तक तीव्र वेदनाके कारण चित्त व्याकुल न हो ॥२०१३॥

णच्चा संवट्टिज्जंतमाउग सिग्धमेव तो भिक्खू ।
गणियादीण सण्णिहिदाण आलोचए सम्म ॥२०१४॥

णच्चा सवट्टिज्जत आउग' ज्ञात्वा सह्रियमाणमायु शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीना सन्निहितानामालोचना सम्यक् कुर्यात् रत्नत्रयाराधनाया परिणत । व्युत्सृजेत् वसति, सस्तरमाहारमुपधि शरीर परिचारकान्, बलवीर्य हाने परगणगमनासमर्था [1]निरुद्धा प्रदेशा प्रकर्षेण निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥२०१४॥

एव णिरुद्धदरय विदिय अणिहारिम अवीचार ।
सो चेव जधाजोग पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥२०१५॥

स्पष्टार्थगाथा । निरुद्धर ॥२०१५॥

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।
तइया परमणिरुद्ध भणिद मरण अवीचार ॥२०१६॥

'वालादिएहिं' व्यालादिभि पूर्वोक्तै यदोपहृतस्य वाग्विनष्टा तदा परमनिरुद्धमरण । वाग्निरोधोऽत्र परमशब्देनोच्यते ॥२०१६॥

णच्चा सवट्टिज्जतमाउग सिग्धमेव तो भिक्खू ।
अरहतसिद्धसाहूण अंतिग सिग्धमालोचे ॥२०१७॥

'णच्चा सविट्टिज्जत आउग' ज्ञात्वोपसन्ह्रियमाणमायु अर्हता सिद्धाना साधूना चान्तिके शीघ्र मालोचना कुर्यात ॥२०१७॥

गा०—साधु, अपनी आयुको शीघ्र ही समाप्त होती हुई जानकर जो निकटवर्ती आचार्य आदि हों, उनके सन्मुख अपने दोषोकी सम्यक्रूपसे आलोचना करे। तथा रत्नत्रयकी आराधनामे तत्पर होता हुआ वसति, सम्तर, आहार, उपधि, शरीर और परिचारकोंसे ममत्वका त्याग कर दे। वल और वीर्यके क्षीण होनेसे जिनके प्रदेश अन्य सघमे जानेमे अत्यन्त असमर्थ होते हैं उन्हे निरुद्धतरक कहते हैं ॥२०१४॥

गा०—इस प्रकार विहार रहित अत्यन्त निरोध रूप अविचार भक्तप्रत्याख्यानके दूसरे भेद निरुद्धतरका कथन किया। पूर्वमे भक्त प्रत्याख्यानको जो विधि कही है वही विधि यथायोग्य यहाँ भी जानना ॥२०१५॥

गा०—जब पूर्वोक्त सर्प आदिसे डसे जानेके कारण क्षपककी वाणी नष्ट हो जाती है, वह बोल नहीं सकता तब उसके परम निरुद्ध नामक अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है। यहाँ परम शब्दसे वाणीका रुकना कहा है ॥२०१६॥

गा०—तब वह साधु शीघ्र ही अपनी आयुको समाप्त होती हुई जान अर्हन्तो, सिद्धो और साधुजनोंके पासमे तत्काल आलोचना करे ॥२०१७॥

---

१ दा प्रदेश प्रकर्षेण निरुद्ध इति निरुद्धतरक इत्युच्यते —अ० ।

आराधणाविधी जो पुव्वं उववण्णिदो सवित्थारो ।
सो चेव जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादव्वो ॥२०१८॥

'आराधणाविधो' आराधनाया विधेयं पूर्वं विस्तारो व्यावर्णित स एवात्रापि युज्यमानो ज्ञातव्य ॥२०१८॥

एव आसुक्कारमरणे वि सिज्झंति केइ धुदकम्मा ।
आराधयित्तु केई देवा वेमाणिया होंति ॥२०१९॥

'एव आसुक्कारमरणे वि' एव सहसा मरणेऽपि सिध्यन्ति विधुतकर्मसहतय । केचिदाराध्य वैमानिका देवा भवन्ति ॥२०१९॥

आराधणाए तत्थ दु कालस्स बहुत्तण ण हु पमाण ।
बहवो मुहुत्तमत्ता ससारमहण्णव तिण्णा ॥२०२०॥

कथमल्पेन कालेन निर्वृ'निर्मान्यियेत्याशङ्का न कार्येति वदति—'आराधणाए तत्थ दु', तस्यामाराधनाया कालस्य बहुत्व न प्रमाण । बहवो मुहूर्तमात्रेणाराध्य ससारमहार्णव तीर्णा ॥२०२०॥

खणमेत्तेण अणादियमिच्छादिट्ठी वि वड्ढणो राया ।
उसहस्स पादमूले सबुज्झित्ता गदो सिद्धिं ॥२०२१॥

'खणमेत्तेण' क्षणमात्रेणानादिमिथ्यादृष्टिरपि वर्द्धननामधेयो राजा ऋषभस्य पादमूले सबुद्धो गत सिद्धि ॥२०२१॥

[1]सोलसतित्थयराण तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि ।
सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण सपण्णा ॥२०२२॥

परमणिरुद्ध ॥२०२२॥

गा०—पूर्वमे जो आराधनाकी विधि विस्तार पूर्वक कही हैं वही यहाँ भी यथायोग्य जानना ॥२०१८॥

गा०—इस प्रकार सहसा मरण होनेपर भी कोई-कोई मुनि कर्मोको नाश करके मुक्त होते हैं और कोई आराधना करके वैमानिक देव होते हैं ॥२०१९॥

गा०—थोडे ही समयमे मोक्ष कैसे हो सकता है ऐसी आशका नही करनी चाहिये, क्योकि आराधनामे कालका बहुतपना प्रमाण नही है। बहुतसे मुनि एक मुहूर्त मात्रमे आराधना करके ससारसमुद्रको पार कर गये हैं ॥२०२०॥

गा०—अनादि मिथ्यादृष्टि भी वर्द्धन नामका राजा भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे बोध को प्राप्त होकर मोक्षको गया ॥२०२१॥

गा०—भगवान् ऋषभदेवसे शान्तिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरोके तीर्थकी उत्पत्ति होनेके प्रथम दिन ही बहुतसे साधु दीक्षा लेकर एक अन्तर्मुहूर्तमे केवलज्ञानको प्राप्तकर मुक्त हुए ॥२०२२॥

---

१ एता टीकाकारो नेच्छति ।

एसा भत्तपइण्णा वाससमासेण वण्णिदा विधिणा ।
इत्तो इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णेसिं ॥२०२३॥

'एसा भत्तपदिण्णा' एतद्भक्तप्रत्याख्यानं व्यासेन संक्षेपेण च वर्णितं । अत ऊर्ध्वं सान्यासिकमिंगिणीमरणं व्याससमासाभ्यां वर्णयिष्यामि ॥२०२३॥

जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वण्णिदो सवित्थारो ।
सो चेव जधाजोग्गं उवक्कमो इंगिणीए वि ॥२०२४॥

'जो भत्तपदिण्णाए' यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णितः सविस्तारः स एव यथासंभवमुपक्रमो इंगिणीमरणेऽपि ॥२०२४॥

पव्वज्जाए सुद्धो उवसपज्जित्तु लिंगकप्पं च ।
पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥२०२५॥

'पव्वज्जाए सुद्धो' प्रव्रज्यायां शुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्य इत्यर्थः । एतेन अर्हत्ता निरूपिता । 'उवसपज्जित्तु' प्रतिपद्य । 'लिंगकप्पं च' योग्यं लिङ्गं 'लिंग' इत्यनेन सूचितम् । पवयणमोगाहित्ता' श्रुतमवगाह्य एतेन शिक्षा उपन्यस्ता । 'विणयसमाधीए विहरित्ता' विनयसमाधौ विहृत्य ॥२०२५॥

णिप्पादित्ता सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ।
सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाणं सल्लिहित्ताणं ॥२०२६॥

'णिप्पादित्ता सगणं' योग्यं कृत्वा स्वगणं । इंगिणीविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, 'सिदिमारुहित्तु' परिणामश्रेणिमारुह्य । 'भाविय' भावना प्रतिपद्य । 'अप्पाण सल्लिहित्ताणं' आत्मानं सल्लेख्य ॥२०२६॥

गा०—इस भक्तप्रत्याख्यानका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया। आगे इंगिनीमरण का विस्तार और संक्षेपसे वर्णन करेंगे ॥२०२३॥

गा०—जो भक्त प्रत्याख्यानकी विधि विस्तारसे कही है वही विधि इंगिनीमरणकी यथायोग्य जाननी चाहिये ॥२०२४॥

वही विधि कहते हैं—

गा०—जो दीक्षा ग्रहणके योग्य है वह निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके श्रुतका अभ्यास करे तथा विनय और समाधिमें विहार करे ॥२०२५॥

विशेषार्थ—दीक्षा ग्रहण योग्यसे अर्हत्ताका कथन किया है, लिंगसे लिंगकी सूचना की है। और श्रुताभ्याससे शिक्षाका ग्रहण किया है। इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानमें जो कहा था उसीको यहाँ कहा है ॥२०२५॥

गा०—अपने संघको इंगिणीमरणकी विधिकी साधनामें योग्य करके अपने चित्तमें यह निश्चय करे कि मैं इंगिणीमरणकी साधना करूंगा। फिर शुभ परिणामोंकी श्रेणि पर आरोहण करके तप आदिकी भावना करे और अपने शरीर और कषायोंको कृश करे ॥२०२६॥

परियाइगमालोचिय अणुजाणित्ता दिसं महज्जणस्स ।
तिविधेण खमावित्ता सबालवुड्ढाउलं गच्छं ॥२०२७॥

'परियाइगमालोचिय' क्रमेण रत्नत्रयाचारमालोच्य । 'अणुजाणित्ता' अनुज्ञाय । 'दिस' गणधर । 'महजणस्स' महाजनस्य चतुर्विधसंघस्येत्यर्थः । तिविधेण खमावित्ता' त्रिविधेन क्षमा ग्राहयित्वा । सबाल-वृद्धाकुलं गच्छं ॥२०२७॥

अणुसट्ठिं दादूण य जावज्जीवाय विप्पओगच्छी ।
अब्भदिगजादहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो ॥२०२८॥

'अणुसट्ठिं दादूण य' शिक्षा दत्वा गणपतेर्गणस्य च । 'जावज्जीवाय विप्पओगच्छी' यावज्जीवं विप्र-योगार्थी । 'अब्भदिगजादहासो' कृतार्थोऽस्मीति जातहर्ष । णीदि गणादो' निर्याति यतिगणात् । 'गुणसमग्गो' संपूर्णगुण ॥२०२८॥

एवं च णिक्कमित्ता अतो बाहिं व थंडिले जोगे ।
पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥२०२९॥

'एवं च णिक्कमित्ता' एवं विनिष्क्रम्य । 'थंडिले जोगे' समे समुन्नते कठिने जीवरहिततया योग्ये । 'अतो बाहिं व' अतर्बहिर्वा । 'पुढवीसिलामए वा' पृथ्वीसंस्तरे शिलामये वा । 'अप्पाणं णिज्जवे एक्को' आत्मानं निर्जयेद् देहमहाय ॥२०२९॥

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं ॥२०३०॥

'पुव्वुत्ताणि तणाणि य' पूर्वोक्तानि तृणानि निस्संधि नि छिद्रजंतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमा-त्राणि मृदूनि प्रतिलेखनायोग्यानि ग्रामं नगरं वा प्रविश्य याञ्चया गृहीतानि पूर्वोक्ते स्थण्डिले कोमो सालाव

गा०—रत्नत्रयमें लगे दोषोंकी क्रमसे आलोचना करे और अपने स्थान पर अन्य आचार्य-की स्थापना करके उन्हें सब बतला दे। तथा चतुर्विध वृद्ध मुनियोंसे भरे अपने गच्छको शिक्षा देकर जीवनपर्यन्तके लिये संघसे अलग होनेकी इच्छा करता हुआ प्रसन्न होता है कि मैं कृतार्थ हुआ और इस प्रकार वह सम्पूर्ण गुणोंसे विशिष्ट होकर मुनिसंघसे चला जाता है ॥२०२७-२८॥

गा०—इस प्रकार संघसे निकलकर गुफा आदिके अन्दर या बाहर जीवरहित तथा समान रूपसे ऊँचे कठिन भूमिप्रदेशमें पृथ्वीरूप संस्तर पर या शिलामय संस्तर पर एकाकी आश्रय लेता है। अपने शरीरके सिवाय उसका अन्य कोई सहायक नहीं होता ॥२०२९॥

गा०-टी०—वह गाँव या नगरमें जाकर तृणोंकी याचना करता है जो तृण छिद्ररहित, जन्तुरहित, कोमल तथा शरीरकी स्थितिके लिये साधन मात्र और प्रतिलेखनाके योग्य होने चाहियें उन तृणोंको वह उक्त भूमि प्रदेश पर प्रतिलेखनापूर्वक सावधानतासे पृथक्-पृथक् करके

---

१ ग्रेदमहाय आ० मु० ।

विस्तीर्णो विध्वस्त असुपिरोऽबिल निर्जन्तुकस्त्रस्मिन्स्थण्डिले । 'जदणाए सर्थारित्ता' यत्नेन सस्तर कृत्वा यत्न ? तृणाना पृथक्करण सस्तरभूमिप्रतिलेखन, 'उत्तरसिरमधव पुव्वसिर सथार सर्थारित्ता य' पूर्वोत्त-माङ्गमुत्तरोत्तमाङ्ग वा स्स्तर सस्तीर्य सिर प्रभृति काय पादौ च यत्नेन प्रमार्ज्य ॥२०३०॥

पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा ।
सीसे कदजलिपुडो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥२०३१॥

'पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा' प्राङ्मुखो उदङ्मुखो वा भूत्वा तत्र सस्तरे सस्थित्वा । 'सीसे कदजलिपुडो' मस्तके न्यस्तकृताञ्जलि । 'भावेण विसुद्धलेस्सेण' विशुद्धलेश्यासमन्वितेन भावेन ॥२०३१॥

अरहादिअतिग तो किच्चा आलोचण सुपरिसुद्ध ।
दसणणाणचरित्त परिसारेदूण णिस्सेस ॥२०३२॥

'अरहादिअतिय' अ दायन्तिक । 'तो' पश्चात् आलोचना कृत्वा सुपरिसुद्ध दसणणाणचरित्त पडि-सारेदूण' दर्शनज्ञानचारित्राणि सस्कृत्य निरवशेष ॥२०३२॥

सव्व आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताण ।
वोसरिदूण असेस अब्भतरवाहिरे गथं ॥२०३३॥

सर्व आहारविधि सव आहारविकल्प । यावज्जीव परित्यज्य बाह्याभ्यन्तरानशेषान् परिग्रहाश्च त्यक्त्वा ॥२०३३॥

सव्वे विणिज्जिणतो परीपहे धिदिबलेण सजुत्तो ।
लेस्साए विसुज्झतो धम्म ज्झाण उवणमित्ता ॥२०३४॥

सव्वं विणिज्जिणतो' सर्वाश्च जयन् परिपहान् धृतिबलसमन्वित लेश्याभिर्विशुद्ध सन् धर्मध्यान प्रतिपद्य ॥२०३४॥

फैला देता है। वह भूमिप्रदेश भी प्रकाश सहित, विस्तीर्ण, छिद्ररहित तथा जन्तुरहित होना चाहिये। उसपर सस्तर ऐसा होना चाहिये जिसमे सिर पूर्वदिशा या उत्तर दिशाकी ओर रहे। तब सिरसे लेकर पैर तक शरीरका सावधानीसे परिमार्जन करके पूरब या उत्तरकी ओर मुख करके उस सस्तर पर बैठना है और हाथोकी अजली बनाकर मस्तकसे लगाता है तथा विशुद्ध लेश्या पूर्वक अर्हन्त आदिके सामने अपने दोषोकी आलोचना करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को पूर्ण रूपसे निर्मल करता है ॥२०३०-२०३२॥

गा०—समस्त प्रकारके आहारके विकल्पको जीवनपर्यन्तके लिये त्याग देता है तथा समस्त अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको त्याग देता है ॥२०३३॥

गा०—धैर्यके बलसे युक्त वह क्षपक सब परीषहोको जीतता है और लेश्या विशुद्धिसे सम्पन्न हो, धर्मध्यान करता है ॥२०३४॥

ठिच्चा णिसिदित्ता वा तुवट्टिदूण व सकायपडिचरणं ।
सयमेव णिरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सो भयव ॥२०३५॥
सयमेव अप्पणो सो करेदि आउटणादि किरियाओ ।
उच्चारादीणि तधा सयमेव विकिंचिदे विधिणा ॥२०३६॥
जाधे पुण उवसग्गा देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा ।
ताधे णिप्पडियम्मो ते अधियासेदि [1]वगदभओ ॥२०३७॥
आदितियसुसघडणो सुभसठाणो अभिज्जधिदिकवचो ।
जिदकरणो जिदणिद्दो ओघबलो ओघसूरो य ॥२०३८॥

'ठिच्चा' स्थित्वा आसित्वा शयन वा कृत्वा स्वकायपरिकर स्वयमेव निरुपसर्गे विहारे करोति । स्वमेवात्मन करोत्याकुञ्चनादिका क्रिया उच्चारकादिक च निराकारोऽति प्रतिष्ठापनासमितिसमन्वित । यदि पुण उवसग्गा' यदा पुनरुपसर्गा दवमनुष्यतिर्यक्कृता भवन्ति तदा निष्प्रतीकारस्तान् सहते विगतभय । 'आदितिगसुसघडणो' आद्येषु त्रिषु सहननेषु अन्यतमसहनन शुभसस्थानोऽभेद्यधृतिकवचो जितकरणो जितनिद्रो महाबलो नितरा शूर ॥२०३५-२०३८॥

बीभत्थभीमदरिसणविगुव्विदा भूदरक्खसपिसाया ।
खोभिज्जो जाद वि तय तधवि ण सो सभम कुणइ ॥२०३९॥

'बीभत्थभीमदसणविगुव्विदा' बीभत्सभीमदर्शनविक्रिया भूतराक्षसपिशाचा यद्यपि क्षोभ कुर्वन्ति तथाप्यसौ न सभ्रम करोति ॥२०३९॥

इड्ढिमतुल विउव्विय किण्णरकिंपुरिसदेवकण्णाओ ।
[1]लोलति जदिवि तगं तधवि ण सो विम्हय जाई ॥२४०॥

गा०—वह कायोत्सर्गसे स्थित होकर अथवा पर्यङ्कासन आदिसे बैठकर अथवा एक पार्श्वसे शयन करते हुए धर्मध्यान करता है। तथा उपसर्गरहित दशामे स्वय ही अपने शरीरकी परिचर्या—हाथ-पैरोका सकोचन, फैलाना आदि करता है। स्वय ही प्रतिष्ठापना समितिपूर्वक शौच आदि करता है॥ यदि देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होता है तो उसका प्रतिकार नही करता है और निर्भय होकर उसे सहन करता है॥ क्योकि उसके आदिके वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच नामक तीन शुभ सहननोमेसे कोई एक सहनन होता है, समचतुरस्र सस्थान होता है। न भेदने योग्य धैर्यरूपी कवच होता है। वह इन्द्रियो और निद्रा पर विजय प्राप्त करता है। महाबली और शूरवीर होता है ॥२०३५-३८॥

गा०—यदि अत्यन्त भयकर विक्रियाके द्वारा भूत, राक्षस और पिशाच जातिके व्यन्तरदेव उसे डरावें तो भी वह विचलित नही होता ॥२०३९॥

---

१ लालेंति —मूलारा० ।

'इड्ढिमतुल विगुव्विय' ऋद्धिमतुलां विकृत्य किन्नरकिंपुरुषादिदेवकन्या यद्यप्युपलालनं कुर्वन्ति तदाप्यसौ न विस्मयं याति ॥२०४०॥

सव्वो पोग्गलकाओ दुक्खत्ताए जदिवि तमुवणमेज्ज ।
तधवि य तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४१॥

'सव्वो पोग्गलकाओ' सर्वं पुद्गलद्रव्यं दुःखतया यदि तमभिहन्ति तथापि तस्य न जायते ध्यानस्यान्यथावृत्तिः ॥२०४१॥

सव्वो पोग्गलकाओ सोक्खत्ताए जदि वि तमुवणमेज्ज ।
तध वि हु तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४२॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२०४२॥

सच्चित्ते साहरिदो तत्थ उवेक्खदि वियत्तसव्वंगो ।
उवसग्गे य पसंते जदणाए थंडिलमुवेदि ॥२०४३॥

'सच्चित्ते साहरिदो' व्याघ्रादिभिः सचित्ते निक्षिप्तः स तत्रैवोपेक्षते त्यक्तसर्वाङ्गः । उपसर्गे प्रशान्ते यत्नेन स्थण्डिलमुपैति ॥२०४३॥

एवं उवसग्गविधि परीसहविधिं च सोधिया संतो ।
मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदकसाओ ॥२०४४॥

'एवं उवसग्गविधिं' एवमुपसर्गान् परिषहांश्च सहमानस्त्रिगुप्तः सुनिश्चितो निर्जितकषायः ॥२०४४॥

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ।
णिप्पडिबद्धो विरहदि जिददुक्खपरिस्समो धिदिमं ॥२०४५॥

गा०—किन्नर किंपुरुष जातिके व्यन्तर देवोंकी देवांगनाएँ अतुल ऋद्धिरूप विक्रियाके द्वारा यदि उसे लुभाती हैं तो भी वह उनके लोभमें नहीं आता ॥२०४०॥

गा०—यदि तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गल द्रव्य दुःखरूप परिणत होकर उसे दुःखी करें तब भी वह ध्यानसे विचलित नहीं होता ॥२०४१॥

गा०—तथा तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गलद्रव्य सुखरूप परिणत होकर उसे सुखी करें तब भी वह ध्यानसे विचलित नहीं होता ॥२०४२॥

गा०—यदि व्याघ्र आदिके द्वारा वह हरित तृणोंसे भरे हुए प्रदेशमें डाल दिया जाता है तो अपने शरीरका मोहत्याग शान्तभावसे वहीं स्थिर रहता है और उपसर्ग दूर होनेपर सावधानता पूर्वक तृणरहित भूमिप्रदेशमें चला आता है ॥२०४३॥

गा०—इस प्रकार उपसर्गों और परीषहोंको सहन करते हुए वह मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करता है। तथा स्थिरतापूर्वक कषायोंको जीतता है ॥२०४४॥

गा०—दुःख और परिश्रमपर विजय प्राप्त करने वाला वह धीर वीर क्षपक इस लोक,

'इहलोगे परलोगे' इह परत्र च जीविते मरणे सुखे दुःखे च अप्रतिबन्धो विहरति जितदु खपरिश्रम धृतिमान् ॥२०४५॥

वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तधय धम्मथुदिं ।
सुत्तत्थपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तत्थमेयमणो ॥२०४६॥

'वायणपरियट्टणपुच्छणाओ' वाचना, परिवर्तन, प्रश्न च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेश सूत्रस्यार्थस्य वा स्मरत्येकचित्त ॥२०४६॥

एव अट्ठवि जामे अनुवट्टो तच्च ज्झादि एयमणो ।
जदि आघच्चा णिद्दा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥२०४७॥

'एव अट्ठवि जामे' एवमेवाष्टसु यामेषु निरन्तरशयनक्रियो ध्यायेकचित्त , यद्याहत्य निद्रा भवेन तत्र अप्रतिज्ञोऽसौ ॥२०४७॥

सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण मति किरियाओ ।
जम्हा ममाणमज्झे तस्स य झाण अपडिसिद्ध ॥२०४८॥

'सज्झायका-पडिलेहणादिकाओ' स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिका क्रिया न भन्ति यस्मात् श्मशानमध्येऽपि तस्य ध्यान न प्रतिषिद्ध ॥२०४८॥

आवासग च कुणदे उवधोकालम्मि जं जहिं कमदि ।
उवकरणपि पडिलिहइ उवधोकालम्मि अदणाए ॥२०४९॥

'आवासग च कुणदे' आवश्यक च करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनमपि यत्नेन कालद्वये करोति ॥२०४९॥

परलोक, जीवन, मरण, सुख और दु खमे रागद्वेष रहित होकर विहरता है अर्थात् न जीवन आदिसे राग करता है और मरण आदिसे द्वेष करता है ॥२०४५॥

गा०—स्वाध्यायके पाँच भेदोमेसे वाचना, आम्नाय, पृच्छना और धर्मोपदेशको त्यागकर वह अस्वाध्यायकालमे भी एकाग्रमनसे सूत्रके अर्थका ही अनुचिन्तन करता है। अर्थात् सतत अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमे ही लीन रहता है ॥२०४६॥

गा०—इस प्रकार वह दिन रातके आठो पहरोमे निद्राको त्यागकर एकाग्र मनसे ध्यान करता है। यदि कभी बलात् निद्रा आ जाती है तो सो लेता है ॥२०४७॥

गा०—अन्य मुनियोकी तरह न तो उनका स्वाध्यायकाल ही नियत होना है और न उन्हे प्रतिलेखना आदि क्रिया करना ही आवश्यक होता है। उनके लिये श्मशानमे भी ध्यान करना निषिद्ध नही है ॥२०४८॥

गा०—किन्तु दिन रातमे जब जो आवश्यक करनेका विधान है वह अवश्य करते हैं और सावधानता पूर्वक दोनो कालोमे अपने उपकरणोकी प्रतिलेखना भी करते हैं ॥२०४९॥

महसा चुक्करकलिदे णिसीधियादीसु मिच्छकारे सो ।
आसिअणिसीधियाओ णिग्गमणपवेसणे कुणइ ॥२०५०॥

'सहसा चुक्करकलिदे' सहसा स्खलने जाते मिथ्या मया कृतमिति ब्रवीति, निष्क्रमणप्रवेशयो आसिकानिपीधिकाशब्दप्रयोग करोति ॥२०५०॥

पादे कटयमादि अच्छिम्मि रजादिय जदाविज्ज ।
गच्छदि अधाविधिं सो परणीहरणे य तुण्हिक्को[1] ॥२०५१॥

'पादे कटयमादि' पादयो कटकप्रवेशे नेत्रयो रज प्रभृतिप्रवेशेऽपि तूष्णीमास्ते, परनिराकरणेऽपि स तूष्णीमास्ते ॥२०५१॥

वेउव्वणमाहारयचारणखीरासवादिलद्धीसु ।
तवमा उप्पण्णासु वि विरागभावेण सेवदि सो ॥२०५२॥

'वेउव्वणमाहारय' विक्रियाऋद्धौ आहारकऋद्धौ चारणऋद्धौ क्षीरास्रवादिलब्धिपु वा तपसोत्पन्नास्वपि विरागतया न किंचित्सेवते स ॥२०५२॥

मोणाभिग्गहणिरदो रोगादंकादिवेदणाहेदु ।
ण कुणदि पडिकार सो तहेव तण्हाछुहादीण ॥२०५३॥

'मोणाभिग्गहणिरदो' मौनव्रतोपपन्न रोगातङ्कादिवेदनानिमित्त प्रतीकार न करोति तथैव तृडादीनामपि ॥२०५३॥

उवएसो पुण आइरियाण इगिणिगदो वि छिण्णकधो ।
देवेहि माणुसेहिं व पुट्ठो धम्म कधेदित्ति ॥२०५४॥

गा०—यदि उसमे क्वचित् चूक जाते हैं तो 'मेरा दोष मिथ्या हो' 'मैंने गलत किया' ऐसा बोलते हैं। तथा बाहर जाने और भीतर प्रवेश करनेपर 'आसही, निसही' शब्दोका उच्चारण भी करते हैं ॥२०५०॥

गा०—यदि पैरमे कांटा घुस जाता है या आँखमे धूल आदि चली जाती है तो चुप रहते हैं स्वय उसे दूर नही करते। यदि दूसरा दूर करता है तब भी चुप ही रहते हैं ॥२०५१॥

गा०—यदि तपके प्रभावसे उन्हे विक्रिया ऋद्धि, आहारक ऋद्धि या चारण ऋद्धि अथवा क्षीरास्रव आदि ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं तो विरागी होनेसे उनका किञ्चित् भी सेवन नही करते ॥२०५२॥

गा०—वह मौनका पालन करनेमे लीन रहते है, रोग आदिमे होनेवाले कष्टको दूर करनेका प्रयत्न नही करते। इसी प्रकार भूख प्यास आदिका भी प्रतीकार नही करते ॥२०५३॥

---

१ तुण्हिणीओ –मु०।

'उवएसो पुण आइरियाण' उपदेश पुन आचार्याणां इङ्गिणीगतोऽपि धर्म कथयति देवैर्मनुष्यैर्वा पृष्ट। कथ कथयति छिन्नकथ प्रवर्तनेन महता ॥२०५४॥

एवमधक्खादविधि साधित्ता इंगिणीं धुदकिलेसा।
सिज्झंति केइ केई हवंति देवा विमाणेसु ॥२०५५॥

'एवमधक्खादविधि' एव यथाख्यातक्रमेण इङ्गिणी प्रसाध्य निरस्तक्लेशा केचित्सिध्यन्ति, केचिद्वैमानिकदेवा भवन्ति ॥२०५५॥

एद इंगिणिमरण वासमभासेण वण्णिद विधिणा।
पाओगमरणमित्तो समासदो चेव वण्णेमिं ॥२०५६॥

स्पष्टार्था गाथा। इङ्गिणी ॥२०५६॥

पाओवगमणमरणस्स होदि सो चेव उवक्कमो सव्वो।
वुत्तो इंगिणिमरणस्सुवक्कमो जो सवित्थारो ॥२०५७॥

स्पष्टार्थं ॥२०५७॥

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥२०५८॥

'णवरि तणसंथारो' णवरं तृणसस्तरः प्रायोपगमनगतस्य प्रतिषिद्धः, आत्मपरप्रयोगेण यस्मात्प्रतिषिद्धं सर्व प्रतीकारं। स्वपरसपाद्यप्रतीकारापेक्ष भक्तप्रत्याख्यानविधि, परनिरपेक्षमात्मसपाद्यप्रतीकारमिंगिणीमरण, सर्वप्रतीकाररहित प्रायोपगमनमित्यमीषा भेद ॥२०५८॥

गा०—अन्य आचार्यो का मत है कि इंगिणीमरण करते हुए भी क्षपक देवो या मनुष्योंके द्वारा पूछे जानेपर थोडासा धर्मोपदेश भी करता है किन्तु अधिक नही करता ॥२०५४॥

गा०—इस तरह ऊपर कहे अनुसार इंगिणीमरणकी साधना करके कोई तो समस्त क्लेशोसे छूटकर मुक्त हो जाते है और कोई मरकर वैमानिकदेव होते हैं ॥२०५५॥

गा०—इस इंगिणीमरणका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया। आगे प्रायोपगमनका संक्षेपसे कथन करेंगे ॥२०५६॥

गा०—ऊपर इंगिणीमरणकी जो विस्तारसे विधि कही है वही सब विधि प्रायोपगमन मरणकी होती है ॥२०५७॥

गा०—किन्तु इतना विशेष है कि प्रायोपगमनमे तृणोंके संथरेका-तृणशय्याका निषेध है। क्योंकि उसमे स्वय अपनेसे और दूसरोंसे भी सब प्रकारका प्रतीकार करना कराना निषिद्ध है ॥२०५८॥

टी०- भक्तप्रत्याख्यानमे तो अपनी सेवा स्वय भी कर सकता है और दूसरोसे भी करा सकता है। इंगिणीमे अपनी सेवा स्वय कर सकता है, दूसरोंसे नही करा सकता। किन्तु

---

१ छिन्नकथ प्रवर्तितेन –आ०।

सो सल्लेहिददेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ।
उच्चारादिविकिंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥२०५९॥

'सो सल्लेहिददेहो' स सम्यक्तनूकृतशरीरो यस्मात्प्रायोपगमनमुपयाति तस्मादुच्चारादिनिराकरणमपि नास्ति प्रयोगत ॥२०५९॥

पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो ।
वोसट्ठ चत्तदेहो अधाउग पालए तत्थ ॥२०६०॥

'पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो' पृथिव्यादिषु जीवनिकायेषु यद्यपि केनचिदाहृष्ट-स्तथापि व्युत्सृष्टशरीरसंस्कारस्त्यक्तदेह स्वमायु पालयेत् ॥२०६०॥

मज्जणयगंधपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते ।
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउग पालए तधवि ॥२०६१॥

'मज्जणयगंधपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते' यद्यपि कश्चिदभिषेचयेत् गन्धपुष्पादिभिर्वा सम्तुयान् तथापि व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो न रुष्यति न तुष्यति न निवारयति ॥२०६१॥

वोसट्ठचत्तदेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं ।
जावज्जीव तु सय तहि तमगं ण चालेदि ॥२०६२॥

'वोसट्ठचत्तदेहो' व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो निक्षिपेत कश्चिदन्यस्मिन्नयथाङ्ग यावज्जीव स्वय तस्मिंस्तदङ्ग न चालयति ॥२०६२॥

एव णिप्पडियम्म भणति पाओवगमणमरहता ।
णियमा अणिहार त सिया य णीहारमुवसग्गे ॥२०६३॥

प्रायोपगमनमे अपनी सेवा न स्वय करता है और न दूसरोंसे कराता है। यही इन तीनोंमे भेद है ॥२०५८॥

गा०—यत जो अपने शरीरको सम्यकरूपसे कृश करता है अर्थात् अस्थि चर्ममात्र शेष रहता है वही प्रायोपगमन मरण करता है। अत मल मूत्रके स्वय या दूसरेके द्वारा त्याग करानेका प्रश्न ही नहीं रहता ॥२०५९॥

गा०—यदि कोई उन्हे पृथ्वी, जल, तेज, वनस्पति और त्रस आदि जीवनिकायोमे फेंक देता है तो शरीरसे ममत्व त्यागकर अपनी आयुके समाप्त होने तक वही पडे रहते हैं ॥२०६०॥

गा०—यदि कोई उनका अभिषेक करे या गन्ध पुष्प आदिसे पूजा करे तब भी शरीरसे ममत्व त्यागकर न रोष करते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न उसे ऐसा करनेसे रोकते हैं ॥२०६१॥

गा०—शरीरसे ममत्वका त्याग करने वाला वह प्रायोपगमनका धारी क्षपक जिस क्षेत्रमे जिस प्रकारसे शरीरका कोई अग रखा गया हो, उसको वैसा ही पडा रहने देता है, स्वय अपने अगको हिलाना डुलाता नही है ॥२०६२॥

गा०—इस प्रकार अर्हतदेव प्रायोपगमनको स्व और परकृत प्रतीकारसे रहित कहते हैं।

'एव णिप्पडियार' एव स्वपरकृतप्रतीकाररहित प्रायोपगमन जिना वदन्ति, निश्चयेन तत्प्रायोपगमन-मनीहारमचल स्याच्चलमपि उपसर्गे परकृत चलनमपेक्ष्य ॥२०६३॥

एतदेवोत्तरगाथया स्पष्टयति—

उवसग्गेण वि साहरिदो सो अण्णत्थ कुणदि ज काल ।
तम्हा वुत्त णीहारमदो अण्ण अणीहार ॥२०६४॥

एतदेव स्पष्टयति ॥२०६४॥

पडिमापडिवण्णा वि हु करंति पाओवगमणमप्पेगे ।
दीहद्द विहरंता इगिणिमरणं च अप्पेगे ॥२०६५॥

'पडिमापडिवण्णा वि हु' प्रतिमाप्रतिपन्ना अपि एके प्रायोपगमन कुर्वन्ति, एके इङ्गिणिमरण। पाठग ॥२०६५॥

आगाढे उवसग्गे दुब्भिक्खे सव्वदो वि दुत्तारे ॥
कदजोगि समधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति ॥२०६६॥

'आगाढे उवसग्गे' उपसर्गे महति दुर्भिक्षे वा दुस्तरे जाते कृतयोगिन परीषहसहा कारणजातमाश्रित्य मरणे कृतोत्साहा भवन्ति। तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उत्तरगाथाभिरुच्यन्ते ॥२०६६॥

निश्चयसे प्रायोपगमन अचल होता है। किन्तु उपसर्ग अवस्थामे मनुष्यादिके द्वारा चलायमान किये जानेपर चल भी होता है अर्थात् स्वय शरीरको न हिलानेमे तो अचल ही है किन्तु दूसरेके द्वारा हिलाने पर चल होता है ॥२०६३॥

आगेकी गाथासे इसीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—उपसर्ग अवस्थामे एक स्थानमें उठाकर दूसरे स्थानमे डाल दिये जाने पर यदि वह वहीं मरण करता है तो उसे नीहार कहते हैं, और ऐसा नही होनेपर पूर्व स्थानमें ही मरण हो तो वह अनीहार कहलाता है ॥२०६४॥

गा०—जिनकी आयुका काल अल्पशेष रहता है वे प्रतिमा योग धारण करके प्रायोपगमन करते है। और कुछ दीर्घकाल तक विहार करते हुए इगिनीमरण करते है ॥२०६५॥

विशेषार्थ—आशाधर जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—कुछ तो सल्लेखना न करके ही कायोत्सर्ग पूर्वक प्रायोपगमन करते हैं और कोई चिरकाल तक उपवास करके प्रायोपगमन करते हैं। इसी प्रकार इगिणी भी जानना। अर्थात् उन्होंने दोनो मरणोंके दो-दो प्रकार कहे हैं। ऊपरके अर्थके अनुसार अल्प आयु वाले प्रायोपगमम करते हैं इसीमे वे अपने शरीरकी सेवा न स्वय करते हैं न दूसरेसे कराते हैं। दीर्घ आयु शेष रहने वाले इंगिनीमरण करते हैं अत वे अपने शरीरकी सेवा स्वय तो करते हैं दूसरेसे नहीं कराते। उन्हें स्वय मलमूत्रादि का त्याग तो करना होता ही है ॥२०६५॥

गा०—महान् उपसर्ग अथवा भयानक दुर्भिक्ष होनेपर परीषहोंको सहन करनेमे समर्थ मुनि अल्प भी मरणके कारण उपस्थित होनेपर उत्साहपूर्वक मृत्युका आलिगन करते हैं ॥२०६६॥

कोमलय धम्मसीहो अट्ठ साधेदि गिद्धपुट्ठेण ।
णयरम्मि य कोल्लगिरे चदसिरिं विप्पजहिदूण ॥२०६७॥
पाडलिपुत्ते धूदाहेदु मामयकदम्मि उवसग्गे ।
साधेदि उसभसेणो अट्ठ विक्खाणम किच्चा ॥२०६८॥
अहिमारएण णिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणलिंगेण ।
उड्ढाहपसमणत्थं सत्थग्गहण अकासि गणी ॥२०६९॥
सगडालएण वि तधा सत्तग्गहणेण साधिदो अत्थो ।
वररुइपओगहेदु रुट्ठे णदे महापउमे ॥२०७०॥
एव पण्डिपमरण सवियप्प वण्णिद सवित्थारं ।
वुच्छामि बालपंडियमरणं एत्तो समासेण ॥२०७१॥

आगेकी गाथाओंमे इसीके समर्थक उदाहरण देते है—

गा०—अयोध्या नगरीमे धर्मसिंह नामक राजाने अपनी चन्द्रश्री नामक पत्नीको त्यागकर दीक्षा धारण की। और अपने श्वसुरके भयसे कोल्लगिरि नगरमे हाथीके कलेवरमे प्रवेश करके आराधनाकी साधना की ॥२०६७॥

विशेषार्थ—बृ० क० कोशमे इसकी कथाका नम्बर १५४ है।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमे ऋषभसेन नामक श्रेष्ठीने अपनी पत्नीको त्यागकर दीक्षा ली। अपनी पुत्रीके स्नेहवश श्वसुरके द्वारा उपसर्ग किये जानेपर ऋषभसेनने श्वास रोककर साधना की ॥२०६८॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमाक १५५ है।

गा०—श्रावस्ती नगरीके राजा जयसेनने बौद्धधर्म त्यागकर जैनधर्म धारण किया था। इससे कुपित होकर अहिमारक नामक बौद्धने उसे उस समय मार डाला जब वह आचार्य यतिवृषभको नमस्कार कर रहा था। तब मुनिने अपना अपवाद दूर करनेके लिये शस्त्रसे अपना घात करते हुए साधना की ॥२०६९॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमाक १५६ है।

गा०—पाटलीपुत्रमे नन्दराजाका मत्री शकटाल था। उसने महापद्म सूरिसे जिन दीक्षा ग्रहण की। उसके विरोधी वररुचिने राजा महापद्मको रुष्ट करके शकटालको मारनेका प्रयत्न किया तो शकटाल मुनिने पञ्च नमस्कार मत्रका ध्यान करते हुए छुरीसे अपना पेट फाड डाला और इस प्रकार आराधनाकी साधना की ॥२०७०॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका नम्बर १५७ है।

गा०—इस प्रकार भेद सहित पण्डितमरणका विस्तारसे कथन किया। आगे सक्षेपसे बाल-

---

१ वेघाणं अ०। णण्हाणम आ०।

पण्डितमरण। एवं पण्डितमरणं सविकल्पं सविस्तरं व्यावर्णितं, वक्ष्यामि बालपण्डितमरणमित ऊर्ध्वं सक्षेपेण ॥२०६७-२०७१॥

देसेक्कदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो ।
तं होदि बालपंडिदमरणं जिणसासणे दिट्ठं ॥२०७२॥

'देसिक्कदेसविरदो' सर्वासंयमप्रत्याख्यानसामर्थ्यं हिंसादेरेकदेशाद्विरतः स्थूलभूतप्राणातिपातादि-पञ्चकाद्देशविरत इत्युच्यते। एकदेशविरतो नाम देशविरमणेऽपि एकदेशाद्व्यावृत्तः सम्यग्दृष्टिर्यो म्रियते तस्य तद्बालपण्डितमरणं ॥२०७२॥

एतदेव स्पष्टयति—

पंच य अणुव्वदाइं सत्तयसिक्खाउ देसजदिधम्मो ।
सव्वेण य देसेण य तेण जुदो होदि देसजदी ॥२०७३॥

'पंच य अणुव्वयाइं' पञ्चाणुव्रतानि शिक्षाव्रतानि वा सप्त प्रकाराणि देशयतेर्धर्मः। तेन समस्तेन धर्मेण युतः स्वशक्त्या वा तदेकदेशेन युतोऽपि देशयतिरेव। द्वादशविधगृहिधर्मप्रत्यायनपराणि सूत्राण्युत्तराणि प्रसिद्धार्थानि ॥२०७३॥

पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं ।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं ॥२०७४॥
जं च दिसाविरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं ।
देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं ॥२०७५॥

पण्डितमरणका कथन करेंगे ॥२०७१॥

गा०-टी०—जो समस्त असंयमका त्याग करनेमें असमर्थ है स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह आदि पाँच पापोंका त्याग करता है उसे देशविरत कहते हैं। और जो देशविरतिके भी एक देशसे विरत होता है अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार हिंसादिका त्याग करता है ऐसा सम्यग्दृष्टि एक देशविरत कहा जाता है। इस प्रकार जो समस्त या एकदेश गृहस्थ धर्मका पालक श्रावक होता है उसके मरणको जिनागममें बालपंडितमरण कहा है ॥२०७२॥

उसीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ये देशसंयमी श्रावकका धर्म है। जो उस सम्पूर्ण श्रावक धर्मका पालक है अथवा अपनी शक्तिके अनुसार उसके एक देशका पालक है वह भी देशसंयमी ही है ॥२०७३॥

आगे बारह प्रकारके गृहीधर्मको कहते हैं जो प्रसिद्ध हैं—

गा०—हिंसा असत्य, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, पर स्त्री गमन और इच्छाका अपरिमाण इनसे विरतिरूप पाँच अणुव्रत हैं ॥२०७४॥

गा०—दिग्विरति, अनर्थदण्डविरति, देशावकाशिक ये तीन गुणव्रत हैं ॥२०७५॥

भोगाण परिसखा सामाइयमतिहिसविभागो य ।
पोसहविधि य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ ॥२०७६॥
आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए ।
णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी ॥२०७७॥

'आसुक्कारे मरणे' सहसा मरणे अच्छिन्नायां जीविताशायां बन्धुभिर्वा न मुक्त पश्चिमसल्लेखनाम कृत्वा कृतालोचनो निःशल्य स्वगृह एव सस्तरमारुह्य देशविरतस्य मृतिर्वालपण्डितमित्युच्यते ॥२०७६-७७॥

आलोचिदणिस्सल्लो सघरे चेवारुहित्तु सथार ।
जदि मरदि देसविरदो त वुत्तं बालपडिदय ॥२०७८॥
जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिद्दिट्ठो ।
सो चेव बालपंडिदमरणे णेओ जहाजोग्गो ॥२०७९॥
वेमाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो ।
णियमा सिज्झदि उक्कस्सएण वा सत्तमम्मि भवे ॥२०८०॥
इय बालपडिय होदि मरणमरहतसासणे दिट्ठ ।
एत्तो पडिदपडिदमरणं वोच्छं समासेण ॥२०८१॥

स्पष्टार्था त्रयो गाथा । बालपडिद ॥२०७८-२०८१॥

गा०—भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथिसंविभाग और प्रोषधोपवास ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं ॥२०७६॥

गा०—सहसा मरण उपस्थित होनेपर, जीवनकी आशा रहनेपर, अथवा परिजनोंके द्वारा मुक्त न किये जानेपर अन्तिम सल्लेखना धारण न करके, अपने दोषोंकी आलोचना पूर्वक शल्य रहित होकर अपने घरमें ही सस्तरपर स्थित होकर देशविरत श्रावकके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं ॥२०७७॥

गा०—विधिपूर्वक आलोचना करके, माया मिथ्यात्व और निदान शल्यसे मुक्त होकर अपने घरमें सस्तरपर आरूढ होकर यदि श्रावक देशविरत मरता है तो उसे बालपण्डित मरण कहा है ॥२०७८॥

गा०—भक्तप्रत्याख्यानमें जो विधि विस्तारसे कही है वही सब विधि बालपण्डितमरणमें यथायोग्य जानना ॥२०७९॥

गा०—वह श्रावक मरकर नियमसे सौधर्मादि कल्पोपपन्न वैमानिक देवोंमें उत्पन्न होता है और नियमसे अधिक से अधिक सात भवोंमें मुक्त होता है ॥२०८०॥

गा०—इस प्रकारके मरणको अरहन्त भगवान्‌के धर्ममें बालपण्डित कहा है । आगे सक्षेपसे पण्डित पण्डितमरणको कहते हैं ॥२०८१॥

साहू जहुत्तचारी वट्टंतो अप्पमत्तकालम्मि ।
ज्झाण उवेदि धम्म पविट्ठुकामो खवगसेढि ॥२०८२॥

'साहू जहुत्तचारी' शास्त्रोक्तेन मार्गेण प्रवर्तमानस्साधुरप्रमत्तगुणस्थानकाले धर्म्यं ध्यानमुपैति क्षपकश्रेणिं प्रवेष्टुकाम ॥२०८२॥

ध्यानपरिकर बाह्य प्रतिपादयति—

सुचिए समे विवित्ते देसे णिज्जतुए अणुण्णाए ।
उज्जुअआयददेहो अचल बधेत्तु पलिअक ॥२०८३॥

'सुचिए समे' शुचौ समे एकान्तदेशे निर्जन्तुके अनुज्ञाते तत्स्वामिभि ऋज्वायतदेह पल्यङ्कमचल बद्ध्वा ॥२०८३॥

वीरासणमादीयं आसणमसमपादमादियं ठाण ।
सम्म अधिट्ठिदो वा सिज्जमुत्ताणसयणादि ॥२०८४॥

'वीरासणादिग' वीरासनादिकमासन बद्ध्वा समपादादिना स्थिता वा अथवा उत्तानशयनादिना वा वृत्त ॥२०८४॥

पुव्वभणिदेण विधिणा ज्झादि ज्झाण विसुद्धलेस्साओ ।
पवयणसभिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥२०८५॥

'पुव्वभणिदेण विधिणा' पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विशुद्धलेश्य । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमति मोहनीय क्षय नेतुमुद्यत ॥२०८५॥

सजोयणाकसाए खवेदि झाणेण तेण सो पढम ।
मिच्छत्त सम्मिस्स कमेण सम्मत्तमवि य तदो ॥२०८६॥

'सजोयणाकसाए' अनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभान् क्षपयति ध्यानेन, तेनासौ प्रथम मिथ्यात्व,

---

गा०—शास्त्रोक्त मार्गसे प्रवृत्ति करता हुआ साधु क्षपक श्रेणिपर आरूढ होनेकी इच्छासे अप्रमत्त गुणस्थानमे धर्मध्यान करता है ॥२०८२॥

ध्यानकी बाह्य सामग्री कहते हैं—

गा०—पवित्र और जन्तुरहित एकान्त प्रदेशमे, उस स्थानके स्वामीकी आज्ञा प्राप्त करके, समभूमिभागमे शरीरको सीधा रखते हुए पल्यकासन बाधकर अथवा वीरासन आदि लगाकर, अथवा दोनो पैरोको समरूपमे रखते हुए खडे होकर अथवा ऊपरको मुखकर शयन करते हुए या एक करवटमे लेटकर पूर्वमे कही विधिके अनुसार विशुद्ध लेश्यापूर्वक मोहनीय कर्मका क्षय करनेमे तत्पर होता हुआ ध्यान करता है तथा चतुर्दश पूर्वोका अर्थ श्रवण करनेसे उसकी बुद्धि निर्मल होती है अर्थात् उसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल क्षयोपशम होता है ॥२०८३-२०८५॥

गा०—प्रथम ही वह उस ध्यानके द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभका क्षय

सम्यङ्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं च क्रमेण एव प्रकृतिसप्तकं विनाश्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यधिरोहणाभिमुखोऽध प्रवृत्तकरणं अप्रमत्तस्थाने प्रतिपद्य ॥२०८६॥

अध खवयसेढिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरण सो ।
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ॥२०८७॥

'अध खवगसेढिमधिगम्म' अथ क्षपकश्रेणीमधिगम्य करोति साधुरपूर्वकरणमसौ। किं तदपूर्वकरणमित्याशङ्कायामुच्यते। 'होदि तमपुव्वकरणं' भवति तदपूर्वकरणं 'कदाइ अप्पत्तपुव्वंति' कदाचिदप्राप्तपूर्वमिति ॥२०८७॥

अणिवित्तिकरणणामं णवमं गुणठाणयं च अधिगम्म ।
णिद्दाणिद्दा पयलापयला तध थीणगिद्धिं च ॥२०८८॥

'अणियट्टिकरणणामं णवमं गुणठाणमधिगम्म' अनिवृत्तिगुणस्थानमुपगम्य णिद्दाणिद्दा पयलापयला निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धिं च ॥२०८८॥

णिरयगदियाणुपुव्विं णिरयगदिं थावरं च सुहुमं च ।
साधारणादवुज्जोवतिरयगदिं आणुपुव्वीए ॥२०८९॥

'णिरयगदियाणुपुव्विं' नरकगत्यानुपूर्वि, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म साधारण, आतप, उद्योत तिर्यग्गत्यानुपूर्वि ॥२०८९॥

करता है फिर मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणिके अभिमुख होनेके लिये अप्रमत्त गुणस्थानमे अध प्रवृत्तकरण करता है ॥२०८६॥

टी०—अनन्त ससारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहते हैं। उसके साथ बन्धनेसे अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार यहाँ सयोजना शब्दसे लिये गये हैं। मिथ्या पदार्थों के अभिनिवेशमे जो निमित्त होता है वह मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय है। जिस मिथ्यात्वका स्वरस अर्धशुद्ध हो जाता है उसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते हैं। और जिस मिथ्यात्वका शुभ परिणामके द्वारा स्वरस क्षीण हो जाता है उसे सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कहते हैं। इसके उदय रहते हुए भी तत्त्वार्थका श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन इन सातोंके अभावमे ही होता है। और क्षायिक सम्यग्दृष्टी ही क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥२०८६॥

गा०—क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर वह क्षपक श्रेणिपर आरोहण करके प्रथम अपूर्वकरण करता है। उसे अपूर्वकरण इसलिये कहते हैं कि उसने इस प्रकारके परिणाम कभी भी नीचेके गुणस्थानोमे प्राप्त नही किये थे ॥२०८७॥

गा०—उसके पश्चात् वह साधु अनिवृत्ति करण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त करके निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण,

इगविगतिगचदुरिदियणामाइ तध तिरिक्खगदिणाम ।
खवयित्ता मज्झिल्ले खवेदि सो अट्ठवि कमाए ॥२०९०॥

'इगविग' एकद्वित्रिचतुरिंद्रियजाती, तिर्यग्गति, अप्रत्याख्यानचतुष्क, प्रत्याख्यानचतुष्कं च क्षपयति ॥२०९०॥

तत्तो णपुसगित्थीवेद हासादिछक्कपुवेद ।
कोध माण माय लोभ च खवेदि सो कमसो ॥२०९१॥

'तत्त णपुस' ततो नपुमक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादिषट्क, पुवेद, सज्वलनक्रोधमानमाया क्षपयति । पश्चाल्लोभमज्वलन ॥२०९१॥

अध लोभसुहुमकिट्टिं वेदतो सुहुमसपरायत्त ।
पावदि पावदि य तधा तण्णाम सजम सुद्ध ॥२०९२॥

'अध लोभसुहुमकिट्टि' अथ पश्चाद्बादरकृष्टेरनतरकाल लोभसूक्ष्मकृष्टि वेदयमान । 'सुहुमसपरायत्त पावदि' सूक्ष्मसापरायता प्राप्नोति । 'पावदि य तधा' प्राप्नोति च तथा तन्नामक सयम शुद्ध सूक्ष्मसापरायता अधिगच्छति ॥२०९२॥

तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोभकिट्टीसु ।
एयत्तवितक्कावीचार तो ज्झादि सो ज्झाण ॥२०९३॥[1]

आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तिर्यग्गति, इन सोलह कर्मप्रकृतियोका क्षय करके मध्यकी आठ कषाय अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षय करता है ॥२०८८-२०९०॥

गा०—फिर क्रमसे उसी नवम गुणस्थानमे नपुसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, पुरुषवेद और सज्वलन, क्रोध मान मायाका क्षय करता है। अन्तमे सज्वलन लोभका क्षय करता है ॥२०९१॥

विशेषार्थ—क्षयका क्रम इस प्रकार है—हास्यादि छह नोकषायोको पुरुषवेदमे क्षेपण करके नष्ट करता है। पुरुषवेदको क्रोध सज्वलनमे क्षेपण करके क्षय करता है। इसी प्रकार क्रोधसज्वलनको मान सज्वलनमे मानसज्वलनको माया सज्वलनमे और माया मज्वलनको लोभमज्वलनमे क्षेपण करके क्षय करता है। अन्तमे बादर कृष्टिके द्वारा लोभमज्वलन को कृश करके सूक्ष्म लोभ सज्वलन कषाय शेष रहती है ॥२०९१॥

गा०—बादर कृष्टिके पश्चात् सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभका वेदना करता हुआ दसवे सूक्ष्म साम्पराय नामक गुणस्थानको प्राप्त करता है और वहाँ उसी सूक्ष्मसाम्पराय नामक सयमको प्राप्त करता है ॥२०९२॥

---

१ एयत्त सवियक्क अविचार सो तहि झादि-अ० आ० ।

'तो सो खीणकसाओ जायदि' तत सूक्ष्मसपरायत्वादनतर 'खीणकसाओ जायदि' क्षीणकषायो जायते । 'खीणासु लोभकिट्टीसु' सज्वलनलोभसूक्ष्मकृष्टिषु क्षीणासु । तो' तत 'एयत्तवितक्कावीचारझाण तो झादि' एकत्ववितर्कावीचार ध्यान ध्याति ॥२०९३॥

झाणेण य तेण अधक्खादेण य संजमेण घादेदि ।
सेसा घादिकम्माणि 'सम अवरजणाणि तदो ॥२०९४॥

'झाणेण य तेण' तेन ध्यानेन । 'तो' तेनैकत्ववितर्काविचारेण यथाख्यातेन चारित्रेण शेषघातिकर्माणि समकालमेव क्षपयति । 'अवरजणाणि' जीवस्यान्यथाभावकारणानि ॥२०९४॥

मत्थयसूचीए जधा हदाए कसिणो हदो भवदि तालो ।
कम्माणि तधा गच्छंति खय मोहे हदे कसिणे ॥२०९५॥

'मत्थयसूचीए जधा हदाए' मस्तकसूच्या यथा हताया । 'कसिणो तालो हदो भवति' कृत्स्नस्तालद्रुमो हतो भवति । 'कम्माणि तधा' कर्माण्यपि तथैव 'खय गच्छति' क्षयमुपयाति । 'मोहे हदे कसिणे' मोहे हते कृत्स्ने ॥२०९५॥

णिद्दापचलाय दुवे दुचरिमसमयम्मि तस्स खीयंत ।
सेसाणि घादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीयंति ॥२०९६॥

'णिद्दा पचला य दुवे' निद्राप्रचला च द्वे तस्य क्षीणकषायस्य उपान्त्यसमये नश्यत । 'सेसाणि घादि-कम्माणि' अवशिष्टानि घातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरमसमये नश्यति, पच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शना-वरणानि, पचातरायाश्च ॥२०९६॥

तत्तो णतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिबध ।
केवलणाण सुद्ध तध केवलदसण चेव ॥२०९७॥

गा०—सूक्ष्म लोभकृष्टिका क्षय होनेपर सूक्ष्म साम्परायके पश्चात् क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती होता है। वहाँ वह एकत्व वितर्क विचार नामक ध्यानको ध्याता है ॥२०९३॥

गा०—उस ध्यान तथा यथाख्यात चारित्रके द्वारा वह जीवके अन्यथाभावमें कारण शेष घातिकर्मोंका एक साथ क्षय करता है ॥२०९४॥

गा०—जैसे ताडके वृक्षकी मस्तक सूची, ऊपरका शाखाभार टूट जानेपर समस्त ताडवृक्ष ही नष्ट हो जाता है वैसे ही समस्त मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥२०९५॥

गा०—उस क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा प्रचला नष्ट होती है। और शेष घातिकर्म-पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाच अन्तराय अन्तिम समयमे नष्ट होते [illegible] ९६॥

निद्रानिद्रा, ———
मयमर-मु०, मूलारा० ।

ततो ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात् अनन्तरसमये उत्पद्यते केवलज्ञानं सर्वपर्यायनिबद्धं, सर्वेषां द्रव्याणां त्रिकालगोचरा ये पर्याया विशेषरूपाणि तत्र प्रतिबद्धं परिच्छेदकत्वेन ज्ञानस्यातिशयो वस्तुगतविशेषरूपपरिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य सुगमत्वादित्याख्यातं भवति। केवलं इन्द्रियसहायानपेक्षत्वात् केवलमसहायं ज्ञानं रागादिमलाभावात् शुद्धं तथा केवलदर्शनं च ॥२०९७॥

अव्वाघादमसंदिद्धमुत्तमं सव्वदो असंकुडिदं।
एयं सयलमणंतं अणियत्तं केवलं णाणं ॥२०९८॥

'अव्वाघादं' न विद्यते प्रत्ययान्तरेण व्याघातो बाधास्येत्यव्याघातं। निश्चयात्मकत्वादसंदिग्धं। सर्वेभ्यो ज्ञानेभ्य उत्तमं प्रधानं श्रुतादिभिरिदं केवलं साध्यत इति। 'असकुडिदं' न मत्यादिवदल्पविषयमिति। 'एक्कं' एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति। 'सकलं' संपूर्णमात्मनः स्वरूपमिति। मत्यादीनि यथाऽसंपूर्णानि न तथेदं। 'अणंतं' अनन्तप्रमाणावच्छेद्यं। 'अणियत्तं' न विद्यते निवृत्तिर्विनाशोऽस्येत्यनिवृत्तं केवलज्ञानं ॥२०९८॥

चित्तपडं व विचित्तं तिकालसहिदं तदो जगमिणं सो।
सव्वं जुगवं पस्सदि सव्वमलोगं च सव्वत्तो ॥२०९९॥

'चित्तपडं व विचित्तं' चित्रपटवद्विचित्रं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात्। 'तिकालसहिदं' कालत्रयसहितं 'जगदिदं', ततः तेन केवलज्ञानेन सर्वं युगपत्पश्यत्यलोकं कृत्स्नं 'सर्वतः' समतात् ॥२०९९॥

वीरियमणंतराय होइ अणंतं तधेव तस्स तदा।
कप्पातीदस्स महामुणिस्स विग्घम्मि खीणम्मि ॥२१००॥

गा०-टी०—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेके अनन्तर समयमें शुद्ध केवलज्ञान और शुद्ध केवल दर्शन उत्पन्न होता है। वह केवल ज्ञान सब द्रव्योंकी त्रिकालगोचर सब पर्यायोंको जानता है। वस्तुगत विशेषरूपको जानना ही ज्ञानका अतिशय है सामान्यरूपको जानना तो सुगम है। इसीसे केवल ज्ञानको सर्वपर्यायनिबद्ध कहा है। केवलका अर्थ है असहाय। केवल ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित है इसीसे उसका नाम केवल है। तथा रागादिमलसे रहित होनेसे शुद्ध है। व्याघातसे रहित है क्योंकि कोई अन्य ज्ञान उसमें बाधा नहीं डाल सकता। निश्चयात्मक होनेसे सन्देह रहित है। श्रुत आदि अन्य सब ज्ञानोंमें प्रधान होनेसे उत्तम है। सब द्रव्य और पर्यायोंमें प्रवर्तमान होनेसे मतिज्ञान आदिकी तरह उसका विषय अल्प नहीं है। तथा एक आत्मामें स्वयं ही होनेसे एक है। सम्पूर्ण आत्मस्वरूप होनेसे सकल है। जैसे मति आदि ज्ञान असम्पूर्ण है उस तरह वह सम्पूर्ण नहीं है। अनन्त प्रमाण वाला होनेसे अनन्त है। अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता। विचित्र द्रव्य पर्यायरूपसे प्रतिभासमान होनेसे चित्रपटकी तरह विचित्र-नानारूप है। उस केवलज्ञानसे वह तीन काल सहित इस समस्त जगतको और सर्व अलोकको एक साथ जानता है ॥२०९७-२०९९॥

गा०—छद्मस्थ अवस्थासे रहित उस महामुनिके अन्तराय कर्मका विनाश होनेपर अन्तराय

---

१ सव्वण्हू -अ०।

'व.रियमणतराय होदि' निर्विघ्न वीर्य भवति । क्षायोपशमिकस्य हि वीर्यस्य पुन वीर्यातरायोदये सति विघ्नो भवति, न तथा तस्य निरवशेषक्षये। 'अनत' । 'कप्पातीदस्स' छद्मस्थकल्पना अतीतस्य महामुनेर्विघ्ने विनष्टे ॥२१००॥

तो सो वेदयमाणो विहरइ सेसाणि ताव कम्माणि ।
जावसमत्ती वेदिज्जमाणस्साउगस्स भवे ॥२१०१॥

'तो सो वेदयमाणो' केवलज्ञानादिपरिप्राप्त्यनतरकाल वेदयमानो विहरति, 'सेसाणि ताव कम्माणि अवशिष्टानि तावत्कर्माणि । 'जावसमत्ती' यावत्परिसमाप्ति । 'वेदिज्जमाणस्स आउगस्स भवे' अनुभूयमानस्य मनुष्यायुषो भवेत ॥२१०१॥

दसणणाणसमग्गो विरहदि उच्चावय तु परियाय ।
जोगणिरोध पारभदि कम्मणिल्लेवणट्ठाए ॥२१०२॥

'दसणणाणसमग्गो' क्षायिकेन ज्ञानेन दर्शनेन च समग्रो, विहृत्य 'उच्चावय परीयाय' उच्चावच पर्याय, चारित्रमभिवर्द्धयन् योगनिरोध प्रारभते, कर्मणामघातिनामपहरणार्थ ॥२१०२॥

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ।
वच्चति समुग्घाद सेसा भज्जा समुग्घादे ॥२१०३॥

उक्कस्सगेण' उत्कर्षेण षण्मासावशेषे आयुषि जाते केवलिनो जातास्ते समुद्घातमुपयाति । शेषा समुद्घाते भाज्या ॥२१०३॥

रहित अनन्तवीर्य होता है। अर्थात् क्षयोपशमिक वीर्यमे तो वीर्यान्तरायका उदय होनेपर विघ्न आ जाता है। किन्तु समस्त वीर्यान्तरायका क्षय होनेपर प्रकट हुए अनन्त वीर्यमे कोई विघ्न नही आता ॥२१००॥

गा०—केवल ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर जबतक शेष कर्मो की तथा अनुभूयमान मनुष्यायुकी समाप्ति नही होती तब तक वह केवल ज्ञानी विहार करता है ॥२१०१॥

गा०—क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनसे परिपूर्ण वह केवल ज्ञानी चारित्रको बढाता हुआ उत्कृष्ट कुछ कम एक पूर्वकोटि तक और जघन्य अन्तमुहूर्त मात्र काल तक विहार करता है। फिर अघातिकर्मो को नष्ट करनेके लिये सत्यवचन योग, अनुभयवचन योग, सत्यमनोयोग अनुभय मनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग तथा कार्मण काययोगका निग्रह प्रारम्भ करता है ॥२१०२॥

गा०—उत्कर्षसे छह माम आयु शेष रहनेपर जो केवल ज्ञानी होते है वे अवश्य समुद्घात-जीवके प्रदेशोका शरीरसे बाहर दण्ड आदिके आकार रूपमे निकलना-करते हैं। शेष समुद्घात करते भी हैं और नही भी करते, उनके लिये कोई नियम नही है ॥२१०३॥

---

१ माण आउस्स कम्मस्स, -अ० आ० ।

जेसि आउसमाइ णामगोदाइ वेदणीय च ।
ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमति सेलेसिं ॥२१०४॥

'जेंसि आउसमाइ' येषामपि आयु समानि शेषाण्यघातिकर्माणि तेऽकृतसमुद्घाता एव शैलेश्य प्रतिपद्यते ॥२१०४॥

[1]जेसिं हवंति विसमाणि णामगोदाउवेदणीयाणि ।
ते दु कदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०५॥
ठिदिसतकम्मसमकरणत्थ सव्वेसि तेसि कम्माण ।
अंतोमुहुत्त सेसे जति समुग्घादमाउम्मि ॥२१०६॥

'ठिदिसत्तकम्म' सत्कर्मणा स्थिति समीकर्तु चतुर्णा अतर्मुहूर्तविशेषे आयुषि समुद्घात याति ॥२१०५–२१०६॥

ओल्ल मत वत्थ विरल्लिदं जह लहु विणिव्वादि ।
सवेढिय तु ण तघा तघेव कम्म पि णादव्व ॥२१०७॥

'ओल्ल सत' आर्द्रं मद्यथा वस्त्र विप्रकीर्णं लघु शुष्यति न तथा सवेष्टित एवमेव कर्मापि ज्ञातव्यम् ॥२१०७॥

ठिदिबंधस्स सिणेहो हेदू खीयदि य सो समुहदस्स ।
सडदि य खीणसिणेह सेस अप्पट्ठिदी होदि ॥२१०८॥

ठिदिबंधस्स' स्थितिबन्धस्य स्नेहो हेतुर्विनश्यति । समुद्घात गते 'सटति' च क्षीणस्नेह शेष कर्माल्पस्थितिक भवति ॥२१०८॥

गा०—जिनके नामकर्म, गोत्रकर्म, वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्घात किये बिना शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं ॥२१०४॥

गा०—किन्तु जिनकी आयुकी स्थिति कम होती है और नामगोत्र और वेदनीय कर्मो की स्थिति अधिक होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्घात करके ही शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं अर्थात् अयोगकेवली होते हैं ॥२१०५॥

गा०—अन्तमुहूर्त आयु शेष रहनेपर चारो कर्मो की स्थिति समान करनेके लिये समुद्घात करते हैं ॥२१०६॥

गा०—जैसे गीला वस्त्र फैला देनेपर वह शीघ्र सूख जाता है उतनी शीघ्र इकट्ठा रखा हुआ नही सूखता । कर्मो की भी वैसी ही दशा जानना । आत्म प्रदेशोंके फैलावसे सम्बद्ध कर्मरज-की स्थिति बिना भोगे घट जाती है ॥२१०७॥

गा०—समुद्घात करनेपर स्थितिबन्धका कारण जो स्नेहगुण है वह नष्ट हो जाता है। और स्नेहगुणके क्षीण होनेपर शेष कर्मो की स्थिति घट जाती है ॥२१०८॥

---

1 एता टीकाकारो नेच्छति ।

चदुहि समएहिं दंड-कवाड-पदरजगपूरणाणि तदा ।
कमसो करेदि तह चेव णियत्तीदि चदुहिं समएहिं ॥२१०९॥

'चदुहिं' चतुभिस्समयैर्दण्डादिकं कृत्वा क्रमशो निवर्तते चतुर्भिरेव समयैः ॥२१०९॥

काउणाउसमाइं णामागोदाणि वेदणीयं च ।
सेलेसिमब्भुवेंतो जोगणिरोधं तदो कुणदि ॥२११०॥

'काऊण' नामगोत्रवेदनीयानां आयुषा साम्यं कृत्वा मुक्तिमभ्युपगच्छन् योगनिरोधं करोति ॥२११०॥

योगनिरोधक्रममाचष्टे—

बादरवाचिगजोगं बादरकायेण बादरमणं च ।
बादरकायंपि तधा रुंभदि सुहुमेण काएण ॥२१११॥

बादरो वाङ्मनोयोगौ बादरकायेन रुणद्धि । बादरकाययोगं सूक्ष्मेण काययोगेन ॥२१११॥

तध चेव सुहुममणवचिजोगं सुहुमेण कायजोगेण ।
रुंभित्तु जिणो चिट्ठदि[1] सो सुहुमकायजोगेण ॥२११२॥

'तध चेव' तथैव सूक्ष्मवाङ्मनोयोगौ सूक्ष्मकाययोगेन रुणद्धि ॥२११२॥

सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियबंधगो तगो ताधे ।
काइयजोगे सुहुमम्मि सुहुमकिरियं जिणो झादि ॥२११३॥

गा०-टी०—सयोगकेवली जिन चार समयोंमें दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करके क्रमसे चार ही समयोंमें उसका संकोच करता है अर्थात् प्रथम समयमें दण्डाकार, दूसरे समयमें कपाटके आकार, तीसरे समयमें प्रतर रूप और चतुर्थ समयमें समस्त लोकमें व्याप्त हो जाते हैं। पांचवे समयमें पुनः प्रतररूप, छठे समयमें कपाटरूप, सातवें समयमें दण्डाकार आठवें समयमें मूल शरीरकार आत्म प्रदेश हो जाते हैं ॥२१०९॥

गा०—इस प्रकार नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मोंकी स्थिति आयुके समान करके मुक्तिकी ओर बढ़नेवाले सयोगकेवली जिन योगोंका निरोध करते हैं ॥२११०॥

योगनिरोधका क्रम कहते हैं—

गा०—स्थूल काययोगमें स्थित होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको रोकते हैं और सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर स्थूल काययोगको रोकते हैं ॥२१११॥

गा०—उसी प्रकार सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोगको रोककर सयोगकेवली जिन सूक्ष्म काययोगमें स्थित होते हैं ॥२११२॥

---

1. दि सुहुमेण कायजोगेण—आ० । दि सो सुहुमे काइए जोगे—मु० ।

सूक्ष्मया लेश्यया सूक्ष्मक्रियया बन्धकस्तदासौ सूक्ष्मक्रिय ध्यान ध्याति ॥२११३॥

सुहुमकिरिएण झाणेण णिरुद्धे सुहुमकायजोगे वि ।
सेलेसी होदि तदो अबंधगो णिच्चलपदेसो ॥२११४॥

'सुहुमकिरियेण' तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निश्चलप्रदेशोऽबन्धको भवति । बन्धनिमित्तानाम-भावात् ॥२११४॥

माणुसगदिसज्जादिं पज्जत्तादिज्जसुभगजसकित्तिं ।
अण्णदरवेदणीयं तसबादरमुच्चगोदं च ॥२११५॥

'माणुसगदि' मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजाति, पर्याप्तिमादेयसुभग, यशस्कीतिमन्यतरवेदनीय, त्रसबादर, उच्चैर्गोत्र च वेदयते ॥२११५॥

मणुसाउगं च वेदेदि अजोगी होदूण चेव तक्कालं ।
तित्थयरणामसहिदो[1] ताओ वेदेदि तित्थयरो ॥२११६॥

मनुष्यायुश्च वेदयते अयोगी भूत्वा तीर्थकरनामसहितास्तीर्थकरो वेदयते ॥२११६॥

देहतियबंधपरिमोक्खत्थं तो केवली अजोगी सो ।
उवयादि समुच्छिण्णकिरियं तु झाणं अपडिवादी ॥२११७॥

देहतिय देहत्रिबन्धपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यान ध्याति ॥२११७॥

सो तेण पचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्झाणेण ।
अणुदिण्णाओ दुचरिमसमये सव्वाओ पयडीओ ॥२११८॥

गा०—सूक्ष्म लेश्याके द्वारा सूक्ष्मकाययोगमे वह सातावेदनीय कर्मका बन्ध करता है तथा सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यानको ध्याता है ॥२११३॥

गा०—उस सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्लध्यानके द्वारा सूक्ष्म काययोगका निरोध करके वह शीलोंका स्वामी होता है तथा आत्माके प्रदेशोंके निश्चल हो जानेसे उन्हे कर्मबन्धन नही होता, क्योंकि कर्मबन्धके निमित्तोंका अभाव है ॥२११४॥

गा०—उस समय अयोगकेवली होकर वह मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, पर्याप्ति, आदेय, सुभग, यश कीर्ति, साता या असातावेदनीय, त्रस, बादर, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन ग्यारह कर्म प्रकृतियोंके उदयका भोग करते हैं । और यदि तीर्थंकर होते हैं तो तीर्थंकर सहित बारह प्रकृतियोंका अनुभवन करते हैं ॥२११५-१६॥

गा०—उसके पश्चात् अयोगकेवली परम औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंके बन्धनसे छूटनेके लिये समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं इसका दूसरा नाम व्युपरतक्रिया निवर्ती है ॥२११७॥

---

१ —दो जाओ आ वेदि तित्थयरा —आ०, अ०।

'सो तेण' स तेन पञ्चमात्राकालेनानेन ध्यानेन क्षपयति द्विचरमसमये अनुदीर्णा सर्वा प्रकृती ॥२११८॥

चरिमसमयम्मि तो सो खवेदि वेदिज्जमाणपयडीओ ।
बारस तित्थयरजिणो एक्कारस सेस सव्वण्हू ॥२११९॥

'चरिमसमयम्मि' अन्ये समये क्षपयति वेद्यमाना प्रकृतीर्द्वादश तीर्थङ्करजिन । शेषसर्वज्ञ एकादश । 'नामक्खएण' नाम्नो विनाशेन तैजसशरीरबन्धो नश्यति । आयुष क्षयेण औदारिकबन्धनाश ॥२११९॥

णामक्खएण तेजोसरीरबंधो वि [1]हीयदे तस्स ।
आउक्खएण ओरालियस्स बंधो वि [2]हीयदि से ॥२१२०॥
त सो बंधणमुक्को उड्ढं जीवो पओगदो जादि ।
जह एरण्डयबीय बंधणमुक्कं समुप्पददि ॥२१२१॥

स्पष्टोत्तरगाथाद्वय ॥२१२०–२१२१॥

सग [3]विजहणेण य लहुदयाए उड्ढं पयादि सो जीवो ।
जध आलाउ अलेओ उप्पददि जले णिवुड्डो वि ॥२१२२॥

'सगजहणेण' सगत्यागाल्लघुतयोर्द्ध प्रयाति जलनिमग्ननिर्लेपालाबुवत ॥२१२२॥

झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेण जादि सो उड्ढं ।
वेगेण पूरिदो जह ठाइदुकामो वि य ण ठादि ॥२१२३॥

'झाणेण य' ध्यानेनात्मा प्रयुक्तो यात्यूर्ध्वं वेगेन पूरितो यथा न तिष्ठति स्थातुकामोपि ॥२१२३॥

गा०-टी०—इस ध्यानका काल 'अ इ उ ऋ ऌ' इन पाच मात्राओंके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतना है। इतने कालवाले उस अन्तिम ध्यानके द्वारा अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें बिना उदीरणाके सब ७२ कर्म प्रकृतियोंको खपाते हैं, उनका क्षयकर देते हैं, और अन्तिम समयमें तीर्थंकर केवली बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं तथा सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं ॥२११८-१९॥

गा०—उनके नामकर्मका क्षय होनेसे तैजस शरीर बन्धका भी क्षय हो जाता है। और आयुकर्मका क्षय होनेसे औदारिक शरीर बन्धका क्षय हो जाता है ॥२१२०॥

गा०—इस प्रकार बन्धनसे मुक्त हुआ वह जीव वेगसे ऊपरको जाता है जैसे बन्धनसे मुक्त हुआ एरण्डका बीज ऊपरको जाता है ॥२१२१॥

गा०—समस्त कर्म नोकर्मरूप भारसे मुक्त होनेके कारण हल्का हो जानसे वह जीव ऊपर को जाता है। जैसे मिट्टीके लेपसे रहित तुम्बी जलमें डूबनेपर भी ऊपर ही आती है ॥२१२२॥

गा०—जैसे वेगसे पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यानके

1. खीयदे मु० । 2 खीयदि –मु० । 3 सगस्स विजहणेण –आ० ।

जह वा अग्गिस्स सिहा सहावदो चेव होहि उड्ढगदी ।
जीवस्स तह सभावो उड्ढगमणमप्पवसियस्स ॥२१२४॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२१२४॥

तो सो अविग्गहाए गदीए समए अणतरे चेव ।
पावदि जयस्स सिहर खित्तं कालेण य फुसतो ॥२१२५॥

'तो सो अविग्गहाए' ततोऽसावविग्रहया गत्या अनतरसमय एव जगतश्शिखर प्राप्नोति ॥२१२५॥

एव इहइ पजहिय देहतिग सिद्धखेत्तमुवगम्म ।
सव्वपरियायमुक्को सिज्झदि जीवो सभावत्थो ॥२१२६॥

'एव इहइ' एवमिह देहत्रिक विहाय सिद्धक्षेत्रमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्त सिध्यति जीव स्वभावस्थ ॥२१२६॥

तस्याध स्थानमाचष्टे—

ईसिप्पब्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए ।
धुवमचलमजरठाण लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥॥२१२७॥

'ईसिप्पब्भाराए' ईषत्प्राग्भाराया उपरि न्यूनयोजने ध्रुवमचल स्थान लोकशिखरमास्थित सिद्ध ॥२१२७॥

प्रयोगसे आत्मा ऊपरको जाता है ॥२१२३॥

गा०—अथवा जैसे आगकी लपट स्वभावसे ही ऊपरको जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है ॥२१२४॥

गा०—कर्मो का क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समयवाली मोडे रहित गतिसे सात राजुप्रमाण आकाशके प्रदेशोका स्पर्श न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्रवेगसे लोकके शिखरपर विराजमान हो जाता है ॥२१२५॥

गा०—इस प्रकार इसी लोकमे तैजस, कार्मण और औदारिक शरीरोको त्यागकर सब प्रकारके प्रचारसे मुक्त हुआ जीव, सिद्धिक्षेत्रमे जाकर अपने टकोत्कीर्ण ज्ञापक भाव स्वभावमे स्थित होकर मुक्त हो जाता है ॥२१२६॥

गा०—उस सिद्धिक्षेत्रके नीचे स्थित आठवी पृथिवीको कहते है—ईषत्प्राग्भार नामकी आठवी पृथ्वीके कुछ ऊपर एक योजन पर लोकका शिखर स्थित है जो ध्रुव, अचल और अजर है। उसपर सिद्ध जीव तिष्ठता है ॥२१२७॥

विशेषार्थ—आठवी पृथिवीका नाम ईषत्प्राग्भार है। मध्यमे उसका बाहुल्य आठ योजन है। दोनो ओर क्रमसे हीन होता गया है। अन्तमे अगुलके असख्यातवे भाग प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म बाहुल्य रह जाता है। इस तरह ऊपरको उठे हुए विशाल गोल श्वेत छत्रके समान उसका आकार है। उसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है। उसके ऊपर तीन वातवलय हैं। उनमेंसे तीन

धम्माभावेण दु लोगग्गे पडिहम्मदे अलोगेण ।
गदिमुवकुणदि हु धम्मो जीवाण पोग्गलाण च॥ २१२८॥

'धम्माभावेण दु' धर्मास्तिकायस्याभावे लोकाग्रे प्रतिहन्यते अलोकेन, यतो जीवपुद्गलाना गतेरुप-कारको धर्म स चोपरि नास्ति ॥२१२८॥

जं जस्स दु सठाणं चरिमसरीरस्स जोगजहणम्मि ।
त सठाण तस्स दु जीवघणो होइ सिद्धस्स ॥२१२९॥
दसविधपाणाभावो कम्माभावेण होइ अच्चतं ।
अच्चतिगो य सुहदुक्खाभावो विगददेहस्स ॥२१३०॥

दशविधाना प्राणानामत्यताभावेन भवति आत्यतिकश्च सुखदु खाभाव ॥२१२९-२१३०॥

ज णत्थि बंधहेदु देहग्गहणं ण तस्स[2] तेण पुणो ।
कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥२१३१॥

'ज णत्थि बंधहेदु' यन्नास्ति बंधकारण तेन न मुक्तस्य देहग्रहण, कर्मकलुषीकृतो हि जीव कर्म-कृतदेहमादत्ते ॥२१३१॥

कज्जाभावेण पुणो अच्चत्त णत्थि फदण तस्स ।
ण पओगदो वि फदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥२१३२॥

कोस विस्तार वाले दो वातवलयोंके ऊपर एक हजार पाच सौ पिचहत्तर धनुष विस्तार वाला तीसरा तनुवातवलय है। उसके पाच सौ पच्चीस धनुष मोटे अन्तिम भाग मे सिद्ध भगवान विराजते हैं ॥२१२७॥

गा०—धर्मद्रव्य लोकके अग्रभाग तक ही है। अत मुक्तजीव लोकाग्रमे आगे अलोकमे नही जाता, क्योंकि धर्मद्रव्य गति करते हुए जीवो और पुद्गलोकी गतिमे उपकार करता है ॥२१२८॥

गा०—मन वचन काययोगोका त्याग करते समय अयोगी गुणस्थानमे जैसा अन्तिम शरीरका आकार रहता है, उस आकाररूप जीवके प्रदेशोका, घनरूप सिद्धोका आकार होता है ॥२१२९॥

गा०—सिद्ध भगवानके कर्मोका अभाव होनेसे दस प्रकारके प्राणोका सर्वथा अभाव है। तथा शरीरका अभाव होनेसे इन्द्रिय जनित सुखदु खका अभाव है ॥२१३०॥

गा०—मुक्तजीवके कर्मबन्धका कारण नही है। अत वह पुन शरीर धारण नही करता। क्योंकि कर्मो से बद्ध जीव ही कर्मकृत शरीरको धारण करता है ॥२१३१॥

गा०—सिद्ध जीवोको कुछ करना शेष न होनेसे उनमे हलन चलनका अत्यन्त अभाव है।

---

१ एता टीकाकारो नेच्छति । २ स होदि पुणो -अ०, आ० ।

'कज्जाभावेण पुणो' कार्याभावेन तत्स्पदन नास्ति तस्य न च परप्रयोगगतमपि स्पदनमस्त्यदेहस्य सिद्धस्य ॥२१३२॥

कालमणतमधम्मोपग्गहिदो ठादि गयणमोगाढो ।
सो[1] उवकारो इट्ठो ठिदिसभावो ण जीवाणं ॥२१३३॥

'कालमणत' अनन्तकाल अधर्मास्तिकायोपगृहीत गगनमनुप्रविष्ट तिष्ठति । 'उवकारो इट्ठो' अधर्मास्तिकायेन सपाद्यउपकार अवस्थानलक्षण इष्टो यस्मान जीवस्य स्थितिस्वभावश्चैतन्यादिवत् ॥२१३३॥

तेलोक्कमत्थयत्थो तो सो सिद्धो जग णिरवसेस ।
सव्वेहिं पज्जएहिं य सपुण्ण सव्वदव्वेहिं ॥२१३४॥

'तेलोक्कमत्थयत्थो' त्रैलोक्यमस्तकस्थ ततोऽसौ जगन्निरवशेष सर्वे पर्यायैस्सर्वैर्द्रव्यैस्सपूर्ण ॥२१३४॥

पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे ।
तह वा लोगमसेस पस्सदि भयव विगदमोहो ॥२१३५॥

'पस्सदि जाणदि' पश्यति जानाति च कालत्रये पर्यायसहितानशेषास्तथा चालोकमशेष पश्यति भगवान् विगलमोह ॥२१३५॥

भावे सगविसयत्थे सूरो जुगव जहा पयासेइ ।
सव्वं वि तधा जुगव केवलणाण पयासेदि ॥२१३६॥

'भावे सगविसयत्थे' आत्मगोचरस्थान् भावान् सूर्यो युगपद्यथा प्रकाशयति तथा सर्वमपि ज्ञेय युगपत्केवलज्ञान प्रकाशयति ॥२१३६॥

गदरागदोसमोहो विभओ विमओ णिरुस्सओ विरओ ।
बुधजणपरिगीदगुणो णमसणिज्जो तिलोगस्स ॥२१३७॥

और वे शरीर रहित हैं। अत वायु आदिके प्रयोगसे भी उनमे हलन चलन नही होता ॥२१३२॥

गा०—सिद्ध जीव जो अनन्तकाल तक आकाशके प्रदेशोको अवगाहित करके ठहरा रहता है सो यह अवस्थान रूप उपकार अधर्मास्तिकायका माना गया है, क्योकि जैसे जीवका स्वभाव चैतन्य आदि है उस प्रकार जीवका स्वभाव स्थिति नही है ॥२१३३॥

गा०—तीनो लोकोके मस्तकपर विराजमान वह सिद्ध परमेष्ठी समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायोसे सम्पूर्ण जगतको जानते देखते हैं। तथा वे मोहरहित भगवान् पर्यायोसे सहित तीनो कालोको और समस्त अलोकको जानते हैं ॥२१३४-३५॥

जैसे सूर्य अपने विषयगोचर सब पदार्थो को एक साथ प्रकाशित करता है वैसे ही केवल ज्ञान सब पदार्थोको एक साथ प्रकाशित करता है ॥२१३६॥

---

१ उवकारो इट्ठो ज ठि –अ० आ० ।

'गदरागदोसमोहो' दूरीकृतरागद्वेषमोह, 'विभओ' विगतभय 'विमओ' विगतमद, क्वचिदप्यनुत्सुका निरस्तकर्मरज पटल, बुधजनपरिगीतगुण विष्टपत्रयेण नमस्करणीय ॥२१३७॥

णिव्वावइत्तु ससारमहग्गि परमणिव्वुदिजलेण ।
णिव्वादि सभावत्थो गदजाइजरामरणरोगो ॥२१३८॥

'णिव्वावइत्तु' क्षयमुपनीय ससारमहाग्नि परमनिर्वृतिजलेन तृप्यति स्वरूपस्थो विनष्टजातिजरामरणरोग ॥२१३८॥

जावं तु किंचि लोए सारीर माणस च सुहदुक्खं ।
त सव्व णिज्जिण्णं असेमदो तस्स सिद्धस्स ॥२१३९॥

'जावं तु किंचि लोए' यावत् किंचिल्लोके शारीर मानस वा यत्सुख दु ख च तत्सर्वं निर्जीर्ण निरवशेष । प्रकारकास्त्स्न्यनिरासायमशेषग्रहण ॥२१३९॥

ज णत्थि सव्वबाधाओ तस्स सव्व च जाणइ जदो से ।
ज च गदज्झवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥२१४०॥

'ज णत्थि सव्वबाधाओ' यन्न सन्ति सर्वबाधा, सव च यतो जानाति, यच्चापगताध्यवसान, तेनासौ सिद्ध परमसुखी भवति ॥२१४०॥

परमिड्ढिपत्ताणं मणुगाण णत्थि त सुह लोए ।
अव्वाबाधमणोवमपरमसुह तस्स सिद्धस्स ॥२१४१॥

'परमिड्ढिपत्ताण' परमामृद्धि चक्रलाञ्छनतादिका प्राप्तानामपि मनुजाना नास्ति तत्सुख लोके यदनुपम तस्य सिद्धस्य सुखमव्याबाधम् ॥२१४१॥

गा०—जिन्होने रागद्वेष मोहको दूरकर दिया है, जो भय रहित, मदरहित, उत्कण्ठा रहित और कर्मरूप धूलिपटलसे रहित हैं तथा ज्ञानीजन जिनका गुणगान करते हैं वे सिद्ध भगवान तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय हैं ॥२१३७॥

गा०—परम निर्वृतिरूप जलसे ससाररूपी महान् अग्निको बुझाकर तथा जन्म-जरा-मरण रोगोंको नष्ट करके अपने स्वरूपमे स्थित मुक्तात्मा निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१३८॥

गा०—ससारमे जितना भी शारीरिक और मानसिक सुखदु ख है वह सब पूर्णरूपसे उस सिद्ध परमेष्ठीके नष्ट हो चुका है ॥२१३९॥

गा०—क्योंकि सिद्ध परमेष्ठीके समस्त बाधाएँ नही हैं, और वह समस्त वस्तुओंको जानते हैं तथा अध्यवसान-विकल्पवासनासे रहित हैं। अत वे परमसुखी हैं ॥२१४०॥

गा०—उन सिद्धोंके जो बाधा रहित अनुपम परम सुख है वह सुख इस लोकमे परमऋद्धि चक्रवर्तित्व आदिको प्राप्त मनुष्योंके भी नही है ॥२१४१॥

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च ज अणुहवंति ।
सद्दरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तम लोए ॥२१४२॥

'देविंदचक्कवट्टी' देवेंद्राश्चक्रवर्तिनश्च यदिंद्रियसुखमनुभवन्ति शब्दरसरूपगंधस्पर्शात्मक लोके प्रधान ॥२१४२॥

अव्वाबाध च सुह सिद्धा ज अणुहवंति लोगग्गे ।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्ख तय होज्ज ॥२१४३॥

'अव्वाबाध सुह' अव्याबाधात्मक सुख यत्सिद्धा लोकाग्रेऽनुभवन्ति तस्यानंतभागो भवति तदिंद्रियसुख पूर्वव्यावर्णितम् ॥२१४३॥

ज सव्वे देवगणा अच्छरसहिया सुह अणुहवंति ।
तत्तो वि अणंतगुण अव्वाबाह सुह तस्स ॥२१४४॥

'ज सव्वे देवगणा' यत्सुखमनुभवंति साप्सरोगणा सर्वे देवास्ततोऽप्यनंतगुण तस्य सिद्धस्याव्याबाधसुखम् ॥२१४४॥

तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाण ।
सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमित्तसोक्खेण ॥२१४५॥

'तीसु वि कालेसु' त्रिष्वपि कालेषु यानि मानवाना, तिरश्चा, देवाना च सुखानि सर्वाणि तानि न समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥२१४५॥

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुव्वाणि चेव मोक्खाणि ।
ण हु अत्थि रागमब्वहत्थिदूण किं चि वि सुह णाम ॥२१४६॥

'ताणि रागविपाकाणि' तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखहेतोजनकानि, एतेन दुःखानुबंधित्व

गा०—इस लोकमे देवेन्द्र और चक्रवर्ती शब्द रस रूप गन्ध और स्पर्श जन्य जिस उत्तम इन्द्रिय सुखको भोगते हैं, तथा लोकके अग्रभागमे स्थित सिद्ध जिस बाधा रहित सुखको भोगते हैं उसके सामने वह इन्द्रिय सुख उसका अनन्तवां भाग भी नही है ॥२१४२-४३॥

गा०—अप्सराओंके साथ सब देवगण जिस सुखको भोगते हैं उससे भी अनन्तगुण बाधा रहित सुख सिद्धोको होता है ॥२१४४॥

गा०—सब मनुष्यो तिर्यञ्चो और देवोको तीनो कालोमे जितना सुख होता है वह सब सुख सिद्धोके एक क्षणमात्रमे होनेवाले सुखके भी बराबर नही है ॥२१४५॥

गा०—मनुष्यादिके होनेवाला सुख रागका जनक है और राग दुःखका कारण है अत

---

१ मवदुज्झिऊण –अ० आ० । अवहत्थिदूण –मूलारा० ।

नामेंद्रियसुखाना दापोऽभिहित । दु खपूर्वाणि न हि क्षुधादिदु खमतरेण अशनादिक प्रीति जनयति । न चास्ति रागमनपाकृत्य सुख नाम किंचित् ॥२१४६॥

इन्द्रियसुखस्वरूपमभिधाय अनिंद्रियसुख व्यावर्णयति—

अणुवममभेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभव च ।
एयतियमच्चतियमव्वाबाध सुहमजेय ॥२१४७॥

'अणुवममभेय' तत्समानस्य तदधिकस्याभावात् सुखस्य तदनुपम, छद्मस्थज्ञानैर्मातुमशक्यत्वादमेय, प्रतिपक्षभूतस्य दु खस्याभावादक्षय, रागादिमलाभावादमल, जरारहितत्वादजर, रोगाभावादरुज, भयाभावादभय, भवाभावादभव, ऐकातिक दु खस्य सहायस्याभावादैकातिकमसहाय अव्याबाधरूप तत्सुख ॥२१४७॥

विसएहि से ण कज्ज ज णत्थि छुदादियाओ बाधाओ ।
रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि ज तस्स ॥२१४८॥

'विसएहि से ण कज्ज' शब्दादिभिर्विषयै न कार्यं यत सिद्धस्य न सति क्षुधादिका बाधा, रागादयश्च विषयोपभोगहेतवो न सति यस्मात्तस्य ॥२१४८॥

एदेण चेव भणिदो भासणचंकमणचिंतणादीण ।
चेट्ठाण सिद्धम्मि अभावो हदसव्वकरणम्मि ॥२१४९॥

'एदेण चेव भणिदो' एतेनैवोक्त भाषण-चक्रमण-चिंतनादीना चेष्टानामभाव सिद्धे हतसर्वक्रिये ॥२१४९॥

इन्द्रियसुख दु खको लानेवाला है तथा दु खपूर्वक होता है। अर्थात् पहले दु ख होता है तब वह सुख होता है क्योकि भूख प्यास आदिका दु ख हुए विना भोजनादि प्रिय नही लगते। रागभावके विना ससारमे किञ्चित् भी सुख नही है ॥२१४६॥

इन्द्रिय सुखका स्वरूप कहकर अतीन्द्रिय सुखको कहते हैं—

गा०-टी०—उसके समान या उससे अधिक सुखका अभाव होनेसे अतीन्द्रिय सुख अनुपम है। छद्मस्थ जीवोके ज्ञानके द्वारा उसका माप करना अशक्य होनेसे अमेय है। उसके विरोधी दु खका अभाव होनेसे वह अक्षय है—उसका कभी नाश नही होता। उसमे रागादिमलका अभाव होनेसे वह अमल है। उसमे जरा रोगका भय न होनेसे वह अजर है। रोगका अभाव होनेसे अरुज है। भयका अभाव होनेसे अभय है। पुनर्भव न होनेसे अभव है। उसके साथमे दु ख न होनेसे ऐकान्तिक है। अनन्तकाल तक रहनेसे आत्यन्तिक है—ऐसा वह अव्याबाधरूप सुख होता है ॥२१४७॥

गा०—सिद्धोमे शब्दादि विषयोंसे कोई प्रयोजन नही है क्योकि सिद्धोको भूख प्यास आदि की बाधा नही होती तथा विषयोंके उपभोगके कारण राग आदि भी नही है ॥२१४८॥

गा०—इसीसे सब प्रकारकी क्रियाओंसे रहित सिद्धोमे बोलना, चलना-फिरना तथा विचारना आदि भी नही है ॥२१४९॥

इय सो खाइयसम्मत्तमिद्धदाविरियदिट्ठिणाणेहिं ।
अच्चतिगेहि जुत्तो अव्वाबाहेण य सुहेण ॥२१५०॥

'इय सो खाइय' एवमसौ क्षायिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया वीर्येण अनतज्ञानाद्यनतदर्शनेन चात्यन्तिकेन युक्तोऽव्याबाधेन सुखेन ॥२१५०॥

अकसायत्तमवेदत्तमकारकदा विदेहदा चेव ।
अचलत्तमलेवत्त च हुति अच्चतियाइ से ॥२१५१॥

'अकसायत्व' अकषायत्व, अवेदत्वमकारकता विदेहता अचलत्वमलेपत्व च आत्यतिक तस्य भवति। क्रोधादिनिमित्ताना कर्मणा प्राक्तनाना विनाशादभिनवाना चाऽभावादकषायत्वमात्यन्तिक एवमेवावदत्व। साध्यस्यापरस्याभावादकारकत्व। प्राक्तनस्य शरीरस्य विलीनत्वाद्देहान्तरकारिणि कर्मणोऽभावाद्विदेहतया अवस्थान्तरप्राप्तिनिमित्ताभावादचलत्व। कर्मनिमित्तपरिणामाभावान् प्राक्तनाना च कर्मणा विनाशादले-पत्वमप्यात्यन्तिकम् ॥२१५१॥

जम्मणमरणजलोघं दुक्खपरकिलेससोगवीचीय ।
इय संसारसमुद्द तरति चदुरगणावाए ॥२१५२॥

'जम्मणमरणजलोघ' जन्ममरणजलौघ दु खसक्लेशशोकवीचिक ससारसमुद्र सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्र-तपस्सज्ञितचतुरङ्गनावा तरन्ति ॥२१५२॥

एवं पण्डिदपण्डिदमरणेण करति सव्वदुक्खाण ।
अतं णिरतराया णिव्वाणमणुत्तर पत्ता ॥२१५३॥

गा०—इस प्रकार वह सिद्ध परमेष्ठी क्षायिक सम्यक्त्व, सिद्धत्व, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अव्याबाध सुखसे युक्त होते हैं। ये सब आत्यन्तिक होते हैं, इनका कभी विनाश नही होता ॥२१५०॥

गा०-टी०—क्रोध आदिमे निमित्त पूर्व कर्मोंका विनाश होनेसे और नवीन कर्मोंका अभाव होनेसे सिद्धोमे आत्यन्तिक अकषायत्व है। इसी प्रकार आत्यन्तिक अवेदत्व है। उनके लिये कोई करने योग्य कार्य शेष न रहनेसे अकारकत्व भी सदा रहता है। पूर्व शरीरका विनाश होनेसे और नवीन शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मका अभाव होनेसे सिद्धोमे सदा विदेहता है। अन्य अवस्थाको प्राप्त होनेमे निमित्तका अभाव होनेसे सदा अचल है। उनके कर्मके निमित्तसे होनेवाले परिणामोका अभाव होनेसे तथा पूर्वके कर्मोंका विनाश होनेसे वे सदा लेपरहित होते हैं ॥२१५१॥

गा०—जिसमे जन्म मरणरूपी जलका समूह भरा है, दु ख सक्लेश और शोकरूपी लहरें उठा करती हैं, उस ससाररूपी समुद्रको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपरूपी नावसे पार करते हैं ॥२१५२॥

'एव पण्डितपण्डितमरणेण' एवमुक्तेन क्रमेण पण्डितपण्डितमरणेण सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति । निरन्तराया निर्विघ्ना निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताश्च । एतेन पण्डित-पण्डितमरणं व्याख्यातं । 'पंडितपंडितमरणं गदं' ॥२१५३॥

एवं आराधित्ता उक्कस्साराहणं चदुक्खंधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का तेणेव भवेण सिज्झंति ॥२१५४॥

'एवं आराधित्ता' एवमाराध्य । 'उक्कस्साराधणं' उत्कृष्टाराधना । 'चदुक्खंधं' समीचीनदर्शनज्ञानचरणतपोभिधानं चतुष्कत्वं । 'कम्मरजविप्पमुक्का' कर्मरजोविप्रमुक्तास्तेनैव भवेन सिध्यन्ति ॥२१५४॥

आराधयित्तु धीरा मज्झिममाराहणं चदुक्खधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का तदिएण भवेण सिज्झंति ॥२१५५॥
आराधयित्तु धीरा जहण्णमाराहणं चदुक्खधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमजम्मेण सिज्झंति ॥२१५६॥

'आराधयित्तु धीरा' आराध्य धीरा जघन्यामाराधना चतुष्कधा कर्मरजोविप्रमुक्ता सप्तमेन जन्मना सिध्यन्ति ॥२१५५-२१५६॥

एवं एसा आराधणा सभेदा समासदो वुत्ता ।
आराधणाणिबद्धं सव्वंपि हु होदि सुदणाणं ॥२१५७॥

'एव एसा' एवमेषा आराधना सप्रभेदा समासतो निरूपिता । आराधनायामस्यां निबद्धं सर्वमपि श्रुतज्ञानं भवति ॥२१५७॥

आराधणं असेसं वण्णेदुं होज्ज को पुण समत्थो ।
सुदकेवली वि आराधणं असेसं ण वण्णिज्ज ॥२१५८॥

गा०—इस प्रकार वे क्षपक पण्डितपण्डितमरणसे सब दुःखोंका अन्त करते हैं और बिना बाधाके उत्कृष्ट निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१५३॥

गा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपरूप चार प्रकारकी उत्कृष्ट आराधनाकी आराधना करके कर्मरूपी धूलिसे छूटकर उसी भवसे मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५४॥

गा०—उक्त चार भेदरूप मध्यम आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे छूटकर तीसरे भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५५॥

गा०—उक्त चार भेदरूप जघन्य आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे छूटकर सातवें भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५६॥

गा०—इस प्रकार इस भेदसहित आराधनाका संक्षेपसे कथन किया । इस आराधनामें जो कुछ कहा गया है वह सब श्रुतज्ञान है ॥२१५७॥

आराधण असेस निरवशेषामाराधना वर्णयितु कस्समर्थो भवेत, श्रुतकेवल्यपि निरवशेष न वर्णयेत् ॥२१५८॥

अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणदीण ।
अवगमिय पादमूले सम्म सुत्त च अत्थ च ॥२१५९॥

'अज्जजिणणदि' आचार्यजिननदिगणिन , सवगुप्तगणिन , आचार्यमित्रनन्दिनश्च पादमूले सम्यगथ श्रुत चावगम्य ॥२१५९॥

पुव्वायरियणिवद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ।
आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥२१६०॥

'पुव्वायरिय पूर्वाचार्यकृतामिव उपजीव्य इय आराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणितलभोजिना ॥२१६०॥

छदुमत्थदाए एत्थ दु ज वद्ध होज्ज पवयणविरुद्ध ।
सोधेंतु सुगीदत्था पवयणवच्छलदाए दु ॥२१६१॥

'छदुमत्थदाए' छद्मस्थतया यदत्र प्रवचनविरुद्धं निबद्ध (विरुद्ध) भवेत् तत्सुगृहीतार्था सोधयतु प्रवचनवत्सलतया ॥२१६१॥

आराधणा भगवदी एव भत्तीए वण्णिदा सती ।
संघस्स सिवज्जस्स य समाधिवरमुत्तम देउ ॥२१६२॥

'आराधणा भगवदी' आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्तिता सव्वगुप्तगणिन सघस्य शिवाचार्यस्य च विपुला सकलजनप्रार्थनीया अव्यावाधसुखा सिद्धि प्रयच्छतु ॥२१६२॥

गा०—मेरे समान कौन अल्पश्रुतज्ञानी सम्पूर्ण आराधनाका वर्णन करनेमे समर्थ हो सकता है। श्रुतकेवली भी सम्पूर्ण आराधनाको नही कह सकते। अर्थात् भगवान सर्वज्ञ ही आराधनाका सर्वस्व वर्णन कर सकते हैं ॥२१५८॥

गा०—आर्य जिननन्दिगुणि, सर्वगुप्त गणि, और आर्य मित्रनन्दीके पादमूलमे सम्यक्रूपसे श्रुत और उसके अर्थको जानकर पूर्वाचार्यके द्वारा रची गई आराधनाको आधार बनाकर हस्तपुटमे आहार करनेवाले मुझ शिवाचार्यने अपनी शक्तिसे इस आराधना ग्रन्थको रचा ॥२१५९-६०॥

गा०—छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी होनेसे इसमे जो कुछ आगमके विरुद्ध लिखा गया हो, उसे आगमके अर्थको सम्यक्रूपसे ग्रहण किये हुए ज्ञानीजन सुधारनेकी कृपा करें ॥२१६१॥

गा०—इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णनकी हुई भगवती आराधना सर्वगुप्त गणीके सघको तथा रचयिता शिवार्यको समस्त जनोंसे प्रार्थनीय अव्याबाध सुखरूप सिद्धिको प्रदान करें अर्थात् उसके प्रसादसे हम सबको शुक्लध्यानकी प्राप्ति हो ॥२१६२॥

असुरसुरमणुयकिण्णररविससिकिंपुरिसमहियवरचरणो ।
दिसउ मम बोहिलाह जिणवरवीरो तिहुवणिंदो ॥२१६३॥
खमदमणियमधराण धुदरयसुहदुक्खविप्पजुत्ताणं ।
णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणमो जिणवराणं ॥२१६४॥

गा०—जिनके पूजनीय चरणोंको असुर, सुर, मनुष्य, किन्नर, सूर्य, चन्द्र, और किम्पुरुष जातिके व्यन्तर पूजते हैं वे तीनो लोकोंके स्वामी वीर जिनेन्द्र मुझे बोधिलाभ प्रदान करें ॥२१६३॥

गा०—जिन्होने स्वय क्षमा, इन्द्रियदमन और नियमोंको धारण करके कर्ममलको नष्ट किया, तथा सासारिक सुख दु खसे रहित हुए और अपने ज्ञानके द्वारा सल्लेखनाको प्रकाशित किया उन जिन देवोको नमस्कार हो ॥२१६४॥

भगवती आराधना समाप्त हुई ।

श्रीमदपराजितसूरेष्टीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्वार्थप्रकाशनमहौजसे ।
भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥१॥
श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोद्यद्धर्मांशवे तथा ।
केवलज्ञानसाम्राज्यभाजे भव्यैकबन्धवे ॥२॥

चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपद्मोपसेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेण अपराजितसूरिणा [1]श्रीनन्दिगणिनावचोदितेन रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ।

टीकाकार अपराजित सूरिकी प्रशस्ति

जो समस्त तत्त्वार्थको प्रकाशित करनेके लिये महान् प्रकाशरूप है, भव्य समुदायके लिये महान् शिरोमणि है, जिसे वे सिरपर धारण करते हैं, सुखको देनेवाला है, अज्ञानरूपी अन्धकारके लिये उगती हुई प्रकाश किरण है, जिसके द्वारा केवल ज्ञानरूपी साम्राज्य प्राप्त होता है तथा जो भव्य जीवोंका एकमात्र बन्धु है उस श्रुतको नमस्कार हो।

जो चन्द्रनन्दि नामक महाकर्म प्रकृति आचार्यके प्रशिष्य हैं, आरातीय आचार्यों के चूडामणि हैं, नागनन्दि गणिके चरण कमलोंकी सेवाके प्रसादसे जिन्हे ज्ञानका लेश प्राप्त हुआ, जो बलदेव सूरिके शिष्य हैं और जिन शासनका उद्धार करनेमे धीरवीर हैं, जिनका यश सर्वत्र फैला है, उन अपराजित सूरिने श्रीनन्दिगणिकी प्रेरणासे श्री विजयोदया नामक आराधना टीका रची।

१ श्री नागनन्दि –मु० ।